UNIVERSITY OF PATANJALI

NAAC A^{+} GRADE ACCREDITED

Open & Distance Learning
(ODL)

SELF-LEARNING MATERIAL (SLM)
M.A Sanskrit Literature
Semester - I

ACADEMIC SESSION

2026 — 2027

Department of Sanskrit
UNIVERSITY OF PATANJALI
Haridwar-Delhi Highway, Haridwar, Uttarakhand — 249405
www.universityofpatanjali.com

लेखक

1. स्वामी परमार्थदेव
2. स्वामी आर्षदेव
3. स्वामी सौम्यदेव
4. स्वामी भद्रदेव
5. स्वामी ओंकारदेव
6. स्वामी कृष्णदेव
7. स्वामी इन्द्रदेव
8. डा.बदरीनाथ बळ्ळारी
9. डा. सावर सिङ्ग यादव

समीक्षक

डा. ब्रजभूषण ओझा प्रध्यापक (व्याकरण) बनारस हिन्दु विश्वविद्याल काशि

संपादक

प्रो. मनोहर लाल आर्य विभागाध्यक्ष संस्कृतविभाग पतंजलि विश्वविद्यालय हरिद्वार

॥ ओ३म् ॥

वैदिक संहिताएँ

MDPHMN-101

दिव्य प्रकाशन

एम. ए. संस्कृतम् पाठ्यक्रमस्य प्रथमसत्रम्
प्रथमपत्रम् - वैदिकसंहिता
पेपर कोड : MSSAMJ-101 Credit-5

उद्देश्य-

- वैदिक सूक्ताध्ययन के माध्यम से वेदों में निहित अनन्त ज्ञानराशि का प्रारम्भिक बोध प्रदान करना।
- वेदों के स्वरप्रक्रिया विज्ञान को सस्वर वेदपाठ के माध्यम से सम्यक् ज्ञान कराना।
- वेदापदिष्ट मार्ग का वैज्ञानिक विश्लेषण कराना।

परिणाम-

- वेदोपदिष्ट समाज की परिकल्पना में दक्ष बनता है।
- समाज को वैदिक सिद्धान्तों के विशुद्ध स्वरूप से प्रकाशित करता है।

खण्ड-1	**सूक्ताध्ययन**	**(क्रेडिट-1)**
इकाई-1.1	प्रातस्सूक्तम्	
इकाई-1.2	अग्निसूक्तम्	
इकाई-1.3	स्वस्तिवाचनसूक्तम्।	
खण्ड-2	**सूक्ताध्ययन**	**(क्रेडिट-1)**
इकाई-2.1	आपःसूक्तम्	
इकाई-2.2	ज्ञानसूक्तम्	
इकाई-2.3	पुरुषसूक्तम्।	
खण्ड-3	**सूक्ताध्ययन**	**(क्रेडिट-1)**
इकाई-3.1	वागाम्भृणीसूक्तम्	
इकाई-3.2	नासदीयसूक्तम्	
इकाई-3.3	श्रद्धासूक्तम्।	
खण्ड-4	**सूक्ताध्यय**	**(क्रेडिट-2)**
इकाई-4.1	संगठनसूक्तम्,	
इकाई-4.2	यजुर्वेद के चयनित मंत्र।	
इकाई-4.3	सामवेद के चयनित मंत्र	
इकाई-4.4	अथर्ववेददीय, ब्रह्मचर्य सूक्तम्।	

सहायक ग्रन्थ-

वेदामृत, दिव्य प्रकाशन, पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार।

विषय-सूची

क्रम संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
खण्ड-1	**सूक्ताध्ययन**	
इकाई-1.1	प्रातस्सूक्तम्	
इकाई-1.2	अग्निसूक्तम्	
इकाई-1.3	स्वस्तिवाचनसूक्तम्।	
खण्ड-2	**सूक्ताध्ययन**	
इकाई-2.1	आप:सूक्तम्	
इकाई-2.2	ज्ञानसूक्तम्	
इकाई-2.3	पुरुषसूक्तम्।	
खण्ड-3	**सूक्ताध्ययन**	
इकाई-3.1	वागाम्भृणीसूक्तम्	
इकाई-3.2	नासदीयसूक्तम्	
इकाई-3.3	श्रद्धासूक्तम्।	
खण्ड-4	**सूक्ताध्यय**	
इकाई-4.1	संगठनसूक्तम्,	
इकाई-4.2	यजुर्वेद के चयनित मंत्र।	
इकाई-4.3	सामवेद के चयनित मंत्र	
इकाई-4.4	अथर्ववेददीय, ब्रह्मचर्य सूक्तम्।	

भूमिका

वेद- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद भारतीय सभ्यता की आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक विरासत के चार स्तंभ हैं। ये ग्रंथ न केवल प्राचीन भारत के धार्मिक जीवन का आधार हैं, बल्कि के सामाजिक, प्राकृतिक और दार्शनिक चिन्तनों की अमूल्य सम्पदा भी मिलती है।

भारतीय संस्कृति की आत्मा और उसकी प्राचीनतम धरोहर यदि किसी ग्रंथ में निहित है, तो वे वेद हैं। 'वेद' शब्द का अर्थ है-ज्ञान। यह ज्ञान केवल आध्यात्मिक या धार्मिक नहीं, बल्कि संपूर्ण जीवन को दिशा देने वाला, ब्रह्मांड की संरचना, प्रकृति के तत्व, मानव मनोविज्ञान, समाज-व्यवस्था, और आचार-संहिता से सम्बंधित विस्तृत बोध है। ऋषियों की अखण्ड तपस्या, सूक्ष्म निरीक्षण और आत्म-साक्षात्कार से प्राप्त यह ज्ञान मानवता को उसके मूल स्वरूप की ओर लौटने का आमंत्रण देता है।

चारों वेद- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद - न केवल सनातन धर्म की आधारशिला हैं, बल्कि विश्व साहित्य की सबसे प्राचीन और गहन विवेचना प्रस्तुत करते हैं। ये चारों वेद अलग-अलग दृष्टिकोणों से जीवन को देखते हैं, और मिलकर एक समग्र, संतुलित और विवेकपूर्ण जीवनदर्शन प्रस्तुत करते हैं।

यह प्रश्न अक्सर उठता है कि क्या आज के वैज्ञानिक युग में वेदों की कोई प्रासंगिकता है? इसका उत्तर है हाँ, और वह भी अत्यंत गहन। वेद केवल धार्मिक ग्रंथ नहीं हैं, वे एक जीवन-दर्शन हैं। वे मानव अस्तित्व के हर पहलू की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत करते हैं- चाहे वह मानसिक स्वास्थ्य हो, प्रकृति के साथ सामंजस्य हो, सामाजिक व्यवस्था हो या ब्रह्म के साक्षात्कार की खोज। आज जब आधुनिक जीवन अशांति, पर्यावरण विनाश और मानसिक तनाव से घिरा है, तब वेदों का सन्देश और भी प्रासंगिक हो गया है। जिसके द्वारा सम्पूर्ण सनातन परम्परा में इसका उपयोग हो रहा है। प्रस्तुत पाठ्य पुस्तक ''वैदिक संहिताएँ'' पुस्तक सार रूप में अल्पकाल में ही वेदज्ञान के लिए सुनियोजित रूप से बनाई गयी है। जो कि ज्ञान पिपासु मुमुक्षु पाठकों या विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त सरल व सुबोधगम्य एवं अध्यात्म पथ के पथिकों के लिए प्रकाश का काम करेगी।

खण्ड-1 सूक्ताध्ययन

इकाई-1.1 प्रातस्सूक्तम्

इकाई के उद्देश्य

1. प्रातःकालीन वैदिक उपासना की महत्ता को समझना।
2. वैदिक देवताओं एवं उनके प्रतीकात्मक अर्थों का अध्ययन करना।
3. वैदिक जीवन-पद्धति में अनुशासन एवं आध्यात्मिकता का महत्व जानना।

ऋ. मं ७ सू ४१ मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः ऋषिः।
अग्नीन्द्रमित्रावरुणाश्विभगपूषब्रह्मणस्पतिसोमरुद्राः भगः उषसः देवताः। त्रिष्टुप्, जगती छन्दः।

ओ३म् प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ॥१॥

प्रातः-प्रातः (उषा) काल, **अग्निम्**-अग्निदेव को, **हवामहे**- (हम स्तोता लोग) बुलाते हैं, **इन्द्रम्**-इन्द्र को (प्रातःकाल) बुलाते हैं, **मित्रावरुणा**-मित्र और वरुण दिन और रात्रि के अभिमानी देव को**, प्रातः**- प्रातःकाल (हम बुलाते हैं), **अश्विना** 'देवताओं के वैद्य अश्विनीकुमारों को **प्रातः**-प्रातःकाल (हम बुलाते हैं), **प्रातः**-प्रातःकाल, **भगम्**-भगदेव को, **पूषणम्**-पूषादेव को, **ब्रह्मणस्पतिम्**-ब्रह्मणस्पति, **सोमम्**-सोमदेव को, **उत**-और, **रुद्रम्**-रुद्रदेव को, **हुवेम**-(हम) बुलाते हैं।

(१) **पदार्थ**-हम लोग **प्रातः**=प्रभात में **अग्निम्**=अग्नि-तुल्य प्रभु की **हवामहे**=स्तुति करें। हम **प्रातः इन्द्रम् हवामहे**=प्रातःकाल विद्युत् वा सूर्य-तुल्य प्रकाशक परमेश्वर की उपासना करें। **मित्रावरुणा**=प्राण और उदान दोनों को **प्रातः**=प्रातःकाल प्राणायाम द्वारा वश में करें। **अश्विना प्रातः**=देह में सूर्य और चन्द्र स्वरों को प्रातः सेवन करें। **भगं**=ऐश्वर्यमय, **पूषणं**=पोषक वायु का **प्रातः**=सेवन करें। **ब्रह्मणः पतिम्**=ब्रह्माण्ड, ऐश्वर्य के स्वामी जगदीश्वर और वेदोपदेष्टा विद्वान् की शिष्य, **सोमम्**=औषधि की रोगी और **उत**-और **रुद्रं**=पापियों को रुलाने वाले प्रभु की भक्तजन **प्रातः हुवेम**=प्रातः ही सेवा करें।

भावार्थ- प्रातःकाल ब्रह्ममुहुर्त्त में जगकर मनुष्य प्राणायाम पूर्वक परमेश्वर की उपासना करे तथा उसके तेजः स्वरूप का ध्यान करे। उसके बाद वायुसेवन अर्थात् भ्रमण के लिए जावे। परमेश्वर का स्मरण करते हुए रोगी औषध का सेवन करे तथा शिष्य आचार्य के सान्निध्य में जावे।

ऋषिः-**वसिष्ठः**॥ देवता-**भगः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥२॥

यः- जो (भग देवता), **विधर्ता**- जगत के धारक, **जितम्**-जयशील, **उग्रम्**-उग्र, **अदितेः**-अदिति के, **पुत्रम्**-पुत्र, **भगम्**-भग देव को (प्रातःकाल ही), **वयम्**-हम लोग, **हुवेम**-बुलाते हैं, **आध्रश्चित्**-दरिद्र स्तोता भी, **यम्**-जिस (भग देव) की, **मन्यमानः**- स्तुति करते हुए **भगम्**-भजनीय धन को, **भक्षि**-(मुझे) दो, **इति**-ऐसा, **आह**-करते हैं, **तुरश्चित्**-प्राप्त धन वाले, **राजा**-समर्थ व्यक्ति, **चित्**-भी, **यम्**- जिस भगदेव से (मुझे धन दो ऐसा कहते हैं, उस भग देव को हम लोग बुलाते है।)

(१) **प्रातः-जितम्**=प्रभात में सर्वाधिक उत्कर्ष पाने और **भगम्**=सेवन योग्य **उग्रं**=दुष्ट-भयकारी, **पुत्रम्**=बहुतों के रक्षक प्रभु की **वयम्**=हम **हुवेम**=स्तुति करें, **यः**=जो **अदितेः**=अखण्ड प्रकृति, सूर्य और **विधर्त्ता**=लोकों को धारण करता है और **यं मन्यमानः**=जिसका मनन करता हुआ **यम्**=जिस **भगं**=ऐश्वर्यवान् प्रभु की **आध्रः चित्**=अन्यों से धारण-योग्य और **तुरः चित्**=शीघ्रकारी **राजा चित्**=राजा भी **भक्षि**='मैं भजन करता हूँ' **इति आह**=ऐसा कहता है।

भावार्थ-सूर्य आदि विविध लोकों को धारण करने वाला सर्वरक्षक परमेश्वर मनन करने के योग्य है। उस ऐश्वर्यशाली प्रभु की उपासना राजा-प्रजा, निर्धन-धनी सब जन करें।

ऋषिः-**वसिष्ठ**॥ देवता-**भगः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥३॥

भग-हे भग देव! **प्रणेतः**- नेता (तुम प्रकृष्ट नेता हो), **भगः**-भग (तुम), **सत्यराधः**-सत्यधन वाले हो, **भग**- (सत्य धन वाले) भग तुम, **नः**-हमें, **ददत्**-अभिलाषित वस्तु प्रदान करके, **इमाम्**-हमारी, **धियम्**-स्तुति को, **उदव**-फलयुक्त करो, **भग**-हे भग (तुम) **गोभिरश्वैः**-गो और अश्व द्वारा, **नः**-हमें, **प्रजनय**-प्रवर्द्धित करो, **भग**-हे भग देवता! (तुम्हारी कृपा से हम लोग), **नृभिः**-पुत्रादि द्वारा **नृवन्त**-मनुष्यवान्, **प्रस्थाम्**-हो।

(१) हे **भग**=ऐश्वर्यवान्! हे **प्रणेतः**=उत्तम मार्ग में ले जाने हारे! हे **भग**=सेवन-योग्य, हे **सत्य-राधः**=सत्यज्ञान वेद के धनी! हे **भग**=सुखदातः! आप **नः**=हमारी **इमां**=इस **धियम्**=बुद्धि को **उत् अव**=ऊपर ले चलो। **नः ददत्**=हमें दान करते हुए, हे **भग**=ऐश्वर्यवान्! **गोभिः अश्वैः**=गौओं, वाणियों और अश्वों से **प्र जनय**=उत्तम बनाइये। जिससे हे **भग**=ऐश्वर्य-स्वामिन्! हम **नृभिः**=उत्तम पुरुषों से मिलकर **नृवन्तः**=उत्तम मनुष्यों के सहयोगी होकर **प्र स्याम**=उत्तम बनें।

भावार्थ- सब मनुष्य अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए ऐश्वर्यवान् प्रभु से प्रातःकाल में विनय किया करें कि हे सब पदार्थों, विद्यमान सत्यज्ञान वेद के प्रकाशक प्रभो! आप हमारी बुद्धियों को उन्नत बनावें। फिर अपनी श्रेष्ठ बुद्धि का उपयोग ऐसे उत्तम कार्यों में करें जिससे अश्व-गौ आदि पशुओं से श्रेष्ठ बनें तथा उत्तम मनुष्यों के सहयोगी बनें।

ऋषिः-**वसिष्ठः**॥ देवता-**भगः**॥ छन्दः-**पङ्क्तिः**॥ स्वरः-**पञ्चमः**॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥४॥

उत-और, **इदानीम्**-इस समय (हम लोग), **भगवन्तः**-भगवान, **स्याम**-हो, **उत**-और, **प्रपित्वे**-दिन के प्रारम्भ में, **उत**-और, **अह्ना**-दिवस के, **मध्ये**-मध्याह्न में (भगवान हों), **उत**-और, **मघवन्**-धनवान भगदेव, **सूर्यस्य**-सूर्य के, **उदिता**-उदित होने पर, **वयम्**-हम सब (आपकी कृपा से) **देवानाम्**-इन्द्रादि देवों की, **सुमतौ**-अनुग्रह बुद्धि (प्राप्त करने वाले), **स्याम**- हो।

(१) **उत इदानीं**=और इस समय, **उत प्र-पित्वे**=और ऐश्वर्य प्राप्त होने पर और **अह्नाम् मध्ये**=दिनों के मध्य **उत**=और **सूर्यस्य उदिता**=सूर्योदय-काल में या **उद्-इता**=अस्तकाल में भी, हे **मघवन्**=ऐश्वर्यवान्! हम **भगवन्तः**=ऐश्वर्यों के स्वामी **स्याम**=हों और **देवानां**=विज्ञ पुरुषों की **सु-मतौ**=शुभ मति के अधीन **स्याम**=रहें।

भावार्थ-व्यवहार कुशल विद्वानों के संग से शुभ मति प्राप्त करते हुए सूर्योदय काल, मध्याह्न काल तक सूर्यास्त काल में भी समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी परमात्मा का चिन्तन किया करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः**॥देवता-**भगः**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

देवाः-देवो! भग देवः, **एव**-ही, भगवान् (धनवान), **अस्तु**-हो, **तेन**-उस भगदेव या धन से, **वयम्**-हम लोग, **भगवन्तः**-भगवान या धनवान, **स्याम**-हो, **भग**- हे भग देव! **त्वा**-तुमको, **सर्व**-सब लोग, **इत्**-ही, **जोहवीति**-बार-बार बुलाते हैं, **भग**-हे भगदेव!, **सः**-वह (तुम), **इह**-इस यज्ञ में, **नः**-हमारे, **पुरएता**-अग्रगामी, **भव**-हो।

(१) **भगः एव**=भजन योग्य प्रभु ही **भगवान् अस्तु**=ऐश्वर्यों का स्वामी हो। **हे देवाः**=विद्वानों! **तेन**= उससे ही **वयं**= हम सब **भगवन्तः स्याम**= ऐश्वर्यवान् हों। हे **भग**=सेवा योग्य! **सर्व इत्**=सब ही **त्वां तं**=उस तुझको **जोहवीती**=पुकारते हैं, **सः भगः**=वह ऐश्वर्यवान् तू ही **इह**=इस लोक में **नः पुरः-एता भव**=हमारा अग्रगामी हो।

भावार्थ-प्रातःकाल जागकर भगवान् को पुकारें और कहें कि हे प्रभो! इस लोक में तू ही हमारा मार्गदर्शक है। तू ही हमारे अन्तःकरण में सुप्रेरणा किया कर। विद्वान् लोगों की संगति से उस कल्याणकारी, ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभु का भजन नित्य किया करें।

ऋषिः-**वसिष्ठः**॥ देवता-**भगः**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

स्मरणीय बिंदु

1. ब्रह्ममुहूर्त में जागरण स्वास्थ्य एवं आध्यात्मिक उन्नति का आधार है।
2. प्रात:कालीन उपासना मन को पवित्र बनाती है।
3. वैदिक संस्कृति में अनुशासन का विशेष महत्व है।
4. देवताओं का अर्थ प्राकृतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियाँ है।

शब्दावली

1. सूक्त - श्रेष्ठ मंत्रों का समूह
2. भग - ऐश्वर्यदाता
3. ब्रह्ममुहूर्त - प्रात:काल का पवित्र समय
4. उपासना - ईश्वर का ध्यान
5. प्राणायाम - श्वास नियंत्रण की प्रक्रिया

5 अंक के प्रश्न

1. प्रात:सूक्त का मुख्य संदेश लिखिए।
2. भग देवता का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
3. वैदिक जीवन में प्रात:काल का महत्व बताइए।
4. प्राणायाम का वैदिक दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए।
5. प्रात:सूक्त में वर्णित कल्याण की अवधारणा समझाइए।

15 अंक के प्रश्न

1. प्रात:सूक्त के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्ष का विवेचन कीजिए।
2. प्रात:सूक्त में वर्णित देवताओं के प्रतीकात्मक अर्थों का विश्लेषण कीजिए।
3. वैदिक संस्कृति में दैनिक जीवन एवं उपासना-पद्धति पर प्रात:सूक्त का प्रभाव स्पष्ट कीजिए।
4. प्रात:सूक्त के आधार पर मानव जीवन में अनुशासन एवं सदाचार की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
5. प्रात:सूक्त में निहित वैदिक मानवतावाद की व्याख्या कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. प्रातःसूक्त किस वेद से संबंधित है?

(क) ऋग्वेद

(ख) यजुर्वेद

(ग) सामवेद

(घ) अथर्ववेद

2. प्रातःसूक्त में किस समय जागरण का निर्देश है?

(क) मध्याह्न

(ख) सायंकाल

(ग) ब्रह्ममुहूर्त

(घ) रात्रि

3. भग देवता किसके प्रतीक हैं?

(क) जल

(ख) ऐश्वर्य

(ग) अग्नि

(घ) वायु

4. प्रातःसूक्त **में किसका महत्व बताया गया है?**

(क) आलस्य

(ख) अनुशासन

(ग) युद्ध

(घ) व्यापार

5. वैदिक दृष्टि में प्रातःकाल किसका प्रतीक है?

(क) अज्ञान

(ख) प्रकाश और जागरण

(ग) दुःख

(घ) मोह

इकाई-1.2 अग्निसूक्तम्

इकाई के उद्देश्य

1. अग्नि के वैदिक स्वरूप को समझना।

2. यज्ञ एवं अग्नि के संबंध का अध्ययन करना।

3. अग्नि को ज्ञान एवं ऊर्जा के प्रतीक रूप में समझना।

ऋ. मं १ सू १ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः ऋषिः।
अग्निः देवता। गायत्री छन्दः।

ओ३म् अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म्।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम्॥१॥

यज्ञस्य- यज्ञ के, **पुरोहितम्**- (होम सम्पादन करने वाले) पुरोहित, देवम्-दान आदि गुणों से युक्त देव या (यज्ञ के) प्रकाशक, **ऋत्विजम्** (देवों के यज्ञ में) होता नामक ऋत्विक् या ऋतु के अनुरूप यज्ञ करने वाले, **होतारम्**-(देवों को) आहूत करने वाले, **रत्नधातमम्**- (और याग-फल रूप) रत्नों को धारण करने वाले, **अग्निम्**-अग्नि (देव) की, **ईळे**- (मैं) स्तुति करता हूँ।

१. **अग्निम्**=उस (अगि गतौ) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को गति देने वाले, सब जीवों की उन्नति के साधक, अग्रणी प्रभु को **ईळे**=मैं स्तुति करता हूँ-उस प्रभु का मैं स्तवन करता हूँ (ईड-ईद उपासना) जो प्रभु २. **पुरोहितम्**=(पुरः हितम्) पहले से ही रखे हुए हैं, अर्थात् जो बनने से=सृष्टि से पूर्व ही विद्यमान हैं। जो बने कभी नहीं-'स्वयं-भू' हैं-अपने आप होने वाले हैं-'खुद आ' हैं। अथवा जो प्रभु हम जीवों के पुरः=सामने हितम्=एक आदर्श (Model) के रूप में विद्यमान हैं। उनके अनुरूप हमें अपने को बनाना है। ३. **यज्ञस्य देवम्**=वे प्रभु अपनी वेदवाणी में यज्ञों का प्रकाश करने वाले हैं। हमारे सब कर्तव्य-कर्मों का प्रभु ने वेद में प्रतिपादन किया है। **एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।**-गीता ४. **ऋत्विजम्**=ऋतौ-ऋतौ यजनीयम्-समय-समय पर, प्रत्येक ऋतु में वे प्रभु पूजा के योग्य हैं। उस प्रभु का ही हमें उपासना करना चाहिए। उसके पूजन से उसकी शक्ति का हममें प्रवाह होता है। हम घर के व आजीविकोपार्जन के कार्यों की समाप्ति पर स्वाध्यायश्रान्त होकर प्रभु के नाम का जप करने लगें **तज्जपस्तदर्थभावनम्।**-योग० १।२८। दिन में दुनिया में दुनिया के कार्यों से अवकाश न मिले तो रात्रि के समय प्रभु-नाम-जप करते हुए निद्रा की गोद में जाएँ ताकि सारी रात्रि प्रभु-सम्पर्क बना रहे-स्वप्न भी प्रभु का ही आएँ और उस स्वप्नगत प्रभु-दर्शन को हम जाग्रत में भी न भूलें, ऐसा प्रयत्न करें ('**स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा**'। -योग० १ ।३८) ५. **होतारम्**-(हू

दान, अदन) वे प्रभु सब-कुछ देने वाले हैं-प्रलय के समय सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ले-लेनेवाले हैं। (**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इथा वेद यत्र सः**-कठ० १। २। २५)। प्रभु ने हमारे हित के लिए सब आवश्यक पदार्थ हमें प्राप्त कराये हैं। ६. **रत्नधातमम्**= रमणीय वस्तुओं के धारण करने वालों में वे सर्वोत्तम हैं। प्रभु ने शरीरों के अन्दर इस प्रकार व्यवस्था की है कि खाये हुए अन्न से रस-रुधिर-मांस-मोदस्-अस्थि-मज्जा-वीर्य' -इन सात धातुओं का क्रमशः निर्माण होता है। ये सात धातुएँ ही सात रत्न हैं। इनकी उपयोगिता व महत्त्व शरीरशास्त्र में प्रसिद्ध है। इनके कारण शरीर रमणीय बना है, अतः ये ही रत्न हैं। प्रभु ने प्रत्येक शरीररूप घर में इन सात रत्नों की स्थापना की है। (दमे-दमे सप्त रत्ना दधाना-ऋ० ६। ७४। १)। इस रत्न-धातमम् प्रभु की हम स्तुति करें।

भावार्थ-मैं 'अग्नि-पुरोहित-यज्ञ के देव-ऋत्विज्-होता व रत्नधाता' प्रभु की स्तुति करता हूँ।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**पिपीलिकामध्या निचृद्गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त। स दे॒वाँ एह व॑क्षति॥२॥

अग्निः-(यह) अग्नि, **पूर्वेभिः**-पहले के, **ऋषिभिः** (भृगु, अङ्गिरा प्रभृति) ऋषियों से, **ईड्यः**-स्तुत्य या प्रशंसा योग्य (थी, और), **नूतनैः** (हम) आधुनिकों के द्वारा, **उत**-भी (स्तुत्य), **सः**-वह (अग्नि), **इह**-इस (यज्ञ) में, **देवान्**-देवों को, **आ वक्षति**-प्राप्त करावें।

(१) गत मन्त्र में वर्णित **ईड्यः**=सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले-अग्रणी प्रभु **ऋषिभिः**-(ऋषय द्रष्टारः) तत्त्वदर्शियों से **ईड्यः**=स्तुति के योग्य होते हैं, अर्थात् वस्तुतः प्रभु का स्तवन ये ऋषि=तत्त्वद्रष्टा ही करते हैं। वे तत्त्व-द्रष्टा जो **पूर्वेभिः**=(पृ पालनपूरणयोः) अपना रक्षण करते हैं-अपने को रोगों से आक्रान्त नहीं होने देते तथा अपनी न्यूनताओं को दूर करते रहते हैं, अर्थात् अपना 'पूरण' करने का ध्यान करते हैं। **उत**=और **नूतनैः**=(नू to Praise, to go) जो प्रशंसात्मक शब्द ही बोलते हैं-जो कभी निन्दा नहीं करते तथा जो सदा गतिशील हैं-जिनका जीवन क्रियामय है। संक्षेप में भाव यह है कि प्रभु का स्तवन वे करते हैं जो (क) तत्त्वद्रष्टा हैं, (ख) अपने शरीर को रोगों का शिकार नहीं होने देते, (ग) अपनी न्यूनताओं को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, (घ) जो प्रशंसात्मक शब्द बोलते हैं-कटु, निन्दात्मक शब्द नहीं बोलते, तथा (ङ) सदा क्रियात्मक जीवन बिताते हैं। २. **सः**=वह प्रभु ही इस प्रकार उपासित होकर **इह**=इस मानव-जीवन में हमें **देवान्**=दिव्यगुणों को **आवक्षति**=प्राप्त कराते हैं, अर्थात् प्रभु-उपासना का लाभ यह होता है कि हममें दिव्यगुणों की वृद्धि होती है।

भावार्थ-१. प्रभु का सच्चा उपासक वह है, जो ज्ञान प्राप्त करता है, नीरोग व निर्मल है तथा प्रशंसात्मक मधुर शब्द ही बोलता है और क्रियाशील है। 2. प्रभु की उपासना का लाभ यह है कि हम में दिव्यगुणों की वृद्धि होती है।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

अ॒ग्निना॑ र॒यिम॑श्नव॒त्पोष॑मे॒व दि॒वेदि॑वे। य॒शसं॑ वी॒रव॑त्तमम्॥३॥

अग्निना-(मनुष्य इस स्तुत्य) अग्नि से, **दिवेदिवे**-प्रतिदिन पोषण को प्राप्त होने वाले, **यशसम्**-यश देने वाले, **वीरवत्तमम्**- (और पुत्रभृत्य आदि) श्रेष्ठ पुरुषों से युक्त या श्रेष्ठ वीरता को देने वाले, **रयिम्**-धन या ऐश्वर्य को, **एव**-अवश्य, **अश्नवत्**-प्राप्त करता है।

१. इस मन्त्र में ऋषियों द्वारा 'अग्नि-स्तवन' का उल्लेख हुआ है।

उस प्रभु के उपासन से मनुष्य सांसारिक दृष्टि से असफल हो जाता हो-ऐसी बात नहीं। यदि प्रभु की उपासना करेंगे तो क्या लक्ष्मी के दर्शन नहीं होंगे? लक्ष्मी तो वहाँ है ही, इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **अग्निना**=अग्नि से **रयिम्**=धन को **अश्नवत्**=प्राप्त करता है। संसार में सामान्यतः देखा यह जाता है कि धन मनुष्य को कुछ अवनति की ओर ले जाता है, परन्तु प्रभु का स्मरण करते हुए जो धन प्राप्त होता है, उस धन की यह विशेषता है कि २. **दिवे-दिवे**=दिन-प्रतिदिन **पोषम् एव**=यह हमारे पोषण का ही कारण बनता है। इससे हमारा किसी प्रकार का ह्रास नहीं होता। यह धन मुझे निधन=मृत्यु की ओर न ले-जाकर जीवन की ओर ले-जाता है। ३. इस धन को प्राप्त करके मैं **यशसम्**=यशवाला बनता हूँ। धन के अभिमान में मैं ऐसे कार्य नहीं कर बैठता जो कार्य मेरे अपयश का कारण बनें, प्रत्युत यज्ञादि में धन का विनियोग करके यशस्वी होता हूँ। ४. हम प्रभु-उपासना से वह धन प्राप्त करते हैं जो **वीरवत्तमम्**=अत्यधिक शक्तिसम्पन्न बनाता है। सामान्यतः धनी पुरुष नौकरों से कार्य कराता हुआ आराम (हराम) का जीवन बिताने लगता है, परिणामतः वह निर्बल हो जाता है। 'क्रिया' ही शक्ति को जन्म देती है और क्रिया का अभाव शक्तिक्षय का हेतु होता है। तुलना में बायें हाथ की निर्बलता का हेतु यही है कि वह दाहिने की अपेक्षा कम कार्य करता है। प्रभु-स्मरण के साथ प्राप्त होने वाला धन हमें क्रियाशील बनाये रहकर वीर बनाता है।

भावार्थ-प्रभु का उपासक उस धन को प्राप्त करता है जो (क) उसके पोषण का कारण बनता है, (ख) उसको यशस्वी बनाता है और (ग) उसमें वीरता को जन्म देता है।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

अग्ने॒ यं य॒ज्ञम॑ध्व॒रं वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑। स इद्दे॒वेषु॑ गच्छति॥४॥

अग्ने-हे अग्ने (आप), **यम्**-जिस (राक्षसादियों से अधृष्य), **अध्वरम्**-हिंसा-रहित **यज्ञम्**-यज्ञ को, **विश्वतः**- सभी दिशाओं में सब ओर से, **परिभूःअसि**-प्राप्त करते हैं, **सः इत्**-वह (यज्ञ) ही, **देवेषु**-देवों को (तृप्ति हेतु, स्वर्ग में), **गच्छति**-प्राप्त होता है।

१. गत मन्त्र के अनुसार अग्नि का स्तोता धन को प्राप्त करके उस धन का विनियोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में करता है, परन्तु 'उन यज्ञों का भी उसे गर्व न हो जाए', इसके लिए वह प्रभु-स्मरण करता हुआ कहता है कि **अग्ने**=हे सारे कर्मों के संचालक प्रभो! **यम्**=जिस **अध्वरम्**=हिंसा से शून्य **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम्

कर्म को **विश्वतः**=सब ओर से **परिभूः**=(to surround, to take care of, to govern) व्याप्त करने वाले, रक्षा करने वाले व व्यवस्थित करने वाले आप हो, **सः**=वही यज्ञ **इत्**=निश्चय से **देवेषु**=देवताओं में **गच्छति**=प्राप्त होता है, अर्थात् यज्ञ तो प्रभु ही करते हैं, परन्तु देव उस यज्ञ का माध्यम बन जाते हैं, (**निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्** -गीता-11.33) २. वास्तविकता यही है कि संसार में सारे उत्तम कर्म उस प्रभु द्वारा सम्पन्न हो रहे हैं (जीव माध्यम-मात्र है, परन्तु अज्ञानवश हमें उन उत्तम कर्मों का गर्व हो जाता है और यह गर्व ही उन कर्मों की उत्तमता को समाप्त कर देता है। **'दानं दमश्च यज्ञश्च'** इन शब्दों में यज्ञ दैवीसम्पत्ति में परिगणित हुआ है। यज्ञ देवों में ही होता है (परन्तु यही यज्ञ अभिमानयुक्त होकर किया जाने पर आसुर हो जाता है, असुर उन यज्ञों का गर्व करते हैं और कहते हैं कि **'यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः'** यज्ञ करूँगा-खूब (यश मिलेगा, अतः) आनन्द होगा, इस प्रकार ये असुर आत्मकर्तृत्व के अज्ञान से मूढ बने रहते हैं। **'यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्'** (गीता)-ये असुर केवल नाम के लिए दम्भपूर्वक यज्ञों का ढोंग करते हैं। देव यज्ञ करते हैं और उसे प्रभु-समर्पण कर देते हैं- **'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्'** (गीता)-देव सब क्रियाओं को प्रभु-अर्पण करके कर्तृत्व के अहंकार से बचे रहते हैं। इस प्रकार निर्मम व निरहंकार होकर ही वे प्रभु को प्राप्त करते व शान्त जीवन वाले होते हैं- **'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति'** (गीता)।

भावार्थ- हमारा जीवन यज्ञमय हो और हम उन सब यज्ञों को प्रभु से होता हुआ जानें। उत्तम कर्म करें, परन्तु उनका गर्व न हो। यही 'देव' बनने का मार्ग है।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

अ॒ग्निर्होता॑ क॒विक्र॑तुः स॒त्यश्चि॒त्रश्र॑वस्तमः।
दे॒वो दे॒वेभि॒रा ग॑मत्॥५॥

होता-(जो देवों को) आहूत करने वाले, या होम के निष्पादक, **कविक्रतुः**-क्रान्तकर्मा, (अर्थात् अतीत एवं अनागत कर्मो को जानने वाले या करने वाले), **सत्यः**-मिथ्या रहित, (अतएव निश्चित रूप से फलों को देने वाले) **चित्रश्रवस्तमः**-विविध (प्रकार की) कीर्ति से युक्त (और), **देवः**-देव स्वरूप (हैं), **अग्निः**- (वह तेजस्वी) अग्नि, **देवेभिः**-(अन्य) देवताओं के साथ, **आ गमत्**- (इस यज्ञ में) आवे।

१. गतमन्त्र की भावना को प्रकट करते हुए कहते हैं कि **अग्निः**=सबको गति देने वाले वे प्रभु ही **होताः**=सब यज्ञों के करने वाले हैं। प्रभु कृपा से ही हम उन यज्ञों के माध्यम बनते हैं और उन यज्ञों को पूर्ण होता हुआ देखते हैं। सृष्टि-यज्ञ के होता तो वे सर्वमहान् प्रभु स्पष्ट ही हैं। २. **कविक्रतुः**=क्रान्तदर्शी होते हुए वे सब कर्मों के करने वाले हैं (कविः क्रान्तदर्शी), इसीलिए उनके सृष्टि आदि कर्मों में अपूर्णता नहीं है **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'**=प्रभु पूर्ण हैं, अतः यह सृष्टियज्ञ पूर्ण होना ही था। हमें अज्ञानवश कई बार इस सृष्टि में कई न्यूनताएँ प्रतीत होने लगती हैं। भूकम्प आदि का आना घातक लगता है। शरीर में कई ग्रन्थियाँ (gland) निष्प्रयोजन प्रतीत होती हैं। कितने ही प्राणियों व पौधों का उपयोग हमें

अज्ञात है, परन्तु जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ता जाएगा, उतना-उतना हमें संसार पूर्ण प्रतीत होगा। ३. **सत्यः**=वे प्रभु सत्य हैं-सत्यस्वरूप हैं अथवा **'सत्सु भवः'**=सज्जनों में उनका निवास है। सर्वव्यापकता के नाते सर्वत्र होते हुए भी वे सज्जनहृदयों में प्रकाशित होते हैं। ३. **चित्रश्रवस्तमः**=(चित्र) वे प्रभु सृष्टि के आरम्भ में वेदज्ञान देने वाले हैं। ज्ञान देने का उनका प्रकार भी अद्भुत है। हृदयस्थ होते हुए वे बिना किसी प्रयास के पवित्र हृदयों को प्रकाशित कर देते हैं। वे प्रभु **श्रवस्तमः**=अत्यन्त कीर्तिमान् हैं अथवा वे प्रभु सर्वाधिक ज्ञानवाले हैं (श्रवस्=श्रुति, ज्ञान), निरतिशय ज्ञान के अधिष्ठान ब्रह्म ही तो हैं। ५. (क) वे **देवः**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज, ज्योतिर्मय प्रभु **देवेभिः**=देवताओं के साथ **आगमत्**=आते हैं अर्थात् हृदय में प्रभु का वास होने पर सब दिव्यगुण हममें स्वतः प्रादुर्भूत हो जाते हैं। (ख) अथवा **देवेभिः**=दिव्यगुणों के द्वारा **देवः**=वे प्रभु हममें **आगमत्**=आते हैं, अर्थात् प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम अपने आचरण को देव-सदृश बनाएँ-हमारे व्यवहार असुरों-जैसे न हों। हम जितना-जितना दिव्यता को अपनाएँगे उतना-उतना प्रभु के समीप होते जाएँगे।

भावार्थ- वे प्रभु 'अग्नि-होता-कविक्रतु-सत्य-चित्रश्रवस्तम व देव' हैं। वे प्रभु दिव्यगुणों के धारण के द्वारा प्राप्त होते हैं, अथवा जितना-जितना हम प्रभु को धारण करने का प्रयत्न करते हैं, उतना-उतना हम दिव्यगुणों वाले बनते जाते हैं।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**निचृद्गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः॥६॥

अङ्गअग्ने-हे प्रिय अग्ने!, **यत्**-जो, **त्वम्**-आप, **दाशुषे**-हवि का दान करने वाले (यजमान) के लिए, **भद्रम**-(वित्त, गृह, प्रज्ञा एवं पशु रूप) कल्याण, **करिष्यसि**-करते हो, **तत्**-वह (कल्याण), **तव इत्**-आपका ही (है), **अङ्गिरः**-हे अङ्गार रूपी अग्नि देवता! (अथवा) हे अङ्गिरा मुनि को जन्म देने वाले अग्नि देवता!, **सत्यम्** (यह) सत्य (ही) है, (अर्थात्) इसमें कोई सन्देह नहीं है)

१. हे अङ्ग=सम्पूर्ण वस्तुओं को प्राप्त कराने वाले प्रभो! (अगि गतौ-गति=प्राप्ति) **अग्ने**=सबके अग्रण ी प्रभो! आप **यत्**=जो यह नियम करते हैं कि **दाशुषे**=दाश्वान् (दाशृ दाने) के लिए, देने वाले के लिए अथवा आपके प्रति अपना अर्पण करने वाले के लिए [वस्तुतः धन को देकर ही तो हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं, Mammon (धनदेव) व God (महादेव) दोनों की उपासना इकट्ठे थोड़े हुआ करती है! इस दाश्वान् के लिए] **त्वम्**=आप **भद्रम्**=कल्याण को **'यद्वै पुरुषस्य वित्तं तद् भद्रं गृहा भद्रं प्रजा भद्रं पशवो भद्रम्'**=वित्त-गृह-पशुरूप भद्र को **करिष्यसि**=करेंगे **तव**=आपका **तत्**=यह नियम **इत्**=निश्चय से **सत्यम्**=सत्य है और इस नियम के द्वारा उस दाश्वान् के अंग-प्रत्यंगों में रस का-जीवनीशक्ति का संचार करते हुए आप सचमुच **'अंगिरः'**=(अंगिरस्) अंगों में रस का संचार करने वाले हैं, जीवन देने वाले हैं। २. एक बालक माता-पिता के प्रति अपना अर्पण कर देता है-अपनी इच्छा को उनकी इच्छा में मिला देता है तो माता-पिता उसका अधिक ध्यान करते हैं और उसका उत्तम निर्माण करते हैं। इसी प्रकार जब एक दाश्वान् पुरुष प्रभु के प्रति अपने को अर्पित कर

देता है तो प्रभु का वह अधिक प्रिय होता है और प्रभु उसे सब आभ्युदयिक वस्तुएँ प्राप्त कराते हैं। जीव की अल्पज्ञता से जीवन द्वारा धारण किया गया ऐसा कोई व्रत टूट भी जाए, तदपि परमात्मा का व्रत उसके पूर्ण ज्ञान के कारण टूट नहीं जाता। जीव अल्पज्ञता से कोई गलत वस्तु भी दे देता है, परन्तु प्रभु ठीक ही वस्तु देते हैं।

भावार्थ-प्रभु दाश्वान् का कल्याण करते हैं-यह उनका सत्य व्रत है।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

उप॑ त्वाग्ने दि॒वेदि॑वे दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम्।
नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि॥७॥

अग्ने-हे अग्ने!, **वयम्**-हम (याज्ञिक अनुष्ठान करने वाले) लोग, **दिवेदिवे**-प्रतिदिन (और), **दोषावस्तः**-रातदिन, **धिया**-बुद्धि से बुद्धिपूर्वक, (आपको), **नमः**-नमस्कार, **भरन्तः**-करते हुए, **त्वा**-आपके, **उप**-समीप, **एमसि**-आते हैं।

१. गतमन्त्र में वर्णित समर्पण को ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-हे **अग्ने**=हमें सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराने वाले प्रभो! **वयम्**=हम **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **दोषावस्तः**=रात्रि और दिन, अर्थात् प्रातः सन्धि वेला और सायं सन्धिवेला में **धिया**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **नमः भरन्तः**=पूजा को प्राप्त करते हुए (**स्वकर्मणा तमभ्यर्च**-गीता २८।४६) **त्वा**, **उप**=आपके समीप **एमसि**=(आ इमसि) सर्वथा प्राप्त होते हैं। २. प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में उपस्थित होना मानव के लिए इसलिए आवश्यक है कि इससे (क) पवित्रता की भावना बनी रहती है (ख) शक्ति का सञ्चार होता है (ग) जीवन का उद्देश्य धन ही नहीं बनता और परिणामतः पारस्परिक प्रेम विनष्ट नहीं होता। ३. वस्तुतः जैसे शरीर के लिए भोजन है, जैसे मस्तिष्क के लिए स्वाध्याय है, उसी प्रकार हृदय के लिए यह 'दैनिक ध्यान' है। जैसे भोजन के बिना शरीर निर्बल होकर रोगाक्रान्त हो जाता है, स्वाध्याय के बिना मस्तिष्क दुर्बल होकर ठीक विचार नहीं कर पाता, उसी प्रकार उपासना के बिना हृदय मलिन होकर वासनाओं से अभिभूत हो जाता है। ४. भोजन शरीर को सबल बनाता है, स्वाध्याय मस्तिष्क को तथा उपासना हृदय को बलवान् बनाने के लिए आवश्यक है।

भावार्थ- हम प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करने वाले बनें। दिनभर प्रज्ञापूर्वक कार्यों को करते हुए हम उन्हें प्रभु-चरणों में अर्पित करें। प्रातः शक्ति की याचना करें कि हम प्रज्ञापूर्वक कर्मों को करने वाले बन पाएँ।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता-**अग्निः**॥ छन्दः-**यवमध्या विराड्गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

राज॑न्तमध्व॒राणां॑ गो॒पामृ॒तस्य॒ दीदि॑विम्। वर्ध॑मान॒ं स्वे दमे॑॥८॥

राजन्तम् दीप्यमान्, **अध्वराणाम्**-(राक्षसादि के द्वारा की जाने वाली) हिंसा से रहित यज्ञों के, **गोपाम्**-रक्षक, **ऋतस्य**-(अटल) सत्य के या अवश्यम्भावी कर्म-फल के, **दीदिविम्**-पुनः पुनः

प्रकाशित करने वाले, **स्वे**-अपने, **दमे**-घर में अर्थात् यज्ञशाला में, **वर्धमानम्**-(हविष्य के निक्षेप से) बढ़ने वाले (जो पूर्वमन्त्रोक्त-अग्नि देव हैं, उनको हम नमस्कार करते हुए समीप आते हैं।)

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु के समीप उपस्थित होने से हम प्रभु-दर्शन के योग्य बनेंगे और देखेंगे कि वे प्रभु **राजन्तम्**=(राजृ दीप्तौ) देदीप्यमान हैं, आदित्यवर्ण हैं, सहस्त्रों सूर्यों की दीप्ति के समान उनकी दीप्ति है तथा (राज to regulate) वे प्रभु ही सारे संसार को व्यवस्थित कर रहे हैं। उस प्रभु के प्रशासन में ही ये सब ग्रह-नक्षत्र व नदियाँ गति कर रही हैं २. **अध्वराणां गोपाम्**=वे प्रभु ही सब हिंसा रहित यज्ञों के रक्षक हैं। प्रभु की कृपा से ही सब उत्तम कार्य पूर्ण हुआ करते हैं। 'विजय-मात्र' उस प्रभु की कृपा का ही परिणाम है। ३. **ऋतस्य दीदिविम्**=सत्य के प्रकाशक हैं। वेदज्ञान द्वारा प्रभु ने सब सत्य विद्याओं का प्रकाश किया है, हमारे सत्य कर्तव्यों का उन वेदों में प्रतिपादन किया है। ४. वे प्रभु **स्वे दमे**=अपने स्थान में अथवा अपने पूर्ण दान्तरूप में (दमन में) **वर्धमानम्**=सदा से बढ़े हुए हैं। वस्तुतः वृद्धि दमन के अनुपात में होती है, जितना दमन उतनी वृद्धि। आदमी तो आदमी बनता ही दमन से है। हम इन इन्द्रियों को वश में करते हैं, मन का दमन करते हैं और वृद्धि को प्राप्त करते हैं। प्रभु में दमन की पराकाष्ठा है, अतः वृद्धि की भी वहाँ चरम सीमा है। ५. प्रभु को इस रूप में देखकर स्तोता को भी ध्यान आता है कि वह (क) ज्ञान से देदीप्यमान बनने का प्रयत्न करे-अपने जीवन को नियमित बनाये। (ख) उसका जीवन सदा यज्ञमय हो। (ग) सत्य के प्रकाश को देखने के लिए यत्नशील हो। (घ) मन व इन्द्रियों के दमन से शक्तियों की वृद्धि करने वाला हो।

भावार्थ- प्रभु देदीप्यमान, यज्ञों के रक्षक, ऋत के प्रकाशक व सदा से बढ़े हुए हैं। हम भी अपने जीवन को इसी प्रकार का बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः-**मधुच्छन्दाः**॥देवता-**अग्निः**॥छन्दः-**विराड्गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

स नः॑ पि॒तेव॑ सू॒नवेऽग्ने॑ सूपाय॒नो भ॑व। सच॑स्वा नः स्व॒स्तये॑॥९॥

अग्ने-हे अग्ने, (पूर्व मन्त्रोक्त गुणों से प्रसिद्ध या युक्त) वह, (आप), **नवे**-पुत्र के लिए, **पिता**-पिता (की), **इव**-तरह, **नः**-हम लोगों के लिए, **सूपायनः**-सुप्राप्य या कल्याण करने वाले, **भव**-होइए (और), **नः**-हम लोगों के, **स्वस्तये**-कल्याण के लिए, **सचस्व**-संग रहिए या सहायक होइए।

१. गतमन्त्र के अनुसार स्तोता प्रभु-दर्शन करता हुआ कहता है कि हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **सः**=वह आप **नः**=हमें, **सूनवे पिता इव**=पुत्र के लिए पिता की भाँति, **सूपायनः**=(सु+उप-अयनः) सुगमता से समीप होने वाले, **भव**=होओ। पुत्र को पिता से भय नहीं लगता, वहाँ वह प्रेम का अनुभव करता है और निःशंक होकर पिता की गोद में पहुँचने की करता है। इसी प्रकार हम भी आपकी गोद में आ सकें। (सु-उपायन) पिता-पुत्र के लिए उत्तमोत्तम उपहार प्राप्त कराता है, आप भी हमें जीवन में उन्नति के लिए आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराइए। वस्तुतः आप तो प्राप्त कराते ही हैं, हम भी उन वस्तुओं का ठीक-ठीक प्रयोग करने वाले बनें। २. हे प्रभो! सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराके **नः**=हमें

स्वस्तये (सु-अस्ति)=कल्याण के लिए, उत्तम स्थिति के लिए, **सचस्व**=संगत कीजिए। इन वस्तुओं का ठीक प्रयोग कर हम उन्नति को प्राप्त हों अथवा आप हमें प्राप्त होओ ताकि हमारी उत्तम स्थिति बनी रहे। प्रभु से दूर होते ही हम प्रायः मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं। प्रभु-स्मरण जीवन की घड़ियों को पथभ्रष्ट (Derailed) नहीं होने देता। जैसे पिता की दृष्टि में रहने वाले बालक का आचरण ठीक बना रहता है, उसी प्रकार प्रभु के सामीप्य में हमारा जीवन उत्तम मार्ग में ही स्थित रहता है।

भावार्थ-प्रभु हमारे लिए उसी प्रकार सुगमता से प्राप्त होने योग्य हों जैसे पिता पुत्र के लिए। प्रभु के साथ हमारा मेल हो ताकि हमारी जीवन-स्थिति उत्तम बनी रहे।

विशेष-सम्पूर्ण सूक्त का सार प्रथम व अन्तिम मन्त्र से स्पष्ट है। जीव प्रभु की उपासना करता है-(अग्निमीळे) और चाहता है कि उसके लिए इस प्रकार सुगमता से प्राप्त होने योग्य हों जैसे पुत्र के लिए पिता।

स्मरणीय बिंदु

1. अग्नि वैदिक संस्कृति का केंद्र है।
2. अग्नि ज्ञान, ऊर्जा एवं पवित्रता का प्रतीक है।
3. यज्ञ के माध्यम से सामूहिक कल्याण की भावना विकसित होती है।
4. अग्नि देवताओं एवं मनुष्यों के मध्य सेतु है।

शब्दावली

1. अग्नि - ऊर्जा एवं प्रकाश का देवता
2. यज्ञ - पवित्र वैदिक अनुष्ठान
3. पुरोहित - मार्गदर्शक
4. हवि - यज्ञ में अर्पित सामग्री
5. ऋत्विज - यज्ञ करने वाला विद्वान

5 अंक के प्रश्न

1. अग्नि को पुरोहित क्यों कहा गया है?
2. यज्ञ में अग्नि का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. अग्नि को देवताओं का दूत क्यों कहा गया है?

4. अग्निसूक्त का मुख्य संदेश लिखिए।

5. अग्नि एवं ज्ञान के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न

1. अग्निसूक्त का दार्शनिक विवेचन कीजिए।

2. वैदिक संस्कृति में यज्ञ एवं अग्नि की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

3. अग्नि को ऊर्जा एवं ज्ञान का प्रतीक सिद्ध कीजिए।

4. अग्निसूक्त में वर्णित आध्यात्मिक चेतना का विश्लेषण कीजिए।

5. अग्निसूक्त के सामाजिक एवं नैतिक पक्ष का विवेचन कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. अग्निसूक्त का प्रथम मंत्र किस शब्द से आरंभ होता है?

(क) इन्द्रम्

(ख) अग्निमीळे

(ग) सोमम्

(घ) वरुणम्

उत्तर: (ख)

2. अग्नि को किसका प्रतीक माना गया है?

(क) अंधकार

(ख) ज्ञान और ऊर्जा

(ग) जल

(घ) निद्रा

उत्तर: (ख)

3. यज्ञ का मुख्य माध्यम कौन है?

(क) वायु

(ख) जल

(ग) अग्नि

(घ) पृथ्वी

उत्तर: (ग)

4. अग्नि को किस नाम से संबोधित किया गया है?

(क) पुरोहित

(ख) राजा

(ग) सेनापति

(घ) मित्र

उत्तर: (क)

5. अग्नि किसका मार्ग प्रशस्त करती है?

(क) अज्ञान

(ख) आध्यात्मिक उन्नति

(ग) हिंसा

(घ) मोह

उत्तर: (ख)

इकाई-1.3 स्वस्तिवाचनसूक्तम्।

इकाई के उद्देश्य

1. स्वस्ति अर्थात् कल्याण की वैदिक अवधारणा समझना।
2. वैदिक मंत्रों में विश्वकल्याण की भावना का अध्ययन करना।
3. प्रकृति एवं मानव के सामंजस्य को समझना।

ऋ. मं ५ सू ५१ स्वस्त्यात्रेयः ऋषिः। विश्वेदेवाः देवताः। जगती, त्रिष्टुब्वा अनुष्टुप् छन्दः।

ओ३म् स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः। स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना॥११॥

नः- हमारा, **अश्विना**-अश्विनीकुमार, **स्वस्ति**-कल्याण, **मिमीताम्**-करें, **भगः**-भगदेव, **स्वस्ति**-कल्याण करें, देवी, **अदितिः**-अदिति **अनर्वणः**-अपराजित, **असुरः**-(आप) शत्रुनाशक, **पूषा**-पूषादेव, **स्वस्ति**-कल्याण, **दधातु**-करें, **नः**-हमारा, **द्यावापृथिवी**-आकाश और पृथ्वी, **सुचेतुना**-उत्तम ज्ञान से, **स्वस्ति**-कल्याण करें।

(१) **नः** = हमारे लिये **अश्विना**=प्राणापान **स्वस्ति** = कल्याण व क्षेम को **मिमीताम्** =निर्मित करें। प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना करते हुए हम दोषों को दग्ध करके जीवन को कल्याणमय बनायें। **भगः**=ऐश्वर्य **स्वस्ति**=हमारा कल्याण करे। जीवन-यात्रा की आवश्यक सामग्री को जुटाने में सहायक होता हुआ यह ऐश्वर्य हमारा क्षेम-कारक हो। **देवी अदितिः**=यह प्रकाशमयी स्वास्थ्य की देवता **स्वस्ति**=क्षेम करने वाली हो। स्वास्थ्य व प्रकाश हमें आनन्द प्राप्त करायें। **अनर्वणः**=(अ प्रति ऋतः) शत्रुओं से आक्रान्त न होने वाला, वासनारूप शत्रुओं से पराजित न होने वाला, **असुरः**=शत्रुओं का निरसिता (परे फेंकने वाला) अथवा प्राणशक्ति का संचार करने वाला **पूषा**=पोषण का देव **नः**=हमारे लिये **स्वस्ति दधातु**=कल्याण को धारण करे। (२) **द्यावापृथिवीम्**=द्युलोक से पृथिवीलोक तक सब पदार्थ **सुचेतुना**=उत्तम ज्ञान के द्वारा स्वस्ति=हमारा कल्याण करने वाले हों। प्रभु ने वस्तुतः सब पदार्थ हमारे हित के लिये ही बनाये हैं। उनका हमें जब ठीक ज्ञान नहीं होता, तभी उनके अयोग व अतियोग से हम अकल्याण के भागी होते हैं। उन सब पदार्थों का ठीक ज्ञान हमें उनके यथायोग के द्वारा कल्याण प्राप्त कराने वाला होता है।

भावार्थ-हमारे लिये 'प्राणापान, ऐश्वर्य, स्वास्थ्य व पोषण' सुख को देने वाले हों। सब पदार्थ ज्ञानपूर्वक यथोपयुक्त हुए-हुए कल्याण को करने वाले हों।

ऋषिः-**स्वस्त्यात्रेयः**॥ देवता-**विश्वे देवाः**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः ॥१२॥

स्वस्तये-(हम लोग) कल्याण के लिए, **वायुम्**-वायुदेव की, **उप ब्रवाम**-स्तुति करते हैं, **यः**- जो, **भुवनस्य**-लोकों के, **पतिः**स्वामी **सोमम्**-उन सोम की, **स्वस्ति**-कल्याण के लिए (स्तुति करते हैं), **स्वस्तये**-कल्याण के लिए, **सर्वगणम्**-सभी देवगणों के सहित **बृहस्पतिम्**-बृहस्पति की (स्तुति करते हैं), **आदित्यासः**-सूर्य, **नः**-हमारे, **स्वस्तये**-कल्याण के लिए, **भवन्तु**-हों।

(१) हम **स्वस्तये**=कल्याण के लिये **वायुम्**=वायुवत् क्रियाशील आचार्य को **उपब्रवामहै**=पुकारते हैं। **सोमम्**=सोम स्वभाव वाले को अथवा 'स उमा' ब्रह्मविद्या से युक्त आचार्य को। यह आचार्य **स्वस्ति**=हमारे कल्याण के लिये हो, **यः**=जो **भुवनस्य पतिः**=ब्रह्माण्ड की सब विद्याओं का पति (master) है। (२) **बृहस्पतिम्**=इस वेदज्ञान के पति 'ब्रह्मणस्पति', **सर्वगणम्**=पूर्ण स्वस्थ गणोंवाले (whole स्वस्थ=सर्व) जिसके पञ्चभूत, पञ्चप्राण, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ व 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और हृदय' का पञ्चक सब स्वस्थ हैं, उस आचार्य को **स्वस्तये**=कल्याण के लिए पुकारते हैं। **आदित्यासः**=प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञान का आदान करने वाले आदित्य विद्वान् नः=हमारे **स्वस्तये**=कल्याण के लिये **भवन्तु**=हों।

भावार्थ-आचार्य 'वायु, सोम, भुवनपति, बृहस्पति, सर्वगण व आदित्य' हों। ऐसे ही आचार्य राष्ट्र का कल्याण करते हैं।

सूचना- 'भुवनपति' अपराविद्या के पति हैं, 'बृहस्पति' पराविद्या के पति हैं। आचार्य 'ज्ञान-विज्ञान' दोनों में निपुण होने ही चाहिएँ।

ऋषिः-**स्वस्त्यात्रेयः**॥ देवता- **विश्वेदेवाः**॥ छन्दः-**पङ्क्तिः**॥ स्वरः-**पञ्चमः**॥

विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः ॥१३॥

अद्य-आज, **विश्वे**-सभी, **देवाः**-देव, **नः**-हमारे, **स्वस्तये**-कल्याण के लिए हों, **वैश्वानरः**- सभी के द्वारा ले जाये जाने वाले **वसुः**, (तथा) सभी को निवास देने वाले, **अग्निः**-अग्निदेव, **स्वस्तये**-कल्याण के लिए हों, **ऋभवः**-ऋभु, **देवाः**-देव, **स्वस्तये**-कल्याण के लिए, **अवन्तु**-रक्षा करें, **रुद्रः**-भगवान् शिव, **नः**-हमारी, **अंहसः**-पाप से, **स्वस्ति**-कल्याणपूर्वक, **पातु**-रक्षा करें।

(१) **विश्वेदेवाः**=सब दिव्यगुण **अद्या**=आज **नः**=हमारे **स्वस्तये**= कल्याण के लिये हों। **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करने वाला **वसुः**=निवास को उत्तम बनाने वाला **अग्निः**=अग्नितत्त्व (जाठराग्नि) **स्वस्तये**=हमारे कल्याण के लिये हों। वैश्वानर अग्नि पाचन क्रिया को ठीक से करती हुई हमें नीरोग बनाती है और सब दिव्यगुण हमें मानस स्वास्थ्य प्राप्त कराते हैं। (२) **ऋभवः**=(ऋतेन भान्ति) सत्य ज्ञान से दीप्त होने वाले **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **अवन्तु**=हमारा रक्षण करें और **स्वस्तये**=हमारे क्षेम के लिये हों। और अन्त में, **रुद्रः**=सब रोगों का द्रावण करने वाला (रुत् द्र) अथवा पाप कर्मों का दण्ड

देकर रुलाने वाला (रोदयति) प्रभु **नः**=हमारे लिये **स्वस्ति**=कल्याण करे। इस कल्याण के लिये वह हमें **अंहसः पातु**=सब कष्टों से बचाये।

भावार्थ–हमारे मनों में दिव्यगुण हों, शरीर में वैश्वानर अग्नि स्वास्थ्य का कारण बने। हमें ज्ञानी देव–पुरुषों का सम्पर्क प्राप्त हो। रुद्ररूप में प्रभु का स्मरण पापों से बचाये।

ऋषिः–**स्वस्त्यात्रेयः**॥देवता–**विश्वेदेवाः**॥छन्दः–**अनुष्टुप्**॥ स्वरः–**गान्धारः**॥

स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति।
स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि ॥१४॥

मित्रावरुणा–हे मित्र और वरुण!, स्वस्ति–कल्याण करें, **पथ्ये**–हे मार्गाधिष्ठात्री, **रेवति**–धनयुक्त देवि! **स्वस्ति**–कल्याण करें, **इन्द्रःच**–इन्द्र और, **अग्निःच**–अग्निदेव, **नः**–हमारा, **स्वस्ति**–कल्याण करें, **अदिते**–हे अदिति देवी!, **नः**–हमारा, **स्वस्ति**–कल्याण, कृधि–करें।

(१) **मित्रावरुणा**= स्नेह व निर्द्वेषता (द्वेष निवारण) की देवताएँ **स्वस्तिः**=हमारा कल्याण करें। हम सबके प्रति स्नेहवाले हों और किसी से द्वेष न करें। **रेवति**=उत्तम ऐश्वर्य वाली **पथ्ये**=मार्ग की देवते! तू **स्वस्ति**=हमारा कल्याण कर। उत्तम मार्ग से धन को कमाते हुए हम अपना कल्याण सिद्ध करें। (२) **नः**=हमारे लिये **इन्द्रः च**=बल की देवता **अग्निः च**=और प्रकाश की देवता **स्वस्ति**=कल्याण करें। हमारा जीवन बल व प्रकाश के समन्वय वाला हो। हे **अदिते**=स्वास्थ्य की देवते! तू **नः**=हमारे लिये **स्वस्ति कृधि**=कल्याण को कर। स्वस्थ पुरुष ही आनन्द का अनुभव कर पाता है।

भावार्थ–हम 'स्नेह' निर्द्वेषता, उत्तम मार्ग से धन प्राप्ति, बल प्रकाश व स्वास्थ्य' को प्राप्त करके आनन्द लाभ करें।

ऋषिः–**स्वस्त्यात्रेयः**॥ देवता–**विश्वे देवाः**॥ छन्दः–**अनुष्टुप्**॥ स्वरः–**गान्धारः**॥

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि ॥१५॥

सूर्याचन्द्रमसौ इव–(हम लोग) सूर्य और चन्द्रमा की तरह, **पन्थाम्**– मार्ग पर, **स्वस्ति**–कल्याणपूर्वक, **अनु चरेम**– चलें, **पुनर्ददता**–(हम लोग अभीष्ट को बाँटकर देने वाले, **अघ्नता**–अहिंसक (तथा), **जानता**–हमें पहचानने वाले बान्धवों से, **सं–गमेमहि**–मिलें।

(१) जीवन दो भागों में बटा हुआ है। शरीर संबद्ध जीवन 'भौतिक' जीवन है, आत्मसम्बद्ध जीवन ही अध्यात्म जीवन है। 'द्वौ इमौ (द्वा विमौ) पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च, क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते' क्षरांश से सम्बद्ध जीवन ही भौतिक जीवन है। इस जीवन में हम **स्वस्ति पन्थां अनुचरेम**=कल्याण के मार्ग का अनुसरण करें, **सूर्याचन्द्रमसौ इव**=सूर्य और चन्द्रमा की तरह सब भौतिक क्रियाओं को नियमित गति से करें। जैसे सूर्य और चन्द्रमा की गति पूर्ण ॠत को लिये हुए होती

है, इसी प्रकार हमारी सब भौतिक क्रियाएं नियमित गति को लिये हुए हों। यह नियमितता ही स्वास्थ्य का कारण बनती हैं। (२) अध्यात्म जीवन में उन्नति के लिये हम पुनः=फिर **संगमेमहि**=उन्हीं पुरुषों के संग में आएँ, जो **ददता**=देने की वृत्ति वाले हों, जिनमें कृपणता न हो, **अघ्नता**=जो शक्ति के मद में औरों का हनन न करते हों तथा **जानता**=ज्ञानी हों। दानी वैश्य, वीरता से रक्षण करने वाले क्षत्रिय, तथा उत्कृष्ट ज्ञानी ब्राह्मण ही हमारे संगी-साथी हों। इनके संग में हम अपने जीवन को भी 'दान, उत्कृष्ट वीरता व ज्ञान' वाला बनाएँ।

भावार्थ- नियमितता हमारे भौतिक जीवन को स्वस्थ बनाये। उत्तम संग हमारे अध्यात्म जीवन को परिष्कृत करे।

इस स्वस्थ व सद्गुणों वाले जीवन के लिये ही हम 'श्यावाश्व' बनें, गतिशील इन्द्रियाश्वों वाले बनें। आत्रेय हों, 'काम-क्रोध-लोभ' से दूर। ऐसा बनने के लिये हम 'मरुतों' की, प्राणों की, साधना में प्रवृत्त हों।

ऋ. मं ७ सू ३५-

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥१५॥

ये- जो **देवानाम्**- विद्वानों के बीच विद्वान् **यज्ञियानाम्**- यज्ञ करने के योग्यों में **यज्ञियाः**- यज्ञ करने योग्य **मनोः**- विचारशील के **यजत्राः**- सङ्ग करने **अमृताः**- अपने स्वरूप से नित्य वा जीवन्मुक्त रहने **ऋतज्ञाः**- और सत्य के जानने वाले हैं **ते**- वे **अद्य**- आज **नः** हम लोगों के लिये **उरुगायम्** बहुतों ने गाये हुए विद्याबोध को **रासन्ताम्** देवें, हे विद्वानो ! **यूयम्**- तुम **स्वस्तिभिः**- विद्यादि दानों से **नः**- हम लोगों की **सदा**- सर्वदा **पात**- रक्षा करो।

ये=जो **यज्ञियानां देवानां**=यज्ञकर्त्ता, उत्तम विद्वानों में भी **यज्ञियाः**=दान, सत्कार-योग्य और **मनोः**=मननशील विद्वान् का **यजत्राः**=सत्संग करने वाला **अमृताः**=दीर्घायु, **ऋतुज्ञाः**=सत्य के जानने वाले हैं **ते**=वे **नः अद्य**=आज **उरु-गायम्**=बहुत से उपदिष्ट ज्ञान का **रासन्ताम्**=उपदेश करें। हे विद्वान् जनो! **यूयं नः स्वस्तिभिः सदा पात**=तुम लोग हमारी सदा कल्याणकारी उपायों से रक्षा करो।

भावार्थ-मननशील विद्वान् यज्ञ करनेवाले, दानी, सत्संगी, दीर्घायुवाले तथा सत्य ज्ञानी जनों में उत्तम ज्ञान का उपदेश करें तथा उनकी रक्षा करें।

ऋ. मं १० सू ६३-

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः ।
उक्थशुष्मान्वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये॥३॥

माता- सबका निर्माण करने वाली पृथिवी, **येभ्यः**- जिन देवताओं के लिए, **मधुमत्**-माधुर्य से युक्त,

पयः-दूध अथवा जल, **पिन्वते**-प्रदान करती है, **अद्रिबर्हाः**-मेघों से आच्छादित **अदितिः**-अविनाशी, **द्यौः**-अन्तरिक्ष, **पीयूषम्**- अमृत जल जैसा बरसाता है, **उक्थसुष्मान्**-स्तुतियों के कारण अत्यन्त बलशाली, **वृषभरान्**-वर्षा करने वाले, **स्वप्नसः**-उत्तम कर्म करने वाले, **तान्**-उन, **आदित्यान्**-अदिति के पुत्र देवताओं की, **स्वस्तये**-अपने कल्याण के लिए, **अनु मद**-स्तुति करो।

(१) **तान्**=उन **आदित्यान्**=सब स्थानों से अच्छाइयों का ग्रहण करने वाले देवों के **अनु**=पीछे चलते हुए हम **मदा**=हर्ष का अनुभव करते हैं, जिससे **स्वस्तये**=(सु+अस्ति) हम जीवन की स्थिति को उत्तम बना सकें। आदित्यों का अनुगमन करते हुए हम भी गुणों के आदान की वृत्ति वाले बनेंगे, तो हमारी स्थिति उत्तम बनेगी ही। (२) उन आदित्यों का हम अनुगमन करते हैं **येभ्यः**=जिनके लिये **माता**=वेद-माता **मधुमत् पयः**=माधुर्य से पूर्ण ज्ञानदुग्ध को **पिन्वते**=प्राप्त कराती है। **'स्तुता मया वरदा वेदमाता०'** इन वेद शब्दों में वेद को माता कहा ही है। माता जैसे दूध से बच्चे का पोषण करती है, इसी प्रकार यह वेदमाता ज्ञानदुग्ध से हमारा पोषण करती है। वेदमाता का यह ज्ञानदुग्ध माधुर्य से परिपूर्ण है। वेद में माधुर्य पर अत्यधिक बल दिया है। वेद का ज्ञान मनुष्य के जीवन को द्वेषादि से ऊपर उठाकर मधुर बनाता है। (३) हम उन देवों के सम्पर्क में आयें जिनके लिये **द्यौः**=द्युलोक, अर्थात् मस्तिष्क **पीयूषम्**=अमृत का वर्षण करता है मस्तिष्कस्थ सहस्रार चक्र में जिस समय प्राणों का संयम होता है उस समय धर्ममेघ समाधि की स्थिति में अमृत बिन्दुवर्षण होता है जो कि योगी के अनिर्वचनीय आनन्द का कारण बनता है। **अदितिः**=हृदयान्तरिक्ष (अदितिरन्तरिक्षम्) **अद्रिबर्हाः**= अविदारणीय (अ+दृ) अथवा आदरणीय प्रभु का वर्धन करने वाला होता है। इन देवों के हृदय में प्रभु की भावना का उत्कर्ष होता है, यह प्रभु-दर्शन ही वस्तुतः इन्हें पवित्र व शान्त जीवन वाला बनाता है। (4) हम उन देवों के सम्पर्क में आयें जो **उक्थशुष्मान्**=स्तोत्रों के बलवाले हैं, प्रभु के स्तवन से प्रभु के सम्पर्क में आकर जो प्रभु के बल से बलवाले होते हैं। **वृषभरान्**=जो अपने अन्दर धर्म की भावना को भरते हैं तथा **स्वप्नसः**=(अप्नस्-कर्म) उत्तम कर्म वाले हैं। इन देवों के सम्पर्क में आकर हम भी 'स्तुतिशील, धार्मिक व उत्तम यज्ञादि कर्मों के करने वाले' बनेंगे।

भावार्थ-हम उन देवों के सम्पर्क में आयें जो कि 'स्तुतिशील धार्मिक व कर्मनिष्ठ' हैं तथा जो वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं, समाधि के अभ्यस्त हैं, प्रभु का हृदय में दर्शन करने वाले हैं।

ऋषिः-**गयः प्लातः**॥ देवता-**विश्वे देवाः**॥ छन्दः-**निचृज्जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥४॥

नृचक्षसः-कर्म करने वाले मनुष्यों को देखने वाले, **अनिमिषन्तः**- इसीलिए बिना पलकें झपकाए सदा जागरूक रहने वाले, **देवासः**-देवताओं ने, **अर्हणा**- उनके द्वारा की जा रही लोक सेवा के कारण

प्राप्त होने वाली स्तुतियों से, **बृहत्**-महान्, **अमृतत्वम्**- अमरता को, **आनशुः**- प्राप्त किया, **ज्योतिः**- दीप्तिमान्, **रथाः**- रथ से युक्त, **अहिमायाः**-किसी के भी द्वारा अभिभूत न की जा सकने वाली बुद्धि से युक्त, **अनागसः**- निष्पाप देवता, **दिवः**- द्युलोक के, **वर्ष्माणम्**- उन्नत स्थान पर, **स्वस्तये**- लोक कल्यण के लिए, **वसते**-रहते हैं।

(१) **नृचक्षसः**=सब मनुष्यों का ध्यान करने वाले, केवल अपने स्वार्थ को न देखने वाले, **अनिमिषन्तः**=प्रमाद व आलस्य न करने वाले, **अर्हणा**=प्रभु अर्चना के द्वारा **बृहद् देवासः**=वर्धनशील देववृत्ति के पुरुष **अमृतत्वम्**=अमृतत्व को **आनशुः**=प्राप्त करते हैं। अमृतत्व की प्राप्ति के लिये आवश्यक है कि (क) हम केवल अपने लिये न जियें, (ख) प्रमाद व आलस्य से रहित हों, (ग) पूजा की वृत्ति को अपनाकर अपने में दिव्यगुणों का वर्धन करें। (२) **ज्योतीरथाः**=ज्योतिर्मय रथवाले, जिनका यह शरीर-रथ ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है। **अहि मायाः**=अहीन प्रज्ञावाले, जिनकी बुद्धि में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं। **अनागसः**=जिनका जीवन निष्पाप है। ऐसे ये व्यक्ति **दिवः वर्ष्माणम्**=द्युलोक के समुच्छ्रित प्रदेश में, अर्थात् ज्ञान के शिखर पर **वसते**=निवास करते हैं, ऊँच से ऊँचे ज्ञानी होते हैं। ये ज्ञानी पुरुष **स्वस्तये**=उत्तम जीवन की स्थिति के लिये होते हैं।

भावार्थ-ज्ञानी पुरुष केवल अपने लिये नहीं जीते। प्रभु-पूजन से दिव्यगुणों का वर्धन करके ये अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। ये प्रकाशमय अहीनप्रज्ञ व निष्पाप होते हैं।

ऋषिः-**गयः प्लातः**॥ देवता-**विश्वे देवाः**॥ छन्दः-**निचृज्जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमायुयुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्।

ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये॥५॥

सम्राजः- अपने तेज के कारण सम्यक् रूप से शोभासम्पन्न, **सुवृधः**- उत्कर्ष से युक्त, **ये**- जो देवता, यज्ञ में, **आययुः**- सोम आदि हविर्द्रव्यों को प्राप्त करने के लिए आते हैं, **अपरिह्वृता**- किसी के भी द्वारा हिंसित न होने वाले वे देवता, **दिवि**- द्युलोक में, **क्षयम्**- निवास, **दधिरे**- करते हैं, **महः**- महान गुणों से सम्पन्न, **आदित्यान्**- अदिति के पुत्र, **तान्**- उन देवताओं की, **अदितिम्**- उनकी माता अदिति की, **स्वस्तये**- कल्याण के लिए, **नमसा**- हविर्द्रव्य रूप अन्नों से, **सुवृक्तिभिः**- शोभन स्तुतियों से, **आ विवास**- अभिमुख होकर सेवा करो।

(१) **तान्**=उन **आदित्यान्**=सब स्थानों से गुणों का ग्रहण करने वाले **महः**=गुणों के आधिक्य से महनीय देवों को **नमसा**=नमन के द्वारा और **सुवृक्तिभिः**=सुष्ठु दोष वर्जन के द्वारा, प्रयत्नपूर्वक दोषों को दूर करने के द्वारा, **आविवास**=पूजित कर। बड़ों का आदर दो ही प्रकार से होता है, (क) उनके प्रति नम्रता के धारण से तथा (ख) अपने दोषों को दूर करने से। यदि हम नमस्ते तो करें, पर उनके कहने के अनुसार अपनी कमियों को दूर करने का प्रयत्न न करें तो यह उनका निरादर ही है। (२) हम उन आदित्यों का आदर तो करें, साथ ही **अदितिम्**=(अ खण्डन) स्वास्थ्य का भी आदर करें। स्वास्थ्य का

भी पूरा ध्यान करें। **स्वस्तये**=(सु+अस्ति) उत्तम स्थिति के लिये आदित्यों व अदिति दोनों का पूजन आवश्यक है। (३) आदित्य वे हैं **ये**=जो (क) **सम्राजः**=दीप्त व व्यवस्थित जीवन वाले हैं, जिनकी सब भौतिक क्रियाएं ठीक समय पर होती हैं (well regulated) और अतएव (ख) **सुवृधः**=उत्तम वर्धन वाले हैं। ठीक समय पर क्रियाओं के होने से उनके सब अंग-प्रत्यंगों की शक्ति का ठीक से विकास होता है। (ग) जो विकसित शक्ति वाले होकर **यज्ञं आययुः**=श्रेष्ठतम कर्मों को प्राप्त होते हैं। (घ) **अपरिह्वताः**=जो सब प्रकार की कुटिलता से रहित हैं। श्रेष्ठतम कर्मों का कुटिलता से समन्वय सम्भव ही नहीं। (ङ) जो **दिवि**=मस्तिष्क रूप द्युलोक में **क्षयम्**=निवास को **दधिरे**=धारण करते हैं। जिनका जीवन ज्ञान प्रधान होता है, वे ही आदित्य हैं। ये भावुकता में बहकर न्याय्य पथ को छोड़ नहीं देते। इनकी श्रद्धा भी ज्ञानोज्ज्वल होती है। इन आदित्यों के सम्पर्क में तो हम आयें ही, साथ ही स्वास्थ्य का पूरा ध्यान करें। तभी हमारी स्थिति उत्तम होगी।

भावार्थ-आदित्यों व अदिति का पूजन हमारी स्थिति को उत्तम बनाये।

ऋषिः-**गयः प्लातः**॥ देवता-**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः-**विराड्जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यति ष्ठन।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये॥६॥

विश्वे देवासः- हे इन्द्र आदि सभी देवताओं, **वः**- आपकी, **कः**- कौन स्तोता, **स्तोतम्**- त्रिवृत् पंचदश आदि यज्ञों के रूप में आराधना, **राधति**- करता है, **यम्**- जिस स्तोता की, **जुजोषथ**- तुम प्रेमपूर्वक सेवा करते हो, **मनुषः**- हे सब कुछ जानने वाले देवताओं, **यति**- जितनी भी संख्या में, **स्थन**- तुम हो, **तुविजाताः**- बहुत संख्या में विद्यमान हे देवताओं, **वः**-आपके लिए, **कः**-कौन यजमान, **अध्वरम्**- यज्ञ को, **अरम् करत्**- स्तुतियों और हविष्यान्नों द्वारा अलंकृत करता है, **यः**-जो यज्ञ, **नः**-हमारे, **स्वस्तये**- सुख और कल्याण के लिए, **अंहः** पापों से, अति **पर्षत्**- हमें पार लगा दे।

(१) हे **विश्वेदेवासः**=सब देववृत्ति के पुरुषों! **मनुषः**=विचारशील लोगो! **यतिष्ठन**=आप जितने भी हो, **वः**=आपमें से **स्तोमं राधति**=जो स्तुति समूह को सिद्ध करता है, उस स्तुति समूह को **यं जुजोषथ**=जिसको आप भी प्रीतिपूर्वक सेवन करते हो, जो स्तुति-समूह आपको भी बड़ा रुचिकर प्रतीत होता है, वह व्यक्ति ही **कः**=आनन्दमय जीवन वाला है। देववृत्ति का विचारशील पुरुष स्तुति में लीन होता है तो एक आनन्द का अनुभव करता है। (२) हे **तुवि-जाताः**=महान् विकास वाले पुरुषो! **वः**=तुम्हारे में से **यः**=जो **अध्वरम्**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों को **अरं करद्**=अलंकृत करता है अथवा खूब ही करता है वही **कः**=आनन्दस्वरूप होता है और वह **नः**=हमें अह**: अतिपर्षत्**=पाप के पार ले जाता है, हमें पापों से बचाता है और इस प्रकार **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिये होता है। हमें अपने क्रियात्मक जीवन से सद्गुणों का पाठ पढ़ाता हुआ वह पापों से बचाने वाला होता है और इस प्रकार हमारा जीवन उत्तम बनता है।

भावार्थ–आनन्द में वही है जिसका जीवन स्तुतिमय है व जो यज्ञशील है।

सूचना–पाँचवे व छठे मन्त्र का सार यह है कि जीवन का उत्कर्ष 'आदित्यों के सम्पर्क में ज्ञान की वृद्धि, स्तुतिमयता व यज्ञशीलता' में ही है। इनकी आधारभूत वस्तु स्वास्थ्य है। (क) स्वस्थ होता हुआ मनुष्य, (ख) ज्ञान प्रधान जीवन बिताये, (ग) स्तुति में लीन व (घ) यज्ञशील हो। इसी में सुख है।

ऋषिः–**गयः प्लातः**॥ देवता–**विश्वे देवाः**॥ छन्दः–**निचृज्जगती**॥ स्वरः–**निषादः**॥

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये॥७॥

समिद्धाग्निः–हविर्द्रव्यों द्वारा अग्नि को सम्यक् रूप से प्रदीप्त करके, **मनुः**–विवस्वान् के पुत्र मनु ने, **मनसा** –श्रद्धायुक्त मन से, **सप्तहोतृभिः**–सात ऋत्विजों के साथ, **येभ्यः**–जिन देवताओं के लिए, **प्रथमाम्**– मनुष्यों में सर्वप्रथम किये जाने के कारण प्रथम, **होत्राम्**–यज्ञ को, **आयेजे**–सम्पन्न किया, **आदित्याः**–अदिति के पुत्र हे देवताओं, **ते**–वे आप लोग, **नः**–हमें **अभयम्**–किसी भी प्रकार के अनिष्ट के भय से मुक्ति, **शर्म**–कल्याण, **यच्छत**–प्रदान करें, **स्वस्तये**–हमारे कल्याण के लिए, **सुपथा**–शोभन मार्गों को, **सुगा**–सुगम, **कर्त**–कर दें।

(१) **समिद्धाग्निः**=दीप्त ज्ञानाग्निवाले **मनुः**=ज्ञानपुञ्ज प्रभु **येभ्यः**=जिनके लिये **प्रथमां होत्राम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में उच्चारण की जाने वाली ज्ञान की वाणी (नि० १।११) को **आयेजे**=संगत करते हैं। **मनसः**=मनन शक्ति के साथ तथा **सप्त होतृभिः**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'= कर्णादि सात होताओं के साथ प्रभु जिन्हें ज्ञान प्राप्त कराते हैं **ते**=वे **आदित्यः**=ज्ञान का आदान करने वाले ज्ञानी मननशील ऋषि **अभयम्**=निर्भयता व शर्म=सुख को **यच्छत**=दें और **नः**=हमारे लिये **सुपथा**=उत्तम मार्गों को **सुगा**=सुगमता से जाने योग्य **कर्त**=करें। जिससे **स्वस्तये**=हमारी जीवन की स्थिति उत्तम हो। (२) प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' इन ऋषियों को वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं। अब भी निर्मल हृदय होकर हम उस प्रकाश को देख सकते हैं। प्रभु जहाँ ज्ञान प्राप्त कराते हैं, वहाँ मनन साधन 'मन' को भी प्राप्त कराते हैं, उस मनन के लिये सामग्री को प्राप्त कराने के लिये 'दो कान, दो नासिकाछिद्र, दो चक्षु व वाणी' रूप सप्त (ऋषियों) को भी प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार मन, इन्द्रियों व वेदवाणी द्वारा अपने ज्ञान का वर्धन करने वाले ये व्यक्ति 'आदित्य' हैं। इन आदित्यों के सम्पर्क में हमें निर्भयता व सुख प्राप्त होता है। ये आदित्य हमें ज्ञान देकर सुपथ से चलने की प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। इस सुपथ से चलते हुए हमारा जीवन 'स्वस्ति-मय' होता है।

भावार्थ–ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करके हम सुपथ से चलें और स्वस्ति को प्राप्त करें।

ऋषिः–**गयः प्लातः**॥ देवता–**विश्वे देवाः**॥ छन्दः–**विराड्जगती**॥ स्वरः–**निषादः**॥

य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये॥८॥

प्रचेतसः-प्रकृष्ट ज्ञान से सम्पन्न, **मन्तवः**-सब कुछ जानने वाले अथवा मननशील, **ये**-जो देवता, **स्थातुः**-स्थावर, **च**-और, **जगतः**-जङ्गम, **विश्वस्य**-समस्त, **भुवनस्य**-संसार के, **ईशिरे**-ईश्वर हैं, **ते**-इस प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न **वे**, देवासः-देवता, **अद्य**-आज, **स्वस्तये**-हमारे कल्याण के लिए, हमारी आयु वृद्धि के लिए, **नः**-हमें, **कृतात्**- हमारे द्वारा किये गये कायिक पाप से, **अकृतात्**-हाथ पैर आदि द्वारा न किये गये किन्तु मानसिक क्रियाओं द्वारा किये गए, **एनसः**-पाप से, **परि**-चारों ओर से, **पिपृत**-पार लगायें अर्थात् हमें सब प्रकार के पापों से मुक्त करें।

(१) गत मन्त्र के प्रसंग में ही कहते हैं कि **ते देवासः**=वे देव **नः**=हमें **एनसः**=पापों से **अद्या**=आज ही **पिपृता**=पार करें, अर्थात् पापरहित करें, **स्वस्तये**=जिससे हमारी जीवन स्थिति उत्तम हो। उन पापों से दूर करें जो आप **कृतात्**=क्रिया से निर्वृत्त हुए हैं, अर्थात् जिन पापों को हमने इस शरीर के अंगों से किया है और **अकृतात्**=जिन्हें शरीर के अंगों से तो अभी नहीं किया, अभी जो मन में ही विचार रूप में रह रहे हैं। अकृतात्=(करचरणादिभिरकृतात् मानसात् सा०) उन कामिक व तामस सभी पापों से ये देव हमें बचाएँ। (२) **ये**=जो **देव ईशिरे**=अपने ईश हैं, इन्द्रियों के स्वामी हैं, जितेन्द्रिय हैं। **भुवनस्य**=इस भुवन के, लोक के **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले हैं, प्रकृति व जीव को जो जानते हैं। **विश्वस्य**= सम्पूर्ण **स्थातुः जगतः च**=स्थावर व जंगम का जो **मन्तवः**=मनन करने वाले हैं। जड़ व चेतन जगत् को समझने वाले हैं। (३) इस जड़ व चेतन जगत् के ज्ञान से ही मार्ग का ज्ञान होता है। प्रकृति का ज्ञान शरीर स्वास्थ्य के मार्ग को बतलाता है, जीव का ज्ञान मानस स्वास्थ्य के मार्ग का प्रदर्शक होता है। इस प्रकार ये देव 'शरीर व मन' के दृष्टिकोण से ठीक मार्ग पर चलने वाले होते हैं। ये हमें भी इस मार्ग का उपदेश देकर शरीर व मानस स्वास्थ्य को प्राप्त करायें। प्रभु का ज्ञान व स्मरण हमें इस मार्ग से भ्रष्ट होने से बचाता है।

भावार्थ-प्रकृति व जीव को समझने वाले जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुष हमें मार्ग का ज्ञान देकर शरीर व मानस पापों से बचाने वाले हों।

ऋषिः-**गयः प्लातः**॥ देवता-**विश्वे देवाः**॥

छन्दः-**आर्चीस्वराड्जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

भरे॑ष्विन्द्रं॑ सु॒हवं॑ हवामहेऽहो॒मुचं॑ सु॒कृतं॒ दैव्यं॒ जन॑म्।
अ॒ग्निं मि॒त्रं वरु॑णं सा॒तये॒ भगं॒ द्यावा॑पृथि॒वी म॒रुतः॑ स्व॒स्तये॑॥९॥

अहोमुचम्-पापों से मुक्त करने वाले, **सुहवम्**- जिसका आह्वान स्तुत्य सुखों को देने वाला होता है ऐसे, **इन्द्रम्**-इन्द्र का, **भरेषु**-संग्रामों में, **हवामहे**-शत्रुओं को नष्ट करके हमारी रक्षा करने के लिए हम आह्वान करते हैं, **सृकृतम्**-सुन्दर कर्म करने वाले, **दैव्यम्**-दैवी गुणों से सम्पन्न अथवा देवताओं से सम्बन्धित अन्य, **जनम्**-लोगों को, **अग्निम्**-अग्नि को, **मित्रम्**-मित्र को, **वरुणम्**-वरुण को, **भगम्**-भग नाम के देवता को, **द्यावापृथिवी**- द्युलोक और पृथिवी को, **मरुतः**-और मरुद्गण को, **सातये**-अन्न प्राप्त करने

के लिए, **स्वस्तये**-और कल्याण के लिए हम बुलाते हैं।

(१) गत मन्त्र के अनुसार जब हम मार्ग पर चलते हैं तो संसार के प्रलोभन हमारे लिये इतने आकर्षक होते हैं कि वे हमें उस मार्ग से भटका देते हैं। इन प्रलोभनों के साथ हमारा संग्राम चलता है। उन **भरेषु**=अध्यात्म-संग्रामों में हम **सुहवम्**=शोभन आह्वानवाले उस **इन्द्रम्**=असुर वृत्तियों के संहार करने वाले प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं जो **अंहोमुचम्**=हमें सब पापों से छुड़ाने वाले हैं। प्रभु का स्मरण हमें मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है, प्रभु के स्मरण से हमें शक्ति मिलती है और हम प्रलोभनों को जीत पाते हैं। (२) हम प्रभु को पुकारने के साथ **सुकृतम्**=उत्तम कर्म करने वाले **दैव्यम्**=देव के उस प्रभु के उपासक **जनम्**=लोगों को भी पुकारते हैं जो **अग्निम्**=उन्नति पथ पर निरन्तर आगे ले चलने वाले हैं, **मित्रम्**=(प्रमीते त्रायते) मृत्यु व पाप से बचाने वाले हैं, **वरुणम्**=हमारे से द्वेष आदि का निवारण करने वाले हैं। इन लोगों के सम्पर्क में आकर हम भी 'सुकृत्, अग्नि, मित्र व वरुण बनकर' प्रभु की ओर चलने वाले होते हैं और प्राकृतिक भोगों में फँस नहीं जाते। (३) **सातये**=जीवन के लिये आवश्यक अन्नादि के लाभ के लिये **भगम्**=ऐश्वर्य की भी हम प्रार्थना करते हैं, हम चाहते हैं कि हमें उतना धन अवश्य प्राप्त हो जो कि जीवन यात्रा की पूर्ति के लिये पर्याप्त हो। (४) हम **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिये **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर दोनों के लिये प्रार्थना करते हैं। हमारा मस्तिष्क ज्ञानदीप्त हो तो हमारा शरीर सुदृढ़ हो। इस उत्तम स्थिति के लिये ही हम **मरुतः**=प्राणों को पुकारते हैं। प्राणसाधना के द्वारा ही तो बुद्धि सूक्ष्म होकर दीप्त ज्ञान की प्राप्ति होगी और इस साधना से ही शरीर पूर्ण नीरोग व सुदृढ़ बनेगा।

भावार्थ-प्रभु का आराधन हमें वासना संग्राम में विजयी बनायेगा। सज्जन संग हमें प्रभु की ओर ले चलेगा। आवश्यक धन को प्राप्त करके प्राणसाधना करते हुए हम दीप्त मस्तिष्क व सुदृढ़ शरीर वाले होंगे।

ऋषिः-**गयःप्लातः**।।देवता-**विश्वे देवाः**।।छन्दः-**पादनिचृज्जगती**।। स्वरः-**निषादः**।।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥१०॥

सुत्रामाणम्-सुष्ठु रूप से सबकी रक्षा करने वाली, **पृथिवीम्**- अत्यन्त विस्तृत, **अनेहसम्**-पाप से रहित, **सुशर्माणम्**-शोभन सुख से युक्त, **अदितिम्**-जो किसी भी प्रकार से दीन नहीं है ऐसी, **सुप्रणीतिम्**-सुष्ठु रूप से ले जाने वाली, **सु अरित्राम्**-शोभन चप्पुओं वाली, **अनागसम्**-किसी भी प्रकार के दोष से रहित, **अस्रवन्तीम**- छिद्र से रहित, **दैवीम्**-देवताओं की, **नावम्**-नौका की भाँति, **द्याम्**-द्युलोक पर, **स्वस्तये**-कल्याण के लिए, देवत्व प्राप्त करने के लिए, **आ रुहेम**-हम आरोहण करते हैं।

(१) हम **स्वस्तये**=कल्याण के लिये, इस भवसागर में न डूब जाने के लिये, इस **दैवी नावम्**=प्रभु से दी गई शरीर रूप दिव्य नौकार पर **आरुहेमा**=आरोहण करें। जो नौका कि

सुत्रामाणम्=बहुत अच्छी प्रकार सुरक्षित हुई है, जिसे आधि-व्याधियों के आक्रमण से बचाया गया है। रोगों से इस शरीर रूप नाव की रक्षा करना आवश्यक है। यह नाव **पृथिवीम्**=(प्रथ विस्तारे) ठीक विस्तार वाली है, इसका अंग-प्रत्यंग ठीक से विकसित हुआ है। **द्याम्**=यह ज्योतिर्मय है, बुद्धि के समुचित विकास से इसमें ज्ञान के प्रकाश की कमी नहीं। **अनेहसम्**=(सहस्=sin) यह निर्दोष है और इसी कारण **सुशर्माणम्**=उत्तम सुख को देने वाली है। **अदितिम्**=(दो अवखण्डने) यह खण्डन से रहित हैं, इसमें किसी प्रकार की अंग-विकृति नहीं है। (२) यह पूर्ण स्वस्थ शरीर रूप नाम **सुप्रणीतिम्**=उत्तम प्रणयन वाली है, बुद्धि के द्वारा इसका संचालन बड़ी उत्तमता से होता है। इस उत्तम संचालन का ही परिणाम है कि यह नाव हमें उस देव (=परमात्मा) तक पहुँचाने वाली होती है और अपने 'दैवीं नां' इस नाम को सार्थक कर पाती है। **स्वरित्राम्**=यह उत्तम अरित्रों (=चप्पुओं) वाली है। कर्मेन्द्रियां व ज्ञानेन्द्रियाँ ही इसमें अरित्र (oar) हैं। यह नाम **अनागसम्**=एकदम निर्दोष है और **अस्त्रवन्तीम्**=(does not leak) यह स्वछिद्र न होने से सुरक्षित वीर्य रूप जल वाली होती है। इस अस्त्रवण के कारण ही इसका सब सौन्दर्य है। इसमें जो कुछ उत्तमता है उसका मूल यह अस्त्रवण ही है। इस नाम के द्वारा हम भवसागर को पार करें और प्रभु को प्राप्त करें।

भावार्थ-यह शरीररूप नाव प्रभु ने हमें भवसागर को पार करने के लिये दी है। इस पर आरुढ़ होकर हम अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँचें।

ऋषिः-**गयः प्लातः**॥ देवता-**विश्वे देवाः**॥ छन्दः-**विराड्जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

विश्वे॑ यजत्रा अधि॑ वोचतो॒तये॒ त्राय॑ध्वं नो दु॒रेवा॑या अ॒भिह्रुतः॑ ।
स॒त्यया॑ वो दे॒वहू॑त्या हुवेम शृण्व॒तो दे॑वा॒ अव॑से स्व॒स्तये॑ ॥११॥

यजत्रा-यज्ञ उपासना के योग्य, **विश्वे**- हे सभी देवताओं, **ऊतये**-हमारी रक्षा के लिए, **अधि वोचत**-आप हमें वचन दो, **अभिह्रुतः** -चारों ओर से विनाश करने वाली, **दुरेवायाः**-दुर्गति से, **नः**-हमारी, **त्रायध्वम्**- रक्षा करो, **देवाः** -हे देवताओ, **शृण्वतः**- हमारी प्रार्थनाओं को सुनते हुए, **वः**-आपको, **सत्यया**-सत्य अर्थात् हृदय से निकलने वाली, **देवहूत्या**-देवताओं के उपयुक्त आदर से युक्त स्तुतियों से, **अवसे**-अपनी रक्षा के लिए, **स्वस्तये**-और अपने कल्याण के लिए, **हुवेम**- हम बुलाते हैं।

(१) **विश्वे**=सब **यजत्राः**=संगतिकरण योग्य **देवाः**=देवो! आप **ऊतये**=रक्षण के लिये **अधिवोचत**=हमें अधिक्येन उपदेश दीजिये और **नः**=हमें **दुरेवायाः**=दुर्गति=दुराचरण से तथा **अभिह्रुतः**=कुटिलता से व हिंसा से **त्रायध्वम्**=बचाइये। हम दुरितों व हिंसा के मार्ग से बचकर ही चलें। हमारा जीवन आपके दिये गये ज्ञान से पवित्र बने और उस पवित्र जीवन में दुरितों व हिंसा का कोई स्थान न हो। इस प्रकार आपका दिया हुआ ज्ञान हमारे रक्षण के लिये हो जाता है। (२) हे **शृण्वतो देवाः**=हमारी प्रार्थना को सुनने वाले देवो! हम **वः**=आपको **सत्यया**=सत्य **देवहूत्या**=देवहूति से, देवों को पुकारने के ढंग से, **हुवेम**=पुकारें। देवों को पुकारने का सत्य प्रकार यही होता है कि हम नम्रता व जिज्ञासा की भावना वाले होकर उनके समीप जाएँ। इस प्रकार उनके समीप हम जाएँगें तो वे हमें वह सत्य ज्ञान प्राप्त करायेंगे

जो हमारे **अवसे**=रक्षण के लिये होगा और **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिये होगा। यह ज्ञान हमें वासनाओं से बचाने वाला होगा और नीरोगता व ऐश्वर्य के द्वारा हमारे जीवन की उत्तम स्थिति का कारण बनेगा।

भावार्थ-हम ज्ञानियों के समीप नम्रता से पहुँचें और उस ज्ञान को प्राप्त करें जो हमारे रक्षण व कल्याण के लिये हों।

ऋषिः-**गयः प्लातः**॥ देवता-**विश्वे देवाः**॥ छन्दः-**विराड्जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः।
आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये॥१२॥

देवाः-हे देवताओं, **अमीवाम्**-रोगों को अथवा रोग के समान बाधक शत्रुओं को, **आप**-हमारे से दूर रखो, **विश्राम्**-सम्पूर्ण, **अनाहूतिम्**-देवताओं के लिए यज्ञ उपासना आदि न करने वाली बुद्धि को, **आप**-हमसे दूर कर दो, **अरातिम्**-दान के मार्ग से हटाने वाली लोभ बुद्धि को अथवा देवताओं को हविर्द्रव्य न देने वाले उनके शत्रु को, **आप**-हमसे दूर रखो, **आघायतः**-हमारा अनिष्ट करने की इच्छा रखने वाले शत्रु की, **दुर्विदत्राम्** -दुष्ट बुद्धि को, **द्वेषः**-सभी शत्रुओं को, **अस्मत्**-हमसे, **आरे**-दूर, **युयोतन**-कर दो, **नः**-हमारे, **स्वस्तये**-कल्याण के लिए, **उरु**-विस्तृत, **शर्म**-सुख, **यच्छत**-हमें प्रदान करो।

(१) हे देवो! आप अपने ज्ञानोपदेश के द्वारा **अमीवाम्**=रोगों को **अप**=हमारे से दूर करिये। हमारे शरीर रोगों से रहित हों। **विश्वाम्**=सब **अनाहुतिम्**=न यज्ञ करने की भावना को (हु) अथवा विद्वानों को न पुकारने की भावना को (ह्वा) हमारे से दूर करिये **अरातिम्**=(अ रा=दाने) न दान देने की भावना को **अथ**=हमारे से दूर करिये। **अघायतः**=दूसरे के अघ व पाप (अशुभ) की कामना वाले पुरुष की **दुर्विदत्राम्**=दुर्बुद्धि को, दुष्टज्ञान को हमारे से दूर करिये। (२) हे **देवाः**=ज्ञान देने वाले पुरुषो! **द्वेषः**=द्वेष को **अस्मत्**=हमारे से **आरे**=दूर **युयोतन**=पृथक करिये। ईर्ष्या-द्वेष की भावनाएँ हमारे समीप न आएँ। और इस प्रकार ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठाकर **नः**=हमारे लिये **उरु शर्म**=विस्तृत सुख को **यच्छता**=प्राप्त कराइये जिससे **स्वस्तये**=हमारे जीवन की स्थिति उत्तम हो।

भावार्थ-हम देवों से ज्ञान को प्राप्त करें, यह ज्ञान हमें नीरोग, निर्लोभ निर्द्वेष बनाये।

ऋषिः-**गयः प्लातः**॥ देवता-**विश्वे देवाः**॥ छन्दः-**विराड्जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये॥१३॥

आदित्यासः-हे अदिति के पुत्र देवताओं, **यम्**-जिस मनुष्य को, **सुनीतिभिः** -उत्तम मार्गो पर प्रेरित करके, **विश्वानि**- समस्त, दुरिता-पापों से अथवा पाप रूप शत्रुओं से, **स्वस्तये**-उसके कल्याण के लिए, **अति नयथ**-पार ले जाते हो, **सः**-वह, **वि श्वः**-प्रत्येक, **मर्तः**-मनुष्य, **अरिष्टः**-किसी से भी हिंसित न होता हुआ, **एधते**-पशु अन्न आदि से युक्त होकर उत्कर्ष प्राप्त करता है, **धर्मणस्परि**- धर्मपूर्वक आचरण

करता हुआ, **प्रजाभिः**-पुत्र पौत्र आदि से युक्त होकर, **प्र जायते**- प्रकर्ष के साथ आगे बढ़ता है।

(१) **स मर्तः**=वह मनुष्य**विश्वः**=सारे का सारा, अर्थात् पूर्णरूप से **अरिष्टः**=अहिंसित होता हुआ **एधते**=बढ़ता है, वृद्धि को प्राप्त करता है और **धर्मणः**=धर्म के द्वारा **प्रजाभिः**=अपने सन्तानों के साथ **परिप्रजायते**=सब प्रकार के विकास को प्राप्त करता है, **यम्**=जिस पुरुष को हे **आदित्यासः**=सब ज्ञानों व गुणों का आदान करने वाले देवो! आप **सुनीतिभिः**=उत्तम मार्गों से हमें कल्याण के लिये **नयथा**=ले चलते हैं। (२) ये पाप हमारे न चाहते हुए भी हमारे में प्रविष्ट हो जाते हैं, अतः इन्हें 'विश्व' कहा गया है (विशन्ति)। आदित्यों का उपदेश हमें इस योग्य बनाता है कि हम इन पापों से बचे रहते हैं। धर्म के मार्ग पर चलते हुए हम अपने जीवनों को उत्तम बनाते हैं, साथ ही हमारे सन्तानों के जीवन भी सुन्दर बनते हैं। इस प्रकार **स्वस्तये**=हम उत्तम स्थिति के लिये होते हैं।

भावार्थ-आदित्यों का उपदेश हमें सदा सन्मार्ग के दिखाने वाला हो, उस पर चलते हुए हम दुरितों से दूर हों और स्वस्ति को सिद्ध करें।

सूचना-यहाँ 'विश्वः एधते'=इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि केवल शरीर, केवल मन व केवल मस्तिष्क का विकास वेद को अभीष्ट नहीं। वेद के दृष्टिकोण से 'शरीर, मन व मस्तिष्क' का सम्मिलित विकास ही विकास है। यही स्थानान्तर में 'त्रिविक्रम बनना' कहा गया है। तीनों कदमों का रखना ही ठीक है।

ऋषिः-**गयः प्लातः** ॥ देवता-**विश्वे देवाः** ॥ छन्दः-**पादनिचृज्जगती** ॥ स्वरः-**निषादः** ॥

यं दे॑वा॒सोऽव॑थ॒ वाज॑सातौ॒ यं शूर॑साता मरुतो हि॒ते धने॑।
प्रा॒त॒र्यावा॑णं॒ रथ॑मिन्द्र सान॒सिमरि॑ष्यन्त॒मा रु॑हेमा स्व॒स्तये॑ ॥१४॥

देवासः-हे देवताओं, **वाजसातौ**- अन्न प्राप्त करने के लिए, **यम्**-जिस रथ की, **अवथ**-तुम रक्षा करते हो, **मरुतः** -हे मरुद्गण, **यम्**-जिस रथ की, **शुरसाता**-जिसमें योद्धाओं द्वारा शुरों का विनाश किया जाता है ऐसे युद्ध में, हिते -**शत्रुओं** द्वारा सञ्चित, **धने**-धन को प्राप्त करने के लिए रक्षा करते हो, **इन्द्र**-सभी देवताओं में प्रमुख हे इन्द्र, **प्रातर्यावाणम्**-प्रातःकाल होते ही युद्ध के लिए निकलने वाले, **सानसिम्**-उत्तम रीति से सेवन करने योग्य, **अरिष्यन्तम्**-किसी के भी द्वारा हिंसित न होने वाले अथवा साथ चलने वाले इन्द्र के सहायक मरुद्गण के लिए किसी भी प्रकार की बाधा न बनने वाले, **रथम्**-रथ पर, **स्वस्तये**-अपनी रक्षा के लिए अपने कल्याण के लिए, **आ रुहेम**-हम आरूढ़ हों।

(१) हे **इन्द्र**=परमात्मन्! **रथम्**=हम उस शरीर रथ पर **आरुहेम**=आरोहण करें जो **प्रातर्या-वाणम्**=प्रातः से ही गतिमय है, अर्थात् इस शरीर-रथ पर आरूढ़ होकर हम सदा क्रियाशील जीवन बिताएँ। **सानसिम्**=जो सम्भजनशील हैं, जिस शरीररथ पर आरूढ़ होकर हम प्रातः-सायं उस प्रभु का सम्भजन करने वाले होते हैं। इस प्रभु-सम्भजन से ही हम स्वस्थ शरीरवाले रहते हैं, **अरिष्यन्तम्**=जो शरीर-रथ हिंसित नहीं होता, विविध आधि-व्याधियों का शिकार नहीं होता। (२) एवं हम उस शरीर-रथ पर आरोहण करते हैं जो कि 'गतिमय, उपासनामय व नीरोगता' वाला है। इस शरीर-रथ पर आरोहण करके हम

स्वस्तये=जीवन में उत्तम स्थिति वाले होते हैं। यह शरीर-रथ वह है **यम्**=जिसको **देवासः**=सब प्राकृतिक शक्तियाँ, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल आदि **वाजसातौ**=शक्ति प्राप्ति के निमित्त **अवथ**=रक्षित करते हैं। सूर्यादि की अनुकूलता के होने पर शरीर की शक्ति बढ़ती है। (२) यह शरीररथ वह है **यम्**=जिसको **मरुतः**=प्राण **शूरसातौ**=इस संसार संग्राम में **हितेधने**=हितकर धन की प्राप्ति के निमित्त **अवथ**=रक्षित करते हैं। प्राणसाधना से हमारे शरीर, मन व बुद्धि की शक्तियाँ बढ़ती हैं, हम संसार-संग्राम में विजयी होते हैं और हितकर धनों को प्राप्त करने वाले होते हैं। प्रत्येक कोश का धन पृथक्-पृथक् है, वह धन हमें इस प्राणसाधना से प्राप्त होता है। यह धन वेद के शब्दों में 'अन्नमयकोश का तेज, प्राणमयकोश का वीर्य, मनोमयकोश का ओज व बल, विज्ञानमयकोश का मन्यु=ज्ञान तथा आनन्दमयकोश का सहस्' है। प्राणसाधना से यह सब धन प्राप्त होता है। इस प्रकार हमारे इस शरीर-रथ को सब देव सुरक्षित करते हैं और मरुत् इसे उत्कृष्ट धनों से परिपूर्ण करते हैं।

भावार्थ-हम इस शरीर को 'गतिमय, उपासनामय व स्वस्थ' बनायें। सब प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता से यह स्वस्थ हो तथा प्राणसाधना से यह हितकर धनों से परिपूर्ण हो।

ऋषिः-**गयः प्लातः**॥ देवता-**विश्वे देवाः**॥ छन्दः-**जगती त्रिष्टुप् वा**॥ स्वरः-**निषादो धैवतो वा**॥

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्य१प्सु वृजने स्वर्वति।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥१५॥

मरुतः- हे देवताओं, **नः** -हमारे, **पथ्यासु**-पीने योग्य जलों से युक्त मार्गों में, **स्वस्ति**-हमारा कल्याण हो, **धन्वसु**-शुष्क भूमि में, **स्वस्ति**-हमारा कल्याण हो, **अप्सु**-जलों में हमारा कल्याण हो, **स्वर्वति**-सब प्रकार के आयुधों से युक्त, **वृजने**-शत्रुओं की सेना के विपत्ति बनकर सामने होने पर हमारा कल्याण हो, **नः**-हमारे परिवारों में, **पुत्रकृथेषु**-पुत्र उत्पन्न करने वाली स्त्रियों के, **योनिषु**-गर्भाशयों में, **स्वस्ति**-कल्याण हो, **राये**-हमारे अन्न गौ आदि रूप धन के लिए, **स्वस्ति**-कल्याण, **दधातन**-बनाये रखें।

(१) गत मन्त्र के अनुसार हमारा शरीर-रथ ठीक होगा तो **नः**=हमारे लिये **पथ्यासु**=पथ के योग्य समतल भूभागों में **स्वस्ति**=कल्याण हो। **धन्वसु**=मरु प्रदेशों में हमारे लिये कल्याण हो। तथा **अप्सु**=जलमय प्रदेशों में भी स्वस्ति=कल्याण हो। वस्तुतः प्राणसाधना के ठीक प्रकार से होने पर सब स्थानों का जलवायु हमारे अनुकूल होता है। पूर्ण स्वस्थता में हमें बल प्राप्त होता है, यह बल हमें सुखमय स्थिति में रखता है। **स्वर्वति**=स्वर्गवाले **वृजने**=शत्रुओं के पराभूत करने वाले बल के होने पर हमारा कल्याण हो। (२) इस प्रकार स्वस्थ व सबल होकर हम घरों में कल्याणपूर्वक रहें। **नः**=हमारे **योनिषु**=उन घरों में, जिनमें कि **पुत्रकृथेषु**=पुत्रों का निर्माण होता है, **स्वस्ति**=कल्याण हो। मनुष्य गृहस्थ बनता है, सन्तान के लिये। सो घर में सर्वमहान् कर्त्तव्य यही होता है कि सन्तान का उत्तम निर्माण किया जाए। हे **मरुतः**=प्राणो! इन घरों में हमें **राये**=ऐश्वर्य के लिये **दधातन**=धारण करो जिससे **स्वस्ति**=हमारा कल्याण हो। निर्धनता भी घर के लिये दुर्गति का कारण बनती है। प्राणसाधक पुरुष उचित मात्रा में धन का संग्रह कर ही पाता है।

भावार्थ–प्राणसाधना के होने पर हमें सर्वत्र जलवायु की अनुकूलता रहती है। हमें शत्रुओं को पराभूत करने वाली शक्ति प्राप्त होती है। हमारे सन्तान उत्तम होते हैं और निर्धनता हमारे से दूर रहती है।

ऋषिः–**गयः प्लातः**॥ देवता–**विश्वे देवाः**॥ छन्दः– **आर्चीस्वराट्- त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः**॥

स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥१६॥

या–जो पृथिवी, **प्रपथे**–उत्कृष्ट मार्ग पर जाने वाले मनुष्य के लिए, **हि**– निश्चित रूप से, **स्वस्ति इत्**- कल्याणकारिणी ही होती है, **श्रेष्ठा**–अत्यन्त प्रशंसनीय, **रेक्णस्वती**–**धनों** से सम्पन्न जो पृथिवी, **वामम्**–प्रार्थनीय यज्ञ, धन, सुख आदि को, **अभि**–चारों ओर से, **एति**–प्राप्त कराती है, **सा**–वह पृथिवी, **नः**–हमारे, **अमा**–घरों की, **सा उ**–वही, **अरणे**–अरण्य आदि स्थानों पर, **नि पातु**–पूर्णरूप से रक्षा करें, **देवगोपा**–देवता जिसकी रक्षा करते हैं ऐसी पृथिवी, **सु आवेशा**–हमारे लिए शोभन निवासस्थान, **भवतु**–हो।
(१) हमारा शरीर पाँच भौतिक होते हुए भी पृथिवी की प्रधानता के कारण 'पार्थिव' कहलाता है। इस पृथिवी देवता से प्रार्थना करते हैं कि यह पृथिवी **प्रपथे**=हमारे प्रकृष्ट मार्ग में चलने पर **इत् हि**=निश्चय से **स्वस्ति**=कल्याण करने वाली होती है। **श्रेष्ठा**=यह हमारे जीवन को प्रशस्यतम बनाती है। **रेक्णस्वती**=यह हमारे लिये उत्तम धनों वाली होती है। हम उत्कृष्ट मार्ग पर चलते हैं तो यह मातृभूत पृथिवी हमारे लिये सब आवश्यक तत्त्वों को उपस्थित करती है और हमारा जीवन जहाँ धार्मिक होता है वहाँ धन की दृष्टि से भी उसमें न्यूनता नहीं होती। 'श्रेष्ठा' शब्द 'धर्म' का संकेत करता है और 'रेक्णस्वती' 'धन' का। इस प्रकार यह पृथिवी **या**=जो **अभि**=धर्म व धन दोनों ओर हमें ले चलती है वह **स्वस्ति**=हमारे कल्याण के लिये होती है और **वामं एति**=उस सब प्रकार से सुन्दर प्रभु की ओर हमें ले चलती है। हमारे जीवनों में जब धर्म व धन का सुन्दर समन्वय होता है तभी हम प्रभु प्राप्ति के अधिकारी होते हैं। (२) **सा**=वह पृथिवी **नः**=हमें **अमा**=घर में **निपातु**=सुरक्षित करे **सा उ**=और वह ही हमें **अरणे**=घर से बाहर भी सुरक्षित करे। यह पृथिवी हमारे लिये **स्वावेशा**=(सु आ विश्) बड़ी उत्तमता से सब आवश्यक तत्त्वों का प्रवेश कराने वाली हो और इन सब आवश्यक तत्त्वों के प्रवेश कराने के साथ **देवगोपा**=हमारे में दिव्यगुणों का रक्षण करने वाली **भवतु**=हो। शरीर के लिये आवश्यक सब तत्त्वों को प्राप्त कराने से यह हमें 'शारीरिक स्वास्थ्य' देती है और दिव्यगुणों के रक्षण से 'मानस स्वास्थ्य'। पृथिवी से उत्पन्न विविध वानस्पतिक पदार्थ शरीर के लिये सब आवश्यक तत्त्वों का पोषण तो करते ही हैं, ये वानस्पतिक पदार्थ उपयुक्त होने पर हमारी बुद्धि, मन को भी शुद्ध रखते हैं और इस प्रकार हमारे में दिव्यगुणों का विकास होता है।

भावार्थ–पृथिवी अनुकूल होकर हमारे जीवन को धर्म व धन से युक्त करती है, यह हमें शारीरिक व मानस स्वास्थ्य प्राप्त कराती है और इस प्रकार प्रभु की ओर ले चलती है।

ऋषिः–**गयः प्लातः**॥ देवता–**विश्वे देवाः**॥ छन्दः–**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः**॥

स्मरणीय बिंदु-

1. स्वस्ति का अर्थ है समग्र कल्याण।
2. वैदिक साहित्य विश्वबंधुत्व की भावना को बढ़ावा देता है।
3. प्रकृति एवं मानव का संतुलन आवश्यक है।
4. शांति एवं सहयोग वैदिक जीवन का आधार है।

शब्दावली-

1. स्वस्ति - कल्याण
2. लोकमंगल - सबका हित
3. समन्वय - संतुलन
4. विश्वबंधुत्व - समस्त मानवता को एक परिवार मानना
5. शांति - मानसिक एवं सामाजिक संतुलन

5 अंक के प्रश्न

1. स्वस्ति का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. स्वस्तिवाचनसूक्त का मुख्य उद्देश्य क्या है?
3. वैदिक संस्कृति में विश्वकल्याण का महत्व बताइए।
4. स्वस्तिवाचनसूक्त में प्रकृति की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
5. मानव एवं प्रकृति के संबंध को समझाइए।

15 अंक के प्रश्न

1. स्वस्तिवाचनसूक्त का सांस्कृतिक महत्व स्पष्ट कीजिए।
2. वैदिक दृष्टिकोण से विश्वबंधुत्व की व्याख्या कीजिए।
3. स्वस्तिवाचनसूक्त में वर्णित प्रकृति-समन्वय का विवेचन कीजिए।
4. वैदिक साहित्य में शांति एवं कल्याण की भावना का विश्लेषण कीजिए।
5. आधुनिक समाज में स्वस्तिवाचनसूक्त की प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. स्वस्ति शब्द का अर्थ है।

(क) युद्ध

(ख) कल्याण

(ग) अंधकार

(घ) तपस्या

उत्तर: (ख)

2. स्वस्तिवाचनसूक्त में किसकी कामना की गई है?

(क) धन

(ख) विजय

(ग) विश्वकल्याण

(घ) युद्ध

उत्तर: (ग)

3. वैदिक संस्कृति में प्रकृति को क्या माना गया है?

(क) शत्रु

(ख) साधन

(ग) पूजनीय

(घ) बाधा

उत्तर: (ग)

4. स्वस्तिवाचनसूक्त में किसका महत्व है?

(क) हिंसा

(ख) सामंजस्य

(ग) विभाजन

(घ) लोभ

उत्तर: (ख)

5. स्वस्तिवाचनसूक्त किस भावना को प्रकट करता है?

(क) स्वार्थ

(ख) लोकमंगल

(ग) क्रोध

(घ) अहंकार

उत्तर: (ख)

खण्ड-2 सूक्ताध्ययन

इकाई-2.1 आपःसूक्तम्

इकाई के उद्देश्य

1. जल के वैदिक महत्व को समझना।
2. जीवन एवं प्रकृति में जल की भूमिका का अध्ययन करना।
3. पर्यावरण संरक्षण की भावना विकसित करना।

ऋ. मं. १० सू. ९

ऋषि- **सिन्धुद्वीप आम्बरीषः।** देवता-**आपः।** छन्दः-**गायत्री, ५ वर्धमाना गायत्री, ७ प्रतिष्ठा गायत्री, अनुष्टुप्।**

ओ३म् आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नं ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥१॥

हे **(आपः)** जल! **(मयः भुवः हि आस्थ)** तुम सुख को उत्पन्न करने वाले आधार हो। **(ताः नः ऊर्जे दधातन)** वे हमें उत्तम बल देने के लिये अन्न-संचय करें; **(महे रणाय चक्षसे)** पवित्र और रमणीय आत्म-ज्ञान के लिये हमें सुरक्षित रखें।

(१) **आपः**=जल **हि**=निश्चय से **स्थाः**=हैं **मयोभुवः**=कल्याण व नीरोगता को उत्पन्न करने वाले। अर्थात् जलों के समुचित प्रयोग से हम अपने शरीरों को पूर्णतया नीरोग बना पाते हैं। **ताः**=वे जल **नः**=हमें **ऊर्जे**=बल व प्राणशक्ति में **दधातन**=धारण करें। जलों का समुचित प्रयोग यह है कि-(क) हम स्नान के लिये ठण्डे पानी का प्रयोग स्पञ्जिंग के रूप में (घर्षण स्नान के रूप में) करें और पीने के लिये यथासम्भव गरम का। (ख) प्रातः जीभ व दाँतों को साफ करने के बाद जितना सम्भव हो उतना पानी पीयें, यही हमारी (Bed Tea) हो। (ग) भोजन में थोड़ा-थोड़ा करके बीच-बीच में कई बार पानी लें 'मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि'। (२) इस प्रकार जलों का प्रयोग करने पर ये जल **महे**=हमारे महत्त्व के लिये हों, शरीर के भार को कुछ बढ़ाने के लिये हों। जलों के घर्षण स्नान आदि के रूप में प्रयोग से शरीर का उचित भार बढ़ता है। भारी शरीर कुछ हल्का हो जाता है और हल्का शरीर उचित भार को प्राप्त करता है। (३) **रणाय**=(रणशब्दे) जल का उचित प्रयोग शब्द शक्ति के विकास के लिये होता है। वाणी में शक्ति आ जाने से हम 'पर्जन्य निनदोपमः' मेघगर्जना के समान गम्भीर ध्वनि वाले बनते हैं। (४) **चक्षसे**=जलों के ठीक प्रयोग से ये दृष्टिशक्ति की वृद्धि के कारण बनते हैं। भोजन के बाद गीले

हाथों के तलों से आँखों को कुछ मलना, प्रातः ठण्डे पानी के छीटें देना आदि प्रयोग दृष्टिशक्ति को बढ़ाते हैं, उषापान तो निश्चय से इसके लिये अत्यन्त उपयोगी है।

भाावार्थ-जल 'नीरोगता, बल व प्राणशक्ति, महत्त्व (भारः शब्दशक्ति व दृष्टिशक्ति' के वर्धक हैं।

ऋषि:-**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**।। देवता-**आपः**।। छन्दः-**गायत्री**।। स्वरः-**षड्जः**।।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः ॥२॥

हे जल! **(उशतीः इव मातरः)** जैसे माताएं बच्चों को दूध देती हैं, वैसे ही **(वः यः शिवतमः रसः)** आपका जो कल्याणकारी रस-**गान** और बल- है **(तस्य इह नः भाजयते)** इसका हमें यहां सेवन कराइये।

(१) हे जलो! **यः**=जो **वः**=तुम्हारा **शिवतमः**=अत्यन्त कल्याण करने वाला **रसः**=रस है, **नः**=हमें **इह**=इस जीवन में **तस्य**=उसका **भाजयत**=भागी बनाओ। 'भज सेवायाम्'=हमें उस रस का उसी प्रकार सेवन कराओ **इव**=जिस प्रकार **उशतीः**=बालक के हित की कामना करती हुई **मातरः**=माताएँ बच्चे को स्तन्य=(दूध) का पान कराती हैं। (२) बच्चा माता के दूध का पान करके जैसे नीरोग व पुष्ट शरीर वाला होता है, उसी प्रकार हम जलों के रस का सेवन करते हुए नीरोगता व पुष्टि को प्राप्त करते हैं। (३) यहाँ स्तन्यपान की उपमा देकर यह संकेत किया गया है कि जलों को धीमे-धीमे पीना चाहिये, उनका रस लेने का प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करने पर ही जल गुणकारी होते हैं।

भावार्थ- जलों का रस हमारे लिये उसी प्रकार पुष्टिकर व नीरोगता को देने वाला है जैसे कि हितकामना वाली माता का दूध बच्चे के लिये।

ऋषि:-**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**।। देवता-**आपः**।। छन्दः-**गायत्री**।। स्वरः-**षड्जः**।।

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो जनयथा च नः ॥३॥

हे **(आपः)** शान्तिप्रद जल ! **(वः यस्य क्षयाय जिन्वथ)** आप जिस रोगों के विनाश के लिये हमें प्रसन्न करते हो, **(तस्मै अरं गमाम)** उनके विनाश की इच्छा से हम तुझको स्वीकार करते हैं; **(नः च आ जनयथ)** हमारी वंशवृद्धि करो।

(१) हे **आपः**=जलो! **यस्य क्षयाय**=जिस रस के निवास के हेतु से आप **जिन्वथ**=हमें प्रीणित करते हों, दोषों को दूर करके तृप्ति व प्रसन्नता का अनुभव कराते हो, **वः**=आपके **तस्मा**=उस रस के लिये **अरं गमाम**=हम खूब गायें, अर्थात् उस रस को खूब ही प्राप्त करने का प्रयत्न करें। जलों में एक रस है जो कि हमारे जीवन को नीरोग, निर्मल व सशक्त बनाकर हमें प्रसन्नता का अनुभव कराता है। हम उस रस को प्राप्त करने का पूर्ण प्रयत्न करें। (२) हे **आपः**=जलो! आप **च**=और **नः**=हमें **जनयथा**=विकसित शक्ति वाला करो। अथवा जनशक्ति से युक्त करो। वस्तुतः यहाँ यह संकेत स्पष्ट है कि जलों का समुचित प्रयोग वन्ध्यात्व को तथा नपुंसकत्व को नष्ट करता है।

भावार्थ- जल अपने रसों से हमें प्रेषित करते हैं तथा हमारी शक्तियों का विकास करने वाले हैं।

ऋषिः-**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता-**आपः**॥ छन्दः-**गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥४॥

(देवीः आपः) दिव्य ज्ञानप्रकाशमय जल **(नः शं भवतु)** हमें शान्ति-सुखदायक हों, वे **(अभीष्टये)** अभीष्ट प्राप्ति के लिए हों। **(पीतये भवन्तु)** हमें आरोग्यदायक उदक पीने के लिये मिले। वे **(नः शं योः)** हमें रोग और आवर्षण दूर करने के लिये **(अभि स्रवन्तु)** हमारे ऊपर क्षरित हों।

(१) **देवीः**=(दिव्=विजिगीषा) रोगों को जीतने की कामना वाले **आपः**=जल **नः**=हमारे लिये **अभिष्टये**=रोगों पर आक्रमण के लिये (अभिष्टि=attack) और इस प्रकार **पीतये**=हमारे रक्षण के लिये **भवन्तु**=हों। रोग विनाश के द्वारा ये जल **शम्**=शान्ति को देने वाले हों। (२) यहाँ यह क्रम ध्यान देने योग्य है-'इच्छा-आक्रमण-विजय'। जल रोगों को जीतने की इच्छा करते हैं (देवीः), रोगों पर आक्रमण करते हैं (अभिष्टये) और उन रोगों को शान्त कर देते हैं (शं) रोग शान्ति द्वारा ये जल हमारा रक्षण करते हैं (पीतये) (३) **शं-योः**=उत्पन्न रोगों का ये जल शमन करने वाले हों (शं) तथा अनुत्पन्न रोगों का पृथक् करण करने वाले हों, उनको हमारे से दूर ही रखने वाले हों। 'शं' शब्द चिकित्सा-(cure) व अपनयन का संकेत करता है और **योः**=रोगों को रोकने-(prevention) उत्पन्न ही न होने देने का। इस प्रकार ये जल रोगों का इलाज व रोकना दोनों ही काम करते हैं-curative इलाज करने वाला भी हैं तथा preventive - अवरोधक भी। ऐसे ये जल **नः**=हमारे **अभिस्त्रवन्तु**=दोनों ओर बहें। हम स्नान के रूप में इनका बाह्य प्रयोग करें और आचमन के रूप में अन्तः प्रयोग। इस प्रयोग में यह सूत्र हमें सदा ध्यान रहे कि 'अन्दर गरम और बाहर ठण्डा'। पीने में गरम पानी का तथा स्नान में ठण्डे का उपयोग हो। ठण्डे पानी का उपयोग त्वचा को सशक्त बनाता है, और गरम पानी का पीना पाचन को ठीक रखता है।

भावार्थ- जल हमारे रोगों को जीतने की कामना करते हैं, वे रोगों पर आक्रमण करते हैं और उन्हें शान्त कर देते हैं। ये जल उत्पन्न रोगों को शान्त करने वाले तथा अनुत्पन्नों को दूर रखने वाले हैं।

ऋषिः-**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता-**आपः**॥ छन्दः-**वर्धमाना गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

ईशा॑ना॒ वार्या॑णां॒ क्षय॑न्तीश्चर्षणी॒नाम्। अ॒पो या॑चामि भेष॒जम् ॥५॥

(अपः वार्याणां ईशाना) जल अभिलषित वस्तुओं के स्वामी हैं, वे ही रोग निवारण, आरोग्य करने में समर्थ हैं। वे ही **(चर्षणीनां क्षयन्ती)** प्राणीमात्र को बसाने वाले हैं। **(भेषजम् याचामि)** मैं उनसे औषधि की प्रार्थना करता हूँ।

(१) ये जल **वार्याणाम्** = वरणीय, चाहने योग्य आरोग्य आदि धनों के **ईशानाः**= ईशान व स्वामी हैं, अर्थात् आरोग्य आदि धनों को देने वाले हैं। और इस प्रकार **चर्षणीनाम्**=कामशील मनुष्यों के **क्षयन्तीः**=(क्षि निवासगत्योः) उत्तम निवास व क्रियाशीलता के कारण हैं। ये जल शरीर में हमारे निवास

को उत्तम बनाते हैं तथा नीरोगता व शक्ति को प्राप्त करा के हमारे जीवन को बड़ा क्रियाशील रखते हैं। (२) इन **अपः**=जलों को मैं **भेषजम्**=औषध को **याचामि**=माँगता हूँ। ये जल वस्तुतः सब रोगों के चिकित्सक हैं, उन्हें शान्त करने व दूर रखने वाले हैं। इनसे हम औषध की याचना करते हैं। ये सुप्रयुक्त होकर हमें नीरोग करें।

भावार्थ-ये जल आरोग्य के ईशान हैं, हमारे निवास को उत्तम बनाकर हमें क्रियाशील बनाते हैं।

ऋषिः-**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता-**आपः**॥ छन्दः-**वर्धमाना गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवम्॥६॥

(अप्सु अन्तर्विश्वानि भेषजा) जल में सब औषधियां और **(विश्वशंभुवं अग्निं च)** सब जगत् को सुख देने वाला अग्नि भी है- यह **(सोमः मे अब्रवीत्)** सोम ने मुझसे कहा।

(१) **सोमः**=सोम शक्ति के पुञ्ज प्रभु ने **मे**=मेरे लिये **अब्रवीत्**=यह प्रतिपादन किया है कि **अप्सु अन्तः**=जलों के अन्दर **विश्वानि भेषजः**=सम्पूर्ण औषध हैं। सब रोग जलों के ठीक प्रयोग से चिकित्सित हो सकते हैं। कोई भी रोग ऐसा नहीं जो कि इन जलों के लिये असाध्य हो। 'जल घातने' इस धातु से बना हुआ 'जल' शब्द ही इस बात का संकेत कर रहा है कि ये सब रोगों का **घात**=विनाश करने वाले हैं। (२) प्रभु का 'सोम' नाम से स्मरण भी यहाँ भी व पूर्ण है, ये जल ही वस्तुतः 'आपः रेतो भूत्वा०' रेतःकण बनकर शरीर में प्रविष्ट होते हैं और ये हमें सोम (semen) शक्ति सम्पन्न बनाते हैं। यह सोम शक्ति ही रोगों का विनाश करती है। (३) प्रभु ने **च**=यह भी प्रतिपादित किया है कि **अग्निं विश्वशंभुवम्**=अग्नि सब रोगों को शान्त करने वाली है। इस प्रकार 'अप्सुः व अग्निं' शब्द 'जलों में अग्नि' को सब रोगों का शामक व भेषज कर रहे हैं। इन शब्दों में पीने के लिये गरम जल के प्रयोग का संकेत स्पष्ट है।

भावार्थ-गरम जल ही पीना चाहिए, यह हमारे सब रोगों को शान्त करेगा।

ऋषिः-**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः**॥ देवता-**आपः**॥ छन्दः-**प्रतिष्ठा गायत्री**॥ स्वरः-**षड्जः**॥

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम। ज्योक्च सूर्यं दृशे॥७॥

हे (आपः) जलो ! **(मम तन्वे)** मेरे शरीर के लिए, **(वरूथं भेषजं पृणीत)** संरक्षक औषधि औषधि दो, **(ज्योक् च सूर्ये दृशे)** जिससे निरोग होकर मैं बहुत काल तक सूर्य को देखता रहूं।

(१) हे **आपः**=जलो! आप **मम तन्वे**=मेरे शरीर के लिये **वरूथम्**=रोगों का निवारण करने वाले **भेषजम्**=औषध को **पृणीत**=(पूरयत)पूरित करो। अर्थात् जलों के यथायोग से मेरे शरीर में रोगों का प्रवेश न हो सके। (२) **च**=और इस प्रकार हमारी नीरोगता का कारण बनकर ये जल **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यं दृशे**=हमारे सूर्य-दर्शन के लिये हों। अर्थात् हम दीर्घजीवी बनें।

भावार्थ-जल रोगनिवारण के द्वारा दीर्घजीवन के लिये होते हैं।

ऋषिः-**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः॥** देवता-**आपः॥** छन्दः-**अनुष्टुप्॥** स्वरः-**गान्धारः॥**

इ॒दमा॑पः॒ प्र व॑हत॒ यत्किं च॑ दुरि॒तं मयि॑।
यद्वा॒हम॑भिदु॒द्रोह॒ यद्वा॑ शे॒प उ॒तानृ॑तम् ॥८॥

(मयि यत् किं च दुरितं) मुझमें जो दोष हो **(यत् वा अहं अभिदुद्रोह)** अथवा जो मैंने द्रोह किया हो, **(यत् वा शेपे)** जो मैंने शाप दिया हो **(अत अनृतं)** असत्य भाषण किया हो **(इदं आपः प्रवहत)** यह सब दोष ये जल मेरे शरीर से बाहर कर ले आवें और मैं शुद्ध बन जाऊं।

(१) हे **आपः**=जलो! **यत् किञ्च**=जो कुछ भी **मयि दुरितम्**=मेरे में अशुभ आचरण आ जाता है। **इदम्**=इसको **प्रवहत**=आप बहा कर दूर कर दो। जल शरीर के मलों व रोगों को ही दूर करें, यह बात नहीं हैं। ये जल मानस मलों को भी, क्रोधादि को दूर करने वाले हैं। इनके ठीक प्रयोग से स्वस्थ शरीर में मन भी स्वस्थ होता है। (२) **यद्वा**=और जो **अहम्**=मैं **अभिदुद्रोह**=किसी के प्रति द्रोह की भावना को करता हूँ, उसे भी आप बहा दो। (३) **यद्वा**=और जो **शेपे**=मैं क्रोधवश किसी को शाप देता हूँ, गाली आदि देता हूँ, उस सब आक्रोश को ये जल मेरे से दूर करें। (४) **उत**=और **अनृतम्**=सब अनृत को भी ये जल हमारे से दूर करें। हमारा सब व्यवहार ऋत को लिये हुए हो।

भावार्थ-जलों के समुचित प्रयोग से हम 'दुरित-द्रोह-आक्रोश व अनृत' से बचें।

ऋषिः-**त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः॥** देवता-**आपः॥** छन्दः-**अनुष्टुप्॥** स्वरः-**गान्धारः॥**

आपो॑ अ॒द्यान्व॑चारिषं॒ रसे॑न॒ सम॑गस्महि।
पय॑स्वानग्न॒ आ ग॑हि॒ तं मा॒ सं सृ॑ज॒ वर्च॑सा ॥९॥

(अद्य आपः अनुः अचारिषं) आज जल में मैं प्रविष्ट हुआ हूं **(रसेन सं अगस्महि)** मैं इस जल के रसके के साथ संमिलित हुआ हूं; हे **(अग्ने)** अग्नि! **(पयस्वान् आगहि)** तू जल में स्थित है, मेरे पास आ **(तं मा वर्चसा संसृज)** और उस मुझे तेज से युक्त कर।

(१) **अद्य**=आज मैं **आपः**=जलों को **अनु अचारिषम्**=शास्त्रों के अनुकूल सेवित करता हूँ। **रसेन समगस्महि**=हम जलों के रस से संगत होते हैं। वस्तुतः जलों के पीने का ठीक तरीका यही है कि उन्हें रस लेकर पिया जाए। इसी विधि को 'आचमन करना' कहते हैं। (२) हे **पयस्वान् अग्ने**=अग्निदेव! प्रशस्त जलों वाला तू **आगहि**=हमें प्राप्त हो। अर्थात् हम गरम पानी का ही प्रयोग करें। (३) **तम्**=उस गरम पानी का प्रयोग करने वाले **मा**=मुझे **वर्चसा**=वर्चस् व दीप्ति से **संसृज**=संसृष्ट कर। यह गरम जल का प्रयोग सब प्रकार के रोगों से हमें मुक्त करे और वर्चस्वी बनाये।

भावार्थ-हम जलों का प्रयोग रस लेते हुए करें। यह गरम जल का प्रयोग हमें वर्चस्वी बनाये।

सूक्त का प्रारम्भ इस प्रकार है कि जल कल्याणजनक हैं, बल व प्राणशक्ति को देने वाले हैं, (१) इनके रस से हमारी शक्तियों का विकास होता है, (२) ये उत्पन्न रोगों को शान्त करते हैं, अनुत्पन्न को दूर रखते हैं, (३) इनमें सब औषध हैं, (४) गरम जल सब रोगों को शान्त करता है, (५) दीर्घजीवन

को देता है, (६) 'दुरित-द्रोह-आक्रोश व अनृत' को भी नष्ट करता है, (७) हमें वर्चस्वी बनाता है, (८) इस वर्चस्विता के अविनाश के लिये ही गृहस्थ के मूल सिद्धान्त का प्रतिपादन कराते हैं।

इस सूक्त के ऋषि 'यम व यमी' हैं। यम का अर्थ है 'आत्मसंयम वाला'। यम के इस संयम की परीक्षा के लिये ही यमी यम से विवाह का प्रस्ताव करती है।

स्मरणीय बिंदु-

1. जल जीवन का मूल आधार है।
2. जल संरक्षण मानव का कर्तव्य है।
3. वैदिक संस्कृति प्रकृति-संरक्षण का संदेश देती है।

शब्दावली-

1. आपः - जल
2. पर्यावरण - प्राकृतिक परिवेश
3. संरक्षण - रक्षा
4. पवित्रता - शुद्धता
5. जीवन - अस्तित्व

5 अंक के प्रश्न-

1. आप:सूक्त में जल का महत्व स्पष्ट कीजिए।
2. जल को जीवन का आधार क्यों कहा गया है?
3. वैदिक साहित्य में जल की पवित्रता का वर्णन कीजिए।
4. पर्यावरण संरक्षण में जल की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
5. आप:सूक्त का मुख्य संदेश लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. आप:सूक्त का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. जल एवं पर्यावरण के संबंध का विश्लेषण कीजिए।
3. वैदिक संस्कृति में जल संरक्षण की भावना स्पष्ट कीजिए।
4. आधुनिक समाज में जल संकट एवं वैदिक समाधान पर चर्चा कीजिए।
5. आप:सूक्त की वर्तमान प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. आपःसूक्त किस तत्व से संबंधित है?

(क) अग्नि

(ख) जल

(ग) वायु

(घ) पृथ्वी

उत्तर: (ख)

2. जल को किसका आधार माना गया है?

(क) युद्ध

(ख) जीवन

(ग) व्यापार

(घ) राजनीति

उत्तर: (ख)

3. वैदिक साहित्य में जल को क्या माना गया है?

(क) पवित्र

(ख) अशुद्ध

(ग) निरर्थक

(घ) भयकारी

उत्तर: (क)

इकाई-2.2 ज्ञानसूक्तम्

उद्देश्य

1. ज्ञान के वैदिक स्वरूप को समझना।
2. आत्मज्ञान एवं आध्यात्मिक चेतना का अध्ययन करना।
3. ज्ञान एवं विवेक के महत्व को जानना।

ऋ. मं. १० सू. ७१ बृहस्पतिराङ्गिरसः ऋषिः। ज्ञानम् देवता । त्रिष्टुप, ९ जगती छन्दः।

ओ३म् बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥१॥

हे **(बृहस्पते)** बृहस्पति!, **(प्रथमं नामधेयं दधानाः यत् प्र ऐरत्)** प्रथम ही आरंभ में बालक पदार्थों का नाम रखकर जो कुछ बोलते हैं, वह **(वाचः अग्रम्)** उनकी वाणी का सबसे पूर्ण स्वरूप है। **(एषां यत् श्रेष्ठं यत् अरिप्रं आसीत्)** इनका जो श्रेष्ठ-शुद्ध और जो निष्पाप ज्ञान है, **(एषां तत् गुहा निहितं प्रेणा आविः)** उनका वह गुप्त है, और वह प्रेम के कारण प्रकट होता है।

(१) **बृहस्पते (बृहस्पतेः)** उस ज्ञान के स्वामी प्रभु का **प्रथमम्**= (प्रथ विस्तारे) अत्यन्त विस्तारवाला **वाचः अग्रम्**= वाणी के अग्र-स्थान में होने वाला यह वेदज्ञान है। 'प्रथम' तो इसलिए कि इसमें सब सत्यविद्याओं का प्रकाश हुआ है और 'वाचः अग्रं' इसलिए कि सबसे पूर्व इन्हीं शब्दों का उच्चारण हुआ 'तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्' प्रभु ने मानस पुत्रों को जन्म दिया और उनमें से श्रेष्ठतम चार जो 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' उनके हृदयों में इस वेदज्ञान का प्रकाश किया। इस प्रकार सबसे प्रथम इसी वाणी का उच्चारण हुआ। (२) (क) अब **नामधेयं दधानाः**= प्रभु के नाम का हृदयों में धारण करते हुए अन्य ऋषियों व विचारशील व्यक्तियों ने भी **यत्**=यह जो वेदज्ञान था उसे **प्रैरत**=अपने में प्रेरित किया। अग्नि आदि से इन्होंने वेदज्ञान को प्राप्त किया और इस वेदज्ञान को प्राप्त करते हुए ये सदा उस प्रभु के नाम का मानस जन करने में व्यस्त रहे। (ख) इस मन्त्रभाग का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि संसार में भिन्न-भिन्न संस्थाओं (आकृतियों) का नाम रखते समय इन्होंने उस वेदवाणी को भी अपने में प्रेरित किया, उसका ध्यान करके उसी में से नदियों के सिन्धु आदि पर्वतों के हिमालयादि नाम रखे 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'। (३) **एषाम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए-हुए इन व्यक्तियों में **यत्**=जो **श्रेष्ठतम्**=सर्वोत्तम थे **यत्**=जो **अरिशम्**=बिल्कुल निर्दोष थे, जिनकी बुद्धि व मन सर्वाधिक पवित्र **आसीत्**=थे **तत्**=सो **एषाम्**=इनके श्रेष्ठ व अरिप्र लोगों के **गुहा**=हृदय रूप गुहा में **प्रेणा**=(प्रेम्णा) प्रभु प्रेम के कारण **निहितम्**=यह वेदज्ञान स्थापित हुआ और **आविः**=प्रकट हुआ। प्रारम्भिक मानसी सृष्टि में जो सर्वाग्रणी थे उनके पवित्रतम हृदयों में यह वेदज्ञान

प्रकट किया गया। इनके द्वारा यह वेदज्ञान औरों तक पहुँचा।

भावार्थ–प्रभु से दी गई वेदवाणी ही इस सृष्टि के प्रारम्भिक शब्द थे। सर्वश्रेष्ठ हृदयों में इसका प्रकाश हुआ और उनके द्वारा इसका विस्तार हुआ।

ऋषिः–**बृहस्पतिः**॥ देवता–**ज्ञानम्**॥ छन्दः–**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः**॥

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥२॥

(तितउना सक्तुं इव पुनन्तः) जैसे सूप से सत्तू को स्वच्छ कर लेते हैं, वैसे ही, **(धीराः यत्र मनसा वाचम् अकत)** बुद्धिमान श्रेष्ठ पुरुष जिस समय बुद्धि बल से वाणी को प्रस्तुत करते हैं; **(अत्र सखायः सख्यानि जानते)** उस समय वे प्रेम भाव से युक्त ज्ञानी लोग मित्रता के भावों को जानते हैं; **(एषां अधि वाचि भद्रा लक्ष्मीः निहिता)** उनकी वाणी में कल्याणकारक मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।

(१) **इव**=जैसे **सक्तुम्**=सत्तु को **तितउना**=छाननी से **पुनन्तः**=पवित्र करते हैं, उसी प्रकार **यत्र**=जहाँ **धीराः**=ज्ञान में रमण करने वाले धीर पुरुष **मनसा**=मन से, मन में मनन व चिन्तन के द्वारा, **वाचम्**=इस वेदवाणी को **अक्रत**=प्रकृति प्रत्यय के विचार से प्रकटार्थ करते हैं **अत्रा**=यहाँ **सखायः**=(सह ख्यानं येषां) मिलकर ज्ञान की चर्चा करनेवाले ये लोग **सख्यानि**=वास्तविक मित्रता को **जानते**=अनुभव करते हैं। इस संसार में वास्तविक मैत्री तो प्रभु के ही साथ है, उस मैत्री का अनुभव ये ज्ञान की चर्चा करनेवाले ही कर पाते हैं। (२) **एषां वाचि**=इनकी वाणी में **भद्रा लक्ष्मीः**=कल्याणी लक्ष्मी **अधि निहिता**=आधिक्येन निहित होती है। इनकी वाणी पवित्र होती है, ये सब के लिये शुभ ही शब्दों को बोलती है, सदा प्रभु के नाम का स्मरण करने से यह लक्ष्मी सम्पन्न बनी रहती है। जब लक्ष्मीवान् वे प्रभु हैं, इनकी वाणी में लक्ष्मी क्यों न हो! वास्तव में तो इनकी वाणी में ऐसी शक्ति आ जाती है कि ये जो कुछ बोलते हैं वैसा ही हो जाता है।

भावार्थ–वेदवाणी की मिलकर चर्चा करने से वाणी में भद्रा लक्ष्मी का निवास होता है।

ऋषिः–**बृहस्पतिः**॥ देवता–**ज्ञानम्**॥ छन्दः–**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः**॥

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।

तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥३॥

वे बुद्धिमान् लोग! **(वाचः पदवीयं यज्ञेन आयन्)** उत्कृष्ट वाणी से प्राप्त करने योग्य अभिप्राय को यज्ञ के द्वारा ही प्राप्त करते हैं। **(ऋषिषु प्रविष्टां तां अविन्दन्)** उन्होंने तत्त्वदर्शी ऋषियों में प्रविष्ट हुई उस वाणी को प्राप्त किया अनन्तर **(तां आभृत्य पुरुत्रा व्यदधुः)** उस वाणी को प्राप्त करके उन्होंने बहुत देशों में उसका ज्ञान के लिये प्रसार किया; **(तां सप्त रेभाः अभि सं नवन्ते)** इस प्रकार की उस वाणी को उन्होंने गायत्र्यादि छन्दों में स्तुतिरूप किया।

(१) **यज्ञेन**-यज्ञ के द्वारा उस उपास्य प्रभु के द्वारा ('यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा:') **वाचः**=वाणी के **पदवीयम्**=मार्ग को **आयन्**=प्राप्त हुए। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के द्वारा अग्नि आदि को इस वेदवाणी का ज्ञान हुआ और **ऋषिषु प्रविष्टाम्**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में प्रविष्ट हुई-हुई **ताम्**=उस वेदवाणी को **अन्वविन्दन्**=पीछे अन्य ऋषियों ने प्राप्त किया। प्रभु ने अग्नि आदि को ज्ञान दिया। अग्नि आदि से अन्य ऋषियों ने इसे पाया। (२) **तां आमृत्या**=उस वेदवाणी को उत्तमता से धारण करके उन्होंने **पुरुत्रा**=बहुत स्थानों में **व्यदधुः**=इसे स्थापित किया। इसका मनुओं में, विचारशील पुरुषों में प्रचार किया, **ताम्**=उस वेदवाणी को **सप्त रेभाः**=सात गायत्री आदि छन्द **अभिसंनवन्ते**=प्राप्त होते हैं। यह वेदवाणी गायत्री आदि सात छन्दों में प्रवृत्त होती है। अथवा 'सप्तरेभा:' को समस्त पद लेकर यह अर्थ किया जा सकता है कि उस वेदवाणी को 'कानों, नासिकाओं, आँखों व मुख' से इन सातों से प्रभु-स्तवन करने वाले लोग **अभितः**=प्राप्त होते हैं।

सूचना-प्रारम्भिक चरण का अर्थ यह भी है कि 'यज्ञ से, श्रेष्ठतम कर्मों से वाणी के मार्ग को प्राप्त करते हैं' यज्ञिय वृत्ति हृदय का शोधन करके हमें वेदज्ञान के मार्ग का पथिक बना देती है।

भावार्थ-प्रभु अग्नि आदि को वेदज्ञान देते हैं, इनसे अन्य यज्ञिय वृत्तिवाले ऋषियों को यह प्राप्त होती है। उसे ये ऋषि मानवसमाज में प्रचरित करते हैं। यह वेदवाणी सात छन्दों से युक्त है, अथवा 'कान-२, नाक-२, आँख-२, मुख-१' ये सात स्तोता बनकर इसे प्राप्त करते हैं।

ऋषिः-**बृहस्पतिः**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**पदनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥४॥

(उत त्वः वाचं पश्यन् न ददर्श) एक तो वाणी को मन से देखता हुआ भी नहीं अज्ञानता के कारण देख सकता; और **(उत त्वः एनां शृण्वन् न शृणोति)** दूसरा इस वाणी को सुनकर भी (अर्थ न समझने के कारण) नहीं सुन सकता। **(उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे)** वह वाणी किसी के पास अपने ज्ञानरूप को स्वयं विशेष प्रकार से इस प्रकार प्रकट करती है, जैसे **(पत्ये सुवासाः उशती जाया इव)** पति के सुख के लिये सुन्दर वस्त्र परिधान कर पत्नी अपना रमणीय मोहनीय शरीर पति के पास प्रकट करती है।

(१) **त्वः**=कोई एक **पश्यन् उत**=देखता हुआ भी **वाचं न ददर्श**= इस वेदवाणी को देखता नहीं, **त्वः**=कोई एक **शृण्वन् उत**=सुनता हुआ भी **एनां न शृणोति**=इस वेदवाणी को नहीं सुनता है। इस वेदवाणी को देखता और सुनता हुआ यदि वह एक तोते की तरह उसका उच्चारण कर लेता है पर उसके अर्थ को नहीं समझता, तो वस्तुतः वह देखते हुए भी नहीं देख रहा, सुनते हुए भी नहीं सुन रहा। केवल बोलना व उच्चारण करना किसी लाभ को न देने के कारण व्यर्थ-सा हो जाता है। 'व्यर्थ' का भाव ही अर्थ से रहित है। अर्थ से रहित पढ़ना व्यर्थ तो हो ही जाता है। (२) सो एक समझदार पुरुष इस वेदवाणी के अर्थ को समझने का प्रयत्न करता

है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना उसका परम धर्म हो जाता है, वह इसे पढ़ता है और इसे समझने का प्रयत्न करता है, केवल पढ़कर वह चन्दनवाही खर ही नहीं बना रहता। **उत उ**=और निश्चय से **त्वस्मै**=इस वेदवाणी को समझनेवाले पुरुष के लिए यह वेदवाणी उसी प्रकार **तन्वं विसस्रे**=अपने स्वरूप को प्रकट करती है **इव**=जैसे **उशती**=हित की कामना करती हुई **सुवासाः**=उत्तम वस्त्रोंवाली जाया=पत्नी **पत्ये**=पति के लिए अपने रूप को प्रकट करती हैं। अर्थज्ञ पुरुष ही वेदवाणी के रूप को ठीक प्रकार देख पाता है। यही उससे उचित आनन्दों को प्राप्त करने वाला होता है।

भावार्थ-वेदवाणी के अर्थ को न समझनेवाला पुरुष वेदवाणी को देखता हुआ भी नहीं देख रहा होता। यह वेदवाणी के सुन्दर रूप का दर्शन नहीं कर पाता।

ऋषिः- **बृहस्पतिः**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥स्वरः-**धैवतः**॥

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥५॥

(उत त्वं सख्ये स्थिरपीतं आहुः) और किसी एक विद्वान् को श्रेष्ठ पुरुषों के बीच स्थिर बुद्धिवाला धीमान् कहते हैं; **(वाजिनेषु अपि एनं न हिन्वन्ति)** वाणी का सामर्थ्य प्रकट करने में कोई भी इसके तुल्य नहीं हो सकता; वहीं सर्व श्रेष्ठत्व प्राप्त करता है। और जो **(वाचं अफलां अपुष्पां शुश्रुवान्)** वाणी को फल-अर्थ और फूल-तात्पर्य के बिना केवल अध्ययन करता है, **(एषः अधेन्वा मायया चरति)** वह बन्ध्या गौ के समान छलपूर्वक वाणी के सहित विचरता है।

(१) गत मन्त्र के अनुसार जिसके प्रति वेदवाणी रूप पत्नी अपने रूप को प्रकट करती है **त्वं उत**=उसको ही **सख्ये**=मिलकर के होनेवाली ज्ञानचर्चाओं के प्रसंग में (सह चक्षते अस्मिन्) **स्थिरपीतम्**=स्थिरता से किये हुए ज्ञान के पानवाला **आहुः**=करते हैं। **एनम्**=इस स्थिरपीत व्यक्ति को **वाजिनेषु**=(वाक् इना येषां) वाक् से ज्ञेय अर्थो में **न हिन्वन्ति अपि**=नहीं ही प्राप्त होते। यह जितनी सुन्दर वाग् शेष अर्थो का प्रतिपादन करता है, उतना अन्य लोग नहीं कर पाते, शास्त्रार्थ में इससे जीत नहीं पाते। एवं वेदवाणी के अर्थ का 'मनन, निदिध्यासन व साक्षात्कार' भी अत्यन्त आवश्यक है। (२) मननादि को न करके श्रवण तक ही अपने को सीमित करनेवाला **एषः**=यह व्यक्ति **वाचं शुश्रुवान्**=वाणी का सुनने वाला तो हुआ है, परन्तु **अफलां अपुष्याम्**=इसने फल पुष्प रहित ही वाणी को सुना है। वाणी के पुष्प व फल उसके अर्थ ही है। अर्थ को नहीं जाना तो वह वाणी अफलता अपुष्पा तो हो ही गई। 'यज्ञविषयक ज्ञान' इस वाणी का पुष्प है और 'देवता (प्रभु) विषयक ज्ञान' इसका फल है। जिसने वेदवाणी को सुनकर यज्ञों व देवों को नहीं जाना, यज्ञ में प्रवृत्त नहीं हुआ तथा प्रभु के उपासना में नहीं लगा तो उसके लिये यह वेदवाणी 'अफला व अपुष्पा' ही रही। (३) वह वेदवाणी के अर्थ को न समझने वाला पुरुष तो **अधेन्वा**=एक अप्रशस्त धेनु के साथ **मायया**=माया व भ्रान्ति को पैदा करता हुआ **चरति**=विचरण करता है। जैसे बांझ और शरीर में हृष्ट-पुष्ट गौ को लिये हुए एक पुरुष इधर-उधर घूमता है तो लोगों को यही भ्रम होता है कि मनभर तो दूध देती ही होगी, इसी प्रकार इस वेदोच्चारण

करने वाले पुरुष के लिये लोगों के हृदय में उसके लिये महती भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है, वे उसे बड़ा वेदज्ञ समझने लगते हैं, जब कि वास्तव में वह कोरे का कोरा ही है।

भावार्थ-वेदार्थ को समझने वाला ही वेद से कल्याण को प्राप्त करता है। दूसरे के लिये तो यह वेदवाणी वन्ध्या गौ के ही समान है।

ऋषिः-**बृहस्पतिः**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥स्वरः-**धैवतः**॥

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।

यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥६॥

(यः सचिविदं सखायं तित्याज) जो विद्वान्, उपकारी, वेदों के अधिष्ठाता, वेत्ता परममित्र को त्यागता है, **(तस्य वाचि अपि भागः न अस्ति)** उसकी वाणी में भी कोई फल नहीं है। **(ईम् यत् शृणोति अलकं शृणोति)** वह जो कुछ सुनता है, व्यर्थ ही सुनता है; **(हि सुकृतस्य पन्थां न प्रवेद)** और वह सत्कर्म का कल्याण का मार्ग नहीं जान सकता।

(१) **यः**=जो **सचिविदं (सचा विद्यते)**=सदा साथ रहने वाले अथवा (शंची विन्दति 'अन्तर्भावितण्यर्थ')=शक्ति व प्रज्ञान को प्राप्त कराने वाले **सखायम्**=मित्र प्रभु को **तित्याज**=छोड़ देता है, **तस्य**=उसका **वाचि**= वेदवाणी में **भागः अपि**=कुछ अंश **न अस्ति**=नहीं होता प्रभु का विस्मरण करने वाला वेदवाणी को ग्रहण नहीं कर पाता। (२) वेदवाणी को छोड़कर यह संसार में **ईम्**=निश्चय से **यत् शृणोति**=जो अन्य बातें सुनता है **अलकं शृणोति**=वह सब असत्य ही सुनता है। उस सब श्रवण से यह **सुकृतस्य**=पुण्य के **पन्थाम्**=मार्ग को **नहि प्रवेद**=निश्चय से नहीं जान पाता। वेदों को छोड़कर अन्य बातों को सुनते रहना हमारे लिये धर्मज्ञान में सहायक नहीं होता। वेद व वेद के व्याख्यान ग्रन्थ ही हमें धर्म की प्रेरणा देते हैं। अन्य ज्ञान वस्तुतः ज्ञान ही नहीं होता, वह हमें धर्म की ओर झुकाववाला नहीं करता।

भावार्थ-प्रभु-स्मरण से शक्ति व प्रज्ञा में वृद्धि होती है, हम वेद को समझने योग्य बनते हैं और धर्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

ऋषिः-**ब्रहस्पति**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।

आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥७॥

(अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः) आँखोंवाले, कानवाले, समान ज्ञान ग्रहण करने वाले मित्र भी **(मनोजवेषु असमाः बभूवुः)** मन से जानने योग्य ज्ञान में एक समान नहीं होते। जैसे **(ह्रदाः आदघ्नासः)** भूमिपर कोई जलाशय मुखतक गहराई के जलवाले और **(त्वे उ उपकक्षासः इव)** कोई कटितक जलवाले तड़ाग के समान होते हैं; **(स्नात्वाः उ त्वे)** और कोई स्नान करने के योग्य भी होते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों में भी ज्ञान की दृष्टि से असमानता रहती है।

(१) **अक्षण्वन्तः**=आँखों वाले तथा **कर्णवन्तः**=कानों वाले **सखाया**=एक ही श्रेणी में ज्ञान को प्राप्त करने वाले (समानं ख्यानं येषां) युवक होते हैं। इनकी आँखें बाह्य पदार्थों को ठीक से देखती हैं, कान बाह्य शब्दों को ठीक से सुनते हैं एक ही गुरु से ये ज्ञान प्राप्त कर रहे होते हैं। ऐसा होते हुए भी **मनोजवेषु**=मन के वेगों में **असमा बभूवुः**=ये समान नहीं होते। इनका मन दिये जाते हुए ज्ञान को समान रूप से ग्रहण नहीं करता। (२) ज्ञान को यदि जल से उपमित करें, तो इनमें से कई **आदध्नासः**=आस्य प्रमाण उदक वाले होते हैं, कईयों के ज्ञान सरोवर में मुख तक आने वाला ज्ञान जल भरा होता है। **उ**=और **त्वे**=कई तो **स्नात्वाः ह्रदाः इव**=स्नानीय तालाबों के समान परिपूर्ण जलवाले, डुबाऊ जलवाले **ददृश्रे**=दिखाई पड़ते हैं।

भावार्थ–बाह्य वातावरण की समानता होते हुए भी मनोजवों की विषमता के कारण एक ही श्रेणी के विद्यार्थियों में ज्ञान की विषमता हो जाती है। 'स्नात्वाः ह्रदाः इव' प्रथम विभाग के हैं, 'आदध्नासः' द्वितीय विभाग के तथा 'उपकक्षासः' तृतीयविभाग के।

ऋषिः **बृहस्पतिः**॥ देवता–**ज्ञानम्**॥ छन्दः– **विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः–**धैवतः**॥

ह्रदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥८॥

(सखायः ब्राह्मणाः ह्रदा तष्टेषु) समान योग्यता वाले ज्ञानी, ब्राह्मण ह्रदय से अच्छी प्रकार **(मनसः जवेषु यत् संयजन्ते)** मनःपूर्वक वेदार्थ के गुण दोष के निरूपण–परीक्षण के लिये जब एकत्र होते हैं; **(अत्र त्वं वेद्याभिः वि जहुः)** तब किसी व्यक्ति को वेदविद्या से अज्ञ जानकर छोड़ देते हैं। **(अह ओहब्रह्माणः उ त्वे विचरन्ति)** और कुछ स्तोत्रज्ञ विद्वान् ब्राह्मण वेदार्थज्ञाता होकर विचरण करते हैं।

यद्=जब **ह्रदा**=ह्रदय की श्रद्धा से **तष्टेषु**=तीव्र किये हुए (तक्ष= तनूकरणे) **मनसः जवेषु**=मन के वेगों में, मन से प्राप्त करने योग्य ज्ञानो के निमित्त **ब्राह्मणाः**=ब्रह्म के विचारक पुरुष **सखायः**=परस्पर ज्ञान की मैत्रीवाले होकर **संयजन्ते**= एकत्रित होते हैं। एकत्रित होकर जब ये ज्ञानी पुरुष ज्ञानयज्ञ को प्रारम्भ करते हैं तो **अत्र**=यहाँ ज्ञानयज्ञों में **अह**=निश्चय से **त्वम्**=किसी एक को **वेद्याभिः**=वेद्य वस्तुओं से **विजहुः**=छोड़ देते हैं। अर्थात् समझ की कमी के कारण उसे शास्त्रीय चर्चाओं में सम्मिलित नहीं करते। **उ त्वे**=और कई इन नासमझ पुरुषों से भिन्न **ओहव्रस्नाणः**=ऊह्य है ब्रह्म जिनके लिये, अर्थात् तर्क–वितर्क द्वारा ब्रह्म के अस्तित्व का स्थापन करने वाले व्यक्ति उन ज्ञानयज्ञों में **विवरन्ति**=विशिष्ट शोभा के साथ विचरण करते हैं। ज्ञान उनकी शोभा वृद्धि का कारण बनता है। (२) ज्ञान यज्ञों में कई ह्रदय व मन के विकास के कारण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करनेवाले होते हैं तो दूसरे अविकसित ह्रदय व मनवाले अलग ही बैठे रह जाते हैं।

भावार्थ– ह्रदय व मन की पवित्रता ब्रह्मज्ञान के लिये आवश्यक है। इसके बिना हम 'ओहब्रह्म' नहीं बन पाते।

ऋषिः-**ब्रहस्पति**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**विराड्जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

इमे ये नार्वाङ्न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः ।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥९॥

(इमे ये न अर्वाक न परः न चरन्ति) ये जो-वेदार्थ न जानने वाले अविद्वान- इस लोक में ब्राह्मण के और परलोक में देवों के साथ यज्ञादि कर्म नहीं करते, और जो **(न ब्राह्मणासः न सुतेकरासः)** न ब्रह्म वेद जानने वाले हैं और न सोमयज्ञ कर्ता हैं; वे **(अप्रजज्ञयः)** ज्ञानी नहीं होते! **(ते एते पापया वाचं अभिपद्य)** वे ये पापकारिणी लौकिक वाणी को प्राप्त कर **(सिरीः तन्त्रं तन्वते)** मूर्ख व्यक्ति के समान हल आदि साधन लेकर अपना भरणपोषण कृषि आदि व्यवहार से करते हैं।

(१) **इमे**=ये **ये**=जो **न**=न तो **अर्वाङ्**=यहाँ नीचे लौकिक क्षेत्र में ब्राह्मणों के साथ ज्ञानचर्चा करते हुए **चरन्ति**=विचरते हैं और **न**=नां **परः**=उत्कृष्ट अध्यात्मक्षेत्र में देवचिन्तन करते हुए देवों के साथ विचरते हैं, वे **न ब्राह्मणासः**= न ज्ञानी बनते हैं और **न**=नां ही **सुतेकरासः**=यज्ञादि को करनेवाले होते हैं। ब्राह्मण ाों के साथ विचरते, तो उनके साथ ज्ञानचर्या करते हुए ज्ञानी बन जाते। यदि देवों का चिन्तन करते, तो इन सब पदार्थों को देवों से दिया हुआ जानकर, सदा देवों के लिये देकर यज्ञशेष का ही सेवन करते। परन्तु न तो ये ज्ञानी बने, न यज्ञशील। (२) **ते एते**=वे ये **अप्रजज्ञयः**=अविद्वान् लोग **वाचम्**=लौकिकी वाणी को ही, 'कहाँ और कब क्या-क्या दुर्घटनाएं हुई' इस प्रकार की व्यर्थ की वाणी को **अभिपद्य**=प्राप्त होकर **पापया**=उस पाप की ओर झुकाव को करनेवाली वाणी से युक्त हुए-हुए **सिरीः**=(सिरिणो भूत्वा सा.) हलों वाले होकर **तन्त्रम्**=कृषि लक्षण तन्त्र का ही **तन्वते**=विस्तार करते हैं। अर्थात् ये हल ही चलाते रह जाते हैं, अर्थात् खान-पान की दुनियाँ से ऊपर नहीं उठ पाते।

सूचना-यहां कृषि की निन्दा अभिप्रेत नहीं। परन्तु खान-पान की दुनियाँ से ऊपर उठना अभिप्रेत है। केवल इस दुनियाँ की चर्चा न करते रहकर, कुछ अध्यात्मचर्चा भी करनी ही चाहिए।

भावार्थ-हम ब्राह्मणों के सम्पर्क से ज्ञानी बनें, देवों के सम्पर्क से यज्ञशील। केवल लौकिक बातों के ज्ञान में उलझकर खाने-पीने की दुनियाँ में ही न समाप्त हो जाएँ।

ऋषिः-**ब्रहस्पति**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः ।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥१०॥

(सर्वे सखायः सभासाहेन सख्या आगतेन यशसा नन्दन्ति) सब समान ज्ञान-योग्यता वाले मित्र, सभा में प्राधान्य प्रदान करने वाले यशस्वी सोम-मित्र ज्ञानी पुरुष से आनंदित होते हैं। **(एषां पितुषणि किल्विषस्पृत्)** यह इनके बीच में अन्नदाता और पापनाशक सोम **(वाजिनाय हितः अरं भवति)** इन्हें बल-वीर्य प्रदान करने के लिये समर्थ है।

(१) जो व्यक्ति ब्राह्मणों व देवों के सम्पर्क में विचरता है वह खूब ऊँचा ज्ञानी बनता है। जब कभी यह सभाओं में आता है, तो इसके आने पर सभी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। इस **यशसा**=यशस्वी **सभासाहेन**=सम्पूर्ण सभा का अपने ज्ञान से अभिभव करने वाले **आगतेन**=आये हुए **सख्या**=ज्ञान संगी से **सर्वे सखायः**=सारे ज्ञान संगी **नन्दन्ति**= हर्ष का अनुभव करते हैं। (२) सभा में उपस्थित न होकर यह जो ज्ञानचर्चा करता है, उस ज्ञानचर्चा से यह **किल्विषस्मृत्**= पापों का नष्ट करने वाला होता है **पितुषणिः**=अन्न का सम्भजन करानेवाला होता है। इसकी चर्चा पर व अपरा दोनों विद्याओं के क्षेत्र में चलती है। पराविद्या से यह पापों को दूर करता है तो अपरा से यह अन्न प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त कराता है। इसका दिया हुआ ज्ञान अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को सिद्ध करता है। (३) इस प्रकार यह विद्वान् **एषाम्**=इन सब सभ्यों के **वाजिनाय**=शक्ति-सम्पादन के लिये **अरम्**=पर्याप्त रूप से **हितः**=हितकर **भवति**=होता है। इनके ज्ञान को देकर वह शारीरिक व अध्यात्म शक्तियों से इन्हें सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ-ज्ञान वही ठीक है जो कि पाप को नष्ट करनेवाला है और अन्न प्राप्ति की क्षमता देता है।

ऋषिः-**ब्रहस्पति**॥ देवता-**ज्ञानम्**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥११॥

(त्वः ऋचां पोषं पुपुष्वान् आस्ते) एक स्तोता-विद्वान् वेदमंत्रों का यज्ञानुष्ठान में विधिवत् प्रयोग करके अधिष्ठित होता है। **(त्वः शक्वरीषु गायत्र्यं गायति)** दूसरा शक्वरी ऋचाओं में गायत्री छन्द में साम का गान करते हैं। **(त्वः ब्रह्मा जातिविद्यां वदति)** कोई एक वेदवित् विद्वान् प्रत्येक इष्ट कार्य में प्रायश्चित् आदि विद्या का उपदेश करता है; **(उ त्वः यज्ञस्य मात्रां वि मिमीते)** कोई पुरोहित यज्ञकर्म के विभिन्न कार्यों का विशेष प्रकार से अनुष्ठान करता है।

(१) गत मन्त्रों में वर्णित ज्ञानियों में चार ज्ञानी ऋत्विज की सब यज्ञादि कार्यों को सम्पन्न कराते हैं। उनमें से **त्वः**=एक 'होता' **ऋचां पोषं पुपुष्वान्**=ऋचाओं के यथाविधि कर्मों में प्रयोग का पोषण करता हुआ **आस्ते**=यज्ञवेदी में आसीन होता है। (२) **त्वः**=एक उद्गाता **शक्वरीषु**=प्रभु के सम्पर्क के द्वारा शक्ति को उत्पन्न करनेवाली 'शक्वरी' नामक ऋचाओं में **गायत्रम्**= प्राणों का रक्षण करनेवाले 'गायत्र' नामक साम का **गायति**=गायन करता है। साम के द्वारा प्रभु के गुणों का गायन होता है, प्रभु के इस उपासना से उपासक के जीवन शक्ति का संचार होता है। (३) **त्वः**=एक **ब्रह्मा**=सर्ववेदवेत्ता-विशेषतः अथर्व के द्वारा दोषों को दूर करनेवाला **जातविद्यां वदति**=(जातेरवेदयित्रीं) उस-उस उत्पन्न कर्म में दोष दूरीकरण की विधि की ज्ञापक वाणी को बोलता है। (४) **उ**=और **त्वः**=एक अध्वर्यु, यजुर्वेद का विशेष ज्ञाता बनकर **यज्ञस्य मात्राम्**=या की मात्रा को **विमिमीते**=मापता है। आहुति के परिमाणादि का निर्णय करता

है। इस प्रकार 'होता' ऋग्वेद से, 'उद्गाता' सामवेद से, 'ब्रह्मा' अथर्व से और 'अध्वर्यु' से कार्य करता है। और ये चारों मिलकर यज्ञ को पूर्ण करते हैं।

भावार्थ-हम वेदों को पढ़े, वेदज्ञान को यज्ञों में विनियुक्त करते हए यज्ञशील हों।

इस सूक्त में 'बृहस्पति' वेदज्ञानी बनकर किस प्रकार जीवन को सुन्दर बनाता है, इस बात का प्रतिपादन हुआ है।

स्मरणीय बिंदु-

1. ज्ञान जीवन का प्रकाश है।
2. आत्मज्ञान आध्यात्मिक उन्नति का आधार है।
3. विवेक मानव को सही मार्ग दिखाता है।

शब्दावली-

1. ज्ञान - बोध
2. आत्मज्ञान - आत्मा का ज्ञान
3. विवेक - सही-गलत की पहचान
4. मोक्ष - मुक्ति
5. चेतना - जागरूकता

5 अंक के प्रश्न-

1. ज्ञानसूक्त का मुख्य संदेश क्या है?
2. वैदिक दृष्टि में ज्ञान का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. आत्मज्ञान किसे कहते हैं?
4. विवेक एवं ज्ञान में अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. ज्ञान एवं मोक्ष का संबंध स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. ज्ञानसूक्त का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. वैदिक संस्कृति में ज्ञान की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
3. आत्मज्ञान एवं आध्यात्मिक चेतना का विश्लेषण कीजिए।
4. ज्ञानसूक्त की आधुनिक जीवन में प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।
5. ज्ञान एवं नैतिकता के संबंध का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. ज्ञानसूक्त का मुख्य विषय क्या है?

(क) युद्ध

(ख) ज्ञान

(ग) व्यापार

(घ) कृषि

उत्तर: (ख)

2. वैदिक दृष्टि में ज्ञान किसका मार्ग है?

(क) अज्ञान

(ख) मोक्ष

(ग) युद्ध

(घ) दुख

उत्तर: (ख)

3. आत्मज्ञान किससे संबंधित है?

(क) बाहरी संसार

(ख) आत्मा

(ग) राजनीति

(घ) अर्थशास्त्र

उत्तर: (ख)

इकाई-2.3 पुरुषसूक्तम्

उद्देश्य

1. पुरुषसूक्त की सृष्टि-दृष्टि को समझना।
2. समाज एवं ब्रह्मांड की संरचना का अध्ययन करना।
3. वैदिक सामाजिक व्यवस्था को समझना।

ऋ. मं १० सू ९० नारायणः। परमपुरुषः। अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्।

ओ३म् स॒हस्र॑शीर्षा॒ पुरु॑षः सहस्रा॒क्षः स॒हस्र॑पात्।

स भूमिं॑ वि॒श्वतो॑ वृ॒त्वाऽत्य॑तिष्ठद्दशाङ्गु॒लम् ॥१॥

(सहस्र-शीर्षा सहस्र अक्षः सहस्र-पात्) हजारों मस्तक जिसके हैं, हजारों आँखें जिसकी हैं, हजारों पांव जिसके हैं, ऐसा एक पुरुष-ईश्वर हैं, **(सः भूमिं विश्वतः वृत्वा)** यह भूमि के चारों ओर घेरकर रह रहा है और **(दश-अंगुलं अत्यतिष्ठत्)** बस अंगुल रूप इस अल्प सृष्टि को व्यापकर बाहर भी है।

(१) वह प्रभु **पुरुषः**='पुरि वसति' ब्रह्माण्डरूप नगरी में निवास करते हैं। 'पुरिशेते'=इस ब्रह्माण्ड रूप नगरी में शयन करते हैं। 'पुनाति=रुणद्धि-स्यति' इस ब्रह्माण्ड रूप नगरी को वे पवित्र करते हैं, इसे वे नष्ट होने से बचाने के लिए आवृत किये रहता हैं और अन्त में इसका प्रलय करते हैं (षोऽन्तकर्मणि)। (२) वे पुरुष **सहस्रशीर्षा**=अनन्त सिरों वाले हैं, **सहस्राक्षः**=अनन्त आँखों वाले हैं, **सहस्रपात्**= अनन्त पाँव वाले हैं। सब ओर उनके सिर आँखें व पाँव हैं। इन इन्द्रियों से रहित होते हुए भी इन इन्द्रियों की शक्ति उनमें सर्वत्र है। (३) **स**=वे प्रभु **भूमिम्**=इस 'भवन्ति भूतानि यस्यां' प्राणियों के निवास-स्थानभूत ब्रह्माण्ड को **सर्वतः वृत्वा**=सब ओर से आच्छादित करके अपने एक देश में इस सारे ब्रह्माण्ड को धारण करके **दशाङ्गुलम**=इस दशांगुल-परिमाण जगत् को **अति अतिष्ठत्**=लांघ करके ठहरे हुए हैं। अनन्त-सा प्रतीत होने वाला भी यह ब्रह्माण्ड उस अनन्त प्रभु की तुलना में एकदम सान्त ही है। उस प्रभु की तुलना में यह सारा ब्रह्माण्ड एक तरबूज के समान ही है (दशांगुल=watermelen)। (४) 'दशांगुल' शब्द हृदयदेश के लिए भी प्रयुक्त होता है। वे प्रभु सबके हृदयों में निवास करते हुए उन सब हृदयों से ऊपर उठे हुए हैं। (५) यह ब्रह्माण्ड पञ्चसूक्ष्मभूत व पञ्चस्थूलभूतों से बना हुआ होने से भी 'दशांगुल' कहलाता है। प्रभु इस ब्रह्माण्ड को लाँघकर रह रहे हैं।

भावार्थ-वे पुरुष विशेष प्रभु 'अनन्त सिरों, आँखों व पाँव वाले हैं। सारे ब्रह्माण्ड को आवृत्त करके इसको लाँघकर रह रहे हैं। प्रभु की तुलना में यह ब्रह्माण्ड दशांगुल-मात्र ही है।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

पुरु॑ष ए॒वेदं सर्वं॒ यद्भू॒तं यच्च॒ भव्य॑म् ।

उ॒तामृ॑त॒त्वस्येशा॑नो॒ यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति ॥२॥

(यद् भूतं यत् च भव्यं) जो भूतकाल में हुआ था और जो वर्तमानकाल में है, तथा जो भविष्य काल में होने वाला है, **(इदं सर्वं पुरुष एव)** वह सब यह पुरुष ही है। **(उत अमृतत्वस्य ईशानः)** और वह पुरुष अमृतत्व का-मोक्ष का स्वामी है, **(यत् अन्नेन अति रोहति)** जो अन्न से बढ़ता है।

(१) **पुरुषः**=इस ब्रह्माण्डरूप नगरी में शयन व निवास करनेवाले प्रभु **एव**=ही **इदं सर्वम्**=इन सारे प्राणियों के **ईशानः**=शासित करनेवाले हैं। उन प्राणियों के **यद्**=जो **भूतम्**=कर्मानुसार जन्म को ग्रहण कर चुके हैं। **यत् च**= और जो **भव्यम्**=समीप भविष्य में ही जन्म ग्रहण करेंगे। इन प्राणियों के भी वे प्रभु ईश हैं। (२) इन भूत भाव्य प्राणियों के तो वे प्रभु ईश हैं ही, **उत**=और **अमृतत्वस्य ईशानः**=वासनाओं के क्षय से अमरपद को प्राप्त प्राणियों के भी वे ईश हैं। इन्हें भी परामुक्ति के काल की समाप्ति पर प्रभु की व्यवस्था के अनुसार जन्म धारण करना होता है। ये अमृत पुरुष वे हैं **यत्**=जो **अन्नेन**=उस अन्न नामक प्रभु से अन्न नामक प्रभु का आश्रय करने से, **अतिरोहति**=जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जाते हैं। प्रभु अन्न है 'अद्यतेऽन्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते'। इस प्रभु को अन्न इसलिए भी कहते हैं कि 'आ-नम्' अन्ततः सब इनकी ओर झुकते हैं। इन अन्न का आश्रय करके जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जानेवाले व्यक्ति भी प्रभु के शासन से ऊपर नहीं हो पाते।

भावार्थ- वे प्रभु 'भूत-भाव्य व अमृत' सभी के ईशान हैं।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥स्वरः-**गान्धारः**॥

ए॒तावा॑नस्य महि॒माऽतो॒ ज्याया॑ँश्च॒ पूरु॑षः ।

पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि ॥३॥

(अस्य एतावान् महिमा) इस पुरुष का इतना विशाल महिमा है **(अतः ज्यायान् पुरुषः)** इससे एक बड़ा और एक श्रेष्ठ पुरुष है। **(विश्वा भूतानि अस्य पादः)** सब भूतमात्र जो इस विश्व में है वह सब इसके एक चरणवत् है। **(अस्य त्रिपाद् दिवि अमृतम्)** इसके तीन चरण दिव्यलोक में अमृतरूप हैं।

(१) **अस्य**=इस पुरुष की **एतावान् महिमा**=इतनी महिमा है। सारा ब्रह्माण्ड उनके एकदेश में हैं और सब 'भूत-भाव्य-अमृत' प्राणियों के वे ईश हैं। इस सारे ब्रह्माण्ड में तथा सब प्राणियों में प्रभु की ही महिमा दृष्टिगोचर होती है, सूर्यादि पिण्डों को वे ही ज्योति दे रहे हैं, तो बुद्धिमानों की बुद्धि भी वे ही हैं, और तेजस्वियों का तेज भी वे ही हैं। (२) वे **पुरुषः**= ब्रह्माण्डनगरी में निवास करने वाले प्रभु अतः **ज्यायान् च**= इस ब्रह्माण्ड से बड़े हैं, यह सारा ब्रह्माण्ड तो उनके एकदेश में ही स्थित है। प्रभु की तुलना में यह विशाल ब्रह्माण्ड दशांगुल मात्र है। **विश्वाभूतानि**= ये सारे प्राणी **अस्य पादः**=इस प्रभु के चतुर्थांश में ही हैं। यह सारा जन्म-मरण चक्र इस चतुर्थांश में ही चल रहा है। **अस्य त्रिपाद्**=इस प्रभु के तीन अंश तो **दिवि**=अपने द्योतनात्मक रूप में **अमृतम्**=अमृत हैं। उन तीन अंशों में यह जीवों

के जन्म ग्रहण व शरीर को छोड़ने रूप मृत्यु का व्यवहार नहीं होता, सो उस त्रिपात् को यहाँ 'अमृत' का गया है।

भावार्थ–सारा ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहा है। वे प्रभु इस ब्रह्माण्ड से बहुत बड़े हैं। यह ब्रह्माण्ड तो प्रभु के एकदेश में ही है।

ऋषिः–**नारायणः**॥ देवता–**पुरुषः**॥ छन्दः–**अनुष्टुप्**॥ स्वरः–**गान्धारः**॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥४॥

(त्रिपात् पुरुषः उर्ध्वः उदैत्) त्रिपाद पुरुष ऊपर द्युलोक में रहा है, **(अस्य पादः इह पुनः अभवत्)** इस पुरुष का एक भाग यहाँ इस विश्व के रूप में पुनः पुनः उत्पन्न होता रहता है। **(ततः स-अशन-अनशने विष्वङ् अभि व्यक्रामत्)** पश्चात् उसने अन्न खाने वाले और अन्न न खाने वाले विश्व को चारों ओर से व्याप लिया।

(१) **त्रिपात् पुरुषः**=त्रिपात् पुरुष **ऊर्ध्वः उदैत्**=इस चराचर जगत् से ऊपर उठा हुआ है। **अस्य**= इस पुरुष का **पादः**=एक अंश ही **पुनः**=तो **इह अभवत्**= यहाँ इस ब्रह्माण्ड में होता है। सम्पूर्ण संसार का व्यवहार इस एक अंश में ही चल रहा है, प्रभु के तीन अंश तो इस व्यावहारिक संसार से ऊपर ही हैं। (२) इस **साशनानशने**=अशन सहित और अशनरहित संसार दो भागों में बँटा हुआ है, यही चराचर कहलाता है। इस चराचर संसार में **ततः**=उस प्रभु से ही **विष्वङ्**=(विषु अञ्च्) विविध दिशाओं में गति करने वाला या विविध योनियों में प्रविष्ट होकर गति करनेवाला यह सारा संसार **व्यक्रामत्**=विविध गतियोंवाला होता है। सम्पूर्ण संसार की गति के स्रोत वह प्रभू ही हैं। (३) **अभि**=ये सारे प्राणी अन्ततः उस प्रभु की ओर ही चल रहे हैं। सबका अन्तिम लक्ष्य वह प्रभु ही है। वहाँ पहुँचकर ही यात्रा का अन्त होता है।

भावार्थ–सम्पूर्ण संसार के स्रोत वे प्रभु ही हैं। यह ब्रह्माण्ड उस प्रभु की ओर ही चल रहा है।

ऋषिः–**नारायणः**॥ देवता–**पुरुषः**॥ छन्दः–**अनुष्टुप्**॥ स्वरः–**गान्धारः**॥

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥५॥

(तस्मात् विराट् अजायत) उस परमात्मा से विराट् पुरुष उत्पन्न हुआ। **(विराजः अधि पूरुषः)** विराट् के ऊपर एक अधिष्ठाता पुरुष हुआ। **(सः जातः अत्यरिच्यत)** वह उत्पन्न होने पर विभक्त होने लगा। **(पश्चात् भूमिं अथो पुरः)** प्रथम भूमि आदि गोल हुए अनन्तर उस पर शरीर हुए।

(१) **ततः**=उस निमित्त कारणभूत पुरुष से विराट् अजायत=एक देदीप्यमान पिण्ड आविर्भूत किया गया। इसी पिण्ड को मनु ने 'हैम अण्ड' नाम दिया है। यही सांख्य में 'महत्' शब्द से कहा गया है। (२)

विराजः अधि पूरुषः= उस विराट् पिण्ड का अधिष्ठातारूपेण वह पुरुष था। प्रभु की अध्यक्षता में ही प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है। (३) सः=वह विराट् पिण्ड **जातः**=उत्पन्न हुआ-हुआ **अत्यरिच्यत**=संसार के किसी भी पदार्थ से अधिक दीप्तिवाला हुआ। मनु ने इसे 'सहस्रांशुसम प्रभ' सूर्य के समान प्रभावाला कहा है। (४) **पश्चात्**=अब विराट् की उत्पत्ति के बाद **भूमिम्**=प्राणियों के निवास-स्थानभूत लोकों को उस अध्यक्ष ने बनाया। प्राणियों के सशरीर होने से पहले इन लोकों का बनना आवश्यक ही है। (५) **अथ उ**=और अब, इन लोकों के बन जाने के पश्चात् **पुरः**=शरीर बनाये गये। शरीरों को 'पुरः' नाम इसलिए देते हैं कि 'पूर्यन्ते' सप्त धातुभिः'=ये सप्त धातुओं से पूर्ण हैं।

भावार्थ-पहले 'विराट्' की उत्पत्ति होती है। इस विराट् से लोक-लोकान्तर बनते हैं और फिर प्राणियो के शरीरों की उत्पत्ति होती है।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**।

यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत ।
व॒स॒न्तो अ॑स्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्म इ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः ॥६॥

(यत् देवाः पुरुषेण हविषा यज्ञं अतन्वत) जब देवों ने विराट् पुरुषरूपी हवि ने यज्ञ करना शुरू किया, तब **(अस्य वसन्तः आज्यं आसीत्)** वसंत ऋतु इस यज्ञ में घी का कार्य करता था, **(ग्रीष्मः इध्मः शरत् हविः)** ग्रीष्म ऋतु ईंधन और शरद् ऋतु हवि हुआ था।

(१) **यत्**=जब **हविषा**= (हू दाने) अविरूप-त्याग के पुञ्ज **पुरुषेण**=ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाला प्रभु से **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **यज्ञम्**= संगतिकरण सम्बन्ध को **अतन्वत**=विस्तृत करते हैं, तो **अस्य**= इस प्रभु से मेल वाले व्यक्ति के लिये **वसन्तः आज्यम्**=वसन्त ऋतु आज्य **आसीत्**=हो जाती है **ग्रीष्मः**=ग्रीष्म ऋतु **इध्मः**=इध्म होती है और **शरत् हविः**=शरद् ऋतु हवि हो जाती है (२) वसन्त ऋतु इस व्यक्ति के लिए प्रभु की महिमा को व्यक्त करनेवाली बन जाती है। (आज्य-अञ्ज्=व्यक्त करना। चारों ओर वनस्पतियों के नवपल्लव पुष्प व फल इसके लिए प्रभु दर्शन के द्वार बन जाते हैं। (३) ग्रीष्म ऋतु इसके लिए इध्म व दीप्ति का प्रतीक हो जाती है। जैसे ग्रीष्म में सूर्य प्रचण्डरूप में चमक रहा होता है, उसी प्रकार यह उपासक प्रभु की अत्यन्त ज्योर्तिमय ज्ञानदीप्ति की कल्पना करता है। (४) इस प्रभु-भक्त के लिए सब पत्तों व पुष्पों को शीर्ण करती हुई शरद् भी हवि का संकेत बन जाती है। शरद् से यह हविरूप बनना सीखता है।

भावार्थ- प्रभु-भक्त के लिए वसन्त प्रभु महिमा को दर्शाती है, ग्रीष्म प्रभु की ज्ञानदीप्ति का संकेत करती है और शरत् इसे त्याग का पाठ पढ़ाती है।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥७॥

(तं अग्रतः जातं यज्ञं पुरुषं बर्हिषि प्रौक्षन्) उस प्रथम उत्पन्न हुए यज्ञनीय विराट् पुरुष को यज्ञ में प्रोक्षण करके **(ये देवाः साध्याः ऋषयः च तेन अयजन्त)** जो देव साध्य और ऋषि थे, उन्होंने उस विराट् पुरुष से ही यज्ञ चलाया था।

(१) **तम्**=उस **यज्ञम्**=उपायसीय संगतिकरण योग्य व समर्पणीय प्रभु को **बहर्षि**= वासनाओं का जिसमें से उद्बर्हण कर दिया गया है ऐसे हृदय में **प्रौक्षन्**=प्रकर्षेण सिक्त करते हैं। हृदयरूप क्षेत्र को प्रभु-चिन्तनरूप जल से सिक्त करते हैं। (२) उस प्रभु को जो **पुरुषम्**=इस ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले हैं। और जो **अग्रतः जातम्**=पहले से ही विद्यमान हैं। 'उन प्रभु को किसी ने बनाया हों, ऐसी बात नहीं है, 'वे तो अनादि व स्वयम्भू हैं (३) **तेन**=उस प्रभु से **अयजन्त**=वे व्यक्ति अपना मेल करते हैं **ये**=जो **देवाः**=देववृत्ति के हैं, जिनके मन दिव्यगुणों की सम्पत्तिवाले हैं। **साध्याः**=**(साध्नुवन्ति परकार्याणि)**=जो सदा औरों के कार्यों को सिद्ध ही करते हैं, बिगाड़ते नहीं। **च**=और जो **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा हैं।

भावार्थ-प्रभु की प्राप्ति देवों को, साध्यों को व वृक्ष्रियों को होती है, उन्हें जो 'उपासना, कर्म व ज्ञान' तीनों का अपने में समन्वय करते हैं।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**विराडनुष्टुप्**॥स्वरः-**गान्धारः**॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूंस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ॥८॥

(तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) उस सर्वहुत यज्ञ से **(पृषद् आज्यं संभृतं)** दही के साथ मिला घी प्राप्त हुआ। **(तान् वायव्यान् आरण्यान् पशून्)** वायु में उड़ने वाले पक्षी तथा वायु देवता के जंगल में रहने वाले उन पशुओं को **(ये ग्राम्याः चके)** ग्राम्य पशु बनाये।

(१)**तस्मात्**=उस **यज्ञात्**= संगतिकरण योग्य, **सर्वहुतः**=सब कुछ देने वो प्रभु से **पृषदाज्यम्**=('अन्नं वै पृष्दाज्यम्' 'पयः पृष्दाज्यम्' श. 3।8।4।8। 'पशवो वै पृषदाज्यम्' तै. 1।6।3।2) अन्न, दूध व पशु **सम्भृतम्**=इन सबका सम्भरण किया गया। प्रभु ने हमारे जीवन के लिए गौ आदि पशुओं को बनाया जिनके द्वारा हमें दूध प्राप्त हुआ तथा कृषि आदि के द्वारा अन्न मिलने का सम्भव हुआ। (२) प्रभु ने **तान्**=उन सब **पशून् चक्रे**=पशुओं का निर्माण किया। **वायव्यान्**=जो वायु में उड़ने वाले थे, **आरण्यान्**=वनों में रहने वाले थे **च**=और **ये**=जो **ग्राम्याः**=ग्राम में पालतू पशुओं के रूप में रहने वाले थे। (3) यहाँ मनुष्यों से भिन्न सभी प्राणियों को 'पशु' शब्द से स्मरण किया है, ये 'पश्यन्ति' केवल देखते हैं, मनुष्य की तरह मनन नहीं कर पाते। ये सब मनुष्य के जीवन में किसी न किसी रूप में सहायक होते हैं। सर्प विष का भी औषधरूपेण प्रयोग होता है, मस्तिष्क का बल भी वमन विरोध में काम आता है। ज्ञानवृद्धि के साथ हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि ये सब पशु हमारे लिए सहायक हैं। प्रभु की कृपा का अन्त नहीं। वे

सर्वहुत् हैं, सब कुछ देने वाले हैं।

भावार्थ- प्रभु ने हमारे जीवन के धारण के लिए दूध, अन्न, व पशुओं को प्राप्त कराया है। ये पशु दूध आदि देकर व कृषि आदि कार्यों में सहायक होकर, हमारे लिए उपयोगी होते हैं।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**।

तस्मा॑द्य॒ज्ञात्स॑र्व॒हुत॒ ऋच॒ः सामा॑नि जज्ञिरे ।
छन्दा॑ꣳसि जज्ञि॒रे तस्मा॒द्यजु॒स्तस्मा॑दजायत ॥९॥

(तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) उस सर्वहुत यज्ञ से **(ऋचः सामानि जज्ञिरे)** ऋग्वेद के मंत्र तथा सामगान बने! **(तस्मात् छन्दांसि जज्ञिरे)** छन्द अर्थात् अथर्ववेद के मंत्र भी उसी से उत्पन्न हुए और **(तस्मात् यजुः अजायत्)** उसी से यजुर्वेद के मंत्र भी उत्पन्न हुए।

(१) **तस्माद्**=उस **यज्ञात्**=पूज्य **सर्वहुतः**=सब कुछ देने वाले प्रभु से **ऋचः**=ऋचाएँ **जज्ञिरे**=प्रादुर्भुत हुई। 'ऋच् स्तुतौ' धातु के अनुसार ये वे मन्त्र हैं जिनमें कि सब पदार्थों के गुणधर्मों का वर्णन है। सब प्रकृति सम्बद्ध विद्याएँ इन ऋचाओं का विषय हैं (२) उस प्रभु से **सामानि**=साम मन्त्र प्रादुर्भूत हुए। ये वे मन्त्र हैं जो आत्मा की उपासना के साथ सम्बद्ध हैं। इसी से सामवेद का नाम ही उपासना वेद हो गया है। (३) **तस्मात्**=उस प्रभु से **छन्दांसि**=छन्द, अथर्व के मन्त्र प्रादुर्भूत हुए। इन्हें 'छन्द' इसलिए कहा गया है कि ये मुख्यरूप से 'छन्द अपवारणे' रोगों व युद्धों का अपवारण करते हैं। (४) **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **यजुः**=यज्ञों के प्रतिपादक यजुर्वेद के मन्त्र भी प्रादुर्भूत हुए। इन यज्ञों के द्वारा ही जीव ने इहलोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयस्य को सिद्ध करना है।

भावार्थ- प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में 'ऋग्, यजु, साम व अथर्व' का प्रकाश किया। इनके द्वारा क्रमशः प्रकृतिविद्या, कर्मविज्ञान, उपासना व रोगचिकित्सा युद्धविद्या का उपदेश दिया।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥स्वरः-**गान्धारः**॥

तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त॒ ये के चो॑भ॒याद॑तः ।
गावो॑ ह जज्ञि॒रे तस्मा॒त्तस्मा॑ज्जा॒ता अ॑जा॒वय॑ः ॥१०॥

(तस्मात् अश्वाः अजायन्त) उस सर्वहुत यज्ञ से घोड़े हुए, **(ये के च उभयादतः)** जो दोनों ओर दांतवाले हैं। **(तस्मात् गावः ह जज्ञिरे)** उसी से गौवें उत्पन्न हुई और **(तस्मात् अजावयः जाताः)** उसी से बकरियां और भेड़ियाँ उत्पन्न हो गयी हैं।

(१) **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **अश्वाः**=घोड़ों को **अजायन्त**=जन्म दिया गया। **ये के च**=जो कोई भी **उभयादतः**=दोनों और दाँतोंवाले पशु थे उन्हें प्रभु ने उत्पन्न किया। **गावः**=गौवें भी **ह**=निश्चय से **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **जज्ञिरे**=उत्पन्न हुई। (२) **तस्मात्**= उस प्रभु से ही **अजावयः**=अजा और **अवि**=बकरी व भेड़ **जाताः**=उत्पन्न की गईं। गौवें और घोड़े मनुष्य के दक्षिण हस्त थे तो ये भेड़ व

बकरी उसके वामहस्त बने। इसप्रकार मनुष्य केन्द्र में है। उसके एक ओर गौ और घोड़ा तथा दूसरी ओर भेड़ व बकरी हैं। 'तवेमे पञ्च पशवः गौरश्वः-पुरुषोऽजावयः'। (३) गौ दूध देकर मनुष्य का पोषण करती हुई उसके बुद्धि विकास का भी कारण बनती है। घोड़ा उसके 'क्षत्रियत्व' के विकास में सहायक होता है। अजा व अवि पशम व ऊन प्राप्त कराके उसके वाणिज्य में सहयोग देती हैं। इस प्रकार मानव-जीवन के साथ बहुत समीपता से सम्बद्ध हैं।

भावार्थ-प्रभु ने घोड़ा, गौ, अजा, अवि आदि उपकारक पशुओं को जन्म दिया।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**विराडनुष्टुप्**॥स्वरः-**गान्धारः**॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥११॥

(यत् पुरुषं व्यदधुः) जिस पुरुष का यहाँ वर्णन किया है उसकी **(कति-धा व्यकल्पयन्)** कितने प्रकार से कल्पना की गयी है! **(अस्य मुखं किम्)** इसका मुख क्या है? **(बाहू कौ)** दोनों बाहू कौन हैं? **(कौ ऊरू पादौ उच्येते)** इसकी जांघे कौन सी हैं और उसके पांव कौन से हैं, ऐसा कहा जाता है?।

(१) **यत्**=जब **पुरुषम्**=संसार नगरी में निवास शयन, करने वाले प्रभु को 'देव-साध्य व ऋषि' **व्यदधुः**=अपने में विशेषरूप से धारण करते हैं तो वे **कतिधा**=कितने प्रकार से **व्यकल्पयन्** (विक्लृष)=अपने को विशिष्ट परामर्शवाला बनाते हैं। प्रभु के धारण करने वाले में अन्य पुरुषों से क्या विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती है? (२) **अस्य मुखं किम्**=इसका मुख क्या हो जाता है? क्या यह अन्य पुरुषों की तरह बोलचालवाला नहीं होता? **कौ बाहू**=इसके बाहु क्या हो जाते हैं? इसके बाहु क्या सामान्य लोगों की तरह कार्य करनेवाले नहीं होते? **का ऊरू**= इसकी जाँघे क्या हो जाती हैं? अथर्व के अनुसार इसका मध्यभाग-पेट क्या हो जाता है? **पादा (का) उच्येते**= इसके पाँव क्या कहाते हैं? इसकी चाल-ढाल और लोगों से किस दिशा में भिन्न होती है?

भावार्थ-यदि प्रभु के धारण के बाद भी हमारे जीवन में कोई विशेषता न आये, तो प्रभु धारण की कोई उपयोगिता नहीं प्रतीत होती। इसी कारण यह प्रश्न है कि प्रभु धारण से क्या परिवर्तन होता है? अगले मन्त्रों में इसी प्रश्न का विस्तृत उत्तर है-

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥स्वरः-**गान्धारः**॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥१२॥

(अस्य मुखं ब्राह्मणः आसीत्) इस पुरुष का मुख ब्राह्मण-ज्ञानी हुआ है, **(बाहू राजन्यः कृतः)** इस

पुरुष के बाहु क्षत्रिय अर्थात् शूर पुरुष हुए हैं। **(उरू अस्य तत् यद् वैश्यः)** इसकी जांघे वे हैं जो वैश्य हैं और **(पद्भ्यां शूद्रः अजायत)** पावों के स्थान में शूद्र हुआ है।

(१) गत मन्त्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **अस्य**=इस प्रभु को धारण करनेवाले का **मुखम्**=मुख **ब्राह्मणः असीत्**=ब्राह्मण हो जाता है, इसका मुख ब्रह्म, अर्थात् ज्ञान का प्रवचन करनेवाला बन जाता है यह मुख से ज्ञान का प्रसार करता है, अपशब्दों के बोलने का वहाँ प्रसंग ही कहाँ? (२) इस प्रभु को धारण करनेवाले को **बाहू**=भुजाएँ **राजन्यः कृतः**=क्षत्रिय बन जाती हैं। लोक-रञ्जनात्मक कर्मों को करती हुई वे राजन्य हो जाती हैं 'सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत'। यह बाहुओं से औरों का रक्षण ही करता है नकि नाश। (३) **यत्**=जो **अस्य**=इसकी **ऊरू**=जाँघें हैं **तत्**=वे **वैश्यः**=वैश्य **अजायत**=हो जाती हैं। यहाँ ऊरू 'मध्य भाग' का प्रतीक हैं। जैसे यह पेट रुधिरादि को उत्पन्न करके अंग-प्रत्यंग का पालन करता है इसी प्रकार ये धनार्जन करते सभी के हित में उसका विनियोग करता है। (४) **पद्भ्याम्**= पाँवों से यह **शूद्रः**=शूद्र अजायत=हो जाता है। 'शु+उत्+र' यह शीघ्रता से उत्कृष्ट गतिवाला होता है। इसके सब कार्य शूद्र की तरह सेवात्मक होते हैं।

भावार्थ- प्रभु को धारण करनेवाला मुख से एक सच्चे ब्राह्मण की तरह ज्ञान देनेवाला होता है। बाहुओं से एक क्षत्रिय की तरह रक्षण करनेवाला बनता है। मध्य भाग से एक वैश्य की तरह धनार्जन करके सभी का पालन करता है। पाँवों से इसकी सब गतियाँ एक सच्चे शूद्र की तरह सेवात्मक होती हैं।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥स्वरः-**गान्धारः**॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥१३॥

(मनसः चन्द्रमा जातः) परमात्मा के मन से चन्द्रमा हुआ है, **(चक्षोः सूर्यः अजायत)** परमात्मा की आंखों से सूर्य हुआ है, **(मुखात् इन्द्रः च अग्निः च)** मुख से इन्द्र और अग्नि हुए, और **(प्राणात् वायुः अजायत)** प्राण से वायु हुआ।

(१) **मनसः**=मन के दृष्टिकोण से यह प्रभु को धारण करने वाला **चन्द्रमाः जातः**=चन्द्रमा हो जाता है। 'चदि आह्लादे' से चन्द्र शब्द बनता है। यह प्रभु-भक्त आह्लादमय मनवाला होता है। 'मनः प्रसाद' से सदा यह स्मितवदन दिखता है। (२) **चक्षोः**=चक्षु से **सूर्यः अजायत**=यह सूर्य बन जाता है। सूर्य जैसे अन्धकार को दूर करनेवाला है, इसी प्रकार इसकी चक्षु इसके अज्ञानान्धकार को सदा दूर करनेवाली बनती है। यह आँख सब पदार्थों को सूक्ष्मता से देखती हुई इसके तत्त्वज्ञान का साधन बनती है। (३) **मुखात्**=मुख से यह **इन्द्रः च अग्निः च**=इन्द्र और अग्नि बनता है। मुख के दो कार्य हैं 'खाना और बोलना' पहले कार्य

के दृष्टिकोण से यह जितेन्द्रिय बनता है। इन्द्रियों का अधिष्ठाता ही इन्द्र है। जितेन्द्रिय होता हुआ यह स्वाद के लिए न खाकर केवल शरीरधारण के लिए खाता है। दूसरे कार्य के दृष्टिकोण से यह अग्नि बनता है, इसके मुख से निकले हुए शब्द अग्नि होते हैं, आगे ले चलनेवाले होते हैं, सबको उत्साहित करनेवाले होते हैं। (४) **प्राणाद्**=प्राण के दृष्टिकोण से, जीवन के दृष्टिकोण से यह **वायुः अजायत**=वायु हो जाता है। 'वा गतौ' वायु चलती है, इसका जीवन भी बड़ा क्रियाशील होता है।

भावार्थ- प्रभु को धारण करनेवाले के जीवन में ये बातें होती हैं- (क) मनः प्रसाद, (ख) प्रकाशमय दृष्टि, (ग) जितेन्द्रियता व उत्साहमय वाणी, (घ) क्रियाशीलता।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

नाभ्या॑ आसीद॒न्तरि॑क्षं शी॒र्ष्णो द्यौः सम॑वर्तत।

प॒द्भ्यां भूमि॒र्दिशः॒ श्रोत्रा॒त्तथा॑ लो॒काँ अ॑कल्पयन्॥१४॥

(नाभ्याः अन्तरिक्षं आसीत्) नाभि से अन्तरिक्ष हुआ है, **(शीर्ष्णः द्योः समर्वत)** सिर से द्युलोक हुआ है, **(पद्भ्यां भूमिः)** पावों से भूमि हुई, **(श्रोत्रात् दिशः)** कानों से दिशाएं हुई, **(तथा लोकान् अकल्पयन्)** इस तरह अन्य लोगों की कल्पना करनी योग्य है।

(१) **नाभ्याः**=नाभि शरीर का केन्द्र है, इस नाभि के दृष्टिकोण से **अन्तरिक्षं आसीत्**=यह अन्तरिक्ष होता है 'द्युलोक' एक सीमा है, 'पृथिवी' दूसरी सीमा है। 'अन्तरिक्ष' इनके (अन्तराक्षि) बीच में है। यह प्रभु-भक्त सीमाओं पर न जाता हुआ सदा मध्य में रहता है। यह मध्य में रहता है। यह मध्य मार्ग ही इसके शरीर के केन्द्र को ठीक रखकर इसे पूर्ण स्वस्थ बनाता है। (२) **शीर्ष्णः**=सिर व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह **द्यौः**=आकाश **समवर्तत**= हो जाता है जैसे द्युलोक नक्षत्रों से चमकता है, इसी प्रकार इसका मस्तिष्क विज्ञान के नक्षत्रों से चमकता है। जैसे द्युलोक सूर्य ज्योति से देदीप्यमान है, इसी प्रकार इसका मस्तिष्क आत्मज्ञान के सूर्य से चमकता है। (३) यह **पद्भ्याम्**=पाँवों के दृष्टिकोण से **भूमिः**=भूमि बनता है। 'भवन्ति भूतानि यस्यां' इस व्युत्पत्ति से भूमि सभी को निवास देनेवाली है। इसकी 'पद गतौ' पाँव से होने वाली सारी गति औरों के निवास का ही कारण बनती है। (४) यह **श्रोत्रात्**=श्रोत्र के दृष्टिकोण से 'दिशः'=दिशाएँ ही हो जाता है। 'प्राची' के उपदेश को सुनकर (प्र अञ्च्) आगे बढ़ता है, 'प्रतीची' (प्रति अञ्च्) इन्द्रियों के प्रत्याहार का पाठ पढ़ता है, अवाची (अव अञ्च्) से नम्रता का पाठ पढ़ता है और ददीची से (उद् अञ्च्) सदा उन्नति का उपदेश लेता है। ये प्रभु-भक्त **तथा**=मन्त्र वर्णित प्रकार से आचरण करते हुए **लोकान्**=शरीर के अंग-प्रत्यंगों को **अकल्पयन्**=शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ- प्रभु-भक्त मध्य मार्ग में चलते हैं, मस्तिष्क को प्रकाशमय बनाते हैं। इनकी गति औरों

के निवास का कारण बनती है तथा ये दिशाओं से उपदेश को ग्रहण करके आगे बढ़ते हैं, इन्द्रियों को प्रत्याहृत करते हैं, नम्रता को धारण करते हैं और सदा उन्नति के मार्ग पर चलते हैं।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

स॒प्तास्या॑ऽसन्परि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः ।
दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न्पुरु॑षं प॒शुम् ॥१५॥

(अस्य सप्त परिधयः आसन्) इस यज्ञ की सात परिधियाँ थीं और **(त्रिः सप्त समिधः कृताः)** तीन गुणा सात अर्थात् इक्कीस समिधायें थीं। **(देवाः यत् यज्ञं तन्वानाः)** देव जिस यज्ञ को फैला रहे थे, **(पुरुषं पशुं अबध्नन्)** उसमें इस पुरुष रूपी पशु को बांधते थे।

(१) **यद्**=जब **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यज्ञम्**=प्रभु के साथ मेल को (यजः संगतिकरण) **तन्वानाः**= विस्तृत करते हुए बढ़ाते हुए, **पुरुषम्**=जबरदस्त पौरुष वाले **पशुम्**=काम-क्रोधरूप पशु को **अबध्नन्**=बाँध लेते हैं, पूरी तरह से वश में कर लेते हैं, तो **अस्य**=इस यज्ञविस्तारक-पशुबन्धक पुरुष के **सप्त**='कर्मािवमौ नासिके चक्षणी मुखम्'= दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख' रूप सातों ऋषि **परिधयः आसन्**=परिधि हो जाते हैं। परिधि हो जाने का भाव यह है कि वे सब मर्यादा में चलने वाले होते हैं। वेद में सात ही मर्यादाओं का उल्लेख है 'सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षु.'। इन सातों मर्यादाओं का यह पालन करता है। (२) सातों मर्यादाओं के पालन का ही यह परिणाम होता है कि इसके जीवन में **त्रिः सप्त**= त्रिगुणित सात अर्थात् इक्कीस **समिधः**=दीप्तियाँ **कृताः**=उत्पन्न हो जाती हैं (are ereated)। इसके शरीर की इक्कीस शक्तियाँ दीप्त हो उठती हैं।

भावार्थ-प्रभु से अपना समबन्ध जोड़नेवाला व्यक्ति सातों मर्यादाओं का पालन करता है और अपनी सब शक्तियों को दीप्त करने वाला होता है।

ऋषिः-**नारायणः**॥ देवता-**पुरुषः**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन् ।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥१६॥

(देवाः यज्ञेन यज्ञं अयजन्त) देवों ने इस यज्ञपुरुष के साधन से जो यज्ञ का कार्य करना प्रारम्भ किया, **(तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्)** वे प्रारंभ के धर्मश्रेष्ठ थे। ऐसा यज्ञधर्म का आचरण करने वाले धार्मिक लोग **(यत्र पूर्वे साध्याः देवाः सन्ति)** जहां पूर्व समय के साधनसंपन्न यज्ञ करने वाले लोग रहते थे **(ते ह महिमानः नाकं सचन्त)** वे ही महात्मा लोग निश्चय से उसी सुखपूर्ण स्थान में जाकर रहने लगे।

(१) प्रभु यज्ञ हैं, पूज्य हैं संगतिकरण योग्य हैं और समर्पणीय हैं। 'बड़ों का आदर करना, बराबरवालों से मिलकर प्रेम से चलना तथा देना' यह त्रिविध कर्म यज्ञ है। **यज्ञेन**=इस 'बड़ों के आदर, परस्पर प्रेम व दान' रूप यज्ञात्मक कर्म से **यज्ञ**=उस उपास्य प्रभु को **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **अयजन्त**=उपासित करते हैं। प्रभु की उपासना यज्ञान्तर्गत इन्हीं तीन कर्मों से होती है। वस्तुतः **तानि**=वे तीन कर्म ही **प्रथमानि धर्माणि आसन्**=मनुष्य के प्रमुख कर्त्तव्य (first and foremost duties) थे। (२) इन कर्मों के द्वारा **महिमानः**=(महा पूजायाम्) प्रभु -पूजन करनेवाले **नाकम्**=उस सुखमय मोक्ष लोक का **सचन्त**=सेवन करते हैं, **यत्र**=जहाँ जिस मोक्षलोक में वे व्यक्ति **सन्ति**=निवास करते हैं जो **पूर्वे**=अपना पालव पूरण करनेवाले हैं, **संध्याः**=(साधयन्ति परकार्याणि) दूसरों के कार्यों को सिद्ध करनेवाले हैं, तथा **देवाः**=सदा काम-क्रोधादि को जीतने की कामना करते हैं विजिगीषा=दिव्) और ज्योतिर्मय जीवन बिताते हैं (द्युति=दिव्।

भावार्थ-प्रभु का उपासना यज्ञ से होता है, यज्ञ ही प्रमुख कर्त्तव्य है, प्रभु-पूजक मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष को प्राप्त करके 'नारायण' सा ही हो जाता है।

इस सूक्त का सार यही है कि प्रभु अनन्त ज्ञानवाले हैं उस ज्ञान से वे इस सुदर सृष्टि का निर्माण करते हैं। हम प्रभु को धारण करते हुए एक-एक अंग को शक्तिशाली बनाएँ। सदा यज्ञों द्वारा उस प्रभु का उपासना करते हुए एक-एक अंग को शक्तिशाली बनाएँ। सदा यज्ञों द्वारा उस प्रभु का उपासना करे हुए हम भी प्रभु जैसे बन जाएँ। यज्ञों द्वारा प्रभु का उपासना करनेवाला यह 'वीतं हव्यं येन'=यज्ञशेष का सेवन करनेवाला 'वैतहव्य' बनता है तथा **अरुणः**=तेजस्विता की लालिमावाला होता है। अगले सूक्त का यही ऋषि है। यह 'अग्नि' नाम से प्रभु को याद करता है।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. पुरुषसूक्त किसकी व्याख्या करता है?

(क) कृषि

(ख) सृष्टि

(ग) युद्ध

(घ) व्यापार

उत्तरः (ख)

2. पुरुषसूक्त में पुरुष किसका प्रतीक है?

(क) विराट ब्रह्मांड

(ख) राजा

(ग) योद्धा

(घ) व्यापारी

उत्तरः (क)

3. पुरुषसूक्त किस वेद में मिलता है?

(क) ऋग्वेद

(ख) सामवेद

(ग) यजुर्वेद

(घ) अथर्ववेद

उत्तरः (क)

5 अंक के प्रश्न–

1. पुरुषसूक्त का मुख्य विषय क्या है?
2. विराट पुरुष की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
3. पुरुषसूक्त में समाज की संरचना का वर्णन कीजिए।
4. पुरुषसूक्त का दार्शनिक महत्व स्पष्ट कीजिए।
5. सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में पुरुषसूक्त क्या कहता है?

15 अंक के प्रश्न–

1. पुरुषसूक्त का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. पुरुषसूक्त में वर्णित समाज व्यवस्था का विश्लेषण कीजिए।
3. विराट पुरुष की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
4. पुरुषसूक्त एवं विश्वबंधुत्व की भावना का विवेचन कीजिए।
5. आधुनिक समाज में पुरुषसूक्त की प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

खण्ड-3 सूक्ताध्ययन

इकाई-3.1 वागाम्भृणीसूक्तम्

उद्देश्य

1. वाणी के वैदिक स्वरूप को समझना।
2. ज्ञान एवं वाणी के संबंध का अध्ययन करना।
3. देवी वाक् की महिमा को जानना।

ऋ. मं १० सू १२५ वागाम्भृणी। आत्मा देवता। त्रिष्टुप, २ जगती।

ओ३म् अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥

(अहं रुद्रेभिः वसुभिः चरामि) मैं रुद्रों और वसुओं के साथ विचरण करती हूं। **(अहं आदित्यैः उत विश्वदेवैः)** मैं आदित्य और विश्वेदेवों के साथ रहती हूं। **(अहं मित्रावरुणा उभा बिभर्मि)** मैं मित्र और वरुण को धारण करती हूँ। **(अहं इन्द्राग्नी उभा अश्विना अहम्)** मैं इन्द्र, अग्नि और दोनों अश्विनों को मैं ही धारण करती हूँ।

(१) प्रभु कहते हैं कि **अहम्**= मैं **रुद्रेभिः वसुभिः चरामि**=रुद्रों और वसुओं के साथ गति करता हूँ। **अहम्**= मैं **आदित्यैः**=आदित्यों के साथ **उत**=और **विश्वदेवैः**= सब देवों के साथ गति करता हूँ। जब कोई उपासक मुझे प्राप्त करता है तो इन सब देवों को भी प्राप्त करता है। अथवा जो इन देवों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है वही मुझे प्राप्त करता है। देवों को प्राप्त करने वाला ही तो परमदेव की प्राप्ति का अधिकारी होता है। (२) **अहम्**=मैं **मित्रावरुणा उभा**=मित्र और वरुण इन दोनों को **बिभर्मि**=धारण करता हूँ। **अहम्**=मैं **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि को धारण करता हूँ। **अहम्**=मैं **उभा अश्विना**=दोनों अश्विनी देवों को धारण करता हूँ। **'मित्र और वरुण'**=स्नेह और निर्द्वेषता की देवता हैं। इन्द्र और अग्नि=शक्ति व प्रकाश के प्रतीक हैं। 'अश्विनौ'=प्राणापान हैं। इस प्रकार ११ रुद्र, ८ वसु और १२ आदित्यों के साथ दो मित्रावरुण अथवा इन्द्राग्नी वा अश्विनौ मिलकर ३३ देव प्रभु द्वारा हमारे अन्दर स्थापित होते हैं।

भावार्थ- हम प्रभु की उपासना करते हैं, प्रभु हमारे में तेंतीस देवों के साथ उपस्थित होते हैं। प्रभु की उपासना में सब देवों का उपासन हो जाता है।

ऋषिः- **वागाम्भृणी**॥ देवता- **वागाम्भृणी**॥ छन्दः-**पादनिचृज्जगती**॥ स्वरः-**निषादः**॥

अ॒हं सोम॑मा॒ह॒नसं॑ बिभर्म्य॒हं त्वष्टा॑रमु॒त पू॒षणं॒ भग॑म् ।
अ॒हं द॑धामि॒ द्रवि॑णं ह॒विष्म॑ते सुप्रा॒व्ये॒३ यज॑मानाय सुन्व॒ते ॥२॥

(अहं आहनसं सोमं बिभर्मि) मैं शत्रुहन्ता सोम को धारण करती हूँ। **(अहं त्वष्टारं उत पूषणं भगं)** मैं त्वष्टा पूषा और भग को धारण करती हूँ, **(अहं हविष्मते सुप्राव्ये सुन्वते यज्ञमानाय द्रविणं दधामि)** मैं अन्नादि हविष्य पदार्थ वाले, उत्तम हविओं से देवों को तृप्त करने वाले और सोमरस अभिषन करने वाले यजमान को यज्ञफलरूप धन प्रदान करती हूं।

(१) **अहम्**= मैं **सोमम्**=उस सोम को **बिभर्मि**=धारण करती हूं, जो **आहनसम्**= शरीर के सब रोगों का हनन करने वाला है। **अहम्**=मैं **त्वष्टारम्**=निर्माण की देवता को **उत**=और **पूषणं भगम्**=पोषण के लिए आवश्यक ऐश्वर्य को धारण करता हूँ। अर्थात् मैं उपासक को उस सोम शक्ति से (=वीर्य शक्ति से) युक्त करता हूँ, जो उसके शरीर में रोगों को नहीं आने देती। मैं उस उपासक को निर्माण की वृत्तिवाला बनाता हूँ तथा पोषण के लिए आवश्यक ऐश्वर्य को धारण करता हूँ, जो उसके शरीर में रोगों को नहीं आने देती। मैं उस उपासक को निर्माण की वृत्ति वाला बनाता हूँ तथा पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कराता हूँ। (२) **अहम्**=मैं **हविष्मते**=हविष्मान् के लिए, सदा दानपूर्वक अदन करने वाले के लिए **द्रविणं दधामि**= धन का पोषण करता हूँ। उसे लोकहित के कार्यो के लिए धन की कभी कमी नहीं रहती **सुप्राव्ये**=(सु+प्र+अव्) उत्तमता से उत्कृष्ट रक्षण करने वाले के लिए मैं धन का धारण करता हूँ तथा **सुन्वते**=सोमयज्ञों को करने वाले के लिए मैं धन को देता हूँ। राष्ट्र रक्षा के लिए निर्माणात्मक सब कर्म सब कर्म 'सोमयज्ञ' कहलाते हैं। इन सोम यज्ञों को करने वालों के लिए प्रभु धन की कमी नहीं होने देते।

भावार्थ- प्रभु वीर्य शक्ति को प्राप्त करा के उपासक को नीरोग बनाते हैं। निर्माणात्मक कार्यो में उसे प्रवृत्त करके पोषण के लिए पर्याप्त धन देते हैं। दानपूर्वक अदन करने वाला (हविष्मान्) उत्तम रक्षण में प्रवृत्त (सुप्रावी) यज्ञशील (यजमान) निर्माण के कार्य में लगा हुआ व्यक्ति (सुन्वन्) प्रभु के धन का पात्र होता है।

ऋषिः- **वागाम्भृणी**॥ देवता-**वागाम्भृणी**॥ छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

अ॒हं रा॒ष्ट्री॑ सं॒गम॑नी॒ वसू॑नां चिकि॒तुषी॑ प्रथ॒मा य॒ज्ञिया॑नाम् ।
तां मा॑ दे॒वा व्य॑दधुः पुरु॒त्रा भूरि॑स्थात्रां॒ भूर्या॑वे॒शय॑न्तीम् ॥३॥

(अहम् राष्ट्री वसूनां संगमनी) मैं सब जगत् की स्वामिनी हूँ; धन प्रदान करने वाली हूं। **(यज्ञियानां प्रथमा चिकितुषी)** यज्ञार्ह देवों में मुख्य और ज्ञानवती हूं। **(तां भूरिस्थानात्रां भूरि आवेशन्तीं)** उस मुझको ही बहुत से रूपों में विद्यमान और सर्वत्र अन्तर्गत रहने वाली मुझको **(देवाः पुरुत्रा वि अदधुः)** देव अनेक प्रकार से प्रतिपादन-वर्णन करते हैं।

(१) **अहम्**=मैं ही **राष्ट्री**=सम्पूर्ण जगत् की शासिका ईश्वरी हूँ। **वसूनाम्**=सब वसुओं को, निवास के लिए आवश्यक धनों को **संगमनी**=प्राप्त कराने वाली हूँ। **चिकितुषी** = ज्ञानवाली मैं ही हूँ। अतएव **यज्ञियानां प्रथमा**=उपास्यों में प्रथम मैं ही हूँ। (२) **ताम्**=उस **मा**=मुझको **देवाः**=देववृत्ति के लोग **पुरुत्रा**=पालन व पूरण के दृष्टिकोण से **व्यदधुः**=धारण करते हैं। जो मैं **भूरिस्थात्राम्**=पालक व पोषक रूप में सर्वत्र स्थित हूँ तथा **भूरि-आवेशयन्तीम्**=पालक व पोषक तत्त्वों को सब जीवों में प्रवेश कराने वाला हूँ। (३) प्रभु सारे चराचर ब्रह्माण्ड के शासन करने वाले हैं (राष्ट्री)। सूर्यादि सब वसुओं को प्राप्त कराने वाले प्रभु ही हैं (संगमनी वसूनां) सूर्य में अपनी शक्ति नहीं। यह प्रभु की ही शक्ति सूर्य में काम कर रही है। प्रभु ही इनमें पालक व पोषक रूप में स्थित हैं (भूरिस्थात्राम्)। इसी प्रकार सब प्राणियों को चेतना देने वाले प्रभु ही हैं (चिकितुषी) प्रभु ही इनमें सब पोषक तत्त्वों का प्रदेश कराते हैं (भूरि आवेशयन्तीम्) वस्तुतः जड़ जगत् के द्वारा चेतन जगत् का धारण करने वाले ये प्रभु हैं।

भावार्थ- प्रभु ही सबके शासक हैं, प्रभु ही सबके आधार हैं।

ऋषिः-**वागाम्भृणी**॥ देवता-**वागाम्भृणी**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।

अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥४॥

(यः अन्नं अत्ति यः विपश्यति यः प्राणिति यः ई उक्तम् शृणोति सः मया) जो अन्न भोग करता है, जो देखता है, जो प्राण धारण करता है और जो इस ज्ञान का श्रवण करता है, वह मेरी सहायता से यह सब करता है। और **(मां अमन्तवः ते उपक्षियन्ति)** जो मुझे मानते-जानते नहीं, वे नष्ट हो जाती है। हे **(धुत)** प्राज्ञ मित्र ! **(श्रुधि)** तू सुन। **(ते श्रद्धिवं वदामि)** तुझे मैं श्रद्धेय ज्ञान को कहती हूँ।

(१) **मया**=मेरे से ही **सः**=वह **अन्नं अत्ति**=अन्न को खाता है **यः**=जो विपश्यति=विशिष्टरूप से देखता है, देखते हैं, परन्तु कुछ समझते नहीं, वे अत्यन्त स्थिर-अवस्था में पड़े हुए क्षुद्र जन्तु मेरे से ही भोजन को खाते हैं। इसी प्रकार **यः प्राणिति**=जो श्वासोच्छवास लेते हुए जीवन को बिता रहे हैं, वे भी मेरे से ही अन्न को प्राप्त करते हैं। केवल देखनेवालों से ये कुछ उत्कृष्ट हैं। इन से भी उत्कृष्ट वे हैं **ये**= जो **ईम्**=निश्चय से **अक्तं शृणोति**=कहे हुए सुनते हैं। इस प्रकार श्रवण से ज्ञान की वृद्धिवाले मनुष्य भी मेरे से ही अन्न खाते हैं। (२) **ते अमन्तवः**=वे मनन व विचार से शून्य होने के कारण मुझे न मानने वाले भोग प्रधान वृत्तिवाले व्यक्ति भी **मां उपक्षियन्ति**=मेरे आधार से ही निवास करते हैं। मेरे आधार से जीते हुए भी वे माया से मोहित हुए-हुए मुझे नहीं देखते। (३) परन्तु प्रभु का प्रिय पुत्र तो वही है जो मायामूढ़ न बनकर प्रभु की प्रेरणा को सुनता है। हे **श्रुत**=अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले जीव! **श्रुधि**=सुन। **श्रद्धिवम्**=(श्रद्धिः श्रद्धा तया युक्तं श्रद्धा यत्वेन तभ्यं ईदृशं ब्रह्मात्मकं वस्तु सा.) श्रद्धा से लभ्य आत्मज्ञान को ते **वदामि**=तेरे लिए मैं कहता हूँ। इस प्रभु की वाणी को सुननेवाला श्रद्धावान् पुरुष ही ज्ञान देते हैं।

भावार्थ- देखनेवाले केवल श्वासोच्छवास लेने वाले, सुनने वाले सभी प्रभु से ही अन्न को प्राप्त करते हैं। मनन रहित भोग प्रधान पुरुषों को भी प्रभु ही भोजन देते हैं और सुननेवालों को प्रभु ही ज्ञान देते हैं।

ऋषिः-**वागाम्भृणी**॥ देवता- **वागाम्भृणी**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥स्वरः-**धैवतः**॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥५॥

(अहं स्वयं एव इदं वदामि) मैं स्वयं ही इस ज्ञान का उपदेश करती हूं, जिसको **(देवेभिः उत मानुषेभिः जुष्टं)** देव और मनुष्य श्रद्धापूर्वक मनन करते है; अनुभव करते हैं। **(यं कामये तं तं उग्रं कृणोमि)** मैं जिसको चाहती हूं, उसको श्रेष्ठ बलवान् करती हूं। **(तं ब्रह्माणं, तं ऋषिं, तं सुमेधाम्)** उसको ही स्तोता-ब्रह्मा, उसको ही ऋषि और उसको ही उत्तम बुद्धिमान करती हूं।

(१) गत मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि श्रद्धा-लक्ष्य ज्ञान मैं ही प्राप्त कराता हूँ। उसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **अहं एव**=मैं ही **स्वयम्**= अपने आप **इदम्**=इस ज्ञान को **वदामि**=उच्चारणि करता हूँ, जो ज्ञान **देवेभिः जुष्टम्**=देवताओं से प्रीतिपूर्वक सेवित होता है, **उत**=और **मानुषेभिः**=विचारशील पुरुषों से वह ज्ञान सेवित होता है। प्रभु से दिये जाते हुए इस अन्तर्ज्ञान को देव और मनुष्य ही सुनते हैं। इन्हीं का इस ज्ञान की ओर झुकाव होता है। सामान्य मनुष्य इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठित नहीं होता। (२) इस प्रकार मनुष्यों के सामान्यतया दो विभाग हो जाते हैं। एक वे जो देववृत्ति के बनकर ज्ञान की ओर झुकाववाले होते हैं। और दूसरे वे जो भोग प्रधान जीवनवाले बनकर ईश्वर से विमुख रहते हैं। स्पष्ट है कि देव प्रभु के प्रिय होते हैं। **यम्**=जिनको **कामये**=मैं चाहता हूँ, जो मेरे प्रिय बनते हैं **तं तम्**=उन-उनको मैं **उग्रं कृणोमि**=तेजस्वी बनाता हूँ, **तं ब्रह्माणम्**=उनको मैं ज्ञानी बनाता **तं ऋषिम्**=उनको द्रष्टा व गतिशील बनाता हूँ तं **सुमेधाम्**=उनको उत्तम मेधावाला बनाता हूँ।

भावार्थ-प्रभु प्रिय व्यक्ति तेजस्वी ज्ञानी व ऋषि तुल्य और सुमेधा बनता है। आसुरवृत्तिवाले लोग भोग प्रधान जीवन को बिताने से निस्तेज व ज्ञानविमुख गलत दृष्टिकोणवाले दुर्बुद्धि हो जाते हैं।

ऋषिः-**वागाम्भृणी**॥ देवता- **वागाम्भृणी**॥ छन्दः-**निचृत्त्रष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥६॥

(ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवै रुद्राय धनुः अहं आ तनोमि) ब्रह्मद्वेष्टा हिंसक शत्रु का वध करने के लिये, दुष्टों को रुलाने वाले रुद्र के धनुष को मैं सज्ज करती हूं, सर्वत्र तानती हूं। **(अहं जनाय समदं कृणोमि)** में मनुष्यों के कल्याण के लिये युद्ध करती हूं। **(अहं द्यावापृथिवी आ विवेश)** मैं द्यावापृथिवी व्याप्त करती हूं।

(१) राष्ट्र में प्रजाओं के कष्टों का निवारण करनेवाला राजा रुद्र है (उत् कष्टं द्रावयति)। यह अपने धनुष् से प्रजा पीड़कों का संहार करता है। इसके लिए इन धनुष् आदि साधनों को प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं। **अहम्**=मैं ही **रुद्राय**=इस प्रजा कष्ट विद्रावक राजा के लिए **धनुः**=धनुष को **आतनोमि**=ज्या इत्यादि से युक्त करता हूँ। जिससे वह राजा **ब्रह्मद्विषे**=ज्ञान के साथ प्रीति न रखने वाले **शरवे**=हिंसक पुरुष के **हन्तवा उ**=निश्चय से हनन के लिए समर्थ हो सके। इस प्रकार राजा राष्ट्र की उन्नति में विघ्नभूत लोगों को उचित दण्ड देने का सामर्थ्य उस प्रभु से ही प्राप्त करता है। (२) लोगों का जो अपने अन्तःशत्रु काम-क्रोधादि से युद्ध चलता है उस युद्ध में भी प्रभु ही विजय प्राप्त कराते हैं। **अहम्**=मैं ही **जनाय**=लोगों के लिए **समदम्**=(सतत्=संग्राम) संग्राम को **कृणोमि**=करता हूँ। प्रभु ही इन कामादि शत्रुओं का संहार करते हैं। **अहम्**=मैं ही द्यावापृथिवी **आविवेश**=सम्पूर्ण द्युलोक व पृथिवी लोक में व्याप्त हो रहा हूँ। सर्वत्र मेरी शक्ति ही काम कर रही है।

भावार्थ-राजा को राष्ट्रपालन की शक्ति प्रभु से ही प्राप्त होती है। एक मनुष्य को काम-क्रोधादि को जीतने की शक्ति भी प्रभु ही देते हैं।

ऋषिः-**वागाम्भृणी॥** देवता- **वागाम्भृणी॥** छन्दः-**विराट्त्रिष्टुप्॥** स्वरः-**धैवतः॥**

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥७॥

(अहं अस्य मूर्धनि पितरं सुवे) मैं इस जगत के शिरस्थान में स्थित द्युलोक को उत्पन्न करती हूं। **(मम योनिः समुद्रे अप्सु अन्तः)** मेरा उत्पत्तिस्थान समुद्र के जल में है- परमेश्वर की बुद्धि में है। **(ततः विश्वा भुवना अनु वि तिष्ठे)** उसी स्थान से सारे संसार व्याप्त करती हूं और **(उत अमूं द्यां वर्ष्मणा उप स्पृशामि)** मैं इस महान् अंतरिक्ष को अपनी उन्नत देह से स्पर्श करती हूं। कारणभूतं मैं कल्याणमय होकर सब सगत् को व्यापती हूं।

(१) **अहम्**= मैं **अस्य**=इस जगत् के **मूर्धन्**=मूर्धभूत (मस्तकरूप) आकाश में, द्युलोक में **पितरम्**=इस पालक सूर्य को **सुवे**=उत्पन्न करता हूँ। द्युलोकस्थ सूर्य सारी प्रजाओं का पालक है, यह सबका पिता है। 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'=सब प्रजाओं का प्राण यही है। प्रभु लोकरक्षण के लिए इसे द्युलोक में स्थापित करते हैं। (२) **मम योनिः**=मेरा गृह **अप्सु अन्तः**= इन जलों के अन्दर है, **समुद्रे**=समुद्र में हैं। जलों में व समुद्रों में भी मेरा ही वास है। मेरे कारण ही उनमें रस है। (३) **ततः**=इस प्रकार सूर्य व जलों का निर्माण करके **विश्वा भुवना अनुवितिष्ठे**=सब भुवनों में मैं स्थित हो रहा हूँ। **वर्ष्मणा**=मैं अपने शरीर प्रमाण से **अमूं द्याम्**=उस सुदूरस्थ द्युलोक को **उपस्पृशामि**=छूता हूँ। वस्तुतः यह द्युलोक मेरे विराट् शरीर का मूर्धा ही तो है।

भावार्थ- प्रभु सूर्य को द्युलोक में स्थापित करते हैं, जलों का निर्माण करते हैं। सब लोकों में व्याप्त हैं।

ऋषिः-**वागाम्भृणी**॥ देवता- **वागाम्भृणी**॥ छन्दः- **विराट्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

अहमेव वातं इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥८॥

(अहं एव विश्वा भुनानि आरभमाणा) मैं ही सब भुवनों का निर्माण करती हुई **(वातः इव प्रवामि)** वायु के समान सर्वत्र व्यापती हूं-बहती हूं। **(दिवा परः एना पृथिवी परः)** स्वर्ग से भी और इस पृथिवी से भी श्रेष्ठ **(महिना एतावती से बभूव)** मैं अपने महान् सामर्थ्य से प्रकट होती हूं।
(१) **अहं एव**=मैं ही **विश्वा भुवनानि आरभमाणा**=सब भुवनों को बनाती हुई **वातः** इव=वायु की तरह **प्रवामि**=गतिवाली होती हूँ। जिस प्रकार वायु निरन्तर चल रही है, उसी प्रकार प्रभु की क्रिया भी स्वाभाविक है। वे अपनी इस क्रिया से इस ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। इस निर्माण कार्य में उन्हें किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं। (२) वे प्रभु **दिवा परः**= इस द्युलोक से परे भी हैं, और **एना पृथिव्याः परः**=इस पृथ्वी से परे भी हैं। ये द्युलोक व पृथ्वीलोक प्रभु में समा नहीं लेते। हां, **महिना**= अपनी महिमा से वह प्रभु शक्ति **एतावती**=इतनी संबभूव=है। अर्थात् प्रभु की महिमा इस ब्रह्माण्ड के अन्दर ही दिखती है। ब्रह्माण्ड से परे तो प्रभु का अचिन्तय निर्विकार निराकार रूप ही है। इस ब्रह्माण्ड में ही वे साकार दिखते हैं। 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'। 'एतावानस्य महिमा', यह संसार ही प्रभु की महिमा है। परन्तु वे प्रभु इस संसार में ही समाप्त नहीं हो जाते 'अतो ज्यायाँश्च पूरुषः'।

भावार्थ- प्रभु अपनी स्वाभाविकी क्रिया से इस ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। यह ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा है। प्रभु इसमे सीमित नहीं हो जाते, वे इससे परे भी हैं।

सम्पूर्ण सूक्त प्रभु की महिमा का गायन कर रहा है। यह गायन करने वाला अपने प्रभु से खेले जानेवाले इस संसार नाटक का एक पात्र जानता है 'शैलूषि'। इस प्रकार अनासक्ति व प्रभु-स्मरण के कारण यह पाप का (कुल्मल) उखाड़ने वाला (बर्हिषः) 'कुल्मष-बहर्षि' कहलाता है। वह सुन्दर दिव्यगुणों वाला 'वामदेव' बनता है, पापों व कुटिलताओं को छोड़ने के कारण 'अहोमुक्' है।

स्मरणीय बिंदु-

1. वाणी ज्ञान का माध्यम है।
2. मधुर वाणी सामाजिक समरसता बढ़ाती है।
3. वैदिक संस्कृति में वाक् को देवी माना गया है।
4. सही वाणी व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाती है।

शब्दावली-

1. वाक् - वाणी
2. अम्भृणी - ऋषिका

3. ज्ञान - बोध

4. समरसता - सद्भाव

5. शक्ति - ऊर्जा

5 अंक के प्रश्न

1. वागाम्भृणीसूक्त का मुख्य संदेश लिखिए।

2. वाणी का महत्व स्पष्ट कीजिए।

3. देवी वाक् का स्वरूप बताइए।

4. वाणी एवं ज्ञान का संबंध स्पष्ट कीजिए।

5. वैदिक संस्कृति में वाणी का महत्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न

1. वागाम्भृणीसूक्त का दार्शनिक विवेचन कीजिए।

2. वाणी एवं ज्ञान के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

3. वैदिक साहित्य में वाणी की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।

4. वागाम्भृणीसूक्त में देवी वाक् की महिमा का वर्णन कीजिए।

5. आधुनिक जीवन में मधुर वाणी की उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. वागाम्भृणीसूक्त किससे संबंधित है?

(क) वाणी

(ख) युद्ध

(ग) जल

(घ) अग्नि

उत्तर: (क)

2. वाक् किसकी देवी मानी जाती हैं?

(क) शक्ति एवं ज्ञान

(ख) युद्ध

(ग) व्यापार

(घ) निद्रा

उत्तरः (क)

3. वाणी का सही उपयोग किसका आधार है?

(क) कलह

(ख) ज्ञान

(ग) हिंसा

(घ) भ्रम

उत्तरः (ख)

4. वाणी मनुष्य को क्या प्रदान करती है?

(क) अज्ञान

(ख) अभिव्यक्ति

(ग) आलस्य

(घ) क्रोध

उत्तरः (ख)

5. वैदिक संस्कृति में वाणी को क्या माना गया है?

(क) देवी

(ख) शत्रु

(ग) साधन

(घ) बंधन

उत्तरः (क)

इकाई-3.2 नासदीयसूक्तम्

उद्देश्य

1. सृष्टि के रहस्य को समझना।
2. वैदिक दर्शन में ब्रह्मांड की उत्पत्ति का अध्ययन करना।
3. दार्शनिक चिंतन का विकास करना।

ऋषिः- प्रजापतिः परमेष्ठी। देवता-भाववृत्तम्॥ छन्दः १-३ निचृत्त्रिष्टुप्; ४-६ त्रिष्टुप्; ७ पादनिचृत्त्रिष्टुप्॥ स्वरः- धैवतः॥
अथ सप्तदशो वर्गः ॥१७॥ ऋ. मं १० सू १२९

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥

प्रलयावस्था में **(न असत् आसीत् न सत् आसीत्)** न सत् था और न असत् था, **(तदानीं)** उस समय **(न रजः आसीत्)** न लोक था और **(व्योमा परः यत् न)** आकाश से परे जो कुछ है वह भी नहीं था। उस समय **(आवरीयः किं)** सबको ढकनेवाला क्या था? **(कुह कस्य शर्मन्)** कहां किसका आश्रय था? **(गहनं गभीरं अम्भः किं आसीत्)** अगाध औ गम्भीर जल क्या था?

प्रलयावस्था में न पंचभूतादि सत पदार्थ ही थे, न कुछ अभावरूप असत् ही था, न आकाश था, न लोक ही थे। फिर किसने किसको ढका? कैसे ढका? किससे ढका? यह सब अनिश्चित ही था।

तदानीम्=इस जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व **न असत् आसीत्**=न असत् था **नो सत् आसीत्**=और न सत् था। **न रजः आसीत्**=उस समय नाना लोक भी न थे। **नो व्योम**=न आकाश था। **यत् परः**=जो उससे भी परे है वह भी न था। उस समय **किम् आ अवरीवः**=क्या पदार्थ सबको चारों ओर से घेर सकता था? **कुह**=यह सब फिर कहाँ था और **कस्य शर्मन्**=किसके आश्रय में था। तो फिर **किम्**=क्या **गहनं गभीरं अम्भः आसीत्**=गहन और गम्भीर का समुद्री जल तो कहाँ ही था?

भावार्थ-सृष्टि उत्पत्ति से क्या था? इस प्रश्न को विविध प्रकार से पूछा है उस समय सत नहीं था, असत् भी नहीं था।

ऋषिः-**प्रजापतिः परमेष्ठी**॥ देवता-**भाववृत्तम्**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥

(तर्हि) उस समय **(न मृत्युः न अमृतं आसीत्)** न मृत्यु थी न अमृत था, **(रात्र्याः अह्नः प्रकेतः न आसीत्)** सूर्यचन्द्र के अभाव से रात्री और दिन का ज्ञान भी नहीं था। उस **(अ-वातं)** वायु से रहित दशा में **(एकं तत्)** एक अकेला वह ही ब्रह्म **(स्वधया)** अपनी शक्ति के साथ **(आ नीत्)** प्राण ले रहा था। **(तस्मात् परः अन्यत् किंचन न आस)** उससे पर या भिन्न और कोई वस्तु नहीं थी।

मृत्यु, अमृत भी कुछ नहीं था, और सूर्य चन्द्रमा के न होने से दिन रात का भेद भी मालूम नहीं होता था। पर एक ब्रह्म ही ऐसी दशा में विद्यमान था।

मृत्युः न आसीत्=उस समय मृत्यु न थी, **तर्हि न अमृतम्**=और उस समय न अमृतत्व था। अर्थात् जीव की सत्ता, जीवन का लोप दोनों नहीं थे। **नः रात्र्याः प्रकेतः आसीत्**=न रात्रि का ज्ञान था और **न अह्न प्रकेतः आसीत्**=न दिन का ज्ञान था। उस तत्त्व का स्वरूप **आनीत्**=प्राणशक्ति रूप था, परन्तु **अवातम्**=स्थूल वायु न थी। **तत् एकम्**=वह एक **स्वधया**=अपने ही बल से समस्त जगत् को धारण करनेवाला अपनी शक्ति से युक्त था। **तस्मात् अन्यत्**=उससे दूसरा पदार्थ **किंचन**=कुछ भी **परः न आस**=उससे अधिक सूक्ष्म न था।

भावार्थ-उस समय मृत्यु-जीवन नहीं था, दिन-रात्रि नहीं थे। प्राण शक्ति थी।

ऋषिः-**प्रजापतिः परमेष्ठी**॥ देवता-**भाववृत्तम्**॥ छन्दः-**निचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑ऽप्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम् ।

तु॒च्छ्येना॒भ्वपि॑हितं॒ यदासी॒त्तप॑स॒स्तन्म॑हि॒नाजा॑य॒तैक॑म् ॥३॥

(अग्ने) सृष्टि से पूर्व प्रलय दशा में **(तमः आसीत्)** अन्धकार था, **(तमसा गुळ्हं)** सब अन्धकार से आच्छादित था, **(अप्रकेतं)** अज्ञात दशा में और **(इदं आः सर्व सलिलं)** यह सब कुछ जल ही जल था। और **(यत् आसीत्)** जो कुछ था, वह **(आभु तुच्छयेन अपिहितं)** चारों ओर होने वाले सदसद्विलक्षण भाव से आच्छादित था और **(तत् एकं)** यह एक ब्रह्म **(तपसः महिना अजायत)** तप के प्रभाव से हुआ।

प्रलयावस्था में चारों ओर अन्धकार फैला हुआ था, अतः कुछ भी ज्ञान नहीं होता था। और जो कुछ था वह भी बड़ा अजीब था।

अग्रे=सृष्टि से पूर्व **तमः आसीत्**='तमस्' था। यह सब **तमसा गूढम्**=तमस से व्याप्त था। वह **अप्र-केतम्**=कुछ भी विशेष ज्ञानयोग्य न था। वह **सलिलम्**=एक व्यापक गतिमत् तत्त्व था, जो **सर्वम् इदम् आ**=इस समस्त को व्यापे हुए था। उस समय **यत्**=जो था भी वह **तुच्छ्येन**=सूक्ष्म रूप से **आभू-अपिहितम्**=चारों ओर से ढका हुआ था। **तत्**=वह **तपसः महिना**=तपस् के महान् सामर्थ्य से **एकम्**=एक **अजायत**=प्रकट हुआ।

भावार्थ-उस समय गहन तम=मूल प्रकृति से सब आच्छादित था।

ऋषिः-**प्रजापतिः** परमेष्ठी।। देवता-**भाववृत्तम्**।। छन्दः-**त्रिष्टुप्**।। स्वरः-**धैवतः**।।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

(तत् अग्ने) उससे सबसे पहले परमात्मा के मन में **(कामः सं अवर्तत)** सृष्टि करने की इच्छा पैदा हुई, **(अधि)** उसके बाद **(यत् मनसः)** जिस मन से **(प्रथमं)** सबसे प्रथम **(रितः आसीत्)** बीज या कारण उत्पन्न हुआ। फिर **(कवयः)** बुद्धिमानों ने **(मनीषा हृदि प्रति इष्य)** बुद्धिद्वारा हृदय में विचार कर **(बन्धुं सतः)** बंधन के कारण भूत विद्यमान वस्तु को **(असति निर् अविन्दन्)** अविद्यमान में पाया अर्थात् सत् जगत् का कारण असत् ब्रह्म पाया।

सबसे पहले परमात्मा के अन्दर सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई। उससे सब सृष्टि का उपादान कारण भूत बीच पैदा हुआ। यह बीजरूपी सत् पदार्थ ब्रह्मरूपी असत् से पैदा हुआ।

अग्रे=सृष्टि के पूर्व **तत्**=वह **मनसः अधि**=मन से उत्पन्न होनेवाली **कामः**=इच्छा के समान एक कामना ही **सम् अवर्तत**=सर्वत्र विद्यमान थी, **यत् प्रथमम् रेतः आसीत्**=जो सबसे प्रथम इस जगत् का प्रारम्भिक बीजवत् थी। **कवयः**=क्रान्तदर्शी पुरुष **हृदि प्रति इष्य**=हृदय में पुनः-पुनः विचार कर **असति**=अप्रकट तत्त्व में ही **सतः बन्धुम्**=सत् रूप प्रकट तत्त्व को बाँधने वाला बल **निर् अविन्दन्**=प्राप्त करते हैं।

भावार्थ-सृष्टि से पूर्व मनोकामना ही थी।

ऋषिः-**प्रजापतिः परमेष्ठी**।। देवता-**भाववृत्तम्**।। छन्दः-**त्रिष्टुप्**।। स्वरः-**धैवतः**।।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥५॥

इस प्रकार **(रेतोधाः आसन्)** बीज को धारण करने वाले पुरुष (भोक्ता) हुए और **(महिमानः आसन्)** महिमाएं (भोग्य) उत्पन्न हुई हैं। फिर **(एषां रश्मिः विततः)** इन भोक्ता और भोग्यों को किरणें फैलीं और **(तिरश्चीनः अधः स्वित् उपरि स्वित् आसीत्)** तिरछीं, नीचे, ऊपर फैली, इनमें **(स्वधा अवस्तान्)** भोग्य शक्ति निकृष्ट थी और **(प्रयतिः परस्तात्)** भोक्ता शक्ति उत्कृष्ट थी।

इस ब्रह्म की बीज शक्ति से भोग्य और भोक्ता का एक जोड़ा पैदा हुआ। और इन्हीं भोग्य और भावना से ही सारी सृष्टि हुई। इनमें भोग्य निकृष्ट होने के कारण वह भोक्ता के अधीन हुई।

एषाम्=इन पूर्वोक्त तत्त्वों की रश्मि **रश्मिः**=सूर्यरश्मि के समान **तिरः चित् विततः**=बहुत दूर-दूर तक व्याप्त हुई, **अधः स्वित् आसीत्**=नीचे भी और **उपरिस्वित् आसीत्**=ऊपर भी **रेतः-धाः आसन्**='रेतस' को धारण करनेवाले तत्त्व भी थे। **महिमानः आसन्**=वे महान् सामर्थ्यवाले थे। **अवस्तात् स्वधा**='स्वधा' अर्थात् प्रकृति नीची बनाई गई है और **परस्तात् प्रयतिः**=उससे ऊँची शक्ति प्रयत्नवाला आत्मा है।

भावार्थ-एक आत्मतत्त्व विद्यमान था।

ऋषिः-**प्रजापतिः परमेष्ठी**॥ देवता-**भाववृत्तम्**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६॥

(कः अद्धा वेद) कौन मनुष्य जानता है, और **(इह कः प्रवोचत्)** यहाँ कौन कहेगा, कि **(इयं विसृष्टिः कुतः आ जाता)** यह सृष्टि कहां से और किस कारण उत्पन्न हुई। क्योंकि **(देवाः)** विद्वान् या दूरदर्शी भी **(अस्य विसर्जनेन अर्वाक्)** इस सृष्टि के उत्पन्न होने के बाद ही उत्पन्न हुए हैं, **(अथ)** इसलिए यह सृष्टि **(यतः आ वभूव)** जिससे उत्पन्न हुई उसे **(कः वेद)** कौन जानता है।

इस सारी सृष्टि की उत्पत्ति कैसे और कहां से हुई, यह कोई नहीं जानता, क्योंकि उस रहस्य को जानने वाले विद्वानों की उत्पत्ति भी बाद में हुई।

अद्धा कः वेद=ठीक-ठीक कौन जान सकता है? **इह कः प्रवोचत्**=इस विषय में कौन उत्तम रीति से प्रवचन या उपदेश कर सकता है? **कृतः आ जाता**=कि यह सृष्टि कहाँ से प्रकट हुई? **इयं विसृष्टिः**=यह विविध प्रकार का सर्ग **कुतः**=किस मूल कारण से और क्यों हुआ? **देवः**=विद्वान् लोग भी **अस्य वि-सर्जनेन**=इस जगत् को विविध प्रकार से रचने वाले मूलकारण के **अर्वाक्**=पश्चात् ही हुए हैं। **अथ कः वेद**=तो फिर कौन उस तत्त्व को जानता है। **यतः**=जिससे यह **आ बभूव**=चारों ओर प्रकट हुआ?

भावार्थ-जब कोई नहीं था तो उस समय की वास्तविक स्थिति को कौन बता सकता है।

ऋषिः-**प्रजापतिः परमेष्ठी**॥ देवता-**भाववृत्तम्**॥ छन्दः-**पादनिचृत्त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

(इयं विसृष्टिः यतः आ बभूव) यह सृष्टि जिससे पैदा हुई वह इसे **(यदि दधे यदि वा न)** धारण करता भी है या नहीं, इसको हे **(अंग)** विद्वान् **(सः वेद)** वही जानता है **(यः परमे व्योमन् अस्य अध्यक्षः)** जो परम आकाश में रहता हुआ इस सृष्टि का अध्यक्ष है **(यदि वा)** अथवा सम्भवतः वह भी **(न वेद)** नहीं जानता हो।

इस सृष्टि को पैदा करने वाला इसका अध्यक्ष परब्रह्म इस सृष्टि का धारक है। और वही इस सृष्टि को पूर्णतया जानता है।

इयं विसृष्टिः=सह विविध प्रकार की सृष्टि **यतः आ बभूव**=जिस मूल तत्त्व से प्रकट हुई हैं, **यदि वा दधे**=जो इस जगत् को धारण कर रहा है, या यदि कोई **यदि वा न**=इसे नहीं भी धारण कर रहा। **यः अस्य अध्यक्षः**=जो इसका अध्यक्ष **परमे व्योमन्**=परम पद में विद्यमान है, **सः अङ्ग वेद**=हे विद्वन्! वह सब तत्त्व जानता है। **यदि वा न वेद**=चाहे और कोई भले ही न जाने।

भावार्थ-जो इस सृष्टि का संचालक है जो धारण कर रहा है वही सब तत्त्व को जानता है।

स्मरणीय बिंदु-

1. सृष्टि का रहस्य मानव चिंतन का विषय है।
2. वैदिक दर्शन प्रश्न पूछने की स्वतंत्रता देता है।
3. ब्रह्मांड की उत्पत्ति रहस्यमय मानी गई है।
4. नासदीयसूक्त दार्शनिक जिज्ञासा को बढ़ावा देता है।

शब्दावली-

1. नासदीय - अस्तित्व एवं अनस्तित्व
2. ब्रह्मांड - विश्व
3. उत्पत्ति - जन्म
4. दर्शन - तत्त्वचिंतन
5. रहस्य - गूढ़ तत्व

5 अंक के प्रश्न-

1. नासदीयसूक्त का मुख्य विषय क्या है?
2. सृष्टि के रहस्य पर वैदिक दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए।
3. नासदीयसूक्त का दार्शनिक महत्व बताइए।
4. ब्रह्मांड की उत्पत्ति के विषय में सूक्त क्या कहता है?
5. नासदीयसूक्त में ईश्वर की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. नासदीयसूक्त का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. सृष्टि उत्पत्ति के संबंध में वैदिक चिंतन स्पष्ट कीजिए।
3. नासदीयसूक्त की आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से तुलना कीजिए।
4. अस्तित्व एवं अनस्तित्व की अवधारणा का विश्लेषण कीजिए।
5. वैदिक दर्शन में ब्रह्मांड संबंधी विचारों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. नासदीयसूक्त किस विषय से संबंधित है?

(क) युद्ध

(ख) सृष्टि रहस्य

(ग) कृषि

(घ) संगीत

उत्तरः (ख)

2. नासदीयसूक्त में किसका वर्णन है?

(क) ब्रह्मांड की उत्पत्ति

(ख) राज्य व्यवस्था

(ग) व्यापार

(घ) युद्ध नीति

उत्तरः (क)

3. नासदीयसूक्त किस वेद में मिलता है?

(क) ऋग्वेद

(ख) सामवेद

(ग) यजुर्वेद

(घ) अथर्ववेद

उत्तरः (क)

4. नासदीय शब्द का संबंध किससे है?

(क) अस्तित्व एवं अनस्तित्व

(ख) युद्ध

(ग) प्रकृति

(घ) संगीत

उत्तरः (क)

5. नासदीयसूक्त किस प्रकार का चिंतन प्रस्तुत करता है?

(क) वैज्ञानिक एवं दार्शनिक

(ख) व्यापारिक

(ग) राजनीतिक

(घ) सामाजिक

उत्तरः (क)

इकाई-3.3 श्रद्धासूक्तम्।

उद्देश्य

1. श्रद्धा के महत्व को समझना।
2. आध्यात्मिक जीवन में श्रद्धा की भूमिका का अध्ययन करना।
3. वैदिक संस्कृति में आस्था एवं विश्वास का महत्व जानना।

ऋषिः- श्रद्धाः कामायनी॥ देवता-श्रद्धा ॥ छन्दः- १, ४, ५ अनुष्टुप्; २ विराडनुष्टुप्; ३ निचृदनुष्टुप्॥ स्वरः- गान्धारः॥

अथ नवमो वर्गः ॥९॥ ऋ. मं १० सू १५१

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥१॥

(श्रद्धया अग्निः समिध्यते) श्रद्धा से ही गार्हपत्यादि अग्नि प्रज्वलित किया जाता है। **(श्रद्धया इविः हूयते)** श्रद्धा से ही यज्ञ में हविष्यान्न की आहुति की जाती है। **(भगस्य मूर्घनि श्रद्धां वचसा आ वेदयामसि)** सेव्य धन में सर्वोपरि स्थित श्रद्धा की हम स्तुति करते हैं।

(१) **श्रद्धया**=श्रद्धा से ही **अग्निः समिध्यते**=अग्निकुण्ड में अग्नि समिद्ध की जाती है और **श्रद्धया**=श्रद्धा से ही **हविः हूयते**=हव्य पदार्थों की उसमें आहुति दी जाती है। अग्निहोत्र का लाभ एकदम आँखों से प्रत्यक्ष नहीं दिख पड़ता। देखने में तो उतना ही व अन्य पदार्थ व्यर्थ में नष्ट होता प्रतीत होता है। 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यकग् आदित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' अथवा 'अग्नेर्होत्रेण प्रणुदा सपत्लान्' 'अग्निहोत्रं स्वयं वर्षम्' आदि शास्त्रीय वाक्यों पर तो श्रद्धा ही करनी होती है। एवं अग्निहोत्र श्रद्धा के होने पर ही होता है। (२) हम वचसा=वेद के वचनों से ही **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को **भगस्य**=ऐश्वर्य के **मूर्धनि**=शिखर पर **वेदयामसि**=जानते हैं। शास्त्र कहता है कि श्रद्धा मनुष्य को ऐश्वर्य के शिखर पर पहुँचानेवाली है। श्रद्धा मनुष्य को उन्नत करती है और ऊँचा उठता हुआ मनुष्य शिखर पर पहुँचता है।

भावार्थ-अग्निहोत्रादि कार्य श्रद्धा के होने पर ही होते हैं।

ऋषिः-**श्रद्धा कामायनी**॥ देवता-**श्रद्धा**॥ छन्दः-**विराडनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥२॥

हे **(श्रद्धे)** श्रद्धा! **(ददतः प्रियं)** दाता को अभीष्ट फल दे। हे **(श्रद्धे)** श्रद्धा! **(दिदासतः प्रियं)** दान देने की जो इच्छा करता है, उसका भी प्रिय कर! **(मे भोजेषु यज्वसु इदं उदितं प्रियं कृधि)**

मेरे भोगार्थियों और याज्ञिकों को मेरे इस वचन के अनुसार प्रार्थित फल प्रदान कर।

(१) हे **श्रद्धे**=दृढ़ आस्था के रूप में हृदय में निवास करने वाली श्रद्धे! **ददतः**=देनेवाले का **प्रियम्**=प्रिय होता है। **श्रद्धे**=हे श्रद्धे! **दिदासतः**=दान की कामना वाले का भी **प्रियम्**=प्रिय होता है। वस्तुतः दान श्रद्धापूर्वक ही दिया जाता है। देखने में तो उतना रुपया नष्ट होने लगता है। पर शास्त्र यही कहते हैं कि 'यदाशीर्दा दम्पती वाममप्नुतः'=दिल खोलकर देनेवाले पति-पत्नी सुन्दर सन्तान को प्राप्त करते हैं। 'दक्षिणां दुहते सप्त मातरम्'=दान से सप्तगुणित धन को प्राप्त करते हैं। अर्थात् दान से 'पुत्रैषणा' 'वित्तैषणा' व 'लोकैषणा' सभी इच्छाएँ पूरी होती हैं। इन वाक्यों में श्रद्धा के होने पर ही दान दिया जाता है। (२) **भोजेषु**=अतिथियज्ञ में अतिथियों को भोजन करानेवाले व्यक्तियों में तथा **यज्वसु**=यज्ञशील पुरुषों में **मे**=मेरे **इदं उदितम्**=इस कथन को **प्रियं कृधि**=प्रिय करिये। 'दान देनेवाले का कल्याण होता है' यह वाक्य उन्हें प्रिय हो। इस वाक्य में श्रद्धा रखते हुए वे भोज व यज्वा बनें, अतिथियज्ञ व देवयज्ञ आदि को करने वाले बनें।

भावार्थ-श्रद्धा ही मनुष्य को दानशील बनाती है।

ऋषिः-**श्रद्धा कामायनी**॥ देवता-**श्रद्धा**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

यथा॑ दे॒वा असु॑रेषु श्र॒द्धामु॒ग्रेषु॑ चक्रि॒रे ।
ए॒वं भो॒जेषु॒ यज्व॑स्व॒स्माक॑मुदि॒तं कृ॑धि ॥३॥

(यथा देवाः उग्रेषु असुरेषु श्रद्धां चक्रिरे) जिस प्रकार इन्द्रादि देवों ने बलशाली असुरों के लिये इन असुरों को नष्ट करना ही चाहिये यह- निश्चय किया, **(एवं भोजेषु यज्वसु अस्माकं उदितं कृधि)** उसी तरह मेरे भोगार्थि और यज्ञिक सम्बन्धियों के विषय में उन्हें प्रार्थित फल दे।

(१) **यथा**=जैसे **देवाः**=देव **उग्रेषु**=अत्यन्त प्रबल **असुरेषु**=असुरों के विषय में, 'इन असुरों को हम अवश्य पराजित कर पायेंगे' इस प्रकार **श्रद्धां चक्रिरे**=श्रद्धा को करते हैं। अर्थात् इस पूर्ण विश्वास के साथ चलते हैं कि हम असुरों को पराजित करनेवाले होंगे। यह पूर्ण विश्वास ही उन्हें असुरों को पराभूत करने में समर्थ करता है। (२) **एवम्**=इस प्रकार **भोजेषु**=अतिथि यज्ञ में अतिथियों को भोजन करानेवालों में, **यज्वसु**=यज्ञशील पुरुषों में **अस्माकं उदिते**=हमारे इस श्रद्धा के महत्त्व प्रतिपादक कथन को **कृधि**=श्रद्धेय करिये। अर्थात् ये भोज व यज्वा पुरुष श्रद्धा के महत्त्व को समझते हुए भोज व यज्वा बने ही रहें। इन यज्ञों से ये पराङ्मुख न हो जाएँ।

भावार्थ-हमें श्रद्धा ही शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ करेंगी।

ऋषिः-**श्रद्धा कामायनी**॥ देवता-**श्रद्धा**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

श्र॒द्धां दे॒वा यज॑माना वा॒युगो॑पा उपा॑सते ।
श्र॒द्धां हृ॑द॒य्य१याकू॑त्या श्र॒द्धया॑ विन्दते॒ वसु॑ ॥४॥

(देवाः यजमानाः वायुगोपाः श्रद्धां उपासते) बलवान् वायु की रक्षा पाकर देव और मनुष्य श्रद्धा की उपासना करते हैं। **(हृदय्या आकूत्या श्रद्धाम्)** वे अन्तःकरण पूर्वक संकल्प से ही श्रद्धा की उपासना करते हैं। **(श्रद्धया वसु विन्दते)** श्रद्धा से धन प्राप्त होता है।

(१) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **श्रद्धां उपासते**=श्रद्धा का उपासन करते हैं। वस्तुतः श्रद्धा के कारण ही वे देव बन पाते हैं। **यज्ञमानाः**=यज्ञशील पुरुष श्रद्धा की उपासना करते हैं। श्रद्धा के कारण ही वस्तुतः वे यज्ञशील बनते हैं। **वायुगोपाः**=वायु का रक्षण करनेवाले, अर्थात् प्राणायाम के अभ्यासी प्राणसाधक योगी पुरुष भी श्रद्धा की उपासना करते हैं। यह योग तो दीर्घकाल तक निरन्तर आदर से सेवित होकर ही दृढ़ भूमि होता है। एक दिन में योग का फल नहीं दिखने लगता। श्रद्धावाला ही अनिर्विष्ण भाव से साधना में लगा रहता है। (२) **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को **हृदय्यया आकूत्या**=हृदय के दृढ़ संकल्प से मनुष्य अपनाता है। ढिल-मिल पुरुष कभी श्रद्धावाला नहीं हो पाता। **श्रद्धया**=श्रद्धा से ही **वसु**=सब वसुओं को, धनों को **विन्दते**=पाता है। श्रद्धा ही सब वसुओं की जननी है।

भावार्थ-श्रद्धा से ही हम देव यज्ञशील व योगाभ्यासी बन पाते हैं। श्रद्धा हमें सब वसुओं को प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः-**श्रद्धा कामायनी**॥ देवता-**श्रद्धा**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

श्र॒द्धां प्रा॒तर्ह॑वामहे श्र॒द्धां म॒ध्यंदि॑नं॒ परि॑।
श्र॒द्धां सूर्य॑स्य नि॒म्रुचि॑ श्रद्धे॒ श्रद्धा॑पये॒ह नः॑ ॥५॥

(श्रद्धां प्रातः हवामहे) हम प्रातःकाल में श्रद्धा की प्रार्थना करते हैं। **(मध्यंदिनं परि श्रद्धाम्)** मध्याह्न के समय में श्रद्धा का आवाहान करते हैं। **(सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धाम्)** सूर्यास्त के समय में भी श्रद्धा की उपासना करते हैं। हे **(श्रद्धे)** श्रद्धा ! **(नः इह श्रद्धापय)** तू इस संसार में हमें श्रद्धावान् कर। (१) **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को **प्रातः**=प्रातःकाल हम **हवामहे**=पुकारते हैं। हमारा जीवन का प्रातःकाल प्रथम २४ वर्ष श्रद्धावाला हो। इस समय हम माता, पिता व आचार्यों के प्रति श्रद्धावाले होकर उनकी आज्ञानुसार वर्तें। (२) **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को **मध्यन्दिनं परि**=जीवन के मध्याह्न में भी पुकारते हैं। जीवन के अगले ४४ वर्ष भी श्रद्धामय हो। श्रद्धावाले होने पर ही हम इस गृहस्थकाल में पाँचों महायज्ञों को करनेवाले होते हैं। (३) **श्रद्धाम्**=श्रद्धा को **सूर्यस्य निम्रुचि**=सूर्य के अस्तकाल में भी हम पुकारते हैं। जीवन के अन्तिम ४८ वर्षों में भी हम श्रद्धावान् बने रहें। **श्रद्धम्**=हे श्रद्धे! **नः**=हमें **इह**=इस जीवन में तू **श्रद्धापय**=श्रद्धायुक्त कर। श्रद्धावाले होकर ही हम इस समय 'क्रियावान् ब्रह्मनिष्ठ' पुरुष के जीवन को बिता पायेंगे।

भावार्थ-हमारा सारा जीवन श्रद्धामय हो।

सारा सूक्त श्रद्धा के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। यह श्रद्धावाला पुरुष ही सब कामनाओं को पूर्ण करके अपने पर पूर्ण शासन करनेवाला 'शासः' बनता है। इस पूर्ण शासन से ही 'भरद्वाजः'=अपने में शक्ति को भरनेवाला होता है।

स्मरणीय बिंदु-

1. श्रद्धा साधना का आधार है।
2. बिना श्रद्धा के ज्ञान अधूरा है।
3. आस्था जीवन में सकारात्मकता लाती है।
4. श्रद्धा आत्मविश्वास को बढ़ाती है।

शब्दावली-

1. श्रद्धा - विश्वास
2. साधना - आध्यात्मिक अभ्यास
3. आस्था - भरोसा
4. भक्ति - समर्पण
5. सकारात्मकता - उत्तम सोच

5 अंक के प्रश्न

1. श्रद्धा का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. श्रद्धासूक्त का मुख्य संदेश लिखिए।
3. जीवन में श्रद्धा का महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. श्रद्धा एवं भक्ति में संबंध स्पष्ट कीजिए।
5. वैदिक संस्कृति में आस्था का महत्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न

1. श्रद्धासूक्त का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. वैदिक संस्कृति में श्रद्धा की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
3. श्रद्धा एवं सफलता के संबंध का विश्लेषण कीजिए।
4. श्रद्धा एवं आध्यात्मिक उन्नति का वर्णन कीजिए।
5. आधुनिक जीवन में श्रद्धा की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. श्रद्धासूक्त किससे संबंधित है?

(क) आस्था

(ख) युद्ध

(ग) व्यापार

(घ) राजनीति

उत्तर: (क)

2. श्रद्धा किसका आधार है?

(क) आलस्य

(ख) साधना

(ग) हिंसा

(घ) भ्रम

उत्तर: (ख)

3. वैदिक संस्कृति में श्रद्धा का संबंध किससे है?

(क) ज्ञान एवं भक्ति

(ख) व्यापार

(ग) राजनीति

(घ) युद्ध

उत्तर: (क)

4. श्रद्धा मनुष्य को क्या प्रदान करती है?

(क) निराशा

(ख) आत्मबल

(ग) भ्रम

(घ) आलस्य

उत्तर: (ख)

5. श्रद्धा का विपरीत शब्द क्या है?

(क) विश्वास

(ख) अश्रद्धा

(ग) साधना

(घ) भक्ति

उत्तर: (ख)

खण्ड-4 सूक्ताध्यय
इकाई-4.1 संगठनसूक्तम्

उद्देश्य

1. संगठन एवं एकता के महत्व को समझना।
2. समाज में सहयोग एवं समन्वय की भावना विकसित करना।
3. वैदिक समाज व्यवस्था का अध्ययन करना।

ऋ. मं १० सू १९१ संवनन आङ्गिरसः। १ अग्निः, २-४ संज्ञानम्। अनुष्टप्, ३ त्रिष्टुप्।

ओ३म् संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥१॥

(वृषन् अग्ने) समस्त सुखों की वर्षा करने हारे अग्नि तू **(अर्यः विश्वानि संसम् इत् युवसे)** सबका स्वामी होकर समस्त तत्वों को मिलाता है। तू **(इळः पदे समिध्यसे)** भूमि के यज्ञवेदी पर प्रकाशित होता है। **(सः नः वसूनि आ भर)** वह प्रसिद्ध तू हमें नाना ऐश्वर्यों को प्राप्त करा।

(१) हे **वृषन्**=हम सब पर सुखों का वर्षण करने वाले, **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **इत्**= निश्चय से **विश्वानि संसं युवसे**=सब प्राणियों को सम्यक् मिलाते हैं। सबके आप पिता हैं। यह एक पितृत्व सबको परस्पर समीप लानेवाला होता है। आपको पिता के रूप में स्मरण करने पर सब परस्पर बन्धुत्व का स्मरण करते हैं। (२) **अर्यः**=आप ही सब के स्वामी हैं। **इडस्पदे**=(इडा=वाणी=वेदवाणी) वेदवाणी के शब्दों में आप **आसमिध्यसे**=सर्वथा दीप्त होते हैं 'सर्ववेदाः यत्पदमामनन्ति' 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'। (३) **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिये **वसूनि**=निवास के लिये आवश्यक सब पदार्थों को **आभर**=प्राप्त कराइये। आप ही सब के स्वामी हैं, आप ही सबको वसु प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ-प्रभु सबके पिता हैं। यह एक पितृत्व सब प्राणियों को परस्पर समीप लानेवाला होता है।

ऋषिः-**संवननः**॥ देवता-**संज्ञानम्**॥ छन्दः-**अनुष्टुप्**॥ स्वरः-**गान्धारः**॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥२॥

हे स्तोताओ! **(सं गच्छध्वं सं वदध्वम्)** तुम परस्पर एक विचार से मिलकर रहो; परस्पर मिलकर प्रेम से वार्तालाप करो। **(वः मनांसि सं जानताम्)** तुम लोगों का मन समान होकर ज्ञान प्राप्त करें। **(यथा**

पूर्वे देवाः संजानानाः भागं उपासते) जिस प्रकार पूर्व के लोग एक मत होकर ज्ञान सम्पादन करते हुए सेवनीय ईश्वर की उत्तम प्रकार से उपासना करते हैं, उसी प्रकार तुम भी एकमत होकर अपना कार्य करो- धनादि ग्रहण करो।

(१) प्रभु अपने पुत्रों को कहते हैं कि **संगच्छध्वम्**=परस्पर मिलकर के चलो। तुम्हारी गतियाँ परस्पर विरुद्ध न हों 'येन देवा न वियन्ति'=देव परस्पर विरूद्ध गतिवाले नहीं होते। (२) **संवदध्वम्**=तुम परस्पर संवादवाले बनो। विवाद तो मूर्ख ही किया करते हैं, 'विद्या विवादाय'=मूर्खों की ही विद्या विवाद के लिये होती है। (३) **वः मनांसि**=तुम्हारे मन **संजानताम्**=संज्ञानवाले हों। तुम्हारे मनों में एक दूसरे के विरोधी विचार न उत्पन्न होते रहें। एक दूसरे के हित की भावनाएँ ही तुम्हारे मनों में स्थान पायें। 'नो च विद्विषते मिथः'=ज्ञानी लोग परस्पर द्वेष नहीं करते। (४) **पूर्वे देवाः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले देव **संजानानाः**=परस्पर संज्ञान व ऐकमत्यवाले होते हुए **यथा भागम्**=अपने-अपने भाग के अनुसार **उपासते**=कर्त्तव्य का उपासन करते हैं। इस प्रकार अपने-अपने कर्त्तव्यभाग को पूर्ण करते हुए वे समूचे कार्य को पूर्ण सफलता के साथ कर पाते हैं।

भावार्थ-हम अविरूद्ध गतिवाले, संवादवाले व संज्ञानवाले बनें। देवों की तरह अपने-अपने कर्त्तव्यभाग को परस्पर अविरोध के साथ पूर्ण करने वाले हों।

ऋषिः-**संवननः**॥ देवता-**संज्ञानम्**॥ छन्दः-**त्रिष्टुप्**॥ स्वरः-**धैवतः**॥

स॒मा॒नो मन्त्रः॒ समि॑तिः समा॒नी स॑मा॒नं मनः॑ स॒ह चि॒त्तमे॑षाम्।
स॒मा॒नं मन्त्र॑म॒भि म॑न्त्रये वः समा॒नेन॑ वो ह॒विषा॑ जुहोमि ॥३॥

(एषां मन्त्रः समानः समितिः समानी) हम सबकी प्रार्थना एक समान हो; परस्पर मिलन भी भेद भाव से रहित एकसा हो- विचार प्रदान का स्थान एक ही हो। **(मनः समानं एषा चित्तं सह)** अपना मन-मनन करने का साधन अंतःकरण और चित्त-विचार जन्य ज्ञान-एकविध हों। **(वः समानं मन्त्रं अभि मन्त्रये)** मैं तुम्हें एक ही उत्कृष्ट रहस्यपूर्ण वचन करता हूँ और **(वः समानेन हविषा जुहोमि)** तुम्हें एक समान हवि प्रदान करके सुसंस्कृत करता हूँ।

(१) राष्ट्र में **मन्त्रः**=विचारपूर्वक बनाया गया नियम **समानः**=सब के लिये एक-सा हो। **समितिः**=सभा **समानी**=समान हो। न्यायालय अलग-अलग लोगों के लिये अलग-अलग न हों। **एषाम्**=इन सब प्रजाओं का **मनः**=मन **समानम्**=समान हो। **चित्तम्**=इनका चित्त भी **सह**=साथ-साथ हो, अर्थात् राष्ट्रोन्नति रूप एक ही कार्य की इच्छा से ये सब पूरे दिल से उसमें प्रवृत्त हों। (२) राजा प्रजा से कहता है कि मैं **वः**=तुम्हारे लिये **समानं मन्त्रं अभिमन्त्रये**=एक ही नियम का विचारपूर्वक स्थापन करता हूँ। और **वः**=तुम्हें **समानेन हविषा**=समान ही कर के द्वारा **जुहोमि**=खाता हूँ। जैसे बछड़ा माता से थोड़ा-थोड़ा दूध लेता है, इसी प्रकार राजा भी सब प्रजाओं से थोड़ा-थोड़ा कर लेता है (हु अदने)।

भावार्थ-राष्ट्र में सब प्रजाओं से समान बर्ताव हो। कर पद्धति सब के लिये समान हो।

ऋषिः-**संवननः**॥ देवता-**संज्ञानम्**॥ छन्दः-**निचृदनुष्टुप्**॥स्वरः-**गान्धारः**॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥४॥

(वः आकूतिः समानी) तुम्हारा संकल्प एक समान रहे; और **(वः हृदयानि समाना)** तुम्हारे हृदय एक विध-समान हों। **(वः मनः समानं अस्तु)** तुम्हारे मन एक समान हों, **(यथा वः सुसह असति)** जिससे तुम्हारा परस्पर कार्य पूर्णरूप से संगठित हो।

(१) **वः**-तुम्हारा **आकूतिः**=संकल्प व अध्यवसाय **समानी**=समान हो। **वः**=आपके **हृदयानिः**=हृदय समाना=समान हों। (२) **वः**=तुम्हारा **मनः**=मन (=इच्छायें) **समानम्**=समान हों। सब को इस प्रकार हो कि **यथा**=जिससे **वः**=तुम्हारा **सुसह**=शोभन साहित्य=उत्तम मेल **असति**=किसी भी प्रकार का तुम्हारा विरोध न हो। यह अविरोध ही तुम्हें देव बनायेगा, यही तुम्हें विजयी करेगा।

भावार्थ- हमारे संकल्प हृदय मन सब परस्पर समान हों। हमारा परस्पर मेल अत्यन्त दृढ़ हो। यह सम्पूर्ण सूक्त मेल का उपदेश दे रहा है। ऋग्वेद विज्ञान वेद है। परस्पर मेल होने पर यह विज्ञान कल्याण ही कल्याण करेगा। विरोध के होने पर यह विज्ञान ही विनाश का कारण बन जायेगा। इसी दृष्टि से ऋग्वेद की समाप्ति इस संज्ञान सूक्त पर हुई है। हम नश्वरता का स्मरण करते हुए परस्पर मेल से ही चलने का प्रयत्न करें।

5 अंक के प्रश्न

1. संगठनसूक्त का मुख्य संदेश लिखिए।
2. समाज में एकता का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. सहयोग एवं समन्वय का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. वैदिक समाज में संगठन की भूमिका बताइए।
5. संगठनसूक्त में लोककल्याण की भावना स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न

1. संगठनसूक्त का सामाजिक महत्व स्पष्ट कीजिए।
2. वैदिक संस्कृति में एकता एवं सहयोग का विवेचन कीजिए।
3. आधुनिक समाज में संगठनसूक्त की प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।
4. संगठनसूक्त में वर्णित विश्वबंधुत्व की भावना का विश्लेषण कीजिए।
5. संगठन एवं राष्ट्रनिर्माण के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. संगठनसूक्त किस भावना को प्रकट करता है?

(क) विभाजन

(ख) एकता

(ग) युद्ध

(घ) लोभ

उत्तर: (ख)

2. समाज की शक्ति किसमें निहित है?

(क) संघर्ष

(ख) संगठन

(ग) स्वार्थ

(घ) अहंकार

उत्तर: (ख)

3. संगठनसूक्त का मुख्य उद्देश्य क्या है?

(क) विश्वकल्याण

(ख) युद्ध

(ग) व्यापार

(घ) शासन

उत्तर: (क)

4. संगठनसूक्त किस वेद से संबंधित है?

(क) ऋग्वेद

(ख) यजुर्वेद

(ग) सामवेद

(घ) अथर्ववेद

उत्तर: (क)

5. संगठन का मुख्य आधार क्या है?

(क) सहयोग

(ख) ईर्ष्या

(ग) क्रोध

(घ) विभाजन

उत्तर: (क)

स्मरणीय बिंदु

1. एकता में शक्ति है।
2. सहयोग समाज की उन्नति का आधार है।
3. वैदिक संस्कृति सामूहिक कल्याण पर बल देती है।
4. संगठन से राष्ट्र सुदृढ़ बनता है।

शब्दावली-

1. संगठन - एकता
2. सहयोग - साथ मिलकर कार्य करना
3. समन्वय - संतुलन
4. समाज - समुदाय
5. कल्याण - हित

इकाई-4.2 यजुर्वेद के चयनित मन्त्र

उद्देश्य

1. यजुर्वेद के प्रमुख मंत्रों का अध्ययन करना।
2. यज्ञ एवं कर्म की वैदिक अवधारणा समझना।
3. नैतिक जीवन मूल्यों का विकास करना।

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽआप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मा मा व स्तेनऽईशत माघशंसो ध्रुवाऽअस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥१.१॥

पदार्थान्वयभाषाः- हे मनुष्य लोगों! जो **(सविता)** सब जगत् की उत्पत्ति करने वाला सम्पूर्ण ऐश्वर्य्ययुक्त **(देवः)** सब सुखों के देने और सब विद्या के प्रसिद्ध करने वाला परमात्मा है सो **(वः)** तुम हम और अपने मित्रों के जो **(वायवः)** सब क्रियाओं के सिद्ध करने हारे स्पर्शगुण वाले प्राण अन्तःकरण और इन्द्रियां **(स्थ)** हैं उन को **(श्रेष्ठतमाय)** अत्युत्तम **(कर्म्मणे)** करने योग्य सर्वोपकारक यज्ञादि कर्म्मों के लिये **(प्रार्पयतु)** अच्छी प्रकार संयुक्त करे। हम लोग **(इषे)** अन्न आदि उत्तम-उत्तम पदार्थों और विज्ञान की इच्छा और **(ऊर्जे)** पराक्रम अर्थात् उत्तम रस की प्राप्ति के लिये **(भागम्)** सेवा करने योग्य धन और ज्ञान के भरे हुए **(त्वा)** उक्त गुणवाले और **(त्वा)** श्रेष्ठ पराक्रमादि गुणों के देने हारे आप का सब प्रकार से आश्रय करते हैं। हे मित्र लोगों! तुम ऐसे होकर **(आप्यायध्वम्)** उन्नति को प्राप्त हो तथा हम भी हों। हे भगवन् जगदीश्वर हम लोगों के **(इन्द्राय)** परम ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **(प्रजावतीः)** जिन के बहुत सन्तान हैं तथा जो **(अनमीवाः)** व्याधि और **(अयक्ष्माः)** जिन में राजयक्ष्मा आदि रोग नहीं हैं वे **(अघ्न्याः)** जो-जो गौ आदि पशु वा उन्नति करने वाले योग्य हैं जो कभी हिंसा करने योग्य नहीं कि जो इन्द्रियां वा पृथिवी आदि लोक हैं उन को सदैव **(प्रार्पयतु)** नियत कीजिये। हे जगदीश्वर! आप की कृपा से हम लोगों में से दुःख देने के लिये कोई **(अघशंसः)** पापी वा **(स्तेनः)** चोर डाकू **(मा ईशत)** मत उत्पन्न हो तथा आप इस **(यजमानस्य)** परमेश्वर और सर्वोपकार धर्म्म के सेवन करने वाले मनुष्य के **(पशनू)** गौ-घोड़े और हाथी आदि तथा लक्ष्मी और प्रजा की **(पाहि)** निरन्तर रक्षा कीजिये जिससे इन पदार्थों के हरने को पूर्वोक्त कोई दुष्ट मनुष्य समर्थ्य न हो **(अस्मिन्)** इस धार्म्मिक **(गोपतौ)** पृथिवी आदि पदार्थ की रक्षा चाहने वाले सज्जन मनुष्य के समीप **(बह्वीः)** बहुत से उक्त पदार्थ **(ध्रुवाः)** निश्चल सुख के हेतु **(स्यात)** हों।

इस मन्त्र की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में की है उसका ठिकाना पूर्व संस्कृत भाष्य में लिख दिया

और आगे भी ऐसा ही ठिकाना लिखा जायेगा। जिस को देखना हो वह उस ठिकाने से देख लेवे।

भावार्थभाषाः- विद्वान् मनुष्यों को सदैव परमेश्वर और धर्म्मयुक्त पुरुषार्थ के आश्रय से ऋग्वेद को पढ़ के गुण और गुणी को ठीक-ठीक जानकर सब पदार्थों के सम्प्रयोग से पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये अत्युत्तम क्रियाओं से युक्त होना चाहिये कि जिसे से परमेश्वर की कृपापूर्वक सब मनुष्यों को सुख और ऐश्वर्य्य की वृद्धि हो। सब लोगों को चाहिये कि अच्छे-अच्छे कामों से प्रजा की रक्षा तथा उत्तम-उत्तम गुणों से पुत्रादि की शिक्षा सदैव करें कि जिस से प्रबल रोग विघ्न और चारों का अभाव होकर प्रजा और पुत्रादि सब सुखों को प्राप्त हों यही श्रेष्ठ काम सब सुखों की खान है। हे मनुष्य लोगों! आओ अपने मिलके जिस ने इस संसार में आश्चर्यरूप पदार्थ रचे हैं, उस जगदीश्वर के लिये सदैव धन्यवाद देवें। वही परम दयालु ईश्वर अपनी कृपा से उक्त कामों को करते हुए मनुष्यों की सदैव रक्षा करता है।

वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि
विश्वधाऽअसि। परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्॥१.२॥

हे विद्यायुक्त मनुष्य! तू जो (**वसोः**) यज्ञ (**पवित्रम्**) शुद्धि का हेतु (**असि**) है। (**द्यौः**) जो विज्ञान के प्रकाश हेतु और सूर्य की किरणों में स्थिर होने वाला (**असि**) है। जो (**पृथिवी**) वायु के साथ देश देशान्तरों में फैलने वाला (**असि**) है। (**मातरिश्वनः**) वायु को (**धर्मः**) शुद्ध करने वाला (**असि**) है। जो (**विश्वधाः**) संसार का धारण करने वाला (**असि**) है तथा जो (**परमेण**) उत्तम (**धाम्ना**) स्थान से (**दृꣳहस्व**) सुख का बढ़ाने वाला है। इस यज्ञ का (**मा**) मत (**ह्वाः**) त्याग कर। तथा (**ते**) तेरा (**यज्ञपतिः**) यज्ञ की रक्षा करने वाला यजमान भी उस को (**मा**) न (**ह्वार्षीत्**) त्यागे। धात्वर्थ के अभिप्राय से यज्ञ शब्द का अर्थ तीन प्रकार का होता है अर्थात् एक जो इस लोक और परलोक के सुख के लिये विद्या, ज्ञान और धर्म के सेवन से वृद्ध अर्थात् बड़े-बड़े विद्वान् हैं उन का सत्कार करना। दूसरा अच्छी प्रकार पदार्थों के गुणों के मेल और विरोध के ज्ञान से शिल्पविद्या का प्रत्यक्ष करना और तीसरा नित्य विद्वानों का समागम अथवा शुभगुण विद्या सुख धर्म्म और सत्य का नित्य दान करना है।

भावार्थः- मनुष्य लोग अपनी विद्या और उत्तम क्रिया से जिय यज्ञ का सेवन करते हैं उस से पवित्रता का प्रकाश, पृथिवी का राज्य, वायुरूपी प्राण के तुल्य राजनीति, प्रताप, सब की रक्षा, इस लोक और परलोक में सुख की वृद्धि, परस्पर कोमलता से वर्त्तना और कुटिलता का त्याग इत्यादि श्रेष्ठ गुण उत्पनन् होते हैं इसलिये सब मनुष्यों को परोपकार तथा अपने सुख के लिये विद्या और पुरुषार्थ के साथ प्रीतिपूर्वक यज्ञ का अनुष्ठान नित्य करना चाहिये।

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्। देवस्त्वा सविता पुनातु
वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा॰ कामधुक्षः ॥१.३॥

जो (**वसोः**) यज्ञ (**शतधारम्**) असंख्यात संसार का धारण करने और (**पवित्रम्**) शुद्धि करने वाला कर्म्म (**असि**) है तथा जो (**वसोः**) यज्ञ

(सहस्त्रधारम्) अनेक प्रकार के ब्रह्माण्ड को धारण करने और **(पवित्रम्)** शुद्धि का निमित्त सुख देने वाला **(असि)** है **(त्वा)** उस यज्ञ को **(देवः)** स्वयं प्रकाशस्वरूप **(सविता)** वसु आदि तैंतीस देवों का उत्पत्ति करने वाला परमेश्वर **(पुनातु)** पवित्र करे। हे जगदीश्वर! आप हम लोगों से सेवित जो **(वसोः)** यज्ञ है उस **(पवित्रेण)** शुद्धि के निमित्त वेद के विज्ञान **(शतधारेण)** बहुत विद्याओं का धारण करने वाले वेद और **(सुप्वा)** अच्छी प्रकार पवित्र करने वाले यज्ञ से हम लोगों को पवित्र कीजिये। हे विद्वान् पुरुष वा जानने की इच्छा करने वाले मनुष्य तू **(काम)** वेद की श्रेष्ठ वाणियों में से कौन-कौन वाणी के अभिप्राय को **(अधुक्षः)** अपने मन में पूर्ण करना अर्थात् जानना चाहता है।

भावार्थः- जो मनुष्य पूर्वोक्त यज्ञ का सेवन करने पवित्र होते हैं उन्हीं को जगदीश्वर बहुत-सा ज्ञान देकर अनेक प्रकार के सुख देता है परन्तु जो लोक ऐसी क्रियाओं के करने वाले वा परोपकारी होते हैं वे ही सुख को प्राप्त होते हैं आलस्य करने वाले कभी नहीं। इस मन्त्र में (कामधुक्षः) इन पदों से वाणी के विषय में प्रश्न है।

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः। इन्द्रस्य त्वा
भागꣳ सोमेनातनच्मि विष्णो हव्यꣳरक्ष ॥१.४॥

हे **(विष्णो)** व्यापक ईश्वर! आप जिस वाणी का धारण करते हैं **(सा)** वह **(विश्वायुः)** पूर्ण आयु की देने वाली **(सा)** वह **(विश्वकर्मा)** जिस से कि सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड सिद्ध होता है और **(सा)** वह **(विश्वधायाः)** सब जगत् को विद्या और गुणों से धारण करने वाली है। पूर्व मन्त्र में जो प्रश्न है उस के उत्तर में यही तीन प्रकार की वाणी ग्रहण करने योग्य है इसी से मैं **(इन्द्रस्य)** परमेश्वर के **(भागम्)** सेवन करने योग्य यज्ञ को **(सोमेन)** विद्या से सिद्ध किये रस अथवा आनन्द से **(आ तनच्मि)** अपने हृदय में दृढ़ करता हूँ तथा हे परमेश्वर! **(हव्यम्)** पूर्वोक्त यज्ञ सम्बन्धी देने लेने योग्य द्रव्य वा विज्ञान की **(रक्ष)** निरन्तर रक्षा कीजिये।

भावार्थः- तीन प्रकार की वाणी होती है अर्थात् प्रथम वह जो कि ब्रह्मचर्य में पूर्ण विद्या पढ़ने वा पूर्ण आयु होने के लिये सेवन की जाती है। दूसरी वह जो गृहाश्रम में अनेक क्रिया वा उद्योगों से सुखों की देने वाली विस्तार से प्रकट की जाती है और तीसरी वह जो इस संसार में सब मनुष्यों के शरीर और आत्मा के सुख की वृद्धि वा ईश्वर आदि पदार्थों के विज्ञान को देने वाली वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में विद्वानों से उपदेश की जाती है। इस ती प्रकार की वाणी के किसी को सब सुख नहीं हो सकते क्योंकि इसी से पूर्वोक्त यज्ञ तथा व्यापक ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना करना योग्य है। ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो नियम से किया हुआ यज्ञ संसार में रक्षा का हेतु और प्रेम सत्यभाव से प्रार्थित ईश्वर विद्वानों की सर्वदा रक्षा करता है वही सब का अध्यक्ष है परन्तु जो क्रिया में कुशल धार्मिक परोपकारी मनुष्य हैं वे ही ईश्वर और धर्म को जानकर मोक्ष और सम्यक् क्रियासाधनों से इस लोक और परलोक के सुख को प्राप्त होते हैं।

गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि।

सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च ॥१.२७॥

जिस यज्ञ से उत्तम पदार्थों के साथ (**सुक्ष्मा**) यह पृथिवी शोभायमान (**असि**) होती है (**च**) तथा जिससे सुखकारण गुण (**च**) अथवा मनुष्यों के साथ यह (**शिवा**) मङ्गल की देने वाली (**असि**) होती है (**च**) तथा जिस करके उत्तम से उत्तम सुखों के साथ यह पृथिवी (**स्योना**) सुख उत्पन्न करने वाली (**असि**) होती है (**च**) और जिससे उत्तम-उत्तम सुख करने वाले और चलने के साथ यह (**सुषदा**) सुख से स्थिति करने योग (**असि**) होती है (**च**) तथा जिन उत्तम यव आदि अन्नों के साथ यह (**ऊर्जस्वती**) अन्न वाली (**असि**) होती है (**च**) और जिन उत्तम मधुर आदि रस वाले फलों करके यह पृथिवी (**पयस्वती**) प्रशंसा करने योग्य रस वाली (**असि**) होती है (**त्वा**) उस यज्ञ को मैं यज्ञविद्या का जानने वाला मनुष्य (**गायत्रेण**) गायत्री (**छन्दसा**) जो कि चित्त को प्रफुल्लित करने वाला है उससे (**परिगृह्णामि**) सब प्रकार से सिद्ध करता हूं और मैं (**त्रैष्टुभेन**) त्रिष्टुभ (**छन्दसा**) जो कि स्वतन्त्रता रूप से आनन्द का देने वाला है उससे (**त्वा**) पदार्थ समूह को (**परिगृह्णामि**) सब प्रकार से इकट्ठा करता हूँ तथा मैं (**जागतेन**) जगती जो कि (**छन्दसा**) अत्यन्त आनन्द का प्रकाश करने वाला है उससे (**त्वा**) उस भौतिक अग्नि को (**परिगृह्णामि**) अच्छी प्रकार स्वीकार करता हूँ।

भावार्थः- वेद का प्रकाश करने वाला ईश्वर हम लोगों के प्रति कहता है कि हे मनुष्यों! तुम लोग वेदमन्त्रों के विना पढ़े और उनके अर्थों के बिना जाने यज्ञ का अनुष्ठान वा सुख रूप फल को प्राप्त होना और सब शुभ गुणयुक्त सुखकारी अन्न जल और वायु आदि पदार्थ हैं उनको शुद्ध नहीं कर सकते। इससे यह तीन प्रकार के यज्ञ की सिद्धि यत्नपूर्वक सम्पादन करके सदा सुख ही में रहना चाहिये और जो इस पृथिवी में वायु जल तथा औषधियों को दूषित करने वाले दुर्गन्ध अपगुण तथा दुष्ट मनुष्य हैं वे सर्वदा निवारण करने चाहिये।

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्राँस्ते शुन्धामि ॥६.१४॥

हे शिष्य! मैं विविध शिक्षाओं से (**ते**) तेरी (**वाचम्**) जिस से बोलता है उस वाणी को (**शुन्धामि**) शुद्ध अर्थात् सद्धर्मानुकूल करता हूँ (**ते**) तेरे (**चक्षु**) जिस से (**नाभिम्**) जिस से नाड़ी आदि बांधे जाते हैं उस नाभि को (**शुन्धामि**) पवित्र करता हूँ (**ते**) तेरे (**मेढ्रम्**) जिससे मूत्रोत्सर्गादि किये जाते हैं उस लिङ्ग को पवित्र करता हूँ (**ते**) तेरे (**पायुम्**) जिस से रक्षा की जाती है उस गुदेन्द्रिय को (**शुन्धामि**) पवित्र करता हूँ (**चरित्रान्**) समस्त व्यवहारों को (**शुन्धामि**) पवित्र शुद्ध अर्थात् धर्म के अनुकूल करता हूँ तथा गुरुपत्नी पक्ष में सर्वत्र ''करती हूँ'' यह योजना करनी चाहिये।

भावार्थः- गुरु और गुरुपत्नियों को चाहिये कि वेद और उपवेद तथा वेद के अङ्ग और उपाङ्गों की शिक्षा से देह इन्द्रिय अन्तःकरण और मन की शुद्धि शरीर की पुष्टि तथा प्राण की सन्तुष्टि देकर समस्त कुमार और कुमारियों को अच्छे-अच्छे गुणों में प्रवृत्त करावें।

मनो॑ मे तर्पयत॒ वाचं॑ मे तर्पयत प्रा॒णं मे॑ तर्पयत॒ चक्षु॑र्मे तर्पयत॒ श्रोत्रं॑ मे तर्पयता॒त्मानं॑ मे तर्पयत प्र॒जां मे॑ तर्पयत प॒शून् मे॑ तर्पयत ग॒णान्मे॑ तर्पयत ग॒णा मे॒ मा वितृ॑षन् ॥६.३१॥

हे सभ्यजनो और प्रजाजनो! तुम अपने गुणों से **(मे)** मेरे **(मनः)** मन को **(तर्प्पयत)** तृप्त करो **(मे)** मेरी **(वाचम्)** वाणी को **(तर्प्पयत)** तृप्त करो **(मे)** मेरे **(प्राणम्)** प्राण को **(तर्प्पयत)** तृप्त करो **(मे)** मेरे **(चक्षुः)** नेत्रों को **(तर्प्पयत)** तृप्त करो **(मे)** मेरे **(श्रोत्रम्)** कानों को **(तर्प्पयत)** तृप्त करो **(मे)** मेरे **(आत्मन्)** आत्मा को **(तर्प्पयत)** तृप्त करो **(मे)** मेरे **(प्रजाम्)** सन्तानादि प्रजा को **(तर्प्पयत)** तृप्त करो **(मे)** मेरे **(पशून्)** गौ, हाथी, घोड़े आदि पशुओं को **(तर्प्पयत)** तृप्त करो **(मे)** मेरे **(गणान्)** सेवकों को **(तर्प्पयत)** तृप्त करो जिस से **(मे)** मेरे **(गणाः)** राज्य व प्रजा कर्माधिकारी वा सेवकजन कामों में **(मा)** मत **(वितृषन्)** उदास हों।

भावार्थः- राज्य का प्रबन्ध सभाधीन ही होने के योग्य है जिससे प्रजाजन राजसेवक और राजपुरुष प्रजा की सेवा करने हारे अपने-अपने कामों में प्रवृत्त होके सब प्रकार एक-दूसरे को आनन्दित करते रहें।

मधु॒ वाता॑ऽऋताय॒ते मधु॑ क्षरन्ति॒ सिन्ध॑वः। माध्वी॑र्नः स॒न्त्वोष॑धीः ॥१३.२७॥

हे मनुष्यों! जैसे वसन्तु ऋतु में **(नः)** हम लोगों के लिये **(वाताः)** वायु **(मधु)** मधुरता के साथ **(ऋतायते)** जल के समान चलते हैं **(सिन्धवः)** नदियां वा समुद्र **(मधु)** कोमलतापूर्वक **(क्षरन्ति)** वर्षते हैं और **(ओषधीः)** ओषधियां **(माध्वीः)** मधुर रस के गुणों से युक्त **(सन्तु)** होवें वैसा प्रयत्न हम किया करें।

भावार्थः- इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जब वसन्त ऋतु आता है तब पुष्प आदि के सुगन्धों से युक्त वायु आदि पदार्थ होते हैं उस ऋतु में घूमना डोलना पथ्य होता है ऐसा निश्चित जानना चाहिये।

मधु॒ नक्त॑मु॒तोषसो॒ मधु॑म॒त् पार्थि॑व॒ꣳ रजः॑। मधु॒ द्यौर॑स्तु॒ नः॒ पि॒ता ॥१३.२८॥

हे मनुष्यों! जैसे वसन्त ऋतु में **(नक्तम्)** रात्रि **(मधु)** कोमलता से युक्त **(उत)** और **(उषसः)** प्रातःकाल से लेकर मधुर **(पार्थिवम्)** पृथिवी का **(रजः)** द्व्यणुक वा त्रसरेणु आदि **(मधुमत्)** मधुर गुणों से युक्त और **(द्यौः)** प्रकाश भी **(मधु)** मधुरतायुक्त **(पिता)** रक्षा करने हारे के समान समय **(नः)** हमारे लिये **(अस्तु)** होवे वैसे युक्ति से उस वसन्तु ऋतु का सेवन तुम भी किया करो।

भावार्थः- इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जब वसन्त ऋतु आता है तब पक्षी भी कोमल मधुर-मधुर शब्द बोलते और अन्य सब प्राणी आनन्दित होते हैं।

आयु॑र्मे पाहि प्रा॒णं मे॑ पाह्यपा॒नं मे॑ पाहि व्या॒नं मे॑ पाहि॒ चक्षु॑र्मे पाहि॒ श्रोत्रं॑ मे पाहि॒ वाचं॑ मे पिन्व॒ मनो॑ मे जिन्वा॒त्मानं॑ मे पाहि॒ ज्योति॑र्मे यच्छ ॥१४.१७॥

हे स्त्री वा पुरुष! तू शरद् ऋतु में **(मे)** मेरी **(आयुः)** अवस्था की **(पाहि)** रक्षा कर **(मे)** मेरे **(अपानम्)** अपान वायु की **(पाहि)** रक्षा कर **(मे)** मेरे **(व्यानम्)** व्यान की **(पाहि)** रक्षा कर **(मे)** मेरे **(चक्षुः)** नेत्रों की **(पाहि)** रक्षा कर **(मे)** मेरे **(श्रोत्रम्)** कानों की **(पाहि)** रक्षा कर **(मे)** मेरे **(वाचम्)**

वाणी को **(पिन्व)** अच्छी शिक्षा से युक्त कर **(मे)** मेरे **(मनः)** मन को **(जिन्व)** तृप्त कर **(मे)** मेरे **(आत्मानम्)** चेतन आत्मा की **(पाहि)** रक्षा कर और **(मे)** मेरे लिए **(ज्योतिः)** विज्ञान का **(यच्छ)** दान कर।

भावार्थः- स्त्री पुरुष की और पुरुष स्त्री की जैसी अवस्था आदि की वृद्धि होने वैसे परस्पर नित्य आचरण करें।

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥१४.२० ॥

हे स्त्री पुरुषो! तुम लोगों को योग्य है कि **(अग्निः)** प्रसिद्ध अग्नि **(देवताः)** दिव्य गुण वाला **(वातः)** पवन **(देवता)** शुद्धगुणयुक्त **(सूर्य्यः)** सूर्य्य **(देवता)** अच्छे गुणों वाला **(चन्द्रमाः)** चन्द्रमा **(देवता)** शुद्ध गुणयुक्त **(वसवः)** प्रसिद्ध आठ अग्नि आदि वा प्रथम कक्षा के विद्वान् **(देवता)** दिव्य गुण वाले **(रुद्राः)** प्राण आदि ११ ग्यारह वा मध्यम कक्षा के विद्वान् **(देवता)** शुद्ध गुणों वाले **(आदित्याः)** बारह महीने व उत्तम कक्षा के विद्वान् लोग **(देवता)** शुद्ध **(मरुतः)** मननकर्ता विद्वान् ऋत्विग् लोग **(देवता)** दिव्य गुण वाले **(विश्वे)** सब **(देवता)** अच्छे गुणों वाले विद्वान् मनुष्य वा दिव्य पदार्थ **(देवता)** देवसंज्ञा वाले हैं **(बृहस्पतिः)** बड़े वचन व ब्रह्माण्ड का रक्षक परमात्मा **(देवता) (इन्द्रः)** बिजुली वा उत्तम धन **(देवता)** दिव्य गुणयुक्त और **(वरुणः)** जल वा श्रेष्ठ गुणों वाला पदार्थ **(देवता)** अच्छे गुणों वाला है इनको तुम निश्चय जानो।

भावार्थः- इस संसार में जो अच्छे गुणों वाले पदार्थ और विद्वान् हैं वे दिव्य गुण कर्म और स्वभाव वाले होने से देवता कहाते हैं और जो देवों का देव होने से महादेव सब का धारक रक्षक सब की व्यवस्था और प्रलय करने वाला सर्वशक्तिमान् दयालु न्यायकारी उत्पत्ति धर्म से रहित है उस सब के अधिष्ठाता परमात्मा को सब मनुष्य जानें।

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः ॥१६.१७ ॥

हे शत्रुताड़क सेनाधीश! **(हिरण्यबाहवे)** ज्योति के समान तीव्र तेजयुक्त भुजा वाले **(सेनान्ये)** सेना के शिक्षक तेरे लिये **(नमः)** वज्र प्राप्त हो **(च)** और **(दिशाम्)** सर्व अन्नादि के राज्य भागों के **(पतये)** रक्षक तेरे लिये **(नमः)** अन्नादि पदार्थ मिले **(हरिकेशेभ्यः)** जिन में हरणशील सूर्य की किरण प्राप्त हों, ऐसे **(वृक्षेभ्यः)** आम्रादि वृक्षों को काटने के लिये **(नमः)** वज्रादि शस्त्रों को ग्रहण कर **(पशूनाम्)** गौ आदि पशुओं के **(पतये)** रक्षक तेरे लिये **(नमः)** सत्कार प्राप्त हो **(शष्पिञ्जराय)** विषयादि बन्धनों से पृथक् **(त्विषीमते)** बहुत न्याय के प्रकाशों से युक्त तेरे लिये **(नमः)** नमस्कार और अन्न हो **(पथीनाम्)** मार्ग में चलने वालों के **(पतये)** रक्षक तेरे लिये **(नमः)** आदर प्राप्त हो **(हरिकेशाय)** हरणशील सूर्य की किरण वाले **(उपवीतिने)** सुन्दर यज्ञोपवीत से युक्त तेरे लिये

(नमः) अन्नादि पदार्थ प्राप्त हों और **(पुष्टानाम्)** नीरोगी पुरुषों की **(पतये)** रक्षा करने वाले के लिये **(नमः)** नमस्कार प्राप्त हो।

भावार्थः- मनुष्यों को चाहिये कि श्रेष्ठों के सत्कार भूख से पीड़ितों को अन्न देने चक्रवर्त्तिराज्य की शिक्षा पशुओं की रक्षा जाने आने वालों को डाकू और चोर आदि से बचाने यज्ञोपवीत के धारण करने और शरीरादि की पुष्टि के साथ प्रसन्न रहें।

नमो बभ्लुशाय व्याधिनेऽन्नानां पतये नमो नमो भवस्य हेत्यै जगतां पतये नमो नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमो नमः सूतायाहन्त्यै वनानां पतये नमः ॥१६.१८॥

राजपुरुष आदि मनुष्यों को चाहिये कि **(बभ्लुशाय)** राज्यधारक पुरुषों में सोते हुए **(व्याधिने)** रोगी के लिये **(नमः)** अन्न देवें **(अन्नानाम्)** गेहूँ आदि अन्न के **(पतये)** रक्षक का **(नमः)** सत्कार करें **(भवस्य)** संसार की **(हेत्यै)** वृद्धि के लिये **(नमः)** अन्न देवें **(जगताम्)** मनुष्यादि प्राणियों के **(पतये)** स्वामी का **(नमः)** सत्कार करें **(रुद्राय)** शत्रुओं को रुलाने और **(आततायिने)** अच्छे प्रकार विस्तृत शत्रुसेना को प्राप्त होने वाले को **(नमः)** अन्न देवें **(क्षेत्राणाम्)** धान्यादियुक्त खेतों के **(तपये)** रक्षक को **(नमः)** अन्न देवें **(सूताय)** क्षत्रिय से ब्राह्माण की कन्या में उत्पन्न हुए प्रेरक वा वीर पुरुष और **(अहन्त्यै)** किसी को न मारने हारी राजपत्नी के लिये **(नमः)** अन्न देवें और **(वनानाम्)** जंगलों की **(पतये)** रक्षा करने हारे पुरुष को **(नमः)** अन्नादि पदार्थ देवें।

भावार्थः- जो अन्नादि से सब प्राणियों का सत्कार करते हैं वे जगत् में प्रशंसित होते हैं।

नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमो नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये नमो नमऽउच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः ॥१६.१९॥

पदार्थ :- राजा और के पुरुषों को चाहिये कि **(रोहिताय)** सुखों की वृद्धि के कर्त्ता और **(स्थपतये)** स्थानों के स्वामी रक्षक सेनापति के लिये **(नमः)** अन्न **(वृक्षाणाम्)** आम्रादि वृक्षों के **(पतये)** अधिष्ठाता को **(नमः)** अन्न **(भुवन्तये)** आचारवान् **(वारिवस्कृताय)** सेवन करने हारे भृत्य को **(नमः)** अन्न और **(ओषधीनाम्)** सोमलतादि औषधियों के **(पतये)** रक्षक वैद्य को **(नमः)** अन्न देवें **(मन्त्रिणे)** विचार करने हारे राजमन्त्री और **(वाणिजाय)** वैश्यों के व्यवहार में कुशल पुरुष का **(नमः)** सत्कार करें **(कक्षाणाम्)** घरों में रहने वालों के **(पतये)** रक्षक को **(नमः)** अन्न और **(उच्चैर्घोषाय)** ऊंचे स्वर से बोलने तथा **(आक्रन्दयते)** दुष्टों को रुलाने वाले न्यायाशीध का **(नमः)** सत्कार और **(पत्तीनाम्)** सेना के अवयवों की **(पतये)** रक्षा करने हारे पुरुष का **(नमः)** सत्कार करें।

भावार्थः- मनुष्यों को चाहिये कि वन आदि के रक्षक मनुष्यों को अन्नादि पदार्थ देके वृक्षों और ओषधि आदि पदार्थों की उन्नति करें।

नमः कृत्स्नायतया धावते सत्वनां पतये नमो नमः सहमानाय निव्याधिनऽआव्याधिनीनां पतये नमो नमो

निषङ्गिणे ककुभाय स्तेनानां पतये नमो नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये नमः ॥१६.२०॥

पदार्थः- मनुष्य लोग (**कृत्स्नायतया**) सम्पूर्ण प्राप्ति के अर्थ (**धावते**) इधर उधर जाने आने वाले को (**नमः**) अन्न देवें (**सत्वनाम्**) प्राप्त पदार्थों की (**पतये**) रक्षा करने हारे का (**नमः**) सत्कार करें (**सहमानाय**) बलयुक्त और (**निव्याधिने**) शत्रुओं को निरन्तर ताड़ना देने हारे पुरुष को (**नमः**) अन्न देवें (**आव्याधिनीनाम्**) अच्छे प्रकार शत्रुओं की सेनाओं को मारने हारी अपनी सेनाओं के (**पतये**) रक्षक सेनापति का (**नमः**) आदर करें (**निषङ्गिणे**) बहुत से अच्छे बाण, तलवार, भुशुण्डी, शतघ्नी अर्थात् बन्दूक तोप और तोमर आदि शस्त्र जिस के हों उस को (**नमः**) अन्न देवें (**निचेरवे**) निरन्तर पुरुषार्थ के साथ विचरने तथा (**परिचराय**) धर्म, विद्या, माता, स्वामी और मित्रादि की सब प्रकार सेवा करने वाले (**ककुभाय**) प्रसन्नमूर्त्ति पुरुष का (**नमः**) सत्कार करें करें (**स्तेनानाम्**) अन्याय से परधन लेने हारे प्राणियों को (**पतये**) जो दण्ड आदि से शुष्क करता हो उसको (**नमः**) वज्र से मारें (**अरण्यानाम्**) वन जंगलों के (**पतये**) रक्षक पुरुष को (**नमः**) अन्नादि पदार्थ देवें।

भावार्थः- राजपुरुषों को चाहिये कि पुरुषार्थियों का उत्साह के लिये सत्कार, प्राणियों के ऊपर दया, अच्छी शिक्षित सेना को रखना, चोर आदि को दण्ड, सेवकों की रक्षा और वनों को नहीं काटना, इस सब को कर राज्य की वृद्धि करें।

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिणऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांꣳसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः ॥१६.२१॥

पदार्थ :- राजपुरुष (**वञ्चते**) छल से दूसरों के पदार्थों को हरने वाले (**परिवञ्चते**) सब प्रकार कपट के साथ वर्त्तमान पुरुष को (**नमः**) वज्र का प्रहार और (**स्तायूनाम्**) चोरी से जीने वालों के (**पतये**) स्वामी को (**नमः**) वज्र से मारें (**निषंगिणे**) राज्यरक्षा के लिये निरन्तर उद्यत (**इषुधिमते**) प्रशंसित वाणों को धारण करने हारे को (**नमः**) अन्न देवें (**तस्कराणाम्**) चोरी करने हारों को (**पतये**) उस कर्म में चलाने हारे को (**नमः**) वज्र और (**सृकायिभ्यः**) वज्र से सज्जनों को पीड़ित करने को प्राप्त होने और (**जिघांसद्भ्यः**) मारने की इच्छा वालों को (**नमः**) वज्र से मारें (**मुष्णताम्**) चोरी करते हुओं को (**पतये**) दण्डप्रहार से पृथिवी में गिराने हारे का (**नमः**) सत्कार करें (**असिमद्भ्यः**) प्रशंसित खड्गों के सहित (**नक्तम्**) रात्रि में (**चरद्भ्यः**) घूमने वाले लुटेरों को (**नमः**) शस्त्रों से मारें और (**विकृन्तानाम्**) विविध उपायों से गांठ काट के पर-पदार्थों को लेने गठिकटों को (**पतये**) मार के गिराने हारे का (**नमः**) सत्कार करें।

भावार्थः- राजपुरुषों को चाहिये कि कपटव्यवहार से छलने और दिन वा रात में अनर्थ हारों को रोक के धर्मात्माओं का निरन्तर पालन किया करें।

नमऽउष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो नमऽइषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमो नमऽआतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो नमऽआयच्छद्भ्योऽस्यद्भ्यश्च वो नमः ॥१६.२२॥

पदार्थ :- हम राज और प्रजा के पुरुष (**उष्णीषिणे**) प्रशंसित पगड़ी को धारण करने वाले ग्रामपति और (**गिरिचराय**) पर्वतों में विचरने वाले जंगली पुरुष का (**नमः**) सत्कार और (**कुलुञ्चानाम्**) बुरे स्वभाव से दूसरों के पदार्थ खोंसने वालों को (**पतये**) गिराने हारे का (**नमः**) सत्कार करते (**इषुमद्भ्यः**) बहुत बाणों वाले को (**नमः**) अन्न (**च**) तथा (**धन्वायिभ्यः**) धनुषों को प्राप्त होने वाले (**वः**) तुम लोगों के लिये (**नमः**) अन्न (**आतन्वानेभ्यः**) अच्छे प्रकार सुख के फैलाने हारों का (**नमः**) सत्कार (**च**) और (**प्रतिदधानेभ्यः**) शत्रुओं के प्रति शस्त्र धारण करने हारे (**वः**) तुम को (**नमः**) सत्कार प्राप्त (**आयच्छद्भ्यः**) दुष्टों को बुरे कर्मों से रोकने वालों को (**नमः**) अन्न देते (**च**) और (**अस्यद्भ्यः**) दुष्टों पर शस्त्रादि को छोड़ने वाले (**वः**) तुम्हारे लिये (**नमः**) सत्कार करते हैं।

भावार्थ :- राजा और प्रजा के पुरुषों को चाहिये कि प्रधान पुरुष आदि का वस्त्र अन्नादि के दान से सत्कार करें।

नमो॑ विसृ॒जद्भ्यो॑ वि॒द्ध्य॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमः॑ स्व॒पद्भ्यो॒ जाग्र॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॒ः
शया॑नेभ्य॒ऽआसी॑नेभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॒स्तिष्ठ॑द्भ्यो॒ धाव॑द्भ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥१६.२३ ॥

पदार्थः- हे मनुष्यो! तुम ऐसा सब को जनाओ कि हम लोग (**विसृजद्भ्यः**) शत्रुओं पर शस्त्रादि छोड़ने वालों को (**नमः**) अन्नादि पदार्थ (**च**) और (**विद्ध्यभ्यः**) शस्त्रों से शत्रुओं को मारते हुए (**वः**) तुमको (**नमः**) अन्न (**स्वपद्भ्यः**) सोते हुओं के लिये (**नमः**) वज्र (**च**) और (**जाग्रद्भ्यः**) जागते हुए (**वः**) तुम को (**नमः**) अन्न (**शयानेभ्यः**) निद्रालुओं को (**नमः**) अन्न (**च**) और (**आसीनेभ्यः**) आसन पर बैठे हुए (**वः**) तुम को (**नमः**) अन्न (**तिष्ठद्भ्यः**) खड़े हुओं को (**नमः**) अन्न (**च**) और (**धावद्भ्यः**) शीघ्र चलते हुए (**वः**) तुम लोगों को (**नमः**) अन्न देवेंगे।

भावार्थ :- गृहस्थों को चाहिये कि करुणामय वचन बोल और अन्नादि पदार्थ देके सब प्राणियों को सुखी करें।

नमो॑ ग॒णेभ्यो॑ ग॒णप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ व्राते॑भ्यो॒ व्रात॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ गृत्से॑भ्यो॒
गृत्स॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ विरू॑पेभ्यो वि॒श्वरू॑पेभ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥१६.२५ ॥

पदार्थ :- हे मनुष्यो! जैसे हम लोग (**गणेभ्यः**) सेवकों को (**नमः**) अन्न (**च**) और (**गणपतिभ्यः**) सेवकों के रक्षक (**वः**) तुम लोगों को (**नमः**) अन्न देवें (**व्रातेभ्यः**) मनुष्यों का (**नमः**) सत्कार (**च**) और (**व्रातपतिभ्यः**) मनुष्यों के रक्षक (**वः**) तुम्हारा (**नमः**) सत्कार (**गृत्सेभ्यः**) पदार्थों के गुणों को प्रकट करने वाले विद्वानों का (**नमः**) सत्कार (**च**) तथा (**गृत्सपतिभ्यः**) बुद्धिमानों के रक्षक (**वः**) तुम लोगों का (**नमः**) सत्कार (**विरूपेभ्यः**) विविधरूप वालों का (**नमः**) सत्कार (**च**) और (**विश्वरूपेभ्यः**) सब रूपों से युक्त (**वः**) तुम लोगों का (**नमः**) सत्कार करें वैसे तुम लोग भी देओ, सत्कार करो।

भावार्थः- सब सम्पूर्ण प्राणियों का उपकार विद्वानों का सङ्ग समग्र शोभा और विद्याओं को धारण करके

सन्तुष्ट हों।

नमः॑ सेना॒भ्यः॑ सेना॒निभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ र॒थिभ्यो॑ऽअर॒थेभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमः॑ क्ष॒त्तृभ्यः॑ सङ्ग्रही॒तृभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ म॒हद्भ्यो॑ऽअर्भ॒केभ्य॑श्च वो॒ नमः॑॥१६.२६॥

पदार्थः- हे राज और प्रजा के पुरुषों! जैसे हम लोग **(सेनाभ्यः)** शत्रुओं को बांधने हारे सेनास्थ पुरुषों का **(नमः)** सत्कार करते **(च)** और **(वः)** तुम **(सेनानिभ्यः)** सेना के नायक प्रधान पुरुषों को **(नमः)** अन्न देते हैं **(रथिभ्यः)** प्रशंसित रथों वाले पुरुषों का **(नमः)** सत्कार **(च)** और **(वः)** तुम **(अरथेभ्यः)** रथों से पृथक् पैदल चलने वालों का **(नमः)** सत्कार करते हैं **(क्षत्तृभ्यः)** क्षत्रिय की स्त्री में शूद्र से उत्पन्न हुए वर्णसंकर के लिये **(नमः)** अन्नादि पदार्थ देते **(च)** और **(वः)** तुम **(संग्रहीतृभ्यः)** अच्छे प्रकार युद्ध की सामग्री को ग्रहण करने हारों का **(नमः)** अन्नादि पदार्थ देते **(च)** और **(वः)** तुम **(संग्रहीतृभ्यः)** अच्छे प्रकार युद्ध की सामग्री को ग्रहण करने हारों का **(नमः)** सत्कार करते हैं **(महद्भ्यः)** विद्या और अवस्था से वृद्ध पूजनीय महाशयों को **(नमः)** अच्छा पकाया हुआ अन्नादि पदार्थ देते **(च)** और **(वः)** तुम **(अर्भकेभ्यः)** क्षुद्राशय शिक्षा के योग्य विद्यार्थियों का **(नमः)** निरन्तर सत्कार करते हैं वैसे तुम लोग भी दिया, किया करो।

भावार्थः- राजपुरुषों को चाहिये कि सब भृत्यों को सत्कार और शिक्षापूर्वक अन्नादि पदार्थों से उन्नति देके धर्म के राज्य का पालन करें।

नम॒स्तक्ष॑भ्यो रथका॒रेभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमः॒ कुला॑लेभ्यः क॒र्मारे॑भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॑ नि॒षादे॑भ्यः पु॒ञ्जिष्टे॑भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमः॑ श्व॒निभ्यो॑ मृग॒युभ्य॑श्च वो॒ नमः॑॥१६.२७॥

पदार्थः- हे मनुष्यों! जैसे राजा आदि हम लोग **(तक्षभ्यः)** पदार्थों को सूक्ष्मक्रिया से बनाने हारे तुम को **(नमः)** अन्न देते **(च)** और **(रथकारेभ्यः)** बहुत से विमानादि यानों को बनाने हारे **(वः)** तुम लोगों का **(नमः)** परिश्रमादि का धन देके सत्कार करते हैं **(कुलालेभ्यः)** प्रशंसित मट्टी के पात्र बनाने वालों को **(नमः)** अन्नादि पदार्थ देते **(च)** और **(कर्मारेभ्यः)** खड्ग, बन्दूक और तोप आदि शस्त्र बनाने वाले **(वः)** तुम लोगों का **(नमः)** सत्कार करते हैं **(निषादेभ्यः)** वन और पर्वतादि में रह कर दुष्ट जीवों को ताड़ना देने वाले श्वेतादि वर्णों वा भाषाओं में प्रवीण **(वः)** तुम्हारा **(नमः)** सत्कार करते हैं **(श्वनिभ्यः)** कुत्तों को शिक्षा करने हारे **(वः)** तुम को **(नमः)** अन्नादि देते **(च)** और **(मृगयुभ्यः)** अपने आत्मा से वन के हरिण आदि पशुओं को चाहने वाले तुम लोगों को **(नमः)** सत्कार करते हैं वैसे तुम लोग भी करो।

भावार्थः- विद्वान् लोग जो पदार्थविद्या को जान के अपूर्व कारीगरीयुक्त पदार्थों को बनावें उनको पारितोषिक आदि देके प्रसन्न करें और जो कुत्ते आदि पशुओं को अन्नादि से रक्षा कर तथा अच्छी शिक्षा देके उपयोग में लावें उनको सुख प्राप्त करावें।

नमः॒ श्वभ्यः॒ श्वप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॑ भ॒वाय॑ च रु॒द्राय॑ च॒ नमः॒ श॒र्वाय॑ च

पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च ॥१६.२८ ॥

पदार्थ :- हे मनुष्यों! जैसे हम परीक्षक लोग **(श्वभ्यः)** कुत्तों को **(नमः)** अन्न देवें **(च)** और **(वः)** तुम **(श्वपतिभ्यः)** कुत्तों को पालने वालों को **(नमः)** अन्न देवें तथा सत्कार करें **(च)** तथा **(भवाय)** जो शुभगुणों में प्रसिद्ध हो उस जन का **(नमः)** सत्कार **(च)** और **(रुद्राय)** दुष्टों को रुलाने हारे वीर का सत्कार **(च)** तथा **(शर्वाय)** दुष्टों को मारने वालों को **(नमः)** अन्नादि देते **(च)** और **(पशुपतये)** गौ आदि पशुओं के पालक को अन्न **(च)** और **(नीलगाय)** सुन्दर वर्ण वाले कण्ठ से युक्त **(च)** और **(शितिकण्ठाय)** तीक्ष्ण वा काले कण्ठ वाले को **(नमः)** अन्न देते और सत्कार करते हैं वैसे तुम भी दिया, किया करो।

भावार्थ :- मनुष्यों को चाहिये कि कुत्ते आदि पशुओं अन्नादि से बढ़ा के उनसे उपकार लेवें और पशुओं के रक्षक का सत्कार भी करें।

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च ॥१६.२९ ॥

पदार्थः- गृहस्थ लोगों को चाहिये कि **(कपर्दिने)** जटाधारी ब्रह्मचारी **(च)** और **(व्युप्तकेशाय)** समस्त केश मुंडाने हारे संन्यासी **(च)** और संन्यास चाहते हुए को **(नमः)** अन्न देवें **(च)** तथा **(सहस्राक्षाय)** असंख्य शास्त्र के विषयादि को देखने वाले (विद्वान्) ब्राह्मण का **(च)** और **(शतधन्वने)** धनुष् आदि असंख्य शस्त्रविद्याओं के शिक्षक क्षत्रिय का **(नमः)** सत्कार करें **(गिरिशयाय)** पर्वतों के आश्रय से सोने हारे वानप्रस्थ का **(च)** और **(शिपिविष्टाय)** पशुओं के पालक वैश्य आदि **(च)** और शूद्र का **(नमः)** सत्कार करें **(मीढुष्टमाय)** वृक्ष बगीचा और खेत आदि को अच्छे प्रकार सींचने वाले किसान लोगों **(च)** और माली आदि को **(इषुमते)** प्रशंसित वाणों वाले वीर पुरुष को **(च)** भी **(नमः)** अन्नादि देवें और सत्कार करें।

भावार्थः- गृहस्थों को योग्य है कि ब्रह्मचारी आदि को सत्कारपूर्वक विद्यादान करें और करावें तथा संन्यासी आदि की सेवा करके विशेष विज्ञान का ग्रहण किया करें।

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय च सवृधे च नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च ॥१६.३० ॥

पदार्थः- जो गृहस्थ लोग **(ह्रस्वाय)** बालक **(च)** और **(वामनाय)** प्रशंसित ज्ञानी **(च)** तथा मध्यम विद्वान् को **(नमः)** अन्न देते हैं **(बृहते)** बड़े **(च)** और **(वर्षीयसे)** विद्या में अतिवृद्ध **(च)** तथा विद्यार्थी का **(नमः)** सत्कार **(वृद्धाय)** अवस्था में अधिक **(च)** और **(सवृधे)** अपने समानों के साथ बढ़ने वाले **(च)** तथा सब के मित्र का **(नमः)** सत्कार **(च)** और **(अग्र्याय)** सत्कर्म करने में सब से पहले उद्यत होने वाले **(च)** तथा **(प्रथमाय)** प्रसिद्ध पुरुष का **(नमः)** सत्कार करते हैं।

भावार्थः- गृहस्थ मनुष्यों को उचित है कि अन्नादि पदार्थों से बालक आदि का सत्कार करके अच्छे

व्यवहार की उन्नति करें।

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च ॥१६.३२॥

पदार्थः- हे मनुष्यों! तुम लोग **(ज्येष्ठाय)** अत्यन्त वृद्धों **(च)** और **(कनिष्ठाय)** अति बालकों को **(नमः)** सत्कार और अन्न **(च)** तथा **(पूर्वजाय)** ज्येष्ठभ्राता वा ब्राह्मण **(च)** और **(अपरजाय)** छोटे भाई वा नीच का **(च)** भी **(नमः)** सत्कार वा अन्न **(मध्यमाय)** बन्धु, क्षत्रिय वा वैश्य **(च)** और **(अपगल्भाय)** ढीठपन छोड़े हुए सरल स्वभाव वाले **(च)** इन सब का **(नमः)** सत्कार आदि **(च)** और **(जघन्याय)** नीचकर्मकर्त्ता शूद्र वा म्लेच्छ **(च)** तथा **(बुध्न्याय)** अन्तरिक्ष में हुए मेघ के तुल्य वर्त्तमान दाता पुरुष का **(नमः)** अन्नादि से सत्कार करो।

भावार्थः- परस्पर मिलते समय सत्कार करना हो तब (नमस्ते) इस वाक्य का उच्चारण करके छोटे बड़ों, बड़े छोटो, नीच उत्तमों, उत्तम नीचों और क्षत्रियादि ब्राह्मणों वा ब्राह्मणादि क्षत्रियादिकों को निरन्तर सत्कार करें। सब लोग इसी वेदोक्त प्रमाण से सर्वत्र शिष्टाचार में इसी वाक्य का प्रयोग करके परस्पर एक दूसरे का सत्कार करने से प्रसन्न होवें।

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नमऽआशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च ॥१६.३४॥

पदार्थ :- हे मनुष्यों! जो लोग **(वन्याय)** जंगल में रहने **(च)** और **(कक्ष्याय)** वन के समीप कक्षाओं में **(च)** तथा गुफा आदि में रहने वालों को **(नमः)** अन्न देवें **(श्रवाय)** सुनने वा सुनाने के हेतु **(च)** और **(प्रतिश्रवाय)** प्रतिज्ञा करने **(च)** तथा प्रतिज्ञा को पूरी करने हारे का **(नमः)** सत्कार करें **(आशुषेणाय)** शीघ्रगामिनी सेना वाले **(च)** और **(आशुरथाय)** शीघ्र चलने हारे रथों के स्वामी **(च)** तथा सारथि आदि को **(नमः)** अन्न देवें **(शूराय)** शत्रुओं को मारने **(च)** और **(अवभेदिने)** शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करने वाले **(च)** तथा दूतादि का **(नमः)** सत्कार करें उन का सर्वत्र विजय होवे।

भावार्थ :- राजपुरुषों को चाहिये कि वन तथा कक्षाओं में रहने वाले अध्येता और अध्यापकों, बलिष्ठ सेनाओं, शीघ्र चलने हारे यानों में बैठने वाले वीरों और दूतों को अन्न धनादि से सत्कारपूर्वक उत्साह देके सदा विजय को प्राप्त हों।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬस्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। स्तोमश्च यजुश्चऽऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च। स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम प्रजापतेः प्रजाऽअभूम वेट् स्वाहा ॥१८.२९॥

पदार्थ :- हे मनुष्य! तेरे प्रजाजनों के स्वामी होने के लिये **(आयुः)** जिससे जीवन होता है वह

आयुर्दा (**यज्ञेन**) परमेश्वर और अच्छे महात्माओं के सत्कार से (**कल्पताम्**) समर्थ हो (**प्राणः**) जीवन का हेतु प्राण वायु (**यज्ञेन**) सङ्ग करने से (**कल्पताम्**) समर्थ होवे (**चक्षुः**) नेत्र (**यज्ञेन**) परमेश्वर वा विद्वान् के सत्कार से (**कल्पताम्**) समर्थ हों (**श्रोत्रम्**) कान (**यज्ञेन**) ईश्वर वा विद्वान् के सत्कार से (**कल्पताम्**) समर्थ हों (**वाक्**) वाणी (**यज्ञेन**) ईश्वर से (**कल्पताम्**) समर्थ हों (**मनः**) संकल्पविकल्प करने वाला मन (**यज्ञेन**) ईश्वर से (**कल्पताम्**) समर्थ हो (**आत्मा**) जो कि शरीर इन्द्रिय तथा प्राण आदि पवनों को व्याप्त होता है वह आत्मा (**यज्ञेन**) ईश्वर से (**कल्पताम्**) समर्थ हो (**ब्रह्मा**) चारों वेदों का जानने वाला विद्वान् (**यज्ञेन**) ईश्वर वा वि. से (**कल्पताम्**) समर्थ हों (**ज्योतिः**) न्याय का प्रकाश (**यज्ञेन**) ईश्वर वा वि से (**कल्पताम्**) समर्थ हो (**स्वः**) सुख (**यज्ञेन**) ईश्वर वा वि. से (**कल्पताम्**) समर्थ हो (**पृष्ठम्**) जानने की इच्छा (**यज्ञेन**) पठनरूप यज्ञ से (**कल्पताम्**) समर्थ हो (**यज्ञः**) पाने योग्य धर्म (**यज्ञेन**) सत्यव्यवहार से (**कल्पताम्**) समर्थ हो (**स्तोमः**) जिस में स्तुति होती है वह अथर्ववेद (**च**) और (**यजुः**) जिससे जीव सत्कार आदि करता है वह यजुर्वेद (**च**) और (**ऋक्**) स्तुति का साधक ऋग्वेद (**च**) और (**साम**) सामवेद (**च**) और (**बृहत्**) अत्यन्त बड़ा वस्तु (**च**) और सामवेद का (**रथन्तरम्**) रथन्तर नाम वाला स्तोत्र (**च**) भी ईश्वर वा विद्वान् के सत्कार से समर्थ हो। हे (**देवाः**) विद्वानों! जैसे हम लोग (**अमृताः**) जन्म मरण के दुःख से रहित हुए (**स्वः**) मोक्ष सुख को (**अगन्म**) प्राप्त हों वा (**प्रजापतेः**) समस्त संसार के स्वामी जगदीश्वर की (**प्रजाः**) पालने योग्य प्रजा (**अभूम**) हों तथा (**वेट्**) उत्तम क्रिया और (**स्वाहा**) सत्यवाणी से युक्त (**अभूम**) हों वैसे तुम भी होओ।

भावार्थः- इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालंकार है। यहां पूर्व मन्त्र से (ते, आधिपात्याय) इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है। मनुष्य धार्मिक विद्वान् जनों के अनुकरण से यज्ञ के लिये सब समर्पण कर परमेश्वर और राजा को न्यायाधीश मान के न्यायपरायण होकर निरन्तर सुखी हों।

इडा॑भिर्भ॒क्षाना॑प्नोति सूक्तवा॒केना॒शिषः॑। श॒म्युना॑ पत्नीसंय॒ाजान्त्स॑मिष्टय॒जुषा॑ स॒ꣳस्थाम् ॥१९.२९॥

पदार्थ :- जो विद्वान् (**इडाभिः**) पृथिवियों से (**भक्षान्**) भक्षण करने योग्य अन्नादि पदार्थों को (**सूक्तवाकेन**) जो सुन्दरता से कहा जाय उस के कहने से (**आशिषः**) इच्छा-सिद्धियों को (**शंयुना**) जिस से सुख प्राप्त होता है। उस से (**पत्नी-संयाजान्**) जो पत्नी के साथ मिलते हैं उन को (**समिष्टयजुषा**) अच्छे इष्टसिद्धि करने वाले यजुर्वेद के कर्म से (**संस्थाम्**) अच्छे प्रकार रहने के स्थान को (**आप्नोति**) प्राप्त होता है वह सुखी क्यों न होवे।

भावार्थ :- गृहस्थ लोग वेदविज्ञान ही से पृथिवी के राज्यभोग की इच्छा और उनकी सिद्धि को प्राप्त होवें।

पु॒नन्तु॑ मा पि॒तरः॑ सो॒म्यासः॑ पु॒नन्तु॑ मा पिता॒म॒हाः पु॒नन्तु॒ प्रपि॑तामहाः। प॒वित्रे॑ण श॒तायु॑षा। पु॒नन्तु॑ मा पिता॒म॒हाः पु॒नन्तु॒ प्रपि॑तामहाः। प॒वित्रे॑ण श॒तायु॑षा विश्व॒मायु॒र्व्य॒श्नवै ॥१९.३७॥

पदार्थ :- (**सोम्यासः**) ऐश्वर्य से युक्त वा चन्द्रमा के तुल्य शान्त (**पितरः**) ज्ञान

देने से पालक पितर लोग **(पवित्रेण)** शुद्ध **(शतायुषा)** सौ वर्ष की आयु से **(मा)** मुझको **(पुनन्तु)** पवित्र करें अतिबुद्धिमान् चन्द्रमा के तुल्य आनन्दकर्त्ता **(पितामहाः)** पिताओं के पिता उस अतिशुद्ध सौ वर्षयुक्त आयु से **(मा)** मुझे को **(पुनन्तु)** पवित्र करें। ऐश्वर्यदाता चन्द्रमा के तुल्य शीतल स्वभाव वाले **(प्रपितामहाः)** पितामहों के पिता लोग शुद्ध सौ वर्ष पर्यन्त जीवन से **(मा)** मुझ को **(पुनन्तु)** पवित्र करें। विद्यादि ऐश्वर्ययुक्त वा शान्तस्वभाव **(पितामहाः)** पिताओं के पिता **(पवित्रेण)** अतीव शुद्धानन्दयुक्त **(शतायुषा)** शतवर्षपर्यन्त आयु से मुझ को **(पुनन्तु)** पवित्राचरणयुक्त करें। सुन्दर ऐश्वर्य के दाता वा शान्तियुक्त **(प्रपितामहाः)** पितामहों के पिता पवित्र धर्माचरणयुक्त सौ वर्ष पर्यन्त आयु से मुझ को **(पुनन्तु)** पवित्र करें जिससे मैं **(विश्वम्)** सम्पूर्ण **(आयुः)** जीवन को **(व्यश्नवै)** प्राप्त होऊं।

भावार्थ :- पिता, पितामह और प्रपितामहों को योग्य है कि अपने कन्या और पुत्रों को ब्रह्मचर्य, अच्छी शिक्षा और धर्मोपदेश से संयुक्त कर के विद्या और उत्तम शील से युक्त करें। सन्तानों को योग्य है कि पितादि की सेवा और अनुकूल आचरण से पिता आदि सभों की नित्य सेवा करें, ऐसे परस्पर उपकार से गृहाश्रम में आनन्द के साथ वर्त्तना चाहिये।

अग्नऽआयूंᳬंषिपवसऽआसुवोर्जमिषंचनः।आरेबाधस्वदुच्छुनाम्॥१९.३८॥

पदार्थ :- हे **(अग्ने)** विद्वन् पिता, पितामह और प्रपितामह! जो आप **(नः)** हमारे **(आयूंषि)** आयुर्दाओं को **(पवसे)** पवित्र करें सो आप **(ऊर्जम्)** पराक्रम **(च)** और **(इषम्)** इच्छासिद्धि को **(आ, सुव)** चारों ओर से सिद्ध करिये और **(आरे)** दूर और निकट वसने हारे **(दुच्छुनाम्)** दुष्ट कुत्तों के समान मनुष्यों के सङ्ग को **(बाधस्व)** छुड़ा दीजिये।

भावार्थ :- पिता आदि लोग अपने सन्तानों में दीर्घ आयु पराक्रम और शुभ इच्छा का धारण कराके अपने सन्तानों को दुष्टों के सङ्ग से रोक और श्रेष्ठों के सङ्ग में प्रवृत्त करा के धार्मिक चिरञ्जीवी करें जिससे वे वृद्धावस्था में भी अप्रियाचरण कभी न करें।

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥१९.३९ ॥

पदार्थ :- हे **(जातवेदः)** उत्पन्न हुए जनों में ज्ञानी विद्वन्! जैसे **(देवजनाः)** विद्वान् जन **(मनसा)** विज्ञान और प्रीति से **(मा)** मुझ को **(पुनन्तु)** पवित्र करें और हमारी **(धियः)** बुद्धियों को **(पुनन्तु)** पवित्र करें और **(विश्वा)** सम्पूर्ण **(भूतानि)** भूत प्राणिमात्र मुझ को **(पुनन्तु)** पवित्र करें वैसे आप **(मा)** मुझको **(पुनीहि)** पवित्र कीजिये।

भावार्थः- विद्वान् पुरुष और विदुषी स्त्रियों का मुख्य कर्त्तव्य यही है कि जो पुत्र और पुत्रियों को ब्रह्मचर्य और सुशिक्षा से विद्वान् और विदुषी सुन्दर शीलयुक्त निरन्तर किया करें।

पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत्। अग्ने क्रत्वा क्रतूँ२ऽरनु ॥१९.४०॥

पदार्थ :- हे **(दीद्यत्)** प्रकाशमान **(देव)** विद्या के देने हारे **(अग्ने)** विद्वन्! आप **(पवित्रेण)**

शुद्ध **शुक्रेण** वीर्य पराक्रम से स्वयं पवित्र होकर **(मा)** मुझको इससे **(अनु, पुनीहि)** पीछे पवित्र कर अपनी **(क्रत्वा)** बुद्धि वा कर्म से अपनी प्रज्ञा और कर्म को पवित्र कर के हमारी **(क्रतून्)** बुद्धियों वा कर्मों को पुनः पुनः पवित्र किया करो।

भावार्थः- पिता अध्यापक और उपदेशक लोग स्वयं धार्मिक और विद्वान् होकर अपने सन्तानों को भी ऐसे ही धार्मिक योग्य विद्वान् करें।

यत्ते॑ प॒वित्र॑म॒र्चिष्यग्ने॒ वित॑तमन्त॒रा। ब्रह्म॒ तेन॑ पुनातु मा ॥१९.४१ ॥

पदार्थ :- हे **(अग्ने)** स्वप्रकाशस्वरूप जगदीश्वर **(ते)** तेरे **(अर्चिषि)** सत्कार करने योग्य शुद्ध तेजः स्वरूप में **(अन्तरा)** सब से भिन्न **(यत्)** जो **(विततम्)** विस्तृत सब में व्याप्त **(पवित्रम्)** शुद्धस्वरूप **(ब्रह्म)** उत्तम वेद विद्या है **(तेन)** उस से **(मा)** मुझ को आप **(पुनातु)** पवित्र कीजिये।

भावार्थ :- हे मनुष्यों! तुम लोग जो देवों का देव पवित्रों का पवित्र व्याप्तों में प्याप्त अन्तर्यामी ईश्वर और उसकी विद्या वेद है उस के अनुकूल आचरण से निरन्तर पवित्र कीजिये।

पव॑मान॒: सोऽअ॒द्य न॑: प॒वित्रे॑ण॒ विच॑र्षणिः। यः पोता॒ स पु॑नातु मा ॥१९.४२ ॥

पदार्थ :- **(यः)** जो जगदीश्वर **(नः)** हमारे मध्य में **(पवित्रेण)** शुद्ध आचरण से **(पवमानः)** पवित्र **(विचर्षणिः)** विविध विद्याओं का दाता है (सः) सो (अद्य) आज हम को पवित्र करने वाला है हमरा उपदेशक है (सः) सो (पोता) पवित्र-स्वरूप परमात्मा (मा) मुझ को (पुनातु) पवित्र करें।

भावार्थ :- मनुष्य लोग ईश्वर के समान धार्मिक होकर अपने सन्तानों को धर्मात्मा करें। ऐसे किये बिना अन्य मनुष्यों को भी वे पवित्र नहीं कर सकते।

कः स्वि॑देका॒की च॑रति॒ कऽउ॑ स्विज्जायते॒ पुन॑ः।
कि॑ꣳस्वि॑द्धि॒मस्य॑ भेष॒जं किम्वा॒वप॑नं म॒हत्॥२३.९ ॥

पदार्थ :- हे विद्वानों! हम लोग तुम को यह पूछते हैं कि **(कः स्वित्)** कौन **(एकाकी)** एकाएकी अकेला **(चरति)** विचरता है **(उ)** और **(कः, स्वित्)** कौन **(पुनः)** बार-बार **(जायते)** प्रकट होता है **(किम्, स्वित्)** क्या **(हिमस्य)** शीत का **(भेषजम्)** औषध और **(किम्)** क्या **(उ)** तो **(महत्)** बड़ा **(आवपनम्)** बीज बाने का स्थान है।

भावार्थ :- इन उक्त प्रश्नों के उत्तर अगले मन्त्र में कहे हुए हैं, यह जानना चाहिये। मनुष्यों को योग्य है कि सदा इसी प्रकार के प्रश्न किया करें।

सूर्य॑ऽएका॒की च॑रति च॒न्द्रमा॑ जायते॒ पुन॑ः।
अ॒ग्निर्हि॒मस्य॑ भेष॒जं भूमि॒रा॒वप॑नं म॒हत्॥२३.१० ॥

पदार्थ :- हे जानने की इच्छा करने वाले मनुष्यों! **(सूर्य्यः)** सूर्य्य **(एकाकी विना)** सहाय बिना अपनी कक्षा में **(चरति)** चलता है। **(पुनः)** फिर इसी सूर्य के प्रकाश से **(चन्द्रमाः)** चन्द्र लोक **(जायते)** प्रकाशित होता है। **(अग्निः)** आग **(हिमस्य)** शीत का **(भेषजम्)** औषध है। **(भूमिः)**

पृथिवी **(महत्)** बड़ा **(आवपनम्)** बोने का स्थान है इस को तुम लोग जानो।

भावार्थ :- इस संसार में सूर्यलोक अपनी आकर्षण शक्ति से अपनी ही कक्षा में वर्त्तमान है और उसी के प्रकाश से चन्द्र आदि लोक प्रकाशित होते हैं। अग्नि के समान शीत के हटाने को कोई वस्तु और पृथिवी के तुल्य बड़ा पदार्थों के बोने का स्थान नहीं है यह मनुष्यों को जानना चाहिये।

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किस्विदासीद् बृहद्वयः।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला ॥२३.११॥

पदार्थः- हे विद्वानों! हम लोग तुम्हारे प्रति पूछते हैं कि **(का, स्वित्)** कौन **(पूर्वचित्तिः)** स्मरण का प्रथम पहला विषय **(आसीत्)** हुआ है **(किम्, स्वित्)** कौन **(बृहत्)** बड़ा **(वयः)** उड़ने हारा पक्षी **(आसीत्)** है **(का, स्वित्)** कौन **(पिलिप्पिला)** पिलपिली चिकिनी वस्तु **(आसीत्)** तथा **(का, स्वित्)** कौन **(पिशङ्गिला)** प्रकाश रूप को निगल जाने वाली वस्तु है।

भावार्थ :- इन प्रश्नों के उत्तर अगले मन्त्र में हैं। जो विद्वानों के प्रति न पूछें तो आप विद्वान् भी न हों।

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽआसीद् बृहद्वयः।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला ॥२३.१२॥

पदार्थः- हे जानने की इच्छा करने वालो! **(पूर्वचित्तिः)** प्रथम स्मृति का विषय **(द्यौः)** दिव्यगुण देने हारी वर्षा **(आसीत्)** है **(बृहत्)** बड़े **(वयः)** उड़ने हारे **(अश्वः)** मार्गों को व्याप्त होने वाले पक्षी के तुल्य अग्नि **(आसीत्)** है **(पिलिप्पिला)** वर्षा से पिलिपिली चिकनी शोभायमान **(अविः)** अन्नादि से रक्षा आदि उत्तम गुण प्रकट करने वाली पृथिवी **(आसीत्)** है और **(पिशङ्गिला)** प्रकाशरूप को निगलने अर्थात् अन्धकार करने हारी **(रात्रिः)** रात **(आसीत्)** है यह तुम जानो।

भावार्थ :- हवन और सूर्य रूपादि अग्नि के ताप से सब गुणों से युक्त अन्नादि से संसार की स्थिति करने वाली वर्षा होती है। उस वर्षा से सब ओषधि आदि उत्तम पदार्थ युक्त पृथिवी होती और सूर्य्य रूप अग्नि से ही प्राणियों के विश्राम के लिये रात्रि होती है।

स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे ॥२३.१५॥

पदार्थ :- हे **(वाजिन्)** बोध चाहने वाले जन! **(स्वयम्)** स्वयम् **(तन्वम्)** अपने शरीर को **(कल्पयस्व)** समर्थ कर **(स्वयम्)** स्वयम् अच्छे विद्वानों को **(यजस्व)** मिल और **(स्वयम्)** स्वयम् उनकी **(जुषस्व)** सेवा कर जिससे **(ते)** तेरी महिमा तेरा प्रताप **(अन्येन)** और के साथ **(न)** मत **(संनशे)** नष्ट हो।

भावार्थः- जैसे अग्नि स्वयं से आप प्रकाशित होता है वैसे ही जो बोध चाहने वाले जन पुरुषार्थयुक्त होते हैं तो उनका प्रताप, बढ़ाई कभी नहीं नष्ट होती।

**गणानां त्वा गणपतिं हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिं हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिं हवामहे वसो मम।
आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम्॥२३.१९॥**

पदार्थ :- हे जगदीश्वर! हम लोग (**गणानाम्**) गणों के बीच (**गणपतिम्**) गणों के पालने हारे (**त्वा**) आप को (**हवामहे**) स्वीकार करते (**प्रियाणाम्**) अतिप्रिय सुन्दरों के बीच (**प्रियपतिम्**) अतिप्रिय सुन्दरों के पालने हारे (**त्वा**) आप की (**हवामहे**) प्रशंसा करते (**निधीनाम्**) विद्या आदि पदार्थों की पुष्टि करने हारों के बीच (**निधिपतिम्**) विद्या आदि पदार्थों की रक्षा करने हारे (**त्वा**) आप को (**हवामहे**) स्वीकार करते हैं। हे (**वसो**) परमात्मन्! जिस आप में सब प्राणी वसते हैं सो आप (**मम**) मेरे न्यायाधीश हो जाइये जिस (**गर्भधम्**) गर्भ के समान संसार को धारण करने हारी प्रकृति को धारण करने हारे (**त्वम्**) आप (**आ, अजासि**) जन्मादि दोषरहित भली भांति प्राप्त होते हैं उस (**गर्भधम्**) प्रकृति के धर्त्ता को (**अहम्**) मैं (**आ, अजानि**) अच्छे प्रकार जानूं।

भावार्थ :- हे मनुष्यों! जो सब जगत् की रक्षा, चाहे हुए सुखों का विधान, ऐश्वर्य्यों को भली भांति देता, प्रकृति का पालन और सब बीजों का विधान करता है उसी जगदीश्वर की उपासना सब करो।

**माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य क्रीडतः।
विवक्षतऽइव ते मुखं ब्रह्मन्मा त्वं वदो बहु ॥२३.२५ ॥**

पदार्थ :- हे (**ब्रह्मन्**) चारों वेदों के जानने वाले सज्जन! जिन (**ते**) सूर्य के समान तेजस्वी आप की (**माता**) पृथिवी के समान माता (**च**) और जिन (**ते**) आप का (**पिता**) पिता (**च**) भी (**वृक्षस्य**) संसाररूप राज्य के बीच (**अग्रे**) विद्या और राज्य की शोभा में (**क्रीडतः**) रमते हैं उन (**ते**) आप का (**विवक्षत इव**) बहुत कहा चाहते हुए मनुष्य के मुख के समान (**मुखम्**) मुख है उस से (**त्वम्**) तू (**बहु**) बहुत (**मा**) मत (**वदः**) कहा कर।

भावार्थ :- जो माता-पिता सुशील धर्मात्मा लक्ष्मीवान् कुलीन हों उन्होंने सिखाया हुआ ही पुत्र प्रमाणयुक्त थोड़ा बोलने वाला होकर कीर्ति को प्राप्त होता है।

**कः स्विदेकाकी चरति कऽउ स्विज्जायते पुनः।
किꣳस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्॥२३.४५ ॥**

पदार्थ :- हे विद्वान्! इस संसार में (**कः, स्वित्**) कौन (**एकाकी**) एकाएकी अकेला (**चरति**) चलता वा प्राप्त होता है (**उ**) और (**कः, स्वित्**) कौन (**पुनः**) फिर-फिर (**जायते**) उत्पन्न होता (**किं, स्वित्**) कौन (**हिमस्य**) शीत का (**भेषजम्**) औषध (**किम्, उ**) और क्या (**महत्**) बड़ा (**आवपनम्**) अच्छे प्रकार से बीज बोने का आधार है इस बस को आप कहिये।

भावार्थः- बिना सहाय के कौन भ्रमता, कौन फिर-फिर उत्पन्न होता, शीत की निवृत्ति कर्त्ता कौन और बड़ा उत्पत्ति का स्थान क्या है इन सब प्रश्नों के समाधान अगले मन्त्र से जानने चाहियें।

किꣳस्वित्सूर्यसमं ज्योतिः किꣳसमुद्रसमꣳसरः।

कि॑स्वि॑त्पृथि॒व्यै वर्षी॑यः कस्य॒ मात्रा॒ न वि॑द्यते ॥२३.४७॥

पदार्थ :- हे विद्वन्! **(किं, स्वित्)** कौन **(सूर्यसमम्)** सूर्य के समान **(ज्योतिः)** प्रकाशस्वरूप **(किम्)** कौन **(समुद्रसमम्)** समुद्र के समान **(सरः)** जिस में जल बहते वा गिरते वा आते जाते हैं ऐसा तालाब **(किं, स्वित्)** कौन **(पृथिव्यै)** पृथिवी से **(वर्षीयः)** अति बड़ा और **(कस्य)** किस का **(मात्रा)** जिस से तोल हो वह परिमाण **(न)** नहीं **(विद्यते)** विद्यमान है।

भावार्थ :- आदित्य के तुल्य तेजस्वी, समुद्र के समान जलाधार और भूमि से बड़ा कौन है और किस का परिमाण नहीं है? इन चार प्रश्नों का उत्तर अगले मन्त्र में जानना चाहिये।

ब्रह्म॒ सूर्य॑सम॒ं ज्योति॒र्द्यौः स॑मु॒द्रस॑म॒ꣳसरः॑।

इन्द्रः॑ पृथि॒व्यै वर्षी॑या॒न् गोस्तु॒ मात्रा॒ न वि॑द्यते ॥२३.४८॥

भावार्थ :- हे ज्ञान चाहने वाले जन! तू **(सूर्य्यसमम्)** सूर्य के समान **(ज्योतिः)** स्वप्रकाशस्वरूप **(ब्रह्म)** सब से बड़े अनन्त परमेश्वर **(समुद्रसमम्)** समुद्र के समान **(सरः)** ताल **(द्यौः)** अन्तरिक्ष **(पृथिव्यै)** पृथिवी से **(वर्षीयान्)** बड़ा **(इन्द्रः)** सूर्य और **(गौः)** वाणी का **(तु)** तो **(मात्रा)** मान परिमाण **(न)** नहीं **(विद्यते)** विद्यमान है इसको जान।

भावार्थ :- प्रकाशवान् जो ब्रह्म है उसके समान ज्योति विद्यमान नहीं वा सूर्य के प्रकाश से युक्त मेघ के समान जल के ठहरने का स्थान वा सूर्यमण्डल के तुल्य लोकेश वा वाणी के तुल्य व्यवहार को सिद्ध करने द्वारा कोई भी पदार्थ नहीं होता इसका निश्चय सब करें।

मे॒धां मे॒ वरु॑णो ददातु मे॒धाम॒ग्निः प्र॒जाप॑तिः।

मे॒धामिन्द्र॑श्च वा॒युश्च॑ मे॒धां धा॒ता द॑दातु मे॒ स्वाहा॑ ॥३२.१५॥

पदार्थ :- हे मनुष्यो! जैसे **(वरुणः)** अति श्रेष्ठ परमेश्वर वा विद्वान् **(स्वाहा)** धर्मयुक्त क्रिया से **(मे)** मेरे लिये **(मेधाम्)** शुद्ध बुद्धि वा धन को **(ददातु)** देवे **(अग्निः)** विद्या से प्रकाशित **(प्रजापतिः)** प्रजा का रक्षक **(मेधाम्)** बुद्धि को देवे **(च)** और **(धाता)** सब संसार वा राज्य का धारण करने हारा ईश्वर वा विद्वान् **(मे)** मेरे लिये बुद्धि धन को **(ददातु)** देवे वैसे तुम लोगों को भी देवें।

भावार्थ :- मनुष्य जैसे अपने लिये गुण, कर्म, स्वभाव और सुख को चाहें वैसे औरों के लिये भी चाहें। जैसे अपनी-अपनी उन्नति की चाहना करें वैसे परमेश्वर और विद्वानों के निकट से अन्यों की उन्नति की प्रार्थना करें। केवल प्रार्थना ही न करें, किन्तु सत्य आचरण भी करें। जब-जब विद्वानों के निकट जावें तब-तब के कल्याण के लिये प्रश्न और उत्तर किया करें।

अश्म॑न्वती रीयते॒ सꣳर॑भध्व॒मुत्ति॑ष्ठत॒ प्र त॑रता सखायः।

अत्रा॑ जही॒मोऽशि॑वा॒ येऽ अस॑ञ्छि॒वान्व॒यमुत्त॑रेमा॒भि वाजा॑न् ॥३५.१०॥

पदार्थ :- हे **(सखायः)** मित्रो! जो **(अश्मन्वती)** बहुत मेघों वा पत्थरों वाली सृष्टि वा नदी प्रवाह से **(रीयते)** चलती है उसके साथ जैसे **(वयम्)** हम लोग **(ये)** जो **(अत्र)** इस जगत् में

वा समय में **(अशिवाः)** अकल्याणकारी **(असन्)** हैं उनको **(जहीमः)** छोड़ते हैं तथा **(शिवान्)** सुखकारी **(वाजान्)** अत्युत्तम अन्नादि के भागों को **(अभि, उत्, तरेम्)** सब ओर से पार करें अर्थात् भोग चुकें वैसे तुम लोग **(सरंभध्वम्)** सम्यक् आरम्भ करो **(उत्तिष्ठत)** उद्यत होओ और **(प्रतरत)** दुःखों का उल्लंघन करो।

भावार्थ :- जो मनुष्य बड़ी नौका से समुद्र के जैसे पार हों वैसे अशुभ आचरणों और दुष्ट जनों के पार हो प्रयत्न के साथ उद्यमी होके मङ्गलकारी आचरण करें वे दुःखसागर से सहज से पार होवें।

नम॑स्तेऽअस्तु वि॒द्यु॒ते नम॑स्ते स्तनयि॒त्नवे॑।

नम॑स्ते भगवन्नस्तु॒ यत॒ः स्व॒ः स॒मीह॑से ॥३६.२१ ॥

पदार्थ :- हे **(भगवन्)** अत्यन्त ऐश्वर्य्ययुक्त परमेश्वर! **(यतः)** जिस कारण आप हमारे लिये **(स्वः)** सुख देने के अर्थ **(समीहसे)** सम्यक् चेष्टा करते हैं इस से **(विद्युते)** बिजुली के समान अभिव्याप्त **(ते)** आप के लिये **(नमः)** नमस्कार **(अस्तु)** हो **(स्तनयित्नवे)** अधिकतर गर्जने वाले विद्युत् के तुल्य दुष्टों को भय देने वाले **(ते)** आप के लिये **(नमः)** नमस्कार **(अस्तु)** हो और सब की सब प्रकार रक्षा करने हारे **(ते)** तेरे लिये **(नमः)** निरन्तर नमस्कार करें।

भावार्थः- इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। हे मनुष्यों! जिस कारण ईश्वर हमारे लिये सदा आनन्द के अर्थ सब साधन-उपसाधनों को देता है इस से सेवा करने योग्य है।

स्मरणीय बिंदु

1. यजुर्वेद कर्मप्रधान वेद है।
2. यज्ञ लोककल्याण का माध्यम है।
3. नैतिकता एवं अनुशासन का महत्व बताया गया है।
4. वैदिक कर्म समाज के हित के लिए हैं।

शब्दावली

1. यज्ञ - पवित्र अनुष्ठान
2. कर्म - कार्य
3. धर्म - कर्तव्य
4. अनुष्ठान - धार्मिक क्रिया
5. लोकमंगल - जनकल्याण

5 अंक के प्रश्न-

1. यजुर्वेद का मुख्य विषय क्या है?

2. यज्ञ का महत्व स्पष्ट कीजिए।

3. कर्म एवं धर्म का संबंध स्पष्ट कीजिए।

4. यजुर्वेद में नैतिकता का महत्व बताइए।

5. वैदिक अनुष्ठानों का उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न–

1. यजुर्वेद के चयनित मंत्रों का दार्शनिक विवेचन कीजिए।

2. वैदिक कर्मकांड एवं यज्ञ की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

3. यजुर्वेद की आधुनिक जीवन में प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

4. यज्ञ एवं लोकमंगल के संबंध का विश्लेषण कीजिए।

5. यजुर्वेद में वर्णित नैतिक आदर्शों का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. यजुर्वेद मुख्यतः किससे संबंधित है?

(क) संगीत

(ख) यज्ञ एवं कर्म

(ग) चिकित्सा

(घ) राजनीति

उत्तरः (ख)

2. यजुर्वेद का संबंध किससे है?

(क) अनुष्ठान

(ख) युद्ध

(ग) व्यापार

(घ) कृषि

उत्तरः (क)

3. यज्ञ का उद्देश्य क्या है?

(क) लोकमंगल

(ख) हिंसा

(ग) स्वार्थ

(घ) संघर्ष

उत्तरः (क)

4. यजुर्वेद किस प्रकार का वेद है?

(क) कर्मप्रधान

(ख) संगीतप्रधान

(ग) दार्शनिक

(घ) चिकित्सकीय

उत्तर: (क)

5. वैदिक कर्म का आधार क्या है?

(क) धर्म

(ख) स्वार्थ

(ग) लोभ

(घ) क्रोध

व उत्तर: (क)

इकाई-4.3 सामवेद के चयनित मन्त्र

उद्देश्य

1. सामवेद की संगीतात्मक परंपरा को समझना।
2. वैदिक संगीत एवं उपासना का अध्ययन करना।
3. आध्यात्मिक जीवन में संगीत की भूमिका समझना।

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि॥१॥[1]

(अध्याय १, खण्ड १, प्रपाठ.१, अर्ध १)

अन्वित पदार्थ- प्रथम, परमात्मा के पक्ष में। **हे अग्ने** सर्वाग्रणी, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वसुखप्रापक, सर्वप्रकाश परमात्मन्! आप गृणानः कर्तव्यों का उपदेश करते हुए **वीतये** हमारी प्रगति के लिए, हमारे विचारों और कर्मों में व्याप्त होने के लिए, हमारे हृदयों में सद्गुणों को उत्पन्न काम-क्रोध आदि को बाहर फेंकने के लिए, और **हव्य-दातये** देय पदार्थ श्रेष्ठ कर्म, श्रेष्ठ धर्म, श्रेष्ठ धन आदि के दान के लिए **आ याहि** आइए। **होता** शक्ति आदि के दाता एवं दुर्बलता आदि के हर्ता होकर **बर्हिषि** हृदयरूप अन्तरिक्ष में **नि सत्सि** बैठिए।

यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे।
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम्॥१॥

(अध्याय १, खण्ड ४, प्रपाठ.१, अर्ध १)

पदार्थ- है मनुष्यो, **यज्ञायज्ञा** प्रत्येक यज्ञ में **वः** तुम लोगों को **अग्नये** सद्गुणप्रेरक परमात्मा की आराधना करने के लिए, मैं नियुक्त करता हूँ। **गिरागिरा च** और प्रत्येक वाणी से अर्थात् प्रभावजनक वाक्यावलो के विन्यास से **दक्षसे** बढ़ने अर्थात् उन्नति करने के लिए, प्रेरित करता हूँ। इस प्रकार **वयम्** तुम-हम सब मिलकर **अमृतम्** अमरणधर्मा, अविनाशी **जातवेदसम्** सर्वज्ञ और सर्वव्यापक परमेश्वर की **प्र प्र** पुनः पुनः प्रशंसा करते हैं। मैं पृथक् भी **प्रियम्** प्रिय **मित्रं** न मित्र के समान, उस परमेश्वर की **प्र प्र शंसिषम्** पुनः पुनः प्रशंसा करता हूँ।

पाहि नो अग्न एकया पाह्यू३त द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो॥२॥[2]

---

1. ऋ० ६।१६।१०; साम ६६०।
2. ऋ० ८।६०।९, य० २७।४३, साम १५४४।

(अध्याय १, खण्ड ४, प्रपाठ.१, अर्ध १)

पदार्थ- प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे **ऊर्जां पते** अन्नों, रसों, बलों और प्राणों के अधिपति, **बसो** सर्वत्र बसने वाले सर्वान्तर्यामी तथा निवास प्रदायक **अग्ने** परमात्मन्! आप **नः** हमारी **एकया** एक ऋग्-रूप वाणी से **रक्ष** रक्षा कीजिए; **उत** और **द्वितीया** दूसरी यजुःरूप वाणी से **पाहि** रक्षा कीजिए। **तिसृभिः** तीन ऋग्, यजुः और सामरूप सम्मिलित **गीर्भिः** वाणियों से **पाहि** रक्षा कीजिए, **चतसृभिः** धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनका विज्ञान कराने वाली चार प्रकार की वाणियों ने पाहि रक्षा कीजिए।[1]

बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवत् पावक दीदिहि॥३॥[2]

(अध्याय १, खण्ड ४, प्रपाठ.१, अर्ध १)

पदार्थ- हे **यविष्ठ्य** अतिशय युवा, **पावक** पवित्रकर्ता, **देव** दाता **अग्ने** तेजस्वी परमेश्वर **बृहद्भिः** महान् **अर्चिभिः** तेजों से, और **शुक्रेण** शुद्ध **शोचिषा** ज्ञान-प्रकाश से **भरद्वाजे** अपने आत्मा में बल भरनेवाले पुरुषार्थप्रिय मुझ स्तोता के अन्दर अथवा बल एवं उत्साह से सम्पन्न मेरे मन के अन्दर **समिधानः** प्रकाशित होते हुए आप **रेवत्** समृद्धिपूर्वक **दीदिहि** देदीप्यमान हों।

अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षसः
अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः॥५॥[3]

(अध्याय १, खण्ड ४, प्रपाठ.१, अर्ध १)

पदार्थ- प्रथम परमेश्वर के पक्ष में। **हे जरितः** सज्जनों के गुणों के प्रशंसक **अग्ने** परमात्मन्! आप **विश्पतिः** प्रजापालक हो। हे **देव** ज्योतिर्मय! आप **रक्षसः** राक्षसी वृत्ति वाले मनुष्यों के **तपानः** सन्तापक हो। हे **गृहपते** ब्रह्माण्डरूप गृह के स्वामिन्! **अप्रोषिवान्** ब्रह्माण्डरूप गृह से कभी प्रवास न करने वाले, **दिवः पायुः** प्रकाशमान द्युलोक के अथवा प्रकाशमान जीवात्मा के रक्षक, **दुरोणयुः** सबको निवास गृह दिलाना चाहने वाले आप **महान्** महान् **असि** हो।

शेषे वनेषु मातृषु सं त्वा मर्तास इन्धते।
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत आदिद् देवेषु राजसि॥२॥[4]

(अध्याय १, खण्ड ५, प्रपाठ.१, अर्ध १)

---

1. यह विद्वत्परक अर्थ य० २७।४३ के दयानन्द-भाष्य के अनुसार है।
2. ऋ० ६।४८।७ 'रेवन्नः शुक्र दीदिहि' इति पाठः। तदनन्तरं 'द्युमत् पावक दीदिहि' इत्यधिकम्।
3. ऋ० ८।६०।१९ 'तपानो, गृहपते' इत्यत्र क्रमेण 'तेपानो, 'गृहपतिर्' इति पाठः।
4. ऋ० ८।६०।१५, 'तातृषु, हव्यं' इत्यत्र क्रमेण 'मात्रोः' हव्या' इति पाठः।

पदार्थ- प्रथम यज्ञाग्नि के पक्ष में। हे यज्ञाग्नि! तू **वनेषु** वनों में, वन के काष्ठों में, और **मातृषु** अपनो माता-रूप अरणियों के गर्भ में **शेषे** सोता है, छिपे रूप से विद्यमान रहता है। **त्वा** तुझे **मर्तासः** याज्ञिक मनुष्य **समिन्धते** अरणियों को मथकर प्रज्वलित करते हैं। प्रज्वलित हुआ तू **अतन्द्रः** तन्द्रारहित होकर, निरन्तर **हविष्कृतः** हवि देनेवाले यजमान की **हव्यम्** आहुत हवि को **वहसि** स्थानान्तर में पहुंचाता है। **आत् इत्** उसके अनन्तर ही, **तू देवेषु** विद्वान् जनों में **राजसि** राजा के समान प्रशंसित होता है।

यहाँ अचेतन यज्ञाग्नि में चेतन के समान व्यवहार आलंकारिक है। अचेतन में शयन और तन्द्रा का सम्बन्ध सम्भव न होने से शयन की प्रच्छन्न रूप से विद्यमानता होने में लक्षणा है, इसी प्रकार अतन्द्रत्व की नैरन्तर्य में लक्षणा है। 'वनों में शयन करता है,' इससे 'अग्नि एक वनवासी मुनि के समान हैं', यह व्यंजना निकलती है।

अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम्।
अग्निं राये पुरुमीढ श्रुतं नरोऽग्निः सुदीतये छर्दिः॥५॥[1]

(अध्याय १, खण्ड ५, प्रपाठ.१, अर्ध १)

पदार्थ- हे पुरुमीढ अनेक गुणों से सिक्त स्तोता! तू **अवसे** रक्षा, प्रगति, सर्वजनप्रीति और तृप्तिलाभ के लिए **शीरशोचिषम्** सर्वत्र व्यापक ज्योतिवाले **अग्निम्** तेजस्वी परमात्मा की **गाथाभिः** मन्त्र- वाणियों से **ईडिष्व** स्तुति और आराधना कर। **श्रुतम्** महिमा वर्णन करने वाले वेदादि शास्त्रों से सुने हुए **अग्निम्** उस परमात्मा की, तू **राये** भौतिक एवं आध्यात्मिक सब प्रकार के धनों की प्राप्ति के लिए **ईडिष्व** स्तुति और आराधना कर। हे **नरः** पौरुषवान् मनुष्यो! **अग्नि** जगत् का नायक परमात्मा **सुदीतये** उत्तम कर्मवाले पुरुषार्थी जन के लिए **छर्दिः** शरण होता है।

भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः
भद्रा उत प्रशस्तयः॥५॥[2]

(अध्याय १, खण्ड १२, प्रपाठ.२, अर्ध १)

पदार्थ- आहुतः अग्निः जिसमें सुगन्धित, मधुर, पुष्टिवर्धक तथा आरोग्यवर्धक हवियों की आहुति दी गयी है ऐसा यज्ञाग्नि, सत्कार किया गया अतिथि और जिसमें उपासक द्वारा आत्मसमर्पण की आहुति दी गयी है ऐसा परमात्मा नः हमारे लिए **भद्रः** भद्र को देनेवाला हो। **रातिः** हमारे द्वारा दिया गया दान भद्रा भद्र अथवा भद्र को देने वाला हो। हे सुभग सौभाग्यशाली मेरे अन्तरात्मन्! तुझसे किया गया **अध्वरः** यज्ञ **भद्रः** भद्र अथवा भद्रजनक हो। **उत्त** और **प्रशस्तयः** तुझसे अर्जित प्रशस्तियों वा कीर्तियों भी **भद्राः** भद्र अथवा भद्रजनक हों।

1. ऋ० ८।७१।१४, अ० २०।१०३।१। उभयत्र 'नरोऽग्निं' इति पाठः।
2. ऋ० ८।१९।१९, य० १५।३८ ऋषिः परमेष्ठी। साम० १५३८।

यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥६॥[1]

(अध्याय १, खण्ड १२, प्रपाठ.२, अर्ध १)

पदार्थ- प्रथम परमात्मा के पक्ष में। हे अग्रणी परब्रह्म परमात्मन्! **यजिष्ठम्** अतिशयरूप से सृष्टियज्ञ के विधाता, सुख-ऐश्वर्य आदि के दाता, सूर्य-पृथिवी आदि का परस्पर संगम कराने वाले, **देवत्रा देवम्** प्रकाशक सूर्य, बिजली, चन्द्रमा आदि तथा चक्षु, श्रोत्र, मन आदि में सर्वश्रेष्ठ प्रकाशक **होतारम्** मोक्षसुख के प्रदाता, **अमर्त्यम्** अमरणशील, **अस्य यज्ञस्य** इस मेरे ध्यान-यज्ञ के **सुक्रतुम्** सुसंचालक, सफलताप्रदायक **त्वा** आपको, हम **ववृमहे** उपास्य रूप से वरण करते हैं।

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥९॥

(अध्याय २, खण्ड ३, प्रपाठ.२, अर्ध १)

पदार्थ-गिरीणाम् पर्वतों के **उपह्वरे** एकान्त में अथवा समीप में नदीनां च और नदियों के **सङ्गमे** संगम-स्थल पर **धिया** ध्यान द्वारा **विप्रः** वह सर्वव्यापक और मेधावी इन्द्र परमेश्वर **अजायत** प्रकट होता है।

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्। इत्था चन्द्रमसो गृहे॥३॥[2]

(अध्याय २, खण्ड ४, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- प्रथम सूर्य से चन्द्रमा के प्रकाशित होने के पक्ष में। **त्वष्टुः** विच्छेदक, प्रकास द्वारा शोध व्याप्तिशील, देदीप्यमान सूर्य की **गोः** सुषुम्णनामक रश्मि के **अत्र अह** इस **चन्द्रमसः गृहे** चन्द्र मण्डल में **अपीच्यम्** प्रच्छन्न रूप से **नाम** अवस्थान को, विद्वान् लोग इत्या सत्य रूप में **अमन्वत** जानते हैं। अर्थात् चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित होता है इस रहस्य इस रहस्य को विद्वान् लोग भलीभांति समझते हैं।

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह।
अहं सूर्य इवाजिन॥८॥[3]

(अध्याय २, खण्ड ४, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- अहम् मैंने **इत् हि** सचमुच पितुः **परि पिता** इन्द्र परमेश्वर से **ऋतस्य मेधाम्** सत्याचरण की मेधा को अथवा ऋतम्भरा प्रज्ञा को **जग्रह** ग्रहण कर लिया है। उससे प्रकाशमान हुआ **अहम्** अध्यात्म- पथ का पथिक मैं **सूर्यः इव** सूर्य के समान **अजनि** हो गया हूँ।

पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत।

1. ऋ० ८।६१९।३, साम० १४१३।
2. ऋ० १।८४।१५, अथ० २०।४१।३, साम० ९१५।
3. ऋ० १।३०।१३, अथ० २०।१२२।१, साम० १०८४।

विश्वासाहं शतक्रतुं मंहिष्ठं चर्षणीनाम्॥१॥[1]

(अध्याय २, खण्ड ५, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- हे मनुष्यो! **वः** तुम **अन्धसः** भोग्य वस्तुओं के **आ पान्तम्** सब ओर से रक्षक, **विश्वा साहम्** समस्त शत्रुओं के विजेता, **शतक्रतुम्** बहुत बुद्धिमान, वहुत कर्मण्य, बहुत से यज्ञों को करने वाले, **चर्षणीनाम्** मनुष्यों को **मंहिष्ठम्** अतिशय दान करने वाले **इन्द्रम्** परमैश्वर्यशाली वीर परमात्मा और राजा को **अभि** लक्षित करके **प्र गायत** प्रकृष्ट रूप से गान करो अर्थात् उनके गुण-कर्म-स्वभावों का वर्णर करो।

वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः।
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते॥३॥[2]

(अध्याय २, खण्ड ५, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- हे **इन्द्र** परमात्मन्! **त्वायन्तः** आपके पाने की कामना करते हुए **सखायः** आपके सखा **वयम् उ** हम उपासक लोग **तदिदर्थाः** आपके दर्शन को ही प्रयोजन मानते हुए **त्वा** आपकी स्तुति करते हैं। न केवल हम, प्रत्युत **कण्वाः** सभी मेधावी जन **उक्थेभिः** स्तोत्रों से आपकी **जरन्ते** स्तुति करते हैं।

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि॥६॥[3]

(अध्याय २, खण्ड ५, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- हम उपासक लोग, प्रजाजन अथवा शिष्यगण **सुरूपकृत्नुम्** सृष्ट्युत्पत्ति-स्थिति आदि सरुप कर्मो के कर्ता परमात्मा को, प्रजापालन-राष्ट्रनिर्माण आदि सुख्य कर्मों के कर्ता राजा को और विद्याप्रदान-सदाचार निर्माण आदि सुरूप कर्मों के कर्ता आचार्य को **ऊतये** क्रमशः उपासना के फल की प्राप्ति के लिए, राष्ट्ररक्षा के लिए और विद्याप्राप्ति के लिए **द्यविद्यवि** प्रतिदिन **जुहूमसि** पुकारते हैं, गोदुहे गाय दुहने वाले गोदुग्ध के इच्छुक मनुष्य के लिए **सुदुघाम् इव जैसे** दुधारू गाय को बुलाया जाता है।

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये॥९॥[4]

(अध्याय २, खण्ड ५, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ-प्रथम परमात्मा के पक्ष में। **योगे योगे** योग के विभिन्न स्तरों यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, सविकल्पक निविकल्पक समाधि में **तवस्तरम्** क्रमशः बढ़ने वाले, योग-विघ्नों

1. प्रथमायामृचि ७+८+८+७=३० इत्यक्षरसंख्यां सामान्यतोऽअनुष्टुपछन्दसि स्वीकर्त्तव्येऽपि गायत्रीप्रकरणत्वादेषा गायत्री एवाभिमता। सेयं चतुष्पदा त्रिंशदक्षरा गायत्री। ऋ० ८।९२।१, ऋषिः श्रुतकक्षः सुकक्षो वा, छन्दः विराड् अनुष्टुप्।
2. ऋ० ८।२।१६, साम० ७१९, अथ० २०।१८।१।
3. ऋ० १।४।१, अथ० २०।५७।१, ६८।१, साम० १०८७।
4. ऋ० १।३०।७, अथ० ११।१४, अथ० २०।२६।१, साम० ७४३।

को नष्ट करने वाले तथा साधक की उन्नति करने वाले **इन्द्रम्** सिद्धिप्रदायक परमेश्वर को **सखायः** हम साथी योगी-जन **वाजे वाजे** प्रत्येक आन्तरिक देवासुर संग्राम में **ऊतये** रक्षा वा विजय-प्राप्ति के लिए **हवामहे** पुकारें ।।

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधःसखा।
कया शचिष्ठया वृता॥५॥[1]

(अध्याय २, खण्ड ६, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- चित्रः अद्‌भुत गुण-कर्म-स्वभाव वाला वह इन्द्रनामक परमेश्वर और राजा **कया** कैसी अद्‌भुत **ऊती** रक्षा के द्वारा, और **कया** कैसी अद्‌भुत **शचिष्ठया** अतिशय बुद्धिपूर्ण **वृता** विद्यमान क्रिया के द्वारा **नः** हमारा **सदावृधः** सदा बढ़ाने वाला **सखा** सखा **आ भुवत्** बना हुआ है।

सदसस्पतिमद्‌भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्। सनिं मेधामयासिषम्॥७॥[2]

(अध्याय २, खण्ड ६, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ-प्रथम परमात्मा के पक्ष में। मैं **अद्‌भुतम्** आश्चर्यमय गुण-कर्म-स्वभाव वाले, **इन्द्रस्य** शरीर के अधिष्ठाता जीवात्मा के **प्रियम्** प्रिय, **काम्यम्** उपासकों के स्पृहणीय, **सिनम्** कृत पाप-पुण्य-रूप कर्मो के फलप्रदाता **सदसःपतिम्** हृदयरूप अथवा ब्रह्माण्डरूप यज्ञसदन के स्वामी परमात्मा से **मेधाम्** धारणावती बुद्धि को **अयासिषम्** मागता हूँ।।

भद्रंभद्रं न आ भरेषमूर्ज शतक्रतो। यदिन्द्र मृडयासि नः॥९॥[3]

(अध्याय २, खण्ड ६, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- हे **शतक्रतो** अनन्त शुभ कर्मों को करने वाले प्रभु! तुम **भद्रंभद्रम्** भद्र-भद्र **इषम्** अन्न, धन, विज्ञान आदि और **ऊर्जम्** बल, प्राण, रस आदि **नः** हमारे लिए **आ भर** लाओ। **यत्** क्योंकि, हे **इन्द्र** दयानिधि परमात्मन्! आप नः हमें **मृडयासि** सदा सुखी ही करते हो।

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसुः॥५॥[4]

(अध्याय २, खण्ड ८, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- प्रथम वेदवाणी के पक्ष में। ऋचा का देवता इन्द्र होने से इन्द्र को सम्बोधन किए जाना चाहिए। हे इन्द्र परमेश्वर! आपकी **वाजिनीवती** क्रियामयी अथवा कर्म का उपदेश देने वाली **सरस्वती** ज्ञानमयी

1. ऋ० ४।३१।१, य० २७।३९, ३६।४, साम० ६८२, अथ० २०।१२४।१।
2. ऋ० १।१८।६, देवता सदसस्पतिः, य० ३२।१३ ऋषिः मेधाकामः, अन्ते 'स्वाहा' इत्यधिकम्।
3. ऋ० ८।९३।२८, ऋषिः सुकक्षः।
4. ऋ० १।३।१०, य० २०।८४, उभयत्र देवता सरस्वती।

वेदवाणी **वाजेभिः** विज्ञान-रूप बलों से नः हमें **पावका** पवित्र करने वाली हो। **धियावसुः** ज्ञान और कर्म के उपदेश से वसाने वाली वह **यज्ञम्** हमारे जीवन-यज्ञ को **वष्टु** भली भांति जताई संस्कृत करे।

इमा उ त्वा सुतेसुते नक्षन्ते गिर्वणो गिरः।
गावो वत्सं न धेनवः॥८॥[1]

(अध्याय २, खण्ड ८, प्रपाठ.२, अर्ध २)

पदार्थ- हे **गिर्वणः** स्तुतिवाणियों से सेवनीय वा याचनीय परमैश्वर्यवन् इन्द्र परमात्मन्! **इमाः उ** ये हम से उच्चारण की जाती हुई **गिरः** वेदवाणियाँ अथवा स्तुतिवाणियाँ **सुतेसुते** प्रत्येक ज्ञान, कर्म और उपासना के व्यवहार में **त्वा** आपको **नक्षन्ते** प्राप्त होती हैं, **धेनवः** अपना दूध पिलाने वाली या अपने दूध से तृप्त करने वाली गावः गौएँ वत्सं न जैसे बछड़े को प्राप्त होती हैं।

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूढमस्य पांसुले॥९॥[2]

(अध्याय २, खण्ड ११, प्रपाठ.३, अर्ध १)

पदार्थ- यहाँ मन्त्र का देवता इन्द्र है, अतः विष्णु इन्द्र का विशेषण समझना चाहिए। **प्रथम** परमात्मा के पक्ष में। **विष्णुः** चराचर जगत् में व्याप्त होने वाला परमेश्वर **इदम्** इस सब जगत् में **विचक्रमे** व्यापक है। **त्रेधा** तीन प्रकार से- अर्थात् उत्पादक, धारक और विनाशक इन तीन रूपों में उस जगत् **में** वह **पदम्** अपने पैर को अर्थात् अपनी सत्ता को **निदधे** रखे हुए है। किन्तु **अस्य** इस परमेश्वर का, वह पैर अर्थात् अस्तित्व **पांसुले** पाञ्चभौतिक इस जगत् में **समूढम्** छिपा हुआ है, चर्म-चक्षुओं से अगोचर है। जैसे धूलि वाले प्रदेश में **समूढम्** छिपा हुआ **पदम्** किसी का पैर दिखाई नहीं देता है, यह यहाँ ध्वनि निकल रही है।

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रमिदं हविर्मघवा वेत्विन्द्रः॥२॥[3]

(अध्याय ३, खण्ड ११, प्रपाठ.४, अर्ध १)

पदार्थ- में **त्रातारम्** आपत्तियों से त्राण करने वाले **इन्द्रम्** शत्रुविदारक जगदीश्वर वा राजा को, **अवितारम्** सुखादि के प्रदान द्वारा पालना करने वाले **इन्द्रम्** ऐश्वर्यशाली जगदीश्वर वा राजा को, **हवे हवे** प्रत्येक संग्राम में, प्रत्येक संकट में सुहवम् सरलता से पुकारने योग्य **शक्रम्** शक्तिशाली, **पुरुहूतम्** बहुत स्तुति किये गये अथवा बहुतों से बुलाये गये **इन्द्रम्** अविद्या, दुःख आदि के भञ्जक जगदीश्वर वा राजा को

1. ऋ० ६।४५।२८, ऋषिः शंयुः बार्हस्पत्यः। 'वत्सं गावो न धेनवः' इति तृतीयः पादः।
2. ऋ० १।२२।१७, य० ५।१५, अथ० ७।२६।४, सर्वत्र देवता विष्णुः, 'पांसुले' इत्यत्र च 'पांसुरे' इति पाठः। साम०
3. ऋ० ६।४७।११, य० २०।५० उभयत्र ऋषिः गर्गः, 'ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्र स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः, इति चोत्तरार्धपाठः। अथ० ७।८६।१, ऋषिः अथर्वा स्वस्त्ययनकामः, 'स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु' इति चतुर्थः पादः।

शीघ्र ही पुकारता हूँ। **सः** वह **मधवा** प्रशस्त धन वाला **इन्द्रः** जगदीश्वर वा राजा **इदम्** इस मेरे द्वारा दी जाती हुई **हविः** आत्मसमर्पण रूप अथवा राजकर रूप हवि को स्वीकार करे।

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया।
इन्द्राय पातवे सुतः॥२॥[1]

(अध्याय ५, खण्ड १, प्रपाठ.५, अर्ध २)

पदार्थ– हे **सोम** रसागार परमेश्वर! तुम **स्वादिष्ठया** स्वादिष्ठ, **मदिष्ठया** अतिशय हर्षप्रद **धारया** आनन्दधारा से **पवस्व** हमें पवित्र करो। तुम **इन्द्राय** मेरे आत्मा के **पातवे** पान के लिए **सुतः** अभिषुत हो।

पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः।
शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः॥२॥[2]

(अध्याय ५, खण्ड ३, प्रपाठ.६, अर्ध १)

पदार्थ–पुनानः मन को पवित्र करता हुआ **विचर्षणिः** सर्वद्रष्टा परमेश्वर **विश्वाः मृधः** काम, क्रोध आदमियों की सब संग्रामकारिणी सेनाओं पर अथवा समस्त हिंसावृत्तियों पर **अभि अक्रमीत्** आक्रमण कर देता है। उस विप्रम् मेधावी परमेश्वर को, उपासक जन **धीतिभिः** ध्यानों के द्वारा **शुम्भन्ति** अपने हृदय के अन्दर शोभित करते हैं।

अया वीती परि स्रव यस्त इन्दो मदेष्वा। अवाहन्नवतीर्नव॥९॥[3]

(अध्याय ५, खण्ड ३, प्रपाठ.६, अर्ध १)

पदार्थ– हे **इन्दो** आनन्दरस वा वीररस के भंडार परमात्मन् ! आप **अया वीती** इस रीति से **परिस्रव** उपासकों के अन्तःकरण में प्रवाहित हो, कि **यः** जो उपासक **ते मदेषु** आपसे उत्पन्न किये गये हर्षों में **आ** मग्न हो, वह **नव नवतीः** निन्यानवे वृत्रों को **अवाहन्** विनष्ट कर सके।

मनुष्य की औसत आयु वेद के अनुसार सौ वर्ष है। उसमें से नौ या दस मास क्योंकि माता के गर्भ में बीत जाते हैं, इसलिए शेष लगभग निन्यानवे वर्ष वह जीता है। उन निन्यानवे वर्षों में आने वाले विघ्न निन्यानवे वृत्र कहाते हैं। सोमजनित आनन्द एवं वीरत्व से तृप्त होकर मनुष्य उन सब वृत्रों का संहार करने में समर्थ हो, यह भाव है।

तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः।
तरत् स मन्दी धावति॥४॥[4]

1. ऋ० ९।१।१, य० २६।२५, साम० ६८९।
2. ऋ० ९।४०।१ साम० ९२४।
3. ऋ० ९।६१।१ साम० १२१०।
4. ऋ० ९।६३।१।

(अध्याय ५, खण्ड ४, प्रपाठ.६, अर्ध १)

पदार्थ- सुतस्य आचार्य के अथवा परमात्मा के पास से अभिषुत **अन्धसः** ज्ञान और कर्म के रस की अथवा आनन्द-रस की **धारा** धारा से **मन्दी** तृप्त हुआ **सः** वह आत्मा **तरत्** दुःख, विघ्न, विपत्ति आदि के सागर को पार कर लेता है, और **धावति** ऐहलौकिक लक्ष्य की ओर वेग से अग्रसर होने लगता है। **मन्दी** ज्ञान और कर्म के रस वा आनन्दरस की धारा से तृप्त हुआ वह आत्मा **तरत्** दुःखादि के सागर को पार कर लेता है, और **धावति** पारलौकिक लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होने लगता है।

अपघ्नन् पवते मृधोऽप सोमो अराव्णः। गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम्॥१४॥[1] (अध्याय ५, खण्ड ४, प्रपाठ.६, अर्ध १)

पदार्थ-सोमः पवित्र रस का भण्डार परमेश्वर **इन्द्रस्य** जीवात्मा के **निष्कृतम्** संस्कृत किये हुए हृदय रूप घर में **गच्छन्** जाता हुआ, **मृधः** संग्रामकर्ता पापरूप शत्रुओं को **अपघ्नन्** विध्वस्त करता हुआ, और **अराव्णः** अदानशील स्वार्थभावों को **अप** विनष्ट करता हुआ पवते पवित्रता प्रदान करता है।

पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि।
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः॥१॥[2]

(अध्याय ५, खण्ड ५, प्रपाठ.६, अर्ध १)

पदार्थ- हे **सोम** पवित्र रस के भण्डार परमात्मन्! आप **धारया** अपनी आनन्द-धारा से **पुनानः** पवित्रता लाते हुए, **अपः** कर्म को **वसानः** आच्छादित अर्थात् प्रभावित करते हुए **अर्षसि** उपासकों के हृदय में व्याप्त होते हो। **रत्नधाः** रमणीय गुणरूप रत्नों के प्रदाता आप **ऋतस्य** सत्य के **योनिम्** गृहरूप जीवात्मा को आ सीदसि प्राप्त होते हो। **उत्सः** आनन्द के झरने, **देवः** विद्या, सुख आदि के प्रदाता और **हिरण्ययः** ज्योतिर्मय तथा यशोमय हो ॥१॥

परि त्यं हर्यतं हरिं बभ्रुं पुनन्ति वारेण।
यो देवान् विश्वाँ इत् परि मदेन सह गच्छति॥८॥[3]

(अध्याय ५, खण्ड ८, प्रपाठ.६, अर्ध २)

पदार्थ- योगसाधना करने वाले लोग **त्यम्** उस **हर्यतम्** चाहने योग्य, **बभ्रुम्** शरीर के भरण-पोषणकर्ता **हरिम्** अपने आत्मा को **वारेण** दोष-निवारक यम, नियम आदि तथा ईश्वर प्रणिधान के द्वारा **पुनन्ति** शुद्ध करते हैं, **यः** जो आत्मा योगसिद्ध होने पर **मदेन सह** आनन्द के साथ **विश्वान् इत्** सभी **देवान्** प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, आदि इन्द्रियों आदियों को **परिगच्छति** व्याप्त कर लेता है।

---

1. ऋ० ९।६१।२५, साम० १२१३।
2. ऋ० ९।१०७।४ 'देवो' इत्यत्र 'देव' इति पाठः। साम० ६७५
3. ऋ० ९।९८।७।

सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत।
शिशुं न यज्ञैः परि भूषत श्रिये॥३॥[1]

(अध्याय ५, खण्ड १०, प्रपाठ.६, अर्ध २)

पदार्थ- हे **सखायः** मित्रो! तुम आ **निषीदत** आकर उपासनायज्ञ में बैठो। **पुनानाय** हृदय को पवित्र करने वाले परमात्मारूप सोम के लिए **प्र गायत** भक्ति-भरे वेदमन्त्रों को गाओ। उस परमात्मा- रूप सोम को **श्रिये** शोभा के लिए **यज्ञैः** उपासनायज्ञों से **शिशुं न** शिशु के समान **परिभूषत** चारों ओर से अलंकृत करो अर्थात् जैसे शोभा के लिए शिशु को अलंकार-वस्त्र आदियों से अलंकृत करते हैं, वैसे ही शोभापूर्वक अपने आत्मा में प्रतिष्ठापित करने के लिए परमात्मा को उपासना-यज्ञों से अलंकृत करो।

परि कोशं मधुश्चुतं सोमः पुनानो अर्षति।
अभि वाणीर्ऋषीणां सप्ता नूषत॥१२॥[2]

(अध्याय ५, खण्ड १०, प्रपाठ.६, अर्ध २)

पदार्थ- पुनानः अन्तःकरण को पवित्र करता हुआ परमेश्वर अथवा ब्रह्मानन्दरस **मधुश्चुतम्** मधुर श्रद्धारस को प्रस्तुत करने वाले **कोशम्** मनोमय कोश में **परि अर्षति** व्याप्त हो रहा है। उस परमेश्वर वा ब्रह्मानन्दरस की **ऋषीणां सप्त वाणीः** वेदों की गायत्री आदि सात छन्दों वाली ऋचाएँ **अभि नूषत** सोम नाम से स्तुति करती हैं।

चौबीस अक्षरों से आरम्भ करके क्रमशः चार-चार अक्षरों की वृद्धि करके गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप, जगती नामक सात छन्द ऋषि-छन्द कहलाते हैं। वे ही यहाँ 'ऋषीणां सप्त वाणीः' शब्दों से ग्राह्य हैं।

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथादित्य व्रते वयं तवानागसो अदितये स्याम॥४॥[3]

(अध्याय ६, खण्ड १, प्रपाठ.६, अर्ध ३)

पदार्थ- हे **वरुण** मोक्षप्राप्ति के लिए सब मनुष्यों से वरे जानेवाले परमात्मन्! आप **उत्तमं** पाशम् उत्कृष्ट कर्मों के बन्धन रूप उत्तम पाश को **अस्मत्** हमसे **उत्** उत्कृष्ट फलप्रदान द्वारा छुड़ा दीजिए, **अधमम्** निकृष्ट कर्मों के बन्धन रूप अधम पाश को **अब** निकृष्ट फलप्रदान द्वारा छुड़ा दीजिए, **मध्यमम्** मध्यम कर्मों के बन्धन रूप मध्यम पाश को **वि श्रथाय** विविध फल देकर छुड़ा दीजिए। अथ उसके पश्चात,

---

1. ऋ० ९।१०४।१, साम० ११५७।
2. ऋ० ९।१०३।३ 'मधुश्चुतमव्यये वारे अर्षति', 'सप्त नूषत' इति पाठः।
3. ऋ० १।२४।१४।१५, य० १२।१२ 'अथा वयमादित्य व्रते तवा' इति पाठः। अथ० ७।८३।३, १८।४।६९ उभयत्र 'अधा वयमादित्य व्रते तवा' इति पाठः, द्वितीये स्थले ऋषिः अथर्वा।

हे आदित्य नित्यमुक्त, अविनाशी, **आदित्य** के समान प्रकाशमान, सर्वप्रकाशक परमात्मन्! तब आपके व्रत में निष्काम कर्म में चलते हुए **वयम्** हम **अनागसः** निष्पाप होते हुए **अदितये** मोक्ष के अधिकारी **स्याम** हो जाएँ।

अथवा उत्तम पाश है आत्मा के ज्ञान आदि के ग्रहण में जो बाधक होते हैं उनसे किया गया बन्धन, मध्यम पाश है मन के श्रेष्ठ संकल्प आदि में जो बाधक होते हैं उनसे किया गया बन्धन, अधम पाश है शरीर के व्यापार में जो बाधक रोग आदि होते हैं उनसे किया गया बन्धन। उन पाशों से छुड़ा-कर परमेश्वर अथवा योगी गुरु हमें सुख का अधिकारी बना देवे।

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥९॥

(अध्याय ६, खण्ड १, प्रपाठ.६, अर्ध ३)

पदार्थ- अहम् में परमेश्वर **ऋत्तस्य** जगत् में सर्वत्र दिखायी देने वाले सत्य नियम का **प्रथमजाः** प्रथम उत्पादक **अस्मि** हूँ। में **देवेभ्यः** सब चमकने वाले सूर्य, बिजली, अग्नि, तारामण्डल आदियों को उत्पत्ति से **पूर्वम्** पहले विद्यमान था। मैं **अमृतस्य** मोक्षावस्था में प्राप्त होने वाले आनन्दामृत का **नाम** केन्द्र या स्रोत हैं। **यः** जो मनुष्य **मा** मुझे **ददाति** अपने आत्मा में समर्पित करता है **सः इत् एव** निश्चय से वही **मा** मुझे **अवत्** प्राप्त होता है। **अहम्** मैं **अन्नम्** अन्न हूँ, भक्तों का भोजन हैं और में **अन्नम् अदन्तम्** भोग भोगने वाले प्रत्येक प्राणी को **अद्मि** खाता भी हूँ, अर्थात् प्रलयकाल में ग्रस भी लेता हूँ, इस कारण में अत्ता भी हूँ।

परमेश्वर के अन्न और अत्ता रुप को उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र में इस प्रकार कहा है-में अन्न हूँ, में अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ (तै० उप० ३।१०/६) । 'परमेश्वर अत्ता इस कारण है, क्योंकि चर-अचर को ग्रसता है' (ब्र० सू० १।२।९)।

निरुक्त में जो परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत तथा आध्यात्मिक तीन प्रकार की ऋचाएँ कही गयी हैं, उनमें यह ऋचा आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक ऋचाएँ वे होती हैं जिनमें उत्तम पुरुष की क्रिया तथा 'अहम्' सर्वनाम का प्रयोग हो अर्थात् जिसमें देवता अपना परिचय स्वयं दे रहा हो ।।९।।

भावार्थ- जैसे प्राणी भोजन के बिना, वैसे ही भक्तजन परमेश्वर के बिना नहीं जी सकते। जैसे प्राणी अन्न का ग्रास लेते हैं, वैसे ही परमेश्वर चराचर जगत् को ग्रसता है।। ९।।

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
त्रिधातुरर्को रजसो विमानोऽजस्त्रं ज्योतिर्हविरस्मि सर्वम्॥१२॥[1]

1. ऋ० ३।२६।७, य० १८।६६, उभयत्र 'कर्मस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो धर्मो हविरस्मि नाम' इति पाठः। यजुषिदेवश्रवोदेववातौ ऋषी।

(अध्याय ६, खण्ड ३, प्रपाठ.६, अर्ध ३)

पदार्थ- प्रथम परमात्मा के पक्ष में। मैं परमात्मा **अग्निः अस्मि** सबका अग्रनायक और अग्नि के समान प्रकाशक होने से अग्नि नाम वाला हूँ, **जन्मना** स्वरूप से ही **जातवेदाः** सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, वेदों का प्रकाशक तथा सब धनों का उत्पादक हूँ। **मे** मेरी **चक्षुः** आँख अर्थात् देखने की शक्ति **घृतम्** अत्यन्त तीव्र है। **मे** मेरे **आसन्** मुख में **अमृतम्** अमृत है, में सदा अमृतत्व का आस्वादन करता रहता हूँ अर्थात् अमर हूँ। मैं **त्रिधातुः** जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार रूप तीनों क्रियाओं को करने वाला हूँ, मैं **अर्कः** अर्चनीय (पूजनीय) हूँ। मैं **रजसः** सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी आदि लोकों का **विमानः** निर्माता अथवा अधिष्ठाता, **अजस्त्रं ज्योतिः** अक्षय तेज वाला, **हविः** सबका आह्वानयोग्य, और **सर्वभ्** सर्वशक्तिमान् **अस्मि** हूँ। यहाँ 'मैं अमर हूँ' इस व्यङ्ग्यार्थ को ही 'मेरे मुख में अमृत है' इस रूप में अभिहित करने से पर्यायोक्त अलंकार है।

स्मरणीय बिंदु

1. सामवेद भारतीय संगीत का आधार है।
2. संगीत आध्यात्मिक उन्नति में सहायक है।
3. वैदिक मंत्रों का गायन मन को शांत करता है।
4. संगीत मानसिक संतुलन प्रदान करता है।

शब्दावली-

1. साम - गायन
2. संगीत - सुर एवं लय का संयोजन
3. उपासना - आराधना
4. शांति - मानसिक संतुलन
5. आध्यात्मिकता - आत्मिक विकास

5 अंक के प्रश्न

1. सामवेद का मुख्य विषय क्या है?
2. वैदिक संगीत का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. उपासना में संगीत की भूमिका बताइए।
4. सामवेद एवं भारतीय संगीत का संबंध स्पष्ट कीजिए।
5. सामवेद का आध्यात्मिक महत्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न

1. सामवेद की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
2. वैदिक संगीत एवं आध्यात्मिकता का संबंध स्पष्ट कीजिए।
3. सामवेद की भारतीय संगीत परंपरा में भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. सामवेद के चयनित मंत्रों का दार्शनिक विश्लेषण कीजिए।
5. संगीत एवं मानसिक शांति के संबंध का विवेचन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. सामवेद किसके लिए प्रसिद्ध है?

(क) युद्ध

(ख) संगीत

(ग) राजनीति

(घ) कृषि

उत्तर: (ख)

2. सामवेद का संबंध किससे है?

(क) गायन

(ख) व्यापार

(ग) युद्ध

(घ) चिकित्सा

उत्तर: (क)

3. संगीत का मुख्य उद्देश्य क्या है?

(क) मानसिक शांति

(ख) संघर्ष

(ग) हिंसा

(घ) लोभ

उत्तर: (क)

4. भारतीय संगीत का आधार किसे माना जाता है?

(क) ऋग्वेद

(ख) सामवेद

(ग) यजुर्वेद

(घ) अथर्ववेद

उत्तर: (ख)

5. सामवेद किस प्रकार की परंपरा से जुड़ा है?

(क) संगीतात्मक

(ख) राजनीतिक

(ग) आर्थिक

(घ) वैज्ञानिक

उत्तर: (क)

इकाई-4.4 अथर्ववेददीय, ब्रह्मचर्य सूक्तम्।

(अथर्ववेदः/काण्डं ११/सूक्तम् ०७)

उद्देश्य

1. ब्रह्मचर्य के महत्व को समझना।
2. वैदिक शिक्षा-पद्धति का अध्ययन करना।
3. अनुशासन एवं संयम के मूल्य विकसित करना।

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥१॥

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी **(इष्णन्)** (ब्रह्म को) चाहता हुआ, बार-बार खोजता हुआ **(उभे रोदसी)** दोनों लोकों में, द्यावापृथिवी में **(चरति)** विचरता है, अनुकूल आचरण करता है, ब्रह्मचर्य करता है। **(तस्मिन्)** उसमें **(देवाः)** सब देवता **(संमनसः भवन्ति)** अनुकूल होकर रहते हैं। **(सः)** वह **(पृथिवीं दिवं च)** पृथिवीं और द्यौ को **(दाधार)** धारण करता है। **(सः)** वह **(तपसा)** तपस्या द्वारा **(आचार्यं)** आचार्य को **(पिपर्त्ति)** तृप्त करता है।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत्त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥२॥

(पितरो देवजनाः) रक्षा करने वाले 'पितर' देवजन **(पृथक् सर्वे देवाः)** पृथक् सब 'देव' लोग **(ब्रह्मचारिणं अनुसंयन्ति)** ब्रह्मचारी के पीछे चलते हैं। **(त्रयस्त्रिशत् त्रिशताः षट्सहस्राः)** तीन, तीस, तीन, सौ, छः हजार ये देव हैं **(सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति)** इन सब देवों को ब्रह्मचारी अपने तप से संतृप्त करता है।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥३॥

(आचार्यः) आचार्य **(उपनयमानः)** उपनयन करता हुआ **(ब्रह्मचारिणं)** ब्रह्मचारी को **(गर्भम् अन्तःकृणुते)** अपने गर्भ में करता है। **(तं)** उसे **(तिस्र रात्रीः)** तीन रात्रि तक (जब तक ज्ञान, कर्म, उपासना विषयक तीन प्रकार की अन्धकारों की अवस्था से गुजर कर वसु, रुद्र क्रम से आदित्य का उदय नहीं हो जाता तब तक) **(उदरे)** पेट में, अपने अन्दर, अपने कुल में **(बिभर्ति)** धारण करता है **(तं)** उस **(जातं)** विद्या से

द्विजरूपेण) उत्पन्न हुए को **(द्रष्टुं)** देखने के लिए, दर्शन करने के लिए **(देवाः)** देवता **(अभिसंयन्ति)** आते हैं, अभिमुख हो इकट्ठे होते हैं।

इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥४॥

(इयं समित् पृथिवी) यह (पहिली समिधा पृथिवी है, **(द्यौः द्वितीया)** द्युलोक दूसरी है **(उत)** और **(अन्तरिक्षं)** अन्तरिक्ष को भी **(समिधा)** (तीसरी) समिधा से **(पृणाति)** पूरित करता है, यजन करता है। **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी **(समिधा)** ज्ञानदीप्ति से **(मेखलया)** मेखला (कटिबद्धता) से **(श्रमेण)** श्रम से **(तपसा)** तप से **(लोकान्)** सब लोकों, सब संसारों, मनुष्यों को **(पिपर्ति)** पालित पूरित करता है।

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।

तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥५॥

(ब्रह्मणः) ब्रह्म से **(पूर्वः)** पहिला होकर या पहिले **(जातः)** उत्पन्न हुआ **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी **(धर्मं वसानः)** तेज को धारण किये हुए **(तपसा)** तप से **(उदतिष्ठत्)** उठता है। **(तस्मात्)** उससे **(ब्राह्मणं)** ब्रह्मसम्बन्धी **(ज्येष्ठं ब्रह्म)** उत्कृष्ट ज्ञान **(जातम्)** उत्पन्न होता है, **(देवाः च सर्वे)** और सब देव **(अमृतेन साकम्)** अमृत से युक्त (हो जाते हैं)।

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।

स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥६॥

(समिधाः समिद्धः) समित् होम से ज्ञानदीप्त हुआ **(कार्ष्णं वसानः)** काला मृगचर्म पहिने हुए **(दीर्घश्मश्रूः)** बढ़ी हुई दाढ़ी-मूँछ वाला **(दीक्षितः)** व्रत ग्रहण किये हुए **(ब्रह्मचारी एति)** ब्रह्मचारी आता है। **(सः)** वह ब्रह्मचारी **(लोकान् संगृभ्य)** लोकसंग्रह करके **(मुहुः आचरिक्रत्)** पुनः पुनः चारों-तरफ से कर्म करता हुआ **(सद्यः)** शीघ्र ही **(पूर्वस्मात् समुद्रात्)** पहले ज्ञानसमुद्र से **(उत्तरं समुद्रं)** दूसरे उत्कृष्टतर ज्ञानसमुद्र को **(एति)** पहुँचता है।

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।

गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह ॥७॥

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी **(ब्रह्म)** ज्ञान **(अपः)** कर्म **(लोकम्)** और लोक को **(जनयन्)** प्रकट करता हुआ, **(प्रजापतिं)** प्रजापति (अवस्था) को प्रकट करता हुआ और **(परमेष्ठिनं विराजम्)** अपेक्षया परम में स्थिर होने वाली विराट् अवस्था को प्रकट करता हुआ, **(अमृतस्य योनौ गर्भो भूत्वा)** अन्त में अमृत की योनि में गर्भभूत रहकर **(इन्द्रः भूत्वा)** अब इन्द्र बन कर **(ह)** निश्चय

से **(असुरान्)** असुरों का **(ततर्ह)** नाश करता है।

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।

ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ॥८॥

(आचार्यः) आचार्य **(इमे उभे नभसी)** इन दोनों लोकों को अर्थात् **(उर्वी)** बहुत विस्तृत **(गम्भीरे)** और बहुत गहरे **(पृथिवीं दिवं च)** पृथिवी और द्युलोक को **(ततक्ष)** गढ़ देता है। **(ते)** उन (गढ़े हुए द्यावापृथिवी) की **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी **(तपसा)** तपस्या द्वारा **(रक्षति)** रक्षा करता है। **(तस्मिन्)** उस ब्रह्मचारी में **(देवाः)** सब देवता **(संमनसः)** एकमन, अनुकूल **(भवन्ति)** होते हैं।

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च ।

ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥९॥

(प्रथमः ब्रह्मचारी) प्रथम ब्रह्मचारी **(इमां पृथिवीं भूमिं)** इस विस्तृत भूमि को **(दिवं च)** और द्यौ को **(भिक्षां आजभार)** भिक्षा में ले आया है। अब वह **(ते)** उन्हें **(समिधौ कृत्वा)** (आचार्याग्नि में) समिधा बनाकर **(उपास्ते)** उपासना करता है। **(तयोः)** उन्हीं दो **(लोकों)** में **(विश्वा भुवनानि)** सब भुवन **(अर्पिता)** समाये हुए हैं।

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद्गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य ।

तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत्केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥१०॥

(अन्यः) एक **(अर्वाक्)** उरे है और **(अन्यः)** एक **(दिवस्पृष्ठात् परः)** द्युलोक के पृष्ठ से परे है। ये दो **(ब्राह्मणस्य)** ब्रह्मज्ञानी के **(निधी)** खजाने **(गुहा निहितौ)** गुहा में छिपे रखे हैं। **(तौ)** उन (खजानों) की **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी **(तपसा)** तप द्वारा **(रक्षति)** रक्षा करता है और **(ब्रह्म विद्वान्)** ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाला **(उत्)** उस (ब्रह्मज्ञान रूप खजाने) को **(केवलं)** केवल, पूरी तरह **(कृणुते)** करता है, उपयोग करता है।

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे ।

तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्तान् आ तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥११॥

(अन्यः) एक **(अर्वाक्)** इधर की और **(अन्यः)** एक **(इतः पृथिव्याः [परः])** पृथिवी से परे की (अग्नी) ये दो अग्नियाँ **(इमे नभसी अन्तरा)** इन दोनों लोकों (द्यौ और पृथिवी) के बीच में **(समेतः)** आती हैं, इकट्ठी होती है। **(तयोः)** उनकी **(दृढ़ा रश्मयः)** जबरदस्त किरणें **(अधिश्रयन्ते)** विरोधी रूप में मिलती हैं, परस्पर टकराती हैं। **(तान्)** उन किरणों पर **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी **(तपसा)** तप द्वारा

(आतिष्ठति) आस्थित होता है, ठहरता है।

अभिक्रन्दन् स्तनयन्न् अरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।

ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥१२॥

(अभिक्रन्दन्) गरजता हुआ, नाद करता हुआ (स्तनयन्) कड़कता हुआ, ध्वनि करता हुआ **(अरुणः)** आरोचमान और **(शितिङ्ग)** श्यामल **(ब्रह्मचारी)** आधिदैविक, आधिभौतिक समष्टि तथा व्यष्टि-जगत् रूपी ब्रह्मचारी **(भूमौ)** भूमि, पार्थिव प्राणी व स्थूल शरीर पर **(बृहत् शेषः)** बहुत उत्पादक शक्तिवाला, बहुत प्रभावशाली, बहुत आभ्यान्तर शक्तिवाला होकर **(अनु जभार)** कृपा करता है तो **(पृथिव्यां)** इस पृथिवी पर **(सानौ)** पहाड़ों, उन्नत पुरुषों व उन्नत प्राण केन्द्रों में **(रेतः सिञ्चति)** जल, ज्ञान व वीर्य की वृष्टि करता है। **(तेन)** उस वृष्टि से **(चतस्रः प्रदिशः)** चारों दिशाएँ, सब प्राणी, शरीर के सारे अणु **(जीवन्ति)** जीवन प्राप्त करते हैं।

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्यप्सु समिधमा दधाति।

तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः ॥१३॥

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी **(अग्नौ)** अग्नि में, **(सूर्ये)** सूर्य में, **(चन्द्रमसि)** चन्द्रमा में, **(मातरिश्वन्)** वायु में, **(अप्सु)** और जल में, **(समिधं)** समिधा को **(आदधाति)** रखता है। **(तासां)** उन समिधाओं की **(अर्चींषि)** ज्वालाएँ या किरणें **(पृथक्)** जुदा-दुदा **(अभ्रे)** अन्तरिक्ष में **(चरन्ति)** चलती हैं। **(तासां)** उन समिधाओं का **(आज्यं)** घी **(पुरुषः)** पुरुष, अन्तरात्मा होता है और **(वर्षे)** वर्षा (आपः) व्यापक जल व व्यापक कर्म (व्यापकताओं) की होती है।

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।

जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥१४॥

(आचार्यः) आचार्य **(मृत्यु)** मृत्यु है, **(वरुणः)** वरुण है, **(सोमः)** सोम है, **(ओषधयः)** ओषधियाँ हैं, **(पयः)** दूध है, **(सत्वानः)** (आचार्य के) ये (पाँचों) रूप पाँच बल **(जीमूताः)** जीवन बरसाने वाले मेघ **(आसन्)** होते हैं। **(तैः)** उन ही सत्वों से (आचार्य ने) **(इदं)** इस (ब्रह्मचारी के लिए) **(स्वः)** सुख, अमृतत्व व तेज का **(आभृतम्)** आहरण किया है, (इनकी वर्षा) लाया है।

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणः यद्यदैच्छत्प्रजापतौ।

तद्ब्रह्मचारी प्रायच्छत्स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥१५॥

(आचार्यः) आचार्य **(अमा)** (ब्रह्मचारी के) साथ होकर या एक घर (गुरुकुलम) में होकर **(केवलं)** ही, शुद्ध **(घृतं)** तेजः प्रवाह को, ज्ञान प्रवाह को **(कृणुते)** करता है। वह **(वरुणः भूत्वा)** वरुण (पापनिवारक) होकर **(प्रजापतौ)** प्रजापति के काम के लिए **(यत् यत्)** जो जो **(ऐच्छत्)** इच्छा करता है **(तत्)** उसे **(मित्रः ब्रह्मचारी)** मित्र हुआ ब्रह्मचारी **(स्वात् आत्मनः अधि)** अपनी आत्मा के अन्दर से, अपनी आत्मशक्ति के बल से **(प्रायच्छत्)** दे देता है।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।

प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी ॥१६॥

(आचार्यः) आचार्य **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी होता है। **(ब्रह्मचारी)** वह ब्रह्मचारी **(प्रजापतिः)** प्रजापति बन जाता है। फिर **(प्रजापतिः)** प्रजापति **(विराजति)** विशेषतया राजमान, दीप्यमान होता है। अर्थात् विराट! बनता है और वह **(विराट्)** विराट्! (वशी) होकर **(इन्द्र अभवत्)** इन्द्र बन जाता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥१७॥

(राजा) राजा **(ब्रह्मचर्येण तपसा)** ब्रह्मचर्य के तप द्वारा **(राष्ट्र)** राष्ट्र की **(विरक्षति)** ठीक-ठीक रक्षा करता है। और **(आचार्यः)** आचार्य **(ब्रह्मचर्येण)** ब्रह्मचर्य से ही **(ब्रह्मचारिणं)** ब्रह्मचारी को **(इच्छते)** चाहता है।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।

अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥१८॥

(कन्या) कन्या **(ब्रह्मचर्येण)** ब्रह्मचर्य से ही **(युवानं पतिं)** जवान पति को **(विन्दते)** प्राप्त करती है। **(अनड्वान् अश्वः)** 'बैल', 'घोड़ा' **(ब्रह्मचर्येण)** ब्रह्मचर्य से ही **(घासं जिगीर्षति)** घास खाना चाहता है, भोक्तृत्व प्राप्त करता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।

इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥१९॥

(देवाः) देव **(ब्रह्मचर्येण तपसा)** ब्रह्मचर्य के तपोबल से **(मृत्युम्)** मौत को **(अपाघ्नत)** मार डालते हैं। **(इन्द्रः)** देवराज परमेश्वर, आत्मा व इन्द्र ब्रह्मचारी **(ह)** निश्चय से **(ब्रह्मचर्येण)** अपने ब्रह्मचर्य के द्वारा ही **(देवेभ्यः)** देवों के लिए **(स्वः)** सुख व तेज को **(आभरत्)** लाता है, प्राप्त करता है।

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ।

संवत्सरः सह ऋतुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२०॥

(ओषधयः) औषधियाँ **(भूतभव्यम्)** जो हो चुका और जो होगा **(अहोरात्रे)** दिन और रात **(वनस्पतिः)** वनस्पतियाँ **(ऋतुभिः सह संवत्सरः)** और ऋतुओं सहित वर्ष **(ते)** ये सब **(ब्रह्मचारिणः जाताः)** ब्रह्मचारी बने हुए हैं (या ब्रह्मचारी से जन्मे हैं)।

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।

अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥२१॥

(पार्थिवाः दिव्याः) पृथिवी पर होने वाले या आकाश में होने वाले **(ये आरण्याः)** जो जंगली हैं **(ग्राम्याश्च)** और जो ग्राम में होने वाले **(ते पशवः)** ऐसे सब पशु पक्षी **(ब्रह्मचारिणः जाताः)** ब्रह्मचारी बने हुए हैं, (या ब्रह्मचारी से जन्मे हैं)।

पृथक्सर्वे प्राजापत्याः प्राणान् आत्मसु बिभ्रति ।

तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥२२॥

(सर्वे) सब **(प्राजापत्याः)** प्रजापति के नियम से उत्पन्न हुए स्थूल भौतिक प्राणी **(आत्मसु)** अपने में **(पृथक्)** अलग-अलग **(प्राणान्)** प्राणों को **(बिभर्ति)** धारण करते हैं। **(तान् सर्वान्)** उन सब प्राणियों को **(ब्रह्मचारिणी आभृतं)** ब्रह्माचारी में संग्रह किया गया **(ब्रह्म)** ब्रह्म, वेद, ज्ञान ही **(रक्षति)** रक्षा करता है।

देवानामेतत्परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ।

तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥२३॥

(एतत्) यह ब्रह्मचर्य **(देवानां परिषूतं)** देवों का निचोड़, सार **(अनभ्यारूढ़ं)** किसी से भी न दबाया जाता हुआ **(रोचमानं)** चमकता हुआ **(चरति)** चल रहा है, संसार में कार्य कर रहा है। **(तस्मात्)** उससे **(ब्राह्मणं ज्येष्ठब्रह्म)** ब्रह्मसम्बन्धी उकृष्ट ज्ञान **(जातं)** उत्पन्न होता है **(देवाः च सर्वे)** और सारे देव **(अमृतेन साकं)** अमृत से (युक्त हो जाते हैं।)

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।

प्राणापानौ जनयन् आद्व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥२४॥

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी **(भ्राजद् ब्रह्म)** तेजस्वी ज्ञान को, दीप्यमान ब्रह्म को **(बिभर्ति)** धारण करता है। **(तस्मिन् अधि)** उसमें **(विश्वे देवाः)** सब देव **(सं ओताः)** सम्यक् प्रकार ओतप्रोत होते हैं। इसलिए **(प्राणापानौ)** प्राण और अपान को **(आत् व्यानं)** और व्यान को **(वाचं)** वाणी

को **(मनः)** मन को **(हृदयं)** हृदय को **(ब्रह्म)** ज्ञान को **(मेधां)** बुद्धि को **(जनयन्)** उत्पन्न करता हुआ, इनकी शक्तियों को प्रकट व विकसित करता हुआ होता है।

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥२५॥

(चक्षुः श्रोत्रं) देखने-सुनने आदि की पूर्ण शक्ति, पूर्ण विकसित ज्ञान शक्ति **(यशः)** यश तथा **(अन्नं)** भोग्य वस्तु **(रेतः)** वीर्य **(लोहितं)** रुधिर **(उदरं)** पेट, नाभिस्थान ये सब **(अस्मासु)** हममें **(धेहि)** धारण कराओ (इस प्रकार की पुकार उठती है)।

तानि कल्पन् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे ।

स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥२६॥

तो **(तानि)** इन चक्षु- श्रोत्र आदि को **(कल्पत्)** बनाता हुआ, सामर्थ्ययुक्त करता हुआ **(ब्रह्मचारी)** ब्रह्मचारी **(सलिलस्य पृष्ठे)** जल के ऊपर, व्यक्त होने वाले ज्ञान के ऊपर **(तपः अतिष्ठत्)** तप करता है, तपस्यापूर्वक ठहरता है, **(समुद्रे तप्यमानः)** ज्ञान समुद्र में (स्नान करने को) तप करता हुआ **(सः)** वह **(स्नातः)** स्नातक हुआ, ज्ञान में निष्णात हुआ, ज्ञान समुद्र में स्नान किया हुआ **(बभ्रुः)** धारण पोषण करने वाला **(पिङ्गल)** तेजस्वी, बलवान् **(पृथिव्यां)** इस विस्तृत भूमि पर **(बहु रोचते)** बहुत शोभायमान होता है, चमकता है।

स्मरणीय बिंदु-

1. ब्रह्मचर्य आत्मसंयम का मार्ग है।
2. वैदिक शिक्षा अनुशासन पर आधारित थी।
3. संयम से व्यक्तित्व का विकास होता है।
4. गुरुकुल प्रणाली चरित्र-निर्माण पर बल देती थी।

शब्दावली-

1. ब्रह्मचर्य - संयमपूर्ण जीवन
2. अनुशासन - नियम पालन
3. संयम - नियंत्रण
4. शिक्षा - ज्ञान प्राप्ति

5 अंक के प्रश्न

1. ब्रह्मचर्य का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

2. वैदिक शिक्षा में ब्रह्मचर्य का महत्व बताइए।

3. संयम एवं अनुशासन का महत्व स्पष्ट कीजिए।

4. ब्रह्मचर्य एवं शिक्षा के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

5. ब्रह्मचर्यसूक्त का मुख्य संदेश लिखिए।

15 अंक के प्रश्न

1. ब्रह्मचर्यसूक्त का दार्शनिक विवेचन कीजिए।

2. वैदिक शिक्षा-पद्धति में ब्रह्मचर्य की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

3. आधुनिक जीवन में ब्रह्मचर्यसूक्त की प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

4. संयम एवं चरित्र-निर्माण के संबंध का विश्लेषण कीजिए।

5. वैदिक गुरुकुल प्रणाली का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. ब्रह्मचर्य किसका प्रतीक है?

(क) संयम

(ख) हिंसा

(ग) आलस्य

(घ) मोह

उत्तर: (क)

2. वैदिक शिक्षा का आधार क्या था?

(क) विलासिता

(ख) अनुशासन

(ग) व्यापार

(घ) युद्ध

उत्तर: (ख)

3. ब्रह्मचर्यसूक्त किस वेद से संबंधित है?

(क) अथर्ववेद

(ख) ऋग्वेद

(ग) सामवेद

(घ) यजुर्वेद

उत्तरः (क)

4. ब्रह्मचर्य का उद्देश्य क्या है?

(क) आत्मसंयम

(ख) संघर्ष

(ग) व्यापार

(घ) विलासिता

व उत्तरः (क)

5. गुरुकुल शिक्षा का मुख्य आधार क्या था?

(क) अनुशासन एवं सेवा

(ख) राजनीति

(ग) व्यापार

(घ) युद्ध

उत्तरः (क)

5. साधना - अभ्यास

॥ ओ३म् ॥

काव्यनाटकम्

MSSAMJ-102

दिव्य प्रकाशन

एम. ए. संस्कृतम् पाठ्यक्रमस्य प्रथमसत्रम्

प्रथमपत्रम् - काव्यनाटकम

MSSAMJ-102 Credit-5

उद्देश्य : -

- विद्यार्थियों को संस्कृत काव्य एवं नाटक विधा के शास्त्रीय स्वरूप की सामान्य जानकारी प्रदान करना।
- विद्यार्थियों को प्राचीन काव्यों और नाटकों में सन्निहित व्यावहारिक जीवन-दृष्टिकोण से भली-भाँति परिचित कराना।
- नाट्य विधा की विभिन्न संकटापन्न अवधारणाओं के माध्यम से छात्रों को व्यावसायिक दक्षता प्रदान करना।
- अंगराज कर्ण और भगवान श्रीकृष्ण के जीवन प्रसंगों द्वारा छात्रों में उच्च नैतिक व चारित्रिक मूल्यों का बीजारोपण करना।
- प्राचीन ऋषियों की वैज्ञानिक योगर्षि परंपरा के प्रति छात्रों में चेतना जागृत कर उनका सर्वांगीण विकास करना।

परिणाम : -

- छात्र संस्कृत काव्य, छंदशास्त्र, अलंकारों और नाटक के आधारभूत विषय से पूर्णतः अवगत हो जाता है।
- छात्र नाटक एवं काव्य में सन्निहित गूढ़ ज्ञान के माध्यम से समकालीन व्यावहारिक कुशलता को प्राप्त करता है।
- छात्र नाट्य रचना विधि, मंच संचालन, अभिनय और संवाद अदायगी की विधा में पूरी तरह निपुण हो जाता है।
- छात्र नाटकों के मञ्चन (अभिनय कला) की योग्यता प्राप्त कर व्यावसायिक एवं रोजगार की दृष्टि से सक्षम हो जाता है।
- छात्र अष्टांग योग के सूत्रों को सीखकर आत्म-प्रबंधन, शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्थिरता प्राप्त करने में सफल होता है।

विषय-सूची

विषय का नाम **पृष्ठ सं.**

खण्ड-1

इकाई-1 कर्ण का मानसिक संताप और अस्त्र-विद्या की विफलता 7

इकाई-2 इन्द्र की याचना और कर्ण का दान-प्रस्ताव 14

इकाई-3 कवच-कुण्डल का महादान और अभेद्य रक्षा का त्याग 20

इकाई-4 दान की महिमा, विमला शक्ति की प्राप्ति और रणघोष 25

खण्ड-2

इकाई-5 श्रीकृष्ण का प्राकट्य और वसुदेव का रात्रि-प्रस्थान 31

इकाई-6 यमुना पार गमन, बाल-परिवर्तन और दिव्य आयुधों का अवतरण 43

इकाई-7 गोकुल की बाल-लीलाएँ और अरिष्टासुर का उद्धार 54

इकाई-8 कालिय नाग का मान-मर्दन और कंस वध की प्रतिज्ञा 65

खण्ड-3

इकाई-9 कंस का षड्यन्त्र, कुवलयापीड वध और धनुर्भंग 76

इकाई-10 रङ्गशाला में मल्ल-योद्धाओं की ललकार और कंस का आदेश 81

इकाई-11 श्रीकृष्ण-बलराम का मल्लशाला में प्रवेश और कंस द्वारा रूप-दर्शन 85

इकाई-12 चाणूर-मुष्टिक का अंत, कंस वध और उग्रसेन का राज्याभिषेक 89

खण्ड-4

इकाई-13 बालक रामकृष्ण का प्राकट्य, बाल-लीलाएँ और गुरुकुल गमन का दृढ़ संकल्प 94

इकाई-14 आचार्य बालकृष्ण से दिव्य मैत्री, रामदेव नामकरण और गंगोत्री धाम प्रस्थान 106

इकाई-15 हिमालय में कठोर तपस्या, हरिद्वार आगमन और संन्यास ग्रहण का दिव्य निश्चय 117

इकाई-16 स्वामी शंकरदेव का उपदेश, संन्यास दीक्षा और पतञ्जलि योगपीठ का इतिहास-गौरव 129

''भूमिका''

यह शिक्षण पाठ्यपुस्तिका काव्यनाटकम् संस्कृत भाषा की शास्त्रीय समृद्धि, नाट्य-परंपरा, नैतिक जीवन-मूल्यों तथा योगर्षि गौरवम् जैसी वैज्ञानिक व आध्यात्मिक अवधारणाओं को समाहित करने वाली एक सारगर्भित और सर्वसमावेशी अकादमिक पुस्तिका है। इस विशिष्ट पाठ्यक्रम का मूल शैक्षणिक उद्देश्य न केवल विद्यार्थियों को भारतीय काव्यों और नाटकों के ऐतिहासिक स्वरूप की सामान्य जानकारी देना है, बल्कि इसके भीतर संनिविष्ट जीवन-दर्शन और नीतिपरक व्यावहारिक दृष्टिकोण से छात्रों का गहन परिचय कराना भी है, ताकि वे समकालीन समाज की विषमताओं के मध्य एक सुदृढ़ चरित्र, कुशल निर्णय क्षमता तथा मानसिक संतुलन को आत्मसात कर सकें। इस विषय को चार सुनियोजित इकाइयों में विभक्त किया गया है, जहाँ प्रत्येक इकाई मानव जीवन के मानसिक, नैतिक और व्यावसायिक उन्नयन के तत्वों को समेटे हुए है।

प्रथम इकाई महाभारत के प्रसिद्ध आख्यान पर आधारित महाकवि भास रचित कर्णभारम् से संबद्ध है, जिसमें अंगराज कर्ण की अद्वितीय दानवीरता को केंद्र में रखकर देवराज इन्द्र द्वारा एक ब्राह्मण का छद्मवेश धारण करने और कर्ण से उनके जन्मजात अभेद्य कवच व कुण्डल दान में माँगने के मर्मस्पर्शी प्रसंग को श्लोकबद्ध रूप में निबद्ध किया गया है। नाटक का प्रारंभ पारंपरिक मंगलाचरण अथवा नान्दी-पाठ से होता है, जहाँ भगवान विष्णु के नृसिंह अवतार की स्तुति करते हुए सूत्रधार श्लोक का गान करता है:

''नरमृगपतिवर्म्मलोकन भ्रान्तनारी- नरदनुजसुपर्वव्रातपाताललोकः।
करजकुलिशपालीभिन्नदैत्येन्द्रवक्षाः सुररिपुबलहन्ता श्रीधरोऽस्तु श्रिये वः॥''

द्वितीय इकाई सनातन संस्कृति के प्राणपुरुष भगवान श्रीकृष्ण के अलौकिक जन्म वृत्तांत, माता देवकी के छह पुत्रों के कंस द्वारा वध के भयंकर शोक, कारागार के दारुण संघर्ष, मध्यरात्रि में पिता वसुदेव द्वारा तूफानी यमुना को पार कर गोकुल जाने की अद्‌भुत कथा, नन्दगोप और माता यशोदा के घर हुए उनके दिव्य लालन-पालन तथा बाल्यावस्था में ही पूतना, शकट, यमल-अर्जुन, प्रलम्ब, धेनुक, केशी और अरिष्टर्षभ जैसे महाबली असुरों के वध एवं कालिय नाग के विष से यमुना को मुक्त कराने जैसी अलौकिक बाल-लीलाओं का सजीव चित्रण करती है, जिसमें उनके पांचों दिव्य आयुधों (चक्र, शाङ्‌र्ग, कौमोदकी, शङ्‌ख, नन्दक) तथा वाहन गरुड़ का भी प्रतीकात्मक व कार्यात्मक प्रवेश दर्शाया गया है।

तृतीय इकाई कंस के क्रूर अत्याचारों के अंत और भगवान श्रीकृष्ण द्वारा उसके वध की कथा पर आधारित है, जो लोक में अधर्म के विनाश और धर्म की शाश्वत स्थापना के सार्वभौमिक नियम को पुष्ट करती है।

चतुर्थ इकाई योगर्षि गौरवम् इस पाठ्यक्रम का सबसे महत्वपूर्ण, व्यावहारिक और वैज्ञानिक केंद्र बिंदु है, जो विद्यार्थियों को भारत की महर्षि-परंपरा द्वारा प्रदत्त महान योग विज्ञान, महर्षि पतंजलि के अष्टांग योग के व्यावहारिक जीवन-सूत्रों तथा आधुनिक युग में योग के माध्यम से शारीरिक स्वास्थ्य,

मानसिक स्थिरता और आत्मिक गौरव की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती है, जिससे छात्रों में अपनी प्राचीन ऋषि-विरासत के प्रति एक नव-चेतना का संचार होता है।

साहित्यिक दृष्टिकोण से भी यह अत्यंत उपयोगी व अतुलनीय है, क्योंकि यह संस्कृत नाट्यशास्त्र की प्रामाणिक परंपराओं जैसे कि नान्दी-पाठ, रंगमंच के संचालक सूत्रधार का प्रवेश, नेपथ्य विधान, अभिनयात्मक प्रस्तावना, पात्रों का उत्कृष्ट संवाद कौशल तथा नाटक के अंत में सम्पूर्ण जगत के कल्याण की कामना करने वाले पवित्र भरतवाक्यम् की शास्त्रीय प्रस्तुति से छात्रों को अवगत कराता है। इसके अतिरिक्त, पाठ्यक्रम की भाषाई समृद्धि को प्रगाढ़ बनाने के लिए इसमें प्रयुक्त श्लोकों का विशद व्याकरणिक विश्लेषण किया गया है, जो इस रचना की सबसे बड़ी तकनीकी विशेषता है। व्याकरणिक पक्ष को सुदृढ़ करने के लिए प्रत्येक श्लोक के साथ पदविग्रह की व्यवस्था की गई है, जो संधि और समास (जैसे कि-

'करजकुलिशपालीभिन्नदैत्येन्द्रवक्षाः' या 'विद्युच्चण्डवातानुविद्धैः')

के जटिल नियमों को अत्यंत सरल रूप में समझने में छात्रों की सहायता करती है। इसके साथ ही शब्दों के भाषाई भंडार को समृद्ध करने के लिए प्रचुर मात्रा में पर्यायवाचिशब्दाः (जैसे कि- **मृगपतेः** = **सिंहस्य, संग्रामे** = **आहवे, अन्तकः** = **यमः**) दिए गए हैं, जो छात्रों के शब्दकोश का विस्तार करते हैं। छंदशास्त्र और रस-अलंकार की दृष्टि से यह पाठ्यक्रम व्याकरण के व्यावहारिक अनुप्रयोग का उत्कृष्ट उदाहरण है; इसमें प्रयुक्त छंद जैसे कि मालिनी, अनुष्टुप, वसन्ततिलका, वंशस्थ, उपजाति और शार्दूलविक्रीडित काव्य के गेयता पक्ष को उभारते हैं, तो वहीं पर्यायोक्ति, अनुप्रास, अर्थान्तरन्यास और उपमा जैसे अलंकारों का सूक्ष्म प्रयोग तथा ओज गुण एवं दैन्य, संचारी भाव का शास्त्रीय संयोजन छात्रों की आलोचनात्मक व काव्यशास्त्रीय दृष्टि को अत्यधिक प्रखर और परिपक्व बनाता है।

इस संपूर्ण शिक्षण सामग्री का व्यावहारिक और व्यावसायिक दृष्टिकोण से उपयोग आज के समय में अत्यंत प्रासंगिक है; इसके माध्यम से जहाँ छात्र नाटक की रचना विधि, संवाद लेखन, रंगमंचीय प्रदर्शन और मञ्चन (अभिनय) की कला में निपुण होकर मीडिया, कला, रंगमंच और जनसंचार के क्षेत्र में व्यावसायिक दक्षता एवं रोजगार के नए अवसर प्राप्त कर सकते हैं, वहीं दूसरी ओर इसके नैतिक मूल्य उनके दैनिक जीवन की व्यावहारिक कुशलता को नया आयाम देते हैं। जीवन के व्यावहारिक संकटों में यह ग्रंथ हमें कर्ण के अमर व अकाट्य वचनों के माध्यम से सिखाता है कि समय के साथ भौतिक वस्तुएं नष्ट हो जाती हैं, परंतु सुपात्र को दिया गया दान और राष्ट्र के लिए किया गया त्याग हमेशा जीवित रहता है, जिसे भास ने इस कालजयी श्लोक में निबद्ध किया है:

''शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात् सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति।।''

इसी प्रकार, राजा कंस के भीषण भय से व्याकुल होने के बावजूद, अपने नवजात बालक की रक्षा के लिए आधी रात के घोर अंधकार और उफनती हुई भयंकर यमुना की लहरों के बीच अपनी

भुजाओं के बल पर आगे बढ़ने वाले वसुदेव का अदम्य साहस हमें संकट काल में अटूट धैर्य रखना सिखाता है, जिसका वर्णन वसुदेव स्वयं करते हैं:

इमां नदीं ग्राहभुजङ्गसङ्कलां महोर्मिमालां मनसापि दुस्तराम्।
भुजाप्लवेनाशु गतार्थविक्लवो वहामि सिद्धिं यदि दैवतं स्थितम्।

इसके साथ ही, **योगर्षि गौरवम्** का **व्यावहारिक पक्ष** आज के आपाधापी और मानसिक तनाव से युक्त युग में छात्रों को आत्म-प्रबंधन, अष्टांग योग के यम-नियमों के पालन द्वारा सामाजिक समरसता तथा ध्यान व प्राणायाम के माध्यम से कार्यक्षमता में वृद्धि करने की एक अत्यंत अनमोल व्यावहारिक विधा प्रदान करता है। तथा वर्तमान समय में किस प्रकार एक साधारण सी पृष्ठभूमि व अत्यन्त साधारण से परिवार में उत्पन्न होकर बालक रामकिशन अपने **अखण्ड प्रचण्ड पुरुषार्थ और विकल्प रहित संकल्प** से मानव से महामानव, युग पुरुष, योगर्षि स्वामी रामदेव जी के रुप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत हैं जो समस्त मानवता को अपने ज्ञानालोक से प्रकाशित कर रहे हैं।

अंततः, पाठ्यक्रम का समापन लोक-कल्याणकारी भरतवाक्यम् के पावन श्लोक से होता है, जो संपूर्ण पृथ्वी पर शांति की कामना करता है:

सर्वत्र सम्पदः सन्तु नश्यन्तु विपदः सदा।
राजा राजगुणोपेतो भूमिमेकः प्रशास्तु नः॥

यह काव्यनाटकम् संस्कृत व्याकरण के अकादमिक ज्ञान, साहित्यिक कलात्मकता, योगर्षि परंपरा के वैज्ञानिक चिंतन तथा जीवन की व्यावहारिक एवं व्यावसायिक कुशलता का एक ऐसा अनुपम संगम है, जो आधुनिक काल में विद्यार्थियों के बौद्धिक, मानसिक, नैतिक और व्यावसायिक क्षितिज का पूर्णतः उन्नयन करने में सर्वथा समर्थ और अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा ।

खण्ड-1

उद्देश्य

- साहित्यिक व आध्यात्मिक उद्देश्य: विद्यार्थियों को कर्णभारम् नाट्य विधा के शास्त्रीय स्वरूप तथा उसमें सन्निहित दानवीरता व धर्म के शाश्वत आध्यात्मिक आदर्शों से परिचित कराना।
- सामाजिक व व्यावहारिक उद्देश्य: छात्रों में अंगराज कर्ण के प्रसंग द्वारा सामाजिक कर्तव्य-परायणता, नि:स्वार्थ परोपकार और विपरीत जीवन-परिस्थितियों में अडिग रहने की व्यावहारिक कुशलता विकसित करना।
- व्यवसायिक व आर्थिक उद्देश्य: नाट्यशास्त्र की रचना विधि, पदविग्रह और संवाद मञ्चन कला सिखाकर छात्रों को कला, अभिनय एवं जनसंचार के क्षेत्र में आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाना।

परिणाम

- साहित्यिक व आध्यात्मिक परिणाम: छात्र संस्कृत नाट्य परंपरा, छंद-अलंकार विधान से अवगत होकर जीवन में सत्य, त्याग और उच्च आध्यात्मिक चेतना को आत्मसात करता है।
- सामाजिक व नैतिक परिणाम: छात्र कर्ण के कवच-कुण्डल के महादान से नि:स्वार्थ सामाजिक सेवा-भाव, सच्ची कृतज्ञता और अटूट नैतिक जीवन-मूल्यों को अपने व्यवहार में उतारता है।
- व्यवसायिक व आर्थिक परिणाम: छात्र संवाद अदायगी और अभिनय कला में निपुण होकर रंगमंच, मीडिया व कला जगत में उत्कृष्ट करियर व सशक्त आर्थिक आजीविका प्राप्त करने योग्य बनता है।

इकाई-1
कर्ण का मानसिक संताप और अस्त्र-विद्या की विफलता

महाभारत के युद्ध में कौरवों की ओर से युद्ध कर रहे कर्ण से देवराज इन्द्र द्वारा ब्राह्मण का वेश बनाकर दान में कर्ण से कवच व कुण्डल माँगने का विषय प्रस्तुत किया गया है। कर्ण आचार्य परशुराम जी से छल से जो विद्या ग्रहण करता है तथा फिर आचार्य भृगुवंश के ध्वज तथा क्षत्रियों के विनाशक आचार्य परशुराम जी उससे क्रुद्ध हो जाते है तथा कर्ण को शाप देते हैं कि युद्धकाल में तुम्हारे अस्त्र विफल हो जायें तथा कर्ण के अनेक अस्त्र निशक्त हो जाते हैं तथा पुन: जब देवराज इन्द्र कर्ण से कवच व कुण्डल दानरूप में स्वीकार करते हैं तो बदले में ''विमला'' नामक अमोघ शक्ति कर्ण को देते हैं जो किसी भी एक पाण्डव का वध करने हेतु संकल्पित थी। अत: प्रस्तुत विषय को श्लोकबद्ध

कर वर्णन किया गया है तथा शल्यराज को अंगराज कर्ण उपरोक्त वृतांत सुनाते है।

(नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः ।) (नान्दी-पाठ के अंत में सूत्रधार आता है)

सूत्रधारः -

नरमृगपतिवर्ष्मालोकनभ्रान्तनारी-
नरदनुजसुपर्वव्रातपातालल्लोकः ।
करजकुलिशपालीभिन्नदैत्येन्द्रवक्षाः
सुररिपुबलहन्ता श्रीधरोऽस्तु श्रिये वः ॥१॥

पर्यायवाचिशब्दाः - नरस्य = मनुष्यस्य, **मृगपतेः** = सिंहस्य, **वर्ष्म** = विग्रहः, **आलोकनेन** = प्रेक्षणेन, **दनुजानाम्** = दानवानाम्, **सुपर्वणाम्** = सुमनसाम्, **व्राताः** = संघाताः, **करजः** = नखः, **कुलिशम्** = वज्रम्, **भिन्नम्** = विदीर्णम्, **दैत्येन्द्रः** = हिरण्यकशिपः, **श्रिये** = कल्याणाय।

वृत्तम् - मालिनी।

अलंकारः - पर्यायोक्तिः।

पदविग्रहः -

नरमृगपतिवर्ष्मालोकनभ्रान्तनारीनरदनुजसुपर्वव्रातपातालल्लोकः= नरस्य (मनुष्यस्य) मृगपते (सिंहस्य) च वर्ष्म (विग्रहः) नरमृगपतिवर्ष्मः। तस्य आलोकनेन भ्रान्ताः कृताः नारीणाम् नराणां दनुजानां सुपर्वणां व्राताः पातालल्लोकञ्च येन सः।

करजकुलिशपालीभिन्नदैत्येन्द्रवक्षाः- करे जातः करजः स एव कुलिशं तस्य पाल्या भिन्नं दैत्येन्द्रस्य वक्षः येन सः।

सुररिपुबलहन्ता - सुराणां रिपवः (दैत्याः) तेषां बलं हन्तीति श्रीधर श्रियः धरः।

अर्थः- जिस विष्णु भगवान् के नृसिंह विग्रह को देखकर सभी पुरुष, महिलाएं, राक्षस, देवता और पाताललोक विस्मित हो गया तथा जिन्होंने वज्र के समान कठोर नख के अग्र भाग से हिरण्यकश्यपु का वध किया ऐसे राक्षसों को हराने वाले भगवान् विष्णु आप सभी का कल्याण करें ॥१॥

एवमार्यमिश्रान्विज्ञापयामि। (परिक्रम्य, कर्णं दत्त्वा।) अये किं नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते। अङ्ग ! पश्यामि । (नेपथ्ये) भो भो । निवेद्यतां निवेद्यतां महाराजायाङ्गेश्वराय। सूत्रधारः भवतु विज्ञातम् ।

(आर्यमिश्रान् - आर्याश्च मिश्राश्च = आर्यमिश्राः, तान् । आर्याः = कुलशीलदयाधर्मसत्यादिसद्गुणसम्पन्नाः, ईश्वरः = अधिपतिः।)

इस प्रकार मैं आप महानुभावों को सूचित करता हूँ । (घूमकर, ध्यान से सुनते हुए) अरे मुझ सूचना देने में व्यग्र (सूत्रधार) को यह कैसा शब्द-सा सुनाई पड़ता है । अच्छा ! देखता हूँ।

(नेपथ्य में) हे हे ! निवेदन करो, निवेदन करों महाराज अङ्गदेशाधिपति (कर्ण) से ।

सूत्रधार - अच्छा, समझा ।

संग्रामे तुमुले जाते कर्णाय कलिताञ्जलिः ।
निवेदयति संभ्रान्तो भृत्यो दुर्योधनाज्ञया ।।२।।

पर्यायवाचिशब्दाः - संग्रामे = आहवे, तुमुले = भयङ्करे, जाते = भूते, कलितः = विहितः, अञ्जलिः = करसम्पुटः, संभ्रान्तः = व्याकुलः, भृत्यः = राजसेवकः।

छन्दः - अनुष्टुप्

पदविग्रहः -

कलिताञ्जलिः = कलितः अञ्जलिः येन सः, **दुर्योधनाज्ञया** = धार्तराष्ट्रश्रेष्ठस्य आज्ञया।

अर्थः- हाथ जोड़े हुए व्याकुल सेवक दुर्योधन की आज्ञा से कर्ण को भयंकर युद्ध होने की सूचना देता है ।।२।।

(निष्क्रान्तः)

प्रस्तावना । (ततः प्रविशति भटः ।)

भटः- भो भो । निवेद्यतां निवेद्यतां महाराजायाङ्गेश्वराय युद्धकाल उपस्थित इति ।

भट - हे हे ! निवेदन करो, निवेदन करो, महाराज अङ्गेश्वर (कर्ण) को कि युद्धकाल उपस्थित हो गया है।

करितुरगरथस्थैः पार्थकेतोः पुरस्तात्
मुदितनृपतिसिंहैः सिंहनादः कृतोऽद्य ।
त्वरितमरिनिनादैर्दुस्सहालोकवीरः
समरमधिगतार्थः प्रस्थितो नागकेतुः ।।३।।

पर्यायवाचिशब्दाः - करिणाम् = नागानाम् । तुरगाणाम् = अश्वानाम् । नृपतयः ते एव सिंहाः तैः। अरीणां निनादास्तैः = शत्रुकोलाहलैः । नागः = मणिमयो हस्ती । केतौ = ध्वजे ।

वृत्तम् - मालिनी

पदविग्रहः - करितुरगरथस्थैः = करिणां तुरगाणां रथानां तेषु तिष्ठन्तीति तैः। **मुदितनृपतिसिंहैः** = मुदिताः नृपतयः ते एव सिंहाः तैः। **सिंहनादः** = सिंहानां नाद इव नादः यथा स्यात्। **अरिनिनादैः** = अरीणां निनादास्तैः। **दुस्सहालोकवीरः** = दुस्सहः आलोकः यस्य एतादृशश्चासौ वीरश्च सः। **अधिगतार्थः** = अधिगतः अर्थः येन सः। **नागकेतुः** = नागः केतौ यस्य सः।

अर्थः - आज अर्जुन के ध्वज के सामने शेर के सदृश हाथी, घोड़े और रथों पर सवार जो राजा हैं, जयनाद कर रहें हैं और अपरीमित शक्ति वालें नागकेतु दुर्योधन ने युद्ध के लिये तुरन्त प्रस्थान किया। ।।३।।

(परिक्रम्य विलोक्य) अये अयमङ्गराजः समरपरिच्छदपरिवृतः शल्यराजेन सह स्वभवनान्निष्क्रम्येत एवाभिवर्तते । भोः किं नु खलुयुद्धोत्सवप्रमुखस्य दृष्टपराक्रमस्याभूतपूर्वी हृदयपरितापः ।

(घूमकर, देखकर) हे, यह अङ्गराज (कर्ण) युद्धवेष को धारण करके शल्यराज (सारथि) के साथ अपने भवन से निकलकर युद्धस्थलकी ओर जा रहे हैं । अरे ! युद्धरूपी उत्सव में सर्वप्रमुख सेनापति अत्यन्तपराक्रमी कर्ण का यह अभूतपूर्व मानसिक संताप कैसा ?

एष हि-

अत्युग्रदीप्तिविशदः समरेऽग्रगण्यः
शौर्ये च संप्रति सशोकमुपैति धीमान् ।
प्राप्ते निदाघसमये घनराशिरुद्धः
सूर्यः स्वभावरुचिमानिव भाति कर्णः ।।४।।

पर्यायवाचिशब्दाः - समरे = आयोघने राशयः समूहः। **निदाघसमये** = ग्रीष्मर्तौ ।
वृत्तिः - अनुप्रासः
अलंकारः- अर्थान्तरन्यासः ।
पदविग्रहः - अत्युग्रदीप्तिविशदः = अत्युग्रा चासौ दीप्तिः तया विशदः । **घनराशिरुद्धः** = घनानां राशयः । **भाति** = शोभते ।

अर्थः- यहाँ यह- अत्यन्त उग्र पराक्रम से युक्त रणस्थल में सर्व प्रमुख बलशाली कर्ण बुद्धिमान होकर भी युद्ध के समय ऐसा परितप्त हो रहे हैं जैसे ग्रीष्म ऋतु में स्वाभाविक उग्र किरणों वाला सूर्य बादलों के समूह से ढक जाये ।।४।।

यावदपसर्पामि। (निष्क्रान्तः ।) (ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः कर्णः शल्यश्च ।)
अच्छा तो जाता हूँ । (तब पूर्वनिर्दिष्ट कर्ण और शल्य प्रवेश करते हैं ।)

कर्णः -

मा तावन्मम शरमार्गलक्ष्यभूताः
संप्राप्ताः क्षितिपतयः सजीवशेषाः ।

कर्तव्यं रणशिरसि प्रियं कुरूणां
द्रष्टव्यो यदि स भवेद्धनञ्जयो मे ।।५।।

पर्यायवाचिशब्दाः - शराणाम् = विशिखानाम् । **भूताः** = स्थिताः । **क्षितीनाम्** = भूमीनाम् । **कर्तव्यम्** = विधातव्यम् । **द्रष्टव्यः** = चक्षुर्गोचरीभूतः ।

वृत्तम् - प्रहर्षिणी

गुणः - ओजो गुणः

पदविग्रहः - शरमार्गलक्षभूताः = शराणां मार्गेषु लक्ष्यभूताः । **क्षितिपतयः** = क्षितीनां पतयः ।

अर्थः- ऐसा नहीं हो सकता कि मेरे बाणसंधान का लक्ष्य बनकर राजा-महाराजा जीवित बच जांये। यदि युद्ध क्षेत्र में मैं अर्जुन को देख लूँ तो मैं कौरवों का अभीष्ट पूर्ण कर दूँ अर्थात् अर्जुन को मार दूँगा। ।।५।।

शल्यराज ! यत्रासावर्जुनस्तत्रैव चोद्यतां मम रथः । शल्यः बाढम् । (चोदयति ।)

ओ शल्यराज (सारथि) ! जहाँ वह अर्जुन है वहीं मेरे रथ को ले चलो ।

शल्य - बहुत अच्छा। (ले जाता है।)

कर्णः- अहो नु खलु

अन्योन्यशस्त्रविनिपातनिकृत्तगात्र-
योधाश्चवारणरथेषु महाहवेषु ।
क्रुद्धान्तकप्रतिमविक्रमिणो ममापि
वैधुर्यमापतति चेतसि युद्धकाले ।।६।।

पर्यायवाचिशब्दाः - शस्त्राणाम् = आयुधानाम् । **विनिपातैः** = प्रहारैः । **निकृत्तगात्राः** = कर्तितविग्रहाः । **वारणाः** = करिणः । **रथाः** = स्यन्दनाः । **क्रुद्धः** = कुपितः । **अन्तकः** = यमः । **वैधुर्यम्** = दीनता । **वृत्तम्** - वसन्ततिलका । **अलंकारः**- उपमा । **गुणः** - ओजो गुणः।

पदविग्रहः - अन्योन्यशस्त्रविनिपातनिकृत्तगात्रयोधाश्चवारणरथेषु = अन्योन्यं शस्त्राणां विनिपातैः निकृत्तगात्राः योधाः अश्वाः वारणाः रथाश्च येषु तेषु । **महाहवेषु** = महान्तश्च ते आहवाः तेषु । **क्रुद्धान्तकप्रतिमविक्रमिणः** = क्रुद्धः अन्तकः तस्य प्रतिमा इव प्रतिमा यस्य एतादृशो यो विक्रमः सोऽस्य-अस्तीति।

अर्थः- कर्ण - अरे, यह कैसे -

जिसकी अपार शक्ति की तुलना क्रुद्ध यमराज से हो सकती है। और जो युद्धस्थल में शस्त्र प्रहार के द्वारा अनेकों योद्धाओं, घोड़ों, रथों और हाथियों के टुकड़े कर डालता था। आज युद्ध का समय उपस्थित होने पर मेरे मन में भी कायरता का भाव आ रहा है। ।।६।।

भोः कष्टम् ।

पूर्वं कुन्त्यां समुत्पन्नो राधेय इति विश्रुतः ।
युधिष्ठिरादयस्ते मे यवीयांसस्तु पाण्डवाः ।।७।।

पर्यायवाचिशब्दाः - समुत्पन्नः = उत्पन्नः । **युधिष्ठिरादयः** = युधिष्ठिरप्रमुखाः पाण्डवाः ।
यवीयांसः = कनिष्ठाः ।

छन्दः - अनुष्टुप् । **भावः** - दैन्यं संचारी भावः ।

अर्थः- मैं पहले माता कुन्ति से उत्पन्न होकर राधा के पुत्र के नाम से जाना गया। इसलिये युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डव मेरे छोटे भाई हैं। ।।७।।

स्मरणीय बिंदु

- नृसिंह अवतार स्तुतिः नाटक का प्रारंभ भगवान विष्णु के नृसिंह रूप के मंगलाचरण (नान्दी-पाठ) से होता है, जिसमें वज्र समान नखों से हिरण्यकश्यपु के वध का उल्लेख है।
- दुर्योधन का युद्ध प्रस्थानः भृत्य व्याकुल होकर सूचना देता है कि नागकेतु दुर्योधन ने कुरु सेनापतियों के सिंहनाद के मध्य अर्जुन के रथ के सम्मुख युद्ध हेतु प्रस्थान कर दिया है।
- कर्ण का अभूतपूर्व संतापः युद्धभूमि की ओर जाते समय अत्यंत पराक्रमी कर्ण बुद्धिमान होने पर भी उसी प्रकार संताप (शोक) से घिरे हैं जैसे बादलों से ढका सूर्य।
- कौरवों के हित का संकल्पः कर्ण शल्यराज से कहते हैं कि यदि वे रणक्षेत्र में धनञ्जय (अर्जुन) को सम्मुख देख लें, तो उसे मारकर दुर्योधन का अभीष्ट पूर्ण कर देंगे ।
- कनिष्ठ भ्राता रहस्यः युद्ध की वेला उपस्थित होने पर कर्ण के मन में यह सोचकर दीनता आ रही है कि कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डव वास्तव में उनके छोटे भाई हैं।

विशेष शब्द

- मृगपतेः सिंह (पशुओं का राजा) जिसकी उपमा नृसिंह अवतार हेतु प्रयुक्त है।
- करजकुलिशः हाथ की उंगलियों से उत्पन्न होने वाले वज्र के समान अत्यंत कठोर नख।
- नागकेतुः दुर्योधन, जिसके रथ की ध्वजा (केतु) पर मणिमय हाथी का चिह्न अंकित है।
- निदाघसमयेः अत्यंत प्रचंड तपन वाली ग्रीष्म ऋतु का समय ।
- यवीयांसः उम्र में छोटे अर्थात् कनिष्ठ भ्राता (पाण्डव)।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 मल्लशाला या रणक्षेत्र की ओर बढ़ते समय अंगराज कर्ण के मानसिक संताप के मूल कारणों (भ्रातृ रहस्य एवं अस्त्र विफलता) का नाटक के श्लोकों के आधार पर विस्तृत विवेचन कीजिए

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न–1 सूत्रधार द्वारा प्रथम श्लोक में किए गए मंगलाचरण का साहित्यिक एवं आध्यात्मिक महत्व स्पष्ट कीजिए

प्रश्न–2 प्राप्ते निदाघसमये घनराशिरुद्धः सूर्यः उपमा द्वारा कवि ने कर्ण की किस आंतरिक स्थिति को दर्शाया है

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. नाटक का मंगलाचरण (नान्दी–पाठ) भगवान विष्णु के किस विशिष्ट अवतार को समर्पित है?

1) वामनावतार

2) रामावतार

3) नृसिंह अवतार

4) कृष्णावतार

2. करजकुलिश श्लोक में प्रयुक्त विग्रह के अनुसार हिरण्यकश्यपु का वध किससे किया गया था?

1) चक्र से

2) गदा से

3) वज्र समान कठोर नखों से

4) परशु से

3. दुर्योधन की आज्ञा से कर्ण को भयंकर युद्ध छिड़ने की सूचना हाथ जोड़कर कौन देता है?

1) शल्यराज

2) व्याकुल सेवक (भृत्य)

3) परशुराम

4) शक्र

4. समर शब्द का पाठ्यपुस्तक के व्याकरण भाग के अनुसार प्रामाणिक पर्यायवाची शब्द क्या है?

1) आयोघने (आहवे/युद्ध)

2) भवनम्

3) कलिकाल

4) मेघः

5. कर्ण के अनुसार राधापुत्र (राधेय) के रूप में विख्यात होने से पूर्व वे किसके प्रथम पुत्र थे?

1) गंधारी के

2) माता कुन्ती के

3) सुभद्रा के

4) देवकी के

इकाई-2
इन्द्र की याचना और कर्ण का दान-प्रस्ताव

अयं स कालः क्रमलब्धशोभनो
गुणप्रकर्षो दिवसोऽयमागतः ।
निरर्थमस्त्रं च मया हि शिक्षितं
पुनश्च मातुर्वचनेन वारितः ॥८॥

पर्यायवाचिशब्दाः - प्रकर्षः = उत्कृष्टः । **आगतः** = सम्प्राप्तः । **शिक्षितम्** = अभ्यस्तम् । **अस्त्रम्** = आग्नेयादिविशिष्टायुधम् । **वारितः** = निषिद्धः ।

वृत्तम् - वंशस्थवृत्तम् ।

पदविग्रहः - क्रमलब्धशोभनः = दिनक्रमेण लब्धः शोभनः स । **गुणप्रकर्षः** = गुणेन प्रकर्षः ।

अर्थः- अत्यन्त उपयुक्त और बहुप्रतीक्षित दिन आ गया है किन्तु मेरी अस्त्र शिक्षा इस समय व्यर्थ हो रही हैं और माता ने मुझे (अर्जुन आदि अपने छोटे भाईयों पर) अस्त्र चलाने से मना भी किया है। ।।८।।

भोः शल्यराज ! श्रूयतां ममास्त्रस्य वृत्तान्तः । शल्यः ममाप्यस्ति कौतूहलमेनं वृत्तान्तं श्रोतुम् । कर्णः - पूर्वमेवाहं जामदग्न्यस्य सकाशं गतवानस्मि । शल्यः- ततस्ततः

हे शल्यराज, सुनो मेरे अस्त्रों की कथा । शल्य - इस वृत्तान्त को सुनने का मुझे भी बड़ा कौतूहल है । कर्ण - मैं पहले जामदग्न्य (परशुराम) के पास गया था । शल्य -तब फिर ।

कर्णः - ततः (कर्ण - तब,)

विद्युल्लताकपिलतुङ्गजटाकलापम्-
उद्यत्प्रभावलयिनं परशुं दधानम् ।
क्षत्रान्तकं मुनिवरं भृगुवंशकेतुं गत्त्वा
प्रणम्य निकटे निभृतः स्थितोऽस्मि ॥९॥

पर्यायवाचिशब्दाः - कपिलः = पिङ्गलवर्णः । **तुङ्गः** = महान् । **क्षत्रान्तकम्** = क्षत्रियजातिनाशकम् **निभृतः** = मौनमवलम्ब्य ।

वृत्तम् - वसन्ततिलका वृत्तम् ।

पदविग्रहः - विद्युल्लताकपिलतुङ्गजटाकलापम् = विद्युच्चासौ लता इव कपिलः तुङ्गः जटायाः

कलापः यस्य तम् । **उद्यत्प्रभावलयिनम्** = उद्यन्ती चासौ प्रभा तस्या वलयम् अस्ति यस्य तम् । **भृगुवंशकेतुम्** = भृगोर्वंशः तस्य केतुः तम् ।

अर्थः- विद्युत् की लता के समान पीली और लम्बी जटा के समूह एवं प्रभा की परिधि से घिरे हुए परशु को धारण करने वालें मुनिजनों में श्रेष्ठ, भृगुवंश के ध्वज और क्षत्रियों का नाश करने वाले परशुराम के निकट जाकर प्रणाम करके मैं शान्तिपूर्वक एक ओर खड़ा हो गया। ।।९।।

शल्यः - ततस्ततः । कर्णः- ततो जामदग्न्येन ममाशीर्वचनं दत्त्वा पृष्टोऽस्मि । कोभवान् ? किमर्थमिहागत इति ? शल्यः- ततस्ततः । कर्णः - ततःभगवन्अखिलान्यस्त्राण्युपशिक्षितुमिच्छामीत्युक्तवानस्मि । शल्यः- ततस्ततः । कर्णः तत उक्तोहं भगवता ब्राह्मणेषूपदेशं करिष्यामि न क्षत्रियाणामिति । शल्यः अस्ति खलु भगवतः क्षत्रियवंश्यैः पूर्ववैरम् । ततस्ततः । कर्णः- ततो नाहं क्षत्रिय इत्यस्त्रोपदेशं ग्रहीतुमारब्धं मया । शल्यः- ततस्ततः । कर्णः-ततः कतिपयकालातिक्रमे कदाचित्फलमूलसमित्कुश कुसुमाहरणाय गतवता गुरुणासहानुगतोऽस्मि । शल्यः- ततस्ततः । कर्णः- ततः स गुरुर्वनभ्रमणपरिश्रमान्मदङ्के निद्रावशमुपगतः ।

शल्य - तब फिर । कर्ण - तब परशुराम ने आशीर्वाद देकर मुझसे पूछा आप कौन हैं ? क्यों यहाँ आये हैं ? शल्य - तब फिर । कर्ण - तब 'भगवन्' मैं समस्त अस्त्र - विद्या सीखना चाहता हूँ, ऐसा मैंने कहा । शल्य - तब फिर । कर्ण - तब आचार्य भगवान ने मुझसे कहा कि मैं केवल ब्राह्मणों को ही अस्त्र-विद्या का उपदेश देता हूँ, क्षत्रियों को नहीं । शल्य - भगवान को तो क्षत्रिय वंश से पुराना वैर है । तब फिर । कर्ण - तब मैं क्षत्रिय नहीं हूँ (ऐसा कहकर मैंने)अस्त्रका उपदेश लेना प्रारम्भ कर दिया । शल्य - तब फिर । कर्ण - तब कुछ समय बीतने पर एकबार फल, मूल, समिधा, कुश, कुसुम लाने के लिए जाते हुए गुरु के साथ मैं भी जंगल को गया था । शल्य - तब फिर । कर्ण - तब गुरुजी वन में भ्रमणकरने के परिश्रम से क्लान्त होकर मेरी गोद में ही सो गए ।

शल्यः- ततस्ततः । कर्णः- ततः । (शल्य -तब फिर । कर्ण तब,)

कृत्ते वज्रमुखेन नाम कृमिणा दैवान्ममोरुद्वये
निद्राच्छेदभयादसात गुरोर्धैर्यात्तदा वेदना ।
उत्थाय क्षतजाप्लुतः स सहसा रोषानलोद्दीपितो
बुद्ध्वा मां च शशाप कालविफलान्यस्त्राणि ते सन्त्विति ।।१०।।

पर्यायवाचिशब्दाः - दैवात् = (कर्णस्य) दुर्भाग्यवशात् । **कृमिणा** = कीटेन । **ऊरुद्वये कृते** = दष्टे

सति । **क्षतजाप्लुतः** = रुधिराप्लुतः । **उत्थाय** = निद्रामुन्मुच्य। **विफलानि** = फलरहितानि ।

छन्दः – शार्दूलविक्रीडितम्

पदविग्रहः – वज्रमुखेन = वज्रवत् मुखं यस्य तेन । **निद्राच्छेदभयाद्** = निद्रायाः छेदः तस्य भयं तस्मात् । **क्षतजाप्लुतः** = क्षताज्जातं तेन आप्लुतः सः । **रोषानलोद्दीपितः** = रोष एव अनलः तेनोद्दीपितः।

अर्थः– दुर्भाग्य से वज्रमुख नामक कीड़े ने मेरी जंघा में काट लिया तथा उस पर सिर रखकर गुरुजी विश्राम कर रहे थे। अतः विश्राम करते हुए गुरुजी के निद्रा भंग होने के डर से मैंने उस वेदना को धैर्यपूर्वक सह लिया। मेरी जंघा से निकले रक्त से भीगे हुए गुरुजी उठकर बैठ गये तथा उनकी क्रोधाग्नि धधक उठी और गुस्से से उन्होंने मुझे शाप दिया कि युद्धकाल में मेरे अस्त्र विफल हो जांये। ।।१०।।

शल्यः – अहो कष्टमभिहितं तत्रभवता। कर्णः परीक्षामहे तावदस्वस्य वृत्तान्तम् (तथा कृत्वा) एतान्यस्त्राणिनिर्वीर्याणीव लक्ष्यन्ते।

शल्य – अरे, बड़ी कष्टकर बात उन्होंने कही । कर्ण – तब तो मैं अपने अस्त्रों की कथा की परीक्षा करता हूँ । (वैसा करके) ये अस्त्र भी निःशक्त से दिखाई पड़ते हैं ।

अपि च – (और भी,)

इमे हि दैन्येन निमीलितेक्षणा
मुहुः स्खलन्तो विवशास्तुरङ्गमाः ।
गजाश्चसप्तच्छददानगन्धिनो
निवेदयन्तीव रणे निवर्तनम् ।।११।।

पर्यायवाचिशब्दाः – दैन्येन = कातरतया । **स्खलन्तः** = भ्रश्यन्तः । **तुरम्** = शीघ्रम् । **निवर्त्तनम्** = परावर्तनम् ।

वृत्तम् – वंशस्थवृत्तम् ।

पदविग्रहः – निमीलितेक्षणा = निमीलितानि ईक्षणानि येषां ते । **सप्तच्छददानगन्धिनः** = सप्तच्छदस्य इव दानस्य गन्धः स एषां ते ।

अर्थः– ये कायरता के भाव से भरे हुए विवश होकर घोड़े भी अपनी आंखों को बन्द करके बार–बार ठोकर खा रहे हैं। सप्तच्छद के समान मद के गन्ध से युक्त ये गजराज दीन होकर जैसे युद्धस्थल से वापस लौटने का निवेदन कर रहे हैं। ।।११।।

शङ्खदुन्दुभयश्च निःशब्दाः । शल्यः भोः कष्टं किं नु खल्विदम् । कर्णः शल्यराज ! अलमलं विषादेन ।

शङ्ख और दुन्दुभी भी निश्शब्द हो गए हैं। शल्य – बड़ा कष्ट है यह सब क्या है।

कर्ण – शल्यराज ! विषाद करना व्यर्थ है ।

हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः ।
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे ।।१२।।

पर्यायवाचिशब्दाः - हतोऽपि = पंचतत्त्वम् गतोऽपि । **लभते** = प्राप्नोति/आदत्ते । **बहुमते** = दुर्लभे। **उभे** = स्वर्गयशसी ।

अर्थः- युद्ध में मृत्यु होने पर स्वर्ग प्राप्त होता है तथा विजय प्राप्त होने पर यश मिलता है। अतः संसार में दोनों ही माननीय हैं। इस कारण से युद्ध करने में निष्फलता नहीं है। ।।१२।।

अपि च,

इमे हि युद्धेष्वनिवर्तिताशा
हयाः सुपर्णेन समानवेगाः ।
श्रीमत्सु काम्बोजकुलेषु जाता
रक्षन्तु मां यद्यपि रक्षितव्यम् ।।१३।।

पर्यायवाचिशब्दाः - सुपर्णेन = गरुत्मता । **जाताः** = प्रादुर्भूताः ।

छन्दः- उपजातिः

पदविग्रहः - युद्धेष्वनिवर्तिताशाः = युद्धेषु अनिवर्तिता आशा यैस्ते । **काम्बोजकुलेषु** = कम्बोजे जाताः तेषां कुलानि तेषु ।

अर्थः- युद्ध की इच्छा वाले गरुड़ के समान वेगवान शोभायुक्त काबुली जाति के घोड़े, जिनकी रक्षा मेरे द्वारा होनी चाहिए, वो मेरी रक्षा करें। ।।१३।।

अक्षयोऽस्तु गोब्राह्मणानाम् । अक्षयोऽस्तु पतिव्रतानाम् । अक्षयोऽस्तुरणेष्वपराङ्मुखानां योध पुरुषाणाम् । अक्षयोऽस्तु मम प्राप्तकालस्य ।

गायों और ब्राह्मणों का कल्याण हो। सभी माताओं का कल्याण हो । रण में पीठ न दिखाने वाले वीर योद्धाओं का कल्याण हो ! मुझ, सुअवसर प्राप्त किये हुये का भी छोड़कर मैं क्या कहूँ । अच्छा देखा। हे कर्ण ! सूर्य की भाँति, चन्द्र, हिमवान् एवं सागर की भाँति, तुम्हारा यश हो । कर्ण - भगवन् ! दीर्घायु हो ऐसा क्यों नहीं कहा । अथवा यही अति सुन्दर है । क्योंकि,

धर्मा हि यत्नैः पुरुषेण साध्यो भुजङ्गजिह्वाचपला नृपश्रियः ।
तस्मात्प्रजापालनमात्रबुद्धया हतेषु देहेषु गुणा धरन्ते ।। १७ ।।

पर्यायवाचिशब्दाः - धर्मः = शास्त्रोक्तम् । **साध्यः** = कर्त्तव्यः । **नृपश्रियः** = राजलक्ष्म्यः । **प्रजापालनमात्रबुद्धया** = जनरक्षणमात्रमत्या ।

वृत्तम् - उपजातिः

पदविग्रहः - भुजङ्गजिह्वाचपला = भुजङ्गानां जिह्वा इव चपला । **नृपश्रियः** = नृपाणां श्रियः । **प्रजापालनमात्रबुद्धया** = प्रजायाः पालनं तन्मात्रा बुद्धिः तया ।

अर्थः- मनुष्य के द्वारा केवल धर्म ही प्रयत्नपूर्वक साध्य है। राज्य का धन तो सर्प की जिह्वा की भाँति चञ्चल है, इसलिए प्रजा का पालन करने वाला मनुष्य अपनी मृत्यु के बाद केवल दया, दान, यश आदि गुणों से ही जीवित रहता है ।।१७।।

स्मरणीय बिंदु

- परशुराम का वेष: आचार्य परशुराम पीली विद्युत् जैसी जटाओं वाले, प्रभा की परिधि से घिरे तथा क्षत्रियों के काल रूप में परशु धारण किए हुए थे
- क्षत्रिय वैर व नियम: परशुराम का क्षत्रिय वंश से पुराना वैर था, अत: उन्होंने नियम बनाया था कि वे केवल ब्राह्मणों को अस्त्र-विद्या सिखाएंगे
- वज्रमुख कीड़े का डंक: वन में गुरु के विश्राम के समय वज्रमुख नामक कीड़े ने कर्ण की जंघा को काट लिया, पर गुरु की निद्रा भंग होने के भय से कर्ण ने असह्य वेदना सह ली
- क्रोधाग्नि एवं शाप: रक्त से भीगे गुरु परशुराम ने जब सत्य जाना कि कर्ण क्षत्रिय है (क्योंकि इतनी सहनशीलता ब्राह्मण में नहीं हो सकती), तो उन्होंने कर्ण को युद्धकाल में अस्त्र विफल होने का शाप दिया
- अस्त्रों का निष्प्राण होना: शाप के प्रभाव की परीक्षा करते ही कर्ण के सभी अस्त्र निर्वीर्य (नि:शक्त) हो जाते हैं और उनके घोड़े व हाथी दीन होकर पैर स्खलित करने लगते हैं

विशेष शब्द

- भृगुवंशकेतुं: भृगु वंश के ध्वज अर्थात् महर्षि जमदग्नि के पुत्र परशुराम
- निभृत: गुरु के तेज के सम्मुख अत्यंत शांत अथवा मौन भाव धारण कर खड़े होना
- क्षत्रजाप्लुत: घाव से निकलने वाले अत्यधिक रक्त या रुधिर से पूरी तरह भीगा हुआ
- रोषानलोद्दीपितो: क्रोध रूपी अग्नि के धधक उठने से अत्यंत प्रज्वलित या क्रुद्ध होना
- सप्तच्छददानगन्धिनो : सप्तपर्ण वृक्ष के समान तीक्ष्ण मद की गंध छोड़ने वाले मतवाले हाथी

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 कर्ण ने किस प्रकार छद्मवेष में आचार्य परशुराम से अस्त्र-विद्या सीखी? वज्रमुख कीड़े के प्रसंग के आधार पर परशुराम द्वारा दिए गए शाप की घटना का वर्णन कीजिए

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 अस्त्रों की परीक्षा करते समय कर्ण को अपने अश्वों और गजों (हाथियों) में किस प्रकार के कातरता के लक्षण दिखाई दिए

प्रश्न-2 हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यश: श्लोक के माध्यम से कर्ण ने युद्ध भूमि की क्या सार्थकता बताई है

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. जटाओं के समूह और कांति के वलय से घिरे क्षत्रियजाति का नाश करने वाले मुनिश्रेष्ठ कौन थे?

1) जामदग्न्य (परशुराम)

2) द्रोणाचार्य

3) शल्यराज

4) युधिष्ठिर

2. आचार्य परशुराम ने पूर्व वैर के कारण केवल किस जाति को अस्त्र-विद्या का उपदेश देने का नियम बनाया था?

1) क्षत्रियों को

2) ब्राह्मणों को

3) वैश्यों को

4) शूद्रों को

3. वन में विश्राम करते समय कर्ण की जंघा (ऊरुद्वये) में किस नाम के भयानक कीड़े ने काट लिया था?

1) वज्रमुख नाम के कृमि ने

2) कालिय ने

3) दनुज ने

4) तक्षक ने

4. गुरु परशुराम ने निद्रा भंग होने पर सत्य जानकर कर्ण को क्या भयानक शाप दिया?

1) युद्धकाल में तुम्हारे अस्त्र विफल हो जाएँ

2) तुम तुरंत मृत्यु को प्राप्त हो जाओ

3) तुम्हारा रथ टूट जाए

4) तुम्हारी शक्ति क्षीण हो जाए

5. सुपर्णेन शब्द का पाठ्यपुस्तक के श्लोक व संदर्भ के अनुसार क्या अर्थ है?

1) गरुड़ (वेगवान पक्षी) के समान

2) सुंदर स्वर्ण के समान

3) सर्प के समान

4) बादलों के समान

इकाई - 3
कवच-कुण्डल का महादान और अभेद्य रक्षा का त्याग

भगवन् किमिच्छसि। किमहं ददामि। शक्रः - महत्तरां भिक्षां याचे।
कर्णः - महत्तरां भिक्षां भवते प्रदास्ये । श्रूयन्तां मद्विभवाः ।
भगवन् ! क्या चाहते हैं ? क्या दूं ? शक्र -बहुत बड़ी भिक्षा चाहता हूँ ।
कर्ण - आपको बहुत बड़ी भिक्षा दी जाएगी। मेरा ऐश्वर्य सुनिए।

गुणवदमृतकल्पक्षीरधाराभिवर्षि
द्विजवर ! रुचितं ते तृप्तवत्सानुयात्रम् ।
तरुणमधिकमर्थिप्रार्थनीयं पवित्रं
विहितकनकशृङ्गं गोसहस्रं ददामि ॥ १८ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः - अमृतकल्पानाम् = पीयूषतुल्यानाम् । **धारा** = प्रस्रवणम् । **अर्थिनाम्** = याचकानाम् । **प्रार्थनीयम्** = याचकयाचितम् । **विहितकनक शृङ्गम्** = कृतसुवर्णशृङ्गम् । **ददामि** = समर्पयामि ।

वृत्तम् - मालिनी ।

पदविग्रहः - गुणवदमृतकल्पक्षीरधाराभिवर्षि = गुणवतां अमृतकल्पानां क्षीराणां धारा ताम् अभिवर्षितुं शीलमस्येति । **तृप्तवत्सानुयात्रम्** = तृप्तानां वत्सानाम् अनुयात्रा यस्य तत् । **अर्थिप्रार्थनीयम्** = अर्थिनां प्रार्थनीयम् । **विहितकनकशृङ्गम्** = विहितानि कनकानांशृङ्गाणि यस्मिन् तत् । **गोसहस्रम्** = गवां सहस्रम्।

अर्थः- हे द्विजश्रेष्ठ, यदि आपको रुचिकर हो तो जिनके सींग का ऊपरी भाग स्वर्णमण्डित है तथा जो स्वस्थ सुन्दर और युवती हैं, अमृत के तुल्य मधुर दुग्ध की धारा बहाने वाली, सन्तुष्ट बछड़ों के साथ, पवित्र तथा अन्य धन-धान्य सहित मैं आपको हजारों गायें दे सकता हूं ।।१८।।

शक्रः- गोसहस्रमिति। मुहूर्तकं क्षीरं पिबामि। नेच्छामि कर्ण! नेच्छामि।
कर्णः - किं नेच्छति भवान् । इदमपि श्रूयताम् ।

शक्र - हजार गाएँ ! कुछ समय तक दूध पिऊँगा । नहीं चाहता, कर्ण नहीं चाहता ।
कर्ण - क्या आप नहीं चाहते। इसे भी सुनिए -

रवितुरगसमानं साधनं राजलक्ष्म्याः
सकलनृपतिमान्यं मान्यकाम्बोजजातम् ।
सुगुणमनिलवेगं युद्धदृष्टापदानं
सपदि बहुसहस्रं वाजिनां ते ददामि ॥१९॥

पर्यायवाचिशब्दाः - रवितुरगसमानम् = सूर्याश्वतुल्यं। सुगुणम् = समीचीनगुणयुक्तम् । युद्धदृष्टापदानम् = आहवदृष्टपराक्रमादिकर्मवृत्तम् । **वाजिनाम्** = तुरगाणाम् ।

वृत्तम् - मालिनी ।

पदविग्रहः - रवितुरगसमानम् = रवेः तुरगाः तेषां समानम् । **सकलनृपतिमान्यम्** = सकलानां नृपतीनां मान्यम् । **मान्यकाम्बोजजातम्** = मान्येषु काम्बोजेषु जातम् ।

युद्धदृष्टापदानम् = युद्धेषु दृष्टानि यस्मिन् तत् । **बहुसहस्रम्** = अनेकसहस्रसंख्याकम् ।

अर्थः- सूर्य के घोड़ों के सदृश, राजलक्ष्मी के साधनभूत, अनेक राजाओं से प्रशंसित, उत्तम काबुली जाति के, विशेष गुणों से युक्त, वायु के समान तीव्र वेगवाले तथा युद्धक्षेत्र में कृतपराक्रम, ऐसे हजारों घोड़े मैं आपको अविलम्ब दे दूंगा ॥१९॥

शक्रः- अश्व । मुहूर्तकमारोहामि । णेच्छामि कर्ण ! णेच्छामि।
कर्णः - किं नेच्छति भवान् । अन्यदपि श्रूयताम् !

शक्र - घोड़े । थोड़े समय तक चढ़ूंगा । नहीं चाहता कर्ण ! नहीं चाहता ।
कर्ण- क्या नहीं चाहते आप ? अच्छा दूसरा सुनिए ।

मदसरितकपोलं षट्पदैः सेव्यमानं गिरिवरनिचयाभं मेघगम्भीरघोषम्
सितनखदशनानां वारणानामनेकं रिपुसमरविमर्दं वृन्दमेतद्ददामि ॥२०॥

पर्यायवाचिशब्दाः - सरिताः = दिग्धाः। **मदसरितकपोलम्** = दानसिक्तगण्डस्थलम् । **षट्पदैः** = भ्रमरैः । **गिरिवराणाम्** = पर्वतश्रेष्ठानाम् । **निचयाः** = पुञ्जाः । **गम्भीरः** = ओजस्वी । **सितनखदशनानां** = स्वच्छकरजदन्तानाम् । **वृन्दम्** = समूहम्

वृत्तम् - मालिनी

पदविग्रहः - मदसरितकपोलम् = मदेन सरिताः कपोला यस्मिन् तत् । **गिरिवरनिचयाभम्** = गिरिवराणां निचयाः तेषाम् आभा इव आभा यस्मिन् तत् । **मेघगम्भीरघोषम्** = मेघः इव गम्भीरः घोषः

यस्मिन् तत् । **सितनखदशनानाम्** = सिताः नखा दशनाश्च येषां तेषाम् । **रिपुसमरविमर्दम्** = रिपूणां समरे विमर्दम् ।

अर्थः- मद की नदियां जिनके कपोलों से बह रही हैं और जिनपर भ्रमर मँडरा रहे हैं । गिरि-समूह के समान जिनकी शोभा है, जो मेघ के समान गम्भीर घोष वाले, श्वेतनख और दाँत से युक्त तथा युद्धभूमि में अनेक शत्रुओं को विनष्ट करने वाले अनेक हाथियों का समूह (तुम्हें) दूँगा ।।२०।।

शक्रः - गज । मुहूर्तकमारोहामि । णेच्छामि कर्ण ! णेच्छामि। कर्णः - किं नेच्छति भवान्। अन्यदपि श्रूयताम् । अपर्याप्तं कनकं ददामि । शक्रः - गृहीत्वा गच्छामि (किंचिद् गत्वा) नेच्छामि कर्ण ! नेच्छामि । कर्णः - तेन हि जित्वा पृथिवीं ददामि । शक्रः - पृथिव्या किं करिष्यामि । कर्णः - तेन ह्यग्निष्टोमफलं ददामि। शक्रः - अग्निष्टोमफलेन किं कार्यम् । कर्णः - तेन हि मच्छिरो (मत्-शिरो) ददामि। शक्रः- अविहा अविहा! कर्णः - न भेतव्यं न भेतव्यम्। प्रसीदतु भवान् । अन्यदपि श्रूयताम् ।

कर्ण - गज ! थोड़े समय तक चढूंगा । नहीं चाहता कर्ण ! नहीं चाहता । कर्ण - क्या आप इसे भी नहीं चाहते । और भी सुनो। अतुल स्वर्ण दूँगा । शक्र - लेकर चला जाऊँगा । (कुछ दूर जाकर) नहीं चाहता कर्ण ! नहीं चाहता । कर्ण - तो भूमि को जीतकर दूँगा । शक्र - पृथ्वी लेकर क्या करूंगा? कर्ण - तो अग्निष्टोम (यज्ञ) का फल दूँगा । शक्र - अग्निष्टोम का फल लेकर क्या होगा ? कर्ण - तो अपना शिर दूँगा । शक्र -- ईश्वर रक्षा करे, रक्षा करे ।

कर्ण - न डरिए, न डरिए । आप प्रसन्न हों। और भी सुनिए ।

अङ्गैः सहैव जनितं मम देहरक्षा
देवासुरैरपि न भेद्यमिदं सहास्त्रैः ।
देयं तथापि कवचं सह कुण्डलाभ्यां
प्रीत्या मया भगवते रुचितं यदि स्यात् ।।२१।।

पर्यायवाचिशब्दाः - अङ्गैः = गात्रैः । **सहैव** = सार्धमेव । **जनितम्** = प्रादुर्भूतम् । **सहास्त्रैः** = आयुधयुक्तैः । **कुण्डलाभ्याम्** = कर्णाभरणाभ्याम् ।

वृत्तम् - वसन्ततिलका ।

अर्थः- हजारों अस्त्रों से देवता और दानवों से भी मेरे शरीर की समस्त अंगों सहित रक्षा के लिए यह अभेद्य कवच है। यदि आप चाहते है तो मैं प्रसन्नतापूर्वक अपने कुण्डलों के साथ कवच भी आपको दे दूँ ।।२१।।

स्मरणीय बिंदु

- इन्द्र का कपट प्रवेशः देवराज इन्द्र ब्राह्मण (शक्र) का छद्मवेश धारण कर कर्ण के सम्मुख महत्तरां भिक्षां याचे (बहुत बड़ी भिक्षा चाहता हूँ) कहकर उपस्थित होते हैं।
- गोसहस्र का प्रस्तावः कर्ण इन्द्र को स्वर्णमण्डित सींगों वाली, सुंदर बछड़ों से युक्त, अमृत समान दूध देने वाली हजारों पवित्र गायें देने का प्रस्ताव रखते हैं।
- अश्व व गज दान का संकल्पः गायों को अस्वीकार करने पर कर्ण वायु के समान तीव्र वेग वाले हजारों काबुली घोड़े और पर्वत श्रेणियों के समान ऊँचे मेघगम्भीर गर्जना वाले हाथी देने को कहते हैं।
- सर्वस्व समर्पण की भावनाः शक्र द्वारा सभी भौतिक ऐश्वर्यों को मना करने पर कर्ण क्रमशः पृथ्वी का राज्य, अग्निष्टोम यज्ञ का फल और अंत में अपना मस्तक (शिर) देने को तैयार हो जाते हैं।
- कवच-कुण्डल का महादानः अंत में कर्ण अपने देह के साथ ही उत्पन्न हुए, देवताओं और दानवों के अस्त्रों से भी अभेद्य कवच तथा दोनों कुण्डलों को सहर्ष दान देने का श्लोक पढ़ते हैं।

विशेष शब्द

- अमृतकल्पक्षीरः अमृत के समान परम पवित्र, मधुर और शक्ति प्रदान करने वाला गाढ़ा दुग्ध
- वाजिनाम्ः तीव्र गति से दौड़ने वाले उत्तम जाति के घोड़े (तुरङ्ग)
- मदसरितकपोलंः हाथी के मस्तक के वे कपोल (गंडस्थल) जिनसे निरंतर मद की नदियां बहती रहती हैं
- अग्निष्टोमफलमः शास्त्रों में वर्णित वह पवित्र अग्निष्टोम यज्ञ, जिसका फल अत्यंत दिव्य होता है
- कवचं सह कुण्डलाभ्यांः कानों के दिव्य आभूषण (कुण्डल) और छाती की रक्षा करने वाला जन्मजात अभेद्य कवच

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 छद्मवेषी इन्द्र (शक्र) द्वारा भिक्षा माँगने पर दानवीर कर्ण द्वारा उन्हें संतुष्ट करने हेतु क्रमशः दिए गए अद्भुत ऐश्वर्य दानों (गो, अश्व, गज, शिर, कवच) का नाटकीय क्रम स्पष्ट कीजिए

उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 धर्मा हि यत्नैः पुरुषेण साध्यो भुजङ्गजिह्वाचपला नृपश्रियः सूक्ति के माध्यम से कर्ण ने राजलक्ष्मी और गुणों के विषय में क्या शाश्वत सत्य कहा है

प्रश्न-2 कर्ण द्वारा अपना मस्तक (मच्छिरो) देने की बात सुनकर शक्र ने व्याकुल होकर किस नाट्य शब्दावली का प्रयोग किया

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. ब्राह्मण का रूप धारण करके कर्ण से बहुत बड़ी भिक्षा (महत्तरां भिक्षां) माँगने कौन आया था?

1) श्रीकृष्ण

2) शक्र (देवराज इन्द्र)

3) परशुराम

4) दुर्योधन

2. कर्ण द्वारा सर्वप्रथम स्वर्णमण्डित सींगों वाली पवित्र गायों (गोसहस्रं) का दान देने पर शक्र ने क्या प्रतिक्रिया दी?

1) नेच्छामि कर्ण ! नेच्छामि (नहीं चाहता हूँ)

2) सहर्ष स्वीकार किया

3) क्रोधित हो गए

4) अस्त्र माँगने लगे

3. कर्ण ने शक्र को वायु के समान तीव्र वेग वाले तथा राजलक्ष्मी के साधनभूत हजारों घोड़े किस विशिष्ट जाति के देने चाहे?

1) मान्य काम्बोज (काबुली) जाति के

2) सिंहल जाति के

3) आभीर जाति के

4) मद्र देश के

4. मेघगम्भीरघोषम् शब्द का पाठ के अनुसार किस पशु के समूह की गर्जना या आवाज की विशेषता बताने हेतु प्रयोग हुआ है?

1) घोड़ों की

2) वारणानाम् (हाथियों के समूह) की

3) सिंहों की

4) बादलों की

5. कुण्डलाभ्यां शब्द का श्लोक व संदर्भ के अनुसार सरल और प्रामाणिक अर्थ क्या है?

1) हाथों के कंगन

2) कानों के आभूषण (कर्णाभरण)

3) पैरों के नूपुर

4) मस्तक का मुकुट

इकाई- 4
दान की महिमा, विमला शक्ति की प्राप्ति और रणघोष

शक्रः - (सहर्षम्) ददातु ददातु । कर्णः - (आत्मगतम्) एष एवास्य कामः । किं नु खल्वनेककपटबुद्धेः कृष्णस्योपायः । सोऽपि भवतु । धिगयुक्तमनुशोचितम् । नास्ति संशयः । (प्रकाशम्) गृह्यताम् । शल्यः - अङ्गराज । न दातव्यं न दातव्यम् । कर्णः- शल्यराज ! अलमलं वारयितुम् ।

शक्र - (प्रसन्नतापूर्वक) दीजिए, दीजिए । कर्ण - (मन में) यही इसका मतलब था ! अवश्य ही यह अनेक कपट-व्यवहार में रत बुद्धि वाले कृष्ण का हीं उपाय है । वह भी हो । धिक्कार है, यह मैंने अनुचित विचार किया । कोई संशय नहीं । (प्रकाश में) लीजिए । शल्य - अङ्गराज ! न दीजिए, न दीजिए । कर्ण - शल्यराज ! बस, अब मत रोको !

पश्य (देखो,)

शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात्
सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः ।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति
हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति ॥२२॥

पर्यायवाचिशब्दाः - कालपर्ययात् = समयपरिवर्तनात् । **सुबद्धमूलाः** = सुदृढबुध्नाः । **निपतन्ति** = विशीर्णाः । **हुतम्** = अग्नौ प्रक्षिप्तम् ।

वृत्तम् - वंशस्थवृत्तम्

पदविग्रहः - कालपर्ययात् = कालस्य पर्ययः तस्मात् । **सुबद्धमूलाः** = शोभनं बद्धं मूलं येषां ते । **जलस्थानगतम्** = जलस्य स्थानं तस्मिन् गतम् ।

अर्थः- समय बीतने पर अर्जित की हुई विद्या भी नष्ट हो जाती है और मजबूत जड़ वाले वृक्ष भी गिर जाते हैं। गर्मी की ऋतुओं में जल भी सरोवर में जाकर सूख जाता है किन्तु जो अग्नि में यज्ञ के माध्यम से आहुति दी जाती है या दान में जो धन दिया जाता है वह नष्ट नहीं होता है। अर्थात् मनुष्य के द्वारा किये पुण्य का नाश नहीं होता है ॥२२॥

तस्मात् गृह्यताम् (निकृत्य ददाति।) शक्रः- (गृहीत्वा, आत्मगतम् ।) हन्त ! गृहीते एते। पूर्वमेवार्जुनविजयार्थ सर्वदेवैर्यत् समर्थितं तदिदानीं मयानुष्ठितम् । तस्मादहमप्यैरावतमारुह्यार्जुनकर्णयोर्द्वन्द्वयुद्धं पश्यामि । (निष्क्रान्तः ।)

शल्यः - भो अङ्गराज ! वञ्चितः खलुः भवान् । कर्णः - केन ? शल्यः शक्रेण।

कर्णः- न खलु । शक्रः खलु मया वञ्चितः । कुतः,

इसलिए लीजिये । (निकाल कर देता है ।) शक्रः - (लेकर अपने मन में) ओह ! यह ले लिया गया । पहले ही मैंने अर्जुन की विजय के लिए जो सब देवताओं से प्रतिज्ञा की थी वह कार्य आज मैंने कर लिया । अतएव अब मैं ऐरावत पर चढ़ कर कर्ण और अर्जुन के युद्ध को देखूंगा । (चला जाता है ।) शल्य - हे अङ्गराज ! आप ठग लिए गए । कर्ण- किसके द्वारा ? शल्य - इन्द्र से । कर्ण- नहीं, इन्द्र ही मुझसे ठगा गया । क्योंकि-

अनेकयज्ञाहुतितर्पितो द्विजैः
किरीटवान् दानवसङ्घमर्दनः ।
सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलिर्
मया कृतार्थः खलु पाकशासनः ॥२३॥

पर्यायवाचिशब्दाः- किरीटवान् = मुकुटवान् । **दानवसङ्घमर्दनः** = दैत्यनिकरनाशकः । **द्विपः** = द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबतीति द्विपः । **आस्फालनानि** = संचालनानि ।

सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलिः = ऐरावतचालनकठिनकरशाखः ।

वृत्तम् - वंशस्थवृत्तम् ।

पदविग्रहः - अनेकयज्ञाहुतितर्पितः = अनेके च ते यज्ञाः तेषु या आहुतयः ताभिः तर्पितः। **दानवसङ्घमर्दनः** = दानवानां सङ्घास्तान् मर्दयतीति । **सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलिः** = सुरस्य द्विपः आस्फालनानि तैः कर्कशा अङ्गुलयो यस्य सः ।

अर्थः- ब्राह्मणों के अनेक यज्ञों की आहुति से उत्पन्न फल के द्वारा इन्द्र आज तृप्त हुआ, दानवों के समूह का विनाशक, मुकुट को धारण करने वाला और ऐरावत को थपथपाने से कठोर अङ्गुलियों वाला इन्द्र आज अवश्य ही मेरे द्वारा (कवच और कुण्डलों का दान पाकर) उपकृत हुआ ॥२३॥

प्रविश्य ब्राह्मणरूपेण (ब्राह्मण रूप से प्रवेश करके) -

देवदूतः - भोः कर्ण ! कवच कुण्डलग्रहणाज्जनितपश्चात्तापेन पुरन्दरेणानुगृहीतोऽसि। पाण्डवेष्वेकपुरुषवधार्थममोघमस्त्रं विमला नाम शक्तिरियं प्रतिगृह्यताम् । कर्णः - धिग्, दत्तस्य न प्रतिगृह्णामि । देवदूतः ननु ब्राह्मणवचनाद् गृह्यताम्। कर्णः ब्राह्मणवचनमिति । न मयातिक्रान्तपूर्वम्। कदा लभेय । देवदूतः यदा स्मरसि तदा लभस्व। कर्णः बाढम् । अनुगृहीतोऽस्मि । प्रतिनिवर्ततां भवान् । देवदूतः- बाढम् । (निष्क्रान्तः) कर्णः-शल्यराज ! यावद्रथमारोहावः। शल्यः बाढम् । (रथारोहणं नाटयतः।) कर्णः अये शब्द इव श्रूयते। किं नु खल्विदम् ।

देवदूत - हे कर्ण ! कवच और कुण्डल ले लेने के पश्चात्ताप से युक्त इन्द्र के द्वारा तुम उपकृत किए गए हो। पाण्डवों में से एक पुरुष के वध करने का यह अचूक अस्त्र विमला नामक शक्ति ग्रहण करो । कर्ण - धिक्कार है । दान का बदला नहीं लेता । देवदूत - अवश्य ही ब्राह्मण वचन से ले लो।

कर्ण - ब्राह्मण का वचन । मैंने पहले कभी नहीं टाला । कब प्राप्त करूंगा (शक्ति) । देवदूत - जब स्मरण करोगे तभी प्राप्त होगी । कर्ण - अच्छा उपकृत हुआ। आप लौट जाँय ।

देवदूत - बहुत अच्छा । (चला गया) । कर्ण - शल्यराज ! तब (तक)रथ पर चढ़ा जाय ।

शल्य - बहुत अच्छा । (रथ पर चढ़ने का नाटक करते हैं।) कर्ण- अरे शब्द सा सुनाई पड़ता है। यह क्या है ?

शङ्खध्वनिः प्रलयसागरघोषतुल्यः
कृष्णस्य वा न तु भवेत्स तु फाल्गुनस्य ।
नूनं युधिष्ठिरपराजयकोपितात्मा
पार्थः करिष्यति यथाबलमद्य युद्धम् ॥ २४ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः - घोषः = शब्दः । **शङ्खध्वनिः** = कम्बुरवः । **युद्धम्** = आयोधनम् ।

वृत्तम् - वसन्ततिलका ।

अलंकारः- उपमालंकारः ।

पदविग्रहः - प्रलयसागरघोषतुल्यः = प्रलयसागरः तस्य घोषः तेन तुल्यः । **युधिष्ठिरपराजयकोपितात्मा** = युधिष्ठिरस्य पराजयः तेन कोपितः आत्मा यस्य सः । **यथाबलम्** = बलमनतिक्रम्य ।

अर्थः- यह प्रलयकालीन समुद्र के समान अत्यन्त गम्भीर ध्वनि करने वाला भगवान् कृष्ण का शंख है अथवा अर्जुन का । युधिष्ठिर के पराजय से कुपित मन होकर आज अर्जुन मुझसे अवश्य ही यथाशक्ति युद्ध करेगा ।।२४।।

शल्यराज ! यत्रासावर्जुनस्तत्रैव चोद्यतां मम रथः । शल्यः बाढम् !

कर्ण - शल्यराज ! वहीं मेरे रथ को प्रेरित करो जहाँ वह अर्जुन हो । शल्य--अच्छा ।

(भरतवाक्यम्)

सर्वत्र सम्पदः सन्तु नश्यन्तु विपदः सदा ।
राजा राजगुणोपेतो भूमिमेकः प्रशास्तु नः ।।२५।।

पर्यायवाचिशब्दाः- सम्पदः = समपत्तयः । **विपदः** = विपत्तयः । **नश्यन्तु** = विनाशभावं प्राप्नुवन्तु। **उपेतः** = युक्तः । **भूमिम्** = वसुन्धराम् ।

वृत्तम् - अनुष्टुप् ।

पदविग्रहः - सर्वत्र = सर्वस्मिन् जगति । **राजगुणोपेतः** = राज्ञां गुणा तैः उपेतः ।

अर्थः- सम्पूर्ण विश्व में ऐश्वर्य हो । समस्त दुःखों का नाश हो । राज्य करने हेतु आवश्यक गुणों से युक्त राजा हम लोगों की पृथ्वी पर शासन करे।

(निष्क्रान्तौ) : चले जाते हैं । अवसितम् ।।

स्मरणीय बिंदु

- दान का कालजयी नियम: कर्ण शल्यराज को समझाते हैं कि समय बीतने पर शिक्षा नष्ट हो जाती है, वृक्ष गिर जाते हैं, जल सूख जाता है, परंतु दिया गया दान (पुण्य) हमेशा अमर रहता है
- इन्द्र का उपकृत होना: कवच-कुण्डल काटकर देने पर कर्ण कहते हैं कि अनेक यज्ञों की आहुतियों से तृप्त होने वाला देवराज इन्द्र आज एक याचक बनकर मुझसे उपकृत हुआ है
- विमला शक्ति का उपहार: देवदूत आकर सूचित करते हैं कि कवच लेने के पश्चात्ताप स्वरूप इन्द्र ने पाण्डवों में से किसी एक का वध करने हेतु अचूक विमला नामक शक्ति प्रदान की है
- ब्राह्मण वचन की मर्यादा: कर्ण दान का बदला लेने से मना करते हैं, परंतु देवदूत द्वारा उसे ब्राह्मण का वचन कहे जाने पर वे मर्यादावश उस अमोघ अस्त्र को स्वीकार कर लेते हैं
- भरतवाक्य पावन शांति: नाटक का समापन लोक-कल्याणकारी भरतवाक्यम् के श्लोक से होता है, जिसमें संपूर्ण पृथ्वी पर संपदा की वृद्धि और दुखों के नाश की पावन कामना की गई है

विशेष शब्द

- कालपर्ययात्: समय का चक्र बदलने या अत्यधिक समय व्यतीत हो जाने के कारण।
- पाकशासन: दानवों का दमन करने वाले तथा ऐरावत को थपथपाने से कठोर उंगलियों वाले इंद्र।
- अमोघमख: वह अस्त्र या शस्त्र जिसका वार कभी खाली नहीं जाता, पूरी तरह अचूक।
- भरतवाक्यम्: नाटक के अंत में अभिनेताओं द्वारा संपूर्ण जगत के कल्याण हेतु गाया जाने वाला पावन श्लोक।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात्... श्लोक के आलोक में दानवीर कर्ण के त्याग, जीवन-दर्शन तथा शल्यराज के साथ हुए संवाद की साहित्यिक समीक्षा कीजिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 कवच-कुण्डल प्राप्त करने के पश्चात देवराज इन्द्र (शक्र) ने अपने मन में देवताओं की किस प्रतिज्ञा के पूर्ण होने की बात कही

प्रश्न-2 नाटक के अंतिम श्लोक (भरतवाक्यम्) में राजा और भूमि के संबंध में क्या मंगल कामना की गई है

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. समय बीतने पर (कालपर्ययात्) निम्नलिखित में से किस वस्तु का समूल क्षय या नाश निश्चित बताया गया है?

1) अर्जित की हुई शिक्षा (विद्या) का

2) दिए गए दान का

3) यज्ञ की आहुति का

4) सत्य धर्म का

2. ग्रीष्म ऋतु के आने पर जलाशयों या सरोवरों में स्थित पूरी तरह क्या सूख जाता है?

1) पादप

2) जलम् (जल)

3) कीड़े

4) रेत

3. हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति सूक्ति के अनुसार संसार में कौन सा तत्त्व कभी नष्ट नहीं होता और हमेशा स्थिर रहता है?

1) यज्ञ में दी गई आहुति और सुपात्र को दिया गया दान

2) राजलक्ष्मी का धन

3) राजा का मुकुट

4) शत्रु की सेना

4. कवच-कुण्डल का दान लेने के पश्चात् शक्र (इन्द्र) किस दिव्य वाहन पर सवार होकर आकाश की ओर प्रस्थान करते हैं?

1) उच्चैःश्रवा अश्व पर

2) ऐरावत हाथी पर

3) रथ पर

4) गरुड़ पर

5. कवच दान के पश्चात्ताप स्वरूप इंद्र द्वारा देवदूत के माध्यम से कर्ण को भेजी गई अचूक शक्ति का क्या नाम था?

1) पाशुपत

2) विमला नाम की अमोघ शक्ति

3) वज्र शक्ति

4) वैष्णव अस्त्र

6. कर्ण ने आत्मसम्मान व उच्च आदर्शों के कारण देवदूत से क्या कहकर शक्ति लेने से प्रारंभ में मना किया था?

1) मैं युद्ध नहीं करूँगा

2) दिए गए दान का बदला (बदला स्वरूप वस्तु) मैं नहीं लेता

3) मुझे अर्जुन से भय नहीं है

4) इन्द्र कपटी हैं

7. देवदूत ने कर्ण को विमला शक्ति के प्रयोग के समय के संबंध में क्या नियम बताया?

1) जब तुम इसका स्मरण करोगे, तभी यह तुम्हें प्राप्त होगी

2) इसका प्रयोग केवल प्रात:काल होगा

3) इसे रथ पर ही रखना होगा

4) यह केवल युधिष्ठिर को मारेगी

8. शंखध्वनि को प्रलयकालीन समुद्र के घोष के समान गंभीर सुनकर कर्ण ने रणक्षेत्र में किसके उपस्थित होने का अनुमान लगाया?

1) दुर्योधन का

2) फाल्गुस्य (अर्जुन) या श्रीकृष्ण का

3) शल्यराज का

4) भीष्म पितामह का

9. अर्जुन किस भ्राता के पराजय से अत्यंत कुपित (क्रोधित) होकर आज कर्ण से यथाशक्ति युद्ध करने आ रहा था?

1) भीम

2) युधिष्ठिर के पराजय से

3) नकुल

4) सहदेव

10. सम्पद: शब्द का नाट्यशास्त्र के अंतिम श्लोक व उसके व्याकरण भाग के अनुसार क्या सरल अर्थ है?

1) विपत्तियाँ

2) समपत्तय: (ऐश्वर्य/सम्पत्ति)

3) शास्त्र नियम

4) राजा के गुण

खण्ड-2

उद्देश्य

- साहित्यिक व आध्यात्मिक उद्देश्यः छात्रों को श्रीकृष्ण विग्रह, बाल-लीलाओं और दैवीय चरित्र के माध्यम से सनातन आध्यात्मिक मूल्यों से अवगत कराना ।
- सामाजिक व व्यावहारिक उद्देश्यः प्रसंगों द्वारा छात्रों में गो-ब्राह्मण रक्षा, परोपकार, संकटकाल में अदम्य साहस और कर्त्तव्य-निर्वाह की सामाजिक चेतना विकसित करना।
- व्यावसायिक व आर्थिक उद्देश्यः छात्रों को नाट्य विधा, श्लोक-गायन, पदविग्रह और अभिनय कला सिखाकर मीडिया व कला जगत हेतु आर्थिक रूप से सक्षम बनाना ।

परिणाम

- साहित्यिक व आध्यात्मिक परिणामः छात्र संस्कृत काव्य, पौराणिक आख्यानों और असुर-मर्दन के गूढ़ आध्यात्मिक रहस्यों को सरलता से आत्मसात करता है।
- सामाजिक व व्यावहारिक परिणामः छात्र कालिय नाग के मर्दन और विपरीत परिस्थितियों में श्रीकृष्ण के हल्लीसक नृत्य से जीवन में सदा प्रसन्न रहने का व्यावहारिक गुण सीखता है।
- व्यावसायिक व आर्थिक परिणामः छात्र नाट्य मञ्चन और उत्कृष्ट संवाद अदायगी में निपुण होकर रंगमंच व संचार कला के क्षेत्र में सशक्त आर्थिक करियर प्राप्त करता है ।

इकाई-1
श्रीकृष्ण का प्राकट्य और वसुदेव का रात्रि-प्रस्थान

अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले तीनों लोकों में प्रसिद्ध नारद जी, ब्रह्मलोक से वृष्णिकुल में उत्पन्न भगवान् नारायण (श्रीकृष्ण) को देखने के लिये आते है। तथा उनकी प्रदक्षिणा करते है। छः पुत्रों की हत्या से अत्यन्त शोक से संतप्त देवकी सातवें पुत्र की रक्षा करती है। वासुदेव जी भगवान श्रीकृष्ण को लेकर नन्दगोप जी के पास जाते है तथा वहाँ से उनकी पुत्री को लेकर आते है। वहाँ नन्दगोप जी के घर भगवान् श्रीकृष्ण जी का लालन-पालन बहुत अच्छे प्रकार से होता है तथा वो बाल्यावस्था में ही अनेकों राक्षसों का वध करते है। भगवान श्रीकृष्ण जी के साथ-साथ पांचो शस्त्र और गरूण का प्रवेश भी भगवान् के द्वारा कार्यसिद्धि के लिये होता है तथा उनके द्वारा पूतना, शकट, यमल, अर्जुन, प्रलम्ब, धेनुक, केशी, अरिष्टर्षभ, आदि अनेकों असुरों का वध किया तथा कालिय नाग के प्रभाव से यमुना को मुक्त एवं शुद्ध किया।

(नान्द्यन्तेततः प्रविशतिसूत्रधारः।)

सूत्रधारः-

शङ्खक्षीरवपुः पुरा कृतयुगे नाम्ना तु नारायणस्-
त्रेतायां त्रिपदार्पितत्रिभुवनो विष्णुः सुवर्णप्रभः।
दूर्वाश्यामनिभः स रावणवधे रामो युगे द्वापरे
नित्यं योऽञ्जनसन्निभः कलियुगे वः पातु दामोदरः ॥ १ ॥

एवमार्यमिश्रान् विज्ञापयामि । अये, किन्नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते । अङ्ग ! पश्यामि ।

पर्यायवाचिशब्दाः- **शंख इव** = कम्बुरिव । **क्षीरम्** = दुग्धम् । **अयनं** = स्थानं । **विष्णुः** = व्यापकः। **दूर्वाश्यामनिभः** = दूर्वाश्यामसदृशः । **सन्निभः** = सद्शः । **पातु** = रक्षतु ।

पदविग्रहः - **शङ्खक्षीरवपुः** = शंख इव क्षीरम् इव वपुः यस्य सः । **त्रिपदार्पितत्रिभुवन्** = त्रिपदा अर्पितं त्रिभुवनं येन सः । **अञ्जनसन्निभः** = अञ्जनेन सन्निभः ।

अर्थः- पहले सतयुग में जो शंख और दूध के समान नारायण नाम से प्रसिद्ध थे, त्रेता युग में कुन्दन की कान्ति वाले जिस विष्णु (वामन) ने तीन पादक्रमों (पगों) से तीनों लोकों को नाप लिया था, द्व ापर में दूर्वा के समान श्यामल जिस रामचन्द्र ने रावण का वध किया और जो दामोदर कलियुग में अञ्जन के समान कृष्ण शरीर वाले हैं वे सर्वदा तुम लोगों की रक्षा करें ।।१।।

मैं आप महानुभावों को सूचित करता हूँ। अरे, मेरे सूचना देने में व्यग्र होने पर यह कैसा शब्द सुनाई पड़ता है ? अच्छा, देखता हूँ ।

(नेपथ्ये) अहं गगनसंचारी । सूत्रधारः- भवतु, विज्ञातम् ।

(नेपथ्य में) मैं आकाश में घूमने वाला हूँ । सूत्रधार- अच्छा, समझ गया -

पतत्यसौ पुष्पमयी च वृष्टिर्नदन्ति तूर्याणि च देवतानाम् ।
द्रष्टुं हरिं वृष्णिकुले प्रसूतमभ्यागतो नारद एष तूर्णम् ॥ २ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- **तूर्याणि** = दुन्दुभयः । **नदन्ति** = नादं कुर्वन्ति । **प्रसूतम्** = प्रादुर्भूतम् । **तूर्णम्** = शीघ्रम् । **अभ्यागतः** = समायातः ।

अर्थः- यह (आकाश से) पुष्पवृष्टि हो रही है । देवताओं की भेरी बज रही है । वृष्णिकुल में उत्पन्न हुए श्री कृष्ण के दर्शन की इच्छा से नारद जी शीघ्रता पूर्वक आ रहे हैं ।।२।।

(निष्क्रान्तः।) (चला जाता है ।)

स्थापना (ततः प्रविशति नारदः ।) तत्पश्चात् नारद आते हैं ।

नारदः -

अहं गगनसञ्चारी त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।
ब्रह्मलोकादिह प्राप्तो नारदः कलहप्रियः ॥ ३ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- **गगनसञ्चारी** = व्योमयायी । **ब्रह्मलोकाद्** = परमेष्ठिसकाशात् । **प्राप्तः** = समागतः ।

पदविग्रहः - गगनसञ्चारी = गगने सञ्चरितुं शीलमस्य सः । **ब्रह्मलोकाद्** =ब्रह्मणः लोकस्तस्मात् ।

अर्थः- नारद – मैं अन्तरिक्ष में घूमनेवाला, तीनों लोकों में प्रसिद्ध, कलहप्रिय नारद ब्रह्मलोक से यहाँ आ पहुँचा हूँ ।। ३ ।।

भोः !

क्षीणेषु देवासुरविग्रहेषु नित्यप्रशान्ते न रमेऽन्तरिक्षे ।
अहं हि वेदाध्ययनान्तरेषु तन्त्रीश्च वैराणि च घट्टयामि ॥ ४ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- देवासुरविग्रहेषु = सुरासुरकलहेषु । **क्षीणेषु** = नष्टेषु ।

तन्त्रीः = महतीवीणाऽयःसूत्राणि । **घट्टयामि** = संयोजयामि ।

पदविग्रहः - देवासुरविग्रहेषु = देवाश्च असुराश्च तेषां विग्रहाः तेषु । **वेदाध्ययनान्तरेषु** = वेदस्याध्ययनं तस्य अन्तराणि तेषु ।

अर्थः- अरे ! देवताओं और राक्षसों में कलह के नष्टप्राय होने से मैं सर्वदा शान्त अन्तरिक्ष में रमण नहीं करता। मैं वेदाध्ययन के मध्य वीणा का वादन और कलह की सृष्टि भी करता हूँ ।।४।।

अपि च,

भक्तिः परा मम पितामहभाषितेषु
सर्वाणि मे बहुमतानि तपोवनानि ।
सत्यं ब्रवीमि करजाग्रहता च वीणा,
वैराणि भीमकठिनाः कलहाः प्रिया मे ॥ ५ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- भाषितानि = लपितानि । **पितामहभाषितेषु** = परमेष्ठिवचनेषु । **परा** =

उत्कृष्टा । **सर्वाणि** = अशेषाणि । **वनानि** = विपिनानि । **भीमकठिनाः** = अत्यन्तकठिनाः ।

पदविग्रहः - पितामहभाषितेषु = पितामहस्य भाषितानि तेषु । **तपोवनानि** = तपसः वनानि तानि । **करजाग्रहता** = करेजातः करजः तस्य अग्रः तेन हता ।

और भी,

अर्थः- मेरी पितामह के वचनों में परम भक्ति है । सब तपोवन मेरे लिए सम्मान करने के योग्य है । मैं सत्य कहता हूँ कि अंगुलियों से छेड़ी गई वीणा और कठिन से कठिन वैर तथा कलह मुझे प्रिय हैं ।। ५ ।।

तद् भगवन्तं लोकादिमनिधनमव्ययं लोकहितार्थे कंसवधार्थे वृष्णिकुले प्रसूतं नारायणं द्रष्टुमिहागतोऽस्मि । अये, इयमत्रभवती देवकी । मायया शिशुत्वमुपागतं त्रिलोकेश्वरं प्रगृह्य वसुदेवेन सह शनैः स्वगृहान्निष्क्रामति । यैषा,

लोकों के आदि, अमर, अव्यय, लोकहित के लिए कंस को मारने के लिए वृष्णिकुल में उत्पन्न भगवान् नारायण को देखने के लिए आया हूँ । अरे, यह भगवती देवकी हैं। माया से शिशुरूप को प्राप्त त्रिभुवनपति को लेकर वसुदेव के साथ धीरे-धीरे अपने घर से निकल रही हैं ।

लोकानामभयंकरं गुरुं सुराणां
दैत्यानां निधनकरं रथाङ्गपाणिम् ।
शोकार्ता शशिवदना निशि प्रशान्ता
बाहुभ्यां गिरिमिव मन्दरं वहन्ती ।। ६ ।।

पर्यायवाचिशब्दाः- अभयंकरम् = भयहर्तारम् । **वदनम्** = मुखम् । **प्रशान्ता** = स्थिरा ।
वहन्ती = धारयन्ती ।

पदविग्रहः - निधनकरम् = करोतीति करः, निधनस्य करः तम् । **रथाङ्गपाणिम्** = रथस्याङ्गं पाणौ यस्य तम् । **शशिवदना** = शशी इव वदनं यस्याः सा ।

अर्थः- यह जो, दुःख में डूबी हुई चन्द्रमा के समान मुख वाली (देवकी), सारे संसार को अभय प्रदान करने वाले, देवताओं के गुरु और दानवों का संहार करने वाले चक्रधर (भगवान् श्रीकृष्ण) को, रात्रि के सन्नाटे में अपनी भुजाओं से मन्दराचल पर्वत की तरह धारण किए जा रही हैं ।।६।।

एष भगवान् नारायणः, (यह भगवान् नारायण हैं।)

अनन्तवीर्यः कमलायताक्षः सुरेन्द्रनाथोऽसुरवीर्यहन्ता
त्रिलोककेतुर्जगतश्च कर्ता भर्ता जनानां पुरुषः पुराणः ॥ ७ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- अनन्तवीर्यः = अपरिमितपराक्रमः । **कमलायताक्षः** = पद्मनेत्रः । **भर्त्ता** = पालकः । **पुराणः** = सनातनः । **पुरुषः** = पुरुषविशेषः नारायणः ।

पदविग्रहः - अनन्तवीर्यः = अनन्तं वीर्यं यस्य सः । **कमलायताक्षः** = कमले इव आयते अक्षिणी यस्य सः । **असुरवीर्यहन्ता** = असुराणां वीर्यं तस्य हन्तीति हन्ता । **त्रिलोककेतुः** = त्रयाणां लोकानां केतुः ।

अर्थः- इनकी शक्ति का अन्त नहीं, कमल-दल के समान इनके नेत्र विशाल हैं । ये देवताओं के भी अधिदेव हैं और राक्षसों की शक्ति के नाशक हैं। तीनों लोकों की पताका हैं, संसार के कर्ता हैं, प्राणिमात्र के पोषक और पुराण पुरुष हैं ।।७।।

हन्तैतदुत्पन्नं कलहस्य मूलम् । यावदहमपि भगवन्तं नारायणं प्रदक्षिणीकृत्य ब्रह्मलोकमेव यास्यामि । नमो भगवते त्रैलोक्यकारणाय ।

अहा, यह कलह का कारण उत्पन्न हो गया। तब तक मैं भगवान नारायण की प्रदक्षिणा करके ब्रह्मलोक को चला जाऊंगा। तीनों लोकों के आदि कारण भगवान को नमस्कार है।

नारायणाय नरलोकपरायणाय
लोकाननाय कमलामललोचनाय ।
रामाय रावणविरोचनपातनाय
वीराय वीर्यनिलयाय नमो वराय ।।८।।

पर्यायवाचिशब्दाः- नारायणाय = त्रिविक्रमाय । **अयनम्** = स्थानम् । **अमले** = स्वच्छे। **विरोचनस्य** = एतन्नामकदानवस्य । **निलयः** = स्थानम् । **नमः** = प्रह्वीभावः ।

पदविग्रहः - नरलोकपरायणाय = नरलोकः परम् अयनं यस्य तस्मै । **कमलामललोचनाय** = कमले इव अमले लोचने यस्य तस्मै । **रावणविरोचनपातनाय** = रावणस्य विरोचनस्य च पातनं तस्मै। **वीर्यनिलयाय** = वीर्यं तस्य निलयः तस्मै ।

अर्थः- भगवान नारायण को क्षीरशायी मानव लोक ही जिनका सबसे सुन्दर निवास स्थान है अथवा

मनुष्य लोक के लिए परम प्राप्य, भुवनमुख, कमलवत् स्वच्छ नेत्रों वाले, रावण, विरोचन आदि राक्षसों का नाश करने वाले, महान बलशाली, श्रेष्ठ, महान शक्तिवाले भगवान राम को नमस्कार है ।।८।।

(निष्क्रान्तः ।) (ततः प्रविशप्ति बालहस्ता देवकी ।)

देवकी- (परिक्रम्य अग्रतो विलोक्य) हा धिक्, पुत्रकस्य मे महानुभावत्वं सूचयिष्यन्ति जन्मसमयसमुद्भूतानि महानिमित्तानि प्रत्यक्षीकुर्वत्यपि कंसहतक नृशं सत्वं चिन्तयन्ती सुष्ठु न प्रत्येभि मन्दमागिनी । क्व नु गत आर्यपुत्रः । अम्मो, एष आर्यपुत्रो हर्षविस्मयफुल्लनयन एवागच्छति।

(चला जाता है)

(हाथों में बालक को लिये देवकी का प्रवेश)

देवकी - हाय, धिक्कार है, यद्यपि जन्म के समय के शुभ शकुन मेरे बालक की महानता सूचित करते हैं, तथापि मुझ मन्दभाग्य वाली को क्रूर कंस की निर्दयता के कारण पूर्ण विश्वास नहीं होता। हे आर्यपुत्र आप कहाँ गये ! यह आर्यपुत्र अत्यन्त हर्ष और विस्मयपूर्वक आते हैं।

(ततः प्रविशति वसुदेवः) । (वसुदेव का प्रवेश।)

वसुदेवः - (सविमर्शम्) भोः! किः नु खल्विदम् ।

वसुदेव-(आश्चर्य से)अरे ! यह सब क्या है।

भ्रमति नभसि विद्युच्चण्डवातानुविद्धैर्-
नवजलदनिनादैर्मेदिनी सप्रकम्पा।
इह तु जगति नूनं रक्षणार्थं प्रजानाम्-
असुरसमितिहन्ता विष्णुरद्यावतीर्णः ॥ ९ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- विद्युता = चपलया । **अनुविद्धाः** = अनुस्यूताः । **नवानाम्** = प्रत्यग्राणाम् । **जलदानाम्** = मेघानाम् । **निनादाः** = गर्जिताः । **समितिः** = सभा । **नूनम्** = निश्चितम् ।

अवतीर्णः = प्रादुर्भूतः ।

पदविग्रहः - विद्युच्चण्डवातानुविद्धैः = विद्युता चण्डवातेन अनुविद्धाः तैः । **नवजलदनिनादैः** = नवानां जलदानां निनादाः तैः । **असुरसमितिहन्ता** = असुराणां समितिः तस्य हन्ता ।

अर्थः- आकाश में बिजली और तेज हवा से युक्त नए बादलों के गर्जन से पृथ्वी काँप रही है । आज इस संसार में प्रजा की रक्षा और समस्त असुरों का विनाश करने के लिये भगवान विष्णु अवश्य ही अवतीर्ण हुए हैं । ।।९।।

(विलोक्य) एषा देवकी,
(देखकर) यह देवकी है -

अणितपरिखेदा याति षण्णां सुतानाम् -
अपचयगमनार्थ सप्तमं रक्षमाणा ।
बहुगुणकृतलोभा जन्मकाले निमित्तैः
सुत इति कृतसंज्ञं कंसमृत्युं वहन्ती ॥ १०॥

पर्यायवाचिशब्दाः- अपचयः = विनाशः । **गमनार्थम्** = प्राप्तिनिमित्तकम् । **जन्मकाले** = प्रादुर्भावसमये। **निमितैः** = शुभकारणैः ।

पदविग्रहः - अणितपरिखेदा = अगणिताः परितः खेदाः यस्याः सा । **बहुगुणकृतलोभा** = बहुगुणैः कृतो लोभो यस्याः सा । **कृतसंज्ञम्** = कृता संज्ञा यस्या तम् ।

अर्थः- अनेक प्रकार के दुःखों से एवं छः पुत्रों के विनाश के कारण अत्यन्त शोक से सन्तप्त सातवें पुत्र की रक्षा करती हुई, पुत्र जन्म के अनेकों शुभलक्षणों से युक्त होकर तथा उत्पन्न बालक का 'पुत्र' ऐसा नाम रखकर अपनी गोद में (कंस की मृत्यु को) धारण करके ले जा रही है ।।१०।।

देवकी - उपसृत्य जयन्त्वार्यपुत्रः । वसुदेवः - देवकि ! अर्धरात्रः खलु वर्तते । प्रसुप्तो मधुरायां सर्वो जनः । तस्माद् यावन्न कश्चित् पश्यति, तावद् बालं गृहीत्वाऽपक्रामामि । देवकी- क्वार्यपुत्र इमं नेष्यति। वसुदेवः-देवकि! सत्यं ब्रवीषि। अहमपि न जाने । किन्तु, एकच्छत्रच्छायां पृथिवीं समाज्ञापयति दुरात्मा कंसः । तत् क्व नु खल्वयमायुष्मान् नेतव्यो भविष्यति । अथवा यत्र दैवं विधास्यति, तत्र बालं गृहीत्वाऽपक्रामामि । देवकी- आर्यपुत्र ! इच्छामि तावदेनं सुदृष्टं कर्तुम्।

देवकी - (समीप जाकर) आर्यपुत्र की जय । वसुदेव - हे देवकी यह आधी रात है । मधुरा में सब लोग सोए हुए हैं। तो जब तक कोई दूसरा नहीं देखता तब तक बालक को लेकर में चल रहा हूँ। देवकी - आर्यपुत्र ! इसे कहाँ ले जाएंगे ? वसुदेव- देवकी ! सत्य कहती हो । मुझे भी नहीं मालूम। क्योंकि दुरात्मा कंस का सारी पृथ्वी पर एकच्छत्र राज्य है । तो इस चिरंजीव को कहाँ ले जाना चाहिए। अथवा जहाँ भाग्य हमें ले जाय वही बालक को ले जायेंगे ।
देवकी - आर्यपुत्र ! तो इसे मैं नजर भरकर देखना चाहती हूँ ।

वसुदेवः- अयि अतिपुत्रवत्सले !

कि द्रष्टव्यः शशाङ्कोऽयं राहोर्वदनमण्डले ।
त्वयाऽप्यस्य सुदृष्टस्य कंसो मृत्युर्भविष्यति ॥ ११॥

पर्यायवाचिशब्दाः- शशाङ्कः = चन्द्रमाः । **सुदृष्टस्य** = सुप्रेक्षितस्य ।
अर्थ - वसुदेव - अरी अत्यन्त पुत्रवत्सले !
राहु के मुख में स्थित इस चन्द्र को क्या देखना चाहिये। (यद्यपि) तुम्हारे लिए यह सुदर्शन है (पर) कंस इसकी मृत्यु बनेगा ।। ११ ।।

देवकी - सर्वथा न भविष्यति। वसुदेवः यद् भवत्याऽभिहितं, तत् सर्वदैवतैरभिहितं भवतु । आनय । देवकी - गृहणात्वार्यपुत्र ।
देवकी - ऐसा कदापि न होगा ।
वसुदेव-जो आपने कहा यह सब देवताओं का कथन हो । (बालक को) लाओ ।
देवकी - आर्यपुत्र ! (इसे) लें ।
वसुदेवः - (गृहीत्वा) अहो गुरुत्वं बालस्य । साधु,

विन्ध्यमन्दरसारोऽयं बालः पद्मदलेक्षणः ।
गर्भे यया धृतः श्रीमानहो धैर्यं हि योषितः ॥ १२ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- पद्मदले = कमलपत्रे । **ईक्षणे** = नेत्रे । **गर्भे** = स्वोदरे । **धृतः** = ऊढः ।
पदविग्रहः - विन्ध्यमन्दरसारः = विन्ध्यमन्दरयोः सार इव सारो यस्य सः । **पद्मदलेक्षणः** = पद्मदले इव ईक्षणे यस्य सः ।
अर्थः- वसुदेव - (लेकर) अहा, बालक की गम्भीरता । निश्चित ही -
यह कमलदल के समान नेत्रों वाला बालक विन्ध्याचल पर्वत व मन्दर पर्वत की भाँति सारवान है। इस शोभा सम्पन्न बालक को जिसने गर्भ में धारण किया, उस स्त्री का धैर्य धन्य है ।। १२ ।।
देवकि ! प्रविश त्वमभ्यन्तरम्। देवकी - निष्क्रान्ता । एषां गच्छामि मन्दभागा ।
देवकी ! अन्दर चली जाओ । देवकी - जाती है । यह अभागिन जाती हूँ ।

वसुदेवः- एषा देवकी,
हृदयेनेह तत्राङ्गैर्द्विधाभूतेव गच्छति ।
यथा नभसि तोये च चन्द्रलेखा द्विधाकृता ॥ १३ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- हृदयेन = चेतसा । **अङ्गैः** = स्वशरीरैः । **द्विधाकृता** = भागद्वविभक्ता ।

चन्द्रलेखा = इन्दुकला । **तोये** = जले ।

अर्थः- वसुदेव - यह देवकी, यहाँ से हृदय और शरीर से दो भागों में बंटी हुई जाती है । जैसे आकाश और जल में प्रतिबिम्ब रूप से चन्द्रमा की कला दो भागों में बंट जाती है ।

हन्त प्रविष्टा देवकी । यावदहमपि नगरद्वारं संश्रयामि।

हा, देवकी चली गयी । तो मैं भी नगर के द्वार का आश्रय लेता हूँ ।

एष भोः,

प्रथमसुतविनाशजातमन्युर्नृपतिभयाकुलितः प्रगृह्य बालम् ।
त्वरिततरमिह प्रयामि मार्गे गिरिमिव मन्दरमुद्वहन्भुजाभ्याम् ॥ १४ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- सुतस्य = पुत्रस्य । **मन्युः** = क्रोधः । **आकुलितः** = व्याकुलः । **प्रगृह्य** = गृहीत्वा । **मन्दरम्** = एतन्नामकं गिरिम् । **उद्वहन्** = नयन् । **मार्गे** = अध्वनि । **त्वरिततरम्** = शीघ्रतरम्। प्रयामि = गच्छामि ।

पदविग्रहः - प्रथमसुतविनाशजातमन्युः = प्रथमस्य सुतस्य विनाशेन जातः मन्युः यस्य सः । **नृपतिभयाकुलितः** = नृपतेर्भयं तेन आकुलितः ।

अर्थः- अरे यह ! मैं पहले के पुत्रों के नाश से क्रुद्ध और राजा के भय से व्याकुल इस बालक को लेकर यहाँ से शीघ्र ही भुजाओं से मन्दराचल पर्वत के समान पुत्र को उठाए हुए रास्ते में जा रहा हूँ ॥१४॥

स्मरणीय बिंदु

- नारद जी का आगमन : ब्रह्मलोक से तीनों लोकों में प्रसिद्ध कलहप्रिय देवर्षि नारद जी वृष्णि ाकुल में अवतीर्ण हुए भगवान् नारायण (श्रीकृष्ण) के दर्शन हेतु आते हैं
- युगपरक अवतार वर्णन : सूत्रधार के मंगलाचरण के अनुसार, जो सतयुग में नारायण, त्रेता में वामन और द्वापर में राम थे, वही कलियुग में दामोदर रूप में रक्षा हेतु आए हैं
- देवकी का दारुण दुःख : कंस द्वारा अपने छह पुत्रों के वध से अत्यंत शोकाकुल और शशिवदना (चन्द्रमुखी) माता देवकी सातवें पुत्र श्रीकृष्ण की रक्षा हेतु मध्यरात्रि में निकलती हैं
- अद्भुत बालक का गुरुत्व : वसुदेव जी जब बालक को गोद में लेते हैं, तब उन्हें विन्ध्याचल और मन्दराचल पर्वत के समान बालक के अपार गुरुत्व (भारीपन) और धैर्य का अनुभव होता है
- कुमार द्वारा मार्ग प्रकाशन : घोर अंधकार और रात्रि के सन्नाटे में जब वसुदेव जी को राजा कंस के भय से भागने का मार्ग नहीं दिखता, तब नवजात कुमार अपने दिव्य प्रकाश से मार्ग आलोकित कर देते हैं

विशेष शब्द

- दूर्वाश्यामनिभः दूर्वा (घास) के समान सुंदर श्यामल आभा वाले।
- त्रिपदार्पितत्रिभुवनोः जिन्होंने तीन पगों में ही तीनों लोकों को नाप लिया था (वामनावतार)।
- रथाङ्गपाणिम्ः जिनके हाथों में रथ का अंग अर्थात् सुदर्शन चक्र सुशोभित है।
- अणितपरिखेदाः जिसने अपने शारीरिक और मानसिक कष्टों व दुःखों की तनिक भी परवाह न की हो।
- नृपतिभयाकुलितः क्रूर राजा कंस के भयंकर संहारक भय से अत्यंत व्याकुल या परेशान।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 सूत्रधार द्वारा प्रथम श्लोक में वर्णित भगवान् विष्णु के युगपरक अवतारों के स्वरूप की साहित्यिक एवं व्याकरणिक समीक्षा कीजिए।

प्रश्न-2 कंस के एकच्छत्र राज्य के भय के मध्य देवकी और वसुदेव के मानसिक अंतर्द्वंद्व तथा बालक को लेकर किए गए गुप्त प्रस्थान का सविस्तार वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 देवर्षि नारद जी ने स्वयं को कलहप्रिय कहते हुए वीणा वादन और देवासुर विग्रह के संबंध में क्या कहा है?

प्रश्न-2 वसुदेव जी द्वारा देवकी को बालक को नजर भरकर देखने से मना करने के पीछे क्या तार्किक कारण था?

प्रश्न-3 "अहो धैर्य हि योषितः" कथन के माध्यम से वसुदेव जी ने देवकी के किस गुण की प्रशंसा की है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. सतयुग (कृतयुग) में शंख और दूध के समान श्वेत शरीर वाले भगवान् का नाम क्या था?

1) वामन

2) राम

3) नारायण

4) दामोदर

2. अहं गगनसञ्चारी त्रिषु लोकेषु विश्रुतः यह कथन नाटक में किस पात्र का है?

1) सूत्रधार

2) वसुदेव

3) नारद

4) कंस

3. देवकी अपने नवजात सातवें पुत्र को रात्रि के सन्नाटे में किसके समान धारण किए जा रही थीं?

1) मन्दराचल पर्वत के समान

2) पल्लव के समान

3) चक्र के समान

4) कमल के समान

4. वसुदेव जी के अनुसार सारी पृथ्वी पर वर्तमान में किसका एकच्छत्र शासन या राज्य था?

1) उग्रसेन का

2) दुरात्मा कंस का

3) नन्दगोप का

4) राजा पुरु का

5. कमलायताक्षः पद का विग्रह और श्रीकृष्ण के संदर्भ में सरल अर्थ क्या है?

1) कमल के समान विशाल नेत्रों वाले

2) कमल का आसन ग्रहण करने वाले

3) लक्ष्मी के स्वामी

4) कालिय नाग का मर्दन करने वाले

6. घोर अंधकार में वसुदेव जी को पलायन (अपक्रमण) हेतु मार्ग किसने प्रकाशित करके दिया?

1) देवताओं ने

2) कुमार (नवजात शिशु) ने

3) नारद जी ने

4) बिजली ने

7. 'शशिवदना' शब्द का नाटक के अनुसार किसके मुख की उपमा हेतु प्रयोग किया गया है?

1) यशोदा

2) देवकी

3) गोपी

4) दारिका

8. वसुदेव जी मथुरा नगरी से बाहर निकलते समय अपनी भुजाओं से बालक को उठाकर किसकी भांति मार्ग पर जा रहे थे?

1) मन्दर पर्वत को उठाने वाले के समान

2) सिंह के समान

3) मेघ के समान

4) विन्ध्याचल के समान

9. तूर्याणि शब्द का पर्यायवाची शब्द पाठ्यपुस्तक के व्याकरण भाग के अनुसार क्या है?

।) वीणा

2) दुन्दुभयः (भेरी/बाजे)

3) शंख

4) धनुष

10. वसुदेव के अनुसार देवकी का हृदय और शरीर प्रतिबिम्ब रूप में किसके समान दो भागों में बंट गया था?

।) चन्द्रलेखा (चंद्रमा की कला) के समान

2) सूर्य के समान

3) यमुना जल के समान

4) बादलों के समान

इकाई-2

यमुना पार गमन, बाल-परिवर्तन और दिव्य आयुधों का अवतरण

(परिक्रम्य) इदं नगरद्वारम्। यावत् प्रविशामि । (प्रविश्य) अये प्रसुप्तो मधुरायां सर्वो जनः । यावदपक्रामामि । (परिक्रम्य) निष्क्रान्तोऽस्मि मधुरायाः । अहो बलवांश्चायमन्धकारः ।

(घूमकर) यह नगर का दरवाजा है । तो इसमें प्रवेश करूं । (प्रवेश करके) अरे मथुरा के सब लोग सो गये । तो भागता हूँ । (भागकर) मैं मथुरा से निकल आया हूँ । अरे! बहुत गाढ़ा अन्धकार है।

(परिक्रम्य) इदं नगरद्वारम्। यावत् प्रविशामि । नाहं गन्तुं समर्थः ।

(घूमकर) यह नगर का दरवाजा है । तो इसमें प्रवेश करूं । मैं जाने में असमर्थ हूँ ।

अये ! दीपिकालोकः। (अरे ! दीपक का प्रकाश।)

तमसा संवृते लोके मम मार्गमपश्यतः ।
अपक्रमणहेतोस्तु कुमारेण प्रभा कृता ॥ १७ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- संवृत्ते = आच्छादिते । **मार्गम्** = अध्वानम् । **अपक्रमणस्य** = पलायनस्य । कुमारेण = शिशुना । **प्रभा** = प्रकाशः (कान्तिः) ।

पदविग्रहः - अपक्रमणहेतोः = अपक्रमणस्य हेतुः ।

अर्थः- चारों ओर अन्धकार की गहनता के कारण मुझे मार्ग नहीं दिखाई देता अतः मेरे यहाँ से निकलने के लिए कुमार ने प्रकाश कर दिया ।।१७।।

एष मार्गः । यावदपक्रामामि । अये इयं भगवती यमुना कालवर्ष-सम्पूर्णा स्थिता । अहो व्यर्थो मे परिश्रमः । किमिदानीं करिष्ये ।

यह मार्ग है । अब मैं निकलता हूँ । अरे, यह भगवती यमुना इस समय वर्षा के जल से भर गई है। अरे ! मेरा परिश्रम व्यर्थ गया । इस समय क्या करना चाहिये !

भवतु, दृष्टम् । (अच्छा, समझा।)

इमां नदीं ग्राहभुजङ्गसङ्कुलां
महोर्मिमालां मनसापि दुस्तराम् ।
भुजप्लवेनाशु गतार्थविक्लवो
वहामि सिद्धिं यदि दैवतं स्थितम् ॥ १८॥

पर्यायवाचिशब्दाः- ग्राहैः = मकरादिभिः । **भुजङ्गैः** = सर्पादिभिः । **सङ्कुलाम्** = व्याप्ताम् । **ऊर्मीणाम्** = लहरीणाम् । **दुस्तराम्** = तर्तुमशक्याम् । **आशु** = शीघ्रम् । **विक्लवः** = वैक्लव्यम् ।

पदविग्रहः - ग्राहभुजङ्गसङ्कुलाम् = ग्राहैः भुजङ्गैः सङ्कुलाम् । **महोर्मिमालाम्** = महती चासौ ऊर्मिमाला **ताम्** । **ऊर्मिमालाम्** = ऊर्मीणां माला । भुजप्लवेन = भुजौ एव प्लवः तेन । **गतार्थविक्लवः** = गतः अर्थस्य विक्लवः यस्य सः ।

अर्थः- यदि मेरा भाग्य होगा तो मकर, सर्प आदि से व्याप्त और उत्ताल तरंगों वाली मन से भी दुस्तर इस नदी कालिन्दी को मैं धैर्यपूर्वक अपनी भुजा रूपी नौका से (पार करके) कार्य सिद्ध करूंगा ।।१८।।

(तथा कृत्वा सविस्मयम्) हन्त ! द्विधा छिन्नं जलम्, इतः स्थितम्, इतः प्रधावति । दत्तो मे भगवत्या मार्गः । यावदपक्रामामि । (अवतीर्य) निष्क्रान्तोऽस्मि यमुनायाः ।

(ततः प्रविशति दारिकां गृहीत्वा नन्दगोपः।) नन्दगोपः- (सशोकम्) दारिके ! दारिके ! किमिदानीः नो गेहलक्ष्म्यां न रन्त्वा ततो न उज्झित्वा ननु गच्छसि । संप्रति हि महिषशतसंपातसदृशोऽहो बलवानन्धकारः ।

(वैसा करके आश्चर्य से) अरे ! यह जल दो भागों में बंट गया, इधर ठहरा है, उधर बह रहा है। भगवती (यमुना) ने मुझे मार्ग दिया है । तो पार करता हूँ । (पार करके) यमुना से निकल आया।

(बच्ची को लेकर नन्द गोप का प्रवेश) । नन्द गोप (शोक से) - पुत्रि ! पुत्रि !! आज तुम हमारी गृहलक्ष्मी में रमण न करके, हम लोगों को छोड़कर जा रही हो । इस समय तो सैकड़ो भैसों के समूह की भाँति भयंकर अन्धकार है ।

दुर्दिनविनष्टज्योत्स्ना रात्रिर्वर्तते निमीलिताकारा ।
संप्रावृतप्रसुप्ता नीलनिवसना यथा गोपी ।।१९।।

पर्यायवाचिशब्दाः - दुर्दिनेन = मेघच्छन्नेन । **ज्योत्स्ना** = चन्द्रिका । **निमीलितः** = प्रच्छन्नः । **प्रसुप्ता** = कृतशयना । **निवसनम्** = वस्त्रम् ।

पदविग्रहः - दुर्दिनविनष्टज्योत्स्ना = दुर्दिनेन विनष्टा ज्योत्स्ना यस्यां सा । **निमीलिताकारा** =निमीलितः आकारः यस्याः सा । **संप्रावृतप्रसुप्ता** = संप्रावृता चासौ प्रसुप्ता च । **नीलनिवसना** = नीलं निवसनं यस्याः सा ।

अर्थः- मेघ से आच्छत्र होने के कारण चन्द्रप्रकाश से हीन छिपाने वाली यह रात्रि, नीले वस्त्र से अङ्गों को ढंके हुए गोपी की भाँति मालूम पड़ती है ।।१९।।

अद्य ह्यर्धरात्रेऽस्माकं कुटुम्बिन्या यशोदया प्रसूतेयं च दारी तपस्विनी जातमात्रैवापगतप्राणा संवृत्ता । श्वोऽस्माकं घोषस्योचित इन्द्रयज्ञो नामोत्सवो भविष्यति । तद् मा खल्वेतद् दुःखं गोपजनैरनभूयमानमिति मयैकाकिना निगलगुरुचरणेनेमां दारिकां गृहीत्वा निर्गतोऽस्मि । यशोदापि तपस्विनी नैव जानाति दारको वा दारिका वा प्रसूत इति मोहं गता । दारिके ! दारिके ! ।

वसुदेवः - को नु खल्वयं रात्रौ परिदेवयति । अस्मत्सब्रह्मचारी खल्वयं तपस्वी।

नन्दगोपः - किमिदानीं नो गेहलक्ष्म्यां न रन्त्वा ततो न उज्झित्वा ननु गच्छसि । वसुदेवः- स्वरेण प्रत्यभिजानामि । मम वयस्येन नन्दगोपेन भवितव्यम् । यावच्छब्दापयामि । वयस्य ! नन्दगोप ! इतस्तावत् ।

सब आकारों को किसी सोती हुई आज रात्रि में मेरी गृहिणी यशोदा की यह बेचारी पुत्री पैदा होते ही मर गई । कल हमारे गोपग्राम के उचित इन्द्रयज्ञ नामक उत्सव होगा । अतएव मैं इसे लेकर (दुख से) बोझिल चरणों से एकाकी निकल आया हूँ । जिससे इतर गोपगणों के द्वारा इसका दुःख न अनुभव किया जाए । बेचारी यशोदा भी मूर्च्छा के कारण यह नहीं जानती कि पुत्र उत्पन्न हुआ है अथवा पुत्री । (हा) पुत्री -पुत्री । वसुदेव- इस रात्रि में कौन रो रहा है ? अवश्य ही यह हमारे समान बेचारा दुःखी है ? नन्दगोप - इस समय हमारी गृहलक्ष्मी में रमण न करके हमें छोड़कर चली जा रही हो । वसुदेव - स्वर से पहचानता हूँ। यह मेरा मित्र नन्दगोप होना चाहिये (अच्छा) तो पुकारता हूँ । मित्र नन्दगोप, इधर आओ ।

वसुदेवः - हन्त भोः ! न शक्यं लोकस्याधिष्ठानभूतं कृतान्तं वञ्चयितुम् । वयस्य ! काष्ठभूतं कलेवरं त्यज्यताम् । नन्दगोपः - न शक्नोमि भर्तः ! न शक्नोमि । वसुदेवः -ईदृशो लोकधर्मः। त्यज्यताम् । नन्दगोपः- (इति रोदिति ।) यद् भर्ताज्ञापयति । दारिके ! दारिके ! वसुदेवः - वयस्य ! अलमलं रुदितेन । उत्तिष्ठोत्तिष्ठ । नन्दगोपः- (तथा कृत्वोपगम्य) जयतु भर्ता । अनेन दासजनेन किं कर्तव्यम् । वसुदेवः - वयस्य ! ननु त्वमपि जानासि दुरात्मना कंसेन मम षट् पुत्रा निधनमुपानीता इति । नन्दगोपः - जानामि भर्तः ! जानामि । वसुदेवः -तत् सप्तमोऽयं दीर्घायुः। नास्ति मम पुत्रेषु भाग्यम् । तव भाग्याज्जीवितुं गृह्यताम् । नन्दगोपः - बिभेमि भर्तः ! बिभेमि। यदि कंसो राजा श्रृणोति-वसुदेवस्य दारको नन्दगोपस्य हस्ते न्यासो निक्षिप्त इति, किं बहुना, गतमेव में शीर्षम् । वसुदेवः- (आत्मगतम्) हन्त विपन्नं कार्यम् । उक्तज्ञाः खलु नृशंसाः । तदेवं कथयामि ।

वसुदेव - हाय ! सब भुवनों के स्वामी काल को ठग नहीं सकते । मित्र, इस काठ के समान मृत शरीर को छोड़ दो । नन्दगोप - नहीं हो सकता, स्वामी नहीं हो सकता । वसुदेव - संसार की ऐसी

ही रीति है । छोड़ दो । नन्दगोप - जैसी श्रीमान् की आज्ञा । बेटी-बेटी (विलाप करता है) । वसुदेव - मित्र मत रोओ । उठो, उठो । नन्दगोप - (वैसा करके पास जाकर) जय हो स्वामी ! इस दास को क्या करना चाहिये ? वसुदेव - मित्र तुम्हीं जानते हो कि पापी कंस के द्वारा मेरे छः पुत्र मार डाले गए। नन्दगोप -जानता हूँ स्वामी, जानता हूँ । वसुदेव - तो यह आयुष्मान् सातवां (पुत्र) है। मेरे भाग्य में पुत्र नहीं है । यह तुम्हारे भाग्य से जीवित रहे अतः लो । नन्दगोप - डरता हूँ स्वामी, डरता हूँ । यदि राजा कंस ने सुना कि वसुदेव का लड़का नन्दगोप के हाथ में घरोहर की भाँति रखा है तो अधिक क्या कहूँ मेरा सिर ही चला जायगा । वसुदेव (मन में) - हाय कार्य बिगड़ गया । पापीजन अनिष्ट को समझ जाया करते हैं । तो ऐसा कहता हूँ -

(प्रकाशम्) वयस्य नन्दगोप !

(प्रकट होता है) मित्र नन्दगोप !

यद्यस्मि भवतः किञ्चिन्मया पूर्वकृतं भवेत् ।
तस्य प्रत्युपकारस्थ कालस्ते समुपागतः ॥ २० ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- किञ्चित् = ईषद् । **पूर्वकृतम्** = पूर्वोकारः । **समुपागतः** = प्राप्तः ।
अर्थः- यदि मैंने पहले कभी आपके साथ कोई उपकार किया हो तो यह उसके प्रत्युपकार का समय आ गया है ।। २० ।।

नन्दगोपः - किं किं प्रत्युपकार इति । यदि कंसो वा भवतु, कंसस्य पितोग्रसेनो वा भवतु । आनयतु भर्ता दारकम् । वसुदेवः - वयस्य । गृह्यताम् । नन्दगोपः - मुहूर्तकं प्रतिपालयतु भर्ता, यावद् यमुनाजलं गत्वा शौचं करोमि । वसुदेवः- वयस्य । घोषवासात् प्रकृत्या शुचिरेव भवान्। नन्दगोपः- तेन ह्यस्माकं घोषस्योचितं पांसुना शौचं करोमि । वसुदेवः- कोऽत्र दोषः । क्रियतां शौचम् ।

नन्दगोप - वया, क्या ? प्रत्युपकार ? यदि कंस हो चाहे उसका पिता उग्रसेन हो स्वामी पुत्र को लाइए । वसुदेव - मित्र लो इसे । नन्दगोप - थोड़ी देर रुकिए स्वामिन् तब तक मैं जमुना जल में जाकर स्नान कर लूं । वसुदेव - मित्र आभीर ग्राम में रहने से तो आप स्वयं ही पवित्र हैं । नन्दगोप - तो मैं अपनी बस्ती के योग्य मिट्टी से ही अपने को पवित्र कर लूँ । वसुदेव - इसमें क्या दोष ? पवित्र हो जाइए ।

ततः प्रविशन्ति पञ्चायुधानि गरुडश्च - पांचों शस्त्र और गरुड़ का प्रवेश -
गरुडः-

अहं सुपर्णो गरुडो महाजवः शार्ङ्गायुधस्यास्य रथो ध्वजश्च।
पुरा हि देवासुरविग्रहेषु वहामि भो विष्णुबलेन विष्णुम् ॥२१॥

पर्यायवाचिशब्दाः- आयुधम् = शस्त्रम् । **ध्वजः** = केतुः । **विष्णुबलेन** = भगवच्छक्त्या । **वहामि** = वहनमकार्षम् ।

पदविग्रहः - सुपर्णो = शोभनं पर्णं यस्य सः । **महाजवः** = महान् जवो यस्य सः । **शार्ङ्गयुधस्य** = शार्ङ्गम् आयुधं यस्य तस्य । **देवासुरविग्रहेषु** = देवानामसुराणाञ्च विग्रहाः तेषु ।

अर्थः- मैं सुन्दर पंखों वाला, अत्यन्त वेगगामी, (भगवान) शार्ङ्गपाणि का रथ और ध्वजा भी है । प्राचीन काल में देवासुर संग्राम में मैंने भगवान विष्णु को उनकी ही कृपा से धारण किया है ।।२१।।

चक्रः-

चक्रोऽस्मि कृष्णस्य कराग्रशोभी मध्याह्नसूर्यप्रतिमोग्रतेजाः ।
त्रिविक्रमे चामृतमन्थने च मया हता दानवदैत्यसङ्घाः ॥ २२ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- मध्याह्ने = वासरमध्ये । प्रतिमम् = सदृशम् । विक्रमाः = विशिष्टपादविक्षेपाः। अमृतस्य = पीयूषस्य । **मन्थनम्** = आलोडनम् । **दानवानाम्** = दनुपुत्राणाम् ।

दैत्यानाम् = दितिपुत्राणाम् ।

पदविग्रहः - कराग्रशोभी = करस्य अग्रं तस्मिन् शोभते । **मध्याह्नसूर्यप्रतिमोग्रतेजाः** = मध्याह्ने यः सूर्यः तस्य प्रतिमम् उग्रं तेजः यस्य सः । **दानवदैत्यसङ्घाः** =दानवानां दैत्यानां संघाः ।

अर्थः- चक्र- मैं कृष्ण की अँगुलियों पर शोभित होने वाला, दोपहर के सूर्य की भांति तीक्ष्ण तेज वाला चक्र हूँ। मैंने त्रिविक्रम (वामनावतार) के समय और अमृतमन्थन के समय अनेक दानवों के समूह को मारा है ।। २२ ।।

शार्ङ्गः-

शार्ङ्गोऽस्मि विष्णुकरलग्नसुवृत्तमध्या।
स्त्रीविग्रहात् पुरुषवीर्यबलातिदर्पा ।
यस्यार्थमाहवमुखेषु मयारिसङ्घाः
प्रभ्रष्टनागरथवाजिनराः प्रभग्नाः ॥ २३ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- शार्ङ्गः =श्रृंगविकारः । **अर्थम्** = कार्यसाधनम् । **आहवमुखेषु** = युद्धभूमिषु । प्रभाग्नाः = पराजिताः ।

पदविग्रहः - विष्णुकरलग्नसुवृत्तमध्या = विष्णोः करे लग्नं सुवृत्तं मध्यं यस्याः सा । **पुरुषवीर्यबलातिदर्पा** = पुरुषस्य वीर्यबलयोः दर्पमतिक्रान्ता । **प्रभ्रष्टनागरथवाजिनराः** = प्रभ्रष्टाः नागाः रथाः वाजिनः नराश्च

येषां ते ।

अर्थः- शार्ङ्ग- भगवान विष्णु के हाथ के स्पर्श से सुन्दर मध्यभाग वाला, स्त्री स्वरूप होने पर भी पुरुष के बल और पराक्रम के घमण्ड को दूर करने वाला, मैं शार्ङ्ग हूँ । जिन भागवान विष्णु के कार्य की सिद्धि के लिए मैंने युद्धभूमि में शत्रुसमूह के हाथी, रथ, घोड़े और पैदल सैनिकों को नष्ट करके उन्हें पराजित किया है ।।२३।।

कौमोदकीः-

कौमोदकी नाम हरेर्गदाहमाज्ञावशात् सर्वरिपून् प्रमथ्य ।
मया हतानां युधि दानवानां प्रक्रीडितं शोणितनिम्नगासु ।।। २४

पर्यायवाचिशब्दाः- **प्रमथ्य** = पराजित्य । **युधि** = आहवे । **निम्नगाः** = सरितः ।

पदविग्रहः - **सर्वरिपून्** = सर्वे च ते रिपवस्तान् । **शोणितनिम्नगासु** = शोणितानां निम्नगाः तासु ।

अर्थः- कौमोदकी-

मैं कौमोदकी नामक विष्णु की गदा हूँ । (विष्णु की) आज्ञा से मैंने शत्रुओं का मन्थन करके और युद्धक्षेत्र में अपने द्वारा मारे गए दानवों के रुधिर की नदियों में क्रीड़ा की है ।।२४।।

शङ्खः-

अहं हि शङ्खः क्षीरोदाद् विष्णुना स्वयमुद्धृतः ।
मम शब्देन नश्यन्ति युद्धे ते देवशत्रवः ॥ २५ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- **क्षीरोदाद्** = दुग्धसागरात् । **उद्धृतः** = निष्कासितः । **देवशत्रवः** = सुरद्वेषिणः। **शब्देन** = रवेण ।

अर्थः- शङ्ख-

मैं क्षीरसागर से स्वयं विष्णु के द्वारा निकाला गया शंख हूँ । मेरे घोष मात्र से युद्ध में देवताओं के शत्रु नष्ट हो जाते हैं ।। २५ ।।

नन्दकः-

नन्दकोऽहं न मे कश्चित् सङ्ग्रामेष्वपराङ्मुखः ।
गच्छामि स्मृतमात्रेण विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ २६ ॥

अर्थः- **नन्दक** - मैं नन्दक नामक कृपाण हैं युद्ध में मेरे सामने कोई परांमुख न होने वाला नहीं हैं। अर्थात् सब भाग जाते हैं। भगवान विष्णु के स्मरण करने मात्र से मैं उनके पास पहुँच जाता हूँ ।।२६।।

चक्रः-

चक्रशार्ङ्गगदाशङ्खनन्दका दैत्यमर्दनाः।
वासुदेवस्य कार्यार्थं प्राप्ताः परिषदा वयम् ॥ २७ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- दैत्यमर्दनाः = दानवविनाशकाः । **परिषदा** = पार्श्ववर्तिनः । **प्राप्ताः** = समुपस्थिताः ।

अर्थः- चक्र- चक्र, शार्ङ्ग, गदा, शंख और नन्दक नामक विष्णु के सभासद हम सब उनके कार्य की पूर्णता के लिए पहुँच गए हैं ।।२७।।

तस्मादागम्यताम् वयवि मनुष्यलोकमवतीर्णस्य भगवतो विष्णोर्बाल चरितमनुचरितुं गोपाल कवेष्प्रच्छन्ना घोषमेवावतरिष्यामः। सर्वेः- तथास्तु । (विष्णुमुपस्थिताः) वसुदेवः- वयस्य ! बाल एव नमस्यताम् । नन्दगोपः- भर्तः ! तथा । राजदारक ! नमस्ते नमस्ते । ही, भवतु, आत्मनैवात्मानं निर्वाहय । अस्माकं गोपजनस्य त्वां ग्रहीतुं को बलपराक्रमः]

तो हम सब चलें, नरलोक में अवतीर्ण हुए भगवान विष्णु के बालचरित का रसास्वादन करने केलिए ग्वालों के वेष में छिपकर हम सब आमीर ग्राम में अवतीर्ण हों । सब - ऐसा ही हो । (विष्णु के समीप जाते हैं ।) वसुदेव -- मित्र ! बालक को नमस्कार करो । नन्दगोप - स्वामिन्! ऐसा, राजकुमार! नमस्कार नमस्कार । अच्छा, बाप स्वयं ही अपना निर्वाह करें। हम ग्वालों में तुम्हें ग्रहण करने की बल-पराक्रम कहाँ है ?

चक्रः- नमो भगवते नारायणाय । भगवन् ! महाविष्णो !

कार्याण्यकार्याण्यमरासुराणां
त्वया भविष्यन्ति बहूनि लोके
तस्माज्जनस्यास्य लघुत्वयोगात्
कुरु प्रसादं यदुवंशकेतो ! ॥ २८ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- अमरासुराणाम् - कार्याण्यकार्याणि = देवानां रक्षारूपाणि दानवानाञ्च विनाशरूपाणि कर्माणि । **लघुत्वयोगात्** = तुच्छत्वभावात् । **प्रसादम्** = अनुग्रहम् । **कुरु** = विधेहि ।

पदविग्रहः - यदुवंशकेतो = यदुवंशस्य केतुः तत्सम्बुद्धौ । **अमरासुराणाम्** = अमराश्च असुराश्च तेषाम् ।

अर्थः- चक्र - भगवान नारायण को नमस्कार । भगवन् ! महाविष्णु ! -

संसार में आपके द्वारा अनेकों बार देवों की रक्षा और दानवों का विनाश होगा। अतएव हे यदुवंशियों

में श्रेष्ठ ! इस अकिंचन नन्द गोप पर आप कृपा करें ।।२८।।

वसुदेवः - गृह्यताम् । नन्दगोपः- (गृह्णाति) यद् भर्ताज्ञापयति । वसुदेवः- वयस्य ! प्रभाता रजनी । प्रतिनिवर्ततां भवान् । नन्दगोपः- आश्चर्यमाश्चर्यं भर्तुः ! आश्चर्यम् । इमे बन्धने पतिते। वसुदेवः - सर्वमेतत् कुमारस्य प्रभावः । प्रतिनिवर्ततां भवान् । नन्दगोपः - यद् भर्ताज्ञापयति । वसुदेवः- अथवा एहि तावत् । नन्दगोपः- भट्टा ! भर्तः ! अयमस्मि ।

वसुदेव--इन्हें लीजिये । नन्दगोप - जैसी स्वामी की आज्ञा । वसुदेव - मित्र ! रात्रि समाप्त हो गई आप वापस चले जायें । नन्दगोप - आश्चर्य, आश्चर्य स्वामी आश्चर्य । ये दोनों बन्धन गिर पड़े ।

वसुदेव - यह सब कुमार का प्रभाव है । आप लौट जाँय । नन्दगोप - जैसी स्वामी की आज्ञा । वसुदेव ! अथवा इधर आओ । नन्दगोप - स्वामी मैं यह हूँ ।

वसुदेवः- (हे नन्दगोप)

जाने नित्यं वत्सलं त्वां प्रकृत्या,
स्नेहोऽप्यस्मिन्नर्थ्यते रूढभावः।।
अस्मिन् काले दग्धभूयिष्ठशेषं,
न्यस्तं बीजं रक्षितुं यादवानाम् ॥ २९ ॥

पर्यायवाचिशब्दाः- अर्थ्यते = प्रार्थ्यते । **दग्धभूयिष्ठशेषम्** = भृशदाहावशिष्टम् । **बीजम्** = निदानं। रक्षितुम् = पालयितुम् ।

अर्थः- वसुदेवः- (हे नन्दगोप !) मैं तुम्हें स्वभाव से ही नित्य वात्सल्य भावयुक्त मानता हूँ । अब इस बालक में तुम्हारे बढ़े हुए स्नेह को देखना चाहता हूँ अर्थात् मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप इस पुत्र को विशेष प्रीति प्रदान करेंगे तथा इस समय अत्यन्त जलने के बाद बचे हुए यादववंश के बीजस्वरूप इस धरोहर श्री कृष्ण के पालन की याचना करता हूँ ।।२९।।

वसुदेवः- कुमारस्य किं करिष्यति भवान् । नन्दगोपः- शृणोतु भर्ता । एकस्मिन् गेहे गत्वा दधि भक्षयति । अपरस्मिन् गेहे गत्वा नवनीतं गिलति । अन्यस्मिन् गेहे गत्वा पायसं भुङ्क्ते । इतरस्मिन् गेहे गत्वा तक्रघटं प्रलोकते । कि बहुना, अस्माकं घोषस्य पतिर्भवति । वसुदेवः-एवमस्तु। प्रतिनिवर्ततां भवान्। नन्दगोपः -यद् भर्ताज्ञापयति। वसुदेवः - ईश्वरः स्वस्तिं कुर्वन्तु । (निष्क्रान्तः)

वसुदेवः- कुमार के लिए आप क्या करेंगे ? नन्दगोप - स्वामी सुनें । एक घर में जाकर दूध पीयेगा, दूसरे घर में जाकर दही खाएगा और अन्य घर में जाकर मक्खन खाएगा, किसी घर में जाकर खीर खाएगा और कहीं मट्ठा टटोलेगा । अधिक क्या कहूँ हमारे आभीर ग्राम का यह स्वामी बनेगा। वसुदेव - ऐसा ही हो । आप लौट जाँय । नन्दगोप - जैसी स्वामी की आज्ञा । वसुदेव - ईश्वर कल्याण करे। (प्रस्थान करते हैं।)

स्मरणीय बिंदु

- यमुना की दुस्तरता: भगवती यमुना कालवर्ष (वर्षा ऋतु के जल) से पूरी तरह भरकर मकर और सर्पों से व्याप्त थी, जिसे वसुदेव भुजाओं के बल पार करने का संकल्प लेते हैं।
- मार्ग दान: वसुदेव के साहस को देखकर भगवती यमुना ने जल को दो भागों में विभक्त कर उन्हें साक्षात् सूखा मार्ग प्रदान कर दिया।
- नन्दगोप का विलाप: गोकुल के नन्दगोप अपनी नवजात मृत पुत्री (दारी) को लेकर मध्यरात्रि के घोर अंधकार में गोपजनों के भय से एकाकी रो रहे थे।
- धरोहर का आदान-प्रदान: वसुदेव जी अपने मित्र नन्दगोप को यादववंश के अनमोल बीज (श्रीकृष्ण) की रक्षा हेतु सौंपते हैं और नन्द की पुत्री को कंस हेतु ले आते हैं।
- पंचायुधों का अवतरण: भगवान् के कार्य की सिद्धि हेतु उनके पांचों दिव्य शस्त्र (चक्र, शाङ्र्ग, कौमोदकी, शङ्ख, नन्दक) और वाहन गरुड़ गोकुल में ग्वालों के वेष में छिपकर अवतीर्ण होते हैं।

विशेष शब्द

- ग्राहभुजङ्गसङ्कलां: मगरमच्छों और विषैले साँपों से पूरी तरह भरी हुई।
- दुर्दिनविनष्टज्योत्स्ना: बादलों से घिरे होने के कारण जिसकी चाँदनी पूरी तरह नष्ट हो गई हो।
- दग्धभूयिष्ठशेषं: भयंकर रूप से जलने के बाद बचा हुआ अत्यंत अल्प भाग या अवशेष।
- मध्याह्नसूर्यप्रतिमोग्रतेजा:: दोपहर के प्रचंड सूर्य के समान अत्यंत तीक्ष्ण और उग्र प्रकाश वाला।
- शोणितनिम्नगासु: युद्धभूमि में राक्षसों के बहने वाले रक्त या रुधिर की लाल नदियाँ।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

- उफनती हुई यमुना को पार करने के वसुदेव के अदम्य साहस तथा जल के दो भागों में विभक्त होने के तार्किक व आध्यात्मिक प्रसंग की व्याख्या कीजिए।
- भगवान् नारायण के पांचों आयुधों (शस्त्रों) और सुपर्ण गरुड़ के गोकुल में ग्वालों के रूप में प्रच्छन्न (छिपकर) अवतरण के वैचारिक उद्देश्य को स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

- नन्दगोप मध्यरात्रि के भयंकर अंधकार में अपनी पुत्री को लेकर अकेले बाहर क्यों निकले थे?
- वसुदेव ने नन्दगोप को पूर्व में किए गए किस प्रत्युपकार का स्मरण कराकर बालक को स्वीकार करने हेतु तैयार किया।
- श्रीकृष्ण को गोकुल ले जाने के बाद नन्दगोप के दोनों बन्धन गिरने पर वसुदेव ने उसे किसका प्रभाव बताया।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. उफनती हुई उग्र तरंगों वाली यमुना नदी कालिन्दी को वसुदेव ने किस रूपी नौका से पार करने का निर्णय लिया?

1) काष्ठ नौका

2) भुजा रूपी नौका (भुजप्लवेन) से

3) दैव नौका

4) गरुड़ की सहायता से

2. नन्दगोप के अनुसार मेघों से आच्छादित और चाँदनी से हीन रात्रि नीले वस्त्र पहने किसकी भांति सोई हुई लग रही थी?

1) देवकी

2) यशोदा

3) गोपी की भांति

4) दानवी

3. नन्दगोप और यशोदा के घर उत्पन्न हुई कन्या (बेचारी पुत्री) के जन्म का समय क्या था?

1) प्रात:काल

2) अर्धरात्रि (आधी रात)

3) सायंकाल

4) दोपहर

4. गोकुल ग्राम में अगले दिन उचित परंपरा के अनुसार कौन सा महान् उत्सव होने वाला था?

1) इन्द्रयज्ञ नामक उत्सव

2) विष्णोत्सव

3) धनुर्महोत्सव

4) गोवर्धन पूजा

5. वसुदेव ने नन्दगोप से यादववंश के रक्षण हेतु श्रीकृष्ण को किस रूप में स्वीकार करने की याचना की?

1) यादववंश के बीज (धरोहर) स्वरूप

2) राजा स्वरूप

3) मल्ल स्वरूप

4) दास स्वरूप

6. अहं सुपर्णो महाजव: शाङ्गयुधस्यास्य रथो ध्वजश्च यह कथन किसका है?

1) चक्र का

2) शङ्ख का

3) गरुड़ का

4) नन्दक का

7. दोपहर के प्रचंड सूर्य के समान तीक्ष्ण तेज वाला और कृष्ण की उंगलियों पर शोभित होने वाला आयुध कौन सा है?

1) गदा

2) चक्र (सुदर्शन)

3) शाङ्र्ग

4) नन्दक

8. शत्रुओं का मर्दन करने वाली और युद्ध में राक्षसों के रुधिर की नदियों में क्रीड़ा करने वाली गदा का क्या नाम है?

1) कौमोदकी

2) कौमोदकी नाम की गदा

3) सुवृत्ता

4) नन्दक कृपाण

9. क्षीरसागर (दुग्धसमुद्र) से स्वयं भगवान् विष्णु के द्वारा निकाला गया दिव्य घोष करने वाला आयुध कौन सा है?

1) शङ्ख

2) चक्र

3) शाङ्र्ग धनुष

4) गरुड़

10. भगवान् विष्णु के स्मरण मात्र से उनके सम्मुख संग्राम में उपस्थित होने वाले कृपाण (तलवार) का नाम क्या है?

1) नन्दक

2) कौमोदकी

3) परिघ

4) शाङ्र्ग

इकाई -3
गोकुल की बाल-लीलाएँ और अरिष्टासुर का उद्धार

मथुरा का दृश्य
(ततः प्रविशति दामकः)

दामकः- अहो महत् तृणजालं स्वामिनो नन्दगोपस्य । सुतजननदिनादारभ्याधिकतर-मानन्दाद्भुतं वर्धते । भवतु, इह तिष्ठतु गोधनं, यावन्मातुलमुपसर्प्स्यामि । मातुल ! वन्दे । वृद्धगोपालकः- शान्तिर्भवतु शान्तिर्भवत्वस्माकं गोधनस्य च । दामकः- मातुल! यदाप्रभूति नन्दगोपपुत्रः प्रसूतः, तदाप्रभृत्यस्माकं गोधनं वर्जितरोगं संवृत्तम् । ननु सर्वेषां गोपजनानां प्रीतिर्वर्धते, अन्यच्च, खाते खाते मूलानि, फलानि गुल्मे गुल्मे । मधु कियद् दुह्यते क्षीरं तावद् एव घृतम् । वृद्धगोपालकः- अन्यच्चेदमाश्चर्यम् । दशरात्रप्रसूते नन्दगोपपुत्रे पूतना नाम दानवी विषसम्पू-रितस्तना नन्दगोप्या रूपं गृहीत्वागता । ततस्तया दारकं गृहीत्वा तस्य मुखे स्तनः प्रक्षिप्तः । ततस्तां विज्ञाय सुप्ता पातित्ला सापि दानवी भूत्वा तत एव मृता । ततो मासमात्रे नन्दगोपपुत्रे शकटो दानवः शकटवेषं गृहीत्वागतः । तमपि ज्ञात्वैकपादप्रहारेण चूर्णीकृतः सोऽपि दानवो भूत्वा तत एव मृतः ।

(दामक का प्रवेश)

दामक - स्वामी नन्दगोप का यहाँ पर्याप्त घास है । पुत्र जन्म के बाद से यहाँ विचित्र आनन्द छाया हुआ है। अच्छा, गौओं को यहीं रोक दूं ! मैं मामा के पास जाऊंगा । (पास जाकर) मामा ! नमस्कार। वृद्ध गोपालकख्रहमारा और हमारी गौओं का कल्याण हो । दामक -मामा जब से नन्दगोप को पुत्र हुआ है तब से हम लोगों का गोधन नीरोग हो गया है, सभी गोपवृन्दों में परस्पर प्रेम बढ़ रहा है। गढ़ों में मूल, लताओं में फल लग गए हैं। कितना मधु है, दूध को दुहते ही ऊपर मक्खन आ जाता है । वृद्ध गोपालक - और भी अनेक आश्चर्य हैं। दस दिन का ही जब नन्दगोप कुमारया तो विष से पूर्ण स्तनों वाली पूतना नामक राक्षसी नन्दगोपी (यशोदा) का वेष बनाकर आई। उसने कुमार को लेकर उसके मुख में स्तन डाल दिया । (कृष्ण ने) उसे सोई हुई जानकर पटक दिया । वह भी दानवी के रूप में आकर वहीं मर गई । एक मास में शकट नामक दानव शकट का वेष धारण करके आया । (कृष्ण ने) उस (के भी असली रूप) को जान कर एक पैर के प्रहार से ही चूर कर दिया । वह भी दानव होकर वहीं मर गया ।

ततो मास-परिवृत्तो नन्दगोपपुत्र एकस्मिन् गेहे गत्वा क्षीरं पिबति, अन्यस्मिन् गेहे गत्वा दधि भक्षयति, एकस्मिन् गेहे गत्वा नवनीतं गिरति, अन्यस्मिन् गेहे गत्वा पायसं मुक्त अपरस्मिन् गेहे गत्वा तक्रघटं प्रलोकते । ततो रूष्टाभिर्गोपयुवति-मिर्नन्दगोप्यै उक्तम् । ततो रुष्टया नन्दगोप्या दाम गृहीत्वा तस्य मध्ये बद्धवा शेषमुलूखले बद्धम् । ततस्तदप्युलूखलमाघट्टयत् प्रेक्ष्य यमलार्जुनयोर्नाम दानवयोनिक्षिप्तम् । ततो द्वावेकी भूतौ । तयोरन्तरेण गच्छता नन्दगोपनुत्रे गाधट्टयता - समूलविटपं

चूर्णीकृतौ तावपि दानवी भूत्वा तत एव मृतौ । ततो गोपजनै रुक्तं -महाबलपराक्रमोऽद्य रभृति भर्तृदामोदरो नाम भवतु इति । तत आधावनप्रवावन-मात्रे नन्दगोपपुत्रे प्रलम्बो नाम दानवो नन्दगोपवेषं गृहीत्वागतः ततः संकर्षणं कण्ठे निक्षिप्य गच्छन्तं विज्ञाय भर्चा संकर्षणेन तस्य दानत्रस्य शीर्षे मुष्टिाहारः कृतः । तेन प्रहारेणोत्क्षिप्तचक्षुः सोऽपि दानवो भूत्वा तत एव मृतः । गोपजनैः परिवृतस्तालफलानि ग्रहीतुं तालवनं गतः । तत्र तालबने धेनुको नाम दानवो पर्दभवेषं गृहीत्वागतः। ततस्तमपि ज्ञात्वा भर्तृदामोदरेण तस्य वामपादं गृहीत्वो-त्क्षिप्य पातितानि तालफलानि। सोऽपि दानवो भूत्वा तत एव मृतः । ततः केशी नाम दानवः तुरङ्गवेषं गृहीत्वागतः । ततस्तमपि ज्ञात्वा मर्तृदामोदरेण तस्य मुखे कूर्परो दत्तः । ततस्तेन द्विधा पाटितस्तुरङ्गः । सोऽपि दानवो भूत्वा तत एव मृतः । एतान्यन्यानि (च) कर्माणि कृतानि भर्तृदामोदरेण ।

एक महीने के बाद से नन्दगोप पुत्र एक घर में जाकर दूध पीता, दूसरे में जाकर दही खाता, तीसरे में जाकर मक्खन खाता, इतर में जाकर खीर खाता और अन्येतर में जाकर मट्ठा बिखराता है । तो रुष्ट गोपयुवतियों ने नन्दगोपी से (सब कुछ) कहा । क्रुद्ध नन्दगोपी ने रस्सी लेकर (एक छोर से) उसकी कमर बाँध कर शेष को ओखली में बाँध दिया। उसने ओखली को घसीटते हुए यमल और अर्जुन नामक दो दानवों पर फेंक दिया । तब दोनों एक हो गए। तदनन्तर नन्दगोपपुत्र ने समूल बिटप को उखाड़ कर चूर कर दिया और वे दोनों दानव होकर वहीं मर गए । सब गोपवृन्दों ने कहा- यह बड़ा पराक्रम किया है अतः माज से लेकर इसका नाम भर्तृ दामोदर होगा । जब कुमार उछलने-कूदने में चतुर हुआ तो प्रलम्ब नामक दानव नन्दगोप का वेष धारण करके आया । संकर्षण को अपने कंठ पर लेकर जाते हुए उसे जानकर भाई संकर्षण ने उस दानव के सिर पर मुक्के से प्रहार किया । उस आघात से उसके नेत्र बाहर निकल आए और वह दानव होकर वहीं मर गया । ग्वालों के साथ तालफलों को लेने तालवन में गया । उस ताल-वन में धेनुक नामक दानव गदद्दे का वेष धारण करके आया । स्वामी दामोदरने उसे भी पहचान कर वाएँ पैर को पकड़ कर भूमि पर दे पटका और सारे तालफल गर पड़े । वह भी दानव होकर वहीं मर गया, तब केशी नामक दानव घोड़े का वेष धारण करके आया । भर्तृ दामोदर ने उसे भी जानकर उसके मुख के अन्दर केहुनी डाल दिया जिससे वह घोड़ा दो टुकड़े होकर गिर पड़ा। वह भी दानव होकर वहीं मर गया । इसी तरह भर्ता दामोदर ने अनेक लीलाएँ कीं ।

(प्रविश्य) वृद्धगोपालकः-

अनुदितमात्रे सूर्ये प्रणमत सर्वादरेण शीर्षेण ।
नित्यं जगन्मातृणां गवाममृतपूर्णानाम् ॥१॥

पर्यायवाचिशब्दाः- अमृतेन = दुग्धेन । **नित्यम्** = अहरहः । **प्रणमतं** = नमस्कारं कुरुत ।
पदविग्रहः - अमृतपूर्णानाम् = अमृतेन पूर्णाः तासाम् ।

अर्थः- (प्रवेश करके) वृद्ध गोपालक - सूर्य उदय होने से पूर्व पहले बड़े आदर के साथ अमृत (दुग्ध) से पूर्ण, सम्पूर्ण विश्व की माता गायों को सर्वदा सिर झुकाकर नमस्कार करो ।।१।।

वृद्धगोपालकः- एष भर्ता दामोदरः गोक्षीर-पाण्डरेण मत्रा सङ्कर्षणेन सह गोपालकैश्च परिवृतः गुहानिक्षिप्तः सिंह श्वेत एवागच्छति । (ततः प्रविशति गोपजनपरिवृतो दामोदरः सङ्कर्षणश्च।)

वृद्ध गोपालक - यह स्वामी दामोदर गोदुग्ध की भाँति शुभ्र वर्ण बाले भाई बलराम के साथ और ग्वालों से घिरे हुए गुफा में स्थित सिंह की तरह इधर ही आ रहे हैं ।

(ग्वालों से घिरे हुए दामोदर और संकर्षण का प्रवेश)

गोपालकः- हा हा मर्ता अपक्रामत्वस्माद् देशाद्। दामोदरः- दामक! किमसि सम्भ्रान्तः। गोपालकः- एषोऽरिष्टवृषभो नाम दानवः पिण्डीकृतनिर्घातरूपो भूमितलं खुरपुटैलिखन्, यस्य घोषो मेघरव इति शङ्कितो जातः। दामोदरः- एवं प्राप्तोऽरिष्टर्षभः इमा नो गोपदारिका दारकांश्च गृहीत्वैतत् पर्वतशिखरमारुह्य दुरात्मनो मम च युद्धविशेषणं पश्यत्वार्यः । अहमस्य दर्पप्रशमनं करोमि।

(प्रवेश करके) गोपालक - हा हा स्वामी ! इस देश से भाग चलें । दामोदर - दामक ! तुम क्यों घबड़ाए हो ? गोपालक - संहार का पुंजीमूतस्वरूप अरिष्ट नामक दानव अपने खुर के अगले भाग से भूमि को सोद रहा है । जिसके रंभाने पर मेघ गर्जन की शंका होती है । दामोदर - ऐसा, अरिष्टषंभ आ गया । आयं आप इन गोपकुमारियों और कुमारों को लेकर इस पर्वत के ऊपर चढ़कर पापी दानव और मेरा विशेष युद्ध देखिए । मैं इसके गर्व को चूर करूंगा । (उनके साथ संकर्षण का प्रस्थान)

दामोदरः- एष एष दुरात्मारिष्टर्षभः ।
दामोदर - यह, यह पापी अरिष्टर्षभ -

कृत्वा खुरैर्भूमितलं प्रभिन्नं शृङ्गैश्च कूलानि समाक्षिपंश्च ।
भयार्तगोपैः प्रसमीक्ष्यमाणो नदन् समाधावति गोवृणेन्द्रः ।।४।।

पर्यायवाचिशब्दाः- भूमितलम् = मेदिनीम् । **प्रभिन्नम्** = विदीर्यम् । **कूलानि** = नदीतटानि । **भयार्तगोपैः** = भीरुगोपालकैः । **नदन्** = नादं कुर्वन् ।

अर्थः- अपने खुर से भूमि तल को खोदता हुआ और सींग से (यमुना) तट को गिराता हुआ तथा जोर-जोर से गर्जन करता हुआ वृषभश्रेष्ठ आ रहा है तथा भयभीत गोपगण उसको बार-बार देख रहे हैं ।।४।।

ततः प्रविशत्यरिष्टर्षभः। क्व नु खलु गतो नन्दगोपपुत्रः । भो नन्दगोपपुत्र ! क्वासि । दामोदरः- भो गोवृषाधम ! इत इतः । एष स्थितोऽस्मि । अरिष्टर्षभः- (दृष्ट्वा) अहो,

वह नन्दगोप का पुत्र कहाँ है ? अरे, नन्दगोप - पुत्र तू कहाँ है ? दामोदर -- अरे, नीच गोवृषभ इधर-इधर, मैं यहाँ हूँ । अरिष्टर्षभ (देखकर)- अरे,

सारवान् खल्वयं बालो यो मां दृष्ट्वा महाबलम्।
उग्ररूपं महानादं नैव भीतो न विस्मितः ।।७।।

पर्यायवाचिशब्दाः- महाबलम् = अत्यन्तपराक्रमिणम् । **दृष्ट्वा** = अवलोक्य । **उग्ररूपम्** = प्रचण डस्वरूपम् । **महानादम्** = भीतिप्रदं शब्दम् ।

अर्थः- यह बालक निश्चित ही बड़ा पराक्रमी है जो मेरे भयंकर स्वरूप, गर्जन और महान पराक्रम को देखकर न तो डरा और न ही आश्चर्यचकित हुआ अर्थात् यह कोई विशेष शक्ति सम्पन्न मनुष्य है। ।।७।।

दामोदरः-

किमेतद् भो ! भयं नाम भवतोऽद्य मया श्रुतम् ।
भीतानामभयं दातुं समुत्पन्नो महीतले ।।८।।

पर्यायवाचिशब्दाः- अद्य = इदानीम् । **भवतः** = त्वत्तः । **श्रुतम्** = आकर्णितम् । **समुत्पन्नः** = प्रादुर्भूतः ।
अर्थः- दामोदर - अरे, यह क्या आज मेरे द्वारा भय का नाम तुम्हीं से सुना गया है । भयभीत व्यक्तियों को अभय देने के लिए ही मैं पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ हूँ अर्थात् मेरा जन्म दुष्टों के विनाश के लिये ही हुआ है ।।८।।

अरिष्टर्षभः- भो ! बालस्त्वम् । अतः खलु भयं न जानासि । दामोदरः- भो गोवृषाधम ! कि

बाल इति मां प्रधर्षयसि ।

अरिष्टर्षभ - तू बालक है ? इसीलिए तू भय नहीं जानता । दामोदर -- अरे नीच गोवृषभ ! क्या मुझे बालक कहकर मेरी निन्दा करता है ?

किं दष्टः कृष्णसर्पेण बालेन न निहन्यते।
बालेन हि पुरा क्रौञ्चः स्कन्देन निधनं गतः ॥९॥

पर्यायवाचिशब्दाः- दष्टः = दंशितः । **निहन्यते** = न म्रियते । **स्कन्धेन** = कुमारेण । **निधनं गतः** = विदारितः ।

अर्थः- क्या काले (विषैले) सर्प-शिशु के डसने पर कोई मरता नहीं ? पहले बालक कुमार द्वारा ही क्रौञ्च असुर का वध हुआ था अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण ने ही बाल्यावस्था में पर्वत रूप धारण करने वाले क्रौञ्च नामक असुर का वध किया था ॥९॥

भवितव्यम् । ऐसा होना चाहिए ।

अपीदं शृणु मूर्ख ! त्वं कठिनोपलसञ्चयः ।
किं न पल्लवमात्रेण शैलो वज्रेण पातितः ॥१०॥

पर्यायवाचिशब्दाः- शृणु = आकर्णय । **वज्रेण** = कुलिशेन । **उपलानाम्** = प्रस्तराणाम् ।

शैलः = गिरिः ।

पदविग्रहः - कठिनोपलसञ्चयः = कठिनानाम् उपलानां सञ्चयः यस्मिन् सः ।

अर्थः- अरे मूर्ख सुन ! कठिन पत्थरों से बने हुए पर्वत को पल्लव (पत्ते) के समान वज्र से नहीं गिराया गया था (क्या) ? ॥१०॥

अरिष्टर्षभः- भो नन्दगोपपुत्र ! कि व्यवसितम् । दामोदरः- त्वां निधनमुपनेतुम् । अरिष्टर्षभः- समर्थो भवान् । दामोदरः- कः संशयः । अरिष्टर्षभः- तेन हि गृह्यतां स्वजातिसदृशं प्रहरणम् । दामोदरः- प्रहरणमिति । हं भोः -

अरिष्टर्षभ - रे नन्दगोप पुत्र ! क्या सोचा है ? दामोदर - तुम्हें मारने के लिए । अरिष्टर्षभ - समर्थ हो तुम ? दामोदर - (इसमें) संशय क्या ? अरिष्टर्षभ - तो अपनी जाति के अनुकूल शस्त्र लो । दामोदर - शस्त्र ? **अरे हे -**

गिरितटकठिनांसावेव बाहू मर्मतौ
प्रहरणमपरं तु त्वादृशां दुर्बलानाम् ।
अथ मम भुजदण्डैः पीड्यमानश्च शीघ्रं
यदि न पतसि भूमौ नास्मि दामोदरोऽहम् ॥११॥

पर्यायवाचिशब्दाः- अंसौ = उभौ भुजौ । **अपरम्** = अन्यत् । **भुजदण्डैः** = दोर्दण्डैः । **शीघ्रम्** = द्राक् ।

पदविग्रहः - गिरितटकठिनांसौ = गिरितटयोरिव कठिनौ अंसौ ययोस्तौ ।

अर्थः- पर्वत के अधोभाग के समान कठिन दोनों कन्धे वाले ही मेरे भुजा शस्त्र हैं पर तुम जैसे दुर्बलों के लिए दूसरा शस्त्र है। यदि मेरी भुजा से चूर्णित होकर तू शीघ्र ही भूमि पर नहीं गिरेगा तो मेरा नाम दामोदर नहीं ।।११।।

अरिष्टर्षभः- तेन हि प्रवर्ततां युद्धम् । दामोदरः- भो गोवृषाधम ! यदि ते शक्तिरस्ति, मां पादेनैकेन स्थितं स्थानात् कम्पय । अरिष्टर्षभः- कोऽत्र संशयः (तथा कर्तुं चेष्टयित्वा मूर्च्छितः पतति ।) दामोदरः- भो गोवृष ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि । अनेन वीर्येण भवान् गर्वितः।

अरिष्टर्षभः- (आश्वस्य, आत्मगतम्) अहो दुष्प्रसह्योऽयं बालः ।

अरिष्टर्षभ - तो युद्ध प्रारम्भ करो । दामोदर- अरे, नीच गोवृषभ ! यदि तुम में शक्ति है तो पृथ्वी पर रखे हुए मेरे पैर को हिला दो । अरिष्टर्षभ - इसमें क्या संदेह है। (वैसा करने की चेष्टा करके मूर्छित होकर गिर पड़ता है।) दामोदर - हे गोवृषभ ! धैर्य धारण करो, धैर्य धारण करो । इसी पराक्रम पर आप गर्वित थे । अरिष्टर्षभ- (धैर्य धारण करके, थोड़ा श्वास लेकर) - इस वालक का सामना करना बड़ा कठिन है ।

रुद्रो वाऽयं भवेच्छक्रो विष्णुर्वापि स्वयं भवेत् ।
अमिथ्या खलु मे तर्कः स एव पुरुषोत्तमः ।।१२।।

अर्थः- चाहे शंकर हों, इन्द्र हों अथवा स्वयं विष्णु भगवान् हो मेरा तर्क-वितर्क करना व्यर्थ है यह पुरुषोत्तम ही हैं ।। १२ ।।

आ,

यत्र यत्र वयं जातास्तत्र तत्र त्रिलोकधृत् ।
दानवानां वधार्थाय वर्तते मधुसूदनः ।।१३।।

पर्यायवाचिशब्दाः- जाताः = उत्पन्नाः । **मधुम्** = मधुनामानं राक्षसम् । **सूदयति** = विनाशयति।
पदविग्रहः - त्रिलोकधृत् = त्रिलोकान् धरतीति । **मधुसूदनः** = मधुं सूदयति ।

अर्थः- अरे ! जहाँ-जहाँ हम असुर उत्पन्न हुए वहाँ-वहाँ हम लोगों (साधु पुरुषों) के लिए स्वयं त्रिलोकी रक्षक मधुसूदन भी उत्पन्न हुए ।।१३।।

भवतु। विष्णुना हतस्याप्यक्षयो लोको मे भविष्यति। तस्माद् युद्धं करिष्यामि । (प्रकाशम्) भो नन्दगोपपुत्र। पुनरवि जातो में दर्पः। दामोदरः- हम् । तिष्ठ तिष्ठेदानीम्।
अच्छा । विष्णु के द्वारा मारे जाने पर अमर लोक की प्राप्ति होगी । इसलिए युद्ध करूँगा । (प्रकाश में) हे नन्दकुमार ! मुझे पुनः अहंकार हो गया है । दामोदर - हुं हुं : ठहरो ठहरो अभी

किं गर्जसे भुजगतो मम गोवृषेन्द्र !
पातप्रवृद्ध इव वार्षिककालमेघः ।
एहि क्षिपामि धरणीतलमभ्युपेहि
वज्राहतस्तट इवाञ्जनपर्वतस्य ।।१४।।

पर्यायवाचिशब्दाः- पातेन = जलवर्षणेन । **मेघः** = अम्बुदः । **भुजगतः** = बाहुमध्यगतः । **क्षिपामि** = पातयामि । **अञ्जनपर्वतस्य** = कज्जलगिरेः । **अभ्युपेहि** = प्राप्नुहि ।
पदविग्रहः - पातप्रवृद्धः = पातेन प्रवृद्धः । **वार्षिककालमेघः** = वर्षायां भवः स चासौ कालश्च तस्मिन् मेघः । **वज्राहतः** = वज्रेणाहतः ।

अर्थः- रे अरिष्टर्षभ, वर्षा काल में उमड़ते हुए बादल की तरह मेरी भुजाओं में पड़ा हुआ कैसा गर्जन करता है । आओ तुम्हें मैं पृथ्वीपर गिराकर वज्र से आहत कज्जल पर्वत की भाँति खण्ड कर डालूं अर्थात् भगवान कृष्ण ने उस अरिष्टर्षभ नामक राक्षस को अपनी भुजाओं में दबा लिया जिसके कारण जोर-जोर से चिल्लाने लगा फिर भगवान कृष्ण ने उसको जोर से धरती पर पटक कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये ।।१४।।

(तथा कृत्वा) एष एष दुरात्मारिष्टर्षभः - (वैसा करके) अरे, यह, यह पापी अरिष्टर्षभ,

विसृतरुधिरधाराक्लिन्ननासास्यनेत्रं
चलितककुदवालः प्रस्फुरत्पादकर्णः ।
निपतति विगतात्मा भूतले वज्रभिन्नो
गिरिरिव शिखराग्रैर्गोवृषो दानवेन्द्रः ।।१५।।

पर्यायवाचिशब्दाः- विसृता = प्रसृता । **रुधिरधारा** = रक्तश्रेणी । **क्लिन्नम्** = आर्द्रम् । **नासास्यनेत्रम्**

= नासिकामुखनयनम् । **चलिताः** = प्रकम्पिताः । **ककुदवालाः** = वृषाङ्कचाः । **भिन्नः** = खण्डितः।

पदविग्रहः - विसृतरुधिरधाराक्लिन्ननासास्यनेत्रम् = विसृता रुधिरधारा तया क्लिन्नं नासास्यनेत्रम्। **चलितककुदवालः** = चलिताः ककुदवालाः यस्य सः । **प्रस्फुरत्पादकर्णः** = प्रस्फुरन्तौ पादौ कर्णौ यस्य सः ।

अर्थः- रुधिर की धारा से इसका मुख, नासिका और नेत्र तर हो रहे हैं । वृषांग के बाल थरथरा रहे हैं । पैर और कान कांप रहे हैं । यह दैत्यराज वृषभश्रेष्ठ वज्र से आहत चोटी वाले पर्वत की भाँति पृथ्वी पर गिरता है ।। १५।।

(प्रविश्य)

दामकः- जयतु भर्ता । एष भर्ता संकर्षणः ''पर्वताद् यमुनाह्रदे कालियो नाम महानाग उत्थित'' इति श्रुत्वा तं प्रति गतः । वारय वारय भर्तः ! संकर्षणम् । दामोदरः- कालियो नाम मयापि श्रूयते सदर्पः पन्नगपतिः । भवत्वहमस्य दर्पप्रशमनं करोमि ।

(प्रवेश करके)

दामक - स्वामी की जय हो । यह स्वामी आपके भाई संकर्षण'' यमुना नदी में कालिय नामक महानाग उठा है'' ऐसा सुनकर पर्वत से वहीं गए हैं । रोकिये, स्वामिन् संकर्षण को रोकिये । दामोदर - मैंने भी कालिय नामक महा अहंकारी सर्पराज के बारे में सुना है । अच्छा, मैं इसका दर्प चूर्ण करता हूँ ।

गोब्राह्मणादयस्तेन सुजूष्यन्ते किल प्रजाः ।
अद्यप्रभृति शान्तात्मा निष्प्रभः स भविष्यति ।। १६ ।।

पर्यायवाचिशब्दाः- सुजूष्यन्ते = व्यथिता भवन्ति । **शान्तः** = दर्परहितः।

अर्थः- वह (कालिय नाग) गो, ब्राह्मण आदि प्रजाओं को कष्ट देता है (अतः) आज से प्रभारहित और (दर्परहित) शान्त हो जायगा अर्थात् आज मैं उसकी शक्ति को पराजित कर उसके घमण्ड को चूर-चूर कर दूँगा ।।१६।।

(निष्क्रान्तौ) । (ततः प्रविशन्ति गोपकन्यकाः ।)

सर्वाः- मा खलु मा खलु भर्तः ! एतं जलाशयं प्रवेष्टुम् । एषः खलु दुष्टमहोरगकुलावासः।

दामोदरः- न खलु न खलु विषादः कार्यः । पश्यन्तु भवत्यः ।

(गोपकुमारियों का प्रवेश)

सब - ऐसा न करना स्वामिन्, ऐसा न करना । जलाशय में प्रवेश न करना । यह क्रोधी महानाग के कुल का निवास स्थान है । दामोदर - नहीं । देखें, आप चिन्ता न करें ।

स्मरणीय बिंदु

- गोकुल का निरोग होना: नन्दगोप के घर बालक के जन्म के दिन से ही समस्त गोधन निरोग हो गया, लताओं में फल लग गए और दूध दुहते ही ऊपर मक्खन आने लगा।
- पूतना व शकट वध: मात्र दस दिन के बालक ने विषयुक्त स्तनों वाली पूतना का और एक मास की आयु में पैर के प्रहार से शकट दानव का समूल चूर्ण कर वध किया।
- यमलार्जुन उद्धार: माता यशोदा द्वारा ओखली में बाँधे जाने पर दामोदर ने ओखली को घसीटते हुए यमल और अर्जुन नामक वृक्ष रूपी दानवों को उखाड़कर मुक्त किया।
- अरिष्टवृषभ का आतंक: संहार का पुंज बना अरिष्ट नामक बैल रूपी दानव अपने खुरों से भूमि खोदता और मेघ के समान भयंकर गर्जना कर गोकुल को डरा रहा था।
- असुर का गर्व चूर करना: दामोदर ने अरिष्टवृषभ को अपनी वज्र जैसी भुजाओं के पाश में दबाकर धरती पर पटका, जिससे उसके मुख और नासिका से रुधिर की धारा बह निकली और वह मृत हो गया।

विशेष शब्द

- विषसम्पूरितस्तना: जिसके स्तन क्रूरतापूर्वक प्राण लेने वाले भयानक विष से पूरी तरह भरे हों
- समूलविटपं: वृक्ष को उसकी मजबूत जड़ों और टहनियों सहित पूरी तरह उखाड़ फेंकना
- पिण्डीकृतनिर्घातरूपो: साक्षात् विनाश या प्रलय के एकत्रित घनीभूत भयंकर स्वरूप जैसा
- कठिनोपलसञ्चय:: अत्यंत कठोर और सुदृढ़ पत्थरों के बड़े-बड़े समूहों से निर्मित
- विसृतरुधिरधारा: शरीर के अंगों से फूटकर बहने वाली अत्यधिक रक्त या खून की धारा

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 गोकुल में दामोदर (श्रीकृष्ण) द्वारा बाल्यावस्था में किए गए विविध असुर वधों (पूतना, शकट, प्रलम्ब, धेनुक, केशी) की कथा और उनके नामकरण की सार्थकता स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न-2 अरिष्टवृषभ दानव और दामोदर के मध्य हुए वाक्-युद्ध तथा युद्ध के अंत में बैल के मस्तक और नासिका से रुधिर बहने के शास्त्रीय प्रसंग का सविस्तार वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 वृद्ध गोपालक के अनुसार सूर्य उदय होने से पूर्व संपूर्ण विश्व की माता रूपी गायों को किस भाव से नमस्कार करना चाहिए।

प्रश्न-2 दामोदर को देखकर अरिष्टवृषभ के मन में क्या तर्क उत्पन्न हुआ कि यह बालक साक्षात् पुरुषोत्तम है।

प्रश्न-3 किं दष्ट: कृष्णसर्पेण बालेन न निहन्यते सूक्ति के माध्यम से श्रीकृष्ण ने बालक कहे जाने पर क्या तर्क दिया।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. नन्दगोप कुमार के जन्म के दसवें दिन गोकुल में यशोदा का छद्मवेष धारण करके कौन सी भयंकर दानवी आई थी?

1) पूतना

2) सिंहिका

3) ताड़का

4) शूर्पणखा

2. दामोदर ने बाल्यावस्था में केवल एक महीने की आयु में किस दानव को अपने एक पैर के प्रहार से चूर कर दिया था?

1) प्रलम्ब

2) धेनुक

3) शकट दानव को

4) केशी

3. ओखली से घसीटते हुए समूल नष्ट किए गए यमल और अर्जुन नामक वृक्षों के उद्धार के बाद गोपालकों ने कृष्ण का क्या नाम रखा?

1) नारायण

2) भर्तृ दामोदर

3) मधुसूदन

4) अरिष्टहन्ता

4. गधे (गर्दभ) का वेष धारण कर तालवन में ग्वालों पर आक्रमण करने वाले कंस के किस अनुचर को बलराम ने भूमि पर दे पटका था?

1) प्रलम्ब

2) केशी

3) धेनुक दानव को

4) अरिष्ट

5. घोड़े (तुरङ्ग) का वेष बनाकर आए केशी नामक दानव के मुख के भीतर दामोदर ने अपने शरीर का कौन सा अंग डालकर उसे दो टुकड़े कर दिया?

1) चरण

2) कूर्परो (केहुनी/कोहनी)

3) मुष्टि

4) अंगूठा

6. भीतानामभयं दातुं समुत्पन्नो महीतले यह उद्घोष नाटक के अनुसार किस पात्र का है?

1) संकर्षण

2) दामोदर का

3) नन्दगोप

4) वृद्धगोपालक

7. कुमार (स्कन्द/कार्तिकेय) ने बाल्यावस्था में ही खेल-खेल में किस महाबली असुर का वध किया था?

1) क्रौञ्च असुर का

2) अरिष्ट का

3) पूतना का

4) कालिय का

8. वज्र के प्रहार से पल्लव (पत्ते) के समान गिराए जाने वाले कठिन पत्थरों के संचय को श्लोक मंप क्या कहा गया है?

1) शैलो (शैल/पर्वत)

2) उपलः

3) कूलम्

4) ग्राह

9. अरिष्टवृषभ को भूमि पर पटकते समय दामोदर ने उसकी तुलना वज्र से आहत किस पर्वत के शिखर से की है?

1) मन्दराचल

2) विन्ध्याचल

3) अञ्जनपर्वत (कज्जल गिरि) से

4) गोवर्धन

10. मधुसूदनः पद का विग्रह और पाठ के अनुसार अर्थ क्या है?

1) मधु नामक राक्षस का विनाश करने वाले

2) शहद का संग्रह करने वाले

3) कालिया को वश में करने वाले

4) गरुड़ की सवारी करने वाले

इकाई-4
कालिय नाग का मान-मर्दन और कंस वध की प्रतिज्ञा

निष्पक्षिव्यालयूथं भयचकितकरिव्रातविप्रेक्षिताम्भो
गम्भीरं स्निग्धनीरं ह्रदमुदधिनिभं क्षोभयन् सम्प्रविश्य ।
गोपीभिः शङ्कितामिः प्रियहितवचनैः पेशलैर्वार्यमाणः
कालिन्दीवासरक्तं भुजगमतिबलं कालियं धर्षयामि ।।२।।

पर्यायवाचिशब्दाः- **पक्षिणाम्** = विहगानाम् । **व्यालानाम्** = श्वापदानाम् । **करिव्रातेन** = हस्तिसमूहेन। **विप्रेक्षितम्** = अवलोकितम् । **स्निग्धम्** = मसृणम् । **गोपीभिः** = गोपाङ्गनाभिः । **वार्यमाणः** = निषिद्ध्यमानः । **रक्तम्** = अनुरक्तम् । **धर्षयामि** = हठान्निष्कासयामि ।

पदविग्रहः - **निष्पक्षिव्यालयूथम्** = निर्गतानि पक्षिणां व्यालानां यूथानि यस्मिन् तत् । **भयचकितकरिव्रातविप्रेक्षिताम्भः** = भयचकितेन करिव्रातेन विप्रेक्षितम् अम्भः यस्य तत् । **प्रियहितवचनैः** = प्रियाणि हितानि वचनानि तैः । **पेशलैर्वार्यमाणः** = गोपीभिः वार्यमाणः । **कालिन्दीवासरक्तम्** = कालिन्द्यां वासः तस्मिन् रक्तम् ।

अर्थः- पक्षी और पशुओं के समूह से रहित, भयचंचल हाथियों के समूह द्वारा जिसका अगाध और स्वच्छ जल देखा जाता है, अर्थात् कोई वन्य प्राणी उस जलाशय में प्रवेश नहीं करता है। उस समुद्र के समान जलाशय में दामोदर भगवान कृष्ण प्रवेश करके उसके जल को क्षुब्ध करते हुए, भयशंकित गोपियों के द्वारा मधुर कल्याणकारी वचनों से अनेक प्रकार से मना किए जाने पर भी, कहते है कि मैं यमुना में निवास करने वाले महापराक्रमी कालिय नाग को बलपूर्वक निकाल फेकूंगा ।।२।।

सर्वाः- भर्तः । संकर्षण ! वारय वारय भर्तृदामोदरम् ।
सब - स्वामिन् ! संकर्षण ! रोको भाई दामोदर को रोको ।

(प्रविश्य) सङ्कर्षणः- अलमलं भयविषादाभ्याम् । दर्शितोऽनुरागः । पश्यन्तु भवत्यः ।
(प्रवेश करके) संकर्षण- आप लोग भय और दुख न करें। तुम्हारा प्रेम देख लिया है । आप देखें ।

विषदहनशिखाभिर्यन्मुखात् प्रोद्गताभिः
कपिशितमशिवाभिश्चक्रवालं दिशानाम्।
सरभसमभियान्तं कृष्णमालक्ष्य शङ्की
नमयति शिरसान्तर्मण्डलं चण्डनागः ।।३।।

पर्यायवाचिशब्दाः- प्रोद्गताभिः = निःसृताभिः । **अशिवाभिः** = अकल्याणकारिणीभिः । **विषम्** = गरलम् । **दहनः** = अनलः । **चक्रवालम्** = मण्डलम् । **कपिशितम्** = कृष्णलोहितम् । **चण्डनागः** = क्रुद्धसर्पः । **सरभसम्** = वेगसहितम् । **नमयति** = नम्रीकरोति ।

पदविग्रहः - विषदहनशिखाभिः = विषं एव दहनः तस्य शिखाः ताभिः । **यन्मुखात्** = यस्य (कालियस्य) मुखं तस्मात् ।

अर्थः- जिस कालिय नाग के मुख से निकलने वाले प्राणघातक विष की प्रचण्ड ज्वालाओं से सारी दिशाएं लाल हो रही हैं वह क्रुद्ध सर्प कृष्ण को जल्दी-जल्दी अपनी ओर आते हुए देख कर, भय की आशंका से अपने फणों को नीचा कर रहा है ।।३।।

दामोदरः- सर्वप्रजाहितार्थं द्रुततरं नागं मे वशं करोमि (इति ह्रदं प्रविष्टः) । सर्वाः-हा ! हा! धूम उत्थितः। दामोदरः- अहो ह्रदस्य गाम्भीर्यम् । इह हि,

दामोदर - सारे प्राणियों के हित के लिए मैं नाग को शीघ्र ही वश में करता हूँ ।

(तालाब में प्रवेश करता है) सब - हाय ! हाय ! धुआं उठ रहा है । दामोदर - अये, यह तालाब की इतनी गहराई ! यहाँ तो,

सितेतराभुग्नदुकूलकान्तिद्रुतेन्द्रनीलप्रतिमानवीचिम्।
इमामहं कालियधूमधूम्नां सान्तर्विषाग्निं यमुनां करोमि ।।४।।

पर्यायवाचिशब्दाः- सितेतरेण = कृष्णकान्तिना । **आभुग्नम्** = संमिश्रम् । **दुकूलम्** = क्षौमम् । **द्रुतस्य** = द्रवीभूतस्य। **प्रतिमाना** = तुल्या । **वीचि** = तरंगः । **यमुनाम्** = कालिन्दीम् । **करोमि** = विदधामि ।

पदविग्रहः - सितेतराभुग्नदुकूलकान्तिद्रुतेन्द्रनीलप्रतिमानवीचिम् = सितेतरेण आभुग्नं यद् दुकूलमं तस्य कान्तिः यस्याः सा तथा द्रुतस्य इन्द्रनीलस्य प्रतिमाना वीचिः यस्याः सा ताम् । **कालियधूमधूम्नाम्** = कालियेन निःसृतो यो धूमः तेन धूम्रः वर्णः यस्याः ताम् । **सान्तर्विषाग्निम्** = अन्तः (मध्ये) विषाग्निना सहितां ताम् ।

अर्थः- विष की अग्नि से व्याप्त तथा कालिय के धुएँ से धूमिल रंग वाली इस यमुना को मैं शीघ्र ही इन्द्रनील मणि के समान नीली छवियुक्त लम्बी तरंगों वाली करूँगा अर्थात् दामोदर कहते है कि शीघ्र ही वह कालिन्दी के जल को कालिय नाग के आतंक से मुक्त करायेंगे ।।४।।

(ततः प्रविशति वृद्धगोपालकः ।)

वृद्धगोपालकः- आरुह्यावलोक्य (हा भर्तः ! एष कन्यकाभिर्वार्यमाणो यमुनाह्रदं प्रविष्टः । मा खलु मा खलु साहसं कृत्वा प्रवेष्टुम् । अत्र व्याघ्रा वराहा हस्तिनः पानीयं पीत्वा तत्र तत्रैव

विम्रियन्ते । कथं न दृश्यते । किमिदानीं करोमि । भवतु, इमं तावत् कुम्भपलाशमारुह्य निध्यायामि। हा हा धूम उत्थितः।)

(वृद्ध गोपालक का प्रवेश) वृद्धगोपालक - हा स्वामी ! गोपकुमारियों के द्वारा बारम्बार मना किये जाने पर भी यह कृष्ण यमुना नदी में घुस गया ! नहीं, प्रवेश करने का साहस न करो । बाघ, सुअर और हाथी इसके जल को पीकर वहीं मर जाते हैं । क्या देखते नहीं ? इस समय मैं क्या करूं ? अच्छा मैं पलाश के पेड़ पर चढ़- कर ध्यान करूंगा । चढ़कर हाय हाय धुआं उठ रहा है।

सङ्कर्षणः- पश्यन्तु भवत्यः । संकर्षण - अरे, तुम देखो ।

दामोदरोऽयं परिगृह्य नागं विक्षोभ्य तोयं च समूलमस्य।
भोगे स्थितो नीलभुजङ्गमस्य मेघे स्थितः शक्र इवावभाति।। ५।।

पर्यायवाचिशब्दाः- दामोदरः = श्रीकृष्णः । **परिगृह्य** =करे धृत्वा । **विक्षोभ्य** = विलोड्य । **तोयम्** = जलम् । **भोगे** = मस्तके फणे वा । **स्थितः** = उपविष्टः । **मेघे** = बलाहके । **अवभाति** = शोभते ।

अर्थः- यह दामोदर तो नाग को पकड़ कर और इस यमुना नदी के सम्पूर्ण जल को मथकर, नीले सर्प के फण पर इस प्रकार विराजमान मालूम पड़ता है जैसे बादल पर इन्द्र भगवान विराजमान दिखाई पड़ते है। ।। ५ ।।

वृद्धगोपालकः- ही ही साधु भर्तः ! साधु । ततः प्रविशति कालियं गृहीत्वा दामोदरः ।

वृद्धगोपालक - हा, हा ! बहुत ठीक किया स्वामिन् ! बहुत ठीक किया ।

(कालिय को पकड़ कर दामोदर का प्रवेश)

दामोदरः - एष भोः । दामोदर - अरे यह -

निर्भत्स्ये कालियमहं परिविस्फुरन्तं
मूर्धाञ्चितैकचरणश्चलबाहुकेतुः।
भोगे विषोल्बणफणस्य महोरगस्य
हल्लीसकं सललितं रुचिरं वहामि ।।६।।

पर्यायवाचिशब्दाः- विस्फुरन्तम् = देदीप्यमानम् । **निर्भत्स्य** = तिरस्कृत्य । **उल्बणाः** = उग्राः ।

पदविग्रहः - परिविस्फुरन्तम् = परितः विस्फुरन्तम् । **मूर्धाञ्चितैकचरणः** = मूर्ध्नि अञ्चितम् एकचरणं यस्य सः । **चलबाहुकेतुः** = चलः (चञ्चलः) बाहुरेव केतुः यस्य सः । **विषोल्बणफणस्य** = विषेण उल्बणाः फणाः यस्य तस्य । **महोरगस्य** = महांश्चासावुरगः तस्य ।

अर्थः- उग्र कालिय नाग का तिरस्कार करके अर्थात् उसका मान मर्दन करके, मस्तक पर एक पैर रखकर, चञ्चल भुजाओं को ही ध्वजा बनाकर, गरल से उग्र फण वाले इस महासर्प के फणों के ऊपर मैं सविलास, सुन्दर हल्लीसक नृत्य करता हूँ अर्थात् इतनी विषम परिस्थितियों में भी सहज और प्रसन्न रहने की प्रेरणा भगवान श्रीकृष्ण हम सभी को दे रहे हैं ।।६।।

सर्वाः - आश्चर्य भर्तः ! आश्चर्यम् । कालियस्य पञ्च फणानाक्रामन् हल्लीसकं प्रक्रीडति।
दामोदरः- यावदहमपि पुष्पाण्यपचिनोमि ।
सब - आश्चर्य स्वामिन् ! आश्चर्य । कालिय के पाँचों फणों पर यह हल्लीसक नृत्य कर रहा है।
दामोदर - मैं अभी पुष्प चुनूंगा ।

कालियः - आः, कालिय- अरे,

लोकालोकमहीधरेण भुवनाभोगं यथा मन्दरं
शैलं शर्वधनुर्गुणेन फणिना यद्वच्च यादोनिधौ।
स्थूलाखण्डलहस्तिहस्तकठिनो भोगेन संवेष्टितं
त्वामेव त्रिदशाधिवासमधुना सम्प्रेषयामि क्षणात् ।।७।।

पर्यायवाचिशब्दाः- आभोगम् = परिपूर्णताम् । **यादांसि** = जलजन्तवः । **निधिः** = आकरः । **गुणः** = रज्जुः । **आखण्डलस्य** = इन्द्रस्य । **हस्तः** = शुण्डः । **भोगेन** = स्वफणेन । **क्षणात्** = लवानन्तरमेव। **त्रिदशस्य** = यमस्य ।
पदविग्रहः - लोकालोकमहीधरेण = लोकश्च अलोकश्च स चासौ महीधरश्च तेन। **भुवनाभोगम्** = भुवनस्य आभोगम् । **शर्वधनुर्गुणेन** = शर्वस्य (शङ्करस्य) धनुषः गुणः तेन । **यादोनिधौ** = यादांसि तेषां निधिः तस्मिन् । **स्थूलाखण्डलहस्तिहस्तकठिनो** = स्थूलः आखण्डलस्य हस्ती तस्य हस्तः तद्वत् कठिनः । **त्रिदशाधिवासम्** = त्रिदशस्य अधिवासम् ।

अर्थः- दामोदर को देखकर कालिय नाग गर्जना करता है कि - जैसे लोकालोक पर्वतों ने सारे भुवनों को घेर रखा है तथा जिस प्रकार से (समुद्रमन्थन के समय) समुद्र में शंकर के धनुष के प्रत्यंचाभूत शेष नाग ने मन्दराचल पर्वत को लपेट लिया था उसी प्रकर से आज मैं महान ऐरावत की सूंड़ की भांति कठिन अपने फण से तुम्हें लपेटकर क्षण भर में ही यम के घर भेज दूंगा ।।७।।

दामोदरः-

विध्वस्तमीनमकराद् यमुनाह्रदान्ताद्
दर्पोच्छ्रयेण महता दृढमुच्छ्वसन्तम् ।
आशीविषं कलुषमायतवृत्तभोगम्-
एष प्रसह्य सहसा भुवि विक्षिपामि ॥८॥

पर्यायवाचिशब्दाः- मीनाः = मत्स्याः । **मकराः** =नक्राः । **दर्पस्य** = अवलेपस्य । **उच्छ्रयः** = आधिक्यः । **उच्छ्वसन्तम्** = निश्वसन्तम् । **कलुषम्** = दुष्टम् । **आशीविषम्** = सर्पम् । **आयतः** = प्रसारितः । **वृत्तः** = वर्तुलः । **भोगः** = फटा । **प्रसह्य** = हठात् ।

पदविग्रहः - विध्वस्तमीनमकराद् = विध्वस्ताः मीनाः मकराः यस्मात् । **यमुनाह्रदान्ताद्** = यमुनायाः ह्रदः तस्य अन्तः तस्मात् । **दर्पोच्छ्रयेण** = दर्पस्य उच्छ्रयः तेन । **आयतवृत्तभोगम्** = आयतः वृत्तः वर्तुलो भोगः यस्य तम् ।

अर्थः- दामोदर - कालिय नाग के विष से मछली और मगरमच्छ का भी विनाश हो गया है। अतः उस यमुना नद के भीतर से, बड़े गर्व से फुंकार और तेज उच्छ्वास छोड़ने वाले, अपने चौड़े फण को फैलाने वाले, दुष्ट कालियनाग को मैं हठपूर्वक शीघ्र ही पृथ्वी पर निकाल फेकूंगा ॥८॥

कालियः- एष भोः !
रोषेण धूमायति यस्य देहस्तेनैव दाहं पृथिवी प्रयाति ।
ज्वालावलीभिः प्रदहामि सोऽहं रक्षन्तु लोकाः समरुद्गणास्त्वाम् ॥९॥

पर्यायवाचिशब्दाः- पृथिवी = मेदिनी । **अवल्यः** = श्रेणयः ।
पदविग्रहः - धूमायति = धूम इव आचरति । **ज्वालावलीभिः** = ज्वालानाम् अवल्यः ताभिः ।

अर्थः- दामोदरः- कालिय ! यदि ते शक्तिरस्ति, दह्यतां ममैको भुजः।
दामोदर - कालिय यदि तुममें शक्ति हो तो मेरे एक हाथ को जला दो ।

कालियः- हहह, कालिय- अरे -
चतुःसागरपर्यन्तां ससप्तकुलपर्वताम् ।
दहेयं पृथिवीं कृत्स्नां किं भुजं न दहामि ते ॥१०॥

पर्यायवाचिशब्दाः- पर्यन्तः = अवधिः । **पृथिवीम्** = महीम् । **कृत्स्नाम्** = अशेषाम् ।
पदविग्रहः - चतुःसागरपर्यन्ताम् = चत्वारः सागराः पर्यन्तः यस्यास्ताम् । **ससप्तकुलपर्वताम्** =

सप्तमुख्यगिरिणां सहिताम् ।

अर्थः- गर्वोक्ति के साथ कालिय नाग अपनी शक्ति का वर्णन करते हुए कहता है कि सात पर्वतों से युक्त चार समुद्रों तक फैली हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वी को जला सकता हूँ तो फिर क्या तुम्हारी एक भुजा को नहीं जला सकता ? ।।१०।।

हं. तिष्ठेदानीम् । एष त्वां भस्मीकरोमि । (विषाग्नि मुञ्चति)
दामोदरः- हन्त दर्शितं ते वीर्यम् । कालियः- प्रसीदतु प्रसीदतु भगवान नारायणः ।
दामोदरः- अनेन वीर्येण भवान् गर्वितः । कालियः- प्रसीदतु भगवान् ।

ठहर तो जरा यह तुझे भस्म करता हूँ । (विषाग्नि छोड़ता है)
दामोदर - ओह, तुम्हारे पराक्रम को देख लिया। कालिय - प्रसन्न हों ! भगवान नारायण प्रसन्न हों।
दामोदर - इसी पराक्रम पर आपको इतना गर्व था ?
कालिय - भगवान, प्रसन्न हों-

गोवर्द्धनोद्धरणमप्रतिमप्रभावं
बाहूं सुरेश ? तव मन्दरतुल्यसारम् ।
का शक्तिरस्ति मम दग्धुमिमं सुवीर्यं
यं संश्रितास्त्रिभुवनेश्वर ! सर्वलोकाः ।।११।।

पर्यायवाचिशब्दाः- उद्धरणम् = उत्थापनम् । **सारः** = बलः ।
पदविग्रहः - अप्रतिमप्रभावम् = न विद्यते प्रतिमा यस्य सः तादृशः प्रभावो यस्य तम् ।
गोवर्धनोद्धरणम् = गोवर्धनस्य उद्धरणम् । **मन्दरतुल्यसारम्** = मन्देरेण तुल्य सारः यस्य तम् ।

अर्थः- देवेश ! अनुपम प्रभाव वाले, गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाले, मन्दराचल के समान बल से युक्त आपकी भुजा, जिस भुजा पर सभी लोक आश्रित हैं, हे देवेश ! उसे जलाने की शक्ति मुझमें कहाँ है अर्थात् भगवान के पराक्रम को जानकर उसका घमण्ड चूर-चूर हो जाता है। ।।११।।

भगवन् ! अज्ञानादतिक्रान्तवान्, सान्तःपुरः शरणागतोऽस्मि । दामोदरः- कालिय ! किमर्थमिदानीं यमुनाह्रदं प्रविष्टोऽस्मि । कालियः- भगवतो वरवाहनाद् गरुडाद् भीतोऽहमिह प्रविष्टोऽस्मि। तदिच्छामि गरुडादभयं भगवत्प्रसादात् । दामोदरः- भवतु भवतु ।

हे भगवन् - अज्ञान के कारण मैंने यह भूल की । मैं अपनी रानियों के साथ आपकी शरण में आया है । दामोदर - कालिय किसलिए तुम यमुना नदी में प्रविष्ट हुए हो ? कालिय-- आपके श्रेष्ठ वाहन

गरुड से डरकर ही मैंने यहां प्रवेश किया है । तो मैं आपकी कृपा से गरुड़ के भय से मुक्त होना चाहता हूँ । दामोदर – अच्छा, ऐसा ही होगा।

पादेन नागेन्द्र ! चिह्नितं तव मूर्धनि ।
सुपर्ण एव दृष्ट्वेदमभयं ते प्रदास्यति ॥१२॥

पर्यायवाचिशब्दाः- सुपर्णः = गरुडः । **प्रदास्यति** = अर्पयिष्यति ।

अर्थः- हे सर्पराज, मेरे चरणचिह्नों से चिह्नित तुम्हारे सिर को देख करके ही गरुड़ तुम्हें अभय प्रदान करेंगे ॥ १२॥

कालियः- अनुगृहीतोऽस्मि । दामोदरः- प्रविशतु भवान् । कालियः- यदाज्ञापयति भगवान् नारायणः । दामोदरः- अथवा एहि तावत् । कालियः- भगवन् ! अयमस्मि । दामोदरः- अद्यप्रभृति गोब्राह्मणपुरोगासु सर्वप्रजास्वप्रमादः कर्तव्यः । कालियः- भगवन् ! मद्विषदूषितमिदं जलम् । तदिदानीमेव विषं संहृत्य यमुनाह्लदान्निष्क्रामामि। दामोदरः- प्रतिनिवर्ततां भवान् ।

कालियः- यदाज्ञापयति भगवान् नारायणः ।

कालिय – अनुगृहीत हूँ । दामोदर – आप प्रवेश करें । कालिय – भगवान नारायण की जैसी आज्ञा। दामोदर – अच्छा यहाँ आओ। कालिय – भगवान मैं यह हूँ । दामोदर – आज से लेकर गायों, ब्राह्मणों और प्रजाओं से प्रमाद न करना । कालिय- भगवन् ! यह जल विष से कलुषित हो गया है तो इस समय ही सारा विष लेकर यमुना नद से निकल जाता हूँ । दामोदर – लौट जाओ । कालिय-- जैसी भगवान नारायण की इच्छा ।

भटः- (उपगम्य) भो नन्दगोपपुत्र! अनुगतार्थनामधेयस्य महाराजस्योग्रसेनस्य पुत्रः कंसराजो भवन्तमाज्ञापयति यत् मथुरायां धनुर्महो नाम महोत्सवो भविष्यति। तमनुभवितुं सपरिजनाभ्यां भवद्भ्यामागन्तव्यमिति। सङ्कर्षणः- शीघ्रमिदानीं गमिष्यावः ।

दामोदरः- बाढम् । प्रथमः कल्पः । तथा एवं कृत्वा भगवान् श्रीकृष्णः दैवसंयोगवशात् कंसभयात् सर्वेषां प्राणीनां मुक्त्यै वदति -

भट – (पास जाकर) हे नन्दगोपपुत्र ! सार्थक नाम वाले उग्रसेन महाराज

के पुत्र राजा कंस ने आपको आज्ञा दी है कि मथुरा में महाधनु नामक महोत्सव होगा उसमें आप दोनों भाईयों को परिवार सहित उपस्थित होना चाहिए । संकर्षण – हम दोनों अब शीघ्र चलेंगे ।

दामोदर – बहुत ठीक । उत्तम विचार है । तथा इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण दैवसंयोग को ध्यान में रखकर कंस के आतंक से सभी प्राणियों को मुक्त कराने के लिये कहते हैं –

प्रभ्रष्टरत्नमुकुटं परिकीर्णकेशं
विच्छिन्नहारपतिताङ्गदलम्बसूत्रम्।
आकृष्य कंसमहमद्य दृढं निहन्मि
नागं मृगेन्द्र इव पूर्वकृतावलेपम् ॥१३॥

पर्यायवाचिशब्दा:- प्रभ्रष्टम् = पतितम् । **परिकीर्णाः** = विसृताः । **केशाः** = कचाः । **हारः** = मुक्तावली । **अङ्गदम्** = केयूरम् । **नागम्** = करिणम् । **निहन्मि** = घातयामि ।

पदविग्रहः - प्रभ्रष्टरत्नमुकुटम् = प्रभ्रष्टं रत्नमुकुटं यस्य तम् । **परिकीर्णकेशम्** = परिकीर्णाः केशाः यस्य तम् । **विच्छिन्नहारपतिताङ्गदलम्बसूत्रम्** = विच्छिन्नो हारो यस्य स च पतितं अङ्गदं लम्बं सूत्रं यस्य तम् । **पूर्वकृतावलेपम्** = प्राक्कृतो अवलेपः येन तम् ।

अर्थः- जिसका रत्नखचित मुकुट गिर गया है, जिसके केश बिखर गए हैं, मुक्तावली टूट गई है, केयूर गिर गए हैं, उस कंस को सिंहासन से खींच कर मैं वैसे ही मारूँगा जैसे गर्वीले हाथी को सिंह मारता है ।। १३ ।। **(सपरिजनो निष्क्रान्तः।)**

स्मरणीय बिंदु

- कालिया का आतंकः यमुना के अगाध जलाशय में निवास करने वाला कालीय नाग अपने मुख की विषाग्नि की ज्वालाओं से दिशाओं को लाल कर गो-ब्राह्मण प्रजा को कष्ट देता था
- ह्रद प्रवेशः गोपियों और वृद्धगोपालक के मना करने पर भी दामोदर समस्त प्राणियों के हितार्थ अत्यंत गहरे और विषैले यमुनाह्रद (तालाब) में कूद जाते हैं
- हल्लीसक नृत्यः नाग के मान-मर्दन हेतु दामोदर उसके पाँचों उग्र फणों पर पैर रखकर अत्यंत विलासपूर्ण व सुंदर हल्लीसक नृत्य करते हैं
- नाग की शरणागतिः श्रीकृष्ण के गोवर्धनधारी और अनुपम प्रभाव वाले मन्दरतुल्य बाहुबल को पहचानकर कालिया अपनी रानियों सहित प्रभु की शरण में आता है
- मथुरा धनुर्महोत्सवः कंस का दूत भट आकर सूचित करता है कि महाराज उग्रसेन के पुत्र राजा कंस ने दोनों भाइयों को सपरिजनों सहित मथुरा के धनुर्महोत्सव में आमंत्रित किया है

विशेष शब्द

- कपिशितमशिवाभिश्चक्रवालंः प्राणघातक अशुभ विष की ज्वालाओं से दिशाओं के मण्डल का काला-लाल होना।
- सितेतराभुग्नदुकूलकान्तिः काले और नीले रेशमी वस्त्रों की मिश्रित आभा जैसी तरंगों से युक्त।
- मूर्धाञ्चितैकचरणश्चलबाहुकेतु:: नाग के मस्तक पर एक पैर टिकाए तथा अपनी चंचल भुजाओं को ही ध्वजा बनाए हुए।
- प्रभ्रष्टरत्नमुकुटंः जिसका रत्नों से जड़ा हुआ राजमुकुट सिंहासन से खींचते समय मस्तक से गिर गया हो

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

- यमुना नदी को कालिया नाग के विषैले आतंक से मुक्त कराने हेतु दामोदर द्वारा किए गए जलाशय प्रवेश तथा हल्लीसक नृत्य का कलात्मक वर्णन कीजिए।
- कालिया नाग द्वारा की गई भगवान नारायण की स्तुति तथा श्रीकृष्ण द्वारा कंस को सिंहासन से खींचकर मारने के दृढ़ संकल्प वाले अंतिम श्लोक की समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

- कालिया नाग गरुड़ के अत्यंत तीव्र भय से बचने के लिए यमुना नदी के इस गहरे जलाशय में क्यों छिपा बैठा था।
- श्रीकृष्ण ने कालिया नाग के मस्तक पर अपने चरणचिह्न अंकित करते हुए गरुड़ के संबंध में उसे क्या अभयदान दिया।
- राजा कंस के भट ने गोकुल आकर दामोदर और संकर्षण को मथुरा आने का क्या संदेश और आज्ञा प्रदान की।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. यमुना नदी के भीतर कालिया नामक महानाग के उठने की सूचना दामोदर को सर्वप्रथम किस ग्वाले (पात्र) ने आकर दी थी?

1) दामक ने

2) नन्दगोप ने

3) वसुदेव ने

4) सूत्रधार ने

2. कालिया नाग के मुख से निकलने वाली भयानक शिखाएँ (ज्वालाएँ) वास्तव में किसकी थीं?

1) विषदहन (विष की अग्नि) की

2) साधारण दावानल की

3) प्रकाश की

4) यज्ञकी

3. दामोदर को तीव्रता से अपनी ओर आते देखकर चण्डनाग (क्रुद्ध सर्प) भय की आशंका से किसे नीचा झुका रहा था?

1) शिरसान्तर्मण्डलं (अपने फणों के मण्डल को)

2) अपनी पूँछ को

3) अपनी रानियों को

4) जल की तरंगों को

4. कालिया नाग के धुएँ से धूमिल हुई यमुना नदी का अगाध जल सांख्य-नाट्य के अनुसार किस मणि के समान नीली तरंगों वाला था?

।) इन्द्रनील मणि के समान

2) कौस्तुभ मणि के समान

3) सुवर्ण के समान

4) पन्ना के समान

5. वृद्धगोपालक कालिया नाग के आतंक को देखने और ध्यान करने के लिए यमुना तट पर स्थित किस वृक्ष पर चढ़ गया था?

।) कुम्भपलाश (पलाश के पेड़) पर

2) ताल के पेड़ पर

3) कदम्ब के पेड़ पर

4) बरगद पर

6. नील भुजङ्गम (नीले सर्प) के फण पर हल्लीसक नृत्य करते हुए दामोदर की तुलना मेघ पर स्थित किस देवता से की गई है?

।) शक्र (इन्द्र) से

2) वरुण से

3) रुद्र से

4) ब्रह्मा से

7. समुद्र मंथन के समय किस देव के धनुष की प्रत्यंचा बने शेषनाग ने मन्दराचल पर्वत को चारों ओर से लपेट लिया था?

।) शर्व (भगवान शिव/शङ्कर) के

2) इन्द्र के

3) विष्णु के

4) कामदेव के

8. कालिया नाग ने भगवान श्रीकृष्ण की अनुपम प्रभाव वाली भुजाओं को किसके भार के समान बलशाली और दृढ़ माना?

।) गोवर्द्धनोद्धरण (गोवर्धन उठाने वाले बाहुबल) के

2) सिंह के

3) ऐरावत की सूँड़ के

4) कालिया के फण के

9. महाराज उग्रसेन के सार्थक नाम वाले पुत्र का क्या नाम था जिसने मथुरा में उत्सव का आयोजन किया था?

।) कंसराज (कंस)

2) उग्रसेन द्वितीय

3) वसुदेव

4) दामक

10. श्रीकृष्ण ने कंस को सिंहासन से खींचकर मारने की तुलना सिंह द्वारा किस गर्वीले पशु के संहार से की है?

।) नागम् (मदमस्त हाथी) के

2) वृषभ के

3) अश्व के

4) कज्जल पर्वत के

खण्ड-3

उद्देश्य

- भागवान् श्रीकृष्ण द्वारा अधर्म के प्रतीक कंस के वध आख्यान से जोड़कर सत्य की शाश्वत विजय का आध्यात्मिक बोध कराना।
- अन्याय के प्रतिकार जैसी सामाजिक चेतना व निडर व्यावहारिक दृष्टिकोण जगाना।
- छात्रों को मल्ल-युद्ध प्रसंगों, नाट्य मंचन, अभिनय और संवाद कला में निपुण कर कला क्षेत्र में आर्थिक प्रगति हेतु सक्षम बनाना।

परिणाम

- छात्र संस्कृत नाट्य शास्त्र के रौद्र रस, पदविग्रह, पर्यायवाची शब्द विधान और श्लोक संरचना को सम्यक रूप से समझता है।
- छात्र कंस के षड्यन्त्रों के विफल होने से विपरीत परिस्थितियों में रणनीतिक सूझबूझ और अदम्य शौर्य का व्यावहारिक गुण सीखता है।
- छात्र राजा, मल्ल व योद्धाओं के विविध संवादों का मंचन सीखकर रंगमंच व संचार विधा में उत्कृष्ट आर्थिक करियर पाने योग्य बनता है।

इकाई-1
कंस का षड्यन्त्र, कुवलयापीड वध और धनुर्भंग

राजा कंस द्वारा पराक्रमी दामोदर (भगवान् कृष्ण) और संकर्षण (बलराम जी) को ब्रज से धनुषोत्सव में सम्मिलित होने के लिए आने पर उन्हें मल्लशाला में योद्धाओं से लड़ाकर मरवाने का षड़यन्त्र रचना। मथुरा आगमन पर महाबलशाली उत्पलापीड नामक गन्धहस्ती (हाथी) के दांत को उखड़ कर उसे मार डाला तथा मदनिका नाम की कुब्जा का कूबड़ापन दूर किया। तथा धनुषशाला के रक्षक सिंहबल के कान पर प्रहार करके और उसको मारकर धनुष के दो टुकड़े करके सभामण्डप की ओर चले गये। तथा वहाँ दामोदर और संकर्षण दोनों भाईयों ने मिलकर राजा कंस के सम्मुख मल्लशाला में दो राजकीय पहलवानों चाणूर और मुष्टिक को मार डाला। तथा फिर राजभवन पर चढ़कर कंस को सिर पकड़कर गिराकर उसका वध कर दिया।

(ततः प्रविशति राजा ।) - राजा प्रवेश करता है -

राजा–

श्रुत्वा व्रजे विपुलविक्रमवीर्यसत्त्वं
दामोदरं सह बलेन समाचरन्तम् ।
आदिश्य कार्मुकमहं तमिहोपनीय
मल्लेन रङ्गतमद्य तु घातयामि ॥१॥

पर्यायवाचिशब्दाः– श्रुत्वा = निशम्य । **कार्मुकं** = धनुर्व्याजेन । **उपनीय** = आहूय ।

पदविग्रहः – विपुलविक्रमवीर्यसत्त्वम् = विपुलं विक्रमः वीर्यं सत्त्वं यस्य तम् ।

अर्थः– राजा – व्रज में अतुल पराक्रमशाली एवं शौर्यवान दामोदर को बलराम के साथ आता हुआ सुनकर उन्हें धनुष महोत्सव के बहाने से यहाँ बुलाकर मल्लशाला में पहलवानों को आदेश देकर मैं कृष्ण को मरवा देता हूँ अर्थात् राजा कंस दामोदर और संकर्षण की हत्या कराने की योजना बनाता है ॥१॥

राजा – ध्रुवसेन ! ध्रुवसेन ! (प्रविश्य) भट :– जयतु महाराजः। राजा– ध्रुवसेन! किमागतो नन्दगोपपुत्रः। भटः– श्रोतुमर्हति महाराजः – प्रविशन्नेव दामोदरः ससङ्कर्षणो गोपजनपरिवृतो रजकेभ्यो वस्त्राण्याच्छिद्य गृहीतवानिति श्रुत्वा महामात्रेणोत्पलापीडो नाम गन्धहस्ती सञ्चोदितस्तमभिघातयितुम्। ततः,

राजा – ध्रुवसेन ! ध्रुवसेन (प्रवेश करके) भट :– महाराज की जय हो । राजा – ध्रुवसेन ! क्या, नन्द गोप का पुत्र यहाँ आया है ? भट – महाराज सुनें – (नगर में) प्रवेश करते ही दामोदर और बलराम ने ग्वालबालों के साथ धोबी से वस्त्र छीन कर ले लिया, यह सुनकर महामात्य ने उत्पालापीड नामक गन्धहस्ती को उन्हें मारने के लिए प्रेरित किया । तब –

तमापतन्तं सहसा समीक्ष्य सभीतगोपालकवृन्दमध्ये ।
बालो बलेनाद्रिनिभं गजेन्द्रं दन्तं समाकृष्य जघान शीघ्रम् ॥२॥

पर्यायवाचिशब्दाः– निभम् = तुल्यम् । **शीघ्रम्** = तूर्णम् । **दन्तम्** = हस्तिविषाणम् । समाकृष्य = उत्पाट्य । जघान = ममार ।

पदविग्रहः – सभीतगोपालकवृन्दमध्ये = सभीतानां गोपालकानां वृन्दं तस्य मध्ये । **अद्रिनिभम्** = अद्रेः निभम् ।

अर्थः– अत्यन्त भयभीत ग्वालबालों के बीच, विशाल पर्वत के समान गजराज को एकाएक आता हुआ देखकर, बालक (कृष्ण) ने बलपूर्वक गजराज के दांत को तोड़ कर उसे मार डाला ॥ २ ॥

राजा– कथं जघानेति । गच्छ । भूयो ज्ञायतां वृत्तान्तः । भटः – यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रम्य प्रविश्य) जयतु महाराजः । एष इदानीं नन्दगोपपुत्र उत्सवाधि

कारोच्छ्रितध्वजपताकमवसक्तमाल्यदामालङ्कृतमुत्थापितागरुधूपसमाकुलं राजमहापथं प्रविश्य राजकुलद्वारे गन्धसमुद्रावसक्तहस्तां मदनिकां नाम कुब्जिकां दृष्ट्वा तस्या हस्ताद् गन्धमादाय स्वगात्रमनुलिप्य तेनैव हस्तेन कुब्जस्यानुमार्जनेन विगतकुब्जभावां तां कृत्वा मालाकारापणेभ्यः पुष्पाण्याहृत्यावबध्य धनु:शालाभिमुखो गतः । राजा - किन्तु खलु तेन व्यवसितम् । तेन हि शीघ्रं गच्छ । भूयो ज्ञायतां वृत्तान्तः ।

राजा - क्या, मार डाला ? जाओ । फिर से खबर की जांच करो । भट-जैसी महाराज की आज्ञा। (जाकर और पुनः आकर) महाराज की जय हो । इस समय दामोदर उत्सव के योग्य ध्वजा और पताका से युक्त, पुष्प और माला से अलंकृत, अगर और धूप की गन्ध से युक्त विस्तृत राजमार्ग पर पहुँचकर राजकुल के दरवाजे पर गन्धादि को लिए हुए मदनिका नाम की कुब्जा को देखकर उसके हाथ से सुगन्धित द्रव्य लेकर अपने अंगों पर लेप करके तथा उसी हाथ से कुब्जा का कूबड़ापन दूर करके, फूलों के बाजार से पुष्प लेकर और उन्हें (मालियों को) मारकर धनुष - शाला की ओर गया है । राजा - उसने वहाँ क्या किया । जल्दी जाओ । पुनः सब समाचार प्राप्त करो ।

भटः- यदाज्ञापयति महाराजः (निष्क्रम्य प्रविश्य) जयतु महाराजः । धनु:शालारक्षकेण सिंहबलेन वार्यमाणस्तं कर्णमूले प्रहृत्य हत्वा धनुः समादाय द्विखण्डं कृत्वा साम्प्रतमुपस्थानाभिमुखो यतः ।

भट - जैसी महाराज की आज्ञा । (जाकर और पुनः प्रवेश करके) महाराज की जय की जय हो। धनुष शाला के रक्षक सिंहबल के मना करने पर उसके कान पर प्रहार करके और मारकर धनुष को लेकर उसके दो टुकड़े कर के इस समय सभामण्डप की ओर गया है।

स्मरणीय बिंदु

- कंस का षड्यन्त्रः राजा कंस ने पराक्रमी दामोदर (श्रीकृष्ण) और संकर्षण (बलराम) को ब्रज से धनुषोत्सव के बहाने बुलाकर मल्लशाला में पहलवानों द्वारा मरवाने का षड्यन्त्र रचा।
- हाथी का वधः मथुरा में प्रवेश करते ही श्रीकृष्ण ने महाबलशाली उत्पलापीड नामक गन्धहस्ती (हाथी) के दाँत को उखाड़कर उसका वध कर दिया।
- कुब्जा का उद्धारः श्रीकृष्ण ने मदनिका नाम की कुब्जा के हाथ से सुगन्धित द्रव्य लेकर उसके कूबड़ेपन को समूल दूर किया।
- धनुषशाला पर आक्रमणः धनुषशाला के रक्षक सिंहबल का अंत करके श्रीकृष्ण ने विशाल धनुष को उठाकर उसके दो टुकड़े कर दिए।
- वस्त्रों का हरणः नगर में प्रवेश करते ही दामोदर और बलराम ने ग्वालबालों के साथ रजकों (धोबियों) से सुन्दर वस्त्र छीनकर धारण किए।

विशेष शब्द व सरल अर्थ

- गन्धहस्ती: वह अत्यंत मदमस्त श्रेष्ठ हाथी जिसकी गंध मात्र से अन्य हाथी भाग जाते हैं।
- कार्मुकम्: धनुष (जिसका प्रयोग उत्सव के बहाने श्रीकृष्ण को बुलाने के लिए किया गया)।
- रङ्गतम्: मल्लशाला का वह रंगमंच या अखाड़ा जहाँ युद्ध होना निश्चित हुआ था।
- महामात्रेण: राजा का वह प्रधान अमात्य, मंत्री या हस्तिपालक जिसने हाथी को प्रेरित किया।
- उपनीय: आदरपूर्वक पास बुलाकर अथवा निमंत्रण देकर यहाँ उपस्थित करना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 राजा कंस द्वारा दामोदर और संकर्षण के वध हेतु रचे गए षड्यन्त्र का मूल स्वरूप क्या था? श्रीकृष्ण के मथुरा आगमन पर घटित प्रारंभिक प्रसंगों (हाथी वध और वस्त्र हरण) के आधार पर समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 कंस ने श्रीकृष्ण को ब्रज से मथुरा बुलाने के लिए किस विशिष्ट माध्यम या उत्सव का सहारा लिया था।

प्रश्न-2 उत्पलापीड हाथी के वध की घटना का समाचार पाकर राजा कंस की मानसिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. राजा कंस ने दोनों भाइयों को ब्रज से मथुरा किस उत्सव में सम्मिलित होने के लिए बुलाया था?

।) धनुषोत्सव (कार्मुकमहम्)

2) इन्द्रयज्ञ

3) वसंतोत्सव

4) रासोत्सव

2. मथुरा में श्रीकृष्ण को मारने के लिए कंस के अमात्य द्वारा किस भयानक हाथी को भेजा गया था?

।) ऐरावत

2) कुवलयापीड

3) उत्पलापीड

4) अश्वत्थामा

3. कंस की सभा के उस भट का क्या नाम था जो राजा को नगर की घटनाओं की सूचना दे रहा था?

1) ध्रुवसेन

2) सिंहबल

3) चाणूर

4) मुष्टिक

4. कार्मुकम् शब्द का संस्कृत नाट्य परंपरा और इस अध्याय के अनुसार सरल अर्थ क्या है?

1) धनुष

2) तलवार

3) गदा

4) अखाड़ा

5. नगर में प्रवेश करते ही दामोदर और बलराम ने किनसे वस्त्र छीनकर ग्वालबालों सहित धारण किए?

1) मालियों से

2) रजकों (धोबियों) से

3) कंस के प्रहरियों से

4) कुब्जा से

इकाई - 2

रङ्गशाला में मल्ल-योद्धाओं की ललकार और कंस का आदेश

आपीडदामशिखिबर्हविचित्रवेषः
पीताम्बरः सजलतोयदराशिवर्णः।
अभ्येति रोषपरिवृत्तविशालनेत्रो
रामेण सार्धमिह मृत्युरिवावतीर्णः ॥३॥

पर्यायवाचिशब्दाः- पीतम् = कनकाभम् । **आपीडदाम्ना** = शेखरस्त्रजा । **शिखिबर्हेण** = मयूरपिच्छेन। **परिवृत्ते** = अन्यथावृत्ते ।

पदविग्रहः - सजलतोयदराशिवर्णः = जलेन सहितः स चासौ तोयदश्च (तोयं ददातीति तोयदः) तस्य राशिः तस्य वर्ण इव वर्णो यस्य सः । **पीताम्बरः** = पीतम् अम्बरं यस्य सः । **आपीडदामशिखिबर्हविचित्रवेषः** = आपीडदाम्ना शिखिबर्हेण च विचित्रः वेषः यस्य स । **रोषपरिवृत्तविशालनेत्रः** = रोषेण परिवृत्ते विशाले नेत्रे यस्य सः ।

अर्थः- वह तो - जलपूर्ण मेघसमूह की भाँति श्यामवर्ण वाले, पीले वस्त्र को धारण किये हुए पुष्पमालाओं और मयूर पंखों से अद्‌भुत वेष बनाए हुए, क्रुद्ध विशाल नेत्रों वाले बलराम के साथ यहाँ (साक्षात्) मृत्यु ही उत्पन्न हो गया है अर्थात् दामोदर और संकर्षण के रौद्र रूप के विषय में कंस को सूचित कर रहे हैं ॥३॥

राजा- सावेगमिव मे हृदयम् । गच्छ, यथानिर्दिष्टौ चाणूरमुष्टिकौ प्रवेशय, वृष्णिकुमाराणां सन्नाहमाज्ञापय । भटः- यदाज्ञापयति महाराजः (निष्क्रान्तः ।) राजा :- यावदहमपि प्रासादमारुह्य चाणूरमुष्टिकयोर्युद्धं पश्यामि । (आरुह्य) मधुरिके ! विघाट्यतां द्वारम् । प्रतिहारी :- यद् भर्ताज्ञापयति।

राजा - मेरा हृदय धड़क रहा है। जाओ, पहले बतलाए चाणूर और मुष्टिक को भेजो। (यादव-कुमारों को) युद्ध के लिए तैयार होने का आदेश दो । भट - महाराज की जैसी आज्ञा ।

(प्रस्थान) राजा - मैं भी भवन पर चढ़ कर चाणूर और मुष्टिक का युद्ध देखता हूँ। (चढ़कर) मधुरिके, दरवाजा खोल दो । प्रतिहारी - जैसी स्वामी की आज्ञा ।

(राजा प्रविश्योपविशति। ततः प्रविशतश्चाणूरमुष्टिकौ ।)

(राजा प्रवेश करके बैठता है । चाणूर और मुष्टिक का प्रवेश)

चाणूरः-

एषोऽस्मि युद्धसज्जो मत्तो हस्तीव दर्पसंपूर्णः ।
भनज्म्यद्य बालं दामोदरं रङ्गमध्ये ।।४।।

पर्यायवाचिशब्दाः- सज्जः = बद्धपरिकरः । **बालम्** = अर्भकं दामोदरम् । **भनज्मि** = चूर्णयिष्यामि ।
अर्थः- चाणूर - यह मैं मदमस्त हाथी की भांति गर्व से भरा हुआ युद्ध करने के लिए तैयार हूँ । आज मैं बालक दामोदर को मल्लशाला में चूर-चूर कर दूंगा ।।४।।

मुष्टिकः-

लोहमयमुष्टिहस्तो रामेण मुष्टिकः रुष्टः।
पातयामि अद्य रामं गिरिवरकूटं तथा वज्रः। ।।५।।

पर्यायवाचिशब्दाः- गिरिवरकूटम् = पर्वतशिखरम् । **पातयामि** = हनिष्यामि ।
पदविग्रहः - लोहमयमुष्टिहस्तः = अयस्सारमयी मुष्टिः हस्ते यस्य सः ।

अर्थः- मुष्टिक - मैं अत्यन्त क्रुद्ध, लोहे की भाँति कठिन मुक्कों वाला, मुष्टिक नामक योद्धा, बलराम को युद्ध में वैसे ही गिरा दूंगा जैसे महान पर्वतों की चोटी को वज्र गिरा देता है अर्थात् बलराम को आसानी से परास्त कर दूंगा ।। ५।।

भट :- एष महाराजः । उपसर्पेतां भवन्तौ ! उभौ :- (उपेत्य) जयतु भर्ता । राजा :- चाणूरमुष्टिकौ ! सर्वप्रयत्नेन युवाभ्यामानृण्यं कर्तव्यम् । उभौ :- श्रृणोतु भर्ता । (अठ्टादि!) करणसन्धाबन्धप्रहारैर्युद्धविशेषैः सिद्धिं गच्छामः। हं पश्यतु भर्ता। राजा :- बाढमेवं क्रियताम् । ध्रुवसेन ! प्रवेश्येतां गोपदारकौ । भट :- यदाज्ञापयति महाराजः । (निष्क्रान्तः ।)

भट - यह महाराज हैं । तुम दोनों चले जाओ । दोनों - (जाकर) स्वामी की जय हो । राजा - चाणूर और मुष्टिक ! सब प्रकार से प्रयत्न करके तुम दोनों मुझे कर्ज से छुटकारा दिलाओ । दोनों - स्वामी सुनें, हम अनेक करणसंघ और आबन्ध प्रहारों से विशेष युद्ध के द्वारा सफलता प्राप्त करेंगे । अच्छा स्वामी, देखें । राजा - ठीक ऐसा ही करो । ध्रुवसेन, गोपकुमारों को अन्दर भेजो। भट - जैसी महाराज की आज्ञा । (प्रस्थान)

स्मरणीय बिंदु

- मदनिका का रूप: मदनिका नाम की कुब्जा राजकुल के द्वार पर हाथों में राजा कंस के लिए अनावश्यक (सुगन्धित चंदन) लेकर खड़ी थी।
- सुगंध लेपन: श्रीकृष्ण ने कुब्जा के हाथ से बलपूर्वक सुगन्धित द्रव्य लेकर अपने तथा बलराम के अंगों पर उसका लेप किया।
- रूप परिवर्तन: श्रीकृष्ण ने अपने दिव्य हाथों के मार्जन (स्पर्श) से कुब्जा के कूबड़ेपन को मिटाकर उसे सुंदर स्त्री बना दिया।
- सिंहबल का अंत: धनुषशाला के रक्षक सिंहबल ने जब श्रीकृष्ण को रोकने का प्रयास किया, तब कृष्ण ने उसके कान के मूल पर प्रहार कर उसे मार डाला।
- सभामण्डप की ओर प्रस्थान: विशाल धनुष को तोड़कर उसके दो टुकड़े करने के पश्चात दोनों भाई निर्भीकता से मुख्य सभामण्डप (उपस्थान) की ओर बढ़े।

विशेष शब्द व सरल अर्थ

- अनुमार्जनेन: अपने पवित्र हाथों से दबाकर मालिश करना या सीधा करना
- विगतकुब्जभावां: जिसका शारीरिक कूबड़ापन या टेढ़ापन पूरी तरह नष्ट हो गया हो
- मालाकारापणेभ्य: नगर के फूलों के बाजार या मालियों की दुकानों से
- द्विखण्डं: किसी विशाल वस्तु को बलपूर्वक बीच से तोड़कर उसके दो बराबर भाग कर देना
- उपस्थानाभिमुखो: मुख्य सभामण्डप, राजसभा या अखाड़े के प्रवेश द्वार की ओर बढ़ना

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न -1 मथुरा की पुष्पशाला और धनुषशाला में श्रीकृष्ण द्वारा की गई पराक्रमपरक लीलाओं का नाट्यशास्त्र की दृष्टि से सविस्तार वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय

प्रश्न-1 मदनिका नाम की कुब्जा के उद्धार का प्रसंग श्रीकृष्ण के किस मानवीय व कल्याणकारी स्वरूप को प्रकट करता है?

प्रश्न-2 धनुषशाला के रक्षक सिंहबल के वध और धनुष भङ्ग के समाचार का कंस के षड्यन्त्र पर क्या प्रभाव पड़ा?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. राजकुल के द्वार पर गन्धसमुद्र (सुगन्धित द्रव्य) लेकर खड़ी कुब्जा का क्या नाम था?

1) मदनिका

2) त्रिवक्रा

3) मधुरिका

4) देवकी

2. श्रीकृष्ण ने फूलों के बाजार (मालाकारापणेभ्यः) से क्या प्राप्त किया था?

1) पुष्प और मालाएँ

2) सुगन्धित चंदन

3) अस्त्र-शस्त्र

4) स्वर्ण आभूषण

3. धनुषशाला की रक्षा करने वाले कंस के उस बलशाली सैनिक का क्या नाम था जिसे कृष्ण ने मारा?

1) सिंहबल

2) सिंहकेतु

3) चाणूर

4) मुष्टिक

4. सिंहबल के मना करने पर श्रीकृष्ण ने उसके शरीर के किस अंग पर घातक प्रहार किया था?

1) कर्णमूल पर (कान के जड़ पर)

2) वक्षःस्थल पर

3) मस्तक पर

4) भुजाओं पर

5. द्विखण्डं शब्द का पाठ के अनुसार क्या तात्पर्य है?

1) धनुष के दो टुकड़े करना।

2) सेना के दो भाग करना।

3) कंस के दो मुकुट गिराना।

4) वस्त्रों को फाड़ना।

इकाई -3
श्रीकृष्ण-बलराम का मल्लशाला में प्रवेश और कंस द्वारा रूप-दर्शन

(ततः प्रविशतो दामोदरसङ्कर्षणौ ध्रुवसेनेन सह ।)
(ध्रुवसेन के साथ दामोदर और संकर्षण का प्रवेश)
दामोदरः- आर्यः !

मर्त्येषु जन्म विफलं मम तानि घोषे
कर्माणि चाद्य नगरे धृतये न तावत्।
यावन्न कंसहतकं युधि पातयित्वा
जन्मान्तरासुरमहं परिकर्षयामि ॥६॥

पर्यायवाचिशब्दाः- कंसहतकम् = नीचकंसम् ।
अर्थः- दामोदर - आर्य ! मनुष्य लोक में मेरा जन्म निष्फल है । उस बस्ती में और इस नगर में मुझे अपने कर्मों से तब तक धैर्य नहीं जब तक जन्मजन्मान्तर के राक्षस पापी कंस को युद्ध में गिराकर मारता नहीं।।६।।
सङ्कर्षणः-

प्रविश्य रङ्गं कृतलोहमुष्टिं तं मुष्टिना मुष्टिकमद्य रुष्टम् ।
हत्वा चरिष्याम्यनिलप्रचण्डः प्रलम्बमम्भोदमिवान्तरिक्षे ॥७॥

पर्यायवाचिशब्दाः- रुष्टम् = क्रुद्धम् । **कृता** = विहिता । **अन्तरिक्षे** = वियति । **अनिलप्रचण्डः** = प्रखरवायुः । **अम्भोदम्** = मेघम् ।
पदविग्रहः - कृतलोहमुष्टिम् = कृता लोहवत् कठिना मुष्टिर्येन तम् ।
अर्थः- संकर्षण - आकाश में जैसे झुके हुए बादलों को झंझावात छिन्न-भिन्न करता है, वैसे मैं आज अत्यन्त क्रुद्ध, लोहे के समान कठिन मुष्टि वाले मुष्टिक को मल्लशाला में जाकर उसका विनाश कर डालूंगा ।।७।।

भटः - एष महाराजः । उपसर्पेतां भवन्तौ । उभौ- आः कस्य महाराजः । भटः-- सर्वस्य जगतोऽस्माकं च । दामोदरः- अद्यप्रभृति न भविष्यति। भटः- जयतु महाराजः । एतौ तौ । राजा- (विलोक्य) अयं स दामोदरः ।
भट - यह महाराज हैं, तुम दोनों आओ । दोनों - अरे, किसका महाराज ? भट - सबका, सारे संसार का और हम लोगों का । दामोदर - आज से नहीं रह जाएगा । भट - महाराज की जय हो । ये दोनों यहाँ हैं । राजा - (देखकर) यह वही दामोदर है !

अहो,

श्रीमान् मदान्धगजधीरविलासगामी
श्यामः स्थिरांसभुजपीनविकृष्टवक्षाः।
पूर्वं श्रुतानि चरितानि न चित्रमस्य
लोकत्रयं हि परिवर्तयितुं समर्थः ।।८।।

पर्यायवाचिशब्दाः- मदान्धगजधीरविलासगामी = मत्तगजेन्द्रगम्भीरलीलागमनकारी ।
अंसौ = स्कन्धौ । **पीनम्** = मांसलम् । **विकृष्टम्** = विस्तृतम् । **परिवर्तयितुम्** = अन्यथा कर्तुम् ।
पदविग्रहः - मदान्धगजधीरविलासगामी = मदेन अन्धः स चासौ गजश्च तद्वत् धीरं विलासशीलं गमनमस्ति अस्य । **स्थिरांसभुजपीनविकृष्टवक्षाः** = स्थिरौ अंसौ भुजौ पीनं विकृष्टं वक्षः यस्य सः ।

अर्थः- अरे, मदमत्तं गजराज की भांति गम्भीर एवं सविलास गति वाले दृढ़ स्कन्ध, भुजा और मांसल तथा विस्तृत वक्षःस्थल वाले, शोभा से युक्त, कृष्ण वर्ण के इस दामोदर के पहले सुने हुए चरित्र आश्चर्यजनक (झूठे) नहीं हैं किन्तु यह तीनों लोक को परिवर्तित करने में समर्थ है अर्थात् भगवान कृष्ण के शरीर सौष्ठव व उनके द्वारा किये गये महान कार्यों का स्मरण करा रहे हैं ।।८।।
अयं नु ललितगम्भीराकृतिः पूर्वजोऽस्य राम इति श्रूयते । यह सुन्दर गम्भीर आकृति वाले, इनके अग्रज राम हैं, ऐसा सुना जाता है ।

बलरामस्य विषये वर्णयन्ति -
अभिनवकमलामलायताक्षः शशिनिभमूर्तिरुदारनीलवासाः ।
रजतपरिघवृत्तदीर्घबाहुश्चलदसितोत्पलपत्रचित्रमालः ।।९।।

पर्यायवाचिशब्दाः- शशिनिभा = चन्द्रतुल्या । **उदारम्** = रुचिरम् । **वृत्तौ** = वर्तुलौ । **दीर्घौ** = आयतौ । **असितोत्पलपत्रम्** = नीलकमलदलम् ।
पदविग्रहः - अभिनवकमलामलायताक्षः = अभिनवञ्च तत् कमलं तद्वत् अमले आयते अक्षिणी यस्य सः । **शशिनिभमूर्तिः** = शशिनिभा मूर्तिः यस्य सः । **उदारनीलवासाः** = उदारं नीलं वासः यस्य सः । **रजतपरिघवृत्तदीर्घबाहुः** = रजतस्य परिघः तद्वत् वृतौ दीर्घौ बाहू यस्य सः । **चलदसितोत्पलपत्रचित्रमालः** = चलत् यत् असितोत्पलपत्रं तस्य चित्रा माला स्त्रक् यस्य सः।
अर्थः- बलराम जी के विषय में वर्णन करते हुए कहते हैं कि -
नूतन और निर्मल कमल की भांति दीर्घ नेत्रों वाला, चन्द्र की भांति विग्रह वाला, रुचिर नीले वस्त्रों को धारण किए हुए रुपहले परिघ की भांति वर्तुल एवं विशाल भुजाओं वाला (यह बलराम) नीलकमल की विचित्र माला को धारण किए हुए हैं ।। ९ ।।

स्मरणीय बिंदु

- श्रीकृष्ण का वेष: श्रीकृष्ण मयूर पंखों (शिखिबर्ह) और पुष्पमालाओं से युक्त अद्भुत वेष धारण किए हुए श्यामवर्ण मेघ के समान लग रहे थे।
- कंस का भय: दोनों भाइयों के रौद्र रूप और विशाल नेत्रों को देखकर कंस का हृदय सावेग (तीव्रता से) धड़कने लगा।
- चाणूर का अहंकार: मल्ल चाणूर मदमस्त हाथी की भाँति गर्व से भरकर अखाड़े में बालक दामोदर को चूर-चूर करने का दम्भ भरता है।
- मुष्टिक की चुनौती: लोहे के समान कठिन मुक्कों वाला मुष्टिक बलराम को वज्र की तरह धराशायी करने की प्रतिज्ञा करता है।
- ऋण से मुक्ति: राजा कंस चाणूर और मुष्टिक को आदेश देता है कि वे अपनी पूरी शक्ति लगाकर कृष्ण-बलराम का वध करें और कंस के अन्न का ऋण चुकाएँ।

विशेष शब्द

- शिखिबर्ह: मयूर का पंख (जिसे श्रीकृष्ण ने मुकुट की भाँति मस्तक पर सजाया था)।
- सजलतोयद: जल की बूंदों से पूरी तरह भरे हुए काले बादलों की सुंदर घटा।
- भनज्मि: मल्लयुद्ध में शत्रु की हड्डियों को पूरी तरह तोड़कर चूर-चूर कर देना।
- गिरिवरकूटम्: किसी बहुत ऊँचे और विशाल पर्वत का सबसे सुदृढ़ शिखर या चोटी।
- आनृण्यं: राजा के अन्न और नमक के कर्ज से पूरी तरह मुक्त या ऋणहीन होना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 मल्लशाला (रंगमंच) में प्रवेश करते समय श्रीकृष्ण और बलराम के बाह्य स्वरूप तथा उनके प्रतिपक्षी मल्लों (चाणूर-मुष्टिक) की युद्ध-सज्जा का तुलनात्मक विवरण दीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 भट ध्रुवसेन द्वारा श्रीकृष्ण के रौद्र वेष का वर्णन सुनकर कंस की मानसिक व्याकुलता किस प्रकार प्रकट हुई?

प्रश्न-2 राजा कंस ने चाणूर और मुष्टिक को सर्वप्रयत्नेन आनृण्यं कर्तव्यम् कहकर किस उत्तरदायित्व का बोध कराया?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. मल्लशाला में प्रवेश करते समय श्रीकृष्ण ने किस रंग का वस्त्र (अम्बर) धारण किया हुआ था?

1) पीतम् (पीला वस्त्र)

2) नीलम्

3) रक्तम्

4) श्वेतम्

2. श्रीकृष्ण के शरीर का वर्ण (रंग) किसके समान श्याम और सुंदर परिलक्षित हो रहा था?

1) सजल तोयद (जल से भरे बादलों) के

2) चंद्रमा के

3) सुवर्ण के

4) नीले कमल के

3. मल्लशाला में मदमस्त हाथी की भांति दर्प (गर्व) से भरकर युद्ध के लिए कौन सा मल्ल खड़ा था?

1) चाणूर

2) मुष्टिक

3) सिंहबल

4) सिंहकेतु

4. मुष्टिक नामक पहलवान ने अपने हाथों के मुक्के को किसके समान कठिन और लोहमय बताया था?

1) लोहे के (लोहमयमुष्टि)

2) पत्थर के

3) काष्ठ के

4) पर्वत के

5. गिरिवरकूटम् को धराशायी करने के लिए श्लोक में इंद्र के किस अस्त्र की उपमा दी गई है?

1) वज्र की

2) पाशुपत की

3) त्रिशूल की

4) चक्र की

इकाई -4
चाणूर-मुष्टिक का अंत, कंस वध और उग्रसेन का राज्याभिषेक

दामोदरः- आर्य ! एतावेवावाभ्यां युद्धसन्नद्धाविति मन्ये । सङ्कर्षणः - भवितव्यम् । राजा- ध्रुवसेन ! प्रवर्ततां युद्धम् । भटः- यदाज्ञापयति महाराजः (मालां क्षिपति ।) मल्लौः- वादयत वादयत सङ्ख्यपटहान् । (सर्वे नियुद्धं कुर्वन्ति।) दामोदरः- (चाणूरं निहत्य) भग्नास्थिरेष निहतः । सङ्कर्षणः - (मुष्टिकं निहत्य) निहतो मयापि ।

दामोदर - आर्य, मालूम होता है हमारे साथ युद्ध के लिए यही लोग तैयार हैं । सङ्कर्षण - होना चाहिए। राजा - ध्रुवसेन, युद्ध प्रारम्भ करो । भट - महाराज की जैसी आज्ञा । (माला फेंकता है)। दोनों मल्ल - अरे बजाओ, युद्ध दुन्दुभियों को बजाओ (सब मल्लयुद्ध करते हैं ।) दामोदर - (चाणूर को मारकर) यह टूटी हुई हड्डियों वाला मरा पड़ा है ।

संकर्षण (मुष्टिक को मारकर) - मैंने भी इसका वध कर दिया ।

दामोदरः- (प्रासादमारुह्य कंसं शिरसि निगृह्य पातयित्वा) एष एष दुरात्मा कंसः -

(भवन पर चढ़कर कंस को सिर से पकड़ कर भूमि पर गिरा कर) यह, यह दुरात्मा कंस है -

विस्तीर्णलोहितमुखः परिवृत्तनेत्रो
भग्नांसकण्ठकटिजानुकरोरुजङ्घः ।
विच्छिन्नहारपतिताङ्गदलम्बसूत्रो
वज्रप्रभग्नशिखरः पतितो यथाद्रिः ॥११॥

पर्यायवाचिशब्दाः- परिवृते = पर्यावर्तितते । **अंसः** = स्कन्धः । **कण्ठः** = गलः । **कटिः** = श्रोणिः। **जानुः** = ऊरुपर्वः । **ऊरुः** = सक्थिः । **सूत्रम्** = यज्ञोपवीतम् । **प्रभग्नम्** = खण्डितम् । **शिखरम्** = कूटम् ।

पदविग्रहः - विस्तीर्णलोहितमुखः = विस्तीर्णं लाहितं यस्मात्तद् मुखम् यस्य सः । **परिवृत्तनेत्रः** = परिवृते नेत्रे यस्य । **भग्नांसकण्ठकटिजानुकरोरुजङ्घः** = भग्नं अंसः कण्ठः कटिः जानुः करः ऊरुः जंघा एषां समाहारः तद् यस्य सः । **विच्छिन्नहारपतिताङ्गदलम्बसूत्रम्** = विच्छिन्नः हारः पतितः अङ्गदः लम्बं सूत्रं यस्य सः। **वज्रप्रभग्नशिखरः** = वज्रेणः प्रभग्नं शिखरं यस्य सः ।

अर्थः- इसके मुख से खून बह रहा है, नेत्र ऊपर चढ़ गये हैं, कन्धें, गला, कमर, हाथ, घुटनें और जंघायें टूट गयी हैं। मणिमाला टूट गई है, केयूर गिर गए हैं, यज्ञोपवीत भी गिर गया है और यह कंस इन्द्र के अस्त्र वज्र के द्वारा चूर किए गए शिखर वाले पर्वत की भांति गिरा हुआ मालूम होता है ।। ११ ।।

(नेपथ्ये) हा हा महाराजः । (पुनर्नेपथ्ये) भो भो वृष्णियोधाः ! अनावृष्टिशिवकहृदिक - पृथुकसोमदत्ताक्रूरप्रमुखाः ! अयं खलु भर्तृपिण्डनिष्क्रयस्य कालः । शीघ्रमागच्छन्तु भवन्तः । दामोदरः - आर्य ! संवार्यतां सैन्यम्। सङ्कर्षणः - अयमहं वारयामि ।

(नेपथ्य में) हा हा महाराज ! (पुनः नेपथ्य में) अरे, हे यादव कुल के योद्धाओं, अनावृष्टि, शिवक, हृदिक, पृथुक, सोमदत्त और अक्रूर आदि ! यह स्वामी के ऋण चुकाने का समय है । आप सब जल्दी आइए । दामोदर - आर्य ! सेना को दूर कीजिए । संकर्षण - यह हटा रहा है।

द्रुततुरगरथेभभ्रान्तयोधोग्रनादं,
विलसदमलखड्गप्रासशक्त्यृष्टिकुन्तम्।
पवनबलविकीर्णं फेनजालोर्मिमालं,
जलनिधिमिव दोर्भ्यां क्षोभयाम्येष सैन्यम् ॥१२॥

पर्यायवाचिशब्दाः- **इभाः** = गजाः । **भ्रान्तयोधाः** = सम्भ्रान्तसैनिकाः । **विलसद्** = शोभमानम् । **प्रासः** = कुन्तः । **ऋष्टिः** = आयुधविशेषः । **विकीर्णः** = प्रक्षिप्तः । **फेनानाम्** = जलविकृतीनाम् । **दोर्भ्याम्** = बाहुभ्याम् ।

पदविग्रहः - द्रुततुरगरथेभभ्रान्तयोधोग्रनादम् = द्रुताः तुरगाः रथाः इभाः भ्रान्तयोधाः तैः उग्रः नादः यस्मिन् तत् । **विलसदमलखड्गप्रासशक्त्यष्टिकुन्तम्** = विलसद् अमलं खड्गः प्रासः शक्तिः ऋष्टिः कुन्तः एषां समाहारः यस्मिन् तत् । **पवनबलविकीर्णम्** = पवनस्य बलेन विकीर्णः तम् । **फेनजालोर्मिमालम्** = फेनानां जालः ऊर्मिमालः विद्यते यस्मिन् तम् ।

अर्थः- शीघ्रगामी घोड़े, रथ गज और विक्षिप्त सैनिकों के कोलाहल से युक्त, निर्मल तलवार, भाले, शक्ति, ऋषि, कुन्त आदि से शोभित सेना को मैं अपनी भुजाओं से ऐसा क्षुभित करुँगा जैसे तूफान समुद्र के फेनजाल और तरंगावलियों को छिन्न-भिन्न कर देता है ॥ १२ ॥

(ततः प्रविशति वसुदेवः ।) वसुदेवः - भो भो मधुरावासिनः ! अलमलं साहसेन।

(वसुदेव का प्रवेश) वसुदेव- अरे, हे मथुरावासियो ! अधिक साहस न करो ।

ज्येष्ठोऽयं मम तनयस्तु रौहिणेयो,
देवक्यास्तनयमिमं च किं न वित्थ ।
सन्नाहं त्यजत किमायुधैश्च कार्यं,
कंसार्थं स्वयमिह विष्णुराजगाम ॥ १३॥

पर्यायवाचिशब्दाः- **तनयः** = सूनुः । **तनयम्** = पुत्रम् । **सन्नाहम्** = युद्धोद्योगम् । **आयुधैः** = हेतिभिः। **आजगाम** = अवतीर्णः ।

अर्थः- यह (मेरी पत्नी) रोहिणी का पुत्र मेरा पहला कुमार है । इस (मेरी पत्नी) देवकी के पुत्र को क्या नहीं जानते ? युद्ध के विचार को छोड़ दो और शस्त्रों का क्या काम । इस लोक में कंस के वध के लिए स्वयं भगवान विष्णु अवतीर्ण हुए हैं अर्थात् वसुदेव जी राज्य के सैनिकों के समक्ष भगवान कृष्ण व बलराम के विषय में बताते हैं कि वो उनके ही पुत्र है जिसे सुनकर सभी राज्य के सैनिक शान्त हो जाते हैं तथा युद्ध करना बंद कर देते हैं ।।१३।।

सङ्कर्षणः - (विलोक्य) अये तातः । तात ! सङ्कर्षणोऽहमभिवादये । दामोदरः - तात! दामोदरोऽहमभिवादये । वसुदेवः - अक्षयविजयिनौ भवेतां भवन्तौ । सत्पुत्रजन्मफलमद्य प्राप्तवानस्मि । उभौ - अनुगृहीतौ स्वः । वसुदेवः - कोऽत्र ! (प्रविश्य) भटः - जयत्वार्यपुत्रः । वसुदेवः - अपविध्यन्तां कलेवराणि । भटः - यदाज्ञापयत्यार्यपुत्रः ! गोपालकाः सर्वे - ही ही गोपालकानां राज्यं संवृत्तम् । वसुदेवः - कोऽत्र । भटः - जयत्वार्यपुत्रः । वसुदेवः- गच्छ, शीघ्रं दामोदरस्यादेशादनावृष्टिमाज्ञापय-महाराजमुग्रसेनमपनीय निगलान्निर्वृत्ताभिषेकं कृत्वा प्रवेशयेति । भटः - यदाज्ञापयत्यार्यपुत्रः । (निष्क्रान्तः ।)

संकर्षण - (देखकर) अरे, पिता जी ! पिता जी, मैं संकर्षण आपको अभिवादन करता हूँ । दामोदर - पिताजी, मैं दामोदर आपको अभिवादन करता हूँ। वसुदेव- तुम दोनों सर्वदा विजयी रहो। आज मुझे सुपुत्रों के पैदा करने का फल प्राप्त हुआ । दोनों- हम लोग अनुगृहीत हुए ।वसुदेव- यहां कौन है ? (प्रवेश करके) भट - आर्यपुत्र की जय हो । वसुदेव - इन शवों को फेंक दो। भट-आर्यपुत्र की जैसी आज्ञा । सभी ग्वालें - ही ही, ग्वालों का राज्य हो गया । वसुदेव - यहाँ कौन है। भट - आर्यपुत्र की जय हो । वसुदेव - जाओ, दामोदर की आज्ञा से अनावृष्टि को सूचित करो कि शीघ्र ही महाराज उग्रसेन को कारावास से निकाल कर उनका अभिषेक करके यहाँ भेज दें । भट - आर्यपुत्र की जैसी आज्ञा । (प्रस्थान करते हैं)

वसुदेवः - अये, वसुदेव - अरे,

नदन्ति सुरतूर्याणि वृष्टिः पतति कौसुमी ।
कंसान्तकस्य पूजार्थं प्रायो देवाः समागताः ॥ १४ ।

पर्यायवाचिशब्दाः- **कौसुमी** = कुसुमस्य इयम् (पुष्पमयी) । **तूर्याणि** = वाद्यप्रभेदाः । कंसान्तकस्य = कंसस्य अन्तकः (मृत्युः) तस्य । **समागताः** = संप्राप्ताः । **पूजार्थम्** = अर्चनार्थम् ।

अर्थः- देव दुन्दुभियाँ बज रही हैं, पुष्प की वृष्टि हो रही है, कंस के निधन कर्ता (कृष्ण) की पूजा के लिए देवता लोग आ पहुँचे हैं अर्थात् मथुरा के राजमहल में उत्सव का वातावरण उपस्थित हो गया है। ।। १४ ।।

स्मरणीय बिंदु

- असुर विनाश का संकल्पः श्रीकृष्ण ने कहा कि जब तक वे जन्म-जन्मांतर के पापी कंस का वध नहीं कर देते, तब तक उन्हें मानसिक संतोष नहीं मिलेगा।
- मल्लों का अंतः भीषण मल्लयुद्ध में दामोदर ने चाणूर की हड्डियाँ तोड़कर और संकर्षण ने मुष्टिक पर प्रहार करके उनका अंत कर दिया।
- कंस का वधः श्रीकृष्ण ने राजभवन के ऊँचे प्रासाद पर चढ़कर कंस को बालों (सिर) से पकड़ा और भूमि पर गिराकर उसका प्राण अंत कर दिया।
- सेना का विक्षोभः कंस की मृत्यु के बाद अक्रूर आदि सेनापतियों को युद्ध के लिए बढ़ता देख बलराम ने अपनी भुजाओं से सेना को तूफान की तरह तितर-बितर कर दिया।
- उग्रसेन का राज्याभिषेकः वसुदेव के हस्तक्षेप के बाद युद्ध शांत हुआ और श्रीकृष्ण की आज्ञा से महाराज उग्रसेन को कारागार के निगलों (बेड़ियों) से मुक्त कर पुनः राजा बनाया गया।

विशेष शब्द

- मदान्धगजधीरगामीः मदमस्त मतवाले गजेन्द्र की भांति अत्यंत गंभीर और गौरवमयी चाल चलने वाला।
- रजतपरिघः चांदी की उस विशाल अर्गला या छड़ के समान अत्यंत सुदृढ़ और लंबी भुजाएँ।
- कलेवराणिः युद्ध भूमि में मरे हुए पहलवानों या सैनिकों के निर्जीव मृत शरीर (शव)।
- निगलात्ः कारागार के भीतर लोहे की बेड़ियों या बंधनों से मुक्त करना।
- कौसुमीः देवलोक से देवताओं द्वारा कंस के संहारक कृष्ण पर की जाने वाली पुष्पमयी वर्षा।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 मल्लशाला में चाणूर-मुष्टिक के वध से लेकर राजभवन पर कंस के संहार तथा उग्रसेन के पुनः राज्याभिषेक तक के संपूर्ण घटनाक्रम की तार्किक नाट्य-समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 कंस वध के पश्चात यादव सेना के विक्षोभ को शांत करने में वसुदेव जी ने राजा के सैनिकों को क्या सत्य समझाया।

प्रश्न-2 नाटक के अंत में सुरतूर्यों (देवताओं के बाजों) के बजने और कौसुमी वृष्टि होने का क्या आध्यात्मिक कारण बताया गया है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. श्रीकृष्ण ने कंस के पावन वध के प्रसंग में स्वयं के जन्म को मानव लोक में कब तक विफल माना था?

1) जब तक नीच कंस (कंसहतकम्) को मार न दें

2) जब तक मथुरा न जीत लें

3) जब तक वे ब्रज न लौट जाएँ

4) जब तक अक्रूर से न मिल लें

2. बलराम जी (संकर्षण) के शारीरिक सौंदर्य का वर्णन करते हुए उनकी कांति किसके समान श्वेत बताई गई है?

1) शशि (चंद्रमा) के समान

2) सूर्य के समान

3) श्याम बादलों के समान

4) अग्नि के समान

3. श्रीकृष्ण ने अखाड़े में चाणूर को भूमि पर पटक कर उसके शरीर के किस भाग को समूल तोड़ दिया था?

1) अस्थि (हड्डियों को)

2) केवल दांतों को

3) मुकुट को

4) केयूर को

4. कंस के वध के उपरांत श्रीकृष्ण ने वसुदेव के आदेश से किसे कारागार से मुक्त कर राजा बनाने की आज्ञा दी?

1) महाराज उग्रसेन को

2) सोमदत्त को

3) अक्रूर को

4) ध्रुवसेन को

5. कौसुमी वृष्टि का देवताओं द्वारा कंस के अंत पर किए जाने वाले संदर्भ में क्या सरल अर्थ है?

1) पुष्पों की वर्षा होना

2) जल की भयंकर वर्षा होना

3) बाणों की वर्षा होना

4) रत्नों की वर्षा होना

खण्ड-4

उद्देश्य

- आध्यात्मिक व छात्र जीवन उद्देश्य: विद्यार्थियों को योगर्षि रामदेव जी के अखंड पुरुषार्थ और सनातन आर्ष संस्कृति के आध्यात्मिक गौरव से परिचित कराना।
- सामाजिक व व्यावहारिक उद्देश्य: काव्य प्रसंगों द्वारा छात्रों में नि:स्वार्थ लोक-कल्याण, परोपकार, निर्भीकता और राष्ट्रभक्ति की सामाजिक भावना विकसित करना।
- आर्थिक व व्यावसायिक उद्देश्य: जीवन-चरित्र के माध्यम से दृढ़ संकल्प, सतत श्रमशीलता और योग-आयुर्वेद आधारित आर्थिक-व्यावसायिक संवर्धन की समझ देना।

परिणाम

आध्यात्मिक व छात्र जीवन परिणाम: छात्र मेधावी प्राथमिक आर्ष विद्या, तप, इंद्रिय-निग्रह और गहन योग-साधना के दिव्य आध्यात्मिक मूल्यों को आत्मसात करता है।
सामाजिक व व्यावहारिक परिणाम: छात्र पद-लोलुपता से रहित होकर समाज सेवा, परदु:ख निवारण और राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना के रक्षण हेतु अग्रसर होता है।
आर्थिक व व्यावसायिक परिणाम: छात्र योगर्षि के अप्रतिम पुरुषार्थ से सीख लेकर अपने व्यावसायिक क्षेत्र में उत्कृष्ट सफलता व सुदृढ़ आर्थिक उन्नति प्राप्त करता है।

इकाई-1
बालक रामकृष्ण का प्राकट्य, बाल-लीलाएँ और गुरुकुल गमन का दृढ़ संकल्प

वर्तमान समय में युगद्रष्टा योगऋषि स्वामी रामदेव जी महाराज, जिन्होंने अपने विकल्प रहित संकल्प और अखण्ड-प्रचण्ड पुरुषार्थ के माध्यम से समस्त मानवता को एक नया जीवन प्रदान किया है तथा समाज की सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक चेतना के स्तर को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिये सदैव प्रयत्नशील हैं। ऐसे जागरण व पुरुषार्थ के देवता परम पूज्य योगऋषि श्री स्वामी जी महाराज के जीवन परिचय पर आधारित काव्यात्मक पद्यात्मक प्रस्तुति ।

श्रीरामदेवविदितो गुरुरादितेयो
योगणर्र्युपाधिलसितो भुवनप्रसिद्धः ।
तस्य स्तुतिर्हि भविताखिलचोदयित्री
काव्यं तया च मम यास्यति गौरवर्द्धिम् ॥१॥

अन्वयः- श्रीरामदेवविदितः गुरुः आदितेयः, योगणर्युपाधिलसितः, भुवनप्रसिद्धः (अस्ति), तस्य हि स्तुतिः अखिलचोदयित्री भविता, तया च मम काव्यं गौरवर्द्धिं यास्यति ।

भाषार्थ- पूज्य गुरुवर स्वामी रामदेव जी महाराज साक्षात् देव हैं, योगर्षि की उपाधि से विभूषित व विश्वप्रसिद्ध हैं, उनकी स्तुति निश्चित रूप से सबको प्रेरणा देने वाली सिद्ध होगी तथा इससे मेरा यह काव्य भी गौरवान्वित होगा ।

स्तुत्यानया प्रतनभारतसंस्कृतेश्च

दिव्यार्षरूपमनघं कलिकाललीनम् ।

प्राकाश्यमेष्यति धरान्धवृतेव पूष्णा

धन्या हि दिव्यजनुषा भवति त्रिलोकी ॥२॥

अन्वयः- अनया स्तुत्या च प्रतनभारतसंस्कृतेः कलिकाललीनम् अनघं दिव्यार्षरूपं पूष्णा अन्धवृता धरा इव प्राकाश्यम् एष्यति, हि दिव्यजनुषा त्रिलोकी धन्या हि भवति ।

भाषार्थ- इस देवस्तुति से प्राचीन भारतीय ऋषि संस्कृति का कलिकाल में लीन हुआ गौरवमय दिव्य आर्ष रूप इस प्रकार प्रकाशित हो सकेगा जैसे रात के अन्धकार में घिरी पृथिवी सूर्य के आगमन पर प्रकाशित हो जाती है । वस्तुतः दिव्यपुरुष के अवतरण (जन्म) से तीनों लोक धन्य हो जाते हैं । ॥२॥

योगर्षिकीर्तिनुतिराशु च चोदयित्री

मां भाविकाव्यरचनापरिगुम्फनाय ।

मज्जीवनाविलभरः खलु तेन नंष्टा

बोद्धाऽथ विश्वमपि दिव्यऋषेः प्रतापम् ॥ ३ ॥

अन्वयः - योगर्षिकीर्तिनुतिः च मां भाविकाव्यरचनापरिगुम्फनाय (आशु) चोदयित्री, तेन मज्जीवनाविलभरः खलु नंष्टा, अथ विश्वमपि दिव्यऋषेः प्रतापं बोद्धा ।

भाषार्थ- प्रस्तुत (नान्दीस्वरूप लघु काव्य में) योगर्षि श्रद्धेय स्वामी रामदेव जी महाराज की कीर्तिस्तुति मुझे भावि (विशाल) काव्य रचना करने की प्रेरणा देगी, इसे मेरे जीवन के दोष भी नष्ट हो जाएंगे तथा समस्त विश्व भी इस दिव्य ऋषि के प्रताप को जान सकेगा ॥३॥

सासीद्वेला कियदनुपमा भारतक्षोणिमध्ये

यावज्जज्ञे विमलहरियाणावनौ बाल एकः ।

श्रीसैदालीपुरपरिसरो येन धन्यो बभूव

दिव्यं वन्दे शिशुवरमहं तं मुदा मञ्जुलाभम् ।।४।।

अन्वयः - सा कियदनुपमा वेला आसीत् यावत् भारतक्षोणिमध्ये विमलहरियाणावनौ एकः बालः जज्ञे, येन श्रीसैदालीपुरपरिसरः धन्यः बभूव, तं मञ्जुलाभं दिव्यं शिशुवरम् अहं मुदा वन्दे ।

भाषार्थ- वह वेला भी कितनी अनूठी व सुन्दर थी जब भारतवर्ष में पवित्र हरियाणा की धरती पर एक बालक ने जन्म लिया था जिससे सैदालीपुर ग्राम का परिसर (क्षेत्र) धन्य हो गया था, ऐसे उस सुन्दर दिव्य शिशु को मैं प्रसन्नता पूर्वक नमन करता हूँ ।। ४ ।।

पूज्या माता समहृषदहो माननीया गुलाबो-

देवीनाम्नी त्रिदशनगरीदेवतेवाभिवन्द्या ।

दर्शं दर्शं कमलनयनं मोदसिन्धौ न्यमाङ्क्षीन्

मातुः क्रोडास्थितमिव विधुं तं शिशुं नौमि नम्यम् ।। ५।।

अन्वयः- (तदा) त्रिदशनगरीदेवता इव अभिवन्द्या माननीया गुलाबोदेवी नाम्नी पूज्या माता अहो समहृषत् (तं) कमलनयनं दर्शं दर्शं (सा) मोदसिन्धौ न्यमाङ्क्षीत् । मातुः क्रोडास्थितं विधुम् इव तं नम्यं शिशुं नौमि ।

भाषार्थ- तब स्वर्गलोक के देवता के समान वन्दनीया माननीया पूज्या माता श्रीमती गुलाबोदेवी जी अत्यन्त प्रसन्न हुई व उस कमलनयन पुत्र को देख-देख कर वह हर्ष-सागर में निमग्न हो गई थी। माता की गोद में स्थित चाँद जैसे लगने वाले उस नमन करने योग्य शिशु की मैं स्तुति करता हूँ ।।५।।

आदौ रामस्तदनु च निवासोऽभिधाने विभाति

यस्य श्रेष्ठाचरणनिरतस्तच्छिशोर्वै पितापि ।

हर्षोद्रेकं तनयवदनाम्भोजमालोक्य दध्रे

वन्दे तं श्रीदशरथसुतश्रीविलासाभिलाषम् ।। ६।।

अन्वयः - यस्य अभिधाने आदौ रामः, तदनु च निवासः विभाति, तच्छिशोः श्रेष्ठाचरण-निरतः वै पिता अपि तनयवदनाम्भोजम् आलोक्य हर्षोद्रेकं दध्ने, श्रीदशरथसुतश्रीविलासाभि-लाषं तं वन्दे ।

भाषार्थ- जिन के नाम के आदि में राम पद तथा अन्त में निवास पद सुशोभित होता है, ऐसे श्रेष्ठकर्मों में संलग्न रहने वाले श्री रामनिवास जी जिस शिशु के पिता जी भी पुत्र के मुखकमल को देखकर अत्यन्त हर्षित हुए, दशरथ पुत्र श्री राम की कान्ति व यश आदि को प्राप्त करने की अभिलाषा रखने

वाले उस शिशु की मैं वन्दना करता हूँ ।। ६ ।।

मातुः क्रोडे क्वचिदपि पितुर्वक्षसि क्रीडनानि
कुर्वाणं स्वस्मितविलसितैः सर्वचेतोहरन्तम् ।
बाल्ये राधारमणसदृशीं लोललीलां भजन्तं
वन्दे वन्द्यं तमिह पृथुकं प्रेमपीयूषसिन्धुम् ।।७।।

अन्वयः- क्वचिद् मातुः क्रोडे, क्वचिदपि पितुः वक्षसि क्रीडनानि कुर्वाणं, स्वस्मित- विलसितैः सर्वचेतोहरन्तम्, बाल्ये राधारमणसदृशीं लोललीलां भजन्तं, प्रेमपीयूषसिन्धुं तं वन्द्यं पृथुकम् इह वन्दे ।

भाषार्थ- कभी माता की गोद में तो कभी पिता के वक्षःस्थल पर खेलने वाले, अपनी सुन्दर मुस्कान से सबके मन को आकर्षित करने वाले, बाल्यकाल में श्रीकृष्ण जैसी सुन्दर व चञ्चल लीलाएं दिखाने वाले, प्रेम रूपी अमृत के सिन्धु उस वन्दनीय बालक को मैं नमन करता हूँ ।।७।।

मात्रा पित्राभ्युदयभरितं रामकृष्णाभिधानं
यः सम्प्राप्य व्यधित सुतरां नामसार्थक्यमद्धा ।
खेलं खेलं पशुखगमृदा विस्मरन्तं बुभुक्षां
वन्दे क्रीडाविनिरतशिशुं रामकृष्णं सुराभम् ।। ८।।

अन्वयः - यः मात्रा पित्रा अभ्युदयभरितं रामकृष्णाभिधानं सम्प्राप्य सुतराम् अद्धा नामसार्थक्यं व्यधित पशुखगमृदा खेलं खेलं बुभुक्षा विस्मरन्तं (तम्) क्रीडाविनिरतशिशुं सुराभं रामकृष्णं वन्दे ।

भाषार्थ- जिसने माता-पिता द्वारा प्रदत्त अभ्युदय से परिपूर्ण रामकृष्ण (रामकिशन) नाम को प्राप्त कर निरन्तर वास्तव में अपने नाम को सार्थक किया, (बाल्यकाल में) पशुओं, पक्षियों और मिट्टी के साथ खेल खेल कर जो भूख-प्यास को भी भूल जाया करता, उस क्रीडा-मग्न देवतुल्य शिशु रामकृष्ण को मेरा नमन है ।।८।।

मन्दं मन्दं ठुमकठुमकं जानुयुग्माश्रयेण
गामं गामं परिजनगणग्रामचेतांसि तावत् ।
हारं हारं पथि पथि मुदा प्रेमवात्सल्यगङ्गां
यः प्रावाक्षीत् शिशुसुरवरं नौमि तं कान्तिकान्तम् ।।९।।

अन्वयः - यः ठुमकठुमकं मन्दं मन्दं जानुयुग्माश्रयेण गामं गामं तावत् परिजनगण ग्रामचेतांसि हारं हारं मुदा पथि पथि प्रेमवात्सल्यगङ्गां प्रावाक्षीत् तं कान्तिकान्तम् शिशुसुरवरं नौमि ।

भाषार्थ- जो ठुमक-ठुमक करता हुआ धीरे धीरे घुटनों के बल चल-चल कर बाल्यकाल में अपने

परिजनों व समस्त ग्रामवासियों के चित्तों को आकर्षित करता हुआ, हर्ष पूर्वक रास्ते में प्रेम और वात्सल्य की गङ्गा प्रवाहित कर देता था ऐसे सुन्दर देव स्वरूप शिशुवर की मैं स्तुति करता हूँ। ।।९।।

बाल्ये येन क्वचिदपि कृतो जातुचिन्न प्रमादो
व्यायामादौ भजनयजने खेलने कर्षणे वा ।
बालव्यूहप्रथितयशसं ग्रामचेतोहरं तं
बालश्रेष्ठं कमलवदनं रामकृष्णं नमामि ।।१०।।

अन्वयः - येन बाल्ये क्वचिदपि व्यायामादौ, यजनभजने, खेलने, कर्षणे वा जातुचित् प्रमादः न कृतः, बालव्यूहप्रथितयशसं, ग्रामचेतोहरं कमलवदनं बालश्रेष्ठं तं रामकृष्णं नमामि ।

भाषार्थ- जिसने बचपन में कहीं भी व्यायामादि, यज्ञ वा सत्संग में, खेलने में व खेती सम्बन्धी कार्यों में कभी भी प्रमाद नहीं किया, ऐसे बाल-समुदाय में यशस्वी बने हुए, ग्राम वालों के चित्त को आकर्षित करने वाले, कमल सदृश मुख वाले, बालश्रेष्ठ उस रामकृष्ण को मेरा नमन है ।।१०।।

स्वातन्त्र्याजावदिषत निजप्राणसारं पुरा ये
तेषां शौर्यं व्रतमनुपमं वीरतां धीरतां वा ।
श्रावं श्रावं तदनुसरणं शैशवे सानुरागं
कुर्वाणं तं व्यपगतभयं रामकृष्णं नमामि ।। ११ ।।

अन्वयः- पुरा ये स्वातन्त्र्याजौ निजप्राणसारम् अदिषत तेषां शौर्यं, अनुपमं व्रतं, वीरतां धीरतां वा श्रावं श्रावं, शैशवे सानुरागं तदनुसरणं कुर्वाणं, तं व्यपगतभयं रामकृष्णं नमामि ।

भाषार्थ- अतीत में जिन्होंने स्वतन्त्रता आन्दोलन में अपने प्राणों को आहुत कर दिया, उनके बचपन में ही शौर्य, अनुपम व्रत, वीरता और धीरता को सुन-सुन कर और श्रद्धापूर्वक उसका अनुसरण करने वाले तथा सदा निर्भीक रहने वाले उस रामकृष्ण को मैं नमन करता हूँ ।।११।

शिक्षायां यः समभवदहो प्राथमिक्यां सदैव
सर्वाग्र्यत्वाद् गुरुजनवरस्नेहपात्रं सुमेधाः ।
वारं वारं गुरुकुलपदं गन्तुकामं मुदार्ष-
शिक्षां प्राप्तुं व्रतविनिरतं रामकृष्णं नमामि ।। १२।।

अन्वयः यः प्राथमिक्यां शिक्षायां गुरुजनवरस्नेहपात्रं समभवत्, वारं वारं मुदा आर्षशिक्षां प्राप्तुं गुरुकुलपदं गन्तुकामं (तम्) व्रतविनिरतं रामकृष्णं नमामि ।।१२।।

भाषार्थ- जो मेधावी प्राथमिक शिक्षा में ही सबसे आगे रहने के कारण सदैव गुरुजनों के आशीर्वाद व स्नेह का पात्र बना, बार-बार प्रसन्नता पूर्वक आर्ष शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरुकुल में प्रवेश पाने

की इच्छा रखने वाले, उस व्रतधारी बालक रामकृष्ण को मैं नमन करता हूँ ।।१२।।

आर्षप्रेमोर्जितमतिरसौ त्यक्तगेहानुरागो

बालः पित्रोर्भयपरिवृतोऽपि स्वयं सम्प्रतस्थे ।

गेहात् स्वीयात् प्रति गुरुकुलं बालयोगी तमार्यं

दीक्षालक्ष्यं विषयविमुखं रामकृष्णं नमामि ॥ १३ ॥

अन्वयः - आर्यप्रेमोर्जितमतिः असौ बालः त्यक्तगेहानुरागः, बालयोगी पित्रोः भयपरिवृतः अपि स्वीयात् गेहात् गुरुकुलं प्रति सम्प्रतस्थे, दीक्षालक्ष्यं, विषयविमुखं, तम् आर्यं रामकृष्णं नमामि।

भाषार्थ- आर्षशिक्षा के प्रति प्रेम से ऊर्जित वह बालक घर के प्रति आसक्ति को छोड़कर वह बालयोगी माता-पिता के भय से भयभीत होने पर भी अपने घर से स्वयं ही गुरुकल की ओर निकल पड़ा, दीक्षा प्राप्त करना ही जिसका एकमात्र लक्ष्य था, सांसारिक विषय-वासनाओं से विमुख उस आर्य बालक रामकृष्ण को मेरा प्रणाम ।।१३।।

पुराध्यात्मप्रेमातिशयपरिषिक्तः समभवत्

सुधीरो बालो यो गुरुकुलमचेष्टिष्ट तदनु ।

हरिद्वारे ज्वालापुरपरिसरं प्राप्य मुदितं

तमाचार्याचारेहितविनिरतं नौमि सुमतिम् ॥ १४ ॥

अन्वयः - यः सुधीरः बालः पुरा अध्यात्मप्रेमातिशयपरिषिक्तः समभवत्, तदनु गुरुकुलम् अचे. ष्टिष्ट, (ततः) हरिद्वारे ज्वालापुरपरिसरं प्राप्य मुदितम् आचार्याचारेहितविनिरतं समुतिं तं नौमि ।

भाषार्थ- धैर्यवान् जो बालक पहले अध्यात्म के प्रति अत्यधिक प्रेमभाव से परिपूर्ण हो गया, तत्पश्चात् उसने गुरुकुल में जाने का निश्चय किया, फिर हरिद्वार में ज्वालापुर स्थित गुरुकुल पहुंच कर प्रसन्न हुआ, आचार्यों के आचार को प्राप्त करने की अभिलाषा वाले, मेधावी बालक उस रामकिशन की मैं स्तुति करता हूँ ।।१४।।

प्रवेशाभावात्तु प्रथमयतने यात्यसफले

प्रभाताख्ये धाम्नि ह्यगमदचिरं मेरठभुवि ।

ततो नैराश्यार्त्तोऽपि धृतिमजहान्नैव तमहं

यतात्मानं वन्दे पठनधिषणं रामकिशनम् ॥१५॥

अन्वयः- (तत्र) प्रवेशाभावात् तु प्रथमयतने असफले याति अचिरं मेरठभुवि ततो प्रभाताख्ये

धाम्नि हि अगमत्, ततः नैराश्यार्त्तः अपि (यः) धृतिं नैव अजहात्, यतात्मानं पठनधिषणं तं रामकिशनम् अहं वन्दे ।

भाषार्थ- वहां (ज्वालापुर) प्रवेश न मिलने के कारण प्रथम प्रयास के असफल हो जाने पर वह तुरन्त मेरठ स्थित प्रभात आश्रम पहुँचे, वहां से निराशा हाथ लगने पर उसने धैर्य नहीं छोड़ा, उस संयमी व पढने के लिए उत्सुक बालक रामकिशन को मेरा नमन है । ।।१५ ।।

तदा पीलूखेडाभुवि गुरुकुले कालवगते

प्रवेशाभावेनाभवदथ निराशो न मतिमान् ।

न धीरा मुञ्चन्ति क्वचिदपि धृतं लक्ष्यमनघं

सुविद्याप्राप्त्यैकव्यसनमनिशं नौमि तमहम् ।।१६।।

अन्वयः - अथ तदा पीलूखेडाभुवि कालवगते गुरुकुले प्रवेशाभावात् (सः) मतिमान् न निराशः अभवत्, धीराः क्वचिदपि धृतम् अनघं लक्ष्यं न मुञ्चन्ति, अनिशं सुविद्या- प्राप्त्यै. कव्यसनम् अहं तं नौमि ।

भाषार्थ - तदनन्तर तब पीलूखेडा क्षेत्र में स्थित गुरुकुल कालवा में भी प्रवेश न मिलने पर वह मेध ावी बालक रामकिशन निराश नहीं हुआ, वस्तुतः धीर लोग धारण किए गए. गरिमामय लक्ष्य को कभी नहीं छोड़ते हैं, दिन-रात आर्ष-विद्या प्राप्ति के एकमात्र व्यसनी उस बालक रामकिशन की मैं स्तुति करता हूँ ।।१६।।

सुविद्याप्राप्त्यर्थं विदितबलदेवोक्तसरणि-

र्गुरोः प्रद्युम्नस्यागमदथ पदे खानपुरके ।

स बालो विद्यार्थी जयति धृतिमान् रामकिशन-

स्तमार्षप्रेमाब्धिं सविनयमहं नौमि कृतिनम् ।।१७।।

अन्वयः- अथ स विद्यार्थी बालः सुविद्याप्राप्त्यर्थं विदितबलदेवोक्तसरणिः गुरोः प्रद्युम्नस्य खानपुरके पदे अगमत्, स धृतिमान् रामकिशनः जयति, आर्षप्रेमाब्धिं तं कृतिनम् अहं सविनयं नौमि।

भाषार्थ - तत्पश्चात् विद्याभिलाषी बालक आर्यविद्याप्राप्ति हेतु आचार्य बलदेव द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त कर गुरुवर आचार्य प्रद्युम्न जी के गुरुकुल खानपुर में पहुंचा, वह धैर्यशील बालक रामकिशन अत्यन्त ऊर्जावान् है, आर्षशिक्षा के प्रेमसिन्धु उस सौभाग्यशाली बालक रामकिशन को मैं विनम्रता पूर्वक नमन करता हूँ ।।१७।।

स्वगेहाभ्यर्णस्थे खलु गुरुकुले ज्ञाततनय-

स्थितिस्तत्र प्राप्तोऽस्य जनकवरः कोपविकटः ।

पितुः कोपं सोढ्वा न हि गुरुकुलं जातुचिदहं

विमोक्तेति स्वान्ते व्रतमधिभजन्तं ह्यभिभजे ॥१८॥

अन्वयः - गुरुकुले खलु स्वगेहाभ्यर्णस्थे (सति) ज्ञाततनयस्थितिः कोपविकटः अस्य जनकवरः तत्र प्राप्तः, पितुः कोपं सोढ्वा 'अहं जातुचित् गुरुकुलं न विमोक्ता' इति व्रतम् अधिभजन्तं हि अभिभजे ।

भाषार्थ- गुरुकुल अपने घर के समीप ही वर्तमान था, इसलिए वहां पुत्र के विद्यमान होने की जानकारी प्राप्त कर, क्रोधित हुए पिताश्री वहां पहुँच गए, पिता की डांट-फटकार को सहन करके मैं इस गुरुकुल को छोड़कर कदापि घर नहीं जाऊंगा ऐसा दृढ संकल्प दोहराने वाले उस बालक रामकिशन को मेरा नमन है । ॥१८॥

तपःस्वाध्यायादिं कठिनपुरुषार्थेन च मुदा-

चरन्तं वा भिक्षाटनविनिरतं संयमधनम् ।

सदा गुर्वादेशं शिरसि वहमानं गुरुकुले

सुशिष्यत्वख्यात्या निखिलविदितं नौमि सुधियम् ॥१९॥

अन्वयः- तपःस्वाध्यायादिं कठिनपुरुषार्थेन च मुदा आचरन्तं, भिक्षाटनविनिरतं, संयमधनं, गुर्वादेशं सदा शिरसि वहमानं, गुरुकुले सुशिष्यत्वख्यात्या निखिलविदितं (तम्) सुधियं नौमि।

भाषार्थ- तप वा स्वाध्याय आदि को कठिन पुरुषार्थ व प्रसन्नता से करने वाले, भिक्षावृत्ति के दायित्व को निभाने वाले, संयम को ही अपना धन मानने वाले, सदा गुरुजी के आदेश को शिरोधार्य करने वाले, एक अच्छे सुयोग्य शिष्य के रूप में सर्वविदित हुए उस मेधावी बालक रामकिशन को मैं वन्दन करता हूँ । ॥१९॥

तृणानां व्रीहीणां भृशमुपचयं स्वीयशिरसि

मुदा वाहं वाहं गुरुवरनिदेशेन च गवाम् ।

सुसेवायां लग्नं निगमरटने दाक्ष्यलसितं

प्रणौमि श्रीमन्तं वटुपटुतमं रामकिशनम् ॥२०॥

अन्वयः - तृणानां व्रीहीणां भृशमुपचयं स्वीयशिरसि मुदा वाहं वाहं, गुरुवरनिदेशेन च गवां सुसेवायां लग्नं, निगमरटने दाक्ष्यलसितं वटुपटुतमं श्रीमन्तं रामकिशनं प्रणौमि ।

भाषार्थ- घास, धान्य के बड़े-बड़े बोझों को प्रसन्नता पूर्वक सिर पर ढोते हुए, गुरुजी के आदेशानुसार गोसेवा में संलग्न रहने वाले, शास्त्रस्मरण में दक्षता प्राप्त कर सुशोभित होने वाले, समस्त ब्रह्मचारियों में अग्रणी रहने वाले, विद्या की श्री से सम्पन्न, उस बालक रामकिशन की मैं स्तुति करता हूँ ।।२०।।

स्मरणीय बिंदु

- दैवीय अवतरण: युगद्रष्टा योगर्षि स्वामी रामदेव जी महाराज का जन्म हरियाणा के सैदालीपुर ग्राम में हुआ।
- माता-पिता का संबल: आपकी माता श्रीमती गुलाबो देवी और पिता श्री रामनिवास जी धर्मनिष्ठ परोपकारी व्यक्ति थे।
- विलक्षण बचपन: बचपन का नाम रामकृष्ण था, जो खेल-खेल में भूख-प्यास भूलकर कृषि व व्यायाम में लीन रहते थे।
- राष्ट्रभक्ति की चेतना: स्वतंत्रता सेनानियों के शौर्य और अनुपम व्रतों को सुनकर बचपन से ही निर्भीक बने।
- गुरुकुल की ओर प्रस्थान: प्राथमिक शिक्षा में शीर्ष रहकर, माता-पिता के भय को त्यागकर आर्ष-शिक्षा हेतु घर छोड़ा।

विशेष शब्द

- अखिलचोदयित्री: सबको सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने वाली।
- प्रतनभारतसंस्कृति: प्राचीन काल की गौरवमयी भारतीय संस्कृति।
- व्यपगतभय: जिसके मन से समस्त प्रकार का डर दूर हो गया हो।
- पठनधिषण: पढ़ने और ज्ञान अर्जित करने के लिए अत्यधिक उत्सुक।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

- योगर्षि स्वामी रामदेव जी के वंश, जन्म-भूमि तथा उनके माता-पिता के धार्मिक स्वरूप का विस्तृत वर्णन कीजिए।
- रामकृष्ण (स्वामी रामदेव) के बाल्यकाल की प्रवृत्तियों तथा उनकी निर्भीकता के प्रसंगों की तार्किक समीक्षा कीजिए।

- घर छोड़ने के पश्चात रामकृष्ण को विभिन्न गुरुकुलों (ज्वालापुर, मेरठ, कालवा) में प्रवेश हेतु किए गए संघर्षों को रेखांकित कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

- रामकृष्ण के नामकरण और उनके नाम की सार्थकता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
- प्राथमिक शिक्षा के दौरान रामकृष्ण का अपने गुरुजनों के प्रति कैसा व्यवहार था।
- प्रवेश न मिलने पर भी पीलूखेड़ा (कालवा) गुरुकुल में रामकृष्ण ने धैर्य कैसे बनाए रखा।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. योगर्षि स्वामी रामदेव जी का जन्म भारत के किस राज्य में हुआ था?

।) पंजाब

2) हरियाणा

3) उत्तर प्रदेश

4) राजस्थान

2. स्वामी जी महाराज के बचपन का नाम क्या था?

।) रामकृष्ण

2) रामपाल

3) देवव्रत

4) कृष्णदेव

3. स्वामी जी की पूजनीय माता का नाम क्या था?

।) गुलाबो देवी

2) सरसती देवी

3) शांति देवी

4) कस्तूरी देवी

4. रामकृष्ण के पिता का नाम क्या था?

1) श्री रामनिवास

2) श्री रामप्रसाद

3) श्री धर्मपाल

4) श्री देवराज

5. रामकृष्ण का जन्म किस विशिष्ट ग्राम परिसर में हुआ था?

1) खानपुर

2) घासेड़ा

3) सैदालीपुर

4) ज्वालापुर

6. रामकृष्ण बचपन में किसके शौर्य और वीरता की गाथाएं सुनकर प्रेरित होते थे?

1) स्वतंत्रता सेनानियों की

2) राजा-महाराजाओं की

3) विदेशी योद्धाओं की

4) मल्ल योद्धाओं की

7. रामकृष्ण आर्ष-शिक्षा प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम किस स्थान के गुरुकुल गए?

1) हरिद्वार (ज्वालापुर)

2) मेरठ (प्रभात आश्रम)

3) खानपुर

4) रोहतक

8. ज्वालापुर में प्रवेश न मिलने पर रामकृष्ण तुरंत किस भूमि की ओर बढ़े?

1) मेरठ (प्रभात आश्रम)

2) कालवा

3) दिल्ली

4) कुरुक्षेत्र

9. मेरठ के पश्चात रामकृष्ण किस मतिमान लक्ष्य के साथ पीलूखेड़ा के किस गुरुकुल पहुँचे?

।) गुरुकुल कालवा

2) गुरुकुल खानपुर

3) गुरुकुल घासेड़ा

4) गुरुकुल कुरुक्षेत्र

10. अंततः आचार्य बलदेव के मार्गदर्शन पर रामकृष्ण किस आचार्य के खानपुर गुरुकुल पहुँचे?

।) आचार्य प्रद्युम्न

2) आचार्य परशुराम

3) आचार्य शंकरदेव

4) आचार्य कपिल

इकाई -2

आचार्य बालकृष्ण से दिव्य मैत्री, रामदेव नामकरण और गंगोत्री धाम प्रस्थान

उपानद्वर्ज्याङ्घ्रिं तपनतपनेऽखिन्नमनसं
परित्यक्तस्वान्तावयवतनुसौख्यं मुनिसमम् ।
कटीवस्त्रैकाङ्गावनकरणमाचारविमलं
तपोमूर्त्तिं नौमि क्षपितनिकृतिं रामकिशनम् ॥२१॥

अन्वयः - उपानद्वर्ज्याङ्घ्रिं तपनतपने अखिन्नमनसं, परित्यक्तस्वान्तावयवतनुसौख्यं मुनिसमं, कटीवस्त्रैकाङ्गावनकरणम्, आचारविमलं, तपोमूर्तिं, क्षपितनिकृतिं रामकिशनम् नौमि ।

भाषार्थ- सूर्य की कटकती हुई धूप में भी नंगे पैर चलने पर भी खिन्न न होने वाले, अपने मन, शा. रीरिक अङ्गों व शरीर के समस्त सुखों का त्याग करने वाले, ऋषि-मुनि जैसे जीवन-जीने वाले, केवल कटिवस्त्र मात्र को अपने अङ्गों की रक्षा का साधन बनाने वाले, सत्याचरण से पवित्र, तप की साक्षात् मूर्ति व शठता कपट आदि का त्याग करने वाले उस बालक रामकिशन को मेरा नमन है । ॥२१॥

यदा बालः कृष्णो गुरुकुलपदे सख्यमभजत्
तदोर्जासम्भारो मनसि जनितो तस्य बहुलः ।
अभूद्रामः कृष्णद्वयबलविभूषो जनिशत-
वियुक्तं नौम्येतन्मिलितमथ सन्मित्रयुगलम् ॥२२॥

अन्वयः- यदा बालः कृष्णः गुरुकुलपदे सख्यम् अभजत् तदा तस्य मनसि बहुलः ऊर्जासम्भारः जनितः, रामः कृष्णद्वयबलविभूषः अभूत, जनिशतवियुक्तम्, अथ मिलितम् एतत् सन्मित्रयुगलं नौमि ।

भाषार्थ- जब ब्रह्मचारी बालकृष्ण गुरुकुल में मित्र बना, तब उसके मन में अत्यधिक ऊर्जा पैदा हो गई, उस समय राम (रामकृष्ण) दो कृष्णों के बल से विभूषित हो गया। सैंकडों जन्मों से बिछुडे व फिर मिल जाने वाले इस मित्रयुगल की मैं स्तुति करता हूँ । ॥२२॥

मनोवाक्कर्मादौ समबलमतित्वात् सविनयात्
तयोः सख्योः सख्यं सुदृढमभवद्दिव्यमतुलम् ।
अहो त्रेतारामे विकसितमिव द्वापरसुमं
स्तुवे तत्सौहार्दं तदवतु च पातञ्जलकुलम् ॥२३॥

अन्वयः- मनोवाक्कर्मादौ समबलमतित्वात्, सविनयात्, तयोः सख्योः सख्यं सुदृढं, दिव्यं, अतुलम् अभवत् । अहो त्रेतारामे द्वापरसुमम् इव विकसितं तत्सौहार्दं स्तुवे, तत् पातञ्जलकुलम् च अवतु ।

भाषार्थ- मन वाणी व कर्म आदि में समान बल व बुद्धि होने के कारण, तथा विनयगत समानता के कारण इन दोनों मित्रों की मैत्री सुदृढ़, दिव्य व अतुल हो गई, इस सौहार्द की मैं स्तुति करता हूँ तथा यह सौहार्द सदा पतञ्जलि परिवार की रक्षा करे । ।।२३।।

यदैष वर्णी समधीतविद्योऽ
धिकालवं खानपुरादियाय ।
तं पर्यचैषीद् बलदेववर्य्यः
प्रणौमि तं विस्मितमिद्धधैर्यम् ॥ २४॥

अन्वयः- समधीतविद्यः एषः वर्णी यदा वै खानपुराद् अधिकालवम् इयाय (तदा) बलदेववर्य्यः तं पर्यचैषीत् इद्धधैर्यं विस्मितं तं प्रणौमि ।

भाषार्थ- विद्याध्ययन पूर्ण कर यह ब्रह्मचारी राम कृष्ण जब खानपुर गुरुकुल से गुरुकुल कालवा पहुँचा तब वहां के आचार्य बलदेव जी ने उसे पहचान लिया, उस समय धैर्यशील बने हुए तथा एकदम आश्चर्यचकित हुए उस ब्रह्मचारी को नमन है । ।।२४।।

आचार्यवर्य्यैर्बलदेवसंज्ञैर्-
अधीतविद्याविषयेऽधिपृष्टः ।
श्रीरामकृष्णः पठितेन सर्वान्
विस्माययन् भूरि सदा जयेत्सः ॥२५॥

अन्वयः- बलदेवसंज्ञैः आचार्यवर्य्यैः रामकृष्णः अधीतविद्याविषये अभिपृष्टः, सः पठितेन सर्वान् विस्माययन् सदा भूरि जयेत् ।

भाषार्थ- तब सर्वप्रथम आचार्य श्री बलदेव जी ने ब्रह्मचारी रामकृष्ण को पूर्वपठित विद्या के विषय में पूछा, अल्पकाल में ही अधिक किये गए शास्त्राध्ययन से सबको आश्चर्यचकित करने वाला वह ब्रह्मचारी सदा अत्यधिक उत्कर्ष प्राप्त करें ।।२५।।

त्वन्नाम्नि रामः कृष्णश्च भाति
पदद्वयं वर्णिवर त्वमेकम् ।
पदं चिनुष्वेति गुरोर्निदेशे
विचारणारूढमहं नमामि ॥२६॥

अन्वयः - वर्णिवर ! त्वन्नाम्नि रामः कृष्णः च (इति) पदद्वयं भाति, त्वम् एकं पदं चिनुष्व,

इति गुरोः निर्देशे विचारणारूढम् अहं नमामि ।

भाषार्थ– हे ब्रह्मचारी रामकृष्ण ! तुम्हारे नाम में राम और कृष्ण ये दो पद हैं, तुम्हें इनमें से कोई एक पद चुनना होगा । गुरुवर द्वारा ऐसा आदेश देने पर जो गहरी सोच में पड़ गया था ऐसे उस ब्रह्मचारी रामकृष्ण को मेरा नमन । ।।२६।।

माता मदीया खलु रामभक्तिस्–
तस्मात् प्रभो रामपदं चिनोमि ।
गुरुं तदैवं प्रतिभाषमाणं
स्तुवे तमार्यं बहु मातृदेवम् ।।२७।।

अन्वयः – प्रभो ! मदीया माता खलु रामभक्तिः, तस्मात् रामपदं चिनोमि, गुरुं तदा एवं प्रतिभाषमाणं बहु मातृदेवं तम् आर्यं स्तुवे ।

भाषार्थ– हे भगवन्, मेरी माता जी को श्रीराम में दृढ आस्था है अतः मैं इनमें से राम पद को चुनता हूँ, इस प्रकार गुरुजी को प्रत्युत्तर देने वाले परम मातृभक्त उस आर्य (श्रेष्ठ) की मैं स्तुति करता हूँ । ।।२७।।

भवेस्त्वमद्य प्रभृतीह राम–
देवेतिनाम्ना प्रथितो ह्यवादीत् ।
आचार्य आर्यं नवरामदेवं
तं वर्णिनं नौमि गुरोः कृपर्द्धम् ।।२८।।

अन्वयः – इह अद्य प्रभृति त्वं रामदेवेतिनाम्ना हि प्रथितः भव (इति) आचार्यः आर्यं नवरामदेवं अवादीत्। गुरोः कृपर्द्धं तं वर्णिनं नौमि ।

(कृपया ऋद्धम् अनुग्रहाभिभूषितम् । कृपा+ऋद्ध अत्र गुणसन्धिः ।)

भाषार्थ–

आज से तुम रामदेव इस नाम से जाने जाओगे ऐसा आचार्य बलदेव ने आर्य उस नवीन नाम धारण करने वाले रामदेव को कहा, गुरुजी की कृपा से समृद्ध उस ब्रह्मचारी श्री रामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता है । ।।२८।।

स रामकृष्णोऽजनि रामदेवस्–
तदाखिलानां गुरुपुङ्गवानाम् ।

शुश्रूषया हृन्दि मुदा हरन्तं
तन्नौमि शिष्यार्णवदिव्यरत्नम् ॥२९॥

अन्वयः- स रामकृष्णः रामदेवः अजनि, तदा गुरुपुङ्गवानां शुश्रूषया अखिलानां हृन्दि हरन्तं शिष्यार्णवदिव्यरत्नं तं नौमि ।

भाषार्थ- तब वे रामकृष्ण रामदेव बन गये। तब श्रेष्ठ गुरुजनों की सेवा से सबके हृदयों को आकर्षित करने वाले, शिष्य रूपी सागर में दिव्य रत्न तुल्य उस श्री रामदेव ब्रह्मचारी की मैं स्तुति करता हूँ ।।२९।।

वेदागमव्याकरणस्मृतीनां
ज्ञानागमेनाखिलवाग्ग्मिवृन्दे ।
प्रशस्तकीर्तिं गुरुरामदेवं
विद्योदधिं नौमि मनीषिवर्य्यम् ॥ ३०॥

अन्वयः- वेदागमव्याकरणस्मृतीनां ज्ञानागमेन अखिलवाग्ग्मिवृन्दे प्रशस्तकीर्तिं विद्योदधिं मनीषिवर्य्यं गुरुरामदेवं नौमि ।

भाषार्थ- वेद-शास्त्र-व्याकरण व स्मृति आदि के ज्ञान की प्राप्ति से समस्त विद्वद्वृन्द में प्रशस्त कीर्ति वाले, विद्या के सागर, मनीषिश्रेष्ठ गुरुवर श्रद्धेय रामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ। ।। ३०।।

कृषिक्रियाप्राप्तकृषीवलत्वं
योगक्रियादीप्ततपोधनत्वम् ।
सहिष्णुतायां प्रथितप्रतापं
नमामि तं नैकगुणप्रशस्तम् ॥ ३१॥

अन्वयः - कृषिक्रियाप्राप्तकृषीवलत्वं, योगक्रियादीप्ततपोधनत्वं, सहिष्णुतायां प्रथितप्रतापं, नैकगुणप्रशस्तं तं नमामि ।

भाषार्थ- खेती के कार्य करने से जिन्होंने एक अच्छे किसान के गुणों को प्राप्त कर लिया था, यौगिक क्रियाओं को करने से जिनका तपोधनत्व प्रकाशित होता था, सहिष्णुता मैं जो अत्यन्त प्रतापी थे ऐसे अनेक गुणों से प्रशस्त ब्रह्मचारी श्रीरामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ । ।।३१।।

सौहार्दवृत्तौ गुरुसेवनादौ
स्वाध्याययोगासनसाधनायाम् ।
अपारकीर्तिं प्रथितप्रभावं
नमामि तं वैदिकबोधिसत्त्वम् ॥ ३२॥

अन्वयः - सौहार्दवृत्तौ, गुरुसेवनादौ, स्वाध्याययोगासनसाधनायाम्, अपारकीर्तिं प्रथितप्रभावं,

वैदिकबोधिसत्त्वं तं नमामि तं ॥

भाषार्थ- सौहार्दपूर्ण व्यवहार में, गुरुजनों की सेवा आदि करने में, स्वाध्याय, योगासन व योगसाधना करने में जिन्होंने अपार कीर्ति प्राप्त की है, जिनका प्रभाव सर्वविदित है, ऐसे वैदिकबोधिसत्त्व के समान लगने वाले उस ब्रह्मचारी रामदेव जी को नमन है । ।।३२।।

न गेहरागः श्रुतिबद्धरागो
महानुरागश्च परोपकारे ।
व्यलोकि यस्य मुनिवद् विरागं
श्रीरामदेवं विनतो नमामि ॥ ३३ ॥

अन्वयः - यस्य न गेहरागः, यस्य श्रुतिबद्धरागः, परोपकारे च महानुरागः व्यलोकि, मुनिवद् विरागं
श्रीरामदेवं विनतः (अहम्) नमामि ।

भाषार्थ- जिनकी घर के प्रति आसक्ति नहीं रही, जिनकी वेदादिशास्त्रों में अत्यधिक आस्था बनी, परोपकारादि कार्यों में महान् अनुराग दिखाई देने लगा ऐसे ऋषिमुियों के समान वैरागी बने उस ब्रह्मचारी रामदेव जी को मैं विनम्रभाव से नमन करता हूँ । ।। ३३।।

विरागं व्यपगतरागम्, राग आसक्तिः, मोहात्मकः प्रणयो वेत्यर्थः ।

अत्राहोज्वलमणिः- सुखमप्यधिकं चिते सुखत्वेनैव रज्यते । यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कथ्यते।।

तथा च यस्तु चेतांसि रज्यन्ते जगन्त्रितयवर्त्तिनाम् । तेरागा इति कथ्यन्ते मुनिभिर्भरतादिभिः ।

विद्यावैभवमात्ममानसनिधावापूर्य वेदोदितम्-
आचार्यः समजायत श्रमभरैः श्रीरामदेवो बुधः ।
आचार्यैरुदघोषि वर्णिनिवहे सञ्चालको वर्तिता
मच्छिष्यो मतिमानुदारहृदयो विद्याश्रमस्यास्य भोः ।।३४।।

अन्वयः- बुधः श्रीरामदेवो वेदोदितं विद्यावैभवम् आत्ममानसनिधौ श्रमभरैः आपूर्य आचार्यः समजायत,
आचार्यैः वर्णिनिवहे उदघोषि (यत्) भोः मतिमान् उदारहृदयः मच्छिष्यः विद्याश्रमस्यास्य सञ्चालकः वर्त्तिता ।

विद्याश्रमस्य गुरुकुलस्येत्यर्थः ।

भाषार्थ- वह मनीषी श्रीरामदेव वेदोक्त विद्या वैभव को अपनी आत्मा व मन के खजाने में भर कर आचार्य बन गया, तब गुरुवर आचार्य बलदेव जी ने समस्त ब्रह्मचारियों में यह घोषणा कर दी थी यह

मेधावी, उदारहृदय वाला मेरा शिष्य (रामदेव) ही इस गुरुकुल का सञ्चालक (उत्तराधिकारी) होगा ।।३४।।

श्रुत्वेदं वचनं गुरोः स्वमनसाचार्यत्वभारं प्रति
स्वीयास्वीकृतिमानिवेद्य निरगात्तद्धामतोऽलोलुपः ।
राष्ट्रोद्धारधृतव्रतं श्रुतिमतोद्धारैकलक्ष्यं सदा-
उद्योगे योगमहाध्वरेऽर्पितधियं श्रीरामदेवं स्तुवे ।।३५।।

अन्वयः - गुरोः इदं वचनं श्रुत्वा स्वमनसा आचार्यत्वभारं प्रति स्वीयास्वीकृतिम् आनिवेद्य, अलोलुपः (सन्) तद्धामतः निरगात्, राष्ट्रोद्धारव्रतं, सदोद्योगे योगमहाध्वरे अर्पितधियं श्रु. तिमतोद्धौरकलक्ष्यं श्रीरामदेवं स्तुवे ।

भाषार्थ- गुरुवर आचार्य बलदेव जी के उक्त वचनों को ध्यान से सुनकर, आचार्यत्व के दायित्व को सम्भालने के विषय में पद लोलुपता से रहित होते हुए अपनी अस्वीकृति व्यक्त करके उस आश्रम को छोड़ कर चले गए। राष्ट्र के उद्धार का एक दृढ व्रत धारण करने वाले, सतत अखण्ड-प्रचण्ड पुरुषार्थ तथा योग रूपी महायज्ञ में अपने चित्त को लगाए हुए तथा वेदोद्धार को ही अपना एकमात्र लक्ष्य मानने वाले श्रद्धेय रामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ ।।३५।।

घासेडाधरणौ स्थितं गुरुकुलञ्चागत्य वर्णिव्रजे
वेदव्याकरणादिशिक्षणमसौ प्रारब्ध लब्धेहितः ।
शिक्षामार्षमतामतीतरुचिरां सन्दीपयन्तं भुव
उद्धाराय समर्पितात्मविभवं श्रीरामदेवं स्तुवे ।।३६।।

अन्वयः - घासेडाधरणौ स्थितं गुरुकुलं च आगत्य लब्धेहितः असौ वर्णिव्रजे वेदव्याकरणा दिशिक्षणं प्रारब्ध, आर्षमताम् अतीतरुचिरां शिक्षां सन्दीपयन्तं भुवः उद्धाराय समर्पितात्मविभवं श्रीरामदेवं स्तुवे ।

भाषार्थ - घासेडाक्षेत्र में स्थित गुरुकुल में आकर मनोवांच्छित कार्य को प्राप्त करने वाले ने वहां ब्रह्मचारियों को वेद-व्याकरण आदि पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया । अतीत में शोभायमान रही आर्षशिक्षा को प्रकाशित करने वाले तथा पृथिवी के उद्धार हेतु अपना सर्वस्व न्यौच्छावर करने वाले श्रद्धेय गुरुवर श्री रामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ ।।३६।।

सन्मित्रेण च बालकृष्णविदुषा पत्रे हि सम्प्रेषिते
सन्दिष्टं श्रुतियोगयोगरुचिरायुर्वेदविद्योच्छ्रितिः।
लक्ष्यं मे तव चाद्य पुण्यतपसां भूरावयोर्धाम वै
मित्रोक्तिं मनसाचरन्तमनघां श्रीरामदेवं स्तुवे ।।३७।।

अन्वयः - सन्मित्रेण च बालकृष्णविदुषा सम्प्रेषिते पत्रे हि सन्दिष्टं (यत्) श्रुतियोगयोगरुचिरायुर्वेद-विद्योच्छ्रितिः अद्य मे च तव च लक्ष्यं, पुण्यतपसां भूः वै आवयोः धाम इति अनघां मित्रोक्तिं मनसा आचरन्तम् श्रीरामदेवं स्तुवे ।

भाषार्थ - एक अच्छे मित्र व सहपाठी रहे मनीषी आचार्य बालकृष्ण द्वारा प्रपित एक पत्र में सन्देश दिया गया कि ''वेद और योगविद्या के योग से सुन्दर आयुर्वेद की विद्या को विकसित व प्रचारित करना आज मेरा व आपका लक्ष्य है'' ''पुण्यतपस्थली ही दोनों की आवासस्थली होनी चाहिए'' इस बहु मूल्य मित्र वाक्य का मनसे आचरण करने वाले गुरुवर रामदेवजी की मैं स्तुति करता हूँ ।।३७।।

तन्मित्रेण सहोर्जितात्मधिषणो योगे तपःसाधनो-
द्योगे सिद्धिमवाप्तुमाप्तगहनज्ञानार्णवं गाहितुम् ।
गङ्गोत्रीशुभधाम धर्मनिधनं धीरर्षभोऽवीव्रजद्

ब्रह्मप्राप्तिधृतव्रतं सुकृतिनं श्रीरामदेवं स्तुवे ।।३८।।

अन्वयः - तन्मित्रेण सह ऊर्जितात्मधिषणः योगे तपःसाधनोद्योगे सिद्धिम् अवाप्तुम् आप्तगह-नज्ञानार्णवं गाहितुं (च) धीरर्षभः धर्मनिधनं गङ्गोत्रीशुभधाम अवीव्रजद्, ब्रह्मप्राप्तिधृतव्रतं सुकृतिनं श्रीरामदेवं स्तुवे ।

भाषार्थ- अपने घनिष्ठ मित्र श्री बालकृष्ण के साथ ऊर्जायुक्त बुद्धि व चिन्तन वाला, योग-तपस्या व साधना के उद्योग में सिद्धि प्राप्त करने हेतु व आप्त पुरुषों, ऋषि-मुनियों के गहन ज्ञान सागर का आलोडन करने हेतु वह धीरश्रेष्ठ (आचार्य रामदेव जी महाराज) धर्म के स्रोतभूत गङ्गोत्री के पवित्र धाम की ओर चल पड़ा। ब्रह्मप्राप्ति हेतु व्रत धारण करने वाले, महामनीषी आचार्य रामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ ।।३८।।

उत्तुङ्गाद्रिपरीवृतं हिमशिलाशैत्यद्युतिद्योतितं
रम्यारण्यसमीरनीरपदवीसंशोभितं पावनम् ।
योगिध्यानबलोर्जितं प्रतिपलं बुद्धप्रबुद्धस्थलं
तद्धामैत्य समाधिलीनममरं श्रीरामदेवं स्तुवे ।।३९।।

अन्वयः- उत्तुङ्गादिपरीवृत्त, रम्यारण्यसमीरनीरपदवीसंशोभितं, , हिमशिलाशैत्यद्युतिद्योतितं, प्रतिपलं

योगिध्यानबलोर्जितं बुद्धप्रबुद्धस्थलं तत् पावनम् धाम एत्य समाधिलीनम् अमरं श्रीरामदेवं स्तुवे।

भाषार्थ - ऊँचे-ऊँचे पर्वतों से घिरे हुए, बर्फ की चट्टानों की सफेद आभा से चमकने वाले, सुन्दर वनों, हवाओं, जलों व पगडण्डियों से सुशोभित, प्रतिपल योगियों के ध्यानबल से ऊर्जामय बने हुए, अनेक सिद्ध, ज्ञानियों व चिन्तनशील लोगों की स्थली बने हुए उस पवित्र गङ्गोत्रीधाम में पहुँच कर समाधि में

लीन होने वाले, देवस्वरूप आचार्य श्रीरामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ ।।३९।।

रागो लोपमुपागतो हृदयगो याता बुभुक्षा क्वचित्
क्रोधो दैन्यमुपेत्य तस्य सहसा हा कान्दिशीकोऽभवत् ।
लोभारिः सरयं भयाद्विचलितो गङ्गाम्भसि प्राविशत्
शुद्धस्वान्तमनन्तकीर्तिलसितं श्रीरामदेवं स्तुवे ।।४०।।

अन्वयः- तस्य हृदयगः रागः लोपम् उपागतः, बुभुक्षा क्वचित् याता, क्रोधः दैन्यम् उपेत्य हा सहसा कान्दिशीकः अभवत्, लोभारिः सरयं भयाद् विचलितः (सन्) गङ्गाम्भसि प्राविशत् शुद्धस्वान्तम् अनन्तकीर्तिलसितं (तम) श्रीरामदेवं स्तुवे ।

भाषार्थ- उनका हृदयगत राग लुप्त हो गया, भूख न जाने कहां चली गई? क्रोध दीन हीन सा होकर अचानक रफ्फूचक्कर हो गया, लोभ रूपी शत्रु भय के कारण शीघ्रता से विचलित होकर लगता है कहीं गङ्गाजल में विलीन हो गया, ऐसे विशुद्धहृदय वाले तथा अनन्तकीर्ति से सुशोभित गुरुवर श्रीरामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ ।।४०।।

स्मरणीय बिंदु

- दृढ़ संकल्पः पिता के क्रोध और डांट को सहकर भी गुरुकुल न छोड़ने का अटूट व्रत लिया।
- कठिन पुरुषार्थः भिक्षाटन, कठिन तप, शास्त्रों के रटन और उत्तम गोसेवा से आदर्श शिष्य बने।
- दिव्य मित्र मिलनः गुरुकुल में ब्रह्मचारी बालकृष्ण से अद्वितीय सौहार्द व सख्य भाव स्थापित हुआ।
- नवीन नामकरणः आचार्य बलदेव ने मेधा देखकर रामकृष्ण का नाम रामदेव निश्चित किया।
- गङ्गोत्री यात्राः पद-लोलुपता त्यागकर, आचार्य बालकृष्ण के पत्रानुसार आयुर्वेद-योग उत्थान हेतु गङ्गोत्री प्रस्थान किया।

विशेष शब्द

- संयमधनम्ः जिसके जीवन का एकमात्र वास्तविक धन उसका आत्म-नियंत्रण हो।
- वटुपटुतमः समस्त ब्रह्मचारियों में अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के कारण सबसे अग्रणी।
- अलोलुपः किसी भी प्रकार के ऊँचे पद, मान-सम्मान या धन की इच्छा न रखने वाला।
- धीरर्षभोः धैर्यवान पुरुषों में सबसे श्रेष्ठ अथवा बैलों के समान भार वहन करने में सक्षम।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1 गुरुकुल खानपुर में रामकृष्ण द्वारा किए गए शारीरिक और मानसिक पुरुषार्थों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

प्रश्न-2 रामकृष्ण के रामदेव नामकरण की पृष्ठभूमि तथा गुरु-शिष्य संवाद के व्याकरणिक एवं भावनात्मक पक्षों का विश्लेषण कीजिए।

प्रश्न-3 आचार्य बलदेव द्वारा गुरुकुल के संचालक का पद दिए जाने पर भी रामदेव जी के उसे त्यागने के मूल वैराग्य कारणों की समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

- ब्रह्मचारी रामकृष्ण और बालकृष्ण की अटूट मित्रता को त्रेता व द्वापर के किस सादृश्य से उपमित किया गया है।
- रामकृष्ण ने नाम के दो पदों (राम और कृष्ण) में से राम पद को ही क्यों चुना?
- आचार्य बालकृष्ण ने पत्र के माध्यम से रामदेव जी को क्या विशिष्ट संदेश भेजा था?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. गुरुकुल में रामकृष्ण की स्थिति जानकर कौन अत्यंत क्रोधित होकर वहां पहुंचे थे?

1) उनके पिता

2) राजा कंस

3) आचार्य बलदेव

4) ग्राम प्रधान

2. रामकृष्ण गुरुकुल में गुरुवर के आदेशानुसार मुख्य रूप से किसकी सुसेवा में लीन रहते थे?

1) गायों की (गोसेवा)

2) अश्वों की

3) हाथियों की

4) अतिथियों की

3. ब्रह्मचारी रामकृष्ण को गुरुकुल पदे किस अनन्य मेधावी के रूप में सन्मित्र प्राप्त हुआ?

1) ब्रह्मचारी बालकृष्ण

2) ब्रह्मचारी देवव्रत

3) ब्रह्मचारी रामपाल

4) ब्रह्मचारी अक्रूर

4. विद्या अध्ययन पूर्ण कर रामकृष्ण खानपुर से पुनः किस गुरुकुल लौटे?

1) गुरुकुल कालवा

2) गुरुकुल ज्वालापुर

3) प्रभात आश्रम

4) गुरुकुल घासेड़ा

5. कालवा लौटने पर किस श्रेष्ठ आचार्य ने रामकृष्ण की विद्या के विषय में परीक्षा ली?

1) आचार्य बलदेव

2) आचार्य प्रद्युम्न

3) आचार्य शंकरदेव

4) आचार्य परशुराम

6. रामकृष्ण ने अपनी माता की किस भक्ति के कारण राम पद का चुनाव किया?

1) रामभक्ति

2) कृष्णभक्ति

3) शिवभक्ति

4) देशभक्ति

7. आचार्य बलदेव ने रामकृष्ण को आज से किस नए नाम से प्रथित होने का आदेश दिया?

1) रामदेव

2) कृष्णदेव

3) देवदूत

4) स्वामी ओ३म्

8. वेदादि शास्त्रों के अपार ज्ञान के कारण रामदेव जी को किसकी उपमा दी गई?

।) विद्योदधि (विद्या के सागर)

2) मल्लराज

3) कलिकाल दूत

4) सूत्रधार

9. गुरुवर आचार्य बलदेव ने रामदेव को किस आश्रम/गुरुकुल का भावि संचालक घोषित किया था?

।) विद्याश्रम (गुरुकुल कालवा)

2) गुरुकुल खानपुर

3) गुरुकुल घासेड़ा

4) प्रभात आश्रम

10. रामदेव जी और आचार्य बालकृष्ण गहन ज्ञान-सागर के आलोडन हेतु किस पवित्र धाम की ओर चल पड़े?

।) गङ्गोत्री शुभधाम

2) यमुनोत्री धाम

3) केदारनाथ धाम

4) बद्रीनाथ धाम

इकाई -3

हिमालय में कठोर तपस्या, हरिद्वार आगमन और संन्यास ग्रहण का दिव्य निश्चय

लिप्सा भोगततेरहो बलवती प्रालेयशैलाहता
वैशीर्ण्यं समुपगता विनिहता तन्मानसी वासना ।
गर्वक्रूरनिशाचरस्य दलितं हृद्भीममात्मस्थित-
शान्त्या हर्षितमानसं मुनिवरं श्रीरामदेव स्तुवे ।।४१।।

अन्वयः - अहो भोगततेः बलवती लिप्सा प्रालेयशैलाहता (सती) वैशीर्ण्यं समुपगता, तन्मानसी वासना विनिहता, गर्वक्रूरनिशाचरस्य भीमं हृत् दलितम् आत्मस्थितशान्त्या हर्षितमानसं (तम्) मुनिवरं श्रीरामदेवं स्तुवे।

भाषार्थ - आश्चर्य का विषय है कि भोग-विलास की प्रबल लिप्सा मानो वहाँ बर्फीले पर्वतों से टकरा कर चूर-चूर हो गई, मन की वासना नष्ट हो गई, अहंकार रूपी क्रूर राक्षस का भयंकर हृदय मानों खण्डित हो गया था, आत्मस्थित शान्ति से प्रसन्नचित हुए मुनिवर श्रीरामदेवजी की मैं स्तुति करता हूँ । ।।४१।।

मन्दं मन्दमहो मनोबलगतिर्दार्ढ्यं भजन्त्यूर्जिता
सन्देहस्य चिदाततस्य शकलीभूता अहो ग्रन्थयः ।
स्थैर्यं तस्य हृदि स्थितिं ह्यकलयद् गङ्गाङ्गसङ्गाद् ध्रुव-
मैकाग्र्यैकरुचिं प्रशान्तमनसं श्रीरामदेवं स्तुवे ।।४२।।

अन्वयः- अहो मनोबलगतिः मन्दं मन्दं दार्ढ्यं भजन्ती ऊर्जिता, अहो चिदाततस्य सन्देहस्य ग्रन्थयः शकलीभूताः, गङ्गाङ्गसङ्गाद् तस्य हृदि स्थैर्यं हि स्थितिं अकलयत्, ध्रुवम् ऐकाग्र्यैकरुचिं प्रशान्तमनसं तं श्रीरामदेवं स्तुवे ।

भाषार्थ- आश्चर्य एवं हर्ष का विषय है इनकी मनोबल की गति धीरे-धीरे दृढ होती हुई ऊर्जा से युक्त हो गई, हर्ष का विषय है कि चित्त में फैले सन्देह की ग्रन्थियां छिन्न-भिन्न हो गई. श्रीगङ्गा के सम्पर्क में रहने से उनके हृदय में स्थिरता पैदा हो गई, निश्चित रूप से एकाग्रता में रुचि रखने वाले व प्रशान्त हृदय वाले श्रद्धेय श्रीरामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ ।।४२।।

शैत्ये चण्डतमे निदाघसमये मेघागमे यः समा-
वस्थां संहननात्मनोः प्रकलयन् गङ्गातटेऽतप्यत ।

योगीन्द्रं मुनिराजराजिमुकुटालङ्कारभूतं गुरुं

तं श्रद्धेयतमं महेश्वरसमं श्रीरामदेवं स्तुवे ॥४३॥

अन्वयः- यः चण्डतमे शैत्ये, निदाघसमये, मेघागमे संहननात्मनोः समावस्थां प्रकलयन् गङ्गातटे अतप्यत, मुनिराजराजिमुकुटालङ्कारभूतं, योगीन्द्रं महेश्वरसमं गुरु श्रीरामदेवं स्तुवे ।

भाषार्थ- जो प्रचण्डतम ठण्ड में कड़कती हुई गर्मी की धूप में, बरसात में, शरीर और आत्मा की समान स्थिति बनाए हुए, गङ्गा के किनारे तपस्या करते रहे, मुनिराज समूह के मुकुटालंकार स्वरूप, योगिराज, शङ्कर के समान तपस्वी व शान्त परम श्रद्धेय गुरुवर श्रीरामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ ।।४३।।

क्षणः क्षमात्मकस्तदा समागतोऽस्य जीवने
तपोधनं समर्ज्य योगयोगवर्धितश्रियः ।
कृपालुबागदिव्यधाम्नि यावदेष आगत

नमामि रामदेवमार्षरक्षकं तमादृतम् ॥४४॥

अन्वयः - यावत् एषः तपोधनं समये कृपालुबागदिव्यधाम्नि आगतः तदा योगवर्धितश्रियः अस्य जीवने क्षणात्मकः क्षणः समागतः, तम् आर्षरक्षकं आदृतं रामदेवं नमामि ।

भाषार्थ- जब ये तपस्या की सम्पदा अर्जित करके कृपालुबाग आश्रम (हरिद्वार) में आए तब योग विद्या से इनके समृद्ध शोभावाले जीवन में एक उत्सवमय क्षण आया ऐसे आर्षविद्या के रक्षक आदरणीय आचार्य रामदेवजी महाराज को मैं नमन करता है ।।४४।।

महात्मनो हि शङ्करस्य देवभूषितस्य यः
शुभाश्रमे पुरातने स्थिते च जाह्नवीतटे।
समागमन्निमन्त्रितः स्वयं यतीश्वरेण तं

नमामि रामदेवमुन्नताध्वनोऽभिलाषिणम् ॥४५॥

अन्वयः- देवभूषितस्य शङ्करस्य महात्मनः पुरातने जाह्नवीतटे शुभाश्रमे हि यः च यतीश्वरेण स्वयं निमन्त्रितः समागमत्, उन्नताध्वनः अभिलाषिणं तं रामदेवं नमामि ।

भाषार्थ - पूज्य स्वामी शंकरदेव जी महाराज के गंगा किनारे स्थित प्राचीन पवित्र आश्रम में जो यतिवर द्वारा स्वयं निमन्त्रित करने पर उपस्थित हुए, ऐसे श्रेष्ठ व उन्नत मार्ग पर चलने के अभिलाषी आचार्यवर श्रीरामदेव जी महाराज को मेरा नमन है ।।४५।।

कृपालुदेवतेजसा समूर्जिते च शङ्करा-

शिषा विभासितेऽत्र योगिरामदेववाग्मिनः ।

चिकित्सनाभियानमापदापदां निवारणे

परोपकारितामनारतं नमामि तं बुधम् ।।४६।।

अन्वयः - कृपालुदेवतेजसा समूर्जिते, शङ्कराशिषा च विभासिते अत्र योगिरामदेववाग्ग्मिनः आपदां निवारणे चिकित्सनाभियानम् अनारतं परोपकारिताम् आपत्, तं बुधं नमामि ।

भाषार्थ- देवतुल्य कृपालु जी महाराज के तेज से ऊर्जित तथा स्वामी शंकरदेव जी महाराज के आशीर्वाद से प्रकाशित इस आश्रम में योगिराज मनीषी रामदेव जी महाराज का दु:खनिवारक चिकित्सा-अभियान निरन्तर परोपकार-कारक सिद्ध हुआ, अतः उस प्रबुद्ध पुरुष आचार्य रामदेव जी महाराज को मेरा नमन ।।४६।।

इहाश्रमे हि येन योगसाधनाचिकित्सनैर्-

अवापि कीर्तिरुज्ज्वला च बालकृष्णयोगतः ।

हरेर्वसुन्धराभवन्निरामया निरन्तरं

नमामि दु:खमोचनं गुरुं तमार्यभूषणम् ।।४७।।

अन्वयः - येन इह आश्रमे हि बालकृष्णयोगतः योगसाधनाचिकित्सनैः उज्ज्वला कीर्तिः च अवापि हरेः वसुन्धरा निरन्तरं निरामया अभवनं, दु:खमोचनम्, आर्यभूषणं, तं गुरुं नमामि ।

भाषार्थ- जिन्होंने इस आश्रम में आचार्य बालकृष्ण जी के सहयोग से साधना और चिकित्सा द्वारा उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त की, तथा हरिद्वार की भूमि भी निरन्तर रोगमुक्त हुई, दु:खों को दूर करने वाले तथा श्रेष्ठ लोगों के शिरोमणि उस गुरुवर रामदेव जी महाराज को मेरा नमन है ।।४७।।

द्विचक्रिकासहाय एव पादपाभिवर्जितो

वने वने च पर्वतेषु पादपौषधार्जकः ।

व्यलोकि लोकसञ्चयेन यो जनोपकारको

नमामि तं हि सुश्रुताध्वगामिनं मनीषिणम् ।।४८।।

अन्वयः यः जनोपकारकः पादपाभिवर्जितः द्विचकिकासहायः एव वने वने पादपौषधार्जकः लो. कसञ्चयेन व्यलोकि, सुश्रुताध्वगामिनं तं मनीषिणं नमामि ।

भाषार्थ - जो नंगे पैर, केवल साईकल के सहारे ही लोकोपकार में संलग्न, अनेक वन में पर्वतों में जड़ी-बूटियों को एकत्रित करता हुआ प्रायः लोगों द्वारा देखा जाता था, महर्षि सुश्रुत के मार्ग पर चलने वाले उस मनीषी को मैं नमन करता है । ।।४८।।

सबालकृष्ण एष आश्रमे कृपालुबागके

वसन् समाचरन् सदैव पौरुषं व्यधत्त च ।

परोपकारिदिव्ययोगमन्दिरस्य योजनां

तयाद्य देवसंस्कृतेर्हि रक्षकं नमाम्यहम् ।।४९।।

अन्वयः - एषः सबालकृष्णः कृपालुबागके आश्रमे वसन्, सदैव पौरुषं समाचरन, परोपकारिरि. दव्ययोग-

मन्दिरस्य योजनां च व्यधत्त, तया अद्य देवसंस्कृतेः हि रक्षकं तं अहं नमामि ।

भाषार्थ- इन्होंने आचार्य बालकृष्ण जी के साथ इसी कृपालुबाग आश्रम में रहते हुए, सदैव पुरुषार्थ करते हुए, परोपकार हेतु दिव्य योग मन्दिर की योजना बनाई थी, उसी के माध्यम से आज देवसंस्कृति की रक्षा करने वाले गुरुवर स्वामी रामदेव जी महाराज को मैं नमन करता हूँ ।।४९।।

न कोऽपि रोगपीडितो म्रियेत जातु भूतले

न कोऽपि योगवर्जितो गृहे गृहे च वर्तताम् ।

न कोऽपि राजनीतिभीतिशोषितश्च भारते

इति व्रतं समाचरन्तमत्र तं स्तुवे द्विजम् ।।५०।।

अन्वयः- भूतले रोगपीडितः कोऽपि जातु न म्रियेत, गृहे गृहे च कोऽपि योगवर्जितः न वर्तताम् भारते च कोऽपि राजनीतिभीतिशोषितः न वर्तताम् , इति व्रतं समाचरन्तं तं द्विजं स्तुवे।

भाषार्थ - इस संसार में कोई भी रोग पीड़ित होकर कदापि न मर सके, प्रत्येक घर में कोई भी व्यक्ति योग से अनभिज्ञ न रह सके, भारत में कोई भी व्यक्ति राजनीति के भय से शोषित न हो सके, ऐसा व्रत सदा धारण करने वाले उस विप्रवर गुरु रामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ ।।५०।।

न भारतीयसंस्कृतौ विधर्मिघात आपतेत्

न कोऽपि भारतीयमत्र तर्जनेन तापयेत् ।

न कोऽपि देशरक्षणे प्रबाधनं निपातयेद्-

इति व्रतं हृदि प्रधारयन्तमूर्जितं स्तुवे ।।५१।।

अन्वयः- भारतीयसंस्कृतौ विधर्मिघातः न आपतेत्, अत्र भारतीयं कोऽपि तर्जनेन न तापयेत्, देशरक्षणे कोऽपि प्रबाधनं न निपातयेत् इति व्रतं हृदि प्रधारयन्तं ऊर्जितं (तम्) स्तुवे ।

भाषार्थ- भारतीय संस्कृति में विधर्मियों का प्रहार कदापि न हो, यहां कोई भी भारतीयों को डरा-धमका कर सन्तप्त न करे, देश की सुरक्षा में कोई भी बाधा न डाले, इस प्रकार हृदय में व्रत धारण करने वाले ऊर्जासम्पन्न उस गुरुवर की मैं स्तुति करता हूँ ।।५१।।

स्वदेशमानवर्द्धनं विधर्मिगर्वमर्दनं

सदैव दिव्ययोगभैषजेन लोकरक्षणम् ।

स्वदेशवैभवाभिवृद्धिमार्थिकोन्नतिश्रितां

प्रतिक्षणं विभावयन्तमेव तं स्तुवे गुरुम् ।।५२।।

अन्वयः - स्वदेशमानवर्द्धनं, विधर्मिगर्वमर्दनं दिव्ययोगभैषजेन सदैव लोकरक्षणम्, आर्थिकोन्नतिश्रितां स्वदेशवैभवाभिवृद्धिं (च) प्रतिक्षणं विभावयन्तं एवं तं गुरुं स्तुवे ।

दिव्ययोगश्च भैषजञ्चेति तयोः समाहारस्तेन ।

भाषार्थ- अपने देश के मान-सम्मान व स्वाभिमान को बढाना, विधर्मियों के अहंकार को चूर-चूर करना, दिव्य योग व आयुर्वेदिक औषधियों से सदैव लोगों की रक्षा करना, तथा आर्थिक उन्नति और विकास पर आधारित अपने राष्ट्र के वैभव में वृद्धि करना आदि का प्रतिक्षण चिन्तन करने वाले उस गुरुवर पूज्य स्वामी रामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ ।।५२।।

गृहे गृहे जने जने च दिव्ययोगमन्दिर-

विभाद्य यस्य पौरुषेण भूतले विभासते ।

पतञ्जलिप्रभाप्रभाकरञ्च शङ्करश्रियं

स्तुवे नमामि रामदेवमादितेयमूर्जितम् ।।५३।।

अन्वयः- अद्य यस्य पौरुषेण गृहे गृहे जने जने भूतले च दिव्ययोगमन्दिरविभा विभासते, पतञ्जलिप्रभाप्रभाकरं शङ्करश्रियम् ऊर्जितं आदितेयं तं रामदेवं स्तुवे नमामि ।

भाषार्थ - आज जिनके पुरुषार्थ के फलस्वरूप घर घर में जन जन में और समूचे विश्व में दिव्ययोगमन्दिर ट्रस्ट का वर्चस्व शोभायमान हो रहा है, पतञ्जलि योगपीठ की प्रभा के सूर्य, शिव के समान कल्याणकारी तथा गुरुवर शंकरदेव जैसी शोभा वाले, ऊर्जा सम्पन्न, साक्षात् देवस्वरूप गुरुवर श्री रामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ तथा वन्दन करता हूँ ।

प्रतिपलमुपकारप्रोद्यतं रामदेवं

निशि निशि परिदृष्टः स्वप्न एको विचित्रः ।

विचलितमकरोद्धा कोऽपि संन्यासिवर्य्योऽ-

भिलषति निजपार्श्वे नेतुमाचारपूतम् ।।५४।।

अन्वयः - निशि निशि परिदृष्टः एकः विचित्रः स्वप्नः प्रतिपलम् उपकारप्रोद्यतं रामदेव

हा विचलितम् अकरोत्, (तस्मिन् स्वप्ने) कोऽपि संन्यासिवर्य्यः आचारपूतम् (तम्) नेतुम् अभिलषति।

भाषार्थ - प्रत्येक रात्रि में दिखाई देने वाला एक विचित्र स्वप्न उपकार कार्यों में संलग्न आचार्य रामदेव जी महाराज को विचलित करने लगा, स्वप्न में कोई संन्यासी पवित्र आचरण वाले इन्हें, अपने पास बुलाना चाहता था ।।५४।।

कथयति भृशमेनं रामदेवं वरेण्यं

भव भव भव शीघ्रं गैरिकाच्छादनेन ।

यतिरिति यतिवर्य्यं स्वप्नदृष्टोऽद्भुतो वै

यतिमतिममितोर्जं नौमि तं दिव्यरूपम् ॥५५॥अन्वयः- स्वप्नदृष्टः अद्भुतः यतिवर्य्यः एनं वरेण्यं रामदेवं भृशं कथयति (यत्) गैरिकाच्छादनेन (त्वम्) शीघ्रं यतिः भव भव भव इति यतिमतिम् अमितोर्जं दिव्यरूपं तं नौमि।

भाषार्थ- स्वप्न में दिखाई देने वाला वह संन्यासी इस श्रेष्ठाचरण वाले रामदेव जी महाराज को बार-बार कहता है कि तुम गेरुए वस्त्र धारण कर शीघ्र ही संन्यासी बन जाओ, इस प्रकार संन्यासी बनने के विचार को मन में सुदृढ़ करने वाले, अतुल ऊर्जा सम्पन्न दिव्यपुरुष श्री रामदेव जी की मैं स्तुति करता हूँ ।।५५।।

वदति वियदपारं भास्करो य मृगाङ्कः

क्षितिधरपरिवारो भूतधात्री च सिन्धुः ।

प्रकृतिरतुलशोभा व्योमतारावली च

सकलविबुधवारो देवलोकाधिवासः ॥

मधुरिपुनटराजानङ्गमन्दारवृन्दं

भव भव भव शीघ्रं गैरिकाच्छादनेन ।

यतिरिति जनताया भव्यनव्योदयाय

तमवनिमतदेवं स्तौमि वन्देऽभिनन्द्यम् ।।५६-५७।।

अन्वयः- अपारं वियद्, भास्करः, मृगाङ्कः, क्षितिधरपरिवारः, भूतधात्री, सिन्धुः च, अतुलशोभा प्रकृतिः, व्योमतारावली च, देवलोकाधिवासः सकलविबुधवारः, मधुरिपुनटराजानङ्गमन्दारवृन्दं यं वदति (यत्) जनतायाः भव्यनव्योदयाय शीघ्रं गैरिकाच्छादनेन यतिः भव भव भव इति अवनिमतदेवम् अभिवन्द्यं तं (श्रीरामदेवं) स्तौमि, वन्दे ।

भाषार्थ - अपार आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, पर्वतसमूह, पृथिवी, सागर, अनुपम शोभायुक्त प्रकृति, आकाश-स्थित तारों की पंक्ति, देवलोक में रहने वाले समस्त देवताओंभगवान् विष्णु, शङ्कर, कामदेव व कल्पवृक्ष आदि जिनसे बार-बार यही कह रहे थे कि तुम जनता के कल्याण और अभिनव समृद्धि के लिए अतिशीघ्र संन्यासी बन जाओ, इस प्रकार पृथिवी के देवता अभिवन्दनीय उस गुरुवर रामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ तथा वन्दना करता हूँ ।।५६-५७।।

जगति सकलभोगा नात्मनस्तेऽनुरूपा

जनिरिह तव विश्वोद्धारहेतोरमोघा ।

प्रभुवर इति नित्यं चोदयत्यात्मसंस्थो

यममरसममाप्तं तं स्तुवे वीतरागम् ।।५८।।

अन्वयः - जगति सकलभोगाः न ते आत्मनः अनुरूपाः, इह तव अमोघा जनिः विश्वोद्धारहेतोः, इति आत्मसंस्थः प्रभुवरः यं नित्यं चोदयति, तम् अमरसमम्, आप्तं वीतरागं स्तुवे ।

भाषार्थ - इस संसार में समस्त सांसारिक भोग तुम्हारी आत्मा के अनुरूप नहीं हैं, तुम्हारा यह अमूल्य जन्म विश्व के उद्धार के लिए हुआ है, इस प्रकार अन्तरात्मा में विराजमान परमेश्वर जिसे सदा प्रेरणा देते रहते हैं, ऐसे देवस्वरूप वीतराग उस आप्तपुरुष पूज्य गुरुवर श्री रामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ ।।५८।।

भुवनमखिलमेतत् सत्यमार्गं विहाय

अनुसरति गतधर्म्यं हाद्य दुःखान्तमार्गम् ।

त्वमिह तरणिरस्य प्रेरयत्यात्मसंस्थः

प्रभुरिति यमुदारं तं स्तुवे रामदेवम् ।।५९।।

अन्वयः- हा अद्य एतत् अखिलं भुवनं सत्यमार्गं विहाय गतधर्म्यं दुःखान्तमार्गम् अनुसरति, अस्य इह त्वं तरणिः, इति आत्मसंस्थः प्रभुः यं प्रेरयति तम् उदारं रामदेवं स्तुवे ।

भाषार्थ - खेद है, आज यह संसार सत्यमार्ग (वेद मार्ग) को छोड़कर धर्महीन और अन्ततो गत्वा दुःखदायी मार्ग पर चल रहा है, इसके एकमात्र उद्धारक तुम ही हो इस प्रकार अन्तरात्मा में विराजमान परमेश्वर जिन्हें निरन्तर प्रेरित करते हैं, ऐसे उदारहृदय वाले गुरुवर श्रद्धेय रामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ ।।५९।।

कलितसुयतिवेशस्त्यक्तसंसाररागो

भुवि परहितजीवी लोकमुद्धर्त्तुमर्हः ।

अमरपुरुष एव त्वं तथेत्यात्मसंस्थो

निगदति जगदीशो यं स्तुवे तं विरागम् ॥६०॥

अन्वयः - कलितसुयतिवेशः त्यक्तसंसाररागः, भुवि परहितजीवी अमरपुरुषः एव लोकम् उद्धर्तुम् अर्हः, त्वं तथा इति आत्मसंस्थः जगदीशः यं निगदति तं विरागं स्तुवे ।

भाषार्थ- सांसारिक आसक्ति से रहित संन्यासी जो लोककल्याण के लिए जीता हो ऐसा दिव्य पुरुष ही इस संसार का उद्धार कर सकता है, तुम ऐसे ही हो (अर्थात् इन सभी गुणों व योग्यता से युक्त हो) इस प्रकार अन्तरात्मा में विराजमान परमेश्वर जिन्हें निरन्तर प्रेरित करते हैं ऐसे विरक्त पुरुष श्रद्धेय रामदेव जी महाराज की मैं स्तुति करता हूँ ।।६०।।

हृदि भृशमिति दिव्यामीरणां जायमानां

पठितनिगमसारं भावयन् रामदेवः ।

विगतविषयमोहो द्रागवाप्तुं यतित्वं

स्वमनसि निरचैषीन्नौमि तं शान्तिसिन्धुम् ॥६१॥

अन्वयः - इति हृदि भृशं जायमानां दिव्याम् ईरणां, पठितनिगमसारं भावयन्, विगतविषयमोहः (सन्) द्राक् यतित्वम् अवाप्तुं स्वमनसि निरचैषीत्, त शान्तिसिन्धुम् नौमि ।

भाषार्थ - इस प्रकार हृदय में निरन्तर पैदा होने वाली दिव्य प्रेरणा व पठित वेद-शास्त्रों के सार का चिन्तन करने वाले, संसार की मोह-ममता को त्याग कर शीघ्र ही संन्यास ग्रहण करने हेतु जिन्होंने अपने मन में निश्चय कर लिया ऐसे उस शान्ति के सागर श्रद्धेय गुरुवर की मैं स्तुति करता हूँ ।।६१।।

स्मरणीय बिंदु

- कठिन गङ्गोत्री तपः हिमशिलाओं के मध्य भूख, प्यास, राग, क्रोध व लोभ का पूर्ण शमन किया।
- द्वंद्वातीत साधनाः कड़कती ठंड, भीषण गर्मी और वर्षा में शरीर व आत्मा को सम रखा।
- हरिद्वार आगमनः तपस्या की संपदा अर्जित कर हरिद्वार के कृपालुबाग आश्रम में पदार्पण किया।
- परोपकार चिकित्साः आचार्य बालकृष्ण के सहयोग से योग-साधना व स्वदेशी चिकित्सा अभियान प्रारंभ किया।

अखंड राष्ट्रीय व्रतः भारत को रोगमुक्त, योगयुक्त और स्वदेशी आर्थिक स्वावलंबन देने का संकल्प लिया।

विशेष शब्द

- कान्दिशीकोः भय के कारण दिशाहीन होकर चारों तरफ भागने वाला।
- संहननात्मनोः मनुष्य के स्थूल शरीर और उसकी सूक्ष्म अंतरात्मा की सम स्थिति।
- पादपौषधार्जकः वनों और पर्वतों से जड़ी-बूटियों एवं औषधियों को एकत्रित करने वाली विधि मिंघातः सनातन संस्कृति पर बाह्य व अधार्मिक शक्तियों द्वारा किया जाने वाला प्रहार।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

- गङ्गोत्री के पावन व दुर्गम क्षेत्र में स्वामी रामदेव जी द्वारा की गई समाधिपरक आंतरिक विजय का काव्यात्मक विश्लेषण कीजिए।
- स्वामी शंकरदेव जी के सान्निध्य में कृपालुबाग आश्रम से प्रारंभ हुए योग-चिकित्सा अभियान के वैश्विक प्रभावों की समीक्षा कीजिए।
- स्वामी रामदेव जी के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा देश की आर्थिक उन्नति से जुड़े त्रिविध व्रतों की सविस्तार व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

- गङ्गोत्री में गङ्गा के सामीप्य से स्वामी जी के मनोबल और संदेह की ग्रंथियों पर क्या प्रभाव पड़ा।
- लोक-कल्याण के लिए जड़ी-बूटियों की खोज के दौरान स्वामी जी के किस भौतिक स्वरूप का वर्णन हुआ है।
- गृहे गृहे जने जने च दिव्ययोगमन्दिरविभा पंक्ति के माध्यम से कवि क्या उद्घोषित करना चाहता है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. बर्फीली चोटियों से घिरे गङ्गोत्री धाम में स्वामी जी का कौन सा विकार समूल नष्ट हो गया?

1) राग और वासना

2) विद्या वैभव

3) शौर्य बल

4) आर्ष प्रेम

2. गङ्गातटे कठोर तपस्या करने के कारण स्वामी जी को किसके समान तपस्वी कहा गया?

1) महेश्वर (शिव)

2) इन्द्र

3) वरुण

4) सूर्य

3. तपस्या की महान संपदा अर्जित कर स्वामी जी हरिद्वार के किस दिव्य धाम में आए?

1) कृपालुबाग आश्रम

2) प्रभात आश्रम

3) शान्तिकुञ्ज

4) परमार्थ निकेतन

4. जाह्नवी (गङ्गा) तट पर स्थित प्राचीन आश्रम के किस महात्मा/यतीश्वर ने स्वामी जी को आमंत्रित किया था?

1) स्वामी शंकरदेव जी

2) स्वामी ओ३म् जी

3) आचार्य बलदेव जी

4) पूज्य कृपालु देव जी

5. स्वामी जी ने कृपालुबाग आश्रम में किसके सहयोग से उज्ज्वल कीर्ति और निरामय अभियान प्राप्त किया?

1) आचार्य बालकृष्ण जी

2) आचार्य प्रद्युम्न जी

3) ध्रुवसेन भट्ट

4) सिंहबल रक्षक

6. स्वामी जी आदि ऋषि सुश्रुत के मार्ग पर चलते हुए वनों-पर्वतों में औषधियां एकत्र करने हेतु किसका सहारा लेते थे?

1) द्विचक्रिका (साइकिल) का

2) रथ का

3) अश्व का

4) नौका का

7. स्वामी जी के संकल्प के अनुसार भारत का कोई भी नागरिक किससे पीड़ित होकर नहीं मरना चाहिए?

1) रोग से

2) राजनीति से

3) विद्या से

4) धन से

8. प्रत्येक भारतीय के घर-घर में क्या वर्जित (छूटना) नहीं होना चाहिए?

1) योग

2) विलास

3) शस्त्र

4) राग

9. भारतीय संस्कृति को किससे सुरक्षित रखने का अखंड व्रत स्वामी जी ने अपने हृदय में धारण किया?

1) विधर्मियों के प्रहार से

2) व्यापार से

3) कृषि क्रियाओं से

4) योग विधा से

10. स्वामी जी प्रतिक्षण स्वदेश के वैभव को बढ़ाने हेतु किस उन्नति का चिंतन करते हैं?

1) आर्थिक उन्नति का

2) पाश्चात्य संस्कृति का

3) विलास साधन का

4) मल्ल युद्ध का

इकाई-4

स्वामी शंकरदेव का उपदेश, संन्यास दीक्षा और पतञ्जलि योगपीठ का इतिहास-गौरव

भवदृढनिगडोऽयं बाधको मोक्षमार्गे

निजहितपरिचिन्ता केवला बन्धहेतुः ।

सकलजनहितैषी जायते वै परिव्राड्

इति हृदि विमृशन्तं नौमि तं ज्ञाततत्त्वम् ।।६२।।

अन्वयः- अथ भवदृढनिगडोः मोक्षमार्गे बाधकः, केवला निजहितपरिचिन्ता बन्धहेतुः, परिव्राट् वै सकलजनहितैषी जायते, इति हृदि विमृशन्तं ज्ञाततत्त्वम् तं नौमि ।

भाषार्थ - यह सांसारिक दृढबन्धन मोक्ष के मार्ग में बाधक है, केवल अपने दिन की चिन्ता करना बन्धन का हेतु है, संन्यासी ही सब लोगों का हितैषी बन सकता है, इस प्रकार अपने हृदय में चिन्तन करने वाले उस तत्त्ववेत्ता गुरुवर की मैं स्तुति करता हूँ ।।६२।।

यतिपदमधिगन्तुं लोककल्याणकारि

प्रतिपलमचिचिन्तद्दीप्तनिःस्वार्थतार्चिः ।

तमधिगमनकालप्रोत्सुकं भावुकाय

युगपुरुषवरेण्यं रामदेवं नमामि ।।६३।।

अन्वयः- लोककल्याणकारि यतिपदम् अधिगन्तुं दीप्तनिःस्वार्थतार्चिः (सः) प्रतिपलम् अचिचिन्तत् भावुकाय तमधिगमनकालप्रोत्सुकं युगपुरुषवरेण्यं रामदेवं नमामि ।

भाषार्थ- लोककल्याणकारी संन्यासपद को प्राप्त करने के लिए मन में निःस्वार्थ भाव की ज्वाला प्रदीप्त किए हुए वे प्रतिपल चिन्तन करते रहे, कल्याण प्राप्ति हेतु उसी संन्यासपद को प्राप्त करने के लिए लालायित, श्रेष्ठ युगपुरुष गुरुवर रामदेव जी महाराज को मैं नमन करता हूँ ।।६३।।

बान्धवैः साधु संन्यासधर्माध्वनो

नैकधा वारितो बोधितश्चोदितः ।

सन्नपि स्वव्रतं योऽजहान्न क्वचित्

तं स्तुवे मोक्षमार्गैकलक्ष्यं मुदा ॥ ६४ ॥

अन्वयः- यः बान्धवैः संन्यासधर्माध्वनः नैकधा साधु वारितः बोधितः चोदितः सन्नपि क्वचित् स्वव्रतं न अजहात्, ते मोक्षमार्गैकलक्ष्यं मुदा स्तुवे ।

भाषार्थ- जिन्हें माता-पिता, सगे सम्बन्धियों ने अनेक बार संन्यास लेने से रोका, समझाया, व प्रेरित किया परन्तु उन्होंने अपने दृढ व्रत को नहीं छोड़ा, मोक्ष प्राप्ति को ही एकमात्र लक्ष्य समझने वाले उस गुरुवर की मैं हृदय से स्तुति करता हूँ ।।६४।।

कामितो देववृन्दैर्मुनीन्द्रैर्बुधै

रामदेवैः स्वयं मानसे भावितः ।

देवदेवाशिषा काल आनन्दद

आगतो भागधेयैः स पुण्यप्रदः ॥६५॥

अन्वयः- देववृन्दैः मुनीन्द्रैः बुधैः कामितः, स्वयं रामदेवैः मानसे भावितः, सः पुण्यप्रदः आनन्ददः कालः देवदेवाशिषा भागधेयैः आगतः ।

भाषार्थ- जिसकी देवताओं ने, मुनिवरों ने, विद्वज्जनों ने कामना की थी तथा स्वयं आचार्य रामदेव जी महाराज ने भी मन में जिसके लिए संकल्प लिया था वह पुण्यप्रद व आनन्ददायक समय ईश्वर के आशीर्वाद व सौभाग्य से आ ही गया ।।६५।।

शङ्करेण स्वयं स्वामिना ध्यानिना

ज्ञानिना शान्तिदूतेन मेधाविना ।

ज्ञानपीयूषसिक्तः स्वशिष्यः प्रियो

रामदेवस्तदाहूत आध्यात्मिकः ॥६६॥

अन्वयः- ध्यानिना ज्ञानिना शान्तिदूतेन मेधाविना स्वामिना शङ्करेण स्वयं ज्ञानपीयूषसिक्तः आध्या. त्मिकः प्रियः स्वशिष्यः रामदेवः तदा आहूतः ।

भाषार्थ - ध्यानी, ज्ञानी, शान्तिदूत व मेधावी स्वामी शंकरदेव जी महाराज ने स्वयं ही ज्ञान रूपी अमृत से अभिषिक्त, अध्यात्म से ओतप्रोत अपने प्रिय शिष्य रामदेव जी को बुलाया ।।६६।।

बोधितः सौम्य वत्स त्वमायाहि मत्-

सन्निकृष्टे शृणु ध्यानमग्नो भवन् ।

एषणाजालबन्धं दृढं भञ्जय

हार्दसन्देहवारं द्रुतं खण्डय ॥६७॥

अन्वयः- (सः) बोधितः (च) सौम्य वत्स ! त्वं मत्सन्निकृष्टे आयाहि, ध्यानमग्नः भवन् शृणु, दृढं एषणाजालबन्धं भञ्जय, हार्दसन्देहवारं द्रुतं खण्डय ।

भाषार्थ - और उसे समझाया (उपदेश दिया) कि हे सुशील वत्स ! तुम मेरे पास आयो, ध्यानमग्न होकर सुनो, इस सुदृढ सांसारिक एषणाओं के जाल के बन्धन को तोड़ डालो, तुम्हारे हृदय में जितने भी सन्देह (भ्रम, शंकाएं आदि) है उन्हें खण्डित कर दो ।।६७।।

रञ्जय स्वान्तमीशानुरागेण च

मण्डय प्रेमभावेन जीवाजिरम् ।

नन्दय ध्यानयोगेन विश्वं प्रिय

शुन्धयाध्यात्मनीरैर्निजं जीवनम् ॥६८॥

अन्वयः- प्रिय ईशानुरागेण च स्वान्तं रञ्जय, प्रेमभावेन जीवाजिरं मण्डय, ध्यानयोगेन विश्वं नन्दय, अध्यात्मनीरैः निजं जीवनं शुन्धय ।

भाषार्थ - हे प्रिय शिष्य, ईश्वरानुराग से अपने मन को रंग दो, प्रेमभाव से अपनी आत्मा (अथवा जीवन) रूपी आंगन को सुसज्जित कर दो, ध्यान व योग से सम्पूर्ण विश्व को आनन्दित कर दो, अध्यात्म जल से अपने जीवन को शुद्ध कर दो ।।६८।।

स्तम्भयान्तर्विचारार्णवोग्रभ्रमिं

जम्भयानङ्गवेगं मनोमर्दनम् ।

तुण्डयात्मैषणाकण्टकाल्युच्छ्रयं

लुञ्जय क्षेममन्तर्मनः क्लेशनम् ॥६९॥

अन्वयः - अन्तर्विचारार्णवोग्रभ्रमिं स्तम्भय, मनोमर्दनम् अनङ्गवेगं जम्भय, आत्मैषणा-कण्टकाल्युच्छ्रयं तुण्डय, आन्तर्मनः क्लेशनं क्षोभं लुञ्जय ।

भाषार्थ - अपने अन्तर्विचाररूपी सागर के उग्र तूफान को रोक डालो, मन को विचलित करने वाले काम के वेग को नष्ट कर दो (अथवा नियन्त्रित कर दो), अपनी एषणा-रूपी काण्टों की पंक्ति के फैलाव को क्षीण कर दो तथा अन्तर्हृदय को पीडित करने वाले क्षोभ को नष्ट कर दो ।।६९।।

नैकधेति प्रशस्तोपदेशामृतै-

बोंधित:शोधितो मोदितश्चोदित: ।

भोगबन्धाच्छुको वा दृढान्मोचित:

पोषित: पालितश्चाप्तवाक्याशनै: ॥

वेदमन्त्रैर्मखायोजने पावने

भव्यसङ्कल्पसारै: कृतार्थीकृत: ।

जाह्नवीनीरधाराशये वेशितोऽ

वाप संन्यासदीक्षामसौ वेदविद् ॥७०-७१॥

अन्वय:- इति नैकधा प्रशस्तोपदेशामृतै: बोधित: शोधित: मोदित: चोदित: दृढात् भोगबन्ध ात् शुक: वा मोचित:, आप्तवाक्याशनै: पोषित: पालितश्च, पावने मखायोजने वेदमन्त्रै: भव्यसङ्कल्पसारै: कृतार्थीकृत:, जाह्नवीनीरधाराशये वेशित: असौ वेदविद् संन्यास- दीक्षाम् अवाप।

भाषार्थ - इस प्रकार (पूर्वोक्त) अनेक प्रशस्त उपदेश रूपी अमृतों से बोधित, शुद्ध प्रसन्न व प्रेरित किये गये, दृढ भवबन्धन से पिञ्जरे से छूटे तोते के समान मुक्त हुए, आप्तवाक्यरूपी भोजन से पालित पोषित हुए, पवित्र यज्ञानुष्ठान में वेदमन्त्रों से तथा भव्यसङ्कल्पों से कृतार्थ हुए, गङ्गा की पावन जलधारा में प्रविष्ट हुए, वेदज्ञ आचार्यप्रवर श्री रामदेव जी महाराज ने संन्यास दीक्षा ग्रहण कर ली । ।।७०-७१।।

आदितेयैरपि प्रेषिता आशिषो

योगिसिद्धप्रबुद्धै: करैरर्पितै: ।

पुष्पवृष्टिप्रसारैरसौ नन्दितो

रामदेवो यतित्वास्पदं प्रापित: ॥७२॥

अन्वय: - आदितै: अपि आशिष: प्रेषिता:, योगिसिद्धप्रबुद्धै: करै: अर्पितै: पुष्पवृष्टिप्रसारै: असौ नन्दित:, रामदेव: यतित्वास्पदं प्रापित:

भाषार्थ - तब देवताओं ने भी आशीर्वाद प्रदान किये, योगी, सिद्धमहात्मा व अन्य मनीषीजनों ने अपने हाथों से की पुष्पवृष्टि से उसे आशीर्वाद दिया व अभिनन्दन किया, इस प्रकार आचार्य रामदेव जी महाराज संन्यास पद को प्राप्त हुए ।।७२।।

हर्षिता वीक्षितास्तावदाशा दश

व्योमशैलावनीसागरा: फुल्लिता: ।

जाह्नवी नर्त्तितेवोर्मिसम्प्रेङ्खणै-

देंवपूरागतेवावनौ प्रोत्सुका ।।७३।।

अन्वयः- तावत् दश आशाः हर्षिताः वीक्षिताः व्योमशैलावनीसागराः फुल्लिताः (वीक्षिताः), जाह्नवी ऊर्मिसम्प्रेङ्खणैः नर्त्तिता इव (वीक्षिता), देवपूः प्रोत्सुका अवनौ आगता इव (वीक्षिता)।

भाषार्थ - तब दश दिशाएं मानो प्रसन्न हो गई, आकाश, पर्वत, पृथिवी व सागर प्रफुल्लित हुए दिखाई दिये, श्रीगङ्गा तरङ्गों के हिलोरों से नाचती-झूमती हुई देखी गई तथा ऐसा लगा जैसे अत्यन्त उत्सुक हुई स्वर्गनगरी भूमि पर अवतरित हो गई, ऐसा देखा गया ।।७३।।

यतिराजवरो भुवि योगऋषि-

हरतेऽखिलसङ्कटमार्षमतिः ।

मम भारतसंस्कृतिरक्षक हे

प्रणमामि तवाम्बुजपादयुगम् ।।७४।।

अन्वयः- आर्षमतिः यतिराजवरः योगऋषिः भुवि अखिलसङ्कटं हरते, हे मम भारत-

संस्कृतिरक्षक तव अम्बुजपादयुगं प्रणमामि ।

भाषार्थ - आर्षविद्या के मनीषी, यतिवरों में श्रेष्ठ योग ऋषि स्वामी रामदेव जी महाराज इस संसार में समस्त लोगों के संकटों को दूर करते हैं, हे मेरे भारत की संस्कृति के रक्षक, आपके चरणकमलों में मैं प्रणाम करता हूँ ।।७४।।

भुवि यस्य यशो विततं विमलं

प्रयते मनसीन्दति सोमसुधार ।

मिहिरोऽधिललाटमहो लसति

प्रणमामि हि तं गुरुयोगऋषिम् ।।७५।।

अन्वयः- यस्य भुवि विमलं यशः विततं, यस्य प्रयते मनसि सोमसुधा इन्दति, यस्य

अधिललाटम् अहो मिहिरः लसति, तं गुरुयोगऋषिं हि प्रणमामि ।

भाषार्थ - जिनका निर्मल यश समस्त भूमण्डल में फैला है, जिनके पवित्र मन में चन्द्रमा की सुधा शोभायमान होती है, जिनके माथे पर साक्षात् सूर्य विराजमान दिखाई देता है, ऐसे श्रद्धेय गुरु योगऋषि को मैं प्रणाम करता हूँ ।।७५।।

मुखमिन्दुसमं नयने कमले

विमले हृदये करुणा वसति ।

भुवि यस्य कृपाखिलमोदकरी

प्रणमामि हि तं गुरुयोगऋषिम् ।।७६।।

अन्वयः- यस्य मुखम् इन्दुसमं, यस्य नयने कमले, विमले हृदये करुणा वसति, भुवि यस्य कृपा अखिलमोदकरी तं गुरुयोगऋषि हि प्रणमामि ।

भाषार्थ- जिनका मुख चाँद तुल्य है, जिनकी आँखें कमलस्वरूप है, जिनके निर्मल-हृदय में करुणा निवास करती है, इस संसार में जिनकी कृपा सबको आनन्दित कर देती है ऐसे गुरु योगऋषि जी को मैं प्रणाम करता हूँ ।।७६।।

शुभदर्शनमेत्य हि यस्य जनो

निखिलोऽपि सुधन्यतमो भवति ।

ऋषिसंस्कृतिरक्षकमार्यवरं ।

प्रणमामि हि तं गुरुयोगऋषिम् ।।७७।।

अन्वयः- यस्य शुभदर्शनम् एत्य हि निखिलः अपि जनः सुधन्यतमः भवति, ऋषि-संस्कृतिरक्षकम् आर्यवरं तं गुरुयोगऋषिं हि प्रणमामि ।

आर्येषु श्रेष्ठपुरुषेषु वैदिकधर्मावलम्बिषु वा वरं श्रेष्ठम् । वरो जामातरि वृत्तौ देवतादेरभीप्सिते ।

कुङ्कुमे तु नपुंसकमिति मेदिनी

भाषार्थ - जिनके दर्शन प्राप्त कर समस्त लोग अत्यन्त धन्य हो जाते हैं, जो ऋषिसंस्कृति के रक्षक, आर्यों में श्रेष्ठ हैं, ऐसे गुरुयोगऋषि को मैं प्रणाम करता हूँ ।।७७।।

चरणाम्बुजरेणुकणं विमलं

शिरसि प्रणिधाय च भक्तगणः ।

भजते भुवि यस्य सुखं त्रिदिवं

प्रणमामि हि तं गुरुयोगऋषिम् ।।७८।।

अन्वयः- भक्तगणः च यस्य विमलं चरणाम्बुजरेणुकणं शिरसि प्रणिधाय भुवि त्रिदिवं सुखं भजते, तं हि गुरुयोगऋषिं प्रणमामि ।

भाषार्थ – भक्तगण जिनके पवित्र चरणकमल की धूली के कण को शिर पर धारण कर इस संसार में स्वर्ग जैसा सुख प्राप्त करते हैं, ऐसे गुरुवर योगऋषि को मैं प्रणाम करता हूँ ।।७८।।

जगत्सम्मान्यानां यतिगगनताराविधुरुचाम्-

अहो योगर्षीणां जनहृदयसद्मस्थितिमताम् ।

सदैवायुर्वेदामृतसरिति संस्नाय निखिला

भजन्ते स्वारोग्यं तममरमहं नौमि शतशः ।।७९।।

अन्वयः अहो जगत्सम्मान्यानां यतिगगनताराविधुरुचां, जनहृदयसद्मस्थितिमतां योगर्षीणाम् आयुर्वेदामृतसरिति संस्नाय निखिलाः सदैव स्वारोग्यं भजन्ते, तम् अमरम् अहं शतशः नौमि ।

यतय एव गगनतारास्तेषु विधुरिव रुक् येषां तेषामित्यर्थः ।

भाषार्थ – हर्ष का विषय है कि समस्त विश्व में सम्माननीय, संन्यासी रूपी गगनस्थ तारों में चन्द्रमा जैसी कान्ति वाले लोगों के हृदयरूपी मन्दिर में सदैव विराजमान रहने वाले, योग ऋषि स्वामी रामदेव जी महाराज की आयुर्वेद की अमृतमयी सरिता में स्नान करके, समस्त लोग सुन्दर स्वास्थ्य प्राप्त कर रहे हैं, देव स्वरूप उस गुरुवर की मैं अनेकधा स्तुति करता हूँ । ।।७९।।

अहो स्वल्पैः शब्दैः शतकपिठरे सीमितपदे

निबद्धुं योगर्षेर्महदनुपमं दिव्यचरितम् ।

न शक्यं केनाब्धिः सुलघुकलशे पूर्यत इह

सतां चारित्र्याभा वियति वितताऽनन्तगुरुता ॥ ८०॥

अन्वयः – अहो सीमितपदे शतकपिठरे स्वल्पैः शब्दैः, योगर्षेः महत् अनुपमं दिव्यचरितम् निबद्धुं न शक्यं, इह सुलघुकलशे केन अब्धिः पूर्यते, सतां चारित्र्याभा वियति वितता अनन्तगुरुता (भवति) ।

भाषार्थ – आश्चर्य है, सीमित स्थान वाले शतक रूपी पात्र में थोड़े से शब्दों द्वारा योग ऋषि के विशाल दिव्य चरित को काव्यबद्ध करना सम्भव नहीं है, यहां कौन ऐसा हो सकता है जो छोटे से घड़े में सागर को भर सकता हो, वस्तुतः श्रेष्ठपुरुषों के चारित्र्य की आभा आकाश तक फैली तथा अनन्त गौरव युक्त होती है ।।८०।।

अतो योगर्षीणां सकलचरितं चारु विशदं

समीहेऽहं सद्यः खलु कवयितुं नद्धमनसा ।

पुरा नान्दीभूतं शतकमिदमुक्तं लघु मया

प्रभुः पूर्णं कामं सपदि कुरुते पूतमनसः ॥ ८१ ॥

अन्वयः- अतः योगर्षीणां चारु विशदं सकलचरितम् अहं नद्धमनसा खलु सद्यः कवयितुं समीहे, पुरा इदं लघु शतकं मया नान्दीभूतम् उक्तं, प्रभुः पूतमनसः कामं सपदि पूर्णं कुरुते ।

भाषार्थ - अतः श्रद्धेय योगऋषि का सुन्दर, विस्तृत, समस्त चरित मैं पूर्णमनोयोग से शीघ्र ही काव्यबद्ध करना चाहता हूँ, यह लघु शतक मैंने उस की एक प्रस्तावना के रूप में लिखा है, वस्तुतः प्रभु (परमेश्वर) पवित्र हृदय वाले व्यक्ति की कामना शीघ्र पूरी करता है ।।८१।।

क्षणोपमः क्षणः स आशु जीवने ममापतेत्

प्रबाधनभ्रमिः प्रशान्तिमेतु काव्यकर्मणि ।

कृपा कृपालुधामभूषणस्य दिव्ययोगिनः

करोतु मामकिञ्चनञ्च भावुकाधिकारिणम् ॥ ८२॥

अन्वयः - क्षणोपमः सः क्षणः मम जीवने आशु आपतेत्, प्रबाधनभ्रमिः काव्यकर्मणि प्रशान्तिं एतु, कृपालुधामभूषणस्य दिव्ययोगिनः कृपा अकिञ्चनं मां भावुकाधिकारिणं करोतु ।

भाषार्थ - उत्सवमय वह क्षण मेरे जीवन में शीघ्र आये, काव्यलेखन में बाधाओं के भंवर शान्त हों, कृपालुधाम के विभूषण दिव्य योगी गुरुवर की कृपा मुझ अकिञ्चन को सौभाग्य व कल्याण की अधि कारी बनाये ।।८२।।

पतञ्जलिप्रथेतिहासवीथिका प्रतीक्षते

दिवौकसोऽपि सोदरोपमस्य कीर्तिकामनाः ।

वसुन्धरा समुत्सुकास्ति तत्क्षणाभिवीक्षणे

प्रभोः कृपा प्रमाणमत्र नौम्यहं गुरुं भृशम् ॥ ८३ ॥

अन्वयः- पतञ्जलिप्रथेतिहासवीथिका प्रतीक्षते, दिवौकसः अपि सोदरोपमस्य कीर्तिकामनाः, तत्क्षणाभिवीक्षणे वसुन्धरा समुत्सुका अस्ति, अत्र प्रभोः कृपा प्रमाणम्, अहं गुरुं भृशं नौमि ।

भाषार्थ - पतञ्जलि योगपीठ के कीर्तिमय इतिहास की वीथिका प्रतीक्षा कर रही है, देवता भी अपने सहोदरतुल्य योगऋषि की काव्यबद्ध की गई उस कीर्तिगाथा की कामना कर रहै हैं, उस क्षण को देखने के लिए पृथिवी भी लालायित है, इस विषय में प्रभु की कृपा ही प्रमाण है, मैं तो उस गुरुवर योगऋषि को बारं-बार प्रणाम करता हूँ ।।८३।।

स्मरणीय बिंदु

- संन्यास की दैवीय प्रेरणा: रात्रि के विचित्र स्वप्नों और अंतरात्मा की पुकार पर गेरुए वस्त्र धारण करने का दृढ़ निश्चय किया ।

- पवित्र दीक्षा संस्कार: स्वामी शंकरदेव जी महाराज द्वारा गङ्गा की पावन धारा में वेदमंत्रों के साथ संन्यास दीक्षा संपन्न हुई।

- वैश्विक आरोग्यता: पतञ्जलि योगपीठ के माध्यम से समूचे विश्व को आयुर्वेद और योग से नव-जीवन प्रदान किया।

- काव्य ग्रन्थन मर्यादा: सीमित शब्दों के लघु शतक (100 श्लोकों) में उनके अगाध महाचरित्र को गागर में सागर समान निरूपित किया।

विशेष शब्द

- गैरिकाच्छादनेन: संन्यासी के प्रतीक स्वरूप परम पवित्र गेरुए वस्त्रों को धारण करना।
- परिव्राड्: वह परम विरक्त संन्यासी जो केवल संपूर्ण समाज के कल्याण हेतु जीता हो।
- शतकपिठरे: सौ श्लोकों की परिधि वाले लघु काव्य ग्रंथ रूपी सीमित पात्र में।
- सुलघुकलशे: अत्यंत लघु आकार वाले मिट्टी के घड़े में अगाध जल भरना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

- स्वामी रामदेव जी द्वारा सांसारिक बंधनों को मोक्षमार्ग की बाधा मानकर संन्यास ग्रहण करने की आंतरिक वैचारिक प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए।

- स्वामी शंकरदेव जी द्वारा संपन्न कराई गई संन्यास दीक्षा के शास्त्रीय अनुष्ठान तथा उसके प्रकृत्तिपरक वैश्विक प्रभावों का वर्णन कीजिए।

- **''न शक्यं केनाब्धि: सुलघुकलशे पूर्यत इह''** इस सूक्ति के आलोक में योगर्षि के चरित्र की अगाधता तथा कवि के भावी महाकाव्य संकल्प की समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

- संन्यास मार्ग पर बढ़ते हुए बांधवों और सगे-संबंधियों ने स्वामी जी को किस प्रकार रोकने का प्रयास किया।
- संन्यास दीक्षा के शुभ अवसर पर दसों दिशाओं, गङ्गा की तरंगों और देवलोक का कैसा दृश्य परिलक्षित हुआ।
- पतञ्जलि योगपीठ की वैश्विक प्रभा और आयुर्वेद को कवि ने किस प्रकार स्वास्थ्यप्रद सरिता माना है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. स्वामी जी को प्रत्येक रात्रि स्वप्न में आकर कौन अतिशीघ्र गेरुए वस्त्र धारण करने की प्रेरणा देता था?

1) एक अद्भुत संन्यासी

2) उनके बालसखा

3) राजा उग्रसेन

4) द्वारपाल

2. संन्यासी ही वास्तव में संपूर्ण वसुंधरा पर किसका परम हितैषी बन सकता है?

1) सकल जन (समस्त मानवता) का

2) केवल अपने परिवार का

3) राजाओं का

4) मल्ल योद्धाओं का

3. स्वामी जी को ज्ञान रूपी अमृत से सिक्त कर संन्यास दीक्षा हेतु किसने बुलाया था?

1) स्वामी शंकरदेव जी ने

2) आचार्य बलदेव जी ने

3) माता गुलाबो देवी ने

4) आचार्य प्रद्युम्न जी ने

4. संन्यास दीक्षा के समय किस पवित्र नदी की पावन जलधारा में प्रवेश किया गया?

1) जाह्नवी (गङ्गा)

2) यमुना

3) सरस्वती

4) सरयू

5. संन्यास पद प्राप्त होने पर आकाश से किसने करों (हाथों) द्वारा पुष्पवृष्टि कर आशीर्वाद दिया?

1) देवताओं और सिद्ध पुरुषों ने

2) बचपन के लित्रों ने

3) व्यापारियों ने

4) आभीर ग्राम के ग्वालों ने

6. योग ऋषि स्वामी रामदेव जी महाराज के माथे ललाट पर साक्षात् किसकी कांति चमकती है?

1) मिहिर (सूर्य) की

2) चन्द्रमा की

3) बिजली की

4) दीपक की

7. किस वैश्विक संस्थान की प्रभा आज समूचे विश्व में सूर्य के समान जगमगा रही है?

1) पतञ्जलि योगपीठ (दिव्ययोगमन्दिर)

2) मेरठ प्रभात आश्रम

3) मल्लशाला

4) धनुषशाला

8. संपूर्ण विश्व के लोग किसकी अमृतमयी सरिता में स्नान कर उत्तम स्वास्थ्य पा रहे हैं?

।) आयुर्वेद की

2) भोग विलास की

3) संशय की ग्रंथियों की

4) कालिय विष की

9. छोटे से घड़े (सुलघुकलशे) में किसको भरने का प्रयास असंभव माना गया है?

।) अब्धि (अगाध सागर) को

2) दुग्ध को

3) मट्ठे को

4) यमुना जल को

10. प्रस्तुत काव्य ग्रंथ योगर्षिगौरवम् को कवि ने किस प्रारंभिक स्वरूप में निबद्ध किया है?

।) नान्दीभूत लघु शतक (प्रस्तावना)

2) विशाल महाकाव्य

3) गद्य कथा

4) मल्ल नाटक

जयतु योगर्षिर्जयतु पातञ्जलं धाम च ।

॥ ओ३म् ॥

गद्य-पद्य-काव्यं नाट्यसाहित्यञ्च

MSSAMJ-103

दिव्य प्रकाशन

एम.ए. संस्कृतम् पाठ्यक्रमस्य प्रथमसत्रम्

तृतीयपत्रम्-गद्य-पद्य-काव्यं नाट्यसाहित्यञ्च

MSSAMJ-103 Credit-4

उद्देश्य -

- विद्यार्थियों को गद्य, पद्य, काव्य एवं नाट्यसाहित्य के विषय में जानकारी प्रदान करना।
- विद्यार्थियों को गद्य, पद्य, काव्य एवं नाट्यसाहित्य के ज्ञान के द्वारा संस्कृत भाषा के लेखन, पठन में दक्ष बनाना।
- विद्यार्थियों को गद्य, पद्य, काव्य एवं नाट्यसाहित्य की अवधारणाओं के माध्यम से व्यावसायिक दक्षता प्रदान करना।

परिणाम-

- इनके अध्ययन से गद्य, पद, नाट्यसाहित्य विषयों से अगवत होकर भाषा में निपुणता प्राप्त कर लेता है।
- छात्र नाट्यसाहित्य के माध्यम से भाषा, पठन, विषय में दक्षता प्राप्त कर लेता है।

इकाई 1. दशकुमारचरितम् (विश्रुतचरितम्) आठवाँ उच्छास (क्रेडिट-1)

इकाई 2. शिशुपालवधम् (चर्तुदशसर्ग) (क्रेडिट-1)

इकाई 3. मुद्राराक्षस (प्रथमः अङ्कः) (क्रेडिट-1)

इकाई 4. अभिज्ञानशाकुन्तलम् (चतुर्थ अंक)- (क्रेडिट-1)

विषय-सूची

क्रम सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
खण्ड-1	**दशकुमारचरितम् (विश्रुतचरितम्) आठवाँ उच्छास**	**9-38**
इकाई 1.1	राजा अनन्तवर्मा का परिचय, कुसंगति और पतन (गद्यांश 1 से 11)	9
इकाई 1.2	अश्मकराज का षड्यंत्र, युद्ध और राजपरिवार का पलायन (गद्यांश 12 से 21)	19
इकाई 1.3	कुमार विश्रुत का आगमन, प्रतिज्ञा और कूटनीतिक योजनाएँ (गद्यांश 22 से 31)	28
इकाई 1.4	शत्रुओं का संहार, भास्करवर्मा का राज्य-अभिषेक और उपस. ंहार (गद्यांश 32 से 39)	40
खण्ड-2	**शिशुपालवधम् (चर्तुदशः सर्गः)**	**39-54**
इकाई 2.1	युधिष्ठिर की विनय और श्रीकृष्ण का परामर्श (श्लोक 1-16)	48
इकाई 2.2	यज्ञ की शास्त्रीय विधि और देवताओं का पोषण (श्लोक 17-31)	54
इकाई 2.3	दान-महिमा और अतिथि सत्कार (श्लोक 32-51)	60
इकाई 2.4	अग्रपूजा और श्रीकृष्ण का परब्रह्म स्वरूप (श्लोक 52-60)	67
खण्ड-3	**मुद्राराक्षसम् (प्रथमः अङ्कः)**	**56-89**
इकाई 3.1	मंगलाचरण और सूत्रधार की भूमिका (श्लोक 1-5)	71
इकाई 3.2	चाणक्य का प्रवेश और क्रोध (श्लोक 6-13)	77
इकाई 3.3	गुप्तचर (चर) का प्रवेश और जानकारी (श्लोक 14-19)	85
इकाई 3.4	मुद्रा (अंगूठी) की प्राप्ति और षड्यंत्र (श्लोक 20-27)	96
इकाई-4	**अभिज्ञानशाकुन्तलम् (चतुर्थः अङ्कः)**	**90-109**
इकाई 4.1	दशकुंतला की विदाई एवं मार्मिक प्रसंग (श्लोक 1)	113
इकाई 4.2	ऋषि कण्व का आगमन और आकाशवाणी (श्लोक 2-4)	120
इकाई 4.3	प्रकृति की विदाई और उपहार (श्लोक 5-12)	128
इकाई 4.4	महर्षि कण्व का उपदेश और विदाई (श्लोक 13-21)	136

भूमिका

(1) **दशकुमारचरितम्**- गद्य साहित्य की एक अप्रतिम ललित रचना है। इसमें दश राजकुमारों के भ्रमण तथा साहसपूर्ण कार्यो का अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयग्राही वर्णन किया गया है। दण्डी के सभी पात्र धूर्तता, पाखण्ड, चोरी आदि के पूर्ण मर्मज्ञ हैं। इसमें हिंसा, कपट, परस्त्रीगमन, हृदयविहीन वेश्याओं और कुट्टनियों का आश्चर्यजनक चित्रण है। दण्डी का यह काव्य तत्कालीन यथार्थ सामाजिक परिस्थितियों का प्रत्यक्ष दर्पण है। इसी दशकुमारचरित की उत्तरपीठिका का आठवाँ उच्छास **'विश्रुतचरितम्'** के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें विश्रुत का अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व वर्णित है। दशकुमारचरित के कारण ही दण्डी का नाम गद्य साहित्य के लेखकों में सर्वोपरि तथा अमर है। इसी दशकुमारचरित की उत्तरपीठिका के अष्टम उच्छ्वास का नाम **'विश्रुतचरितम्'** है, जिसमें विश्रुत के उदात्त एवं महनीय चरित्र का वर्णन किया गया है। दण्डी की ख्याति का आधार उनकी तीन कृतियाँ हैं, जैसा कि कहा भी गया है-

त्रयोऽग्नयस्त्रयो देवास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः।

त्रयो दण्डितप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥ (राजशेखर)

इन तीन ग्रन्थों के रूप में विद्वान् काव्यशास्त्र-विषयक 'काव्यादर्श तथा कथाविषयक 'दशकुमारचरित' एवं अवन्तिसुन्दरीकथा' का नाम लेते हैं। काव्य के रूप में 'दशकुमारचरित' में वैदर्भी रीति (माधुर्य गुण) का मंज्जुल सन्निवेश है। स्थान-स्थान पर मनोरम अनुप्रास की छटा मन को आप्लावित करती है। अलङ्कार के प्रयोग में कवि ने कहीं भी प्रयत्न नहीं किया है, सहज रीति से रसाक्षिप्त रचना के प्रवाह में सार्थक अलंकृतियाँ स्वतः स्फूर्त-सी प्रतीत होती हैं।

महाकवि श्री दण्डी जी द्वारा रचित गद्यकाव्य की विशिष्टता का दिग्दर्शन करने हेतु दशकुमारचरितम् का विशेष स्थान है। अतः उसके आठवें भाग का वर्णन इस प्रकार है -

विन्ध्यवन में घुमते हुए विश्रुत ने एक लड़के को एक कुएं के किनारे बैठा देखा । बालक की प्रार्थना पर विश्रुत ने उसके रक्षक और सेवक नालीजंघ को कुएं से बाहर निकाला । नालीजंघ ने बताया कि वह बालक विदर्भ का राजकुमार भास्करवर्मा था। उस का पिता अनन्तवर्मा कुसंगति में पड़ गया । वह राजनीति से शून्य था। अतः उसने राज-काज का ध्यान न रखा । पड़ौस के अश्मकराज वसन्तभानु ने विदर्भ पर आक्रमण करके अनन्तवर्मा को मार दिया और स्वयं विदर्भ देश का राजा बन गया । पति की मृत्यु पर वसुंधरा अपनी पुत्री मंजुवादिनी और पुत्र भास्करवर्मा को लेकर अपने देवर, माहिष्मती के राजा, मित्रवर्मा के पास चली आई । परन्तु मित्रवर्मा छली मित्र निकला । उसकी

कुदृष्टि देखकर रानी ने नालीजंघ को भास्करवर्मा को सुरक्षित स्थान पर ले जाने की आज्ञा दी । विश्रुत ने सुन कर कहा कि उसके पिता और भास्करवर्मा की माता के नाना एक ही थे। इसने भास्करवर्मा को विदर्भ का राज्य वापस लेने में सहायता का वचन दिया। इतने में वहाँ एक शिकारी आ निकला। उस ने बताया कि माहिष्मती में उत्कल के राजा प्रचण्डवर्मा और मंञ्जुवादिनी का विवाह होने वाला है। विश्रुत ने नालीजंघ को एक माला और वत्सनाभ विष दे कर रानी के पास भेजा और एकान्त में रानी को सब समाचार बता कर यह प्रसिद्ध करने को कहा कि कुमार को एक सिंह ने खा लिया है । साथ ही रानी को सन्देश भेजा कि वह मित्रवर्मा को कहलाए कि राजकुमार तो मर ही चुका है। अब मैं जैसा आप कहोगे वैसा ही करूंगी । जब वह समीप आये तो पहले वत्सनाभ विष में भिगोई हुई माला से उस के सीने पर प्रहार कर कहना कि यदि मैं पतिव्रता हूँ तो तुम इसी माला के प्रभाव से मर जाओ । फिर उसी माला को अन्य औषधि वाले पानी में धोकर मंजुवादिनी को पहना देना । मित्रवर्मा के मरने पर प्रचण्डवर्मा को कहला भेजना कि राज्य शासकहीन है। अतः वह राज्य के साथ मंजुवादिनी को भी स्वीकार कर ले । तब तक हम दोनों कापालिक के वेष में श्मशान में रहेंगे। फिर रानी मुख्य मुख्य अधिकारियों और अन्य व्यक्तियों को बुला कर कहे कि रात को स्वप्न में देवी विन्ध्यवासिनी ने दर्शन दे कर कहा है कि आज से चौथे दिन प्रचण्डवर्मा मर जायगा। मैंने व्याघ्ररूपिणी होकर तुम्हारे पुत्र को अपनी रक्षा में ले लिया है। वह एक द्विजकुमार के साथ पांचवें दिन मेरे मन्दिर में से निकलेगा । यह द्विजकुमार राजकुमार को अपने राज्य में स्थापित करेगा । वह मंजुवादिनी इस द्विजकुमार की पत्नी निश्चित की गई है। नालीजंघ ने सब इसी प्रकार करा दिया। विश्रुत भी कापालिक का वेष धारण कर माहिष्मती में पहुँचा। जब प्रचण्डवर्मा आमोद-प्रमोद में मग्न था तो यह भी नर्तक के रूप में उस को प्रसन्त करने लगा । अवसर पाकर छुरे से प्रचण्डवर्मा के सिर को काट कर भाग गया । अगले दिन वह पहले प्रसिद्ध किये हुए के अनुसार मन्दिर में प्रतिमा के नीचे से कुमार के साथ निकल आया । यहां पर वह पहले छुप गया था। रानी ने मंजुवादिनी का विवाह विश्रुत से कर दिया । अब वह भास्करवर्मा को राजा बनाकर स्वयं राज्य की देख-भाल करने लगा । फिर नालीजंघ के द्वारा आर्यकेतु के मन के भाव जाने । उसे पूरा विश्वास था कि विश्रुत में दिव्य शक्ति है । विश्रुत ने भी अनेक उपायों से उसे और प्रजाजनों को अपने पक्ष में कर लिया ।

(2) शिशुपालवधम्- 'शिशुपालवधम्' के **चतुर्दश-सर्ग** को महाकाव्य का केन्द्रीय सर्ग के रूप मे माना जाता है। यह सर्ग राजसूय यज्ञ के अवसर पर घटित होने वाली उस ऐतिहासिक एवं महत्त्वपूर्ण घटना को प्रस्तुत करता है, जिसमें श्रीकृष्ण को अग्रपूजा अर्थात् सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के रूप में प्रथम पूजा के लिए चयनीत जाता है और चेदिराज शिशुपाल उसका अत्यन्त विरोध करता है। इस विरोध के माध्यम से काव्य के नायक श्रीकृष्ण और प्रतिनायक शिशुपाल दोनों के चरित्र पूर्ण रूप से प्रकट होता है। इस सर्ग में पाण्डवों के राज्य में धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा अत्यन्त वैभवशाली राजसूय यज्ञ का आयोजन किया गया है। जिसमें दूर-दूर के राजा, ऋषिगण, विद्वान, ब्राह्मण एवं महानायकगण इस महायज्ञ में एकत्रित होते हैं। पश्चात् सभासदों में चर्चा होती है कि किस महान पुरुष का चयन अग्रपूजा के रूप में किया जाए? इस पर सभी महानुभावों की सहमति से श्रीकृष्ण को सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति मानकर पूजा हेतु चयनित किया जाता है। अंत में भीष्म पितामह स्वयं श्रीकृष्ण के गुणों की प्रशंसा करते हुए उन्हें अग्रपूजा के लिए पूर्णतया योग्य बताते हैं। यहां पर श्रीकृष्ण की नीतिनिपुणता, धर्मनिष्ठा,विवेक, पराक्रम, सहिष्णुता और दिव्यता के कारण उन्हें अग्रपूजा के लिए चुना जाता है। चतुर्दश सर्ग केवल मात्र एक घटना का ही वर्णन नहीं करता, अपितु यह राजनीति, कूटनीति, साहित्य-कला, दान- धर्म और शौर्य का संगम है। इसमें एक ओर श्रीकृष्ण की सहिष्णुता, गरिमा और दिव्यता का दर्शन होता है, वही दूसरी ओर शिशुपाल की अहंकारमय विफलता का प्रारंभ होता है। यहां पर शिशुपाल का भाषण साहित्य की दृष्टि से असाधारण है। कवि माघ ने शिशुपाल के वचनों में एक ही शब्द से दो अर्थ निकाले हैं, एक निंदा रूप में, दूसरा स्तुति रूप में। यह श्लेष अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण है। साथ ही श्रीकृष्ण का धैर्य, विवेक और गरिमा उन्हें नायक रूप में प्रतिष्ठित करता है, तथा शिशुपाल का अहंकार, क्रोध और कटुभाषण उसे प्रतिनायक के रूप में प्रस्तुत करता है।

(3) मुद्राराक्षसम्- प्रथम अंक का सार मुद्राराक्षसम् के प्रथम अंक में चाणक्य की राजनैतिक कूटनीति तथा चन्द्रगुप्त के शासन को अति सुदृढ़ करने की योजनाओं का प्रारम्भिक चित्रण किया गया है। नंद के वंश के विनाश के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य सिंहासन पर स्थापित हो जाता है, किन्तु नंद साम्राज्य का निष्ठावान मंत्री राक्षसाचार्य अभी भी मौर्य साम्राज्य के विरोध में संलग्न है। चाणक्य जानता है कि राक्षस अत्यन्त योग्य, नीतिज्ञ और समर्पित मंत्री है, परंतु जब तक वह विरोधी पक्ष में है, राज्य की पूर्ण स्थिरता असम्भव है। इसलिए चाणक्य चाहता है कि राक्षस को अकेला करने के लिए उसके सहयोगियों में परस्पर फूट डाली जाए और उसे भ्रम में डालकर अन्ततः अपने पक्ष में कर लिया जाए। इसके लिए आचार्य चाणक्य मुद्रा (राक्षस की राजमुद्रा) के माध्यम से षड्यंत्र रचता है, तथा

ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करता है जिससे राक्षस को यह प्रतीत हो कि उसके अपने ही विश्वासपात्र उसे धोखा दे रहे हैं। चाणक्य गुप्तचरों और सहयोगियों की सहायता से एक-एक करके राक्षस के विश्वास को नष्ट करने लगता है। इस अंक में विदूषक के माध्यम से कुछ हास्य आदि के क्षण भी आते हैं, जिससे कथा में विचित्रता व सरसता बनी रहती है। साथ ही, राक्षस का उच्च चरित्र भी उभरकर सामने आता है कि वह सच्चा राष्ट्रभक्त व मंत्री है, लेकिन अभी भी चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन के योग्य नहीं मानता है। इसी अंक में आचार्य चाणक्य का चंद्रगुप्त के प्रति अत्यंत प्रीति का भाव भी दिखाई देता है जैसे- **'आ क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति ?** चाणक्य को अपने मंत्रिमंडल के साथ ही अपनी महान बुद्धि पर अत्यंत दृढ़ विश्वास था जैसे - **'बुद्धिस्तु मा गान्मम'**। इस प्रकार प्रथम अंक में राजनीतिक चालों का प्रारम्भिक चित्रण किया गया है, और चाणक्य की कूटनीति तथा राक्षस की प्रतिक्रियाओं के माध्यम से नाटक आगे विस्तार को प्राप्त होता है।

(4) अभिज्ञानशाकुन्तलम्- 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के अङ्क-4 में गान्धर्व विवाह के शीघ्र बाद राजा को राजधानी जाना पड़ता है। उधर यज्ञ-रक्षा का कार्य समाप्त हो गया है जिससे ऋषि भी उन्हें नहीं रोकते और विदा कर देते हैं। शकुन्तला पत्र या दूत की प्रतीक्षा करती थक जाती है और सोच में पड़ी रहती है। एक दिन प्रसिद्ध क्रोधी ऋषि दुर्वासा आश्रम में पधारते हैं; आस-पास शकुन्तला के अलावा कोई नहीं रहता। वे आवाज देते हैं, पर सोच में डूबी शकुन्तला कुछ नहीं सुन पाती है । इस पर वे यह शाप देते हुये क्रोध में चल देते हैं कि जिसकी चिन्ता में तू इस तरह मग्न है मेरी बात तक नहीं सुनती है, वह याद कराये जाने पर भी तुझे याद न करेगा। शाप एक सखी सुन लेती है, वह ऋषि से अनुनय-विनय करती है कि शकुन्तला दु:खी है, उसकी गलती क्षमा कर दी जाय पर वे नहीं मानते, केवल इतना बता देते हैं कि यदि पहचान की कोई चीज दिखा देगी तो उसका शाप निवृत्त हो जायेगा। सखियों को परेशानी है कि शकुन्तला ने जो अपने मन से ब्याह कर लिया है, उसे कण्व को कैसे बताये? सौभाग्य से कण्व को आकाशवाणी से सारा हाल मालूम हो गया। सत्पात्र के चुनाव पर वे विवाह का अनुमोदन करते हैं और गर्भवती शकुन्तला को दो शिष्यों और वृद्धा गौतमी के साथ हस्तिनापुर भेजते हैं। यहाँ करुणा की अति हो गई है। तपस्वी और वीतराग कण्व भी रो पड़ते हैं और असीम विकलता से विदाई करते हैं। पौधे, पशु-पक्षी आदि से युक्त सारा तपोवन जीवन्त आत्मीय जल की तरह प्रतीत होता है। कण्व बहुत सुन्दर उपदेश देते हैं और देर होती देखकर जलाशय के पास से लौट आते हैं। कन्यारूपी धन उसके अधिकारी-पति को सौंपकर उनका हृदय हल्का हो जाता है। इस नाटक तथा अङ्क के बारे में एक प्रसिद्ध उक्ति है-

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।

तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥

यास्यत्यद्येति तत्रापि श्लोकः सर्वमनोहरः ।

भावार्थः- काव्यों में नाटक, नाटकों में शकुन्तला और उसमें उसका चतुर्थ अङ्क तथा उस चतुर्थ अंक में भी चार श्लोक रमणीयता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। **'यास्यत्यद्येति'** इत्यादि श्लोक तो उन चारों में भी सबसे मनोहर माना गया है।

खण्ड-1 दशकुमारचरितम्

इकाई 1.1

राजा अनन्तवर्मा का परिचय, कुसंगति और पतन (गद्यांश 1 से 11)

उद्देश्यः

1. छात्रों को दण्डी की अनूठी गद्य शैली के माध्यम से दण्डनीति (राजनीति) के सैद्धांतिक महत्त्व से परिचित कराना।

2. विद्यार्थियों को यह समझाना कि शास्त्र-अध्ययन और बड़ों की सत्य सलाह जीवन में क्यों आवश्यक है।

3. युवाओं को चापलूसी करने वाले दुष्ट मित्रों के छिपे हुए अवगुणों के प्रति सचेत करना।

4. छात्र जीवन में आलस्य, प्रमाद और व्यसनों से दूर रहने की नैतिक शिक्षा देना।

परिणामः

1. छात्र यह विश्लेषण कर सकेंगे कि कैसे कुसंगति अच्छे से अच्छे मनुष्य की बुद्धि का विनाश कर देती है।

2. शिक्षार्थी राजा के पतन को देखकर अपने माता-पिता और गुरुओं के मार्गदर्शन का आदर करना सीखेंगे।

3. विद्यार्थी गद्यांश की कठिन शब्दावली और राजतंत्रीय व्यवस्था के दोषों को स्पष्ट समझ पाएंगे।

4. छात्र व्यावहारिक रूप से समझ सकेंगे कि कर्तव्यों से विमुख होने का अंत सदैव पराजय होता है।

(१) अथ सोऽप्याचचक्षे-देव! मयाऽपि परिभ्रमता विन्ध्याटव्यां कोऽपि कुमारः क्षुधा तृषा च क्लिश्यन्नक्लेशार्हःक्वचित्कूपाभ्याशेऽष्टवर्षदेशीयो दृष्टः। स च त्रासगद्गदमगदत्-महाभाग, क्लिष्टस्य मे क्रियतामार्य, साहाय्यकम् । अस्य मे प्राणापहारिणीं पिपासां प्रतिकर्तुमुदकमुदञ्चन्निह कूपे कोऽपि निष्कलो ममैकशरणभूतः पतितः । तमलमस्मि नाहमुद्धर्तुम् इति।

अनुवाद- इसके अनन्तर वह विश्रुत भी बोला- देव! इधर-उधर घूमते हुए मेरे द्वारा भी विन्ध्य के जंगल में भूख और प्यास से पीड़ित, कष्टों को सह सकने में अक्षम किसी कुएँ के समीप लगभग आठ वर्ष का एक बालक देखा गया। (मुझको देखकर) डरा हुआ वह रुन्धे हुए स्वर में बोला-

हे महाभाग! हे श्रेष्ठ ! कष्ट में पड़े हुए मेरी आप सहायता करें। इस मेरे प्राणों को छीनने वाली पिपासा को दूर करने के उद्देश्य से जल को निकालते हुए, मेरा एकमात्र सहारा एक बूढ़ा आदमी इसी कुएँ में गिर गया है। उसे इस कूप से बाहर निकालने में मैं असमर्थ हूँ।

भावार्थ- विश्रुत राजवाहन से अपना समाचार सुनाते हुए बोला कि वह घूमते हुए विन्ध्य के जंगलों पहुँच कर देखा कि एक बालक भूख-प्यास से व्याकुल था और उसका एकमात्र सहारा एक बूढ़ा आदमी कूएँ से पानी खींचते समय उसी में गिर गया था; जिसको वह आठ वर्ष का बालक निकालने में सर्वथा असमर्थ था ।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में करुण रस, प्रसाद गुण व अनुप्रास अलंकार है। (अनुप्रास लक्षणम्-वर्णसाम्यमनुप्रासः)

(२) अथाहमभ्येत्य व्रतत्या कयाऽपि वृद्धमुत्तार्य तं च बालं वंशनालीमुखोद्धृताभिरद्भिः फलैश्च पञ्चषैः शरक्षेपोच्छ्रितस्य लकुचवृक्षस्य शिखरात्पाषाणपातितैः प्रत्यानीतप्राणवृत्तिमापाद्य तरुतलनिषण्णस्तं जरन्तमब्रवम् -

तात, क एषः बालः ? को वा भवान् ? कथं चेयमापदापन्ना इति ।

अनुवाद- इसके बाद मैंने समीप जाकर कुछ लताओं को इकट्टा करके उनकी (सहायता से) उस बूढ़े आदमी) को (कुएँ से) बाहर निकालकर बस की नली से निकाले गये पानी (तथा) बाणों तथा पत्थर के टुकड़ों से (ऊपर फेंककर) गिराये गये बड़हल के पेड़ के पाँच छः फलों से उस बालक के प्राणों को वापस लाकर, एक पेड़ के नीचे बैठकर वह बूढ़ा आदमी बोला- हे तात! यह बालक कौन है ? अथवा आप कौन हैं तथा यह विपदा कैसे आ गई ?

भावार्थ- उसके बाद विश्रुत ने लताओं को जोड़कर रस्सी बनाकर उस बूढ़े आदमी को कुएँ से बाहर निकाला तथा मूर्च्छित बालक को पानी और फल खिलाकर चैतन्य किया और उस वृद्ध ने विश्रुत से पूछा कि आप तथा यह बालक कौन हैं ?

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में शान्त रस, प्रसाद गुण व अनुप्रास अलंकार है।

(३) सोऽश्रुगद्गदमगदत् श्रूयतां महाभाग ! विदर्भो नाम जनपदः, तस्मिन्भोजवंशभूषणम्, अंशावतार इव धर्मस्य, अतिसत्त्वः, सत्यवादी, वदान्यः, विनीतः, विनेता प्रजानाम्, रञ्जितभृत्यः कीर्तिमान्, उदग्रः, बुद्धिमूर्तिभ्यामुत्थानशीलः, शास्त्रप्रमाणकः, शक्यभव्यकल्पारम्भी, संभावयिता बुधान्, प्रभावयिता सेवकान्, उद्भावयिता बन्धून्, न्यग्भावयिता शत्रून्, असंबद्धप्रलापेष्वदत्त-कर्णः कदाचिदप्यवितृष्णो गुणेषु, अतिनदीष्णः कलासु, नेदिष्ठो धर्मार्थसंहितासु, स्वल्पेऽपि सुकृते सुतरां प्रत्युपकर्त्ता, प्रत्यवेक्षिता कोशवाहनयोः, यत्नेन परीक्षिता सर्वाध्यक्षाणाम्, उत्साहयिता कृत. कर्मणामनुरूपैर्दानमानैः, सद्यः प्रतिकर्त्ता दैवमानुषीणामापदाम्, षाड्गुण्योपयोगनिपुणः, मनुमार्गेण

प्रणेता चातुर्वर्ण्यस्य, पुण्यश्लोकः पुण्यवर्मा नामाऽऽसीत् ।

अनुवाद- वह अश्रु के कारण गद्‌गद स्वर में बोला- हे महाभाग ! सुनिये। विदर्भ नामक एक देश है, उसमें भोज के कुल का अलंकार पुण्यवर्मा नामक एक अधिपति था; (जो) धर्म का अंशावतार, महाबलशाली, सत्यवादी, दानी, अत्यन्त विनम्र, प्रजा का पालन करने वाला, अपने सेवकों को प्रसन्न रखने वाला, यशस्वी, प्रगतिशील, अपनी बुद्धि और शरीर से (प्रजा की) लगातार उन्नति करने वाला, शास्त्र को प्रमाण मानने वाला, जो कार्य अपने से हो सके, जनसाधारण के लिए कल्याणकारी तथा न्याससम्मत हो - इस प्रकार के कर्मों को करने वाला, विद्वज्जनों का सम्मान करने वाला, सेवकों पर प्रभाव रखने वाला, बन्धु-बान्धवों को उन्नति दिलाने वाला, शत्रुओं का संहार करने वाला, असम्बद्धबातों (जिनका स्वयं से कोई मतलब न हो) पर न ध्यान देने वाला, गुणों को प्राप्त करने में हमेशा प्रयत्नशील रहने वाला, सभी कलाओं में निपुण, धर्म तथा धन को एकत्र करने में हमेशा प्रयासरत (किसी के द्वारा) थोड़ा भी उपकार करने के बदले में अत्यधिक उपकार करने वाला, अपने खजाने तथा वाहनों की हमेशा देख-भाल करने वाला, अपने सभी अनुचरों की(गुणों के अनुसार) परीक्षा करने वाला, योग्य पुरस्कार और सम्मान से कर्मचारियों का उत्साहवर्धन करने वाला, दैव तथा मानव द्वारा उत्पन्न की गई विपत्तियों को शीघ्र ही दूर करने वाला, षड्‌गुणों (सन्धि, विग्रह, यान, आसन, आश्रय तथा द्वैधीभाव) का नियमपूर्वक पालन करने में प्रवीण, मनु द्वारा प्रतिपादित चातुर्वर्ण्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) के धर्मों को पालन कराने वाला, पावन कीर्ति वाला था (अर्थात् उसका यश सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल पर फैला हुआ था)।

भावार्थ- विदर्भ का राजा पुण्यवर्मा विद्वान, महाशक्तिशाली, बन्धु-बान्धवों तथा सेवकों पर कृपा करने वाला, प्रजापालक, मनुस्मृति के प्रणेता महाराज मनु के द्वारा बताये गये मार्ग पर चलने वाला और प्रजाजनों से भी मनुप्रतिपादित नियम का पालन कराने वाला, उदार, दानी तथा सम्पूर्ण मानवीय सद्‌गुणों से सम्पन्न था।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में शान्त एवं अद्‌भुत रस, प्रसाद गुण व अनुप्रास अलंकार है।

(४) सः पुण्यैः कर्मभिः प्राप्य पुरुषायुषम्, पुनरपुण्येन प्रजानाम-गण्यतामरेषु । तदनन्तरमनन्तवर्मा नाम तदायतिरवनिमध्यतिष्ठत् । स सर्वगुणैः समृद्धोऽपि दैवाद्दण्डनीत्यां नात्यादृतोऽभूत् । तमेकदा रहसि वसुरक्षितो नाम मन्त्रिवृद्धः पितुरस्य बहुमतः प्रगल्भवागभाषत।

हिन्दी अनुवाद- वह पुण्य कर्मों से पुरुष की पूरी आयु (१०० वर्ष की आयु) को पाकर प्रजाजनों के पाप के कारण स्वर्ग के देवताओं में गिन लिया गया (अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो गया)। उसके बाद उसका पुत्र अनन्तवर्मा, जो अपने पिता पुण्यवर्मा के कारण प्रभावशाली था, राजगद्दी पर बैठा। वह सम्पूण ी राजकीय गुणों से सम्पन्न होते हुए भी भाग्य से राजनीति में (प्रजाजनों से देश की जनता से) आदर न प्राप्त कर सका (अर्थात् जनता उसकी नीति व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं थी; अतएव सम्मान नहीं करती

थी)। एक बार उसे एकान्त में ले जाकर उसके पिता द्वारा अत्यन्त सम्मानित तथा अनुभव से भरी बातें कहने वाले (वाक्पटु) बूढ़े मंत्री वसुरक्षित ने (उससे) कहा ।

भावार्थ- पुण्यवर्मा के मर जाने के बाद अनन्तवर्मा राजगद्दी पर बैठा, जो सम्पूर्ण राजकीय गुणों से सम्पन्न होते हुए भी अपनी शासननीति से प्रजा लोगों का सम्मान न प्राप्त कर सका। तब एक बार उसके पिता के द्वारा अत्यन्त आदृत तथा अनुभवी मंत्री वसुरक्षित ने उसे एकान्त में ले जाकर उससे कहा ।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में शान्त रस, प्रसाद गुण व अनुप्रास अलंकार है।

(५) 'तात! सर्वैवात्मसम्पदभिजनात्प्रभृत्यन्यूनैवात्रभवति लक्ष्यते। बुद्धिश्च निसर्गपट्वी, कलासु नृत्यगीतादिषु चित्रेषु च काव्यविस्तरेषु प्राप्तविस्तरा तवेतरेभ्यः प्रतिविशिष्यते । तथाऽप्यसावप्रतिपद्यात मसंस्कारमर्थशास्त्रेषु, अनग्निसंशोधितेव हेमजातिर्नातिभाति बुद्धिः । बुद्धिहीनो हिभूभृदत्युच्छ्रितोऽपि परैरध्यारुह्यमाणमात्मानं न चेतयते । न च शक्तः साध्यं साधनं वा विभज्य वर्तितुम् । अयथावृत्तश्च कर्मसु प्रतिहन्यमानः स्वैः परैश्च परिभूयते । न चावज्ञातस्याज्ञा प्रभवति प्रजानां योगक्षेमाराध नाय । अति-क्रान्तशासनाश्च प्रजा यत्किञ्चनवादिन्यो यथाकथञ्चिद्वर्तिन्यः सर्वाः स्थितीः संकिरेयुः । निर्मर्यादश्च लोको लोकादितोऽमुतश्च स्वामिनमात्मानं च भ्रंशयते । आगमदीपदृष्टेन खल्वध्वना सुखेन वर्तते लोकयात्रा । दिव्यं हि चक्षुर्भूतभवद्भविष्यत्सु व्यवहितविप्रकृष्टादिषु च विषयेषु शास्त्रं नामाप्रतिहतवृत्ति । तेन हीनः सतोरप्यायतविशालयोर्लोचनयोरन्ध एव जन्तुरर्थदर्शनेष्वसामर्थ्यात् । अतो विहाय बाह्यविद्यास्वभिषङ्गमागमय दण्डनीतिं कुलविद्यां तदर्थानुष्ठानेन चावर्जितशक्तिसिद्धिरस्खलितशासनः शाधि चिरमुदधिमेखलामुर्वीम्' इति ।

अनुवाद- हे तात (प्रिय श्रेष्ठ) । आपमें अपने कुलानुसार सम्पूर्ण सम्पदायें (सभी गुण) प्रचुर मात्रा में दिखाई पड़ रही हैं। नृत्य-गीतादि कलाओं में, चित्र (कला) में और काव्यकला में स्वभाव से ही आपकी पटु बुद्धि दूसरों की अपेक्षा अधिक विशिष्ट (तो अवश्य) है, (परन्तु) फिर भी (आपकी) बुद्धि अर्थशास्त्र में आत्मसंस्कार न प्राप्त करने के कारण (अर्थात्् नियमपूर्वक किसी गुरु से शिक्षा न मिलने के कारण) अतप्त सोने के समान अधिक शोभा नहीं प्राप्त कर रही है। विवेकहीन राजा अत्यन्त ऊँचा होने पर भी शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाते हुए भी स्वयं को समझने में सक्षम नहीं हो पाता है तथा वह साध्य तथा साधनों का (सम्यक्) विभाजन कर व्यवहार करने में भी अक्षम रहा करता है । अनुचित तरीके व्यवहार करने वाला राजा (अपने) कार्यो में सफल न होता हुआ अपने तथा दूसरे लोगों के द्वारा अपमानित होता रहता है । (इस प्रकार से) अपमानित राजा का आदेश प्रजा के योग (अप्राप्त को प्राप्त करना) तथा क्षेम (प्राप्त की रक्षा करना) प्राप्त करने में असमर्थ होता है। (इस प्रकार के) शासन का अतिक्रमण करने वाली प्रजायें स्वेच्छया जो कुछ चाहती हैं, उसे कहती हैं, व्यवहार करने लगती हैं और (अन्त में) सम्पूर्ण स्थिति को (सामाजिक मर्यादा को) नष्ट कर देती हैं। (पुनः) इस प्रकार की मर्यादाविहीन प्रजायें इहलोक और परलोक दोनों से स्वयं को और (अपने) राजा को भ्रष्ट बना देती हैं। शास्त्ररूपी दीपक से देखे गये रास्ते पर चलने से (इह) लोकयात्रा (अर्थात्

जीवनयात्रा) सुखपूर्वक चलती है। (वह आगमशास्त्र) दिव्यदृष्टि के सदृश है, जो भूत, वर्तमान, भविष्य और एक-दूसरे से अलग रहने वाले और दूर स्थित विषयों में भी निर्बाध गति से पहुँच जाया करती है, कहीं भी स्थिर नहीं होती है । उस (शास्त्रज्ञान) से हीन प्राणी लम्बे-चौड़े और विशाल आँखों को धारण करते हुए भी अर्थदर्शन में अर्थात् राजनीति में शक्ति (ज्ञान, योग्यता) न होने के कारण अन्धा ही रहता है; इसलिए आप बाहरी विद्याओं में आसक्ति का परित्याग कर अपने वंश की विद्या (राजनीति, दण्डनीति) की ओर ध्यान दें और सीखें। उसके अर्थों अर्थात् नियमों के अनुसार आचरण करते हुए शक्तिसिद्धि प्राप्त करें तथा निर्बाध शासन वाले बनकर दीर्घ काल तक समुद्ररूपी करधनी से आवृत अर्थात् घिरे हुये भूमण्डल का शासन करें।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में वीर एवं शान्त रस, प्रसाद गुण व ओज गुण, अनुप्रास, उपमा तथा व्यतिरेक अलंकार है।

(उपमालक्षणम्-साधर्म्यमुपमा भेदे) (व्यतिरेकालंकारलक्षणम्-'आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा)

(६) एतदाकर्ण्य 'स्थाने एव गुरुभिरनुशिष्टम् । तथा क्रियते' इत्यन्तः-पुरमविशत्। तां च वार्ता पार्थिवेन प्रमदासन्निधौ प्रसङ्गेनोदीरितामुपनिशम्य समीपोपविष्टश्चित्तानुवृत्तिकुशलः प्रसादवित्तो गीतनृत्यवाद्यादिष्ववाह्यो बाह्यनारीपरायणः पटुरयन्त्रितमुखो बहुभङ्गिविशारदः परमर्मान्वेषणपरः परिहासयिता, परिवादरुचिः, पैशुन्यपण्डितः, सचिवमण्डलादप्युत्कोचहारी, सकलदुर्नयोपाध्यायः कुमारसेवको विहारभद्रो नाम स्मितपूर्व व्यज्ञपयत् ।

अनुवाद- यह (वृद्ध मन्त्री वसुरक्षित के उपर्युक्त उपदेश को) सुनकर (अनन्तवर्मा ने कहा) हे मन्त्रिवर! आपने ठीक ही उपदेश दिया है, इसका पालन किया जायेगा। अर्थात् मैं इसका पालन करूँगा। इस प्रकार कहकर (उसने) अन्तःपुर में प्रवेश किया। महिलाओं के समीप (स्थित) राजा (अनन्तवर्मा) द्वारा प्रसङ्गवश कहे गये उस (बूढ़े मन्त्री के उपदेश को) सुनकर पास में ही स्थित राजा की मनोवृत्ति का अनुसरणकरने में प्रवीण, (राजा की) अनुकम्पा पर ही जिसकी वृत्ति आधारित थी या (राजा का) विशेष कृपापात्र, गीत-नृत्य तथा वाद्य आदि में कुशल, दूसरी स्त्रियों में अनुरक्त रहने वाला (अथवा वेश्यागमन करने वाला) दक्ष, मनचाहा बोलने वाला, व्यंग्यपूर्ण बातें कहने में चतुर, दूसरे के रहस्यों को खोजने में तत्पर रहने वाला, मनोविनोद करने वाला, दूसरों की निन्दा करने में तत्पर रहने वाला, चुगली करने में कुशल, मन्त्रिमण्डल के लोगों से घूस लेने वाला, सभी प्रकार के अनर्थों का आचार्य, कुमारावस्था से (सेवा करता हुआ) राजा का सेवक विहारभद्र मुस्कराते हुए बोला ।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में शृङ्गार तथा शान्त रस, माधुर्य एवं प्रसाद गुण व अनुप्रास अलंकार है।

(७) देव, दैवानुग्रहेण यदि कश्चिद् भाजनं भवति विभूतेः, तमकस्मादुच्चावचैरुपप्रलौभनैः कदर्थयन्तः स्वार्थ साधयन्ति धूर्ताः। तथाहि-केचित्प्रेत्य किल लभ्यैरभ्युदयातिशयैराशामुत्पाद्य, मुण्डयित्वा शिरः, बद्ध्वा दर्भरज्जुभिः, अजिनेनाच्छाद्य, नवनीतेनोपलिप्य, अनशनं च शयित्वा,

सर्वस्वं स्वीकरिष्यन्ति । तेभ्योऽपि घोरतराः पाषण्डिनः दारशरीरजीवितान्यपि मोचयन्ति। यदि कश्चित्पटुजातीयो नास्यै मृगतृष्णिकायै हस्तगतं त्यक्तुमिच्छेत्, तमन्ये परिवार्याहुः - एकामपि काकिणीं कार्षापणलक्षमापादयेम, शस्त्रादृते सर्वशत्रून् घातयेम, एकशरीरिणमपिमर्त्यं चक्रवर्तिनं विदधीमहि, यद्यस्मदुद्दिष्टेन मार्गेणाचर्यते, इति ।

अनुवाद- हे देव! यदि भाग्य की कृपा से कोई आदमी ऐश्वर्य का पात्र बन जाता है तो अचानक ही धूर्त लोग उसे ऊँचे-नीचे (अर्थात् अनेक तरह के) लालचों से पीड़ित करते हुए (या उसकी निन्दा करते हुए) अपना स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं । उदाहरणार्थ- कोई तो मरने के बाद मिलने वाले ऐश्वर्यों की आशा पैदा कर, शिर का बाल छिलवाकर, कुश की रस्सी बाँधकर, काले हिरण के चमड़े को ओढ़कर, मक्खन से उसे पोतकर, बिना भोजन कराये सुलाकर (उसका) सब कुछ ले लेते हैं। उनसे भी ज्यादा पाखण्डी लोग उससे उसके पुत्र, स्त्री, शरीर और प्राण तक का परित्याग करवा दिया करते हैं । यदि कोई चालाक आदमी इस मृगतृष्णा (मिथ्या आशा) के लिए हाथ में स्थित धन को नहीं छोड़ना चाहता (या उनको देना नहीं चाहता) तो दूसरे लोग उसे घेरकर कहते हैं कि यदि हमारे द्व ारा बताये गये रास्ते पर चला जाय तो (हम) एक कौड़ी को भी एक लाख कार्षापण बना सकते हैं, शस्त्र के बिना ही सभी शत्रुओं को मरवा सकते हैं, किसी शरीर मात्र धारण करने वाले आदमी को भी चक्रवर्ती (राजा) बना सकते हैं।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में अद्‌भुत रस तथा शान्त रस, प्रसाद गुण, अनुप्रास अलंकार, अतिशयोक्ति अलंकार तथा विषम अलंकार है।

'अतिशयोक्तेः लक्षणम्-'सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते।'

विषमालंकारलक्षणम्-'गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः। यद्वारब्धस्य वैकल्यमनर्थस्य च सम्भवः। विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम् ।।'

(८) स पुनरिमान्प्रत्याह - 'कोऽसौ मार्गः' इति । पुनरिमे ब्रुवते -'ननु चतस्रो राजविद्यास्त्रयी वार्तान्वीक्षिकी दण्डनीतिरिति।तासु तिस्र-स्त्रयीवार्तान्वीक्षिक्यो महत्यो मन्दफलाश्च तास्तावदासताम्। अधीष्व तावद्दण्डनीतिम्। इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्त्रैः संक्षिप्ता । सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीयमाना यथोक्तकर्मक्षमा' इति ।

अनुवाद- (यदि उस धूर्त पाखण्डी की इन बड़ी-बड़ी लुभावनी बातों पर विश्वास करके कोई यह पूछता है कि) आपका यह कौन-सा रास्ता है ? तो पुनः वे धूर्त कहते हैं- 'निश्चित रूप से राजविद्यायें चार प्रकार की होती हैं - (१) त्रयी (ज्ञान, कर्म, उपासना) की दृष्टि से तीनों वेद ऋक्, यजुः, साम। (२) वार्ता (गुप्तचर-विषयक शास्त्र या अर्थशास्त्र) (३) आन्वीक्षिकी (न्यायशास्त्र) (४) दण्डनीति - (राजनीति) । इनमें से पहले तीन (त्रयी, वार्ता तथा आन्वीक्षिकी) तो अत्यन्त श्रमसाध्य हैं और थोड़ा फल प्रदान करने वाली हैं, इस कारण इन्हें रहने दो (अर्थात् इन्हें जानने की कोई आवश्यकता नहीं

है); पहले राजनीति पढ़ो। इस समय यह (राजनीति) आचार्य चाणक्य द्वारा चन्द्रगुप्त मौर्य के लिए षट् सहस्र श्लोकों में संक्षिप्त बनायी गई है। वही इसको पढ़कर अच्छी तरह से आचरण में लायी जाती हुई, जैसा कहा गया है वैसा फल प्रदान करने में सक्षम होगी।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में शान्त रस, प्रसाद गुण, अनुप्रास अलंकार तथा काव्यलिंङ्ग अलंकार है।

काव्यलिङ्गालंकारलक्षणम्-'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते।'

(९) स 'तथा' इत्यधीते शृणोति च । तत्रैव जरां गच्छति। तत्तु किलशास्त्रं शास्त्रान्तरानुबन्धि । सर्वमेव वाङ्मयमविदित्वा न तत्त्वतोऽधिगंस्यते। भवतु कालेन बहुनाऽल्पेन वा तदर्थाधिगतिः । अधिगतशास्त्रेण चादावेव पुत्रदारमपि न विश्वास्यम्। आत्मकुक्षेरपि कृते तण्डुलैरियद्भिरियानोदनः संपद्यते। इयत ओदनस्य पाकायैतावदिन्धनं पर्याप्तमिति मानोन्मानपूर्वकं देयम् । उत्थितेन च राज्ञा क्षालिताक्षालिते मुखे मुष्टिमर्धममुष्टिं वाऽभ्यन्तरी-कृत्य कृत्स्नमायव्ययजातमह्नः प्रथमेऽष्टमे वा भ. ागे श्रोतव्यम् । शृण्वत एवास्य द्विगुणमपहरन्ति तेऽध्यक्षधूर्त्ताः । चत्वारिंशतं चाणक्योपदिष्टानाहरण ाो-पायान्सहस्रधात्मबुद्धयैव ते विकल्पयितारः ।

अनुवाद - वह (धन सम्पन्न आदमी) ठीक है इस प्रकार कहकर (वह दण्डनीति, राजनीति) पढ़ने और सुनने लग जाता है। इसी में (वह) बुढ़ापे को प्राप्त हो जाता है। (जब वह शिष्य दण्डनीति के चिंतन से भयभीत होता है तो धूर्त उसको समझाता है) वह शास्त्र दूसरे शास्त्रों से सम्बन्धित है, इसलिए बिना सम्पूर्ण शास्त्रों को पढ़े वह सम्यक् रूप से समझ में नहीं आयेगा। मान लो, अधिक अथवा थोड़े समय में उसकी प्राप्ति हो भी गई तो शास्त्र (दण्डनीति, राजनीति) पढ़ लेने वाले (व्यक्ति) के द्वारा सर्वप्रथम पुत्र तथा स्त्री भी विश्वास करने के योग्य नहीं रह जाती है अपने पेट के लिए भी 'इतने चावलों से इतना भात तैयार होता है, इतने भात को पकाने के लिए इतनी लकड़ी पर्याप्त है' इस प्रकार नाप-तौलकर (वस्तुयें) दी जाने लगती हैं। (सूर्योदय से पहले) उठकर राजा को धुले या न धुले हुए मुख में ही एक अथवा आधी मुट्ठी (अन्न) पेट में डालकर राज्य के पूरे आय-व्यय का हिसाब दिन के पहले आठवें पहर में सुनना पड़ता है। चाणक्य द्वारा बताये गये चोरी के चालीस प्रकार के साधनों को अपनी बुद्धि से हजारों प्रकार का बना लेने वाले वे धूर्त (अध्यक्ष, राजकर्मचारी लोग) उस (राजा) के सुनते हुए ही दोगुना धन चोरी कर (ही) लिया करते हैं ।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में अद्भुत रस, प्रसाद गुण, अनुप्रास अलंकार तथा विभावना अलंकार है । विभावनालंकारलक्षणम्-'विभावना तु विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते।' (काव्यप्रकाश)

(१०) द्वितीयेऽन्योन्यं विवदमानानां प्रजानामाक्रोशाद्दह्यमानकर्णः कष्टं जीवति । तत्रापि प्राड्विवाकादयः स्वेच्छया जयपराजयौ विदधानाः पापेनाकीर्त्या च भर्तारमात्मानश्चार्थैर्योजयन्ति । तृतीये स्नातुं भोक्तुं च न लभते। भुक्तस्य यावदन्धः परिणामस्तावदस्य विषभयं न शाम्यत्येव । चतुर्थे हिरण्यप्रतिग्रहाय हस्तं प्रसारयन्नेवोत्तिष्ठति । पञ्चमे मन्त्रचिन्तया महान्त-मायासमनुभवति। तत्रापि

मन्त्रिणो मध्यस्था इवान्योन्यं संभूय, दोषगुणौ दूतचारवाक्यानि शक्याशक्यतां देशकालकार्यावस्थाञ्च स्वेच्छया विपरिवर्त्तयन्तः, स्वपरमित्रमण्डलान्युपजीवन्ति । बाह्याभ्यन्तरांश्च कोपान्गूढमुत्पाद्य प्रकाशं प्रशमयन्त इव स्वामिनमवशमवगृह्णन्ति ।

अनुवाद- दूसरे पहर में आपस में झगड़ा करती हुई प्रजाओं की चिल्लाहट से (राजा का) कान जल जाता है (और इस प्रकार वह) कष्ट के साथ जीता है । वहाँ भी न्यायिक अधिकारी लोग अपनी इच्छा के अनुसार जय-पराजय के निर्णयों को सुनाते हुए राजा को पाप और अपकीर्ति से तथा अपने को धन से सम्पन्न कर लेते हैं । (वह) तीसरे पहर में स्नान और भोजन कर पाता है। भोजन कर लेने के बाद भी जब तक अन्न पच नहीं जाता तब तक उसके अर्थात् राजा के मन से विष की आशंका शान्त नहीं होती। चौथे पहर में स्वर्ण अर्थात् कर के रूप में धन प्राप्त करने के लिए उसे हाथ फैलाये हुए ही खड़ा होना पड़ता है । पाँचवें में विचार-विमर्श की चिन्ता के कारण अत्यन्त कष्ट का अनुभव करना पड़ता है । वहाँ भी मन्त्री उदासीन अर्थात् मध्यस्थ लोगों के समान, परस्पर मिलकर दोषों एवं गुणों, राजदूतों और कर्मचारियों की बातों को (कार्य या योजनादि की) साध्यता अथवा असाध्यता को, देश - काल तथा कार्य की दशा को अपनी इच्छानुसार उलट-पुलट करते हुए (राजा को उल्टा सीधा समझाते हुए) अपने मित्रों के और अपने शत्रुओं के मित्रों के धन से जीवन-यापन किया करते हैं।

बाहरी एवं भीतरी विवादों (आक्रोशों) को गुप्त रूप से उत्पन्न कर प्रकट रूप में (विवादों, झगड़ों को) शान्त जैसा करते हुए राजा को विवश करके अपने चंगुल में फँसाये (उलझाये) रखा करते हैं। कहने का भाव यह है कि प्रजाजनों के रोज-रोज के झगड़े और एक-दूसरे पर आरोप लगाकर चिल्लाना आदि को सुन-सुनकर राजा के कान मानो जल जाते हैं; जिसके कारण उसे बहुत कष्ट होता है। न्यायालय राजा के साथ प्राड् नामक अधिकारी बैठते थे, जो वादी-प्रतिवादी से प्रश्न पूछकर फैसला देते। इन्हीं के फैसलों को राजा मान्यता देता था, परन्तु ये अधिकारी धन आदि लेकर अपनी इच्छा से किसी भी व्यक्ति के पक्ष में फैसला कर देते थे, लेकिन बदनामी राजा की होती थी । ये अधिकारी जिसे चाहते जिता देते । राजा को कार्यों एवं योजनाओं को कर्मचारी उलटा-पुलटा समझाते थे अर्थात् जो हानिप्रद होता था, उसे लाभप्रद समझाते थे। राजा भोजन करने के बाद जब तक वह पच नहीं जाता था, उसे किसी के द्वारा भोजन में विष दिये जाने की आशंका बनी रहती थी। धूर्त अधिकारीगण येन-केन प्रकारेण राजा को अपने वश में किये ही रहते थे।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में भयानक तथा शान्त रस, प्रसाद एवं ओज गुण, अनुप्रास अलंकार, उपमा अलंकार, उत्प्रेक्षा एवं काव्यलिङ्ग अलंकार है।

(११) षष्ठे स्वैरविहारो मन्त्रो वा सेव्यः । सोऽस्यैतावान्स्वैरविहारकालोयस्य तिस्त्रस्त्रिपादोत्तरा नाडिकाः । सप्तमे चतुरङ्गबलप्रत्यवेक्षणप्रयासः। अष्टमेऽस्य सेनापतिसखस्य विक्रमचिन्ताक्लेशः। पुनरुपास्यैव सन्ध्यां प्रथमे रात्रिभागे गूढपुरुषा द्रष्टव्याः । तन्मुखेन चातिनृशंसाः शस्त्राग्निरसप्रणिधयोऽनुष्ठेयाः। द्वितीये भोजनानन्तरं श्रोत्रिय इव स्वाध्यायमारभेत । तृतीये तूर्यघोषेण संविष्टश्चतुर्थपञ्चमौ

शयीत किल। कथमिवास्याजस्रचिन्तायासविह्वलमनसो वराकस्य निद्रासुखमुपनमेत । पुनः षष्ठे शास्त्रचिन्ताकार्यचिन्तारम्भः। सप्तमे तु मन्त्रग्रहो दूताभिप्रेषणानि च दूताश्च नामोभयत्र प्रियाख्यानलब्ध ाननर्थान् वीतशुल्कबाधवर्त्मनि वणिज्यया वर्धयन्तः कार्यमविद्यमानमपि लेशेनोत्पाद्यानवरतं भ्रमन्ति।

अनुवाद- (राजा को) छठे पहर में या तो अपनी इच्छानुसार मनोरंजन करना चाहिए अथवा मन्त्रियों आदि से विचार-विमर्श करना चाहिए। उनके मनोरंजन करने का समय तीन नाड़ी होती है। सातवें पहर में चतुरङ्गिणी सेना का निरीक्षण करने का प्रयास करना पड़ता है। आठवें पहर में सेनापति के साथ पराक्रम-प्रदर्शन की चिन्ता का कष्ट उठाना पड़ता है। पुनः सायंकालीन सन्ध्योपासन करके रात के पहले पहर में गुप्तचरों को देखना चाहिए और उन्हीं के द्वारा अत्यन्त निर्दय, दुराचारियों के शस्त्राघात, आग लगाकर हानि करने वालों और विष देने वालों की गुप्त चेष्टाओं के प्रतीकार के लिए दूतों की नियुक्ति की जानी चाहिए। दूसरे पहर में भोजन करने के बाद वह वेदाध्ययन करने वाले छात्रों के समान अध्ययन करे। तीसरे पहर में तुरही आदि वाद्य यन्त्रों के घोष के साथ चौथे और पाँचवें पहर तक शयन करे। लगातार चिन्ता के दु:ख से व्याकुल उस बेचारे (राजा) को निद्रा का सुख किस प्रकार मिले? छठे पहर में शास्त्रों एवं कार्यों (योजनाओं) की चिन्ता करने का श्रीगणेश हो जाता है। सातवें पहर में मन्त्रियों के साथ विचार-विमर्श करके दूतों को भेजने का कार्य आ जाता है तथा दूतगण दोनों स्थानों पर (अपने राजा तथा दूसरे राजा) प्रिय बातों को कहकर प्राप्त किये गये धन को शुल्क (देने) की बाधा से रहित रास्ते से व्यापार द्वारा वृद्धि को प्राप्त करते हुए; कार्यरत होने पर भी छल-कपट (चोरी) से नये-नये कार्यों को उत्पन्न कर (या कार्यों की व्यवस्था कर) लगातार भ्रमण करते रहते हैं।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में अदभुत रस, प्रसाद गुण, अनुप्रास अलंकार तथा काव्यलिङ्ग अलंकार है।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1.मंत्री वसुरक्षित ने राजा अनन्तवर्मा को राजनीति और शास्त्रों को पढ़ने की सलाह क्यों दी थी?

2.विहारभद्र ने राजा अनन्तवर्मा को शास्त्रों के बारे में क्या कहकर भड़काया और भ्रमित किया?

3.कुसंगति में पड़ने के बाद राजा अनन्तवर्मा की दिनचर्या और व्यवहार में क्या मुख्य बदलाव आए?

4.राजा द्वारा शासन की उपेक्षा करने के कारण राज्य की प्रशासनिक और आर्थिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा?

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. विश्रुतचरितम् के प्रथम भाग के आधार पर राजा अनन्तवर्मा के चरित्र और उनके पतन के मुख्य कारणों की सविस्तार समीक्षा कीजिए।

2. मंत्री वसुरक्षित और दुष्ट विहारभद्र के चरित्र की तुलना करते हुए स्पष्ट कीजिए कि राजा के पतन में किसकी भूमिका निर्णायक थी।

3. राजा का आचरण ही प्रजा और राज्य का भाग्य तय करता है इस कथन को अनन्तवर्मा के प्रसंग में सोदाहरण सिद्ध कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. राजा अनन्तवर्मा किस प्रसिद्ध राजा के पुत्र थे?

(क) पुण्यवर्मा (ख) वसुरक्षित

(ग) विहारभद्र (घ) चण्डवर्मा

2. अनन्तवर्मा के उस वृद्ध और बुद्धिमान मंत्री का नाम क्या था जो उन्हें शास्त्र-अध्ययन की सलाह देता है?

(क) विश्रुत (ख) वसुरक्षित

(ग) विहारभद्र (घ) अश्मकराज

3. राजा अनन्तवर्मा को भोग-विलास और कुसंगति की ओर धकेलने वाला दुष्ट मित्र कौन था?

(क) भास्करवर्मा (ख) कुमारपाल

(ग) विहारभद्र (घ) प्रहारवर्मा

4. विहारभद्र ने राजा के सामने किस विद्या या नीतिशास्त्र का उपहास उड़ाया था?

(क) दण्डनीति (अर्थशास्त्र) (ख) धनुर्वेद

(ग) आयुर्वेद (घ) गंधर्ववेद

इकाई 1.2

अश्मकराज का षड्यंत्र, युद्ध और राजपरिवार का पलायन

(गद्यांश 12 से 21)

उद्देश्यः

1. वन-परिवेश के सूक्ष्म वर्णन द्वारा छात्रों की कल्पनाशक्ति और गद्य-लेखन की क्षमता को बढ़ाना।

2. विद्यार्थियों को यह सिखाना कि किसी राज्य या परिवार की आंतरिक फूट का परिणाम क्या होता है।

3. रानी वसुन्धरा के विलाप के माध्यम से छात्रों के भीतर मानवीय संवेदनाओं और करुणा को जगाना।

4. विपरीत परिस्थितियों में भी राजवंश की गरिमा और मर्यादा को बनाए रखने का बोध कराना।

परिणामः

1. छात्र इस गद्यांश में प्रयुक्त करुण रस और दण्डी के भाषा-प्रवाह का आनंद लेने में समर्थ होंगे।

2. शिक्षार्थी यह बोध प्राप्त करेंगे कि संकट के समय बाहरी शक्तियों के छलों से कैसे सावधान रहना चाहिए।

3. विद्यार्थी कठिन वन-मार्ग और राजपरिवार के कष्टों का अपनी भाषा में सजीव वर्णन कर सकेंगे।

4. छात्रों में गद्यांश की समास-युक्त पदावली के अर्थों को ग्रहण करने की योग्यता विकसित होगी।

(१२) अष्टमे पुरोहितादयोऽभ्येत्यैनमाहुः 'अद्य दृष्टो दुःस्वप्नः । दुःस्था ग्रहाः, शकुनानि चाशुभानि। शान्तयः क्रियन्ताम् । सर्वमस्तु सौवर्णमेव होमसाधनम्। एवं सति कर्म गुणवद् भवति । ब्रह्मकल्पा इमे ब्राह्मणाः। कृतमेभिः स्वस्त्ययनं कल्याणतरं भवति । ते चामी कष्टदारिद्र्य बह्वपत्या यज्वानो वीर्यवन्तश्चाद्याप्यप्राप्तप्रतिग्रहाः । दत्तं चैभ्यः स्वर्ग्यमायुष्यमरिष्टनाशनं च भवति' इति बहु-बहु दापयित्वा तन्मुखेन स्वयमुपांशु भक्षयन्ति । तदेवमहर्निशमविहितसुखलेशमायासबहुलमविरलक दर्थनं च नयतोनयज्ञस्यास्तां चक्रवर्तिता स्वमण्डलमात्रमपि दुरारक्ष्यं भवेत् । शास्त्रज्ञ-समज्ञातो हि यद्ददाति यन्मानयति, यत् प्रियं ब्रवीति, तत्सर्वमभि-संधातुमित्यविश्वासः । अविश्वास्यता हि जन्मभूमिरलक्ष्म्याः । यावता च नयेन विना न लोकयात्रा स लोकत एव सिद्धः । नात्र शास्त्रेण ार्थः । स्तनंधयोऽपि हि तैस्तैरुपायैः स्तनपानं जनन्या लिप्सते, तदपास्यातियन्त्रणा -मनुभूयन्तां यथेष्टमिन्द्रियसुखानि ।

अनुवाद- आठवें पहर में पुरोहित आदि उसके (राजा के) समीप आकर बोलते -आज मैंने एक अत्यन्त बुरा स्वप्न देखा है ? इस समय, तथा समय नक्षत्र खराब स्थान पर स्थित हैं तथा शकुन भी अशुभ हुए हैं, इसलिए (यज्ञादि के द्वारा इनकी) शांति की जानी चाहिए। होम (यज्ञानुष्ठान) की पूरी सामग्री सोने की हो, ऐसा होने पर काम (परिणाम) सार्थक हो जाता है। ये ब्राह्मण ब्रह्म के समान हैं। इनके द्वारा किया गया मांगलिक अनुष्ठान अत्यन्त कल्याणप्रद होगा। ये कष्ट तथा दरिद्रता भोग रहे हैं, ये अनेक बाल-बच्चों वाले, यज्ञ करने वाले (अत्यन्त) पराक्रमी हैं इन्होंने आज तक (किसी से) दान भी नहीं लिया है। इनको दिया गया दान स्वर्ग को प्रदान करने वाला, आयु की वृद्धि करने वाला तथा दुर्भाग्य का नाशक होगा। इस प्रकार कहकर बहुत सा धन दिलाकर उनके द्वारा स्वयं ही छिपकर खा लिये जाते हैं । तब इस प्रकार दिन-रात थोड़ा भी सुख प्राप्त किये विना कष्टों से भरा हुआ, लगातार कष्टों से परिपूर्ण जीवन-यापन करने वाले नीतिज्ञ राजा का चक्रवर्तीपना तो दूर ही रहा, (उस राजा के लिए तो) अपने राज्य की ही रक्षा करना कठिन हो जाता है। शास्त्रज्ञ के रूप में प्रसिद्ध लोग जो भी (शास्त्रानुसार) परामर्श देते हैं, जो (कुछ भी) राजा का सम्मान करते हैं, जो भी मधुर वाणी बोलता है, (चिकनी-चुपड़ी) बातें बनाते हैं- ये सभी (कार्य उन सीधे-सादे राजाओं को) ठगने के लिए होता है, अतः उन पर विश्वास नहीं होता है। (अपने ऊपर लोगों का) विश्वास न होना दरिद्रता की जन्मभूमि है। जितनी नीति के बिना लोकयात्रा (जीविका) नहीं चल पाती, उतनी नीति तो संसार से ही मालुम हो जाती है । उसके लिए शास्त्र से क्या प्रयोजन ? अर्थात् शास्त्र पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं होती है। (अपनी माता का) 'स्तनपान करने वाला शिशु उन-उन साधनों अर्थात् अनेक उपायों से अपनी माता का स्तनपान करने की इच्छा करता ही है, इसलिए अत्यधिक कष्टों (बाधाओं) का परित्याग कर अपनी इच्छा के अनुसार सुखों का भोग करिये।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में शान्त रस, प्रसाद गुण, अनुप्रास अलंकार तथा काव्यलिङ्ग अलंकार है।

(१३) येऽप्युपदिशन्ति - 'एवमिन्द्रियाणि जेतव्यानि, एवमरिषड्वर्गस्त्याज्यः, सामादिरुपायवर्गः स्वेषु परेषु चाजस्रं प्रयोज्यः, सन्धिविग्रहचिन्तयैव नेयः कालः, स्वल्पोऽपि सुखस्यावकाशो न देयः' इति तैरप्येभिर्मन्त्रिवकैर्युष्मत्तश्चौर्यार्जितं धनं दासीगृहेष्वेव भुज्यते । के चैते वराकाः? येऽपि मन्त्रकर्कशास्तन्त्रकर्त्तारः शुक्राङ्गिरसविशालाक्षबाहुदन्तिपुत्रपराशरप्रभृतयस्तैः किमरिषड्वर्गो जितः, कृतं वा तैः शास्त्रानुष्ठानम् ? तैरपि हि प्रारब्धेषु कार्येषु दृष्टे सिद्ध्यसिद्धी । पठन्तश्चापठद्भिरतिसन्ध ीयमाना बहवः । नन्दिवदमुपपन्नं देवस्य, यदुत सर्वलोकस्य वन्द्या जातिः, अयातयामं वयः, दर्शनीयं वपुः, अपरिमाणा विभूतिः । तत्सर्वं सर्वाविश्वासहेतुना सुखोपभोगप्रतिबन्धिना बहुमार्गविकल्पना त्सर्वकार्येष्वमुक्तसंशयेन तन्त्रावापेन वा कृथा वृथा । सन्ति हि ते दन्तिनां दशसहस्त्राणि, हयानां लक्षत्रयम्, अनन्तं च पादातम् । अपि च पूर्णान्येव हेमरत्नैः कोशगृहाणि। सर्वश्चैष जीवलोकः समग्रमपि युगसहस्त्रं भुञ्जानो न ते कोष्ठागाराणि रेचयिष्यति। किमिदमपर्याप्तं यदन्यार्जितायासः क्रियते । जीवितं हि नाम जन्मवतां चतुःपञ्चाप्यहानि । तत्रापि भोगयोग्यमल्पाल्पं वयः खण्डम् । अपण्डिताः पुनर्जयन्त एव ध्वंसन्ते । नार्जितस्य वस्तुनो लवमप्यास्वादयितुमीहन्ते।

अनुवाद- जो (आदमी राजा को) इस प्रकार का उपदेश देता है कि इस प्रकार इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, इस प्रकार षट्शत्रुओं (काम-क्रोध-लोभादि) का परित्याग करना चाहिए, सामादि उपायों का प्रयोग अपने और शत्रुपक्षीय लोगों पर लगातार करना चाहिए, थोड़ा-सा (क्षणमात्र) भी सुख को अवकाश नहीं देना चाहिए, इस प्रकार उन बकुलों के समान (धूर्त) मन्त्रियों के द्वारा आपका चोरी से अर्जित किये गये धन का वेश्याओं के भवनों में उपभोग किया जाया करता है। अब ये बेचारे क्या हैं? तथा ये जो नीतिशास्त्र-रचयिता और तन्त्रशास्त्र-रचयिता शुक्राचार्य, आङ्गिरस (बृहस्पति), विशालाक्ष, बाहुदन्तिपुत्र तथा पराशर आदि थे, क्या इन लोगों ने छः शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लिया था ? क्या उन्होंने शास्त्र का अनुष्ठान किया था ? (अर्थात् शास्त्रों के अनुसार आचरण करते थे), क्या शुरू किये गये कार्यों में उन्होंने सिद्धियाँ अथवा असिद्धियाँ (सफलता या असफलता) पहले से ही प्राप्त कर ली थीं। पूर्व से पढ़े-लिखे व्यक्ति (भी) अशिक्षित लोगों के द्वारा ठग लिया जाया करते हैं। महाराज को ये सभी वस्तुएँ तो प्राप्त हैं ही-सम्पूर्ण संसार के द्वारा पूजनीया जाति (वंश), नूतन आयु, सुन्दर शरीर और असीमित ऐश्वर्य, इसलिए इन सभी को इस प्रकार की अपने राष्ट्र की चिन्ता (तन्त्र) और पद की चिन्ता के द्वारा बेकार न करिये, जो सभी व्यक्तियों के अविश्वास का हेतु है, जो सुखों के उपभोगों का विरोध करने वाले, जो विभिन्न रास्तों को बतलाने के कारण सम्पूर्ण कर्मों में सन्देह पैदा करने वाले हैं। आपके पास दश सहस्र हाथी हैं, तीन लाख अश्व हैं और असंख्य पदाति सेना है। और भी, आपका खजाना स्वर्ण और रत्नों से परिपूर्ण है। सभी प्राणिसमुदाय सहस्र युगों तक खाता हुआ भी आपके (अन्न के) भण्डारघरों को खाली नहीं कर पायेगा। क्या यह पर्याप्त नहीं कि और भी ज्यादा प्राप्त करने के निमित्त प्रयास करना चाहिए (अर्थात् क्या आपके पास पर्याप्त धन नहीं है, जो आप और ज्यादा धन प्राप्त करने के लिए प्रयास करेंगे ?)। (संसार में) पैदा होने वाले प्राणियों का जीवन तो चार-पाँच दिनों का ही होता है (अर्थात् मानव-जीवन क्षणभंगुर होता है), उसमें भी भोग-विलास करने के योग्य जो आयु का भाग होता है, वह तो (और भी) थोड़े से थोड़ा हुआ करता है। पुनः मूर्ख लोग तो (धन का) उपार्जन करते-करते ही नष्ट हो जाया करते हैं। (अर्थात् मर जाया करते हैं)। अप्राप्त वस्तु का थोड़ा-सा भी स्वाद प्राप्त करने के लिए कामना करते रहते हैं।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में शान्त रस, प्रसाद गुण, अनुप्रास अलंकार, काव्यलिङ्ग अलंकार तथा संदेह अलंकार है। संदेहालंकारलक्षणम्-'सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।'

(१४) किं बहुना; राज्यभारं भारक्षमेष्वन्तरङ्गेषु भक्तिमत्सु समर्प्य, अप्सरः प्रतिरूपाभिरन्तःपुरिकाभी रममाणो गीतसंगीतपानगोष्ठीश्च यथर्तु बध्नन् यथार्ह कुरु शरीरलाभम्' इति पञ्चाङ्गीमृष्टभूमिरञ्जलिचुम्बितचूडश्चिरमशेत। प्राहसीच्च प्रतिफुल्ललोचनोऽन्तःपुरप्रमदाजनः ।

अनुवाद- अधिक कहने से क्या लाभ? भारवहन करने में सक्षम, स्वयं के प्रति श्रद्धा रखने वाले तथा विश्वासपात्र मन्त्री आदि लोगों को (राज्य का कार्यभार) सौंपकर अप्सराओं के समान सुन्दर अन्तःपुर की नारियों के साथ भोग-विलास करते हुए, ऋतु (समय) के अनुसार गीत-वाद्य, मदिरापान के साथ

मित्रगोष्ठी (का आयोजन) करते हुए शरीरलाभ (इस जन्म) को सार्थक करें। इस प्रकार कहकर (शरीर के) पांचों अंगों से भूमि को स्पर्श करता हुआ, मस्तक पर दोनों हाथ जोड़कर विहारभद्र बहुत काल तक (लेटा) सोता रहा । प्रसन्नता के कारण विकसित आँखों वाली रनिवास की महिलायें (भाव-विभोर होकर) हँस पड़ीं ।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में श‍ृङ्गार रस, शान्त रस तथा हास्य रस, प्रसाद गुण, अनुप्रास अलंकार, काव्यलिङ्ग अलंकार एवं संसृष्टि अलंकार है। संसृष्टि अलंकार का लक्षण-'यद्येत एवालंङ्काराः परस्परविमिश्रिताः तदा पृथगलङ्कारौ संसृष्टिः'।

(१५) जननाथश्च सस्मितम् 'उत्तिष्ठ, ननु हितोपदेशाद् गुरवो भवन्तः । किमिति गुरुत्वविपरीतमनुष्ठितम्' इति तमुत्थाप्य क्रीडानिर्भरमतिष्ठत् । अथैषु दिनेषु भूयोभूयः प्रस्तुतेऽर्थे प्रेर्यमाणो मन्त्रिवृद्धेन, वचसाऽभ्युपेत्य मनसैवाचित्तज्ञ इत्यवज्ञातवान् ।

अनुवाद- थोड़ी हँसी (मुस्कुराहट) के साथ राजा ने भी 'उठिये, कल्याणकारी उपदेश देने के कारण आप (मेरे) गुरु हैं। आपने महानता (बड़प्पन) के विरुद्ध व्यवहार क्यों किया ? इस प्रकार कहकर, उसे उठाकर (अपने भी) भोग-विलास के रस में डूब गया अर्थात् स्वयं भी भोग-विलास करने लगा। इन दिनों प्रस्तुत (हाथ में आये) कार्य के लिए बारम्बार वृद्धमन्त्री (वसुरक्षित) द्वारा प्रेरित किया जाता हुआ वह राजा (अनन्तवर्मा) केवल वचन से मानकर, किन्तु मन में यह जानकर कि 'यह बूढ़ा मंत्री मेरे मन की बातों को न जानने वाला है' उस मंत्री का अपमान करने लगा ।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में श‍ृङ्गार रस, माधुर्य गुण, प्रसाद गुण, अनुप्रास अलंकार तथा काव्यलिङ्ग अलंकार है।

(१६) अथैवं मन्त्रिणो मनस्यभूत्-अहो मे मोहाद्बालिश्यम् । अरुचितेऽर्थे चोदयन्नर्थीवाक्षिगतोऽहमस्य हास्यो जातः । स्पृष्टमस्य चेष्टानामायथापूर्व्यम्। तथा हि-न मां स्निग्धं पश्यति, न स्मितपूर्व भाषते, न रहस्यानि विवृणोति, न हस्ते स्पृशति, न व्यसनेष्वनुकम्पते, नोत्सवेष्वनुगृह्णाति, न विलोभनवस्तूनि प्रेषयति, न मत्सुकृतानि प्रगणयति, न मे गृहवार्ता पृच्छति, न मत्पक्षान्प्रत्यवेक्षते, न मामासन्नकार्येष्वभ्यन्तरीकरोति, न मामन्तःपुरं प्रवेशयति । अपि च मामनर्हेषु कर्मसु नियुङ्क्ते, मदासनमन्यैरवष्टभ्यमानमनुजानाति, मद्वैरिषु विश्रम्भं दर्शयति, मदुक्तस्योत्तरं न ददाति, मत्समानदोषान्विगर्हति, मर्मणि मामुपहसति, स्वमतमपि मया वर्ण्यमानं प्रतिक्षिपति, महार्हाणि वस्तूनि मत्प्रहितानि नाभिनन्दति, नयज्ञानां स्खलितानि मत्समक्षं मूर्खैरुद्घोषयति । सत्यमाह चाणक्यः - 'चित्तज्ञानानुवर्तिनोऽनर्था अपि प्रियाः स्युः । दक्षिणा अपि तद्भावबहिष्कृता द्वेष्या भवेयुः' इति । तथापि का गतिः । अविनीतोऽपि न परित्याज्यः पितृपैतामहैरस्मादृशैरयमधिपतिः। अपरित्यजन्तोऽपि कमुपकारश्रूयमाणवाचः कुर्मः । सर्वथा नयज्ञस्य वसन्तभानोरश्मकेन्द्रस्य हस्ते राज्यमिदं पतितम् । अपि नामापदो भाविन्यः प्रकृतिस्थमेनमापादयेयुः । अनर्थेषु सुलभव्यलीकेषु

क्वचिदुत्पन्नोऽपि द्वेषः, सद्वृत्तमस्मै न रोचयेत्। भवतु भविता तावदनर्थः । स्तम्भितपिशुनजिह्वो यथाकथञ्चिद् भ्रष्टपदस्तिष्ठेयम' इति ।

अनुवाद- इसके पश्चात् मन्त्रियों के मन में (इस प्रकार का विचार) उत्पन्न हुआ- अरे, अज्ञान के कारण मेरी (यह) मूढता । (इस नृपति को) अच्छा न लगने वाले कर्म के प्रति प्रेरित करता हुआ मैं भिखारी के समान इसका शत्रु बनकर हँसी का पात्र हो चुका हूँ। यह तो स्पष्ट ही कि इस (नृपति) के व्यवहार पूर्व के समान नहीं हैं; यथा-(यह राजा) मुझे स्नेहपूर्ण दृष्टि से नहीं देखता है, मुस्कराते हुए मुझसे बात नहीं करता है, गुप्त बातों को (मुझे) नहीं बताता है। अपने हाथों से मुझे स्पर्श नहीं करता है, मुझ पर आयी हुई विपत्तियों में (भी मुझ पर कृपा (दया) नहीं

करता है, उत्सवों में भी मुझ पर कृपा नहीं करता है, आकृष्ट करने वाली वस्तुओं को (मेरे पास) नहीं भेजता है, मेरे द्वारा किये गये अच्छे कार्यों की गणना भी नहीं करता है, मेरे घर का समाचार (कुशल, क्षेम) भी नहीं पूछता है, मेरे पक्ष के लोगों को नहीं देखता है, अपने निकटस्थ (आवश्यक कार्यों में) शामिल भी नहीं करता है अर्थात् मेरे ऊपर विश्वास नहीं करता है । मुझे प्रासादस्थित अन्त:पुर में प्रवेश नहीं करने देता है । और भी, मुझे अयोग्य कार्यों में लगाता है। मेरे आसन पर अधिकार करने के लिए दूसरे लोगों को आदेश देता है, मेरे शत्रुओं का विश्वास करता है, मेरे द्वारा कही गयी बातों का उत्तर नहीं देता है, मेरे जैसे निर्दोष लोगों की निन्दा करता है, मर्मस्थल (मन, हृदय) में चुभने वाली बातों को कहकर मेरी हँसी उड़ाता है, मेरे द्वारा कहे गये निज के विचारों का भी अपमान करता है, मेरे द्वारा भेजे गये अत्यन्त कीमती वस्तुओं का भी स्वागत (स्वीकार) नहीं करता है, मेरे सामने ही मूढ लोगों से राजनीतिज्ञों के दोषों की घोषणा करवाता है । चाणक्य ने उचित ही कहा है कि राजा के मन को जानकर (राजा के मनोनुकूल) आचरण करने वाले लोग अनर्थकारी होते हुए भी (राजा के लिए) प्रिय हुआ करते हैं, किन्तु (राजा की मन की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने वाले व्यक्ति चालाक होकर भी (उसके) शत्रु बन जाया करते हैं । तो भी (आखिर) उपाय ही क्या है ? शिष्टाचार से हीन होने पर भी यह राजापिता - पितामह से (मंत्री पद पर कार्य करते हुए चले आते हुए) मेरे द्वारा त्याग करने के योग्य नहीं है । परन्तु जब हमारी बातों को सुना ही नहीं जा रहा है तो (इस राजा का) परित्याग न करते हुए भी हम (इसका) क्या कल्याण कर सकते हैं। यह राज्य पूरी तरह से अश्मक देशीय नीतिविद राजा वसन्तभानु के हाथों में चला गया अर्थात् चला जायेगा । सम्भव है कि भावी विपत्तियाँ ही इस राजा को अपनी बुद्धि में ठीक ढंग से स्थित कर दे। (किन्तु यह भी सम्भव है कि) जिसमें दु:ख मिलना स्वाभाविक है, इस प्रकार के अनर्थों की ओर से उत्पन्न द्वेष भी इसे सदाचार अथवा शिष्टाचार को अच्छा न लगने दे। इसलिए अनर्थ तो होना ही है (होगा ही); अत: हमारे लिए यही ठीक है कि हम अपनी जिह्वा में ताला डालकर (बिना कुछ कहे) किसी प्रकार अपने पदों को खोये बिना ही अपने-अपने पदों पर आसीन रहें ।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में हास्य रस, अद्‌भुत रस एवं शान्त रस प्रसाद गुण तथा माधुर्य गुण,

अनुप्रास अलंकार, उपमा अलंकार एवं काव्यलिङ्ग अलंकार है।

(१७) एवं गते मन्त्रिणि राजनि च कामवृत्ते चन्द्रपालितो नामाश्मकेन्द्रामात्यस्येन्द्र -पालितस्य सूनुः, असद्वृत्तः पितृनिर्वासितो नाम भूत्वा, बहुभिश्चारणगुणैर्बह्वीभिरनल्पकौशलाभिः शिल्पकारिण ीभिरनेकच्छन्नकिङ्करैश्च गूढपुरुषैः परिवृतोऽभ्येत्य विविधाभिः क्रीडाभिः विहारभद्रमात्मसादकरोत्। अमुना चैव संक्रमेण स राजन्यास्पदमलभत्। लब्धरन्ध्रश्च स यद्यद्व्यसनमारभते तत्तथेत्यवण र्यित्- देव यथा मृगया ह्यौपकारिकी न तथान्यत्। अत्र हि व्यायामोत्कर्षादापत्सूपकर्त्ता दीर्घाध्वलङ्घनक्षमो जङ्घाजवः, कफापचयादारोग्यैकमूलमाशयाग्निदीप्तिः, मेदोऽपकर्षादङ्गानां स्थैर्यकार्कश्यातिलाघवादीनि, शीतोष्णवातवर्षक्षुत्पिपासासहत्वम्, सत्त्वानामवस्थान्तरेषु चित्तचेष्टितज्ञानं हरिणगवलगवयादिवधेन सस्यलोपप्रतिक्रिया, वृकव्याघ्रादिघातेन स्थलपथशल्यशोध नम्, शैलाटवीप्रदेशानां विविधकर्मक्षमाणामालोचनम्, आटविकवर्गविश्रम्भणम्, उत्साहशक्ति- संधुक्षणेन प्रयत्यनीकवित्रासनमिति बहुतमा गुणाः।

अनुवाद- (इस प्रकार) मन्त्री के निरपेक्ष हो जाने तथा राजा के भी स्वेच्छाचारी हो जाने पर अश्मक देश के नरेश वसन्तभानु के मन्त्री इन्द्रपालित के दुराचारी लड़के चन्द्रपालित ने अपने-आपको पिता द्वारा निकाला गया प्रचारित कर, अनेक चारणों, अत्यन्त चातुरी सम्पन्न चित्रनिर्माण में पारंगत स्त्रियों और अनेक नौकरों से सम्पन्न जासूसों द्वारा घिरे हुए (उस राजा के) समीप पहुँच कर, अनेकविध क्रीड़ाओं द्वारा विहारभद्र को अपने अधीन कर लिया। (इस तरह राजदरबार में प्रवेश पाने का) सुअवसर प्राप्त कर उसने (अर्थात् चन्द्रपालित ने) उस विहारभद्र के साथ मिलकर राजा के हृदय में अथवा राजदरबार में स्थान प्राप्त कर लिया। अवसर प्राप्त कर वह (राजा अनन्तवर्मा) जिस-जिस गलत आदत को शुरू करता था, उसी के विषय में 'ऐसा ही उचित है' यह कहकर उसका अनुमोदन करता था। हे राजन्! शिकार करना जितना अधिक लाभप्रद है, उतना दूसरा कुछ भी नहीं है। इसमें (अर्थात् शिकार करने में) व्यायाम के उत्कर्ष के कारण विपत्तियों में उपकार करने वाला तथा लम्बे रास्तों को पार करने में सक्षम, जंघाओं की गति में वेग आ जाता है, कफ का विनाश हो जाने से स्वास्थ्य का एकमात्र मूल जठराग्नि पैदा हो जाती है। चर्बी का नाश हो जाने से अंगों में दृढ़ता, अधिक श्रम को सहने का सामर्थ्य और अत्यधिक स्फूर्ति उत्पन्न हो जाया करती है। शीत-गर्मी, हवा, वर्षा, भूख और प्यास को सहने की शक्ति आ जाती है। विभिन्न अवस्थाओं में (जंगली) प्राणियों की मनोवृत्ति तथा अनेकविध चेष्टाओं का ज्ञान भी प्राप्त होता है। हिरण, जंगली भैंसे तथा नीलगाय आदि के मारे जाने से फसल को नष्ट होने से बचाने का उपाय, भेड़िया आदि वध के कारण स्थलमार्ग के काँटों की सफाई, विभिन्न प्रकार के कार्यों के लिए उपयोगी पर्वतीय स्थानों तथा प्रदेशों का पता लगाना, जंगली प्रजाओं के हृदय में विश्वास उत्पन्न करना तथा उत्साहशक्ति की वृद्धि के कारण शत्रुसेनाओं के हृदयों में डर पैदा करना इत्यादि अनेक गुण हैं।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में वीर एवं भयानक रस प्रसाद गुण और ओज गुण, अनुप्रास अलंकार

तथा काव्यलिङ्ग अलंकार है।

(१८) द्यूतेऽपि द्रव्यराशेस्तृणवत्त्यागादनुपमानमाशयौदार्यम्, जयपराजयानवस्थाना-द्धर्षविषादयोरविधेयत्वम्, पौरुषैकनिमित्तस्यामर्षस्य वृद्धिः, अक्षहस्तभूम्यादि-गोचराणामत्यन्तदुरुपलक्ष्याणां कूटकर्मणामुपलक्षणादनन्तबुद्धिनैपुण्यम्, एकविषयोप- संहाराच्चित्तस्यातिचित्रमैकाग्रयम्, अध्यवसायसहचरेषु साहसेष्वरतिः, अतिकर्कशपुरुष प्रतिसंसर्गादनन्यधर्षणीयता मानावधारणमपकृपणं च शरीरयापनमिति ।

अनुवाद- द्यूतक्रीड़ा में भी धनसमूह का तिनके के समान व्यय करने के कारण हृदय (चित्त) में अनुपमेय उदारता पैदा होती है । जीत और हार के अनिश्चित रहने से प्रसन्नता तथा दुःख का अभाव हो जाया करता है। एकमात्र पुरुषार्थ के कारण क्रोध की वृद्धि होती है । पासा, हाथ और भूमि पर होने वाले अत्यन्त दुरूह प्रवञ्चनों के व्यापारों को जानने के कारण बुद्धि में अत्यन्त चतुराई आ जाती है। अपने मन को एक ही विषय में लगाने के कारण अत्यधिक आश्चर्यजनक मानसिक एकाग्रता आती है । उद्योग के सहचर साहस में अभिरुचि पैदा होती है । अत्यन्त कठोर स्वभाव वाले लोगों के साथ में रहने के कारण दूसरे व्यक्ति द्वारा अपने को न दबा

सकने वाला (पराभूत करने वाला) गुण (शक्ति) मिल जाता है। स्वाभिमान उत्पन्न होता है और कंजूसी से रहित जीवन निर्वाह होता रहता है।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में रौद्र एवं शान्त रस, प्रसाद एवं ओज गुण हैं, उपमा, अनुप्रास और काव्यलिङ्ग अलंकार हैं तथा दोनो का सांकर्ष होने से संकारालंकार भी है।

(२१) वाक्पारुष्यं दण्डो दारुणो दूषणानि चार्थानामेव यथावकाशमौपकारिकाणि। नहि मुनिरिव नरपतिरुपशमरतिरभिभवितुमरिकुलमलम्, अवलम्बितुं च लोकतन्त्रमिति ।

अनुवाद- वाणी का पारुष्य (दूसरों के लिए अपशब्दों का प्रयोग करना), (दूसरों को) कठोर दण्ड देना, दूसरों की धन-सम्पत्ति आदि को आहृत कर अपने कार्य में प्रयुक्त कर लेना-ये समस्त गुण अवसर आने पर अत्यन्त उपकारी होते हैं अर्थात् काम आते हैं। मुनि के समान शान्तिप्रिय राजा न तो अपने शत्रुसमूह को ही पराभूत करने में सक्षम हो सकता है और न ही लोकतन्त्र का आश्रय लेने में।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में वीर रस व उपमा अलंकार है।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) अश्मकराज ने अनन्तवर्मा के राज्य को सीधे जीतने के बजाय किस कूटनीति या आंतरिक चाल का सहारा लिया?

2) राजा अनन्तवर्मा के मारे जाने के बाद रानी वसुन्धरा के सामने अचानक क्या संकट खड़ा हुआ?

3) विन्ध्य के जंगलों में रानी वसुन्धरा के अत्यधिक विलाप (रोने) के मुख्य कारण क्या थे?

4) अश्मकराज के जासूसों और दूतों ने अनन्तवर्मा के सामंतों व मंत्रियों को किस प्रकार अपने प्रभाव में लिया था?

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. अश्मकराज द्वारा रचे गए कूटनीतिक षड्यंत्र और उसके परिणामस्वरूप राजा अनन्तवर्मा के राज्य के पतन का विस्तृत वर्णन कीजिए।

2. राजा की मृत्यु के पश्चात् रानी वसुन्धरा की मानसिक दशा और वन में अपने छोटे बच्चों के साथ झेले गए कष्टों का सजीव चित्रण कीजिए।

3. इस कथा भाग के आधार पर स्पष्ट कीजिए कि किसी राज्य की आंतरिक फूट बाहरी आक्रमण ाकारियों के लिए किस प्रकार मार्ग प्रशस्त करती है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) अनन्तवर्मा की कमजोरी का फायदा उठाकर किस पड़ोसी राजा ने उनके विरुद्ध षड्यंत्र रचा था?

(क) मगधराज (ख) अश्मकराज

(ग) मिथिलाधिपति (घ) अवन्तीराज

2) शत्रु सेना से युद्ध में पराजित होने के बाद राजा अनन्तवर्मा की क्या गति हुई?

(क) वे बंदी बना लिए गए (ख) वे युद्धक्षेत्र में मारे गए

(ग) वे गुप्त रूप से जंगल भाग गए (घ) उन्होंने शत्रु के सामने आत्मसमर्पण कर दिया

3) राजा अनन्तवर्मा की मृत्यु के बाद उनकी रानी अपने बच्चों को लेकर कहाँ शरण लेती हैं?

(क) विन्ध्याचल के जंगलों में (ख) हिमालय की गुफाओं में

(ग) अपने मायके (पितृगृह) में (घ) पड़ोसी मित्र देश के महल में

4) रानी वसुन्धरा के छोटे पुत्र (राजकुमार) का नाम क्या है?

(क) विश्रुत (ख) भास्करवर्मा

(ग) वसुरक्षित (घ) प्रहारवर्मा

इकाई 1.3

कुमार विश्रुत का आगमन, प्रतिज्ञा और कूटनीतिक योजनाएँ

(गद्यांश 22 से 31)

उद्देश्यः

1. विश्रुत के चरित्र द्वारा छात्रों को शरणागत-रक्षण (शरण में आए की रक्षा) के उत्तम नैतिक मूल्यों से जोड़ना।

2. विद्यार्थियों को यह सिखाना कि घोर विपत्ति में भी कैसे धैर्य और आत्मबल को बनाए रखा जाता है।

3. छात्रों को विपरीत समय में सीधे लड़ने के स्थान पर कूटनीति के महत्त्व को समझाना।

4. एक आदर्श नायक के परोपकार, दृढ़ संकल्प और निःस्वार्थ सेवा जैसे गुणों का बोध कराना।

परिणामः

1. शिक्षार्थी यह सीखेंगे कि विषम परिस्थितियों में घबराने के स्थान पर संकट निवारण की योजना कैसे बनाई जाती है।

2. छात्र विश्रुत और रानी के संवाद के माध्यम से तत्कालीन राजनैतिक चालों का विश्लेषण करने में सक्षम होंगे।

3. विद्यार्थियों में परोपकार की भावना जगेगी और वे असहाय लोगों की सहायता के लिए हाथ आगे बढ़ाएंगे।

4. छात्र गद्यांश के कठिन शब्दों के सटीक अर्थ और उनके व्यावहारिक प्रयोग को अच्छी तरह समझ सकेंगे।

(२२) असावपि गुरूपदेशमिवात्यादरेण तस्य मतमन्ववर्त्तत । तच्छीलानुसारिण्यश्च प्रकृतयो विशृङ्खलमसेवन्त व्यसनानि । सर्वश्चसमानदोषतया न कस्यचिच्छिद्रान्वेषणायायतिष्ट । समानभर्तृप्रकृतयस्तन्त्राध्यक्षाः स्वानि कर्मफलान्यभक्षयन् । ततः क्रमादायद्वाराणि व्यशीर्यन्त। व्ययमुखानि विटवैधेयतया विभोरहरहर्व्यवर्धन्त । सामन्तपौरजानपदमुख्याश्च समानशीलतयोपारूढविश्रम्भेण राज्ञा सजायाः पानगोष्ठीष्वभ्यन्तरीकृताः स्वं स्वमाचारमत्यचारिषुः ।

अनुवाद- दूसरे के दोषों को खोजने के निमित्त प्रयास नहीं करते थे । (इस प्रकार) विभिन्न विभागों

के सर्वोच्च अधिकारी (जो राजा के आचरण के समान आचरण करने लगे थे) भी अपने-अपने कर्मों का परिणाम भोगने लगे अर्थात् प्रजाजनों से धन इत्यादि की लूट-खसोट कर अपना कार्य बनाने लगे। इसके पश्चात् आय के द्वार समाप्त हो गये अर्थात् आमदनी का स्रोत खत्म हो गया। धूर्तों का आदेश मानने के कारण प्रतिदिन धीरे-धीरे राजा के व्ययसुख को अर्थात् स्वामी के खर्चे को और अधिक बढ़ा दिया । सामन्तों, नगरवासियों तथा देशवासियों में प्रमुख लोग समान आचरण करने के कारण विश्वासपात्र बने हुए, राजा के द्वारा पत्नी के साथ मदिरापान के समारोहों में प्रविष्ट करा लिए गये हुए (लोग तथा) स्वयं (अर्थात् राजा) अपनी-अपनी मर्यादा का अतिक्रमण करने लगे ।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में प्रसाद गुण, अनुप्रास अलंकार और उपमा अलंकार है तथा इन दोनो का सांकर्य होने से संकरालंकार भी है।

टिप्पणी- शास्त्रों में व्यसनों की चर्चा अधोलिखित श्लोक में की गई है-

पैशुन्यं साहसं द्रोहः ईर्ष्याऽसूयाऽर्थदूषणम्।

वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः।।

चुगलखोरी, अनुचित साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थदूषण, कठोर वचन, कठोर दण्ड देना-ये आठ क्रोधज व्यसन माने गये हैं।

(२३) तदङ्गनासु चानेकापदेशपूर्वमपाचरन्नरेन्द्रः । तदन्तःपुरेषु चामीभिन्नवृत्तेषु मन्दत्रासो बहुसुखैरवर्त्तन्त । सर्वश्च कुलाङ्गनाजनः पांसुलजनभङ्गिभाषणरतो भग्नचारित्रयन्त्रणस्तृणायापि न गणयित्वा भर्तृन्धातृगणमन्त्रणान्यशृणोत् । तन्मूलाश्च कलहाः सामर्षाणामुदभवन् । अहन्यन्त दुर्बला बलिभिः । अपहृतानि धनवतां धनानि तस्करादिभिः । अपहृतपरिभूतयः प्रहताश्च पात. कपथाः । हतबान्धवा हृतवित्ता वधबन्धातुराश्च मुक्तकण्ठमा-क्रोशन्नश्रुकण्ठ्यः प्रजाः।

अनुवाद- बहुत से बहाने बनाकर राजा ने उनकी स्त्रियों के साथ (भी) बुरा आचरण किया और वे (सामन्त, नगरवासी आदि) भी निडर होकर (राजा की) रानियों के साथ आनन्दपूर्वक आचरण करने लगे। कामी पुरुषों की भावयुक्त कथनशैली में तत्पर अर्थात् आकृष्ट रनिवास की समस्त स्त्रियाँ चरित्रसम्बन्धी बन्धन को तोड़कर अपने स्वामी को भी न समझकर जार लोगों के विचारों को सुनने लगीं । असहनशील लोगों में इस प्रकार के विवाद पैदा हो गये, (जिनका) प्रमुख कारण चरित्रहीनता थी । दुर्बल लोग शक्तिशालियों द्वारा मार दिये गये । धनी लोगों की सम्पत्ति चोर-डकैतों द्वारा अपहृत कर ली गई। जिन पापों को करने से अपमानित होने का भय नहीं रह गया था, इस तरह के पाप (कुचल) दबा दिये गये। जिन प्रजाओं के भाई-बन्धु मार डाले गये थे और जिनका धन अपहृत कर लिया गया था, जो वध और बन्धन से परेशान हो चुके थे, वे अश्रुधारा से भरे हुए कण्ठ से सम्पन्न होकर मुक्तकण्ठ से (जोर-जोर से) रोने लगे।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में करुण रस,शृङ्गार रस, प्रसाद गुण, ओज गुण व अनुप्रास अलंकार है।

(२४) दण्डश्चायथाप्रणीतो भयक्रोधावजनयत् । कृशकुटुम्बेषु लोभः पदमधत्त । विमानिताश्च तेजस्विनोऽमानेनादह्यन्त । तेषु-तेषु चाकृत्येषु प्रासरन्परोपजायाः । तदा च मृगयुवेषमृगबाहुल्य-वर्णनेनाद्रिद्रोणीरनपसारमार्गाः शुष्कतृणवंशगुल्माः प्रवेश्य द्वारतोऽग्निविसर्गैः, व्याघ्रादिवधे प्रोत्साह्य तन्मुखपातनैः, इष्टकूपतृष्णोत्पादनेनातिदूरहारितानां प्राणहारिभिः क्षुत्पिपासाभिवर्धनैः, तृण गुल्मगूढच्छन्नतटप्रदरपातहेतुभिर्विषममार्गप्रधावनैः विषमुखीभिः क्षुरिकाभिश्चरण- कण्टकोद्धरणैः विष्वग्विसरविच्छिन्नानुयातृतयैकाकीकृतानां यथेष्टघातनैः, मृगदेहापराद्धैर्नामेषुमोक्षणैः सपणबन्धमधिरुह्याद्रिशृङ्गाणि दुरधिरोहाण्यनन्यलक्ष्यैः प्रभ्रंशनैः, आटविकच्छद्मनाविपिनेषु विरलसैनिकानां प्रतिरोधनैः, अक्षद्यूतपक्षियुद्धयात्रोत्सवादिसंकुलेषु बलवदनुप्रवेशनैः, इतरेषां हिंसोत्पादनैः, गूढोत्पादितव्यलीकेभ्योऽप्रियाणि प्रकाशं लब्ध्वा साक्षिषु तद्विख्याप्याकीर्तिगुप्तिहेतुभिः पराक्रमैः, परकलत्रेषु सुहृत्त्वेनाभियोज्य जारान्भर्तृभयपमहृत्योत्य तत्साहसोपन्यासैः योग्यनारीहारितानां संकेतेषु प्रागुपनिलीय पश्चादभिद्रुत्याकीर्तनीयैः प्रमापणैः, उपप्रलोभ्य बिलप्रवेशेषु निधानखननेषु च विघ्नव्याजसाध्यैर्व्यापादनैः, मत्तगजाधिरोहणाय प्रेर्य प्रत्यवायनिर्वर्तनैः, व्यालहस्तिनं कोपयित्वा लक्ष्यीकृतमुख्यमण्डलेष्वपक्रमणैः, दायाद्यर्थे विवदमानानुपांशु हत्वा प्रतिपक्षेष्वयशः पातनैः, सा मन्तपुरजनपदेष्वयथावृत्तानप्रकाशमभिप्रहृत्य तद्वैरिनामघोषणैः, योग्याङ्गनाभिरहर्निशमभिरमय्य राजयक्ष्मोत्पादनैः, वस्त्राभरणमाल्याङ्गरागादिषु रसविधानकौशलैः, चिकित्सामुखेनामयो-पबृंहणैरन्यैश्चाभ्युपायैरश्मकेन्द्रप्रयुक्तास्तीक्ष्ण- रसदादयः प्रक्षपितप्रवीरमनन्तवर्मकटकं जर्जरमकुर्वन्।

अनुवाद- गलत तरीके से दिये गये दण्ड ने (प्रजा में) भय और गुस्सा पैदा कर दिया (अर्थात् जो निर्दोष था, उसे ही दण्ड देने की प्रथा प्रारम्भ हो गयी)। निर्धन परिवारों में लालच ने अपना पैर जमा लिया अर्थात् लोग लालची हो गये। अपमानित लोग अपमान के कारण जलने लगे। शत्रुओं के षड्यंत्र विभिन्न प्रकार के दुष्कर्मों के रूप में फैल गये। बहेलियों के वेश को पहनकर जंगली जानवरों से व्याप्त जंगलों में, हरिणों की अधिकता के कथन से, शुष्क घास, बाँस और झाड़ियों से व्याप्त तथा निकलने वाले रास्ते से रहित पहाड़ की घाटियों में प्रवेश कराकर (अनन्तवर्मा की सेना को समाप्त कर दिया), (फिर) घाटी के प्रवेशद्वार पर आग लगाकर बाघ आदि जानवरों के वध के लिए उत्साहित कर उनके मुखों में छोड़कर, अच्छे कूपों की प्राप्ति की पिपासा पैदा कर अत्यन्त दूर जगह पर ले जाकर, प्राण हरण करने वाली भूख की वृद्धि कर, घास और ऊँची-ऊँची झाड़ियों से ढके हुए, नीच-उच्च स्थानों से गिरा देने के लिए, ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर दौड़कर, जहर से बुझे हुए अग्रभाग वाले छुरियों से पाँव में धँसे हुए काँटों को निकालकर, चारों तरफ गमन कर जाने के कारण उनके अनुसरणकर्ताओं को तितर-बितर करके 'ये बाण मृगों पर चलाये गये थे, परन्तु वे उनको न लग सके, इस छल से उन्हीं को उन तीरों से मारकर, बाजी लगाकर आसानी से न बढ़ सकने योग्य पहाड़ों की चोटियों पर

चढ़कर और अन्य किसी के द्वारा न देखे जाते हुए, उन्हें (पर्वतचोटी से) गिराकर, जंगलों में जंगलियों के वेश को पहनकर, कुछ थोड़े सैनिकों को रोककर तथा अन्य दूसरों को जुआ खेलने में, पक्षियों के युद्ध में, यात्रा-विषयक मेलों की भीड़ में बलात् प्रवेश कराकर तथा उनकी हिंसा कराकर गुप्तढंग से (उनको) विपदा में डलवा कर, उनसे साफ विपरीत प्रतिक्रिया प्राप्त कर और उस विरोध को साक्षी लोगों के सामने घोषणा कर, पुनः (स्वयं की) अपकीर्ति को दूर करने वाली शक्ति से अन्य पुरुषों की महिलाओं से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कराकर दुष्कर्मियों और पतितों को मारकर, उन दुष्कर्मियों के दुष्कर्मों को (प्रजाजनों के सामने) रखकर, संकेतित स्थानों में पूर्व से ही छुपकर उसके बाद आक्रमण कर, विश्वासघातिनी स्त्रियों द्वारा लाये गये लोगों को न कहे जाने योग्य उपायों से हत्या कराकर, खजानों को खोदने और मन्त्र की सिद्धि के लिए (उन्हें उखाड़कर) कन्दराओं में घुसाकर, पुनः बाधा के छल से (उनको) मारकर, मतवाले हाथियों पर चढ़ने के लिए प्रेरित कर (हाथी की तरफ से होने वाले) अनिष्टों से बचने के उपायों की ओर से मुँह फेरकर, दुष्ट हाथियों को क्रोधित कर प्रमुख तथा निशाना बनाये गये लोगों के सम्मेलन में उस हाथी को खदेड़कर (दौड़ाकर),एकान्त में अपने पूर्वजों से मिली हुई भूमि, धन तथा जागीर आदि के लिए मुकदमा लड़ने वालों की हत्या कर, शत्रुपक्षीय लोगों पर (अनेक प्रकार के) दोषों को मढ़कर, सामन्तों के शहरों तथा जिलों में अनुरूप (योग्य) व्यवहार करने वाले लोगों को गुप्त तरीके से मारकर तथा उनके शत्रुओं का नाम आरोपित कर (लगाकर) सुन्दरी स्त्रियों के साथ रात-दिन सम्भोग करवाकर, क्षयरोग (टी०बी०) रोग उत्पन्न कराकर, वस्त्र, आभूषण, हार तथा लेपादि में जहर मिला देने की चालाकी से, उपचार करने के बहाने से रोग की (और) वृद्धि कर और विभिन्न अन्यान्य उपायों से (नृपति) अश्मकेन्द्र द्वारा नियोजित भयंकर जहर देने वालों ने अनन्तवर्मा के वीर सैनिकों को नष्ट-भ्रष्ट कर उसकी सेना को तितर-बितर कर डाला।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में वीर रस, भयानक, रौद्र, शृङ्गार रस, प्रसाद गुण, ओज गुण माधुर्य गुण, अनुप्रास अलंकार, काव्यलिङ्ग अलंकार और संकरालंकार है।

(२५) अथ वसन्तभानुर्भानुवर्माणं नाम वानवास्यं प्रोत्साह्यानन्त-वर्मणा व्यग्राहयत्। तत्परामृष्टराष्ट्रपर्यन्तश्चानन्तवर्मा तमभियोक्तुं बलसमुत्थानमकरोत्। सर्वसामन्तेभ्यश्चाश्मकेन्द्रः प्रागुपेत्यास्य प्रियतरोऽभूत्। अपरेऽपि सामन्ताः समगंसत। गत्वा चाभ्यर्णे नर्मदारोधसि न्यविशन्। तस्मिंश्चावसरे महासामन्तस्य कुन्तलपतेरवन्तिदेवस्यात्मनाटकीयां क्ष्मातलोर्वशीं नाम चन्द्रपालि तादिभिरतिप्रशस्तनृत्यकौशलामाहूयानन्तवर्मा नृत्यमद्राक्षीत् । अतिरक्तश्च भुक्तवानिमां मधुमत्ताम्।

अनुवाद- इसके पश्चात् वसन्तभानु ने भानुवर्मा नाम वाले वनप्रदेश के राजा को उकसाकर अनन्तवर्मा से लड़वा दिया। उसके अर्थात्् भानुवर्मा द्वारा अपने राज्य का समीपस्थ भाग अधिगृहीत कर लिये जाने पर अनन्तवर्मा उस पर आक्रमण करने हेतु सेना इकट्ठी करने लगा। अश्मक देश का राजा वसन्तभानु सभी सामन्तों से पूर्व आकर उसका अर्थात् अनन्तवर्मा का प्रेमपात्र हो गया। दूसरे सामन्त लोग

भी उसी के साथ मिल गये। (उन लोगों ने) समीप पहुँचकर नर्मदा नदी के तट पर अपना डेरा डाल दिया। उस अवसर पर महासामन्त कुन्तल देश के राजा अवन्तिदेव ने अपनी नृत्यांगना, जो भूमण्डल पर उर्वशी (अप्सरा) के समान थी और जो अपने नृत्य–कौशल के कारण चन्द्रपालित द्वारा प्रशंसा की जा चुकी थी, (उसे) अनन्तवर्मा ने बुलवाकर (उसका) नाच देखा। (अनन्तवर्मा ने) अत्यन्त आसक्त होकर मदिरा के नशे में चूर उस वेश्या के साथ भोग–विलास भी किया।

रस, गुण, अलंकार– इस गद्य में वीर रस शृङ्गार रस, माधुर्य गुण ओज और प्रसाद गुण तथा अनुप्रास अलंकार है। अनुप्रास में वृत्त्यानुप्रास अलंकार है।

(२६) अश्मकेन्द्रस्तु कुन्तलपतिमेकान्ते समभ्यधत्त – 'प्रमत्त एष राजा कलत्राणि नः परामृशति । कियत्यवज्ञा सोढव्या । मम शतमस्तिहस्तिनाम्, पञ्चशतानि च ते। तदावां सं. भूय मुरलेशं वीरसेनमृचीकेशमेकवीरं कोङ्कणपतिं कुमारगुप्तं सासिक्यनाथं च नागपालमुपजपाव। ते चावश्यमस्याविनयमसहमाना अस्मन्मतेनैवोपावर्त्तेरन् । अयं च वानवास्यः प्रियं मे मित्रम् । अमुनैनं दुर्विनीतमग्रतो व्यतिषक्तं पृष्ठतः प्राहरेम । कोशवाहनं च विभज्य गृह्णीमः' इति हृष्टेन चामुनाभ्युपेते, विंशतिं वरांशुकानाम्, पञ्चविंशतिं काञ्चनकुंकुमकम्बलानाम्, प्राभृतीकृत्याप्तमुखेन तैः सामन्तैः संमन्त्र्य तानपि स्वमतावस्थापयत्। उत्तरेद्युस्तेषां सामन्तानां वानवास्यस्य च अनन्तवर्मा नयद्वेषादामिषत्वमगच्छत्। वसन्तभानुश्च तत्कोशवाहनमवशीर्णमात्माधिष्ठितमेव कृत्वा 'यथान्यासं यथाबलं च विभज्य गृह्णीत। युष्मदनुज्ञयायेन केनचिदंशेनाहं तुष्यामि' इति शाठ्यात्सर्वानुवर्त्ती, तेनैवामिषेण निमित्तीकृतेनोत्पादितकलहः सर्वसामन्तानध्वंसयत् । तदीयं च सर्वस्वंस्वयमेवाग्रसत्। वानवास्यं केनचिदंशेनागृह्य प्रत्यावृत्य सर्वमनन्तवर्मराज्यमात्मसादकरोत्।

अनुवाद– अश्मक देश के राजा वसन्तभानु ने कुन्तल देश के नरेश अवन्तिदेव से अकेले में कहा– मतवाला यह नरेश (अनन्तवर्मा) हम सभी लोगों की स्त्रियों का अपमान करता रहता है या बलात्कार करता रहता है। (और) कितना अपमान **बरदास्त** किया जाय। मेरे पास एक सौ हाथी और आपके पास पाँच सौ है, इसलिए हम लोग एक होकर मुरल देश के अधिपति वीरसेन को, ऋचीक देश के राजा एकवीर को, कोंकण देश के सम्राट् कुमारगुप्त को और सासिक्य देश के भूपति नागपाल को (अनन्तवर्मा की तरफ से अलग कर) अपने में मिला लें। इसके कठोर आचरण को बरदास्त न करते हुए वे सभी लोग भी हमारी इच्छानुसार कार्य करेंगे तथा यह वनप्रदेश का सम्राट् भानुवर्मा हमारा प्रिय सुहृद् है ही । इस अविनीत (अनन्तवर्मा) के ऊपर उसके अर्थात् भानुवर्मा के द्वारा आगे से चढ़ाई कराकर पीछे से हम सभी लोग भी आक्रमण कर देंगे और इसके खजाने तथा सेना को बाँटकर लें' यह सुनकर उसके (अवन्तिदेव) द्वारा खुश होकर (वसन्तभानु का प्रस्ताव) मान लिये जाने पर बीस उत्तम कपड़ा, केसर की सुगन्ध से सोने की जरी के काम से सम्पन्न, पच्चीस कम्बलों (दुशालों) को, विश्वसनीय आदमी से उपहार के रूप में प्रेषित कर उस (अनन्तवर्मा के पक्षीय) जमीन्दारों से विचार–विमर्श करके उन्हें भी अपनी वश में कर लिया अर्थात् अपनी ओर मिला लिया। अगले दिन, इससे राजनीतिक द्वेष रखने

के कारण अनन्तवर्मा उन जमीन्दारों का और वनप्रदेश के राजा भानुवर्मा का आखेट बन गया अर्थात् मार डाला गया। वसन्तभानु ने उसके छिन्न-भिन्न कोश और सेना को अपने आधिपत्य में लेकर 'अपने-अपने श्रम और अपनी-अपनी सेना के अनुसार वितरित कर आप लोग ले जाइये । आप लोगों के आदेश से थोड़े अधिक भाग से मैं भी सन्तुष्टि प्राप्त कर लूँगा' इस प्रकार से कहकर सभी की इच्छा के अनुसार चलने का छलकर, धूर्तता से उसी (बँटवारे) के आधार पर (सभी जमीन्दारों में आपस में) झगड़ा पैदा कर सभी सामन्तों का विध्वंश कर डाला तथा उन सभी के उस (पूरे) धन को खुद ही बलात् ले लिया । वन प्रदेश - निवासी नरेश भानुवर्मा को कुछ भाग से प्रसन्न कर (अपने देश को) वापस आकर अनन्तवर्मा के सम्पूर्ण राज्य को अपने आधिपत्य में ले लिया।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में वीर रस, शांत रस, ओज गुण, प्रसाद गुण तथा अनुप्रास और काव्यलिङ्ग अलंकार है।

(२७) अस्मिश्चान्तरे मन्त्रिवृद्धो वसुरक्षितः कैश्चिन्मौलैः संभूय बालमेनं भास्करवर्माणम्, अस्यैव ज्यायसीं भगिनीं त्रयोदशवर्षा मञ्जुवादिनीम्, अनयोश्च मातरं महादेवीं वसुन्धरामादायापसर्पन्नापदोऽस्या भावितया दाहज्वरेण देहमजहात्। अस्मादृशैर्मित्रैस्तु नीत्वा माहिष्मतीं भर्तृद्वैमातुराय भ्रात्रे मित्रवर्मणे सापत्या देवी दर्शिताभूत् । तां चार्यामनार्योऽसावन्यथाभ्यमन्यत । निर्भर्त्सितश्च तया 'सुतमियमखण्डचारित्रा राज्यार्हं चिकीर्षति' इति नैर्घृण्यात्तमेनं बालमजिघांसीत्। इदं तु ज्ञात्वादेव्याहमाज्ञप्तः -'तात! नालीजङ्घ, जीवतानेनार्भकेण यत्र क्वचिदवधाय जीव । जीवेयं चेदहमप्येनमनुसरिष्यामि । ज्ञापय मां क्षेमप्रवृत्तः स्ववार्तामिति' । अहं तु संकुले राजकुले कथंचिदेनं निर्गमय्य विन्ध्याटवीं व्यगाहिषि । पादचारिणं चैनमाश्वासयितुं घोषे क्वचिदहानि कानिचिद्विश्रमय्य, तत्रापि राजपुरुषसंपातभीतो दूराध्वमपासरम्। तत्रास्य दारुणपिपासापीडितस्य वारि दातुकामः कूपेऽस्मिन्नपभ्रश्य पतितस्त्वयैवमनुगृहीतः त्वमेवास्यातः शरणमेधि विशरणस्य राजसूनोरित्यञ्जलिमबध्नात्।

अनुवाद- इसी मध्य श्रेष्ठ मन्त्री वसुरक्षित ने (वसुरक्षित मन्त्रियों में वृद्ध होने कारण श्रेष्ठ थे) (अनन्तवर्मा के) पुरखों के काल से चले आते हुए कुछ मन्त्रियों से मिलकर, इस भास्करवर्मा नामक बालक को, तेरह वर्ष वाली, मृदु बोलने वाली इसकी बड़ी बहन को और इन दोनों की माता महारानी वसुन्धरा को लेकर भागते हुए, इस आपदा की अवश्यम्भाविता के कारण तीव्र बुखार से पीड़ित होकर देह का परित्याग कर दिया। हमारे सुहृदों के द्वारा माहिष्मती (नामक नगरी) में पहुँचायी हुई रानी अपने पति के सौतेले भाई मित्रवर्मा के (हाथों में) सन्तान के साथ समर्पित कर दी गयी; (परन्तु) उस अनार्य (दुष्ट) ने इस श्रेष्ठ रानी को दूसरे रूप में समझा अर्थात् इसे भ्रष्टाचार करने वाली ही माना। फिर वह उस सदाचरण वाली रानी से फटकारे जाने पर 'अपने पुत्र को राज्य के योग्य बनाने की आकांक्षा रखती है' यह विचार कर दयाविहीन होकर इस बालक को मार देने का विचार करने लगा। यह पता चलने पर रानी ने मुझे आदेश दिया कि 'हे तात नालीजङ्घ! इस जिन्दा बालक के साथ तुम किसी दूसरी

जगह पर रहकर जीवित रहो। अगर मैं जिन्दा बची रही (तो मैं) भी इसका अनुसरण करूँगी अर्थात् फिर मिलूँगी। (इस बच्चे के) कल्याण में तत्पर तुम अपने वृत्तान्तों से मुझे अवगत करवाते रहना'। लोगों की भीड़ से परिपूर्ण राजवंश से इस बच्चे को येन-केन प्रकारेण बाहर लाकर मैं विन्ध्य पर्वत के घने जंगलों में आकर घुस गया अर्थात् छिप गया। पैदल चलने से क्लान्त इस बच्चे को आश्वस्त करने हेतु किन्हीं आभीरों की बस्ती में कुछ दिन आराम कर, वहाँ भी नरेश अर्थात् मित्रवर्मा के राजकीय

अधिकारियों के आने के भय से भयाक्रान्त होकर मैं बहुत दूर चला गया। तीव्र प्यास के व्याकुल इस बच्चे को पानी देने की अभिलाषा वाला मैं बिछलाकर कुएँ में गिर गया और अब तुमसे इस प्रकार कृपा को प्राप्त हुआ हूँ अर्थात् आपने बड़ी अनुकम्पा करके मुझे इस कूप से बाहर निकाल दिया । 'इस कारण इस शरणरहित राजा के बच्चे के आप ही आश्रय हैं अर्थात् शरणदाता हैं' इस प्रकार कहकर उसने अंजली बाँधी अर्थात् दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में भयानक रस एवं प्रसाद गुण, अनुप्रास अलंकार तथा काव्यलिङ्ग अलंकार है।

(२८) 'किमीया जात्यास्य माता' इत्यनुयुक्ते मयाऽमुनोक्तम्-'पाटलिपुत्रस्य वणिजो वैश्रवणस्य दुहितरि सागरदत्तायां कोसलेन्द्रात्कुसुमधन्वनोऽस्य माता जाता' इति । 'यद्येवमेतन्मातुर्मत्पितुश्चैको मातामहः इति सस्नेहं तमहं सस्वजे । वृद्धेनोक्तम्-'सिन्धुदत्तपुत्राणां कतमस्ते पिता ?' इति । सुश्रुतः इत्युक्ते सोऽत्यहृष्यत् । अहं तु तं नयावलिप्तमश्मक-नयेनैवोन्मूल्य बालमेनं पित्र्ये पदे प्रतिष्ठापयेयम् इति प्रतिज्ञाय 'कथमस्यैनांक्षुधं क्षपयेयम्' इत्यचिन्तयम् । तावदापतितौ च कस्यापि व्याधस्यत्रीनिषूनतीत्य द्वौ मृगौ स च व्याधः । तस्य हस्तादवशिष्टमिषुद्वयं कोदण्डं चाक्षिप्यावधिषम्। एकश्च सपत्राकृतोऽन्यश्च निष्पत्राकृतोऽपतत्। तं चैकं मृगं दत्वा मृगयवे, अन्यस्यापलोमत्वचः क्लोमापोह्य, निष्कुलाकृत्यविकृत्योर्वङ्घ्रि ग्रीवादीनि शूलाकृत्य दावाङ्गारेषु, तप्तेनामिषेण तयोरात्मनश्चक्षुधमतार्षम्। एतस्मिन् कर्मणि मत्सौष्ठवेनातिहृष्टं किरातमस्मि पृष्टवान्-'अपि जानासि माहिष्मतीवृत्तान्तमिति' । असावाचष्ट-'तत्र व्याघ्रत्वचोदृतीश्च विक्रीयाद्यैवागतः, किं न जानामि । प्रचण्डवर्मा नाम चण्डवर्मानुजोमित्रवर्मदुहितरं मञ्जुवादिनीं विलिप्सुरभ्येतीति तेनोत्सवोत्तरा पुरी' इति ।

अनुवाद- मेरे (विश्रुत के) द्वारा यह पूछे जाने पर कि 'इसकी माँ किस जाति की है' इसने उत्तर दिया 'पाटलिपुत्र अर्थात् पटना के वणिक् वैश्रवण की कन्या सागरदत्ता के साथ कौशल देश के अधिपति कुसुमधन्वा के (सहवास से) इसकी माँ पैदा हुई थी।' यदि ऐसा है तो इसकी माँ तथा हमारे पिता दोनों के नाना एक ही हैं।' ऐसा कहकर मैंने उस बच्चे का बड़े स्नेह से आलिङ्गन कर लिया। बूढ़ा बोला- 'सिन्धुदत्त के लड़कों में से कौन तुम्हारे पिता थे ?' 'सुश्रुत' इस प्रकार बतलाने पर वह बहुत खुश गया। राजनीति के घमण्ड में चूर अश्मक देश के राजा वसन्तभानु को राजनीति से ही विनष्ट कर इस बच्चे को उसके पिता के पद अर्थात् राजगद्दी पर बैठा दूँगा, इस प्रकार से प्रतिज्ञा कर 'इसकी

क्षुधा को कैसे दूर करूँ' यही विचार करने लगा। तभी किसी किरात के तीन बाणों से बचते मृग और वह किरात आ पहुँचा। बचे हुए दोनों बाणों तथा धनुष को उसके हाथ से बलात् छीनकर (दोनों मृगों को मार डाला)। एक मृग (बाण से)इस तरह बिंधा हुआ था कि उसके शरीर के बाहर केवल बाण की पूँछ ही दिखाई पड़ रही थी, दूसरा इस प्रकार से बिंधा हुआ था कि बाण की पूँछ भी उसके शरीर में पूरी तरह से घुस गयी थी, इस प्रकार (वे दोनों हिरण) गिर पड़े। उनमें से एक मृग किरात को देकर दूसरे के चमड़े तथा बालों को निकालकर, उसके फेफड़े तथा अंतड़ियों को निकालकर भीतर के सभी शरीर के अंगों को निकालकर जाँघ, पैर तथा गले को काटकर लौह छड़ पर रखकर, जंगली अग्नि के अंगारों पर तपाये गये अर्थात् भूने गये मांस से उन दोनों की (बच्चे और बूढ़े की) और अपनी क्षुधा शान्त कर लिया। इस कर्म में मेरी चालाकी से अत्यन्त प्रसन्न होने वाले बहेलिये से मैंने प्रश्न किया- क्या माहिष्मती का कोई वृत्तान्त जानते हो ? वह बोला-' वहीं पर बाघ के चमड़ों तथा चमड़े के झोलों (मसकों) की बिक्री कर आज ही आया हूँ, (इसलिए) मैं क्या नहीं जानता ? अर्थात् सब कुछ जानता हूँ। चण्डवर्मा का अनुज प्रचण्डवर्मा मित्रवर्मा की पुत्री मंजुवादिनी को प्राप्त करने की अभिलाषा से आ रहा है, इसी कारण नगरी उत्सव (आनन्द) से सम्पन्न है अर्थात् पूरे नगर में लोग उत्साह मना रहे हैं।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में शृङ्गार रस, अद्भुत रस, वीर रस, विभत्स रस, प्रसाद गुण, ओज गुण तथा माधुर्य गुण, अनुप्रास अलंकार एवं काव्यलिङ्ग अलंकार है। इसमें अनुप्रास और काव्यलिङ्ग का सांकर्य होने से संकर अलंकार भी है।

(२९) अथ कर्णे जीर्णमब्रवम् 'धूर्तो मित्रवर्मा दुहितरि सम्यक्प्रतिपत्त्या मातरं विश्वास्य तन्मुखेन प्रत्याकृष्य बालकं जिघांसति। तत्प्रतिगत्य कुशलमस्य मद्वार्त्ता च देव्यै रहो निवेद्य पुनः कुमारः शार्दूलभक्षित इति प्रकाशमाक्रोशनं कार्यम् । स दुर्मतिरन्तः प्रीतो बहिर्दुःखं दर्शयन्देवी-मनुनेष्यति। पुनस्तया त्वन्मुखेन स वाच्यः - यदपेक्षया त्वन्मतमत्यक्रमिषंसोऽपि बालः पापेन मे परलोकमगात्। अद्य तु त्वदादेशकारिण्येवाहमिति । स तथोक्तः प्रीतिं प्रतिपद्याभिपत्स्यति। पुनरनेन वत्सनाभनाम्ना महाविषेण संनीय तोयं तत्र मालां मज्जयित्वा तया स वक्षसि मुखे च हन्तव्यः। 'स एवायमसिप्रहारः पापीयसस्तव भवतु यद्यस्मि पतिव्रता' इति पुनरनेनागदेन संगमितेऽम्भसि तां मालां मज्जयित्वा स्वदुहित्रे देया। मृते तु तस्मिंस्तस्यां च निर्विकारायां सत्यां, सतीत्येवैनां प्रकृतयोऽनुवर्तिष्यन्ते । पुनः प्रचण्डवर्मणेसंदेश्यम्-'अनायकमिदं राज्यम् । अनेनैव सह बालिकेयं स्वीकर्त्तव्या' इति । तावदावां कापालिकवेषच्छन्नौ देव्यैव दीयमानभिक्षौ पुरींबहिरुपश्मशानं वत्स्यावः। पुनरार्यप्रायान्पौरवृद्धानाप्तांश्च मन्त्रिवृद्धानेकान्तेब्रवीतु देवी - 'स्वप् नेऽद्य मे देव्या विन्ध्यवासिन्या कृतः प्रसादः । अद्य चतुर्थेऽहनि प्रचण्डवर्मा मरिष्यति । पञ्चमेऽहनि रेवातटवर्तिनि मद्भवने परीक्ष्यवैजन्यम्, जनेषु निर्गतेषु कपाटमुद्घाट्य त्वत्सुतेन सह कोऽपि द्विजकुमारोनिर्यास्यति । स राज्यमिदमनुपाल्य बालं ते प्रतिष्ठापयिष्यति । स खलु बालोमया

व्याघ्रीरूपया तिरस्कृत्य स्थापितः। सा चेयं वत्सा मञ्जुवादिनी तस्यद्विजातिदारकस्य दारत्वेनैव कल्पिता' इति । 'तदेतदतिरहस्यं युष्मास्वेवगुप्तं तिष्ठतु यावदेतदुपपत्स्यते ' इति ।

अनुवाद- इसके बाद उस बूढ़े (व्यक्ति) के कान में (मैं) बोला- (वह) धूर्त मित्रवर्मा पुत्री (मंजुवादिनी) के प्रति अपने श्रेष्ठ आचरण से, माँ को विश्वास में लेकर, उसी के अर्थात् माता के द्वारा इस बालक को अपने पास बुलवाकर मार देना चाहता है, अतः तुम वापस आकर, एकान्त में देवी अर्थात् रानी से इस बालक का कुशल-वृत्तान्त और मेरी बात को कहकर पुनः यह कहना कि 'बालक को बाघ ने खा लिया है' रोना पीटना शुरु कर देना। वह दुष्ट बुद्धि वाला भीतर से हर्षित होता हुआ महारानी को ढाढस बँधायेगा; पुनः तुम उस रानी द्वारा उससे अर्थात् मित्रवर्मा से कि जिस अपेक्षा से मैंने तुम्हारे द्वारा कही गयी बात का अतिक्रमण किया, वह बालक भी मेरे पास से स्वर्ग सिधार गया। अब आज से मैं तुम्हारे आदेशों का पालन करूँगी। ऐसा कहे जाने पर वह प्रसन्न होकर (देवी की बात को) मान लेगा । पुनः इस वत्सनाभ नामक भयंकर जहर को पानी में मिलाकर, उसमें भाला को डुबोकर, उस देवी द्वारा उसकी अर्थात् मित्रवर्मा के वक्षःस्थल और मुँह पर यह बोलकर मारना चाहिए कि यदि मैं पतिव्रता हूँ तो यह अर्थात् इस भाला का प्रहार तुम्हारे जैसे पापी के लिए तलवार का प्रहार हो जाय। पुनः इस औषधि से मिश्रित जल में उस भाला को डुबोकर अपनी कन्या को प्रदान कर दें। उसके अर्थात् मित्रवर्मा के स्वर्ग चले जाने पर और उस कन्या के सकुशल स्थित रहने पर प्रजा में यह जानकर कि यह रानी (वास्तव में) सती पतिव्रता है, इस रानी के पीछे-पीछे चलेगी । पुनः प्रचण्डवर्मा के पास यह समाचार प्रेषित कर देना कि राज्य राजा से रहित इसलिए इस राज्य के साथ ही यह लड़की आपके द्वारा स्वीकार की जानी चाहिए। उस समय-पर्यन्त हम दोनों कापालिक के वेश में छिपे हुए, महारानी से प्राप्त भिक्षा को लेकर नगर के बाहर श्मशान के समीप निवास करेंगे। इसके बाद शोभन चरित्र वाले बूढ़े नागरिकों और विश्वासपात्र बूढ़े अमात्यों को बुलाकर एकान्त में देवी अर्थात् महारानी बोलें कि आज स्वप्न में देवी विन्ध्यवासिनी ने मुझ पर अनुकम्पा की है। आज से चौथे दिन प्रचण्डवर्मा स्वर्ग सिधार जायेगा अर्थात् मर जायेगा। पाँचवें दिन नर्मदा नदी के किनारे स्थित मेरा जो मंदिर है, उसमें निर्जनता की अच्छी प्रकार से परीक्षा कर, लोगों के चले जाने पर, दरवाजा खोलकर तुम्हारे पुत्र के साथ कोई ब्राह्मणपुत्र निकलेगा। वह इस राज्य का पालन कर तुम्हारे पुत्र को राजगद्दी पर बैठायेगा । बाघिन का रूप धारण कर मुझ विन्ध्यवासिनी देवी द्वारा यह बच्चा छिपाकर रखा गया है तथा यह कन्या मंजुवादिनी उस ब्राह्मणपुत्र की पत्नी बतायी गयी है; इस कारण से यह अत्यन्त गुप्त घटना तत्काल-पर्यन्त तुम्हारे तक ही सीमित रहे कि जब तक यह बात सफल न हो जाय ।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में अदभुत रस, करूण रस, शान्त रस तथा प्रसाद गुण, है। अनुप्रास तथा काव्यलिङ्ग अलंकार भी है। तथा देवी को स्वप्न में भगवती की अनुकम्पा लोगों में आह्लाद और आश्चर्य उत्पन्न करती है इसमे विभावना अलंकार भी है।

(३०) स साम्प्रतमतिप्रीतः प्रयातोऽर्थश्चायं यथाचिन्तितमनुष्ठितोऽभूत् । प्रतिदिशं च लोकवादः प्रासर्पत्-'अहो माहात्म्यं पतिव्रतानाम्'। असिप्रहार एव हि स मालाप्रहारस्तस्मै जातः । न शक्यमुपधियुक्तमेतत्कर्मेतिवक्तुम्। यतस्तदेव दत्तं दाम दुहित्रे स्तनमण्डनमेव तस्यै जातं न मृत्युः। योऽस्याः पतिव्रतायाः शासनमतिवर्तते स भस्मैव भवेदिति ।

अनुवाद- उचित ही है (इस प्रकार से कहकर वह नालीजङ्घ बहुत ज्यादा खुश होता हुआ निकल गया तथा जो जैसा पूर्व में विचार किया गया था, ठीक उसी प्रकार से (कार्य) सम्पन्न भी हो गया। हर दिशा में यह चर्चा फैल गई 'अरे! पतिव्रता नारियों की महिमा' अर्थात् देखो; पतिव्रत धर्म की कैसी अद्भुत महिमा है । भाला की वह चोट (मित्रवर्मा के लिए प्रत्यक्ष) तलवार का आघात ही हो गया। 'यह कर्म कपट से भरा हुआ था' इस प्रकार कहना ठीक नहीं था; क्योंकि उसी महारानी द्वारा दी गई वही भाला उसकी पुत्री के कुचयुगल का आभूषण बन गई, मृत्यु नहीं अर्थात्‌ मरण का कारण नहीं बनी। (इसलिए) जो कोई भी इस पतिव्रता (महारानी) के आदेश को नहीं मानेगा, वह भस्म ही हो जायेगा ।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में अदभुत रस, प्रसाद गुण, अनुप्रास और काव्यलिङ्ग अलंकार है इसमें विभावना अलंकार भी है। विभावना और काव्यलिङ्ग अलंकारों का संकर होने के कारण संकरालंकार भी है।

(३१) अथ महाव्रतिवेषेण मां च पुत्रं च भिक्षाय प्रविष्टौ दृष्ट्वाप्रस्तुतस्तनी प्रत्युत्थाय हर्षाकुलमब्रवीत्-'भगवन्, अयमञ्जलिः । अनाथोऽयंजनोऽनुगृह्यताम् । अस्ति ममैकः स्वप्नः, स किं सत्यो न वा ?' इति । मयोक्तम्- 'फलमस्याद्यैव द्रक्ष्यसि' इति । 'यद्येवं बहु भागधेयमस्या वो दास्याः। स खल्वस्याः सानाथ्यशंसी स्वप्नः' इति मद्दर्शनरागबद्धसाध्वसां मञ्जुवादिनीं प्रणमय्य, भूयोऽपि हर्षगर्भमब्रूत-'तच्चेन्मिथ्या सोऽयंयुष्मदीयो बालकपाली श्वो मया निरोद्धव्यः' इति । मयाऽपि सस्मितं मञ्जुवादिनीरागलीन दृष्टिलीढधैर्येण 'एवमस्तु' इति लब्धभैक्ष्यः नालीजङ्घमाकार्य निर्गम्य ततश्च तं चानुयान्तं शनैरपृच्छम्-क्वासावल्पायुः प्रथितः प्रचण्डवर्मेति । सोऽब्रूत-'राज्यमिदं ममेत्यपास्तशंको राजस्थान-मण्डप एव तिष्ठेत्युपास्यमानः कुशीलवैः' इति ।

अनुवाद- इसके बाद मुझे तथा अपने पुत्र को कापालिक की वेशभूषा में भिक्षा माँगने के लिए आया देखकर दूध गिराने वाले कुचयुगलों वाली (महारानी) ने उठकर हर्ष से व्याकुल होकर बोली- भगवन् ! यह (मेरा आपको) दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम है । इस अनाथ पर कृपा करिये । मेरा एक स्वप्न है । वह सत्य है अथवा (मिथ्या) ? मैं बोला- इस (स्वप्न) का परिणाम आज ही देखोगी । 'यदि ऐसा (हुआ) तो आपकी इस दासी का बड़ा सौभाग्य है; क्योंकि (यह) स्वप्न इस अर्थात् मंजुवादिनी के सनाथ होने का द्योतक है'। इस प्रकार से कहकर मुझे देखने से प्यार में आसक्त हुई घबराहट से सम्पन्न उस मंजुवादिनी से प्रणाम करवाकर वह रानी फिर प्रसन्नता से बोली- यदि यह (मेरा स्वप्न) मिथ्या हुआ तो कल आपका यह महाव्रती बालक मेरे द्वारा (इसी स्थान पर) रोक लिया जायेगा । मंजुवादिनी की प्यारभरी निगाहों के कारण विनष्ट हो चुके धैर्य के साथ 'ऐसा ही हो' इस प्रकार कहा । भिक्षा

प्राप्त कर, नालीजङ्घ को बुलाकर, वहाँ से निकलकर, अपने पीछे चलने वाले उससे अर्थात् नालीजङ्घ से मैंने धीमे स्वर में प्रश्न किया- यह थोड़ी आयु वाला प्रसिद्ध प्रचण्डवर्मा कहाँ है ? उसने उत्तर दिया 'यह मेरा ही राज्य है' इस प्रकार सोचकर (प्रचण्डवर्मा) स्तुतिगान करने वाले भाटों से स्तुतियाँ सुनता हुआ राजा के सभागार में ही बैठा हुआ है।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में शान्त रस और शृङ्गार रस, माधुर्य गुण, प्रसाद गुण, अनुप्रास और काव्यलिङ्ग अलंकार है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) जंगल में असहाय होकर भटकती हुई रानी वसुन्धरा और उनके बच्चों को सबसे पहले कौन मिलता है?

(क) महर्षि वाल्मीकि (ख) कुमार विश्रुत

(ग) एक व्याध (शिकारी) (घ) मित्रवर्मा

2) कुमार विश्रुत वास्तव में कौन हैं?

(क) अश्मकराज के राजकुमार (ख) वन में रहने वाले एक ऋषि-पुत्र

(ग) दशकुमारों में से एक पराक्रमी राजकुमार (घ) अनन्तवर्मा के सौतेले भाई

3) विश्रुत ने दुखी रानी वसुन्धरा के सामने क्या प्रतिज्ञा (संकल्प) ली थी?

(क) वह स्वयं माहिष्मती का राजा बनेगा (ख) वह वन में रहकर तपस्या करेगा

(ग) वह राजकुमार भास्करवर्मा को उसका खोया हुआ राज्य वापस दिलाएगा

(घ) वह अश्मकराज से संधि कर लेगा

4) शत्रुओं को भ्रमित करने और अपनी योजना को अंजाम देने के लिए विश्रुत कहाँ प्रवेश करते हैं?

(क) माहिष्मती नगरी में (ख) मगध देश की राजधानी में

(ग) उज्जैनी नगरी में (घ) विन्ध्य पर्वत की गुफा में

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. कुमार विश्रुत ने अपरिचित राजपरिवार की नि:स्वार्थ सहायता करने का निर्णय क्यों लिया?

2. विश्रुत ने माहिष्मती नगरी में प्रवेश करने के लिए किस प्रकार का भेष और शुरुआती रणनीति अपनाई?

3. राजकुमार भास्करवर्मा की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए विश्रुत ने नगर में क्या अफवाह फैलाई?

4. इस कथा भाग में कुमार विश्रुत की कौन-कौन सी चारित्रिक विशेषताएँ उभरकर सामने आती हैं?

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. विश्रुतचरितम् के नायक के रूप में कुमार विश्रुत के प्रवेश और वन में रानी वसुन्धरा से उनकी भेंट के प्रसंग का विस्तृत वर्णन कीजिए।

2. विश्रुत द्वारा शत्रुओं को परास्त करने और राजपरिवार को न्याय दिलाने के लिए बनाई गई शुरुआती कूटनीतिक योजनाओं की समीक्षा कीजिए।

3. भारतीय राजनीति के चार अंगों (साम, दाम, दण्ड, भेद) में से विश्रुत ने इस भाग में अपनी योजनाओं को गति देने के लिए किन नीतियों का सहारा लिया?

इकाई 1.4

शत्रुओं का संहार, भास्करवर्मा का राज्य-अभिषेक और उपसंहार

(गद्यांश 32 से 39)

उद्देश्यः

1. छात्रों को यह सिखाना कि कूटनीति में भेद नीति (शत्रुओं में फूट डालना) का सफल प्रयोग कैसे होता है।

2. विद्यार्थियों के मन में यह विश्वास जगाना कि अधर्म चाहे कितना भी शक्तिशाली हो, विजय सत्य की ही होती है।

3. न्यायप्रिय राजा के राज्याभिषेक के वर्णन द्वारा एक आदर्श कल्याणकारी राज्य की कल्पना से पि. रचित कराना।

4. सुखांत मोड़ के माध्यम से गद्य काव्य के रचनात्मक और उपदेशात्मक अंत की कला समझाना।

परिणामः

1.छात्र यह समीक्षा करने में सक्षम होंगे कि तीक्ष्ण बुद्धि और धैर्य से खोया हुआ ऐश्वर्य भी वापस पाया जा सकता है।

2.शिक्षार्थियों का नैतिक मूल्यों पर विश्वास सुदृढ़ होगा और वे जीवन में सदैव धर्म का मार्ग चुनेंगे।

3.विद्यार्थी माहिष्मती की तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे।

4.छात्र संस्कृत गद्य की दण्डी शैली के व्याकरण, लंबे समासों और सूक्तियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर सकेंगे।

(३२) 'यद्येवमुद्याने तिष्ठ' इति तं जरन्तमादिश्य तत्प्राकारैकपार्श्वेक्व- चिच्छून्यमठिकायां मात्राः समवतार्य, तद्रक्षणनियुक्तराजपुत्रः, कृत-कुशीलववेषलीलः प्रचण्डवर्माणमेत्यान्वरञ्जयम्। अनुरञ्जितातपे तु समये, जनसमाजज्ञानोपयोगीनि संहृत्य नृत्यगीतनानारुदितादिहस्तङ्- क्रमणमूर्ध्वपादालातपादपीठवृश्चि- कमकरलङ्घनादीनि मत्स्योद्वर्तनादीनि च कारणानि, पुनरादायादायासन्नवर्तिनां छुरिकाः ताभिरुपाहितवर्ष्मा चित्रदुष्कराणि करणानि श्येनपातोत्क्रोशपातादीनि दर्शयन्, विंशतिचापान्तरालावस्थितस्य प्रचण्डवर्मणः छुरिकयैकया प्रत्युरसं प्रहृत्य, 'जीव्याद्वर्षसहस्रं वसन्तभानुः' इत्यभिगर्जन्, मद्गात्रमुत्कर्तुमुद्यतासेः कस्यापि

चारभटस्य पीवरां-सबाहुशिखरमाक्रम्य तावतैव तं विचेतीकुर्वन्, आकुलं च लोकमुच्चक्षूकुर्वन्, द्विपुरुषोच्छ्रितं प्राकारमत्यलङ्घयम् ।

अनुवाद- 'यदि इस प्रकार है तो (आप इस) उद्यान में रुकें' इस प्रकार उस बूढ़े को आदेश देकर, उसी चारदीवारी के एक कोने में किसी जनशून्य छोटे से मठ में वस्त्रों को उतारकर, उसकी रखवाली के लिए राजपुत्र को लगा करके, अच्छी तरह से चारणों की वेषभूषा धारण कर, प्रचण्डवर्मा के पास पहुँचकर उसे प्रसन्न करने लगा। भास्कर के प्रकाश के रक्तवर्ण हो जाने के अर्थात् सायंकाल के समय जनसामान्य के ज्ञानार्थ उपयोगी करामातों को नृत्य, गान, अनेक प्रकार से रोना आदि, हाथों को नचाना या संचालन, दोनों पैरों को ऊपर कर हाथों से चलना, दोनों हाथों से धरती को पकड़कर शिर घुमाते हुए ऊपर की तरफ दोनों को उठाकर चलना, एक पैर को ऊपर कर दूसरे को थोड़ा तिर्यक् कर नाचना, बिच्छू और मकर के समान उछलना, मछली के समान पलटी मारना आदि कौशल प्रदर्शित करना, पुनः समीप में स्थित देखने वालों की छुरियाँ लेकर उन्हीं से अपने शरीर का स्पर्श कर अर्थात् छुरियों के अग्रभाग पर अपने शरीर का पूरा भार रख देते थे, बाज और कुरर पक्षियों के समान झपटना तथा रोना आदि अत्यन्त दुष्कर करतबों को प्रदर्शित करता हुआ, बीस चाप अर्थात्् अस्सी हाथ की दूरी पर विराजमान प्रचण्डवर्मा के वक्षःस्थल पर उसी की एक छुरी से प्रहार कर 'वसन्तभानु एक हजार वर्षों तक जीवित रहे' इस प्रकार से गरजते हुए मेरी देह को काटने के लिए तत्पर तलवार हाथ में लिये हुए एक वीर जासूस के स्थूल कन्धे वाली भुजाओं के ऊर्ध्व भाग पर आक्रमण कर और उतने भार से ही उसे मूर्च्छित कर व्याकुल अर्थात् भौंचक्के लोगों की आँखों को ऊपर करता हुआ अर्थात् सभी चिन्ताकुल लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया, दो मनुष्यों के बराबर ऊँचाई वाली चारदीवारी को (मैं) लाँघ गया अर्थात् डाँककर चला गया।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में अद्भुत रस, प्रसाद गुण व माधुर्य गुण है, अनुप्रास और उपमा, विरोध तथा काव्यलिङ्ग अलंकार है। इसमें रूपक अलंकार भी है। जिसका लक्षण- 'तद्रूपकं अभेदो य उपमानोपमेययोः' (काव्य प्रकाश)

(३३) अवप्लुत्य चोपवने 'मदनुपातिनामेष पन्था दृश्यते' इति ब्रुवाण एव नालीजङ्घसमीकृतसैकतास्पष्टपादन्यासया तमालवीथ्या चानुप्राकारं प्राचा प्रतिधावितः पुनरवा- चोच्चितेष्टकचितत्वादलक्ष्यपातेन प्रद्रुत्य, लङ्घितप्राकारवप्रखातवलयः, तस्यां शून्यमठिकायां तूर्णमेव प्रविश्य, प्रतिमुक्तपूर्ववेषः सह कुमारेण मत्कर्मतुमुलराजद्वारदुःखलब्धवर्त्मा श्मशानोद्देशमभ्यगाम् । प्रागेव तस्मिन्दुर्गागृहे प्रतिमाधिष्ठान एव मया कृतंभग्नपार्श्वस्थैर्यस्थूलप्रस्तरस्थगितबाह्यद्वारं बिलम् ।

अनुवाद- उद्यान में कूदकर मेरे पीछे आने वालों को यह मार्ग दिखाई पड़ता है इस प्रकार से कहते हुए नालीजङ्घ द्वारा मिटाये गये रेती पर पड़े (पादचापों के) कारण पादचाप अस्पष्ट हो चुके थे अर्थात्् साफ-साफ दिखाई नहीं दे रहे थे; इस तरह की एक तमाल के पेड़ों की सड़क से चहारदिवारी के पीछे से पूर्व दिशा की ओर भाग गया। पुनः ढेर के रूप में इकट्ठा की गई ईटों के कारण, किसी को

मेरे पादन्यास दिखाई दिये बिना ही दक्षिण की ओर भागकर चहारदीवारी के चारो ओर खोदी गई खाई वाले घेरे को प्राप्त कर, उस निर्जन मंदिर में जल्दी से घुसकर, अपने पहले धारण की गई वेश-भूषा को छोड़कर, कुमार के साथ, मेरे पहले के कर्म से अर्थात् प्रचण्डवर्मा को मारने से विक्षुब्ध (जनसमुदाय से) भरे हुए राजद्वार पर बड़ी कठिनाई से रास्ता पाकर (मैं) श्मशान भूमि में भाग गया। (भगवती) दुर्गाजी के मन्दिर में पहले से प्रतिमा के नीचे मेरे द्वारा एक छेद कर दिया गया था, जिसका बाहरी दरवाजा एक मोटे पत्थर से जिसकी एक तरफ की स्थिरता भग्न हो चुकी थी, बन्द कर दिया गया।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में वीर एवं शान्त रस तथा ओज गुण, प्रसाद गुण, अनुप्रास, तथा काव्यलिङ्ग अलंकार है।

(३४) अथ गलति मध्यरात्रे वर्षवरोपनीतमहार्हरत्नभूषणपट्टनिवसनौ तद्बिलमावां प्रविश्य तूष्णीमतिष्ठाव । देवी तु पूर्वेद्युरेव यथार्हमग्निसंस्कारं मालवाय दापयित्वा प्रचण्डवर्मणे, चण्डवर्मणे च तामवस्थामश्मकेन्द्रोपधिकृतामेव सन्दिश्य, उत्तरेद्युः प्रत्युपस्येव पूर्वसङ्केतितपौरामात्य-सामन्तवृद्धैः सहाभ्येत्य भगवतीमर्चयित्वा सर्वजनप्रत्यक्षं परीक्षितकुक्षिवैजन्यं तद्भवनं विधाय दत्तदृष्टिः सह जनेन स्थित्वा, पटीयांसंपटहशब्दमकारयत्। अणुतररन्ध्रप्रविष्टेन तेन नादेनाहं दत्तसंज्ञः शिरसैवोत्क्षिप्य सप्रतिमं लोहपादपीठमंसलपुरुषप्रयत्नदुश्चलमु- भयकरविधृतमेकपार्श्वमेकतो निवेश्य निरगमम्। निरगमयं च कुमारम् । अथ यथापूर्वमर्पयित्वा दुर्गामुद्घाटितकपाटः प्रत्यक्षीभूय प्रत्ययहृष्टदृष्टीः स्पष्टरोमाञ्चमुद्यताञ्जलि-रूढविस्मयं च प्रणिपतन्तीः प्रकृतीरभ्यधाम् । इत्थं देवी विन्ध्यवासिनी मन्मुखेन युष्मानाज्ञापयति-मया सकृपया शार्दूलरूपेण तिरस्कृत्याद्य वो दत्तमेनमद्यप्रभृति मत्पुत्रतयाऽमन्दमातृपक्ष इति परिगृह्णन्तु भवन्तः।

अनुवाद- आधी रात व्यतीत हो जाने के बाद (अन्तःपुर-रक्षक) एक नपुंसक के द्वारा लाये गये कीमती रत्नों से जड़े गये आभूषणों तथा वस्त्रों को धारण कर हम दोनों उस बिल में घुसकर चुपचाप बैठे रहे। जनशून्यमहादेवी ने पहले दिन ही मालवा के नरेश प्रचण्डवर्मा का यथायोग्य अग्निसंस्कार अर्थात् दाहक्रिया करवाकर और चण्डवर्मा को यह वृत्तान्त प्रेषित कर कि प्रचण्ड वर्मा की यह अवस्था अश्मक देश के राजा वसन्तभानु के कपट से हुई है, दूसरे दिन उषाकाल में ही, पूर्व से संकेत किये गये हुए बूढ़े नगरवासियों, मन्त्रियों तथा सामन्तों के साथ पहुँचकर, भगवती (दुर्गा) की पूजा कर, सभी लोगों के सामने उस मन्दिर के भीतरी भाग के होने की परीक्षा कर उसी मन्दिर की ओर एकटक देखने वाले जनसमुदाय के साथ ठहर कर, अत्यन्त तेजी से नगाड़ा बजवाया। अत्यन्त छोटे उस बिल से घुसे नाद-ध्वनि से संकेत प्राप्त कर, जो सारमय पादपीठ अत्यन्त शक्तिशाली शरीरधारी व्यक्ति द्वारा बड़ा प्रयत्न करने पर भी कठिनाई से हिलाया जा सकता था, उसको मैंने प्रतिमा के सहित शिर से उठाकर, दोनों हाथों से पकड़कर एक छोर को एक ओर स्थापित कर निकल आया तथा कुमार को भी बाहर निकाल लाया। इसके बाद पहले की तरह भगवती दुर्गा की मूर्ति को (बिल पर रखकर, दरवाजा खोलकर, समक्ष आकर मैंने विश्वास के साथ प्रसन्न आँखों वाली, स्पष्ट रूप से रोमाञ्च प्रकट करती

हुई, हाथ जोड़कर विस्मय के साथ प्रणाम करती हुई प्रजा से बोली–'विन्ध्यवासिनी देवी मेरे मुख से आप सभी लोगों को आज्ञा देती हैं कि विपत्ति से ग्रस्त यह राजकुमार सिंह के रूप को धारण किये कृपापूर्वक गुप्त रखा गया था, आज मैं इसे आप लोगों के हाथों में समर्पित करती हूँ। आज से आप सभी लोग इसे मेरे पुत्र के रूप में अर्थात् विन्ध्यवासिनी देवी के पुत्र के रूप में स्वीकार करें, इस कारण इसकी माता का कुल अति उच्च का है अर्थात् नीच नहीं है ।

रस, गुण, अलंकार– इस गद्य में वीर रस, शृङ्गार रस, अदभुत रस, प्रसाद गुण एवं ओज गुण, अनुप्रास अलंकार तथा काव्यलिङ्ग अलंकार है।

(३५) अपि च दुर्घटकूटकोटिघटनापाटवप्रकटशाव्यनिष्ठुराश्मक-घटघट्टनात्मानं मां मन्यध्वमस्य रक्षितारम् । रक्षानिर्वेशश्चास्य स्वसेयं सुभ्रूरभ्यनुज्ञाता मह्यमार्यया' इति । श्रुत्वैतत् 'अहो भाग्यवान्भोजवंशः, यस्यत्वमार्यादत्तो नाथः' इत्यप्रीयन्त प्रकृतयः । सा तु वाचामगोचरां हर्षावस्थामस्पृशन्मे श्वश्रूः । तदहरेव च यथावदग्राहयन्मञ्जुवादिनीपाणिपल्लवम् । प्रपन्नायां च यामिन्यां सम्यगेव बिलं प्रत्यपूरयम् । अलब्धरन्ध्रश्च लोको नष्टमुष्टिचिन्तादिकथनैरभ्युपायान्तर-प्रयुक्तैर्दिव्यांशतामेव मे समर्थयमानः मदाज्ञां नात्यवर्तत ।

अनुवाद– और भी, इन सभी कठिनता से करने योग्य छल-कपट की योजनाओं, चतुराई के कारण जिसकी शठता सभी लोगों को मालूम है, इस प्रकार के अश्मक देश के राजा अर्थात् वसन्तभानुरूपी घट को फोड़ने वाले मुझे आप इस राजकुमार की रक्षा करने वाला जानिए, मेरे द्वारा की गई रक्षा की मजदूरी के बदले इसकी यह सुन्दर भौहों वाली बहन आर्या अर्थात् भगवती विन्ध्यवासिनी द्वारा पत्नी के रूप में मुझे प्रदान की गई है। यह सुनकर 'अरे, भोजकुल का बड़ा भाग्य है, जिसमें देवी विन्ध्यवासिनी द्वारा दिये गये तुम्हारे जैसा (व्यक्ति) हमारा स्वामी हुआ' यह कहकर प्रजा प्रसन्न हो गयी। वह मेरी सास तो वाणी से न कह सकने योग्य प्रसन्नता को प्राप्त हुई तथा उन्होंने उसी दिन मेरे साथ विधि सम्मत ढंग से मंजुवादिनी का किसलय के समान हाथ मुझे पकड़ा दिया अर्थात् विवाह कर दिया। रात हो जाने पर मैंने वह छेद बन्द कर दिया। लोग इस रहस्य को न जान सके। खोयी हुई वस्तुओं, मुट्ठी में छिपायी गई वस्तुओं को और किसे क्या चिन्ता है ? आदि बातों को बता देने के कारण और विभिन्न उपायों के प्रयोगों से, दैवी कारण से मेरी उत्पत्ति हुई है, ऐसा स्वीकार करते हुए वे मेरे आदेश के विरुद्ध व्यवहार नहीं करते थे ।

रस, गुण, अलंकार– इस गद्य में शृङ्गार रस, अद्भुत रस, प्रसाद गुण और माधुर्य गुण एवं अनुप्रास अलंकार, उपमा अलंकार और काव्यलिङ्ग अलंकार है।

(३६) राजपुत्रस्यार्यापुत्र इति प्रभावहेतुः प्रसिद्धिरासीत् । तं च गुणवत्यहनि भद्राकृतमुपनाय्य पुरोहितेन पाठयन्नीतिं राजकार्याण्यन्वतिष्ठम्। अचिन्तयं च राज्यं नाम शक्तित्रयायत्तम् । शक्तयश्च मन्त्रप्रभावोत्साहाः परस्परानुगृहीताः कृत्येषु क्रमन्ते । मन्त्रेण हि विनिश्चयोऽर्थानाम्, प्रभावेण

प्रारम्भः, उत्साहेन निर्वहणम् । अतः पञ्चाङ्गमन्त्रमूलः, द्विरूपप्रभावस्कन्धः, चतुर्गुणोत्साहविटपः, द्विसप्ततिप्रकृतिपत्रः, षड्गुणकिसलयः, शक्तिसिद्धि-पुष्पफलश्च, नयवनस्पतिर्नेतुरुपकरोति । स चायमनेकाधिकरणत्वादसहायेन दुरुपजीव्यः ।

अनुवाद- यह (बालक) आर्या अर्थात् विन्ध्यवासिनी देवी का पुत्र है, इस तरह के प्रभाव के कारण राजकुमार की ख्याति थी । (हमने) गुणसम्पन्न अर्थात् शुभ दिन में राजपुत्र का मुण्डन संस्कार करवाकर, पुरोहित से उपनयन संस्कार करवाकर, राजनीति पढ़ाते हुए राजकीय कार्यों को करना शुरु कर दिया। इसके बाद मैंने विचार किया कि राज्य तीन प्रकार की शक्तियों (मन्त्र, प्रभाव, उत्साह) के अधीन हुआ करता है, ये तीनों आपसी सहयोग से सिद्ध हुआ करती हैं । मन्त्रशक्ति से करणीय कार्यों का निश्चय किया जाता है, प्रभाव के द्वारा उनकी शुरुआत तथा उत्साह से उनकी सिद्धि होती है। इसलिए जिसका मूल पञ्चाङ्गों वाला है अर्थात्् सहायक, लक्ष्यप्राप्ति का साधन, स्थान-कालविभाग, प्रतीकार तथा सफलता है, जिसका तना दो प्रकार के प्रभाव वाला (कोश और दण्ड वाला) है, चार प्रकार के उत्साह (साम, दाम, दण्ड, भेद) रूपी शाखाओं वाला है, बहत्तर (राष्ट्र, कोश, नगरादि आठ भेद तथा उपभेद) प्रकार की प्रकृतियों वाले जिसके पत्ते हैं, षड्गुणों अर्थात् सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधी भाव और आश्रय से युक्त जिसके किसलय अर्थात् नूतन पत्ते हैं और फूल एवं फल ही जिसकी शक्तियाँ तथा सिद्धियाँ अर्थात् सफलतायें हैं; इस प्रकार का नीतिरूपी पेड़ नेता अर्थात् नायक या राजा का उपकार करता रहता है।

विभिन्न प्रकारों वाला होने के कारण सहायक-रहित व्यक्ति के द्वारा इसका आश्रय अत्यन्त कठिनाई से पाया जा सकता है।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में अद्‌भुत रस, प्रसाद गुण, माधुर्य गुण, अनुप्रास एवं काव्यलिङ्ग अलंकार है। इसमें समुच्चय अलंकार भी है। यस्य लक्ष्णम्-'समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके। खले कपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ।। गुणौ क्रिये वा युगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये।'

(३७) 'यस्त्वयमार्यकेतुर्नाम मित्रवर्ममन्त्री स कोशलाभिजन-त्वात्कुमारमातृपक्षो मन्त्रिगुणैश्च युक्तः, तन्मतिमवमत्यैव ध्वस्तो मित्रवर्मा, स चेल्लब्धः पेशलम्' इति । अथ नालीजङ्घं रहस्यशिक्षयम्-'तात, आर्यमार्य-केतुमेकान्ते ब्रूहि-'को न्वेष मायापुरुषो य इमां राजलक्ष्मीमनुभवति । स चायमस्मद्‌बालो भुजङ्गेनामुना परिगृहीतः । किमुद्‌गीर्येत ग्रस्येद् वा इति । स यद्वदिष्यति तदस्मि बोध्यः' इति ।

अनुवाद- जो यह आर्यकेतु नाम वाला मित्रवर्मा का अमात्य अर्थात् मंत्री है, वह कोशलवंशीय होने से राजकुमार की माता के पक्ष की ओर का है और मंत्री के गुणों से सम्पन्न है, उसके विचार को न मानने के कारण ही मित्रवर्मा नष्ट हो गया। यदि वह (हम लोगों को) मिल जाय अर्थात् हमारे अधीन हो जाय तो अत्यन्त सुन्दर हो जाय' इस प्रकार से विचार कर मैंने एकान्त में नालीजङ्घ को बतलाया अथवा शिक्षित किया-'हे तात! आप आर्यकेतु को एकान्त में (ले जाकर) बोलें, यह मायावी व्यक्ति

कौन है ? जो (राजकुमार को वशीभूत करके) राजलक्ष्मी का उपयोग कर रहा है। साँप के समान हमारा यह राजकुमार इसके द्वारा पकड़ लिया गया है। नहीं मालूम (यह राजकुमार को) छोड़ेगा अथवा निगल जायेगा। वह जो कुछ भी कहेगा, उसे मुझे सूचित करना अर्थात् बतलाना।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में शान्त रस, प्रसाद गुण, माधुर्य गुण, अनुप्रास अलंकार, उपमा अलंकार तथा काव्यलिङ्ग अलंकार है।

(३८) सोऽन्यदैवं मामावेदयत्-'मुहुरुपास्य प्राभृतैः, प्रवर्त्य चित्राः कथाः, संवाह्य पाणिपादमतिविस्रम्भदत्तक्षणं तमप्राक्षं त्वदुपदिष्टेन नयेन' । सोऽप्येवमकथयत्-'भद्र मैवं वादीः । अभिजनस्य शुद्धिदर्शनम्, असाधारणं बुद्धिनैपुण्यम्, अतिमानुषं प्राणबलम्, अपरिमाणमौदार्यम्, अत्याश्चर्यमस्त्रकौशलम्, अनल्पं शिल्पज्ञानम्, अनुग्रहार्द्रं चेतः, तेजश्चाप्यविषह्यमभ्यमित्रीणम् । इत्यस्मिन्नेव संनिपातिनो गुणाः, येऽन्यत्रैकैकशोऽपि दुर्लभाः । द्विषतामेष चिरबिल्वद्रुमः, प्रह्वाणां तु चन्दनतरुः, तमुद्धृत्यनीतिज्ञम्मन्यमश्मकमिमं च राजपुत्रं पित्र्ये पदे प्रतिष्ठितमेव विद्धि । नात्र संशयः कार्यः' इति ।

अनुवाद- दूसरे दिन उस (नालीजङ्घ) ने मुझसे इस प्रकार कहा-बारम्बार उपहारों के द्वारा सेवा कर अर्थात् प्रसन्न कर, विचित्र कहानियों को कहकर, (उसके) हाथ-पैर दबाकर जब बड़े विश्वास के साथ मुझे अवसर प्रदान किया गया तब आपके द्वारा बतलाये गये राजनीतिक ढंग से मैंने उससे पूछा- 'हे कल्याणी ! इस प्रकार से मत बोलिये। कुल की पवित्रता, बुद्धि की असाधारण प्रवीणता, अलौकिक शारीरिक शक्ति अथवा साहस, अत्यन्त उदारता, अत्यन्त आश्चर्योत्पादक अस्त्रों के प्रयोग में प्रवीणता, अधिक मात्रा में स्थित कलाओं का ज्ञान, दया से गीला हृदय, दुश्मनों पर परिलक्षित होने वाला न सहा जाने योग्य प्रताप, ये सभी गुण जिनका दूसरे लोगों में अलग-अलग प्राप्त होना भी कठिन है, इसमें अर्थात्। विश्रुत में एक साथ विद्यमान हैं। दुश्मनों के लिए यह काँटों से भरे हुए बेल के पेड़ के समान है, विनम्र के लिए वह चन्दन के पेड़ के समान है। अपने नीतिज्ञान का घमण्ड करने वाले उस अश्मक देश के राजा को उखाड़कर अर्थात् ध्वस्त करके उसके पिता के पद पर स्थापित कर दिया गया हुआ ही समझो । इस विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए ।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में अद्‌भुत रस, करूण रस, प्रसाद गुण, ओज गुण, अनुप्रास अलंकार, उपमा, काव्यलिङ्ग तथा समुच्चय अलंकार है।

(३९) तच्चापि श्रुत्वा भूयोभूयश्चोपदाभिर्विशोध्य तं मे मतिसहायमकरवम्। तत्सखश्च सत्यशौचयुक्तानमात्यान्विविधव्यञ्जनांश्च गूढपुरुषानुदपादयम्। तेभ्यश्चोपलभ्य लुब्धसमृद्धमत्युत्सिक्तमविधेयप्रायं च प्रकृतिमण्डलमलुब्धतामभिख्यापयन्, धार्मिकत्वमुद्‌भावयन्, नास्तिकान्क-दर्थयन्, कण्टकान्विशोधयन्, अमित्रोपधीरपघ्नन्, चातुर्वर्ण्यञ्च स्वधर्म-कर्मसु स्थापयन्, अभिसमाहरेयमर्थान् अर्थमूला हि

दण्डविशिष्टकर्मारम्भाः । न चान्यदस्ति पापिष्ठं तत्र दौर्बल्यादित्याकलय्य योगानन्वतिष्ठम् ।

अनुवाद- उसको सुनकर बारम्बार विभिन्न प्रकार के उपायों से (उसकी) परीक्षा कर उसको अर्थात् आर्यकेतु को मैंने अपने बौद्धिक कर्मों में सहायता करने वाला बना लिया। (उसके बाद) उसके साथ सत्य आचरण से सम्पन्न तथा ईमानदार अमात्यों अर्थात् मंत्रियों तथा विभिन्न प्रकार के वेशों को धारण करने वाले जासूसों को पैदा किया अर्थात् एक अलग गुप्तचर विभाग बना दिया। उनके अर्थात् गुप्तचरों के द्वारा लालची और धनी, अत्यन्त घमण्डी, प्रायः वशीभूत न होने वाले प्रजा के समुदायों को मालूम कर, अपनी निर्लोभता को अभिव्यक्त करता हुआ, धार्मिकता की वृद्धि करता हुआ, ईश्वर आत्मा में विश्वास न करने वालों अर्थात् नास्तिकों की निन्दा करता हुआ, काँटों अर्थात् राज्य के उपद्रवियों को नष्ट करता हुआ, शत्रुओं के छल से भरे कार्यों को असफल बनाता हुआ, चारो वर्णों को अपने-अपने धर्मों अर्थात् कर्त्तव्य कर्मों में लगाता हुआ, मैं धन अर्जित करूँ (इस प्रकार निश्चय किया); क्योंकि दण्ड की शुरुआत करने का आधार धन ही है। उसमें अर्थात् धनोपार्जन के सम्बन्ध में दौर्बल्य से अधिक और कोई दूसरा पाप नहीं है। इस प्रकार से विचार कर मैं (धन प्राप्त करने के निमित्त) विभिन्न तरह के उपायों को करने लगा ।

रस, गुण, अलंकार- इस गद्य में अद्‌भुत रस, शान्त रस, प्रसाद गुण, माधुर्य गुण, अनुप्रास एवं काव्यलिङ्ग अलंकार है और इस गद्य में समुच्चय अलंकार का भी प्रयोग किया गया है।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. विश्रुत ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से अश्मकराज के खेमे में किस प्रकार भेद नीति का सफल प्रयोग किया?

2. मुख्य शत्रुओं के विनाश के बाद विश्रुत ने माहिष्मती नगरी में पुनः शांति और विश्वास का वातावरण कैसे स्थापित किया?

3. राजकुमार भास्करवर्मा के राज्याभिषेक के समय माहिष्मती नगरी और प्रजा के वातावरण का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

4. विश्रुतचरितम् के घटनाक्रम से पाठकों को क्या मुख्य नैतिक या राजनीतिक शिक्षा मिलती है?

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. कुमार विश्रुत द्वारा शत्रुओं के क्रमिक विनाश और राजकुमार भास्करवर्मा के खोए हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने के अंतिम घटनाक्रम का सविस्तार वर्णन कीजिए।

2. विश्रुत न केवल एक महान और पराक्रमी योद्धा थे, बल्कि उच्च कोटि के कूटनीतिज्ञ भी थे इस कथन को कथा के अंतिम भाग के आधार पर सिद्ध कीजिए।

3. विश्रुतचरितम् के समग्र कथानक की समीक्षा करते हुए इसकी कथावस्तु की प्रासंगिकता पर प्रकाश डालिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) विश्रुत ने अश्मकराज के मंत्रियों और सेनापतियों को आपस में लड़ाने के लिए मुख्य रूप से किस नीति का प्रयोग किया?

(क) साम नीति (ख) भेद नीति (फूट डालना)

(ग) दण्ड नीति (घ) उपेक्षा नीति

2) कथा के अंत में माहिष्मती के वैध सिंहासन पर किसका राज्याभिषेक किया जाता है?

(क) कुमार विश्रुत का (ख) राजकुमार भास्करवर्मा का

(ग) अश्मकराज का (घ) वृद्ध मंत्री वसुरक्षित का

3) कृतज्ञता और हर्ष के स्वरूप कुमार विश्रुत का विवाह किसके साथ संपन्न होता है?

(क) रानी वसुन्धरा से (ख) राजकुमारी मञ्जुवादिनी से

(ग) काममंजरी से (घ) कनकलेखा से

4) महाकवि दण्डी द्वारा रचित विश्रुतचरितम् कथा का अंत किस प्रकार का होता है?

(क) दुखांत (ख) सुखांत

(ग) अनिर्णायक (घ) रहस्यात्मक

खण्ड-2 शिशुपालवधम्

इकाई 2.1

युधिष्ठिर की विनय और श्रीकृष्ण का परामर्श (श्लोक 1-16)

उद्देश्यः

1. छात्रों को धर्मराज युधिष्ठिर के विनम्र स्वभाव एवं अग्रजों के प्रति उनके आदरपूर्ण व्यवहार के आदर्श से परिचित कराना।

2. युद्ध एवं शान्ति के मध्य निर्णय लेने की कूटनीतिक प्रक्रिया तथा संकटकाल में मन्त्रणा के महत्त्व को समझाना।

3. भगवान श्रीकृष्ण के एक कुशल राजनीतिज्ञ एवं दूरदर्शी सलाहकार के रूप में उनके व्यक्तित्व को उद्‌घाटित करना।

परिणामः

1. छात्र यह समझ पाएंगे कि शक्ति-सम्पन्न होने पर भी विनय एवं विद्वानों का परामर्श ग्रहण करना ही सफल नेतृत्व का लक्षण है।

2. शिक्षार्थी राजनीति के उन सूक्ष्म सिद्धांतों का विश्लेषण कर सकेंगे जहाँ वैयक्तिक सम्मान एवं सामाजिक कल्याण के मध्य सन्तुलन स्थापित किया जाता है।

3. छात्र महाकवि माघ की अलंकृत काव्य शैली, श्लोकों की छन्द-योजना एवं कूटनीतिक संवाद-कला का भाषाई ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

तं जगादगिरमुद्‌गिरन्निव स्नेहमाहितविकासया दृशा।

यज्ञकर्मणि मनः समादधद्वाग्विदां वरमकद्वदो नृपः॥1॥

अन्वयः - नृपः वाग्वदाम् वरम् अकद्वदः स्नेहमाहितविकासया दृशा गिरम् उद्‌गिरन् इव यज्ञकर्मणि मनः समादधत् तं जगाद। संसृष्टिरलङ्कारः रथोद्धता वृतम्।

अर्थः-अनिन्दित भाषण करने वाले तथा यज्ञकार्य में मन को रखते हुए एवं विकासयुक्त अर्थात्

प्रसन्नतापूर्ण दृष्टि से माने स्नेह प्रकट करते हुए से राजा युधिष्ठिर में वचन जानने वालों में श्रेष्ठ उन श्रीकृष्ण भगवान से बोले। ।।1।।

लज्जते न गदितः प्रियं परो वक्तुरेव भवति त्रपाधिका।

व्रीडमेति न तव प्रियं वदन्ह्रीमतात्रभवतैव भूयते। ।।2।।

अन्वयः - गदितः प्रियं परो न लज्जते, त्रपाधिका वक्तुः एव भवति, त्वं हि प्रियं वदन् व्रीडाम् न एति, हीमता एषा एव भूयते। व्यतिरेकालङ्कारः।

अर्थः-दूसरे सामान्य लोग प्रिय कहने पर अर्थात् किसी से भी प्रशंसित होने पर अधिक प्रशंसा करने वाले को ही अधिक लज्जा होती है परन्तु आपके विषय में सर्वथा विपरीत ही होता है क्योंकि अनन्त गुणों से युक्त होने से आपका प्रिय कहने वाला अर्थात् आपकी प्रशंसा करने वाला लज्जित नहीं होता है, किन्तु पूज्य आप ही लज्जित होते हैं। ।।2।।

तोषमेति वितथैः स्तवैः परस्ते च तस्य सुलभाः शरीरिभिः।

अस्ति न स्तुतिवचोऽनृतं तव स्तोत्रयोग्य न च तेन तुष्यसि। ।।3।।

अन्वयः - वितथैः स्तवैः ते परः तोषम् एति, ते च शरीरिभिः सुलभाः, तव स्तुतिवचः अनृतम् न अस्ति, त्वं स्तोत्रयोग्यः, तेन च तुष्यसि न।

अर्थः-आपसे भिन्न दूसरे लोग झूठी प्रशंसाओं से सन्तुष्ट होते हैं, असम्बद्ध प्रलाप के निरर्गल होने से वे प्रशंसायें प्राणियों के द्वारा उनको सुलभ है। हे स्तुति के योग्य श्रीकृष्ण जी! आपके प्रशंसात्मक वचन झूठे नहीं हैं। और अतिशय गम्भीर होने से आप प्रशंसात्मक वचन से सन्तुष्ट नहीं होते हैं अर्थात् अपनी प्रशंसा सुनने में उदासीन रहते हैं। ।।3।।

बह्वपि प्रियमयं तव ब्रुवन्न व्रजत्यनृतवादितां जनः।

सम्भवन्ति यददोषदूषिते सार्व सर्वगुणसम्पदस्त्वयि। ।।4।।

अन्वयः - जनः बहु अपि प्रियमयं तव ब्रुवन् अनृतवादिताम् न व्रजति, त्वयि सर्वगुणसम्पदः सम्भन्ति, यत् अदोषदूषिते।

अर्थः- आपकी स्तुति करने वाला मैं आपकी स्तुति करता हुआ भी असत्य बोलनेवाला नहीं होता, क्योंकि हे सर्वहितकारी श्रीकृष्ण भगवान दोष से अदूषित आपमें सभी गुणों की संपत्तियों का रहना सम्भव है अर्थात् दोषहीन आपके सर्वगुणसम्पन्न रहने से आपकी स्तुति करने वाला सत्यवादी रहता है असत्यवादी नहीं होता है। ।।4।।

सा विभूतिनुभाव सम्पदां भूयसी तव यदायतायति।

एतदूढगुरुभार भारतं वर्षमद्य मम वर्तते वशे। ।।5।।

अन्वयः –यत् आयतायति सा तव विभूतिनुभाव भूयसी सम्पदाम् एतत् ऊढगुरुभारम् भारतम् वर्षम् अद्य मम वशे वर्तते।

अर्थः–विश्वम्भर अर्थात् विश्वधर्ता होने से गुरुतर भार को धारण करने वाले हे श्रीकृष्ण जी यह भारतवर्ष इस समय बहुत समय से मेरे शासन में है, यह आपके प्रतापश्री का बहुत बड़ा ऐश्वर्य है अर्थात् आपके प्रताप के प्रभाव से ही मैं इस भारतवर्ष का बहुत समय तक सम्राट बना हुआ हूँ। ।।5।।

सप्ततन्तुमधिगन्तुमिच्छतः कुर्वनुग्रहमनुज्ञया मम।

मूलतामुपगते प्रभो त्वयि प्रापि धर्ममयवृक्षता मया। ।।6।।

अन्वयः – सप्ततन्तुम् अधिगन्तुम् इच्छतः मम त्वं प्रभो अनुज्ञया अनुग्रहम् कुर्वन् मया धर्ममयवृक्षता प्राप्ता यदा त्वयि मूलताम् उपगते।

अर्थः–यज्ञ करने की इच्छा करने वालों में श्रेष्ठ आप मुझे आज्ञा देकर अनुगृहीत कीजिए, क्योंकि हे प्रभो! आपके प्रधाान बनने पर धर्ममय वृक्षत्व का मैंने प्राप्त कर लिया है अर्थात् मरे धर्मराज कहलाने में आप ही मुख्य कारण हैं। ।।6।।

सम्भतोपकरणेन निर्मला कर्तुमिष्टिमभिवाञ्छता मया।

त्वं समीरण इस प्रतीक्षितः कर्षकेण वलजान्पुपूषता। ।। 7।।

अन्वयः – इष्टिम् कर्तुम् अभिवाञ्छता मया निर्मला सम्भृतोपकरणेन, त्वं समीरणः इव प्रतीक्षितः, वलजान् पुपूषता कर्षकेण।

अर्थः–निर्दोष यज्ञ को करने की इच्छा करने वाला तथा समस्त सामग्रियों को एकत्रित किया हुआ मैं आपकी उस प्रकार प्रतीक्षा कर रहा हूँ जिस प्रकार धान्य को कूटने के बाद उसको साफ करने वाला किसान वायु की प्रतीक्षा करता है। ।।7।।

वीतविघ्नमनघेन भाविता सन्निधेस्तव मखेन मेऽधुना।

को विहन्तुमलमास्थितोदये वासरश्रियमशीतदीधितौ। ।।8।।

अन्वयः – मे अधुना मखेन अनघेन भाविता, ते सन्निधेः वीतविघ्नम्, वासरश्रियम् अशीतदीधितौ उदये आस्थितः कः आलम् विहन्तुम्

अर्थः – इस प्रकार आपके सान्निध्य से मेरा यज्ञ निर्विघ्नतापूर्वक सम्यक् प्रकार से पूर्ण हो जायेगा, क्योंकि सूर्य के उदय होने पर दिन की शोभा अर्थात् प्रकाश को नष्ट करने का सामर्थ्य किसमें है ?

अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं है। ।।8।।

स्वापतेयमधिगम्य धर्मतः पर्यपालयमवीवृधं च यत्।

तीर्थगामि करवै विधानतस्तज्जुषस्व जुहवानि चानले। ।।9।।

अन्वयः -यत् स्वापतेयम् धर्मतः अधिगम्य पर्यपालयम् अवीवृधम् च, तत् तीर्थगामि विधानतः करवै, त्वम् जुहवानि च अनले जुषस्व।

अर्थः-मैंने जिस ऐश्वर्य अर्थात् सम्पत्ति को धर्मपूर्वक पाकर उसकी रक्षा की तथा उसे बढ़ाया, उस धन को मैं विधिपूर्वक सत्पात्रों में दान करूँगा, आप उसको स्वीकार करें तथा अब मैं अग्नि में हवन करूँगा। ।।9।।

पूर्वमङ्ग जुहुधि त्वमेव वा स्नातवत्यवभृथे ततस्त्वयि।

सोमपायिनि भविष्यते मया वांछितोत्तमवितानयाजिना। ।।10।।

अन्वयः - पूर्वम् त्वमेव अवभृथे स्नातवति, ततः त्वयि सोमपायिनि, मया वाञ्छितः उत्तमवितानयाजिना भविष्यते।

अर्थः-सबसे पहले आप ही यज्ञ करें तथा सोमपान करने वाले आपके अवभूथ स्नान यज्ञ के निर्विघ्न पूर्ण होने के बाद किये जाने वाले स्नान विशेष विश्वजित नामक अभिलषित उत्तम यज्ञ को करूँगा। ।।10।।

किं विधेयमनसा विधीयतां त्वत्प्रसादजितयार्थसम्पदा।

शाधि शासक जगत्त्रयस्य मामाश्रवोऽस्मि भवतः सहानुजः। ।।11।।

अन्वयः - मनसा विधेयम् किं विधीयताम् त्वत्प्रसादजितया अर्थसम्पदया, शासक जगत्त्रयस्य माम् शाधि, अहं भवतः सह अनुजः आश्रवः अस्मि।

अर्थः-अथवा आपके अनुग्रह से विजय में मिली हुई धन-सम्पत्ति से क्या करना चाहिए, इसे हे तीनों लोकों के शासन करने वाले श्रीकृष्ण आप मुझे शासित कीजिए अर्थात् मुझे सिखाइये बतालाइये कि छोटे भाइयों सहित में आपका आज्ञा का पूर्ण पालन कर सकूँ । ।।11।।

तं वदन्तमिति विष्टरश्रवाः श्रावयन्नथ समस्तभूभृतः।

व्याजहार दशनांशुमण्डलव्याजहारशबलं दधद्वपुः। ।।12।।

अन्वयः - तं वदन्तम् इति विष्टरश्रवाः समस्तभूभृतः श्रावयन् दशनांशुमण्डलव्याजहारशबलं वपुः दधत् व्याजहार।

अर्थः – युधिष्ठिर के ऐसा कहने के बाद श्रीकृष्ण भगवानयुधिष्ठिर से ऐसा कहते हुए, समस्त राजाओं को सुनाते हुए और दांतों के किरण– समूह के कपट हार से कर्बुर विचित्र शरीर को धारण करते हुए बोले। ।।12।।

सादिताखिलनृपं महन्महः सम्प्रति स्वनयसम्पदैव ते।

किं परस्य स गुणः समश्नुते पथ्यवृत्तिरपि यद्यरोगिताम्। ।।113।।

अन्वयः – ते स्वनयसम्पदया सम्प्रति महन्महः सादिताखिलनृपम् पथ्यवृत्तिः अपि यदि अरोगिताम् तर्हि परस्य सः गुणः किं समश्नुते।

अर्थः – श्रीकृष्ण भगवान युधिष्ठिर के द्वारा कहे गये वचन के समान विभूति वचन का उत्तर देते हैं इस समय तुम्हारा महान् अपनी नीतिकी महिमा से ही समस्त राजाओं को पराजित करने वाला बना हुआ है। इसमें मेरी कोई महानता नहीं है, क्योंकि पथ्यसेवन करने वाला यदि निरोग होता है जो उसमें दूसरे का कौन सा गुण है ? अर्थात् कोई नहीं, किन्तु वह पथ्य–सेवन करने वाले का गुण है। ।।13।।

तत्सुराज्ञि भवति स्थिते पुनः कः क्रतुं यजतु राजलक्षणम्।

उद्धृतौ भवति कस्य वा भुवः श्रीवराहमपहाय योग्यता। ।।14।।

अन्वयः – सुराज्ञि तत् स्थिते पुनः एकः राजलक्षणम् क्रतुम् यजतु, भवतः योग्यता श्रीवराहम् अपहाय कस्य वा भुवः उद्धृतौ भवति।

अर्थः – इस कारण अपने पराक्रम से विजयलाभ, निरुपद्रव एवं पुत्रवत् स्नेहपूर्वक प्रजारक्षणादि करने से सुन्दर नृपतिरूप आपके रहते हुए फिर असाधारण क्षत्रिय चिह्नरूप विश्वजित नामक यज्ञ करने वाला दूसरा कौन है? अर्थात् उक्त यज्ञ करने का अधिकार एकमात्र आपको ही है, दूसरे किसी को नहीं, क्योंकि पृथ्वी का उद्धार करने में श्रीवराह भगवान् के अतिरिक्त किसकी योग्यता थी? अर्थात् किसी की नहीं। ।।14।।

शासनेऽपि गुरुणि व्यवस्थितं कृत्यवस्तुषु नियुङ्क्ष्व कामतः।

त्वत्प्रयोजनधनं धनञ्जयादन्य एष इति मां च मावगाः। ।। 15।।

अन्वयः – गुरुणि शासने अपि व्यवस्थितम् कृत्यवस्तुषु, कामतः नियुङ्क्ष्व, त्वत्प्रयोजनधनम् एषः धनञ्जयात् अन्यः इति माम् च मा अवगाः।

अर्थः – बड़े भारी शासन में भी तत्पर अर्थात् कठोर आज्ञा का भी पालन करने के लिए उद्यत मुझको आप इच्छानुसार कर्तव्य कार्यों में नियुक्त कीजिए, मुझको आप अर्जुन से भिन्न मत समझिये अर्थात् अपने छोटे भाई अर्जुन के समान ही मुझे भी आपके अभीष्ट साधन में तत्पर मानो ।।15।।

यस्तवेह सवने न भूपतिः कर्म कर्मकरवत्करिष्यति।

तस्य नेष्यति वपुः कबन्धतां बन्धुरेव जगतां सुदर्शनः। ॥16॥

अन्वयः –यः न भूपतिः सवने तव इह कर्म कर्मकरवत् करिष्यति, तस्य वपुः कबन्धताम् नेष्यति, सुदर्शनः एव बन्धुः जगताम्। रूपकालङ्कारः।

अर्थः – आपके इस यज्ञ में जो राजा भृत्य के समान बतलाया गया छोटा बड़ा सब प्रकार का काम नहीं करेगा,उसे यह रक्षक होने से संसार का बन्धु यह सुदर्शन चक्र उस राजा के शरीर को नष्ट कर देगा अर्थात् उसके शिर को काट देगा ।।16।।

लघु उत्तरीय प्रश्नः

1. युधिष्ठिर ने अपनी बातचीत में विनम्रता का परिचय कैसे दिया?

2. श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर की सफलता का मुख्य कारण क्या बताया?

3. युधिष्ठिर अपने भाइयों के साथ श्रीकृष्ण के प्रति कैसा भाव रखते हैं?

4. पाथेय सेवा के उदाहरण से श्रीकृष्ण ने क्या स्पष्ट किया?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः

1. युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण के संवाद के आधार पर एक आदर्श राजा और एक आदर्श मार्गदर्शक के संबंधों की व्याख्या कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्नः

1. युधिष्ठिर के अनुसार, कौन अपनी प्रशंसा सुनकर भी लज्जित हो जाता है?

(क) अभिमानी (ख) श्रीकृष्ण (ग) शत्रु (घ) सामान्य राजा

2. युधिष्ठिर ने किस प्रकार का धन अर्जित किया था?

(क) अन्याय से (ख) दान में मिला (ग) धर्मपूर्वक (घ) युद्ध में लूटा हुआ

3. श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को किसके समान माना?

(क) शत्रु के (ख) अर्जुन के (ग) पिता के (घ) साधारण सेवक के

4. यज्ञ में बाधा डालने वालों को किसका भय दिखाया गया?

(क) गदा का (ख) सुदर्शन चक्र का (ग) सेना का (घ) श्राप का

भाग 2.2: यज्ञ की शास्त्रीय विधि और देवताओं का पोषण

(श्लोक 17-31)

उद्देश्य:

1. छात्रों को भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण स्तम्भ यज्ञ की शास्त्रीय प्रक्रिया एवं उसके आध्यात्मिक गौरव से अवगत कराना।

2. यज्ञ के माध्यम से देवताओं को आहुति समर्पित करने एवं प्रकृति के सन्तुलन (देव-पोषण) के अन्तर्सबंधों को स्पष्ट करना।

3. वैदिक रीति-रिवाजों एवं राजसूय यज्ञ जैसे विशाल अनुष्ठानों की भव्यता का काव्य के माध्यम से बोध कराना।

परिणाम:

1. छात्र यह समझ पाएंगे कि प्राचीन काल में यज्ञ केवल धार्मिक कर्मकाण्ड नहीं, अपितु सामाजिक एकता एवं ब्रह्माण्डीय ऊर्जा के पोषण का साधन थे।

2. शिक्षार्थी शास्त्रों में वर्णित यज्ञ की विधियों एवं उनमें प्रयुक्त होने वाली पारिभाषिक शब्दावली का तार्किक विश्लेषण कर सकेंगे।

3. छात्र महाकवि माघ की सूक्ष्म वर्णन-शैली एवं श्लोकों में निहित सांस्कृतिक प्रतीकों को पहचान कर उनका अर्थ स्पष्ट कर पाएंगे।

इत्युदीरितगिरं नृपस्त्वयि श्रेयसि स्थितवति स्थिरा मम।
सर्वसम्पदिति शौरिमुक्तवानुद्वहन्मुदमुदस्थित क्रतौ। ॥17॥

अन्वय: - नृप: त्वयि श्रेयसि स्थितवति मम स्थिरा सर्वसम्पत् इति उद्वहन् मुदम् उदस्थित क्रतौ शौरिम् उक्तवान् इति उदीरितगिरम्।

अर्थ: - इस प्रकार के वचन कहे हुए श्रीकृष्ण भगवान् से आपके हितकर्ता रहने पर मेरी समस्त सम्पत्ति स्थिर है अर्थात् मेरे सब मनोरथ पूर्ण ही हैं ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर यज्ञ प्रारम्भ करने के लिए उद्यत हो गये। ॥17॥

आननेन शशिन: कलां दधद्दर्शन क्षयितकामविग्रह:।
आप्लुत: स विमलैर्जलैरभूदष्टमूर्तिधरमूर्तिरष्टमी। ॥18॥

अन्वयः - शशिनः कलाम् दधत् आननेन दर्शनक्षयितकामविग्रहः सः विमलैः जलैः आप्लुतः अभूत् अष्टमूर्तिधरमूर्तिः अष्टमी।

अर्थः - मुख से चन्द्रमा की शोभा धाारण करते हुए, ज्ञान से काम तथा क्रोध का नाश किये हुए और नदी के समान निर्मल जल से स्नान किये हुए वे युधिष्ठिर मुख अर्थात् शिर पर चन्द्रकला को धाारण करती हुई, देखने से कामदेव के शरीर को नष्ट भस्मीभूत की हुई और गंगा जी के निर्मल जल के प्रवाह से आर्द्र आठ मूर्तियों को धारण करने वाले शिवजी की यजमान नाम की आठवीं मूर्ति हुए अर्थात् वे यज्ञ में दीक्षित हो गये। ।।18।।

शब्दितामनपशब्दमुच्चकैर्वाक्यलक्षणविदोऽनुवाक्यया।

याज्यया यजन कर्मिणोऽत्यजन्द्रव्यजातमपदिश्य देवताम्। ।।20।।

अन्वयः - वाक्यलक्षणविदः कर्मिणः यजन उच्चकैः अनु वाक्यया याज्यया शब्दिताम् अनुपशब्दम् देवताम् अपदिश्य, अत्यजन् द्रव्यजातम्।

अर्थ - मीमांसा शास्त्र के ऋत्विज् लोगों ने अनुवाक्या देवता का आह्वाहन करने वाले मंत्र विशेष से उच्च स्वरपूर्वक उच्चारण करके इन्द्रादि देवता के लिए घृत, खीर आदि हवनीय पदार्थों को अग्नि में छोड़ा अर्थात् वे तत्तद्देवताओं के आह्वाहन मन्त्रों का उच्च स्वर से उच्चारण कर उन उन देवताओं के उद्देश्य से हवन करने लगे। ।।20।।

सप्तभेदकरकल्पितस्वरं साम सामविदसङ्गमज्जगौ।

तत्र सूनृतगिरश्च सूरयः पुण्यमृग्यजुषमध्यगीषत। ।।21।।

अन्वयः- सामविद् कल्पितस्वरम् सप्तभेदकरम् साम सङ्गमम् जगौ। तत्र सूरयः सूनृतगिरः पुण्यम् ऋग्यजुषम् अध्यगीषत।

अर्थ- सामवेद के ज्ञाता उद्गाता लोग हाथ के सञ्चालन विशेष से व्यक्त किये गये निषादादि सात स्वरों वाले सामवेद को स्खलनरहित अर्थात् कहीं पर स्खलित नहीं होते हुए उच्च स्वर से गान प्रारम्भ किया और सत्य तथा प्रिय बोलने वाले विद्वान लोग कल्याणकारक ऋग्वेद तथा यर्जुवेद को पढ़ना प्रारम्भ किया।

बद्धदर्भमयकाञ्चिदामया वीक्षितानि यजमानजायया।

शुष्माणि प्रणयनादिसंस्कृते तैर्हवींषि जुहवाम्बभूविरे। ।।22।।

अन्वयः -यजमानजायया बद्धर्भमयकाञ्चिदामया वीक्षितानि तानि प्रणयनादिसंस्कृते शुष्माणि तैः हवींषि जुहवाम् अभभूविरे।

अर्थ - कुशाओं की बनी हुई मेखला को पहनी हुई यजमान युधिष्ठिर की धर्मपत्नी द्रौपदी के द्वारा देखे गये हविष्यों यज्ञीय-घृत आदि पदार्थों की प्रणयन आदि परिस्तरण, समिदाधान, संमार्जन इत्यादि से सुसंस्कृत अग्नि में अर्थात् सम्पूर्ण विधि-विधान के द्वारा ऋत्विज् लोगों ने हवन करना प्रारम्भ किया।

नाञ्जसा निगदितुं विभक्तिभिर्व्यक्तिभिश्च निखिलाभिरागमे।

तत्र कर्मणि विपर्यणीनमन् मन्त्रमूहकुशलाः प्रयोगिणः। ।।23।।

अन्वयः - निखिलाभिः विभक्तिभिः व्यक्तिभिः च आगमे नाञ्जसा निगदितुम् शक्यं, तत्र प्रयोगिणः मन्त्रमूहकुशलाः कर्मणि विपर्यणीनम्।

अर्थ - उस यज्ञक्रिया में ऊह दूसरे रुप में प्रतिपादित शब्दों का लिंग वचनादि की पृथक्कता से परिवर्तन करने में निपुण प्रयोक्ता ऋत्विज लोग शास्त्र में सब विभक्तियों से कहना असम्भव होने से आवश्कतानुसार उन उन स्थलों में मन्त्र के विभक्ति वचनों तथा लिङ्गों को परिवर्तित कर दिये। ।।23।।

संशयाय दधतोः सरूपतां दूरभिन्नफलयोः क्रियां प्रति।

शब्दशासनविदः समासयोर्विग्रहं व्यवससुः स्वरेण ते। ।।24।।

अन्वयः - ते शब्दशासनविदः स्वरेण समासयोः विग्रहम् व्यवससुः, सरूपतां दधतोः संशयाय क्रियायाः प्रति दूरभिन्नफलयोः।

अर्थ - व्याकरण- शास्त्र के ज्ञाता से ऋत्विज् लोग सन्देह उत्पन्न अर्थात् परीक्षण करने के लिए समान रूप वाले अर्थात् समान रूप होने से सन्देहोत्पादक किन्तु कार्य के प्रति भिन्न फल देने वाले दो समासों के विग्रह का स्वर करके द्वारा निर्णय करते थे। ।।24।।

लोलहेतिरसनाशतप्रभामण्डलेन लसता हसन्निव।

प्राज्यमाज्यमसकृद्वषट्कृतं निर्मलीमसलीढ पावकः। ।।25।।

अन्वयः - हसन् इव लसता लोलहेतिरसनाशतप्रभामण्डलेन निर्मलीम् पावकः प्राज्यम् आज्यम् असकृत् वषट्कृतम् असलीढ।

अर्थ - प्रज्जवलित होती हई चञ्चल ज्वालारूपी सैकड़ों जिह्वाओं के प्रभा समूह से मानो हंसते हुए से अग्निदेव ने मलिनतारहित अर्थात् शुद्ध और वषट् शब्दोच्चारणपूर्वक छोड़े गये प्रचुर प्रमाण में अधिक घी का अनेक बार आस्वादन किया अर्थात् वषट् कहकर छोड़े गये घृत को हवनकुण्ड में डालने पर अग्निज्वाला तीव्र हो गयी। ।।25।।

तत्र मन्त्रपवितं हविः क्रतावश्नतो न वपुरेव केवलम्।

वर्णसम्पदमतिस्फुटां दधन्नाम चोज्ज्वलमभूद्धविर्भुजः। ।।26।।

अन्वयः – तत्र हविर्भुजः क्रतौ अश्नतः मन्त्रपवितं हविः एव न केवलं वपुः,वर्णसम्पदम् अतिस्फुटां दधत् नाम च उज्ज्वलम् अभूत्।

अर्थ – उस यज्ञ में मन्त्र से पवित्र किये गये हविष्य घृत आदि हवनीय पदार्थ को खाते अर्थात् जलाते हुए अग्नि का अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश को धारण करता हुआ केवल शरीर ही उज्जवल प्रकाशमान नहीं हुआ, किन्तु अत्यधिक स्पष्ट अक्षर को धारण करता हुआ हविर्भुज अर्थात् हविष् को खाने वाला नाम भी उज्ज्वल हो गया। ।।26।।

स्पर्शमुष्णमुचितं दधच्छिखी यद्दाह हविरद्भुतं न तत्।

गन्धतोऽपि हुतहव्यसम्भवाद् देहिनामदहदोघमंहसाम्। ।।27।।

अन्वयः – शिखी उचितं स्पर्शम् उष्णम् दधत् यत् तत् न अद्भुतं हविः दाहम्, देहिनाम् अंहसाम् ओघम् अपि गन्धतः हुतहव्यसम्भवाद् अदहद्।

अर्थ – स्वाभाविक होने से उचित उष्ण स्पर्श को धाारण करते हुए अग्नि जो हविष्य हवन किये गये घृत-पायस आदि हवनीय पदार्थों को जलाना, यह आश्चर्य नहीं है, किन्तु हवन किये गये पदार्थों से उत्पन्न गन्ध से प्राणियों गन्धा सूँघने वाले जीवों के पाप समूह को भी जला नष्ट कर दिया गया यह आश्चर्य है। ।।27।।

उन्नमन्सपदि धूम्रयन्दिशः सान्द्रतां दधदधःकृताम्बुदः।

द्यामियाय दहनस्य केतनः कीर्तयन्निव दिवौकसां प्रियम्। ।।28।।

अन्वयः – धूम्रयन् दिशः सपदि उन्नमन् सन्द्रतां दधत् कृताम्बुदः। दहनस्य केतः द्याम् इयाय, दिवौकसाम् प्रियम् कीर्तयन् इव।

अर्थ – तीव्र ऊपर उठता हुआ, दिशाओं को धूमिल करता हुआ तथा सघनता धारण करते हुए बढ़ता हुआ एवं मेघ को नीचे किया हुआ अग्नि का झण्डा अर्थात् मानो देवताओं को प्रिय सन्देश देताा हुआ स्वर्ग पहुँच गया। ।।28।।

निर्जिताखिलमहार्णवौषधिस्यन्दसारममृतं ववल्गिरे।

नाकिनः कथमपि प्रतीक्षितुं हूयमानमनले विषेहिरे। ।।29।।

अन्वयः – तत्र निर्जिताखिल-महार्णव-औषधि-स्यन्द-सारम् अमृतम् ववल्गिरे, हूयमानम् अनले नाकिनः, कथम् अपि प्रतीक्षितुम विषेहिरे।

अर्थ – देवताओं ने महासमुद्र में मन्थन करने के समय छोड़ी गयी औषधियों के रस के सार को अच्छी प्रकार से पराजित किये गये हवनीय घृत आदि हविष्य रूप अमृत का भोजन किया, और अग्नि में हवन

किये जाते हुए उस हवनीय घृत आदि हविष्य को किसी प्रकार बड़ी कठिनता से प्रतीक्षा करने के लिए सहन किया अर्थात् अग्नि में हवनीय द्रव्य को हवन करने तक उसके गन्ध को सूँघने से देवता लोग उसे हवन करने के अपरान्त भोजन करने के लिए शीघ्रता कर रहे थे। ।।29।।

प्राशुराशु हवनीयमत्र यत्तेन दीर्घममरत्वमध्यगुः।

उद्धतानधिकमेधितौजसो दानवांश्च विबुधा विजिग्यिरे। ।।31।।

अन्वयः - यत् हवनीयम् अत्र प्राशुः, तेन दीर्घम् अमरत्वम् अध्यगुः, उद्धतान् अधिकमेधितौजसः दानवान् विबुधाः विजिग्यिरे।

अर्थ - देवों ने इस यज्ञ में हवनीय घृत-पायस आदि हवन किये गये हविष्य पदार्थो का जो शीघ्र भोजन किया, उससे वे दीर्घकाल के लिए अमर अर्थात् नहीं मरने वाले हो गये और इसी से बढ़े हुए बलवाले वे देवलोग उद्धत असुरों को भी जीत लिये। ।।31।

लघु उत्तरीय प्रश्नः

1. यज्ञ में वेदों के गान की क्या विशेषता बताई गई है?
2. देवताओं ने असुरों पर विजय कैसे प्राप्त की?
3. यज्ञ की सामग्री (घी, हवि आदि) की शुद्धता के बारे में पाठ में क्या कहा गया है?
4. युधिष्ठिर के अभिषेक स्नान की तुलना किससे की गई है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः

1. पाठ के आधार पर राजसूय यज्ञ की शास्त्रीय प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्नः

1. यज्ञ की दीक्षा लेने के बाद युधिष्ठिर किसकी आठवीं मूर्ति के समान लगे?

(क) विष्णु (ख) ब्रह्मा

(ग) शिव (घ) इंद्र

2. सामवेद के ज्ञाता कितने स्वरों में गान कर रहे थे?

(क) पांच (ख) सात

(ग) तीन (घ) दस

3. यज्ञ में दी गई आहुतियों से कौन बलवान हुए?

(क) असुर (ख) राजा

(ग) देवता (घ) पशु

4. यज्ञशाला में मंत्रों का उच्चारण कौन कर रहा था?

(क) सैनिक (ख) ऋत्विज

(ग) जनता (घ) दास

इकाई 2.3

दान-महिमा और अतिथि सत्कार (श्लोक 32-51)

उद्देश्यः

1. छात्रों को भारतीय संस्कृति के अतिथि देवो भव के आदर्श एवं निःस्वार्थ दान के महत्त्व से परिचित कराना।

2. यह स्पष्ट करना कि एक महान शासक हेतु केवल रण-विजय ही नहीं, अपितु शरणागत एवं विद्वानों का सत्कार करना भी अनिवार्य धर्म है।

3. यज्ञ के सामाजिक पक्ष को प्रखर करना, जहाँ समाज के प्रत्येक वर्ग की संतुष्टि एवं सम्मान को प्राथमिकता प्रदान की जाती है।

परिणामः

1. छात्र दान की महत्ता एवं उदारता जैसे मानवीय मूल्यों का अपने व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में विश्लेषण कर सकेंगे।

2. शिक्षार्थी यह समझ पाएंगे कि प्राचीन काल में राजकीय वैभव का प्रदर्शन केवल शक्ति-प्रदर्शन हेतु नहीं, अपितु जनकल्याण एवं सेवा हेतु किया जाता था।

3. छात्र महाकवि माघ की उदात्त भाषा शैली एवं श्लोकों में प्रयुक्त दान तथा सत्कार से संबंधित शब्दावली का ज्ञान प्राप्त कर पाएंगे।

नापचारमगमन्क्वचित्क्रियाः सर्वमत्र समपादि साधनम्।
अत्यशेरत परस्परं धियः सत्रिणां नरपतेश्च सम्पदः। ॥32॥

अन्वयः - क्रियाः क्वचित् अपचारम् न अगमन्, सर्वम् अत्र साधनम् समपादि, सत्रिणाम् धियः नरपतेः च सम्पदः परस्परम् अत्यशेरत।

अर्थ - इस यज्ञ में कहीं पर भी किसी प्रकार विधि का उपचार अभाव या विपर्यास आदि दोष अर्थात् किसी द्रव्य के अभाव में उसे प्रतिनिधि द्रव्य का उपयोग करना आदि नहीं हुआ, क्योंकि सभी साधन सम्पन्न सम्यक् प्रकार से संगृहीत थे तथा यज्ञकर्ता ऋत्विजों की बुद्धि अर्थात् ज्ञान एवं राजा युधिष्ठिर की सम्पत्ति तथा यज्ञसामग्री दोनों ही परस्पर में अत्यधिक हो रही थी। ॥32॥

दक्षिणीयमवगम्य पङ्क्तिशः पावनमथ द्विजव्रजम्।

दक्षिणः क्षितिपतिर्व्यशिश्रणदक्षिणाः सदसि राजसूयकीः। ।।33।।

अन्वयः – पङ्क्तिशः पावनम् द्विजव्रजम्, दक्षिणीयम् अवगम्य, दक्षिणः क्षितिपतिः सदसि राजसूयकीः दक्षिणाः व्यशिश्रणत्।

अर्थ – इसके बाद उदार राजा युधिष्ठिर ने दक्षिणा के योग्य पङ्क्तिपावन ब्राह्मण समूह को पङ्क्ति के क्रम से प्राप्तकर सभा में राजसूययज्ञ की दक्षिणा को उस ब्राह्मण समूह के लिये दिया। ।।33।।

वारिपूर्वमखिलासु सत्क्रियालब्धशुद्धिषु धनानि बीजवत्।

भावि बिभ्रति फलं महद्द्विजक्षेत्रभूमिषु नराधिपोऽवपत्। ।।34।।

अन्वयः – सत्क्रियासु वारिपूर्वम् लब्धशुद्धिषु अखिलासु धनानि बीजवत् भविषि फलं बिभ्रति इति, नराधिपः द्विजक्षेत्रभूमिषु अवपत्।

अर्थ – राजा युधिष्ठिर ने अभिषेक संस्काररूप सत्क्रिया से शुद्ध बनी हुई, सम्पूर्ण ब्राह्मणरूपी खेत की भूमि में भविष्य में अधिक फल को देने वाले धन को बीज के समान जलपूर्वक अर्थात् पहले जल देकर बोया। ।।34।।

किं नु चित्रमधिवेदि भूपतिर्दक्षयन्द्विजगणानपूयत।

राजतः पुपुविरे निरेनसः प्राप्य तेऽपि विमलं प्रतिग्रहम्। ।।35।।

अन्वयः – भूपतिः द्विजगणान् दक्षयन् अपूयत, अधिवेदि किं नु चित्रम् ते अपि विमलं प्रतिग्रहम् प्राप्य निरेनसः राजतः पुपुविरे ।

अर्थ – राजा युधिष्ठिर यज्ञ वेदी पर ब्राह्मण समूह को हर्षित या दक्षिणा देकर दक्षिणायुक्त करते हुए स्वयं पवित्र हो गये, इसमें क्या आश्चर्य है ? अर्थात् वे ब्राह्मण समूह भी दोष रहित राजा युधिष्ठिर से विमल दोष रहित दान पाकर स्वयं पवित्र हो गये। ।।35।।

स स्वहस्तकृतचिह्नशासनः पाकशासनसमानशासनः।

आ शशाङ्कतपनार्णवस्थितेर्विप्रसादकृत भूयसीर्भुवः। ।।36।।

अन्वयः – सः स्वहस्तकृतचिह्नशासनः पाकशासन-समानशासनः, शशाङ्क-तपन-अर्णव-स्थितेः आ विप्रसाद-कृतः भूयसीः भुवः।

अर्थ – इन्द्र के समान अप्रतिहत शासन वाले वे राजा युधिष्ठिर आज्ञा पत्र को अपने हाथ से निर्दिष्ट करके चन्द्रमा, सूर्य और समुद्र की स्थिति तक अर्थात् कल्पान्तर तक बहुत सी भूमि को ब्राह्मणों के

लिए दान दे दिये। ।।36।।

शुद्धमश्रुतिविरोधि बिभ्रतं शास्त्रमुज्ज्वलमवर्णसङ्करैः।

पुस्तकैः सममसौ गणं मुहुर्वाच्यमानमश्रृणोद्द्विजन्मनाम्। ।।37।।

अन्वयः – अवर्णसङ्करैः उज्ज्वलम् शास्त्रम् शुद्धम् अश्रुतिविरोधि बिभ्रतं, सः पुस्तकैः समम् द्विजन्मनाम् गणम् मुहुः वाच्यमानम् अशृणोत्।

अर्थ – इस राजा युधिष्ठिर ने आचरण से पवित्र, वेदाविरूद्ध पुराणादि शास्त्र को धारण करते हाथ में लिए, या अभ्यास द्वारा कण्ठस्थ किये हुए, वर्ण सङ्करता से हीन अर्थात् सत्कुलोत्पन्न ब्राह्मण समूह को अपशब्द रहित होने से शुद्ध सुनने में मधुर होने से कर्णप्रिय व्याख्यान किये जाते हुए अथवा वेदाविरुद्ध पुराणादि शास्त्रों से अन्वय-गुणादिके क्रम से प्रस्तुत गोष्ठी अर्थात् स्वस्त्ययन करते हुए सुना। ।।37।।

तत्प्रतीतमनसामुपेयुषां द्रष्टुमाहवनमग्रजन्मनाम्।

आतिथेयमनिवारितातिथिः कर्तुमाश्रमगुरुः स नाश्रमत्। ।।38।।

अन्वयः – सः आश्रमगुरुः आग्रजन्मनाम् आहवनम् द्रष्टुम् उपेयुषाम् तत् प्रतीतमनसाम् अनिवारितातिथिः आतिथेयम् कर्तुम् न अश्रमत्।

अर्थ – अतिथियों का सत्कार करने वाले तथा ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों के पालन करने वाले वे राजा युधिष्ठिर उस यज्ञ को देखने के लिए आये हुए ब्राह्मणें के आतिथ्य अर्थात् अतिथि सत्कार करने के लिए श्रान्त नहीं हुए अर्थात् उन ब्राह्मणों का आतिथ्य निरन्तर करते रहने पर भी नहीं थके। ।।38।।

मृग्यमाणमपि यद् दुरासदं भूरिसारमुपनीय तत्स्वयम्।

आसतावसरकाङ्क्षिणो बहिस्तस्य रत्नमुपदीकृतं नृपाः। ।।39।।

अन्वयः –यत् भूरिसारम् दुरासदम् अपि मृग्यमाणम् तत् तत् स्वयं उपनीय उपदीकृतम्, तस्य बहिः अवसरकाङ्क्षिणः नृपाः रत्नम् आसत।

अर्थ – जो बहुमूल्य रत्न खोजन से भी दुर्लभ है, उसे मानसिक सङ्कल्प द्वारा युधिष्ठिर के लिए भेंट देने के लिए बहुमूल्य उस रत्न को स्वयं लाकर राजा युधिष्ठिर के आने से अवसर को चाहने वाले राजा लोग बाहर में उनकी प्रतीक्षा करते हुए ठहरे थे। ।।39।।

एक एव वसु यद् ददौ नृपस्तत्समापकमतर्क्यत क्रतोः।

त्यागशालिनि तपःसुते ययुः सर्वपार्थिवधनान्यपि क्षयम्। ।।40।।

अन्वयः – नृपः यत् एकं एव वसु अदौ समापकम् क्रतोः अतर्क्यत, तपःसुते त्यागशालिनि ययुः

सर्वपार्थिवधनानि अपि क्षयम्।

अर्थ - किसी एक राजा ने राजा युधिष्ठिर के लिए जो धन उपहार भेंट में दिया, उसी धन से यज्ञ समाप्त हो जायेगा ऐसा अनुमान होता था, किन्तु युधिष्ठिर के दान करते रहने पर सब राजाओं के उपहार में मिले हुए धन भी समाप्त हो गये। ।।40।।

प्रीतिरस्य ददतोऽभवत्तथा येन तत्प्रियचिकीर्षवो नृपाः।

स्पर्शितैरधिकमागमन्मुदं नाधिवेश्म निहितैरुपायनैः। ।।41।।

अन्वयः - अस्य ददतः प्रीतिः तथा अभवत् येन तत् प्रियचिकीर्षवः नृपाः, स्पर्शितैः उपायनैः अधिकम् मुदम् आगमत् न अधिवेश्म निहितैः।

अर्थ - दान करते हुए इस युधिष्ठिर को उस प्रकार से अर्थात् याचकों को दान देने से प्रसन्नता हुई, जिससे उस युधिष्ठिर के प्रिय करने की इच्छा करने वाले राजा लोग दिये गये उपहारों से अधिक हर्ष को प्राप्त किये, घर कोषागार में रखे गये उपहार द्रव्यों से हर्ष को प्राप्त नहीं किये। ।।41।।

यं लघुन्यपि लघूकृताहितः शिष्यभूतमशिषत्स कर्मणि।

सस्पृहं नृपतिभिर्नृपोऽपरैगौरवेण ददृशेतरामसौ। ।।42।।

अन्वयः - असौ नृपः लघूनि अपि कर्मणि, लघुकृताहितः यं शिष्यभूतम् अशिषत् सः नृपतिभिः अपरैः सस्पृहं गौरवेण ददृशे इत्यर्थम्।

अर्थ - पराजित करने से शत्रुओं को निर्बल बनाये हुए उस युधिष्ठिर ने पशु की रखवाली आदि जिस साधारण से भी कार्य में जिस राजा को नियुक्त किया, उस राजा को आज्ञापित कार्य को करते हुए दूसरे राजालोग स्पृहापूर्वक बड़े गौरव की दृष्टि से देखते थे। ।।42।।

आद्यकोलतुलितां प्रकम्पनैः कम्पितां मुहुरनीदृगात्मनि।

वाचि रोपितवताऽमुना महीं राजकाय विषया विभेजिरे। ।।43।।

अन्वयः - आद्यकोलतुलिताम् महीं प्रकम्पनैः मुहुः कम्पिताम्, अनिदृक् आत्मनि वाचि रोपितवता अमुना राजकाय विषयाः विभेजिरे।

अर्थ - आदिवराह के अवतार धारण किये हुए विष्णु भगवान् के सृष्टि के आरम्भ में धारण की गयी, किन्तु हिरण्यकश्यप आदि क्षोभकारक असुरों के कारण पुनः कम्पित हो गयी पृथ्वी को इस प्रकार से भिन्न वचन में रखने वाले इस युधिष्ठिर ने राजसमूह के लिए बाँट दिया। ।।43।।

आगताद्व्यवसितेन चेतसा सत्त्वसम्पदविकारिमानसः।

तत्र नाभवदसौ महाहवे शात्रवादिव पराङ्मुखोऽर्थिनः। ।।44।।

अन्वयः – असौ सत्त्वसम्पद्–अविकारि–मानसः आगतात् व्यवसितेन चेतसा महाहवे शात्रवादिव अर्थिनः तत्र पराङ्मुखः न अभवत्।

अर्थ – लोभ–अभिमान आदि से हीन होने के कारण सत्त्व–सम्पत्ति सम्पन्न सात्त्विक गुण की अधिकता तथा विकारहीन चित्तवाले वे राजा युधिष्ठिर उस महायज्ञ में स्थिर चित्त मुझे युधिष्ठिर के महायज्ञ के इच्छानुसार धन अवश्मेव प्राप्त होगा, इस प्रकार मन में किये गये निश्चित विचार से आये हुए याचक से उस प्रकार नहीं मिले, जिस प्रकार बल की अधिकता से विकारहीन निर्भय चित्तवाले युधिष्ठिर महायुद्ध में निश्चित चित्त इस महायुद्ध में शत्रु को अवश्य पराजित करूँगा। इनमें निश्चित किये गये ऐसे विचार से आये हुए शत्रु से पराङ्मुख नहीं होते थे अर्थात् अपने महायज्ञ में आये हुए याचकों को युधिष्ठिर ने उनकी इच्छानुसार दान दिया। ।।44।।

नैक्षतार्थिनमवज्ञया मुहुर्याचितस्तु न च कालमाक्षिपत्।

नादिताल्पमथ न व्यकत्थयदत्तमिष्टमपि नान्वशेत सः। ।।45।।

अन्वयः – मुहुः याचितः न कालं आकुर्वत् , न व्यकत्थयत् दत्तं इच्छितम् अपि नान्वशेत, नैक्षतार्थिनः अवज्ञया, नादिताल्पं च।

अर्थ – उस राजा युधिष्ठिर ने किसी याचक को अनादर से नहीं देखा और याचना करने पर अधिक समय यापन नहीं किया अर्थात् बिना बिलम्ब किये तत्काल ही दान दे दिया, थोड़ा नहीं दिया अपितु अधिक देकर भी अपनी प्रशंसा नहीं की और याचक की इच्छा के अनुसार देकर भी पश्चाताप नहीं किया। ।।45।।

निर्गुणोऽपि विमुखो स भूपतेदनिशौण्डमनसः पुरोऽभवत्।

वर्षुकस्य किमपः कृतोन्नतेरम्बुदस्य परिहार्यमूषरम्। ।।46।।

अन्वयः – निर्गुणः अपि सः भूपतेः अनिशौण्ड–मनसः पुरः विमुखः अभवत्, वर्षकस्य अपः किम् उषरम् परिहार्यम् कृतोन्नतेः अम्बुदस्य?

अर्थ – दानी चित्त वाले राजा युधिष्ठिर के सामने विद्यादि न पढ़ने से गुणहीन भी कोई याचक पुरुष बिना दान पाये नहीं लौटा, क्योंकि पानी बरसाने वाला उन्नति को प्राप्त किया हुआ अर्थात् आकाश में छाया हुआ बादल ऊसर बीजाङ्कुर नहीं पैदा करने वाली भूमि को क्या छोड़ देता है ? अर्थात् नहीं छोड़ता, अतएव दानशील राजा युधिष्ठिर ने निर्गुण को भी दान दिया। ।।46।।

प्रेमतस्य न गुणेषु नाधिकं न स्म वेद न गुणान्तरं च सः।

दित्सया तदपि पार्थिवोऽर्थिनं गुण्यगुण्य इति न व्यजीगणत्। ।।47।।

अन्वयः - सः गुणेषु न अधिकं प्रेम तस्य, न गुणान्तरम् अपि सः स्म वेद, पार्थिवः सः दित्सया अपि गुण्य-अगुण्य इति अर्थिनम् न व्यजीगणत्।

अर्थ - उस राजा युधिष्ठिर को गुणों में अधिक प्रेम को नहीं था, ऐसी बात नही थी और वे गुणाों के भेद न्यूनाधिक्य अर्थात् कम ज्यादा को नहीं जानते थे, यह बात भी नहीं थी अर्थात् वे गुणों में अधिक प्रेम रखते थे एवं किसमें कम और किसमें अधिक गुण हैं इस बात को भी जानते थे, तथापि देने की इच्छा से उन्होंने यह याचक गुणवान् है और यह निर्गुण है इस बात की गणना ही नहीं की। ।।47।।

दर्शनानुपदमेव कामतः स्वं वनीयकजनेऽधिगच्छति।

प्रार्थनार्थरहितं तदाऽभवत् दीयतामिति वचोऽतिसर्जने। ।।48।।

अन्वयः - सः दर्शन-प्राप्तिमात्रेण एव स्वं वनीयकजने अधिगच्छति, तदा प्रार्थनार्थरहितं वचः अभवत् "दीयताम्" इति अतिसर्जने।

अर्थ - याचक लोगों के राजा युधिष्ठिर के दर्शन होने के बाद ही इच्छानुसार धन प्राप्त करते रहने पर उस समय 'दीयताम्' अर्थात् दीजिए ,यह वचन प्रार्थनार्थक अर्थात् याचना अर्थ वाला न होकर दानार्थक (दान देने वाला) हो गया। ।।48।।

नानवाप्तवसुनाऽर्थकाम्यता नाचिकित्सितगदेन रोगिणा।

इच्छताशितुमनाशुषा न च प्रत्यगामि तदुपेयुषा सदः। ।।49।।

अन्वयः - तदुपेयुषा सदः न प्रत्यगामि, वसुनाऽनवाप्तेन अर्थकाम्यता न, गदेन अचिकित्सितेन रोगिणा न, अनाशुषा इच्छता अशितुम् न।

अर्थ - उस युधिष्ठिर की सभा में धन की इच्छा से आया हुआ पुरुष बिना धन पाये नहीं गया, रोग की चिकित्सा कराने की इच्छा से आया हुआ रोगी रोग की बिना चिकित्सा कराये नहीं गया, और खाने की इच्छा से आया हुआ पुरुष बिना भोजन किये नहीं गया अर्थात् जिस इच्छा को मन में रखकर उस सभा में पुरुष उपस्थित हुआ, वहाँ उसकी वह इच्छा पूरी हो गयी। ।।49।।

रक्षितारमिति तत्र कर्मणि न्यस्य दृष्टदमनक्षमं हरिम्।

अक्षतानि निरवर्तयत्तदा दानहोमयजनानि भूपतिः। ।।51।।

अन्वयः -रक्षितारम् हरिम्तत्र कर्मणि न्यस्य, अक्षतानि दानहोमयजनानि, दृष्टदमनक्षमम् निरवर्तयत् भूपतिः तदा।

अर्थ - इस प्रकार राजा युधिष्ठिर ने उस राजसूय नामक महायज्ञरूप कर्म में दुष्टों के दमन करने वाले श्रीकृष्ण भगवान् को रक्षक बनाकर विकल्प रहित होकर दान, हवन तथा यज्ञ को विधिपूर्वक सम्पन्न किया। ।।51।।

लघु उत्तरीय प्रश्नः

1. बादल और ऊसर भूमि के उदाहरण से युधिष्ठिर की दानशीलता को कैसे समझाया गया है?

2. युधिष्ठिर की सभा में आने वाले दुखी या रोगी व्यक्तियों के साथ क्या होता था?

3. दान देते समय युधिष्ठिर की मानसिक स्थिति (प्रसन्नता) कैसी थी?

4. अन्य राजाओं ने युधिष्ठिर को किस प्रकार के उपहार दिए?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः

1. युधिष्ठिर की दानवीरता अतुलनीय थी इस कथन की पुष्टि पाठ में दिए गए तर्कों के आधार पर कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्नः

1. युधिष्ठिर ने दान देते समय किनके बीच भेदभाव नहीं किया?

(क) मित्र और शत्रु (ख) गुणवान और निर्गुण (ग) अमीर और गरीब (घ) अपने और पराये

2. याचकों के लिए देहि(दीजिए) शब्द किस अर्थ में बदल गया?

(क) मांगने में (ख) प्रार्थना में (ग) दान देने में (घ) तिरस्कार में

3. युधिष्ठिर का दान किसके समान अक्षय बताया गया है?

(क) वर्षा (ख) नदी के जल (ग) कल्पवृक्ष (घ) समुद्र

4. यज्ञ में आने वाले राजा युधिष्ठिर की प्रतीक्षा कहाँ कर रहे थे?

(क) महल के अंदर (ख) सभा के बाहर (ग) वन में (घ) रथों पर

इकाई 2.4

अग्रपूजा और श्रीकृष्ण का परब्रह्म स्वरूप (श्लोक 52-60)

उद्देश्य:

1. छात्रों को अग्रपूजा के महत्त्व एवं समाज में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के चयन के मापदंडों से अवगत कराना।

2. श्रीकृष्ण के केवल एक राजनीतिज्ञ ही नहीं, अपितु साक्षात् परब्रह्म होने के दार्शनिक स्वरूप को स्पष्ट करना।

3. भीष्म एवं युधिष्ठिर की अटूट श्रद्धा के माध्यम से भक्ति एवं ज्ञान के समन्वय को प्रदर्शित करना।

परिणाम:

1. छात्र यह समझ पाएंगे कि श्रेष्ठता का आधार आयु अथवा पद नहीं, अपितु गुण, ज्ञान एवं ईश्वरीय तत्त्व होता है।

2. शिक्षार्थी भारतीय दर्शन में परब्रह्म की अवधारणा एवं अवतारवाद के महत्त्व का तार्किक विश्लेषण कर सकेंगे।

3. छात्र माघ की भक्ति-रस प्रधान काव्य शैली एवं ईश्वर के विराट स्वरूप का वर्णन करने वाली विशिष्ट शब्दावली का बोध प्राप्त कर पाएंगे।

एक एव सुखखैष सुन्वतां शौरिरित्यभिनयादिवोच्चकैः।

यूपरूपकमनीनमद् भुजं भूश्चषालतुलिताङ्गुलीयकम्। ।।52।।

अन्वयः -एकः शौरिः सुसखैष सुन्वतः, उच्चकैः अभिनयादिवा, भुजम् यूपरूपकम् मनीनमद् भूः,

तुलिताङ्गुलीयकम् चषालम्।

अर्थ - सोमपान करने वालों सोमयाजियों के उत्तम सहायक एक मात्र ये श्रीकृष्ण भगवान ही हैं मानो इसका अभिनय प्रदर्शन करके पृथ्वी ने अंगूठी के समान चषाल यज्ञ स्तम्भ के मध्य में चिन्ह विशेष वाले यूपरूप यशपशु बांधे जाने वाले स्तम्भरूप बाहु को उठाया। ।।52।।

आत्मनैव गुणदोषकोविदः किं न वेत्सि करणीयवस्तुषु।

यत्तथापि न गुरून्न पृच्छसि त्वं क्रमोऽयमिति तत्र कारणम्। ।।54।।

अन्वयः – गुणदोषकोविदः आत्मना एव, करणीयवस्तुषु किं न वेत्सि, तत्तथापि न गुरून् पृच्छसि। एष क्रमः तत्र कारणम्।

अर्थ – गुण तथा दोष को जानने वाले तुम कर्तव्य कार्यो के विषय में स्वयं नहीं जानते हो क्या? अर्थात् अवश्य ही जानते हो, तथापि गुरुजनों से नहीं पूछते हो ऐसा नही है अर्थात् पूछते ही हो, उसमें यह सदाचार परम्परा ही कारण है। ।।54।।

स्नातकं गुरुभीष्टमृत्विजं संयुजा च सह मेदिनीपतिम्।

अर्घभाज इति कीर्तयन्ति षट् ते च ते युगपदागताः सदः। ।।55।।

अन्वयः – स्नातकं ऋत्विजं गुरुभीष्टं संयुज्य मेदिनीपतिम् षट् अर्घभाजाः युगपदागताः सदः कीर्तयन्ति।

अर्थ – सदाचारी गृहस्थ विशेष पिता आदि गुरुजन, इष्ट बन्धु ऋत्विज्, जामाता और राजा ये छः अर्घ के प्राप्त करने योग्य होते हैं, ऐसा शास्त्रज्ञ कहते हैं वे सभी तुम्हारी सभा में एक साथ आये हुए हैं। ।।55।।

शोभयन्ति परितः प्रतापिनो मन्त्रशक्तिविनिवारितापदः।

त्वन्मखं मुखमुखः स्वयम्भुवो भूभुजश्च परलोकजिष्णवः। ।।56।।

अन्वयः – प्रतापिनः मन्त्रशक्तिविनिवारित–आपदः परितः शोभयन्ति, स्वयम्भुवः भूभुजः च परलोकजिष्णवः च त्वत्–मखं मुखमुखः शोभयन्ति।

अर्थ – प्रतापी अर्थात् प्रताप से शत्रुओं को सन्तप्त करने वाले, मन्त्र अर्थात् वेदमंत्र की शक्ति से दैवकृत एवं मानव कृत अर्थात् शत्रुकृत आपत्तियों रोके हुए तथा परलोक स्वर्गादि को जीतने वाले , ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न ब्राह्मण तथा राजालोग तुम्हारे यज्ञ को सब ओर से सुशोभित कर रहे हैं। ।।56।।

आभजन्ति गुणिनः पृथक्पृथक्पार्थ सत्कृतिमकृत्रिमाममी।

एक एव गुणवत्तमोऽथवा पूज्य इत्ययमपीष्यते विधिः। ।।57।।

अन्वयः – हे पार्थ! गुणिनः अमी पृथक् पृथक् अकृत्रिमाम् सत्कृतिम् आभजन्ति, एषः अपि विधिः ईष्यते "एकः एव गुणवत्तमः अथवा पूज्यः" इति।

अर्थ – हे पृथापुत्र युधिष्ठिर ये पूर्व दो श्लोकों में कहे गये स्नातकादि गुणवान् अलग–अलग सत्कार के योग्य हैं अथवा अधिक गुणवान एक ही व्यक्ति पूज्य पूजा के योग्य होता है, यह भी शास्त्रनुमोदित विधि है। ।।57।।

अत्र चैष सकलेऽपि भाति मां प्रत्यशेषगुणबन्धुरर्हति।

भूमिदेवनरदेवसङ्गमे पूर्व देवरिपुरर्हणां हरिः। ॥58॥

अन्वयः - अत्र च एषः सकले अपि (सङ्गमे)माम् प्रत्यशेषगुणबन्धुः इव भाति, पूर्वम् देवरिपुः अपि भूमिदेव-नरदेव-सङ्गमे अर्हणाम् अर्हति, (सः) हरिः ।

अर्थ - अब भीष्म पितामह कहते हैं- इस सम्पूर्ण ब्राह्मणों तथा राजाओं के समुदाय में सम्पूर्ण गुणों के बन्धु अर्थात् सर्वगुणसम्पन्न असुरारि श्रीकृष्ण भगवान् पूजनीय हैं, ऐसा मुझे दृढ़ विश्वास है। ॥58॥

मर्त्यमात्रमवदीधरवान् मैनमानमितदैत्यदानवम्।

अंश एष जनतातिवर्तिनो वेधसः प्रतिजनं कृतस्थितेः। ॥59॥

अन्वयः - भवान् मर्त्यमात्रम् एव अवदीधत(यः) मैनं-मानं-इत-दैत्य-दानवम्, एषः अंशः जनतातिवर्तिनः वेधसः प्रतिजनं कृतस्थितेः (अस्ति)।

अर्थ - इस ब्राह्मण क्षत्रिय समुदाय में श्रीकृष्ण भगवान् ही सर्वाधिक गुणसम्पन्न हैं इसके प्रमाणिकता के लिए भीष्म पितामह सर्ग की समाप्ति तक उनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि दैत्यों एवं दानवों को नम्र करने अर्थात् पराभूत करने वाले इनको अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण को तुम केवल मानव मात्र मत समझो, क्योंकि ये स्वयं जनसमूह के रूप में स्थित एवं प्रत्येक जन में स्थित परमात्मा के साक्षात् अंश हैं। ॥59॥

ध्येयमेकमपथे स्थितं धियः स्तुत्यनुत्तममतीतवाक्पथम्।

आमनन्ति यमुपास्यमादराद् दूरवर्तिनमतीव योगिनः। ॥60॥

अन्वयः - ध्येयम् एकम् अपथे स्थितम् धियः (इति), स्तुत्य-अनुत्तम-अतीत-वाक्पथं यं योगिनः दूरवर्तिनम् अतीव आदरात् उपास्यम् आमनन्ति।

अर्थ - नारदादि योगी लोग एक अद्वितीय एवं सर्वश्रेष्ठ जिन श्रीकृष्ण भगवान् को ध्यान के योग्य होने पर भी बुद्धिमार्ग के परे स्थित अज्ञान अविषय मानते हैं, स्तुति के योग्य होने पर भी वाक्पथ को अतिक्रान्त अर्थात् वचन एवं मन के अविषय वचन अवर्णनीय एवं मन से अचिन्तनीय मानते हैं और आदर से उपासना पूजा के योग्य होने पर भी अत्यन्त दूरस्थ अर्थात् अचिन्तनीय रूप वाले मानते हैं इसलिए हे धर्मराज युधिष्ठिर तुम इन्हें केवल मानव मात्र मत जानो, अपितु सम्पूर्ण संसार के आधार यही हैं। ॥60॥

बहुविकल्पीय प्रश्नः

1. सभा में अग्रपूजा(प्रथम पूजा) का निर्णय किसने लिया?

(क) युधिष्ठिर (ख) अर्जुन (ग) भीष्म पितामह (घ) सहदेव

2.भीष्म के अनुसार श्रीकृष्ण साक्षात् किसके अंश हैं?

(क) मानव के (ख) परमात्मा के (ग) प्रकृति के (घ) यदुवंश के

3.श्रीकृष्ण को किनके लिए भी ध्यान का विषय बताया गया है?

(क) साधारण मनुष्य (ख) योगियों (ग) पशुओं (घ) शत्रुओं

4.श्रीकृष्ण को अग्रपूजा के योग्य क्यों माना गया?

(क) वे शक्तिशाली थे (ख) वे राजा थे (ग) वे सर्वगुण संपन्न थे (घ) वे युधिष्ठिर के मित्र थे

लघु उत्तरीय प्रश्नः

1. भीष्म पितामह ने श्रीकृष्ण को केवल मनुष्य मानने से क्यों मना किया?
2. अग्रपूजा के लिए शास्त्रों में क्या विधान बताया गया है?
3. श्रीकृष्ण की दिव्यता के बारे में योगियों का क्या मत है?
4. भीष्म ने श्रीकृष्ण को सर्वगुणसंपन्न सिद्ध करने के लिए क्या तर्क दिए?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः

1.भीष्म पितामह द्वारा की गई श्रीकृष्ण की स्तुति का सारांश अपने शब्दों में लिखिए और स्पष्ट कीजिए कि उन्हें सर्वोच्च क्यों माना गया?

खण्ड-3 मुद्राराक्षसम्

महाकविश्रीविशाखदत्तप्रणीतम्

मुद्राराक्षसम् (प्रथमोऽङ्कः)

भाग 3.1: मंगलाचरण और सूत्रधार की भूमिका (श्लोक 1-5)

उद्देश्यः

1. छात्रों को संस्कृत नाटकों की प्राचीन परम्परा मंगलाचरण (इष्टदेव-स्तुति) के महत्त्व एवं उसके आध्यात्मिक पक्ष से परिचित कराना।

2. नाटक के मुख्य पात्र सूत्रधार की भूमिका को स्पष्ट करना, जो रङ्गमंच एवं प्रेक्षकों के मध्य सेतु का कार्य करता है।

3. प्रस्तावना के माध्यम से नाटक की कथावस्तु, कवि-परिचय एवं नाटक के नामकरण की सूचना प्रदान करने की कला का बोध कराना।

परिणामः

1. छात्र यह समझ पाएंगे कि किसी भी शुभ कार्य अथवा साहित्यिक रचना के प्रारम्भ में मंगलाचरण क्यों किया जाता है एवं इसके विभिन्न प्रकार (आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक आदि) क्या हैं।

2. शिक्षार्थी नाट्यकला के तकनीकी पक्षों यथा नान्दी पाठ, प्रस्तावना एवं सूत्रधार के संचालन-कौशल का विश्लेषण कर सकेंगे।

3. छात्र प्रारम्भिक श्लोकों में प्रयुक्त छन्दों एवं भरतवाक्य जैसी नाट्य विधाओं की शब्दावली का भाषाई ज्ञान प्राप्त कर पाएंगे।

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि? शशिकला किन्नु नामैतदस्या

नामैवास्यास्तदेतत् परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः।

नारीं पृच्छामि नेन्दुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-

र्देव्यानिह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः॥ 1 ॥

अन्वय- इयम् का धन्या ते शिरसि स्थिता? शशिकला। किम् नु अस्याः एतत् नाम ? अस्याः नाम एव, तत् एतत् परिचितम् अपि ते कस्य हेतोः विस्मृतम् ? नारीम् पृच्छामि इन्दुम न, यदि इन्दुः प्रमाणम् न, विजयां कथयतु। इति देव्याः, सुरसरितम् निह्नोतुम् इच्छोः विभोः शाठ्यम् वः अव्यात्। अत्र व्याजोक्तिरलङ्कारः। स्रग्धरा वृत्तम्। ।।1।।

भावार्थ- (पार्वती-) ''हे (प्रभो)! यह आपके शिर पर शोभित कौन धन्य स्त्री है? (शिव) शशिकला। (पार्वती-) क्या 'शशिकला' इसका नाम है? (शिव) हाँ; इसका यह ही नाम है और इससे तुम परिचित भी हो, फिर भी किस कारण से इसे भूल गई हो? (पार्वती-) मैं नारी के बारे में पूछ रही हूँ कि यह कौन है?, चन्द्रमा को नहीं! (शिव) यदि मेरी इस बात पर कि यह 'शशिकला' है, तुम्हें विश्वास न हो तो अपनी सखी विजया से पूछ लो'' । इस प्रकार देवी पार्वती से गङ्गा को बचाने के इच्छुक भगवान् शिव का शाठ्य (धृष्टता) आप सभी की रक्षा करें ।। 1 ।।

अपि च-

पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवने रक्षतः स्वैरपातैः

सङ्कोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम्।

दृष्टि लक्ष्येषु नोग्रज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीते-

रित्याधाराऽनुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्यम् ।।2।।

अन्वय- (पादस्य स्वैरपातैः आविर्भवन्तीम् अवनेः अवनतिम् रक्षतः, सर्व-लोक-अतिगानाम् दोष्णाम् संकोचेन एव मुहुः अभिनयतः, उग्र-ज्वलन-कण-मुचम् दृष्टिम् दाह-भीतेः लक्ष्येषु न बध्यतः, इति आधार-अनुरोधात् त्रिपुर-विजयिनः दुःख-नृत्तम् वः पातु। अत्रातिशयोक्तिरलङ्कारः। स्रग्धरा वृत्तम्। ।।2।।

भावार्थ - चरणों के इच्छानुसार प्रक्षेप से उत्पन्न होने वाली भूमि को विनाश से बचाने वाले, समस्त लोकों का अतिक्रमण करने की इच्छा रखने वाली भुजाओं को सिकोड़ने का ही बारम्बार अभिनय करने वाले, जलने अर्थात् भस्म होने के भय से आग की चिनगारियाँ उगलने वाली उग्र प्रलयङ्कारी दृष्टि को अभिनय-क्रिया की वस्तुओं जैसे- रंगमंच-भूलोक आदि पर स्थिर न करने वाले, त्रिभुवन-विजयी भगवान् शिव का नृत्य (ताण्डव-नृत्य) आप सभी लोगों की रक्षा करें ।।2।।

सूत्रधारः- अलमतिप्रसङ्गेन । आज्ञापितोऽस्मि परिषदा यथाद्य त्वया सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजभास्करदत्तसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिरभिनवं मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यम्' इति। यत् सत्यं काव्य विशेषवेदिन्यां परिषदि प्रयुञ्जानस्य ममापि सुमहान् परितोषः प्रादुर्भवति ।

सूत्रधार- अत्यन्त विस्तार मत करो। सामाजिकों की परिषद् द्वारा मुझे आज्ञा दी गई है कि आज सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र महाराज-पदलांच्छित पृथु-पुत्र कवि विशाखदत्त की रचना 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक का अभिनय किया जाय। वास्तव में काव्यमर्म को जानने वाली इस परिषद् में नाटक-प्रदर्शन करते हुए मेरे चित्त में अत्यधिक सन्तोष उत्पन्न हो रहा है। क्योंकि-

कुतः-

चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषि।

न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते॥ 3॥

अन्वय- (सत् क्षेत्रपतिता बालिशस्य अपि कृषिः चीयते, शालेः स्तम्बकरिता वतुः गुणम् न अपेक्षते। ।।3।।

भावार्थ - मूर्ख किसान की भी उर्वरा भूमि में की गई खेती लहलहा उठती है, क्योंकि कृषि का अच्छे से उपजना बीज बोने वाले व्यक्ति के गुणों की अपेक्षा नहीं करता है ।।3।।

तद्यावद् इदानीं गृहं गत्वा गृहजनेन सह सङ्गीतकमनुतिष्ठामि । (परिक्रम्यावलाक्य च) **इमे नो गृहाः। तद्यावत् प्रविशामि।** (नाट्येन प्रविश्यावलोक्य च) **अये ! तत् किमिदमस्मद्गृहेषु महोत्सव इव दृश्यते? स्वस्वकर्मण्यधिकतरमभियुक्तः परिजनः।**

तो फिर अब घर जाकर घर के लोगों के साथ अभिनय का आयोजन करता हूँ। (चारों ओर देखकर) यह तो अपना ही घर है। तो मैं प्रवेश करता हूँ। (अभिनय मुद्रा से प्रवेश कर तथा देखकर) अरे ! यह तो हमारे घर कोई उत्सव-सा दिखलाई पड़ रहा है? प्रायः पारिवारिक लोग अपने-अपने कार्यों में व्यस्त हैं। क्योंकि-

तथा हि-

वहति जलमियं पिनष्टि गन्धानियमियमुद्ग्रथते स्रजो विचित्राः।

मुसलमिदमियं पातकाले मुहुरनुयाति कलेन हुङ्कृतेन। ॥ 4 ॥

अन्वय-(इयम् जलम् वहति, इयम् गन्धान् पिनष्टि, इयम् विचित्राः स्रजः उद्ग्रथते, इयम् च पातकाले महुः कलेन हुंकृतेन इदम् मुसलम् अनुयाति। अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः आर्यावृत्तम्। ।।4।।

भावार्थ - यह सेविका जल ला रही है, यह सुगन्धित पदार्थ (केसर-चन्दनादि को) घिस रही है। यह विभिन्न रंग की मालाएँ गूँथ रही है। यह (दूसरी कोई) ओखली में मुसल को चलाते समय बार-बार मधुर हुंकार युक्त शब्द कर रही है ।। 4 ।।

भवतु कुटुम्बिनीमाहूय पृच्छामि ।

अच्छा, पत्नी को बुलाकर ही पूछ लेता हूँ।

(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)

गुणवत्युपायनिलये स्थितिहेतोः साधिके त्रिवर्गस्य।

मद्भवननीतिविद्ये कार्याचार्ये द्रुतमुपेहि ॥ 5 ॥

अन्वय-(गुणवति, उपाय-निलये, स्थिति-हेतोः त्रिवर्गस्य साधिके, कार्य-आचार्ये मद्-भवन-नीति-विद्ये द्रुतम् उपेहि ।।5।।

(नेपथ्य की ओर देखकर)

भावार्थ - अरी गुणशीले! नाटकादिप्रयोगनिलये! अवस्थानुरूपसमर्थे! तथा धर्म, अर्थ एवं काम-विषयक 'त्रिवर्ग' का सम्पादन करने वाली! मेरी भवन-नीति (रङ्गमञ्च सम्बन्धी नीति=जानकारी) का ज्ञान रखने वाली आर्ये! कार्य (आवश्यकता) से शीघ्र इधर तो आओ।। 5 ।।

नटी- आर्य इयमस्मि। आज्ञानियोगेन मामनुगृह्णातु।

सूत्रधारः- आर्ये तिष्ठतु तावदाज्ञानियोगः। कथय, किमद्य भवत्या भगवतां ब्राह्मणानामुपनिमन्त्रणेन कुटुम्बकमनुगृहीतम्, अभिमता वा भवनमतिथयः सम्प्राप्ताः, यत् एष पाकविशेषारम्भः।

नटी- आर्य, मैं आपके समक्ष आ गई हूँ। आज्ञा दीजिए।

सूत्रधार- आर्ये ! आज्ञा देने की बात रहने दो। पहले यह बताओ कि आज आपने ब्राह्मणों को आमन्त्रित कर इस परिवार को क्यों कृतार्थ किया है? अथवा अभीष्ट अतिथि घर पधारे हैं, क्या इसलिए यह भोज्य विशेष का आयोजन किया जा रहा है?

नटी- आर्य! आमन्त्रिता मया भगवन्तो ब्राह्मणाः।

सूत्रधारः-कथय, कस्मिन् निमित्ते?

नटी- उपरज्यते किल भगवान् चन्द्र इति।

सूत्रधारः-आर्ये क एवमाह?

नटी- एवं खलु नगरवासी जनो मन्त्रयन्ते।

सूत्रधारः- आर्ये ! कृतश्रमोऽस्मि चतुःषष्ट्यङ्गे ज्योतिश्शास्त्रे। तत् प्रवर्त्यतां भगवतो ब्राह्मणानुद्दिश्य पाकः। चन्द्रोपरागं प्रति तु केनापि विप्रलब्धाऽसि । पश्य-

नटी-आर्य ! आज मैंने पूज्य ब्राह्मणों को आमन्त्रित किया है।

सूत्रधारः-क्यों, किस निमित्त से?

नटी- वास्तव में चन्द्रग्रहण होने वाला है।

सूत्रधारः-तुमसे ऐसा किसने कहा ?

नटी-सब नगरवासी ऐसा कह रहे हैं।

सूत्रधार-आर्ये ! मैंने चौंसठ अङ्को वाले ज्योतिषशास्त्र में पूर्ण परिश्रम किया है। इसलिए पूज्य

विप्रगणों के निमित्त तुम भोजन भले ही बनाओ, लेकिन 'चन्द्रग्रहण' हो रहा है, ऐसा कह कर तुम्हें किसी ने ठग लिया है। देखो–

क्रूरग्रह: सकेतुश्चन्द्रमसंसम्पूर्णमण्डलमिदानीम्।

अभिभवितुमिच्छति बलाद्.......................(इत्यर्द्धोक्ते)

अन्वय–(क्रूरग्रह: स: केतु: इदानीम् पूर्ण–मण्डलम् चन्द्रमसम् बलात् अभिभवितुम् इच्छति। तु बुध–योग: एनम् रक्षति ।। 6 ।।

भावार्थ - (चन्द्रपक्ष में-) वह अत्यन्त क्रूरग्रह राहु, केतु के साथ–साथ इस समय सम्पूर्ण मण्डलवाले चन्द्रमा को आक्रान्त करना चाहता है–**(इस प्रकार आधी बात कहते हुए)** अर्थात् यह कौन है जो मेरे रहते हुए इस समय चन्द्रगुप्त को बलात् आक्रान्त करना चाहता है?

(नेपथ्ये)

आः क एष मयि स्थिते।

सूत्रधारः- रक्षत्येनं तु बुधयोगः ।।6।।

बहुविकल्पीय प्रश्नः

1. भगवान शिव अपनी जटाओं में छिपी गंगा को किससे छिपाने की कोशिश कर रहे हैं?

(क) लक्ष्मी (ख) पार्वती (ग) सरस्वती (घ) विजय

2. शिव के तांडव नृत्य के समय दहन–भय (जलने के डर) से अपनी दृष्टि कहाँ नहीं जमा रहे?

(क) आकाश में (ख) रंगमंच/भूमंडल पर (ग) पाताल में (घ) समुद्र में

3. मुद्राराक्षस नाटक के कवि विशाखदत्त के पिता का नाम क्या था?

(क) वटेश्वरदत्त (ख) भास्करदत्त (ग) पृथु (घ) चंद्रगुप्त

4. बालीश (मूर्ख) किसान की खेती भी अच्छी भूमि में लहलहा उठती है यह किसने कहा?

(क) चाणक्य (ख) सूत्रधार (ग) नटी (घ) गुप्तचर

लघु उत्तरीय प्रश्नः

1. सूत्रधार के अनुसार मुद्राराक्षस नाटक का अभिनय किस परिषद् (सभा) के सामने किया जाना है?

2. सूत्रधार ने अपनी पत्नी (नटी) को कार्य-आचार्या क्यों कहा है?

3. तांडव के समय शिव अपनी भुजाओं को सिकोड़कर अभिनय क्यों कर रहे हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः

1. सूत्रधार द्वारा दिए गए खेती और किसान के उदाहरण के माध्यम से विशाखदत्त की लेखन कला और नाटक की सफलता के बीच संबंध स्पष्ट कीजिए।

इकाई 3.2

चाणक्य का प्रवेश और क्रोध (श्लोक 6-13)

उद्देश्यः

1. छात्रों को चाणक्य के अद्वितीय एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व, विशेषकर उनकी प्रतिज्ञा एवं नन्द-वंशोन्मूलन के संकल्प से परिचित कराना।

2. चाणक्य के क्रोध के पृष्ठवर्ती राजनैतिक कारणों को स्पष्ट करना, जो वैयक्तिक स्वार्थ हेतु नहीं अपितु राष्ट्र की अखण्डता एवं सुशासन के हेतु है।

3. रङ्गमंच पर एक धूमकेतु के सदृश चाणक्य के प्रवेश के माध्यम से उनके तेज एवं बौद्धिक सामर्थ्य का बोध कराना।

परिणामः

1. छात्र चाणक्य के चरित्र के माध्यम से यह समझ पाएंगे कि राजनीति में दृढ़-निश्चय एवं अनुशासन का क्या महत्त्व है।

2. शिक्षार्थी यह विश्लेषण कर सकेंगे कि एक बुद्धिजीवी की शक्ति शस्त्रों से अधिक उसके ज्ञान एवं संकल्प में सन्निहित होती है।

3. छात्र विशाखदत्त की ओजपूर्ण भाषा शैली, वीर एवं रौद्र रस के प्रयोग तथा कूटनीतिक संवादों का भाषाई ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

नटी- आर्य! कः पुनरेष धरणीगोचरो भूत्वा चन्द्रं ग्रहाभियोगाद्रक्षितुमिच्छति?

सूत्रधारः--आर्ये ! यत् सत्यं मयाऽपि न उपलक्षितो भवतु भूयोऽभियुक्तः स्वरव्यक्तिमुपलप्स्ये। ('क्रूरग्रह' इत्यादि पुनः पठति)

(नेपथ्य में)

अरे ! यह मेरे अर्थात् आचार्य चाणक्य के होते हुए कौन चन्द्रगुप्त को पराजित करना चाहता है!

सूत्रधार- किन्तु बुध का योग चन्द्र की रक्षा कर रहा है ।। 6 ।।

नटी- आर्य ! पुनः यह कौन व्यक्ति है जो चन्द्रमा को चन्द्रग्रहण अर्थात् चन्द्रगुप्त के पराभव के योग से बचाना चाहता है?

सूत्रधारः- आर्ये! सत्य ही, मैं भी नहीं देख पाया। अच्छा ठीक है, फिर से सावधान होकर आवाज को सुनता हूँ। ('क्रूरग्रह.....' **इत्यादि श्लोक पुनः पढ़ता है।**)

(नेपथ्ये)

आः क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति?

सूत्रधारः-(आकर्ण्य) **आर्ये, ज्ञातम् !! कौटिल्यः-**

(नटी भयं नाटयति)

(नेपथ्य में)

अरे ! यह कौन मेरे रहते हुए चन्द्रगुप्त पर बलात् आक्रमण करना चाहता है?

सूत्रधारः- (सुनकर) हाँ; समझ गया ! कौटिल्य है-

(इस प्रकार अपूर्ण बात सुनते ही नटी भय का अभिनय करती है।)

सूत्रधारः--

कौटिल्यः कुटिलमतिः स एष येन
क्रोधाग्नौ प्रसभमदाहि नन्दवंशः।
चन्द्रस्य ग्रहणमिति श्रुते सनाम्नो
मौर्येन्दोर्द्विषदभियोग इत्यवैति ॥ 7 ॥

अन्वय- (एषः सः कुटिल-मतिः कौटिल्यः (चाणक्यः) येन क्रोध-अग्नौ (कोप-अग्नौ) प्रसभम् अर्थात् बलपूर्वकम् नन्द-वंशः अदाहि-दग्धवान्। चन्द्रस्य ग्रहणम् इति श्रुतेः सनाम्नः मौर्य-इन्दोः द्विषद्-अभियोगः इति अवैति जानाति इति। अत्र प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥7॥

भावार्थ - सूत्रधारः -जिसने क्रोधाग्नि मे नन्दवंश को बलपूर्वक जला डाला, वही कुटिल-मति कौटिल्य (चाणक्य) 'चन्द्रग्रहण' इस शब्द के सुनने से समान नाम वाले मौर्यसम्राट् 'चन्द्रगुप्त' पर शत्रु के द्वारा किया गया आक्रमण समझ रहा है ॥ 7 ॥

तदित आवां गच्छावः। (निष्क्रान्तौ)

इति प्रस्तावना।

(ततः प्रविशति मुक्तां शिखां परामृशन् चाणक्यः)

अतः हम दोनो यहाँ से चलते हैं। **(इस प्रकार दोनों निकल जाते हैं।)**

प्रस्तावना समाप्त।

(तदन्तर खुली हुई शिखा का स्पर्श करता हुआ चाणक्य प्रवेश करता है।)

चाणक्यः- कथय क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति बलात्?-

चाणक्य-(अरे) बतलाओ, यह कौन व्यक्ति मुझ चाणक्य के रहते हुए चन्द्रगुप्त को पराजित करना चाहता है?

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां

सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।

जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात् स्फुरन्तीं

को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम् ॥ 8 ॥

अन्वय-(कः जृम्भा-विदारित-उद्घाटितमुखस्य हरेः-सिंहस्य मुखात् आस्वादित-द्विरदशोणित-शोण-शोभाम् शश-लाञ्छनस्य संध्या-अरुणाम् कलाम् इव स्फुरन्तीम् (हरेः) दंष्टाम् परिभूय हर्तुम्-नेतुम् इच्छति। अत्र वसन्ततिलकावृत्तम् वृत्तम्। ।।8।।

भावार्थ - ऐसा कौन व्यक्ति है, जो सोकर उठे जम्भाई लेते हुए मुख फैलाए सिंह के मुख से चन्द्रमा की सन्ध्या की अरुणिमा की कान्ति-सदृश शोभावाली तथा हाथी के लाल-लाल रक्तपान के कारण रक्त से सनी हुई चमचमाती दाढ़ को बलात् उखाड़ने की इच्छा कर रहा है ? ।। 8 ।।

अपि च-

नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहुलनीलधूमलताम्।

अद्यापि बध्यमानां बध्यः को नेच्छति शिखां मे? ॥ 9 ॥

अन्वय- (बध्यः कः नन्द-कुल-काल-भुजगीम्-सर्पिणीम् कोपानल-अर्थात्-क्रोधाग्नि -बहुल-नील-धूम-लताम् मे-अर्थात्-मम् शिखाम् अद्य-अपि बध्यमानाम् न इच्छति। अत्र रूपकालङ्कारः। आर्या वृत्तम्। ।।9।।

और भी-

भावार्थ - कौन मरने के लिए तैयार ऐसा व्यक्ति है जो नन्दवंश के लिए कालरूपिणी नागिन अर्थात् साक्षात मृत्यु जैसी घनी काली धूमलता सदृश मेरी शिखा को अब भी बाँधी जाती हुई देखना नहीं चाहता है ? ।। 9 ।।

अपि च-

उल्लङ्घयन् मम समुज्ज्वलतः प्रतापं

कोपस्य नन्दकुलकाननधूमकेतोः ।

सद्यः परात्मपरिमाणविवेकमूढः कः

शालभेन विधिना लभतां विनाशम् ॥ 10 ॥

अन्वय- मम-मे समुज्ज्वलतः-द्योतमानम् नन्द-कुल-कानन-धूम-केतोः कोपस्य-क्रोधस्य प्रतापम्-पराक्रमम् उल्लङ्घयन्-अतिक्रमन् कः पर-आत्म-परिमाण-विवेक-मूढः शालभेन विधिना सद्यः-शीघ्रम् विनाशम् लभताम्। अत्र रूपकालङ्कारः। वसन्ततिलकावृत्तम्। ।।10।।

और भी-

भावार्थ - अपने तथा पराये सामर्थ्य का ज्ञान न रखने वाला ऐसा कौन मूर्ख है, जो कि जल रहे नन्दवंश रूपी वन के दावानल-सदृश मेरे क्रोध के प्रताप का उल्लंघन अर्थात् अतिक्रमण करता हुआ 'पतङ्गे की मृत्यु' के सदृश तत्काल मरने के लिए तैयार है ? ।। 10 ।।

शार्ङ्गरव शार्ङ्गरव !

शिष्यः- (प्रविश्य) उपाध्याय ! आज्ञापयतु।

चाणक्यः- वत्स! उपवेष्टुमिच्छामि।

शिष्यः- उपाध्याय ! ननु इयं सन्निहितवेत्रासनैव द्वारप्रकोष्ठशाला। तदुपवेष्टुमर्हत्युपाध्यायः।

चाणक्यः--वत्स ! कार्याभिनियोग एवास्मान् व्याकुलयति, न पुनरुपाध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता। (नाट्येनोपविश्यात्मगतम्) कथं प्रकाशतां गतोऽयमर्थः पौरेषु, यथा किल 'नन्दकुलविनाशजनितरोषो राक्षसः पितृवधामर्षितेन सकलनन्दराज्यपरिपणनप्रोत्साहितेन पर्वतक पुत्रेण मलयकेतुना सह सन्धाय तदुपगृहीतेन च महता म्लेच्छराजबलेन परिपरिवृतो वृषलमभियोक्तुमुद्यत' इति। (विचिन्त्य) अथवा येन, मया सर्वलोकप्रकाशं नन्दवंशवधं प्रतिज्ञाय निस्तीर्णा दुस्तरा प्रतिज्ञासरित् सोऽहमिदानीं प्रकाशीभवन्तमप्येनमर्थं न समर्थः किं प्रशमयितुम् ? कुत एतत् ?

यस्य मम-

शार्ङ्गरव ! ओ शार्ङ्गरव !!

शिष्य-(प्रवेश करके) हे आचार्य ! आज्ञा कीजिए।

चाणक्य-वत्स ! बैठना चाहता हूँ।

शिष्य- आचार्य जी! प्रवेश द्वार पर स्थित प्रकोष्ठशाला में वेत्रासन बिछा हुआ है, इसलिए आप

वहाँ पर बैठिए।

चाणक्य-वत्स ! शिष्यजनों के प्रति स्वाभाविक क्रूरता नहीं अपितु शत्रु-विनाशरूप कार्य में आसक्ति ही हमें पीडित कर रही है।

(नाटकीय ढंग से बैठकर, मन ही मन)

यह समाचार नागरिकों में कैसे फैल गया कि- 'नन्दकुल के विनाश के कारण क्रुद्ध राक्षसामात्य पिता (पर्वतक) की हत्या से क्रोधयुक्त, समस्त नन्दराज्य के स्वामित्व प्रदान की शर्त से प्रोत्साहित पर्वतक-पुत्र मलयकेतु के साथ सन्धि कर, उसके द्वारा एकत्र म्लेच्छों की विशाल सेना से परिवृत होकर चन्द्रगुप्त पर आक्रमण करने के लिए उद्यत है।' **(सोचकर)** अथवा जिस मुझ चाणक्य ने सभी लोगों के सामने नन्दवंश के विनाश की प्रतिज्ञा कर उस प्रतिज्ञा रूपी अगम्य नदी को पार कर लिया, वहीं मैं चाणक्य अब लोगों में फैल रहे इस समाचार को शान्त करने के लिए क्या समर्थ नहीं हो सकता ? क्योंकि यह-

श्यामीकृत्याननेन्दूनरिपुयुवतिदिशां सन्ततैः शोकधूमैः

कामं मन्त्रिद्रुमेभ्यो नयपवनहृतं मोहभस्म प्रकीर्य।

दग्ध्वा सम्भ्रान्तपौरद्विजगणरहितान् नन्दवंशप्ररोहान्

दाह्याभावान्न खेदाज्ज्वलन इव वने शाम्यति क्रोधवह्निः॥ 11 ॥

अन्वय- (अरि-युवति-दिशाम्, आनन्-इन्दून् संततैः शोक-धूमैः श्यामीकृत्य मन्त्रि-द्रुमेभ्यः नय-पवन-हतम् कामम् मोह-भस्म-प्रकीर्य, सम्भ्रान्त-पौर-द्विज-गण-रहितान् नन्द-वंश-प्ररोहान् दग्ध्वा वने-ज्वलन इव क्रोध-वह्निः दाह्य-अभावात् खेदात् न। अत्र रूपकालङ्कारः। स्रग्धरा वृत्तम्। ।।11।।

भावार्थ - जिस मुझ चाणक्य की यह क्रोधाग्नि शत्रुओं अर्थात् नन्दों की प्रियतमा रूपी दिशाओं के मुखचन्द्रों को निरन्तर प्रिय-विरहरूपी धुँए से मलिन कर मन्त्री रूपी वृक्षों से राजनीति रूपी वायु द्वारा इकट्ठी की गई मोहरूपी भस्म को जी भरकर बिखेर कर व्याकुल पाटलिपुत्र-निवासी नागरिकरूपी पक्षिसमूहों से रहित नन्दवंशरूपी अंकुरों को जलाकर वन में दावानल जिस प्रकार दहन-शक्ति समाप्त हो जाने से बुझ जाती है, उसी प्रकार शान्त हो रही है, खेद के कारण नहीं ।। 11 ।।

अपि च-

शोचन्तोऽवनतैर्नराधिपभयाद् धिक्शब्दगर्भैर्मुखै

र्मामग्र्यासनतोऽवकृष्टमवशं ये दृष्टवन्तः पुरा।

ते पश्यन्ति तथैव सम्प्रति जना नन्दं मया सान्वयं

सिंहेनेव गजेन्द्रमद्रिशिखरात् सिंहासनात् पातितम् ॥ 12 ॥

अन्वय- पुरा ये नराधिप-भयात् अवनतैः धिक् शब्द-गर्भैः मुखैः शोचन्तः माम्, अग्र-आसनतः अवकृष्टम् अवशम् दृष्टवन्तः। सम्प्रति ते जनाः सिंहेन अद्रि-शिखरात् पातितम् गजेन्द्रम् इव मया सान्वयम् नन्दम् सिंहासनात् तथैव पातितम् पश्यन्ति। अत्र पूर्णोपमालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। ।।12।।

और भी-

भावार्थ - जिन लोगों ने पहले राजा नन्द के भय से धिक्कार शब्दपूर्ण अवनत मुखों से शोक करते हुए विवश होकर मुझ चाणक्य को अपने आसन से उतारा जाते हुए देखा था, वही लोग अब, जैसे सिंह गजराज को पर्वत-शिखर से खींचकर गिराता है, उसी प्रकार राजसिंहासन से सपरिवार नन्द को गिराया हुआ देख रहे हैं। ।। 12 ।।

सोऽहमिदानीमवसितप्रतिज्ञाभरोऽपि वृषलापेक्षया शस्त्रं धारयामि ।

इस प्रकार मैं अब अपना प्रतिज्ञा-भार (नन्दवंश का नाश) पूर्ण करके चन्द्रगुप्त के अनुरोध से शस्त्र धारण कर रहा हूँ।

येन मया-

समुत्खाता नन्दा नव हृदयरागा इव भुवः

कृता मौर्ये लक्ष्मीः सरसि नलिनीव स्थिरपदा।

द्वयोः सारं तल्यं द्वितयमभियुक्तेन मनसा

फलं कोपप्रीत्योर्द्विषति च विभक्तं सुहृदि च ॥ 13 ॥

अन्वय- (भुवः हृदय-रोगाः इव नव नन्दाः समुत्खाताः, सरसि नलिनी-इव एव लक्ष्मीः मौर्ये स्थिर-पदा कृता। कोप-प्रीत्योः द्वयोः सारम् द्वितयम् फलम् अभियुक्तेन मनसा द्विषति च सुहृदि च तुल्यम् विभक्तम्। अत्र संसृष्टिरलङ्कारः। शिखरिणी वृत्तम्। ।13।।

भावार्थ - मै वही चाणक्य हूँ- जिसने इस पृथ्वी के हृदयरोगों के समान आठ पुत्रों सहित नन्द (नौ नन्दों) को नष्ट कर डाला है, तालाब में नलिनी के समान मौर्यवंश के राजकुमार चन्द्रगुप्त में राज्यलक्ष्मी को निश्चल कर दिया है, क्रोध तथा प्रीति दोनों के तत्वभूत न्याय के निग्रह तथा अनुग्रह दोनों परिणामों को शत्रु तथा मित्र दोनों में समान रूप से विभक्त कर दिया है ।। 13 ।।

अथवा, अगृहीते राक्षसे किमुत्खातं नन्दवंशस्य ? किं वा स्थैर्यमुत्पादितं चन्द्रगुप्तलक्ष्म्याः ? (विचिन्त्य) **अहो ! राक्षसस्य नन्दवंशे निरतिशयो भक्तिगुणः, स खलु कस्मिंश्चिदपि जीवति नन्दान्वयावयवे, वृषलस्य साचिव्यं ग्राहयितुं न शक्यते। तदभियोगं प्रति निरुद्योगोऽस्माभिरवस्थापयितुं शक्य इति।**

अनयैव बुद्ध्या तपोवनगतोऽपि घातितस्तपस्वी नन्दवंशीयः सर्वार्थसिद्धिः, यावदसौ मलयकेतुमङ्गीकृत्याऽस्मदुच्छेदाय विपुलतरं प्रयत्नमुपदर्शयत्येव। (प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा) **साधु अमात्य राक्षस ! मन्त्रि बृहस्पते ! साधु । कुतः ?-**

अथवा-राक्षस के पकड़े बिना नंदवंश का उन्मूलन ही क्या? अथवा चन्द्रगुप्त की राज्यलक्ष्मी की स्थिरता की बात क्या? (सोचकर) ओह ! राक्षस का नन्दवंश में अत्यधिक भक्तिगुण आश्चर्यकारी है। निश्चय ही उसका नन्दवंश के एक भी अन्य व्यक्ति के जीवित रहते चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनना सम्भव नहीं । इसलिए उसके उद्योग के प्रति हमें निरुद्यमता स्थापित करनी चाहिए।

इस प्रकार सोचकर ही नन्दवंश के सर्वार्थसिद्धि नामक तपोवन को गए तपस्वी को भी मरवा डाला गया, फिर भी वह मलयकेतु को अपने पक्ष में करके हमारे विनाश के लिए अत्यधिक प्रयत्न युक्त दिख रहा है। (समाने आकाश की ओर एकटक देखकर) धन्य हो मन्त्री राक्षस मंत्रि-बृहस्पति! साधुवाद।

बहुविकल्पीय प्रश्नः

1. चाणक्य ने किसकी शिखा को खुला हुआ बताया है जो अभी बांधी जा रही है?

(क) राक्षस की (ख) अपनी स्वयं की (ग) चंद्रगुप्त की (घ) नंदों की

2. चाणक्य के अनुसार सिंह के मुख से उसकी दाढ़ (दंष्ट्रा) निकालने का दुस्साहस कौन कर रहा है?

(क) मित्र (ख) शत्रु (ग) शिष्य (घ) मृग

3. नंद वंश के अंकुरों को किसने जला दिया?

(क) क्रोध की अग्नि ने (ख) वन की आग ने (ग) वर्षा ने (घ) समय ने

4. चाणक्य ने चंद्रगुप्त के लिए राजलक्ष्मी को किसके समान स्थिर बनाया है?

(क) नदी के समान (ख) तालाब में कमलिनी के समान (ग) आकाश के समान (घ) पर्वत के समान

लघु उत्तरीय प्रश्नः

1. चाणक्य ने नंद वंश के विनाश की तुलना दावानल (जंगल की आग) से क्यों की है?

2. चाणक्य के अनुसार अमात्य राक्षस का सबसे बड़ा गुण क्या है जो उन्हें प्रभावित करता है?

3. शाङ्र्गव चाणक्य का कौन है और वह उन्हें कहाँ बैठने का सुझाव देता है?

4. चाणक्य क्यों कहते हैं कि राक्षस को जीते बिना नंद वंश का विनाश अधूरा है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः

1.चाणक्य के उन श्लोकों का सार लिखिए जिनमें वे अपनी शक्ति और शत्रुओं के प्रति अपने भयनाक संकल्प को प्रकट करते हैं।

इकाई 3.3

गुप्तचर (चर) का प्रवेश और जानकारी (श्लोक 14-19)

उद्देश्यः

1. छात्रों को प्राचीन भारतीय राजनीति में गुप्तचर व्यवस्था के महत्त्व एवं शासन की सुरक्षा में उनकी भूमिका से परिचित कराना।

2. यह स्पष्ट करना कि एक कुशल राजनीतिज्ञ किस प्रकार सूचनाओं का संकलन करता है एवं समाज के विभिन्न वेशों में छद्म रूप से स्थित अपने दूतों का उपयोग करता है।

3. नन्द-वंश के समर्थकों एवं अमात्य राक्षस की योजनाओं को विफल करने हेतु चाणक्य द्वारा बिछाए गए कूटनीतिक जाल का बोध कराना।

परिणामः

1. छात्र यह समझ पाएंगे कि सत्ता के स्थायित्व हेतु केवल सैन्य-बल नहीं, अपितु सटीक सूचना एवं सूचना-तन्त्र (गुप्तवार्ता) अनिवार्य है।

2. शिक्षार्थी चाणक्य की दूरदर्शिता एवं उनकी सूक्ष्म कार्यप्रणाली का विश्लेषण कर सकेंगे, जो उन्हें एक अद्वितीय रणनीतिकार बनाती है।

3. छात्र कूटनीतिक संवादों में प्रयुक्त होने वाली विशिष्ट शब्दावली एवं गुप्त सूचनाओं को सांकेतिक भाषा में व्यक्त करने की कला का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

ऐ श्वर्यादनपेतमी श्वरमयं लोकोऽर्थतः सेवते

तं गच्छन्त्यनु ये विपत्तिषु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठाऽऽशया।

भर्त्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन निःसङ्गया

भक्त्या कार्यधुरं वहन्ति बहवस्ते ते दुर्लभास्त्वादृशाः॥ 14 ॥

अन्वय- (अयम् लोकः ऐश्वर्यात् अनपेतम् ईश्वरम् अर्थतः सेवते, ये विपत्तिषु तम् अनुगच्छन्ति ते पुनः तत् प्रतिष्ठा-आशया ये भर्तुः प्रलये अपि पूर्वसृकृत-आसङ्गेन निःसङ्गया भक्त्या कार्यधुरम् वहन्ति, ते त्वादृशाः बहवः दुर्लभाः। अत्र व्यतिरेकालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। ।।14।।

क्योंकि-

भावार्थ - यह संसार वैभव से सम्पन्न स्वामी (राजा) की सेवा अर्थलाभ के कारण से करता है। पुनः

जो विपत्तियों में भी स्वामी का अनुसरण करते हैं, वे राज्यादि लाभ तथा सम्मान लाभ की आशा से ऐसा करते हैं, किन्तु तुम्हारे सदृश राजकृत्य करने वाले जो मन्त्री अपने स्वामी के प्रलय काल (विनाश) में भी पिछले दिनों के उसके संरक्षणादि उपकारों की स्मृति में निःस्वार्थ भक्ति से कार्यभार (राज्यभार) को वहन करते हैं, दुष्प्राप्य हैं अर्थात् ऐसे लोग अति दुर्लभ हैं। ।। 14 ।।

अत एवास्माकं त्वत्सङ्ग्रहे प्रयत्नः।कथमसौ वृषलस्य साचिव्यग्रहणेन सानुग्रहः स्यादिति कुतः ?

अतएव हमारा यह तुम्हें अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न चल रहा है, कि जिसे मैं तुम्हारे द्वारा चन्द्रगुप्त का मन्त्रिपद स्वीकार कर लेने पर सफल समझूँगा।

अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्यात् सानुरागेण कः ?

प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात् फलम् ।

प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये

ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे सम्पत्सु चापत्सु च ।। 15 ।।

अन्वय- भक्तियुक्तेन अप्राज्ञेन च कातरेण च कः गुणः स्यात् ? प्रज्ञा-विक्रम-शालिनः अपि भक्ति-हीनात् हि किम् फलम् स्यात् ? येषाम् प्रज्ञा-विक्रम-भक्तय समुदिताः गुणाः, ते भृत्याः नृपते भूतये, इतरे सम्पत्सु च आपत्सु च कलत्रम्। अत्र व्यतिरेकालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।।15।।

भावार्थ - बुद्धिहीन तथा पराक्रम शून्य भक्त राजसेवक से क्या लाभ है? और बुद्धि तथा पराक्रम युक्त भक्तिहीन राजसेवक से भी कोई लाभ नहीं होता है, जिन राजसेवकों में बुद्धि, विक्रम अर्थात् पराक्रम तथा भक्ति ये सभी गुण होते हैं, वे ही राजा के लिए कल्याणकारी होते हैं, इससे विपरीत लोग केवल वनितावत् अर्थात् स्त्रीवत् ही संरक्षण पाते हैं, अर्थात् उनसे राजा का किसी भी प्रकार का हित नहीं हो पाता है। ।।15 ।।

यतोहि-

स्वयमावृत्य भुञ्जाना बलिनोऽपि स्वभावतः ।

गजेन्द्राश्च नरेन्द्राश्च प्रायः सीदन्ति दुःखिताः ।। 16 ।।

अन्वय- स्वयम् आहत्य भुंजानाः स्वभावतः बलिनः अपि गजेन्द्राः च नरेन्द्राः च प्रायः दुःखिताः सीदन्ति। अत्र दीपकालङ्कारः। अनुष्टुप् वृत्तम्। ।।16।।

क्योंकि-

भावार्थ - स्वभाव से ही स्वयं शासन अर्थात् राजसुख का भोग कर रहे राजा लोग तथा मत्त हस्ती स्वभाव से बलशाली होकर भी प्रायः दुःखित एवं खिन्न रहा करते हैं ।। 16 ।।

(ततः प्रविशति सह यमपटेन चरः)

प्रणमत यमस्य चरणौ किं कार्यं देवैरन्यैः।

एष खल्वन्यभक्तानां हरति जीवं परिस्फुरन्तम् ॥ 17 ॥]

अन्वय-(यमस्य चरणौ प्रणम अन्यैः दैवतैः किम् कार्यम् ? एषः अन्यभक्तानाम् परिस्फरन्तम् जीवम् हरति। ।17।।

अपि च]

पुरुषस्य जीवितव्यं विषमाद् भवति भक्तिगृहीतात्।

मारयति सर्वलोकं यस्तेन यमेन जीवामः॥ 18 ॥

अन्वय- (भक्ति-गृहीतात् विषमात् पुरुषस्य जीवितव्यम् भवति। यः सर्व-लोकम् मारयति, तेन यमेन जीवामः।।18।।

(तदनन्तर यम का चित्र लिए हुए चर का प्रवेश)

भावार्थ - चर (दूत)- यह यमराज अन्य देवों के भक्तों के प्राणों को हर लेता है इसलिए यमराज के दोनों चरणों को प्रणाम करो; अन्य देवताओं को प्रणाम करने से क्या प्रयोजन है? अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं है ।। 17 ।।

और भी-

भक्ति द्वारा प्रसन्न करने से क्रूर यमराज से मानव मात्र का जीवन बना रहता है अतः जो यम समस्त चराचर जगत् का विनाश करता है, उस यम की कृपा से हम जीवित बने रहते हैं ।। 18 ।।

तस्मादिदं गृहं प्रविश्य यमपटं दर्शयन् गायामि । (इति परिक्रामति।)

शिष्यः-(विलोक्य) **भद्र ! न प्रवेष्टव्यम्।**

चरः- अहो ब्राह्मण! कस्येदं गृहम् ?

शिष्यः- अस्माकमुपाध्यायस्य सुगृहीतनाम्न आर्यचाणक्यस्य।

अतः यह घर है, इसमें प्रवेश कर यम के चित्र दिखलाते हुए गाता हूँ। (यह कहकर घूमता है।)

शिष्य-(देखकर) भद्र! प्रवेश मत करिए ।

चर-हे विप्रदेव! यह किसका घर है?

शिष्य-ये हमारे उपाध्याय स्वनामधन्य आचार्य चाणक्य का है।

चरः-अहो ब्राह्मण! आत्मीयस्यैव एतद् धर्मभ्रातुर्गृहं भवति। तस्माद् देहि मे प्रवेशं, यावत् तवोपाध्यायस्य यमपटं प्रसार्य धर्ममुपदिशामि।

शिष्यः- (सक्रोधम्) **धिङ् मूर्ख ! किं भवान् अस्मदुपाध्यायादपि धर्मवित्तरः?**

चरः- अहो ब्राह्मण! मा कुप्य; न हि खलु सर्वः सर्वं जानाति, तत् किमपि ते उपाध्यायो जानाति, किमपि अस्मादृशा अपि जानन्ति।

चर-(हँसकर) हे विप्रदेव! यह अपने सम्बन्धी धर्मबन्धु का ही घर है, अतः मुझे अन्दर जाने दीजिए तथा मैं कुछ समय तुम्हारे उपाध्याय को धर्मोपदेश ही दे दूँ।

शिष्य-(क्रुद्ध होकर) रे मूर्ख! धिक्कार है । क्या आप हमारे उपाध्याय जी से भी बढ़कर धर्मवेत्ता अर्थात् धर्म को जानने वाले हैं ?

चर-हे विप्रदेव ! क्रोध मत करो! सभी लोग सब कुछ नहीं जानते हैं। अतः कुछ तुम्हारे उपाध्याय जानते हैं और कुछ हमारे जैसे व्यक्ति भी जानते हैं।

शिष्यः-(सक्रोधम्) **मूर्ख ! सर्वज्ञतामुपाध्यायस्य चोरयितुमिच्छसि ?**

चरः- अहो ब्राह्मण ! यदि तवोपाध्यायः सर्वं जानति, जानतु तावत् कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति।

शिष्यः-मुर्ख ! किमनेन ज्ञातेनाज्ञातेन वा।

चरः- अहो ब्राह्मण ! तवोपाध्याय एव ज्ञास्यति यदेतेन ज्ञातेन भवति, त्वं तावद् एतावत् जानासि, कमलानां चन्द्रोऽनभिमत इति। ननु पश्य-

शिष्य-(क्रुद्ध होकर) मूर्ख ! हमारे आचार्य जी की सर्वज्ञता को चुराना चाहता है।

चर-हे विप्रदेव ! यदि तुम्हारे उपाध्याय जी सब कुछ जानते हैं तब वे यह बतलायें कि चन्द्र किसको अनभिमत अर्थात् अप्रिय होता है?

शिष्य-मूर्ख ! चन्द्र के अप्रिय होने वाले ज्ञान से गुरु जी को क्या लाभ होगा ?

चर-हे विप्रदेव ! तुम्हारे उपाध्याय ही जान सकेंगे कि उसके जानने से क्या लाभ है? तुम तो केवल इतना ही जानते हो कि कमलों के लिए ही 'चन्द्र' अनभिप्रेत अर्थात् अप्रिय होता है। निश्चय ही देखो-

कमलानां मनोहराणामपि रूपाद्विसंवदति शीलम्।

सम्पूर्णमण्डलेऽपि यानि चन्द्रे विरुद्धानि ॥ 19 ॥]

अन्वय- (मनोहराणाम् अपि कमलानाम् शीलम् रूपात् विसंवदति। यानि सम्पूर्ण-मण्डले अपि चन्द्रे विरुद्धानि। ।19।।

भावार्थ - मनोरम कमलों का शील अर्थात् स्वभाव उनके रूप (सौन्दर्य) से विपरीत होता है, क्योंकि कमल सम्पूर्ण मण्डल वाले 'चन्द्र' के विरुद्ध होते हैं अर्थात् चन्द्रोदय होने पर कमल का खिलना होता है ।। 19 ।।

चाणक्यः-(आकर्ण्य आत्मगतम्) अये ! चन्द्रगुप्ताद् अपरक्तान् पुरुषान् जानामि इति उपक्षिप्तमनेन।

शिष्यः-मूर्ख ! किमिदमसम्बद्धमभिधीयते ?

चरः-- अहो ब्राह्मण ! सुसम्बद्धमेवैतद् भवेत्।

शिष्यः-यदि किं स्यात् ?

चरः- यदि शृण्वन्तं जानन्तञ्च जनं लभे ।

चाणक्यः-(विलोक्य) भद्र ! सुखं प्रविश, लप्स्यसे श्रोतारं ज्ञातारञ्च।

चरः- एष प्रविशामि। जयतु जयत्वार्यः।

चाणक्य-(सुनकर, मन ही मन) अहो! 'चन्द्रगुप्त' से विरुद्ध पुरुषों को मैं जानता हूँ' इससे ऐसा ही सूचित हो रहा है।

शिष्य-मूर्ख! यह असङ्गत बात क्या कर रहे हो ?

चर- हे विप्रदेव ! यह सुसंगत (सीधी बातें) ही लगती।

शिष्य-किस प्रकार सुसंगत अर्थात् सीधी लगती ?

चर-यदि सुनने वाले और जानने वाले को मैं पा सकूँ

चाणक्यः-(देखकर) भद्र ! सुख से प्रवेश करो। श्रोता तथा ज्ञाता पा सकोगे।

चर-(प्रवेश कर, समीप जाकर) यह प्रवेश कर रहा हूँ। आर्य की जय हो, जय हो ।

चाणक्यः-(विलोक्य आत्मगतम्) अये! कथमयं प्रकृतिचित्तपरिज्ञाने नियुक्तो निपुणकः।

(प्रकाशम्) भद्र ! स्वागतम् । उपविश्यताम्।

चरः- यदार्याऽऽज्ञापयतीति । (भूमावुपविशति।)

चाणक्यः-भद्र ! उपवर्णय इदानीं स्वनियोगवृत्तान्तम्। अपि वृषलमनुरक्ताः प्रकृतयः?

चरः- अथ किम् ? आर्येण खलु तेषु तेषु विरागकारणेषु परिहृतेषु सुगृहीतनामधेये देवे चन्द्रगुप्ते दृढमनुरक्ताः प्रकृतयः। किन्तु पुनः अस्ति अत्र नगरे अमात्यराक्षसेन सह प्रथमं समुत्पन्नस्नेहबहुमानास्त्रयः पुरुषाः, ये देवस्य चन्द्रश्रियः श्रियं न सहन्ते।

चाणक्यः- (सक्रोधम्) ननु वक्तव्यं 'स्वजीवितं न सहन्ते' इति।

भद्र ! अपि ज्ञायन्ते नामधेयतः ?

चरः-कथमज्ञातनामधेया आर्यस्य निवेद्यन्ते?

चाणक्यः-तेन हि श्रोतुमिच्छामि ।

चाणक्य-(देखकर, मन ही मन) क्या कार्यो की अधिकता के कारण किसी जानकारी के लिए नियुक्त निपुणक को मैं नहीं जान पा रहा हूँ। हाँ; समझ गया ।

(प्रकट रूप में) भद्र! आपका स्वागत है। बैठिए।

चर-महाराज की जैसी आज्ञा। **(यह कहकर भूमि पर ही बैठ जाता है।)**

चाणक्य-भद्र! अब अपनी बात बतलाओ। प्रजा चन्द्रगुप्त पर अनुरक्त तो है?

चर-और क्या? आपके द्वारा उन सभी विराग कारणों को दूर कर देने पर प्रजाजन देव चन्द्रगुप्त पर दृढ़ अनुराग अर्थात् अत्यधिक प्रीति करने लगे हैं। लेकिन फिर भी इस पाटलिपुत्र नगर में तीन व्यक्ति ऐसे हैं, जो कि आमत्य राक्षस के परम मित्र और अत्यन्त सम्मान युक्त हैं, वे सम्राट् चन्द्रगुप्त के वैभव को सहन नहीं कर सकते।

चाणक्य-(क्रुद्ध होकर) तुम्हें स्पष्ट कहना चाहिए कि कौन व्यक्ति है जो जीवित रहना नहीं चाहते हैं? क्या आप उन्हें नाम से जानते हैं ?

चर-नाम जाने बिना आपको कैसे बतलाया जा सकता है।

चाणक्य-तब तो सुनना चाहता हूँ।

चरः- शृणोत्वार्यः, प्रथमं तावदार्यस्य रिपुपक्षे बद्धपक्षपातः क्षपणकः जीवसिद्धिः।

चाणक्यः-(सहर्षमात्मगतम्) **अस्मद्रिपुपक्षे बद्धपक्षपातः क्षपणकः।**

चरः- जीवसिद्धिः नाम स येन सा अमात्यराक्षसेन प्रयुक्ता विषकन्या देवे पर्वतेश्वरे

समवेशिता॥

चर–सुनिये महाराज ! सर्वप्रथम तो आपके शत्रुपक्ष में स्नेह रखने वाला क्षपणक है।

चाणक्य–(सहर्ष, मन ही मन) हमारे शत्रुपक्ष में अनुरक्त क्षपणक

चर–उसका नाम जीवसिद्धि है। क्योंकि उसने ही अमात्य राक्षस द्वारा प्रयुक्त विषकन्या को महाराज पर्वतेश्वर को मारने के लिए लगा दिया।

चाणक्यः–(स्वगतम्) **जीवसिद्धिरेष तावत् अस्मत्प्रणिधिः। (प्रकाशम्) भद्र ! अथ अपरः कः?**

चर– आर्य! अपरः खलु अमात्यराक्षसस्य प्रियवयस्यः कायस्थः शकटदासो नाम।

चाणक्य–(विहस्यात्मगतम्) कायस्थ इति लघ्वी मात्रा, तथामि न युक्तं प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुम्। तस्मिन् मया सुहृच्छेद्मना सिद्धार्थको निक्षिप्तः। (प्रकाशम्) भद्र ! तृतीयं श्रोतुमिच्छामि।

चरः– तृतीयोऽपि अमात्यराक्षसस्य द्वितीयमिव हृदयं पुष्पपुरवासी पणिकारश्रेष्ठी चन्दनदासो नाम। यस्य गेहे कलत्रं न्यासीकृत्य अमात्यराक्षसो नगरादपक्रान्तः।

चाणक्यः–(आत्मगतम्) **नूनं सुहृत्तमः, न हि अनात्मसदृशेषु राक्षसः कलत्रं न्यासीकरिष्यति।** (प्रकाशम्) **भद्र ! 'चन्दनदासस्स गृहे राक्षसेन कलत्रं न्यासीकृतं इति कथमवगम्यते?**

चरः– (मुद्रामर्पयति) **आर्य ! इयमङ्गुलिमुद्रा आर्यमवगतार्थं करिष्यति।**

चाणक्यः–(मुद्रामवलोक्य गृहीत्वा राक्षसस्य नाम वाचयित्वा। सहर्षं स्वागतम्) **ननु वक्तव्यं राक्षस एव अस्मदङ्गुलिप्रणयी संवृत्त इति । (प्रकाशम्) भद्र ! अङ्गुलिमुद्राधिगमं विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि।**

चरः– श्रृणोतवार्यः, अस्ति तावदहमार्येण पौरजनचरित्रदर्शने नियुक्तः परगृहप्रवेशे परस्य अनाशङ्कनीयेनानेन यमपटेन आहिण्डमानो मणिकारश्रेष्ठिचन्दनदासस्य गृहं प्रविष्टोऽस्मि। तत्र यमपटं प्रसार्य प्रवृत्तोऽस्मि गीतानि गातुम्–

चाणक्य–(मन ही मन) यह जीवसिद्ध तो हमारा गुप्तचर है। **(प्रकट रूप में)** भद्र ! और दूसरा कौन है ?

चर–आर्य ! दूसरा अमात्य राक्षस का प्रिय मित्र शकटदास नाम का कायस्थ है।

चाणक्य–(हँसकर, मन ही मन) कायस्थ तो बहुत छोटा है फिर भी साधारण शत्रु की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उस शकटदास के लिए मैंने बनावटी मित्र के रूप में सिद्धार्थक को नियुक्त कर रखा है। (प्रकट रूप में) भद्र ! तीसरा नाम भी सुनना चाहता हूँ।

चर-तीसरा अमात्य राक्षस का परम मित्र पुष्पपुर निवासी मणिकार (जौहरी) चन्दनदास है, जिसके घर में अपनी पत्नी (परिवार) को सुरक्षित रखकर अमात्य राक्षस नगर से बाहर निकल गया है।

चाणक्य-(मन ही मन) निश्चय ही यह राक्षस का परम मित्र है क्योंकि वह साधारण लोगों के यहाँ राक्षस अपने परिवार को नहीं छोड़ेगा। (प्रकट रूप में) अच्छा, चन्दनदास के घर राक्षस ने बच्चों को छोड़ रखा है ऐसा आपको कैसे पता चला ?

चर-आर्य ! यह अंगुलीयक मुद्रा (अंगूठी) आपको सब कुछ बता देगी। (अँगूठी देता है।)

चाणक्य-(अँगूठी देखकर लेकर तथा राक्षस का नाम पढ़कर सहर्ष मन में) तब तो निःसन्देह राक्षस ही हमारी अँगुली की शोभा बन गया है अर्थात् हमारे हाथ में आ गया है। (प्रकट रूप में) अच्छा, मैं अंगूठी प्राप्त करने का वृत्तान्त विस्तार से सुनना चाहता हूँ।

चर-आप सुनिए। आपने मुझे नगरवासियों की गतिविधि देखते रहने के लिए नियुक्त किया था। तब मैंने "दूसरे के घर में प्रवेश करने पर और कोई न होने का संदेह दूसरे लोग न करें" इस निमित्त सेठ चन्दनदास के घर में घुसा और इस यम-चित्र फैलाकर गीत गाने लगा।

चाणक्यः-ततः किम् ?

चरः-ततश्च एकस्मात् आवरकात् पञ्चवर्षदेशीयः प्रियदर्शनीयशरीराकृतिः कुमारको बालत्व जनसुलभकौतूहलोत्फुल्लनयनो निष्कमितुं प्रवृत्तः, ततः 'हा निर्गतः हा निर्गतः' इति शङ्कापरिग्रहनिवेदयिता। तस्यैव आवरकस्याभ्यन्तरे स्त्रीजनस्य उत्थितो महान् कलकलः। तत ईषद्द्वारदेशदापितमुख्या एकया स्त्रिया स कुमारको निष्कामन्नेव निर्भत्स्र्यावलम्बितः कोमलया बाहुलतया। तस्यश्च कुमारसंरोधसम्भ्रमप्रचलिताङ्गुलेः करात् पुरुषाङ्गुलिपरिणाहप्रमाणघटिता। विगलितेयमङ्गुलिमुद्रिका देहलीबन्धे निपतिता उत्थिता तया स्त्रिया अनवबुध्यमानैव मम चरणपार्श्वे समागत्य प्रणामनिभृता नववधूरिव निश्चला संवृत्ता। मयाऽपि अमात्यराक्षसस्य नामाङ्कितेति आर्यस्य पादमूलं प्रापिता, तस्मात् एषोऽस्या मुद्राया आगम इति।

चाणक्य-फिर क्या हुआ?

चर-तदन्तर एक गवाक्ष अर्थात् खिड़की से पाँच वर्ष की आयु वाला मनोरम शरीराकृति वाला बालक बालजन-सुलभ कौतूहल से विकसित नयन युगल किये बाहर निकलने लगा। तब 'हाय निकल गया, हाय निकल गया।'-इस प्रकार घबराहट से भरा हुआ, उसी गवाक्ष के अन्दर स्त्रियों का महान् कोलाहल उठ खड़ा हुआ। तदनन्तर थोड़ा सा द्वार की ओर मुँह किए हुए एक स्त्री के द्वारा वह बालक निकलते ही डाँट-फटकार कर कोमल बाहुलता द्वारा पकड़ लिया गया। बालक को पकड़ने के कारण चंचल अँगुलियों वाली उस स्त्री के हाथ से पुरुष की अँगुली की मोटाई की नाप से बनी यह अँगूठी देहली (डेहरी) पर निकल कर गिर गई। वह स्त्री यह सब अँगूठी का गिरना न जान सकी तथा अँगूठी

मेरे पाँव के निकट आकर ऐसे गिर गई मानो कोई नवीन वधू प्रणाम कर रही हो। मैं भी अमात्य राक्षस की नामाङ्कित यह अँगूठी आपके पास ले आया हूँ। इस प्रकार यह अँगूठी मेरे हाथ लग सकी है।

चाणक्यः-भद्र ! श्रुतम् । अपसर, न चिरादस्य परिश्रमस्यानुरूपं फलमधिगमिष्यसि ।

चरः-- । यदार्य आज्ञापयति इति। (इति निष्क्रान्तः ।)

चाणक्यः--शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !

शिष्यः--(प्रविश्य) उपाध्याय ! आज्ञापय ।

चाणक्यः-वत्स ! मसीभाजनं पत्रं चोपानय ।

चाणक्य-भद्र ! सुन चुका। जाओ, शीघ्र ही तुम इस परिश्रम के अनुकूल पुरस्कार पाओगे।

चर-जो आज्ञा महाराज ! (यह कहकर निकल जाता है।)

चाणक्य-शार्ङ्गरव ! ओ शार्ङ्गरव !!

शिष्य-(प्रवेश कर) उपाध्याय जी ! आज्ञा दीजिए।

चाणक्य-वत्स ! दवात तथा कागज ले आओ।

शिष्यः-यदाज्ञापयत्युपाध्यायः। (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य)

उपाध्याय ! इदं मसीभाजनं पत्रं च।

चाणक्यः- (पत्रम् गृहीत्वा स्वगतम्) **किमत्र लिखामि ? अनेन खलु लेखेन राक्षसो जेतव्यः।**

प्रतिहारी--(प्रविश्य) । **जयतु जयत्वार्यः।**

चाणक्यः-(सहर्षमात्मगतम्) **गृहीतो जयशब्दः।** (प्रकाशम्) **शोणोत्तरे! किमागमनप्रयोजनम्?**

प्रतिहारी- आर्य! देवश्चन्द्रश्रीः शीर्षे कमलमुकुलाकारमञ्जलिं निवेश्य आर्य विज्ञापयति। इच्छाम्यहमार्येण अभ्यनुज्ञातो देवस्य पर्वतेश्वरस्य पारलौकिकं कर्त्तुम्, तेन च धारितपूर्वाणि आभरणानि ब्राह्मणानां प्रतिपादयामि इति।

चाणक्यः- (सहर्षमात्मगतम्) **साधु वृषल ! साधु । ममैव हृदयेन सह संमन्त्र्य सन्दिष्टवानसि।** (प्रकाशम्) **शोणोत्तरे ! उच्चताम् अस्मद्वचनाद् वृषलः। साधु, वत्स ! अभिज्ञः खल्वसि लोकव्यवहाराण ाम्। तदनुष्ठीयतामात्मनोऽभिप्रायः, किन्तु पर्वते श्वरधृतपूर्वाणि भूषणानि गुणवन्ति गुणवद्भ्य एव ब्राह्मणेभ्यः प्रतिपादनीयानि । तद् अहं स्वयं परीक्षितगुणान् ब्राह्मणान् प्रेषयामि इति।**

प्रतिहारी- यदार्थ आज्ञापयतीति ।

चाणक्यः -शार्ङ्गरव! उच्यन्ताम् अस्मद्वचनाद् विश्वावसुप्रभृतयस्त्रयो भ्रातरो वृषलात्प्रतिगृह्याभरणानि भवद्भिरहं द्रष्टव्य इति ।

शिष्यः- यदाज्ञापयत्युपाध्यायः । (इति निष्क्रान्तः)

शिष्यः- गुरुजी की जो आज्ञा ! (यह कहते हुए निकलकर तथा पुनः प्रवेश कर)

आचार्य जी ! यह दावात तथा कागज ले आया हूँ।

चाणक्य-(लेकर, मन ही मन) इस पर क्या लिखूँ ? इस लेख से निश्चय ही राक्षस को जीतना है।

प्रतिहारी-(प्रवेश कर) उपाध्याय जी की जय हो । जय हो ।

चाणक्य-(सहर्ष, मन ही मन) अभीष्ट 'जय' तो वास्तव में मिल गई।

(प्रकट रूप में) हे शोणोत्तरे ! तुम्हारा यहाँ आना कैसे हुआ ?

प्रतिहारी-आर्य ! महाराज चन्द्रगुप्त ने कमलमुकुल सदृश, प्रणामाञ्जलि शिर से लगाकर आप से निवेदन किया है कि महाराज पर्वतेश्वर का पारलौकिक कर्म जैसे श्राद्ध आदि करना चाहते हैं तथा उस श्राद्धादि कर्म में पूर्व पहने हुए समस्त आभूषण ब्राह्मणों को दान करना चाहते हैं।

चाणक्य-(प्रसन्नता से, मन ही मन) शाबास वृषल, शाबास। मेरे ही हृदय की बात सोंचकर तुमने सन्देश भेजा है। **(प्रकट रूप में)** हे शोणोत्तरे ! मेरी आज्ञा से वृषल अर्थात् चन्द्रगुप्त से कह देना कि हे वृषल ! तुम धन्य हो। तुम लोकव्यवहारों को भलीभाँति जानते हो। अतः अपना अभिप्राय पूर्ण करो । किन्तु महाराज पर्वतेश्वर द्वारा धारण किये गये आभूषण बहुमूल्य हैं, अतः इसके लिए गुणवान् ब्राह्मणों को भेज रहा हूँ ।

प्रतीहारी-आर्य की जैसी आज्ञा ।

चाणक्य-हे शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !! मेरे कहने से विश्वासु आदि तीनों भाइयों से कह दो कि उन्हें सम्राट् चन्द्रगुप्त से आभूषण प्राप्त कर मुझसे मिलना है।

शिष्य-उपाध्याय जी की जो आज्ञा ! (यह कहकर निकल जाता है।)

बहुविकल्पीय प्रश्नः

1. गुप्तचर (चर) ने हाथ में क्या ले रखा था?

(क) तलवार (ख) यमराज का चित्र (ग) सोने की मुद्रा (घ) शंख

2. गुप्तचर के अनुसार यमराज किनके प्राणों को हरता है?

(क) अपने भक्तों के (ख) अन्य देवताओं के भक्तों के (ग) केवल शत्रुओं के (घ) ब्राह्मणों के

3. पाटलिपुत्र नगर में राक्षस का द्वितीय हृदय किसे कहा गया है?

(क) शकटदास (ख) जीवसिद्धि (ग) सेठ चंदनदास (घ) सिद्धार्थक

4. कमलों के लिए चंद्रमा (अप्रिय) होता है इस गुप्त संदेश का अर्थ क्या है?

(क) कमल सुंदर हैं (ख) कुछ लोग चंद्रगुप्त के विरोधी हैं (ग) रात हो गई है (घ) चंद्रमा उदय हो रहा है

लघु उत्तरीय प्रश्नः

1. गुप्तचर ने चाणक्य के शिष्य को धर्मोपदेश देने का बहाना क्यों बनाया?

2. जीवसिद्धि नामक क्षपणक (साधु) ने राक्षस के साथ मिलकर क्या षड्यंत्र रचा था?

3. कायस्थ शकटदास के प्रति चाणक्य की क्या योजना थी?

4. चंदनदास के घर में राक्षस ने अपना परिवार न्यास(धरोहर) के रूप में क्यों रखा था?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः

1. गुप्तचर और चाणक्य के बीच हुई बातचीत के आधार पर स्पष्ट कीजिए कि चाणक्य का जासूसी तंत्र किस प्रकार काम करता था।

इकाई 3.4

मुद्रा (अंगूठी) की प्राप्ति और षड्यंत्र (श्लोक 20–27)

उद्देश्यः

1. छात्रों को नाटक के शीर्षक मुद्राराक्षस की सार्थकता एवं कथावस्तु में मुद्रा (अङ्गुलीयक) के विशेष महत्त्व से परिचित कराना।

2. यह स्पष्ट करना कि एक क्षुद्र वस्तु (अङ्गुलीयक) किस प्रकार गुरुतर राजनैतिक षड्यंत्रों का अंश बन सकती है एवं शत्रु-पराभव का साधन सिद्ध होती है।

3. चाणक्य की अयुद्ध-विजय की नीति एवं उनकी सूक्ष्म कूटनीति के रहस्यों का बोध कराना।

परिणामः

1. छात्र यह विश्लेषण कर पाएंगे कि कूटनीति में मनोवैज्ञानिक श्रेष्ठता प्राप्त करना शारीरिक बल की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है।

2. शिक्षार्थी यह समझ सकेंगे कि चाणक्य ने किस प्रकार राक्षस के अङ्गुलीयक का प्रयोग कर उसे उसके ही व्यूह में फँसाने की योजना निर्मित की।

3. छात्र नाट्य-सन्धियों एवं विशाखदत्त द्वारा रचित रहस्यात्मक संवादों की भाषाई संरचना एवं प्रतीकात्मक अर्थों को समझ सकेंगे।

चाणक्यः--(स्वगतम्) **उत्तरोऽयं लेखार्थः पूर्वः कथमस्तु ? (विचिन्त्य) आ ! ज्ञातः, उपलब्धवानस्मि प्रणिधिभ्यः, यथा तस्य म्लेच्छराजलोकस्य मध्यात् प्रधानतमाः पञ्चराजानः परया भक्त्या राक्षसमनुवर्त्तन्ते। ते यथा–**

चाणक्य–(मन में) यह तो लेख का अन्तिम अभिप्राय है; इसका प्रारम्भ कैसा हो सकता है ? (सोचकर) हाँ! समझ गया। गुप्तचरों द्वारा मुझे पता लग गया है कि उस म्लेच्छराज की सेना के पाँच प्रमुख राजा बड़ी भक्ति से नन्दामात्य राक्षस का पीछा कर रहे हैं । वे हैं–

कौलूतश्चित्रवर्मा मलयनरपतिः सिंहनादो नृसिंहः

काश्मीरः पुष्कराक्षः क्षतरिपुमहिमा सैन्धवः सिन्धुषेणः।

मेघाक्षः पञ्चमोऽस्मिन् पृथुतुरगबलः पारसीकाधिराजो

नामान्येषां लिखामि ध्रुवमहमधुना चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु ॥ 20 ॥

अन्वय-(कौलूतः चित्रवर्मा, नृसिंहः मलयनरपतिः सिंहनादः काश्मीरः पुष्कराक्षः क्षत-रिपु-महिमा सैन्धवः सिन्धुषेणः पृथु-तुरग-बलः पारसीकाधिराजः मेघाख्यः पञ्चमः, अस्मिन् अहम् ध्रुवम् अधुना एषाम् नामानि लिखामि, चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टुः। अत्रार्थापत्तिलङ्कारः। स्रग्धरा वृत्तम्। ।।20।।

भावार्थ - कुलूत देश के राजा चित्रवर्मा, मलयनरपति वीरवर सिंहनाद, कश्मीर-देशाधिपति पुष्कराक्ष, शत्रुओं की महिमा मिटाने वाले सिन्धुराज सिन्धुषेण तथा पाँचवे विशाल अश्वसैन्य वाले फारस के मेघाक्ष नाम के राजा, जिनके नाम मैं अब इस पत्र पर अंकित कर रहा हूँ, निःसन्देह उन्हें चित्रगुप्त अपने मंत्रियों द्वारा मिटा देंगे ।। 20 ।।

(विचिन्तय) **अथवा न लिखामि, पूर्वम् अनभिव्यक्तमेव तावदास्ताम्।**

(प्रकाशम्) **शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !**

शिष्यः-(प्रविश्य) उपाध्याय ! आज्ञापय।

चाणक्यः-वत्स ! श्रोत्रियाक्षराणि प्रयत्नेन लिखितान्यपि नियतमस्फुटानि भवन्ति, तदुच्यताम् अस्मद्वचनात् सिद्धार्थकः। 'एभिरक्षरैः केनापि, कस्यापि स्वयं वाच्यम्' इति, अदत्तबाह्यनामानं लेखं शकटदासेन लेखयित्वा मामुपतिष्ठस्व। न चाख्येयमस्मै चाणक्यो लेखयतीति ।

शिष्यः-तथेति । (निष्क्रान्तः)

चाणक्यः-(स्वागतम्) **हन्त ! जितो मलयकेतुः ।**

(लेखहस्तः प्रविश्य)

सिद्धार्थकः-जयतु आर्य ! अयं सः शकटदासेन लिखितो लेखः।

(सोचकर) अथवा नहीं लिखूँगा। सब कुछ तब तक गुप्त ही बना रहना चाहिए। (प्रकट रूप में) शार्ङ्गरव ! ओ शार्ङ्गरव !! (प्रवेश कर)

शिष्य-उपाध्याय ! आज्ञा दीजिए।

चाणक्य-वत्स ! वेदपाठी मुझ चाणक्य के अक्षर प्रयत्न करके भी लिखे हुए होकर भी निश्चित रूप से अस्पष्ट ही होते हैं। अतः मेरे कहने से सिद्धार्थक से कह दो (कान में कुछ कहकर) 'इन अक्षरों से किसी के द्वारा किसी के लिए कुछ भी लिखा गया है, परन्तु है अपठनीय (व्यक्तिगत पत्र)'। पत्र के ऊपर नामादि कुछ न लिखा हो, ऐसा शकटदास से पत्र लिखवा कर मेरे पास आ जाओ । परन्तु यह किसी से नहीं कहना कि यह पत्र चाणक्य लिखवा रहे हैं।

शिष्य-ऐसी ही करता हूँ। (यह कहकर निकल जाता है।)

चाणक्य-(मन ही मन) अहा ! मलयकेतु को जीत लिया।

सिद्धार्थक-(हाथ में पत्र लिए हुए, प्रवेश कर) जय हो, जय हो। महाराज ! शकटदास के द्वारा लिखा गया वह पत्र यह लीजिए।

चाणक्यः-(गृहीत्वा) **अहो ! दर्शनीयान्यक्षराणि ।(इत्यनुवाच्य) भद्र ! अनया मुद्रया मुद्रयैनम् ।**

सिद्धार्थकः- यदार्य आज्ञापयति। (तथा कृत्वा) **आर्य ! अयं स मुद्रितो लेखः, किमपरमनुष्ठीयतामिति ?**

चाणक्यः-भद्र ! कस्मिंश्चित् आत्मनाऽनुष्ठये कर्मणि त्वां व्यापारयितुमिच्छामि ।

चाणक्य- (लेकर तथा देखकर) अक्षरों की सुन्दरता धन्य है ! (पढ़कर) भद्र ! इससे अर्थात् राक्षसनामाङ्कित मुद्रा से इस पर मोहर लगा दो ।

सिद्धार्थक- महाराज की जैसी आज्ञा । (मोहर लगाकर) आर्य ! यह रहा मुद्राङ्कित वह पत्र। अतः आज्ञा दीजिए कि अन्य क्या कार्य किया जाए ?

चाणक्य- भद्र ! मैं अपने किसी विशेष कार्य में तुम्हें लगाना अर्थात् नियुक्त करना चाहता हूँ ।

सिद्धार्थकः- (सहर्षम्) **आर्य ! अनुगृहीतोऽस्मि, तदाज्ञापयतु आर्यः, किमनेन दासजनेन आर्यस्यानुष्ठातव्यम् ?**

चाणक्यः- भद्र ! प्रथमं तावत् वध्यस्थानं गत्वा घातकाः सरोषं दक्षिणाक्षिसङ्कोचसंज्ञां ग्राहयितव्याः। ततस्तेषु गृहीतसंज्ञेषु भयापदेशादितस्ततः प्रद्रुतेषु शकटदासो वध्यस्थानादपनीय राक्षसं प्रापयितव्यः तस्माच्च सुहृत्प्राणरक्षणपरितुष्टात् पारितोषिकं ग्राह्यम्, राक्षस एव कं श्चित् कालं सेवितव्यः, ततः प्रत्यासन्नेषु परेषु प्रयोजनमिदमनुष्ठेयम् । (कर्णे एवमेवम्)

सिद्धार्थ- (प्रसन्नता के साथ) महाराज ! यह तो आपकी कृपा है । आर्य ! आज्ञा दें, इस सेवक को आर्य का कौन-सा कार्य करना है ?

चाणक्य- भद्र ! सर्वप्रथम तो तुम्हें वध्य स्थान पर जाना है और वहाँ घातक पुरुषों अर्थात् जल्लादों को रोष पूर्वक दाहिनी आँख का संकेत देकर समझा देना है। तदन्तर उन चाण्डालों द्वारा संकेत समझ जाने पर उनके बहाने इधर-उधर भागने पर शकटदास को वध्य स्थान से हटाकर तुम्हें राक्षस के पास पहुँचाना होगा तथा मित्र के प्राण बचाने से प्रसन्न राक्षस द्वारा तुम्हें पुरस्कार प्राप्त करना होगा। कुछ समय तक तुम्हें राक्षस की सेवा में ही रहना पड़ेगा, फिर जब दूसरे लोग इकट्ठे हों जायें तब तुम्हें यह कार्य पूरा करना होगा। **(इस प्रकार कान में कुछ कहता है।)**

सिद्धार्थकः- यदार्य आज्ञापयतीति ।

चाणक्यः- शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !!

शिष्यः- (प्रविश्य) **उपाध्याय ! आज्ञापय ।**

चाणक्यः - उच्यतां मद्वचनात् कालपाशिको दण्डपाशिकश्व, यथा वृषलः समाज्ञापयति 'य एष क्षपणको जीवसिद्धिर्नाम राक्षसप्रयुक्तो विषकन्यया पर्वतकं घातितवान्; स एनमेव दोषं प्रख्याप्य सनिकारं नगरात् निर्वास्यताम् इति ।

सिद्धार्थकः- आर्य की जो आज्ञा ।

चाणक्यः- शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !!

शिष्य- (प्रवेश कर) उपाध्याय जी! आज्ञा कीजिये ।

चाणक्य- मेरे कहने से कालपाशिक तथा दण्डपाशिक नामक जल्लादों से कह दो कि सम्राट् चन्द्रगुप्त की आज्ञा है कि- 'यह जो जीवसिद्धि है, इसे राक्षस ने नियुक्त किया था और उसने विषकन्या के द्वारा महाराज पर्वतेश्वर को मरवा डाला है। उसे उसके इस अपराध की घोषणा करते हुए उसे ति. रस्कारपूर्वक नगर से बाहर निकाल दिया जाये' ।

शिष्यः- तथेति । (इति परिक्रामति ।)

चाणक्यः- वत्स ! तिष्ठ तिष्ठ । योऽयमपरः, कायस्थः शकटदासो नाम राक्षसप्रयुक्तो नित्यमस्मच्छरीरम् अभिद्रोग्धुमिह प्रयतते, स चाप्येनं दोषं प्रख्याप्य शूलमारोप्यतां। गृहजनश्चास्य बन्धानागारे प्रवेश्यतामिति ।

शिष्यः- तथेति । (इति निष्क्रान्तः ।)

चाणक्यः- (चिन्तां नाटयित्वा स्वगतम्) **अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत ?**

शिष्यः- ऐसा ही करता हूँ । (यह कहकर घूमता है।)

चाणक्यः- वत्स ! ठहरो, ठहरो । यह जो दूसरा शकटदास नामक कायस्थ है, जिसे राक्षस ने नियुक्त किया है तथा जो नित्य मेरे शरीर का नाश करने का प्रयत्न करता रहता है, उसे भी उसका दोष (अपराध) घोषित कर फाँसी पर चढ़ा दिया जाय तथा उसके परिवार को कारागार में डाल दिया जाय ।

शिष्यः- ऐसा ही करता हूँ । (यह कहकर निकल जाता है।)

चाणक्यः- (चिन्ता का अभिनय कर, मन ही मन) क्या इतने पर भी दुरात्मा राक्षस पकड़ में नहीं आयेगा ?

सिद्धार्थकः- आर्य ! गृहीतः

चाणक्यः- (सहर्षमात्मगतम्) **हन्त ! गृहीतो राक्षसः ।** (प्रकाशम्) **भद्र ! कोऽयं गृहीतः ?**

सिद्धार्थकः- गृहीतो मया आर्यस्य सन्देशः, तद् गमिष्याम्यहं कार्यसिद्ध्ये।

चाणक्यः-(साङ्गुलिमुद्रं लेखमर्पयित्वा) **भद्र ! सिद्धार्थक ! गम्यताम्, अस्तु ते कार्यसिद्धिः ।**

सिद्धार्थकः- । (प्रणम्य निष्क्रान्तः)

सिद्धार्थक- आर्य ! पकड़ लिया ।

चाणक्य- (सहर्ष, मन ही मन) अहा ! राक्षस पकड़ा गया। (प्रकट रूप में) भाई ! किसे पकड़ लिया ?

सिद्धार्थक- मैने आपका सन्देश पकड़ लिया है। अतः अब मैं कार्यसिद्धि के लिए चलूँगा।

चाणक्य- (राक्षस के नाम की मोहर लगा पत्र देकर) भद्र सिद्धार्थक ! जाओ, तुम्हारा कार्य सफल हो ।

(प्रविश्य)

शिष्यः-उपाध्याय ! कालपाशिको दण्डपाशिकश्च उपाध्यायं विज्ञापयतः। इदमनुष्ठीयते देवस्य चन्द्रगुप्तस्य शासनमिति ।

चाणक्यः-शोभनम् । वत्स ! मणिकारश्रेष्ठिनं चन्दनदासमिदानीं द्रष्टुमिच्छामि ।

शिष्यः-तथेति । (निष्क्रम्य चन्दनदासेन सह पुनः प्रविश्य) **इत इतः श्रेष्ठिन् !**

चन्दनदासः- (स्वगतम्)

सिद्धार्थक- महाराज की जो आज्ञा । (यह कहकर प्रणाम कर निकल जाता है।)

शिष्य-(प्रवेश कर) उपाध्यायजी! कालपाशिक तथा दण्डपाशिक का निवेदन है कि महाराज चन्द्रगुप्त की आज्ञा का पालन किया जायेगा।

चाणक्य-बहुत अच्छा। वत्स! स्वर्णकार सेठ चन्दनदास को इस समय देखना चाहता हूँ।

शिष्य-जो आज्ञा । **(निकल कर, चन्दनदास के साथ पुनः प्रवेश कर)** इधर आइये सेठ जी !

चन्दनदास-(मन ही मन)

चाणक्येऽस्मिन्नकरुणेन सहसा शब्दायितस्य जनस्य ।

निर्दोषस्यापि शङ्का किं पुनर्मम जातदोषस्य ? ॥ 21 ॥

अन्वय- (अकरुणेन चाणक्येन सहसा शब्दायितस्य निर्दोषस्य अपि जनस्य शङ्का, जात-दोषस्य पुनः किम् ? ।।21।।

भावार्थ - इस निर्दय चाणक्य के सहसा किसी व्यक्ति को बुलाने पर, चाहे वह कितना ही निर्दोष क्यों न हो, शङ्का बढ़ जाती है तो फिर मैं तो उससे बैर ही ठान चुका हूँ; पता नहीं मुझे किस निमित्त बुलाया गया है ? ।। २१ ।।

तस्माद् भणिता मया धनसेनप्रमुखास्त्रयो निजनिवेशसंस्थिताः कदापि चाणक्यहतको गेहं विचिनोति। तस्मादवहिता निर्वहत भर्त्तुः अमात्यराक्षसस्य गृहजनम्, मम तावत् यद्भवति तद्भवतु इति ।

अतः इसलिए मैंने धनसेन आदिक तीन प्रमुखों (व्यापारियों) को समझाकर कह दिया है कि मेरे परिवार जन जैसे-पुत्र-कलत्रादि को कदाचित् दुरात्मा चाणक्य जाँच करने मेरे घर आवे तो तुम लोगों को अपने स्वामी अर्थात् मुझ अमात्य राक्षस के परिवार की सुरक्षा के लिए सावधान रहना चाहिए। मेरा तो जो होना है, वह तो होगा ही ।

शिष्यः- भोः श्रेष्ठिन् ! इत इतः ।

चन्दनदासः- (उभौ परिक्रामतः) **अयमागच्छामि ।**

शिष्यः- उपाध्याय ! अयं श्रेष्ठी चन्दनदासः ।

चन्दनदासः-(उपसृत्य) । **जयतु जयत्वार्यः ।**

चाणक्यः- (नाट्येन अवलोक्य) **भो श्रेष्ठिन् ! स्वागतम् । इदमासनम् आस्यताम् ।**

चन्दनदासः- (प्रणम्य) **कि न जानाति आर्यः, यथाऽनुचित उपचारः हृदयस्य परिभवादपि महदुःखमुत्पादयति। तस्माद् इहैव अहमुचितायां भूमावुपविशामि ।**

चाणक्यः- भोः श्रेष्ठिन् ! मा मैवम्, उचितमेवैतत् अस्मद्विधैः सह भवतः, तदुपविश्यतामासन एव ।

चन्दनदासः- (स्वगतम्) **उपलक्षितमनेन किमपि । यदार्य आज्ञापयति इति ।**

चाणक्यः- भोः श्रेष्ठिन् चन्दनदास ! अपि प्रचीयन्ते सव्यवहाराणां वृद्धिलाभाः ?

शिष्य- हे सेठ जी ! इधर, आइये ।

चन्दनदास- आया (दोनों चलने लगते हैं)।

शिष्य- उपाध्याय जी ! यह सेठ चन्दनदास जी है।

चन्दनदास- (आगे बढ़ कर) जय हो महाराज !

चाणक्य- (नाटकीय ढंग से देखकर) हे सेठ जी! आइये, आपका स्वागत है। यह आसन है, आसन ग्रहण कीजिए ।

चन्दनदास- (प्रणाम कर) क्या महाराज आप नहीं जानते हैं कि अनुचित सत्कार विनाश से भी बढ़कर दु:ख को उत्पन्न करता है। अतः यहीं उपयुक्त भूमि पर मैं बैठ जाता हूँ।

चाणक्य- हे सेठ जी! ऐसा मत कहो। हम लोगों के साथ तो आपका आसन पर बैठना ही उचित है। अतः आसन पर ही बैठिए ।

चन्दनदास- (मन में) इसने कुछ ताड़ लिया है अर्थात् कुछ जान लिया है। (प्रकट रूप में) जैसी महाराज की आशा। (बैठ जाता है।)

चाणक्य- हे सेठ जी ! चन्दनदास ! तुम्हारे व्यापार-कार्य में बढ़ोत्तरी तथा लाभ तो हो रहा है ?

चन्दनदासः- (स्वगतम्) **अत्यादरः शङ्कनीयः । आर्य ! अथ किम्, आर्यस्य प्रसादेन अखण्डिता मे वाणिज्याः ।**

चाणक्यः- भोः श्रेष्ठिन् ! अपि कदाचित् चन्द्रगुप्तदोषा अतिक्रान्त-पार्थिवगुणान् अधुना स्मारयन्ति प्रकृतीः ?

चन्दनदासः- (कर्णौ पिधाय) **शान्तं पापम् । शारदनिशासमुद्गतेनेव पूर्णिमाचन्द्रेण चन्द्रधियाऽधिकं नन्दन्ति प्रकृतयः।**

चन्दनदास- (मन ही मन) आज अत्यधिक आदर किया जाना शंका से युक्त है। (प्रकट रूप में) आर्य ! और क्या ? आपकी कृपा से मेरा वाणिज्य अर्थात् व्यापार अच्छी प्रकार से चल रहा है।

चाणक्य- हे सेठ जी ! चन्द्रगुप्त के दोष प्रजाजनों को दिवंगत राजा नन्द आदि का स्मरण तो नहीं कराते हैं ?

चन्दनदास-(कान बन्द कर) पाप शान्त हो । शरत्कालीन रात्रि में उत्पन्न पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान चन्द्रश्री अर्थात् चन्द्रगुप्त के वैभव से प्रजाजन अत्यधिक प्रसन्न है ।

चाणक्यः- भोः श्रेष्ठिन् ! यद्येवं, प्रीताभ्यः प्रकृतिभ्यः प्रियमिच्छन्ति राजानः ।

चन्दनदासः- आज्ञापयतु आर्यः किं अर्थजातमस्माज्जनादिष्यत इति ।

चाणक्यः- भोः श्रेष्ठिन् ! चन्द्रगुप्तराज्यमिदं न नन्दराज्यम्, यतो नन्दस्यैवार्थरुचेरर्थसम्बन्धः प्रीतिमुत्पादयति, चन्द्रगुप्तस्य तु भवताम् अपरिक्लेश एव ।

चन्दनदासः-(सहर्षम्) । **आर्य ! अनुगृहीतोऽस्मि ।**

चाणक्य - हे सेठ जी ! यदि ऐसा है तब तो प्रसन्न प्रजा के लिए राजा लोग भी प्रिय अर्थात् हित ही चाहते हैं।

चन्दनदास - महाराज ! आज्ञा दीजिये! कौन कार्य अथवा उद्देश्य की पूर्ति इस सेवक द्वारा महाराज कराना चाहते हैं ?

चाणक्य - हे सेठजी ! यह चन्द्रगुप्त का राज्य है, नन्द का नहीं। क्योंकि धन के लालची नन्द को ही धन से प्रसन्न किया जा सकता है, चन्द्रगुप्त की तो प्रसन्नता आप लोगों के दु:खों के अभाव से ही है अर्थात् आप लोगों की प्रसन्नता ही चन्द्रगुप्त की प्रसन्नता है।

चन्दनदास - (प्रसन्न होकर) आर्य ! मैं अनुगृहीत हूँ ।

चाणक्यः - भोः श्रेष्ठिन् ! स चापरिक्लेशः कथमाविर्भवतीति न पुनः प्रष्टव्याः भवता ?

चन्दनदासः - आज्ञापयत्वार्यः ।

चाणक्यः - सङ्क्षेपतो राजनि अविरुद्धाभिर्वृत्तिभिः ।

चन्दनदासः - आर्य ! कः पुनरधन्यः राज्ञा विरुद्ध आर्येणावगम्यते ?

चाणक्यः - भवान् एव तावत् प्रथमः ।

चाणक्य - हे सेठ जी ! किन्तु आपने यह नहीं पूछा कि किस प्रकार आपको सुखी और समृद्ध बने रहना चाहिए ।

चन्दनदास - महाराज आदेश करें।

चाणक्य - संक्षेप में, राजा के अनुकूल ही व्यवहार करना चाहिए न कि विपरीत।

चन्दनदास - आर्य ! आपकी दृष्टि में ऐसा कौन अभागा आया है ? जो कि राजा के विपरीत है।

चाणक्य - सर्वप्रथम तो आप ही हैं।

चन्दनदासः - शान्तं पापं, शान्तं पापम् । कीदृशस्तृणा-नामग्निना सह विरोधः ?

चाणक्यः- अयमीदृशो विरोधो यत् त्वमद्यापि राजापथ्यकारिणोऽमात्यराक्षसस्य गृहजनं स्वगृहमभिनीय रक्षसि ।

चन्दनदासः- आर्य ! अलीकमेतत्, केनापि अनार्येण आर्यस्य निवेदितम् ।

चाणक्यः- भोः श्रेष्ठिन् ! अलमाशङ्कया । भीताः पूर्वराजपुरुषाः पौराणामनिच्छतामपि गृहेषु गृहजनं निक्षिप्य देशान्तरं व्रजन्ति, ततस्तत्प्रच्छदानमेव दोषमुत्पादयति ।

चन्दनदासः- एवं नु इदम् । तस्मिन् समये आसीदस्मद्गृहे अमात्यराक्षसस्य गृहजनः ।

चाणक्यः- पूर्वम् अनृतम्, इदानीम् आसीदिति परस्परविरोधिनी वचने ।

चन्दनदासः- एतावदेवास्ति मे वाक्छलम् ।

चाणक्यः- भोः श्रेष्ठिन् ! चन्द्रगुप्ते राजनि न परिग्रहः छलानां, तत् समर्पय राक्षसस्य गृहजनमच्छलं भवतु भवतः ।

चन्दनदास - (कान बन्द कर) पाप शान्त हो, पाप शान्त हो। तृण का अग्नि से विरोध कैसा?

चाणक्य -यह विरोध ऐसा कि तुम अब भी नृपति चन्द्रगुप्त का अनिष्ट करने वाले अमात्य राक्षस के पुत्र-कलत्रादि को अपने घर में लाकर उनकी रक्षा अर्थात् छिपा रहे हो।

चन्दनदास - आर्य ! इस प्रकार का असत्य किसी दुरात्मा ने आकर आप से कह दिया है।

चाणक्य - हे सेठ ! आशङ्का मत करो। भयभीत नन्द के पूर्व सेवक नगरवासियों की इच्छा के विपरीत भी उनके घरों में अपने परिवार को छोड़कर दूसरे स्थानों को चले गये हैं। उसके बाद भी उनको छिपाये रखना ही अपराध उत्पन्न करता है।

चन्दनदास - वास्तव में ऐसा ही है। पहले उस समय मेरे घर में अमात्य राक्षस का परिवार था।

चाणक्य - पहले तुमने 'यह झूठ है' ऐसा कहा और अब कर रहे हो कि 'यह झूठ था'। ये दोनों वचन एक दूसरे के विपरीत हैं।

चन्दनदास - मेरा इतना ही वाक्छल अर्थात् झूठ बोलने का अपराध था।

चन्दनदासः- आर्य ! ननु विज्ञापयामि--'तस्मिन् समये आसीदस्मद्गृहे अमात्यराक्षसस्य गृहजन' इति ।

चाणक्यः- अथ इदानीं क्व गतः ?

चन्दनदासः - न जानामि।

चाणक्यः - (स्मितं कृत्वा) कथं न ज्ञायते नाम ? भोः श्रेष्ठिन् ! शिरसि भयमतिदूरे तत्प्रतीकारः ।

चाणक्य - ओ सेठ ! चन्द्रगुप्त के राजा होते हुए छल-प्रपञ्चों को अवकाश कहाँ है ? अर्थात् कोई छल-कपट नहीं कर सकता। अतः राक्षस का परिवार मुझे सौंप दो और स्वयं निश्छल बन जाओ।

चन्दनदास - आर्य ! मैंने पहले ही निवेदन किया कि-'उस समय अमात्य राक्षस का परिवार मेरे घर में था'।

चाणक्य - और अब कहाँ गया ?

चन्दनदास - नहीं जानता हूँ कि कहाँ गया ?

चाणक्य - (मुस्करा कर) क्यों नहीं जानते हो ! ओ सेठ ! साँप तुम्हारे शिर पर है और उससे बचने का उपाय दूर है।

चन्दनदासः - (स्वगतम्)-

उपरि घनं धनरटितं दूरे दयिता किमेतदापतितम् ?

हिमवति दिव्यौषधयः शीर्षे सर्पः समाविष्टः ॥ 22॥

अन्वयः- (एतत् किम् आपतितम् उपरि घनम् घन-रटितम् दूरे दयिता, हिमवति दिव्य-ओषधयः शीर्षे सर्पः समाविष्टः। शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम्। ।।22।।

भावार्थ - यह क्या संकट उपस्थित हो गया है कि जैसे ऊपर गड़गड़ाता हुआ बादल छाया हुआ है और प्रिया भी दूर है तथा यह वही दशा है कि साँप तो सिर पर बैठा है और उससे बचने की औषधि हिमालय पहाड़ पर है। इस प्रकार विनाश तो निश्चित ही है।।22।

चाणक्यः- अन्यच्च नन्दमिव विष्णुगुप्तः चन्द्रगुप्तममात्यराक्षसः समुच्छेत्स्यतीति मैवं मंस्थाः।

पश्य-

चन्दनदास - (मन ही मन)

चाणक्य- यह मत समझना कि अमात्य राक्षस चन्द्रगुप्त का विनाश कर सकेगा।

देखो-

विक्रान्तैर्नयशालिभिः सुसचिवैः श्रीर्वक्रनासादिभि

र्नन्दे जीवति या तदा न गमिता स्थैर्यं चलन्ती मुहुः ।

तामेकत्वमुपागतां द्युतिमिव प्रह्लादयन्तीं जगत्

कश्चन्द्रादिव चन्द्रगुप्तनृपतेः कर्तुं व्यवस्येत् पृथक् ? ॥ 23 ॥

अन्वयः- तदा नन्दे जीवति, मुहुः चलन्ती या श्रीः विक्रान्तैः नय-शालिभिः वक्रनासादिभिः सुसचिवैः स्थैर्यम् न गमिता। द्युतिम् इव एकत्वम् उपागताम् जगतः प्रह्लादयन्तीम् ताम् इव चन्द्रगुप्त-नृपतेः पृथक् कर्तुम् कः व्यवस्येत्। अत्रोपमालङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम्। ।।23।।

भावार्थ - उस समय नन्द के जीवित रहते हुए बार-बार जाती हुई जिस राज्यलक्ष्मी को पराक्रमी तथा नीतिज्ञ वक्रनास इत्यादि उत्तम सचिव भी नहीं बचा सके, उसे चन्द्रमा के समान चन्द्रगुप्त से कौन अलग कर सकता है ? ।।23।।

चन्दनदासः- (स्वगतम्) **फलेन सम्पादितं शोभते ते विकत्थितम् ।**

(नेपथ्ये कलकलः)

चन्दनदास - (मन ही मन) मतलब से अर्थात् उद्‌देश्य से की गई आत्मश्लाघा अच्छी लगती है।

चाणक्यः - शाङ्र्गरव ! ज्ञायतां किमेतत् ?

शिष्यः- तथा इति (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) उपाध्याय ! एष राज्ञश्चन्द्रगुप्तस्याज्ञया राजापथ्यकारी क्षपणको जीवसिद्धिः सनिकारं नगरान्निर्वास्यते ।

चाणक्यः--क्षपणकः ? अहह !! अथवा अनुभवतु, राजाऽपथ्यकारित्वस्य फलम् । भोः श्रेष्ठिन् चन्दनदास ! एवमपथ्यकारिषु तीक्ष्णदण्डो राजा। तत् क्रियतां पथ्यं सुहृद्वचः, समर्प्यतां राक्षसगृहजनः, चिरमनुभूयन्तां विचित्राः राजप्रसादाः ।

(नेपथ्य में कोलाहल होता है।)

चाणक्य - शाङ्र्गरव ! देखो तो क्या बात है ?

शिष्य - आचार्य की जो आज्ञा । **(निकलकर, पुनः प्रवेश कर)** आचार्य ! सम्राट् चन्द्रगुप्त के आदेश से राजा का विरोधी यह क्षपणक जीवसिद्धि अपने साथियों के साथ नगर से बाहर निकाला जा रहा है।

चाणक्य - क्षपणकः ? ओह !! अथवा राजा से विरोध करने का फल इसे भोगना ही चाहिए। हे सेठ चन्दनदास ! इस प्रकार यह राजा राजद्रोह करने वालों को अति कठोर दण्ड दे रहा है। अतः तुम मेरी मित्र के समान हितकर बात मान लो और राक्षस-परिवार को मुझे सौंप दो। इससे राजा के प्रसन्न होने पर तुम चिरकाल तक सुख भोग सकोगे ।

चन्दनदासः - नास्ति मे गेहे अमात्यगृहजनः।

(नेपथ्ये पुनः कलकलः)

चाणक्यः- शाङ्गरव ज्ञायतां पुनः किमेतत्।

शिष्यः- तथा। (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) **उपाध्याय, अयमपि राजापथ्यकार्येव कायस्थः शकटदासः शूलमारोपयितुं नीयते।**

चन्दनदास - मेरे घर में अमात्य का परिवार नहीं है।

(नेपथ्य में फिर कोलाहल होता है)

चाणक्य - शाङ्गरव! पता लगाओ कि फिर से यह क्या हो रहा है ?

शिष्य - जो आज्ञा (इस प्रकार निकल कर पुनः प्रवेश करके) आचार्यवर राजा का अहित चिन्तन करने वाला, इस कायस्थ शकटदास को भी फाँसी पर चढ़ाये जाने के लिए ले जाया जा रहा है।

चाणक्यः- स्वकर्मफलमनुभवतु। भोः श्रेष्ठिन्, एवमयं राजापथ्य कारिषु तीक्ष्णदण्डो राजा न मर्षयिष्यति राक्षसकलत्रप्रच्छादनं भवतः। तद्रक्ष परकलत्रेणात्मनः कलत्रं जीवितं च।

चन्दनदासः- आर्य, किं मे भयं दर्शयसि। सन्तमपि गेहेऽमात्यराक्षसस्य गृहजनं न समर्पयामि किं पुनरसन्तम्।

चाणक्यः- चन्दनदास, एष ते निश्चयः।

चन्दनदासः- बाढम्। धीरो एष मे निश्चयः।

चाणक्य - अपने कर्मो का फल अनुभव करो। हे श्रेष्ठिन्! राजा का अहित करने वालों के सम्बन्ध में कठोर-दण्ड प्रदान करने वाला यह राजा, इस प्रकार तुम्हारे द्वारा राक्षस की स्त्री को छिपाने का कार्य सहन नहीं करेगा। इसलिए दूसरे की स्त्री द्वारा अपनी स्त्री और जीवन की रक्षा करो।

चन्दनदास - आर्य! आप मुझे क्या भय दिखा रहे हो? घर में होने पर भी अमात्य राक्षस के परिवार को मैं समर्पित नहीं करता, फिर न होने की तो बात ही क्या ? अर्थात् मैं अमात्य राक्षस के परिवार को आपको नहीं दूँगा।

चाणक्य - क्या यह तुम्हारा निश्चय है ?

चन्दनदास - हाँ, हाँ यह मेरा दृढ़ निश्चय है।

चाणक्यः- (मन ही मन) साधु, चन्दनदास साधु।

सुलभेष्वर्थलाभेषु परसंवेदने जनः।

क इदं दुष्करं कुर्यादिदानीं शिविना विना। ॥24॥

अन्वयः - (पर-संवेदने अर्थ-लाभेषु सुलभेषु इदानीम् इदम् दुष्करम् जने शिविना विना कः कूर्यात्। अनुष्टुप् वृत्तम्। ॥24॥

भावार्थ - दूसरे की वस्तुओं को देकर अर्थात् समर्पित करके, धन लाभों के प्राप्त होने पर भी इस युग में इस कठिन कार्य को 'राजा शिवी' के अलावा अन्य दूसरा कौन कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं कर सकता। ॥24॥

(प्रकाशम्) **चन्दनदास, एष ते निश्चयः।**

चन्दनदासः- बाढम्। बाढम्।

चाणक्यः- (सक्रोधम्) **दुरात्मन् दुष्टवणिक् तिष्ठ अनुभूयतां तर्हि नरपतिक्रोधः।**

चन्दनदासः- सज्जोऽस्मि। अनुतिष्ठत्वार्य आत्मनोऽधिकारसदृशम्।

चाणक्यः- शाङ्गरव, उच्चताम् अस्मद्वचनात् कालपाशिको दण्डपाशिकश्च। शीघ्रमयं दुष्टवणिक् निगृह्यताम्। अथवा तिष्ठतु, उच्चतां दुर्गपालको विजयपालः। गृहीतगृहसारमेनं सपुत्रकलत्रं संयम्य तावद्रक्ष यावन्मया वृषलाय कथ्यते। वृषल एवास्य प्राणहरं दण्डमाज्ञापयिष्यति।

(स्पष्टरूप में) चन्दनदास, तुम्हारा यही निश्चय है ?

चन्दनदास- हाँ मेरा यही निश्चय है।

चाणक्य - (क्रोधपूर्वक) हे दुष्टात्मा, दुष्ट वणिक्, तू रुक जरा और राजा के क्रोध का अनुभव करो।

चन्दनदास- मैं तैयार हूँ। आर्य, अपने राज अधिकार के अनुसार अपना कार्य करें।

चाणक्य- शाङ्गरव, मेरी ओर से कालपाशिक तथा दण्डपाशिक को सूचित करो कि शीघ्र ही इस दुष्ट वणिक् को पकड़ लें अथवा ठहरो, दुर्ग की रक्षा करने वाले विजयपाल से कहो कि - अधिकृत की हुई घर की सम्पूर्ण सम्पत्ति वाले इस चन्दनदास को पुत्र और स्त्री सहित बाँधकर, तब अपनी देखरेख में रखो, जब तक मैं चन्द्रगुप्त को बताता हूँ वही इसके प्राणों का हरण करने वाले अर्थात् मृत्युदण्ड की आज्ञा देगा।

शिष्यः- यदाज्ञापयत्युपाध्यायः। श्रेष्ठिन् इत इतः।

चन्दनदासः- आर्य, अयमागच्छामि। ....दिष्ट्या मित्रकार्येण मे विनाशो न पुरुषदोषेण। (परिक्रम्य शिष्येण सह निष्क्रान्तः)।

चाणक्यः- (सहर्षम्) हन्त लब्ध इदानीं राक्षसः। कुतः ?

शिष्य - आचार्य, जो आज्ञा श्रेष्ठिन् आइये, इधर आइये।

चन्दनदास - आर्य, आ रहा हूँ। सौभाग्य से मेरा विनाश मित्र के कारण से हो रहा है, न कि किसी पुरुष के दोष के कारण। (घूमकर शिष्य के साथ निकल जाता है)।

चाणक्य - (प्रसन्तापूर्वक) प्रसन्नता है कि अब तो राक्षस को पकड़ा हुआ ही समझो क्योंकि-

त्यजत्यप्रियवत्प्राणान्यथा तस्यायमापदि।

तथैवास्यापदि प्राणा नूनं तस्यापि न प्रियाः॥ 25॥

अन्वयः - (यथा तस्य आपदि अयम् प्राणान् अप्रियवत् त्यजति, तथैव अस्य आपदि तस्य अपि प्राणाः प्रियाः न नूनम्। अनुष्टुप् वृत्तम्। ॥ 25॥

भावार्थ - जैसे यह चन्दनदास अमात्य राक्षस की प्रतिकूल स्थिति में अपने प्राणों को अप्रिय वस्तु के समान त्याग रहा है। ठीक उसी प्रकार इस चन्दनदास की विपत्ति में वह अमात्य राक्षस भी अपने प्राण निश्चित ही त्याग देगा। ।।25।।

(नेपथ्य में कोलाहल होता है)

चाणक्यः- शार्ङ्गरव, शार्ङ्गरव।

(प्रविश्य)

शिष्यः- उपाध्याय, आज्ञापय।

चाणक्यः- किमेष कलकलः।

शिष्यः- (विभाव्य) **उपाध्याय, एष खलु शकटदासं वध्यमानं वध्यभूमेरादाय समपक्रान्तः सिद्धार्थकः।**

चाणक्यः (स्वगतम्) **साधु सिद्धार्थक, कृतः कार्यारम्भः। (प्रकाशम्)प्रसह्य किमपक्रान्तः। (सक्रोधम्) वत्स, उच्यतां भागुरायणो यथा त्वरितं संभावयेति।**

(निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य)

शिष्यः- (सविषादम्) **उपाध्याय, हा धिक् कष्टम् अप्रक्रान्तो भागुरायणोऽपि।**

चाणक्यः- (स्वगतम्) **व्रजतु कार्यसिद्धये।** (प्रकाशम्) सक्रोधम् वत्स, **उच्यन्ताम् अस्मद्वचनाद् भद्रभटपुरुष-दत्तडिङ्गरात-बलगुप्त-राजसेन-रोहिताक्ष-विजयवर्माणः शीघ्रमनुसृत्य गृह्यतां दुरात्मा भागुरायणः।**

शिष्यः- तथा (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य सविषादम्) **हा धिक् कष्टं सर्वमेव तन्त्रम् आकुलीभूतम्। तेऽपि खलु भद्रभटप्रभृतयः प्रथमतरम् उषस्येवापक्रान्ताः।**

चाणक्यः- (स्वगतम्) **सर्वेषामेव शिवाः पन्थानः सन्तु।**

(प्रकाशम्) **वत्स अलम् विषादेन। पश्य।**

चाणक्य - शार्ङ्गरव, शार्ङ्गरव!

शिष्य - आचार्य, आज्ञा दीजिए।

चाणक्य - यह कोलाहल कैसा है ?

शिष्य - (जानकर) आचार्य, यह सिद्धार्थक मृत्यु-दण्ड के लिए जाते हुए शकटदास को वध्यभूमि से लेकर भाग गया।

चाणक्य - (मन ही मन) बहुत अच्छा! सिद्धार्थक तुमने तो अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया है। (स्पष्टरूप से) क्या, वह बलात् अर्थात् बलपूर्वक छुड़ाकर भाग गया ? (क्रोधपूर्वक) वत्स, भागुरायण को कहो कि जितना जल्दी हो सके उसे पुनः पकड़ ले।

(निकलकर और प्रवेश करके)

शिष्य - (दुःखपूर्वक) आचार्य, धिक्कार है, दुःख की बात है कि भागुरायण भी भाग गया है।

चाणक्य - (मन में) अपने कार्य को पूरा करने के लिए जाओ। (स्पष्टरुप से मानो क्रोधित होता हुआ) वत्स, मेरी ओर से भद्रपट, पुरुष डिङ्गरात, बलगुप्त, राजसेन, रोहिताक्ष तथा विजय वर्मा से सूचित करो कि वे शीघ्र ही दुरात्मा भागुरायण का पीछा करके पकड़ लें।

शिष्य - ठीक है (ऐसा कहकर निकलकर, प्रवेश करके दुःखुपूर्वक)ओह, धिक्कार है, यह तो और भी बड़े कष्ट की बात है कि अब सम्पूर्ण राज्यतंत्र ही अस्त व्यस्त हो गया है क्योंकि वे भद्रपट आदि भी बहुत पहले प्रभात में ही भाग गये हैं।

चाणक्य - (मन में) आप सभी के मार्ग कल्याणकारी हो। (स्पष्टरूप से) वत्स तुम दुःखी मत हो। देखो

ये याताः किमपि प्रधार्य हृदये पूर्वं गता एव ते

ये तिष्ठन्ति भवन्तु तेऽपि गमने कामं प्रकामोद्यमाः।

एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका

नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम। ॥26॥

अन्वयः - (ये किम् अपि हृदये प्रधार्य याताः, ते पूर्वम् एव गताः, ते तिष्ठन्ति ते अपि कामम् गमने प्रकाम-उद्यमाः भवन्तु। अर्थ-साधन-विधौ सेनाशतेभ्यः अधिका-नन्द-उन्मूलन-दृष्ट-वीर्य-महिमा केवलम् एका मम बुद्धिः तु मा गात्। अत्र संसृष्टिरलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। ॥ 26॥

भावार्थ - सुनो भागुरायण आदि जो कुछ भी अपने मन में सोचकर यहाँ से पूर्व में चले गये थे तथा जो वर्तमान में यहाँ पर स्थित हैं, वे भी यदि अपनी इच्छानुसार जाना चाहें। फिर भी अपने लक्ष्य को सिद्ध करने वाली जो सैकड़ों सेनाओं से भी अधिक शक्तिशाली नन्दों को जड़ से उखाड़ फैंकने में समर्थ तथा पराक्रम से युक्त जो मेरी बुद्धि है वह न जावे अर्थात् यदि मेरे पास समर्थ बुद्धि रही तो मैं अपना कार्य पुनः सिद्ध कर लूँगा। ॥26॥

(उत्थाय प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा) एष दुरात्मनो भद्रभटप्रभृतीनाहरामि। (आत्मगतम्) दुरात्मन् राक्षस, क्वेदानीं गमिष्यसि। एषोऽहमचिरावन्तम्।

स्वच्छन्दमेकचरमुज्ज्वलदानशक्ति-

मुत्सेकिना मदबलेन विगाह्यमानम्

बुद्ध्या निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियाया-

मारण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमि। ।।27।।

अन्वयः - (उज्ज्वल-दान-शक्तिम् एकचरम् स्वच्छन्दम् उत्सेकिना मदबलेन विगाहमानम्। आरण्यकम् गजम् इव बुद्ध्या निगृह्या वृषलस्य कृते क्रियायाम् प्रगुणीकरोमि। अत्रोपमालङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम्। ।।27।।

भावार्थ - (उठकर आकाश की ओर देखकर) अब मैं इन दुरात्मा भद्रभट आदि को पकड़ता हूँ। (मन ही मन) हे दुरात्मा अमात्य राक्षस अब कहाँ जाओगे ? मैं तुम्हें अविलम्ब ही उज्ज्वल प्रशस्त मद-शक्ति से सम्पन्न अकेले इच्छानुसार निरन्तर प्रवाहित होने वाले मद जल के प्रभाव से युक्त भ्रमण करते हुए जंगली हाथी के समान अपनी बुद्धि के द्वारा पकड़कर चन्दगुप्त के लिए अमात्य कार्य में सुनियोजित करता हूँ। ।।27।।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

बहुविकल्पीय प्रश्नः

1.गुप्तचर को राक्षस की अंगूठी (मुद्रा) कहाँ गिरी हुई मिली?

(क) राजपथ पर (ख) चंदनदास के घर की देहली पर (ग) मंदिर में (घ) कुएं के पास

2.अंगूठी गिरने के समय चंदनदास के घर में किसका कलकल (शोर) सुनाई दे रहा था?

(क) सैनिकों का (ख) ब्राह्मणों का (ग) स्त्रीजन का (घ) चोरों का

3.चाणक्य ने पत्र लिखवाने के लिए किसे बुलाया?

(क) चंद्रगुप्त को (ख) शकटदास को (ग) सिद्धार्थक को (घ) अपने शिष्य को

4.शत्रु की महिमा मिटाने वाले (क्षत-रिपु-महिमा) सिंधुराज का नाम क्या था?

(क) चित्रवर्मा (ख) सिंहनाद (ग) सिंधुषेण (घ) पुष्कराक्ष

लघु उत्तरीय प्रश्नः

1.अंगूठी गिरने की पूरी घटना का वर्णन कीजिए ?

2.चाणक्य ने पत्र के ऊपर नाम न लिखने का आदेश क्यों दिया?

3.राजा मलयकेतु के साथ कौन से पाँच प्रमुख राजा मिले हुए थे?

4.चंद्रगुप्त (वृषल) ने पर्वतेश्वर के श्राद्ध के लिए क्या इच्छा प्रकट की?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः

1.मुद्राराक्षस के इस पाठ के आधार पर सिद्ध कीजिए कि एक छोटी सी अंगूठी (मुद्रा) पूरे युद्ध का पासा पलट सकती है। चाणक्य की प्रसन्नता का कारण स्पष्ट करें।

इति 'मुद्रालाभो' नाम्ना प्रथमोऽङ्कः।

(इस प्रकार सभी निकल जाते हैं)

(इस प्रकार मुद्राराक्षस नाटक में 'मुद्रालाभ' नामक प्रथम अंङ्क पूर्ण हुआ)

खण्ड-4 अभिज्ञानशाकुन्तलम्

अभिज्ञानशाकुन्तलम् (चतुर्थोऽङ्कः)

इकाई- 4.1: शकुंतला की विदाई एवं मार्मिक प्रसंग

उद्देश्यः

1. छात्रों को भारतीय संस्कृति में विदाई के भावनात्मक महत्त्व एवं पिता-पुत्री के पावन सम्बन्ध से परिचित कराना।

2. महर्षि कण्व के माध्यम से यह स्पष्ट करना कि एक वीतरागी तपस्वी भी स्नेह के वशीभूत होकर विरह की व्याकुलता का अनुभव कैसे करता है।

3. प्रकृति एवं मानव के अटूट सम्बन्ध का बोध कराना, जहाँ शकुन्तला के प्रस्थान पर वन के पादप, मृग एवं लताएँ भी शोक व्यक्त करते हैं।

परिणामः

1. छात्र कालिदास की उपमा एवं उनकी काव्यगत सूक्ष्मता का विश्लेषण करते हुए मानवीय संवेदनाओं को समझ पाएंगे।

2. शिक्षार्थी यह समझ सकेंगे कि प्राचीन भारतीय जीवन में प्रकृति केवल जड़ वस्तु नहीं, अपितु परिवार का अभिन्न अङ्ग मानी जाती थी।

3. छात्र शकुन्तला के गमन के समय उच्चरित प्रसिद्ध श्लोकों (यथा यास्यत्यद्य शकुन्तलेति...) के व्याकरण, छन्द एवं उनमें सन्निहित करुण रस का भाषाई ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

(ततः प्रविशतः कुसुमावचयं नाटयन्त्यौ सख्यौ ।)

अनसूया - हला प्रियंवदे यद्यपि गान्धर्वेण विधिना निर्वृत्तकल्याणा शकुन्तलाऽनुरूपभर्तृगामिनी संवृत्तेति निर्वृतं मे हृदयं तथाप्येतावच्चिन्तनीयम् ।

प्रियंवदा - कथमिव ।

अनसूया - अद्य स राजर्षिरिष्टिं परिसमाप्यर्षिभिर्विसर्जित आत्मनो नगरं प्रविश्यान्तःपुरसमागत इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति वा न वेति ।

प्रियंवदा - विस्रब्धा भव । न तादृशा आकृतिविशेषा गुणविरोधिनो भवन्ति । तात इदानीमिमं

वृत्तान्तं श्रुत्वा न जाने किं प्रतिपत्स्यत इति ।

(इसके बाद फूल तौड़ने का अभिनय करती हुई दोनों सखियों का प्रवेश होता है)

अनसूया – हे प्रियंवदा यद्यपि गांधर्व विवाह से शंकुतला ने अपने पति को प्राप्त कर लिया है इससे मेरा मन अत्यंत शांत है, फिर भी मुझे एक बात की चिंता है।

प्रियंवदा–कौन–सी ?

अनसूया – आज वह दुष्यन्त यज्ञ को सम्पन्न करने के बाद ऋषियों द्वारा वापस भेजे जाने पर जब अपने नगर में प्रवेश करेगा तब अन्तःपुर की स्त्रियों से मिलन के बाद यहां के वृतान्त अर्थात् विवाह आदि की बात को याद करेगा या नहीं ?

प्रियंवदा – निश्चिन्त रहो । उस प्रकार की विशिष्ट अर्थात् सुन्दर आकृतियां गुणों से रहित नहीं होती है । पिता महर्षि कण्व इस समाचार को सुनकर न जाने क्या करेंगे ? (अर्थात् शकुन्तला के गान्धर्व विवाह की सहमति देंगे या नहीं, यह बात विचारणीय है ।

अनसूया – यथाहं पश्यामि तथा तस्यानुमतं भवेत् ।

प्रियंवदा – कथमिव ।

अनसूया – गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत्प्रथमः सङ्कल्पः । तं यदि दैवमेव सम्पादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजनः ।

प्रियंवदा – (पुष्पभाजनं विलोक्य) सखि अवचितानि बलिकर्मपर्याप्तानि कुसुमानि ।

अनसूया – ननु सख्याः शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवतार्चनीया ।

प्रियंवदा – युज्यते । (इति तदेव कर्माभिनयतः)

अनसूया – जैसा मुझे लगता है उन महर्षि की अनुमति मिल ही जाएगी।

प्रियंवदा– कैसे ?

अनसूया– कन्या के लिए गुणवान वर को ढूंढना ही पिता का पहला संकल्प होता है और वही संकल्प यदि भाग्य के अनुसार पूरा हो जाये तो इसमें माता–पिता कृतार्थ हो जाते है अर्थात् शंकुतला के लिए अच्छा वर मिलने के कारण कण्व के विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं है।

प्रियंवदा – (पुष्प के पात्र को देखकर) हे सखि पूजा करने के लिए पर्याप्त फूल चुन लिए है।

अनसूया – क्या कह रही हो ? अभी तो शंकुतला के सौभाग्य देवता की पूजा भी करनी है।

प्रियंवदा –ठीक है। (अपना कार्य करने लग जाती है)

(नेपथ्ये)

अयमहं भोः ।

अनसूया - (कर्णं दत्त्वा) सखि अतिथीनामिव निवेदितम् ।

प्रियंवदा - ननूटजसन्निहिता शकुन्तला ।

अनसुया - अद्य पुनर्हृदयेनासन्निहिता । अलमेतावद्भिः कुसुमैः । (इति प्रस्थिते)

(नेपथ्ये में)

मैं आ गया । कोई है?

अनसूया - (कान लगाकर)

प्रियंवदा –शकुन्ता तो कुटी मे ही है।

अनसुया - किन्तु आज तो ह्रदय में कही और है अर्थात् उसका हृदय आज उसके पास न होकर कही और है। बस इतने ही फूल प्रर्याप्त है। (दोनों चलती है)

(नेपथ्ये)

आः अतिथिपरिभाविनि

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम् ।

स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव ॥1॥

अन्वयः– अनन्यमानसा यं विचिन्तयन्ती उपस्थितं तपोधनं मां न वेत्सि, सः प्रमत्त प्रथमं कृतो कथाम् इव बोधितः सन् अपि त्वां न स्मरिष्यति। **॥1॥**

भावार्थ - एकाग्रचित्त होकर जिस व्यक्ति का ध्यान करती हुई मुझे उपस्थित हुये अर्थात् उग्रतपस्वी को नहीं जान रही है, वह व्यक्ति याद दिलाने पर भी तुझे उसी प्रकार याद नहीं करेगा, जैसे विक्षिप्त व्यक्ति पहले कही हुई बात का याद दिलाने पर भी स्मरण नही करता है।

प्रियंवदा - हा धिक् हा धिक् । अप्रियमेव संवृत्तम् । कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला ।

(पुरोऽवलोक्य)

न खलु यस्मिन्कस्मिन्नपि । एष दुर्वासाः सुलभकोपो महर्षिः । तथा शप्त्वा वेगबलोत्फुल्लया

दुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्तः ।

अनसूया – कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभवति । गच्छ । पादयोः प्रणम्य निवर्तयैनं यावदहमर्घोदकमुपकल्पयामि।

प्रियंवदा – तथा। (इति निष्क्रान्ता)

अनसूया – (पदान्तरे स्खलितं निरूप्य) अहो आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं ममाग्रहस्तात्पुष्पभाजनम्। (इति पुष्पोच्चयं रूपयति)

प्रियंवदा – हाय! हाय! अनर्थ हो गया। किसी आदरणीय व्यक्ति के प्रति शून्य हृदय शकुन्तला ने अपराध कर दिया। (सामने देख कर) और किसी साधारण व्यक्ति के प्रति नहीं। यह सरलता से क्रोधित हो जाने वाले दुर्वासा ऋषि हैं। इस प्रकार शाप देकर पुनः वेग के बल से उछलती हुई और न रोकी जा सकने वाली गति से वापस लौट रहे हैं।

अनसूया – अग्नि के अलावा और कौन वस्तु जलाने में समर्थ होगी? जा और पैरों में प्रणाम करके इनको पुनः लौटा लाओ, तब तक मैं पूजा का सामान तैयार कर लेती हूँ।

प्रियंवदा – अच्छा। (यह कहकर निकल गयी)

अनसूया – (एक पैर के बाद फीसलने का नाटक करते हुए, ओह घबराहट से

विचलित गति वाले मेरे हाथ से फूलों का बर्तन गिर गया। इतना

कहकर फूलों को उठाने का अभिनय करती है।

(प्रविश्य)

प्रियंवदा – सखि प्रकृतिवक्रः स कस्यानुनयं प्रतिगृह्णाति । किमपि पुनः सानुक्रोशः कृतः ।

अनसूया – (सस्मितम्) तस्मिन्बह्वेतदपि । कथय ।

प्रियंवदा – यदा निवर्तितुं नेच्छति तदा विज्ञापितो मया । भगवन् प्रथम इति प्रेक्ष्याविज्ञाततपःप्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षयितव्य इति ।

अनसूया – ततस्ततः ।

प्रियंवदा – ततो न मे वचनमन्यथा भवितुमर्हति किं त्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यत इति मन्त्रयमाण एवान्तर्हितः ।

(प्रवेश करके)

प्रियंवदा – सखी! स्वभाविक रूप से वक्र ये दुर्वासा मुनि किसकी विनती स्वीकार करते हैं? फिर भी

मैंने उनको कुछ दया युक्त कर दिया है।

अनसूया – (मुस्कुराकर) उनके लिए तो यह भी बहुत है।

प्रियंवदा – जब उन्होंने लौटना नहीं चाहा तो मैंने निवेदन किया कि – हे भगवन्! आपके तप के प्रभाव से अनजान आपकी पुत्री का यह पहला अपराध है, ऐसा समझकर आप इस एक अपराध के लिए उसे क्षमा कर दीजिए।

अनसूया – उसके बाद क्या हुआ ?

प्रियंवदा – फिर भी मेरा वचन अन्यथा नहीं हो सकता इसलिए पहचान का आभूषण दिखाने से शाप पूरा हो जाएगा, इतना कहकर वे स्वयं अन्तर्धान हो गए।

अनसूया – शक्यमिदानीमाश्वसितुम् । अस्ति तेन राजर्षिणा सम्प्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम् । तस्मिन्स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति ।

प्रियंवदा – सखि एहि । देवकार्यं तावदस्या निर्वर्तयावः । (इति परिक्रामतः)

प्रियंवदा – (विलोक्य) अनसूये पश्य तावत् । वामहस्तोपहितवदनाऽऽलिखितेव प्रियसखी । भर्तृगतया चिन्तयात्मानमपि नैषा विभावयति । किं पुनरागन्तुकम् ।

अनसूया – प्रियंवदे द्वयोरेव नौ मुखे एष वृत्तान्तस्तिष्ठतु । रक्षितव्या खलु प्रकृतिपेलवा प्रियसखी ।

प्रियंवदा – को नामोष्णोदकेन नवमालिकां सिञ्चति । (इति निष्क्रान्ते)

विष्कम्भकः । (ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः शिष्यः)

शिष्यः – वेलोपलक्षणार्थमादिष्टोऽस्मि तत्रभवता प्रवासादुपावृत्तेन काश्यपेन । प्रकाशं निर्गतस्तावदवलोकयामि कियदवशिष्टं रजन्या इति ।

(परिक्रम्यावलोक्य च) हन्त प्रभातम् ।

अनसूया – अब आश्वासन रख सकते हैं। प्रस्थान करते हुए उन राजर्षि ने अपना नाम लिखी हुई अंगूठी शकुन्तला की अंगुली में ऐसा कहकर पहना दी थी कि इसे याद रखना तथा उस अंगूठी के द्वारा इस शाप का निवारण शकुन्तला के अधीन रहेगा।

प्रियंवदा – सखि, आओ। देवता की पूजा के कार्य पुरा कर लेते है (यह कहकर घूमती हैं।)

प्रियंवदा – (देखकर) अनसूये, देखो। बांयें हाथ पर मुख को रख कर प्रिय सखी चित्र लिखित जैसी प्रतीत हो रही है। पति के ध्यान में लगी हुई यह स्वयं की भी पहचान नही कर पा रही है, फिर अतिथि का तो कहना ही क्या?

अनसूया – प्रियंवदे, निश्चय ही यह वृत्तान्त हम दोनों के मुख में ही रहे। स्वभाव से कोमल प्रिय सखी की निश्चय ही हमें रक्षा करनी चाहिए।

प्रियंवदा – कौन व्यक्ति नवमालिका को गरम जल से सींचता है?

(यह कहकर दोनों निकल गयी)

विष्कम्भक समाप्त।

शिष्य – (तदनन्तर सोकर उठे हुए कण्व के शिष्य का प्रवेश होता है) प्रवास से लौटे हुए आदरणीय काश्यप ने मुझको समय देखने के लिए आदेश दिया है। प्रकाश निकल आया है। तो देखता हूँ कि रात्री कितनी शेष है? (घूमकर और देखकर) अरे, प्रातःकाल हो गया है।

बहुविकल्पीय प्रश्नः

1. शकुन्तला के पास अतिथि के रूप में कौन आए थे जिन्हें उसने शून्य हृदय होने के कारण नहीं जाना?

(क) महर्षि कण्व (ख) महर्षि दुर्वासा (ग) राजा दुष्यंत (घ) नारद

2. दुर्वासा ऋषि ने शकुन्तला को क्या शाप दिया?

(क) वह अस्वस्थ हो जाएगी (ख) उसका पति उसे भूल जाएगा (ग) वह वन में ही रहेगी (घ) वह कभी माँ नहीं बनेगी

3. शाप को शांत करने के लिए दुर्वासा ने क्या उपाय बताया?

(क) क्षमा मांगना (ख) पहचान का आभूषण दिखाना (ग) यज्ञ करना (घ) व्रत रखना

4. अग्नि के अतिरिक्त और कौन जलाने में समर्थ है? यह कथन किसका है?

(क) प्रियंवदा (ख) अनसूया (ग) शकुन्तला (घ) गौतमी

लघु उत्तरीय प्रश्नः

1. शकुन्तला से अतिथि (दुर्वासा) का अपराध क्यों हुआ?

2. प्रियंवदा ने दुर्वासा को प्रसन्न करने के लिए क्या तर्क दिया?

3. अनसूया को दुष्यंत के व्यवहार पर संदेह क्यों हो रहा था?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः

1. दुर्वासा ऋषि के शाप का शकुन्तला के भविष्य पर क्या प्रभाव पड़ने वाला था? सखियों ने इस शाप के निवारण के लिए क्या प्रयास किए और इसे गुप्त रखने का निर्णय क्यों लिया?

2. अग्नि के अतिरिक्त और कौन जलाने में समर्थ है? अनसूया के इस कथन के आधार पर दुर्वासा ऋषि के क्रोध और सखियों की चतुरता का सविस्तार वर्णन कीजिए।

इकाई 4.2

ऋषि कण्व का आगमन और आकाशवाणी (श्लोक 2-4)

उद्देश्यः

1. छात्रों को महर्षि कण्व के दिव्य एवं करुणामयी व्यक्तित्व से परिचित कराना, जो अपनी तप:शक्ति से त्रिकाल की घटनाओं का बोध रखते हैं।

2. प्राचीन भारतीय नाट्यकला में आकाशवाणी के महत्त्व को समझाना, जो कथा-प्रवाह को गति देने एवं दैवीय हस्तक्षेप को प्रदर्शित करने का माध्यम है।

3. शकुन्तला एवं दुष्यन्त के संयोग को सामाजिक एवं दैवीय स्वीकृति प्राप्त होने के घटनाक्रम को स्पष्ट करना।

परिणामः

1. छात्र यह समझ पाएंगे कि अग्निहोत्र-शाला में हुई आकाशवाणी किस प्रकार महर्षि को शकुन्तला के गर्भवती होने एवं उसके उज्ज्वल भविष्य की सूचना प्रदान करती है।

2. शिक्षार्थी भारतीय संस्कृति में विवाह के नैतिक पक्षों एवं गुरुजनों की अनुमति के महत्त्व का तार्किक विश्लेषण कर सकेंगे।

3. छात्र कालिदास की काव्य शैली में छन्दों (यथा अनुष्टुप एवं आर्या) के प्रयोग तथा छन्दोमयी भाषा के लावण्य का ज्ञान प्राप्त कर पाएंगे।

तथा हि ।

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनामाविष्कृतारुणपुरःसर एकतोऽर्कः ।

तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥2॥

अन्वय-एकत:. ओषधीनां पतिः अस्तशिखरं याति, एकतः अरुणपुरःसरः अर्क आविष्कृतः, लोकः तेजोद्वयस्य युगपत् व्यसनोदयाभ्याम् आत्मदशान्तरेषु नियम्यते इवं ॥ 2 ॥

क्योंकि - एक ओर औषधियों का स्वामी चन्द्रमा अस्त होने जा रहा है, तथा दूसरी ओर अरुण को आगे किए हुए सूर्य उदय हो रहा है। यह संसार दो तेजों के एक साथ अस्त और उदय के द्वारा मानो किसी स्थिति (दशा) विशेष में नियन्त्रित हो रहा है ॥ 2 ॥

अपि च ।

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा ।

इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ।।3।।

अन्वयः - शशिनि. अन्तर्हिते -सा एव कुमुद्रतीं संस्मरणीयशोभा (सती) मे दृष्टिं ननन्दयति, नूनम् अबलाजनस्य इष्टप्रवासजनितानि दुःखानि अतिमात्रसुदुः सहानि ।। 3 ।।

भावार्थ - चन्द्रमा के छिप जाने पर वही कुमुदिनी स्मरणीय शोभावाली होने से मेरी दृष्टि को आनन्दित नहीं करती है। अबलाओं के प्रिय प्रवास के कारण उत्पन्न हुए दुःख निश्चय से अत्यधिक दुःखद होते हैं।।3।।

(प्रविश्यापटीक्षेपेण)

अनसूया - यद्यपि नाम विषयपराङ्मुखस्य जनस्यैतन्न विदितं तथापि तेन राज्ञा शकुन्तलायामनार्यमाचरितम् ।

शिष्यः - यावदुपस्थितां होमवेलां गुरवे निवेदयामि । (इति निष्क्रान्तः)

अनसूया - प्रतिबुद्धापि किं करिष्यामि । न म उचितेष्वपि निजकरणीयेषु हस्तपादं प्रसरति । काम इदानीं सकामो भवतु येनासत्यसन्धे जने शुद्धहृदया सखी पदं कारिता । अथवा दुर्वासःशाप एष विकारयति । अन्यथा कथं स राजर्षिस्तादृशानि मन्त्रयित्वैतावतः कालस्य लेखमात्रमपि न विसृजति । तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयकं तस्य विसृजावः । दुःखशीले तपस्विजने कोऽभ्यर्थ्यताम् । ननु सखीगामी दोष इति व्यवसितापि न पारयामि प्रवासप्रतिनिवृत्तस्य तातकाश्यपस्य दुष्यन्तपरिणीतामापन्नसत्त्वां शकुन्तलां निवेदयितुम् । इत्थङ्गतेऽस्माभिः किं करणीयम् ।

(पर्दा हटाकर प्रविष्ट होकर)

अनसूया - सांसारिक विषय भोगों से विरक्त व्यक्ति को ये सब बातें यद्यपि पता नहीं हैं फिर उस राजा ने शकुन्तला के प्रति अनार्य आचरण किया है।

शिष्य - तो हवन करने का समय हो गया है। यह बात गुरु से निवेदन करता हूँ। (यह कहकर निकल जाता है।)

अनसूया - जागकर भी क्या करूँगी? दैनिक कार्यों में भी मेरे हाथ-पैर नहीं चल रहे हैं। कामदेव की इच्छा पूर्ण हो। जिसने असत्य प्रतिज्ञा वाले व्यक्ति के प्रति शुद्ध हृदय वाली शकुन्तला का प्रेम कराया है नहीं तो कैसे वह राजर्षि इस प्रकार की मधुर बातें करके इतने दिनों तक एक पत्र भी नहीं भेजता। अतः यहाँ से वह पहचान की अँगूठी उसके पास भेजते हैं। कष्ट सहन करने वाले तपस्वियों में से

किससे प्रार्थना करें? हमारी सखी पर दोष आयेगा। इसलिए मैं निश्चय करने पर भी प्रवास से लौटे हुए पिता काश्यप से यह निवेदन करने में समर्थ नहीं हो रही हूँ, कि शकुन्तला का दुष्यन्त से विवाह हो गया है और वह गर्भवती है। इस प्रकार की अवस्था होने पर हमारे द्वारा किया जाना चाहिए?

(प्रविश्य)

प्रियंवदा - (सहर्षम्) सखि त्वरस्व त्वरस्व शकुन्तलायाः प्रस्थानकौतुकं निवर्तयितुम् ।

अनसूया - सखि कथमेतत् ।

प्रियंवदा - शृणु । इदानीं सुखशयितपृच्छिका शकुन्तलासकाशं गतास्मि ।

अनसूया - ततस्ततः ।

प्रियंवदा - तावदेनां लज्जावनतमुखीं परिष्वज्य तातकाश्यपेनैवमभिनन्दितम् । दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता । वत्से सुशिष्यपरिदत्ता विद्येवाशोचनीयासि संवृत्ता । अद्यैव ऋषिरक्षितां त्वां भर्तुः सकाशं विसर्जयामीति ।

अनसूया - अथ केन सूचितस्तातकाश्यपस्य वृत्तान्तः ।

प्रियंवदा - अग्निशरणं प्रविष्टस्य शरीरं विना छन्दोमय्या वाण्या ।

अनसूया - (सविस्मयम्)कथमिव ।

प्रियंवदा - (संस्कृतमाश्रित्य)

(प्रवेश करके)

प्रियंवदा - (प्रसन्नता से) सखि, शकुन्तला की विदाई के समय सम्पादित किये जाने वाले मांगलिक कार्यों के लिए शीघ्रता करो।

अनसूया - सखि, यह कैसे हुआ?

प्रियंवदा - सुनो। तुम सुखपूर्वक सोई थी, यह पूछने के लिए मैं अभी शकुन्तला के पास गयी थी। तब लज्जा से झुके हुए मुख वाली इस शकुन्तला का आलिंगन करके पिता काश्यप ने अभिनन्दन किया। धुएँ से व्याकुल दृष्टि वाले यजमान की आहुति भाग्य से अग्नि में ही गिरी है। पुत्रि शिष्य को दी गयी विद्या के समान तुम अशोचनीय हो गयी हो, अर्थात् शोक करने योग्य नही हो। ऋषियों से रक्षा की गयी तुमको मैं आज पति के पास विदा करता हूँ।

अनसूया - और तात काश्यप को यह सूचना किसने प्रदान दी?

प्रियंवदा – यज्ञशाला में प्रविष्ट हुए उनके शरीर रहित छन्दोमय वाणी ने।

दुष्यन्तेनाहितं तेजो दधानां भूतये भुवः ।

अवेहि तनयां ब्रह्मन्नग्निगर्भां शमीमिव ॥ 4॥

अन्वयः – ब्रह्मन्, दुष्यन्तेन आहितं तेजः भुवः भूतये दधानां तनयाम् अग्निगर्भां शमीम् इव अवेहि ।।4।।

भावार्थ – हे ब्रह्मन् ! अपनी पुत्री को संसार का कल्याण करने के लिए दुष्यन्त के द्वारा स्थापित तेज को धारण करने वाली, अतः अग्नि को गर्भ में धारण करने वाली शमी के समान समझिये।।4।।

अनसूया – (प्रियंवदामाश्लिष्य) सखि प्रियं मे । किं त्वद्यैव शकुन्तला नीयत इत्युत्कण्ठासाधारणं परितोषमनुभवामि ।

प्रियंवदा – सखि आवां तावदुत्कण्ठां विनोदयिष्यावः । सा तपस्विनी निर्वृता भवतु ।

अनसूया – तेन ह्येतस्मिंश्चूतशाखावलम्बिते नालिकेरसमुद्गक एतन्निमित्तमेव कालान्तरक्षमा निक्षिप्ता मया केसरमालिका । तदिमां हस्तसन्निहितां कुरु। यावदहमपि तस्यै मृगरोचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलयानीति मङ्गलसमालम्भनानि विरचयामि ।

प्रियंवदा- तथा क्रियताम् । (अनसूया निष्क्रान्ता । प्रियंवदा नाट्येन सुमनसो गृह्णाति)

अनसूया – (प्रियंवदा का आलिंगन करके) सखि, मेरे लिए यह प्रिय बात है लेकिन आज ही शकुन्तला ले जाई जा रही है, अतः उत्कण्ठा से युक्त सन्तोष का अनुभव कर रही हूँ।

प्रियंवदा – सखि, हम दोनों तो अपने को बहला लेंगे, लेकिन वह बेचारी सुखी होवे।

अनसूया – तो इस आम के वृक्ष की शाखा पर लटके हुए नारियल के सम्पुट में मैंने इस निमित्त से ही लम्बे समय तक न मुरझाने वाली मौलसिरी की माला रख दी थी, इसलिए इसको हाथ में ले लो। जब तक मैं भी इसके लिए मृगरोचना को, तीर्थों की मिट्टी को और दूब के कौंपलों को और इस प्रकार मंगल-सामग्री को तैयार करती हूँ।

प्रियंवदा – वैसा ही करो।

(अनसूया निकल गई। प्रियंवदा पुष्प लेने का अभिनय करती है।)

(नेपथ्ये) गौतमि आदिश्यन्तां शाङ्र्गरवमिश्राः शकुन्तलानयनाय ।

प्रियंवदा – (कर्णं दत्त्वा) अनसूये त्वरस्व त्वरस्व । एते खलु हस्तिनापुरगामिन ऋषयः शब्दाय्यन्ते।

(प्रविश्य समालम्भनहस्ता)

अनसूया - सखि एहि । गच्छावः । (इति परिक्रामतः)

प्रियंवदा - (विलोक्य) एषा सूर्योदय एव शिखामज्जिता प्रतीष्टनीवारहस्ताभिः स्वस्तिवाचनिका भिस्तापसीभिरभिनन्द्यमाना शकुन्तला तिष्ठति । उपसर्पाव एनाम् । (इत्युपसर्पतः)

(ततः प्रविशति यथोद्दिष्टव्यापारा आसनस्था शकुन्तला)

तापसीनामन्यतमा - (शकुन्तलां प्रति) जाते भर्तुर्बहुमानसूचकं महादेवीशब्दं लभस्व ।

द्वितीया - वत्से वीरप्रसविनी भव ।

तृतीया - वत्से भर्तुर्बहुमता भव ।

(नेपथ्य में)

गौतमी, शकुन्तला को ले जाने के लिए शार्ङ्गरव आदि को आदेश दो।

प्रियंवदा - (कान देकर) अनसूये, शीघ्रता करो। निश्चय से ये हस्तिनापुर जाने वाले ऋषि पुकारे जा रहे हैं। (मांगलिक वस्तुएँ हाथ में लिए प्रविष्ट होकर)

अनसूया - सखि, आओ, चलें। (दोनों घूमती हैं।)

प्रियंवदा - (देखकर) सूर्योदय होते ही यह शकुन्तला चोटी से स्नान करके, नीवारों को हाथों में लिए हुए स्वस्तिवाचन पढ़ने वाली तपस्विनियों से अभिनन्दन की जाती हुई बैठी है। इसके पास में चलते हैं। (तदनन्तर जैसा कहा गया था, उस रूप में बैठी हुई शकुन्तला का प्रवेश)

तपस्विनियों में से एक- (शकुन्तला के प्रति) पुत्री, पति से बहुत अधिक आदर सूचक महादेवी पद को प्राप्त करो।

दूसरी - पुत्री, वीर पुत्र को उत्पन्न करने वाली बनो।

तीसरी - पुत्री, पति की बहुत अधिक आदरणीय और प्रिय बनो।

(इत्याशिषो दत्त्वा गौतमीवर्जं निष्क्रान्ताः)

सख्यौ - (उपसृत्य) सखि सुखमज्जनं ते भवतु ।

शकुन्तला - स्वागतं मे सख्योः । इतो निषीदतम् । उभे (मङ्गलपात्राण्यादाय । उपविश्य)

हला सज्जा भव । यावत्ते मङ्गलसमालम्भनं विरचयावः ।

शकुन्तला - इदमपि बहु मन्तव्यम् । दुर्लभमिदानीं मे सखीमण्डनं भविष्यति । (इति वाष्पं

विसृजति)

उभे - सखि उचितं न ते मङ्गलकाले रोदितुम् । (इत्यश्रूणि प्रमृज्य नाट्येन प्रसाधयतः)

प्रियंवदा - आभरणोचितं रूपमाश्रमसुलभैः प्रसाधनैर्विप्रकार्यते ।

(इस प्रकार आशीर्वाद देकर गौतमी को छोड़कर सब निकल गयी)

सखियाँ - सखि, तुम्हारा स्नान सुख देने वाला हो।

शकुन्तला- मेरी सखियों का स्वागत है। इधर बैठो।

दोनों - (मंगल पात्रें को लेकर) सखी, तैयार हो जाओ। हम तुम्हारा मांगलिक प्रसाधान अर्थात् स्नान करती हैं।

शकुन्तला - मुझको इसको भी बहुत समझना चाहिए। अब सखियों द्वारा प्रसाधान कराना मेरे लिए दुर्लभ हो जाएगा। (रोती है।)

दोनों - सखि, इस मंगल के समय में रोना उचित नहीं है।

प्रियंवदा - आभूषणों के योग्य यह सौन्दर्य आश्रम में सुलभ प्रसाधानों द्वारा बिगाड़ा जा रहा है।

(प्रविश्योपायनहस्तावृषिकुमारकौ)

उभौ - इदमलङ्करणम् । अलङ्क्रियतामत्रभवती ।

(सर्वा विलोक्य विस्मिताः)

गौतमी - वत्स नारद कुत एतत् ।

प्रथमः - तातकाश्यपप्रभावात् ।

गौतमी - किं मानसी सिद्धिः ।

द्वितीयः - न खलु । श्रूयताम् । तत्रभवता वयमाज्ञप्ताः शकुन्तलाहेतोर्वनस्पतिभ्यः कुसुमान्याहरतेति। तत इदानीं

(आभूषणों को हाथ में लिए हुए दो ऋषि कुमारों का प्रवेश)

दो ऋषिकुमार - ये अलंकार हैं। इनसे आदरणीया को अलंकृत करो।

(सब देखकर आश्चर्यचकित हो गयी)

गौतमी - पुत्र नारद, ये कहाँ से आये?

पहला - तात काश्यप के प्रभाव से।

गौतमी - क्या ये ऋषि के मानसिक संकल्प के फल है?

द्वितीय - नहीं, सुनिए। पूजनीय ने हमें आज्ञा दी थी कि शकुन्तला के लिए वृक्षों से फूल चुनकर लाओ। तब–

लघु उत्तरीय प्रश्नः

1. महर्षि कण्व ने शकुन्तला के विवाह पर क्या प्रतिक्रिया दी?

2. कुमुदिनी चंद्रमा के अस्त होने पर दुःखी क्यों है? इसका प्रतीकात्मक अर्थ क्या है?

3. शिष्य को दी गई विद्या के समान तुम शोचनीय नहीं हो इस कथन का भाव स्पष्ट करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः

1. महर्षि कण्व को शकुन्तला के गंधर्व विवाह की सूचना कैसे प्राप्त हुई? उस दिव्य वाणी (आकाशवाणी) का संदेश क्या था और कण्व ने उसे सुनकर क्या प्रतिक्रिया दी?

2. यजमान की आहुति भाग्य से अग्नि में ही गिरी है महर्षि कण्व के इस कथन का भाव स्पष्ट करते हुए बताइए कि उन्होंने शकुन्तला के विवाह को श्रेष्ठ क्यों माना?

बहुविकल्पीय प्रश्नः

1. महर्षि कण्व (काश्यप) कहाँ से लौटकर आए थे?

(क) हस्तिनापुर (ख) तीर्थ यात्रा (प्रवास) से (ग) स्वर्ग (घ) दूसरे आश्रम से

2. कण्व को शकुन्तला के गंधर्व विवाह और गर्भावस्था की सूचना किसने दी?

(क) अनसूया ने (ख) प्रियंवदा ने (ग) शरीर-रहित छंदोमयी वाणी (आकाशवाणी) ने (घ) गौतमी ने

3. शकुन्तला की तुलना किस वृक्ष से की गई है जिसके भीतर अग्नि छिपी होती है?

(क) आम (ख) शमी (ग) वट (घ) पीपल

4. यजमान की आहुति भाग्य से अग्नि में ही गिरी है यह किसने और किसके लिए कहा?

(क) अनसूया ने दुष्यंत के लिए (ख) कण्व ने शकुन्तला के लिए

(ग) दुर्वासा ने शिष्य के लिए (घ) गौतमी ने सखियों के लिए

इकाई 4.3

प्रकृति की विदाई और उपहार (श्लोक 5-12)

उद्देश्य:

1. छात्रों को कालिदास की प्रकृति-चेतना से परिचित कराना, जहाँ वृक्ष, लताएँ एवं पशुपक्षी मानवीय संवेदनाओं से ओत-प्रोत प्रदर्शित किए गए हैं।

2. यह समझाना कि प्राचीन भारतीय ऋषि-परम्परा में प्रकृति उपभोग की वस्तु नहीं, अपितु परिवार की सदस्या एवं सहोदरा(भगिनी) मानी जाती थी।

3. शकुन्तला के शृङ्गार हेतु प्रकृति द्वारा प्रदत्त अलौकिक उपहारों (यथा क्षौम वस्त्र, आभूषण एवं लाक्षारस) के माध्यम से काव्य की कल्पनाशीलता को स्पष्ट करना।

परिणाम:

1. छात्र इस मार्मिक सत्य को समझ पाएंगे कि शकुन्तला के वियोग में मृगों ने कुश-ग्रास का त्याग कर दिया एवं मयूरों ने नृत्य बन्द कर दिया, जो पारिस्थितिक संवेदना का चरमोत्कर्ष है।

2. शिक्षार्थी यह विश्लेषण कर सकेंगे कि किस प्रकार वृक्षों ने अपनी शाखाओं से रेशमी वस्त्र एवं आभूषण प्रदान कर शकुन्तला के प्रति अपना वात्सल्य प्रकट किया।

3. छात्र कालिदास की अद्वितीय वर्णन-शैली, श्लोकों में निहित अनुप्रास एवं मानवीकरण अलंकार तथा तत्सम-प्रधान संस्कृत शब्दावली का गम्भीर बोध प्राप्त कर सकेंगे।

क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डु तरुणा माङ्गल्यमाविष्कृतं

निष्ठ्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित् ।

अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितै-

र्दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्वन्द्विभिः ॥5॥

अन्वयः - केनिचित् तरुणा नः इन्दुपाण्डु ष्टमाङ्गल्यं क्षौमम् आविष्कृतम् , केनचित् 'चरणोपरागसुभगः लाक्षारसः निष्टुयुतः, अन्येभ्यः आपर्वभागोत्थितैः किसलयोद्धेदप्रतिद्रन्दिभिः , वनदेवताकरतलैः आभरणानि दत्तानि ।।5।।

भावार्थ- हमको किसी वृक्ष ने चन्द्रमा के तुल्य श्वेत मांगलिक रेशमी वस्त्र दिया। किसी ने पैरों को रंगने के योग्य लाक्षारस प्रकट किया। अन्य वृक्षों ने कलाई तक उठे हुए, सुन्दर किसलयों की प्रतिस्पध र्ा करने वाले, वनदेवता के करतलों से आभूषण दिए ।। 5 ।।

प्रियंवदा - (शकुन्तलां विलोक्य) हला अनयाभ्युपपत्त्या सूचिता ते भर्तुर्गेहेऽनुभवितव्या राजलक्ष्मीः।

(शकुन्तला व्रीडां रूपयति)

प्रथमः - गौतम एह्येहि । अभिषेकोत्तीर्णाय काश्यपाय वनस्पतिसेवां निवेदयावः ।

द्वितीयः - तथा ।

(इति निष्क्रान्तौ)

सख्यौ - अये अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनः । चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु त आभरणविनियोगं कुर्वः ।

शकुन्तला - जाने वां नैपुण्यम् । (उभे नाट्येनालङ्कुरुतः)

(ततः प्रविशति स्नानोत्तीर्णः काश्यपः)।

काश्यपः - यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया

कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।

प्रियंवदा - (शकुन्तला को देखकर) सखी, इस अनुग्रह से अनुमान होता है कि तुम अवश्य ही पति के घर में राजलक्ष्मी का अनुभव करोगी। (शकुन्तला लज्जा का अभिनय करती है)

पहला - गौतम, आओ, आओ। स्नान करके निकले हुए काश्यप को वनस्पतियों की सेवा बता दें।

दूसरा - ठीक है। (दोनों का प्रस्थान)

दोनों सखियाँ - ओह, हम लोगों ने कभी आभूषण का उपयोग नहीं किया है चित्रकारी के कार्य से परिचित होने से हम लोग तुम्हारे अंगों में आभूषण पहनाती हैं।

शकुन्तला - मैं तुम्हारी कुशलता को जानती हूँ।

(दोनों शकुन्तला को आभूषण पहनाने का अभिनय करती हैं।)

(उसके बाद स्नान करके आए हुए काश्यप का प्रवेश)

काश्यप - आज शकुन्तला विदा होगी, इसलिए मेरा हृदय दुःख से भरा है। आँसुओं के बहने को रोकने से गला भर आया है।

वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः

पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥6॥

अन्वयः - अद्य शकुन्तला यास्यति इति हदयम् उत्कण्ठया संस्पृष्टम् , कण्ठ स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषः, दर्शनं चिन्ताजडम् , अरण्यौकसः मम तावत् स्नेहात् ईदृशम् इदं वैक्लव्यम् , गृहिणः नवैः तनयाविश्लेषदुःखेः कथं नु पीड्यन्ते ॥6॥

भावार्थ - दृष्टि चिन्ता के कारण निश्चेष्ट हो गई है। जंगल में रहने वाले मुझको प्रेम के कारण इस प्रकार का दुःख हो रहा है तो गृहस्थ लोग पहली बार पुत्री के वियोग से कितने अधिक दुःखित होते होंगे?॥6॥

(इति परिक्रामति)

सख्यौ - हला शकुन्तले अवसितमण्डनासि । परिधत्स्व साम्प्रतं क्षौमयुगलम् ।

(शकुन्तलोत्थाय परिधत्ते)

गौतमी - जाते एष ते आनन्दपरिवाहिणा चक्षुषा परिष्वजमान इव गुरुरुपस्थितः । आचारं तावत्प्रतिपद्यस्व ।

शकुन्तला - (सव्रीडम्)

तात वन्दे ।

काश्यपः - वत्से ।

(चारों ओर घूमते हैं।)

दोनों सखियाँ - सखी शकुन्तला, तुम्हारा श्रृंगार पूरा हो गया है। अब रेशमी वस्त्रों को पहन लो। (शकुन्तला उठकर पहनती है)

गौतमी - पुत्री आनन्द के आँसूओं को बहाने वाली आँखों से तुम्हारा मानो

आलिंगन करते हुए ये तुम्हारे पिता उपस्थित हुए हैं। इनके प्रति

शिष्टाचार का पालन करो।

शकुन्तला - (लज्जा से) पिताश्री, मैं प्रणाम करती हूँ।

काश्यप - पुत्री,

ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भव ।

सुतं त्वमपि संराजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥7॥

अन्वयः - शर्मिष्ठा ययातेः इव भर्तुः बहुमता भव, सा पूरुम् इव त्वम् अपि सम्राजं सुतम् अवाप्नुहि ॥ 7 ॥

भावार्थ - जिस प्रकार शर्मिष्ठा ययाति को अत्यंत प्रिय और आदरणीय थी, उसी प्रकार तुम भी पति की बहुत अधिक प्रिय और आदरणीय बनो। जिस प्रकार उस शर्मिष्ठा ने पुरु नामक सम्राट् पुत्र को प्राप्त किया था, उसी प्रकार तुम भी सम्राट् पुत्र को प्राप्त करो।।7।।

गौतमी - भगवान् वरः खल्वेषः । नाशीः ।

काश्यपः - वत्से इतः सद्यो हुतानग्नीन्प्रदक्षिणीकुरुष्व ।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

काश्यपः - (ऋक्छन्दसाऽऽशास्ते)

गौतमी - भगवन्, यह तो निश्चित रूप से वरदान है, आशीर्वाद नहीं।

काश्यप - पुत्री, इस ओर से तत्काल आहुति दी गयी अग्नियों की परिक्रमा करो।

(सब घूमते हैं)

काश्यप - (ऋग्वेद के छन्द से आशीर्वाद देते हैं।)

अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः

समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः ।

अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैर्वैतानास्त्वां

वह्नयः पावयन्तु ॥8॥

अन्वय - वेदिं परितः क्लप्तधिष्ण्याः समिद्रन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः वैतानाः अमी वहयः हव्यगन्धैः दुरितम् अपघ्नन्तः त्वां पावयन्तु ।।8।।

भावार्थ - वेदी के चारों ओर स्थान को बनाने वाली, समिधाओं से युक्त प्रान्त भागों में बिछाये गये दर्भों से युक्त, हवियों की सुगन्धियों से पापों और कष्टों का नाश करने वाली ये यज्ञीय अग्नियाँ तुमको पवित्र करें ।। 8 ।।

प्रतिष्ठस्वेदानीम् ।

(सदृष्टिक्षेपम्) क्व ते शाङ्र्गरवमिश्राः । (प्रविश्य)

शिष्यः - भगवन् इमे स्मः ।

काश्यपः - भगिन्यास्ते मार्गमादेशय ।

शाङ्र्गरवः - इत इतो भवती । (सर्वे परिक्रामन्ति)

काश्यपः - भो भोः सन्निहितास्तपोवनतरवः ।

(प्रवेश करके)

शिष्य - भगवन्, ये हैं।

काश्यप - अपनी भगिनी को मार्ग बताओ।

शार्ङ्गरव - आप इधर से आइये। (सब घूमते हैं)

काश्यप - हे समीप स्थित आश्रम के वृक्षों, जो शकुन्तला तुम्हारे जल न पीने पर स्वयं पहले जल पीने का उद्योग नहीं करती थी

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या

नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः

सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ।।9।।

अन्वय - युष्मासु अपीतेषु या प्रथमं जलं पातुं न व्यवस्यति, प्रियमण्डना अपि या भवतां स्नेहेन पल्लवं न आदत्ते, वः आधये कुसुमप्रसूतिसमये यस्याः उत्सवः भवति, सा इयं शकुन्तला पतिगृहं याति, सर्वैः अनुज्ञायताम् ।।9।।

भावार्थ - अलंकार प्रिय होने पर भी स्नेह के कारण आपके पत्तो को नहीं तोड़ती थी, आपके प्रथम पुष्पों की उत्पत्ति के समय जो उत्सव मनाया करती थी, वह यह शकुन्तला आज पति के घर जा रही है, इसलिए आप सब अनुमति प्रदान कीजिए ।।9।।

(कोकिलरवं सूचयित्वा)

(कोयल की ध्वनि की सूचना सुनकर)

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः ।

परिभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ॥10॥

अन्वय - इयं शकुन्तला वनवासबन्धुभिः तरुभिः अनुमतगमना, यथा कलं परभृतविरुतम् एभिः इदृशं प्रतिवचनीकृतम् ।10।।

भावार्थ - वनवास के बन्धु इन वृक्षों ने शकुन्तला को जाने की अनुमति दे दी क्योंकि इन्होंने इस प्रकार के अव्यक्त मधुर कोयल के कूजन के रूप में अपना प्रत्युत्तर दे दिया है ।। 10 ।।

(आकाशे)

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभिश्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमयूखतापः ।

भूयात्कुशेशयरजोमृदुरेणुरस्याः शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ॥11॥

अन्वय - अस्याः पन्थाः कमलिनीहरितैः सरोभिः रम्यान्तरः, छायद्रुमैः नियमितार्कमयूखतापः, कुशेशयरजोमृदुरेणुः, शान्तानुकूलपवनः च शिवः च भूयात् ।11।।

(आकाश)

भावार्थ - इस शकुन्तला का मार्ग जो कि बीच-बीच में कमलिनियों से हरे-भरे जलाशयों से रमणीय है, जिसमें सूर्य की किरणों की धूप को छायादार वृक्षों के द्वारा रोक दिया गया है और जो कमलों के पराग के समान कोमल धूलि वाला है, शान्त एवं अनुकूल पवन वाला तथा कल्याणकारी होवे।।11।।

(सर्वे सविस्मयमाकर्णयन्ति)

गौतमी - जाते ज्ञातिजनस्निग्धाभिरनुज्ञातगमनासि तपोवनदेवताभिः । प्रणम भगवतीः ।

शकुन्तला - (सप्रणामं परिक्रम्य । जनान्तिकम्)

हला प्रियंवदे आर्यपुत्रदर्शनोत्सुकाया अप्याश्रमपदं परित्यजन्त्या दुःखेन मे चरणौ पुरतः प्रवर्तेते।

प्रियंवदा - न केवलं तपोवनविरहकातरा सख्येव । त्वयोपस्थितवियोगस्य तपोवनस्यापि तावत्समवस्था दृश्यते ।

(सभी लोग आश्वर्यपूर्वक सुनते हैं) ।

गौतमी - बेटी, बन्धुजनो के समान प्रेम करने वाले तपोवन के देवताओं द्वारा तुम्हे पतिगृह अर्थात् ससुराल जाने की स्वीकृति मिल गयी हे । इसलिए देवताओं को प्रणाम करों ।

शुन्तला - (प्रणाम करती हई चारो ओर घूमकर । हाथ की ओट मे) सखी प्रियंवदा, आर्यपुत्र (दुष्यन्त)

के दर्शन के लिये उत्कण्ठित होने पर भी आश्रम-भूमि को छोड़ते हए मेरे पैर दुःख के साथ (कठिनाई से) आगे की ओर बढ़ रहे है ।

प्रियंवदा - केवल सखी (तुम शकुन्तला) ही तपोवन के वियोग से व्याकुल (दुःखी) नहीं हो । तुम्हारे वियोग (विदाई) के समय उपस्थित होने के कारण तपोवन की भी (तुम्हारे) समान अवस्था दिखायी पड़ रही है।

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः ।

अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः ॥12॥

अन्वयः - मृग्यः उद्गलितदर्भकवलाः, मयूराः परित्यक्तनर्तनाः, लताः अपसृतपाण्डपत्राः, अश्रूणि मुञ्चन्ति इव ।12।।

भावार्थ - (तुम्हारे वियोग से दुःखी) हरिणियों ने कुश घास के (कवल) को उगल दिया है, मोरों ने नाचना छोड़ दिया है और लताये पीले पत्तो को गिराकर (डालकर) मानो आंसुओं को बहा रही है ।। 12 ।।

लघु उत्तरीय प्रश्नः

1. शकुन्तला की विदाई पर तपोवन के पशुओं और लताओं की स्थिति का वर्णन कीजिए।

2. कोयल के कूकने (ध्वनि) को महर्षि कण्व ने क्या मान लिया?

3. शकुन्तला अपनी लता-भगिनी(वन-ज्योतिषना) से क्या प्रार्थना करती है?

4. वन-देवताओं ने शकुन्तला को विदाई की अनुमति किस प्रकार दी?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः

1. शकुन्तला की विदाई पर तपोवन की जड़-चेतन प्रकृति किस प्रकार शोकमग्न थी? पशु-पक्षियों और लताओं की चेष्टाओं का पाठ के आधार पर वर्णन करें।

2. वन-देवताओं ने शकुन्तला को विदाई के समय कौन-कौन से उपहार दिए और आकाशवाणी के माध्यम से उसके सुखद मार्ग की क्या कामना की?

बहुविकल्पीय प्रश्नः

1. वन-देवताओं ने शकुन्तला को पहनने के लिए क्या उपहार दिया?

(क) स्वर्ण आभूषण (ख) रेशमी वस्त्र (क्षौम) और आभूषण (ग) केवल फूल (घ) कुछ नहीं

2. शकुन्तला के विरह में किस पशु ने कुशा का ग्रास (कवल) मुख से उगल दिया?

(क) मोर ने (ख) हिरणी (मृगी) ने (ग) हाथी ने (घ) कोयल ने

3. अपने पत्तों को गिराकर मानो लताएँ आँसू बहा रही हैं यहाँ कौन सा अलंकार संकेतित है?

(क) उपमा (ख) उत्प्रेक्षा (ग) अनुप्रास (घ) यमक

4. शकुन्तला का मार्ग कैसा होने का आशीर्वाद दिया गया है?

(क) काँटों भरा (ख) कमल के पराग जैसा कोमल और कल्याणकारी (ग) कठिन (घ) अंधकारमय

इकाई- 4.4
महर्षि कण्व का उपदेश और विदाई (श्लोक 13-21)

उद्देश्यः

1. छात्रों को पतिगृह(ससुराल) जाने वाली कन्या हेतु भारतीय संस्कारों एवं कर्तव्यों से अवगत कराना।

2. प्रसिद्ध श्लोक शुश्रूषस्व गुरुन्... के माध्यम से एक आदर्श पत्नी एवं पुत्रवधू के सामाजिक व नैतिक आचरण को स्पष्ट करना।

3. महर्षि कण्व के माध्यम से यह प्रदर्शित करना कि एक वैराग्य-युक्त तपस्वी भी अपनी पालित-पुत्री के वियोग में कितना व्याकुल हो सकता है, जो मानवीय प्रेम की पराकाष्ठा है।

परिणामः

1. छात्र प्राचीन काल में प्रचलित पारिवारिक मूल्यों एवं महिला के गृहस्वामिनी के रूप में गरिमामय स्थान का विश्लेषण कर सकेंगे।

2. शिक्षार्थी महर्षि कण्व द्वारा राजा दुष्यन्त को प्रेषित सन्देश के माध्यम से आत्मसम्मान एवं कुल-मर्यादा के महत्त्व को समझ पाएंगे।

3. छात्र कालिदास की भावपूर्ण काव्य शैली एवं इन श्लोकों में प्रयुक्त शार्दूलविक्रीड़ित जैसे छन्दों एवं उपदेशात्मक भाषा का व्याकरणिक बोध प्राप्त कर पाएंगे।

शकुन्तला - (स्मृत्वा) तात लताभगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये ।

काश्यपः - अवैमि ते तस्यां सोदर्यस्नेहम् । इयं तावद्दक्षिणेन ।

शकुन्तला - (उपेत्य लतामालिङ्ग्य) वनज्योत्स्ने चूतसङ्गतापि मां प्रत्यालिङ्गेतोगताभिः शाखाबाहुभिः ।

अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी ते खलु भविष्यामि ।

शकुन्तला - (याद करके) हे पिता जी, तो में अपनी लता-बहन वन ज्योत्स्ना से विदाई ले लुं।

काश्यप - मैं जानता हूँ कि तुम्हारा उस पर सगी बहन-सा स्नेह है । तो यह (वन-ज्योत्सना)दाहिनी ओर है ।

शकुन्तला – (पास जाकर लता को गले से लगाकर) वनज्योत्स्ना, (अपने पति) आम से लिपटी हुई भी इधर फैली हुई शाखारूपी भुजाओं से मेरा आलिङ्गन कर लो (अर्थात् मुझसे गले मिल लो) । आज से मैं तुमसे दूर हो जाऊंगी ।

काश्यपः –

सङ्कल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे

भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम् ।

चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयमस्यामहं

त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः ॥13॥

अन्वयः – मया तवार्थे प्रथमम् एव सङ्कल्पितम् आत्मसदृशं भर्तारं त्वं सुकृतैः गता, इयं नवमालिका चूतेन संश्रितवती, सम्प्रति अहम् अस्यां त्वयि च वीतचिन्तः । (जातोऽस्मीति शेषः) ॥13॥

भावार्थ– मैने तुम्हारे लिये पहले से ही (जिसका) संकल्प किया –था; अपने अनुरूप (उस) पति को तुम (अपने) पुण्यो (भाग्य) से पा गयी हो। यह–नवमालिका (भी)–आम्र वृक्ष से मिल गयी है । अब मैं इसके और तुम्हारे विषय में चिन्ता से मुक्त (निश्चिन्त) हो गया हूं ।

इतः पन्थानं प्रतिपद्यस्व ।

शकुन्तला – (सख्यौ प्रति)

हला एषा द्वयोर्युवयोर्हस्ते निक्षेपः ।

सख्यौ – अयं जनः कस्य हस्ते समर्पितः ।

(इति वाष्पं विहरतः)

काश्यपः – अनसूये अलं रुदित्वा । ननु भवतीभ्यामेव स्थिरीकर्तव्या शकुन्तला ।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

शकुन्तला – तात एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भमन्थरा मृगवधूर्यदाऽनघप्रसवा भवति तदा मह्यं कमपि प्रियनिवेदयितृकं विसर्जयिष्यथ ।

काश्यपः – नेदं विस्मरिष्यामः ।

शकुन्तला – (गतिभङ्गं रूपयित्वा) को नु खल्वेष निवसने मे सज्जते । (इति परावर्तते)

इधर से मार्ग पर आ जाओ ।

शकुन्तला – (दोनों सखियों से) सखियों, यह (लता) तुम दोनों के हाथ मे (मेरी) धरोहर है ।

दोनों सखियां – यह जन किसके हाथ में सोपा जा रहा है (अर्थात् हम दोनों को किसके हाथ में सौंप रही हो) ।

(दोनों आंसू बहाती है) ।

काश्यप – अनसूया, रोओ मत । आप दोनों के द्वारा शकुन्तला को धैर्य बंधाना चाहिये ।

(सभी लोग चारों ओर घुमते है)

शकुन्तला – हे पिता जी, कुटी के समीप विचरण करने वाली (ओर) गर्भ के कारण मन्द गति वाली यह हरिणी (मृगवधू) जब निर्विघ्न (सकुशल) बच्चा पैदा करेगी तब (इस) प्रिय

समाचार की सूचना देने वाले किसी व्यक्ति को मेरे पास भेजियेगा ।

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने

भर्तृर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।

भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी

यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ।।18।।

अन्वयः – गुरून् शुश्रूषस्व, सपत्नीजने प्रियसखीवृत्तिं कुरु, विप्रकृता अपि रोषणतया भर्तुः प्रतीपं मा स्म गमः, परिजने भूयिष्ठं दक्षिणा भव, भाग्येषु अनुत्मेकिनी (भव), एवं युवतयः, गृहिणीपदं यान्ति, वामाः कुलस्य आधयः (भवन्ति) । ।।18।।

भावार्थ – गुरुजनों अर्थात् बड़ों की सेवा करना, सपत्नी अर्थात् सोतों के साथ प्रियसखी के समान व्यवहार करना, तिरस्कृत होने पर भी क्रोधवश पति के प्रतिकूल आचरण मत करना, सेवक–सेविकाओं के प्रति अत्यधिक उदार रहना ओर अपने अच्छे भाग्य पर निरभिमानी (होना) (अर्थात्् अभिमान मत करना) । इस प्रकार आचरण करने वाली युवतियां गृहिणी अर्थात् गृह लक्ष्मी के पद को प्राप्त करती हैं और इसके प्रतिकूल आचरण करने वाली युवतीयां कुल के लिये व्याधि अर्थात् आपत्ति का कारण बनती है । ।। 18 ।।

काश्यपः – वत्से किमेवं कातरासि ।

कण्व – बेटी, क्यों इस प्रकार व्याकुल अर्थात् दु:खी हो रही हो ?

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला ।

तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ।।19।।

अन्वयः - वत्से, त्वुम् अभिजनवतः. भर्तुः श्लाघ्ये गृहिणीपदे स्थिता. तस्य:विभवगुरुभिः कृत्यैः प्रतिक्षणम् आकुला अचिरात् च प्राची अर्कम् इवं पावनं तनयं प्रसूय मम विरहजां शुचं न गणयिष्यसि ।।19।।

भावार्थ- हे बेटी, तुम उत्तम कुल में उत्पन्न अपने पति के प्रशंसनीय गृहिणी के पद पर प्रतिष्ठित होकर, उसके ऐश्वर्य के कारण वाले महत्त्वपूर्ण कार्यो से प्रतिक्षण व्यस्त रहती हुई ओर शीघ्र ही, पूर्व दिशा जिस प्रकार पवित्र सूर्य को जन्म देती है उसी प्रकार, पवित्र पुत्र को जन्म देकर मेरे विरह जनित शोक को भूल जाना। ।।19।।

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी

दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।

भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं

शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ।।20।।

अन्वयः - चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी भूत्वा, अप्रतिरथं दौष्यन्तिं तनयं निवेश्य तदपितकुटुम्बभरेण भ्रा सार्धं शान्ते अस्मिन् आश्रमे पुनः पदं करिष्यसि ।।20।।

भावार्थ- बहुत दिनों तक चारों और फैली हुई पृथ्वी की सपत्नी अर्थात् राजा दुष्यन्त की रानी होकर ओर अपने अद्वितीय महारथी दुष्यन्त से उत्पन्न पुत्र को राज-सिंहासन पर बैठाकर ओर उसे कुटुम्ब का भार सहने वाले पति (दुष्यन्त)के साथ इस शान्त आश्रम में आकर पुनः निवास करोगी ।। 20 ।।

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम् ।

उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ।।21।।

अन्वयः- वत्से, त्वया रचितपूर्व उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः मम शोकः कथं नु शमम् एष्यति ।। 21।।

भावार्थ- कन्या दूसरे का ही धन है । आज उसे पति के पास भेजकर मेरा यह अन्तःकरण धरोहर लोटा देने वाले व्यक्ति के समान अत्यन्त प्रसन्न हो गया है, अर्थात् जिस प्रकार धरोहर लोटा देने वाले व्यक्ति का अन्तःकरण अति निश्चिन्त हो जाता है, वैसे ही मेरा अंतःकरण भी निश्चिंत हो गया है। ।। 21।।

लघु उत्तरीय प्रश्नः

1. कण्व ऋषि ने शकुन्तला को राजा दुष्यंत के साथ भविष्य में पुनः आश्रम आने के बारे में क्या कहा?

2. विदाई के समय कण्व ऋषि के स्वयं के दुःख (वियोग) का क्या कारण था, जबकि वे एक संन्यासी थे?

3. शकुन्तला ने अपनी सखियों को अपनी धरोहर के रूप में क्या सौंपा?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्नः

1. महर्षि कण्व ने शकुन्तला को ससुराल में आदर्श गृहिणी बनने के लिए क्या-क्या उपदेश दिए?

2. कन्या वास्तव में पराई ही संपत्ति (धरोहर) है इस कथन के आधार पर पुत्री की विदाई के समय महर्षि कण्व की मानसिक दशा और आत्मिक शांति का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्नः

1. पुत्री! पति के घर जाकर बड़ों (गुरुजनों) की क्या करना?

(क) निंदा (ख) सेवा (शुश्रूषा) (ग) उपेक्षा (घ) पूजा

2. कण्व ने शकुन्तला को सौतों(सपत्नी) के साथ कैसा व्यवहार करने को कहा?

(क) शत्रु जैसा (ख) सखी जैसा (ग) सेविका जैसा (घ) कठोर

3. बेटे को जन्म देकर तुम मेरे विरह का द्ुःख भूल जाओगी कण्व ने किस प्रकार के बेटे की बात की?

(क) साधारण (ख) सम्राट और पावन पुत्र (ग) ऋषि पुत्र (घ) वीर पुत्र

4. महर्षि कण्व ने शकुन्तला को विदा करने के बाद स्वयं को कैसा महसूस किया?

(क) बहुत दुःखी (ख) धरोहर लौटाने वाले व्यक्ति की तरह निश्चिंत

(ग) क्रोधित (घ) अकेला

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

(इति चतुर्थोऽङ्कः ।)

।। ओ३म् ।।

व्याकरणप्रवेशः

MSSAMN-104

दिव्य प्रकाशन

एम. ए. संस्कृतम् पाठ्यक्रमस्य प्रथमसत्रम्
प्रथमपत्रम् - व्याकरणप्रवेशः
पेपर कोड : MSSAMN-104 Credit-4

उद्देश्य-

- प्रारम्भिक छात्रों को व्याकरण के मूलभूत सिद्धान्तों से अवगत कराना।
- अध्येताओं को व्याकरण के माध्यम से संस्कृतभाषा के लेखन, अध्यन-अध्यापन में कुशल बनाना।
- अध्येताओं को व्याकरण के द्वारा सम्भाषण एवं व्यावसायिक कुशलता प्रदान करना।

परिणाम-

- अध्येता संस्कृत भाषा के व्याकरण के सिद्धान्तों में निपुण हो जाता है।
- विद्यार्थी व्याकरण के द्वारा भाषा के पठन-पाठन लेखन एवं सम्भाषण में कुशलता प्राप्त कर लेता है।
- अध्येता व्याकरण की रचनाशैली से भी अवगत हो जाता है।

खण्ड-१. पाणिनिवर्णोच्चारणशिक्षा। (क्रेडिट-१)

इकाई 1.1 प्रथम वर्ग - वर्णमाला

इकाई 1.2 द्वितीय वर्ग - वर्णोच्चारणम्

खण्ड-२. सञ्ज्ञासमासप्रकरणम् (क्रेडिट-१)

इकाई 2.1 वृद्धिसंयोगसवर्णादिसंज्ञा

इकाई 2.2 समासप्रकरणम्

खण्ड-३. विभक्त्यर्थानुवादप्रकरणम् (क्रेडिट-१)

इकाई 3.1 प्रथमातःचतुर्थीविभक्तिपर्यन्तम्

इकाई 3.2 पञ्चमीतःसप्तमीविभक्तिपर्यन्तम्

खण्ड-४. प्रत्ययसन्धिशब्दरूपप्रकरणम् (क्रेडिट-१)

इकाई 4.1 क्तादिप्रत्ययप्रकरणम्

इकाई 4.2 स्वरादिसन्धिप्रकरणम्

इकाई 4.3 शब्दरूपधातुरूपसंग्रहः

विषय-सूची

क्रम संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
इकाई-1	**पाणिनिवर्णोच्चारण शिक्षा**	**5-11**
१.१	प्रथम वर्ग - वर्णमाला	5
१.२	द्वितीय वर्ग - वर्णोच्चारणम्	11
इकाई-2	**संज्ञासमासप्रकरणम्**	**20-36**
२.१	वृद्धिसंयोगसवर्णादिसंज्ञा	20
२.२	समासप्रकरणम्	36
इकाई-3	**विभक्त्यर्थानुवादप्रकरणम्**	**56-73**
३.१	प्रथमातःचतुर्थीविभक्तिपर्यन्तम्	56
३.२	पञ्चमीतःसप्तमीविभक्तिपर्यन्तम्	73
इकाई-4	**प्रत्ययसन्धिशब्दरूपप्रकरणम्**	**84-118**
४.१	क्तादिप्रत्ययप्रकरणम्	84
४.२	स्वरादिसन्धिप्रकरणम्	105
४.३	शब्दरूपधातुरूपसंग्रहः	118

भूमिका

संस्कृत एक वैज्ञानिक, सम्पूर्ण, सनातन, दिव्य भाषा तो है ही साथ ही इसका श्रेष्ठतम सा.हित्य, वेदों से लेकर दर्शन, उपनिषद्, श्रोतस्मार्त, स्मृतियां, इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत, रघुवंश, कादम्बरी, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, गीता, हर्षचरितम्, चरक, सुश्रुत, छन्द, कल्प, ज्योतिष व व्याकरण ाादि सभी परा–अपरा विद्या व पराविद्या के महान् ग्रन्थ संस्कृत में ही हैं। संस्कृत भारतीय धर्म, दर्शन, अध्यात्म एवं ऋषियों के ज्ञान, तप, त्याग, महान् आदर्शो, भौतिक व आध्यात्मिक जीवन के अन्तिम सत्यों, निष्कर्षो एवं निर्णयों के जानने का एकमात्र माध्यम है। संस्कृत भारत की आत्मा है। संस्कृत ऋषियों के समस्त पुण्य का फल है। संस्कृत जीवन में दिव्यता, भव्यता व पूर्णता पाने का माध्यम है। संस्कृत जीवन के समस्त शुभ का प्रवेश द्वार है। ये मात्र एक भाषा ही नहीं जीवन के सम्पूर्ण विकास का साधन है। संस्कृत मात्र भारत व भारतीयों के ही नहीं सम्पूर्ण विश्व के अभ्युदय (समग्र स्थाई व अहिंसक भौतिक समृद्धि) तथा निःश्रेयस जीवन की पूर्णता की प्राप्ति का एकमात्र माध्यम है। संस्कृत के इस सत्य को समझने का सामर्थ्य बिना व्याकरण के संभव ही नहीं है। अतः संस्कृत में सन्निहित महानतम ज्ञान विज्ञान व कौशल को प्राप्त करना है तो संस्कृत व्याकरण उसके लिए नितान्त आवश्यक है। यदि संभव हो सके तो महर्षि पाणिनि प्रणीत अष्टाध्यायी व महर्षि पतंजलि प्रणीत महाभाष्य व निरुक्त आदि सम्पूर्ण व्याकरण का अध्ययन यदि कोई कर सके तो यह जीवन का बहुत बड़ा दिव्य सौभाग्य है। यदि इतना संभव न हो तो कम से कम व्याकरण प्रवेश जैसी अत्यन्त सरल व सुगम पुस्तकों के माध्यम से संस्कृत व्याकरण का सामान्य ज्ञान तो होना ही चाहिए। इस दिशा में यह लघु पुस्तिका आप का थोड़ा सा मार्गदर्शन व सहयोग अवयक करेगी। ऐसी मुझे सात्विक अपेक्षा है।

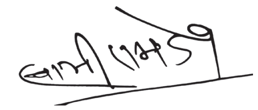

खण्ड-१. पाणिनिवर्णोच्चारणशिक्षा।

इकाई 1.1: वर्णमाला

उद्देश्य

1) प्रारंभिक छात्रों को संस्कृत व्याकरण के मूलभूत सिद्धांतों और वर्णमाला के नियमों से परिचित कराना।

2) अध्येताओं को व्याकरण के माध्यम से संस्कृत भाषा के शुद्ध लेखन और अध्ययन-अध्यापन में निपुण बनाना।

3) छात्रों में व्याकरण के द्वारा प्रभावी सम्भाषण (बोलचाल) और व्यावसायिक भाषाई कुशलता विक. सित करना।

परिणाम

1) अध्येता संस्कृत भाषा के व्याकरणिक सिद्धांतों को समझने और प्रयोग करने में पूरी तरह सक्षम हो जाता है।

2) विद्यार्थी भाषा के पठन-पाठन, लेखन और मौखिक संवाद में उच्च स्तर की कुशलता प्राप्त कर लेता है।

3) अध्येता व्याकरण की शास्त्रीय रचनाशैली और वर्णों की वैज्ञानिक व्यवस्था से अवगत हो जाता है।

शिक्षां घ्राणं तु वेदस्य प्रवदन्ति महर्षयः ।
अन्यथोच्चारयंश्छन्दो नरो भवति किल्बिषी ॥ 1 ॥

उच्चारणस्य साधुत्वं सममादरभाजनम् ।
मतं लोके च वेदे च संवादो विदुषामिह ॥ 2 ॥

शब्दान्मोच्चीचरन्मिथ्या शिष्यः प्राथमकल्पिकः ।
व्याक्रियां वक्ष्यमाणोऽतः शिक्षां तावदुपक्रमे ॥ 3 ॥

आर्यावर्त में जिस लिपि में संस्कृत लिखी जाति है उसे देवनागरी कहते हैं। संस्कृत ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में भी लिखी जाति रही। जिसे आज संस्कृत कहते हैं वैदिक काल में इसे 'भाषा' कहते थे। संस्कृत शब्द का मूल अर्थ सुन्दर रीति से निष्पादित, परिमार्जित, अलंकृत है। आदि में यह वाक् (वाणी) का विशेषण होकर प्रयुक्त होता था,[१] पीछे विशेष्य रूप से नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होने लगा[२]। लिपि का देवनागरी यह नाम कैसे पड़ा निश्चय से नहीं कहा जा सकता। हो सकता है आर्यों के किसी

नगरविशेष में इसका जन्म होने से इसका यह नाम पड़ा हो। अथवा किसी नगर विशेष की लिपि न होकर देवों आर्यों के नगरों में प्रयुक्त होने से यह इस नाम से प्रसिद्ध हुई हो। इस की वर्णमाला में दो प्रकार के वर्ण हैं- स्वर तथा

१. यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् ।

रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥ (रा० ५.३०.१८)

२. संस्कृतं नाम देवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः । (काव्यादर्श १.३३)

व्यञ्जन । कुल वर्गों की संख्या ६३ अथवा ६४ है।[१] इनमें २२ स्वर हैं, शेष व्यञ्जन । एकीय मत के अनुसार दीर्घ लॄ मानने से ६४ संख्या सम्पन्न होती है।

जिन वर्गों के उच्चारण में दूसरे वर्गों की सहायता की अपेक्षा नहीं उन्हें ''स्वर'' कहते हैं।[२] स्वरों के तीन भेद हैं ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत। जिनके उच्चारण में एक मात्रा समय लगे उन्हें ह्रस्व स्वर कहते हैं, जिनके उच्चारण में दो मात्रा समय लगे उन्हें दीर्घ और जिन के उच्चारण में तीन मात्रा समय लगे उन्हें प्लुत स्वर कहते हैं।[३] मूलभूत ह्रस्व स्वर ये हैं - अ इ उ ऋ लृ । पूर्वाचार्य इन्हें 'समानाक्षर' नाम से कहते हैं। दीर्घ स्वर ये हैं-आ, ई, ऊ, ॠ । दीर्घ (मिश्र) स्वर ये हैं- ए ऐ ओ औ। इन्हें सन्ध्यक्षर कहते हैं। यह संज्ञा भी प्राचीन वैयाकरणों की है, पाणिनिसूत्रों में इसका कहीं निर्देश नहीं। दो-दो अक्षरों (वर्णों) की सन्धि (मेल) से ये बने हैं, अतः इन्हें सन्ध्यक्षर कहते हैं। लृ दीर्घ नहीं होता ऐसा आचार्य मानते हैं। सन्ध्यक्षर ह्रस्व नहीं होते । अ इ उ ऋ में से प्रत्येक के ह्रस्व, दीर्घ (आ ई ऊ ॠ), प्लुत (आ३ ई३ ऊ३ ॠ३) तीन-तीन भेद होने से ये कुल १२ हुए। लृ के ह्रस्व और प्लुत होने से दो भेद हुए। ए ऐ ओ औ के दीर्घ और प्लुत दो-दो भेद होने से ये ८ हुए । इस प्रकार कुल स्वर २२ हुए। पर प्रत्येक स्वर के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित - ये तीन-तीन और भेद भी हैं। भाग वाले तालु आदि स्थानों में ऊर्ध्व (ऊंचे) भाग से उत्पन्न हुआ अकारादि वर्ण उदात्त (उदात्तगुण वाला) कहलाता है, निचले भाग से उत्पन्न हुआ अनुदात्त (अनुदात्त गुणवाला)। जिस अकारादि वर्ण के उच्चारण में उदात्त और अनुदात्त

----

१. त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः । पाणिनीय शिक्षा ।

२. स्वरन्तीति स्वराः, स्वृ शब्दोपतापयोः, भ्वादिः, पचाद्यच्। स्वयं राजन्त इति स्वराः । यह अर्थ-प्रध ान नैरुक्त शैली के अनुसार व्युत्पत्ति है। स्वयं राजन्त इति स्वरा अन्वग्भवति व्यञ्जनम् (महाभाष्य १।२।२६) ।

३. ऊकालोऽज्भ्रस्वदीर्घप्लुतः (१।१।२७) । पदच्छेद ऊकालः । अच् । ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः । उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः। वः कालो यस्य स ऊकालः । 'ऊ' यह कुक्कुट के रुत का अनुकरण है। इस रुत में तीन अवस्थायें देखी जाती हैं, पहली अवस्था १ मात्रा काल की, दूसरी २ मात्रा काल की, तीसरी

३ मात्रा काल की।

दोनों हों अर्थात् पहली अर्धमात्रा उदात्त हो और शेष अनुदात्त, उसे स्वरित (=स्वरित गुणवाला) कहते हैं।[१] उदात्त आदि का श्रुतिप्रकर्ष से कुछ संबन्ध नहीं। स्वर सानुनासिक (आनुनासिक्य धर्मवाले) तथा निरनुनासिक (आनुनासिक्य रहित) होते हैं। अँ, अ इत्यादि ।

पहले उदात्तादि स्वरों का लोक में भी उपयोग होता था[२] जो अब नहीं रहा । वेद में पद-पदार्थ बोध में उपयोगी होने से इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यञ्जन जो संख्या में ४१ (अथवा ४२) हैं, इस प्रकार लिखे जाते है-

१. क् ख् ग् घ् ङ् (कवर्ग)

२. च् छ् ज् झ् ञ् (चवर्ग)

३. ट् ठ् ड् ढ् ण् (टवर्ग)

४. त् थ् द् ध् न् (तवर्ग)

५. प् फ् ब् भ् म् (पवर्ग)

ये पाँच-पाँच वर्णों के पाँच वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग की संज्ञा उसके आदि वर्ण के अनुसार है, जैसे क् के आदि होने से प्रथम वर्ग कवर्ग कहलाता है।

य् र् ल् व्

श् ष् स् ह्

----

१. उच्चैरुदात्तः, नीचौरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः (**१**.२.२
९.३०.३१)। **तस्यादित उदात्तमर्ध ह्रस्वम्** (१.२.३२) । यहाँ आदितः आदौ । अर्धह्रस्वम् = अर्धमात्रा । **४**

२. उदक् च विपाशः (४.२.७४) यह सूत्र अण् के अधिकार में अञ् विधान करता है। दत्तेन निर्वृत्तः कूपो दात्तः । दत्त नाम के पुरुष द्वारा विपाट् (व्यास) नदी के उत्तर तीर पर बनवाए हुए कुएँ को 'दात्त' कहते हैं। अञ्प्रत्ययान्त होने से 'दात्त' आद्युदात्त हुआ, अण् प्रत्ययान्त होता तो प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त होता । रूप में भेद न होने पर भी स्वर में भेद है।

इस से विदित होता है कि ब्राह्मणादि शिष्ट लोग ही नहीं, किन्तु सामान्य जनता किसान आदि भी शब्दों का सस्वर उच्चारण करते थे। सूक्ष्मदृक् भगवान् सूत्रकार ने तो वस्तुस्थिति का अनुवादमात्र किया है। जिस पर मुग्ध होकर काशिकाकार ने महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य' ऐसा कहा है।

य् व् ल् दो प्रकार के होते हैं- सानुनासिक तथा निरनुनासिक । यँ वँ लँ, य व ल ।

इनके अतिरिक्त दो और व्यञ्जन हैं- अनुस्वार[1] (-) और विसर्जनीय (:)। ये स्वर के अनन्तर ही प्रयुक्त होते हैं, अतः प्रायः इन्हें 'अ' के साथ दिखा दिया जाता है- अं अः। विसर्जनीय मूलभूत वर्ण नहीं है। स् अथवा र् का विकार है। विसर्जनीय (:) के कुछ ध्वनि-भेद से और कुछ रूप-भेद से दो और नाम हैं-जिह्वामूलीय, उपध्मानीय । पहला केवल क ख से पूर्व प्रयुक्त होता है, दूसरा केवल प फ से पूर्व ।

अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को "अयोगवाह" कहते हैं। उक्त वर्गों को छोड़ कर ४ और वर्ण हैं जो 'यम' नाम से कहे जाते हैं। वे लोक में इन नामों से प्रसिद्ध हैं- कुँ खुँ गुँ घुँ। पञ्चम वर्ण परे होने पर पूर्व वर्ण सदृश जो वर्ण उनके बीच में उच्चरित हो जाता है उसे 'यम[2]'

---

१. 'अनुस्वार' यह अन्वर्थ संज्ञा है। अनुस्वार का अर्थ है- अनुगतः स्वारम् अनुस्वारः । स्वर एव स्वारः । प्रज्ञादित्वादण् । स्वर शब्द से स्वार्थिक प्रत्यय अण् होकर 'स्वार' शब्द सिद्ध होता है।

'अनुस्वार' को स्वर भी माना जाता है- **अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वरो**

वा-ऋ० प्रा० २४।२२॥

२. लोक में यम, यमज, यमल समानयोनि, समानकालोत्पत्तिक दो बच्चों को कहते हैं। यमाविमौ शिशू (यमजौ यमलौ)। यमज बच्चे बहुत कुछ समानाकृतिक होते हैं। इस सादृश्य को लेकर ऐसे वर्णों की 'यम' संज्ञा की है।

'यम' का स्थान नासिका है- **अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमुच्यते (पाणिनीय शिक्षा)**। भट्टोजिदीक्षित ने 'यम' की 'नासिक्यता' को स्वीकार नहीं किया है ऐसा कौमुदीस्थ लक्षण व उदाहरण से प्रतीत होता है- वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्ववर्णसदृशो वर्णः । पलिक्क्नी चख्ख्नतुः । अग्ग्निः । प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट का यम-लक्षण इसकी अपेक्षा अतिग्राह्य है- **यमाः स्युरग्निरत्लादौ सनासा जम्परा भ्रयः** । यह लक्षण शिक्षा तथा प्रातिशाख्य के साथ अधिक संवादी है। म० म० पं० शिवदत्त शास्त्री (तत्त्वबोधिनी-टिप्पणीकार) का इसके विपरीत ऐसा कथन है- (यमः) कवर्गीय एव भवति नान्यवर्गीयः। श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्क्न्यौ (यजुः) इत्यत्र तकारनकारयोरपि मध्ये ककारस्यैव दर्शनात्। यह प्रमाणान्तर-सव्यपेक्ष है।

कहते हैं। पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः, घ्घ्नन्ति- ये क्रम से उदाहरण हैं। 'यम' भी "अयोगवाह" हैं। अनुस्वार आदि इन आठ वर्गों का अक्षरसमाम्नाय (प्रत्याहारसूत्रों) में योग (=उपदेवा, उच्चारण) नहीं है तो भी इनसे 'बहन' (= निर्वहण, निर्वाह) शास्त्र कार्य होता है, अतः इन्हें "अयोगवाह[1]" कहते हैं।

स्मरणीय बिंदु

1) संस्कृत भाषा देवनागरी लिपि में लिखी जाती है, जिसे देवों की भाषा या परिमार्जित वाणी माना जाता है।

2) पाणिनीय शिक्षा के अनुसार वर्णों की कुल संख्या 63 या 64 मानी गई है, जिनमें स्वर और व्यंजन दोनों समाहित हैं।

3) स्वरों के मुख्य तीन भेद है : ह्रस्व (एक मात्रा), दीर्घ (दो मात्रा), और प्लुत (तीन मात्रा)।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) संस्कृत भाषा की उत्पत्ति, उसके अर्थ और देवनागरी लिपि के नामकरण के पीछे के संभावित तर्कों की सविस्तार व्याख्या कीजिए।

2) स्वरों के भेदों (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत) को परिभाषित करते हुए स्पष्ट कीजिए कि पाणिनीय सूत्रों में सन्ध्यक्षर का क्या महत्व है?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) वैदिक काल में भाषा किसे कहा जाता था और संस्कृत शब्द का मूल अर्थ क्या है?

2) पाणिनीय शिक्षा के अनुसार कुल वर्णों की संख्या कितनी है और उनमें स्वर कितने हैं?

3) समानाक्षर किसे कहते हैं? उदाहरण सहित बताइए।

4) उदात्त और अनुदात्त स्वरों के बीच के मुख्य अंतर को स्पष्ट कीजिए।

5) अयोगवाह वर्ण कौन-कौन से हैं और उन्हें यह नाम क्यों दिया गया है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. संस्कृत भाषा को प्राचीन काल (वैदिक काल) में किस नाम से जाना जाता था?

(क) देववाणी (ख) भाषा (ग) प्राकृत (घ) देवनागरी

2. जिन वर्णों के उच्चारण में किसी दूसरे वर्ण की सहायता की अपेक्षा नहीं होती, उन्हें क्या कहते हैं?

(क) व्यंजन (ख) अयोगवाह (ग) स्वर (घ) अन्तःस्थ

3. ए, ऐ, ओ, औ को व्याकरण की भाषा में क्या कहा जाता है?

(क) समानाक्षर (ख) सन्ध्यक्षर (ग) ह्रस्व स्वर (घ) यम वर्ण

4. तालु आदि स्थानों के ऊर्ध्व (ऊंचे) भाग से उत्पन्न होने वाला स्वर क्या कहलाता है?

(क) उदात्त (ख) अनुदात्त (ग) स्वरित (घ) अनुनासिक

5. अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का सामूहिक नाम क्या है?

(क) स्पर्श व्यंजन (ख) अयोगवाह (ग) ऊष्म वर्ण (घ) संयुक्त अक्षर

इकाई 1.2
द्वितीय वर्ग - वर्णोच्चारणम्

उद्देश्य

1) अध्येताओं को संस्कृत वर्णों के उच्चारण स्थानों (कंठ, तालु, मूर्धा आदि) के वैज्ञानिक आधार का ज्ञान प्रदान करना।

2) छात्रों को स्वर और व्यंजनों के शुद्ध उच्चारण में निपुण बनाना ताकि वे संस्कृत संभाषण में कुशल हो सकें।

3) वर्णमाला के विभिन्न वर्गों (अन्तःस्थ, ऊष्म, स्पर्श) की प्रकृति और उनके उच्चारण के सूक्ष्म अंतर को समझाना।

परिणाम

1) अध्येता प्रत्येक वर्ण के सटीक उच्चारण स्थान को पहचानकर उसे शुद्ध रूप में बोलने में सक्षम हो जाता है।

2) विद्यार्थी अन्तःस्थ और ऊष्म वर्णों के बीच के अंतर को उनके उच्चारण के आधार पर स्पष्ट रूप से समझ लेता है।

3) छात्र संस्कृत भाषा के पठन-पाठन और संभाषण में उच्चारण संबंधी त्रुटियों को दूर कर लेता है ।

अ आ कवर्ग ह (असंयुक्त) तथा विसर्जनीय का कण्ठ में उच्चारण होता है। अतः इन्हें 'कण्ठ्य' कहते हैं। पाणिनीय शिक्षा में क वर्ग को 'जिह्वामूलीय' कहा है।[२]

इ ई चवर्ग य श का तालु में उच्चारण होता है। अतः इन्हें 'तालव्य' कहते हैं।

ऋ, ॠ ट वर्ग र ष का मूर्धा में उच्चारण होता है। अतः इन्हें 'मूर्धन्य' कहते हैं। मूर्धा = कोमल तालु का पिछला भाग ।

ऌ तवर्ग ल स का दाँतो में उच्चारण होता है। अतः इन्हें 'दन्त्य[३]' कहते हैं।

उ ऊ पवर्ग और उपध्मानीय का ओष्ठों से उच्चारण होता है, अतः इन्हें 'ओष्ठ्य' कहते हैं।

'व' का उच्चारण ऊपर के दाँतों से अधर ओष्ठ की सहायता से होता है अतः इसे 'दन्तोष्ठ्य[४]' कहते हैं।

----

१. अयोगाश्च ते वाहाश्च इत्ययोगवाहाः । अविद्यमानो योगो येषां तेऽयोगाः । बहुब्रीहिः । वाह इत्यत्र ज्वलितिकसन्तेभ्यो ण इति कर्तरि णः ।

२. **जिह्वामूले कुः प्रोक्तः** (पा० शि०) । **हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम् । उरस्यं तं विजानीयात्** (पा० शि०)

३. वस्तुतः तवर्ग दन्तमूलीय है, इसका ऊपर के दाँतों के मूल से उच्चारण होता है, इसीलिए भग्नदन्त पुरुष भी तवर्ग का उच्चारण कर सकता है। दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः-ऋक् प्रा. (**१.१.४.**) दन्तमूलों के पीछे के खुर-खुरे तथा उभरे प्रदेश से बोले जाने वाले वर्णो को 'बर्स्व्य' कहते हैं। किन्हीं लोगों के मत में रेफ (र्) 'बर्स्व्य' है।

४. **दन्तोष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः** (पा० शि० १८) । वकार ओष्ठसंभूतो दन्ताग्रकरणः स्मृतः । उवोपोपध्मा ओष्ठे । (शुक्ल यजुः प्रा० १। ७०) ।

ए ऐ का उच्चारण कण्ठ और तालु में होता है, अतः इन्हें 'कण्ठतालव्य' कहते हैं।

ओ औ का उच्चारण कण्ठ और ओष्ठों में होता है, अतः इन्हें 'कण्ठोष्ठ्य' कहते हैं।

यरलव-ये 'अन्तःस्थ' अथवा अन्तः स्था (विच्प्रत्ययान्त) कहलाते हैं, कारण कि वर्णमाला में इनका स्थान स्पर्शों और ऊष्म वर्णो के बीच में है और यह भी कि ये न तो स्वर हैं और न पूर्ण व्यञ्जन, क्योंकि दूसरे व्यजनों की भांति इनके उच्चारण में जिह्वा के अग्रादि भाग ताल्वादि स्थानों को पूर्णतया स्पर्श नहीं करते। ऊष्म वर्णों (श्, ष् स् ह्) की भांति इनके उच्चारण में ताल्वादि स्थानों का घर्षण भी नहीं होता ।

श ष स ह - ये 'ऊष्मन्' कहलाते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति में श्वास की अधिकता प्रधान है। इनमें ताल्वादि स्थानों का घर्षण होने से इन्हें 'घर्षक' भी कहते हैं।

क से लेकर म तक के वर्णों को 'स्पर्श' कहते हैं, (स्पर्श एषामस्तीति स्पर्शाः) क्योंकि इनके उच्चारण में जिह्वा के अग्रादि भाग ताल्वादि स्थानों को सम्पूर्णतया स्पर्श करते हैं। वर्णात्मक ध्वनि तब उत्पन्न होती है जब जिह्वा के अग्रादि भागों द्वारा वायु-प्रवाह को रोक कर छोड़ा जाता है। इस कारण इन्हें 'स्फोटक' भी कहा जाता है।

प्रत्येक वर्ग के पञ्चम वर्ण को 'अनुनासिक'[१] (ँ) भी कहते हैं, क्योंकि वर्ग के दूसरे वर्णों के साथ ताल्वादि स्थानों के समान होते हुए भी इनका नासिका में भी उच्चारण होता है। इनके उच्चारण में वायु नासिका द्वारा तथा मुख-द्वारा निकलती है।

अनुस्वार और यमों का उच्चारण केवल नासिका में होता है, अतः इन्हें 'नासिक्य'[२] कहते हैं।

अनुस्वार आदि के उच्चारण में मुखद्वार बन्द रहता है। नासिका से ही वायु निकलती है।

----

१. **मुखनासिका वचनोऽनुनासिकः** । (**१.१.८**)। अनुगतो नासिकाम् अनुनासिकः । मुखसहिता नासिका मुखनासिका (शाकपार्थिवादि) ।

२. **अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमुच्यते** । पा० शिक्षा ।

वर्णोच्चारण-कोष्ठ

स्थान	स्पर्श	अनुनासिका	अन्तःस्थ	ऊष्मन्	ह्रस्वस्वर	दीर्घस्वर
कण्ठ	क् ख् ग् घ्	ङ्	–	ह्	अ	आ
तालु	च् छ् ज् झ्	ञ्	य्	श्	इ	ई
मूर्धा	ट् ठ् ड् ढ्	ण्	र्	ष्	ऋ	ॠ
दन्त	त् थ् द् ध्	न्	ल्	स्	ऌ	–
ओष्ठ	प् फ् ब् भ्	म्			उ	ऊ
दन्तोष्ठ			व्			
कण्ठ्तालु						ए ऐ
कण्ठोष्ठ						ओ औ

ह् र् श् ष् स् परे रहते नित्य ही अनुनासिक के प्रसंग में अनुस्वार का उच्चारण इष्ट है, जैसे सिंह, संरम्भ,[१] शिंशपा, प्रशंसा। आजकल अनुस्वार के स्थान में कुछ लोग 'न्' का उच्चारण करते हैं और कुछ 'म्' का। शुद्ध अनुस्वार का उच्चारण विशेष अभ्यास-साध्य है।

प्रयत्न

जब किसी पुरुष के मन में किसी अन्य पुरुष के प्रति कुछ कहने की इच्छा होती है तो वह अपने संकल्प से जाठर अग्नि को प्रेरित करता है, जिससे नाभि-प्रदेश का वायु वेग से उठता हुआ मूर्धा तक पहुँचकर जिह्वा के अग्रादि भागों द्वारा निरोध होने पर मुख के ताल्वादि स्थानों के साथ टकराता है, जिससे वर्ण अभिव्यक्त होते हैं। पीछे लौटता हुआ वही वायु यत्नविशेष की सहायता से गल-विवर आदि का विकास करता है। इस सारे व्यापार का नाम प्रयत्न है। प्रयत्न के दो भेद हैं- आभ्यन्तर (प्रयत्न) और बाह्य (यत्न)। आभ्यन्तर प्रयत्न को 'करण' भी कहते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न ४ प्रकार का है- स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत, संवृत । इन्हें आभ्यन्तर इसलिये कहते हैं कि इनका कार्य आस्य अर्थात् ओष्ठ से लेकर काकलक (कण्ठपिटक, टेंटुआ) से पहले-पहले मुख के भीतर होता है और यह वर्णोत्पत्ति से पूर्व होता है। जब

१. **अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं ह्रोः शवसेषु च** (पा० शि०)। क्विबन्त सम्राट् शब्द में अवश्य अनुनासिक 'म्' का उच्चारण होता है। मो राजि समः क्वौ (८.३.२५)।

वर्णोत्पत्ति से पूर्व जिह्वा के अग्रादि भाग ताल्वादि स्थानों को पूर्णतया स्पर्श करते हैं तब उस व्यापार को 'स्पृष्ट' कहते हैं। जब थोड़ा स्पर्श करते हैं, उसे 'ईषत्स्पृष्ट', जब उसके समीप पहुँचते हैं, उसे 'संवृत' और जब दूर रहते हैं उसे 'विवृत' कहते हैं। तदनुसार स्पर्शों का प्रयत्न स्पृष्ट, अन्तःस्थों का ईषत्स्पृष्ट, ऊष्मन् वर्णों और स्वरों का विवृत तथा 'अ' का संवृत हैं।[१]

दीर्घ एकादेश आदि की सिद्धि के लिए प्रक्रियादशा में 'अ' को विवृत माना गया है। 'आ' विवृत है, उसके साथ 'अ' को सवर्ण बनाकर शास्त्रीय कार्य (दीर्घ एकादेश) करने के लिए ऐसी कल्पना की गई है, लोक में तो 'अ' संवृत ही है। अतः शास्त्र (अष्टाध्यायी) के अन्त में भगवान् पाणिनि 'अ अ इति' इस सूत्र से इस कल्पना को दूर करते हैं और 'अ' को अपने शुद्ध संवृत रूप

---

१. आधुनिक भाषाविज्ञान के पण्डित इस प्रकार वर्णोत्पत्ति अथवा वर्णा-भिव्यक्ति मानते हैं- फेफड़ों को साफ कर के निकलता हुआ वायु श्वासनालिका (wind-pipe) द्वारा उस के अग्रभाग में अवस्थित काकलक (कण्ठपिटक, स्वरयन्त्र, larynx) में पहुँचता है, जहाँ से मुख-विवर तथा नासिका-विवर में जाता है। काकलक के मुंह पर दो स्वरतन्त्रियाँ (Vocal chords) हैं, जो रबर की तरह स्थिति-स्थापक (खिंचकर सिकुड़ जाने वाले दो परदे हैं) (प्रत्येक परदा अतिसूक्ष्म तन्त्रियों का समूह है)। इन का विवार (खुलना) और संवार (सटना, बन्द होना) काकलक में आए हुए वायु को रूप देता है संवार के कारण कम्पन होने से वायु नादवान् हो जाता है, विवार की अवस्था में श्वास-रूप रहता है। यही नादवान् वायु घोषवान् (गूंजवाला) होकर मुख में पहुँचता है और नादरहित श्वास अघोषवान् होकर। ताल्वादि स्थानों में जिह्वा के अग्रादि भागों द्वारा वायु के निरोध किये जाने पर और तदनन्तर निर्मुक्त किये जाने पर ककार आदि स्पशों की उत्पत्ति होती है। जिह्वा की समीप में स्थिति (अधिक ऊपर उठना) से मुख विवर बहुत पतला अथवा संवृत हो जाता है, उस अवस्था में उच्चरित वर्ण को 'संवृत' कहा जाता है। जब जिह्वा की दूर स्थिति (कम से कम ऊपर उठना) होती है तो मुखविवर अधिक विवृत रहता है, उस समय उच्चरित वर्ण को 'विवृत' कहते हैं। (इस संवृतता, विवृतता का कण्ठ की संवृति, विवृति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं) ।

में उपस्थित करते हैं। स्वरूप से प्रच्युत हुए की पुनः स्वरूप प्राप्ति को 'प्रत्यापत्ति' कहते हैं। सो यह प्रत्यापत्ति अन्तिम सूत्र से की गई है।

बाह्य यत्न

बाह्य (प्र) यत्न[१] ग्यारह प्रकार का है- विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राणता, महाप्राणता, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित । भाष्यकार के मत में बाह्य प्रयत्न आठ ही हैं; अर्थात् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित प्रयत्न नहीं। इन्हें बाह्य प्रयत्न इसलिए कहते हैं कि यह कार्य मुख से बाहर का. कलक से नीचे गल-विवर के संकोचविकासादि रूप से होता है और यह वर्णोत्पत्ति के पश्चात् होता है। बाह्य प्रयत्न को अनुप्रदान भी कहते हैं। नाभि प्रदेश से उठता हुआ वायु जब गल विवर को खोल देता है, उस व्यापार को 'विवार' कहते हैं, जब संकुचित करता है तब 'संवार' कहते हैं। जब का. कलक से केवल श्वास आता है उसे 'श्वास' और जब ध्वनि-विशिष्ट श्वास तब उसे 'नाद' कहते हैं। श्वास-प्रकृतिक वर्ण 'अघोष' कहलाते हैं और नाद-प्रकृतिक 'घोषवान्' । जिन वर्णों की उत्पत्ति में प्राणवायु की अल्पता होती है, उन्हें 'अल्पप्राण' और जिनकी उत्पत्ति में प्राणवायु की अधिकता होती है, उन्हें 'महाप्राण' कहते हैं।

'खर्' वर्णों का प्रयत्न विवार, श्वास और अघोष है। 'हश्' वर्णों का संवार, नाद व घोष। वर्गों के प्रथम, तृतीय और पञ्चम वर्ण तथा यण् का प्रयत्न अल्पप्राण है। वगों के द्वितीय, चतुर्थ तथा 'शल्' वर्णों का महाप्राण है।

सवर्ण संज्ञा (जिसे आगे कहेंगे) में बाह्य प्रयत्नों का उपयोग नहीं। हाँ, जहाँ एक के स्थान में नाना आदेश प्राप्त होते हों वहाँ अन्तरतम (सदृशतम) आदेश के निश्चय के लिए ये उपयोगी हैं।

----

१. प्रयतनं प्रयत्नः स्थानकरणव्यापारः न्यास । प्रयत्न शब्द में 'प्र' शब्द आदिकर्म में है। प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्नः। यत्नानां मध्ये प्रथमं वर्णोत्पत्तेः पूर्वमारभ्यमाण इत्यर्थ इत्युद्योतः । वर्णाभिव्यक्ति से पहले प्राणवायु के मूर्धा में टकराने पर स्पृष्टता आदि प्रयत्नों का व्यापार हो जाता है, पश्चात् लौटने पर विवार आदि बाह्य प्रयत्नों का व्यापार होता है। अतः 'प्रयत्न' शब्द से ४ आभ्यन्तर प्रयत्न ही लिए जाते हैं। बाह्य विवार आदि को यत्न कहना अधिक ठीक होगा ।

प्रयत्न विवेक का कोष्ठ

आभ्यन्तर प्रयत्न	वर्ण	बाह्य यत्न
स्पृष्ट	क च ट त प	अल्पप्राण विवार श्वास अघोष
	ख छ ठ ध फ	महाप्राण ,, ,, ,,
	ग ज ड द ब	अल्पप्राण संवार नाद घोष
	घ भ ढ ध भ	महाप्राण ,, ,, ,,
	ङ ञ ण न म	अल्पप्राण ,, ,, ,,
ईषत्स्पृष्ट	य र ल व	अल्पप्राण संवार नाद घोष
	श ष स	महाप्राण विवार श्वास अघोष
	ह	,, संवार नाद घोष
विवृत	अ (प्रक्रिया दशा में),	अल्पप्राण उदात्त अनुदात्त स्वरित
	आ इ ई उ ऊ	
	ऋ ॠ लृ ए ऐ	
	ओ औ	
संवृत	अ (प्रयोगस्थ)	अल्पप्राण उदात्त अनुदात्त स्वरित

वेदों के अङ्गों में शिक्षा प्रथम[१] अङ्ग है। शुद्ध उच्चारण सिखाने की विद्या को शिक्षा कहा गया है। शुद्ध उच्चारण से वक्ता और श्रोता को जो रस आता है वह विलक्षण ही है, वह स्वयंसंवेद्य है, कहा नहीं जा सकता है। अतः उपनिषत्कार ऋषियों ने भी अपनी कृतियों में शिक्षा[२] को उचित स्थान दिया है। महाकवि यायावरीय राजशेखर ने भी अपनी कृति काव्यमीमांसा में शिक्षा के महत्त्व का वर्णन करते हुए शुद्ध उच्चारण को मनुष्य का अलङ्कार मानते हुए इसे अनेक जन्मोपार्जित माना है।[३] आचार्य पाणिनि ने भी शिक्षा को वेद का घ्राण[४] बतलाया है।

इति श्री चारुदेवशास्त्रिणः कृतिषु व्याकरणचन्द्रोदये शिक्षानाम प्रथमम्प्रकरणमवसितम् ।।

----

१. शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस्, ज्योतिष- ये वेद के छः अङ्ग हैं।

२. अथ शिक्षां व्याख्यास्यामः तै० उ०

३. यथा जन्मान्तराभ्यासात्कण्ठे कस्यापि रक्तता । तथैव पाठसौन्दर्यं नैकजन्मविनिर्मितम् ।।

४. शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य ।

स्मरणीय बिंदु

1) उच्चारण स्थान : वर्णों का उच्चारण मुख के अलग-अलग अंगों से होता है, जैसे अ और कवर्ग का कण्ठ से, इ और चवर्ग का तालु से, और ऋ व टवर्ग का मूर्धा से होता है।

2) वर्णों के प्रकार : क से म तक के वर्णों को स्पर्श कहा जाता है क्योंकि इनके उच्चारण में जिह्वा उच्चारण स्थानों को पूरी तरह स्पर्श करती है।

3) य, र, ल, वश को अन्तःस्थ और श, ष, स, ह को ऊष्म वर्ण कहा जाता है।

4) अनुनासिक : प्रत्येक वर्ग के पांचवें वर्ण (ङ, ञ, ण, न, म) को अनुनासिक कहते हैं क्योंकि इनका उच्चारण मुख और नासिका दोनों से होता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) संस्कृत वर्णमाला के विभिन्न उच्चारण स्थानों का सविस्तार वर्णन कीजिए और प्रत्येक स्थान से उच्चरित होने वाले वर्णों के उदाहरण दीजिए।

2) स्पर्श, अन्तःस्थ और ऊष्म वर्णों में क्या अंतर है? उनके उच्चारण की प्रक्रिया और विशेषताओं के आधार पर स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) वर्ण का उच्चारण स्थान क्या है और इसे तकनीकी रूप से क्या कहा जाता है?

2) स्पर्श व्यंजनों को स्फोटक और स्पर्श क्यों कहा जाता है?

3) ऊष्म वर्णों (श, ष, स, ह) की उत्पत्ति का मुख्य कारण क्या माना गया है?

4) ए, ऐ और ओ, औ के उच्चारण स्थानों के नाम लिखिए।

5) नासिक्य वर्णों (अनुस्वार और यम) के उच्चारण की क्या विशेषता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. इ, ई, चवर्ग, य और श का उच्चारण मुख के किस भाग से होता है?

(क) कण्ठ (ख) तालु (ग) मूर्धा (घ) ओष्ठ

2. किस वर्ण के उच्चारण के लिए दांतों के मूल (दन्त्य) का प्रयोग किया जाता है?

(क) कवर्ग (ख) तवर्ग और ल, स (ग) पवर्ग (घ) चवर्ग

3. य, र, ल, व वर्णों को व्याकरण में क्या संज्ञा दी गई है?

(क) ऊष्म (ख) अन्त:स्थ (ग) स्पर्श (घ) अनुनासिक

4. कण्ठोष्ठ्य (कंठ और ओष्ठ) से उच्चरित होने वाले वर्ण कौन से हैं?

(क) ए, ऐ (ख) ओ, औ (ग) उ, ऊ (घ) व

5. प्रत्येक वर्ग का पांचवा वर्ण क्या कहलाता है?

(क) अनुनासिक (ख) विसर्जनीय (ग) अन्त:स्थ (घ) घर्षक

खण्ड-2

सञ्ज्ञासमासप्रकरणम्

इकाई 2.1 वृद्धिसंयोगसवर्णादिसंज्ञा

उद्देश्य

1) अध्येताओं को संस्कृत व्याकरण की आधारभूत संज्ञाओं (जैसे वृद्धि, संयोग, सवर्ण आदि) के पारिभाषिक अर्थ और उनके सूत्रों से परिचित कराना।

2) छात्रों को यह समझाना कि व्याकरण के नियमों (संधि, समास आदि) को लागू करने के लिए इन संज्ञाओं की पहचान क्यों आवश्यक है।

3) विद्यार्थियों में सूत्रों के माध्यम से शब्दों की तकनीकी संरचना को समझने की क्षमता विकसित करना।

परिणाम

1) छात्र वृद्धि, गुण, संयोग और सवर्ण जैसी संज्ञाओं को उनके विशिष्ट सूत्रों के साथ पहचानने में सक्षम हो जाता है।

2) अध्येता व्याकरण की प्रक्रिया में संज्ञाओं के महत्व को समझकर भाषा के शुद्ध प्रयोग में निपुण हो जाता है।

3) विद्यार्थी संस्कृत ग्रंथों के अध्ययन के दौरान संज्ञाओं के आधार पर सूत्रों की व्याख्या करने का कौशल प्राप्त कर लेता है।

अणादिरूप-वृद्ध्याद्या आचार्येण प्रकल्पिताः ।

संज्ञाः शास्त्रप्रवृत्त्यर्थमर्थाप्यन्ते यथाक्रमम् ॥

पाणिनिव्याकरण के आधारभूत माहेश्वर[१] नाम से प्रसिद्ध १४ सूत्र ये हैं-

----

१. वैयाकरण कुल में यह ऐतिह्य है कि पाणिनि व्याकरण के मूल-भूत अ इ उ ण् आदि १४ सूत्र भगवान् शिव के नृत्तावसान में ढक्का-वादन से उत्पन्न हुए। अतः इन्हें 'माहेश्वर' कहते हैं। पर

भगवान् भाष्यकार प्रत्याहारेनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न इत्यादि श्लोक–वार्तिक का व्याख्यान करते हुए कहते हैं – एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति– अचोऽक्षु हलो हल्षु। यहाँ आचार्य शब्द अनादि शब्द पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसा नागोजिभट्ट का कथन है। सम्भवतः 'अनादि शब्द–पुरुष' से उन्हें शिव अभिप्रेत है। पर यह संगत प्रतीत नहीं होता। यह दूराधिरोहिणी कल. पना है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ढक्कावादन से उत्पन्न हुए सूत्रों को उपदेश नाम से कैसे व्यपदिष्ट किया जा सकता है। भाष्यस्थ 'उपदिशति' (= उच्चारयति) शब्द का प्रयोग भी असंगत रहता है। शैली शब्द का प्रयोग भी पुरुषकृत प्रयत्न की ओर संकेत करता है। शीलाद् अभ्यासवशाद् आगता शैली शील से निष्पन्न निबन्धन प्रकार–विशेष । भाष्य में आचार्य शब्द का व्यवहार सूत्रकार भगवान् पाणिनि अथवा वार्तिककार भगवान् कात्यायन के लिए प्रयुक्त हुआ है, हाँ, बहुवचन में प्रयुक्त हुआ यह पूर्वाचार्यों का संकेतक है। ये सूत्र शिवसूत्र हैं इसका भाष्य में गन्धमात्र भी संकेत नहीं है। हमारा विचार है कि ये सूत्र भगवान् पाणिनि की उपज्ञा (आद्य ज्ञान) हैं; उनकी अपनी कृति हैं। भाष्यकार का इन्हें अक्षरसमाम्नाय कहना भी इनकी अनादिकालता का बोधक नहीं, कारण कि सम्‌आङ्पूर्वक

म्ना धातु आ प्रयोग संग्रह अर्थ में भी होता था, जैसे कि यास्क निरुक्त (७.१३) में 'भूयांसि तु समाम्नानात्, यत् तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति तत् समामने' इस वाक्य में करते हैं। नागोजिभट्ट भी 'अक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः' का अर्थ 'वाक्संग्रहोपायः' ऐसा करते हैं।

अइउण् (१) ऋलृक् (२) ए ओङ् (३) ऐ औच् (४) हयवरट् (५) लण् (६) जमङणनम् (७) झभञ् (८) घढधष् (६) जबगडदश् (१०) खफछठथचटतव् (११) कपय् (१२) शषसर् (१३) हल् (१४) ।

भाष्य में इन्हें 'अक्षरसमाम्नाय' अथवा वर्णसमाम्नाय कहा है। इन्हें 'प्रत्याहार सूत्र'[१] भी कहते हैं। यहाँ हकारादि में जो अकार है वह उच्चारण-सौकर्य के लिए है। इन सूत्रों के आधार पर अष्टाध्यायी में ४३ 'प्रत्याहार' प्रयोग में आए हैं। वे ये हैं-

अण्, अक्, अच्, अट्, अण्, अम्, अश्, अल्, इक्, इच्, इण्, उक्, एङ्, एच्, ऐच्, हश्, हल्, यण्, यम्, यञ्, यय्, यर्, वश्, वल्, रल्, ञम्, मय्, ङम्, झष्, झश्, झय्, झर्, झल्, भष्, जश्, बश्, खय्, खर् छव्, चय्, चर् शर् शल् ।

शास्त्र में प्रयुक्त हुए अणु आदि प्रत्याहार हैं, यह व्याख्यान से ही जाना जाता है, लक्षण से नहीं। अण, इण आदि कहाँ प्रत्ययादि स्वरूप से वि-वक्षित हैं, कहाँ प्रत्याहार रूप से, इसमें भाष्यकारादि का वचन प्रमाण है।

थोड़े से शब्दों में अथवा थोड़े से प्रयास से शास्त्रप्रवृत्ति कराने के लिए प्रत्याहारों की रचना हुई है। ऊपर दिए हुए प्रत्याहार दो-दो वर्णों से घटित हुए हैं पर बहुत से वर्णों का बोध कराते है। ये कैसे घटित हुए हैं और किन वर्गों का ग्रहण कराते हैं इस विषय में कहते हैं-

किसी एक सूत्र के किसी वर्ण को आदि में उच्चारण कर उसके अन्त में उसी सूत्र अथवा उसके आगे के किसी सूत्र के इत्संज्ञक (अन्त्य) वर्ण का उच्चारण करने से ये वर्णसमुदायरूप प्रत्याहार घटित हुए हैं, यह इन्हें देखने से ही स्पष्ट है। प्रत्येक सूत्र के अन्त्य वर्ण (हल्) की 'इत्'[२] संज्ञा है। इत् संज्ञा

----

१. प्रत्याह्रियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णा अस्मिन्निति प्रत्याहारः ।

२. एतीति इत्, (इण क्विप्) जो चला जाता है वह 'इत्' है। यह अन्वर्थ संज्ञा है। हलन्त्यम् (**१.३.३**)। अन्योन्याश्रयदोष को हटाने के लिए इसके।

दो अर्थ किए जाते हैं- उपदेशे ऽन्त्यं हल् इत् स्यात, हल् इति सूत्रे ऽन्त्यम् इत् स्यात् । उपदेश आद्य उच्चारण को कहते हैं। सोमसुत् में अन्त्य हल् श्त्श तुक्-विधायक शास्त्र से निष्पन्न होने से आद्य उच्चारण नहीं; अतः इसकी इत् संज्ञा नहीं। और इत् संज्ञा न होने से लोप भी नहीं होता। उपदेश इस प्रकार परिगणित हुए हैं-

धातुसूत्रगणोणादिनामलिङ्गानुशासनम् ।

आगमाः प्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः ॥

वाले वर्ण को अनुबन्ध भी कहते हैं। ये अनुबन्ध शास्त्रीय कार्य करने के लिए लगाए जाते हैं जैसे यहाँ शास्त्र प्रवृत्त्यर्थ प्रत्याहार बनाने के लिए। जिसकी इत् संज्ञा हो (अर्थात् जो अनुबन्ध हो) उसका लोप[1] (अदर्शन) हो जाता है । कार्यार्थ लगाए हुए अनुबन्ध अविद्यमान होते हुए ही उस-उस शास्त्रकार्य को सम्पन्न करते हैं ऐसा माना जाता है। प्रत्याहार का आदि वर्ण अन्त्य इत् संज्ञक वर्ण से मिलकर अपने स्वरूप तथा अपने से लेकर अन्त्य वर्ण पर्यन्त सूत्रों में पढ़े हुए मध्य में आने वाले सब वर्णों का बोधक (ग्राहक) होता है।[2] अण् कहने से अ इ उ का बोध होता है, तथा अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ ह य व र ल का भी, पर इत्संज्ञक ण्, क्, ङ्, च् ण् का नहीं। ऐसा ही सभी प्रत्याहारों के विषय में जानो

अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत ह्रस्व स्वरों से दीर्घ स्वरों का भी बोध होता है,[3] अर्थात् शास्त्र में जो कार्य अण् को कहा जाएगा वह जैसे ह्रस्व स्वरों को होगा, वैसे ही दीर्घ स्वरों को भी। 'अच्' से सब स्वरों का बोध होता है, इत्संज्ञक ण् क्ङ् च् का नहीं। 'हल्' कहने से सब व्यञ्जनों का । अर्थात् हयवरट् सूत्र के ह से लेकर 'हल्' इस सूत्र के 'ल्' तक । इत्संज्ञक ट् आदि का नहीं। इसलिए 'झल्' कहने से 'झभञ्' सूत्र के झ से लेकर 'हल्' सूत्र के

----

१. तस्य लोपः (**१.३.६**)। श्रदर्शनं लोपः (**१.१.६**0)।

२. आदिरन्त्येन सहेता (**१.१.७१**) आदिः । अन्त्येन । सह । इता । ऐसा पदच्छेद है ।

३. श्रणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६६)। अण, और उदित् (कु चु सवर्गों का भी। पर प्रत्यय नहीं होता। इस शास्त्र को टु तु पु) अपने आपका बोध कराते हैं और अपने (= प्रत्यय, आदेश, आगम) अण से ऐसा बोध ग्रहणक (संग्राहक) शास्त्र कहते हैं।

अन्त्य इत्संज्ञक ल् तक के वर्णों का बोध होता है, पर बीच में आने वाले इत्संज्ञक ञ्, ष्, श्, व्, य्, र् का और अपने अन्त में आने वाले इत्संज्ञक ल् का नहीं ।

प्रत्याहार सूत्रों में 'ण्' दो बार पढ़ा है। 'अण्' से पहले णकार तक के वर्गों का ग्रहण (बोध) होता है। **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६६) में उपात्त अण् को छोड़ कर । यहीं अण् से परे के णकार तक के वर्गों का ग्रहण होता है, अन्यत्र कहीं नहीं। इसमें व्याख्यान ही शरण है। यथा उरण् रपरः (१।१।५१)। अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः (८।४।५७) - यहाँ पूर्व णकार तक के वर्णों का ग्रहण होता है। 'इण्' से परे के णकार तक का ही ग्रहण होता है।

पर यदि अण् **'तपर'** (**तः परो यस्मात्,** 'त्' है परे जिससे, अथवा **तादपि परस्तपरः,** 'त्' से परे) पढ़ा हो तो दीर्घ आदि का ग्रहण न होगा। जैसे **अदेङ्गुणः** (१।१।२) सूत्र में 'अ' 'तपर' पढ़ा है, इसलिए 'अ' अपने काल वाले ह्रस्व (एकमात्रिक) का ही बोध करायेगा, दीर्घ (द्विमात्रिक) का नहीं, जिससे 'अ' की गुण संज्ञा होगी, दीर्घ 'आ' की नहीं। एङ् भी 'तपर' पढ़ा है (तादपि परस्तपरः, 'त्' से परे होने से), इस से प्लुत (त्रिमात्रिक) एङ् (ए, ओ) की गुण संज्ञा नहीं होगी ।

वृद्धि[1]- आत् (तपर आ) और ऐच् = ऐ, औ) की वृद्धि संज्ञा होती है। चाहे आदैच् तद्भावित, वृद्धि शब्द उच्चारण करके भावित (उत्पादित, साधित, विहित) हों, चाहे अतद्भावित (वृद्धि शब्द द्वारा अविहित)। 'तपर' करने से त्रिमात्रिक, चतुर्मात्रिक आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा नहीं होगी। आश्वलायनः। ऐतिकायनः। औपगवः। यहाँ तद्भावित आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा हुई है। अश्वलस्य गोत्रापत्यम्, इतिकस्य गोत्रापत्यम्, उपगोरपत्यम् –यहाँ अश्वल तथा इतिक से फक् प्रत्यय हुआ है, और आदि अच् (अ, इ) को वृद्धि हुई है। 'उपगु' से अण् होकर आदि अच् 'उ' को वृद्धि हुई है। शालीयः मालीयः। यहाँ 'आ' तद्भावित नहीं तो भी वृद्धि संज्ञा होने से वृद्धाच्छः (४।२।११४) से छ प्रत्यय होता है। शालायां भवः शालीयः। मालायां भवः = मालीयः।

---

1 वृद्धिरादैच् (१।१।१) ।

गुण[1]- अत् (तपर अ) और एङ् (तपर एङ् = ए, ओ) की गुण संज्ञा होती है, चाहे अत्, एङ् तद्भावित (गुण शब्द द्वारा विहित) हों, चाहे अतद्भावित। तद्भावित-तरिता। चेता। स्तोता-यहाँ 'तृ' को अर् गुण शब्द उच्चारण करके विहित हुआ है। इसी प्रकार 'चि' और 'स्तु' के 'इ', 'उ' को गुण विधि से 'ए' और 'ओ' हुए हैं। अतद्भावित-ते पचन्ति। अहं पचे-यहाँ पच + अ + अन्ति, पच् + अ ए में क्रम से 'अ' तथा 'ए' अतद्भावित हैं। 'अन्ति' के 'अ' की गुण संज्ञा होने से ही **अतो गुणे** (६।१।६७) से पररूप एकादेश हुआ है। 'पच' में **टित आत्मनेपदानां टेरे** (३।४।७६) से 'इट्' को 'ए' हुआ है, गुणविधि से नहीं, तो भी गुणसंज्ञा होने से 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हुआ है।

संयोग[2]- विजातीय (=भिन्नजातीय) अचों से अव्यवहित (व्यवधानरहित) अनन्तरोच्चारित हलों की 'संयोग' संज्ञा है। समुदाय की संज्ञा की है, प्रत्येक संयुक्त हल् की नहीं। हल् शब्द यहाँ जातिपरक है, अतः दो हलों के समुदाय की संयोग-संज्ञा इष्ट है तथा बहुतों के समुदाय की भी। 'अग्नि' में ग् न् का संयोग है। 'अश्व' में श् व् का। 'कर्ण' में र् ण् का। इन्द्र, चन्द्र, मन्द्र में न् द् र् का। उष्ट्र, राष्ट्र, भ्रष्ट्र, में ष् ट् र् का संयोग है। अनन्तरोच्चारित हलों की संयोग संज्ञा की है, अचों की नहीं, अतः तितउ च्छत्रम् में यद्यपि अ उ अनन्तरोच्चारित हैं, पर इनकी संयोग संज्ञा नहीं। यहाँ भी यदि संयोग संज्ञा होती तो 'उ' का **संयोगान्तस्य लोपः** (८।२।२३) से लोप हो जाता।

सवर्ण[3]- मुख के भीतर होने वाले तालु आदि स्थान तथा प्रयत्न = स्पृष्टतादि वर्ण-गुण जिस वर्ण के जिस समानजातीय वर्ण के प्रति तुल्य (समान = सदृश) हैं वे दोनों परस्पर 'सवर्ण' कहलाते हैं। सूत्र में 'आस्य' शब्द तद्धितान्त है- आस्ये भवम् आस्यम्। शरीरावयवाच्च (४।३।५५) से यत्। **आस्यं च प्रयत्नश्चेति आस्यप्रयत्नौ। तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नं वर्णम्।** वर्ण शब्द नपुंसक भी है। **दण्डाग्रम्। खट्वाग्रम्।** सावर्ण्य होने पर **अकः सवर्णे दीर्घः** (६।१।१०१) से सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ है।

प्रगृह्य[4]- ई, ऊ, ए- अन्तवाले द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा होती है। द्विवचन

---

१ अदेङ् गुणः (१.१.२.)

२ हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७) ।

३ तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१।१।९) ।

४ ईदूदेद् द्विवचनम् प्रगृह्यम् (१।१।११) ।

सुप् व तिङ् के एक-एक त्रिक के द्वितीय घटक अवयव की संज्ञा है। उस द्विवचन के अन्त में जब ई, ऊ, ए हों तो उसकी शास्त्र में प्रगृह्य संज्ञा की है। इस का यह फल है कि अच् परे रहते ऐसा द्विवचन प्रकृत्याऽवस्थित रहता है, अर्थात् अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है, सन्धि द्वारा विकार को प्राप्त नहीं होता। इसे **प्रकृतिभाव** कहते हैं। **अग्नी** इति। **वायू** इति। **माले** इति। **पचेते** इति। **पचेथे** इति। अग्नी आदि में ईकारादि व्यपदेशिवद्भाव से ईकारान्तादि द्विवचन हैं। पचेते, पचेथे में आते, आथे मुख्यरूप से एकारान्त द्विवचन हैं।

घु[1]- दा-रूप चार धातुएँ (डुदाञ् दाने, दाण् दाने, दो अवखण्डने, देङ्, रक्षणे) तथा धा-रूप दो (डुधाञ् धारणपोषणयोः, धेट् पाने) घु-सञ्ज्ञक होती हैं, दाप् लवने, दैप् शोधने की यह संज्ञा नहीं होती। दो अवखण्डने तथा देङ् रक्षणे इन्हें उपदेशावस्था में ही आकार अन्तादेश हो जाता है। इसी प्रकार धेट् पाने को भी। 'दाधाः' का विग्रह ऐसा है- **दाश्च दाश्च दाश्च दाः। धाश्च धाश्च धौ। दाश्च धौ च दाधाः। घु-** संज्ञा होने से प्रणिददाति, प्रणियच्छति, प्रणिद्यति, प्रणिदयते, प्रणिदधाति, प्रणिधयति में उपसर्गस्थ निमित्त से 'नि' को णत्व हुआ। पर धु संज्ञा न होने से प्रनिदाति बर्हिः (कुशा को काटता है), प्रनिदायति मुखम् (मुंह को धोता है) में णत्व नहीं होता ।

घ[2]- आतिशायनिक प्रत्यय तरप्, तमप् की 'घ' संज्ञा होती है। इसका फल यह है कि **ब्राह्मणितरा, ब्राह्मणितमा**- यहाँ घ-रूप-कल्प-चेलट् (६।३।४३) सूत्र से ङीनन्त 'ब्राह्मणी' शब्द को ह्रस्व हो जाता है। तरबन्त, तमबन्त की घ-संज्ञा नहीं होती। यदि हो जाय तो **कुमारगौरितरा** सिद्ध नहीं होगा, कारण कि उत्तरपद परे होने पर **पर** होने से पुंवद्भाव को बाधकर 'कुमारी' शब्द के ङी को ह्रस्व प्रसक्त होगा, तरप् परे रहते 'गौरी' को नहीं होगा जिससे **'कुमारिगौरतरा'**, यह अनिष्ट रूप निष्पन्न होगा।

अव्यय[3] - वह शब्दरूप जो तीनों लिङ्गों, सातों विभक्तियों में तथा तीनों वचनों में बदलता नहीं, एकसमान रहता है, उसे 'अव्यय' कहते हैं-

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।

सर्वेषु च वचनेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥

1- दाधा घ्वदाप् (१.१.२०)।

2- तरप्तमपौ घः (१.१.२२)।

3- स्वरादिनिपातमव्ययम् (१.१.३७)। चादयोऽसत्त्वे (१.४.५७)।

स्वर् आदि शब्द गणपठित हैं, इन की अव्यय संज्ञा की है। च, वा, ह, अह, अहह आदि गणपठित 'निपात' कहलाते हैं। तथा प्र, परा, सम्, अनु आदि २२ निपात पढ़े हैं। इन निपातों की भी 'अव्यय' संज्ञा की है।

सर्वनामस्थान[1]- सुप् (सु औ जस् अम् औट् शस् टा आदि २१ प्रत्यय) के पहले पाँच प्रत्यय (= सुट्) की 'सर्वनामस्थानं' संज्ञा है जब वे अनपुंसक लिङ्ग शब्द से परे आएँ। जस् और शस् के स्थान में नपुंसकलिङ्ग शब्द-सम्बन्धी 'शि' की भी 'सर्वनामस्थान' संज्ञा है। यह इतनी बड़ी संज्ञा पूर्वाचार्यकृत है, पाणिनि ने इसे अपने शास्त्र में अपना लिया है। **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (७।१।७०) इत्यादि इसके प्रदेश हैं।

सम्प्रसारण[2]- यण् के स्थान में जो शास्त्र-विहित इक् हो उसकी सम्प्रसारण संज्ञा है तथा यण के स्थान में इक् होता है इस वाक्यार्थ की भी सम्प्रसारण संज्ञा है। **विधि में वाक्यार्थ संज्ञी है- ष्यङः सम्प्रसारणम्** (६।१।१३), जैसे यहाँ। अनुवाद में (जहाँ सम्प्रसारण अनुवाद्य है, विधेय नहीं, जहाँ सम्प्रतारण को उद्देश करके कुछ कहा गया है) **यणस्थानिक इक् वर्ण संज्ञी** है। जैसे **सम्प्रसारणाच्च** (६।१।१०८) यहाँ यण् के स्थान में इक्। यहाँ संख्यातानुदेश है, अर्थात् स्थानी यण् (य् व् ल् र्) को जो क्रम से इक् (इ उ ऋ लृ) हो उसकी सम्प्रसारण संज्ञा है, जो व्युत्क्रम से हो, उसकी नहीं, इसीलिये अदुहितराम् - यहाँ अदुहि (अदुह, लङ् इट्) में ल् के स्थान में 'इ' हुआ है, इसकी सम्प्रसारण संज्ञा नहीं। यदि होती तो हलः (६।४।२) सूत्र से 'इ' को दीर्घ हो जाता।

टि[3]- संनिविष्ट अचों के मध्य में जो अन्त्य अच् तदादि शब्दसङ्घात की **'टि'** संज्ञा की है। **'तदादि'** बहुव्रीहि है। स श्रादि र्यस्य तदादिः। तद् से अच् परामृष्ट है। **'अचः'** यह निर्धारण अर्थ में षष्ठी है। जाति अर्थ में एकवचन प्रयुक्त हुआ है। जहाँ अन्त्य अच् किसी वर्ण का आदि नहीं, अर्थात् जब उस से परे कोई वर्ण नहीं, तो व्यपदेशिवद्भाव से इस अकेले अच् की भी 'टि' संज्ञा होती है- अग्निचित् (जिस ने अग्नि चयन किया है) में 'इत्' शब्द 'टि' है। सोमसुत् (जिसने सोमरस निष्पादन किया है) में 'उत्' शब्द 'टि' है। आताम्। आथाम् में आम् 'टि' है।

1- सुडनपुंसकस्य (१.१.४३)। शि सर्वनामस्थानम् (**१.१.४२**)।

2- इग्यणः सम्प्रसारणम् (१.१.४५)

3- अचोऽन्त्यादि टि (१.१.६४)।

कुमुद्वान्। नड्वान्-यहाँ ड्मतुप् प्रत्यय परे रहते कुमुद तथा नड के अन्त्य अच् 'अ' का टेः (६।४।१४३) से लोप हुआ है। यहाँ 'अ' टिसंज्ञक है।

उपधा[१]- धात्वादि वर्णसमुदाय में अन्त्य अल् से पूर्व जो अल् वर्ण हो उसकी उपधा संज्ञा है। पच्। पठ्- यहाँ अकार उपधा है। छिद्। भिद् में 'इ' उपधा है। बुध्। युध् में 'उ' उपधा है। वृत्। वृध् में ऋ उपधा है। शिष्टः। शिष्टवान् में समुदाय ष्ट् आदि से पूर्व की नहीं।

अपृक्त[२]- जो प्रत्यय एक अल्मात्र से घटित हुआ है उसकी 'अपृक्त' संज्ञा है। एक = असहाय, जिसका दूसरा साथी = सहोच्चारित नहीं। **एकोऽल् यस्य स एकात्।** 'अपृक्त' शब्द का अर्थ असंयुक्त = जुदा, अलग, अकेला है। पृची सम्पर्क - क्त = पृक्त। नञ्पूर्वक = अपृक्त।

प्रातिपदिक[३]- अर्थवान् शब्द जो न धातु हो और न प्रत्यय और न प्रत्ययान्त, उसकी प्रातिपदिक संज्ञा है। प्रातिपदिक शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है- **प्रतिपदं भवं प्रातिपदिकम्** = पद पद में होने वाला। प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। शब्द के श्रवण मात्र से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही प्रातिपदिकार्थ है। **नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः।** डित्थः। कपित्थः। कुण्डम्। पीठम्। अर्थवान् इसलिये कहा कि वनं धनम् इत्यादि में नान्त शब्द रूप जो अनर्थक है, की प्रातिपदिक संज्ञा न हो। यदि हो जाय तो नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) से न् लोप हो जाय। अधातु क्यों कहा? इसलिये कि हन् धातु के लङ् रूप **'अहन्'** की प्रातिपदिक संज्ञा न हो। यदि हो जाय तो यहाँ भी न्-लोप हो जाय। अप्रत्यय (जो प्रत्यय न हो, तथा प्रत्ययान्त न हो) क्यों कहा? इसलिए कि काण्डे। कुड्ये- इन की प्रातिपदिक संज्ञा न हो। यदि हो जाय तो **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (१।२।४७) से 'ए' को ह्रस्व 'इ' हो जाय। प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध किया है, पर कृत्प्रत्ययान्त तथा तद्धितप्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा होती ही है- कारकः। हारकः। (कृत् प्रत्यय ण्वुल्)। कर्ता। हर्ता। (कृत् प्रत्यय तृच्)। औपगवः। कापटवः। (तद्धित प्रत्यय अण्)। अर्थवान् पदसमुदाय **समास** की भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है, पर अर्थवान् पद समुदाय वाक्य की नहीं।

1 अलोन्त्यात्पूर्व उपधा (१।१।६५)

2 अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१)।

३ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१।२।४५।)

इत्[१]- उपदेशावस्था के अन्त्य हल् की इत् संज्ञा होती है, हलन्त्यम् (प्रत्याहारसूत्र १४) में हल् के 'लू' की भी। उपदेशावस्था के अच् की भी इत् संज्ञा होती है, जिस अच् को पाणिनि ने आनुनासिक्य-धर्म-युक्त पढ़ा हो- अ इ उण्- यहाँ णकार की इत् संज्ञा है। **ऋलृक्**- यहाँ ककार की। पर 'अग्निचित्' में 'त्' की नहीं। यह 'त्' औपदेशिक नहीं। तुक् आगम है। एधँ। स्पर्धँ- यहाँ 'अ' इत्संज्ञक है। अभ्रआँ अपः- यहाँ अनुनासिक शास्त्रविहित है, औपदेशिक नहीं, अतः इत् संज्ञा नहीं हुई। इत् संज्ञा होती तो 'आ' का लोप हो जाता।

नदी[२]- ईकारान्त, ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द की 'नदी' संज्ञा होती है। सूत्र में यू का विग्रह है **ईश्च ऊश्च** = **यू** (इतरेतरयोग द्वन्द्व)। **स्त्र्याख्यौ** = **स्त्रियमाचक्षाते**, श्रुत्या स्त्रीत्व को कहते हैं, वाक्य में पदान्तर के योग से जिन का स्त्रीत्व सम्पन्न होता है, वे नहीं। कुमारी (ङीप्)। गौरी (ङीए) लक्ष्मीः। (यहाँ लक्ष्मी में औरणादिक 'ई' प्रत्यय है, ङीप आदि स्त्री प्रत्यय नहीं)। शार्ङ्गरवी (ङीन्)। ब्रह्मबन्धूः (ऊङ्)। यवागूः (यु-आगूच्)। पर सेतानी, ग्रामणी, खलपू (सफाई करने वाला)- ये 'स्त्र्याख्य' नहीं, स्वतन्त्र प्रयुक्त हुए स्त्रीत्व को नहीं कहते हैं। पदान्तरयोग से अवश्य कहते हैं। इन की 'नदी' संज्ञा नहीं होगी- सेनान्ये स्त्रियै। ग्रामध्ये स्त्रियै। खलप्वे स्त्रियै। इनमें नदी संज्ञा न होने से **आण्नद्याः** (७।३।११२) से आट् आगम नहीं हुआ।

घि[३]- शेष शब्दरूप 'सखि' शब्द को वर्जन करके घि-संज्ञक होता हैं। **'शेष'** से अभिप्राय ऐसे शब्दस्वरूप से है जो ह्रस्व इवर्णान्त ह्रस्व उवर्णान्त है पर 'स्त्र्याख्य' नहीं है, और जो 'स्त्र्याख्य' तो है पर नदीसंज्ञक नहीं। अग्नि। वायु-से ङे परे 'धि' संज्ञा होने से घेर्ङिति (७।३।१११) से गुण होता है- **अग्नये।** वायवे। अग्नि, वायु पुमान् शब्द हैं, स्त्र्याख्य नहीं हैं। कृति। धेनु-ये स्त्र्याख्य हैं, पर नदीसंज्ञक नहीं हैं, इनके ङे परे रहते 'घि'-निमित्तक गुण होकर कृतये, धेनवे रूप होते हैं। 'सखि' शब्द की 'घि' संज्ञा प्राप्त थी, उसका निषेध कर दिया है।

लघ[४]- ह्रस्व (एकमात्रिक) अच् की 'लघु' संज्ञा है।

गुरु[५]- संयोग परे रहते ह्रस्व अच् की 'गुरु' संज्ञा है- कुण्डा। शिक्षा। भिक्षा। यहाँ संयोग (ण् ड्, क् ष्) परे होने से पूर्व अक्षर के 'गुरु' होने से **गुरोश्च हलः** (३।३।१०३) से अङ् प्रत्यय होता है। दीर्घ अक्षर की भी गुरु संज्ञा की है- ईहा। गुरोश्च हलः (३।३।१०३) से अङ्। ईहाञ्चक्रे। इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (३।१।३६) से लिट् परे आम् प्रत्यय हुआ है।

1 हलन्त्यम् (1।३।३)। उपदेशेजनुनासिक इत् (१।३।२)

2 यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३)।

3 शेषो ध्यसखि (१।४।७)।

4 ह्रस्वं लघु (१।४।१०)।

५ संयोगे गुरु (१।४।११) दीर्घ च (१।४।१२)।

अङ्ग:[1]- जिस शब्दरूप से प्रत्यय विधान किया गया है तदादि (वह है आदि जिसका) शब्द- संघात की अङ्ग संज्ञा होती है प्रत्यय परे रहते। **यस्मात्प्रत्ययविधिस्तत श्रारभ्या तस्मात्प्रत्ययाद्यः शब्दसंघातस्तस्य संज्ञा क्रियते,** अर्थात् जिससे प्रत्यय विहित हुआ है, उससे लेकर प्रत्यय तक जो शब्द संघात है, उसकी (अङ्ग) संज्ञा की जा रही है। जहाँ ऐसा शब्दसंघात न होगा वहाँ केवल शब्द की भी व्यपदेशिवद्भावेन अङ्ग संज्ञा होगी- करिष्यति। हरिष्यति- यहाँ कृ, हृ से तिप् प्रत्यय विधान किया है, पीछे 'स्य' प्रत्यय आया है। तिप् प्रत्यय परे रहते 'कृ' तदादि है, कृ + स्य इस संघात की 'अङ्ग' संज्ञा हुई। कुण्ड + शि (इ)। 'कुण्ड' से शि प्रत्यय विधान किया गया है। पीछे **नपुंस्कस्य झलचः** (७।१।७२) से **नुम्** होता है। अब 'कुण्डन्' यह शब्दसंघात 'अङ्ग' बन जाता है, अतः नान्त होने से **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** (६।४।८) से उपधा-दीर्घ हो जाता है। कर्ता। हर्ता- यहाँ कृ, हृ से तृच् प्रत्यय हुआ है, इसके परे रहते पूर्व कृ, हृ की अङ्ग संज्ञा होने से **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३।८४) से गुण होता है। यहाँ कृ, हृ की **व्यपदेशिवद्भाव** से अङ्ग संज्ञा है।

पद[2]- सुबन्त तथा तिङन्त शब्दरूप की 'पद' संज्ञा है। सु औ जस् २१ प्रत्ययों को सुप् कहते हैं। तिप् तस् कि आदि १८ प्रत्ययों को तिङ् कहते हैं।

क्य (= क्यच्, क्यङ्) परे होने पर नान्त शब्द रूप की ही पद संज्ञा होती है, दूसरे किसी की नहीं। सुबन्त से क्यच्, क्यङ् विधान किए हैं, अतः क्यच्परक तथा क्यङ्-परक की पद संज्ञा सिद्ध ही थी। **सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः।** सिद्ध होने पर जो विधान किया जाता है वह नियमार्थ होता है। क्यच्-राजीयन्ति प्रजाः (प्रजायें अपने लिए राजा चाहती हैं)। यहाँ राजन् की पद संज्ञा होने से न् का लोप हो गया। वाच्यति द्विजः। (ब्राह्मण वाणी को चाहता है)। स्रुच्यति याजकः। (पुरोहित स्रूवा को चा. हता है)। यहाँ वाच, स्रू च् की पदसंज्ञा न होने से 'कुत्व' नहीं होता। सिन् (स् इत् है जिसका) प्रत्यय परे रहते पूर्व की पद संज्ञा होती है।[3] **भवतष्ठक्छसौ** (४।२।११५)। भवत् + छस् (=ईय) =भवदीय। **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३६) से 'त्' को जश्त्व से 'द्' हुआ। भ-संज्ञा प्राप्त थी। यदि 'भ' संज्ञा होती तो 'त्' को 'द्' न होता। ऊर्णा + युस् = ऊर्णायुः (ऊर्णनाभि, लूता, मकड़ी)। यहाँ भ-संज्ञा होती तो **यस्येति च** (६।४।१४८) से अवर्ण (=आ) का लोप हो जाता। 'युस्' सित् प्रत्यय है।

1 यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३) ।

2 सुप्तिङन्तं पदम् (1।४।1४।)। नः क्ये (1।४।1५।)

3 सिति च (१।४।१६) ।

सु[1] (सु औ जस्) आदि सर्वनामस्थान-वर्जित कप्प्रत्ययावधिक प्रत्ययों के परे रहते पूर्व शब्दरूप की पद संज्ञा होती है। सु आदि २१ प्रत्यय जिन्हें सुप् कहते हैं, उनमें सुट् को (पहले पाँच का) छोड़कर शेष असर्वनामस्थान हैं। पञ्चमाध्याय के अन्त में समासान्त प्रकरण **समासान्ताः** (५।४।६८) से प्रारम्भ होता है और कप्-समासान्त-विधान के साथ समाप्त हो जाता है। इस अवधि के अनुसार सभी तद्धित प्रत्ययों से पूर्व की पद संज्ञा होती है। अतिप्रसंङ्ग को वक्ष्यमाण सूत्र से वारित किया जाएगा- राजभ्याम्। राजभिः। भ्याम्, भिस् असर्वनामस्थान स्वादि प्रत्यय हैं। इन से पूर्व राजन् की पद संज्ञा होने से न् लोप हुआ है। राजत्वम् (राज्ञो भावः, त्व तद्धित प्रत्यय)। राजता (राज्ञो भावः, तल् तद्धित)। राजतरः (इमौ राजानौ, अयमनयो राजतरः, अतिशायने तरप् तद्धित)। राजतमः (इमे राजानः, अयमेषां राजतमः (तमप् तद्धित)। पद संज्ञा होने से न् का लोप हुआ है।

भ[2]- पदसंज्ञा का अवबाद भ-संज्ञा का विधान किया जा रहा है। यकारादि अजावि कप् प्रत्ययावधिक सर्वनामस्थानर्जित स्वादि प्रत्यय परे होने पर पूर्व की भ-संज्ञा होती है- राज्ञः। राज्ञा। राज्ञे। राज्ञः। राज्ञि। राज्ञोः। राज्ञाम्। यहाँ सर्वत्र असर्वनामस्थान स्वादि प्रत्यय अजादि है, अतः 'भ' संज्ञा होने से **अल्लोपोऽनः** (६।४।१३४) से 'अन्' के 'अ' का लोप होता है। गार्ग्यः। वात्स्यः। गोत्रापत्य में यञ् तद्धित है। यकारादि होने से भ-संज्ञा होकर यस्येति च (६।४।१४८) से 'अ' का लोप हुआ है। कुमारी। गौरी। ब्राह्मणी।

यहाँ स्त्री प्रत्यय ङीप्, ङीष, ङीन् अजादि हैं। अतः भ-संज्ञा होने से 'कुमार' आदि के 'अ' का **यस्येति च** (६।४।१४८) से लोप हुआ है। दाक्षिः। प्लाक्षिः। यहाँ अपत्यार्थक इञ् तद्धित होने से पूर्व की भ-संज्ञा होने से **यस्येति च** (६।१४।१४८) से 'अ' का लोप हुआ है।

तकारान्त, सकारान्त शब्दरूप की भी भ-संज्ञा होती है जब मत्वर्थीय प्रत्यय परे हो- उदश्वित्वान् घोषः (अहीरों का निवास जहाँ छाछ प्रचुर-मात्रा में विद्यामान है)। विद्युत्वान् बलाहकः (बिजलीयुक्त मेघ)। यहाँ तान्त उदश्वित्, तथा विद्युत् के भ-सञ्ज्ञक होने से 'त्' को जश्त्वविधि से 'द्' नहीं हुआ। यशस्वी। पयस्वी-यहाँ सकारान्त यशस् पयस् के स् को भ-संज्ञा होने से पदत्व-निमित्तक रुत्व नहीं हुआ। विदुष्मती सभा (बहवो विद्वांसः सन्त्यत्र)- यहां भी भ-संज्ञा होने से विद्वस् को सम्प्रसारण हुआ है और स् को रुत्व नहीं हुआ।

निपात[3]- चादयोऽसत्त्वे (१।४।५७) से लेकर **अधिरीश्वरे** (१।४।६७) सूत्र तक के सूत्रों द्वारा अनुक्रान्त 'च' आदि की निपात संज्ञा की है। इस संज्ञा का गति, उपसर्ग, कर्मप्रवचनीय संज्ञाओं के साथ समावेश है, बाध्य-बाधक भाव नहीं। यथा 'अपि' गति भी है, उपसर्ग भी है, कर्मप्रवचनीय भी (अर्थविशेष में) और निपात भी।

1 स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (1।४।11७।)

2 यचि भम् (१।४।१८) ।

३ प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१।४।५६) । चादयो ऽ सत्त्वे (१।४।६७) । प्रादयः (१।४।५८) ।

उपसग[१]- प्र, परा, अप, सम्, अनु आदि २२ निपातों की उपसर्ग संज्ञा की है जब ये क्रियायुक्त होकर क्रियापद से पूर्व प्रयुक्त हों। **प्रणयति। परिणयति** (विवाहता है)। **प्रणायकः।** (प्रकर्षेण नयतीति)। **परिणायकः** (वोढा)। क्रियायोग न होने पर उपसर्ग संज्ञा नहीं होगी- **प्रगतो नायकोऽस्माद् देशात् प्रनायको देशः** (ऐसा देश जहाँ से नेता चला गया है)। यहाँ प्र का योग **गमि**-क्रिया के साथ है, 'नी' के साथ नहीं, अतः उपसर्ग संज्ञा न होने से उपसर्गस्थ निमित्त से 'नी' को जो णत्व प्राप्त था, वह नहीं हुआ। निपात संज्ञा अवस्थित रही।

गति[२]- क्रियायोग में प्रादि निपातों की गति संज्ञा भी की है- प्रकृत्य।

प्रकृतम्। 'प्रकृत्य' में गतिसमास हुआ है। समास होने से क्त्वा को ल्यप् हुआ। **'प्रकृतम्'** में **गतिरनन्तरः** (६।२।४६) से **'प्र'** गति प्रकृतिस्वर (आद्युदात्त) होता है।

उपसर्गाः क्रियायोगे। गतिश्च- इस प्रकार योग विभाग कर के क्यों पढ़ा? गत्युपसर्गाः (अथवा उपसर्गा गतिश्च) क्रियायोगे ऐसा एकयोग रूप में क्यों नहीं पढ़ा? इसलिए कि वक्ष्यमाण निपातों की गतिसंज्ञा ही हो उपसर्ग संज्ञा मत हो। अन्यथा ऊरी स्यात्- यहाँ **उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः** (८।३।८७) से षत्व का प्रसङ्ग होगा ।

कर्मप्रवचनीय[३]- इसका आचार्य ने लक्षण नहीं किया। पर इसका व्युत्पत्त्यर्थ है- कर्म प्रोक्तवन्त इति कर्मप्रवचनीयाः। कर्म = क्रिया। कर्मप्रवचनीयाः। क्रिया को नहीं कहते, निर्वृत्त क्रिया द्वारा जनित सम्बन्ध के विशेषक होते हैं। हेतुभूत लक्षण आदि अर्थ में अनु आदि निपातों की कर्मप्रवचनीय संज्ञा की है। संज्ञा का फल यह है कि कर्मप्रवचनीय से युक्त में द्वितीया विभक्ति होती है- शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्, शाकल प्रोक्त ऋग्वेदीय शाखा के पाठ की समाप्ति से लक्षित तद्-हेतुक वृष्टि हुई। यहाँ अनु कर्मप्रवचनीय के योग में 'संहिता' से द्वितीया विभक्ति हुई ।

विभक्ति[४]- सुप् जो २१ प्रत्यय हैं और तिङ् जो १८ प्रत्यय हैं उनके एक-एक त्रिक (सु औ जस्), (तिप्, तस् झि) की विभक्ति संज्ञा की है। त्रिक में वर्तमान सु आदि अथवा तिप् आदि एक एक की भी विभक्ति संज्ञा इष्ट है। **न विभक्तौ तुस्माः** (१।३।४) इत्यादि में इस संज्ञा का उपयोग किया गया है।

1 उपसर्गाः क्रियायोगे (१।४।५६) ।
2 गतिश्च (१।४।६०) ।
3 कर्मप्रवचनीयाः (१।४।८३) ।
4 विभक्तिश्च (१।४।१०४) ।

आमन्त्रित[१]- संबोधन अर्थ में जो प्रथमा विभक्ति होती है उसकी आमन्त्रित संज्ञा है। **आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्** (८।१।७२), **आमन्त्रितस्य च** (६।१।१६८, ८।१।१६) इत्यादि सूत्रों में इस संज्ञा का उपयोग हुआ है।

सम्बुद्धि[२]- आमन्त्रित प्रथमा के एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा है। एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः (६।१।६६)। **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे** (१।१।१६) इत्यादि सूत्रों में इस संज्ञा का उपयोग हुआ है।

सार्वधातुक[३]- धात्वधिकारोक्त तिङ् तथा शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है। नयति। यहाँ तिप् के सार्वधातुक होने से धातु से शप् प्रत्यय हुआ तथा शप् के शित्त्व निमित्त से सार्वधातुक होने से धातु को गुण हुआ। 'रोदिति' में तिप् के सार्वधातुक होने से **रुदादिभ्यः सार्वधातुके** (७।२।७६) से इट् आगम हुआ। पचमान- यहाँ शानच् परे रहते सार्वधातुक होने से धातु से शप् प्रत्यय हुआ। धातोः (३।१।६१) से धात्वधिकार प्रारम्भ होता है।

आर्धधातुक[४]- धात्वधिकारोक्त तिङ् तथा शित् से भिन्न प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा की है। लविता। लवितुम्। लवितव्यम्। यहाँ लू से ता (तास् डा), तुमुन्, तव्य प्रत्ययों को वलादि आर्धधातुक होने से इट् आगम होता है। धात्वधिकारोक्त क्यों कहा? इसलिये कि **गुप्तिज्किद्भ्यः सन्** (३।२।५) से विहित सन् की आर्धधातुक संज्ञा नहीं होती, क्योंकि यह सन् धात्वधिकारोक्त नहीं। धात्वधिकार तो (३।१।९१) से प्रारम्भ होता है। जुगुप्सते। तितिक्षते। चिकित्सति में सन् को इट् नहीं हुआ। लूभ्याम्। लूभिः-यहाँ 'लू' के क्विबन्त होने से धातुत्व होने पर भी भ्याम्, भिस् के धात्वधिकारोक्त न होने से आर्धधातुक संज्ञा नहीं हुई। यदि होती तो वलादिलक्षण इट् हो जाता।

अभ्यास[५]- षाष्ठ द्विर्वचन (दो बार उच्चारण) में धातु के प्रथम खण्ड को 'अभ्यास' कहते हैं। **अभ्यासाच्च** (७।३।५५) इत्यादि सूत्रों में इस संज्ञा का उपयोग किया गया हैं।

अभ्यस्त[६]- द्विर्वचन होने पर दोनों खण्डों के समुदाय को 'अभ्यस्त' कहते हैं।

जक्षि जागृ दरिद्रा शास् दीधीङ् वेवीङ् चकास् तथा।
अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः ॥[७]

1 साऽऽमन्त्रितम् (२।३।४८) ।
2 एकवचनं सम्बुद्धिः (२।३।४६) ।
3 तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३।४।११३) ।
4 आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४) ।
5 पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४) ।
6 उभे अभ्यस्तम् (६।१।५) ।
7 जक्षित्यादयः षट् (६।१।६) ।

जक्ष् आदि इन सात धातुओं की भी अभ्यस्त संज्ञा होती हैं। जिसका फल यह होता है कि झि के झ् को अत् आदेश होता है –जक्षति। शासति। जाग्रति। सूत्र में जक्षित्यादयः– **यह अत्तद्‌गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है।** अतः जक्ष् को साथ लेकर सात धातुएँ होती हैं।

आम्रेडित[१]– अष्टम अध्याय प्रथम पाद में **सर्वस्य द्वे** (८।१।१) इस अधिकार में जो **नित्यवीप्सयोः** (८।१।४) इत्यादि सूत्रों द्वारा द्विर्वचन विधान किया है, वहाँ द्विरुक्त से परे जो शब्दरूप है उसकी 'आम्रेडित' संज्ञा की है। **दस्यो दस्यो3घातयिष्यामि त्वा।** यहाँ दूसरा 'दस्यो' आम्रेडित है। यहाँ भर्त्सन अर्थ में द्विरुक्ति हुई है। **आम्रेडितं भर्त्सने** (८।२।९५) से आम्रेडित को प्लुत हुआ है। भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति। भोजं भोजं व्रजति। यहाँ अनुदात्तं च (८।१।३) से आम्रेडित भुक्त्वा शब्द सारा अनुदात्त हो जाता है। ऐसे ही आम्रेडित भोजम् भी। द्विरुक्त भुक्त्वा प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। द्विरुक्त भोजम् (णमुलन्त) लित् स्वर से आद्युदात्त है।

स्मरणीय बिंदु

1) वृद्धि संज्ञा : वृद्धिरादैच् सूत्र के अनुसार आत् (आ) और ऐच् (ऐ, औ) वर्णों की वृद्धि संज्ञा होती है।

2) संयोग संज्ञा : जब दो या दो से अधिक व्यंजनों के बीच कोई स्वर न हो, तो उनकी संयोग संज्ञा होती है (हलोऽनन्तराः संयोगः)।

3) सवर्ण संज्ञा : जिन वर्णों का उच्चारण स्थान और प्रयत्न (आभ्यन्तर प्रयत्न) समान होता है, वे आपस में सवर्ण कहलाते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) वृद्धि और संयोग संज्ञाओं को परिभाषित करते हुए उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए कि व्याकरणिक प्रक्रिया में इनकी क्या उपयोगिता है?

2) सवर्ण संज्ञा करने वाले सूत्र की व्याख्या कीजिए और बताइए कि किन परिस्थितियों में वर्णों को सवर्ण माना जाता है।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) वृद्धि संज्ञा करने वाला सूत्र क्या है और इसके अंतर्गत कौन से वर्ण आते हैं?

2) संयोग संज्ञा के लिए कम से कम कितने व्यंजनों का होना आवश्यक है?

3) सवर्ण संज्ञा के लिए किन दो मापदंडों (स्थान और प्रयत्न) का मिलना अनिवार्य है?

4) व्याकरण में संज्ञा का क्या अर्थ है और यह क्यों महत्वपूर्ण है?

5) गुण संज्ञा और वृद्धि संज्ञा के बीच मुख्य अंतर क्या है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. वृद्धिरादैच् सूत्र के अनुसार किन वर्णों की वृद्धि संज्ञा होती है?
(क) अ, ए, ओ (ख) आ, ऐ, औ
(ग) इ, उ, ऋ (घ) य, र, ल

2. दो व्यंजनों के बीच स्वर का अभाव होने पर कौन सी संज्ञा होती है?
(क) सवर्ण (ख) वृद्धि
(ग) संयोग (घ) पद

3. सवर्ण संज्ञा होने के लिए वर्णों का क्या समान होना चाहिए?
(क) केवल रंग (ख) केवल मात्रा
(ग) उच्चारण स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न (घ) केवल बाह्य प्रयत्न

4. इकाई 2.1 का मुख्य विषय क्या है?
(क) समास प्रकरण (ख) संज्ञा प्रकरण (वृद्धि, संयोग आदि)
(ग) कारक प्रकरण (घ) प्रत्यय प्रकरण

5. व्याकरण में संज्ञाओं का ज्ञान किसके लिए अनिवार्य माना गया है?
(क) केवल संगीत के लिए (ख) व्याकरण के नियमों और सूत्रों की सिद्धि के लिए
(ग) केवल गिनती के लिए (घ) चित्रकला के लिए

॥ इति संज्ञाप्रकरणं समाप्तम् ॥

इकाई 2.2 समासप्रकरणम्

उद्देश्य

1) अध्येताओं को संस्कृत व्याकरण में समास की वैज्ञानिक अवधारणा और शब्दों के संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया से परिचित कराना।

2) छात्रों को विभिन्न समासों (जैसे तत्पुरुष, बहुव्रीहि आदि) के लक्षणों और उनके भेदों को पहचानने के योग्य बनाना।

3) विद्यार्थियों को समास–विग्रह करने और समस्त–पद बनाने के नियमों में कुशल बनाना ।

परिणाम

1) अध्येता संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त जटिल समस्त–पदों का सही अर्थ निकालने में निपुण हो जाता है।

2) विद्यार्थी व्याकरण के माध्यम से भाषा के लेखन और पठन में संक्षिप्तता और शुद्धता प्राप्त कर लेता है।

3) छात्र विभिन्न पदों के बीच के व्याकरणिक संबंधों को समझकर उनके विग्रह और रचना में कुशल हो जाता है।

अनेकपदानामेकपदीभवन समासः।

अनेक पद मिलकर एक पद होना समास है। अर्थात् दो या दो से अधिकशब्दों को मिलाने या जोड़ने को समास कहते हैं। सम् उपसर्ग पूर्वक अस् धातु के योग से समासशब्द निष्पन्न होता है। समास का अर्थ है संक्षेप। व्याकरण में भी इसी भाव को लेकर समास की परिभाषा है कि अनेक पदों के समूह को संक्षेप करना 'समास' कहा जाता है। क्योंकि दो या दो से अधिक पदों का एक पद बन जाना ही संक्षेप अर्थात् समास है। समास करने पर समास हुए शब्दों के बीच की विभक्ति नहीं रहती। समस्त समासयुक्त शब्द एक हो जाता है, अन्त में विभक्ति लगती है। इसके विपरीत समास के तोड़ने को विग्रह कहते हैं। समास उन्हीं पदों के बीच में होता है जिनमें अपना अर्थ बताने का सामर्थ्य होना चाहिए।

समास प्रकरण–

(१) समास दो या दो से अधिक शब्दों के साथ होता है। इनमें से पहले पद को पूर्वपद कहते है। और अन्तिम या अगले पद को उत्तर पद कहते है। (२) समास सुबन्तों का ही होता है, तिङन्तों के साथ समास नहीं होता है। (३) वृत्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः। समास के अर्थ को बताने वाले वाक्य को विग्रह कहते है। जैसे राज्ञः पुरुषः यह विग्रह वाक्य है। एवं राजपुरुषः यह समस्त पद है। (४) समासः पञ्चधा समास के पाँच भेद होते हैं-

(१) **केवलसमास** = विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवल समासः प्रथमः।

(२) **अव्ययीभावसमास** = प्रायेणपूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः।

(३) **तत्पुरुषसमास** = प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः।

तत्पुरुषस्य भेदः कर्मधारयः- तत्पुरुष का भेद कर्मधारय है।

कर्मधारयभेदो द्विगुः- कर्मधारय का भेद ही द्विगु है।

(४) **बहुव्रीही समास** = प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहीश्चतुर्थः ।

(५) **द्वन्द्व समास** = प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः ।

समास के लाभ- समास करने से तीन लाभ होते हैं।

१. मध्यगत विभक्ति का लोप हो जाता है।

२. एक पद बन जाता है।

३. एक पद बन जाने से एक स्वर होना।

१. केवलसमासः

'विशेषसंज्ञा विनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः।' कोई विशेषसंज्ञा से रहित केवलसमास प्रथम समास है।

यह समास किसी विशेष अधिकार के रूप में नहीं आता इसलिए इसे केवल समास कहते हैं। सह सुपा २/१/४।। 'सुप् सुपा सह वा समस्यते' अर्थात् सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है। जैसे -

समस्त पद	**समास विग्रह**
भूतपूर्वः	पूर्वभूतः
वागर्थाविव	वागर्थौ इव

२. अव्ययी-भावसमासः

प्रायेणपूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः।

जिसमें प्रायः पूर्व पद का अर्थ प्रधान होता है। वह अव्ययीभाव समास कहलाता है। अव्ययीभाव समास में प्रथम पद अव्यय होता है तथा दूसरा शब्द संज्ञा होता है। लेकिन समास होने पर दोनों शब्द अव्यय बन जाते हैं। अव्ययीभावश्च २/४/१८।। इस सूत्र से अव्ययी भाव संज्ञा होती है, अतः इन शब्दों के रूप नहीं चलते। केवल नपुंसक लिंग के प्रथमा एकवचन के समान इनके रूप चलते हैं।

उदाहरण- इसमें षोडश अर्थों में अव्ययों का प्रयोग होता है-

अर्थ	**विग्रह**	**समस्तपद**	**अर्थ**
विभक्ति	हरौ इति	अधिहरि	हरि में
समीप	गङ्गायां समीपम्	उपगङ्गम्	गंगा के समीप
समृद्धि	मद्राणां समृद्धि	सुमद्रम्	मद्रों की समृद्धि
व्यृद्धि -	यवनानां व्यृद्धि -	दुर्वयवनम् -	यवनों का नाश
अभाव -	मक्षिकाणाम् अभावः -	निर्मक्षिकम् -	मक्खियों का अभाव
अत्यय -	हिमस्य अत्ययः -	अतिहिमम् -	हिम का अभाव
असम्प्रति -	निद्रा सम्प्रति न युज्यते -	अतिनिद्रम् -	नींद के अनुचित समय में
शब्दप्रादुर्भाव -	हरिशब्दस्य प्रकाशः -	इति हरिः -	ज्ञान शब्द का प्रादुर्भाव
पश्चात् -	विष्णोः पश्चात् -	अनुविष्णुः -	विष्णु के पीछे
यथा -	शक्तिम् अनतिक्रम्य -	यथाशक्ति -	शक्ति के अनुसार
आनुपूर्व्य -	ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्येण -	अनुज्येष्ठम् -	ज्येष्ठ के अनुसार
यौगपद्य -	चक्रेण युगपत् -	सचक्रम् -	चक्र के पीछे
सादृश्य -	हरेः सादृश्यम् -	स हरिः -	हरि के समान
सम्पत्ति -	क्षत्राणां सम्पत्तिः -	सक्षत्रम् -	क्षत्रियों की सम्पत्ति
साकल्य -	तृणम् अपि अपरित्यज्य -	सतृणम् -	सब कुछ
अन्त -	अग्निग्रन्थ पर्यन्तम् -	साग्नि -	अग्निकाण्ड तक

विशेष सूत्रों के कारण निम्न शब्दों में भी अव्ययीभाव समास है-

विग्रह		**समस्त पद**		**अर्थ**
पञ्चानां गङ्गानां समाहारः	-	पञ्चगङ्गम्	-	पाँच गङ्गाओं का समूह
द्वयोः यमुनयोः समाहारः	-	द्वियमुनम्	-	दो यमुनाओं का समूह
शरदः समीपम्	-	उपशरदम्	-	शरद के समीप
विपाशायाः अभिमुखम्	-	**प्रतिविपाशम्**	-	व्यास नदी की ओर
जरायाः समीपम्	-	उपजरसम्	-	बुढ़ापे के समीप
राज्ञः समीपम्	-	उपराजम्	-	राजा के समीप
आत्मनि अधि	-	अध्यात्मम्	-	आत्मा के विषय में
चर्मणः समीपम्	-	उपचर्मम्	-	चर्म के समीप
समिधः समीपम्	-	उपसमिधम्	-	समिधा के समीप
गुणानां योग्यं	-	अनुगुणम्	-	गुणों के योग्य
लेखस्य योग्यम्	-	अनुलेखम्	-	लेख के योग्य
ज्ञानम् अनतिक्रम्य	-	यथाज्ञानम्	-	ज्ञान के अनुसार
दिनम्-दिनम्	-	**प्रतिदिनम्**	-	**प्रत्येक दिन**

३. तत्पुरुषसमासः

'प्रायेणोभयपदप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः'

जिसमें प्रायः उत्तर पद का अर्थ प्रधान हो उसे तत्पुरुष समास कहते हैं। **तत्पुरुषः** २/१/२२।। इस सूत्र से तत्पुरुष संज्ञा होती है। इस समास में प्रथम शब्द विशेषण का कार्य करता है और दूसरा शब्द विशेष्य प्रधान होता है। इसके मूलरूप से दो भेद होते हैं।

१. **व्यधिकरण तत्पुरुष समास**-अर्थात् विभिन्न विभक्ति वाले शब्दों के साथ समास ।

२. **समानाधिकरण तत्पुरुष समास**- अर्थात् समान विभक्ति वाले शब्दों के साथ समास ।

व्यधिकरण तत्पुरुष

यह समास प्रथमा विभक्ति को छोड़कर शेष सभी विभक्तियों में देखा जाता है।

१. द्वितीया तत्पुरुष समास

द्वितीयाश्रितातीत-पतित-गतात्यस्त-प्राप्तापन्नैः २/१/२४।।

द्वितीया विभक्ति से युक्त समर्थ सुबन्त का श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त प्राप्त, आपन्न ऐसी प्रकृति है जिनकी, ऐसे समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है- वह तत्पुरुष समास कहलाता है। इनका प्रथम पद द्वितीयान्त होता है ।

उदाहरण-

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
कृष्णं श्रितः	कृष्णश्रितः	कृष्ण के आश्रित
दुःखम्अतीतः	दुःखातीतः	दुखों से दूर हुआ
कष्टं पतितः	कष्टपतितः	कष्ट में पड़ा हुआ
स्वर्ग गतः	स्वर्गगतः	स्वर्ग को प्राप्त
लङ्काम् अत्यस्य	लङ्कात्यस्य	लङ्का के पार पहुंचाँ
दुःखं प्राप्तः	दुःखप्राप्तः	दुःख पाया हुआ
शोकम् आपन्नः	शोकापन्नः	शोकाकुल
जीवनं प्राप्तः	प्राप्तजीवनः	जीवन को प्राप्त हुआ
कष्टं आपन्नः	आपन्नकष्टः	कष्ट पाया हुआ
मुहूर्तं सुखः	मुहूर्तसुखम् - ४८ मिनिट तक का सुख	
क्षणं स्थायी	क्षणस्थायी-	४ मिनिट तक रहने वाला

२. तृतीया तत्पुरुष

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन २/१/३०।।

तृतीया शब्द का जो अर्थ उसके द्वारा किये गऐ गुण के वाचक शब्दों के साथ तत्पुरुष समास कहलाता है। जिनके प्रथम पद में तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है।

उदाहरण–

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
हरिणा त्रात:	हरित्रात:	हरि से रक्षित
नखै: भिन्न:	नखभिन्न:	नाखुनों से फाड़ा हुआ
खड्गेन हत:	खड्कत:	तलवार से मारा हुआ
शङ्कुलया खण्ड:	शङ्कुलाखण्ड:	सरौते से काटा हुआ टुकड़ा

विशेष शब्दों के योग के कारण निम्न शब्दों में तृतीया तत्पुरुष समास होता है–

मासेन पूर्व:	मासपूर्व:	एक मास पूर्व
मात्रा सदृश:	मातृसदृश:	माता के समान
धान्येन विकलम्	धान्यविकलम्	धान्य से रहित
आचारेण कुशल:	आचारकुशल:	व्यवहार से कुशल
दध्ना ओदन:	दध्नोदन:	दही भात

३. चतुर्थी तत्पुरुष

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः । २/१/३६ ।।

चतुर्थन्त शब्द का चतुर्थन्त के लिए जो वस्तु, तथा बलि, अर्थ, हित, सुख और रक्षित शब्दों के साथ विकल्प से समास होता है, उसे तत्पुरुष समास कहते हैं। जब प्रथम शब्द चतुर्थी विभक्ति का होता है। तब चतुर्थी तत्पुरुष समास होता है।

उदाहरण–

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
यूपाय दारू	यूपदारू	खम्बे के लिए लकड़ी
द्विजाय यवागूः	द्विजार्थम्	ब्राह्मण के लिए लप्सी
भूताय बलिः	भूतबलिः	**प्राणी के लिए बलि**
गवे हितम्	गोहितम्	गाय के लिए हितकारक
ब्राह्मणाय सुखम्	ब्राह्मणसुखम्	ब्राह्मण के लिए सुख
काकाय रक्षितम्	काकरक्षितम्	कौआ के लिए सुरक्षित
गोभ्यः रक्षितम्	गोरक्षितम्	गायों के लिए सुरक्षित

४. पञ्चमी तत्पुरुष

पञ्चमी भयेन – २/१/३७।।

पञ्चम्यन्त शब्द का भयवाचक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है। इसमें प्रथमान्त पद पञ्चमी है। अतः पञ्चमी तत्पुरुष समास है। अर्थात् प्रथम शब्द जब पंचमी विभक्ति का होता है। तब पंचमी तत्पुरुष समास होता है।

उदाहरण–

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
चौरात् भयम्	चोरभयम्	चोर से भय

सर्पात् भीतः	सर्पभीतः	सर्प से डरा हुआ
ग्रामात् निर्गतः	ग्रामनिर्गतः	गाँव से निकला हुआ
चौरात् त्रस्तः	चौरत्रस्तः	चोर से डरा हुआ
सुखात् अपेतः	सुखोपेतः	सुख से रहित
चक्रात् मुक्तः	चक्रमुक्तः	चक्र से छूटा हुआ
स्वर्गात् पतितः	स्वर्गपतितः	स्वर्ग से च्युत
अन्तिकात् आगतः	अन्तिकादागतः	समीप से आया
स्तोकात् मुक्तः	स्तोकान्मुक्तः	थोड़े से छूट गया
अल्पात् मुक्तः	अल्पान्मुक्तः	थोड़े से छूट गया

५. षष्ठी तत्पुरुष

षष्ठी २/२/८।।

षष्ठ्यन्त का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है। यह सूत्र षष्ठ्यन्त के साथ किसी भी शब्द का समास करता है। जिसका प्रथम शब्द षष्ठी विभक्ति होता है।

उदाहरण-

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
राज्ञः पुरुषः	राजपुरुषः	राजा का पुरूष
ब्राह्मणस्य याजकः	ब्राह्मणयाजकः	ब्राह्मण का यज्ञ कराने वाला
विद्यायाः स्नातकः	विद्यास्नातकः	विद्या स्नातक
छात्रस्य अध्यापकः	छात्राध्यापकः	छात्र को पढ़ाने वाला
अन्नस्य उत्पादकः	अन्नोत्पादकः	अन्न उगाने वाला

अपवाद- पाचक, याचक, सेवक, कर्ता, हर्ता, सृष्टा के साथ समास नहीं होता। वह पद वैसा ही रहता है।

विग्रह	समस्तपद	अर्थ
सूपस्य पाचकः	सूपस्य पाचकः	दाल पकाने वाला
धनस्य याचकः	धनस्य याचकः	धन मांगने वाला
नृपस्य सेवकः	नृपस्य सेवकः	राजा का सेवक
यज्ञस्य कर्ता	यज्ञस्य कर्ता	यज्ञ का कर्ता
पुस्तकस्य हर्ता	पुस्तकस्य हर्ता	पुस्तक को चुराने वाला
जगतः स्रष्टा	जगतः स्रष्टा	संसार को बनाने वाला
सर्वेषांश्वेततरः	सर्वश्वेतः	सभी में श्वेत
सर्वेषां प्रियतरः	सर्वप्रियः	सभी में प्रिय
सर्वेषाम् महत्तरः	सर्व महान्	सभी में महान

६. सप्तमी तत्पुरुष

सप्तमी शौण्डैः – २/१/४०।।

सप्तम्य का शौण्ड आदि समर्थ शब्दों के साथ समास होता है। इस सूत्र का प्रथमान्त पद सप्तमी है। अर्थात् जिसका प्रथम शब्द सप्तमी विभक्ति होता है, वह सप्तमी तत्पुरुष समास है।

उदाहरण–

विग्रह	समस्तपद	अर्थ
अक्षेषुशौण्डः	अक्षशौण्डः	पासे खेलने में प्रवीण
सभायां पण्डितः	सभापण्डितः	सभा में पण्डित
कर्मणि कुशलः	कर्मकुशलः	कार्य में चतुर
श्राद्धे काकः	श्राद्धकाकः	श्राद्ध में कौए की तरह
चक्रे बन्धः	चक्रबन्धः	चक्र में बंधा हुआ
छायायां शुष्कः	छाया शुष्कः	छाया में सूखा हुआ
अध्ययने धूर्त	अध्ययनधूर्त	अध्ययन में लगा हुआ
स्थाल्यां पक्वः	स्थाली पक्वः	स्थाली में पका हुआ

७. नञ् तत्पुरुष

नञ् २/२/६।।

नञ् इस अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है। यह भी तत्पुरुष समास ही है। यदि किसी संज्ञा या सर्वनाम के पूर्व 'न अव्यय' रहे तो ऐसा समस्त पद 'नञ् तत्पुरुष समास' कहा जाता है।

उदाहरण-

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
न अश्व:	अनश्व:	जो घोड़ा न हो
न ईश्वर:	अनीश्वर:	जो ईश्वर न हो
न ब्राह्मण:	अब्राह्मण:	जो ब्राह्मण न हो
न सत्यम्	असत्यम्	जो सत्य न हो

प्रादितत्पुरुष

प्र आदि उपसर्गो के साथ यदि किसीशब्द का समास होता है तो ऐसे समस्त शब्द प्रादि तत्पुरुष समास कहे जाते हैं।

उदाहरण-

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
प्रगत: आचार्य:	**प्राचार्य:**	**प्रधानाचार्य**
निर्गत: गृहात्	निर्गृह:	घर से निकला हुआ
अतिक्रान्त:	रथम् अतिरथ:	अत्यन्त वीर
परिम्लान: अध्ययनाय	पर्यध्ययन:	पढ़ाई से पका हुआ
कुत्सित: पुरूष:	कुपुरूष:	बुरा मनुष्य
शोभन: पुरुष:	सुपुरूष:	अच्छा मनुष्य

गति तत्पुरुष

ऊरी आदि निपात, च्वि तथा डाच् प्रत्यान्तशब्द भी क्रिया के योग में गति संज्ञक हो जाते हैं। अतः इनशब्दों के साथ जो समास होता है, उसे गति तत्पुरुष समास कहते हैं।

उदाहरण–

विग्रह	समस्तपद	अर्थ
ऊरी कृत्वा	**ऊरीकृत्य**	स्वीकार करके
अशुक्लंशुक्लं कृत्वा इति	शुक्लीकृत्य	सफेद करके
तिरस् कृत्वा	तिरस्कृत्य	तिरस्कार करके
सत् कृत्वा	सत्कृत्य	सत्कार करके

उपपदतत्पुरुष

प्रथम पद को उपपद कहते हैं। इसमें द्वितीय पद होने पर कृदन्त का रूप बनता है, न कि क्रिया रूप में।

उदाहरण–

विग्रह	समस्तपद	अर्थ
कुम्भं करोति	कुम्भकारः	कुम्भकार
स्वर्णं करोति	स्वर्णकारः	सुनार
धनं ददाति	धनदः	धन देने वाला
कम्बलं ददाति	कम्बलदः	कम्बल देने वाला

मध्यमपदलोपी समास

इस समास में मध्यम पद का लोप हो जाता है।

उदाहरण–

विग्रह	समस्तपद	अर्थ
शाकप्रियः पार्थिव	शाकपार्थिवः	जिस राजा को शाक प्रिय हो
देवपूजकः ब्राह्मणः	देवब्राह्मणः	देवताओं की पूजा करने वाला ब्राह्मण

अलुक् तत्पुरुष

यह एक ऐसा भेद है, जहाँ विभक्ति का लोप नहीं होता।

उदाहरण–

विग्रह	समस्तपद	अर्थ
आत्मने पदम्	आत्मनेपदम्	धातुओं का प्रथम भेद
परस्मै पदम्	परस्मैपदम्	धातुओं का द्वितीय भेद
दूरात् आगतः	दूरादगतः	दूर से आया हुआ
युधि स्थिरः	युधिष्ठिरः	युधिष्ठिर
सरसि जम्	सरसिजम्	तालाब में उत्पन्न

समानाधिकरण तत्पुरुष

कर्मधारय समास–

तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १/२/४२।।

जिस समास में पूर्वपद और उत्तर पद एक ही विभक्ति के हो, उस समास की कर्मधारय संज्ञा होती है। यहाँ विभक्तियाँ ही शब्दों की आधारशिला हैं। कर्मधारय समास में प्रथम शब्द विशेषण और द्वितीय शब्द संज्ञा होता है अथवा दोनों शब्द संज्ञाएँ होती हैं अथवा दोनों विशेषण होकर किसी तीसरे विशेष्य शब्द के उपकारक होते हैं।

उदाहरण–

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
नीलम् उत्पलम्	नीलोत्पलम्	नीला कमल
रक्तम् उत्पलम्	रक्तोत्पलम्	लाल कमल
कृष्णः च असौ सर्पः	**कृष्णसर्पः**	काला सर्प

उपमानपूर्वपद कर्मधारय

इस समास में पूर्वपद उपमान और उत्तरपद उपमेय होता है।

उदाहरण–

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
घन इव श्यामः	घनश्यामः	श्रीकृष्ण

उपमान उत्तरपद कर्मधारय

यदि उपमेय और उपमान शब्दों का साथ–साथ प्रयोग किया जाए तो इसे 'उपमितसमास' या 'उपमानोत्तरपद' कर्मधारय समास कहते हैं। उदाहरण–

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
मुखं कमलम् इव	मुखकमलम्	मुख कमल के समान
पुरुषः व्याघ्रः इव	पुरुषव्याघ्रः	पुरुष बाघके समान

रूपककर्मधारय

उदाहरण-

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
मुखम् एव कमलम्	मुखकमलम्	मुख ही कमल
पुरुषः एव व्याघ्रः	पुरुषव्याघ्रः	पुरष ही व्याघ्रः

विशेषणोभयपद कर्मधारय

समास विभिन्न वाले विशेषण पदों के समास को विशेषणोभयपद कर्मधारय समास कहते हैं।

उदाहरण-

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
शुक्लः च पीतः च	शुक्लपीतः	सफेद और पीला
चरम् च अचरम् च	चराचरम्	चर और अचर
कृतम् च अकृतम् च	**कृताकृतम्**	किया और नही किया

द्विगु समास

संख्यापूर्वोद्विगुः २/१/५२।।

विशेष्य और विशेषण के समास में यदि विशेषण संख्यावाचक हो तो उसे द्विगु समास कहते हैं। यह कर्मधारय संज्ञा का एक भेद द्विगु समास है। द्विगु, कर्मधारय को तत्पुरुष का एक भेद माना जाता है।

उदाहरण-

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
पञ्चगावः धनं यस्य सः	पञ्चगवधनः	पाँच गाय हैं धन जिसका
त्रयाणां भुवनानां समाहारः	त्रिभुवनम्	तीनो भुवनों का समूह
चतुर्णा युगानां समाहारः	चतुर्युगम्	चारों युगों का समूह
पंचानां गवां समाहारः	पंचगवम्	पाँच गायों का समूह
त्रयाणां लोकानाम् समाहारः	त्रिलोकी	तीनो लोकों का समूह
सप्तानां शतानां समाहारः	सप्तशती	सात सौ श्लोकों का समूह

चतुर्णा शालानां समाहारः चतुश्शाली   चार शालाओं का समूह

४. बहुव्रीहिसमासः

प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहीश्चतुर्थाः ।

अनेकमन्यपदार्थे २/२/२४।।

अन्य पद के अर्थ में विद्यमान एक से अधिक प्रथमान्त पद परस्पर में विकल्प से समास होता है। उसे बहुव्रीहि समास कहते है।

बहुव्रीहि समास में प्रथमान्त पदों का अन्य पद के अर्थ में समास है। इस समास में प्रायः अन्य पद का अर्थ प्रधान हो, वह बहुव्रीहि समास होता है।

बहुव्रीहि समास की पहचान है कि जहाँ अर्थ करने पर जिसको, जिसके जिसका आदि अर्थ निकलता है तथा समस्त पद किसी विशेष्य के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। दोनों शब्द मिलकर किसी अन्य पद के विशेषण होते हैं। बहुव्रीहि शब्द अपने समास के लक्षण को स्वयं प्रकट करता है। इसके दो भेद होते हैं।

१. समानाधिकरण बहुव्रीहि।

२. व्यधिकरण बहुव्रीहि ।

समानाधिकरण बहुब्रीहि

उदाहरण-

द्वितीया बहुब्रीहि-

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
प्राप्तम् उदकं यस्य सः	**प्राप्तोदकम्**	जिसको जल प्राप्त है

तृतीया बहुब्रीहि-

ऊढ़ः रथः येन सः	**ऊढरथः**	जिसने रथ खीचाँ हो

चतुर्थी बहुब्रीहि-

उपहतः पशुः यस्मै सः	उपहतपशुः	जिसने पशु भेंट किया हो

पञ्चमी बहुब्रीहि-

निर्गतं धनं यस्मात् सः	निर्धनः	जिसका धन समाप्त हो गया हो

नास्ति परः क्रूरः यस्मात् सः	अक्रूरः	जिससे बढ़कर कोई क्रूर न हो

षष्ठी बहुब्रीहि–

लम्बौ कर्णौ यस्य सः	लम्बकर्णः	लम्बे कानों वाला

सप्तमी बहुब्रीहि–

वीराः पुरुषाः यस्मिन् सः	वीरपुरुषः	वीर पुरूष वाला गाँव
रूपवती भार्या यस्य सः	रूपवद्भार्यः	सुन्दर स्त्री वाला पुरूष
सुकेशी भार्या यस्य सः	सुकेशी भार्यः	सुन्दर केशों वाली स्त्री
कल्याणी प्रिया यस्य सः	कल्याणीप्रियः	कल्याणी प्रिया है जिसकी
महत् यशः यस्य सः	महायशाः	महान यश वाला
प्रियं सर्पिः यस्य सः	प्रियसर्पिष्कः	जिसे घी प्रिय हो
बहवः दण्डिनः यस्य सा	बहुदण्डिका	बहुत साधु वाली नगरी
व्यूढम् उरः यस्य सः	व्यूढोरस्कः	चौड़ी छाती वाला

व्यधिकरण बहुब्रीहि

दोनों शब्द भिन्न–भिन्न विभक्ति के होते हैं। प्रायः प्रथम पद प्रथमा विभक्ति का और दूसरा पद षष्ठी या सप्तमी विभक्ति का होता है।

उदाहरण–

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
चन्द्रः शेखरे यस्य सः	चन्द्रशेखरः	चन्द्र है जिसके सिर पर
प्रपतितं पर्णं यस्मात् सः	**प्रपतितपर्णः**	जिससे पत्ता गिर गया हो
विगतं जीवनं यस्मात् सः	विगतजीवनः	विगत जीवन वाला
केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं	–केशाकेशी–	बालों को पकड़कर युद्ध हुआ।
शोभनं हृदयं यस्य सः	सुहृद्	मित्र
दुष्टं हृदयं यस्य सः	दुर्हृद्	शत्रु

५. द्वन्द्वसमासः

चार्थे द्वन्द्वः २/२/२९।।

च के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तों का समास होता है और उसकी द्वन्द्व संज्ञा होती है। चकार के चार अर्थ है- **समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः** अर्थात् समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार।

जिस समास में प्रायः दोनों पदों का अर्थ प्रधान हो, वह द्वन्द्व समास होता है। द्वन्द्व समास की पहचान है कि जहाँ अर्थ करने पर बीच में और अर्थ निकले। इसके निम्नलिखित भेद होते हैं-

१. इतरेतरद्वन्द्व २. समाहारद्वन्द्व ३. एकशेषद्वन्द्व

इतरेतरद्वन्द्व

जब पदार्थ परस्पर में मिलकर आगे अन्वित होते हैं, तब उसे इतरेतर योग कहा जाता है।

उदाहरण-

विग्रह	समस्तपद	अर्थ
रामः च लक्ष्मणः च	रामलक्ष्मणौ	राम और लक्ष्मण
रामः च लक्ष्मणः च भरतः- **च शत्रुघ्नःच-**	रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाः-	राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न
माता च पिता च	मातापितरौ	माता और पिता
कुक्कुटः च मयूरी च	कुक्कुटमयूर्यौ	मुर्गा और मयूरी
हरिः च हरः च	हरिहरौ	विष्णु और शिव
युधिष्ठिरः च भीमः च अर्जुनः च-	युधिष्ठिरभीमार्जुनाः-	युधिष्ठिर भीम अर्जुन

समाहार द्वन्द

जब दो या दो से अधिक पदार्थों का समूहात्मक रूप में अर्थ का अन्वय होता है तो उसे समाहार नामक द्वन्द्व कहा जाता है।

उदाहरण-

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
पाणि च पादौ च	पाणिपादम्	हाथ और पैर
मार्दङ्गिकः च पाणविकः च-	मार्दङ्गिकपाणविकम्-	मृदंग और पणव वाला
गोः च व्याघ्रः च	गोव्याघ्रम्	गाय और बाघ
अश्वः च महिषः च	अश्वमहिषम्	घोड़ा और भैसा
गङ्गा च शोणः च	गङ्गाशोणम्	गङ्गा और शोण नदी
कुरवः च कुरुक्षेत्रं च	कुरुकुरुक्षेत्रम्	कुरू और कुरूक्षेत्र
दधि च घृतं च	दधिघृतम्	दही और घी
पूर्वः च अपरः च	पूर्वापरम्	पूर्व और पश्चिम
अधरः च उत्तरः च	अधरोत्तरम्	नीचे और उपर

एकशेषद्वन्द समास

जब दो या दो से अधिक पदार्थों का अन्वय एक ही शब्द में होता है तब उसे एक शेष द्वन्द्व समास कहते है।

उदाहरण-

विग्रह	**समस्तपद**	**अर्थ**
सः च सः च सः च	ते	वे सब पुरूष
पुत्रः च दुहिता च	पुत्रौ	पुत्र और पुत्री
माता च पिता च	पितरौ	माता और पिता
अजा च अजः च	अजौ	बकरा और बकरी
ब्राह्मणी च ब्राह्मणः च	ब्राह्मणौ	ब्राह्मण और ब्राह्मण
भ्राता च स्वसाच	भ्रातरौ	भाई और बहन
द्यौः च पृथ्वी च	रोदसी	आकाश और भूमि

समासान्त प्रकरण

विग्रह	समस्तपद	अर्थ
परम: च असौ राजा	परमराज:	श्रेष्ठ राजा
विदुष: सखा	विद्वत्सखा	विद्वान् का मित्र
सुष्ठु पन्था: यस्य स:	सुपथ:	सुन्दर मार्ग वाला देश
विमला: आप: यस्य स:	-विमलापम्	निर्मल जल वाला
अह: च रात्रि: च	अहोरात्रम्	दिन और रात
सर्वा रात्रि:	सर्वरात्र:	सम्पूर्ण रात्रि
पुण्या रात्रि:	पुण्यरात्र:	पवित्र रात्रि
तिसृणां रात्रीणां समाहार:	त्रिरात्रम्	तीन रातों का समूह
शोभन: राजा	सुराजा	अच्छा राजा
कुत्सित: राजा	किंराजा	निन्दित राजा

स्मरणीय बिंदु

1) समास का अर्थ : जब दो या दो से अधिक सार्थक पदों को मिलाकर एक नया संक्षिप्त शब्द बनाया जाता है, तो उस प्रक्रिया को समास कहते हैं।

2) समस्त पद और विग्रह : समास की प्रक्रिया से बने शब्द को समस्त पद कहा जाता है, और उस पद के अर्थ को स्पष्ट करने वाले वाक्य को विग्रह कहते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) संस्कृत व्याकरण में समास की उपयोगिता स्पष्ट करते हुए प्रमुख समास भेदों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

2) समास विग्रह किसे कहते हैं? लौकिक और अलौकिक विग्रह के अंतर को उदाहरण के माध्यम से समझाइए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) समास शब्द की परिभाषा और इसकी आवश्यकता क्या है?

2) अव्ययीभाव समास में कौन सा पद प्रधान होता है और इसकी क्या विशेषता है?

3) तत्पुरुष समास और उसके प्रमुख उपभेदों के नाम लिखिए।

4) बहुव्रीहि समास अन्य समासों से किस प्रकार भिन्न है?

5) द्वंद्व समास की पहचान के मुख्य लक्षण क्या हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. संस्कृत व्याकरण में पदों के संक्षिप्तीकरण और मेल की प्रक्रिया को क्या कहते हैं?

(क) संधि (ख) समास

(ग) प्रत्यय (घ) उपसर्ग

2. समास होने के बाद बने नए संक्षिप्त शब्द को किस नाम से जाना जाता है?

(क) विग्रह (ख) समस्त पद

(ग) धातु (घ) कारक

3. राजपुरुषः (राजा का पुरुष) किस समास का एक उदाहरण माना जाता है?

(क) तत्पुरुष (ख) अव्ययीभाव

(ग) द्वंद्व (घ) बहुव्रीहि

4. जिस समास में अन्य पद (तीसरा अर्थ) प्रधान होता है, उसे क्या कहते हैं?

(क) तत्पुरुष (ख) बहुव्रीहि

(ग) द्विगु (घ) अव्ययीभाव

5. इकाई 2.2 मुख्य रूप से व्याकरण के किस भाग से संबंधित है?

(क) वर्णमाला (ख) समास प्रकरण

(ग) संधि (घ)उच्चारण शिक्षा

(इति समास प्रकरण समाप्तः)

(नोट- उपलिखित सभी उदाहरणों को समास करना और समास विग्रह करने के समझना चाहिए।)

खण्ड-3. विभक्त्यर्थानुवादप्रकरणम्

इकाई 3.1

प्रथमातःचतुर्थीविभक्तिपर्यन्तम्

उद्देश्य

1) अध्येताओं को संस्कृत व्याकरण की प्रारंभिक चार विभक्तियों (प्रथमा, द्वितीया, तृतीया और चतुर्थी) के नियमों और उनके कारकों से परिचित कराना।

2) विद्यार्थियों को संस्कृत वाक्यों के निर्माण में कर्ता, कर्म, करण और संप्रदान कारकों के सही प्रयोग का ज्ञान देना।

3) अनुवाद कला के माध्यम से छात्रों की संस्कृत लेखन और पठन कौशल को आधारभूत स्तर पर सुदृढ़ करना।

परिणाम

1) विद्यार्थी प्रथमा से चतुर्थी विभक्ति तक के सूत्रों को पहचानकर उनके अर्थ स्पष्ट करने में निपुण हो जाता है।

2) अध्येता संस्कृत वाक्यों का हिंदी में और हिंदी वाक्यों का संस्कृत में व्याकरण सम्मत अनुवाद करने लगता है।

3) छात्र विभिन्न उपपद विभक्तियों के विशिष्ट नियमों को समझकर भाषा का शुद्ध प्रयोग सुनिश्चित करता है।

अनु-पश्चात, वद् वाद कहना, एक बात को फिर से कहना अर्थात् एक बात को अन्य शब्दों में बदल कर कहना। जो बात पहले किसी भाषा में कही गई हो उसको भाषान्तर द्वारा कहना अनुवाद है। अनुवाद करने के लिए सन्धि, समास, प्रत्यय, उपसर्ग, अव्यय, कारक, विशेषण आदि का ज्ञान अपेक्षित है। वाक्य का शाब्दिक अर्थ जानने के लिए **'सुप्तिङन्तं पदं वाक्यं'** इसका अभिप्राय है कि सुबन्त राम आदि शब्द और तिङन्त भवति आदि क्रियायें इनके समूह को वाक्य कहते हैं। इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध रखने वाले सुबन्त और तिङन्त क्रिया के समूह को वाक्य कहते हैं। क्रिया को देखकर ही कर्त्ता का अध्याहार किया जाता है। अतः वाक्य बनाने के लिए मुख्य रूप से दो पदों की आवश्यकता होती है- कर्त्ता और क्रिया। पहले कर्त्ता का बाद में क्रिया का प्रयोग किया जाता है। वाक्य को पूर्ण बनाने के लिए कर्त्ता के अतिरिक्त कर्म, करण आदि कारकों की भी आवश्यकता होती है।

संस्कृत् शब्द का अर्थ है-शुद्ध, परिमार्जित, परिष्कृत। अतः संस्कृत भाषा का अर्थ है-शुद्ध एवं पं.

रमार्जित भाषा।

संस्कृत में तीन वचन होते हैं-

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः १/४/१०२।।

एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन ।

तीन पुरुष होते हैं-

तिङस्त्रीणित्रीणि प्रथममध्योत्तमाः १/४/१०१।।

प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष तथा उत्तमपुरुष। कारक ६ होते हैं। षष्ठी और सम्बोधन को लेकर आठ कारक होते हैं।

संस्कृत में धातु के १० लकार होते हैं। ये दसों लकार हैं-१. लट्लकार २. लोट्लकार ३. लङ् लकार ४. लृट् लकार ५. विधिलिङ्ग ६. लिट् लकार ७. लुट् लकार ८. लुङ् लकार ९. लृङ् लकार १० आशीर्लि**ङ्ग** ।

धातुएँ तीन प्रकार की होती हैं, अतः धातुओं के तीन प्रकार से रूप चलते हैं-

१. परस्मैपदी २. आत्मनेपदी ३. उभयपदी।

लकार-

लट्लकार	(वर्तमान काल)
लृट्लकार	(भविष्यकाल)
लोट्लकार	(आज्ञा के अर्थ में)
विधिलिङ्ग	(आज्ञा, चाहिए के अर्थ में)
ल**ङ्**लकार	(भूतकाल)
लिट्लकार	(अद्यतन परोक्षभूत)
लुङ्लकार	(सामान्यभूत)
लृ**ङ्**लकार	(हेतुहेतुमद्भूत)
लुट्लकार	(अनद्यतन भविष्यत्)
आशीर्लि**ङ्ग**	(आशीर्वाद)

सामान्यतः इस संसार में तीन प्राणी होते हैं- मैं (स्वयं), तू (सामने वाला), सः वह (अन्य कोई और)। इन तीनों पुरुषों के अलावा कोई और नहीं होता। अतः इस तालिका में बताया गया है-

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथम पुरुष-सः पठति ।		तौ पठतः	ते पठन्ति
	वह पढ़ता है।	वे दोनों पढ़ते हैं।	वे सब पढ़ते हैं।
मध्यम पुरूष-त्वम् पठसि		युवाम् पठथः	यूयं पठथ
	तू पढ़ता है।	तुम दोनों पढ़ते हो।	तुम सब पढ़ते हो।
उत्तम पुरूष-अहम् पठामि		आवाम् पठावः	वयम् पठानः
	मैं पढ़ता हूँ।	हम दोनों पढ़ते हैं।	हम सब पढ़ते हैं।

प्रथमपुरुष-किसी अन्य अर्थात् Third Person के लिए हम प्रथम पुरुष का प्रयोग करते हैं। एकपुरुष के लिए हम एकवचन का, दो पुरुषों के लिए द्विवचन का और बहुत से अर्थात् दो से अधिक पुरुषों के लिए बहुवचन का प्रयोग करते हैं। एकवचन जैसे- सः पठति, वह पढ़ता है।

द्विवचन जैसे- तौ पठतः- वे दोनों पढ़ते हैं। बहुवचन जैसे- ते पठन्ति, वे सब पढ़ते हैं।

मध्यमपुरुष-त्वम् अर्थात् तू (Second Person) के लिए मध्यम पुरुष का प्रयोग किया जाता है। एक तू के लिए एकवचन, दो अर्थात् तुम दोनो के लिए द्विवचन, तुम सब के लिए बहुवचन का प्रयोग करते हैं। जैसे-

एकवचन- त्वम् पठसि - तू पढ़ता है।

द्विवचन- युवां पठतः तुम दोनो पढ़ते हो।

बहुवचन- यूयं पठथ तुम सब पढ़ते हो।

उत्तमपुरुष- उत्तमपुरुष अर्थात् मैं (First person) के लिए उत्तमपुरुष का प्रयोग किया जाता है। मैं अर्थात् स्वयं के लिए एकवचन, हम दो के लिए द्विवचन, हम सब के लिए बहुवचन का प्रयोग करते हैं। जैसे-

एकवचन- अहं पठामि, मैं पढ़ता हूँ।

द्विवचन- आवां पठावः, हम दोनों पढ़ते हैं।

बहुवचन- वयं पठामः, हम सब पढ़ते हैं।

भवान्, भवती शब्द- प्रायः त्वम् शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है। इसके स्थान पर हम किसी शिष्ट शब्द का प्रयोग करते हैं। यथा भवान्, भवती अर्थात् आप।

भवान् - पुल्लिङ्ग (आप)

भवती - स्त्रीलिङ्ग (आप)

इस शब्द का प्रयोग त्वम् के स्थान पर लगाने का लाभ यह है कि हमें मध्यम पुरुष का प्रयोग नहीं करना पड़ता है। इस शब्द के साथ हम प्रथम पुरुष का प्रयोग करते हैं। यथा-

आप पढ़ते हैं - भवान् पठति।

आप दोनो पढ़ते हो भवन्तौ पठतः।

आप सब पढ़ते हैं भवन्तः पठन्ति ।

इस तालिका का प्रयोग हम सभी लकारों के साथ वैसे ही करते हैं जैसे कि पूर्व में लट्लकार में प्रयोग किया है।

अनुवाद प्रणाली के वर्णन करने से पूर्व कारकों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ पर उचित होगा।

कारक शब्द का साधारण अर्थ है- क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला अर्थात् वाक्य में क्रिया से जिसका सम्बन्ध होता है वह कारक कहलाता है- 'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्'। कारक का, **क्रियाजनकं कारकम्,** यह लक्षण भी ग्राह्य है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार कारक छः होते हैं-कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदाना, अपादान और अधिकरण

कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।

अपादानाधिकरणे इत्याहुः कारकाणि षट् ॥

क्रिया का करने वाला संपादक- **कर्त्ता।**

क्रिया का कर्म -कर्म।

क्रिया का संपादन जिसके द्वारा हो -करण।

क्रिया जिसके लिए हो -सम्प्रदान।

क्रिया जिससे दूर हो -अपादान।

क्रिया जिस स्थान पर हो -अधिकरण।

क्रिया के साथ जिस शब्द का सीधा संबन्ध होता है, उसे कारक कहते हैं। यथा- कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण।

विभक्तियाँ	**कारक**	**चिन्ह**
प्रथमा	कर्त्ता	ने
द्वितीया	कर्म	को
तृतीया	करण	ने, से, द्वारा, के साथ
चतुर्थी	सम्प्रदान	को, के लिए
पञ्चमी	अपादान	से (अलग होने में)
षष्ठी	सम्बन्ध	का, के, की
सप्तमी	अधिकरण	में, पे, पर
सम्बोधन	सम्बोधन	हे, अरे, भो

'रामः पुस्तकं पठति' इस वाक्य में पढने वाला राम है। पढना क्रिया है। क्रिया के करने वाले को कर्त्ता कहते हैं। अतः राम कर्त्ता है।

प्रथम वाक्य में पढ़ने का विषय 'पुस्तक' है। अतः पुस्तक के लिए कर्त्ता ने क्रिया की, अतः मुख्यतः जिस हेतु के लिए कर्त्ता क्रिया करता है, उसको कर्म कहते हैं।

'नृपः' स्वहस्तेन ब्राह्मणाय 'धनं ददाति' वाक्य में दान क्रिया की पूर्ति हाथ से हुई है, अतः हाथ करण हुआ। इसी वाक्य में दान की क्रिया 'ब्राह्मणों' के लिए हुई है। अतः ब्राह्मण सम्प्रदान हुआ।

'वृक्षेभ्यः पक्वानि फलानि भूमौ पतन्ति' वृक्षों से भूमि पर फल गिरते हैं। इस वाक्य में वृक्षों से फल पृथक् हुए, अतः वृक्ष अपादान हुआ। फल भूमि पर गिरे, अतः भूमि अधिकरण हुई। आम का सम्बन्ध वृक्षों से है, अतः आम सम्बन्ध हुआ।

उपरिलिखित चार वाक्यों में पढ़ना, देना, गिरना आदि क्रियाओं के सम्पादन में जिन कर्त्ता, कर्म आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, उसे कारक कहते हैं। कारक या विभक्ति वह वस्तु है जिसका उपयोग क्रिया की पूर्ति के लिए किया जाता है। अनेक वैयाकरणों ने सम्बन्ध को भी कारक माना है।

भवत् (आप) शब्द के साथ सदा प्रथम पुरुष होता है। तीनों लिंगों में धातु का रूप वही होता है। कर्त्ता में प्रथमा और कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

बिना प्रत्यय लगाये शब्द या धातु का प्रयोग नहीं किया जाता है। रामः पठति, प्रयोग होगा। राम पठ् नही।

प्रथमा विभक्ति

(कर्त्ता कारक)

सूत्र- प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा

शब्द (प्रातिपदिकार्थ) अर्थ, लिङ्ग (पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग) परिमाण (नाप, तौल) तथा वचन (संख्या), में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है

संस्कृत व्याकरण के अनुसार जब तक किसी शब्द से प्रथमा आदि किसी विभक्ति का प्रयोग नहीं हो जाता, तब तक उसका कुछ भी अर्थ नहीं ग्रहण किया जा सकता।

प्रातिपदिकार्थ- रामः, मोहनः, वृक्षः, पशुः आदि।

लिङ्ग-नरः, नारी, पुस्तकम्, तटः, तटी, तटम् आदि।

परिमाण- द्रोणः व्रीहिः, (सोलह सेर धान)।

वचन (संख्या) एकः, द्वौ बहवः, चत्वारः आदि।

उदाहरण वाक्य-रामः पठति। सः पठति। त्वं पठसि। अहं गच्छामि। भवान् अत्र आगच्छति। यूयं पुष्पं रक्षथ। वयं विद्या पठामः ।

संस्कृत में अनुवाद करो-

प्रथमा विभक्ति

१. वह पढता है २. आप लिखते हैं ३. बन्दर दौड़ते हैं ४. घोडे कहाँ जाते हैं ५. वे सब पढ़ते हैं ६. आप यहाँ आते हैं ७. वहाँ क्या हो रहा है ८. बालक पढता है ९. राम लिखता है १०. वह गाँव को जाता है ११. राम विद्यालय जाता है १२. आप वहाँ जाते हैं १३. राजा यहाँ आता है १४. वह मनुष्य कहाँ जाता है १५. वे दोनो जहाँ जाते हैं वहाँ हंसते हैं १६. दो राजा वहाँ जा रहे हैं १७. दो आदमी यहाँ आ रहे हैं १८. वे मनुष्य कहाँ

जा रहे हैं १९. सुशीला क्या पढती है २०. सब बालक विद्यालय जा रहे हैं २१. मैं लड़की को देखता हूँ २२. मैं फूल को सूंघता हूँ २३. हम वहाँ से नहीं आ रहे हैं २४. हम खेल भी करते हैं और भोजन भी करते हैं।

अशुद्धि संशोधन

अशुद्ध वाक्य	**शुद्धवाक्य**
१. रामं विद्यालयः गच्छति ।	रामः विद्यालयं गच्छति।
२. भवान् तत्र गच्छन्ति ।	भवान् तत्र गच्छति ।
३. मनुष्यौ आगच्छन्ति ।	मनुष्यौ आगच्छतः ।
४. यत्र गच्छतः तत्र हसन्ति ।	यत्र गच्छतः तत्र हसतः ।
५. बालकाः विद्यालयं गच्छति ।	बालकाः विद्यालयं गच्छन्ति ।
६. स पठन्ति ।	सः पठति ।
७. तौ लिखति ।	सः लिखति ।
८. ते आगच्छति ।	ते आगच्छन्ति ।
९. भवान् पठन्ति ।	भवान् पठति ।
१०. भवती हसतः ।	भवती हसति ।
११. नृपः गच्छन्ति ।	नृपः गच्छति।
१२. अहं स्थामि।	अहं तिष्ठामि ।
१३. वयं दृश्यामः ।	वयं पश्यामः।
१४. वयं जिघ्रावः।	वयं जिघ्रामः।
१५. अहं जलं पामि।	अहं जलं पिबामि।
१६. दश पुस्तकम् अस्ति।	दश पुस्तकानि सन्ति।
१७. द्वौ बालकाः।	द्वौ बालकौ।
१८. रामः च कृष्णः पठति।	रामः कृष्णः च पठतः ।

सम्बोधन

सूत्र-सम्बोधने च-

सम्बोधन में भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। जैसे- हे राम !, हे कृष्ण !

द्वितीया विभक्ति

कर्म कारक

कर्तुरीप्सिततमं कर्म- कर्त्ता जिसको बहुत चाहता हो (व्यक्ति, वस्तु या क्रिया को)। उसे कर्म कहते हैं। सः पुस्तकं पश्यति। ते प्रश्नं पृच्छन्ति। यहाँ पर प्रश्न पूछना कर्ता को इष्ट है अतः यहाँ पर द्वितीया विभक्ति है।

सूत्र- कर्मणि द्वितीया -

जिस पदार्थ या व्यक्ति पर क्रिया का फल पड़ता है उसे कर्मकारक कहते हैं। इसमें द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे रामः ग्रामं गच्छति। इस वाक्य में जाना क्रिया का फल ग्राम पर पड़ रहा है। अतः ग्राम कर्म कारक हुआ और उसमें द्वितीया विभक्ति हुई।

अभितः, परितः, समया, निकषा, हा, प्रति, अनु के साथ द्वितीया विभक्ति होती है।

जैसे-

१. ग्रामं अभितः जलम् अस्ति (गाँव के दोनो ओर जल है)।

२. वनं निकषा समया वा (वन के समीप)।

३. ग्रामं परितः वनम् अस्ति (गाँव के चारों ओर वन हैं)।

४. ग्रामं समया पाठशाला अस्ति (विद्यालय के पास पाठशाला है)।

५. विद्यालयं निकषा वनम् अस्ति (विद्यालय के पास वन है)।

६. हा दुर्जनम् (दुर्जन के लिए खेद है)।

७. विद्यालयं प्रति गच्छति (विद्यालय की ओर जाता है)।

८. रामम् अनु गच्छति (राम के पीछे जाता है)।

९. पुस्तकं पठति (पुस्तक पढता है)।

गति (चलना, हिलना, जाना) अर्थवाली धातुओं के साथ द्वितीया होती है।

१. ग्रामं गच्छति (गाँव को जाता है)।

२. वनं विचरति (वन में घूमता है)।

३. तृप्तिं गच्छति (तृप्ति को प्राप्त करता है)।

४. गृहं गच्छति (घर को जाता है)।

५. धनिकः क्रोशं चलति (धनिक कोश भर चलता है)।

६. सः जलं पिबति (वह जल पीता है)।

७. पुस्तकं पठति (पुस्तक पढता है)।

उभयतः, सर्वतः, धिक्, उपर्युपरि, अधोऽधः और अध्यधि के साथ द्वितीया होती है। अन्तरा, अन्तरेण और विना के साथ, अधिशी, अधिस्था, अध्यास् धातु के साथ, समय और स्थान के दूरवाचीशब्दों में द्वितीया होती है। जैसे-

१. ग्रामम् उभयतः जलम् अस्ति (गाँव के दोनों ओर जल है)।

२. विद्यालयं सर्वतः पुष्पाणि सन्ति (विद्यालय के चारों ओर पुष्प हैं)।

३. लोकम् उपर्युपरि, अधोऽधः, अध्यधि ईश्वरः अस्ति (संसार के ऊपर, नीचे- नीचे, अन्दर-अन्दर ईश्वर है)।

है)।

४. क्रोशं चलतु (कोस भर चले)।

५. ग्रामम् अधोऽधः जलम् अस्ति (गाँव के नीचे नीचे जल है)।

६. ग्रामं विद्यालयं चान्तरा जलम् अस्ति (गाँव और विद्यालय के बीच में जल

७. गङ्गा यमुनां चान्तरा प्रयागः अस्ति (गङ्गा और यमुना के बीच में प्रयाग है)।

८. ज्ञानमन्तरेण न सुखम् (ज्ञान के बिना सुख नहीं है)।

९. श्रमं विना न धनम् (श्रम के बिना धन नहीं है)।

१०. रमेशः आसनम् अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा (रमेश आसन पर बैठता है)।

११. गृहम् अधिशेते (घर में सोता है)।

१२. दश दिनानि लिखति (दश दिनों तक लिखता है)।

१३. पञ्चवर्षाणि पठति (पांच वर्षो तक पढ़ता है)।

दुह्, याच्, पच्, दण्ड, रुध्, चि, पृच्छ, ब्रू, शास्, जि, मथ, मुष्, नी, हृ, कृष्, वह आदि धातुओं के अपादान आदि कारक अविवक्षित होते हैं और इन्हीं की कर्म संज्ञा होती है। जैसे-

१. गोपः गां पयः दोग्धि (ग्वाला गो से दूध दुहता है)।

२. दरिद्रः राजानं वस्त्रं याचते (दरिद्र राजा से वस्त्र मांगता है)।

३. नृपं क्षमा याचते (राजा से क्षमा मांगता है)।

४. सः तण्डुलान् ओदनं पचति (वह चावलों से भात पकाता है)।

५. राजा चौरं शतं दण्डयति (राजा चोर को सौ रूपये का दण्ड देता है)।

६. गाम् व्रजम् अवरुणद्धि (गो को ब्रज में घेरता है)।

७. मुनिं मार्ग पृच्छति (मुनि से रास्ता पूछता है)।

८. लतां पुष्पाणि चिनोति (बेल से फूल चुनता है)।

९. शिष्यं धर्म ब्रूते (शिष्य से धर्म की बात कहता है)।

१०.गुरुः शिष्यं धर्म शास्ति (गुरु शिष्य को धर्म की बात कहता है।)

११. शत्रु शतं जयति (दुश्मन से सौ रूपये जीतता है)।

१२. सागरं सुधां मध्नाति (समुद्र से अमृत को मथता है)।

१३. चौरः देवदत्तं शतं मुष्णाति (चोर देवदत्त से सौ रूपये चुराता है)।

१४. कृषकः ग्रामं अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा (कृषक गाँव में बकरी को ले जाता, हरता, खींचता अथवा पंहुचाता है)।

संस्कृत में अनुवाद करो

द्वितीया विभक्ति

१. राम विद्यालय जाता है २. रमा फल चाहती है ३. गुरु प्रश्न पूछता है ४. बालिका विद्यालय की ओर जाती है ५. पिता सूर्य को देखता है ६. पुत्र गाँव के पास बैठा है ७. पुत्र चन्द्रमा को चाहता है ८. विद्वान् धर्म की ओर (अनु) जाता है ९. शिष्य समुद्र को पूछता है १०. संसार ईश्वर को नमस्कार करता है ११. फूल के चारो और जल है १२-घर के दोनो ओर फल और फूल हैं १३. हे दुर्जन! धर्म को क्यों नहीं स्मरण करता ? १४. राजा दुर्जन को दुःख देता है १५. नगर के दोनो और वन हैं १६. दुर्जनों को धिक्कार १७. गाँव के नीचे नीचे जल है १८. लोक के अन्दर अन्दर राम हैं १९. गाँव और विद्यालय के बीच में जल है २०. धर्म के बिना सुख नहीं २१. बालक आसन पर बैठता है २२. पुत्र घर में सोता है २३. वह दश वर्ष तक अध्ययन करता है २४. वह पांच दिन तक लिखता है २५. वह कोस भर चलता है २६. तू राज्य जीतेगा २७. मैं धन नहीं चुराऊंगा २८. वह राजा से भूमि मांगता है २९. वह चावलों से भात पकायेगा ३०. वह पुत्र से प्रश्न

पूछेगा ३१. वह शिष्य को सत्य बतायेगा ३२. वह नगर में बकरी को ले जायेगा।

अशुद्धि संशोधन

अशुद्ध वाक्य	**शुद्ध वाक्य**
१. विद्यालये गच्छति ।	विद्यालयं गच्छति।
२. विद्यालयस्य प्रति।	विद्यालयं प्रति ।
३. ग्रामस्य निकषा।	ग्रामं निकषा।
४. धर्मस्य अनुगच्छति ।	धर्मं अनुगच्छति।
५. **पुष्पस्य** परितः ।	पुष्पं परितः।
६. नगरस्य उभयतः ।	नगरं उभयतः ।
७. लोकस्य उपर्युपरि ।	लोकम् उपर्युपरि ।
८. धर्मस्य अन्तरेण।	धर्मम् अन्तरेण।
९. आसने अधितिष्ठति ।	आसनम् अधितिष्ठति ।
१०. त्वं तिष्ठिष्यसि ।	त्वं स्थास्यसि ।
११. नृपात् वसुधां याचते ।	नृपं वसुधां याचते।
१२. नगरे अजां नेष्यति ।	नगरं अजां नेष्यति ।

तृतीया विभक्ति

करण कारक

सूत्र- साधकतमं करणम्-क्रिया की सिद्धि में सहायक को करण कहते हैं।

कर्तृकरणयोस्तृतीया-करण में तृतीया होती है और कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे-

१. कन्दुकेन क्रीडति (गेंद से खेलता है)।

२. दण्डेन चलति (दण्ड से चलता है)।

३. रामेण गृहं गम्यते (राम के द्वारा घर जाया जाता है)।

सहयुक्तेऽप्रधाने–सह, साकम्, सार्धम्, समम्, (साथ अर्थ में) के साथ तृतीया विभक्ति होती है। जैसे–

१. भूपतिना सह सेनापतिः चरति (राजा के साथ सेनापति विचरण करता है)।

२. यतिना सार्धं कविः गायति (संन्यासी के साथ कवि गाता है)।

३. जनकेन सह, सार्थं, समं, वा गृहं गच्छति (पिता के साथ घर जाता है)।

इत्थंभूतलक्षणे–जिस लक्षण से किसी व्यक्ति या वस्तु का ज्ञान होता है उस लक्षण बोधकशब्द में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे–

जटाभिस्तापसः (जटाओं से तपस्वी ज्ञात होती है)।

हेतौ–कारण बोधक शब्दों में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे–

अध्ययनेन वसति (अध्ययन के लिए रहता है)।

विद्यया यशः भवति (विद्या से यश होता है)।

किम्, कार्यम्, अर्थम्, प्रयोजनम् (चारों प्रयोजन के अर्थ में हो तो) के साथ तृतीया विभक्ति होती है। जैसे–

मूर्खेण पुत्रेण किम् (मूर्ख पुत्र से क्या लाभ)।

अलं (बस, मत) के साथ तृतीया होती है। जैसे–

अलं हसितेन (मत हंसो) ।

अलं विवादेन (विवाद मत करो)।

येनाङ्गविकारः–शरीर का जो अङ्ग विकार से विकृत दिखाई दे, उसमें तृतीया विभक्ति होती है। जैसे –

नेत्रेण काणः (आंख से काना)।

कर्णेन बधिरः (कान से बहरा है)।

देवदत्तः शिरसा खल्वाटोऽस्ति (देवदत्त शिर से गंजा है)।

प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानाम्-प्रकृति (स्वभाव) आदि क्रिया विशेषण शब्दों में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे–

प्रकृत्या साधुः (स्वभाव से सरल)।

सुखेन जीवति (सुख से जीता है)।

सरलतया लिखति (सरलता से लिखता है)।

संस्कृत में अनुवाद करो

तृतीया विभक्ति

१. राम गेंद से खेलता है २. मुनि दण्डे के साथ चलता है ३. सूर्य ने किरणों से लोक को तपाया ४. राजा कवि के साथ घूमता है ५. राजा के साथ सेनापति यहाँ आया ६. जटा से संन्यासी ज्ञात होता है ७. मनोरथों से कार्य सिद्ध नहीं होते ८. बालक बन्दर के साथ खेलता है ९. मुनि राजा के साथ बैठा १०. दुर्जन शिष्य से क्या लाभ ? ११. मत हंसो १२. शत्रु आंख से काना है १३. शिशु कान से बहरा है १४. पशु पैर से लंगड़ा है १५. गुरु स्वभाव से सज्जन है १६. शिशु पशुओं के साथ पहाड़ पर जाये १७. वायु सुख से बहती है १८. साधु वृक्षों के पास बसे।

अशुद्धि संशोधन

अशुद्ध वाक्य	शुद्ध वाक्य
१. अलं हसितस्य ।	अलं हसितेन ।
२. नेत्रस्य काणः।	नेत्रेण काणः।
३. सुखात् वहति ।	सुखेन वहति ।
४. गिरौ गच्छेत् ।	गिरिं गच्छेत्।
५. भूपत्युः सह अगच्छत् ।	भूपतिना सह अगच्छत् ।
६. यतिः मुनेः सह गच्छति।	यतिः मुनिना सह गच्छति।

चतुर्थी विभक्ति

सम्प्रदान कारक

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्–दान के कर्म के द्वारा जिसे संतुष्ट करना चाहता है वह पदार्थ सम्प्रदान कहलाता है।

चतुर्थी सम्प्रदाने– सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे–

ब्राह्मणाय गां ददाति (ब्राह्मण को गाय देता है)।

रूच्यर्थानां प्रियमाणः रुच धातु और इस अर्थ वाली अन्य धातुओं के योग में प्रसन्न होने वाला शब्द सम्प्रदान होता है। जैसे–

हरये भक्तिः रोचते (हरि को भक्ति अच्छी लगती है)।

बालकाय मोदकं रोचते (बालक को लड्डू अच्छा लगता है)।

पुत्राय दुग्धं रोचते (पुत्र को दूध अच्छा लगता है)।

कुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः क्रुध्, द्रुह्, ईर्ष्या, असूया अर्थ की धातुओं के साथ जिस पर क्रोध किया जाता है उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे– रामः मूर्खाय क्रुध्यति, कुप्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति (राम मूर्ख पर क्रोध करता है)।

नृपः दुर्जनेभ्यः क्रुध्यति (राजा दुर्जनों पर क्रोध करता है)।

कथ निवेदय, उपदिश, धारय (ऋणी होना), स्पृह, कल्पते (होना), संपद्यते (होना), हितम् तथा सुखी के साथ चतुर्थी होती है। जैसे–

शिष्याय कथयति (शिष्य को कहता है)।

रामः देवदत्ताय शतं धारयति (राम देवदत्त से सौ रूपये धारण करता है)।

ब्राह्मणाय हितं वा सुखं भवेत् (ब्राह्मणों का हित वा सुख होवें)। ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते (ज्ञान के लिए है)।

तादर्थ्ये चतुर्थी–जिस प्रयोजन के लिए जो वस्तु या क्रिया होती है, उसमें चतुर्थी होती है। जैसे–

मोक्षाय हरिं भजति (मोक्ष के लिए हरि को भजता है)।

शिशुः दुग्धाय क्रन्दति (बालक दूध के लिए रोता है)।

ज्ञानाय गुरुः सेव्यते (ज्ञान के लिए गुरु की सेवा की जाती है)।

चतुर्थी के अर्थ में '**अर्थम्**' और '**कृते**' अव्ययों का प्रयोग किया जाता है। कृते के साथ षष्ठी होती है। भोजनार्थम्, भोजनस्य कृते (भोजन के लिए)।

नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम्, (पर्याप्त अर्थ वालेशब्द) वषट् के साथ चतुर्थी होती है। जैसे-

गुरवे नमः (गुरु को नमस्कार है)।

शिष्याय स्वस्ति (शिष्य का कल्याण हो)।

अग्नये स्वाहा (अग्नि के लिए स्वाहा)।

पितृभ्यः स्वधा (पित्रों के लिए स्वधा)।

इन्द्राय वषट् (इन्द्र के लिए स्वधा)।

हरिः दैत्येभ्यः अलम्, प्रभुः, समर्थः, शक्तः वा (विष्णु दैत्यों के लिए पर्याप्त हैं)।

संस्कृत में अनुवाद करो

चतुर्थी विभक्ति

१. बालक को लड्डू अच्छा लगता है २. उस बालक को दूध दो ३. राजा ने ब्राह्मणों को धन दिया ४. इस मुनि को धन दो ५. मुनि मोक्ष के लिए ईश्वर को भजता है ६. किस राजा को धन देते हो ७. उस कवि को भोजन दो ८. पिता को नमस्कार ९. शिष्य को आशीर्वाद १०. दुर्जनों के लिए राजा पर्याप्त है ११. ज्ञान के लिए गुरु के पास जाओ १२. अग्नि के लिए स्वाहा १३. पितरों के लिए स्वधा १४. जो बालक विद्यालय नहीं जाता, उसको पिता दण्ड देता है १५. इन बालकों को पुस्तक दो और उन बालकों को गेंद दो १६. उस बालक को यह पुस्तक अच्छी लगती है १७. गुरु शिष्य पर क्रोध करता है १८. यह दुर्जन उस सज्जन से द्रोह करता है १९. रमेश श्याम से ईर्ष्या करता है २०. पुत्र पिता को भोजन के लिए निवेदन करता है २१. वह गुरु इन शिष्यों को विद्या देता है २२-राम इन फलों को चाहता है २३. वह मनुष्य राम का सौ रूपये का ऋणी है।

अशुद्धि संशोधन

अशुद्ध वाक्य	शुद्ध वाक्य
१. तं बालकं दुग्धं वितर ।	तस्मै बालकाय दुग्धं वितर।
२. एतं मुनिं धनं यच्छ।	एतस्मै मुनये धनं यच्छ।
३. जनकं नमः।	जनकाय नमः।
४. बालकं पुस्तकं रोचते ।	बालकाय पुस्तकं रोचते ।
५. शिष्ये क्रुध्यति ।	शिष्याय क्रुध्यति ।
६. सेनापतिम् अकथयत् ।	सेनापतये अकथयत् ।

स्मरणीय बिंदु

1) प्रथमा व द्वितीया विभक्ति : प्रथमा विभक्ति कर्ता कारक के लिए और द्वितीया विभक्ति कर्म कारक (जिस पर क्रिया का फल पड़े) के लिए प्रयोग की जाती है।

2) तृतीया विभक्ति : यह करण कारक के लिए प्रयुक्त होती है, जो क्रिया को करने का साधन (जैसे - कलम से लिखना) होता है।

3) चतुर्थी विभक्ति : यह संप्रदान कारक के लिए प्रयुक्त होती है, जहाँ किसी को कुछ दिया जाए या जिसके लिए क्रिया की जाए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) प्रथमा से चतुर्थी विभक्ति तक के कारक चिन्हों और उनके प्रयोग के मुख्य नियमों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

2) कर्ता कारक में किस विभक्ति का प्रयोग होता है और इसका चिन्ह क्या है?

3) द्वितीया विभक्ति (कर्म कारक) को परिभाषित करते हुए एक उदाहरण दीजिए।

4) करण कारक से आप क्या समझते हैं?

5) संप्रदान कारक (चतुर्थी विभक्ति) का प्रयोग किन परिस्थितियों में किया जाता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. कर्म कारक को दर्शाने के लिए किस विभक्ति का प्रयोग किया जाता है?

(क) प्रथमा (ख) द्वितीया

(ग) तृतीया (घ) चतुर्थी

2. क्रिया को करने के श्साधनश (करण) में कौन सी विभक्ति लगती है?

(क) प्रथमा (ख) द्वितीया

(ग) तृतीया (घ) चतुर्थी

3. श्संप्रदानश कारक का मुख्य चिन्ह क्या होता है?

(क) ने (ख) को, से

(ग) के लिए (घ) में, पर

4. रामः ग्रामं गच्छति वाक्य में रामः में कौन सी विभक्ति प्रयुक्त है?

(क) प्रथमा (ख) द्वितीया

(ग) तृतीया (घ) चतुर्थी

इकाई 3.2

पञ्चमीतःसप्तमीविभक्तिपर्यन्तम्

उद्देश्य

1) अध्येताओं को संस्कृत व्याकरण में पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमी विभक्तियों के प्रयोग के नियमों तथा उनके कारकों (अपादान, संबंध और अधिकरण) से अवगत कराना।

2) छात्रों को विभक्तियों के आधार पर संस्कृत वाक्यों का हिंदी से संस्कृत में शुद्ध अनुवाद करने की क्षमता प्रदान करना।

3) विद्यार्थियों को यह समझाना कि विभिन्न क्रियाओं और उपपद विभक्तियों के संदर्भ में इन विभक्तियों का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है।

परिणाम

1) विद्यार्थी पञ्चमी से सप्तमी विभक्ति तक के सूत्रों और उनके अर्थों को समझने में सक्षम हो जाता है।

2) अध्येता अनुवाद की प्रक्रिया में विभक्तियों के सूक्ष्म अंतर को पहचानकर वाक्यों में उनका सटीक प्रयोग करना सीख जाता है।

3) छात्र संस्कृत के मौलिक ग्रंथों को पढ़ते समय विभक्तियों के आधार पर उनके अर्थ का सही विश्लेषण करने में निपुण हो जाता है।

पञ्चमी विभक्ति

अपादान कारक

ध्रुवमपायेपादानम् - जिससे कोई वस्तु पृथक् हो उसे अपादान कहते हैं।

अपादाने पञ्चमी–अपादान में पञ्चमी होती है। जैसे–

वृक्षात् पत्रं पतति (वृक्ष से पत्ता गिरता है)।

तस्मात् अश्वात् स नरः अपतत् (उस घोड़े से यह व्यक्ति गिर गया)।

अन्य, आरात्, इतर् (तथा अन्य अर्थवाले और भीशब्द), ऋते, पूर्व आदि दिशा वाची शब्द (इनका देश, काल अर्थ हो तो भी), प्रकृति, बहिः, इन शब्दों के साथ पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे–

ज्ञानाद् ऋते मोक्षः नास्ति (ज्ञान के विना मोक्ष नहीं है)।

ग्रामाद् पूर्वः, पश्चिमः, उत्तरः, दक्षिणः, प्राक् आदि गाँव के पूर्व आदि की ओर। शैशवाद् प्रभृति (बचपन से लेकर)। ग्रामाद् बहिः (गाँव के बाहर)।

भीत्रार्थानां भयहेतुः - भय और रक्षा अर्थ की धातुओं के साथ भय के कारण में पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे -

है)। धीराः निश्चयार्थात् न विरमन्ति (धैर्यशाली व्यक्ति निश्चित अर्थों से नहीं हारते

चौरात् बिभेति (चोर से डरता है)।

चौरात् त्रायते (चोर से रक्षा किया जाता है)।

जुगुप्सा, विरमति, प्रमाद्यति के साथ पञ्चमी होती है।

पापाद् जुगुप्सते (पाप से घृणा करता है)।

धर्मात् प्रमाद्यति (धर्म कर्म में भूल करता है)।

वारणार्थानामीप्सितः-जिस वस्तु से किसी को हटाया जाय, उसमें पञ्चमी होती है। जैसे-

यवेभ्यः पशुं वारयति (जौ से पशु को हटाता है)।

पुत्रं पापात् वारयति, निवारयति वा (पुत्र को पाप से हटाता है)।

आख्यातोपयोगेः- जिससे विद्या आदि पढी जाए, उत्तमें पञ्चमी होती है। जैसे-

उपाध्यायात् अधीते (आचार्य से पढता है)।

गरोः पठति (गुरु से पढता है)।

जायते, उद्भवति, प्रभवति, उद्गच्छति (इन चारों का उत्पन्न होना या निकलना अर्थ हो तो) निलीयते, और प्रतियच्छति के साथ **पञ्**चमी होती है। जैसे-

प्रजापतेः लोकः जायते (प्रजापति ने संसार को बनाया)।

हिमालयाद् गङ्गा प्रभवति, उद्भवति वा (हिमालय से गङ्गा निकलती है)।

नृपात् चौरः निलीयते (राजा से चोर छिपता है)।

तिलेभ्यः माषान् प्रतियच्छति (तिलों से उड़द बदलता है)।

तुलना में जिससे तुलना की जाती है, उसमें पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे-

रामात् कृष्णः पटुतरः (राम से चतुर है)।

धनात् ज्ञानं गुरुतरम् (धन से ज्ञान श्रेष्ठ है)।

अमुष्माद् बालकात् अयं बालकः पटुतरः (इस बालक से यह बालक चतुर है।)

मौनात् सत्यं विशिष्यते (मौन से सत्य श्रेष्ठ है)।

पृथक्, विना के साथ पञ्चमी, द्वितीया और तृतीया तीनों होती हैं। जैसे-

रामात्, रामेण, रामं विना पृथक् वा (राम से अलग)।

श्रमात्, श्रमेण, श्रमं वा विना विद्या न भवति (परिश्रम के विना विद्या नहीं आती)।

दूर, निकटवाची शब्दों में पञ्चमी, द्वितीया और तृतीया होती है। जैसे -

ग्रामस्य दूरात्, दूरेण, दूरम् (गाँव से दूर)।

वनस्य निकटात्, निकटेन, निकटं वा (वन के निकट)।

जनकस्य समीपात् (अन्तिकात्, पार्ध्वात्, निकटात्, सकाशात्) आगच्छामि-पिता के पास से आता है।

संस्कृत में अनुवाद करो

पञ्चमी विभक्ति

१. बालक महल से गिर गया २. किस घोड़े से वह सेनापति गिरा ३. उस पाठशाला से यह लड़की यहाँ आयी ४. उस गुरु से यह शिष्य पढ़ता है ५. रमा चोर से डरती है ६. वह राजा उस लड़की को राक्षस से बचाता है ७. प्रजा से राजा के लिए धन लाओ ८. धर्म के विना सुख नहीं ९. गाँव के पास सारी सेना है १०. गाँव के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण की ओर लोग रहते हैं ११. मैं बाल्यकाल से लेकर यहाँ रहता हूँ १२. उस गुरु से विद्या पढो १३. यह बालक पाप से घृणा करता है १४. मेरा पुत्र धर्म से प्रमाद करता है १५. वह शिष्य इस पाप से रुकता है १६. यह गुरु उस शिष्य को पाप से हटाता है १७. जौ से इन पशुओं को हटाओ १८. प्रज. ापति से यह लोक उत्पन्न होता है १९-गङ्गा हिमालय से निकलती है २०. बीजों से अङ्कुर उत्पन्न होते हैं २१. वह बालक पिता से छिपता है २२. नगर से दूर वह विद्यालय है २३. उस गुरु से विद्या पढो २४. वह वैश्य इन चावलों से उड़द को बदलता है २५. धन से ज्ञान बड़ा है २६. उस गुरु के पास से इस ग्राम में आया हूँ।

अशुद्धि संशोधन

अशुद्ध वाक्य	शुद्ध वाक्य
१. इदं वृक्षात् एते फलानि ।	एतस्माद् वृक्षात् एतानि फलानि ।
२. तं नगरं अगच्छत् ।	तद् नगरं अगच्छत् ।
३. तेन गुरुणा अधीते।	तस्मात् गुरोः अधीते ।
४. चौरेण बिभेति ।	चौरात् बिभेति ।
५. ग्रामस्य पूर्वः, प्राक् वनम् अस्ति ।	-ग्रामात् पूर्वः प्राक् वनमस्ति ।
६. अनेन पापेन निवारयति ।	अस्मात् पापात् निवारयति ।
७. ऐभिः तण्डुलैः माषान् प्रतियच्छति।	एभ्यः तण्डुलेभ्यः माषान् प्रतियच्छति।
८. धनेन ज्ञानं गुरुतरः ।	धनात् ज्ञानं गुरुतरम् ।

षष्ठी-विभक्ति

संबन्ध-कारक

सूत्र- **षष्ठीशेषे**-सम्बन्ध का बोध कराने में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे-

गङ्गायाः जलम् (गङ्गा का जल)।

रामस्य पुस्तकम् (राम की पुस्तक) ।

देवदत्तस्य धनम् (देवदत्त का धन)।

रामायणस्य कथा (रामायण की कथा)।

रामस्य पुत्रम् आह्वय (राम के पुत्र को बुलाओ)।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा (जिसके पास स्वयं बुद्धि नहीं है)।

राज्ञः पुरुषः गच्छति (सिपाही जा रहा है)।

भजोशम्भोः चरणयोः (शिव के चरण सम्बन्धी सेवा करता हूँ)।

फलानां तृप्तः (फल सम्बन्धी तृप्त)।

षष्ठी हेतु प्रयोगे-हेतु शब्द के साथ षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे

अन्नस्य हेतोः वसति (अन्न के लिए रहता है)।

अध्ययनस्य हेतोः वाराणस्यां तिष्ठति (अध्ययन के लिए वाराणसी में रहता है)। अध्ययनस्य हेतोः जीवति (अध्ययन के लिए जीता है)।

निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्- निमित्त वा उसके अर्थवाचक शब्दों (कारण, प्रयोजन, हेतु के साथ प्रायः सभी विभक्तियाँ होती हैं)। जैसे किं निमित्तम्, केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय वसति, कस्मात् निमित्तात्, कस्य हेतोः, कस्मात् कारणात्, केन प्रयोजनेन (किस कारण से रहता है)। त्वं कस्य हेतोः, कस्मात् कारणात्, केन कारणेन शोचसि तुम किस कारण शोक करते हो ?

अधीगर्थदयेशां कर्मणि-स्मरण अर्थ की धातुओं के साथ कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे- मातुः स्मरति (माता का स्मरण करता है)। रामस्य दयमानः (राम के ऊपर दया करता हुआ)।

उपरि, उपरिष्टात्, अधः, अधस्तात्, पुरः, पुरस्तात्, पश्चात्, अग्रे दक्षिणतः और उत्तरतः के साथ षष्ठी होती है। जैसे-

ग्रामस्य दक्षिणतः, उत्तरतः आदि (ग्राम के दक्षिण, उत्तर की ओर) वृक्षस्य उपरि, उपरिष्टात्, अधः, अध

स्तात् (वृक्ष के ऊपर, नीचे)। गृहस्याग्रे वसुधां खनति (घर के आगे पृथ्वी खोदता है)।

यतश्च निर्धारणम्–बहुतों में से एक को छांटने में जिसमें से छाँटा जाय, उसमें षष्ठी और सप्तमी होती है। जैसे–

छात्राणां छात्रेषु वा रामः श्रेष्ठः पटुतमो वा (छात्रों में राम श्रेष्ठ या चतुर है)। नराणां नरेषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः (मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है)। कवीनां कविषु वा कालिदासः श्रेष्ठः अस्ति (कवियों में कालिदास श्रेष्ठ है)।

कर्तृकर्मणोः कृतिः–कृदन्तशब्द (जिनके अन्त में कृत् प्रत्यय अर्थात् तृच् (तृ), क्तिन् (ति), अच् (अ), घञ् (अ), ल्युट् (अन्) आदि हों। के कर्त्ता और कर्म में षष्ठी होती है। जैसे– शिशोः शयनम् (बच्चे का सोना), रामस्य गमनम् (राम का जाना)।

कृते (लिए), समक्षम्, मध्ये, अन्त और अन्तरे के साथ षष्ठी होती है। जैसे–भोजनस्य कृते (भोजन के लिए), गुरोः समक्षम् (गुरु के समक्ष), छात्राणां मध्ये (छात्रों के बीच में), गृहस्य अन्तः अन्तरे वा (घर के अन्दर)। दूर और समीपवाची शब्दों के साथ षष्ठी और पञ्चमी होती है। जैसे ग्रामस्य ग्रामाद् वा दूरं, समीपं, पार्श्वं, सकाशं वा वनमस्ति (गाँव के दूर, समीप, पास में वन है)। जनकस्य समीपात्, पार्श्वत्, सकाशात् वा आगच्छति (पिता के पास से आता है)।

तुल्यवाचीशब्दों के साथ षष्ठी और तृतीया विभक्ति दोनों होती हैं। जैसे–कृष्णेन कृष्णस्य वा तुल्यः सदृशः समः (कृष्ण के समान)।

आशीर्वाद सूचकशब्दों (आयुष्मन्, भद्रम्, कुशलम्, सुखम्, हितम्, अर्थः, प्रयोजनम्, शम्, पथ्यम्) आदि के साथ षष्ठी और चतुर्थी दोनो होती हैं। जैसे– कृष्णस्य कृष्णाय वा भद्रम्, कुशलम्, शं वा स्यात् (कृष्ण का कल्याण, कुशल हो)।

संस्कृत में अनुवाद करो

षष्ठी विभक्ति

१. यह गङ्गा का जल है २. बालक की यह पुस्तक है ३. यह धन किसका है ४. तुम यहाँ पर किस लिए रहते हो ५. राम पिता को स्मरण करता है ६. मैं धन के निमित्त जीता हूँ ७. पुस्तकों में गीता श्रेष्ठ है ८. इस नगर के उत्तर और दक्षिण की ओर वृक्ष हैं ९. घर के ऊपर, नीचे, आगे और पीछे की ओर आग जल रही है १०. राम सज्जन की पूजा करता है ११. वह धन चाहता है १२. मूर्ख धन के निमित्त ही जीते हैं १३. इस लड़की का पढना इसको अच्छा लगता है १४. इस स्त्री का खाना पकाना इसे अच्छा लगता है १५० अध्ययन के लिए गुरु के सामने जाओ १६. राम के तुल्य कोई नहीं है १७. यह बालक पिता का आश्रय लेता है १८. राजा प्रजा का पालन करता है १९. मैं ईश्वर का ध्यान करता हूँ २०. वह वस्त्र बुनता है

अशुद्धि संशोधन

अशुद्धवाक्य	शुद्धवाक्य
१. जनकं स्मरति ।	जनकस्य स्मरति ।
२. वृक्षस्य एते पुष्पानि।	वृक्षस्य एतानि पुष्पाणि।
३. गुरोः निन्दति ।	गुरुं निन्दति।
४. अस्य बालिकां पठनम् ।	अस्याः बालिकायाः पठनम् ।
५. भोजनस्य पाकः अमुं रोचते।	भोजनस्य पाकः अस्मै रोचते।

सप्तमी-विभक्ति

अधिकरण-कारक

आधारोऽधिकरणम्-किसी क्रिया के आधार को अधिकरण कहते हैं, जहाँ पर या जिसमें वह कार्य किया जाता है।

सप्तम्यधिकरणे - अधिकरण कारक में सप्तमी होती है। जैसे विद्यालये पठति (विद्यालय में पढता है। पाठशालायाम् उपाध्यायाः सन्ति (पाठशाला में अध्यापक हैं)। गृहे बालकः वर्तते (घर में बालक है)। विद्यालये छात्राः बालिकाश्च वर्तन्ते (विद्यालय में बालक और बालिकाएं हैं)।

विषय में, बारे में, अर्थ में तथा समय बाधकशब्दों में सप्तमी होती है। मोच्छे इच्छास्ति (मोक्ष के विषय में इच्छा है)। दिने, दिवसे, प्रातः काले, मध्याह्ने, सायंकाले वा कार्य करोति (दिन में, प्रातः काल में, मध्याह्न में, सायंकाल में कार्य करता है)। शैशवे, यौवने, वार्धक्ये वा पठति (बाल्यकाल में, यौवन

में, वृद्धत्व समय में पढता है)। सायं काले मार्गे बालका: कूर्दन्ते (सायंकाल मार्ग में बालक कूदते हैं)। स: बाल: तच्च फलं आसने वर्तेते (वह बालक और वह फल आसन पर है)। यति: धर्मे रमति (यति धर्म में रमता है)। कटे आस्ते (चटाई पर बैठता है)।

प्रेम, आसक्ति या आदरसूचक धातुओं और शब्दों (स्निह, अभिलष्, अनुरञ्ज, आदृ, रति, आसक्त आदि) के साथ सप्तमी होती है। जैसे–मयि स्नेह: (मुझसे स्नेह है)। स: बालके स्निह्यति (वह बालक से स्नेह करता है)। तस्य मम पुत्रे स्नेह: वर्तते (उसका मेरे पुत्र से स्नेह है) । अस्माकं धर्मे अभिलाषा वर्तताम् (हमारी धर्म में अभिलाषा हो)। नृप: प्रजासु आद्रियते (राजा प्रजा में आदर पाता है)। धर्मे रति: वर्तताम् (धर्म में रति हो)। सत्ये मम श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास: वा वर्तते (सत्य में मेरी श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास हो)। जनक: पुत्रे विश्वसति (पिता पुत्र पर विश्वास करता है)।

यस्य च भावेन भावलक्षणम्–एक क्रिया के बाद दूसरी क्रिया होने पर प्रथम क्रिया सप्तमी में होती है। कर्तृवाच्य में कर्त्ता और कृदन्त में सप्तमी होती है। कर्मवाच्य में कर्म और कृदन्त में सप्तमी होगी और कर्ता में तृतीया। प्रथम क्रिया में कृदन्त का प्रयोग होना चाहिए। जैसे– रामे वनं गते दशरथ: मृत: (राम के वन जाने पर दशरथ मर गये)। कार्ये कृते सति अहं वनमगच्छम् (कार्य कर लेने पर मैं वन में गया)। भोजने कृते सति स: विद्यालयमगच्छत् (भोजन कर लेने पर वह विद्यालय गया)। सूर्ये उदिते कमले प्रकाशते (सूर्य के उदित होने पर कमल खिलता है)।

संलग्न अर्थ वालेशब्दों (युक्त:, व्यापृत:, लग्न:, व्यग्र:, तत्पर:) और चतुर अर्थ वालेशब्दों (कुशल, निपुण, साधु, पटु, प्रवीण:, दक्ष:, चतुर:) के साथ सप्तमी होती है। जैसे कार्ये लग्न:, तत्पर:, युक्त: वा (कार्य में लगा है)। शास्त्रे कुशल:, निपुण:, दक्ष: वा (कार्य में कुशल, निपुण, दक्ष है)। राम: तस्यां कन्यायाम् अनुरक्त: अस्ति (राम उस कन्या पर अनुरक्त है)।

क्षिप्, मुच्, अस् (फेंकना अर्थ की), धातुओं के साथ तथा विश्वास और श्रद्धा अर्थ वाली धातुओं तथाशब्दों (विश्वसिति, विश्वास:, श्रद्धा, निष्ठा, आस्था) के साथ सप्तमी होती है। जैसे मृगे बाणं क्षिपति (मृग पर बाण चलाता है)। जनक: पुत्रे विश्वसिति (पिता पुत्र पर विश्वास करता है) । सत्ये मम श्रद्धा निष्ठा विश्वास: वा वर्तते (सत्य में मेरी श्रद्धा है)।

यतश्चनिर्धारणम्–जातिगुण, क्रिया संज्ञाओं की जहाँ अपने समुदाय से कोई विशेषता दिखलायी जाती है वहाँ समुदाय वाचक शब्दों में षष्ठी वा सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे–

नृणां नृषु वा द्विज: श्रेष्ठ: (मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है)। छात्राणां छात्रेषु वा राम: श्रेष्ठ: (छात्रों में राम चतुर है)।

पात्र, आस्पद्, स्थान, पद, भाजन, और प्रमाण शब्द जब विधेय के रूप में प्रयुक्त होंगे तो इनमें नपुंसकलिङ्ग एकवचन ही रहेगा। उद्देश्य रूप में होगें तो अन्य वचन भी होंगे। जैसे–

गुणाः पूजा स्थानं सन्ति (गुण पूजा के स्थान हैं)।

यूयम् मम कृपापात्रं स्थ भवन्तः प्रमाणं सन्ति (तुम सब मेरे कृपा के पात्र हो आप सब प्रमाण हैं)।

अत्र सप्त पात्राणि सन्ति (यहां सात पात्र हैं)।

त्वं धनानां पात्रम्, आस्पदं, स्थानं, पदं, भाजनं वा असि (तुम धनों के पात्र हो)।

पात्रेषु भाजनेषु वा जलं वर्तते (पात्रों में जल है)।

आस्पदेषु स्थानेषु वा ते तिष्ठन्ति (स्थानों पर वे सब बैठे हैं)।

सभी संख्यावाचक शब्दों से 'प्रकार से' अर्थ में 'धा' लगता है। जैसे-'प्रकार का' अर्थ में विध, गुणा अर्थ में गुण, तथा बार अर्थ में वारम् लगता है। जैसे-एकधा, द्विधा, त्रिधा, बहुधा (एक प्रकार से, दो प्रकार से इत्यादि)। एकविधः, द्विविधः। द्वि और उभय शब्द सदा द्विवचन में ही आते हैं। उभय (दोनों) शब्द तीनों वचन में आते हैं। जैसे- द्वौ बालकौ (दो बालक)। द्वे बालिके (दो लड़कियाँ)। द्व े पुस्तके (दो पुस्तकें)। द्वाभ्यां बालकाभ्यां द्वाभ्यां बालिकाभ्यां च पुस्तकानि वितर (दो बालकों और दो बालिकाओं को पुस्तकें दो)।

तयोः द्वयोः छात्रयोः रामः पटुत्तरः (इन दो छात्रों में राम चतुर है)।

दम्पती, पितरौ, अश्विनौ इनके रूप द्विवचन में ही चलते हैं। इनके साथ क्रिया द्विवचन में ही चलती है। जैसे दम्पती भ्रमतः (पति-पत्नी घूमते हैं)। पितरौ आगच्छतः (माता-पिता आते हैं)। उभौ बालकौ उभयं पुस्तकं पटतः (दोनों बालक दोनों पुस्तकें पढते हैं)।

द्वय, युगल, युग, द्वन्द्व ये चारों दो अर्थ के बोधक हैं। ये शब्द के अन्त में जुड़ते हैं और नपुंसकलिङ्ग एकवचन में रहते हैं। जैसे छात्रद्वयम्, छात्रयुगलम्, छात्रयुगं पुस्तकानि पठति (छात्र दो पुस्तके पढ़ते हैं)।

यत् और तत् शब्द सापेक्ष सर्वनाम हैं। अतः यत् शब्द में जो लिङ्ग विभक्ति और वचन होगा वही तत् शब्द में भी होगा। जैसे बुद्धिर्यस्य बलं तस्य (जिसकी बुद्धि उसका बल)। यानि शुभानि कर्माणि, तानि त्वया सेवितव्यानि (जो शुभ कर्म हैं तुम्हें करने चाहिए)।

यत् शब्द जब किसी अर्थ में आता है, तब वह नपुंसकलिङ्ग एकवचन में रहता है। जैसे- सः अभाषत् यत् अहमधुना गमिष्यामि (उसने कहा कि अब मैं जाऊंगा)।

त्रि से अष्टादशन् (३ से १८) तक के सारे शब्द तथा कति शब्द सदा बहुवचन में ही आते हैं।

आदरार्थे बहुवचनम् - आदर प्रकट करनें में एक के लिए भी बहुवचन हो जाता है। गुरवः, पूज्यः। जो जातिवाचक शब्दों में एकवचन और बहुवचन दोनों होते हैं। ब्राह्मणः पूज्यः, ब्राह्मणाः पूज्याः ।

देशवाचक शब्दों में बहुवचन का प्रयोग होता है। नगर का नाम या देश अन्त में होने

पर एकवचन होगा। जैसे अहम् अङ्गान् बङ्गान् विदर्भान् गौडान् वा अगच्छम्। पाटलिपुत्रम्, अङ्गदेशं वा अगच्छम्।

संस्कृत में अनुवाद करो

सप्तमी विभक्ति

१. नगर में मनुष्य हैं २. बालक मार्ग में सन्यासी को देखता है ३. मोक्ष के विषय में तुम यत्न करते हो ४. बालक घर में कूदता है ५. विद्या सत्य से सुशोभित होती है ६. पशुओं में सिंह श्रेष्ठ है ७. वह धन में रमता है ८. तू बाल्यकाल में विद्या सीखता है ९. पिता पुत्र से स्नेह करता है १०. वह सत्य में विश्वास करता है ११. गुरु शिष्यों में आदर पाता है १२. हरि रमा पर अनुरक्त है १३. हमारी धर्म में रति है १४. मेरे भोजन कर लेने पर बालक यहाँ आया १५. हरि शास्त्रों में निपुण और कुशल है १६. राजा ने मृर्गों पर बाण चलाये।

अशुद्धि संशोधन

अशुद्धवाक्य	शुद्धवाक्य
१. मम भोजनम् कृते सति।	मम भोजने कृते सति।
२. पुत्रस्यशयनम् कृते सति ।	पुत्रेणशयने कृते सति ।
३. नृपेण मृगेषुशराः अक्षिपत् ।	नृपः मृगेषुशरान् अक्षिपत् ।

स्मरणीय बिंदु

1) पञ्चमी विभक्ति : यह मुख्य रूप से अपादान कारक (अलग होने के अर्थ) में प्रयुक्त होती है, जिसका चिन्ह से है ।

2) षष्ठी विभक्ति : यह संबंध (का, के, की) बताने के लिए प्रयुक्त होती है, हालाँकि इसे सीधे कारक नहीं माना जाता, लेकिन अनुवाद में इसका बहुत महत्व है।

3) सप्तमी विभक्ति : यह अधिकरण कारक (आधार) को दर्शाती है, जिसका चिन्ह में या पर होता है ।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) संस्कृत व्याकरण में पञ्चमी और सप्तमी विभक्तियों के प्रयोग के मुख्य नियमों (सूत्रों) की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

2) षष्ठी विभक्ति के विशेष प्रयोगों (संबंध मात्र और उपपद विभक्ति) का वर्णन करते हुए स्पष्ट

कीजिए कि अनुवाद करते समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किन-किन परिस्थितियों में किया जाता है?

2) अपादान कारक से आप क्या समझते हैं? इसका एक उदाहरण दीजिए।

3) षष्ठी विभक्ति का चिन्ह क्या है और यह क्या दर्शाती है?

4) सप्तमी विभक्ति में आधार (अधिकरण) के कितने प्रकार बताए गए हैं?

5) वृक्षात् पत्रं पतति (वृक्ष से पत्ता गिरता है) वाक्य में कौन सी विभक्ति है और क्यों?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. अपादान कारक को दर्शाने के लिए किस विभक्ति का प्रयोग किया जाता है?

(क) चतुर्थी (ख) पञ्चमी

(ग) षष्ठी (घ) सप्तमी

2. संबंध (जैसे- राजा का पुत्र) बताने के लिए संस्कृत में कौन सी विभक्ति लगती है?

(क) पञ्चमी (ख) षष्ठी

(ग) सप्तमी (घ) द्वितीया

3. अधिकरण कारक का मुख्य चिन्ह क्या होता है?

(क) को (ख) से (अलग होना)

(ग) में, पर (घ) के लिए

4. जब कोई वस्तु किसी स्थान से अलग होती है, तो उस स्थिर स्थान में कौन सी विभक्ति होती है?

(क) सप्तमी (ख) पञ्चमी (ग) षष्ठी (घ) तृतीया

(इति कारक प्रकरणम् समाप्तः)

खण्ड-4. प्रत्ययसन्धिशब्दरूपप्रकरणम्

इकाई 4.1

क्तादिप्रत्ययप्रकरणम्

उद्देश्य

1) अध्येताओं को संस्कृत व्याकरण के कृदन्त प्रत्ययों, विशेष रूप से क्त आदि प्रत्ययों के स्वरूप और उनके प्रयोग के नियमों से परिचित कराना।

2) विद्यार्थियों को धातुओं के साथ प्रत्यय जोड़कर नए शब्द (विशेषण और क्रिया पद) बनाने की प्रक्रिया समझाना।

3) छात्रों को वाक्य रचना में प्रत्ययों के माध्यम से होने वाले अर्थ-परिवर्तन और वाच्य परिवर्तन (जैसे कर्मवाच्य में क्त का प्रयोग) का ज्ञान देना ।

परिणाम

1) विद्यार्थी क्त, क्त्वतु जैसे महत्वपूर्ण प्रत्ययों को पहचानकर उनके अर्थ स्पष्ट करने में सक्षम हो जाता है।

2) अध्येता संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त कृदन्त शब्दों का सही विश्लेषण और अनुवाद करने में निपुण हो जाता है।

3) छात्र प्रत्ययों के सही प्रयोग द्वारा संस्कृत लेखन और संभाषण में भाषाई शुद्धता और प्रवाह प्राप्त कर लेता है ।

(१) क्त, (२) क्तवतु प्रत्यय **(देखो अभ्यास ३१, ३२, ३३)**

सूचना- क्त और क्तवतु प्रत्यय भूतकाल में होते हैं। क्त का त और क्तवतु का तवत् शेष रहता है। क्त कर्मवाच्य या भाववाच्य में होता है, क्तवतु कर्तृवाच्य में। धातु को गुण या वृद्धि नहीं होती है। संप्रसारण होता है। अन्य नियमों के लिए देखो अभ्यास ३१-३३। क्त प्रत्ययान्त के रूप पुंलिंग में रामवत्, स्त्रीलिंग में आ लगाकर रमावत् और नपुंसकलिंग में गृहवत् चलेंगे। यहाँ केवल पुंलिंग के ही रूप दिये गये हैं। क्त प्रत्ययान्त का क्तवतु-प्रत्ययान्त रूप बनाने का सरल

प्रकार यह है कि क्त-प्रत्ययान्त के बाद में 'वत्' और जोड़ दो। अभ्यास ३३ में दिए नियमानुसार तीनों लिगों में रूप चलाओ। **धातुएँ अकारादिक्रम से दी गई हैं।**

अद् जग्धः कृष् कृष्टः घ्रा घ्रातः त्यज् त्यक्तः

(अन्नम्) कृ कीर्णः घ्राणः त्रै त्रातः

अधि+इ अधीतः क्रन्द् क्रन्दितः चर् चरितः दंश् दष्टः

अर्च् अर्चितः क्रम् क्रान्तः चल् चलितः दण्ड् दण्डितः

अस् (२ प.) भूतः क्री क्रीतः चि चितः दम् दान्तः

आप् आप्तः क्रीड् क्रीडितः चिन्त् चिन्तितः दय् दयितः

आ+रभ् आरब्धः क्रुध क्रुद्धः चुर् चोरितः दह् दग्धः

आलम्ब् आलम्बितः क्षि क्षीणः चेष्ट् चेष्टितः दा दत्तः

आ-ह्वे आहूतः क्षिप् क्षिप्तः छिद् छिन्नः दिव् द्यूनः, द्यूतः

इ इतः क्षुभ् क्षुब्धः जन् जातः दिश् दिष्टः

इष् इष्टः खन् खातः जि जितः दीप् दीप्तः

ईक्ष् ईक्षितः खाद् खादितः जीव् जीवितः दुह दुग्धः

उत्+डी उड्डीनः गण गणितः जू जीर्णः दृश् दृष्टः

कथ् कथितः गम् गतः ज्ञा ज्ञातः दो (दा) दितः कम्

कम् कान्तः गर्ज् गर्जितः ज्वल् ज्वलितः द्युत् द्योतितः

कम्प् कम्पितः गृ गीर्णः तन् ततः धा हितः

कुप् कुपितः गै (गा) गीतः तप् तप्तः धाव् धावितः

कूर्द् कूर्दितः ग्रस् ग्रस्तः तुष् तुष्टः धृ धृतः

कृ कृतः ग्रह गृहीतः तृप् तृप्तः ध्मा ध्मातः

ध्यै ध्यातः भुज् भुक्तः लिख् लिखितः श्रु श्रुतः

ध्वंस् ध्वस्तः भू भूतः लिह लीढः श्लिष् श्लिष्टः

नम् नतः भृ भृतः लुभ् लुब्धः सद् सन्नः

नश् नष्टः भ्रम् भ्रान्तः वच् (ब्रू) उक्तः सन् सातः निन्द्

निन्द् निन्दितः मद् मत्तः वद् उदितः सह सोढः

नी नीतः मन् मतः वन्द् वन्दितः साध् साधितः

नृत् नृत्तः मन्थ् मन्थितः वप् उप्तः सिच् सिक्तः

पच् पक्वः मा मितः वस् उषितः सिध् सिद्धः

पठ् पठितः मिल् मिलितः वह ऊढः सिव् स्यूतः

पत् पतितः मुच् मुक्तः वा वातः सृज् सृष्टः

पद् पन्नः मुद् मुदितः विकस् विकसितः सेव् सेवितः

पलाय् पलायितः मुह मुग्धः, मूढः विद्(२प.)विदितः सो (सा) सितः

पा (१प.) पीतः मूर्च्छ मूर्च्छितः विद् (१०)वेदितः स्तु सितः

पाल् पालितः मृज् मृष्टः विश् विष्टः स्था स्थितः

पुष् पुष्टः यज् इष्टः वृत् वृत्तः स्ना स्नातः

पूज् पूजितः यत् यतितः वृध् वृद्धः स्निह स्निग्धः

पृ पूर्णः यम् यतः वे तः स्पृश् स्पृष्टः

प्रच्छ् पृष्टः या यातः व्यथ् व्यथितः स्वप् सुप्तः

प्रथ् प्रथितः याच् याचितः व्यध् विद्धः स्वाद् स्वादितः

प्र+हि प्रहितः युज् युक्तः शक् शक्तः स्विद् स्विन्नः

प्रेर् प्रेरितः युध् युद्धः शङ्क् शङ्कितः हन् हतः

बन्ध् बद्धः रक्ष रक्षितः शप् शप्तः हस् हसितः

बुध् बुद्धः रच् रचितः शम् शान्तः हा (३ प.) हीनः

ब्रू (वच्) उक्तः रज् रक्तः शास् शिष्टः हा (३ आ.) हानः

भक्षु भक्षितः रम् रतः शिक्ष शिक्षितः हिंस् हिंसितः

भज् भक्तः रुच् रुचितः शी शयितः हु हुतः

भञ्ज भग्नः रुद् रुदितः शुच् शुचितः हृ हृतः

भण्	भणितः	रुध्	रुद्धः	शुभ्	शोभितः	हृष्	हृष्टः
भाष्	भाषितः	रुह्	रूढः	शुष्	शुष्कः	हृस्	हृसितः
भिद्	भिन्नः	लभ्	लब्धः	शृ	शीर्णः	ह्री	ह्रीतः,ह्रीणः
भी	भीतः	लष्	लषितः	श्रि	श्रितः	ह्वे	हूतः

(३) शतृ प्रत्यय (देखो अभ्यास ३४)

सूचना - परस्मैपदी धातुओं को लट् के स्थान पर शतृ होता है। शतृ का अत् शेष रहता है। पुंलिंग में पठत् के तुल्य, स्त्रीलिंग में ई लगाकर नदी के तुल्य और नपुंसकलिंग में जगत् के तुल्य रूप चलेंगे। यहाँ पर केवल पुंलिंग के रूप दिए हैं। रूप बनाने के नियमों के लिए देखो अभ्यास ३४।

धातुएँ अकारादिक्रम से दी गई हैं।

अद्	अदन्	चल्	चलन्	पत्	पतन्	व्यध्	विध्यन्
अर्च्	अर्चन्	चि	चिन्वन्	पा (१प०)	पिबन्	शक्	शक्नुवन्
अस् (२प.)	सन्	छिद्	छिन्दन्	पाल्	पालयन्	शप्	शपन्
आप्	आप्नुवन्	जप्	जपन्	पूज्	पूजयन्	शम्	शाम्यन्
आ+रुह्	आरोहन्	जि	जयन्	प्रच्छ	पृच्छन्	शुष्	शुष्यन्
आ+ह्वे	आह्वयन्	जीव्	जीवन्	प्रेर्	प्रेरयन्	श्रि	श्रयन्
इ	यन्	ज्वल्	ज्वलन्	बन्ध्	बध्नन्	श्रु	शृण्वन्
इष्	इच्छन्	तप्	तपन्	भक्ष	भक्षयन्	सद्	सीदन्
कुप्	कुप्यन्	तुद्	तुदन्	भज्	भजन्	सिच्	सिञ्चन्
कृष्	कर्षन्	तुष्	तुष्यन्	भिद्	भिन्दन्	सिव्	सीव्यन्
कृ	किरन्	तॄ	तरन्	भृ	भरन्	सृ	सरन्
क्रन्द्	क्रन्दन्	त्यज्	त्यजन्	भू	भवन्	सृज्	सृजन्
क्रम्	क्राम्यन्	दण्ड्	दण्डयन्	भ्रम्	भ्रमन्	सृप्	सर्पन्
क्रीड्	क्रीडन्	दह्	दहन्		भ्राम्यन्	स्तु	स्तुवन्

क्रुध्	क्रुध्यन्	दिव्	दीव्यन्	मिल्	मिलन्	स्था	तिष्ठन्	
क्षम्	क्षाम्यन्	दिश	दिशन्	रक्ष	रक्षन्	स्पृश्	स्पृशन्	
क्षिप्	क्षिपन्	दुह	दुहन्	रच्	रचयन्	स्मृ	स्मरन्	खन्
खन्	खनन्	दृश्	पश्यन्	रुद्	रुदन्	स्वप्	स्वपन्	
खाद्	खादन्	धाव्	धावन्	लष्	लषन्	हन्	घ्नन्	
गण	गणयन्	धृ	धरन्	लिख	लिखन्	हस्	हसन्	
गम्	गच्छन्	ध्यै	ध्यायन्	लिह्	लिहन्	हा (३प.)	जहत्	
गर्ज	गर्जन्	नम्	नमन्	वद्	वदन्	हिंस्	हिंसन्	
गृ	गिरन्	नश्	नश्यन्	वस्	वसन्	हु	जुह्वन्	
गै	गायन्	निन्द्	निन्दन्	वह	वहन्	ह	हरन्	
घ्रा	जिघ्रन्	नृत्	नृत्यन्	विश्	विशन्	हृष्	हृष्यन्	
चर्	चरन्	पठ्	पठन्	वृष्	वर्षन्	ह्वे	ह्वयन्	

(४) शानच् प्रत्यय (देखो अभ्यास ३५)

सूचना- आत्मनेपदी धातुओं के लट् के स्थान पर शानच् होता है। उभयपदी धातुओं के लट् के स्थान पर शतृ और शानच् दोनों होते हैं। शानच् का आन शेष रहता है। शानच्-प्रत्ययान्त के रूप पुं० में रामवत्, स्त्री० में आ लगाकर रमावत् और नपुं० में गृहवत् चलेंगे। यहाँ पर पुंल्लिंग के ही रूप दिए गए हैं। **धातुएँ अकारादि-क्रम से दी गई हैं।**

आत्मनेपदी धातुएँ **उभयपदी धातुएँ**

अधि+इ	अधीयानः	मन्	मन्यमानः	कथ्	कथयन्	कथयमानः
आ+रभ्	आरभमाणः	मुद्	मोदमानः	कृ	कुर्वन्	कुर्वाणः
आ+लम्ब्	आलम्बमानः	मृ	म्रियमाणः	क्री	क्रीणन्	क्रीणानः
आस्	आसीनः	यत्	यतमानः	ग्रह	गृह्णन्	गृह्णानः
ईक्ष्	ईक्षमाणः	याच्	याचमानः	चि	चिन्वन्	चिन्वानः
ईह्	ईहमानः	युध्	युध्यमानः	चिन्त्	चिन्तयन्	चिन्तयमानः
उद्+डी	उड्डयमानः	रुच्	रोचमानः	चुर्	चोरयन्	चोरयमाणः
कम्प्	कम्पमानः	लभ्	लभमानः	ज्ञा	जानन्	जानानः
कूर्द्	कूर्दमानः	वन्द्	वन्दमानः	तन्	तन्वन्	तन्वानः
गाह्	गाहमानः	वि+राज्	विराजमानः	दा	ददत्	ददानः
ग्रस्	ग्रसमानः	वृत्	वर्तमानः	धा	दधत्	दधानः
चेष्ट्	चेष्टमानः	वृध्	वर्धमानः	नी	नयन्	नयमानः
जन्	जायमानः	व्यथ्	व्यथमानः	पच्	पचन्	पचमानः
त्रै	त्रायमाणः	शङ्क्	शङ्कमानः	ब्रू	ब्रुवन्	ब्रुवाणः
त्वर्	त्वरमाणः	शिक्ष्	शिक्षमाणः	भुज्	भुञ्जन्	भुञ्जानः
दय्	दयमानः	शी	शयानः	मुच्	मुञ्चन्	मुञ्चमानः
द्युत्	द्योतमानः	शुच्	शोचमानः	यज्	यजन्	यजमानः
ध्वंस्	ध्वंसमानः	शुभ्	शोभमानः	युज्	युञ्जन्	युञ्जानः

पलाय्	पलायमानः		श्लाघ्	श्लाघमानः	रुध्	रुन्धन्	रुन्धानः
प्रथ्	प्रथमानः	सं+पद्	संपद्यमानः	वह्	वहन्	वहमानः	
बाध्	बाधमानः	सह्	सहमानः	श्रि	श्रयन्	श्रयमाणः	
भास्	भासमानः	सेव्	सेवमानः	सु	सुन्वन्	सुन्वानः	
भिक्ष्	भिक्षमाणः	स्मि	स्मयमानः	हृ	हरन्	हरमाणः	

(५) तुमुन्, (६) तव्यत्, (७) तृच् प्रत्यय (देखो अभ्यास ३६, ३९, ४२)

सूचना- (क) तुमुन् प्रत्यय 'को', 'के लिए' अर्थ में होता है। तुमुन् का तुम् शेष रहता है। तुमुन्-प्रत्ययान्त अव्यय होता है, अतः रूप नहीं चलते। धातु को गुण होता है। विशेष नियमों के लिए देखो अभ्यास ३६ । (ख) तव्यत् प्रत्यय लगाकर रूप बनाने का सरल उपाय यह है कि तुमुन्-प्रत्यय वाले रूप में तुमुन् के स्थान पर तव्यत् लगा दो। तव्यत् प्रत्यय 'चाहिए' अर्थ में होता है। तव्यत् का तव्य शेष रहता है। पुं. में तव्य-प्रत्ययान्त के रूप रामवत्, स्त्री० में आ लगाकर रमावत्, नपुं० में गृहवत् चलेंगे। विशेष नियमों के लिए देखो अभ्यास ३९। (ग) तृच् प्रत्यय कर्ता या वाला अर्थ में होता है। तृच् का तृ शेष रहता है। तृच् प्रत्यय लगाकर रूप बनाने का सरल उपाय यह है कि तुम्, प्रत्यय वाले रूप में तुम् के स्थान पर तृ लगा दो। तृच्-प्रत्ययान्त के रूप पुं० में कर्तृ के तुल्य, स्त्री० में ई लगाकर नदी के तुल्य और नपुं० में कर्तृ के तुल्य चलेंगे। तृच् प्रत्यय के विशेष नियमों के लिए देखो अभ्यास ४२। उदाहरणार्थ-तुम्, तव्य, तृ लगाकर इन धातुओं के ये रूप होंगे। कृ-कर्तुम्, कर्तव्य, कर्तृ। हृ-हर्तुम्, हर्तव्य, हर्तृ। लिखु -लेखितुम्, लेखितव्य, लेखितृ।

धातुएँ अकारादिक्रम से दी गयी है।

अद्	अत्तुम्	ईक्ष्	ईक्षितुम्	क्री	क्रेतुम्	ग्रस्	ग्रसितुम्
अधि+इ	अध्येतुम्	कथ्	कथयितुम्	क्रीड्	क्रीडितुम्	ग्रह	ग्रहीतुम्
अर्च	अर्चितुम्	कम्	कमितुम्	क्रुध्	क्रोद्धम्	घ्रा	घ्रातुम्
अस् (२प.)	भवितुम्	कम्प्	कम्पितुम्	क्षम्	क्षमितुम्	चर्	चरितुम्
आप्	आप्तुम्	कुप्	कोपितुम्	क्षिप्	क्षेप्तुम्	चल्	चलितुम्
आ+रभ्	आरब्धुम्	कूर्द	कूर्दितुम्	खन्	खनितुम्	चि	चेतुम्
आ+रुह	आरोढुम्	कृ	कर्तुम्	खाद्	खादितुम्	चिन्त्	चिन्तयितुम्
आ-लप्	आलपितुम्	कृप्	कल्पितुम्	गण्	गणयितुम्	चुर्	

चोरयितुम्

आस्	आसितुम्	कृष्	कष्टुम्	गम्	गन्तुम्	चेष्ट्	चेष्टितुम्
आ+ह्वे	आह्वातुम्	कृ	करितुम्	गर्ज्	गर्जितुम्	छिद्	छेत्तुम्
इ	एतुम्	क्रन्द्	क्रन्दितुम्	गृ	गरितुम्	जन्	जनितुम्
इष्	एषितुम्	क्रम्	क्रमितुम्	गै	गातुम्	जप्	जपितुम्
जि	जेतुम्	पद्	पत्तुम	याच्	याचितुम्	शप्	शप्तुम्
जीव्	जीवितुम्	पलाय्	पलायितुम्	युज्	योक्तुम्	शम्	शमितुम्
ज्ञा	ज्ञातुम्	पा (१, २)	पातुम्	युध्	योद्धुम्	शिक्ष	शिक्षितुम्
ज्वल्	ज्वलितुम्	पाल्	पालयितुम्	रक्ष	रक्षितुम्	शी	शयितुम्
डी	डयितुम्	पुष्	पोषितुम्	रच्	रचयितुम्	शुच्	शोचितुम्
तप्	तप्तुम्	पूज्	पूजयितुम्	रम्	रन्तुम्	शुभ्	शोभितुम्
तृप्	तर्पितुम्	प्रच्छ	प्रष्टुम्	राज्	राजितुम्	श्रि	श्रयितुम्
तृ	तरितुम्	प्रेर्	प्रेरयितुम्	रुच्	रोचितुम्	श्रु	श्रोतुम्
त्यज्	त्यक्तुम्	बन्ध्	बन्धुम्	रुद्	रोदितुम्	श्लिष्	श्लेष्टुम्
त्रै	त्रातुम्	बाध्	बाधितुम्	रुध्	रोद्धुम्	सह्	सोढुम्
दंश्	दंष्टुम्	बुध्	बोद्धुम्	लभ्	लब्धुम्	सिच्	सेक्तुम्
दह	दग्धुम्	ब्रू(वच्)	वक्तुम्	लम्ब्	लम्बितुम्	सिध्	सेद्धुम्
दा	दातुम्	भक्ष	भक्षयितुम्	लष्	लषितुम्	सिव्	सेवितुम्
दिश्	देष्टुम्	भज्	भक्तुम्	लिख	लेखितुम्	सु	सोतुम्
दीक्ष	दीक्षितुम्	भाष्	भाषितुम्	लिह	लेढुम्	सृ	सर्तुम्
दुह्	दोग्धुम्	भिद्	भेत्तुम्	वच्	वक्तुम्	सृप्	सर्प्तुम्
द्रुह्	द्रोग्धुम्	भुज्	भोक्तुम्	वद्	वदितुम्	सेव्	सेवितुम्
धा	धातुम्	भू	भवितुम्	वन्द्	वन्दितुम्	स्तु	स्तोतुम्
धाव्	धावितुम्	भृ	भर्तुम्	वप्	वप्तुम्	स्था	स्थातुम्

धृ	धर्तुम्	भ्रम्	भ्रमितुम्	वस्	वस्तुम्	स्ना	स्नातुम्
ध्यै	ध्यातुम्	मन्	मन्तुम्	वह	वोढुम्	स्पर्ध्	स्पर्धितुम्
ध्वंस्	ध्वंसितुम्	मा	मातुम्	विद्(४,६,७)	वेत्तुम्	स्पृश्	स्प्रष्टुम्
नम्	नन्तुम्	मिल्	मेलितुम्	विश्	वेष्टुम्	स्मृ	स्मर्तुम्
नश्	नंष्टुम्	मुच्	मोक्तुम्	वृ (१०)	वारयितुम्	हन्	हन्तुम्
निन्द्	निन्दितुम्	मुद्	मोदितुम्	वृत्	वर्तितुम्	हस्	हसितुम्
नी	नेतुम्	मृ	मर्तुम्	वृध्	वर्धितुम्	हा	हातुम्
नृत्	नर्तितुम्	यज्	यष्टुम्	वृष्	वर्षितुम्	हिंस्	हिंसितुम्
पच्	पक्तुम्	यत्	यतितुम्	वे	वातुम्	हु	होतुम्
पठ्	पठितुम्	यम्	यन्तुम्	शक्	शक्तुम्	हृ	हर्तुम्
पत्	पतितुम्	या	यातुम्	शंक्	शंकितुम्	हृष्	हर्षितुम्

(८) क्त्वा, (९) ल्यप् प्रत्यय **(देखो अभ्यास ३७, ३८)**

सूचना– 'कर' या करके अर्थ में क्त्वा और ल्यप् होते हैं। क्त्वा का त्वा और ल्यप् का य शेष रहता है। धातु से पहले उपसर्ग नहीं होगा तो क्त्वा होगा। यदि उपसर्ग पहले होगा तो ल्यप् होगा। दोनों प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होते हैं, अतः इनके रूप नहीं चलते। दोनों प्रत्यय लगाकर रूप बनाने के नियमों के लिए देखो अभ्यास ३७ और ३८। जिन उपसर्गों के साथ ल्यप् वाला रूप अधिक प्रचलित है, वही यहाँ दिए गए हैं। **धातुएँ अकारादिक्रम से दी गयी हैं।**

अद्	जग्ध्वा	प्रजग्ध्य	क्षम्	क्षमित्वा	संक्षम्य
अधि+इ	–	अधीत्य	क्षिप्	क्षिप्त्वा	प्रक्षिप्य
अर्च्	अर्चित्वा	समर्च्य	क्षुभ्	क्षुभित्वा	प्रक्षुभ्य
अस् (२ प०)		भूत्वा	सम्भूय	खन्	खनित्वा उत्खाय
अस् (४ प०)		असित्वा	प्रास्य		खात्वा
आ+दृ–	–	आदृत्य	गण्	गणयित्वा	विगणय्य
आप्	आप्त्वा	प्राप्य	गम्	गत्वा	आगम्य
आस्	आसित्वा	उपास्य	–	–	आगत्य

इ	इत्वा	प्रेत्य	गृ	गीर्त्वा	उद्गीर्य
इष्	इष्ट्वा	समिष्य	गै	गीत्वा	प्रगाय
ईक्ष	ईक्षित्वा	समीक्ष्य	ग्रस्	ग्रसित्वा	संग्रस्य
उत्+डी	–	उड्डीय	ग्रह्	गृहीत्वा	संगृह्य
कम्	कमित्वा	संकाम्य	घ्रा	घ्रात्वा	आघ्राय
कूर्द्	कूर्दित्वा	प्रकूर्द्य	चर्	चरित्वा	आचर्य
कृ	कृत्वा	उपकृत्य	चल्	चलित्वा	प्रचल्य
कृष्	कृष्ट्वा	आकृष्य	चि	चित्वा	संचित्य
कॄ	कीर्त्वा	विकीर्य	चिन्त्	चिन्तयित्वा	संचिन्त्य
क्रन्द्	क्रन्दित्वा	आक्रन्द्य	चुर्	चोरयित्वा	संचोर्य
क्रम्	क्रमित्वा	संक्रम्य	छिद्	छित्त्वा	उच्छिद्य
–	क्रान्त्वा	–	जन्	जनित्वा	संजाय
क्री	क्रीत्वा	विक्रीय	जप्	जपित्वा	संजप्य
क्रीड्	क्रीडित्वा	प्रक्रीड्य	जि	जित्वा	विजित्य
क्रुध्	क्रुद्ध्वा	संक्रुध्य	जीव्	जीवित्वा	संजीव्य
ज्ञा	ज्ञात्वा	विज्ञाय	पलाय्	–	पलाय्य
ज्वल्	ज्वलित्वा	प्रज्वल्य	पा (१.)	पीत्वा	निपाय
तन्	तनित्वा	वितत्य	पाल्	पालयित्वा	संपाल्य
तप्	तप्त्वा	संतप्य	पुष्	पुष्ट्वा	संपुष्य
तुष्	तुष्ट्वा	संतुष्य	पूज्	पूजयित्वा	संपूज्य
तॄ	तीर्त्वा	उत्तीर्य	पॄ	पूर्त्वा	आपूर्य
त्यज्	त्यक्त्वा	परित्यज्य	प्रच्छ्	पृष्ट्वा	संपृच्छ्य
दंश्	दष्ट्वा	संदश्य	बन्ध्	बद्ध्वा	आबध्य
दह्	दग्ध्वा	संदह्य	बुध्	बुद्ध्वा	प्रबुध्य

दा	दत्त्वा	आदाय	ब्रू (वच्)	उक्त्वा	प्रोच्य
दिव्	देवित्वा	संदीव्य	भक्ष्	भक्षयित्वा	संभक्ष्य
दिश्	दिष्ट्वा	उपदिश्य	भज्	भक्त्वा	विभज्य
दीप्	दीपित्वा	संदीप्य	भञ्ज्	भङ्क्त्वा	विभज्य
दुह्	दुग्ध्वा	संदुह्य	भाष्	भाषित्वा	संभाष्य
दृश्	दृष्ट्वा	संदृश्य	भिद्	भित्वा	प्रभिद्य
द्युत्	द्योतित्वा	विद्युत्य	भी	भीत्वा	संभीय
धा	हित्वा	विधाय	भुज्	भुक्त्वा	उपभुज्य
धाव्	धावित्वा	प्रधाव्य	भू	भूत्वा	संभूय
धृ	धृत्वा	आधृत्य	भृ	भृत्वा	संभृत्य
ध्मा	ध्मात्वा	आध्माय	भ्रंश्	भ्रष्ट्वा	प्रभ्रश्य
ध्यै	ध्यात्वा	संध्याय	भ्रम्	भ्रमित्वा	संभ्रम्य
नम्	नत्वा	प्रणम्य	–	भ्रान्त्वा	–
नश्	नष्ट्वा	विनश्य	मथ्	मथित्वा	विमथ्य
नि+वृ	–	निवृत्य	मन्	मत्वा	अनुमत्य
नी	नीत्वा	आनीय	मा	मित्वा	प्रमाय
नुद्	नुत्त्वा	प्रणुद्य	मिल्	मिलित्वा	संमिल्य
नृत्	नर्तित्वा	प्रनृत्य	मुच्	मुक्त्वा	विमुच्य
पच्	पक्त्वा	संपच्य	मुह्	मुग्ध्वा	संमुह्य
पठ्	पठित्वा	संपठ्य	यज्	इष्ट्वा	समिज्य
पत्	पतित्वा	निपत्य	यम्	यत्वा	संयम्य
पद्	पत्त्वा	संपद्य	या	यात्वा	प्रयाय
याच्	याचित्वा	अनुयाच्य	शम्	शान्त्वा	निशम्य
युज्	युक्त्वा	प्रयुज्य	शास्	शिष्ट्वा	अनुशिष्य

युध्	युद्ध्वा	प्रयुध्य	शी	शयित्वा	संशय्य
रक्ष्	रक्षित्वा	संरक्ष्य	शुष्	शुष्ट्वा	परिशुष्य
रच्	रचयित्वा	विरचय्य	श्रि	श्रित्वा	आश्रित्य
रभ्	रब्ध्वा	आरभ्य	श्रु	श्रुत्वा	संश्रुत्य
रम्	रत्वा	विरम्य	श्लिष्	श्लिष्ट्वा	आश्लिष्य
रुद्	रुदित्वा	विरुद्य	श्वस्	श्वसित्वा	विश्वस्य
रुध्	रुद्ध्वा	विरुध्य	सद्	सत्त्वा	निषद्य
रुह्	रूढ्वा	आरुह्य	सह्	सोढ्वा	संसह्य
लप्	लपित्वा	विलप्य	साध्	साद्ध्वा	प्रसाध्य
लभ्	लब्ध्वा	उपलभ्य	सिच्	सिक्त्वा	अभिषिच्य
लम्ब्	लम्बित्वा	आलम्ब्य	सिध्	सिद्ध्वा	निषिध्य
लष्	लषित्वा	अभिलष्य	सिव्	सेवित्वा	संसीव्य
लिख्	लिखित्वा	आलिख्य	सृज्	सृष्ट्वा	विसृज्य
लिह्	लीढ्वा	आलिह्य	सेव्	सेवित्वा	निषेव्य
ली	लीत्वा	निलीय	सो	सित्वा	अवसाय
लुभ्	लुब्ध्वा	प्रलुभ्य	स्तु	स्तुत्वा	प्रस्तुत्य
वद्	उदित्वा	अनूद्य	स्था	स्थित्वा	प्रस्थाय
वन्द्	वन्दित्वा	अभिवन्द्य	स्ना	स्नात्वा	प्रस्नाय
वप्	उप्त्वा	समुप्य	स्निह्	स्निग्ध्वा	उपस्निह्य
वस्	उषित्वा	उपोष्य	स्पृश्	स्पृष्ट्वा	संस्पृश्य
वह्	ऊढ्वा	प्रोह्य	स्मृ	स्मृत्वा	विस्मृत्य
विद् (२ प०)	विदित्वा	संविद्य	स्वप्	सुप्त्वा	संषुप्य
विद् (१०)	वेदयित्वा	निवेद्य	हन्	हत्वा	निहत्य
विश्	विष्ट्वा	प्रविश्य	हस्	हसित्वा	विहस्य

वृत्	वर्तित्वा	निवृत्य	हा	हित्वा	विहाय
वृध्	वर्धित्वा	संवृध्य	हु	हुत्वा	आहुत्य
वृष्	वर्षित्वा	प्रवृष्य	हृ	हृत्वा	प्रहृत्य
व्यध्	विद्ध्वा	आविध्य	हृष्	हृषित्वा	प्रहृष्य
शप्	शप्त्वा	अभिशप्य	ह्वे	हूत्वा	आहूय

(१०) ल्युट्, (११) अनीयर् प्रत्यय (देखो अभ्यास ३९, ४३)

सूचना - (क) ल्युट् प्रत्यय भाववाचक शब्द बनाने के लिए धातु से लगता है। ल्युट् का 'अन' शेष रहता है। धातु को गुण होता है। ल्युट् प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिंग होता है। अन्य नियमों के लिए देखो अभ्यास ४३। (ख) 'चाहिए' अर्थ में अनीयर् प्रत्यय होता है। अनीयर् का 'अनीय' शेष रहता है। अनीयर् प्रत्ययवाला रूप बनाने का सरल उपाय यह है कि ल्युट् के अन के स्थान पर अनीय लगा दो। अन्य नियमों के लिए देखो अभ्यास ३९। जैसे-कृ का करण, करणीय। दा-दान, दानीय। पठ्-पठन, पठनीय। **धातुएँ अकारादि क्रम से दी गई हैं-**

अद् अदनम् कूर्द कूर्दनम् ग्रस् ग्रसनम् त्रै त्राणम्

अधि+इ अध्ययनम् कृ करणम् ग्रह ग्रहणम् दंश् दंशनम्

अन्विष् अन्वेषणम् कृप् कल्पनम् घ्रा घ्राणम् दण्ड् दण्डनम्

अर्च् अर्चनम् कृष् कर्षणम् चर् चरणम् दम् दमनम

अर्ज् अर्जनम् कॄ करणम् चल् चलनम् दह् दहनम्

अस् (२) भवनम् क्रन्द् क्रन्दनम् चि चयनम् दा दानम्

अस् (४) असनम् क्रम् क्रमणम् चिन्त् चिन्तनम् दिव् देवनम्

आ+क्रम् आक्रमणम् क्री क्रयणम् चुर् चोरणम् दिश् देशनम्

आ+चर् आचरणम् क्रीड् क्रीडनम् चेष्ट् चेष्टनम् दीप् दीपनम्

आर-रभ् आरभणम् क्रुध् क्रोधनम् छिद् छेदनम् दुह् दोहनम्

आ+रुह् आरोहणम् क्लिश् क्लेशनम् जन् जननम् दृश् दर्शनम्

आ+लप् आलपनम् क्षम् क्षमणम् जप् जपनम् द्युत् द्योतनम्

आस् आसनम् क्षिप् क्षेपणम् जि जयनम् द्रुह द्रोहणम्

आ+ह्वे आह्वानम् खन् खननम् जीव् जीवनम् धा धानम्

इ अयनम् खाद् खादनम् ज्ञा ज्ञानम ा् धाव् धावनम्

इष् एषणम् गण् गणनम् ज्वल् ज्वलनम् धृ धरणम्

ईक्ष् ईक्षणम् गम् गमनम् डी डयनम् ध्यै ध्यानम्

उद्+डी उड्डयनम् गर्ज गर्जनम् तप् तपनम् ध्वंस् ध्वंसनम्

कथ् कथनम् गाह् गाहनम् तुष् तोषणम् नन्द नन्दनम्

कम् कमनम् गृ गरणम् तृप् तर्पणम् नम् नमनम्

कम्प् कम्पनम् गै (गा) गानम् तृ तरणम् नश् नशनम्

कुप् कोपनम् ग्रन्थ् ग्रन्थनम् त्यज् त्यजनम् नि+गृ निगरणम्

निन्द् निन्दनम् भुज् भोजनम् लभ् लभनम् शम् शमनम्

नि+यम् नियमनम् भू भवनम् लम्ब् लम्बनम् शास् शासनम्

नि+वस् निवसनम् भृ भरणम् लष् लषणम् शिक्ष शिक्षणम्

नि+विद् निवेदनम् भ्रंश् भ्रंशनम् लस् लसनम् शी शयनम्

नि+सिध् निषेधनम् भ्रम् भ्रमणम् लिख् लेखनम् शुभ् शोभनम्

नी नयनम् मद् मदनम् लिह लेहनम् शुष् शोषणम्

नृत् नर्तनम् मन् मननम् ली लयनम् श्रि श्रयणम्

पच् पचनम् मन्थ् मन्थनम् लुट् लोटनम् श्रु श्रवणम्

पठ् पठनम् मा मानम् लुप् लोपनम् सं+मिल् संमेलनम्

पत् पतनम् मिल् मेलनम् लुभ् लोभनम् सद् सदनम्

पलाय् पलायनम् मुच् मोचनम् लोक् लोकनम् सह सहनम्

पा (१ प०) पानम् मुद् मोदनम् लोच् लोचनम् साध् साधनम्

पाल् पालनम् मुष् मोषणम् वच् वचनम् सिच् सेचनम्

पुष्	पोषणम्	मुह्	मोहनम्	वञ्च	वञ्चनम्	सिव्	सेवनंम्
पूज्	पूजनम्	मृ	मरणम्	वद्	वदनम्	सु	सवनम्
प्र+काश्	प्रकाशनम्	यज्	यजनम्	वन्द्	वन्दनम्	सृ	सरणम्
प्रच्छ्	प्रच्छनम्	यत्	यतनम्	वप्	वपनम्	सृज्	सर्जनम्
प्र+आप्	प्रापणम्	यम्	यमनम्	वर्ण	वर्णनम्	सृप्	सर्पणम्
प्र+विश्	प्रवेशनम्	या	यानम्	वह	वहनम्	सेव्	सेवनम्
प्र+हस्	प्रहसनम्	याच्	याचनम्	विकस्	विकसनम्	स्तु	स्तवनम्
प्रेर्	प्रेरणम्	युज्	योजनम्	विद्	वेदनम्	स्था	स्थानम्
प्रेष्	प्रेषणम्	युध्	योधनम्	वि+धा	विधानम्	स्ना	स्नानम्
बन्ध्	बन्धनम्	रक्ष	रक्षणम्	वि+नश्	विनशनम्	स्निह्	स्नेहनम्
बाध्	बाधनम्	रच्	रचनम्	वि+लप्	विलपनम्	स्पृश्	स्पर्शनम्
बुध्	बोधनम्	रज्	रञ्जनम्	वि+श्वस्	विश्वसनम्	स्मृ	स्मरणम्
ब्रू	वचनम्	रम्	रमणम्	वृ	वरणम्	स्त्रंस्	स्त्रंसनम्
भक्ष्	भक्षणम्	राज्	राजनम्	वृत्	वर्तनम्	स्वप्	स्वपनम्
भज्	भजनम्	रुच्	रोचनम्	वृध्	वर्धनम्	हन्	हननम्
भञ्ज्	भञ्जनम्	रुद्	रोदनम्	वृष्	वर्षणम्	हु	हवनम्
भाष्	भाषणम्	रुध्	रोधनम्	वेप्	वेपनम्	ह	हरणम्
भिद्	भेदनम्	लप्	लपनम्	शप्	शपनम्	हृष्	हर्षणम्

(१२) घञ् प्रत्यय (देखो अभ्यास ४१)

सूचना– भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय होता है। घञ् का 'अ' शेष रहता है। घञन्त शब्द पुंल्लिंग होता है। घञ् प्रत्यय लगाकर रूप बनाने के नियमों के लिए देखो अभ्यास ४१। घञ् प्रत्ययान्त शब्द उपसर्गों के साथ बहुत प्रचलित हैं। स्वयं उपसर्ग लगाकर अन्य रूप बनावें।

धातुएँ अकारादि-क्रम से दी गई हैं।

अधि+इ अध्याय: चर् चार: प्र+भू प्रभाव: वि+लप् विलाप:

अभि+लष् अभिलाष: चल् चाल: प्र+विश् प्रवेश: वि+वह् विवाह:

अव+तृ अवतार: चि काय: प्र+सद् प्रसाद: वि+श्रम् विश्राम:

अव+लिह् अवलेह: चुर् चोर: प्र+सृ प्रसार: वि+श्वस् विश्वास:

अस् (२ प०) भाव: छिद् छेद: प्र+स्तु प्रस्ताव: वि+सृज् विसर्ग:

आ+क्षिप् आक्षेप: जप् जाप: प्रहृ प्रहार: वृष् वर्ष:

आ+गम् आगम: तप् ताप: बुध् बोध: शप् शाप:

आ+चर् आचार: यज् याग: भज् भाग: शम् शम:

आ+दृश् आदर्श: दह् दाह: भिद् भेद: शुच् शोक:

आ+धृ आधार: दा दाय: भुज् भोग: शुष् शोष:

आ+मुद् आमोद: दिव् देव: मिल् मेल: श्रि श्राय:

आ+रुह् आरोह: दुह् दोह: मुह् मोह: श्रु श्राव:

आ+वृत् आवर्त: द्रुह् द्रोह: मृज् मार्ग: श्लिष् श्लेष:

आ+हन् आघात: धा धाय: यज् याग: सं+कृ संस्कार:

उत्+पद् उत्पाद: नश् नाश: युज् योग: सं+तन् सन्तान:

उत्+सह् उत्साह: नि+इ न्याय: युध् योध: सं+तुष् सन्तोष:

उप+दिश् उपदेश: नि+वस् निवास: रञ्ज् राग: सं+मन् संमान:

कम् काम: नि+सिध् निषेध: रम् राम: सं+यम् संयम:

कुप् कोप: पच् पाक: रुध् रोध: सिच् सेक:

कृ कार: पठ् पाठ: लभ् लाभ: सृज् सर्ग:

कृष् कर्ष: पत् पात: लिख लेख: स्निह् स्नेह:

क्षिप्	क्षेपः	पुष्	पोषः	लुभ्	लोभः	स्पृश्	स्पर्शः
क्षुभ्	क्षोभः	प्र+काश्	प्रकाशः	वद्	वादः	स्वप्	स्वापः
गम्	गमः	प्र+कृ	प्रकारः	वि+कस्	विकासः	हस्	हासः
ग्रस्	ग्रासः	प्र+कृष्	प्रकर्षः	वि+कृप्	विकल्पः	हृ	हारः
ग्रह्	ग्राहः	प्र+नम्	प्रणामः	विद्	वेदः	हृष्	हर्षः

(१३) ण्वुल् प्रत्यय (देखो अभ्यास ४३)

सूचना- कर्ता या 'वाला' अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय होता है। ण्वुल् के स्थान पर 'अक' शेष रहता है। धातु को गुण या वृद्धि होगी। विशेष्य के अनुसार तीनों लिंग होते हैं। विशेष नियम के लिए देखो अभ्यास ४३ । **धातुएँ अकारादि-क्रम में दी गई हैं।**

अध्यापि	अध्यापकः	द्विष्	द्वेषकः	प्र+विश्	प्रवेशकः	रुध्	रोधकः
अन्विष्	अन्वेषकः	धा	धायकः	प्र+सृ	प्रसारकः	लिख्	लेखकः
उत्+पद्	उत्पादकः	धाव्	धावकः	प्र+स्तु	प्रस्तावकः	वच्	वाचकः
उद्+धृ	उद्धारकः	धृ	धारकः	प्रेर्	प्रेरकः	वह्	वाहकः
उद्+मद्	उन्मादकः	ध्यै	ध्यायकः	बन्ध्	बन्धकः	वि+कस्	विकासकः
उप+दिश्	उपदेशकः	ध्वंस्	ध्वंसकः	बाध्	बाधकः	वि+आप्	व्यापकः
उप+आस्	उपासकः	नश्	नाशकः	बुध्	बोधकः	वि+धा	विधायकः
कृ	कारकः	निन्द्	निन्दकः	ब्रू (वच्)	वाचकः	वि+भज्	विभाजकः
कृष्	कर्षकः	नि+विद्	निवेदकः	भक्ष्	भक्षकः	वि+स्कम्भू	विष्कम्भकः
क्रीड्	क्रीडकः	निवृ	निवारकः	भज्	भाजकः	वृध्	वर्धकः
खाद्	खादकः	नि+सिध्	निषेधकः	भाष्	भाषकः	वृष्	वर्षकः
गण्	गणकः	नी	नायकः	भिद्	भेदकः	शास्	शासकः
गम्	गमकः	नृत्	नर्तकः	भुज्	भोजकः	शिक्ष्	शिक्षकः

गै	गायकः	पच्	पाचकः	भू	भावकः	शुष्	शोषकः
ग्रह्	ग्राहकः	पठ्	पाठकः	मुच्	मोचकः	श्रु	श्रावकः
चि	चायकः	पत्	पातकः	मुद्	मोदकः	सं+चल्	संचालकः
चिन्त्	चिन्तकः	परि+ईक्ष	परीक्षकः	मुह्	मोहकः	स+तप्	संतापकः
छिद्	छेदकः	पा (१ प.)	पायकः	मृ	मारकः	सं+युज्	संयोजकः
जन्	जनकः	पाल्	पालकः	याज्	याजकः	सं+हृ	संहारकः
तृ	तारकः	पुष्	पोषकः	यम्	यामकः	साध्	साधकः
दह्	दाहकः	पूज्	पूजकः	याच्	याचकः	सिच्	सेचकः
दीप्	दीपकः	प्र+काश	प्रकाशकः	युज्	योजकः	सेव्	सेवकः
दुह्	दोहकः	प्र+क्षिप्	प्रक्षेपकः	युध्	योधकः	स्था	स्थापकः
दृश्	दर्शकः	प्र+चर्	प्रचारकः	रक्ष्	रक्षकः	स्मृ	स्मारकः
द्युत्	द्योतकः	प्रच्छ्	प्रच्छकः	रञ्ज्	रञ्जकः	हन्	घातकः
द्रुह्	द्रोहकः	प्र+दा	प्रदायकः	रुच्	रोचकः	हृष्	हर्षकः

(१४) क्तिन्, (१५) यत् प्रत्यय (देखो अभ्यास ४५, ४०)

सूचना- (क) भाववाचक संज्ञा बनाने के लिए धातु से क्तिन् प्रत्यय होता है। क्तिन् का 'ति' शेष रहता है। 'ति'- प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिंग होते हैं। विशेष नियमों के लिए देखो अभ्यास ४५ । (ख) 'चाहिए' अर्थ में अजन्त धातुओं से यत् प्रत्यय होता है। यत् का 'य' शेष रहता है। तीनों लिंगों के रूप चलते हैं। विशेष नियमों के लिए देखो अभ्यास ४० ।

धातुएँ अकारादि-क्रम से दी गई हैं।

	क्तिन् प्रत्यय				**यत् प्रत्यय**	
अधि+इ	अधीतिः	तृप्	तृप्तिः	यम्	यतिः	अधि+इ अध्येयम्
अस् (२ प.)	भूतिः	दीप्	दीप्तिः	युज्	युक्तिः	आ + ख्या
आख्येयम्						

आप् आप्तिः दृश् दृष्टिः रम् रतिः उप+मा उपमेयम्

आ+संज् आसक्तिः धृ धृतिः रुह् रूढिः क्री क्रेयम्

आ+सद् आसत्तिः नम् नतिः वि+आप् व्याप्तिः क्षि क्षेयम्

आ+हु आहुतिः नी नीतिः वि+नश् विनष्टिः गै (गा) गेयम्

इष् इष्टिः पच् पक्तिः वि+श्रम् विश्रान्तिः घ्रा घ्रेयम्

उप+लभ् उपलब्धिः पा(१प.) पीतिः वृत् वृत्तिः चि चेयम्

ऋध् ऋद्धिः पुष् पुष्टिः वृध् वृद्धिः जि जेयम्

कम् कान्तिः पृ पूर्तिः वृष् वृष्टिः ज्ञा ज्ञेयम्

कृ कृतिः प्र+आप् प्राप्तिः शक् शक्तिः दा देयम्

कृष् कृष्टिः प्री प्रीतिः शम् शान्तिः धा धेयम्

कॄ कीर्तिः बुध् बुद्धिः शुध् शुद्धिः ध्यै (ध्या) ध्येयम्

कृत् कीर्तिः ब्रू (वच्) उक्तिः श्रु श्रुतिः नी नेयम्

क्रम् क्रान्तिः भज् भक्तिः सं+पद् संपत्तिः पा (१ प.) पेयम्

क्षम् क्षान्तिः भी भीतिः सं+सृ संसृतिः भू भव्यम्

गम् गतिः भुज् भुक्तिः सं+हृ संहृतिः मा मेयम्

गै (गा) गीतिः भू भूतिः सिध् सिद्धिः विधा विधेयम्

चि चितिः भ्रम् भ्रान्तिः सृज् सृष्टिः श्रु श्रव्यम्

छिद् छित्तिः मन् मतिः स्तु स्तुतिः सु सव्यम्

जन् जातिः मा मितिः स्था स्थितिः स्था स्थेयम्

ज्ञा ज्ञातिः मुच् मुक्तिः स्मृ स्मृतिः हा हेयम्

तुष् तुष्टिः यज् इष्टिः स्वप् सुप्तिः हु हव्यम्

स्मरणीय बिंदु

1) कृदन्त प्रत्यय : ये प्रत्यय धातुओं (क्रिया के मूल रूप) के पीछे जुड़ते हैं और संज्ञा, विशेषण या अव्यय शब्द बनाते हैं।

2) भूतकालिक प्रत्यय : क्त और क्त्वतु प्रत्ययों का प्रयोग मुख्य रूप से भूतकाल की क्रियाओं को दर्शाने के लिए किया जाता है।

3) वाच्य संरचना : क्त प्रत्यय का प्रयोग प्रायः कर्मवाच्य और भाववाच्य में होता है, जबकि क्त्वतु का प्रयोग कर्तृवाच्य में होता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) संस्कृत व्याकरण में क्त और क्त्वतु प्रत्ययों के प्रयोग के नियमों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए और इनके बीच के अंतर को स्पष्ट कीजिए।

2) कृदन्त प्रत्यय किसे कहते हैं? वाक्य निर्माण में प्रत्ययों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए किन्हीं तीन प्रमुख प्रत्ययों का परिचय दीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) क्त प्रत्यय का प्रयोग किस काल की क्रिया के लिए किया जाता है?

2) क्त्वतु प्रत्यय जुड़ने पर धातु के रूप में क्या परिवर्तन होता है? एक उदाहरण दीजिए।

3) प्रत्यय प्रकरण का अध्ययन संस्कृत अनुवाद के लिए क्यों आवश्यक है?

4) पठितः शब्द में मूल धातु और प्रत्यय अलग-अलग करके लिखिए।

5) क्या प्रत्ययों के प्रयोग से वाक्य का वाच्य बदल सकता है? संक्षेप में बताइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. धातुओं के अंत में जुड़ने वाले प्रत्ययों को सामूहिक रूप से क्या कहा जाता है?

(क) तद्धित (ख) कृदन्त

(ग) स्त्री प्रत्यय (घ) विभक्ति

2. क्त प्रत्यय का प्रयोग सामान्यत: किस वाच्य में किया जाता है?

(क) कर्तृवाच्य (ख) कर्मवाच्य/भाववाच्य

(ग) केवल सक्रिय वाच्य (घ) इनमें से कोई नहीं

3. भूतकाल के अर्थ में क्त प्रत्यय के साथ और कौन सा प्रत्यय इस इकाई का हिस्सा है?

(क) क्त्वतु (ख) ल्युट्

(ग) अण् (घ) अञ्

इकाई 4.2 स्वरादिसन्धिप्रकरणम्

(क) स्वर-सन्धि?

उद्देश्य

1) अध्येताओं को संस्कृत व्याकरण में संधि की अवधारणा और विशेष रूप से अच् संधि (स्वर संधि) के नियमों से अवगत कराना।

2) विद्यार्थियों को यह समझाना कि दो स्वर वर्णों के अत्यंत निकट आने पर उनमें किस प्रकार के परिवर्तन (विकार) होते हैं।

3) छात्रों को संधि करने (जोड़ने) और संधि-विच्छेद (अलग करने) की प्रक्रिया में निपुण बनाना ताकि वे संस्कृत पदों को सही ढंग से समझ सकें।

परिणाम

1) विद्यार्थी स्वर संधि के विभिन्न भेदों (जैसे दीर्घ, गुण, वृद्धि, यण आदि) के सूत्रों को पहचानने में सक्षम हो जाता है।

2) अध्येता संस्कृत वाक्यों और श्लोकों को पढ़ते समय संधियुक्त पदों का सही विच्छेद करने और उनका अर्थ निकालने में कुशल हो जाता है।

3) छात्र की लेखन शैली में सुधार होता है और वह व्याकरण के नियमों के अनुसार शुद्ध पदों की रचना करना सीख जाता है।

(१) यण्-सन्धि (देखो अभ्यास १०)

(इको यणचि) इ ई को य्, उ ऊ को व्, ऋ ॠ को र्, लृ को ल् हो जाता है, यदि बाद में कोई स्वर हो तो। सवर्ण (वैसा ही) स्वर हो तो नहीं। जैसे-

(१) प्रति+एकः = प्रत्येकः (२) पठतु+एकः = पठत्वेकः (३) पितृआ = पित्रा

पठति+अत्र = पठत्यत्र	अनु+अयः = अन्वयः	मातृ+ए = मात्रे
इति+अत्न = इत्यत्र	मधु+अरिः = मध्वरिः	धातृ+अंशः = धात्रंशः
इति+आह - इत्याह	गुरु+आज्ञा = गुर्वाज्ञा	कर्तृ+आ = कर्त्रा

यदि+अपि यद्यपि	पठतु+अत्र = पठत्वत्र	कर्तृ+ ई = कर्त्री
नदी+औ = नद्यौ	वधू+औ = वध्वौ	
सुधी+उपास्य:=सुध्युपास्य:		(४)लृ+आकृति:=लाकृति:

(२) अयादिसन्धि (देखो अभ्यास ११)

(एचोऽयवायाव:) ए को अय्, ओ को अव्, ऐ को आय्, औ को आव् हो जाता है, बाद में कोई स्वर हो तो। (पदान्त ए या ओ के बाद अ होगा तो नहीं) जैसे-

(१) हरे+ए=हरये	(२) भो+अति=भवति	(३) नै+अक:=नायक:
कवे+ए=कवये	पो+अन:=पवन:	गै+अक:=गायक:
ने+अनम्=नयनम्	गुरो+ए-गुरवे	गै+अति=गायति
शे+अनम्-शयनम्	भानो+ए-भानवे	(४) द्वौ+एतौ=द्वावेतौ
जे+अ:=जय:	भो+अनम्=भवनम्	पौ+अक:=पावक:
संचे+अ:-संचय:	श्रो+अणम्=श्रवणम्	भौ+अक:=भावक:

(३) गुणसन्धि **(देखो अभ्यास १२)**

(आद्‌गुण:) (१) अ या आ के बाद इ या ई हो तो दोनों को 'ए' होगा। (२) अया आ के बाद उ या ऊ हो तो दोनों को 'ओ' होगा। (३) अ या आ के बाद ऋ या ॠ हो तो दोनों को 'अ' होगा। (४) अ या आ के बाद लृ होगा तो दोनों को अल् होगा। जैसे-

(१) महा+ईश:=महेश:	(२) पर+उपकार:=परोपकार:	(३) महा+ऋषि:=महर्षि:
गण+ईश:=गणेश:	महा+उत्सव:=महोत्सव:	राज+ऋषि:=राजर्षि:
रमा+ईश:=रमेश:	हित+उपदेश:=हितोपदेश:	ग्रीष्म+ऋतु:=ग्रीष्मर्तु:
तथा+इति=तथेति	गंगा+उदकम्=गंगोदकम्	ब्रह्म+ऋषि:=ब्रह्मर्षि:
न+इदम्=नेदम्	पश्य+उपरि=पश्योपरि	(४) तव+लृकार:=तवल्कार:

(४) वृद्धि सन्धि **(देखो अभ्यास १३)**

(वृद्धिरेचि) (१) अ या आ के बाद ए या ऐ हो तो दोनों को 'ऐ' होगा। (२) अ या आ के बाद ओ या औ होगा तो दोनों को 'औ' होगा । जैसे–

(१) अत्र+एकः=अत्रैकः	(२) तण्डुल+ओदनम्=तण्डुलौदनम्
पश्य+एतम्=पश्यैतम्	जल+ओघः=जलौघः
सा+एषा=सैषा	महा+ओषधिः=महौषधिः
राज+ऐश्वर्यम्=राजैश्वर्यम्	देव+औदार्यम्=देवौदार्यम्

(५) पूर्वरूप सन्धि (देखो अभ्यास १४)

(एङः पदान्तादति) पद (अर्थात् सुबन्त या तिङन्त) के अन्तिम ए या ओ के बाद अ हो तो उसको पूर्वरूप (अर्थात् ए या ओ जैसा रूप) हो जाता है। (अ हटा है, इस बात के सूचनार्थ ऽ (अवग्रह चिह्न) लगा दिया जाता है।) जैसे–

(१)हरे+अव=हरेऽव	(२) विष्णो+अव=विष्णोऽव
लोके+अस्मिन्=लोकेऽस्मिन्	रामो+अधुना=रामोऽधुना
विद्यालये+अस्मिन्=विद्यालयेऽस्मिन्	लोको+अयम्=लोकोऽयम्

(६) सवर्ण दीर्घ सन्धि (देखो अभ्यास १५)

(अकः सवर्णे दीर्घः) अ इ उ ऋ के बाद कोई सवर्ण (सदृश) अक्षर हो तो दोनों के स्थान पर उसी वर्ण का दीर्घ अक्षर हो जाता है। अर्थात् (१) अ या आ + अ या आ आ। (२) इ या ई + इ या ई = ई । (३) उ या ऊ + उ या ऊ = ऊ । (४) ऋ या ॠ + ऋ या ॠ = ॠ ।

(१) हिम+आलयः=हिमालयः	(२) गिरि+ईशः=गिरीशः	(३) गुरु+उपदेशः=गुरूपदेशः
विद्या+आलयः=विद्यालयः	श्री+ईशः=श्रीशः	भानु+उदयः=भानूदयः
तथा+अपि=तथापि	इति+इदम्=इतीदम्	लघु+ऊर्मिः=लघूर्मिः
शिष्ट+आचारः=शिष्टाचारः	पठति+इदम्=पठतीदम्	(४) होतृ+ऋकारः=होतृकारः

(ख) हल् सन्धि

(७) श्चुत्व सन्धि (देखो अभ्यास १६)

(स्तोः श्चुना श्चुः) स् या तवर्ग से पहले या बाद में श् या चवर्ग कोई भी हो तो स् और तवर्ग को क्रमशः श् और चवर्ग हो जाता है। जैसे-

रामस्+च=रामश्च तत्+च=तच्च सद्+जनः=सज्जनः

कस्+चित्=कश्चित् सत्+चित्=सच्चित् उद्+ज्वलः=उज्ज्वलः

दुस्+चरित्रः=दुश्चरित्र सत्+चरित्रः=सच्चरित्रः याच्+ना=याच्ञा

हरिस्+शेते=हरिश्शेते उत्+चारणम्=उच्चारणम् शार्ङ्गिन्+जय=शार्ङ्गिञ्जय

(८) **ष्टुत्वसन्धि (देखो अभ्यास १७) (ष्टुना ष्टुः)**

स् या तवर्ग के पहले या बाद में ष् या टवर्ग कोई भी हो तो स् और तवर्ग को क्रमशः ष् और टवर्ग हो जाता है। जैसे-

इष् + तः = इष्टः रामस् + षष्ठः = रामष्षष्ठः विष् + नुः = विष्णुः

पेष् + ता = पेष्टा उद् + डीनः उड्डीनः **कृष्** + नः = कृष्णः

दुष् + तः = **दुष्टः** तत् + टीका = तट्टीका उष् + त्रः = उष्ट्रः

(९) **जश्त्वसन्धि (१) (देखो अभ्यास १८) (झलां जशोऽन्ते)**

झलों (वर्ग के १, २, ३, ४ और ऊष्म) को जश् (३ अर्थात् अपने वर्ग के तृतीय अक्षर) होते हैं, झल् पद के अन्तिम अक्षर हों तो। (पद अर्थात् सुबन्त या तिङन्त)। जैसे-

सुप् + अन्तः = **सुबन्तः** चित् + आनन्द = चिदानन्दः षट् + एव = षडेव

अच् +अन्तः = अजन्तः दिक् + अम्बरः दिगम्बरः षट् + आननः = षडाननः

जगत् + ईशः = जगदीशः उत् + देश्यम् = **उद्देश्यम** दिक् + गजः = दिग्गजः

(१०) जश्त्वसन्धि (देखो अभ्यास १९) (झलां जश् झशि)

झलों (वर्ग के १, २, ३, ४, ऊष्म) को जश् (३, अपने वर्ग के तृतीय अक्षर) होते हैं, बाद में झश् (वर्ग के ३, ४) हों तो। (यह नियम पद के बीच में लगता है, पहला नियम (९) पद के अन्त में।)

बुध् + धिः = बुद्धिः	दघ् + धः = दग्धः	युध् + धम् = युद्धम्
सिध् + धिः = सिद्धिः	दुघ् + धम् = दुग्धम्	वृध् + धिः = वृद्धिः
क्षुभ् + धः = क्षुब्धः	लभ् धः = लब्धः	शुध् + धिः = शुद्धिः

(११) चर्व सन्धि (देखो अभ्यास २०) (खरि च)

झलों (वर्ग के १, २, ३, ४, ऊष्म) को चर् **(१, उसी वर्ग के प्रथम अक्षर) होते हैं, बाद में खर् (१, २, श, ष, स) हों तो। जैसे–**

सद् + कारः = सत्कारः	तद् + परः = तत्परः	सद् + पुत्रः = सत्पुत्रः
उद्+ पत्रः उत्पन्नः	उद् + साहः उत्साहः	तज् + छिवः = तच्छिवः

(१२) अनुस्वार सन्धि (देखो अभ्यास ९) (मोऽनुस्वारः)

पदान्त म् के बाद कोई हल् (व्यंजन) हो तो म् को अनुस्वार (ं) हो जाता है, बाद में स्वर हो तो नहीं। जैसे–

हरिम् + वन्दे = हरिं वन्दे	कम् + चित् = कंचित्	सत्यम् + वद = सत्यं वद
गुरुम् + नमति = गुरुं नमति	कार्यम् + कुरु =कार्यं कुरु	धर्मम् + चर = धर्मं चर

(ग) विसर्ग सन्धि

(१३) विसर्ग सन्धि (देखो अभ्यास २१)

(विसर्जनीयस्य सः) विसर्ग के बाद खर् (वर्ग के १, २, श, ष, स) हो तो विसर्ग को स् हो जाता है। (श् या चवर्ग बाद में हो तो श्चुत्व सन्धि भी)। जैसे–

हरिः + त्रायते = हरिस्त्रायते ।	बालः + चलति = बाल **श्च**लति ।
रामः + तिष्ठति = रामस्तिष्ठति ।	रामः + शेते = रामश्शेते ।
कः + चित् = कश्चित् ।	जनाः + तिष्ठन्ति = जनास्तिष्ठन्ति ।
निः + चलः = नि **श्च**लः ।	रामः + च = राम **श्च** ।

(१४), (१५) उत्व सन्धि (१) (देखो अभ्यास २२)

(१४) (ससजुषो रुः) पद के अन्तिम स् को रु (:) होता है। सजुष् शब्द के ष् को भी रु होता है।

सूचना- इस रु का साधारणतया विसर्ग (:) ही बचता है। इसी रु को सन्धि नियम १५, १६ और १७ से उ या य् होता है। जहाँ उ या य् नहीं होगा, वहाँ पर या तो विसर्ग बचेगा या र् बचेगा।

(१५) (अतो रोरप्लुतादप्लुते) ह्रस्व अ के बाद रु (: या र्) को उ हो जाता है, बाद में ह्रस्व अ हो तो। (**सूचना**- इस उ को पूर्ववर्ती अ के साथ सन्धि-नियम ३ से गुणसन्धि करके ओ हो जाता है और बाद के अ को सन्धि-नियम ५ से पूर्वरूप सन्धि होती है। अतएव अः+अ = ओऽ होता है।) जैसे

राम:+अस्ति = रामोऽस्ति ।

राम:+अवदत् = रामोऽवदत् ।

क:+अपि = कोऽपि।

नृप:+अगच्छत् = नृपोऽगच्छत् ।

स:+अपि = सोऽपि।

देव:+अधुना = देवोऽधुना।

स:+अपठत् = सोऽपठत्।

क:+अयम् = कोऽयम्।

सूचना- स्मरण रखें कि रामः, कः आदि में सब स्थानों पर स् का ही सन्धि नियम १४ के अनुसार विसर्ग (:) दीखता है। यह विसर्ग मूलरूप में सु (स्) है, उसी को रु (र् या :) होता है। जहाँ पर उ या यू नहीं होगा, वहाँ पर र् शेष रहता है। अतः सन्धि-नियम १४ से अ आ के अतिरिक्त अन्य स्वरों के बाद विसर्ग का 'र्' शेष रहता है, बाद में कोई स्वर या व्यंजन (३, ४, **५ हो तो। जैसे**

हरिः + अवदत् = हरिरवदत्।

लक्ष्मीः + इयम् = लक्ष्मीरियम् ।

गुरुः + अस्ति = गुरुरस्ति।

वधूः + एषा = वधूरेषा ।

शिशुः + आगच्छत् = शिशुरागच्छत्।

गुरोः + भाषणम् = गुरोर्भाषणम्

पितुः + इच्छा = पितुरिच्छा।

हरेः + द्रव्यम् = हरेर्द्रव्यम् ।

(१६) उत्व सन्धि (२) (देखो अभ्यास २३)

(हशि च) हस्व अ के बाद रु (र् या :) को उ हो जाता है, बाद में हश् (वर्ग के ३, ४, ५, ह, य, व, र, ल) हो तो। (सूचना सन्धि-नियम १५ बाद में अ हो तब लगता है, यह बाद में हश् हो तो। उ करने के बाद सन्धि-नियम ३ से गुण होकर ओ होगा। अतः अः हश् ओ हश् होगा, अर्थात् अः को ओ)। जैसे-

रामः + वन्द्यः = रामो वन्द्यः ।

देवः + गच्छति = देवो गच्छति ।

कृष्णः + वदति = कृष्णो वदति ।

बालः + हसति = बालो हसति।

बालः + लिखति बालो लिखति ।

नृपः + रक्षति = नृपो रक्षति।

रामः + जयति = रामो जयति ।

शिष्यः + जयति = शिष्यो जयति ।

(१७) यत्वसन्धि (देखो अभ्यास २४)

(भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि) भो:, भगो:, अघो: शब्द और अ या आ के बाद रु (र् या :) को य् होता है, बाद में अश् (स्वर, ह, य, व, र, ल, वर्ग के ३, ४, ५) हो तो। (**सूचना** - १. हलि सर्वेषाम्, २. लोप: शाकल्यस्य। य् के बाद यदि कोई व्यंजन होगा तो य् का लोप अवश्य होगा। य् के बाद यदि कोई स्वर होगा तो य् का लोप ऐच्छिक है। यदि लोप करेंगे तो कोई दीर्घ, गुण, वृद्धि आदि सन्धि-कार्य नहीं होगा। अर्थात् अ: या आ: अश् अ या आ + अश्। जैसे-

देवा: + गच्छन्ति = देवा गच्छन्ति।	राम: + इच्छति = राम इच्छति ।
नरा: + हसन्ति = नरा हसन्ति।	शिष्या: + एते = शिष्या एते।
देवा: + इह देवा = इह, देवायिह।	छात्रा: + लिखन्ति = छात्रा लिखन्ति ।
कन्या: + इच्छन्ति = कन्या इच्छन्ति।	पुत्र: + आगच्छति = पुत्र आगच्छति।

(१८) सुलोपसन्धि (देखो अभ्यास २५)

(एतत्तदो: सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि) स: और एष: के विसर्ग का लोप होता है, बाद में कोई हल् (व्यंजन) हो तो। (सक:, एषक:, अस:, अनेष: के विसर्ग का लोप नहीं होगा)। (**सूचना**- स:, एष: के बाद अ होगा तो सन्धि-नियम १५ से 'ओऽ' होगा। अन्य स्वर बाद में होंगे तो सन्धि-नियम १७ से विसर्ग का लोप होगा।)

(१)	(२)
स: + पठति = स पठति ।	स: + अयम् = सोऽयम्।
स: + लिखति = स लिखति ।	स: + आगत = स आगत:।
एष: + वदति = एष वदति।	स: + इच्छति = स इच्छति।
एष: + गच्छति = एष गच्छति।	एष: + अपि = एषोऽपि।

ध्यै	ध्यात:	भुज्	भुक्त:	लिख	लिखित:	श्रु	श्रुत:
ध्वंस्	ध्वस्त:	भू	भूत:	लिह	लीढ:	श्लिष्	श्लिष्ट:
नम्	नत:	भृ	भृत:	लुभ्	लुब्ध:	सद्	सन्न:
नश्	नष्ट:	भ्रम्	भ्रान्त:	वच् (ब्रू)	उक्त:	सन्	सात
निन्द्	निन्दित:	मद्	मत्त:	वद्	उदित:	सह	सोढ:
नी	नीत:	मन्	मत:	वन्द्	वन्दित:	साध्	साधित:

नृत्	नृत्तः	मन्थ्	मन्थितः	वप्	उप्तः	सिच्	सिक्तः
पच्	पक्वः	मा	मितः	वस्	उषितः	सिध्	सिद्धः
पठ्	पठितः	मिल्	मिलितः	वह्	ऊढः	सिव्	स्यूतः
पत्	पतितः	मुच्	मुक्तः	वा	वातः	सृज्	सृष्टः
पद्	पन्नः	मुद्	मुदितः	वि+कस्	विकसितः	सेव्	सेवितः
पलाय्	पलायितः	मुह्	मुग्धः, मूढः	विद् (२प.)	विदितः	सो (सा)	सितः
पा (१ प.)	पीतः	मूर्च्छ्	मूर्च्छितः	विद् (१०)	वेदितः	स्तु	स्तुतः
पाल्	पालितः	मृज्	मृष्टः	विश्	विष्टः	स्था	स्थितः
पुष्	पुष्टः	यज्	इष्टः	वृत्	वृत्तः	स्ना	स्नातः
पूज्	पूजितः	यत्	यतितः	वृध्	वृद्धः	स्निह	स्निग्धः
पृ	पूर्णः	यम्	यतः	वे	उतः	स्पृश्	स्पृष्टः
प्रच्छ	पृष्टः	या	यातः	व्यथ्	व्यथितः	स्वप्	सुप्तः
प्रथ्	प्रथितः	याच्	याचितः	व्यध्	विद्धः	स्वाद्	स्वादितः
प्र+हि	प्रहितः	युज्	युक्तः	शक्	शक्तः	स्विद्	स्विन्नः
प्रे	प्रेरितः	युध्	युद्धः	शङ्क्	शङ्कितः	हन्	हतः
बन्ध्	बद्धः	रक्ष	रक्षितः	शप्	शप्तः	हस्	हसितः
बुध्	बुद्धः	रच्	रचितः	शम्	शान्तः	हा (३ प.)	हीनः
ब्रू (वच्)	उक्तः	**रञ्ज्**	रक्तः	शास्	शिष्टः	हा (३ आ.)	हानः
भक्ष्	भक्षितः	रम्	रतः	शिक्ष्	शिक्षितः	हिंस्	हिंसितः
भज्	भक्तः	रुच्	रुचितः	शी	शयितः	हु	हुतः
भञ्ज्	भग्नः	रुद्	रुदितः	शुच्	शुचितः	**हृ**	हृतः
भण्	भणितः	रुध्	रुद्धः	शुभ्	शोभितः	**हृष्**	हृष्टः
भाष्	भाषितः	रुह्	रूढः	शुष्	शुष्कः	हस्	ह्सितः
भिद्	भिन्नः	लभ्	लब्धः	शृ	शीर्णः	**ह्री**	ह्रीतः, ह्रीणः
भी	भीतः	लष्	लषितः	श्रि	श्रितः	**ह्वे**	हूतः

(३) शतृ प्रत्यय (देखो अभ्यास ३४)

सूचना- परस्मैपदी धातुओं को लट् के स्थान पर शतृ होता है। शतृ का अत् शेष रहता है। पुंल्लिंग में पठत् के तुल्य, स्त्रीलिंग में ई लगाकर नदी के तुल्य और नपुंसकलिंग में जगत् के तुल्य रूप चलेंगे।

यहाँ पर केवल पुंल्लिंग के रूप दिए हैं। रूप बनाने के नियमों के लिए देखो अभ्यास ३४। **धातुएँ अकारादिक्रम से दी गई हैं।**

अद्	अदन्	चल्	चलन्	पत्	पतन्	व्यध	विध्यन्
अर्च	अर्चन्	चि	चिन्वन्	पा (१ प०)	पिबन्	शक्	शक्नुवन्
अस् (२ प.)	सन्	छिद्	छिन्दन्	पाल्	पालयन्	शप्	शपन्
आप्	आप्नुवन्	जप्	जपन्	पूज्	पूजयन्	शम्	शाम्यन्
आ+रुह	आरोहन्	जि	जयन्	**प्रच्छ्**	पृच्छन्	शुष्	शुष्यन्
आ+ह्वे	आह्वयन्	जीव्	जीवन्	**प्रेर्**	**प्रेरयन्**	श्रि	श्रयन्
इ	यन्	ज्वल्	ज्वलन्	बन्ध्	बध्नन्	श्रु	शृण्वन्
इष्	इच्छन्	तप्	तपन्	भक्ष्	भक्षयन्	सद्	सीदन्
कुप्	कुप्यन्	तुद्	तुदन्	भज्	भजन्	सिच्	सिञ्चन्
कृष्	कर्षन्	तुष्	तुष्यन्	भिद्	भिन्दन्	सिव्	सीव्यन्
कृ	किरन्	तृ	तरन्	भृ	भरन्	सृ	सरन्
क्रन्द्	**क्रन्दन्**	त्यज्	त्यजन्	भू	भवन्	सृज्	सृजन्
क्रम्	**क्राम्यन्**	दण्ड्	दण्डयन्	भ्रम्	भ्रमन्	सृप्	सर्पन्
क्रीड्	**क्रीडन्**	दह्	दहन्		भ्राम्यन्	स्तु	स्तुवन्
क्रुध्	**क्रुध्यन्**	दिव्	दीव्यन्	मिल्	मिलन्	स्था	तिष्ठन्
क्षम्	क्षाम्यन्	दिश्	दिशन्	रक्ष्	रक्षन्	स्पृश्	स्पृशन्
क्षिप्	क्षिपन्	दुह	दुहन्	रच्	रचयन्	स्मृ	स्मरन्
खन्	खनन्	दृश्	पश्यन्	रुद्	रुदन्	स्वप्	स्वपन्
खाद्	खादन्	धाव्	धावन्	लष्	लषन्	हन्	घ्नन्
गण्	गणयन्	धृ	धरन्	लिख्	लिखन्	हस्	हसन्
गम्	गच्छन्	**ध्यै**	**ध्यायन्**	लिह	लिहन्	हा (३प.)	जहत्
गर्ज्	गर्जन्	नम्	नमन्	वद्	वदन्	हिंस्	हिंसन्
गृ	गिरन्	नश्	नश्यन्	वस्	वसन्	हु	जुह्वन्
गै	गायन्	निन्द्	निन्दन्	वह्	वहन्	**हृ**	हरन्
घ्रा	जिघ्रन्	नृत्	नृत्यन्	विश्	विशन्	**हृष्**	**हृष्यन्**
चर्	चरन्	पठ्	पठन्	वृष्	वर्षन्	**ह्वे**	**ह्वयन्**

सन्धि-विचार (ख)

(१९) (एङि पररूपम्) अकारान्त उपसर्ग के बाद धातु का ए या ओ हो तो दोनों के स्थान पर पररूप (अर्थात् ए या ओ जैसा रूप) हो जाता है। अर्थात् (१) अ+ए=ए, (२) अ+ओ=ओ। जैसे– (१) प्र+एजते =**प्रेजते। (२) उप**+ओषति=उपोषति ।

(२०) (ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्) ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त द्विवचन के रूप की प्रगृह्य संज्ञा होती है अर्थात् उनके साथ कोई सन्धि का कार्य नहीं होगा। जैसे–

हरी + एतौ = हरी एतौ।

गङ्गे + अमू = गङ्गे अमू।

विष्णू + इमौ = विष्णू इमौ ।

पचेते + इमौ = पचेते इमौ।

(२१) (यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा) पदान्त यर् (ह को छोड़कर सभी व्यंजन) के बाद अनुनानिक (वर्ग का पञ्चम अक्षर) हो तो यर् को अपने वर्ग का पंचम अक्षर हो जायेगा। यह नियम ऐच्छिक है। जैसे–

वाक् + मयम् = वाङ्मयम् ।

सद् + मतिः = सन्मतिः ।

दिक् + नागः = दिङ्नागः ।

पद् + नगः = पन्नगः ।

तत् + न = तन्न ।

षट् + मुखः = षण्मुखः ।

तत् + मयम् = तन्मयम् ।

अप् + मयम् = अम्मयम् ।

(२२) (तोर्लि) तवर्ग के बाद ल हो तो तवर्ग को भी ल् हो जाता है। अर्थात् (१) त् या द् + ल = ल्ल, (२) न् + ल = ँ ल्ल। जैसे–

उत् + लेखः = उल्लेखः ।

पद् + लवः = पल्लवः ।

तत् + लीनः = तल्लीनः ।

विद्वान् + लिखति = विद्वाँल्लिखति ।

(२३) (शश्छोऽटि) पदान्त झय् (वर्ग के १, २, ३, ४) के बाद श् हो तो उसको छ् हो जाता है, यदि उस श् के बाद अट् (स्वर, ह्, य्, व्, र्) हो तो। यह नियम ऐच्छिक है। श् को छ् होने पर पूर्ववर्ती त् कोश्चुत्वसन्धि (नियम ७) से च् हो जायेगा जैसे–

तत् + शिवः = तच्छिवः ।

सत् + शीलः = **सच्छीलः** ।

तत् + शिला = तच्छिला ।

उत् + श्रायः = उच्छ्रायः ।

(२४) (अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः) अनुस्वार के बाद यय् (य, र, ल, व, वर्ग के १, २, ३, ४, ५) हो तो अनुस्वार को परसवर्ण (आगे के वर्ण का पंचम अक्षर) हो जाता है।

जैसे–

अं + कः = अङ्कः । अं + चितः = अञ्चितः । शां + तः = शान्तः ।

शं + का = शङ्का । कं + ठः = कण्ठः । सं + मानः = सम्मानः ।

(२५) (नश्छव्यप्रशान्) पदान्त न् को रु (:, स्) होता है, यदि छव् (च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्) बाद में हो और छव् के बाद अम् (स्वर, ह, अन्तःस्थ, वर्ग के पंचम अक्षर) हो तो। प्रशान् शब्द में नियम नहीं लगेगा। इस नियम के साथ कुछ अन्य नियम भी लगते हैं, अतः इस नियम का रूप होगा–न् + छव् =ँस् + छव् या स् + छव्। श्चुत्व–नियम यदि प्राप्त होगा तो लगेगा। जैसे–

कस्मिन् + चित् = कस्मिंश्चित् । शार्ङ्गिन् + छिन्धि – शार्ङ्गिंगश्छिन्धि ।

धीमान् + च = धीमांश्च । चक्रिन् + त्रायस्व = चक्रिंस्त्रायस्व।

अस्मिन् + तरौ = अस्मिंस्तरौ। तस्मिन् + तथा = तस्मिंस्तथा।

(२६) (वा शरि) विसर्ग के बाद शर् (श, ष, स) हो तो विसर्ग को विसर्ग और स् दोनों होते हैं। श्चुत्व या ष्टुत्व (नियम ७, ८) यदि प्राप्त होंगे तो लगेंगे। जैसे–

हरिः + शेते = हरिः शेते, हरिश्शेते। रामः + षष्ठः = रामष्षष्ठः ।

रामः + शेते = रामः शेते, रामश्शेते। बालः + स्वपिति = बालस्स्वपिति ।

(२७) (रोरि) र् के बाद र् हो तो पहले र् का लोप हो जाता है।

(२८) (ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः) ढ् या र् का लोप हुआ हो तो उससे पूर्ववर्ती अ, इ, उ का दीर्घ हो जाता है। जैसे–

पुनर् + रमते = पुना रमते।

शम्भुर् + राजते = शम्भू राजते।

हरिर् + रम्यः = हरी रम्यः ।

अन्तर् + राष्ट्रियः = अन्ताराष्ट्रियः

स्मरणीय बिंदु

1) संधि का अर्थ : दो वर्णों के मेल से होने वाले विकार या परिवर्तन को संधि कहते हैं।

2) स्वर संधि (अच् संधि): जब स्वर वर्ण का मेल स्वर वर्ण से होता है, तो उसे स्वर संधि कहा जाता है।

3) महत्व : संस्कृत साहित्य के पदों को समझने के लिए संधि का ज्ञान अनिवार्य है क्योंकि अधि काांश पद संधियों द्वारा जुड़े होते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) स्वर संधि किसे कहते हैं? इसके किन्हीं तीन प्रमुख भेदों (जैसे– गुण, वृद्धि, यण) की सूत्रों और उदाहरणों सहित विस्तृत व्याख्या कीजिए।

2) संधि और संयोग के बीच क्या अंतर है? स्वर संधि की प्रक्रिया में संहिता की अनिवार्यता पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) संधि शब्द की सामान्य परिभाषा क्या है?

2) दीर्घ संधि करने वाला मुख्य सूत्र क्या है और वह किन वर्णों पर लागू होता है?

3) यण् संधि (इको यणचि) में किन वर्णों के स्थान पर क्या आदेश होता है?

4) वृद्धि संधि और गुण संधि के बीच मुख्य अंतर को स्पष्ट कीजिए।

5) अयादि संधि के उदाहरण के रूप में नयनम् या पावकः का विच्छेद कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. दो स्वर वर्णों के मेल से होने वाले परिवर्तन को क्या कहते हैं?

(क) व्यञ्जन सन्धि (ख) विसर्ग सन्धि

(ग) स्वर सन्धि (घ) हल सन्धि

2. इनमें से कौन सा भेद स्वर संधि के अंतर्गत आता है?

(क) श्चुत्व संधि (ख) वृद्धि संधि

(ग) जश्त्व संधि (घ) विसर्ग लोप

3. संधि विच्छेद का मुख्य उद्देश्य क्या होता है?

(क) अक्षरों को मिटाना (ख)जुड़े हुए पदों को अलग कर उनका मूल अर्थ समझना

(ग) शब्द की लंबाई बढ़ाना (घ) व्याकरण को कठिन बनाना

इकाई 4.3

शब्दरूपधातुरूपसंग्रहः

उद्देश्य

1) अध्येताओं को संस्कृत के विभिन्न प्रकार के शब्दों (अजन्त, हलन्त) के सात विभक्तियों और तीन वचनों के रूपों से परिचित कराना।

2) विद्यार्थियों को धातुओं (क्रियाओं) के विभिन्न लकारों (जैसे लट्, लृट्, लङ् आदि) और पुरुषों के रूपों का व्यवस्थित ज्ञान देना।

3) छात्रों को संस्कृत पदों की मूल संरचना और उनके रूपात्मक परिवर्तनों को याद करने और प्रयोग करने में सक्षम बनाना ।

परिणाम

1) विद्यार्थी वाक्य निर्माण के दौरान संज्ञा और सर्वनाम शब्दों के सही शब्दरूपों का चयन करने में निपुण हो जाता है।

2) अध्येता क्रिया के सही काल और पुरुष के अनुसार सटीक धातुरूप का प्रयोग करना सीख जाता है।

3) छात्र संस्कृत के मौलिक पाठों को पढ़ते समय पदों के मूल शब्द और मूल धातु को पहचानने में सक्षम हो जाता है।

(१) राम (राम) अकारान्त पुंलिंग

पुरुष	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम	रामः	रामौ	रामाः
द्वितीया	रामम्	रामौ	रामान्
तृतीया	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
चतुर्थी	रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः

(१) राम (संक्षिप्तरूप) (देखो अभ्यास ५)

पुरुष	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	अः	औ	आः
द्वि०	अम्	औ	आन्
तृ०	एन	आभ्याम्	ऐः
च०	आय	आभ्याम्	एभ्यः

पंचमी	रामात्	रामाभ्याम्	रामेभ्य:	पं०	आत्	आभ्याम्	एभ्य:
षष्ठी	रामस्य	रामयो:	रामाणाम्	ष०	अस्य	अयो:	आनाम्
सप्तमी	रामे	रामयो:	रामेषु	स०	ए	अयो:	एषु
संबोधन	हे राम	हे रामौ	हे रामा:	सं०	अ	औ	आ:

(2) हरि (विष्णु) इकारान्त पुं०

(2) हरि (सं0 रूप) (दे० अ० ८)

प्र०	हरि:	हरी	हरय:	प्र०	इ:	ई	अय:
द्वि०	हरिम्	हरी	हरीन्	द्वि०	इम्	ई	ईन्
तृ०	हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभि:	तृ०	इना	इभ्याम्	इभि:
च०	हरये	हरिभ्याम्	हरिभ्य:	च०	अये	इभ्याम्	इभ्य:
पं०	हरे:	हरिभ्याम्	हरिभ्य:	पं०	ए:	इभ्याम्	इभ्य:
ष०	हरे:	हर्यो:	हरीणाम्	ष०	ए:	यो:	ईनाम्
स०	हरौ	हर्यो:	हरिषु	स०	औ	यो:	इषु
सं०	हे हरे	हे हरी	हे हरय:	सं०	ए	ई	अय:

(३) गुरु (गुरु) उकारान्त पुं०

प्र०	गुरुः	गुरू	गुरवः
द्वि०	गुरुम्	गुरू	गुरून्
तृ०	गुरुणा	गुरुभ्याम्	गुरुभिः
च०	गुरवे	गुरुभ्याम्	गुरुभ्यः
पं०	गुरोः	गुरुभ्याम्	गुरुभ्यः
ष०	गुरोः	गुर्वोः	गुरूणाम्
स०	गुरौ	गुर्वोः	गुरुषु
सं०	हे गुरो	हे गुरू	हे गुरवः

(३) गुरु (सं0 रूप) (दे० अ० ९)

प्र०	उः	ऊ	अवः
द्वि०	उम्	ऊ	ऊन्
तृ०	उना	उभ्याम्	उभिः
च०	अवे	उभ्याम्	उभ्यः
पं०	ओः	उभ्याम्	उभ्यः
ष०	ओः	वोः	ऊनाम्
स०	औ	वोः	उषु
सं०	ओ	ऊ	अवः

(४) कर्तृ (करने वाला) ऋकारान्त पुं०

प्रथम	कर्ता	कर्तारौ	कर्तारः
द्वितीया	कर्तारम्	कर्तारौ	कर्तृन्
तृतीया	कर्त्रा	कर्तृभ्याम्	कर्तृभिः
चतुर्थी	कर्त्रे	कर्तृभ्याम्	कर्तृभ्यः
पंचमी	कर्तुः	कर्तृभ्याम्	कर्तृभ्यः
षष्ठी	कर्तुः	कर्त्रोः	कर्तृणाम्
सप्तमी	कर्तरि	कर्त्रोः	कर्तृषु
संबोधन	हे कर्तः	हे कर्तारौ	हे कर्तारः

(४) कर्तु (सं0 रूप) (दे० अ० १५)

प्र०	आ	आरौ	आरः
द्वि०	आरम्	आरौ	**ऋ**न्
तृ०	रा	ऋभ्याम्	ऋभिः
च०	रे	ऋभ्याम्	ऋभ्यः
पं०	उः	ऋभ्याम्	ऋभ्यः
घ०	उः	रोः	ॠणाम्
स०	अरि	रोः	ऋषु
सं०	अः	आरौ	आरः

(२) पितृ (पिता) ऋकारान्त पुं०

प्र०	पिता	पितरौ	पितरः
द्वि०	पितरम्	पितरौ	पितॄन्
तृ०	पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभिः
च०	पित्रे	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
पं०	पितुः	पितृभ्याम्	पितृभ्यः
ष०	पितुः	पित्रोः	पितॄणाम्
स०	पितरि	पित्रोः	पितृषु
सं०	हे पितः	हे पितरौ	हे पितरः

(५) पितृ (सं0 रूप) (दे० अ० १६)

प्र०	आ	अरौ	अरः
द्वि०	अरम्	अरौ	**ॠन्**
तृ०	शेष कर्तृवत् (दे० शब्द ४)		
च०			
पं०			
ष०			
स०			
सं०			

(६) गो (गाय या बैल) ओकारान्त पुं, स्त्री०					**सूचना** -
प्र०	गौः	गावौ	गावः	**प्र०**	साधारणतया (द्यो शब्द को छोड़कर)
द्वि०	गाम्	गावौ	गाः	द्वि०	अन्य कोई शब्द गो
तृ०	गवा	गोभ्याम्	गोभिः	तृ०	शब्द के तुल्य नहीं चलता।
च०	गवे	गोभ्याम्	गोभ्यः	च०	
पं०	गोः	गोभ्याम्	गोभ्यः	पं०	
ष०	गोः	गवोः	गवाम्	ष०	
स०	गवि	गवोः	गोषु	स०	
सं०	हे गौः	हे गावौ	हे गावः	सं०	

(७) भूभृत् (राजा, पर्वत) तकारान्त पुं०

प्रथम	भूभृत्	भूभृतौ	भूभृतः
द्वितीया	भूभृतम्	भूभृतौ	भूभृतः
तृतीया	भूभृता	भूभृद्भ्याम्	भूभृद्भिः
चतुर्थी	भूभृते	भूभृद्भ्याम्	भूभृद्भ्यः
पंचमी	भूभृतः	भूभृद्भ्याम्	भूभृद्भ्यः
षष्ठी	भूभृतः	भूभृतोः	भूभृताम्
सप्तमी	भूभृति	भूभृतोः	भूभृत्सु
संबोधन	हे भूभृत्	हे भूभृतौ	हे भूभृतः

(७) भूभृत् (सं० रूप)

प्र०	त्	तौ	तः
द्वि०	तम्	तौ	तः
तृ०	ता	द्भ्याम्	द्भिः
च०	ते	द्भ्याम्	द्भ्यः
पं०	तः	द्भ्याम्	द्भ्यः
ष०	तः	तोः	ताम्
स०	ति	तोः	त्सु
सं०	त्	तौ	तः

(८) भगवत् (भगवान्) तकारान्त पुं०

प्र०	भगवान्	भगवन्तौ	भगवन्तः
द्वि०	भगवन्तम्	भगवन्तौ	भगवतः
तृ०	भगवता	भगवद्भ्याम्	भगवद्भिः
च०	भगवते	भगवद्भ्याम्	भगवद्भ्यः
पं०	भगवतः	भगवद्भ्याम्	भगवद्भ्यः
ष०	भगवतः	भगवतोः	भगवताम्
स०	भगवति	भगवतोः	भगवत्सु
सं०	हे भगवन्	हे भगवन्तौ	हे भगवन्तः

(८) भगवत् (सं० रूप) (दे० अ० १७)

प्र०	आन्	अन्तौ	अन्तः
द्वि०	अन्तम्	अन्तौ	अतः
तृ०	ता	द्भ्याम्	द्भिः
च०	ते	द्भ्याम्	द्भ्यः
पं०	तः	द्भ्याम्	द्भ्यः
ष०	तः	तोः	ताम्
स०	ति	तोः	त्सु
सं०	अन्	अन्तौ	अन्तः

(९) गच्छत् (जाता हुआ) तकारान्त पुं०

प्र०	गच्छन्	गच्छन्तौ	गच्छन्तः
द्वि०	गच्छन्तम्	गच्छन्तौ	गच्छतः
तृ०	गच्छता	गच्छद्भ्याम्	गच्छद्भिः
च०	गच्छते	गच्छद्भ्याम्	गच्छद्भ्यः
पं०	गच्छतः	गच्छद्भ्याम्	गच्छद्भ्यः
ष०	गच्छतः	गच्छतोः	गच्छताम्
स०	गच्छति	गच्छतोः	गच्छत्सु
सं०	हे गच्छन्	हे गच्छन्तौ	हे गच्छन्तः

(९) गच्छत् (सं0 रूप) (दे० अ० २०)

प्र०	अन्	अन्तौ	अन्तः

द्वि० शेष भगवत् के तुल्य (देखो शब्द ८)

तृ०

च०

पं०

ष०

स०

सं०

(१०) करिन् (हाथी) इन्नन्त पुं० **(१०) करिन् (सं0 रूप)** (दे० अ० १८)

प्रथम	करी	करिणौ	करिणः	**प्र०**	ई	इनौ	इनः
द्वितीया	करिणम्	करिणौ	करिणः	द्वि०	इनम्	इनौ	इनः
तृतीया	करिणा	करिभ्याम्	करिभिः	तृ०	इना	इभ्याम्	इभिः
चतुर्थी	करिणे	करिभ्याम्	करिभ्यः	च०	इने	इभ्याम्	इभ्यः
पंचमी	करिणः	करिभ्याम्	करिभ्यः	पं०	इनः	इभ्याम्	इभ्यः
षष्ठी	करिणः	करिणोः	करिणाम्	ष०	इनः	इनोः	इनाम्
सप्तमी	करिणि	करिणोः	करिषु	स०	इनि	इनोः	इषु
संबोधन	हे करिन्	हे करिणौ	हे करिणः	सं०	इन्	इनौ	इनः

(११) पथिन् (मार्ग) इन्नन्त पुं०

सूचना – साधारणतया पथिन् शब्द के तुल्य अन्य किसी शब्द के रूप नहीं चलते हैं।

प्र०	पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः
द्वि०	पन्थानम्	पन्थानौ	पथः
तृ०	पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः
च०	पथे	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
पं०	पथः	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
ष०	पथः	पथोः	पथाम्
स०	पथि	पथोः	पथिषु
सं०	हे पन्थाः	हे पन्थानौ	हे पन्थानः

(१२) आत्मन् (आत्मा) अन्नन्त पुं०

प्रथम	आत्मा	आत्मानौ	आत्मान:
द्वितीया	आत्मानम्	आत्मानौ	आत्मन:
तृतीया	आत्मना	आत्मभ्याम्	आत्मभि:
चतुर्थी	आत्मने	आत्मभ्याम्	आत्मभ्य:
पंचमी	आत्मन:	आत्मभ्याम्	आत्मभ्य:
षष्ठी	आत्मन:	आत्मनो:	आत्मनाम्
सप्तमी	आत्मनि	आत्मनो:	आत्मसु
संबोधन	हे आत्मन्	हे आत्मानौ	हे आत्मान:

(१२) आत्मन् (सं० रूप)

प्र०	आ	आनौ	आन:
द्वि०	आनम्	आनौ	अन:
तृ०	अना	अभ्याम्	अभि:
च०	अने	अभ्याम्	अभ्य:
पं०	अन:	अभ्याम्	अभ्य:
ष०	अन:	अनो:	अनाम्
स०	अनि	अनो:	अषु
सं०	अन्	आनौ	आन:

(१३) राजन् (राजा) अन्नन्त पुं०

प्रथम	राजा	राजानौ	राजान:
द्वितीया	राजानम्	राजानौ	राज्ञ:
तृतीया	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभि:
चतुर्थी	राज्ञे	राजभ्याम्	राजभ्य:
पंचमी	राज्ञ:	राजभ्याम्	राजभ्य:
षष्ठी	राज्ञ:	राज्ञो:	राज्ञाम्
सप्तमी	राज्ञि, राजनि	राज्ञो:	राजसु
संबोधन	हे राजन्	हे राजानौ	हे राजान:

(13) राजन् (सं0 रूप) (दे० अ० १९)

प्र०	आ	आनौ	आन:
द्वि०	आनम्	आनौ	न:
तृ०	ना	अभ्याम्	अभि:
च०	ने	अभ्याम्	अभ्य:
पं०	न:	अभ्याम्	अभ्य:
ष०	न:	नो:	नाम्
स०	नि, अनि	नो:	असु
सं०	अन्	आनौ	आन:

(१४) **विद्वस् (विद्वान्)** असन्त पुं०

प्र०	विद्वान्	विद्वांसौ	विद्वांसः
द्वि०	विद्वांसम्	विद्वांसौ	विदुषः
तृ०	विदुषा	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भिः
च०	विदुषे	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
पं०	विदुषः	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
ष०	विदुषः	विदुषोः	विदुषाम्
स०	विदुषि	विदुषोः	विद्वत्सु
सं०	हे विद्वन्	हे विद्वांसौ	हे विद्वांसः

सूचना - साधारणतया अन्य किसी शब्द के रूप विद्वस् के तुल्य नहीं चलते हैं।

(१५) **रमा (लक्ष्मी)** आकारान्त स्त्री०

प्र०	रमा	रमे	रमाः
द्वि०	रमाम्	रमे	रमाः
तृ०	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः
च०	रमायै	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
पं०	रमायाः	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
ष०	रमायाः	रमयोः	रमाणाम्
स०	रमायाम्	रमयोः	रमासु
सं०	हे रमे	हे रमे	हे रमाः

(१५) **रमा (सं0 रूप)** (दे० अ० ७)

प्र०	आ	ए	आः
द्वि०	आम्	ए	आः
तृ०	अया	आभ्याम्	अभिः
च०	आयै	आभ्याम्	आभ्यः
पं०	आयाः	आभ्याम्	आभ्यः
ष०	आयाः	अयोः	आनाम्
स०	आयाम्	अयोः	आसु
सं०	ए	ए	आः

(१६) मति (बुद्धि) इकारान्त स्त्री०

प्रथम	मतिः	मती	मतयः
द्वितीया	मतिम्	मती	मतीः
तृतीया	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः
चतुर्थी	मत्यै, मतये	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
पंचमी	मत्याः, मतेः	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
षष्ठी	मत्याः, मतेः	मत्योः	मतीनाम्
सप्तमी	मत्याम्, मतौ	मत्योः	मतिषु
संबोधन	हे मते	हे मती	हे मतयः

(१६) मति (सं0 रूप) (दे० अ० २१)

प्र०	इः	ई	अयः
द्वि०	इम्	ई	ईः
तृ०	या	इभ्याम्	इभिः
च०	यै, अये	इभ्याम्	इभ्यः
पं०	याः, एः	इभ्याम्	इभ्यः
ष०	याः, एः	योः	ईनाम्
स०	याम्, औ	योः	इषु
सं०	ए	ई	अयः

(१७) नदी (नदी) ईकारान्त स्त्री०

प्र०	नदी	नद्यौ	नद्यः
द्वि०	नदीम्	नद्यौ	नदीः
तृ०	नद्या	नदीभ्याम्	नदीभिः
च०	नद्यै	नदीभ्याम्	नदीभ्यः
पं०	नद्याः	नदीभ्याम्	नदीभ्यः
ष०	नद्याः	नद्योः	नदीनाम्
स०	नद्याम्	नद्योः	नदीषु
सं०	हे नदि	हे नद्यौ	हे नद्यः

(१७) नदी (सं0 रूप) (दे० अ० २२)

प्र०	ई	यौ	यः
द्वि०	ईम्	यौ	ईः
तृ०	या	ईभ्याम्	ईभिः
च०	यै	ईभ्याम्	ईभ्यः
पं०	याः	ईभ्याम्	ईभ्यः
ष०	याः	योः	ईनाम्
स०	याम्	योः	ईषु
सं०	इ	यौ	यः

(१८) स्त्री (स्त्री) ईकारान्त स्त्री०

प्र०	स्त्री	स्त्रियौ	स्त्रियः
द्वि०	स्त्रियम्	स्त्रियौ	स्त्रियः
	स्त्रीम्	स्त्रियौ	स्त्रीः
तृ०	स्त्रिया	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभिः
च०	स्त्रियै	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
पं०	स्त्रियाः	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
ष०	स्त्रियाः	स्त्रियोः	स्त्रीणाम्
स०	स्त्रियाम्	स्त्रियोः	स्त्रीषु
सं०	हे स्त्री	हे स्त्रियौ	हे स्त्रियः

सूचना- स्त्री शब्द के तुल्य अन्य किसी शब्द के रूप नहीं चलते हैं।

(१९) धेनु (गाय) उकारान्त स्त्री०

पुरुष	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथम	धेनुः	धेनू	धेनवः
द्वितीया	धेनुम्	धेनू	धेनूः
तृतीया	धेन्वा	धेनुभ्याम्	धेनुभिः
चतुर्थी	धेन्वै, धेनवे	धेनुभ्याम्	धेनुभ्यः
पंचमी	धेन्वाः, धेनोः	धेनुभ्याम्	धेनुभ्यः
षष्ठी	धेन्वाः, धेनोः	धेन्वोः	धेनूनाम्
सप्तमी	धेन्वाम्, धेनौ	धेन्वोः	धेनेषु
संबोधन	हे धेनो	हे धेनू	हे धेनवः

(१९) धेनु (सं0 रूप) (दे० अ० २३)

पुरुष	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	उः	**ऊ**	अवः
द्वि०	उम्	**ऊ**	**ऊः**
तृ०	वा	उभ्याम्	उभिः
च०	वै, अवे	उभ्याम्	उभ्यः
पं०	वाः, ओः	उभ्याम्	उभ्यः
ष०	वाः, ओः	वोः	**ऊनाम्**
स०	वाम्, औ	वोः	उषु
सं०	ओ	ऊ	अवः

(२०) वधू (बहू) ऊकारान्त स्त्री०

प्रथम	वधूः	वध्वौ	वध्वः
द्वितीया	वधूम्	वध्वौ	वधूः
तृतीया	वध्वा	वधूभ्याम्	वधूभिः
चतुर्थी	वध्वै	वधूभ्याम्	वधूभ्यः
पंचमी	वध्वाः	वधूभ्याम्	वधूभ्यः
षष्ठी	वध्वाः	वध्वोः	वधूनाम्
सप्तमी	वध्वाम्	वध्वोः	वधूषु
संबोधन	हे वधु	हे वध्वौ	हे वध्वः

(२०) वधू (सं० रूप)

प्र०	**ऊः**	वौ	वः
द्वि०	**ऊम्**	वौ	**ऊः**
तृ०	वा	**ऊभ्याम्**	**ऊभिः**
च०	वै	**ऊभ्याम्**	**ऊभ्यः**
पं०	वाः	**ऊभ्याम्**	**ऊभ्यः**
ष०	वाः	वोः	**ऊनाम्**
स०	वाम्	वोः	**ऊषु**
सं०	उ	वौ	वः

(२१) मातृ (माता) ऋकारान्त स्त्री०

प्र०	माता	मातरौ	मातरः
द्वि०	मातरम्	मातरौ	मातृन्
तृ०	मात्रा	मातृभ्याम्	मातृभिः
च०	मात्रे	मातृभ्याम्	मातृभ्यः
पं०	मातुः	मातृभ्याम्	मातृभ्यः
ष०	मातुः	मात्रोः	मातृणाम्
स०	मातरि	मात्रोः	मातृषु
सं०	हे मातः	हे मातरौ	हे मातरः

(२१) मातृ (सं० रूप)

प्र०	आ	अरौ	अरः
द्वि०	अरम्	अरौ	**ऋन्**
तृ०	रा	**ऋभ्याम्**	**ऋभिः**
च०	रे	**ऋभ्याम्**	**ऋभ्यः**
पं०	उः	**ऋभ्याम्**	**ऋभ्यः**
ष०	उः	रोः	**ऋणाम्**
स०	अरि	रोः	**ऋषु**
सं०	अः	अरौ	अरः

(२२) वाच् (वाणी) चकारान्त स्त्री०

प्र०	वाक्-ग्	वाचौ	वाचः
द्वि०	वाचम्	वाचौ	वाचः
तृ०	वाचा	वाग्भ्याम्	वाग्भिः
च०	वाचे	वाग्भ्याम्	वाग्भ्यः
पं०	वाचः	वाग्भ्याम्	वाग्भ्यः
ष०	वाचः	वाचोः	वाचाम्
स०	वाचि	वाचोः	वाक्षु
सं०	हे वाक्-ग्	हे वाचौ	हे वाचः

(२२) वाच् (सं० रूप)

प्र०	क्-ग्	चौ	चः
द्वि०	चम्	चौ	चः
तृ०	चा	ग्भ्याम्	ग्भिः
च०	चे	ग्भ्याम्	ग्भ्यः
पं०	चः	ग्भ्याम्	ग्भ्यः
ष०	चः	चोः	चाम्
स०	चि	चोः	क्षु
सं०	क्-ग्	चौ	चः

(२३) दिश् (दिशा) शकारान्त स्त्री०

प्रथम	दिक्-ग्	दिशौ	दिशः
द्वितीया	दिशम्	दिशौ	दिशः
तृतीया	दिशा	दिग्भ्याम्	दिग्भिः
चतुर्थी	दिशे	दिग्भ्याम्	दिग्भ्यः
पंचमी	दिशः	दिग्भ्याम्	दिग्भ्यः
षष्ठी	दिशः	दिशोः	दिशाम्
सप्तमी	दिशि	दिशोः	दिक्षु
संबोधन	हे दिक्-ग्	हे दिशौ	हे दिशः

(२३) दिश् (सं० रूप)

प्र०	क्-ग्	शौ	शः
द्वि०	शम्	शौ	शः
तृ०	शा	ग्भ्याम्	ग्भिः
च०	शे	ग्भ्याम्	ग्भ्यः
पं०	शः	ग्भ्याम्	ग्भ्यः
ष०	शः	शोः	शाम्
स०	शि	शोः	क्षु
सं०	क्-ग्	शौ	शः

(२४) **क्षुध् (भूख)** धकारान्त स्त्री०

प्र०	क्षुत्	क्षुधौ	क्षुधः	**प्र०**	सूचना–साधारणतया क्षुध् शब्द के तुल्य किसी शब्द के रूप नहीं चलते हैं।
द्वि०	क्षुधम्	क्षुधौ	क्षुधः	द्वि०	
तृ०	क्षुधा	क्षुद्भ्याम्	क्षुद्भिः	तृ०	
च०	क्षुधे	क्षुद्भ्याम्	क्षुद्भ्यः	च०	
पं०	क्षुधः	क्षुद्भ्याम्	क्षुद्भ्यः	पं०	
ष०	क्षुधः	क्षुधोः	क्षुधाम्	ष०	
स०	क्षुधि	क्षुधोः	क्षुत्सु	स०	
सं०	हे क्षुत्	हे क्षुधौ	हे क्षुधः	सं०	

(२५) **उपानह् (जूता)** हकारान्त स्त्री०

प्र०	उपानत्	उपानहौ	उपानहः	**सूचना**–साधारणतया उपानह् शब्द के तुल्य किसी शब्द के रूप नहीं चलते हैं।
द्वि०	उपानहम्	उपानहौ	उपानहः	
तृ०	उपानहा	उपानद्भ्याम्	उपानद्भिः	
च०	उपानहे	उपानद्भ्याम्	उपानद्भ्यः	
पं०	उपानहः	उपानद्भ्याम्	उपानद्भ्यः	
ष०	उपानहः	उपानहोः	उपानहाम्	
स०	उपानहि	उपानहोः	उपानत्सु	
सं०	हे उपानत्	हे उपानहौ	हे उपानहः	

(२६) गृह (घर) अकारान्त नपुं०

प्रथम	गृहम्	गृहे	गृहाणि
द्वितीया	गृहम्	गृहे	गृहाणि
तृतीया	गृहेण	गृहाभ्याम्	गृहैः
चतुर्थी	गृहाय	गृहाभ्याम्	गृहेभ्यः
पंचमी	गृहात्	गृहाभ्याम्	गृहेभ्यः
षष्ठी	गृहस्य	गृहयोः	गृहाणाम्
सप्तमी	गृहे	गृहयोः	गृहेषु
संबोधन	हे गृह	हे गृहे	हे गृहाणि

(२६) गृह (सं0 रूप) (दे० अ० ६)

प्र०	अम्	ए	आनि
द्वि०	अम्	ए	आनि
तृ०	एन	आभ्याम्	ऐः
च०	आय	आभ्याम्	एभ्यः
पं०	आत्	आभ्याम्	एभ्यः
ष०	अस्य	अयोः	आनाम्
स०	ए	अयोः	एषु
सं०	अ	ए	आनि

(२७) वारि (जल) इकारान्त नपुं०

प्र०	वारि	वारिणी	वारीणि
द्वि०	वारि	वारिणी	वारीणि
तृ०	वारिणा	वारिभ्याम्	वारिभिः
च०	वारिणे	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
पं०	वारिणः	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
ष०	वारिणः	वारिणोः	वारीणाम्
स०	वारिणि	वारिणोः	वारिषु
सं०	हे वारि-रे	हे वारिणी	हे वारीणि

(२७) वारि (सं0 रूप) (दे० अ० २४)

प्र०	इ	इनी	ईनि
द्वि०	इ	इनी	ईनि
तृ०	इना	इभ्याम्	इभ्यः
च०	इने	इभ्याम्	इभ्यः
पं०	इनः	इभ्याम्	इभ्यः
ष०	इनः	इनोः	ईनाम्
स०	इनि	इनोः	इषु
सं०	इ, ए	इनी	ईनि

(२८) दधि (दही) इकारन्त नपुं०

प्र०	दधि	दधिनी	दधीनि
द्वि०	दधि	दधिनी	दधीनि
तृ०	दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः
च०	दध्ने	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
पं०	दध्नः	दधिभ्याम्	दभिभ्यः
ष०	दध्नः	दध्नोः	दध्नाम्
स०	दध्नि, दधनि	दध्नोः	दधिषु
सं०	हे दधि-धे	हे दधिनी	हे दधीनि

(२८) दधि (सं० रूप)

प्र०	इ	इनी	ईनि
द्वि०	इ	इनी	ईनि
तृ०	ना	इभ्याम्	इभिः
च०	ने	इभ्याम्	इभ्यः
पं०	नः	इभ्याम्	इभ्यः
ष०	नः	नोः	नाम्
स०	नि, अनि	नोः	इषु
सं०	इ, ए	इनी	ईनि

(२९) मधु (शहद) उकारान्त नपुं०

प्रथम	मधु	मधुनी	मधूनि
द्वितीया	मधु	मधुनी	मधूनि
तृतीया	मधुना	मधुभ्याम्	मधुभिः
चतुर्थी	मधुने	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
पंचमी	मधुनः	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
षष्ठी	मधुनः	मधुनोः	मधूनाम्
सप्तमी	मधुनि	मधुनोः	मधुषु
संबोधन	हे मधु-धो	हे मधुनी	हे मधूनि

(२९) मधु (सं0 रूप) (दे० अ० २५)

प्र०	उ	उनी	**ऊनि**
द्वि०	उ	उनी	**ऊनि**
तृ०	उना	उभ्याम्	उभिः
च०	उने	उभ्याम्	उभ्यः
पं०	उनः	उभ्याम्	उभ्यः
घ०	उनः	उनोः	**ऊनाम्**
स०	उनि	उनोः	उषु
सं०	उ, ओ	उनी	**ऊनि**

(३०) पयस् (दूध, जल) असन्त नपुं०

प्र०	पयः	पयसी	पयांसि
द्वि०	पयः	पयसी	पयांसि
तृ०	पयसा	पयोभ्याम्	पयोभिः
च०	पयसे	पयोभ्याम्	पयोभ्यः
पं०	पयसः	पयोभ्याम्	पयोभ्यः
ष०	पयसः	पयसोः	पयसाम्
स०	पयसि	पयसोः	पयःसु
सं०	हे पयः	हे पयसी	हे पयांसि

(३०) पयस् (सं0 रूप) (दे० अ० ३६)

प्र०	अः	असी	आंसि
द्वि०	अः	असी	आंसि
तृ०	असा	ओभ्याम्	ओभिः
च०	असे	ओभ्याम्	ओभ्यः
पं०	असः	ओभ्याम्	ओभ्यः
ष०	असः	असोः	असाम्
स०	असि	असोः	अःसु
सं०	अः	असी	आंसि

(३१) नामन् (नाम) अन्नन्त नपुं०

प्र०	नाम	नामनी	नामानि
द्वि०	नाम	नामनी	नामानि
तृ०	नाम्ना	नामभ्याम्	नामभिः
च०	नाम्ने	नामभ्याम्	नामभ्यः
पं०	नाम्नः	नामभ्याम्	नामभ्यः
ष०	नाम्नः	नाम्नोः	नाम्नाम्
स०	नाम्नि, नामनि		नाम्नोः
सं०	हे नाम, नामन्	हे नामनी	हे नामानि

(३१) नामन् (सं रूप) (दे० अ० २७)

प्र०	अ	अनी	आनि
द्वि०	अ	अनी	आनि
तृ०	ना	अभ्याम्	अभिः
च०	ने	अभ्याम्	अभ्यः
पं०	नः	अभ्याम्	अभ्यः
ष०	नः	नोः	नाम्
नामसु स०	नि, अनि	नोः	असु
सं०	अ. अन्	अनी	आनि

(३२) **अहन् (दिन)** अन्नन्त नपुं०

प्रथम	अहः	अहनी	अहानि
द्वितीया	अहः	अहनी	अहानि
तृतीया	अह्ना	अहोभ्याम्	अहोभिः
चतुर्थी	अह्ने	अहोभ्याम्	अहोभ्यः
पंचमी	अह्नः	अहोभ्याम्	अहोभ्यः
षष्ठी	अह्नः	अह्नोः	अह्नाम्
सप्तमी	अह्नि, अहनि	अह्नोः	अहः सु
संबोधन	हे अहः	हे अहनी	हे अहानि

सूचना– अहन् शब्द के तुल्य अन्य किसी शब्द के रूप नहीं चलते हैं।

(३३) **जगत् (संसार)** तकारान्त नपुं०

प्र०	जगत	जगती	जगन्ति
द्वि०	जगत्	जगती	जगन्ति
तृ०	जगता	जगद्भ्याम्	जगद्भिः
च०	जगते	जगद्भ्याम्	जगद्भ्यः
पं०	जगतः	जगद्भ्याम्	जगद्भ्यः
ष०	जगतः	जगतोः	जगताम्
स०	जगति	जगतोः	जगत्सु
सं०	हे जगत्	हे जगती	हे जगन्ति

(३३) **जगत्** (सं रूप)

प्र०	अत्	अती	अन्ति
द्वि०	अत्	अती	अन्ति
तृ०	अता	अद्भ्याम्	अद्भिः
च०	अते	अद्भ्याम्	अद्भ्यः
पं०	अतः	अद्भ्याम्	अद्भ्यः
ष०	अतः	अतोः	अताम्
स०	अति	अतोः	अत्सु
सं०	अत्	अती	अन्ति

(३४) (क) सर्व (सब) सर्वनाम पुं०

प्र०	सर्वः	सर्वो	सर्वे
द्वि०	सर्वम्	सर्वो	सर्वान्
तृ०	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः
च०	सर्वस्मै	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
पं०	सर्वस्मात्	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
ष०	सर्वस्य	सर्वयोः	सर्वेषाम्
स०	सर्वस्मिन्	सर्वयोः	सर्वेषु

(३४) (क) सर्व (सं० रूप)

(दे० अ० १०–१२)

प्र०	अः	औ	ए
द्वि०	अम्	औ	आन्
तृ०	एन	आभ्याम्	ऐः
च०	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः
पं०	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
ष०	अस्य	अयोः	एषाम्
स०	अस्मिन्	अयोः	एषु

(३४) (ख) सर्व (सब) नपुं०

प्रथम	सर्वम्	सर्वे	सर्वाणि
द्वितीया	सर्वम्	सर्वे	सर्वाणि
तृतीया	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः
चतुर्थी	सर्वस्मै	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
पंचमी	सर्वस्मात्	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
षष्ठी	सर्वस्य	सर्वयोः	सर्वेषाम्
सप्तमी	सर्वस्मिन्	सर्वयोः	सर्वेषु

(३४) (ख) सर्व (सं० रूप)

प्र०	अम्	ए	आनि
द्वि०	अम्	ए	आनि
तृ०	एन	आभ्याम्	ऐः
च०	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः
पं०	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
ष०	अस्य	अयोः	एषाम्
स०	अस्मिन्	अयोः	एषु

(३४) (ग) सर्व (सब) स्त्रीलिंग

प्र०	सर्वा	सर्वे	सर्वाः
द्वि०	सर्वाम्	सर्वे	सर्वाः
तृ०	सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभिः
च०	सर्वस्यै	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
पं०	सर्वस्याः	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्यः
ष०	सर्वस्याः	सर्वयोः	सर्वासाम्
स०	सर्वस्याम्	सर्वयोः	सर्वासु

(३४) (ग) सर्व (सं० रूप)

प्र०	आ	ए	आः
द्वि०	आम्	ए	आः
तृ०	अया	आभ्याम्	आभिः
च०	अस्यै	आभ्याम्	आभ्यः
पं०	अस्याः	आभ्याम्	आभ्यः
ष०	अस्याः	अयोः	आसाम्
स०	अस्याम्	अयोः	आसु

(35) (क) किम् (कौन) पुंल्लिंग (दे० अ० १०-१२)

(३६) (क) **तद् (वह)** पुंल्लिंग (दे० अ० १०-१२)

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**		**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	कः	कौ	के	**प्र०**	सः	तौ	ते
द्वितीय	कम्	कौ	कान्	द्वि०	तम्	तौ	तान्
तृतीया	केन	काभ्याम्	कैः	तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः
चतुर्थी	कस्मै	काभ्याम्	केभ्यः	च०	तस्मै	ताभ्याम्	तेभ्यः
पंचमी	कस्मात्	काभ्याम्	केभ्यः	पं०	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्यः
षष्ठी	कस्य	कयोः	केषाम	ष०	तस्य	तयोः	तेषाम्
सप्तमी	कस्मिन	कयोः	केषु	स०	तस्मिन्	तयोः	तेषु

(३५) (ख) **किम् (कौन)** नपुं०

(३६) (ख) **तद् (वह)** नपुं०

प्रथमा	किम्	के	कानि	**प्र०**	तत्	ते	तानि
द्वितीया	किम्	के	कानि	द्वि०	तत्	ते	तानि

तृतीया	केन	काभ्याम्	कैः	तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः
चतुर्थी	कस्यै	काभ्याम्	केभ्यः	च०	तस्मै	ताभ्याम्	तेभ्यः
पंचमी	कस्मात्	काभ्याम्	केभ्यः	पं०	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्यः
षष्ठी	कस्य	कयोः	केषाम्	ष०	तस्य	तयोः	तेषाम्
सप्तमी	कस्मिन्	कयोः	केषु	स०	तस्मिन्	तयोः	तेषु

(३५) (ग) **किम् (कौन)** स्त्रीलिंग (३६) (ग) **तद् (वह)** स्त्रीलिंग

प्रथमा	का	के	काः	**प्र०**	सा	ते	ताः
द्वितीया	काम्	के	काः	द्वि०	ताम्	ते	ताः
तृतीया	कया	काभ्याम्	काभिः	तृ०	तया	ताभ्याम्	ताभिः
चतुर्थी	कस्यै	काभ्याम्	काभ्यः	च०	तस्यै	ताभ्याम्	ताभ्यः
पंचमी	कस्याः	काभ्याम्	काभ्यः	पं०	तस्याः	ताभ्याम्	ताभ्यः
षष्ठी	कस्याः	कयोः	कासाम्	ष०	तस्याः	तयोः	तासाम्
सप्तमी	कस्याम्	कयोः	कासु	स०	तस्याम्	तयोः	तासु

(३७) (क) **एतद् (यह)** पुंल्लिंग (दे० अ० १०-१२)

(३८) (क) **यद् (जो)** पुंल्लिंग (दे० अ० १०-१२)

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**		**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	एषः	एतौ	एते	**प्र०**	यः	यौ	ये
द्वितीया	एतम्	एतौ	एतान्	द्वि०	यम्	यौ	यान्
तृतीया	एतेन	एताभ्याम्	एतैः	तृ०	येन	याभ्याम्	यैः
चतुर्थी	एतस्मै	एताभ्याम्	एतेभ्यः	च०	यस्मै	याभ्याम्	येभ्यः
पंचमी	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः	पं०	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्यः
षष्ठी	एतस्य	एतयोः	एतेषाम्	ष०	यस्य	ययोः	येषाम्
सप्तमी	एतस्मिन्	एतयोः	एतेषु	स०	यस्मिन्	ययोः	येषु

(३७) (ख) **एतद् (यह)** नपुं० | (३८) (ख) **यद् (जो)** नपुं०

प्रथमा	एतत्	एते	एतानि	**प्र०**	यत्	ये	यानि
द्वितीया	एतत्	एते	एतानि	द्वि०	यत्	ये	यानि
तृतीया	एतेन	एताभ्याम्	एतैः	तृ०	येन	याभ्याम्	यैः
चतुर्थी	एतस्मै	एताभ्याम्	एतेभ्यः	च०	यस्मै	याभ्याम्	येभ्यः
पंचमी	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः	पं०	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्यः
षष्ठी	एतस्य	एतयोः	एतेषाम्	ष०	यस्य	ययोः	येषाम्
सप्तमी	एतस्मिन्	एतयोः	एतेषु	स०	यस्मिन्	ययोः	येषु

(३७) (ग) **एतद् (यह)** स्त्रीलिंग | (३८) (ग) **यद् (जो)** स्त्रीलिंग

प्रथमा	एषा	एते	एताः	**प्र०**	या	ये	याः
द्वितीया	एताम्	एते	एताः	द्वि०	याम्	ये	याः
तृतीया	एतया	एताभ्याम्	एताभिः	तृ०	यया	याभ्याम्	याभिः
चतुर्थी	एतस्यै	एताभ्याम्	एताभ्यः	च०	यस्यै	याभ्याम्	याभ्यः
पंचमी	एतस्याः	एताभ्याम्	एताभ्यः	पं०	यस्याः	याभ्याम्	याभ्यः
षष्ठी	एतस्याः	एतयोः	एतासाम्	ष०	यस्याः	ययोः	यासाम्
सप्तमी	एतस्याम्	एतयोः	एतासु	स०	यस्याम्	ययोः	यासु

(३९) **युष्मद् (तू)** (देखो अ० १३) | (४०) **अस्मद् (मैं)** (दे० अ० १४)

त्वम्	युवाम्	यूयम्	प्र०	अहम्	आवाम्	वयम्
त्वाम्	युवाम्	युष्मान्	द्वि०	माम्	आवाम्	अस्मान्
त्वा	वाम्	वः		मा	नौ	नः
त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः	तृ०	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
तुभ्यम्	युवाभ्याम्	युष्मभ्यम्	च०	मह्यम्	आवाभ्याम्	अस्मभ्यम्
ते	वाम्	वः		मे	नौ	नः
त्वत्	युवाभ्याम्	युष्मत्	पं०	मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्

	तव	युवयोः	युष्माकम्	ष०	मम	आवयोः	अस्माकम्
	ते	वाम्	वः		मे	नौ	नः
	त्वयि	युवयोः	युष्मासु	स०	मयि	आवयोः	अस्मासु

(४१) (क) इदम् (यह) पुं० — (४१) (ग) **इदम् (यह)** स्त्री०

प्रथमा	अयम्	इमौ	इमे	**प्र०**	इयम्	इमे	इमाः
द्वितीया	इमम्	इमौ	इमान्	द्वि०	इमाम्	इमे	इमाः
तृतीया	अनेन	आभ्याम्	एभिः	तृ०	अनया	आभ्याम्	आभिः
चतुर्थी	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः	च०	अस्यै	आभ्याम्	आभ्यः
पंचमी	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः	पं०	अस्याः	आभ्याम्	आभ्यः
षष्ठी	अस्य	अनयोः	एषाम्	ष०	अस्याः	अनयोः	आसाम्
सप्तमी	अस्मिन्	अनयोः	एषु	स०	अस्याम्	अनयोः	आसु

(४१) (ख) **इदम् (यह)** नपुं० — (४२) **एक (एक)** (दे० अ० २८)

प्रथमा	इदम्	इमे	इमानि		पुंलिंग	नपुंसक	स्त्रीलिंग
द्वितीया	इदम्	इमे	इमानि	**प्र०**	एकः	एकम्	एका
तृतीया	अनेन	आभ्याम्	एभिः	द्वि०	एकम्	एकम्	एकाम्
चतुर्थी	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः	तृ०	एकेन	एकेन	एकया
पंचमी	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः	च०	एकस्मै	एकस्मै	एकस्यै
षष्ठी	अस्य	अनयोः	एषाम्	पं०	एकस्मात्	एकस्मात्	एकस्या
सप्तमी	अस्मिन्	अनयोः	एषु	ष०	एकस्मिन्	एकस्मिन्	एकस्याम्

सूचना–एकवचन में ही रूप चलते हैं।

(४३) **द्वि (दो)** (देखो अ० २८) — (४४) **त्रि (तीन)** (दे० अ० २९)

पुंलिंग	नपुं०, स्त्रीलिंग		पुं०	नपुं०	स्त्री०
द्वौ	द्वे	**प्र०**	त्रयः	त्रीणि	तिस्रः
द्वौ	द्वे	द्वि०	त्रीन्	त्रीणि	तिस्रः

द्वाभ्याम्	द्वाभ्याम्	तृ०	त्रिभिः	त्रिभिः	तिसृभिः
द्वाभ्याम्	द्वाभ्याम्	च०	त्रिभ्यः	त्रिभ्यः	तिसृभ्यः
द्वाभ्याम्	द्वाभ्याम्	पं०	त्रिभ्यः	त्रिभ्यः	तिसृभ्यः
द्वयोः	द्वयोः	ष०	त्रयाणाम्	त्रयाणाम्	तिसृणाम्
द्वयोः	द्वयोः	स०	त्रिषु	त्रिषु	तिसृषु

सूचना- केवल द्विवचन में रूप चलेंगे। सूचना- बहु० में ही रूप चलेंगे।

(४५) **चतुर् (चार)** (देखो अ० २९) (४६) **पञ्चन् (पाँच)**, (७) षष् (छः)

पुं०	नपुं०	स्त्री०			
चत्वारः	चत्वारि	चतस्रः	**प्र०**	पञ्च	षट्
चतुरः	चत्वारि	चतस्रः	द्वि०	पञ्च	षट्
चतुर्भिः	चतुर्भिः	चतसृभिः	तृ०	पञ्चभिः	षडभिः
चतुर्भ्यः	चतसृभ्यः	चतसृभिः	**च०**	पञ्चभ्यः	षड्भ्यः
चतुर्णाम्	चतुर्णाम्	चतसृणाम्	ष०	पञ्चानाम्	षण्णाम्
चतुर्षु	चतुर्षु	चतसृषु	स०	पञ्चसु	षट्सु

(४८) **सप्तन् (सात)**, (४९) **अष्टम् (आठ)**, (५०) **नवन् (नौ)**. (५१) **दशन् (दस)**

सप्त	अष्ट	अष्टौ	**प्र०**	नव	दश
सप्त	अष्ट	अष्टौ	द्वि०	नव	दश
सप्तभिः	अष्टभिः	अष्टाभिः	तृ०	नवभिः	दशभिः
सप्तभ्यः	अष्टभ्यः	अष्टाभ्यः	च०	नवभ्यः	दशभ्यः
सप्तभ्यः	अष्टभ्यः	अष्टाभ्यः	पं०	नवभ्यः	दशभ्यः
सप्तानाम्	अष्टानाम्	अष्टानाम्	ष०	नवानाम्	दशानाम्
सप्तसु	अष्टसु	अष्टासु	स०	नवसु	दशसु

सूचना- त्रि से दशन् तक के रूप बहुवचन में ही चलेंगे। (देखो अ० २९-३०)।

(ख) शब्दरूप-संग्रह

(५२) **सखि (मित्र)** इकारान्त पुं०   (५३) **सरित् (नदी)** तकारान्त स्त्री०

सखा	सखायौ	सखायः	**प्र०**	सरित्	सरितौ	सरितः
सखायम्	सखायौ	सखीन्	द्वि०	सरितम्	सरितौ	सरितः
सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः	तृ०	सरिता	सरिद्भ्याम्	सरिद्भिः
सख्ये	सखिभ्याम्	सखिभ्यः	च०	सरिते	सरिद्भ्याम्	सरिद्भ्यः
सख्युः	सखिभ्याम्	सखिभ्यः	पं०	सरितः	सरिद्भ्याम्	सरिद्भ्यः
सख्युः	सख्योः	सखीनाम्	ष०	सरितः	सरितोः	सरिताम्
सख्यौ	सख्योः	सखिषु	स०	सरिति	सरितोः	सरित्सु
हे सखे !	हे सखायौ !	हे सखायः !	सं०	हे सरित्	हे सरितौ	हे सरितः

(५४) **शर्मन् (सुख)** अन्नन्त नपुं०   (५५) **मनस् (मन)** असन्त नपुं०

शर्म	शर्मणी	शर्माणि	**प्र०**	मनः	मनसी	मनांसि
शर्म	शर्मणी	शर्माणि	द्वि०	मनः	मनसी	मनांसि
शर्मणा	शर्मभ्याम्	शर्मभिः	तृ०	मनसा	मनोभ्याम्	मनोभिः
शर्मणे	शर्मभ्याम्	शर्मभ्यः	च०	मनसे	मनोभ्याम्	मनोभ्यः
शर्मणः	शर्मभ्याम्	शर्मभ्यः	पं०	मनसः	मनोभ्याम्	मनोभ्यः
शर्मणः	शर्मणोः	शर्मणाम्	**ष०**	मनसः	मनसोः	मनसाम्
शर्मणि	शर्मणोः	शर्मसु	स०	मनसि	मनसोः	मनःसु–स्सु
हे शर्म, शर्मन्	हे शर्मणी	हे शर्माणि	सं०	हे मनः	हे मनसी	हे मनांसि

(५६) (क) **पूर्व (प्रथम, पूर्व)** पुंल्लिंग   (५६) (ख) **पूर्व**-स्त्रीलिंग

पूर्वः	पूर्वो	पूर्वे	**प्र०**	पूर्वा	पूर्वे	पूर्वाः
पूर्वम्	पूर्वो	पूर्वान्	द्वि०	पूर्वाम्	पूर्वे	पूर्वाः
पूर्वेण	पूर्वाभ्याम्	पूर्वैः	तृ०	पूर्वया	पूर्वाभ्याम्	पूर्वाभिः
पूर्वस्मै	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः	च०	पूर्वस्यै	पूर्वाभ्याम्	पूर्वाभ्यः

पूर्वस्मात्	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः	पं०	पूर्वस्याः	पूर्वाभ्याम्	पूर्वाभ्यः
पूर्वस्य	पूर्वयोः	पूर्वेषाम्	ष०	पूर्वस्याः	पूर्वयोः	पूर्वासाम्
पूर्वस्मिन्	पूर्वयोः	पूर्वेषु	स०	पूर्वस्याम्	पूर्वयोः	पूर्वासु

(५६) (ग) **पूर्व**-नपुंसकलिंग (५७) **कति (कितने)**, (५८) **उभ (दोनों)**

				पुं०	स्त्री०, नपुं०	
पूर्वम्	पूर्वे	पूर्वाणि	**प्र०**	कति	उभौ	उभे
पूर्वम्	पूर्वे	पूर्वाणि	द्वि०	कति	उभौ	उभे
पूर्वेण	पूर्वाभ्याम्	पूर्वैः	तृ०	कतिभिः	उभाभ्याम्	उभाभ्याम्
पूर्वस्मै	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः	च०	कतिभ्यः	उभाभ्याम्	उभाभ्याम्
पूर्वस्मात्	पूर्वाभ्याम्	पूर्वेभ्यः	पं०	कतिभ्यः	उभाभ्याम्	उभाभ्याम्
पूर्वस्य	पूर्वयोः	पूर्वेषाम्	ष०	कतीनाम्	उभयोः	उभयोः
पूर्वस्मिन्	पूर्वयोः	पूर्वेषु	स०	कतिषु	उभयोः	उभयोः

(३) धातुरूप-संग्रह (क)

भ्वादिगण (परस्मैपदी धातुएँ)

(१) **भू** (होना) लट् (वर्तमान) । (१) **भू** (सं० रूप) (दे० अ०५)

भवति	भवतः	भवन्ति	**प्र० पु०**	अति	अतः	अन्ति
भवसि	भवथः	भवथ	**म० पु०**	असि	अथः	अथ
भवामि	भवावः	भवामः	उ० पु०	आमि	आवः	आमः

लोट् (आज्ञा अर्थ) **लोट्** (सं० रूप) (दे० अ० ६)

भवतु	भवताम्	भवन्तु	**प्र० पु०**	अतु	अताम्	अन्तु
भव	भवतम्	भवत	म० पु०	अ	अतम्	अत
भवानि	भवाव	भवाम	उ० पु०	आनि	आव	आम

लङ् (अनद्यतन भूतकाल) **लङ्** (सं० रूप) (दे० अ० ७)

अभवत्	अभवताम्	अभवन्	**प्र० पु०**	अत्	अताम्	अन्

अभवः	अभवतम्	अभवत	म० पु० अः	अतम्	अत
अभवम्	अभवाव	अभवाम	उ० पु० अम्	आव	आम

सूचना- धातु के पहले अ लगेगा।

विधिलिङ् (आज्ञा या चाहिए अर्थ) **विधिलिङ् (सं० रूप) (दे० अ० ८)**

भवेत्	भवेताम्	भवेयुः	**प्र० पु०**	एत् एताम्	एयुः
भवेः	भवेतम्	भवेत	म० पु० एः	एतम्	एत
भवेयम्	भवेव	भवेम	उ० पु० एयम्	एव	एम

लृट् (भविष्यत्) **लट् (सं० रूप) (दे० अ० ९)**

भविष्यति	भविष्यतः	भविष्यन्ति	**प्र० पु०इष्यति**	इष्यतः	इष्यन्ति
भविष्यसि	भविष्यथः	भविष्यथ	म० पु०इष्यसि	इष्यथः	इष्यथ
भविष्यामि	भविष्यावः	भविष्यामः	उ० पु०इष्यामि	इष्यावः	इष्यामः

सूचना- (१) कुछ धातुओं में इष्यति वाले रूप लगते हैं और कुछ में स्यति, स्यतः, स्यन्ति आदि बिना इ वाले रूप लगते हैं।

(२) भ्वादिगण (१) की परस्मैपदी सभी धातुओं के रूप पाँचों लकारों में भू धातु के तुल्य चलते है। उपर्युक्त संक्षिप्त रूप अन्त में लगेंगें)

(२) **हस् (हँसना)** (दे० अ०५-९) (३) **पठ् (पढ़ना)** (दे० अ० **५-९)**

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें। **सूचना-भू** के तुल्य रूप चलेंगें।

	लट्				**लट्**	
हसति	हसतः	हसन्ति	**प्र०**	पठति	पठतः	पठन्ति
हससि	हसथः	हसथ	म०	पठसि	पठथः	पठथ
हसामि	हसावः	हसामः	उ०	पठामि	पठावः	पठामः
	लोट्				**लोट्**	
हसतु	हसताम्	हसन्तु	**प्र०**	पठतु	पठताम्	पठन्तु

हस	हसतम्	हसत	म०	पठ	पठतम्	पठत
हसानि	हसाव	हसाम	उ०	पठानि	पठाव	पठाम
	लङ्				**लङ्**	
अहसत्	अहसताम्	अहसन्	**प्र०**	अपठत्	अपठताम्	अपठन्
अहसः	अहसतम्	अहसत	म०	अपठः	अपठतम्	अपठत
अहसम्	अहसाव	अहसाम	उ०	अपठम्	अपठाव	अपठाम
	विधिलिङ्				**विधिलिङ्**	
हसेत्	हसेताम्	हसेयुः	**प्र०**	पठेत्	पठेताम्	पठेयुः
हसेः	हसेतम्	हसेत	म०	पठेः	पठेतम्	पठेत
हसेयम्	हसेव	हसेम	उ०	पठेयम्	पठेव	पठेम
	लृट्				**लृट्**	
हसिष्यति	हसिष्यतः	हसिष्यन्ति	**प्र०**	पठिष्यति	पठिष्यतः	पठिष्यन्ति
हसिष्यसि	हसिष्यथः	हसिष्यथ	म०	पठिष्यसि	पठिष्यथः	पठिष्यथ
हसिष्यामि	हसिष्यावः	हसिष्यामः	उ०	पठिष्यामि	पठिष्यावः	पठिष्यामः

(४) **रक्ष्** (रक्षा करना) (दे० अ० ५-९) (५) **वद्** (बोलना) (दे० अ० **५-९**)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें। **सूचना**-भू के तुल्य रूप चलेंगे।

	लट्				**लट्**	
रक्षति	रक्षतः	रक्षन्ति	**प्र०**	वदति	वदतः	वदन्ति
रक्षसि	रक्षथः	रक्षथ	म०	वदसि	वदथः	वदथ
रक्षामि	रक्षावः	रक्षामः	उ०	वदामि	वदावः	वदामः
	लोट्				**लोट्**	
रक्षतु	रक्षताम्	रक्षन्तु	**प्र०**	वदतु	वदताम्	वदन्तु
रक्ष	रक्षतम्	रक्षत	म०	वद	वदतम्	वदत

रक्षाणि	रक्षाव	रक्षाम	उ०	वदानि	वदाव	वदाम
	लङ्				**लङ्**	
अरक्षत्	अरक्षताम्	अरक्षन्	**प्र०**	**अवद**त्	अवदताम्	अवदन्
अरक्षः	अरक्षतम्	अरक्षत	म०	अवदः	अवदतम्	अवदत
अरक्षम्	अरक्षाव	अरक्षाम	उ०	अवदम्	अवदाव	अवदाम
	विधिलिङ्				**विधिलिङ्**	
रक्षेत्	रक्षेताम्	रक्षेयुः	**प्र०**	वदेत्	वदेताम्	वदेयुः
रक्षेः	रक्षेतम्	रक्षेत	म०	वदेः	वदेतम्	वदेत
रक्षेयम्	रक्षेव	रक्षेम	उ०	वदेयम्	वदेव	वदेम
	लृट्				**लृट्**	
रक्षिष्यति	रक्षिष्यतः	रक्षिष्यन्ति	**प्र०**	वदिष्यति	वदिष्यतः	वदिष्यन्ति
रक्षिष्यसि	रक्षिष्यथः	रक्षिष्यथ	म०	वदिष्यसि	वदिष्यथः	वदिष्यथ
रक्षिष्यामि	रक्षिष्यावः	रक्षिष्यामः	उ०	वदिष्यामि	वदिष्यावः	वदिष्यामः

(६) **पच्** (पकाना) (दे० अ०५-९) (७) **नम् (प्रणाम करना) (दे० अ०५-९)**

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें। सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें।

	लट्				**लट्**	
पचति	पचतः	पचन्ति	**प्र०**	**नमति**	नमतः	नमन्ति
पचसि	पचथः	पचथ	म०	नमसि	नमथः	नमथ
पचामि	पचावः	पचामः	उ०	नमामि	नमावः	नमामः
	लोट्				**लोट्**	
पचतु	पचताम्	पचन्तु	प्र०	नमतु	नमताम्	नमन्तु
पच	पचतम्	पचत	म०	नम	नमतम्	नमत
पचानि	पचाव	पचाम	उ०	नमानि	नमाव	नमाम
	लङ्				**लङ्**	

अपचत्	अपचताम्	अपचन्	**प्र०**	**अनमत्**	अनमताम्	अनमन्
अपचः	अपचतम्	अपचत	म०	अनमः	अनमतम्	अनमत
अपचम्	अपचाव	अपचाम	उ०	अनमम्	अनमाव	अनमाम

विधिलिङ् **विधिलिङ्**

पचेत्	पचेताम्	पचेयुः	**प्र०**	**नमेत्**	नमेताम्	नमेयुः
पचेः	पचेतम्	पचेत	म०	नमेः	नमेतम्	नमेत
पचेयम्	पचेव	पचेम	उ०	नमेयम्	नमेव	नमेम

लृट् **लृट्**

पक्ष्यति	पक्ष्यतः	पक्ष्यन्ति	**प्र०**	**नंस्यति**	नंस्यतः	नंस्यन्ति
पक्ष्यसि	पक्ष्यथः	पक्ष्यथ	म०	नंस्यसि	नंस्यथः	नंस्यथ
पक्ष्यामि	पक्ष्यावः	पक्ष्यामः	उ०	नंस्यामि	नंस्यावः	नंस्यामः

(८) **गम्** (जाना) (दे० अ० **५-९**) (९) **दृश्** (देखना) (दे० अ० **५-९**)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें। **सूचना**-भू के तुल्य रूप चलेंगें।

गम् को लट्, लोट्, लङ्, दृश् को लट्, लोट्, लङ्,

विधिलिङ् में गच्छ होता है। विधिलिङ् में पश्य् होता है।

लट् **लट्**

गच्छति	गच्छतः	गच्छन्ति	**प्र०**	पश्यति	पश्यतः	पश्यन्ति
गच्छसि	गच्छथः	गच्छथ	म०	पश्यसि	पश्यथः	पश्यथ
गच्छामि	गच्छावः	गच्छामः	उ०	पश्यामि	पश्यावः	पश्यामः

लोट् **लोट्**

गच्छतु	गच्छताम्	गच्छन्तु	**प्र०**	पश्यतु	पश्यताम्	पश्यन्तु
गच्छ	गच्छतम्	गच्छत	म०	पश्य	पश्यतम्	पश्यत
गच्छानि	गच्छाव	गच्छाम	उ०	पश्यानि	पश्याव	पश्याम

लङ् **लङ्**

अगच्छत्	अगच्छताम्	अगच्छन्	**प्र०**	अपश्यत्	अपश्यताम्	अपश्यन्
अगच्छः	अगच्छतम्	अगच्छत	म०	अपश्यः	अपश्यतम्	अपश्यत
अगच्छम्	अगच्छाव	अगच्छाम	उ०	अपश्यम्	अपश्याव	अपश्याम

विधिलिङ्   **विधिलिङ्**

गच्छेत्	गच्छेताम्	गच्छेयुः	**प्र०**	पश्येत्	पश्येताम्	पश्येयुः
गच्छेः	गच्छेतम्	गच्छेत	म०	पश्येः	पश्येतम्	पश्येत
गच्छेयम्	गच्छेव	गच्छेम	उ०	पश्येयम्	पश्येव	पश्येम

लृट्   **लृट्**

गमिष्यति	गमिष्यतः	गमिष्यन्ति	प्र०	**द्रक्ष्यति**	**द्रक्ष्यतः**	**द्रक्ष्यन्ति**
गमिष्यसि	गमिष्यथः	गमिष्यथ	म०	**द्रक्ष्यसि**	**द्रक्ष्यथः**	**द्रक्ष्यथ**
गमिष्यामि	गमिष्यावः	गमिष्यामः	उ०	**द्रक्ष्यामि**	**द्रक्ष्यावः**	**द्रक्ष्यामः**

(१०) **सद्** (बैठना) (दे० अ०५-९)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें।

सद् को लट्, लोट्, लङ्,

विधिलिङ् में सीद् होता है।

(११) **स्था** (देखना) (दे० अ०५-९)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें।

स्था को लट्, लोट्, लङ्,

विधिलिङ् में तिष्ठ होता है।

लट्   **लट्**

सीदति	सीदतः	सीदन्ति	**प्र०**	**तिष्ठति**	तिष्ठतः	तिष्ठन्ति
सीदसि	सीदथः	सीदथ	म०	तिष्ठसि	तिष्ठथः	तिष्ठथ
सीदामि	सीदावः	सीदामः	उ०	तिष्ठामि	तिष्ठावः	तिष्ठामः

लोट्   **लोट्**

सीदतु	सीदताम्	सीदन्तु	**प्र०**	**तिष्ठतु**	तिष्ठताम्	तिष्ठन्तु
सीद	सीदतम्	सीदत	म०	तिष्ठ	तिष्ठतम्	तिष्ठत
सीदानि	सीदाव	सीदाम	उ०	तिष्ठानि	तिष्ठाव	तिष्ठाम

लङ्   **लङ्**

असीदत्	असीदताम्	असीदन्	**प्र०**	**अतिष्ठत्**	अतिष्ठताम्	अतिष्ठन्
असीदः	असीदतम्	असीदत	म०	अतिष्ठः	अतिष्ठतम्	अतिष्ठत
असीदम्	असीदाव	असीदाम	उ०	अतिष्ठम्	अतिष्ठाव	अतिष्ठाम
	विधिलिङ्			**विधिलिङ्**		
सीदेत्	सीदेताम्	सीदेयुः	**प्र०**	**तिष्ठेत्**	तिष्ठेताम्	तिष्ठेयुः
सीदेः	सीदेतम्	सीदेत	म०	तिष्ठेः	तिष्ठेतम्	तिष्ठेत
सीदेयम्	सीदेव	सीदेम	उ०	तिष्ठेयम्	तिष्ठेव	तिष्ठेम
	लृट्			**लृट्**		
सत्स्यति	सत्स्यतः	सत्स्यन्ति	**प्र०**	**स्थास्यति**	स्थास्यतः	स्थास्यन्ति
सत्स्यसि	सत्स्यथः	सत्स्यथ	म०	स्थास्यसि	स्थास्यथः	स्थास्यथ
सत्स्यामि	सत्स्यावः	सत्स्यामः	उ०	स्थास्यामि	स्थास्यावः	स्थास्यामः

(१२) **पा** (पीना) (भू के तुल्य)

सूचना-पा को लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् में पिब् होता है।

(१२) **स्मृ** (स्मरण करना) (दे०अ०५-९)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगें।

	लट्			**लट्**		
पिबति	पिबतः	पिबन्ति	**प्र०**	स्मरति	स्मरतः	स्मरन्ति
पिबसि	पिबथः	पिबथ	म०	स्मरसि	स्मरथः	स्म्मरथ
पिबामि	पिबावः	पिबामः	उ०	स्मरामि	स्मरावः	स्मरामः
	लोट्			**लोट्**		
पिबतु	पिबताम्	पिबन्तु	**प्र०**	स्मरतु	स्मरताम्	स्मरन्तु
पिब	पिबतम्	पिबत	म०	स्मर	स्मरतम्	स्मरत
पिबानि	पिबाव	पिबाम	उ०	स्मराणि	स्मराव	स्मराम
	लङ्			**लङ्**		

अपिबत्	अपिबताम्	अपिबन्	**प्र०**	अस्मरत्	अम्मरताम्	अस्मरन्
अपिबः	अपिबतम्	अपिबत	म०	अस्मरः	अस्मरतम्	अस्मरत
अपिबम्	अपिबाव	अपिबाम	उ०	अस्मरम्	अस्मराव	अस्मराम
	विधिलिङ्			**विधिलिङ्**		
पिबेत्	पिबेताम्	पिबेयुः	**प्र०**	स्मरत्	स्मरेताम्	स्मरेयुः
पिबेः	पिबेतम्	पिबेत	म०	स्मरेः	स्मरेतम्	स्मरेत
पिबेयम्	पिबेव	पिबेम	उ०	स्मरेयम्	स्मरेव	स्मरेम
	लट्			**लट्**		
पास्यति	पास्यतः	पास्यन्ति	प्र०	स्मरिष्यति	स्मरिष्यतः	स्मरिष्यन्ति
पास्यसि	पास्यथः	पास्यथ	म०	स्मरिष्यसि	स्मरिष्यथः	स्मरिष्यथ
पास्यामि	पास्यावः	पास्यामः	उ०	स्मरिष्यामि	स्मरिष्यावः	स्मरिष्यामः

(१४) जि (जीतना) (भू के तुल्य) **लट्**–जयति, जयतः, जयन्ति। जयसि, जयथः, जयथ। जयामि, जयावः, जयामः। **लोट्**–जयतु, जयताम, जयन्तु। जय, जयतम, जयत। जयानि, जयाव, जयाम। **लङ्**–अजयत!, अजयताम्, अजयन्। अजयः, अजयतम्, अजयत। अजयम्, अजयाव, अजयाम। **विधिलिङ्**–जयेत्, जयेताम्, जयेयुः। जये., जयेतम्, जयेत। जयेयम्, जयेव, जयेम। **लृट्**–जेष्यति, जेष्यतः, जेष्यन्ति। जेष्यसि, जेष्यथः, जेष्यथ। जेष्यामि, जेष्यावः, जेष्यामः।

आत्मनेपदी धातुएँ

(१५) **सेव्** (सेवा करना) लट् (वर्तमान) (१५) **लट्** (सं० रूप) (दे० अ० १८)

सेवते	सेवेते	सेवन्ते	**प्र० पु०**	अते	एते	अन्ते
सेवसे	सेवेथे	सेवध्वे	म० पु०	असे	एथे	अध्वे
सेवे	सेवावहे	सेवामहे	उ० पु०	ए	आवहे	आमहे

लोट् (आज्ञा अर्थ) **लोट्** (सं० रूप) (दे० अ० १९)

सेवताम्	सेवेताम्	सेवन्ताम्	**प्र० पु०**	अताम्	एताम्	अन्ताम्
सेवस्व	सेवेथाम्	सेवध्वम्	म० पु०	अस्व	एथाम्	अध्वम्
सेवै	सेवावहै	सेवामहै	उ० पु०	ऐ	आवहै	आमहै

लङ् (अनद्यतन भूतकाल) **लङ्** (सं० रूप) (दे० अ० २०)

असेवत	असेवेताम्	असेवन्त	**प्र० पु०**	अत	एताम्	अन्त
असेवथाः	असेवेथाम्	असेवध्वम्	म० पु०	अथाः	एथाम्	अध्वम्
असेवे	असेवावहि	असेवामहि	उ० पु०	ए	आवहि	आमहि

सूचना- धातु के पहले 'अ' लगेगा।

विधिलिङ् (आज्ञा या चाहिए अर्थ) विधिलिङ् (सं० रूप) (दे० अ० २१)

सेवेत	सेवेयाताम्	सेवेरन्	**प्र० पु०**	एत	एयाताम्	एरन्
सेवेथा	सेवेयाथाम्	सेवेध्वम्	म० पु०	एथा	एयाथाम्	एध्वम्
सेवेय	सेवेवहि	सेवेमहि	उ० पु०	एय	एवहि	एमहि

लृट् (भविष्यत्) **लृट्** (सं० रूप) (दे० अ० २२)

सेविष्यते	सेविष्येते	सेविष्यन्ते	**प्र० पु०**	इष्यते	इष्येते	इष्यन्ते
सेविष्यसे	सेविष्येथे	सेविष्यध्वे	म० पु०	इष्यसे	इष्येथे	इष्यध्वे
सेविष्ये	सेविष्यावहे	सेविष्यामहे	उ० पु०	इष्ये	इष्यावहे	इष्यामहे

सूचना- (१) कुछ धातुओं में इष्यते वाले रूप लगते हैं और कुछ में स्यते स्येते, स्थन्ते आदि बिना इ वाले रूप लगते हैं।

(२) भ्वादिगण (१) की आत्मनेपदी सभी धातुओं के रूप पाँचों लकारों में सेव् धातु के तुल्य चलते हैं। उपर्युक्त संक्षिप्त रूप अन्त में लगेंगे।

(१६) लभ् (पाना) (दे० अ०१८-२२) (१७) वृध् (बढ़ना) (दे० अ०१८-२२) सूचना-सेव् के तुल्य रूप चलेंगे। सूचना सेव् के तुल्य रूप चलेंगे।

		लट्			**लट्**	
लभते	लभेते	लभन्ते	प्र०	वर्धते	वर्धेते	वर्धन्ते
लभसे	लभेथे	लभध्वे	म०	वर्धसे	वर्धेथे	वर्धध्वे
लभे	लभावहे	लभाभहे	उ०	वर्धे	वर्धावहे	वर्धामहे
	लोट्			**लोट्**		
लभताम्	लभेताम्	लभन्ताम्	प्र०	वर्धताम्	वर्धेताम्	वर्धन्ताम्
लभस्व	लभेथाम्	लभध्वम्	म०	वर्धस्व	वर्धेथाम्	वर्धध्वम्
लभै	लभावहै	लभामहै	उ०	वर्धै	वर्धावहै	वर्धामहै
	लङ्			**लङ्**		
अलभत	अलभेताम्	अलभन्त	प्र०	अवर्धत	अवर्धेताम्	अवर्धन्त
अलभथाः	अलभेथाम्	अलभध्वम्	म०	अवर्धथाः	अवर्धेथाम्	अवर्धध्वम्
अलभे	अलभावहि	अलभामहि	उ०	अवर्धे	अवर्धावहि	अवर्धामहि
	विधिलिङ्			**विधिलिङ्**		
लभेत	लभेयाताम्	लभेरन्	प्र०	वर्धेत	वर्धेयाताम्	वर्धेरन्
लभेथाः	लभेयाथाम्	लभेध्वम्	म०	वर्धेथाः	वर्धेयाथाम्	वर्धेध्वम्
लभेय	लभेवहि	लभेमहि	उ०	वर्धेय	वर्धेवहि	वर्धेमहि
	लट्			**लट्**		
लप्स्यते	लप्स्येते	लप्स्यन्ते	प्र०	वर्धिष्यते	वर्धिष्येते	वर्धिष्यन्ते
लप्स्यसे	लप्स्येथे	लप्स्यध्वे	म०	वर्धिष्यसे	वर्धिष्येथे	वर्धिष्यध्वे
लप्स्ये	लप्स्यावहे	लप्स्यामहे	उ०	वर्धिष्ये	वर्धिष्यावहे	वर्धिष्यामहे

(१८) मुद् (प्रसन्न होना) (दे० अ०१८-२२)

सूचना– सेव् के तुल्य रूप चलेंग।

लट्

मोदते	मोदेते	मोदन्ते	प्र०
मोदसे	मोदेथे	मोदध्व	म०
मोदे	मोदावहे	मोदामहे	उ०

लोट्

मोदताम्	मोदेताम्	मोदन्ताम्	प्र०
मोदस्व	मोदेथाम्	मोदध्वम्	म०
मोदै	मोदावहै	मोदामहै	उ०

लङ्

अमोदत	अमोदेताम्	अमोदन्त	प्र०
अमोदथाः	अमोदेथाम्	अमोदध्वम्	म०
अमोदे	अमोदावहि	अमोदामहि	उ०

विधिलिङ

मादेत	मोदेयाताम्	मोदेरन्	प्र०
मोदेथाः	मोदेयाथाम्	मोदेध्वम्	म०
मादेय	मादेवहि	मोदेमहि	उ०

लृट्

मोदिष्यते	मोदिष्येते	मोदिष्यन्ते	**प्र०**
मोदिष्यसे	मोदिष्येथे	मोदिष्यध्वे	म०
मोदिष्ये	मोदिष्यावहे	मोदिष्यामहे	उ०

(१९) सह् (सहना) (दे० अ० १८-२२)

सूचना– सेव् के तुल्य रूप चलेंगें।

लट्

सहते	सहेते	सहन्ते
सहसे	सहेथे	सहध्वे
सहे	सहावहे	सहामहे

लोट्

सहताम्	सहेताम्	सहन्ताम्
सहस्व	सहेथाम्	सहध्वम्
सहै	सहावहै	सहामहै

लङ्

असहत	असहेताम्	असहन्त
असहथाः	असहेथाम्	असहध्वम्
असहे	असहावहि	असहामहि

विधिलिङ्

सहेत	सहेयाताम्	सहेरन्
सहेथाः	सहेयाथाम्	सहेध्वम्
सहेय	सहेवहि	सहेमहि

लृट्

सहिष्यते	सहिष्येते	सहिष्यन्ते
सहिष्यसे	सहिष्येथे	सहिष्यध्वे
सहिष्ये	सहिष्यावहे	सहिष्यामहे

(२०) **याच्** (माँगना) (सेव के तुल्य)

लट्

(२१) **नी** (ले जाना) उभयपदी धातु

लट्

याचते	याचेते	याचन्ते	प्र०	नयति	नयतः	नयन्ति
याचसे	याचेथे	याचध्वे	म०	नयसि	नयथः	नयथ
याचे	याचावहे	याचामहे	उ०	नयामि	नयावः	नयामः
	लोट्				**लोट्**	
याचाताम्	याचेताम्	याचन्ताम्	**प्र०**	नयतु	नयताम्	नयन्तु
याचस्व	याचेथाम्	याचध्वम्	म०	नय	नयतम्	नयत
याचै	याचावहै	याचामहै	उ०	नयानि	नयाव	नयाम
	लङ्				**लङ्**	
अयाचत	अयाचेताम्	अयाचन्त	**प्र०**	अनयत्	अनयताम्	अनयन्
अयाचथाः	अयाचेथाम्	अयाचध्वम्	म०	अनयः	अनयतम्	अनयत
अयाचे	अयाचावहि	अयाचामहि	उ०	अनयम्	अनयाव	अनयाम
	विधिलिङ्				**विधिलिङ्**	
याचेत	याचेयाताम्	याचेरन्	**प्र०**	नयेत्	नयेताम्	नयेयुः
याचेथाः	याचेयाथाम्	याचेध्वम्	उ०	नयेः	नयेतम्	नयेत
याचेय	याचेवहि	याचेमहि	म०	नयेयम्	नयेव	नयेम
	लृट्				**लृट्**	
याचिष्यते	याचिष्येते	याचिष्यन्ते	**प्र०**	नेष्यति	नेष्यतः	नेष्यन्ति
याचिष्यसे	याचिष्येथे	याचिष्यध्वे	म०	नेष्यसि	नेष्यथः	नेष्यथ
याचिष्ये	याचिष्यावहे	याचिष्यामहे	उ०	नेष्यामि	नेष्यावः	नेष्यामः

(२१) नी (आत्मनेपद) लट् नयते, नयेते, नयन्ते। नयसे, नयेथे, नयध्वे। नये, नयावहे, नयामहे। **लोट्**– नयताम्, नयेताम्, नयन्ताम्। नयस्व, नयेथाम्, नयध्वम्। नयै, नयावहै, नयामहै। **लङ्**– अनयत, अनयेताम्, अनयन्त। अनयथाः, अनयेथाम्, अनयध्वम्। अनये, अनयावहि, अनयामहि। **विधिलिङ्**– नयेत, नयेयाताम्, नयेरन् नयेथाः, नयेयाथाम्, नयेध्वम्। नयेय, नयेवहि, नयेमहि। **लृट्**– नेष्यते, नेष्येते, नेष्यन्ते। नेष्यसे, नेष्येथे, नेष्यध्वे। नेष्ये, नेष्यावहे, नेष्यामहे।

(२२) हृ (ले जाना) उमयपदी धातु (भू और सेव् के तुल्य)

	परस्मैपद -लट्			**आत्मनेपद - लट्**		
हरति	हरतः	हरन्ति	**प्र०**	हरते	हरेते	हरन्ते
हरसि	हरथः	हरथ	म०	हरसे	हरेथे	हरध्वे
हरामि	हरावः	हरामः	उ०	हरे	हरावहे	हरामहे
	लोट्				**लोट्**	
हरतु	हरताम्	हरन्तु	प्र०	हरताम्	हरेताम्	हरन्ताम्
हर	हरतम्	हरत	म०	हरस्व	हरेथाम्	हरध्वम्
हराणि	हराव	हराम	उ०	हरै	हरावहै	हरामहै
	लङ्				**लङ्**	
अहरत्	अहरताम्	अहरन्	प्र०	अहरत	अहरेताम्	अहरन्त
अहरः	अहरतम्	अहरत	म०	अहरथाः	अहरेथाम्	अहरध्वम्
अहरम्	अहराव	अहराम	उ०	अहरे	अहरावहि	अहरामहि
	विधिलिङ्				**विधिलिङ्**	
हरेत्	हरेताम्	हरेयुः	**प्र०**	हरेत	हरेयाताम	हरेरन्
हरेः	हरेतम्	हरेत	म०	हरेथाः	हरेयाथाम्	हरेध्वम्
हरेयम्	हरेव	हरेम	उ०	हरेय	हरेवहि	हरेमहि
	लृट्				**लृट्**	
हरिष्यति	हरिष्यतः	हरिष्यन्ति	**प्र०**	हरिष्यते	हरिष्येते	हरिष्यन्ते
हरिष्यसि	हरिष्यथः	हरिष्यथ	म०	हरिष्यते	हरिष्येथे	हरिष्यध्वे
हरिष्यामि	हरिष्यावः	हरिष्यामः	उ०	हरिष्ये	हरिष्यावहे	हरिष्यामहे

(२३) अस् (होना) (दे० अ०१०-११) (२४) दा (देना) (दे० अ०५-९)

सूचना-अस् को लट् में भू हो जाता है। (परस्मैपद के रूप ये हैं)

अदादिगण-लट्				**जुहोत्यादिगण-लट्**		
अस्ति	स्तः	सन्ति	**प्र०**	ददाति	दत्तः	ददति
असि	स्थः	स्थ	म०	ददासि	दत्थः	दत्थ
अस्मि	स्वः	स्मः	उ०	ददामि	दद्वः	दद्मः
लोट्				**लोट्**		
अस्तु	स्ताम्	सन्तु	**प्र०**	ददातु	दत्ताम्	ददतु
एधि	स्तम्	स्त	म०	देहि	दत्तम्	दत्त
असानि	असाव	असाम	उ०	ददानि	ददाव	ददाम
लङ्				**लङ्**		
आसीत्	आस्ताम्	आसन्	**प्र०**	अददात्	अदत्ताम्	अददुः
आसीः	आस्तम्	आस्त	म०	अददाः	अदत्तम्	अदत्त
आसम्	आस्व	आस्म	उ०	अददाम्	अदद्व	अदद्म
विधिलिङ्				**विधिलिङ्**		
स्यात्	स्याताम्	स्युः	प्र०	दद्यात्	दद्याताम्	दद्युः
स्याः	स्यातम्	स्यात	म०	दद्याः	दद्यातम्	दद्यात
स्याम्	स्याव	स्याम	उ०	दद्याम्	दद्याव	दद्याम
लृट्				**लृट्**		
भविष्यति	भविष्यतः	भविष्यन्ति	**प्र०**	दास्यति	दास्यतः	दास्यन्ति
भविष्यसि	भविष्यथः	भविष्यथ	म०	दास्यसि	दास्यथः	दास्यथ
भविष्यामि	भविष्यावः	भविष्यामः	उ०	दास्यामि	दास्यावः	दास्यामः

(२५) दिव् (चमकना आदि) (दे० अ०८) (२६) नृत् (नाचना) (दे० अ० ८)

सूचना-धातु में य लगाकर भू के तुल्य। सूचना दिव् के तुल्य रूप चलेंगे।

	दिवादिगण-लट्				लट्	
दीव्यति	दीव्यतः	दीव्यन्ति	प्र०	नृत्यति	नृत्यतः	नृत्यन्ति
दीव्यसि	दीव्यथः	दीव्यथ	म०	नृत्यसि	नृत्यथः	नृत्यथ
दीव्यामि	दीव्यावः	दीव्यामः	उ०	नृत्यामि	नृत्यावः	नृत्यामः
	लोट्				**लोट्**	
दीव्यतु	दीव्यताम्	दोव्यन्तु	प्र०	नृत्यतु	नृत्यताम्	नृत्यन्तु
दीव्य	दीव्यतम्	दीव्यत	म०	नृत्य	नृत्यतम्	नृत्यत
दीव्यानि	दीव्याव	दीव्याम	उ०	नृत्यानि	नृत्याव	नृत्याम
	लङ्				**लङ्**	
अदीव्यत्	अदोव्यताम्	अदीव्यन्	प्र०	अनृत्यत्	अनृत्यताम्	अनृत्यन्
अदीव्यः	अदीव्यतम्	अदीव्यत	म०	अनृत्यः	अनृत्यतम्	अनृत्यत
अदीव्यम्	अदीव्याव	अदीव्याम	उ०	अनृत्यम्	अनृत्याव	अनृत्याम
	विधिलिङ्				**विधिलिङ्**	
दीव्येत्	दीव्येताम्	दीव्येयुः	प्र०	नृत्येत्	नृत्येताम्	नृत्येयुः
दीव्येः	दीव्येतम्	दीव्येत	म०	नृत्येः	नृत्येतम्	नृत्येत
दीव्येयम्	दोव्येव	दीव्येम	उ०	नृत्येयम्	नृत्येव	नृत्येम
	लट्				**लट्**	
देविष्यति	देविष्यतः	देविष्यन्ति	प्र०	नर्तिष्यति	नर्तिष्यतः	नर्तिष्यन्ति
देविष्यसि	देबिष्यथः	देविष्यथ	म०	नर्तिष्यसि	नर्तिष्यथः	नर्तिष्यथ
देविष्यामि	देविष्यावः	देविष्यामः	उ०	नर्तिष्यामि	नर्तिष्यावः	नर्तिष्यामः

(२७) नश् (नष्ट होना) (दे० अ० ८)
सूचना–दिव् के तुल्य रूप चलेंगे।

(२८) भ्रम् (घूमना) (दे० अ०८)
सूचना–दिव् के तुल्य रूप चलेंगे।

	लट्				लट्	
नश्यति	नश्यतः	नश्यन्ति	**प्र०**	भ्राम्यति	भ्राम्यतः	भ्राम्यन्ति

नश्यसि	नश्यथः	नश्यथ	म०	भ्राम्यसि	भ्राम्यथः	भ्राम्यथ
नश्यामि	नश्यावः	नश्यामः	म०	भ्राम्यामि	भ्राम्यावः	भ्राम्यामः
	लोट्				**लोट्**	
नश्यतु	नश्यताम्	नश्यन्तु	**प्र०**	भ्राम्यतु	भ्राम्यताम्	भ्राम्यन्तु
नश्य	नश्यतम्	नश्यत	म०	भ्राम्य	भ्राम्यतम्	भ्राम्यत
नश्यानि	नश्याव	नश्याम	उ०	भ्राम्याणि	भ्राम्याव	भ्राम्याम
	लङ्				**लङ्**	
अनश्यत्	अनश्यताम्	अनश्यन्	**प्र०**	अभ्राम्यत्	अभ्राम्यताम्	अभ्राम्यन्
अनश्यः	अनश्यतम्	अनश्यत	म०	अभ्राम्यः	अभ्राम्यतम्	अभ्राम्यत
अनश्यम्	अनश्याव	अनश्याम	उ०	अभ्राम्यम्	अभ्राम्याव	अभ्राम्याम
	विधिलिङ्				**विधिलिङ्**	
नश्येत्	नश्येताम्	नश्येयुः	**प्र०**	भ्राम्येत्	भ्राम्येताम्	भ्राम्येयुः
नश्येः	नश्येतम्	नश्येत	म०	भ्राम्येः	भ्राम्येतम्	भ्राम्येत
नश्येयम्	नश्येव	नश्येम	उ०	भ्राम्येयम्	भ्राम्येव	भ्राम्येम
	लृट्				**लृट्**	
(क)						
नशिष्यति	नशिष्यतः	नशिष्यन्ति	**प्र०**	भ्रमिष्यति	भ्रमिष्यतः	भ्रमिष्यन्ति
नशिष्यसि	नशिष्यथः	नशिष्यथ	म०	भ्रमिष्यसि	भ्रमिष्यथः	भ्रमिष्यथ
नशिष्यामि	नशिष्यावः	नशिष्यामः	उ०	भ्रमिष्यामि	भ्रमिष्यावः	भ्रमिष्यामः
(ख)						
नङ्क्ष्यति	नङ्ख्यतः	नङ्क्ष्यन्ति	प्र०	**सूचना**–भ्रम् के रूप भू धातु के		
नक्ष्यसि	नङ्क्ष्यथः	नङ्क्ष्यथ	म०	तुल्य भी चलते है। जैसे– भ्रमति,		
नङ्क्ष्यामि	नङ्क्ष्यावः	नङ्क्ष्यामः	उ०	भ्रमतु, अभ्रमत्, भ्रमेत्, भ्रमिष्यति)		

(२९) **श्रु** (सुनना) (दे० अ० २६-२७) | (३०) **आप्** (पाना) (दे० अ० २६-२७)

भ्वादिगण-लट् (श्रु को शृ)				**स्वादिगण-लट्**		
शृणोति	शृणुतः	शृण्वन्ति	प्र०	आप्नोति	आप्नुतः	आप्नुवन्ति
शृणोषि	शृणुथः	शृणुथ	म०	आप्नोषि	आप्नुथः	आप्नुथ
शृणोमि	शृणुवः	शृणुमः	उ०	आप्नोमि	आप्नुवः	आप्नुमः
	लोट् (श्रु को श्रृ)				**लोट्**	
शृणोतु	शृणुताम्	शृण्वन्तु	प्र०	आप्नोतु	आप्नुताम्	आप्नुवन्तु
शृणु	शृणुतम्	शृणुत	म०	आप्नुहि	आप्नुतम्	आप्नुत
शृणवानि	शृणवाव	शृणवाम	उ०	आप्नवानि	आप्नवाव	आप्नवाम
	लङ् (श्रु को श्रृ)				**लङ्**	
अशृणोत्	अशृणुताम्	अशृण्वन्	प्र०	आप्नोत्	आप्नुताम्	आप्नुवन्
अशृणोः	अशृणुतम्	अशृणुत	म०	आप्नोः	आप्नुतम्	आप्नुत
अश्रृणवम्	अशृणुव	अशृणुम	उ०	आप्नवम्	आप्नुव	आप्नुम
	विधिलिङ् (श्रु को श्रृ)					**विधिलिङ्**
शृणुयात्	शृणुयाताम	शृणुयुः	प्र०	आप्नुयात्	आप्नुयाताम्	आप्नुयुः
शृणुयाः	शृणुयातम्	शृणुयात	म०	आप्नुयाः	आप्नुयातम्	आप्नुयात
शृणुयाम्	शृणुयाव	शृणुयाम	उ०	आग्नुयाम्	आप्नुयाव	आप्नुयाम
	लृट्				**लृट्**	
श्रोष्यति	श्रोष्यतः	श्रोष्यन्ति	प्र०	आप्स्यति	आप्स्यतः	आप्स्यन्ति
श्रोष्यसि	श्रोष्यथः	श्रोष्यथ	म०	आप्स्यसि	आप्स्यथः	आप्स्यथ
श्रोष्यामि	श्रोष्यावः	श्रोष्यामः	उ०	आप्स्यामि	आप्स्यावः	आप्स्यामः

(३१) शक् (सकना)। सूचना आप् के तुल्य रूप चलेंगें।

लट्- शक्नोति, शक्नुतः, शक्नुवन्ति। शक्नोषि, शक्नुथः, शक्नुथ। शक्नोमि, शक्नुवः, शक्नुमः। **लोट्**- शक्नोतु, शक्नुताम्, शक्नुवन्तु। शक्नुहि, शक्नुतम्, शक्नुत। शक्नवानि, शक्नवाव, शक्नवाम। **लङ्**-

अशक्नोत्, अशक्नुताम्, अशक्नुवन्। अशक्नोः अशक्नुतम्, अशक्नुत। अशक्नवम्, अशक्नुव, अशक्नुम। **विधिलिङ्**- शक्नुयात् शक्नुयाताम्, शक्नुयुः। शक्नुयाः शक्नुयातम्, शक्नुयात। शक्नुयाम्, शक्नुयाव शक्नुयाम। **लृट्**- शक्ष्यति, शक्ष्यतः, शक्ष्यन्ति। शक्ष्यसि, शक्ष्यथः, शक्ष्यथ। शक्ष्यामि शक्ष्यावः, शक्ष्यामः)

(३२) **तुद्** (दुःख देना) (दे० अ० ६)

सूचना- तुद् को लट्, लोट्, लङ् और

विधिलिङ् में गुण नहीं होगा।

भू के तुल्य रूप चलेंगे।

(३३) **इष्** (चाहना) (दे० अ० ६)

सूचना- इष् को लट्, लोट्, लङ् और

विधिलिङ् में इच्छ होता है।

भू के तुल्य रूप चलेंगे।

	तुदादिगण-लट्				**लट्**	
तुदति	तुदतः	तुदन्ति	**प्र०**	इच्छति	इच्छतः	इच्छन्ति
तुदसि	तुदथः	तुदथ	म०	इच्छसि	इच्छथः	इच्छथ
तुदामि	तुदावः	तुदामः	उ०	इच्छामि	इच्छावः	इच्छामः
	लोट्				**लोट्**	
तुदतु	तुदताम्	तुदन्तु	**प्र०**	इच्छतु	इच्छताम्	इच्छन्तु
तुद	तुदतम्	तुदत	म०	इच्छ	इच्छतम्	इच्छत
तुदानि	तुदाव	तुदाम	उ०	इच्छानि	इच्छाव	इच्छाम
	लङ्				**लङ्**	
अतुदत्	अतुदताम्	अतुदन्	**प्र०**	ऐच्छत्	ऐच्छताम्	ऐच्छन्
अतुदः	अतुदतम्	अतुदत	म०	ऐच्छः	ऐच्छतम्	ऐच्छत
अतुदम्	अतुदाव	अतुदाम	उ०	ऐच्छम्	ऐच्छाव	ऐच्छाम
	विधिलिङ्				**विधिलिङ्**	
तुदेत्	तुदेताम्	तुदेयुः	**प्र०**	इच्छेत्	इच्छेताम्	इच्छेयुः
तुदेः	तुदेतम्	तुदेत	म०	इच्छेः	इच्छेतम्	इच्छेत
तुदेयम्	तुदेव	तुदेम	उ०	इच्छेयम्	इच्छेव	इच्छेव
	लट्				**लट्**	

तोत्स्यति	तोत्स्यतः	तोत्स्यन्ति	**प्र०**	एषिष्यति	एषिष्यतः	एषिष्यन्ति
तोत्स्यसि	तोत्स्यथः	तोत्स्यथ	म०	एषिष्यसि	एषिष्यथः	एषिष्यथ
तोत्स्यामि	तोत्स्यावः	तोत्स्यामः	उ०	एषिष्यामि	एषिष्यावः	एषिध्यामः

(३४) प्रच्छ (पूछना) (दे० अ०६) (३५) लिख (लिखना) (दे० अ० ६)

सूचना- लट्, लोट्, लङ् और विधि लिङ् में प्रच्छ को पृच्छ हो जाता है। भू या तुद् के तुल्य रूप चलेंगे।

सूचना-लट्, लोट्, लङ् और विधि-लिङ् में लख को गुण नहीं होगा। भू या तुद् के तुल्य रूप चलेंगे।

	लट्				**लट्**	
पृच्छति	पृच्छतः	पृच्छन्ति	**प्र०**	लिखति	लिखतः	लिखन्ति
पृच्छसि	पृच्छथः	पृच्छथ	म०	लिखसि	लिखथः	लिखथ
पृच्छामि	पृच्छावः	पृच्छामः	उ०	लिखामि	लिखावः	लिखामः
	लोट्				**लोट्**	
पृच्छतु	पृच्छताम्	पृच्छन्तु	**प्र०**	लिखतु	लिखताम्	लिखन्तु
पृच्छ	पृच्छतम्	पृच्छत	म०	लिख	लिखतम्	लिखत
पृच्छानि	पृच्छाव	पृच्छाम	उ०	लिखानि	लिखाव	लिखाम
	लङ्				**लङ्**	
अपृच्छत्	अपृच्छताम्	अपृच्छन्	**प्र०**	अलिखत्	अलिखताम्	अलिखन्
अपृच्छः	अपृच्छतम्	अपृच्छत	म०	अलिखः	अलिखतम्	अलिखत
अपृच्छम्	अपृच्छाव	अपृच्छाम	उ०	अलिखम्	अलिखाव	अलिखाम
	विधिलिङ्				**विधिलिङ्**	
पृच्छेत्	पृच्छेताम्	पृच्छेयुः	**प्र०**	लिखेत्	लिखेताम्	लिखेयुः
पृच्छेः	पृच्छेतम्	पृच्छेत	म०	लिखेः	लिखेतम्	लिखेत
पृच्छेयम	पृच्छेव	पृच्छेम	उ०	लिखेयम्	लिखेव	लिखेम

लृट्

प्रक्ष्यति	**प्रक्ष्यतः**	**प्रक्ष्यन्ति**	**प्र०**
प्रक्ष्यसि	**प्रक्ष्यथः**	**प्रक्ष्यथ**	म०
प्रक्ष्यामि	**प्रक्ष्यावः**	**प्रक्ष्यामः**	उ०

लृट्

लेखिष्यति	लेखिष्यतः	लेखिष्यन्ति
लेखिष्यसि	लेखिष्यथः	लेखिष्यथ
लेखिष्यामि	लेखिष्यावः	लेखिष्यामः

(३६) **कृ** (करना) (दे० अ० १२-१३)

(केवल परस्मैपद के रूप यहाँ दिये हैं।)

तनादिगण-लट्

करोति	कुरुतः	कुर्वन्ति	**प्र०**
करोषि	कुरुथः	कुरुथ	म०
करोमि	कुर्वः	कुर्मः	उ०

लोट्

करोतु	कुरुताम्	कुर्वन्तु	**प्र०**
कुरु	कुरुतम्	कुरुत	म०
करवाणि	करवाव	करवाम	उ०

लङ्

अकरोत्	अकुरुताम्	अकुर्वन्	**प्र०**
अकरोः	अकुरुतम्	अकुरुत	म०
अकरवम्	अकुर्व	अकुर्म	उ०

विधिलिङ्

कुर्यात्	कुर्याताम्	कुर्युः	प्र०
कुर्याः	कुर्यातम्	कुर्यात	म०
कुर्याम्	कुर्याव	कुर्याम	उ०

लृट्

करिष्यति	करिष्यतः	करिष्यन्ति	**प्र०**

(३७) **क्री** (खरीदना) (दे० अ० २८-२९)

(केवल परस्मैपद के रूप यहाँ दिये हैं।)

क्रयादिगण-लट्

क्रीणाति	क्रीणीतः	क्रीणन्ति
क्रीणासि	क्रीणीथः	क्रीणीथ
क्रीणामि	क्रीणीवः	क्रीणीमः

लोट्

क्रीणातु	क्रीणीताम्	क्रीणन्तु
क्रीणीहि	क्रीणीतम्	क्रीणीत
क्रीणानि	**क्रीणाव**	क्रीणाम

लङ्

अक्रीणात्	अक्रीणीताम्	अक्रीणन्
अक्रीणाः	अक्रीणीतम्	अक्रीणीत
अक्रीणाम्	अक्रीणीव	अक्रीणीम

विधिलिङ्

क्रीणीयात्	क्रीणीयाताम्	क्रीणीयुः
क्रीणीयाः	क्रीणीयातम्	क्रीणीयात
क्रीणीयाम्	क्रीणीयाव	क्रीणीयाम

लृट्

क्रेष्यति	**क्रेष्यतः**	**क्रेष्यन्ति**

करिष्यसि	करिष्यथः	करिष्यथ	म०	**क्रेष्यसि**	**क्रेष्यथः**	**क्रेष्यथ**
करिष्यामि	करिष्यावः	करिष्यामः	उ०	**क्रेष्यामि**	**क्रेष्यावः**	**क्रेष्यामः**

(३८) ज्ञा (जानना) (दे० अ० २८-२९)

सूचना - लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् में ज्ञा को 'जा' हो जाता है।

क्री के तुल्य रूप चलेंगे।

लट्

प्र० पु०	जानाति	जानीत :	जानन्ति
म० पु०	जानासि	जानीथः	जानीथ
उ० पु०	जानामि	जानीवः	जानीमः

लोट्

प्र० पु०	जानातु	जानीताम्	जानन्तु
म० पु०	जानीहि	जानीतम्	जानीत
उ० पु०	जानानि	जानाव	जानाम

लङ्

प्र० पु०	अजानात्	अजानीताम्	अजानन्
म० पु०	अजानाः	अजानीतम्	अजानीत
उ० पु०	अजानाम्	अजानीव	अजानीम

विधिलिङ्

प्र० पु०	जानीयात्	जानीयाताम्	जानीयुः

(३९) ग्रह (लेना) (दे० अ० २८-२९)

सूचना- लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् में ग्रह को गृह हो जाता है।

क्री के तुल्य रूप चलेंगे ।

लट्

प्र०	गृह्णाति	गृह्णीतः	गृह्णन्ति
म०	गृह्णासि	गृह्णीथः	गृह्णीथ
उ०	गृह्णामि	गृह्णीवः	गृह्णीमः

लोट्

प्र०	गृह्णातु	गृह्णीताम्	गृह्णन्तु
म०	गृहाण	गृह्णीतम्	गृह्णीत
उ०	गृह्णानि	गृह्णाव	गृह्णाम

लङ्

प्र०	अगृह्णात्	अगृह्णीताम्	अगृह्णन्
म०	अगृह्णाः	अगृह्णीतम्	अगृह्णीत
उ०	अगृह्णाम्	अगृह्णीव	अगृह्णीम

विधिलिङ्

प्र०	गृह्णीयात्	गृह्णीयाताम्	गृह्णीयुः

म० पु०	जानीया:	जानीयातम्	जानीयात	म०	गृह्णीया:	गृह्णीयातम्	गृह्णीयात
उ० पु०	जानीयाम्	जानीयाव	जानीयाम	उ०	गृह्णीयाम्	गृह्णीयाव	गृह्णीयाम

लट् **लट्**

प्र० पु०	ज्ञास्यति	ज्ञास्यत:	ज्ञास्यन्ति	**प्र०**	ग्रहीष्यति	ग्रहीष्यत:	ग्रहीष्यन्ति
म० पु०	ज्ञास्यसि	ज्ञास्यथ:	ज्ञास्यथ	म०	ग्रहीष्यसि	ग्रहीष्यथ:	ग्रहीष्यथ
उ० पु०	ज्ञास्यामि	जास्याव:	ज्ञास्याम:	उ०	ग्रहीष्यामि	ग्रहीष्याव:	ग्रहीष्याम:

(४०) चुर् (चुराना) (दे० अ० ७) **(४१) चिन्त् (सोचना)** (दे० अ०७)

सूचना - चुर् और चिन्त् के अन्त में अय लगाकर भू के तुल्य रूप चलते । केवल परस्मैद के रूप यहाँ दिये हैं।

चुरादिगण-लट् **लट्**

प्र० पु०	चोरयति	चोरयत:	चोरयन्ति	**प्र०**	चिन्तयति	चिन्तयत:	चिन्तयन्ति
म० पु०	चोरयसि	चोरयथ:	चोरयथ	म०	चिन्तयसि	चिन्तयथ:	चिन्तयथ
उ० पु०	चोरयामि	चोरयाव:	चोरयाम:	उ०	चिन्तयामि	चिन्तयाव:	चिन्तयाम:

लोट् **लोट्**

प्र० पु०	चोरयतु	चोरयताम्	चोरयन्तु	**प्र०**	चिन्तयतु	चिन्तयताम्	चिन्तयन्तु
म० पु०	चोरय	चोरयतम्	चोरयत	म०	चिन्तय	चिन्तयतम्	चिन्तयत
उ० पु०	चोरयाणि	चोरयाव	चोरयाम	उ०	चिन्तयानि	चिन्तयाव	चिन्तयाम

लङ् **लङ्**

प्र० पु०	अचोरयत्	अचोरयताम्	अचोरयन्	**प्र०**	अचिन्तयत्	अचिन्तयताम्	अचिन्तयन्
म० पु०	अचोरय:	अचोरयतम्	अचोरयत	म०	अचिन्तय:	अचिन्तयतम्	अचिन्तयत

उ० पु०	अचोरयम्	अचोरयाव	अचोरयाम	उ०	अचिन्तयम्	अचिन्तयाव	चिन्तयाम

	विधिलिङ्				**विधिलिङ्**		
प्र० पु०	चोरयेत्	चोरयेताम्	चोरयेयुः	**प्र०**	चिन्तयेत्	चिन्तयेताम्	चिन्तयेयुः
म० पु०	चोरयेः	चोरयेतम्	चोरयेत	म०	चिन्तयेः	चिन्तयेतम्	चिन्तयेत
उ० पु०	चौरयेयम्	चोरयेव	चोरयेम	उ०	चिन्तयेयम्	चिन्तयेव	चिन्तयेत

	लट्				**लट्**		
प्र० पु०	चोरयिष्यति	चोरयिष्यतः	चोरयिष्यन्ति		चिन्तयिष्यति	चिन्तयिष्यतः	चिन्तयिष्यन्ति
म० पु०	चोरयिष्यसि	चोरयिष्यथः	चोरयिष्यथ		चिन्तयिष्यसि	चिन्तयिष्यथः	चिन्तयिष्यथ
उ० पु०	चोरयिष्यामिः	चोरयिष्यावः	चोरयिष्यामः		चिन्तयिष्यामि	चिन्तयिष्यावः	चिन्तयिष्याम

(४२) कथ (कहना) (दे० अ० ७) **(४३) भक्ष (खाना)** (दे० अ० ७)

सूचना- कथ् और भक्ष के अन्त में 'अय' लगाकर भू या चुर् के तुल्य रूप चलते हैं। केवल परस्मैपद के रूप यहाँ दिये हैं।

	लट्				**लट्**		
प्र० पु०	कथयति	कथयतः	कथयन्ति	**प्र०**	भक्षयति	भक्षयतः	भक्षयन्ति
म० पु०	कथयसि	कथयथः	कथयथ	म०	भक्षयसि	भक्षयथः	भक्षयथ
उ० पु०	कथयामि	कथयावः	कथयामः	उ०	भक्षयामि	भक्षयावः	भक्षयामः

	लोट्				**लोट्**		
प्र० पु०	कथयतु	कथयताम्	कथयन्तु	**प्र०**	भक्षयतु	भक्षयताम्	भक्षयन्तु
म० पु०	कथय	कथयतम्	कथयत	म०	भक्षय	भक्षयतम्	भक्षयत
उ० पु०	कथयानि	कथयाव	कथयाम	उ०	भक्षयाणि	भक्षयाव	भक्षयाम

	लङ्				लङ्	
प्र० पु०	अकथयत्	अकथयताम्	अकथयन्	**प्र०**	अभक्षयत्	अभक्षयताम्	अभक्षयन्
म० पु०	अकथय:	अकथयतम्	अकथयत	म०	अभक्षय:	अभक्षयतम्	अभक्षयत
उ० पु०	अकथयम्	अकथयाव	अकथयाम	उ०	अभक्षयम्	अभक्षयाव	अभक्षयाम

	विधिलिङ्				विधिलिङ्		
प्र० पु०	कथयेत्	कथयेताम्	कथयेयु:	**प्र०**	भक्षयेत्	भक्षयेताम्	भक्षयेयु:
म० पु०	कथये:	कथयेतम्	कथयेत	म०	भक्षये:	भक्षयेतम्	भक्षयेत
उ० पु०	कथयेयम्	कथयेव	कथयेम	उ०	भक्षयेयम्	भक्षयेव	भक्षयम

	लृट्				लृट्		
प्र० पु०	कथयिष्यति	कथयिष्यत:	कथयिष्यन्ति	**प्र०**	भक्षयिष्यति	भक्षयिष्यत:	भक्षयिष्यनि
म० पु०	कथयिष्यसि	कथयिष्यथ:	कथयिष्यथ	म०	भक्षयिष्यसि	भक्षयिष्यथ:	भक्षयिष्या
उ० पु०	कयिष्यामि	कर्धायिष्याव:	कथयिष्याम:	उ०	भक्षयिष्यामि	भक्षयिष्याव:	भक्षयिष्याम

(धातुरूप-संग्रह (ख)

भ्वादिगण | **अदादिगण**

(४४) वस् (रहना) (भू के तुल्य) | **(४५) अद् (खाना)** परस्मैपद

	लट्					**लट्**
वसति	वसत:	वसन्ति	**प्र०**	अत्ति	अत्त:	अदन्ति
वससि	वसथ:	वसथ	म०	अत्सि	अत्थ:	अत्थ
वसामि	वसाव:	वसाम:	उ०	अद्मि	अद्व:	अद्म:
	लोट्					**लोट्**
वसतु	वसताम्	वसन्तु	**प्र०**	अत्तु	अत्ताम्	अदन्तु
वस	वसतम्	वसत	म०	अद्धि	अत्तम्	अत्त
वसानि	वसाव	वसाम	उ०	अदानि	अदानि	अदाम
	लङ्					**लङ्**
अवसत्	अवसताम्	अवसन्	**प्र०**	आदत्	आत्ताम्	आदन्
अवस:	अवसतम्	अवसत	म०	आद:	आत्तम्	आत्त
अवसम्	अवसाव	अवसाम	उ०	आदम्	आद्व	आ**द्म**
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**
वसेत्	वसेताम्	वसेयु:	**प्र०**	अद्यात्	अद्याताम्	अद्यु:
वसे:	वसेतम्	वसेत	म०	अद्या:	अद्यातम्	अद्यात
वसेयम्	वसेव	वसेम	उ०	अद्याम्	अद्याव	अद्याम

	लृट्					लृट्
वत्स्यति	वत्स्यतः	वत्स्यन्ति	**प्र०**	अत्स्यति	अत्स्यतः	अत्स्यन्ति
वत्स्यसि	वत्स्यथः	वत्स्यथ	म०	अत्स्यसि	अत्स्यथः	अत्स्यथ
वत्स्यामि	वत्स्यावः	वत्स्यामः	उ०	अत्स्यामि	अत्स्यावः	अत्स्यामः

(46) ब्रू (कहना)

सूचना- दोनों पदों में लट् में ब्रू को 'वच्' हो जाता है।

	परस्मैपद				**आत्मनेपद**	
	लट्					**लट्**
ब्रवीति	ब्रूत	ब्रुवन्ति	**प्र०**	ब्रुते	ब्रुवाते	ब्रुवते
आह	आहतु	आहुः				
ब्रवीषि	ब्रूथः	ब्रूथ	म०	ब्रूषे	ब्रूवाथे	**ब्रूध्वे**
आत्थ				आहतुः		
ब्रवीमि	ब्रूवः	ब्रूमः	उ०	ब्रुवे	ब्रूवहे	ब्रूमहे
	लोट्					**लोट्**
ब्रवीतु	ब्रूताम्	ब्रूवन्तु	**प्र०**	ब्रूताम्	ब्रूवाताम्	ब्रूवताम्
ब्रूहि	ब्रूतम्	ब्रूत	म०	ब्रूष्व	ब्रूवाथाम्	**ब्रूध्वम्**
ब्रवाणि	ब्रवाव	ब्रवाम	उ०	ब्रवै	ब्रवावहै	ब्रवामहै
	लङ्					**लङ्**
अब्रवीत्	अब्रूताम्	अब्रूवन्	**प्र०**	अब्रूत	अब्रुवाताम्	अब्रुवत

अब्रवीः	अब्रूतम्	अब्रूत	म०	अब्रूथाः	अब्रूवाथाम्	अब्रूध्वम्
अब्रवम्	अब्रूव	अब्रूम	उ०	अब्रुवि	अब्रूवहि	अब्रूमहि

विधिलिङ् **विधिलिङ्**

ब्रूयात्	ब्रूयाताम्	ब्रूयुः	**प्र०**	ब्रुवीत	ब्रूवीयाताम्	ब्रूवीरन्
ब्रूयाः	ब्रूयातम्	ब्रूयात	म०	ब्रुवीथाः	ब्रूवीयाथाम्	ब्रुवीध्वम्
ब्रूयाम्	ब्रूयाव	ब्रूयाम	उ०	ब्रूवीय	बुवीवहि	ब्रुवीमहि

लट् (ब्रू को वच्) **लट् (ब्रू को वच्)**

वक्ष्यति	वक्ष्यतः	वक्ष्यन्ति	**प्र०**	वक्ष्यते	वक्ष्येते	वक्ष्यन्ते
वक्ष्यसि	वक्ष्यथः	वक्ष्यथ	म०	वक्ष्यसे	वक्ष्येथे	वक्ष्यध्ये
वक्ष्यामि	वक्ष्यावः	वक्ष्यामः	उ०	वक्ष्ये	वक्ष्यावहे	वक्ष्यामा

(४७) दुह (दुहना) परस्मैपद **(४८) रुद् (रोना)** परस्मैपद

सूचना- धातु उभयपदी है। यहाँ केवल परस्मैपद के रूप दिये गये हैं।

लट् **लट्**

दोग्धि	दुग्धः	दुहन्ति	**प्र०**	रोदिति	रुदितः	रुदन्ति
धोक्षि	दुग्धः	दुग्ध	म०	रोदिषि	रुदिथः	रुदिथ
दोह्मि	दुह्वः	दुह्मः	उ०	रोदिमि	रुदिवः	रुदिमः

लोट् **लोट्**

दोग्धु	दुग्धाम्	दुहन्तु	**प्र०**	रोदितु	रुदिताम्	रुदन्तु
दुग्धि	दुग्धम्	दुग्ध	म०	रुदिहि	रुदितम्	रुदित

दोहानि	दोहाव	दोहाम	उ०	रोदानि	रोदाव	रोदाम
	लङ्					**लङ्**
अधोक्	अदुग्धाम्	अदुहन्	**प्र०**	अरोदीत्	अरुदिताम्	अरुदन्
					अरोदत्	
अधोक्	अदुग्धम्	अदुग्ध	म०	अरोदीः	अरुदितम्	अरुदित
					अरोदः	
अदोहम्	अदुह्व	अदुह्म	उ०	अरोदम्	अरुदिव	अरुदिम
	विधिलिङ्					**विधिलिङ्**
दुह्यात्	दुह्याताम्	दुह्युः	**प्र०**	रुद्यात्	रुद्याताम्	रुद्युः
दुह्याः	दुह्यातम	दुह्यात	म०	रुद्याः	रुद्यातम्	रुद्यात
दुह्याम्	दुह्याव	दुह्याम	उ०	रुद्याम्	रुद्याव	रुद्याम
	लट्					**लट्**
घोक्ष्यति	धोक्ष्यतः	धोक्ष्यन्ति	**प्र०**	रोदिष्यति	रोदिष्यतः	रोदिष्यन्ति
धोक्ष्यसि	धोक्ष्यथः	धोक्ष्यथ	म०	रोदिष्यसि	रोदिष्यथः	रोदिष्यथ
धोक्ष्यामि	धोक्ष्यावः	धोक्ष्यामः	उ०	रोदिष्यामि	रोदिष्यावः	रोदिष्यामः

(४९) स्वप् (सोना) परस्मैपद

लट्

(५०) **हन् (मारना)** परस्मैपद

लट्

स्वपिति	स्वपितः	स्वपन्ति	**प्र०**	हन्ति	हतः	घ्नन्ति
स्वपिषि	स्वपिथः	स्वपिथ	म०	हन्सि	हथः	हथ
स्वपिमि	स्वपिवः	स्वपिमः	उ०	हन्मि	हन्वः	हन्मः

	लोट्				**लोट्**	
स्वपितु	स्वपिताम्	स्वपन्तु	**प्र०**	हन्तु	हताम्	घ्नन्तु
स्वपिहि	स्वपितम्	स्वपित	म०	जहि	हतम्	हत
स्वपानि	स्वपाव	स्वपाम	उ०	हनानि	हनाव	हनाम

	लङ्				**लङ्**	
अस्वपीत्	अस्वपिताम्	अस्वपन्	**प्र०**	अहन्	अहताम्	अघ्नन्
			अस्वपत्			
अस्वपीः	अस्वपितम्	अस्वपित	म०	अहः	अहतम्	अहत
			अस्वपः			
अस्वपम्	अस्वपिव	अस्वपिम	उ०	अहनम्	अहन्व	अहन्म

	विधिलिङ्				**विधिलिङ्**	
स्वप्यात्	स्वप्याताम्	स्वप्युः	**प्र०**	हन्यात्	हन्याताम्	हन्युः
स्वप्याः	स्वप्यातम्	स्वप्यात	म०	हन्याः	हन्यातम्	हन्यात
स्वप्याम्	स्वप्याव	स्वप्याम	उ०	हन्याम्	हन्याव	हन्याम

	लृट्				**लृट्**	
स्वप्स्यति	स्वप्स्यतः	स्वप्स्यन्ति	**प्र०**	हनिष्यति	हनिष्यतः	हनिष्यन्ति

स्वप्स्यसि	स्वप्स्यथः	स्वप्स्यथ
स्वप्स्यामि	स्वप्स्यावः	स्वप्स्यामः

(५१) इ (जाना) परस्मैपद

लट्

एति	इतः	यन्ति
एषि	इथः	इथ
एमि	इवः	इमः

लोट्

एतु	इताम्	यन्तु
इहि	इतम्	इत
अयानि	अयाव	अयाम

लङ्

ऐत्	ऐताम्	आयन्
ऐः	ऐतम्	ऐत
आयम्	ऐव	ऐम

विधिलिङ्

इयात्	इयाताम्	इयुः
इयाः	इयातम्	इयात
याम्	इयाव	इयाम

म०	हनिष्यसि	हनिष्यथः	हनिष्यथ
उ०	हनिष्यामि	हनिष्यावः	हनिष्यामः

(५२) आस् (बैठना) आत्मनेपद

लट्

प्र०	आस्ते	आसाते	आसते
म०	आस्से	आसाथे	आध्वे
उ०	आसे	आस्वहे	आस्महे

लोट्

प्र०	आस्ताम्	आसाताम्	आसताम्
म०	आस्स्व	आसाथाम्	आध्वम्
उ०	आसै	आसावहै	आसामहै

लङ्

प्र०	आस्त	आसाताम्	आसत
म०	आस्थाः	आसाथाम्	आध्वम्
उ०	आसि	आस्वहि	आस्महि

विधिलिङ्

प्र०	आसीत	आसीयाताम्	आसीरन्
म०	आसीथाः	आसीयाथाम्	आसीध्वम्
उ०	आसीय	आसीवहि	आसीमहि

	लट्	
एष्यति	एष्यतः	एष्यन्ति
एष्यसि	एष्यथः	एष्यथ
एष्यामि	एष्यावः	एष्यामः

		लट्	
प्र०	आसिष्यते	आसिष्येते	आसिष्यन्ते
म०	आसिष्यसे	आसिष्येथे	आसिष्यध्वे
उ०	आसिष्ये	आसिष्यावहे	आसिष्यामहे

(५३) शी (सोना)

अदादिगण। आत्मनेपद

	लट्	
शेते	शयाते	शेरते
शेषे	शयाथे	शेध्वे
शये	शेवहे	शेमहे
	लोट्	
शेताम्	शयाताम्	शेरताम्
शेष्व	शयाथाम्	शेध्वम्
शयै	शयावहै	शयामहे
	लङ्	
अशेत	अशयाताम्	अशेरत
अशेथाः	अशयाथाम्	अशेध्वम्
अशयि	अशेवहि	अशेमहि

(५४) हु (हवन करना)

जुहोत्यादिगण। परस्मैपद

		लट्	
प्र०	जुहोति	जुहुतः	जुह्वति
म०	जुहोषि	जुहुथः	जुहुथ
उ०	जुहोमि	जुहुवः	जुहुमः
		लोट्	
प्र०	जुहोतु	जुहुताम्	जुह्वतु
म०	जुहुधि	जुहुतम्	जुहुत
उ०	जुहवानि	जुहवाव	जुहवाम
		लङ्	
प्र०	अजुहोत्	अजुहुताम्	अजुहवुः
म०	अजुहोः	अजुहुतम्	अजुहुत
उ०	अजुहवम्	अजुहुव	अजुहुम

विधिलिङ्

शयीत	शयीयाताम्	शयीरन्
शयीथाः	शयीयाथाम्	शयीध्वम्
शयीय	शयीवहि	शयीमहि

लट्

शयिष्यते	शयिष्येते	शयिष्यन्ते
शयिष्यसे	शयिष्येये	शयिष्यध्वे
शयिष्ये	शयिष्यावहे	शयिष्यामहे

विधिलिङ्

प्र०	जुहुयात्	जुहुयाताम्	जुहुयुः
म०	जुहुयाः	जुहुयातम्	जुहुयात
उ०	जुहुयाम्	जुहुयाव	जुहुयाम

लट्

प्र०	होष्यति	होष्यतः	होष्यन्ति
म०	होष्यसि	होष्यथः	होष्यथ
उ०	होष्यामि	होष्यावः	होष्यामः

(५५) भी (डरना) परस्मैपद

लट्

बिभेति	बिभीतः	बिभ्यति
बिभेषि	बिभीथः	बिभीथ
बिभेमि	बिभीवः	बिभीमः

लोट्

बिभेतु	बिभीताम्	बिभ्यतु
बिभीहि	बिभीतम्	बिभीत
बिभयानि	बिभयाव	बिभयाम

लङ्

(५६) दा (देना) आत्मनेपद

सूचना- परस्मैपद के रूप, देखो पृष्ठ ९५

लट्

प्र०	दत्ते	ददाते	ददते
म०	दत्से	ददाथे	दद्ध्वे
उ०	ददे	दद्वहे	दद्महे

लोट्

प्र०	दत्ताम्	ददाताम्	ददताम्
म०	दत्स्व	ददाथाम्	दद्ध्वम्
उ०	ददै	ददावहै	ददामहै

लङ्

अबिभेत्	अबिभीताम्	अबिभयुः	**प्र०**	अदत्त	अददाताम्	अददत
अबिभेः	अबिभीतम्	अबिभीत	म०	अदत्थाः	अददाथाम्	अदद्ध्वम्
अबिभयम्	अबिभीव	अबिभीम	उ०	अददि	अदद्वहि	अदद्महि

विधिलिङ् | **विधिलिङ्**

बिभीयात्	बिभीयाताम्	बिभीयुः	**प्र०**	ददीत	ददीयातम्	ददीरन्
बिभीयाः	बिभीयातम्	बिभीयात	म०	ददीथाः	ददीयाताम्	ददीध्वम्
बिभीयाम्	बिभीयाव	बिभीयाम	उ०	ददीय	ददीवहि	ददीमहि

लट् | **लट्**

भेष्यति	भेष्यतः	भेष्यन्ति	**प्र०**	दास्यते	दास्येते	दास्यन्ते
भेष्यसि	भेष्यथः	भेष्यथ	म०	दास्यसे	दास्येथे	दास्यध्वे
भेष्यामि	भेष्यावः	भेष्यामः	उ०	दास्ये	दास्यावहे	दास्यामहे

(५७) धा (धारण करना)

जुहोत्यादिगण। उभयपदी

सूचना - भू के तुल्य रूप चलेंगे। **सूचना** - भू के तुल्य रूप चलेंगे।

लट्-परस्मैपद | **लट्-आत्मनेपद**

एकवचन	**द्विवचन**	**बहुवचन**	**पुरुष**	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
दधाति	धत्तः	दधति	प्र०	धत्ते	दधाते	दधते
दधासि	धत्थः	धत्थ	म०	धत्से	दधाथे	दद्ध्वे
दधामि	दध्वः	दध्मः	उ०	दधे	दध्वहे	दध्महे

लोट् | **लोट्**

दधातु	धत्ताम्	दधतु	प्र०	धत्ताम्	दधाताम्	दधताम्
धेहि	धत्तम्	धत्त	म०	धत्स्व	दधाथाम्	धद्ध्वम्
दधानि	दधाव	दधाम	उ०	दधै	दधावहै	दधामहै

लङ् **लङ्**

अदधात् अधत्ताम् अदधुः प्र० अधत्त अदधाताम् अ द ध त

अदधाः अधत्तम् अधत्त म० अधत्थाः अदधाथाम् अधद्ध्वम् अ द ध ा म ्

अदध्व अदध्म उ० अदधि अदध्वहिअदध्महि

विधिलिङ् **विधिलिङ्**

दध्यात्	दध्याताम्	दध्युः	प्र०.	दधीत	दधीयाताम्	दधीरन्
दध्याः	दध्यातम्	दध्यात	म०	दधीथाः	दधीयाथाम	दधीध्वम्
दध्याम्	दध्याव	दध्याम	उ०	दधीय	दधीवहि	दधीमहि

ऌट् **ऌट्**

धास्यति	धास्यतः	धास्यन्ति	प्र०	धास्यते	धास्येते	धास्यन्ते
धास्यसि	धास्यथः	धास्यथ	म०	धास्यसे	धास्येथे	धास्यध्वे
धास्यामि	धास्यावः	धास्यामः	उ०	धास्ये	धास्यावहे	धास्यामहे

(५८) युध् (लड़ना) आत्मनेपद **(४९) जन् (उत्पन्न होना) आत्मनेपद**

सूचना - लट्, लोट्, लङ्, विधि लिङ् में जन् को जा होता है।

लट् **लट्-(जन् को जा)**

एकवचन	**द्विवचन**	**बहुवचन**	**पुरुष**	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
युध्यते	युध्येत	युध्यन्ते	प्र०	जायते	जायेते	जायन्ते
युध्यसे	युध्येथ	युध्यध्वे	म०	जायसे	जायेथे	जायध्वे

युध्ये	युध्यावहे	युध्यामहे	उ०	जाये	जायावहे	जायामहे
	लोट्				**लोट् (जन् को जा)**	
युध्यताम्	युध्येताम्	युध्यन्ताम्	प्र०	जायताम्	जायेताम्	जायन्ताम्
युध्यस्व	युध्येथाम्	युध्यध्वम्	म०	जायस्व	जायेथाम्	जायध्वम्
युध्यै	युध्यावहै	युध्यामहै	उ०	जायै	जायावहै	जायामहै
	लङ्				**लङ् (जन् को जा)**	
अयुध्यत	अयुध्येताम्	अयुध्यन्त	प्र०	अजायत	अजायेताम्	अजायन्त
अयुध्यथाः	अयुध्येथाम्	अयुध्यध्वम्	म०	अजायथाः	अजायेथाम्	अजायध्वम्
अयुध्ये	अयुध्यावहि	अयुध्यामहि	उ०	अजाये	अजायावहि	अजायामहि
	विधिलिङ्			**विधिलिङ् (जन् को जा)**		
युध्येत	युध्येयाताम्	युध्येरन्	प्र०	जायेत	जायेयाताम्	जायेरन्
युध्येथाः	युध्येयाथाम्	युध्येध्वम्	म०	जायेथाः	जायेयाथाम्	जायेध्वम्
युध्येय	युध्येवहि	युध्येमहि	उ०	जायेय	जायेवहि	जायेमहि
	लृट्				**लृट्**	
योत्स्यते	योत्स्येते	योत्स्यन्ते	प्र०	जनिष्यते	जनिष्येते	जनिष्यन्ते
योत्स्यसे	योत्स्येथे	योत्स्यध्वे	म०	जनिष्यसे	जनिष्येथे	जनिष्यध्वे
योत्स्ये	योत्स्यावहे	योत्स्यामहे	उ०	जनिष्ये	जनिष्यावहे	जनिष्यामहे

(६०) सु (स्नान करना या कराना, रस निकालना)

स्वादिगण। उभयपदी

लट्-परस्मैपद

लट्-आत्मनेपद

एकवचन	**द्विवचन**	**बहुवचन**	**पुरुष**	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
सुनोति	सुनुतः	सुन्वन्ति	प्र०	सुनुते	सुन्वान्ते	सुन्वते
सुनोषि	सुनुथः	सुनुथ	म०	सुनुषे	सुन्वाथे	सुनुध्वे
सुनोमि	सुनुवः	सुनुमः	उ०	सुन्वे	सुनुवहे	सुनुमहे
	सुन्वः	सुन्मः			सुन्वहे	सुन्महे
	लोट्				**लोट्**	
सुनोतु	सुनुताम्	सुन्वन्तु	प्र०	सुनुताम्	सुन्वाताम्	सुन्वताम्
सुनु	सुनुतम्	सुनुत	म०	सुनुष्व	सुन्वाथाम्	सुनुध्वम्
सुनवानि	सुनवाव	सुनवाम	उ०	सुनवै	सुनवावहै	सुनवामहै
	लङ्				**लङ्**	
असुनोत्	असुनुताम्	असुन्वन्	प्र०	असुनुत	असुन्वाताम्	असुन्वत
असुनोः	असुनुतम्	असुनुत	म०	असुनुथाः	असुन्वाथाम्	असुनुध्वम्
असुनवम्	असुनुव	असुनुम	उ०	असुन्वि	असुनुवहि	असुनुमहि
					असुन्वहि	असुन्महि
	विधिलिङ्				**विधिलिङ्**	
सुनुयात्	सुनुयाताम्	सुनुयुः	प्र०	सुन्वीत	सुन्वीयाताम्	सुन्वीरन्
सुनुयाः	सुनुयातम्	सुनुयात	म०	सुन्वीथाः	सुन्वीयाथाम्	सुन्वीध्वम्
सुनुयाम्	सुनुयाव	सुनुयाम	उ०	सुन्वीय	सुन्वीवहि	सुन्वीमहि
	लृट्				**लृट्**	

सोष्यति	सोष्यतः	सोष्यन्ति	प्र०	सोष्यते	सोष्येते	सोष्यन्ते
सोष्यसि	सोष्यथः	सोष्यथ	म०	सोष्यसे	सोष्येथे	सोष्यध्वे
सोष्यामि	सोष्यावः	सोष्यामः	उ०	सोष्ये	सोष्यावहे	सोष्यामहे

(६१) स्पृश् (छूना) परस्मैपद

लट्

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
स्पृशति	स्पृशतः	स्पृशन्ति
स्पृशसि	स्पृशथः	स्पृशथ
स्पृशामि	स्पृशावः	स्पृशामः

लोट्

स्पृशतु	स्पृशताम्	स्पृशन्तु
स्पृश	स्पृशतम्	स्पृशत
स्पृशानि	स्पृशाव	स्पृशाम

लङ्

अस्पृशत्	अस्पृशताम्	अस्पृशन्
अस्पृशः	अस्पृशतम्	अस्पृशत
अस्पृशम्	अस्पृशाव	अस्पृशाम

विधिलिङ्

स्पृशेत्	स्पृशेताम्	स्पृशेयुः
स्पृशेः	स्पृशेताम्	स्पृशेत

(६२) मृ (मरना) आत्मनेपद

सूचना - लृट् में मृ धातु परस्मैपदी होती है।

लट्

पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	म्रियते	म्रियेते	म्रियन्ते
म०	म्रियसे	म्रियेथे	म्रियध्वे
उ०	म्रिये	म्रियावहे	म्रियामहे

लोट्

प्र०	म्रियताम्	म्रियेताम्	म्रियन्ताम्
म०	म्रियस्व	म्रियेथाम्	म्रियध्वम्
उ०	म्रिये	म्रियावहै	म्रियामहै

लङ्

प्र०	अम्रियत	अम्रियेताम्	अम्रियन्त
म०	अम्रियथाः	अम्रियेथाम्	अम्रियध्वम्
उ०	अम्रिये	अम्रियावहि	अम्रियामहि

विधिलिङ्

प्र०	म्रियेत	म्रियेयाताम्	म्रियेरन्
म०	म्रियेथाः	म्रियेयाथाम्	म्रियेध्वम्

	स्पृशेयम्	स्पृशेव	स्पृशेम	उ०	म्रियेय	म्रियेवहि	म्रियेमहि
		लट्				**लट्**	
(क)	स्प्रक्ष्यति	स्प्रक्ष्यतः	स्प्रक्ष्यन्ति	प्र०	मरिष्यति	मरिष्यतः	मरिष्यन्ति
	स्प्रक्ष्यसि	स्प्रक्ष्यथः	स्प्रक्ष्यथ	म०	मरिष्यसि	मरिष्यथः	मरिष्यथ
	स्प्रक्ष्यामि	स्प्रक्ष्यावः	स्प्रक्ष्यामः	उ०	मरिष्यामि	मरिष्यावः	मरिष्यामः
(ख)	स्पर्क्ष्यति	स्पर्क्ष्यतः	स्पर्क्ष्यन्ति	प्र०			
	स्पर्क्ष्यसि	स्पर्क्ष्यथः	स्पर्क्ष्यथ	म०			
	स्पर्क्ष्यामि	स्पर्क्ष्यावः	स्पर्क्ष्यामः	उ०			

(६३) मुच् (छोड़ना)

तुदादिगण। उभयपद

लट्-परस्मैपद

(६४) रुध् (रोकना, ढकना)

रुधादिगण। उभयपद

लट्-परस्मैपद

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
	मुञ्चति	मुञ्चतः	मुञ्चन्ति	प्र०	रुणद्धि	रुन्धः	रुन्धन्ति
	मुञ्चसि	मञ्चथः	मञ्चथ	म०	रुणत्सि	रुन्धः	रुन्ध
	मुञ्चामि	मञ्चावः	मुञ्चामः	उ०	रुणध्मि	रुन्ध्वः	रुन्ध्मः
		लोट्				**लोट्**	
	मुञ्चतु	मुञ्चताम्	मुञ्चन्तु	प्र०	रुणद्धु	रुन्धाम्	रुन्धन्तु
	मञ्च	मञ्चतम्	मञ्चत	म०	रुन्धि	रुन्धम्	रु न्ध
मुञ्चानि	मुञ्चाव	मुञ्चाम	उ०	रुणधानि	रुणधाव	रुणधाम	
		लङ्				**लङ्**	

अमुञ्चत्	अमुञ्चताम्	अमञ्चन्	प्र०	अरुणत्	अरुन्धाम्	अरुन्धन्
अमुञ्च :	अमुञ्चतम्	अमुञ्चत	म०	अरुणः	अरुन्धम्	अरुन्ध
अमञ्चुम्	अमुञ्चाव	अमुञ्चाम	उ०	अरुणधम्	अरुन्ध्व	अरुन्ध्म
	विधिलिङ				**विधिलिङ्**	
मुञ्चेत्	मञ्चेताम्	मञ्चेयुः	प्र०	रुन्ध्यात्	रुन्ध्याताम्	रुन्ध्युः
मुञ्चेः	मुञ्चेतम्	मुञ्चेत	म०	रुन्ध्याः	रुन्ध्यातम्	रुन्ध्यात
मुञ्चेयम्	मुञ्चेव	मुञ्चेम	उ०	रुन्ध्याम्	रुन्ध्याव	रुन्ध्याम
	लृट्				**लृट्**	
मोक्ष्यति	मोक्ष्यतः	मोक्ष्यन्ति	प्र०	रोत्स्यति	रोत्स्यतः	रोत्स्यन्ति
मोक्ष्यसि	मोक्ष्यथः	मोक्ष्यथ	म०	रोत्स्यसि	रोत्स्यथः	रोत्स्यथ
मोक्ष्यामि	मोक्ष्यावः	मोक्ष्यामः	उ०	रोत्स्यामि	रोत्स्यावः	रोत्स्यामः

सूचना- आत्मनेपद में सेव् के तुल्य रूप चलेंगे। लट्-मुञ्चते, लोट्-मुञ्चताम्, लङ् अमुञ्चत, विधि लिङ्-मुञ्चेत, लृट्-मोक्ष्यते।

सूचना- आत्मनेपद में रुध् के रूप भुज् (धातु ६५) के तुल्य चलेंगे। लट्-रुन्धे, लोट्-रुन्धाम्, लङ्-अरुन्ध, विधिलिङ् रुन्धीत, लृट्-रोत्स्यते।

(६५) भुज (१. पालन करना, २. भोजन करना)

सूचना- भुज् धातु पालन करने के अर्थ में परस्मैपदी होती है और भोजन करना, उपभोग करना अर्थ में आत्मनेपदी होती है।

लट्-परस्मैपद				**लट्-आत्मनेपद**		
एकवचन	**द्विवचन**	**बहुवचन**	**पुरुष**	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
भुनक्ति	भुङ्न्क्त	भुञ्चन्ति	प्र०	भुङ्न्क्ते	भुञ्जाते	भुञ्जाते
भुनक्षि	भुङ्क्थः	भुङ्क्थ	म०	भुङ्क्षे	भुञ्जाथे	भुङ्ग्ध्वे

	भुनज्मि	भञ्ज्वः	भुञ्ज्मः	उ०	भुञ्जे	भुञ्ज्वहे	भुञ्ज्महे
		लोट्				**लोट्**	
	भुनक्तु	भुङ्क्ताम्	भुञ्जन्तु	प्र०	भुङ्क्ताम	भुञ्जाताम्	भुञ्जताम्
	भुङ्ग्धि	भुङ्क्तम्	भुङ्क्त	म०	भुङ्क्ष्व	भुञ्जाथाम्	भुङ्ग्ध्वम्
	भुनजानि	भुनजाव	भुनजाम	उ०	भुनजै	भुनजावहै	भुनजामहै
		लङ्				**लङ्**	
	अभुनक्	अभुङ्क्ताम्	अभञ्जन्	प्र०	अभुङ्क्त	अभुञ्जाताम	अभुञ्जत
अभुनक्	अभुङ्क्तम्	अभुङ्क्त	म०	अभुङ्क्थाः		अभुञ्जाथाम्	अभुङ्ग्ध्वम्
	अभुनजम्	अभुञ्ज्व	अभुञ्ज्म	उ०	अभुञ्जि	अभुञ्ज्वहि	अभुञ्ज्महि
		विधिलिङ्				**विधिलिङ्**	
	भुञ्ज्यात्	भुञ्ज्याताम्	भुञ्ज्युः	प्र०	भुञ्जीत	भुञ्जीयाताम्	भुञ्जीरन्
	भुञ्ज्याः	भुञ्ज्यातम्	भुञ्ज्यात	म०	भुञ्जीथाः	भुञ्जीयाथाम्	भुञ्जीयध्वम्
	भुञ्ज्याम्	भुञ्ज्याव्	भुञ्जयाम	उ०	भुञ्जीय	भुञ्जीवहि	भुञ्जीमहि
		ऌट्				**ऌट्**	
	भोक्ष्यति	भोक्ष्यतः	भोक्ष्यन्ति	प्र०	भोक्ष्यते	भोक्ष्येते	भोक्ष्यन्ते
भोक्ष्यसि	भोक्ष्यथः	भोक्ष्यथ	म०	भोक्ष्यसे	भोक्ष्येथे	भोक्ष्यध्वे	
	भोक्ष्यामि	भोक्ष्यावः	भोक्ष्यमः	उ०	भोक्ष्ये	भोक्ष्यावहे	भोक्ष्यामहे

(६६) तन् (फैलाना)

तनादिगण। उभयपदी

लट्-परस्मैपद

लट्-आत्मनेपद

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	पुरुष	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
तनोति	तनुतः	तन्वन्ति	प्र०	तनुते	तन्वाते	तन्वते

	तनोषि	तनुथः	तनुथ	म०	तनुषे	तन्वाथे	तनुध्वे
	तनोमि	तनुवः, तन्वः		तनुमः, तन्मः	उ०		त ~ व `
तनुवहे,	तनुमहे,						
						तन्वहे	तन्महे

लोट् **लोट्**

तनोतु	तनुताम्	तन्वन्तु	प्र०	तनुताम्	तन्वाताम्	तन्वताम्
तनु	तनुतम्	तनुत	म०	तनुष्व	तन्वाथाम्	तनुध्वम्
तनवानि	तनवाव	तनवाम	उ०	तनवै	तनवावहै	तनवामहै

लङ् **लङ्**

अतनोत्	अतनुताम्	अतन्वन्	प्र०	अतनुत	अतन्वाताम्	अतन्वत
अतनोः	अतनुतम्	अतनुत	म०	अतनुथाः	अतन्वाथाम्	अतनुध्वम्
अतनवम्	अतनुव,	अतनुम, अतन्म	उ०	अतन्वि	अतनुवहि, अतन्वहि	अतनुमहि अतन्महि

विधिलिङ् **विधिलिङ्**

	तनुयात्	तनुयाताम्	तनुयुः	प्र०	तन्वीत	तन्वीयाताम्	तन्वीरन्
	तनुयाः	तनुयातम्	तनुयात	म०	तन्वीथाः	तन्वीयाथाम्	तन्वीध्वम् .
तनुयाम्	तनुयाव	तनुयाम	उ०	तन्वीय	तन्वीवहि	तन्वीमहि	

ऌट् **ऌट्**

तनिष्यति	तनिष्यतः	तनिष्यन्ति	प्र०	तनिष्यते	तनिष्येते	तनिष्यन्ते
तनिष्यसि	तनिष्यथः	तनिष्यथ	म०	तनिष्यसे	तनिष्येथे	तनिष्यध्वे
तनिष्यामि	तनिष्यावः	तनिष्यामः	उ०	तनिष्ये	तनिष्यावहे	तनिष्यामहे

स्मरणीय बिंदु

1) शब्दरूप : संस्कृत में संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण शब्दों के रूप सात विभक्तियों और तीन वचनों (एकवचन, द्विवचन, बहुवचन) में चलते हैं।

2) धातुरूप : क्रियाओं (धातुओं) के रूप लकारों के अनुसार चलते हैं, जिनमें प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष होते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) संस्कृत व्याकरण में शब्दरूप और धातुरूप के महत्व पर प्रकाश डालते हुए बताइए कि अजन्त और हलन्त शब्दों के रूपों में क्या भिन्नता होती है?

2) क्रिया पदों के निर्माण में लकारों की भूमिका स्पष्ट कीजिए और किन्हीं दो प्रमुख लकारों के रूपों को उदाहरण सहित समझाइए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) अजन्त और हलन्त शब्दों से आप क्या समझते हैं?

2) संस्कृत में कितने वचन होते हैं और शब्दरूपों में उनका क्या महत्व है?

3) लट् लकार का प्रयोग किस काल के लिए किया जाता है?

4) धातुरूपों में पुरुष (प्रथम, मध्यम, उत्तम) की व्यवस्था को संक्षेप में समझाइए?

5) सर्वनाम शब्दों के शब्दरूप संज्ञा शब्दों से किस प्रकार भिन्न होते हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. संस्कृत में शब्दरूपों को कितनी विभक्तियों में विभाजित किया गया है?

(क) पांच (ख) सात (ग) दस (घ) तीन

3. क्रिया के मूल रूप को व्याकरण में क्या कहा जाता है?

(क) शब्द (ख) धातु (ग) प्रत्यय (घ) अव्यय

4. इनमें से कौन सा लकारों का एक प्रकार है?

(क) लट् (ख) सुप् (ग) तिङ् (घ) अजन्त

5. रामः शब्द का रूप किस श्रेणी में आता है?

(क) धातुरूप (ख) शब्दरूप

(ग) लकार (घ) केवल अव्यय

॥ ओ३म् ॥

योगदर्शनम्

MSSAID-105

दिव्य प्रकाशन

योगदर्शनम्
MSSAID-105

उद्देश्य

- योग के प्रमुख सिद्धान्तों का अवबोध कराना।
- चारों पादों के सूत्रार्थ व भाष्यार्थ को सहजता से हृदयाङ्गम कराना।
- योग के इतिहास एवं परम्पराओं का सम्यक् ज्ञान कराना।
- व्यासभाष्य पर आधारित प्रामाणिक व्याख्यान से अवगत कराना।
- संपूर्ण योगदर्शन ग्रन्थ के वैशिष्ट्य का बोध कराना।

परिणाम

- प्रामाणिक सूत्रार्थ एवं भावार्थ की व्याख्या करने में समर्थ होना।
- योग तथा सांख्य के अंतर्संबंधों को समझने की दार्शनिक दृष्टि पाना।
- योगदर्शन के चारों पादों का संपूर्ण सभाष्य बोध प्राप्त करना।
- चित्त–वृत्ति निरोध द्वारा मानसिक तनाव से मुक्ति और संतुलित जीवन पाना।
- कुशल योग व्याख्याता या थेरेपिस्ट बनकर आत्मनिर्भरता व आर्थिक लाभ कमाना।

विषय सूची

विषय **पृष्ठ सं.**

खण्ड-1

इकाई 1: योग दर्शन का रचनाकाल एवं महर्षि पतंजलि जी का संक्षिप्त परिचय 7
इकाई 2: योग शब्द का अर्थ एवं परिभाषा (व्युत्पत्ति) 11
इकाई 3: योग का स्वरुप 13
इकाई 4: चित्त की वृत्तियाँ 22

खण्ड-2

इकाई 5: चित्त वृत्तिनिरोध का उपाय (अभ्यास-वैराग्य) 35
इकाई 6: समाधि और समाधि के प्रकार 46
इकाई 7: ईश्वर का स्वरुप 50
इकाई 8: चित्त कि प्रसन्नता एवं एकाग्रता के उपाय 61

खण्ड-3

इकाई 9: क्रिया योग एवं क्रिया योग का फल 78
इकाई 10: पञ्च क्लेश तथा अविद्या क्लेशों की जननी 84
इकाई 11: दृश्य एवं दृष्टा का स्वरुप 101
इकाई 12: अष्टांग योग का वर्णन 1110

खण्ड-4

इकाई 13: संयम का स्वरुप एवं संयम का फल 154
इकाई 14: विभूतियों का संक्षिप्त परिचय एवं विवेक ज्ञान का स्वरुप 159
इकाई 15: सिद्धियों के प्रकार एवं कर्म के प्रकार 165
इकाई 16: धर्ममेघ समाधि एवं कैवल्य का स्वरूप 172

“भूमिका”

महर्षि पतंजलि प्रणीत सनातन ज्ञान परम्परा के अमूल्य ग्रन्थ योगदर्शन के गहन अध्ययन हेतु तैयार की गई यह पाठ्य प्रस्तावना का शैक्षणिक उद्देश्य विद्यार्थियों को योग के प्रमुख सिद्धान्तों का अवबोध कराना, योग के चारों पादों (समाधि, साधन, विभूति एवं कैवल्य) के सूत्रार्थ व उनकी व्याख्या को सहज रीति से हृदयाङ्गम कराना, योग के प्रामाणिक इतिहास एवं परम्परा. ओं का ज्ञान कराना तथा सांख्य एवं योगदर्शन की सम्बद्धता को समझाकर उनमें एक लोक-कल्याण ाकारी समन्वयात्मक दृष्टि का विकास करना है। इतिहास की दृष्टि से इस दर्शन के प्रणेता महर्षि पत. ंजलि को माना जाता है, जो गोनर्द (संभवतः गोंडा जिला) के निवासी थे, बाद में काशी में बस गए। जिनकी वन्दना में श्लोक है-

“योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि॥”

अर्थात् जिन्होंने चित्त की शुद्धि के लिए योगसूत्र, वाणी की शुद्धि के लिए व्या. करण महाभाष्य और शरीर की शुद्धि के लिए वैद्यकशास्त्र दिया, उन मुनिश्रेष्ठ पत. ंजलि को हम प्रणाम करते हैं। यह पाठ्यक्रम विद्यार्थियों को सिखाता है कि योग शब्द युज समाधौ धातु से घञ् प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है, जिसका पारिभाषिक अर्थ समाधि है और महर्षि व्यास के अनुसार यह समाधि चित्त की सभी पाँचों भूमियों (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध) में अनुगत रहने वाला सार्वभौम धर्म है; किन्तु योग की वास्तविक शुरुआत एकाग्र भूमि से होकर निरुद्ध भूमि में पूर्णता को प्राप्त होती है। ग्रन्थ का प्रथम सूत्र-

अथ योगानुशासनम् १.१।

विद्यार्थियों को जीवन में अनुशासन की अनिवार्यता सिखाता है, तथा

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः १.२।

कहता है कि चित्त की वृत्तियों पर सम्पूर्ण नियंत्रण ही योग है । वृत्तियों के निरोध का परिणाम समझाते हुए महर्षि पतंजलि तृतीय सूत्र

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् १.३।

में प्रतिपादित करते हैं कि निरुद्धावस्था में द्रष्टा (जीवात्मा) अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वरूप (चेतन-मात्र) में वैसे ही प्रतिष्ठित हो जाता है जैसे कैवल्य की अवस्था में होता है, अन्यथा वृत्तियों के जाग्रत रहने पर

वृत्तिसारूप्यमितरत्र १.४।

के अनुसार जीवात्मा चित्त की वृत्तियों के सदृश ही व्यवहार करने लगता है और संसार के भोगों में फँस जाता है। विद्यार्थियों को मानसिक प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण सिखाने हेतु पाठ्यक्रम में वृत्तियों को पाँच भागों में विभाजित किया गया है – प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। जो क्लेशयुक्त (दु:ख देने वाली क्लिष्ट) और क्लेशशून्य (सुख देने वाली अक्लिष्ट) भेद से दो प्रकार की होती हैं। इनमें यथार्थ ज्ञान कराने वाली वृत्ति **प्रमाण** (प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम) है; मिथ्याज्ञान कराने वाली वृत्ति **विपर्यय** है जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक पाँच क्लेशों की जननी है; केवल शब्द–जनित आभासी ज्ञान **विकल्प** है; जाग्रत और स्वप्न के अभाव की प्रतीति **निद्रा** है; और पूर्व अनुभूत विषयों का पुन: प्रकट हो जाना **स्मृति** है। इन क्लिष्ट वृत्तियों को रोकने के दो व्यावहारिक उपाय हैं–

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः १.१२।

जहाँ चित्त की स्थिरता के लिए **ज्ञान, बल व उत्साहपूर्वक** किया जाने वाला पुरुषार्थ **अभ्यास** है, जो

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः १.१४।

के अनुसार लम्बे समय तक, निरंतरता, श्रद्धा–भक्ति, सत्कारपूर्वक किए जाने पर सुदृढ़ होता है; तथा **देखे और सुने गए** सांसारिक व पारलौकिक भोगों में तृष्णा–रहित हो जाना **वैराग्य** है, जो मन–इंद्रियों को वश में करने वाले अपर–वैराग्य (वशीकार संज्ञा) से लेकर आत्मा के साक्षात्कार के बाद तीनों गुणों से विरक्त हो जाने वाले पर–वैराग्य की सर्वोच्च स्थिति तक जाता है। इस साधना प्रकर्ष से चित्त चार उत्तरोत्तर अवस्थाओं से गुजरता हुआ सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त होता है –

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः १.१७।

जिसमें क्रमश: स्थूल भूतों, सूक्ष्म तन्मात्राओं, इंद्रियों के सात्त्विक सुख और अंतत: जीवात्मा का साक्षात्कार होता है । इस मार्ग को सुगम बनाने के लिए योग दर्शन में ईश्वर के स्वरूप को

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः १.२४।

कहकर परिभाषित किया गया है, अर्थात् जो अविद्यादि पाँच क्लेशों, पाप–पुण्य रूपी कर्मों, उनके फल विपाक और सुप्त वासना रूपी आशयों से सर्वथा अछूता है, वह समस्त पुरुषों में उत्तम पुरुष–विशेष ईश्वर है; जो सर्वज्ञता के बीज की निरतिशय पराकाष्ठा (ज्ञान का चरम) है, जो काल से परे होने के कारण पूर्ववर्ती सभी गुरुओं का भी गुरु है, जिसका निज वाचक नाम प्रणव (ओ३म्) है, और विद्यार्थियों को एकाग्रता प्राप्ति हेतु

तज्जपस्तदर्थभावनम् १.२८ ।

के अनुसार उस ओ३म् का अर्थ की भावना के साथ वाचिक, उपांशु, मानसिक या अजपा जप करने की विधि सिखाई जाती है। इसके आगे पाठ्यक्रम के उत्तरार्ध में विद्यार्थियों को तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान रूपी

क्रियायोग की महत्ता, पञ्च क्लेशों को तनु करने की कला, दृश्य (प्रकृति) और द्रष्टा (पुरुष) का दार्शनिक स्वरूप तथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूपी **अष्टांग योग** के आचरण की व्यावहारिक कुशलता सिखाई जाती है। इसके साथ ही धारणा, ध्यान और समाधि के त्रिविध अंत:प्रवाह को **संयम** का नाम देकर उसके विशेष प्रयोग (विनियोग) से उदित होने वाले प्रज्ञालोक (विशेष समाधि बुद्धि), क्षण और उसके क्रम पर संयम करने से उत्पन्न होने वाले यथार्थ विवेकज ज्ञान (तारक, सर्वविषय, सर्वथाविषय, अक्रम) तथा योग साधना से प्रकट होने वाली 37 विभूतियों या सिद्धियों के स्वरूप से छात्रों को परिचित कराया जाता है। अंतत: यह पाठ्यक्रम विद्यार्थियों को कर्म के वैज्ञानिक सिद्धान्तों (योगियों के निष्काम अशुक्ल-अकृष्ण कर्म बनाम सांसारिकों के शुक्ल, कृष्ण व मिश्रित कर्म) की उत्कृष्ट समझ प्रदान करता हुआ संप्रज्ञात समाधि की सर्वोच्च अवस्था धर्ममेघ समाधि तक ले जाता है, जहाँ सभी क्लेशों और कर्म-बन्धनों की समूल निवृत्ति हो जाने के कारण, पुरुषार्थ से शून्य हुए तीनों गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) अपने मूल कारण में विलीन (प्रतिप्रसव) हो जाते हैं और जीवात्मा अपने शाश्वत, शुद्ध चेतन स्वरूप में सदा के लिए अवस्थित हो जाती है, जिसे योग का चरम गंतव्य **कैवल्य या परम मोक्ष** कहा जाता है। इस प्रकार, यह ग्रन्थ विद्यार्थियों के भीतर न केवल एक उत्कृष्ट दार्शनिक और समन्वयात्मक अंतर्दृष्टि का विकास करता है, बल्कि उन्हें मानसिक विकारों को जीतकर जीवन जीने का सच्चा आनंद और पूर्ण आत्मिक समाधान प्राप्त करने की व्यावहारिक व व्यावसायिक क्षमता प्रदान करने में पूर्णत: समर्थ बनाता है।

इस प्रकार एक मनुष्य पूर्णकाम, आत्मकाम, निष्काम, परमकाम होकर लोककल्याण हेतु नि:स्वार्थ भाव से नि:स्पृह होकर जीते हुए परम आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

खण्ड-1

उद्देश्य

- महर्षि पतंजलि का संक्षिप्त परिचय देना।
- योग शब्द की सही परिभाषा समझाना।
- चित्त की पाँच भूमियों का ज्ञान देना।
- पाँचों चित्त-वृत्तियों के स्वरूप को स्पष्ट करना।
- वृत्ति-निरोध और समाधि का मार्ग बताना।

परिणाम

- विद्यार्थी योग दर्शन के सिद्धांतों को समझ सकेंगे।
- मानसिक एकाग्रता बढ़ाकर पढ़ाई में सफल होंगे।
- आत्म-अनुशासन से जीवन तनावमुक्त और संतुलित बनेगा।
- यौगिक दिनचर्या से शारीरिक स्वास्थ्य बेहतर होगा।
- योग शिक्षक बनकर आर्थिक लाभ कमा सकगे।

इकाई- 1:
योग दर्शन का रचनाकाल एवं महर्षि पतंजलि जी का संक्षिप्त परिचय

इतिहास के पन्नों की नजर से देखें तो महर्षि पतंजलि गोनर्द (संभवता गोंडा जिला) के निवासी थे, बाद में वे काशी में बस गए। उनकी माता जी का नाम गोणिका था। महर्षि पतंजलि योगसूत्र (योगदर्शन) के प्रणेता हैं जो भारतीय छः आस्तिक दर्शनों (न्याय, वैशे षिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त) में से एक है । भारतीय वैदिक साहित्य में पतंजलि प्रणीत ३ मुख्य ग्रन्थ मिलते है: योगसूत्र, अष्टाध्यायी पर भाष्य (महाभाष्य),आयुर्वेद पर ग्रन्थ।
कुछ विद्वानों का मत है कि ये तीनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति ने लिखे हैं जबकि कुछ अन्य विद्वानों की धारणा है कि ये विभिन्न व्यक्तियों की कृतियाँ हैं । महर्षि पतंजलि ने पाणिनि के व्याकरण ग्रन्थ अष्टाध्यायी पर अपनी टीका लिखी जिसे महाभाष्य का नाम दिया । काल क्रम की दृष्टि से महर्षि पतंजलि का काल कोई २०० ई पू माना जाता है।

महर्षि पतंजलि शुंग वंश के शासनकाल में थे। डॉ. भंडारकर ने पतंजलि का समय 158 ई. पू., द बोथलिक ने पतंजलि का समय 200 ईसा पूर्व एवं कीथ ने महर्षि पतंजलि का समय 1400 से 1500

ईसा पूर्व माना है। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने पुष्यमित्र शुंग का अश्वमेघ यज्ञ भी संपन्न कराया था। साहित्यिक, पुरातात्विक ,भौगोलिक एवं अन्य साक्ष्यों के आधार पर उनका जन्म स्थान भोपाल के पास का गांव गोदरमऊ है। कहा जाता है कि बाद में वे काशी में बस गए। महर्षि पतंजलि महान व्याकरणाचार्य पाणिनी जी के शिष्य थे । काशीवासी आज भी श्रावण कृष्ण नागपंचमी को " छोटे गुरु का, बड़े गुरु का नाग लो भाई नाग लो" कहकर नाग के चित्र बाँटते हैं क्योंकि पतंजलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है।

महर्षि पतंजलि महान चिकित्सक थे और इन्हें ही **'चरक संहिता'** का प्रणेता माना जाता है। **'योगसूत्र'** को महर्षि पतंजलि का महान अवदान माना जाता है । जैसे अष्टाध्यायी को मानव मष्तिष्क की सर्वश्रेष्ठ कृति माना जाता है उसी प्रकार योगदर्शन को भी मानव मष्तिष्क की सर्वश्रेष्ठ कृति कहा जाये तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी द्य पतंजलि रसायन विद्या के विशिष्ट आचार्य थे - अभ्रक विंदास, अनेक धातुयोग और लौहशास्त्र को इनकी देन कहा जाता है। राजा भोज ने इन्हें तन के साथ मन का भी चिकित्सक कहा है।

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शारीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि॥

(अर्थात् चित्त-शुद्धि के लिए योग (योगसूत्र), वाणी-शुद्धि के लिए व्याकरण (महाभाष्य) और शरीर-शुद्धि के लिए वैद्यकशास्त्र देनेवाले मुनिश्रेष्ठ पतंजलि को प्रणाम !)

ई.पू. द्वितीय शताब्दी में महाभाष्य के रचयिता पतंजलि काशी-मण्डल के ही निवासी थे । मुनित्रय (अष्टाध्यायी-कार महर्षि पाणिनि, वार्त्तिककार कात्यायन और महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि - इन्हीं तीनों ऋषियों को **'मुनित्रय'** कहा गया है) की परंपरा में वे अंतिम मुनि थे। पाणिनी के पश्चात् पतंजलि सर्वश्रेष्ठ स्थान के अधिकारी पुरुष हैं। उन्होंने पाणिनी व्याकरण के महाभाष्य की रचना कर उसे स्थिरता प्रदान की । वे अलौकिक प्रतिभा के धनी थे। व्याकरण के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों पर भी इनका समान रूप से अधिकार था । व्याकरण शास्त्र में उनकी बात को अंतिम प्रमाण समझा जाता है । महर्षि पतंजलि ने उस समय के जनजीवन का पर्याप्त निरीक्षण किया था इसी कारण से महाभाष्य व्याकरण का ग्रंथ होने के साथ-साथ तत्कालीन समाज का विश्वकोश भी है और तत्कालीन समाज के विषय में विस्तृत जानकारी भी प्रदान करता है।

पतंजलि के काल खंड निर्धारण के संबंध में पुष्यमित्र कण्व वंश के संस्थापक ब्राह्मण राजा के अश्वमेध यज्ञों की घटना को लिया जा सकता है। यह घटना ई.पू. द्वितीय शताब्दी की है। इसके अनुसार महाभाष्य की रचना का काल ई.पू. द्वितीय शताब्दी का मध्यकाल अथवा १५० ई.पूर्व माना जा सकता है।

स्मरणीय बिन्दु

1. महर्षि पतंजलि का परिचय: महर्षि पतंजलि गोनर्द के निवासी थे, गोणिका उनकी माता का नाम था और वे बाद में काशी में बस गए थे।

2. तीन मुख्य ग्रन्थ: वैदिक साहित्य में पतंजलि प्रणीत तीन मुख्य ग्रन्थ योगसूत्र, महाभाष्य (अष्टाध्यायी पर टीका) और आयुर्वेद ग्रन्थ मिलते हैं।

3. ऐतिहासिक काल: महर्षि पतंजलि शुंग वंश के राजा पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे और उनका कालखंड ई.पू. द्वितीय शताब्दी (लगभग 150-200 ई.पू.) माना जाता है।

4. शेषनाग के अवतार: महर्षि पतंजलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है, इसलिए काशी में आज भी नागपंचमी को उनके सम्मान में नाग के चित्र बाँटे जाते हैं।

5. मुनित्रय परंपरा: व्याकरण शास्त्र की 'मुनित्रय' परंपरा में महर्षि पाणिनि और कात्यायन के बाद पतंजलि अंतिम मुनि हैं।

विशेष शब्दावली

1. प्रणेता : रचना करने वाला या रचनाकार।

2. टीका : किसी मुख्य ग्रन्थ को सरल भाषा में समझाने के लिए लिखी गई व्याख्या या भाष्य।

3. अतिशयोक्ति: किसी बात को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहना।

4. चित्त : मनुष्य का अन्त: करण, मन या बुद्धि।

5. विश्वकोश : ऐसा ग्रन्थ जिसमें सभी प्रकार का ज्ञान या तत्कालीन समाज की विस्तृत जानकारी समाहित हो।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: महर्षि पतंजलि का ऐतिहासिक काल-निर्धारण किन साक्ष्यों और विद्वानों के मतों के आधार पर किया गया है? विस्तार से समझाइए।

प्रश्न 2: राजा भोज के अनुसार पतंजलि 'तन के साथ मन के भी चिकित्सक' थे। इस कथन की पुष्टि महर्षि पतंजलि के तीनों मुख्य ग्रन्थों के आधार पर कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. महर्षि पतंजलि की माता जी का क्या नाम था?

(1) सुलोचना

(2) गोणिका

(3) गौतमी

(4) अनसूया

प्रश्न 2. महर्षि पतंजलि को निम्नलिखित में से किसका अवतार माना जाता है?

(1) शेषनाग

(2) भगवान विष्णु

(3) महर्षि पाणिनि

(4) शिव

प्रश्न 3. व्याकरण शास्त्र की मुनित्रय परंपरा में अंतिम मुनि कौन हैं?

(1) महर्षि पाणिनि

(2) कात्यायन

(3) महर्षि पतंजलि

(4) राजा भोज

प्रश्न 4. महर्षि पतंजलि किस राजा के समकालीन थे और उनका अश्वमेध यज्ञ संपन्न कराया था?

(1) चंद्रगुप्त मौर्य

(2) पुष्यमित्र शुंग

(3) राजा भोज

(4) अशोक

प्रश्न 5. पतंजलि के अनुसार वाणी की शुद्धि किसके माध्यम से होती है?

(1) योगसूत्र

(2) वैद्यकशास्त्र

(3) महाभाष्य (व्याकरण)

(4) चरक संहिता

इकाई- 2
योग शब्द का अर्थ एवं परिभाषा (व्युत्पत्ति)

योग शब्द **“युज समाधौ”** धातु से में **“घञ्”** प्रत्यय लगाने से बनता है। **“युज समाधौ”** धातु से योग शब्द का अर्थ समाधि है। व्यास भाष्य के अनुसार भी योग को समाधि शब्द से कहा गया है **‘योगः समाधिः’।** और यह समाधि चित्त की सभी पाँच भूमियों (क्षिप्त, मूढ़,विक्षिप्त,एकाग्र एवं निरुद्ध) में अनुगत धर्म है।

“युजिर योगे” एवं “युज संयमने” दो अन्य धातुओं से भी योग शब्द सिद्ध होता है। जहाँ **“युजिर योगे”** धातु ‘जोड़’ अर्थ में वहीं **“युज संयमन”** धातु ‘नियमन’ अर्थ में प्रयुक्त होती है लेकिन इन दोनों धातुओं का अर्थ योग दर्शन के प्रतिपाद्य विषय समाधि से भिन्न होने के कारण ये दोनों अर्थ योगदर्शन के पारिभाषिक शब्द योग के लिए अनूकुल प्रतीत नहीं होते हैं अतः यहाँ मानकर चलना पड़ेगा कि योग शब्द “युज समाधौ” धातु से निष्पन्न होकर समाधि अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

क्रियायोग एवं अष्टांग योग के अभ्यास से उपरत हुआ चित्त जब क्लिष्टवृत्ति रहित हो जाता है तब द्रष्टा अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वरुप में प्रतिष्ठित हो जाता है। स्वयं में आत्मस्थ हुआ योगी का मन की सात्त्विक वृति का भी निरोध कर परमात्मा का साक्षात्कार करना योग है।

स्मरणीय बिन्दु

1. योग शब्द की व्युत्पत्तिः योग शब्द ‘‘युज समाधौ’’ धातु में ‘‘घञ्’’ प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है।
2. व्यास भाष्य का मतः व्यास भाष्य के अनुसार योग का मुख्य अर्थ समाधि है, जिसे ‘योगः समाधिः’ कहा गया है।
3. चित्त की पाँच भूमियाँः समाधि का यह धर्म चित्त की सभी पाँच भूमियों, क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध में समाहित रहता है।
4. तीन धातुएँः योग शब्द मुख्य रूप से तीन धातुओं से सिद्ध होता हैः ‘‘युज समाधौ’’ (समाधि), ‘‘युजिर् योगे’’ (जोड़), और ‘‘युज संयमने’’ (नियमन)
5. योग का परम लक्ष्यः क्रियायोग और अष्टांग योग के अभ्यास से चित्त जब क्लिष्टवृत्तियों से रहित हो जाता है, तब योगी परमात्मा का साक्षात्कार कर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है।

विशेष शब्दावली

1. व्युत्पत्ति : किसी शब्द की उत्पत्ति, उसका मूल आधार या बनावट।
2. अनुगतः किसी तत्व या नियम के पीछे चलने वाला अथवा उसमें समाया हुआ।
2. प्रतिपाद्य विषय : मुख्य रूप से समझाने या प्रतिपादित करने योग्य मुख्य विषय।
4. क्लिष्टवृत्तिः चित्त की वे मानसिक गतियाँ या विचार जो अज्ञान और कष्ट उत्पन्न करते हैं।

6. सात्त्विक वृत्तिः मन की पवित्र, शुद्ध, शांत और प्रकाशवान् विचार-तरंगें।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न-1: योग शब्द किन-किन धातुओं से सिद्ध होता है? योग दर्शन के पारिभाषिक अर्थ के लिए इनमें से कौन सी धातु सबसे उपयुक्त मानी गई है और क्यों?

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. योग दर्शन के अनुसार योग शब्द किस धातु से निष्पन्न होकर मुख्य पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होता है?

(1) युजिर योगे

(2) युज संयमने

(3) युज समाधौ

(4) युज बन्धने

प्रश्न 2. व्यास भाष्य के अनुसार योग का क्या अर्थ है?

(1) जोड़ (योगः जोड़ः)

(2) समाधि (योगः समाधिः)

(3) नियमन (योगः संयमनम्)

(4) कसरत (योगः व्यायामः)

प्रश्न 3. योग शब्द बनाने के लिए मूल धातु के साथ किस प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है?

(1) क्त्वा प्रत्यय

(2) घञ् प्रत्यय

(3) ल्युट् प्रत्यय

(4) तुमुन् प्रत्यय

प्रश्न 4. युज संयमने धातु का सरल अर्थ क्या होता है?

(1) समाधि

(2) नियमन (कंट्रोल / नियंत्रण)

(3) जोड़ना

(4) मुक्त होना

प्रश्न 5. निम्नलिखित में से कौन सी चित्त की पाँच भूमियों में शामिल नहीं है?

(1) क्षिप्त और मूढ़

(2) विक्षिप्त

(3) एकाग्र एवं निरुद्ध

(4) प्रवृत्त

इकाई- 3
योग का स्वरुप

अथ योगानुशासनम् ॥१.१॥

पदच्छेदः अथ , योग , अनुशासनम्।।
शब्दार्थः अथ-अब, **योग**- योग (का), **अनुशासनम्**- पहले से विद्यमान शिक्षा (आरम्भ करते हैं।)

व्यासभाष्यम् - अथेत्ययमधिकारार्थः। योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्। योगः समाधिः। स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः। तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते। यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिण ाोति च क्लेशान्कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। स च वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्टात्प्रवेदयिष्यामः। सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः॥१॥

भाष्यानुवादः- 'अथ' शब्द यहाँ अधिकार के अर्थ में प्रयोग किया गया है। यहाँ अथ शब्द से योग शास्त्र के आरंभ का भाव परिलक्षित हो रहा है। योग का अर्थ है समाधि और यह समाधि चित्त की सभी पाँच प्रकार में अनुगत धर्म है। चित्त की ये पाँच भूमियाँ हैं भूमियों क्षिप्त, मूढ़,विक्षिप्त,एकाग्र एवं निरुद्ध। चित्त की इन पाँच प्रकार की भूमियों में से विक्षिप्त भूमि वाले चित्त की समाधि विक्षेप उत्पन्न करने वाली होने से योग की श्रेणी में नहीं आती है। जो समाधि एकाग्र भूमि वाले चित्त में घटित होती है वह पदार्थ के वास्तविक (यथार्थ) स्वरुप को प्रकाशित करती है, पञ्च क्लेशों का नाश करती है, तीन प्रकार के कर्मों के बंधन को शिथिल करती है और साथ ही असम्प्रज्ञात समाधि को योगी के सम्मुख लाती है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात योग कहलाता है। और यह सम्प्रज्ञात समाधि वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत अवस्थाओं वाली है। इनका विषद वर्णन आगे के सूत्रों में करेंगे। चित्त कि सब प्रकार कि वृत्तियों का निरोध होने पर तो असम्प्रज्ञात समाधि होती है। ।।१।।

वैदिक ग्रंथों में अथ शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रथम मंगलाचरण के लिए और दूसरा ग्रंथ में प्रवेश से पूर्व किये गए साधन चतुष्ट्य के लिये। जब साधक, साधन चतुष्ट्य की साधना कर चुका होता है या कर रहा होता है अर्थात् ग्रंथ को समझने के लिए आवश्यक प्रवृत्ति विशेष धारण कर चुका होता है 'तब' सूत्र कहता है कि 'अब' योग के अनुशासन को प्रारम्भ करते हैं। सामान्य बोलचाल की भाषा में जब भी हम **'अब'** शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका सीधा अर्थ होता है "अभी तक

ऐसा हो चुका है अब आगे से नहीं करना " अथवा "कुछ विशेष तैयारियां हो चुकी हैं अब हम आगे बढ़ते हैं" "अब हम चलते हैं"; "मैंने गलती की है, अब आगे से नहीं करूंगा" आदि इस प्रकार के प्रयोग हम प्रतिदिन जी जिंदगी में करते रहते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि महर्षि पतंजलि योग में प्रवेश से पूर्व कुछ साधना विशेष की भी बात कर रहे हैं या कुछ निर्देश विशेष की बात हो चुकी है और अब जबकि सब मानसिक एवं सैद्धान्तिक रूप से तैयार हैं तो योग के अनुशासन को प्रारम्भ किया जा सकता है।

भौतिक जगत (सांसारिक जीवन में) में भी देखा जाता है कि यदि आप किसी विषय में स्नातक (ग्रेजुएट) होना चाहते हैं तो आपके पास पूर्व में 12 वीं की डिग्री होनी चाहिए तभी आप स्नातक (ग्रेजुएशन) में प्रवेश पाने के अधिकारी हो सकते हैं। केवल आप प्रवेश के अधिकारी ही नहीं अपितु अब आपको संबंधित सभी विषयों को पढ़ाया और समझाया जा सकता है। ऐसे ही योग भी जीवन के कालक्रम में प्रवेश की एक प्रक्रिया है और इसमें प्रवेश वे ही कर पाएंगे जो योग्यता रखते हों। आम बोलचाल की भाषा में कहें तो योग में एडमिशन लेने के लिए जिस आधारभूत क्वालिफिकेशन की जरूरत है, वो आपके पास अवश्य हो। अतः प्रश्न उठता है कि योग के अनुशासन में प्रवेश करने की योग्यता क्या है? कैसे हम समझें कि अब हम योग के योग्य हो चुके हैं?

जब आप सब प्रकार से बाहरी एवं सांसारिक उपायों से निराश हो चुके होते हैं, जब आपका चित्त या मन सचमुच में अपने भीतर के साम्राज्य में प्रवेश पाने को आतुर होने लग जाता है। जब आप अपने दोषों से भली भांति परिचित होने लगते हैं और उन्हें अपने जीवन से पूरी तरह हटा देने की तीव्र अभीप्सा से भरने लग जाते हैं, जब आपके भीतर राग, द्वेष, काम,क्रोध, लोभ और मोह, ईर्ष्या और छल कपट आदि समस्त दोषों-दुर्गुणों से मुक्त होने की तीव्र इच्छा जगने लग जाती है तब योग में प्रवेश करने का संयोग बनने लगता है। वही समय है जब आप अपने जीवन को सच्चे अर्थों में अनुशासन में ला सकते हैं। जिनके मन में इस प्रकार के भाव और संवेदनाएं स्वयं के जीवन को लेकर उत्पन्न होने लग गए हों, ऐसे व्यक्तियों के लिए महर्षि पतंजलि कहते हैं कि "अब" जब तुम्हारे मन में इस प्रकार की तीव्र इच्छा जन्म ले चुकी है "तब" योग के अनुशासन को आओ प्रारम्भ करते हैं।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ 1.2॥

पदच्छेदः योगः , चित्त , वृत्ति , निरोधः

शब्दार्थः चित्त- चित्त अर्थात् अन्तःकरण (की), **वृत्ति** - वृत्तियों (का), **निरोधः** - निरोध (सर्वथा रुक जाना), **योगः** - योग है।

व्यासभाष्यम् - सर्वशब्दाग्रहणात्संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते। चित्तं प्रख्याप्रवृत्तिस्थिति-शीलत्वात्त्रिगुणम्। प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति। तदेव

तमसानुविद्धम- धर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति। तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति।

तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति। तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः। चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च, सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति। ॥२॥

भाष्यानुवादः - उपरोक्त सूत्र में सर्व शब्द का प्रयोग न होने से सम्प्रज्ञात समाधि भी योग कही जाती है। चित्त का स्वभाव प्रकाशशील, गतिशील एवं स्थितिशील होने से चित्त त्रिगुणात्मक है।
प्रकाशशील चित्त, सत्त्व, रजस एवं तमस से मिला हुआ होने से ऐश्वर्य एवं विषय की कामना करने वाला होता है। वही चित्त सत्त्व तमसबद्ध हुआ अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य को प्राप्त हो जाता है। फिर वही चित्त क्षीणमोहावरण वाला होकर चारों ओर से प्रकाशमान, रजोगुण से मिला हुआ धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य से युक्त हो जाता है।
वही चित्त, रजोगुण रूपी मल से अलग हुआ, अपने शुद्ध स्वरुप में प्रतिष्ठित एवं प्रकृति एवं पुरुष की पृथकता के ज्ञान से युक्त हुआ धर्ममेघ समाधि को प्राप्त हो जाता है। योगी ध्यानी लोग उस धर्ममेघ समाधि वाले चित्त को **'परं प्रसंख्यान'** अर्थात् परम ज्ञान कहते हैं। चेतन पुरुष अर्थात् आत्मा परिणाम से पार,निर्लिप्त, विषयों का द्रष्टा, शुद्ध एवं नाशरहित है। विवेकख्याति सत्त्व गुणात्मिका वाली होने से त्रिगुणातीत आत्मा के विरुद्ध स्वाभाव वाली है। **॥२॥**

पुरातन काल में गुरु शिष्य परंपरा के अंतर्गत शास्त्र अध्ययन किया जाता था। शास्त्र अध्ययन से पहले विद्यार्थी या शिष्य को प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी जिससे कि उन्हें पढ़ाया जा रहा विषय भली भांति समझ में आ जाये। अध्ययन गुरु और शिष्यों के बीच एक प्रकार के संवाद से होकर गुजरता था। शिष्य बीच बीच में जिज्ञासा करते थे और गुरु जहां जहां आवश्यक होता था वहां उन उन जिज्ञासाओं को भी उत्तरित करते जाते थे और इस प्रकार पूरे शिक्षण में एक सामंजस्य बना रहता था। योग दर्शन का पहला सूत्र "अथ योगनुशासनम" पढ़ते ही सहज जिज्ञासा होती है कि योग क्या है? "अब योग के अनुसाशन को प्रारम्भ करते हैं " इस वाक्य से यह जिज्ञासा मन में सहज उठती है कि "योग" किसे कह रहे हैं? तब महर्षि पतंजलि ने योग की परिभाषा समझाते हुए शिष्यों को कहा-चित्त की वृत्तियों का रुक जाना योग है। यह सम्पूर्ण, संक्षिप्त और सारगर्भित परिभाषा है। योग को संपूर्णता से समझने के लिए आपको चित्त क्या होता है! वृत्ति क्या होती है? निरोध शब्द से यहां क्या मतलब है! यह सब समझे बिना योग का मूल एवं वास्तविक अर्थ नहीं समझा जा सकता है।
आईये सबसे पहले जानते हैं कि चित्त क्या होता है-सरल अर्थो में कहें तो चित्त का अर्थ होता है जहां हमारे विचार जन्मते हैं, बनते हैं और जमे रहते हैं संस्कारों के रूप में। चित्त एक प्रकार की भूमि है जहां विचार जन्मते हैं और यह चित्त रूपी भूमि भी पांच प्रकार की होती है।

1. क्षिप्त
2. विक्षिप्त
3. मूढ़
4.एकाग्र एवं
5. निरुद्ध

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि योग केवल चित्त की एकाग्र एवं निरुद्ध अवस्था में ही संभव है। अब समझते हैं वृत्ति क्या है–वृत्ति एकवचन न होकर बहुवचन में प्रयोग होता है, इसका अर्थ है वृत्ति एक नहीं अपितु एक से अधिक होती हैं। चूंकि आगे के सूत्रों में महर्षि पतंजलि ने स्वयं वृत्तियों के विषय में चर्चा की है इसलिए अभी इतना ही समझें कि हमारे भीतर उठने वाली विचार रूपी तरंगों या मन के क्रियाकलाप को जो कि पांच प्रकार से विभाजित है उसे वृत्तियाँ कहते हैं।

अब सूत्र का अंतिम एवं महत्वपूर्ण भाग आता **"निरोध"।** इसे ठीक ठीक समझे बिना योग कभी भी समझ में नहीं आ सकता। केवल निरोध शब्द ठीक से नहीं समझा गया इसलिए योग नहीं समझा गया। संस्कृत में प्रत्यय और उपसर्गों का बहुत महत्व है क्योंकि ये जब किसी शब्द के पीछे और आगे लगते हैं तो अत्यंत बलपूर्वक उस शब्द का अर्थ बिल्कुल बदल देते हैं, वास्तव में इनका केवल अर्थ बदल देने का ही प्रयोजन होता है। अब संस्कृत में 22 उपसर्ग होते हैं और प्रत्येक उपसर्ग यदि एक ही शब्द में लगाया जाए तो उसी शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ हो जाते हैं। महर्षि पतंजलि योग दर्शन के रचयिता के साथ साथ एक महान व्याकरणाचार्य भी थे और यदि उन्होंने रुध धातु के साथ यदि नि उपसर्ग जोड़ा है तो यह निष्प्रयोजन नहीं हो सकता है और योग के संबंध में तो बिल्कुल भी नहीं। जहाँ एक ओर सबसे जटिल शब्द की परिभाषा की जा रही हो वहां सामान्य अर्थ में उपसर्ग का प्रयोग नहीं हो सकता है। बहुतों ने निरोध का शाब्दिक अर्थ किया है रोक देना अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोक देना योग कहलाता है। यदि रोकने का प्रयत्न अभी भी बचा है तो योग अभी भी पूर्ण रूप से घटा नहीं परिभाषा पूर्ण नहीं हो पाएगी। एक ऐसी स्थिति जब वृत्तियाँ अपने आप रुक जाए तब योग घटित होता है। लेकिन यहां समझने की यह आवश्यकता है कि यह स्थिति बिना प्रयत्न के नहीं आएगी, यह समझना अत्यंत कठिन होता है जब तक कि आप प्रायोगिक रूप से योग विषय में प्रवेश नहीं कर लेते। प्रयत्न जब सहज प्रयत्न में बदलता है तब धीरे धीरे वह चित्त को निरोध अर्थात् स्वयं रुक जाने की स्थिति में ले जाता है, फिर बिना प्रयत्न के भान, अहंकार के, कर्तृत्व के भाव से मुक्त हुआ योगाभ्यासी निरुद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इसी स्थिति को महर्षि पतंजलि ने योग कहा है और योग को ही समाधान कहा है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥1.3॥

पदच्छेदः तदा , द्रष्टुः , स्वरूपे , अवस्थानम्।।

शब्दार्थः तदा - उस समय (निरोध के अवस्था में), **द्रष्टुः** - द्रष्टा की, **स्वरूपे** - अपने ही रूप अर्थात् चेतन-मात्र में , **अवस्थानम्** - स्थिति हो जाती है।

व्यासभाष्यम्- स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये ।।3।।

भाष्यानुवादः -उस असम्प्रज्ञात योग की अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है जैसा कि वह कैवल्य की अवस्था में रहता है। ।।३।।

महर्षि पतंजलि द्वारा योग के स्वरूप की चर्चा करने के बाद शिष्यों में सहज जिज्ञासा होती है कि चित्त के निरुद्ध अवस्था में जब वृत्ति निरोध या वृत्तियों का अभाव हो जाता है तब व्यक्ति के स्वभाव में क्या परिवर्तन होता है? योगस्थ व्यक्ति किस स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है?

महर्षि पतंजलि इस सूत्र के माध्यम से कहते हैं - "तब द्रष्टा अपने ही शुद्ध रूप में अवस्थित हो जाता है"। यहां दो शब्द समझने योग्य हैं। एक द्रष्टा और दूसरा स्वरूप।

द्रष्टा का अर्थ होता है देखने वाला (जीवात्मा)। आत्मा अर्थात् पुरुष को द्रष्टा क्यों कहा गया है! इस द्रष्टा संज्ञा में अध्यात्म के गहरे अर्थ छुपे हुए हैं। वेदों, उपनिषदों, दर्शनों और सभी वैदिक साहित्य में द्रष्टा शब्द अत्यधिक प्रयोग में आता है। द्रष्टा अर्थात् जो जगत के प्रपंचो को केवल देखे न कि उनसे संबंधित हो जाये। पुरूष भी प्रकृति को अपने से अलग देखता हुआ, उससे सर्वथा अपने को पृथक मानता हुआ ही अपने स्वरूप में लौट सकता है। यह नियम है कि यदि पुरुष को अपने शुद्धतम रूप को देखना हो, जानना हो तो उसे सबसे अलग अपने को महसूस करना होगा। यह प्रथम एवं महत्वपूर्ण चरण है अपने विषय में जानने के लिए। जैसे ही हम द्रष्टा हो जाते हैं वैसे ही दृश्य हमसे अलग हो जाता है अब हम विवेक का प्रयोग कर अपनी वास्तविक स्वरूप में स्थित होने का अभ्यास कर सकते हैं।

दूसरा शब्द है स्वरूप। इस जगत में तीन सत्ताएं हैं।

1. **जीवात्मा**
2. **प्रकृति**
3. **परमात्मा**

तीनों सत्ताओं का अपना एक स्वरूप है जिसे जाने बिना जीवन की सार्थकता नहीं है। सांख्य जीवात्मा के स्वरूप के विषय में कहता है- **'असंगो अयं पुरुष' इति ।। 1.15।।** अर्थात् यह जीवात्मा स्वरूप से ही संगरहित है।

पुरुष जो कुछ देखता है वह उससे असंश्लिष्ट रहता है, इसलिए यह पुरुष असंग कहलाता है। जल अथवा कीचड़ के साथ जैसे कमल पत्र की असंगता है वैसे ही पुरुष की भी समझनी चाहिए।

सांख्य दर्शन के प्रथम अध्याय के सूत्र संख्या 19 में जीवात्मा को नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध एवं नित्य मुक्त स्वभाव का बतलाया गया है। इसी नित्य शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वभाव को ही इस सूत्र में स्वरूप शब्द से महर्षि ने व्यक्त किया है। योगस्थ होने से पुरुष तब अपने स्वरूप को पा लेता है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ 1.4॥

पदच्छेदः वृत्ति, सारूप्यम्, इतरत्र।
शब्दार्थः इतरत्र - दूसरे समय में अर्थात् वृत्तियों के निरोध से भिन्न अवस्था में (द्रष्टा का), **वृत्ति** - वृत्ति के, **सारूप्यम्** - सदृश स्वरूप (होता है)।

व्यासभाष्यम् -व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः। तथा च सूत्रम्- 'एकमेव दर्शनं, ख्यातिरेव दर्शनम्' इति। चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः। तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिः संबन्धो हेतुः ।।४॥

भाष्यानुवादः एकाग्र से अतिरिक्त व्युत्थान की स्थिति में जिस प्रकार की चित्तवृत्तियाँ होती हैं पुरुष (आत्मा) भी उसी प्रकार प्रतीत होता है। और वैसा सूत्र भी है - पुरुष और बुद्धि दोनों का दर्शन एक रूप में होता है। यह दर्शन बुद्धि की वृत्तियों के रूप में होता है। चित्त अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के सदृश है। सन्निधिमात्र से पुरुष के लिए उपकारी होता है। वह दृश्यत्व के रूप से स्वामी जीवात्मा का स्व बन जाता है। इसलिए आत्मा को चित्तवृत्तियों का जो ज्ञान होता है, उसमें पुरुष और बुद्धि का अनादि सम्बन्ध ही कारण है। ।।४।।

जब चित्त की वृत्तियों का निरोध नहीं होता है तब जीवात्मा चित्त की वृत्तियों के अनुरुप ही व्यवहार करता है, जैसी चित्त की वृत्ति होती है ,वैसा ही देखता, सुनता, समझता, महसूस करता है। वृत्तियाँ संसार की ओर भी ले लाती हैं और अक्लिष्ट अर्थात् सुख देने वाली होने से भीतर की ओर ले जाने में भी सहायक होती हैं। क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त, चित्त की ये तीन भूमियाँ साधक को संसारोन्मुख करती हैं। प्रश्न यह उठता है कि चित्त की पांच भूमियों (क्षिप्त,मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध) में से जब साधक निरुद्ध स्थिति में न होकर क्षिप्त, मूढ़ या विक्षिप्त किसी एक स्थिति में होता है तो जीवात्मा इन वृत्तियों के सदृश क्यों हो जाता है? इसका कुल इतना कारण है कि स्वभाव से ही इंद्रियां बहिर्गामी होती हैं और निरुद्ध एवं एकाग्र भूमि को छोड़कर सभी भूमियों में वृत्तियाँ बाहर की ओर ले जाती हैं। जीवात्मा बाहर का अनुभव बाह्य इंद्रियों के माध्यम से ही कर सकता है इसलिए वह वृत्ति सारूप्य होकर अर्थात् वृत्ति जैसे स्वरूप वाला होकर ही अनुभव ले सकता है। चूंकि प्रथम तीनों चित्त-भूमियाँ संसार का ज्ञान कराने में सक्षम हैं और इनकी गति एकाग्र और निरुद्ध दोनों के सर्वथा विपरीत है तो यह कभी भी स्वरूप की ओर न ले जाकर रूप यानि कि संसार की ओर ले जाती है। योग एकाग्र भूमि से ही प्रारम्भ होकर निरुद्धावस्था में पूर्णता को प्राप्त होता हुआ साथ-साथ ही अपने स्वरूप प्रतिष्ठित होता है।

ऐसा नहीं होता है कि जीवात्मा वृत्ति ही हो जाता है बल्कि मणि सदृश भासता है। जैसे मणि पर कोई लाल रंग पड़ जाए तो मणि भी उसी लाल रंग की हो जाती है। ऐसे ही जीवात्मा भी वृत्ति के संपर्क में बाहर अथवा संसार में आकर वृत्ति जैसा ही हो जाता है।

स्मरणीय बिन्दु

- अथ शब्द की योग्यता: प्रथम सूत्र में अथ शब्द अधिकार के साथ-साथ साधन चतुष्ट्य जैसी पूर्व योग्यताओं की पूर्णता को दर्शाता है।
- योग के योग्य भूमियाँ: चित्त की पाँच भूमियों में से केवल एकाग्र और निरुद्ध अवस्था में ही योग घटित होना सम्भव है।
- समाधि के मुख्य प्रकार: एकाग्र भूमि में सम्प्रज्ञात समाधि तथा सभी वृत्तियों का सर्वथा निरोध होने पर असम्प्रज्ञात समाधि होती है।
- द्रष्टा की स्वरूप-प्रतिष्ठा: वृत्तियों के पूर्ण निरोध होने पर द्रष्टा (जीवात्मा) अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वरूप में स्थित हो जाता है।
- व्युत्थान काल में तद्रूपता: निरोध से भिन्न अवस्थाओं में जीवात्मा चित्त की वृत्तियों के समरूप (तद्रूप) दिखाई देता है।

विशेष शब्दावली

- अनुशासनम्: पहले से विद्यमान या स्थापित शिक्षा का आरम्भ।
- सद्भूतमर्थ: किसी पदार्थ का वास्तविक या यथार्थ स्वरूप।
- द्रष्टा: देखने वाला अर्थात् चेतन जीवात्मा या पुरुष।
- अयस्कान्तमणि: चुम्बक पत्थर जिसके सान्निध्य मात्र से कार्य सिद्ध होता है।
- इतरत्र: वृत्तियों के निरोध काल से भिन्न समय।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: प्रथम सूत्र अथ योगानुशासनम् में अथ शब्द का व्यावहारिक महत्व क्या है?

प्रश्न 2: चित्त की पाँच भूमियाँ कौन-सी हैं? इनमें से कौन-सी भूमि योगपक्ष में नहीं आती और क्यों?

प्रश्न 3: महर्षि पतंजलि के अनुसार निरोध शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः सूत्र की व्यासभाष्य के आलोक में विस्तृत व्याख्या कीजिए तथा चित्त के त्रिगुणात्मक स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2: सूत्र तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् के आधार पर द्रष्टा के वास्तविक स्वरूप की विवेचना कीजिए तथा सांख्य दर्शन के मत को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3: वृत्तिसारूप्यमितरत्र सूत्र का क्या तात्पर्य है? चित्त और पुरुष के अनादि सम्बन्ध को मणि और अयस्कान्तमणि के उदाहरण द्वारा विस्तार से समझाइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. व्यासभाष्य के अनुसार योग का मुख्य पारिभाषिक अर्थ क्या है?

(1) जोड़

(2) नियमन

(3) समाधि

(4) आसन

प्रश्न 2. एकाग्र चित्त में होने वाली समाधि जो क्लेशों का नाश करती है, क्या कहलाती है?

(1) असम्प्रज्ञात समाधि

(2) सम्प्रज्ञात समाधि

(3) विक्षिप्त समाधि

(4) मूढ़ समाधि

प्रश्न 3. चित्त का कौन-सा स्वभाव उसे त्रिगुणात्मक सिद्ध करता है?

(1) केवल प्रकाशशीलता

(2) केवल गतिशीलता

(3) केवल स्थितशीलता

(4) प्रख्या, प्रवृत्ति और स्थितिशीलता

प्रश्न 4. सांख्य दर्शन के अनुसार जीवात्मा (पुरुष) का मूल स्वरूप कैसा है?

(1) नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध एवं नित्य मुक्त

(2) विकारी और अशुद्ध

(3) सांसारिक प्रपंचों से युक्त

(4) परिणामी और विनाशी

प्रश्न 5. वृत्तियों के संपर्क में आने पर जीवात्मा का वृत्तिसारूप्य दिखना किस उदाहरण द्वारा समझाया गया है?

(1) जल और तेल का मिश्रण

(2) स्फटिक मणि पर लाल रंग का पड़ना

(3) अन्धकार में रस्सी का सर्प दिखना

(4) सूर्य का जल में प्रतिबिम्ब

इकाई- 4
चित्त की वृत्तियाँ

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः॥ 1.5॥

पदच्छेदः वृत्तयः , पञ्चतय्यः , क्लिष्टाः , अक्लिष्टाः ।
शब्दार्थ : **वृत्तयः** -(उपर्युक्त) वृत्तियाँ, **पञ्चतय्यः** - पाँच प्रकार (की होती हैं), **क्लिष्टाः** - क्लेशयुक्त (और), **अक्लिष्टाः** - क्लेशशून्य (भेदोंवाली)।

व्यासभाष्यम् - क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः। ख्यातिविषया गुणाधि कारविरो- धिन्योऽक्लिष्टाः। क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः। क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति। तथाजातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय इति। एवं वृत्तिसंस्कारचक्रमनिशमावर्तते। तदेवंभूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति॥५॥

भाष्यानुवादः - जिन वृत्तियों के अविद्या आदि क्लेश कारण हैं तथा जो पापकर्म और शुभकर्मों की जननी हैं वे क्लिष्ट वृत्तियाँ हैं। जो वृत्तियां विवेकख्याति को उत्पन्न करती हैं और गुणों के जन्म देने के सामर्थ्य का नाश करती हैं वे अक्लिष्ट वृत्तियाँ हैं। क्लिष्ट वृत्तियों के व्यापार काल में यदि अक्लिष्ट वृत्तियाँ आ जाती हैं तो भी वे अक्लिष्ट ही रहती हैं। क्लिष्ट वृत्तियों के मध्य-मध्य में उभरी हुई अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट ही रहती हैं। अक्लिष्ट वृत्तियों के व्यापार में क्लिष्ट वृत्तियाँ आ जाती हैं तथापि वे क्लिष्ट ही रहती हैं। वृत्तियाँ जिस प्रकार की होती हैं वे उसी प्रकार के अपने सजातीय संस्कारों को उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार से वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से पुनः वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार से वृत्ति और संस्कार का चक्र ऐसे ही रात दिन चलता रहता है। ।।४।।
महर्षि पतंजलि ने समाधिपाद के दूसरे ही सूत्र में वृत्ति निरोध की बात की है, लेकिन ये वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से दो और संख्या अनुसार पांच प्रकार की हैं अर्थात् प्रत्येक वृत्ति क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार से है।
सूत्र में क्लिष्ट और अक्लिष्ट ये दो शब्द आये हैं जिन्हें विधिवत् समझना अत्यावश्यक है। योग दर्शन का पूरा विज्ञान वृत्तिनिरोध पर आधारित है इसलिए वृत्तियों के विषय में सबसे अधिक स्पष्टता होनी चाहिए, क्योंकि जब तक हम समस्या को अच्छी प्रकार से नहीं समझेंगे तब तक उसका निदान या निराकरण कैसे कर पाएंगे?
इसलिए आईये समझते हैं कि क्लिष्ट वृत्तियाँ क्या होती हैं- व्यास भाष्य के अनुसार ऐसी वृत्तियाँ जो अविद्यादि पांच क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) को जन्म देने वाली होती हैं और जो कर्म जनित संस्कारों की उर्वरा भूमि होती हैं वे सभी वृत्तियाँ क्लिष्ट हैं। सीधे शब्दों में कहें तो जो

दु:ख देती हैं वे क्लिष्ट वृत्तियाँ हैं और निरोध करने योग्य हैं।
ऐसी वृत्तियाँ जो विवेक से उत्पन्न ज्ञान देने वाली तथा सत्व, रजस और तमस के प्रभाव को रोकने वाली होती हैं वे अक्लिष्ट वृत्तियाँ होती हैं अर्थात् ऐसी वृत्तियाँ जो सुख प्रदान करने वाली होती हैं उन्हें अक्लिष्ट वृत्तियां कहते हैं। अक्लिष्ट और क्लिष्ट वृत्तियाँ भी एक दूसरे में स्वतंत्र सत्ता लिए साथ-साथ भी उत्पन्न हो जाती हैं। अक्लिष्ट एवं क्लिष्ट वृत्तियों से अक्लिष्ट और क्लिष्ट संस्कार भी चित्त में बनते एवं संग्रहित होते रहते हैं। वृत्ति और फिर उससे निर्मित एवं संग्रहित संस्कार मनुष्य को संसार में चलायमान रखते हैं जब तक कि वृत्ति निरोध से समाधि घटित नहीं हो जाती। साधक के गुणातीत होने पर ही आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है।
आगे जब सूत्र में पांच प्रकार की वृत्तियों को उनकी परिभाषा के साथ समझेंगे तो साथ ही यह भी समझने का प्रयास करेंगे कि कैसे एक ही वृत्ति दुख देने वाली है और सुख देने वाली भी। यदि साधक वृत्तियों के क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद को भली भांति समझ ले तो जीवन जीने का आनंद और जीवन मुक्ति का आनंद दोनों साथ साथ प्राप्त कर सकता है।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ 1.6॥

पदच्छेदः प्रमाण , विपर्यय , विकल्प , निद्रा , स्मृतयः ।
शब्दार्थः प्रमाण - प्रमाण, **विपर्यय**- विपर्यय, **विकल्प**- विकल्प, **निद्रा**- निद्रा (और)
स्मृतयः - स्मृति।
किलष्ट और अक्लिष्ट भेद से वृत्तियां पांच प्रकार की होती हैं।
1.प्रमाण
2.विपर्यय
3.विकल्प
4.निद्रा और
5.स्मृति
क्या यही 5 वृत्तियाँ हैं या इनके अतिरिक्त भी वृत्तियाँ हैं? ऐसा प्रश्न मन में उठ सकता है। मनन करने पर लगता है कि महर्षि ने सब प्रकार से विचार करके ही मूलभूत 5 प्रकार की वृत्तियों को यहां पर कहा है। पांच वृत्तियों में ही अन्य वृत्तियों का समावेश हो जाता है और इन पांचों प्रकार की वृत्तियों के क्लिष्ट रूप के रुकने से अन्य सभी वृत्तियों के क्लिष्ट रूपों का भी निरोध हो जाता है।
योग दर्शन में एक भी शब्द अतिरिक्त एवं अन्यथा नहीं कहा गया है और इस शास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता है। केवल शब्द ही नहीं अपितु भाव भी अतिरिक्त या अन्यथा नहीं है। महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन को एक विशुद्ध विज्ञान की दृष्टि से रचा है और इसकी पुष्टि पग पग पर शास्त्र में मिलती है। वृत्तियों के सम्बन्ध में एक मूलभूत नियम समझ लेना अत्यावश्यक है। यदि इसे नहीं समझा गया तो

योग मार्ग में प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, योग मार्ग पर यात्रा भी नहीं की जा सकती और गंतव्य तो फिर कहीं दिखाई भी नहीं देगा।

1-"जो वृत्ति साधक को स्वयं के स्वरूप एवं परमात्मा की ओर उन्मुख करती है, वह वृत्ति अक्लिष्ट है अर्थात् उसे रोकना नहीं अपितु प्रयत्नपूर्वक बढ़ाना चाहिए।"

2-"जो वृत्ति साधक को स्वयं के स्वरूप एवं परमात्मा से विमुख करती हो, वह क्लिष्ट वृत्ति कहलाती है अर्थात् ऐसी वृत्तियों को व्यवहारकाल में बलपूर्वक रोकने, नष्ट करने का निरंतर अभ्यास करना चाहिए।"

इससे यह स्पष्ट होता है कि सभी 5 प्रकार की मूलभूत वृत्तियों के सभी भेदों का निरोध आवश्यक नहीं है, क्योंकि जब तक हम गन्तव्य (अंतिम लक्ष्य) तक नहीं पहुंचते हैं तब तक यात्रा तो करनी पड़ेगी और जीवन की इस यात्रा में बिना इन पांच प्रकार की मूलभूत वृत्तियों का सहारा लिए हम योग के मार्ग पर , भगवान के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकते हैं। आगे के सूत्रों में क्रमश बताएंगे कि कैसे एक एक वृत्ति सुख दुख दोनों देने वाली होती है।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥1.7॥

पदच्छेदः प्रत्यक्ष , अनुमान , आगमाः , प्रमाणानि ।

शब्दार्थः प्रत्यक्ष- प्रत्यक्ष, **अनुमान**- अप्रत्यक्ष पदार्थ का ज्ञान (और), **आगमाः** - वेद, शास्त्र तथा आप्त-पुरुष के वचन - (ये तीन), **प्रमाणानि** - प्रमाण (वृत्तियाँ हैं)।

व्यासभाष्यम्- इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः। बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः । अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः संबन्धो यस्तद्विषया सामान्यवधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः। आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते, मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात् ॥७॥

भाष्यानुवादः - इन्द्रियप्रणाली के द्वारा चित्त का बाहरी वस्तु से सम्पर्क होने के कारण उस विषय वाली प्रधानता से सामान्य विशेषात्मक पदार्थ के विशेष धर्म का निश्चय करने वाली वृत्ति 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है। उस प्रमाण के समान रूप वाला पुरुष का जो ज्ञान, वह ही प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है। पुरुष, बुद्धि में उतरे चित्र का अनुभव करने वाला होता है। अनुमेय के तुल्यजातीय (समान जातीय) वस्तु में अनुवृत्त (अनुगत) और भिन्नजातीय वस्तु से व्यावृत्त (हटी हुई) जो सम्बन्ध है, उसको विषय बनाने वाली, पदार्थ के सामान्य-धर्म को प्रधान-रूप से बताने वाली वृत्ति 'अनुमान प्रमाण' है। उदाहरण जैसे कि कोई वस्तु एक स्थान में हो वही कालान्तर में भिन्न स्थान (देश) में दिखाई दे तो इससे यह पता चलता

है कि उस वस्तु में गति है। जैसे चन्द्रमा और तारे एक देश में दृष्टिगत होकर कालान्तर में अन्य देश में देखे जाते हैं इससे चन्द्रमा और तारों में गति सिद्ध होती है, जिस प्रकार चौत्र नामक व्यक्ति में गति सिद्ध है। इसी प्रकार विन्ध्य पर्वत एक देश से दूसरे देश में दिखाई नहीं देता अतः उसमें गति नहीं है, यह सिद्ध होता है। आप्त के द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाना हुआ जो पदार्थ वा विषय है, दूसरे को देने के लिए शब्द के द्वारा उपदेश किया जाता है। (आप्त के उस) शब्द से श्रोता की पदार्थ विषयक जो वृत्ति है वह श्रोता के लिए 'आगम प्रमाण' है। जिस आगम का वक्ता श्रद्धा के योग्य नहीं है और जिस वक्ता ने प्रत्यक्ष वा अनुमान से पदार्थ को नहीं जाना है वह आगम प्रमाण कोटि से गिर जाता है। मूल वक्ता (आप्त) के द्वारा जिसने पदार्थ के स्वरूप को प्रत्यक्ष वा अनुमान प्रमाण से जाना है, ऐसे सत्यवक्ता का वचन प्रमाण कोटि से नही गिरता है। ।।७।।

योगदर्शन में प्रमाण के तीन प्रकार कहे गए हैं।

1.प्रत्यक्ष

2.अनुमान

3.आगम (शब्द प्रमाण)

जिस साधन या उपाय के माध्यम से किसी भी वस्तु के स्वरूप, एवं स्थिति की स्पष्टता का ठीक ठीक ज्ञान होता है उसे प्रमाण कहते हैं। महर्षि पतंजलि ने 5 वृत्तियों में सबसे पहले प्रमाण को ही वृत्ति कहा है। ये पांच वृत्तियों का एक क्रम है-

प्रमाण

विपर्यय

विकल्प

निद्रा

स्मृति

यथार्थ ज्ञान (प्रमाण-प्रत्यक्ष,अनुमान और आगम) से प्रारंम्भ होकर गलत, मिथ्या या उल्टा ज्ञान (विपर्यय) फिर केवल आभासी ज्ञान, बनावटी ज्ञान जो केवल शब्दों तक सीमित है वास्तव में उसका कोई अस्तित्व नहीं है (विकल्प) और सब प्रकार के ज्ञान जो जाग्रत एवं स्वप्न में होते हैं उस ज्ञान का अभाव होने पर भी जो एक नई अनुभूति होती है (निद्रा) और अंत में पूर्व में अनुभव किये गए विषयों (देखे गए, सुने गए, समझे गए, स्वाद लिए गए, बोले गए, किये गए, स्पर्श किये गए एवं गंध महसूस किए गए) का फिर से स्मरण (स्मृति) यह वृत्ति का एक विशेष क्रम है जिसमें से साधक को दुख देने वाली (क्लिष्ट) वृत्तियों को रोकने का निरंतर अभ्यास एवं वैराग्यपूर्वक विशेष प्रयत्न करना ही होता है। अब आईये सबसे पहले समझते हैं प्रत्यक्ष प्रमाण को।

प्रति+अक्ष=प्रत्यक्ष प्रति का अर्थ होता है सामने और अक्ष का अर्थ होता है आंख।

अतः प्रत्यक्ष का अर्थ हुआ "आंख के सामने"। आंख से यहां पर सभी ज्ञानेद्रियों को कहा गया है। प्रत्यक्ष का बड़ा अर्थ हुआ कि जो ज्ञान 5 ज्ञानेन्द्रियों का विषय (रूप,रस,गंध,स्पर्श और श्रवण) से

सीधा संपर्क होने पर होता है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। यह वृत्ति भी दुख देने वाली और सुख देने वाली हो सकती है अर्थात् योग मार्ग में ले जाने वाली और योग मार्ग से विमुख करने वाली हो सकती है। इसलिए साधक को चाहिए कि विवेकपूर्वक भेद करके उन्हीं प्रत्यक्ष प्रमाण को जीवन में स्थान दें जो एकाग्र या निरुद्ध अवस्था में उसे लेकर जाएं जहां से समाधि की अवस्था को पाया जा सके। अब प्रश्न यह उठता है कैसे पता चले कि कौन सी प्रमाण अंतर्गत प्रत्यक्ष वृत्ति क्लिष्ट है और कौन सी अक्लिष्ट!

इस जगत में शुभ भी प्रत्यक्षपूर्वक परिदृष्ट होता है और अशुभ भी। शुभ का प्रत्यक्ष होना चित्त को शांत और आनंदित करता है अर्थात् एकाग्रता की ओर ले जाता है वहीं दूसरी ओर अशुभ का प्रत्यक्ष होना चित्त को बाहर और भीतर से अशांत और क्षोभित करता है अर्थात् चित्त को चंचलता की ओर ले जाता है। ये एक ही प्रत्यक्ष अक्लिष्ट और क्लिष्ट भेद से सुख और दुख देने वाले हो जाते हैं।

अक्लिष्ट प्रत्यक्षः किसी को सेवा करते देखना, भगवतनाम् का संगीत सुनना, जिससे तन-मन प्रफुल्लित हो ऐसी सुगंध सूंघना, तन और मन दोनों हृष्ट पुष्ट हों ऐसा भोजन का स्वाद लेना आदि।

क्लिष्ट प्रत्यक्षः किसी होती हुई हिंसा को देखना, अश्लील दृश्य देखना, अश्लील और भड़काऊ संगीत सुनना, तामसिक गंध सूंघना, अभक्ष्य भोजन जैसे मांस, मदिरा आदि खाने का स्वाद लेना यह सब क्लिष्ट प्रत्यक्ष वृत्ति है और दुख देने वाली है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानम् अतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ 1.8॥

पदच्छेदः विपर्ययः , मिथ्या , ज्ञानम् , अतद्रूप , प्रतिष्ठम् ।

शब्दार्थः विपर्ययः- विपर्यय (का अर्थ है), **मिथ्या**- मिथ्या, **ज्ञानम्**- ज्ञान (जो), **अतद्रूप**- उस (वस्तु के) स्वरूप में, **प्रतिष्ठम्**- प्रतिष्ठित (नहीं है)।

व्यासभाष्यम् - स कस्मान्न प्रमाणम् ? यतः प्रमाणेन बाध्यते। भूतार्थविषयत्वात्प्रमाणस्य। तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम्। तद्यथा-द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति। सेयं पञ्चपर्वा भवत्यविद्या, अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति। एत एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्त्रोऽन्धतामिस्त्र इति, एते चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधास्यन्ते ॥८॥

भाष्यानुवादः - विपर्यय वृत्ति को प्रमाण क्यों नहीं माना जाता? क्योंकि वह प्रमाण से खण्डित हो जाती है। प्रमार्ण वास्तविक विषय वाला होता है (अर्थात् वस्तु का स्वरूप जैसा होता है उसको वैसा ही जनाता है)। प्रमाण के द्वारा अप्रमाण खण्डित देखा जाता है। जैसे नेत्रदोष होने पर दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं, वह एक चन्द्रमा का दो चन्द्रमाओं के रूप में दिखाई देना वास्तविक एक चन्द्रमा के देखने से अप्रमाणित हो जाता है। वह यह पाँच प्रकार की अविद्या है- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इन्हीं को तम, मोह, महामोह, तामिस्त्र, अन्ध तामिस्र नाम से कहा जाता है। इनको चित्तमलों के प्रसङ्ग में कहा जायेगा ॥८॥

पांच वृत्तियों में से दूसरी वृत्ति है विपर्यय। विपर्यय का सीधा अर्थ होता है, मिथ्याज्ञान अर्थात् गलत या उल्टा ज्ञान। व्यासभाष्य के अनुसार कहा गया कि विपर्यय प्रमाण क्यों नहीं है तो उत्तर दिया कि यह प्रमाण के द्वारा खंडित हो जाता है इसलिए यह प्रमाण नहीं है।

मिथ्याज्ञान, हमारी आध्यात्मिक उन्नति में सर्वथा बाधक है, क्योंकि यह धोखा दे सकता है और गंतव्य अर्थात् मंजिल तक भी नहीं पहुंचा सकता है। ईश्वर एवं आत्मसाक्षात्कार जैसी साधना तो यथार्त ज्ञान पर ही की जा सकती है इसलिए विपर्यय के स्वरूप को ठीक ठीक समझना योग मार्ग पर अत्यंत आवश्यक है।

प्रमाण जिसे साक्ष्य भी कह दिया जाता है, वह किसी भी विषय, वस्तु या परिस्थिति का वास्तविक ज्ञान कराता है और वहीं विपर्यय ठीक उल्टा ज्ञान कराता है।

उदाहरण के लिए- आप राह में चल रहे हैं, हल्का अंधेरा है और राह में एक रस्सी का टुकड़ा पड़ा हुआ है। उसके आकार टेढ़े मेढ़ेपन से सांप होने का मिथ्याज्ञान पैदा हो सकता है। अब वहां सांप तो है नहीं लेकिन आप उसे सांप समझकर भयभीत हो सकते हैं। लेकिन पास जाने से परीक्षण करने पर अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा आप रस्सी में सांप के मिथ्याज्ञान को हटा सकते हैं लेकिन जबतक आप प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा रस्सी को रस्सी नहीं देख लेते तब तक वह मिथ्याज्ञान बना रहेगा। इसलिए महर्षि पतंजलि ने विपर्यय को एक वृत्ति कहा है। ऐसे दैनिक जीवन में कई उदाहरण मिल जाते हैं- अंधेरे में पेड़ की ठूंठ में व्यक्ति के सर का मिथ्याज्ञान हो जाना।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच प्रकार के क्लेश विपर्यय के ही रूप हैं। इन पाँच प्रकार के क्लेशों के विषय में आगे विस्तार से समझेंगे।

क्लेश का सीधा अर्थ होता है- दु:ख। दु:ख ऐसी चीज है जो सबके जीवन में किसी न किसी रूप में आती ही है। योगदर्शन संपूर्णता से दु:ख एवं जिससे दुख उत्पन्न होते हैं उन कारणों एवं उनके निवारण किस प्रकार होंगे उनकी विस्तृत चर्चा करता है। आगे के सूत्रों एवं प्रकरणों में यह धीरे-धीरे स्पष्ट होता चला जायेगा।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥1.9॥

पदच्छेदः शब्द , ज्ञान , अनुपाती , वस्तु , शून्यः , विकल्पः ।

शब्दार्थः शब्द- (जो ज्ञान) शब्दजनित, **ज्ञान**- ज्ञान के, **अनुपाती**- साथ-साथ होनेवाला है; (और), **वस्तु**- वस्तु (की सत्ता से), **शून्यः**- शून्य (हो, वह), **विकल्पः**- विकल्प अर्थात् कल्पना है।

व्यासभाष्यम्- स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययोपारोही च। वस्तुशून्यत्वेपि शब्दज्ञानमाहात्म्य- निबन्धनो व्यवहारो दृश्यते। तद्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति। यदा चितिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन

व्यपदिश्यते, भवति च व्यपदेशे वृत्तिः। यथा चैत्रस्य गौरिति। तथा प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः, तिष्ठति बाणः स्थास्यति स्थित इति। गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते। तथानुत्पत्तिधर्मा पुरुष इति उत्पत्तिधर्मस्याभावमात्रमवगम्यते न पुरुषान्वयी धर्मः। तस्माद्विकल्पितः स धर्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति ॥९॥

भाष्यानुवादः - यह वृत्ति न तो प्रमाण के अन्तर्गत आती है और न ही विपर्यय के अन्तर्गत। वास्तविक अर्थ से रहित होने पर भी शब्दज्ञान के कारण इस का व्यवहार देखा जाता है। जैसे कि 'चैतन्य पुरुष का स्वरूप है'। जबकि चैतन्य ही पुरुष है तो कौन वस्तु किस वस्तु के द्वारा विशेषित की जा रही है? और इस प्रकार विशेषण विशेष्य का कथन करने पर एक प्रकार का ज्ञान होता है। यह ऐसी ही बनती है जैसे की चैत्र नामक व्यक्ति की गौ कहने पर वृत्ति बनती है। (अर्थात् ज्ञान होता है कि गौ विशेष्य है और चैत्र उसका विशेषण है)। (जैसे चैतन्य पुरुष का स्वरूप है इस उदाहरण में पुरुष में चैतन्य ध र्म को युक्त करके कहा जाता है) उसी प्रकार वस्तुधर्म से हीन करके भी कहा जाता है। उदा- पुरुष निष्क्रिय है। (जैसे पृथिवी परिवर्तन धर्मवाली है जीवात्मा वैसा परिवर्तन धर्म वाला नहीं है)। इसी प्रकार अन्य उदाहरण बाण रुकता है, रुकेगा, रुक गया आदि। ये सब विकल्प वृत्तियाँ हैं।
ये सब वृत्तियाँ विकल्प क्यों हैं, इस पर विचार करते हैं। देखिए यहाँ गति-निवृत्ति होने पर धात्वर्थ मात्र जाना जाता है। यहा बाण में कोई क्रिया नहीं है पुनरपि ठहरना = स्थित है, इस शब्द से क्रिया जैसा व्यवहार होता है। वैसे ही अनुत्पत्ति धर्म वाला पुरुष है। इस कथन से उत्पत्ति धर्म का अभाव मात्र जाना जाता है। पुरुष में रहने वाला कोई धर्म नहीं जाना जाता। यहा पुरुष में उत्पत्ति धर्म का अभाव कल्पित किया जाता है और उस कल्पितधर्म का **'विकल्प'** से व्यवहार होता है ॥९॥

विकल्प न तो प्रमाण है और न ही विपर्यय। विकल्प एक आभासी ज्ञान है जो सुनने से ज्ञान जैसा अनुभव कराता है लेकिन वास्तविक रूप से वहां कोई वस्तु,व्यक्ति या परिस्थिति होती नहीं है। यह केवल शाब्दिक होता है, ध्वनित होता है। विकल्प एक ऐसी शक्ति है जहां शब्दों के माध्यम से कुछ भी कल्पित किया जा सकता है जिसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती।
शास्त्रों में इसे अनेक उदाहरणों से प्रस्तुत किया गया है जैसे-बंध्या का पुत्र,आकाश का फूल,पुरुष की चेतनता, चैतन्य पुरुष का स्वरूप है।
क्हीं-कहीं पर विशुद्ध व्यवहार के लिए भी विकल्प वृत्ति का प्रयोग होता है और कहीं कहीं अज्ञानवश यह वृत्ति निर्मित हो जाती है। क्लिष्ट और अक्लिष्ट भाव से विकल्प वृत्ति दुख और सुख देने वाली होती।

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ 1.10॥

पदच्छेदः अभाव , प्रत्यय , आलम्बना , वृत्तिः , निद्रा ।

शब्दार्थः अभाव- अभाव (के ज्ञान की), **प्रत्यय**- प्रतीति (को), **आलम्बना**- अवलम्बन (ग्रहण) करने वाली, **वृत्तिः** - वृत्ति (को), **निद्रा** - निद्रा अर्थात् सुषुप्ति कहते हैं।

व्यासभाष्यम्- सा च संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात्प्रत्ययविशेषः। कथम् ? सुखमहमस्वाप्सम्। प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति। दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्। गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्। गुरूणि मे गात्राणि क्लान्तं मे चित्तम्। अलसं मुषितमिव तिष्ठतीति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे। तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा। सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति॥१०॥

भाष्यानुवादः (निद्रा से) जागने पर निद्रा सम्बन्धी स्मृति के आने से निद्रा भी एक प्रकार का विशेष ज्ञान (वृत्ति) है। कैसे ? मैं सुख से सोया, मेरा मन प्रसन्न, मेरी बुद्धि को निर्मल कर रहा है। मैं दुःखपूर्वक सोया, मेरा मन अकर्मण्य चञ्चल होकर घूम रहा है। मैं गाढ़निद्रा में मूढ़ावस्था में सोया। मेरे अङ्ग भारी हो रहे हैं। मेरा चित्त थका हुआ है। जागे हुए मनुष्य का ऐसा स्मरण इस प्रकार के अनुभवात्मक ज्ञान के बिना नहीं होना चाहिए। उस अनुभव के आश्रित रहने वाली स्मृतियाँ भी उसके विषय में नहीं होनी चाहिए। इस कारण निद्रा एक विशेष प्रकार का ज्ञान अथवा वृत्ति है। वह (निद्रा) समाधि अवस्था में अन्य वृत्तियों के समान निरोध करने योग्य है।।१०।।

सोकर जागने पर नींद की स्मृति आने से निद्रा को को भी महर्षि पतंजलि ने वृत्ति कहा है। व्यास भाष्य में पूछा गया कि निद्रा कैसे एक विशेष ज्ञान है? तो वेदव्यास जी कहते हैं कि- मुझे अच्छी नींद आई, मेरा मन प्रसन्न और हल्का सा महसूस हो रहा है अथवा मेरे अंग भारी लग रहे हैं, तमस और चंचलता मन मे छा रही है, पूरा शरीर अलसाया है, रात्रि को नींद अच्छे से नहीं आई, इस प्रकार का ज्ञान निद्रा से जागने के बाद बिना अनुभव के नहीं हो सकता। इसलिए निद्रा को एक प्रकार की वृत्ति कहा है। अक्लिष्ट और क्लिष्ट के भेद से यह वृत्ति भी वरण एवं निराकरण योग्य है। शास्त्रों में चेतना के अनुसार मनुष्य की चार अवस्थाएं होती हैं-जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, एवं तुरीय।

जाग्रत अवस्थाः जाग्रत वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति पूरी तरह जागा हुआ होकर अपने सभी कर्म विवेकपूर्वक, बोधपूर्वक सम्पन्न करता है। भला और बुरे में भेद करके जीता है।

स्वप्नावस्थाः स्वप्नावस्था वह है जिसमें व्यक्ति कुछ कुछ जगा हुआ और कुछ सोया हुआ, जाग्रत अवस्था में किये घे कर्मो एवं उन कर्मो से निर्मित संस्कारो के वशीभूत होकर विभिन्न विषयों को अनुभव करता है और स्वप्न देखता है।

सुषुप्तिः जब न तो व्यक्ति जगा हुआ होता है और न ही सोया हुआ वह तमोगुण आश्रित अवस्था सुषुप्ति की होती है। इस अवस्था में रजस गुण का अधिकतम अभाव होता है और सत्त्व का एक सहज प्रवाह होता है जिसके कारण अचंचल निद्रा, अविचलित निद्रा के प्रभाव से व्यक्ति कहता है कि आज मैं सुखपूर्वक सोया।

तुरीयावस्थाः तुरीय का अर्थ चतुर्थ होता है। तीनों से पार होने के कारण इसे तुरीय कहते हैं।

अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥1.11॥

पदच्छेदः अनुभूत , विषय , असम्प्रमोषः , स्मृतिः ।
शब्दार्थ : अनुभूत - (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा के) अनुभव किए हुए, **विषय** - विषय (का), **असम्प्रमोषः** - न छिपना अर्थात् संस्कारवश उनका ज्ञान के स्तर पर प्रकट हो जाना, **स्मृतिः** - स्मृति (कहलाता है)।

व्यासभाष्यम्:- किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्विद्विषयस्येति? ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहण ोभयाकारनिर्भासस्तज्जातीयकं संस्कारमारभते। स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहण ोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति।

तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः। ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः। सा च द्वयी भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च। स्वप्ने भावितस्मर्तव्या। जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति। सर्वाश्चैताः स्मृतयः प्रमाणविपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतिनामनुभवात्प्रभवन्ति। सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदु:खमोहात्मिकाः। सुखदु:खमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः ॥११॥

भाष्यानुवादः- चित्त क्या ज्ञान का स्मरण करता है अथवा वस्तु का ? वस्तु के स्वरूप से रंगा हुआ ज्ञान, वस्तु और ज्ञान दोनों के स्वरूप को प्रकट करने वाला, उसी प्रकार के संस्कार को उत्पन्न करता है। वह संस्कार, अपने उद्‌बोधक से उद्‌बुद्ध होकर उसी स्वरूपवाली = वस्तु एवं ज्ञान - इन दोनों के स्वरूपवाली स्मृति को उत्पन्न करता है।
इस प्रसंग में, अनुभव-ज्ञान प्रधान होता है। (और) स्मृति वस्तु प्रधान होती है। वह (स्मृति) दो प्रकार की होती है। कल्पित विषय को लेकर होनेवाली और यथार्थ विषय को लेकर होनेवाली। स्वप्न में होनेवाली स्मृतियाँ कल्पित विषय को लेकर और जाग्रत् में होनेवाली स्मृतियाँ यथार्थ विषय को लेकर होती हैं। ये सारी स्मृतियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृतियों के अनुभव से उत्पन्न होती है। ये सभी वृत्तियाँ सुख, दु:ख और मोह स्वरूप वाली होती हैं। सुख दु:ख और मोह की व्याख्या क्लेशों के प्रसंग (योगदर्शन २/३) में करने योग्य है। ॥११॥

अब बात करते हैं अंतिम और क्रम में पांचवीं वृत्ति की, जिसे महर्षि ने स्मृति के नाम से कहा है। योगदर्शन के अनुसार स्मृति का अर्थ है-अपने जीवन काल में पहले अनुभव किये गए विषयों का फिर से स्मरण हो आना अर्थात् आपने आज से 2 वर्ष पहले किसी बुजुर्ग माता को सड़क पार कराई थी वो घटना या अनुभव आज फिर से आपको याद आ रही है तो इसे ही योगदर्शन में अंतिम और

पांचवीं वृत्ति कहा गया है।

योगदर्शन के ऊपर प्रामाणिक भाष्य वेदव्यास भाष्य उपलब्ध है, उसके अनुसार, हमारा चित्त (मन-बुद्धि-अहंकार) ज्ञान और वस्तु दोनों का स्मरण करता है। वस्तु का जो स्वरूप होता है उससे अभिन्न ज्ञान, उस वस्तु, घटना एवं उसके ज्ञान दोनों के शुद्ध स्वरूप को बताने वाला होता है और फिर वस्तु एवं ज्ञान के अनुसार ही संस्कार को उत्पन्न करता है, और फिर यह संस्कार तद्रूप स्मृति (वस्तु और ज्ञान दोनों) को उत्पन्न करता है। जैसा कि ऊपर तीन प्रकार की अवस्थाओं को कहा गया था, जाग्रत,स्वप्न और सुषुप्ति।

जाग्रत काल में होने वाली स्मृतियां यथार्त विषय वाली होती हैं और स्वप्न में होने वाली स्मृतियां कल्पित विषय को लेकर होती हैं इस प्रकार से सुख, दुख और मोह में डालने वाली ये स्मृतिरूप वृत्तियाँ त्याज्य हैं। योग की उच्चतम अवस्था समाधिस्थ अवस्था को पाने में स्मृति के साथ-साथ सभी वृत्तियाँ बाधक हैं इसलिए साधक को इन्हें अभ्यास और वैराग्य की सहज साधना से रोकना चाहिए। जो भी स्मृतियाँ ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्माचरण की ओर ले जाएँ वे स्मृतियाँ साधना में बाधक नहीं बल्कि सहायक हैं।

स्मरणीय बिन्दु

- वृत्तियों के मूल भेद: चित्त की वृत्तियाँ मुख्य रूप से पाँच प्रकार की होती हैं, जो आगे चलकर क्लिष्ट (दु:ख देने वाली) और अक्लिष्ट (सुख/विवेक देने वाली) दो भेदों में विभाजित होती हैं।
- वृत्ति-संस्कार चक्र: वृत्तियाँ सदैव अपने जैसी प्रकृति के संस्कारों को जन्म देती हैं और संस्कारों से पुनः वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं; यह चक्र दिन-रात निरंतर चलता रहता है।
- पाँच मूलभूत वृत्तियाँ: महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्त की पाँच मूलभूत वृत्तियाँ क्रमशः प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति हैं।
- प्रमाण के प्रकार: यथार्थ ज्ञान कराने वाली प्रमाण वृत्ति के तीन प्रकार हैं: प्रत्यक्ष (इन्द्रिय-जन्य), अनुमान (लक्षण-जन्य), और आगम (आप्त पुरुष के वचन)
- चेतना की अवस्थाएँ और निद्रा: चेतना की चार अवस्थाएँ हैं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय)। जागने के बाद ''मैं सुख से सोया'' ऐसी प्रतीति या मानसिक भान होने के कारण निद्रा को भी एक विशिष्ट वृत्ति माना गया है।

विशेष शब्दावली

क्लिष्ट: अविद्या आदि पाँच क्लेशों को जन्म देने वाली तथा जीवात्मा को दु:ख व कर्मबन्धनों में फँसाने वाली मानसिक अवस्था।

विवेकख्याति: प्रकृति और पुरुष (आत्मा) के वास्तविक व पृथक् स्वरूप का होने वाला परम शुद्ध ज्ञान।

अतद्रूपप्रतिष्ठम्: किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप से भिन्न (गलत या मिथ्या) स्वरूप में स्थित होना।
वस्तुशून्यो: वास्तविक धरातल या बाह्य जगत में किसी ठोस पदार्थ या सत्ता की उपस्थिति का न होना।
अनुभूतविषयासंप्रमोषः पूर्व में अनुभव किए गए विषयों का चित्त में न छिपना अर्थात् संस्कारों के कारण दोबारा प्रकट हो जाना (स्मृति)।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियों में क्या अंतर है? योग साधना में इनमें से किसका निरोध आवश्यक है?
प्रश्न 2: विपर्यय वृत्ति को महर्षि पतंजलि ने मिथ्याज्ञान क्यों कहा है? एक उदाहरण देकर समझाइए।
प्रश्न 3: विकल्प वृत्ति की परिभाषा क्या है? यह विपर्यय से किस प्रकार भिन्न है?
प्रश्न 4: सोकर उठने के बाद होने वाले अनुभवों के आधार पर सिद्ध कीजिए कि निद्रा भी एक वृत्ति है।
प्रश्न 5: स्मृति वृत्ति कितने प्रकार की होती है? जाग्रत और स्वप्न काल की स्मृतियों में क्या भेद है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः सूत्र की व्यासभाष्य के अनुसार सविस्तार व्याख्या कीजिए तथा वृत्ति-संस्कार चक्र के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
प्रश्न 2: महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित प्रमाण वृत्ति के भेदों की सोदाहरण समीक्षा कीजिए तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान के व्यावहारिक अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 3: चित्त की पाँचों मूलभूत वृत्तियों (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति) के क्रमिक वैज्ञानिक विकास को समझाइए तथा यह स्पष्ट कीजिए कि ये वृत्तियाँ किस प्रकार साधक को योगमार्ग की ओर ले जाती हैं अथवा उससे विमुख करती हैं।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. महर्षि पतंजलि के अनुसार चित्त की मूलभूत वृत्तियाँ कुल कितने प्रकार की हैं?
(1) तीन
(2) चार
(3) पाँच
(4) आठ
प्रश्न 2. जो वृत्तियाँ अविद्या आदि पाँच क्लेशों को जन्म देती हैं तथा दुःख का कारण बनती हैं, वे क्या कहलाती हैं?
(1) अक्लिष्ट वृत्तियाँ
(2) क्लिष्ट वृत्तियाँ

(3) प्रमाण वृत्तियाँ

(4) विकल्प वृत्तियाँ

प्रश्न 3. विवेकख्याति को उत्पन्न करने वाली तथा गुणों के अधिकार का विरोध करने वाली वृत्तियाँ हैं:

(1) क्लिष्ट

(2) विपर्यय

(3) अक्लिष्ट

(4) स्मृति

प्रश्न 4. वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से पुनः वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, इस चक्र को क्या कहा जाता है?

(1) भव चक्र

(2) संसार चक्र

(3) काल चक्र

(4) वृत्तिसंस्कार चक्र

प्रश्न 5. इन्द्रियप्रणाली के माध्यम से चित्त का बाह्य वस्तु से सीधा संपर्क होने पर कौन-सा प्रमाण घटित होता है?

(1) अनुमान प्रमाण

(2) प्रत्यक्ष प्रमाण

(3) आगम प्रमाण

(4) शब्द प्रमाण

प्रश्न 6. चन्द्रमा और तारों में स्थान परिवर्तन देखकर उनकी गति का निश्चय करना किस प्रमाण का उदाहरण है?

(1) प्रत्यक्ष

(2) आगम

(3) अनुमान

(4) विपर्यय

प्रश्न 7. विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्... सूत्र के अनुसार विपर्यय कहाँ प्रतिष्ठित नहीं होता?

(1) चित्त में

(2) अतद्रूप में

(3) वस्तु के वास्तविक स्वरूप (तद्रूप) में

(4) संस्कारों में

प्रश्न 8. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो... निम्नलिखित में से किस वृत्ति का लक्षण है?

(1) निद्रा

(2) विकल्प

(3) विपर्यय

(4) स्मृति

प्रश्न 9. अभाव की प्रतीति या ज्ञान को अपना आलम्बन (आश्रय) बनाने वाली वृत्ति कौन-सी है?

(1) स्मृति

(2) विकल्प

(3) निद्रा

(4) मूढ़

प्रश्न 10. स्वप्न काल में होने वाली स्मृतियाँ किस श्रेणी के अंतर्गत आती हैं?

(1) अभावितस्मर्तव्या (यथार्थ)

(2) प्रत्यक्ष प्रमाण

(3) भावितस्मर्तव्या (कल्पित)

(4) अक्लिष्ट वृत्ति

खण्ड-2

उद्देश्य

- अभ्यास और वैराग्य के वास्तविक स्वरूप को समझाना।
- सम्प्रज्ञात समाधि के चारों प्रकारों का स्पष्ट ज्ञान देना।
- महर्षि पतंजलि के अनुसार ईश्वर के स्वरूप को परिभाषित करना ।
- चित्त की प्रसन्नता के चार व्यावहारिक विज्ञान (मैत्री, करुणा आदि) को सिखाना।
- मन को एकाग्र करने वाले प्राणायाम और ध्यान के विभिन्न उपायों का वर्णन करना।

परिणाम

- विद्यार्थी अभ्यास और वैराग्य से अपनी चंचल मानसिक तरंगों को नियंत्रित करने में सफल होंगे ।
- सकारात्मक व्यवहार विज्ञान अपनाकर छात्रों का जीवन तनावमुक्त, शांत और प्रसन्न बनेगा।
- प्राणायाम और ध्यान के वैज्ञानिक अभ्यासों से विद्यार्थियों का शारीरिक व मानसिक बल बढ़ेगा ।
- विपरीत परिस्थितियों और असफलताओं में भी छात्र अडिग रहकर लक्ष्यों को पूरा कर सकेंगे।
- ध्यान तकनीकों और प्राणायाम के विशेषज्ञ बनकर योग परामर्शदाता के रूप में अच्छी आर्थिक आय अर्जित करेंगे।

इकाई-5
चित्त वृत्तिनिरोध का उपाय (अभ्यास-वैराग्य)

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥1.12॥

पदच्छेदः अभ्यास, वैराग्याभ्याम्, तत्, निरोधः।

शब्दार्थः अभ्यासः- अभ्यास (और), **वैराग्याभ्याम्ः**- वैराग्य से, **तत्ः**- उन (चित्तवृत्तियों का), **निरोधः**- निरोध (होता है)।

व्यासभाष्यम् - चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्त्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्त्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाध ीनश्चित्त- वृत्तिनिरोधः॥१२॥

भाष्यानुवादः - चित्तरूपी नदी दो धाराओं में कल्याण और पाप के लिए बहती है। जो धारा कैवल्य की ओर ले जाने वाली है तथा विवेक मार्ग की ओर झुकी हुई है, वह कल्याण के लिए बहती है। जो धारा संसार की ओर जाने वाली है, अविवेक विषय की ओर झुकी हुई है, वह पापवहा है। इन

दोनों में से वैराग्य के द्वारा अविवेक विषयवाली धारा सुखाई जाती है। विवेकदर्शन के अभ्यास के द्वारा विवेकस्रोत उद्घाटित किया जाता है। इस प्रकार चित्तवृत्ति इन दोनों अभ्यास और वैराग्य के आधीन है ।।१२।।

अभी तक हमने योग के अनुशासन, योग की परिभाषा और वृत्तियों के विषय में विस्तार से जाना। यह सूत्र योगदर्शन के महत्वपूर्ण सूत्रों में से एक है। इसका सीधा अर्थ है कि- अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वृत्तियों का निरोध हो सकता है अर्थात् विचाररूपी तरंगो को सहजता से रोका जा सकता है।

यहाँ हम अभ्यास और वैराग्य को एक एक कर समझने का प्रयास करेंगे क्योंकि यदि इन्हें ठीक से नहीं समझा गया तो योग में उन्नति कदापि सम्भव नहीं है। सीधी भाषा में कहूँ तो अभ्यास का अर्थ है प्रयत्न या पुरुषार्थ। वैराग्य का अर्थ है सहज पुरुषार्थ या आन्तरिक पुरुषार्थ

अभ्यास से एक ओर हम प्रयत्न पूर्वक या यूँ कहें बलपूर्वक बाहरी चेष्टाएँ कर आचरण की पवित्रता रखते हैं वहीँ दूसरी ओर सहज आन्तरिक पुरुषार्थ से अपने जीवन को सँभालते हैं।

योग सम्पूर्णता का नाम है- यहाँ शरीर भी संभाला जाता है और आंतरिक जीवन भी। स्थूल और सूक्ष्म रूप से जबतक हम प्रयत्नशील नहीं होंगे तब तक योग में गति संभव नहीं है क्योंकि दोनों एक दुसरे के पूरक हैं। यदि आपका शरीर स्वस्थ नहीं है तो आपका योग में प्रवेश ही असंभव है और यदि आप शरीर से कदाचित स्वस्थ लग भी रहे हैं और मन से बीमार हैं तो थोड़े बहुत योग में प्रवेश के बाद आपकी गति विपरीत हो जाएगी और सम्भावना अधिक होगी कि आप पुनः प्रवेश में घबराएंगे।

इसलिए अभ्यास और वैराग्य के माध्यम से हम योग में प्रतिष्ठित होते हैं। यह हमारी क्लिष्ट वृत्तियों अर्थात् ऐसी विचारों को सहज ही रोकता है जो हमें दु:ख देती हैं, हमारे मन में विचलन उत्पन्न करती हैं।

व्यास भाष्य के अनुसार, चित्त को नदी कहा गया है जो कि दो धाराओं में बहती है। उसकी एक धारा कल्याण के लिए बहती है और दूसरी पाप के लिए। जो धारा कल्याण पथ पर बहती है वह साधक को कैवल्य के मार्ग पर ले जाने वाली है और विवेक-मार्ग पर झुकी हुई है। जो धारा संसार की ओर ले जाने वाली है और अविवेक विषय मार्ग की ओर झुकी हुई है। इन दोनों में से वैराग्य के द्वारा पापवहा धारा सुखाई जाती है और सतत विवेक दर्शन के अभ्यास से विवेक को जगाया जाता है। इस प्रकार चित्त की वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य के अधीन होता है।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥1.13॥

पदच्छेदः तत्र, स्थितौ, यत्नः, अभ्यासः।

शब्दार्थः तत्रः- उन (दोनों - अभ्यास और वैराग्य, में से), **स्थितौः**- (चित्तकी) स्थिरता के लिए **यत्नः**- (जो) प्रयत्न (करना है, वह), **अभ्यासः**- अभ्यास (है)।

व्यासभाष्यम्- चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः। तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः। तत्संपिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः ॥१३॥

भाष्यानुवादः राजस् और तामस् वृत्तियों से रहित चित्त का तरङ्गों से रहित हो जाना प्रशान्त वाहिता स्थिति है। उसको सम्पन्न करने के लिए साधन- प्रयत्न, बल और उत्साह हैं। उस स्थिति को प्राप्त करने की इच्छा से उसके साधनों का अनुष्ठान करना ही अभ्यास है।।१३।।

इससे पहले के सूत्र में बताया गया कि अभ्यास और वैराग्य ये दो तत्त्व हैं जो विचारों को व्यवस्थित और फिर रोक सकते हैं। अब महर्षि पतंजलि अभ्यास के विषय में विद्यार्थियों को समझा रहे हैं कि अभ्यास का स्वरुप या उसका वास्तविक अर्थ क्या है?

अभ्यास और वैराग्य दोनों में से हमारे चित्त की सम्यक स्थिति के लिए जो विशेष यत्न अर्थात् प्रयत्न अथवा प्रयास किया जाता है उसे अभ्यास कहते हैं।

चित्त की वह अवस्था जिसमें रजस् और तमस् का अभाव होता है उसे योगदर्शन की भाषा में ही "स्थिति" कहते हैं और उसके लिए जो भी प्रयास या प्रयत्न किया जाता है उसके लिए बल और उत्साह आवश्यक है। साधक में यदि बल और उत्साह नहीं है तो बिना इन साधनों के वह कोई भी अनुष्ठान संपन्न नहीं कर सकता है।

प्रश्न उठता है कि बल और उत्साह क्यों आवश्यक हैं?

बल तीन प्रकार के होते हैं-

१. शारीरिक

२. मानसिक

३. आत्मिक

शारीरिक बलः- नियमित योगाभ्यास, व्यायाम, सम्यक श्रम और दैनिक कर्मों के नियमन से शारीरिक बल बढ़ता है।

मानसिक बलः- अच्छे विचारों को सोचने से, उनके अनुरूप कर्म करने से और छोटे छोटे संकल्पों की पूर्ति से बढ़ता है।

आत्मिक बलः- शारीरिक और मानसिक बल के बढ़ने से जब व्यक्ति के कथनी और करनी में अंतर नहीं रह जाता है तब स्वाभाविक रूप से आत्मिक बल में वृद्धि आरंभ हो जाती है जिसका साधक बहुत गहराई से अनुभव कर सकता है।

ये तीन प्रकार के बल जब साधक में धीरे धीरे विकसित होने आरंभ हो जाते हैं तो उसी अनुपात में उत्साह का भी जन्म होना आरंभ हो जाता है। बल और उत्साह का यह युगपत उद्भव दृढ अभ्यास बनकर मन, बुद्धि, इन्द्रियों, चित्त पर अपना सहज नियंत्रण करने लगता है। यह इतना सहज और प्रखर होता है कि साधक के क्लिष्ट विचार इसमें भस्मीभूत हो जाते हैं और केवल अक्लिष्ट विचार ही बचते हैं जो साधक को उर्ध्व गति में गतिमान कर देते हैं।

यदि सब प्रकार का बल हो लेकिन मन में उत्साह न हो तो भी कोई लाभ नहीं है, लेकिन ऐसा होता

नहीं है कि आप शारीरिक, मानसिक और आत्मिक रूप से सबल हों और आप में उत्साह न हो। ये तीन बल जब धीरे धीरे व्यक्ति में आते हैं तो साथ साथ में उत्साह भी जन्म लेने लगता है या यूँ कहें कि उत्साह यदि व्यक्ति में आता है तो तीन प्रकार के बल भी साधक में जन्म लेने लगते हैं।

जब बल और उत्साह साधक को अनुभव में आने लग जाये तो सतर्कता के साथ उसका उपयोग योग में गतिमान होने के लिए करना चाहिए। यदि हमें नहीं पता कि उसका कैसे उपयोग करना है तो समस्या हो सकती है। बल और उत्साह से ही भौतिक जीवन में प्रगति होती है और उसी बल और उत्साह का आंतरिक जीवन में भी प्रयोग कर हम निर्विकार हो सकते हैं।

बल और उत्साह को ही यहाँ पर अभ्यास कहा गया है। यदि किसी साधक ने नियमित योगाभ्यास और अच्छे आहार, आचार एवं विचार से शारीरिक एवं मानसिक बल प्राप्त कर लिया हो तो वह कैसे अपने जीवन में अच्छे अभ्यासों और व्रतों को धारण कर सकता है आईये इसपर एक दृष्टि डालते हैं-रात्रि में सोने का अभ्यास या प्रक्रिया,प्रातः काल उठने का अभ्यास, योग का अभ्यास, ध्यान का अभ्यास, सात्विक आहार का अभ्यास, सात्विक सोचने और विचारने का अभ्यास, कर्म करते समय केवल कर्म करने का अभ्यास, वाणी का अभ्यास, व्यवहार का अभ्यास, देखने, सुनने, बोलने का सही अभ्यास। ऐसे बहुत सारे अभ्यास हैं जिनपर साधक को पूरी सजगता के साथ कार्य करना पड़ता है, इन अभ्यासों से जीवन तो बहुत सुन्दर बन ही जाता है साथ ही साथ योग के पथ पर भी साधक आगे बढ़ जाता है। वह अपने विचारों को नियंत्रित करने में सफल होने लगता है। एक ओर जब तीव्र अभ्यास होगा और साथ ही वैराग्य रूपी सहजता भी होगी तो योग में प्रतिष्ठा होने लग जाएगी।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥1.14॥

पदच्छेदः सः, तु, दीर्घ, काल, नैरन्तर्य, सत्कार, आसेवितः, दृढ, भूमिः।।

शब्दार्थः तु- परन्तु, **दीर्घ-** बहुत, काल - समय (तक), **नैरन्तर्य-** निरन्तर (और), **सत्कार-** श्रद्धा के साथ, **आसेवितः** - सेवन किया हुआ, **सः-** वह (अभ्यास), **दृढ़ः-** दृढ, **भूमिः-** अवस्था (वाला हो जाता है)।

व्यासभाष्यम्: दीर्घकालासेवितो, निरन्तरासेवितः, सत्कारासेवितः। तपसा, ब्रह्मचर्येण, विद्यया, श्रद्धया च संपादितः सत्कारवान्दृढभूमिर्भवति। व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः॥१४॥

भाष्यानुवादः - दीर्घकालपर्यन्त (अधिक समय तक) किया गया, सतत किया गया तथा तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धापूर्वक किया गया सत्कारवान् **'अभ्यास'** दृढ़ अवस्था वाला होता है, व्युत्थान संस्कार के द्वारा तत्काल अभिभूत न होने वाला होता है **॥१४॥**

बल और उत्साह से युक्त वह अभ्यास कैसे साधक को योग में प्रतिष्ठित करेगा इस पर महर्षि कहते हैं कि एक बार के अभ्यास से कुछ भी होने वाला नहीं है।

लम्बे समय तक, निरंतरता पूर्वक, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, तप और विद्यापुर्वक अनुष्ठान किया हुआ होना चाहिए वह अभ्यास। ऐसा अभ्यास ही दृढ भूमि वाला होता है। दृढ भूमि से आशय है कि ऐसा अभ्यास जिसका आधार दृढ है। साधक में बल भी है और उत्साह भी लेकिन कभी कभी योग में प्रवृत होने का अभ्यास करता है तो ऐसा अभ्यास उसे योग में गतिमान नहीं कर सकता है। इसलिए लम्बे समय और निरंतरता के साथ, श्रद्धा, तप, ब्रह्मचर्य और विद्यापुर्वक किया गया अभ्यास ही फलदायी होता है। हम प्रायः देखते हैं कि लोग थोड़े बहुत प्रयास के बाद टूट जाते हैं, संकल्पों की इतिश्री कर देते हैं और बाद में पछताते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि हम बार बार ब्रह्मचर्य में रहने का प्रयास करते हैं लेकिन अचानक से कुछ संस्कार अत्यंत वेग से आते हैं और हमारी उर्जा उस आंधी, तूफान में नष्ट हो जाती है फिर ग्लानि भाव, अपराध बोध से हमारा सारा चित्त मलिन हो जाता है। इसका केवल एक ही कारण है कि हमने जो संकल्प लिए और उन संकल्पों की पूर्ति हेतु जो अभ्यास हमने किया था उसका आध ार बहुत ही कमजोर था जो व्युत्थान के समय उठने वाले संस्काओं की मार को सहन नहीं कर पाया। यदि हमारे अभ्यास श्रद्धा,तप,विद्या और ब्रह्मचर्य पूर्वक किये हों तो सच्चे साधक की स्थिति व्युत्थान संस्कारों में भी अडिग रहती है। उन्हें अपने आधार मजबूत करने होंगे, बार बार गिरकर भी उतनी ही दृढ़ता से उठना होगा, संभलना होगा और पुनः जुट जाना होगा अपनी वास्तविक स्थिति को पाने के लिए। यह केवल ब्रह्मचर्य के ऊपर ही लागू नहीं होता, यह प्रत्येक उस स्थिति पर लागू होता हैं जहाँ भी हमने अपने संकल्पों को संजोया होगा।

हमारे भीतर हार के संस्कार बहुत प्रबल हैं इसलिए जब भी साधक कोई संकल्प के साथ अपने अभ्यास आरंभ करता है तो पिछले हार के संस्कार और संकल्प के विरुद्ध में संस्कार एकसाथ मिलकर साधक को डिगाने का काम करते हैं और यदि साधक के भीतर तीव्र अभीप्सा नहीं है अपने संकल्प को पूर्ण करने की तो हवा के एक झटके में सबकुछ नष्ट हो जाता है।

सूत्र में एक शब्द आया है सत्कार- यह बहुत ही सुन्दर शब्द है। जब भी आपके घर में कोई अतिथि आता है तो आप उसका सत्कार करते हैं। जैसे- उन्हें बैठने के लिए कहेंगे, उन्हें अच्छा आसन देंगे, जलपान के लिए पूछेंगे, उनके लिए अच्छा और सात्विक भोजन की व्यवस्था करेंगे, उनके विश्राम की उचित व्यवस्था करेंगे, उन्हें आपके घर में किसी भी प्रकार की असुविधा न हों इसका भरपूर प्रयास करेंगे। यहाँ तक कि आपके घर में कोई संसाधन न भी हों तो पडोसी से मांगकर वो संसाधन आप अथिति की सेवा में लगायेंगे।

यदि आपके मन में अतिथि के आगमन से प्रसन्नता नहीं होगी तो आप अथिति की सेवाओं के ऊपर विशेष ध्यान नहीं देंगे। आप आथित्य सत्कार तभी कर सकते हैं जब आपके मन में अतिथि को लेकर श्रद्धा का भाव हो, उसका आगमन आपको प्रसन्नता देता हो, आपका मन निश्चल हो और अपनी सुविधाएँ कम करके भी आप अतिथि की सेवा करने को इच्छुक हों।

अभ्यास के प्रति भी जब हमारा मन इतने ही श्रद्धा भाव से भरा हुआ होगा, अभ्यास को हम प्रथम वरीयता देंगे, उसके रक्षणार्थ हम तप करने को भी प्रतिबद्ध होंगे, अभ्यास की महिमा का ज्ञान हमें

भली भांति होगा तभी हम अभ्यास की रक्षा कर सकते हैं और ऐसा सत्कारपूर्वक किया गया अभ्यास ही हमारी रक्षा करता है।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥1.16॥

पदच्छेदः दृष्ट , आनुश्रविक , विषय , वितृष्णस्य , वशीकार , संज्ञा , वैराग्यम्
शब्दार्थ : दृष्ट- देखे हुए (और), **आनुश्रविक**- सुने हुए, विषय- विषयों में (सर्वथा), **वितृष्णस्य** - तृष्णारहित (है, उसका), **वैराग्यम्** - वैराग्य, **वशीकार** - अपर-वैराग्य, **संज्ञा** - नाम वाला है।

व्यासभाष्यम्- स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये वितृष्णस्य, स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥१५॥

भाष्यानुवादः- स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्यादि 'दृष्टविषय' हैं। स्वर्ग, विदेह बनने की इच्छा और प्रकृतिलयत्व आदि 'आनुश्रविकविषय' हैं। इन सबमें तृष्णा रहित तथा दिव्यादिव्य कि के साथ सम्बन्ध होने पर भी उनमें विषय दोषदर्शी चित्त की प्रसंख्यान के बल से जो अनाभोगात हेयोपादेय से शून्य वशीकार अनुभूति अर्थात् मन-इन्द्रियों को वश में करने का अनुभव 'वैराग्य' कहलाता है।। १५।।
अब वैराग्य के स्वरुप अर्थात् उसके वास्तविक रूप को समझने का प्रयास करते हैं। पूर्व में कहा जा चुका है कि अभ्यास और वैराग्य को सटीकता से समझने का प्रयास अवश्य करना चाहिए क्योंकि योग साधना में गति पाने के लिए ये बहुत महत्वपूर्ण साधन हैं।
महर्षि कहते हैं-"दृष्ट अर्थात् देखे हुए विषयों में और आनुश्राविक अर्थात् सुने गए विषयों में तृष्णा रहित योगी की मन और इन्द्रियों पर पूर्ण रूप से नियंत्रण की स्थिति या अनुभूति वैराग्य कहलाती है "
देखे गए विषय हैं (दृष्ट)- आँख का विषय (सांसारिक सौन्दर्य), रसना के विषय (स्वादिष्ट अन्न, स्वादिष्ट पेय) ऐश्वर्य आदि। जब तक इन देखे जाने वाले विषयों में भोगासक्ति बनी है तब तक वैराग्य उद्घाटित नहीं हो सकता है। लेकिन ऐसा नहीं है कि तो जो योगमार्ग में आरूढ़ करने वाले साधन हैं उनका सहारा नहीं लेना है, वे हेय नहीं है यदि वे आपको साधना के मार्ग पर चला रहे हैं तो, इसका निर्धारण साधक को स्वयं में करना पड़ता है।
सुने हुए विषय हैं (आनुश्राविक)- शास्त्रों के द्वारा जो सुने जाते हैं और जिनका कोई प्रत्यक्ष अनुभव साधक को नहीं होता है उन्हें आनुश्राविक विषय कहा जाता है। यदि इन सुने हुए विषयों में मन फल की कल्पना कर रहा है या किसी भी तरह चित्त इसमें लोभ भावना से लिप्त है तो यह स्थिति भी योग में बाधक है और वैराग्य का नाश करने वाली है। इसलिए इन सुने हुए विषयों को केवल शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से समझने मात्र से चित्त निर्मल बना रहता है।
जब साधक का चित्त उपरोक्त दोनों प्रकार के विषयों से निर्लिप्त होकर जीवन साधना में आगे बढ़ता है तो उसके भीतर एक सहज वैराग्य उदय होता है जो विवेक और अभ्यास के साथ मिलकर समाधि

के मार्ग पर साधक को आगे बढ़ाता है। वैराग्य को यदि सीधे शब्दों में कहें तो निर्लिप्तता, तृष्णा से रहित चित्त, लोभ से रहित चित्त।योगदर्शन के अनुसार इसे अपर वैराग्य भी कहा जाता है और यह सम्प्रज्ञात समाधि का उपाय है।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥1.16॥

पदच्छेदः तत् , परम् , पुरुष , ख्यातेः , गुण , वैतृष्ण्यम् ।
शब्दार्थः- पुरुष-ख्यातेः - पुरुष के (असल स्वरूप) के ज्ञान से, **गुण** - (जो प्रकृति के) गुणों में, **वैतृष्ण्यम्**- तृष्णा रहित हो जाना है, **तत्**- वह, **परम्**- पर-वैराग्य है।

व्यासभाष्यम्- दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायित-बुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तद्वयं वैराग्यम्। तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्। यस्योदये योगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते-प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः शिलष्टपर्वा भवसंक्रमः यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति। ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ॥१६॥

भाष्यानुवादः देखे हुए एवं सुने हुए विषयों के दोषों को देखने वाला तृष्णारहित साधक, पुरुष के दर्शन के अभ्यास से, उस पुरुषतत्त्व के बोध से प्राप्त ज्ञान से तृप्त चित्त वाला होकर, स्थूल और सूक्ष्म स्वरूप वाले गुणों से भी विरक्त हो जाता है। वह दो प्रकार का वैराग्य है - १. अपर, २. पर। इनमें से जो पश्चात् कहा है वह उच्चज्ञान की कोटि वाला है। जिसके उदित होने पर आत्मदर्शी योगी यह मानता है कि प्राप्त करने योग्य प्राप्त हो गया। नष्ट करने योग्य क्लेश नष्ट हो गये और श्रृंखलाबद्ध संसारचक्र टूट गया। जिसके टूटे बिना जीव जन्म मरण के भवचक्र में पड़ा रहता है। ज्ञान की पराकाष्ठा (सर्वोच्च स्थिति)ही वैराग्य है। यह वैराग्य कैवल्य का अनिवार्य साधन है।।१६।।

इससे पहले हमने जिस वैराग्य की चर्चा की थी वह अपर वैराग्य था, इससे भी उत्कृष्ट और ऊँचा पर वैराग्य है जिसमें साधक स्वयं को साक्षात्कार कर लेने के बाद त्रिगुणातीत अर्थात् गुण मात्र से तृष्णा रहित हो जाता है। यह अत्यंत ऊँची स्थिति है जिसके विषय में बात करना और उस स्थिति की "वस्तु स्थिति" बताना अत्यंत दुष्कर है।
गुण क्या हैं?- गुण तीन प्रकार के होते हैं-

1. **सत्त्व**
2. **रजस**
3. **तमस**

पर वैराग्य इन तीन गुणों से भी पार जाने का नाम है। जहाँ साधक केवल चिन्मात्र रह जाता है। ज्ञान्मात्र

रह जाता है। व्यास भाष्य में ज्ञान की पराकाष्ठा को ही पर वैराग्य कहा गया है। इसे ज्ञान की पराकाष्ठा इसलिए कहते हैं क्योंकि साधक अनुभव करता है कि मुझ आत्मस्वरूप के अतिरिक्त जो कुछ भी मुझे अनुभव में आ रहा है वह उपधिमात्र है अर्थात् बाहर से आया हुआ है इसलिए स्वयं के अतिरिक्त वह सबकुछ से विरक्त हो जाता है। ऐसा कह सकते हैं कि जीवात्मा का साक्षात्कार हो जाने से केवल स्वयं से उसका ज्ञानपूर्वक राग हो जाता है और जो कुछ जीवात्मा से बाहर का है उससे वह वैराग्य को प्राप्त हो जाता है।

स्वयं के विषय में विचार करना यह सबसे बड़ा अक्लिष्ट विचार है इसलिए अभ्यास और वैराग्य इस विचार को नहीं हटाता अपितु इसे और अधिक सशक्त करता जाता है क्योंकि इससे अभ्यास और वैराग्य और दृढ होते हैं।

स्मरणीय बिन्दु

- **चित्त-नदी की दो धाराएँ:** व्यासभाष्य के अनुसार चित्तरूपी नदी कल्याणवहा (विवेक/कैवल्य की ओर) और पापवहा (अविवेक/संसार की ओर) दोनों दिशाओं में बहती है।
- **अभ्यास का वास्तविक स्वरूप:** रजोगुण और तमोगुण से रहित चित्त की तरंगहीन शांत स्थिति को बनाए रखने के लिए किए जाने वाले बलशाली प्रयत्न को अभ्यास कहते हैं।
- **दृढ़भूमि अभ्यास की शर्तें:** महर्षि पतंजलि के अनुसार अभ्यास तभी दृढ़ (स्थिर) होता है जब वह दीर्घकाल तक, निरंतर (बिना रुके) और श्रद्धा, तप व ब्रह्मचर्य पूर्वक आसेवित किया जाए।
- **वैराग्य के दो मुख्य भेद:** योगदर्शन में वैराग्य के दो स्तर बताए गए हैं, अपर वैराग्य (दृष्ट और सुने हुए विषयों से वितृष्णा) तथा पर वैराग्य (प्रकृति के तीनों गुणों से सर्वथा विरक्ति)।
- **ज्ञान की सर्वोच्च पराकाष्ठा:** पर वैराग्य पुरुष (आत्मा) के साक्षात्कार से उत्पन्न होता है, जिसे व्यासभाष्य में ज्ञान की सर्वोच्च पराकाष्ठा और कैवल्य का अनिवार्य साधन कहा गया है।

विशेष शब्दावली

- कल्याणवहा: मोक्ष या आत्म-कल्याण के मार्ग की ओर ले जाने वाली चित्त की पवित्र धारा।
- प्रशान्तवाहिता: रजोगुण और तमोगुण के समाप्त होने पर मन का पूर्णतः शांत, तरंगहीन और एकाग्र हो जाना।
- नैरन्तर्य: बिना किसी व्यवधान या रुकावट के लगातार सतत साधना करना।
- आनुश्रविक विषय: वे अलौकिक या पारलौकिक विषय (जैसे स्वर्ग-सुख) जिन्हें केवल शास्त्रों द्वारा सुना गया है, प्रत्यक्ष देखा नहीं गया।
- पुरुषख्याते: जीवात्मा या शुद्ध चेतन तत्त्व के वास्तविक और सत्य स्वरूप का साक्षात् बोध हो जाना।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: व्यासभाष्य में वर्णित चित्त-नदी के रूपक को संक्षेप में समझाइए।

प्रश्न 2: अभ्यास की सफलता के लिए साधक में किन तीन प्रकार के बलों का होना आवश्यक है?

प्रश्न 3: अपर वैराग्य (वशीकार संज्ञा) से क्या तात्पर्य है? इसके अंतर्गत आने वाले विषयों को स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: ''स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि:'' सूत्र की विस्तृत विवेचना कीजिए। व्यावहारिक जीवन में साधक के संकल्प क्यों टूटते हैं और सत्कार शब्द का यहाँ क्या विशेष महत्व है?

प्रश्न 2: योगदर्शन के अनुसार पर वैराग्य और अपर वैराग्य में तात्विक अंतर क्या है? व्यासभाष्य के आधार पर स्पष्ट कीजिए कि पर वैराग्य को ज्ञान की सर्वोच्च पराकाष्ठा क्यों कहा गया है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध: सूत्र के अनुसार किनके द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध होता है?

(1) केवल आसन द्वारा

(2) अभ्यास और वैराग्य दोनों द्वारा

(3) केवल प्राणायाम द्वारा

(4) केवल शास्त्रों के श्रवण से

प्रश्न 2. चित्तरूपी नदी की कौन-सी धारा अविवेक विषय मार्ग की ओर झुकी होती है और पाप की ओर बहती है?

(1) कल्याणवहा

(2) कैवल्यप्राग्भारा

(3) पापवहा

(4) विवेकस्रोत

प्रश्न 3. राजस् और तामस् वृत्तियों से रहित होकर चित्त का तरंगहीन हो जाना क्या कहलाता है?

(1) व्युत्थान

(2) स्थिति (प्रशान्तवाहिता)

(3) विकल्प

(4) प्रसंख्यान

प्रश्न 4. छोटे-छोटे संकल्पों की पूर्ति करने और अच्छे सात्त्विक विचारों को सोचने से किस बल में वृद्धि होती है?

(1) शारीरिक बल

(2) आत्मिक बल

(3) मानसिक बल
(4) बाह्य बल
प्रश्न 5. अभ्यास को दृढ़भूमि (सफलता का ठोस आधार) बनाने के लिए निम्नलिखित में से कौन-सा तत्त्व आवश्यक नहीं है?
(1) दीर्घकाल
(2) नैरन्तर्य
(3) सत्कार (श्रद्धा/तप)
(4) धन और ऐश्वर्य

प्रश्न 6. साधना काल में अचानक संस्कारों का अत्यंत तीव्र वेग से आना और साधक को विचलित करना क्या कहलाता है?
(1) निरुद्ध संस्कार
(2) व्युत्थान संस्कार
(3) अक्लिष्ट संस्कार
(4) विवेक संस्कार
प्रश्न 7. स्त्री, अन्न, पान और ऐश्वर्य योगदर्शन के अनुसार किस प्रकार के विषय माने गए हैं?
(1) आनुश्रविक विषय
(2) कल्पित विषय
(3) दृष्ट विषय
(4) गुणातीत विषय
प्रश्न 8. शास्त्रों द्वारा सुने गए विषय जैसे स्वर्ग या प्रकृतिलयत्व की प्राप्ति की इच्छा किस श्रेणी में आती है?
(1) दृष्ट विषय
(2) आनुश्रविक विषय
(3) पर वैराग्य
(4) प्रशांतवाहिता
प्रश्न 9. पुरुष (आत्मा) के असल स्वरूप के ज्ञान से प्रकृति के तीनों गुणों से भी वितृष्ण (मुक्त) हो जाना क्या कहलाता है?
(1) अपर वैराग्य
(2) वशीकार संज्ञा
(3) पर वैराग्य
(4) अभ्यास

प्रश्न 10. व्यासभाष्य के अनुसार ज्ञान की सर्वोच्च पराकाष्ठा किसे कहा गया है?

(1) तीव्र अभ्यास को

(2) शारीरिक बल को

(3) पर वैराग्य को

(4) आनुश्रविक विषयों के चिंतन को

इकाई- 6
समाधि और समाधि के प्रकार

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥1.17॥

पदच्छेदः वितर्क , विचार , आनन्द , अस्मिता , रूप , अनुगमात् , संप्रज्ञातः ।
शब्दार्थ **: वितर्क**- वितर्क, **विचार**- विचार, **आनन्द**- आनंद (और), **अस्मिता**- अस्मिता - (इन चारों के सम्बन्ध से), **अनुगमात्**- युक्त (चित्तवृत्ति का समाधान), **सम्प्रज्ञातः**- सम्प्रज्ञात (समाधि है), **रूप**- स्वरूप ।

व्यासभाष्यम्- वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मो विचारः। आनन्दो ह्लादः। एकात्मिका संविदस्मिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति। सर्व एते सालम्बनाः समाधयः॥१७॥

भाष्यानुवादः वितर्क का अर्थ चित्त के आलम्बन में स्थूलभूत पृथिवी आदि का साक्षात्कार है। विचार का अर्थ चित्त के आलम्बन में सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्राओं का साक्षात्कार है। आनन्द का अर्थ ह्लाद= सुख की अनुभूति अर्थात् इन्द्रियों के साक्षात्कार से सुख की अनुभूति। अस्मिता का अर्थ है (चित्त के आलम्बन में) जीवात्मा का साक्षात्कार।
प्रथम अर्थात् वितर्कानुगत समाधि में स्थूलभूत, तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ और जीवात्मा ये चारों विषय योगी के जिज्ञास्य रहते हैं। किन्तु स्थूल भूतों का ही साक्षात्कार होता है। शेष का सामान्य ज्ञान रहता है। इसको चतुष्टयानुगत कहा जाता है।
द्वितीय, वितर्क से रहित विचार समाधि है। इसमें तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ और जीवात्मा जिज्ञास्य रहते हैं। किन्तु केवल तन्मात्राओं का साक्षात्कार होता है। शेष दो का सामान्य ज्ञान रहता है। तृतीय, विचार से रहित आनन्द समाधि है। इसमें इन्द्रियाँ और जीवात्मा जिज्ञास्य रहते हैं। किन्तु इन्द्रियों का ही साक्षात्कार होता है। जीवात्मा का सामान्य ज्ञान रहता है।
चतुर्थ, आनन्द से रहित अस्मिता समाधि है। इसमें जीवात्मा ही जिज्ञास्य रहता है। और जीवात्मा का साक्षात्कार भी होता है। भूतादि अन्य कोई जिज्ञास्य नहीं रहता ॥१७॥

विद्यार्थी महर्षि पतंजलि जी से पूछते हैं कि अभ्यास और वैराग्य द्वारा रोके गए विचारों वाले चित्त की सम्प्रज्ञात समाधि किस प्रकार से लगती है? जैसा कि पूर्व में बताया है सम्प्रज्ञात समाधि का उपाय अपर वैराग्य है तो महर्षि पतंजलि इस सूत्र से अपर वैराग्य से किस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि लगती है वह बता रहे हैं।
साधक जब योग मार्ग पर आगे बढ़ता है और अपनी पञ्च प्रकार की वृत्तियों अथवा विचारों को समझकर, उनकी क्लिष्टता और अक्लिष्टता में भेद कर, अभ्यास और वैराग्य से क्लिष्ट विचारों को रोकने का प्रयास करता है तब उसके पुरुषार्थ के अनुरूप स्थितियां बदलते रहती हैं। इसी साधना के मार्ग पर उसका चित्त चार प्रकार से अलग अलग अवस्थाओं से होते हुए सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त

होता है।
वे चार स्थितियां हैं-

1. **वितर्क**
2. **विचार**
3. **आनंद**
4. **अस्मिता**

अर्थात् कहने का अर्थ है इन चार स्थितियों के अनुभव से सम्प्रज्ञात समाधि लगती है। इसलिए सम्प्रज्ञात समाधि के चार प्रकार भी कहे गये हैं।

1. वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि
2. विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि
3. आनंदानुगत सम्प्रज्ञात समाधि
4. अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि

सम्प्रज्ञात समाधि किसी न किसी वस्तु, विचार, अनुभव के आलंबन से ही घटित होती है। यह समाधि आलंबनपूर्वक घटित होती है। यह आलंबन स्थूल या सूक्ष्म दोनों हो सकता है। वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि के आलंबन स्थूल विषय में होती है अर्थात् जब ध्यान के समय हम स्थूल विषय को आलंबन बनाकर समाधिस्थ होते हैं तो उसे ही वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। जब साधक ध्यान करता है तो पांच महाभूतों में से किसी एक भूत का आलंबन लेकर समाधि की ओर बढ़ता है, इस प्रकार इसे वितर्क अनुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। पांच महाभूत हैं- पृथिवी, जल, अग्नि,वायु और आकाश ।

विचार अनुगत सम्प्रज्ञात समाधिः जब योगसाधक ध्यान के समय सूक्ष्म तन्मात्राओं का आलंबन लेता है तो इस प्रकार की समाधि को विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।
पांच तन्मात्राएँ हैं- गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द।

आनंदानुगत सम्प्रज्ञात समाधिः सांख्य के अनुसार इंद्रियां सत्व प्रधान होती हैं। वितर्क और विचार से भिन्न यह समाधि की स्थिति है आंनद की। यहां स्थूल और सूक्ष्म विषय पर आलंबन नहीं किया जाता है अपितु इंद्रियों के सत्त्व स्वरूप में एकाग्रता की जाती है। इंद्रियों के सात्विक सुख की अनुभूति से ही आनंदानुगत सम्प्रज्ञात समाधि लगती हैं।
उपरोक्त को वेदांत में त्रिपुटि कहा गया है। इन तीनों के परस्पर संबंध को समझ लेने से आध्यात्मिक विज्ञान भी स्पष्ट हो जाता है। अंतिम और चौथी सम्प्रज्ञात समाधि है-
अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिः जब जीवात्मा सभी जड़ पदार्थो को स्वयं से भिन्न मानकर और समझकर अपने स्वरुप को पृथक जान लेता है और स्वयं के स्वरुप में चित्त को एकाग्र करता है तब उस स्थिति को अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

स्मरणीय बिन्दु

- सम्प्रज्ञात समाधि का आधार: सम्प्रज्ञात समाधि का मुख्य उपाय अपर वैराग्य है और यह समाधि सदैव किसी न किसी वस्तु, विचार या अनुभव के आलम्बन (सहारे) से ही घटित होती है।
- चार क्रमिक प्रकार: यह समाधि चित्त की चार अवस्थाओं से होकर गुजरती है, जिसके कारण इसके चार भेद हैं: वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनंदानुगत और अस्मितानुगत।
- वितर्क और विचार का आलम्बन: वितर्क समाधि में पाँच स्थूल महाभूतों (पृथिवी, जल आदि) का तथा विचार समाधि में पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओं (गन्ध, रस आदि) का साक्षात्कार होता है।
- आनन्द का स्वरूप: आनंदानुगत समाधि में किसी बाह्य विषय पर ध्यान न लगाकर, सत्त्व प्रधान इन्द्रियों के सात्त्विक स्वरूप पर एकाग्रता करके सुख (ह्लाद) की अनुभूति की जाती है।
- अस्मिता और जीवात्मा: चतुर्थ स्तर पर जीवात्मा समस्त जड़ पदार्थों को स्वयं से भिन्न मानकर केवल अपने शुद्ध स्वरूप में चित्त को एकाग्र करता है, जिसे अस्मितानुगत समाधि कहते हैं।

विशेष शब्दावली

- **स्थूल आभोग:** चित्त का किसी बड़े या बाहरी दृश्य (जैसे पृथिवी आदि भौतिक तत्त्व) को अपना मुख्य आधार बनाना।
- **तन्मात्राएँ:** पंच महाभूतों के अत्यंत सूक्ष्म या मूल रूप (जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध)।
- **ह्लाद:** इन्द्रियों के शुद्ध सात्त्विक साक्षात्कार से उत्पन्न होने वाला परम सुख या आनंद।
- **जिज्ञास्य:** वह विषय या तत्त्व जिसके विषय में योगी पूर्ण रूप से जानने या खोजने की इच्छा रखता है
- **वितर्कविकल:** स्थूल विषयों या भौतिक विचारों के आलम्बन से सर्वथा रहित हो जाना।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: वितर्कानुगत और विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि के आलम्बन में मुख्य अन्तर क्या है?
प्रश्न 2: आनंदानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में योगी को किस प्रकार के सुख की अनुभूति होती है और इसका आधार क्या है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न: वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः सूत्र की व्यासभाष्य के आलोक में सविस्तार व्याख्या कीजिए तथा इसके चारों भेदों के स्वरूप और उनमें होने वाले साक्षात्कार के क्रमिक विकास को स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. महर्षि पतंजलि के अनुसार सम्प्रज्ञात समाधि का मुख्य उपाय या साधन निम्नलिखित में से क्या है?

(1) पर वैराग्य

(2) अपर वैराग्य

(3) अभ्यास का अभाव

(4) केवल प्राणायाम

प्रश्न 2. व्यासभाष्य के अनुसार एकात्मिका संविद् शब्द का प्रयोग किस समाधि या अवस्था के लिए किया गया है?

(1) वितर्क

(2) विचार

(3) आनन्द

(4) अस्मिता

प्रश्न 3. विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि में ध्यान का मुख्य आलम्बन क्या होता है?

(1) पाँच महाभूत

(2) जीवात्मा

(3) पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ

(4) स्थूल मूर्तियाँ

प्रश्न 4. प्रथम सम्प्रज्ञात समाधि (सवितर्क) में कुल कितने विषय योगी के जिज्ञास्य बने रहते हैं जिसके कारण इसे चतुष्टयानुगत कहते हैं?

(1) दो विषय

(2) तीन विषय

(3) चार विषय

(4) पाँच विषय

प्रश्न 5. जब जीवात्मा सभी जड़ पदार्थों को स्वयं से भिन्न मानकर केवल अपने पृथक् स्वरूप में चित्त एकाग्र करता है, तो वह कौन-सी समाधि है?

(1) सवितर्क समाधि

(2) सविचार समाधि

(3) आनंदानुगत समाधि

(4) अस्मितानुगत समाधि

इकाई–7
ईश्वर का स्वरुप

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥1.24॥

पदच्छेदः क्लेश, कर्म, विपाक, आशयैः, अपरामृष्टः, पुरुष–विशेषः , ईश्वरः ।
शब्दार्थः– क्लेश – क्लेश, **कर्म** – कर्म, **विपाक** – विपाक, **आशयैः** – आशय (इन चारों के), **अपरामृष्टः**– संबंध से रहित है (तथा), **पुरुषविशेषः** – जो समस्त पुरुषों से उत्तम है,वह, **ईश्वरः** – ईश्वर है।

व्यासभाष्यम्– अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणा वासना आशयाः। ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः।

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः, ते हि त्रीणि बन्धनानि च्छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्संबन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते, नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।

योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति? तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किंनिमित्तम् ? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्।

एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः संबन्धः। एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्, न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्। तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति, कस्मात्, द्वयोस्तुल्य–योरेकस्मिन्युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्रकाम्यविधातादूनत्वं प्रसक्तम्। द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्माद्यस्य साम्याति–शयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः। स च पुरुषविशेष इति ॥२४॥

भाष्यानुवादः अविद्यादि पाँच क्लेश हैं। पुण्यापुण्य ये कर्म हैं। उनका फल विपाक है। फलभोगानुसार बनने वाले संस्कार आशय हैं। मन में वर्तमान वे (क्लेशादि) पुरुष में कहे जाते हैं ऐसा इसलिए कहा जाता है क्योंकि पुरुष ही उस फल का भोक्ता है। जैसे योद्धाओं में वर्त्तमान जय वा पराजय राजा में

कही जाती है। जो इस भोग से रहित है वह पुरुषविशेष ईश्वर है।

कैवल्य को प्राप्त हुए अनेक केवली हैं। वे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक नामक तीन बन्धन को दूर करके कैवल्य को प्राप्त हुए है। ईश्वर का उन बन्धनों से सम्बन्ध न हुआ न होगा। जिस प्रकार मुक्तपुरुष का मुक्ति से पूर्व बन्धन होता है, उस प्रकार ईश्वर का बन्धन नहीं होता। जैसे प्रकृतिलीन योगी का समाधि भङ्ग होने पर बन्धन होता है वैसे ईश्वर का बन्धन नहीं होता। वह सदा ही मुक्त है और सदैव ईश्वर है।

सूत्र में जो उत्कृष्ट गुण-कर्म-स्वभाव वाले ईश्वर का ग्रहण है उसका वह शाश्वतिक उत्कर्ष प्रामाणिाक है वा अप्रामाणिक ? उसमें शास्त्र प्रमाण है। शास्त्र में क्या प्रमाण है ? उसमें प्रमाण है उत्कृष्ट गुण, कर्म, स्वभाव वाला ईश्वर।

ईश्वर में विद्यमान उत्कृष्ट गुण, कर्म, स्वभाव एवं शास्त्र इन दोनों का अनादि सम्बन्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह सदा ही ईश्वर है और सदा ही मुक्त है। और उसका वह ऐश्वर्य (किसी अन्य के ऐश्वर्य की) समानता या अधिकता से रहित है। किसी अन्य के ऐश्वर्य से वह (ईश्वर का ऐश्वर्य) उल्लंघित नहीं होता। जो ही ऐश्वर्य अतिशयी होवे वह ही वह (ईश्वर का ऐश्वर्य) है। इसलिये जिसमें ऐश्वर्य की पराकाष्ठा होती है, वह ईश्वर है। उसके समान ऐश्वर्य नहीं है। किस कारण? समान कोटि के दो ऐश्वर्यवालों के होने पर, दोनों ऐश्वर्यवालों को अभीष्ट किसी एक पदार्थ के विषय में एक ही काल में "यह नवीन हो यह पुरातन हो। इस प्रकार के विरुद्ध संकल्प के होने पर, एक ही संकल्पसिद्धि होने में दूसरे के अभीष्ट का खण्डन हो जाने से दूसरे ऐश्वर्य में न्यूनता आ जायेगी। क्योंकि 'नवीनता और पुराणता' इन दोनों के एक-दूसरे के सर्वथा विरुद्ध होने के कारण उस पदार्थ में एक ही समय में दोनों का अभीष्ट सङ्कल्प एक साथ सिद्ध हो नहीं सकता। इसलिए जिसका ऐश्वर्य समानता एवं अतिशय से मुक्त है, वह ही ईश्वर है, वह पुरुषविशेष है ।।२४।।

क्लेश (अविद्यादि पञ्च क्लेश), कर्म (तीन प्रकार के कर्म), विपाक (कर्मों का फल), आशय (समस्त वासनाएं) से जो सर्वथा पृथक है ऐसे पुरुष विशेष को ईश्वर कहा गया है। क्लेश पांच प्रकार के होते हैं-

१. अविद्या

२. अस्मिता

३. राग

४. द्वेष

५. अभिनिवेश

कर्म को भी अलग-अलग परिपेक्ष्य में विभाजित किया गया है। वैसे सामान्यत: लोक में पाप कर्म और पुण्य कर्म ये दो प्रकार से कर्म के विभाग किये हैं लेकिन विभिन्न शास्त्रों में मुख्यत:कर्म को तीन प्रकार से बांटा गया है।

१. निमित्त कर्म

२. नैमित्तिक कर्म

३. काम्य कर्म

योग दर्शन में कर्म को तीन प्रकार से बांटा गया है-

१. शुक्ल कर्म अर्थात् शुभ कर्म

२. अशुक्ल कर्म अर्थात् अशुभ कर्म

३.शुक्लाशुक्ल अर्थात् मिश्रित कर्म

भगवतगीता में कर्म का तीन प्रकार से प्रभाग किया है-

१. कर्म

२. अकर्म

३. विकर्म

कर्म जब फल देने लगते हैं तो इसी को विपाक कहा गया है और ईश्वर चूँकि निष्काम कर्म करता हुआ जगत का परिपालन करता है तो उसके कर्म नहीं बनने के कारण वह सर्वथा विपाक से रहित होता है। जब किसी कर्म के विपाक को प्राप्त होने पर उसके भोगने से उत्पन्न वासनाएं होती हैं उन्हें योग दर्शन कि भाषा में आशय कहा गया है। कहीं कहीं आशय का अर्थ दूसरी तरह भी किया जाता है। कर्म जब तक फलोन्मुख नहीं होते तब तक चित्तभूमि में जो वासना सुप्त रूप से रहती है वह आशय नाम से कही जाती है। ईश्वर कर्म एवं कर्मफल से रहित होता है इसलिए वह आशय रहित भी होता है अर्थात् ईश्वर में किसी भी प्रकार से कोई भी वासनाएं नहीं होती हैं। कर्म, कर्मफल एवं उन्हें भोगने से पुरुष उनकी वासनाओं से बच नहीं सकता इसीलिए ईश्वर को महर्षि पतंजलि ने पुरुष विशेष के नाम से कहा है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥1.25॥

पदच्छेदः तत्र, निरतिशयम्, सर्वज्ञ, बीजम् ।

शब्दार्थः तत्र - उस (ईश्वर में), **सर्वज्ञ-बीजम्** - सर्वज्ञत्व का बीज अर्थात् ज्ञान, **निरतिशयम्** - निरतिशय है।

व्यासभाष्यम्- यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्वि वर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात्परिमाणवदिति।

यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः। स च पुरुषविशेष इति। सामान्यमात्रोपसंहारे च कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति। तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागमतः पर्यन्वेष्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। तथा चोक्तम्-आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं

प्रोवाचेति॥२५॥

भाष्यानुवाद: भूत, भविष्य, वर्त्तमान में से किसी एक का वा सभी का अतीन्द्रिय ज्ञान जो किसी में न्यून और किसी में अधिक होता है, वही सर्वज्ञता का बीज है। वही बढ़ता-बढ़ता जिसमें पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है वह सर्वज्ञ कहा जाता है। सर्वज्ञता का बीज पराकाष्ठा को प्राप्त होता है उसमें न्यूनाधिक्य सम्भव होने के कारण। जिसमें न्यूनाधिक्य की स्थिति सम्भव होती है उसकी पराकाष्ठा भी होती है। जैसे परिमाण।

जिसमें ज्ञान की काष्ठाप्राप्ति है वह सर्वज्ञ है, और वह पुरुषविशेष है। सामान्यज्ञानमात्र प्रस्तुत करके निवृत्त हुआ अनुमानप्रमाण पदार्थ के विशेष धर्म को बताने में समर्थ नहीं होता। इसलिये ईश्वर के संज्ञादि विशेषों का ज्ञान आगमप्रमाण से प्राप्त करना चाहिये। उस (ईश्वर) का अपना कोई स्वार्थ न होने पर भी प्राणियों पर अनुग्रह करना प्रयोजन है। ज्ञान एवं धर्म के उपदेश के द्वारा कल्पप्रलय एवं महाप्रलय में सांसारिक लोगों का उद्धार करूं यह उसका प्रयोजन है। ऐसा कहा गया है- आदिविद्वान् भगवान् सर्वज्ञ (ईश्वर) ने जिस ज्ञान से मनुष्यों को विद्वान् बनाया जाता है उस ज्ञान को सुसज्जित करके करुणा से जिज्ञासायुक्त जीवात्मा के लिए वेदज्ञान दिया ॥२५॥

उपरोक्त सूत्र में तत्र शब्द से ईश्वर को कहा गया है। महर्षि पतंजलि कहते हैं कि ईश्वर में सर्वज्ञता के बीज की निरतिशयता अर्थात् पराकाष्ठा है। अतिशय का अर्थ होता है जो बढ़ता रहता है लेकिन महर्षि ने सूत्र में निरतिशय शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ होगा जो घटने और बढ़ने से रहित है अर्थात् अपनी पराकाष्ठा में स्थित है, जिसमें ज्ञान का घटना और बढ़ना नहीं है। अतीत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में ईश्वर की सर्वज्ञता है। अतिशय सर्वज्ञता का बीच से अर्थ है कि ईश्वर से बढ़कर या उसके समान किसी में भी ज्ञान नहीं है।

अतिशय का अर्थ होता है बढ़ा हुआ है। इसलिए जब कोई व्यक्ति बढा चढ़ा कर कोई बात करता है तो उसे कहा जाता है कि यह तो अतिश्योक्ति है अर्थात् आपने बढ़ा चढ़ाकर यह बात बोली है। निरतिशय का अर्थ हुआ जो बढ़ता नहीं है या बढ़ाया नहीं जा सकता है और न ही न्यून किया जा सकता है। ऐसा ज्ञान तो अपनी स्वाभाविकता में परिपूर्ण है उसे निरतिशय ज्ञान कहा गया है।

ऐसा नहीं है कि ईश्वर केवल ज्ञान के विषय में सर्वज्ञ है, उसमें सब प्रकार के शुभ गुणों, स्वाभाविक गुणों की पराकाष्ठा है। सब प्रकार के ऐश्वर्यों की पराकाष्ठा का आधार भी ईश्वर ही है।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥1.26॥

पदच्छेद: पूर्वेषाम् , अपि , गुरुः , कालेन , अनवच्छेदात् ।

शब्दार्थ: पूर्वेषाम्- (वह ईश्वर) पूर्व उत्पन्न गुरुगणों का अपि - भी **गुरुः** - गुरु है, (क्योंकि वह) **कालेन**- काल से **अनवच्छेदात्** - सीमित नहीं है अर्थात् सर्वकाल में विद्यमान है।

व्यासभाष्यम्- पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छिद्यन्ते यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि

गुरुः। यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः।।२६।।

भाष्यानुवादः पूर्ववर्ती गुरु काल से अवच्छिन्न होते हैं। अवच्छेद के लिये काल जहाँ प्रवृत्त नहीं होता वह यह पूर्ववर्ती गुरुओं का भी गुरु है। उत्कृष्ट ऐश्वर्य के साथ जैसा इस सृष्टि के आरम्भ में सिद्ध था इसी प्रकार अतीत सृष्टियों में भी जानना चाहिए ।।२६।।

वह ईश्वर पूर्व में उत्पन्न हुए सभी ब्रह्मवादियों, गुरुओं का भी गुरु है क्योंकि वह पुरुष विशेष काल से व्याप्त अर्थात् समय से बंधा हुआ नहीं है उससे सर्वथा पार है। ऐसा नहीं है कि ईश्वर किसी काल में तो है और किसी समय नहीं है, वह सब समय उपस्थित है। ईश्वर सृष्टि से पूर्व भी है और प्रलय के बाद भी है। ईश्वर प्रत्येक काल में होने से वह सभी गुरुओं का भी गुरु कहा गया है। सृष्टि आरम्भ में सबसे पहला उपदेष्टा होने से ईश्वर को गुरुओं का भी गुरु कहा गया है। ईश्वर ने सृष्टि के आदि में चार ऋषियों के शुद्ध एवं पवित्र अंतःकरण में चारों वेदों का उपदेश दिया था इस हेतु से भी ईश्वर गुरुओं का भी गुरु कहा गया है।

वे चार ऋषि हैं-

1. **अग्नि**
2. **आदित्य**
3. **वायु**
4. **अंगिरा**

श्वेताश्वेतर उपनिषद् में भी इसी बात को कहा गया है कि- **“जिस ईश्वर ने सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को उत्पन्न किया एवं जिसने ब्रह्मा के शुद्ध एवं पवित्र अंतःकरण में वेदों का स्वर एवं अर्थसहित ज्ञान का आलोक किया मैं उस ईश्वर की मैं मुमुक्षु शरण में आता हूँ।”** पूर्व में भी जितने ब्रह्मवादी अर्थात् ब्रह्म की महिमा कहने वाले हुए हैं उनका मार्गदर्शक भी ईश्वर ही है। ईश्वर ने ही उन्हें सब प्रकार से सन्मार्ग की प्रेरणा दी है।

व्यवहार की दृष्टि से मैं कहना चाहूंगा कि ईश्वर सब गुरुओं का भी गुरु है तथापि लोक में गुरु भी उस परमेश्वर का ही मूर्त रूप एवं प्रतिनिधि हैं। यह परम सत्य है कि ईश्वर ही परम गुरु है लेकिन उस ईश्वर तक पहुंचाने वाले गुरु भी सत्य हैं। इसी प्रसंग पर कबीर जी का एक दोहा अत्यंत प्रसिद्ध है-

गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागूँ पाय
बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय।।

तस्य वाचकः प्रणवः ।।1.27।।

पदच्छेदः तस्य , वाचकः , प्रणवः ।

शब्दार्थः तस्य - उस (ईश्वर का), **वाचक** - वाचक (नाम), **प्रणवः** - प्रणव अर्थात् ओंकार है।

व्यासभाष्यम्- वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति। स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह संबन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य सिथतमेवार्थमभिनयति। यथावस्थितः पितापुत्रयोः संबन्धः संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसंबन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते।।27।।

भाष्यानुवादः प्रणव का वाच्य ईश्वर है। प्रणव एवं ईश्वर का वाच्य-वाचक सम्बन्ध संकेतकृत है अथवा प्रदीप एवं उसके प्रकाश के समान अवस्थित है ? इस वाच्य ईश्वर का वाचक प्रणव के साथ सम्बन्ध पहले से विद्यमान है। यह संकेत ईश्वर के साथ विद्यमान सम्बन्ध को ही बतलाता है। जिस प्रकार पिता-पुत्र का पहले से विद्यमान सम्बन्ध संकेत के द्वारा बतलाया जाता है कि यह इसका पिता है, यह इसका पुत्र है। उसी प्रकार ईश्वर के द्वारा अन्य सर्गों में भी वाच्यवाचकत्व की शक्ति की अपेक्षा से संकेत किया जाता है। सदृश व्यवहार की परम्परा के प्रवाहरूप से नित्य होने से शब्द तथा अर्थ का वाच्यवाचकत्व सम्बन्ध नित्य है, ऐसा आगम (वेद) को मानने वाले कहते हैं।।२७।।

पिछले 4 सूत्रों में महर्षि ने ईश्वर विषय में बताया इसलिए जिज्ञासु शिष्यों ने महर्षि से पूछा कि ईश्वर का निज नाम क्या है? हम यदि उसका नाम स्मरण करना चाहें तो उसे किस नाम से पुकारें? उसके प्रत्युत्तर में महर्षि कहते हैं-

ईश्वर का निज नाम प्रणव अर्थात् **ओ३म्** है। ओंकार को ही आदि ध्वनि भी कहा जाता है। सम्पूर्ण ब्रह्मांड में **ओ३म्** की ध्वनि प्रसारित हो रही है। एक अर्थ में कहें तो ईश्वर के नाम का उच्चारण यह सम्पूर्ण सृष्टि यह ब्रह्मांड कर रहा है।

पूर्व में एक सूत्र आया था **"ईश्वरप्रणिधानाद्वा" 1/23** ईश्वर प्रणिधान से शीघ्र ही समाधिलाभ हो जाता है। ईश्वरप्रणिधान का अर्थ है ईश्वर की भक्ति विशेष और दश इंद्रियों के माध्यम से होने वाले सारे कर्मों को और कर्मों के फल को ईश्वर को समर्पित कर देना। ईश्वर की भक्ति में नाम जप का विशेष महत्त्व होता है इसलिए ईश्वर के निज नाम की भी आवश्यकता होती है इसी को दृष्टि में रखकर इस सूत्र में ईश्वर के निज नाम को बतलाया गया है। आगे के सूत्रों में भी अनेक बार ईश्वर प्रणिधान शब्द बार बार आएगा।

जब हम अपने आराध्य, पूज्य या प्रिय को पुकारते हैं तो उनकी स्मृति प्रगाढ़ हो जाती है इसलिए नाम लेने अथवा जपने से ईश्वर के प्रति हमारी प्रीति बढ़ने लगती है और उसके सभी स्वाभाविक गुण हममें भी प्रविष्ट होने लग जाते हैं। ईश्वर के नाम का जप कैसे करना चाहिए यह महर्षि ने अगले सत्र में बताया है।

तज्जपस्तदर्थभावनम्।।28।।

पदच्छेदः तत् , जपः , तत् , अर्थ , भावनम् ।

शब्दार्थः तत् - उस (ॐ कार का), **जपः** - जप और, **तत्** - उस (ईश्वर के), **अर्थ** - अर्थस्वरूप

(का), **भावनम्** - ध्यान करना अर्थात् पुनः पुनः चिन्तन करना चाहिए।

व्यासभाष्यम्- प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं संपद्यते। तथा चोक्तम्-

भाष्यानुवादः- प्रणव का जप और प्रणव के वाच्य ईश्वर की भावना करनी चाहिये। उस प्रणव के जप करने वाले और उसके अर्थ की भावना करने वाले योगी का चित्त एकाग्र होता है। और उसी प्रकार कहा है -ओम् जप के सहयोग से वृत्तियों का निरोध करे। वृत्तियों के निरोध के सहयोग से ओम् का जप करे। इन दोनों के सामर्थ्य से परमात्मा प्रकट होता है।।२८।।

उस प्रणव अर्थात् ॐ का जप, प्रणव शब्द में निहित अर्थ के साथ बार बार भावना के साथ करना चाहिये। अलग अलग मतों जप के अनेक प्रकार हैं लेकिन मुख्यतः जप को चार भागों में बांटा गया है। जप में शब्द, शब्द का अर्थ और अर्थ की भावना यह प्रमुखता से आता है।

जप चार प्रकार से किया जाता है-

1. वाचिक जप
2. उपांशु जप
3. मानसिक जप
4. अजपाजप

वाचिक जप- उच्च स्वर में बोलकर जो जप किया जाता है उसे वाचिक जप कहा जाता है। जैसे ॐ ॐ ॐ इस प्रकार निरन्तर ऊंचे स्वर में बोलना। वाचिक जप से वाणी की सिद्धि भी प्राप्त होती है।

उपांशु जप- थोड़े से ओष्ठ खुलें हों और धीरे धीरे बोलकर जप करना उपांशु जप कहलाता है। जैसेः जब हम जप करें तो केवल हमें ही सुनाई दे दूर बैठे व्यक्तियों को नहीं। उपांशु जप से धीरे धीरे मन एकाग्र होने लगता है और साधक की वृत्तियां बहिर्मुखी से अंतर्मुखी होने लग जाती हैं। उपांशु जप से वाणी में स्थिरता के साथ शरीर में भी स्थैर्य आने लगता है।

मानसिक जप- शांतिपूर्वक आसन में बैठकर, ध्यान मुद्रा लगाकर जब हम मन ही मन जप करते हैं, मन ही मन ओंकार या मंत्र को जपते हैं तो वह मानसिक जप कहलाता है। मनु महाराज के अनुसार विधियज्ञ से यह जप हजार गुना उत्तम है।

अजपाजप- उपरोक्त जपों का जब अच्छी प्रकार, भलीभांति अभ्यास हो जाता है तब बिना प्रयास के भी जप की निरंतरता बनी रहती है उसे अजपाजप कहते हैं। यह अत्यंत स्वाभाविक रूप से होता है। सारे कार्य करते हुए भी यह जप निरन्तर साधक के भीतर अखंड रूप से चलता रहता है और सदैव उसे प्रभु की छत्रछाया में बिठाए रखता है। यह जप की सर्वोत्तम स्थिति है। एक महात्मा ने इस विषय में कहा है कि - **राम हमारा जप करे, हम बैठे आराम।**

जप यदि अर्थ पूर्वक नहीं कर रहे हैं तो उसका लाभ नहीं होता है। केवल बोलने की आवृति भर होती है। यदि जप का अर्थपूर्वक जाप किया जाय लेकिन भावना न हो तो पूर्ण लाभ नहीं मिलता है।

आंशिक लाभ तो मिलता है और यह आंशिक लाभ पूर्ण लाभ की ओर साधक को बढ़ाता भी है। ईश्वर के निज नाम ॐ संस्कृत के अव रक्षणे धातु से निष्पन्न होता है। धातु पाठ में अव रक्षणे के 17 अर्थ बताए गए हैं।

स्मरणीय बिन्दु

1. ईश्वर की मूल परिभाषा: क्लेश, कर्म, विपाक और आशय, इन चारों के सम्बन्ध से सर्वथा रहित पुरुषविशेष ही ईश्वर है
2. केवली और ईश्वर में तात्विक भेद: मुक्त पुरुष (केवली) भूतकाल में बन्धनयुक्त रहे होते हैं तथा प्रकृतिलीन योगी भविष्य में पुन: बन्धन में आ सकते हैं, परन्तु ईश्वर सदैव मुक्त और सदैव ईश्वर हैं।
3. निरतिशय सर्वज्ञता: ईश्वर में ज्ञान का घटना-बढ़ना सम्भव नहीं है; उनका ज्ञान अपनी परिपूर्णता और पराकाष्ठा (निरतिशय) में स्थित है।
4. गुरुओं के भी गुरु: काल की सीमाओं से सर्वथा परे (सीमित न) होने के कारण ईश्वर सृष्टि के आदि में उत्पन्न हुए अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा जैसे प्राचीन ऋषियों व सभी गुरुओं के भी गुरु हैं।
5. प्रणव से नित्य सम्बन्ध: ईश्वर का निज वाचक नाम प्रणव अर्थात् ओ३म् है। वाच्य (ईश्वर) और वाचक (प्रणव) का यह सम्बन्ध अनादि और नित्य है।
6. ईश्वर प्रणिधान और समर्पण: अपनी दस इन्द्रियों द्वारा किए जाने वाले समस्त कर्मों और उनके फलों को पूर्ण भक्तिभाव से ईश्वर को समर्पित करना ही ईश्वर प्रणिधान है।
7. जप की विधि: केवल वर्णों का उच्चारण मात्र जप नहीं है, बल्कि प्रणव (ओ३म्) का जप उसके अंतर्निहित अर्थ और पूर्ण भावनात्मक तन्मयता के साथ करना चाहिए।
8. अजपाजप की सर्वोच्च स्थिति: निरंतर और प्रगाढ़ अभ्यास से जब जप बिना किसी मानसिक या बाह्य प्रयास के साधक के भीतर स्वत: अखंड रूप से चलने लगता है, तो वह जप की सर्वोत्तम स्थिति अजपाजप कहलाती है।
9. प्राणियों पर अनुग्रह: ईश्वर का सृष्टि संचालन में अपना कोई स्वार्थ नहीं है, बल्कि कल्पप्रलय और महाप्रलय में फंसे सांसारिक पुरुषों का ज्ञान-धर्म के उपदेश से उद्धार करना ही उनका प्रयोजन है।
10. ओ३म् शब्द की व्युत्पत्ति: ईश्वर का मुख्य नाम ओ३म् संस्कृत की अव रक्षणे धातु से सिद्ध होता है, जिसके धातुपाठ में रक्षा आदि कुल 17 अर्थ बतलाए गए हैं।

विशेष शब्दावली

1. अपरामृष्ट: किसी भी प्रकार के प्रभाव, स्पर्श, ग्रसित होने या सम्बन्ध से सर्वथा रहित होना।
2. विपाक: मनुष्य द्वारा किए गए अच्छे या बुरे कर्मों का मिलने वाला अन्तिम फल (भोग)।
3. आशय: कर्मफल भोगने के उपरांत चित्तभूमि में सुप्त रूप से एकत्र होने वाली वासनाएँ या संस्कार।
4. अनवच्छेदात्: जो काल (समय), देश या परिस्थिति की सीमाओं में बंधा न हो अर्थात् सर्वव्यापी।

5. निरतिशयम्: जो घटना-बढ़ना रूपी सीमाओं से मुक्त हो तथा अपनी सर्वोच्च पराकाष्ठा पर स्थिर हो।
6. काष्ठाप्राप्ति: किसी भी गुण, ऐश्वर्य या ज्ञान की अपनी चरम सीमा या सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाना।
7. प्रणव: ईश्वर का मुख्य, अनादि और पवित्र नाम जिसे लोक में ओंकार या ओ३म् कहा जाता है।
8. वाच्य-वाचक: पुकारने योग्य मुख्य संज्ञा (ईश्वर) और पुकारने के लिए प्रयुक्त होने वाला शब्द (प्रणव) का परस्पर सम्बन्ध।
9. तदर्थभावनम्: मंत्र या शब्द के जप के साथ-साथ उसके वास्तविक अर्थ का मन में बार-बार चिंतन व अनुभव करना।
10. उपांशु जप : ओठों को हल्का-सा हिलाकर अत्यंत धीमी गति से किया जाने वाला वह जप जो केवल स्वयं को सुनाई दे।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: योगदर्शन के अनुसार क्लेश और श्कर्मश से क्या अभिप्राय है? ईश्वर इनसे कैसे अछूता है?
प्रश्न 2: व्यासभाष्य के अनुसार योद्धाओं के जय-पराजय के उदाहरण से ईश्वर के अभोक्ता स्वरूप को समझाइए।
प्रश्न 3: ईश्वर को पूर्वेषामपि गुरुः क्यों कहा गया है? सृष्टि के आदि में उन्होंने किन ऋषियों को उपदेश दिया?
प्रश्न 4: वाच्य और वाचक के सम्बन्ध को पिता-पुत्र तथा प्रदीप-प्रकाश के उदाहरण से स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 5: वाचिक जप और उपांशु जप के व्यावहारिक स्वरूप और उनके प्रभावों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः सूत्र की व्यासभाष्य के आलोक में सविस्तार समीक्षा कीजिए तथा ईश्वर, केवली (मुक्त पुरुष) और प्रकृतिलीन योगी के मध्य तात्विक अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
प्रश्न 2: तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् सूत्र के आधार पर ईश्वर के ज्ञान की निरतिशयता को सिद्ध कीजिए। दो तुल्य ऐश्वर्यवान ईश्वरों की असम्भवता को तार्किक दृष्टिकोण से व्यासभाष्य के अनुसार समझाइए।
प्रश्न 3: तस्य वाचकः प्रणवः तथा तज्जपस्तदर्थभावनम् सूत्रों को जोड़ते हुए योगसाधना में नाम-जप के महत्व की मीमांसा कीजिए। व्यासभाष्य के अनुसार चारों प्रकार के जपों का विस्तृत वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. योगदर्शन के अनुसार पुरुषविशेष ईश्वर निम्नलिखित में से किससे सर्वथा अपरामृष्ट (रहित) है?

(1) केवल क्लेश और कर्म से

(2) केवल विपाक से

(3) क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारों से

(4) केवल सात्त्विक वृत्तियों से

प्रश्न 2. व्यासभाष्य के अनुसार मन में रहने वाले क्लेश और कर्मों का फलभोग किस सत्ता पर आरोपित किया जाता है?

(1) प्रकृति पर

(2) बुद्धि पर

(3) पुरुष (जीवात्मा) पर

(4) ईश्वर पर

प्रश्न 3. मुक्त पुरुषों (केवलियों) के विपरीत ईश्वर की कौन-सी कोटि कभी भी पहचानी या जानी नहीं जाती?

(1) उत्तरा बन्धकोटि

(2) पूर्वा बन्धकोटि

(3) कैवल्य कोटि

(4) सर्वज्ञता कोटि

प्रश्न 4. समाधि भंग होने पर किस श्रेणी के योगियों का पुनः बन्धन में आने का भय (उत्तरा बन्ध कोटि) बना रहता है?

(1) केवली मुक्त पुरुषों का

(2) प्रकृतिलीन योगियों का

(3) सर्वज्ञ ईश्वरों का

(4) अक्लिष्ट वृत्तियों का

प्रश्न 5. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् सूत्र के अनुसार निरतिशय शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है?

(1) अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर कहना

(2) जो घटने और बढ़ने से सर्वथा रहित हो

(3) जिसका निरंतर क्षय हो रहा हो

(4) कल्पित या बनावटी ज्ञान

प्रश्न 6. काल की सीमाओं में आबद्ध न होने के कारण (कालेनानवच्छेदात्) ईश्वर को किसका गुरु स्वीकार किया गया है?

(1) केवल आधुनिक शिष्यों का

(2) पूर्व में उत्पन्न समस्त गुरुओं का

(3) केवल प्रकृतिलीन योगियों का

(4) सांसारिक राजाओं का

प्रश्न 7. श्वेताश्वेतर उपनिषद् के उद्धरण के अनुसार सृष्टि के आदि में ईश्वर ने सर्वप्रथम किसे उत्पन्न कर वेदों का ज्ञान दिया?

(1) मनु को

(2) ब्रह्मा को

(3) आसुरि को

(4) पतंजलि को

प्रश्न 8. तस्य वाचकः प्रणवः सूत्र के सन्दर्भ में प्रणव शब्द से किस पावन ध्वनि का बोध होता है?

(1) गायत्री मंत्र

(2) ओ३म् (ओंकार)

(3) महामृत्युंजय

(4) सोऽहम्

प्रश्न 9. मनु महाराज के अनुसार किस प्रकार का जप सामान्य विधियज्ञ की तुलना में हजार गुना अधिक उत्तम माना गया है?

(1) वाचिक जप

(2) उपांशु जप

(3) मानसिक जप

(4) कीर्तन जप

प्रश्न 10. निरंतर अभ्यास के परिपक्व होने पर बिना किसी मानवीय प्रयास के स्वतः चलने वाले अखंड जप को क्या कहते हैं?

(1) वाचिक जप

(2) अजपाजप

(3) सातिशय जप

(4) नैमित्तिक कर्म

इकाई-8
चित्त कि प्रसन्नता एवं एकाग्रता के उपाय

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।।1.33।।

पदच्छेद: मैत्री, करुणा , मुदिता , उपेक्षणाम् , सुख , दु:ख , पुण्य , अपुण्य , विषयाणाम् , भावनात: , चित्त-प्रसादनम् ।

शब्दार्थ: सुख - सुखी, **दु:ख** - दु:खी, **पुण्य** - पुण्यात्मा (और), **अपुण्य** - पापात्मा (के) **विषयाणाम्** - विषयों में (क्रमश:), **मैत्री** - मित्रता, **करुणा** - दया, **मुदिता** - आनंद (और) **उपेक्षाणाम्** - उपेक्षा (की) **भावनात:** - भावना से, **चित्त- प्रसादनम्** - चित्त प्रसन्न और स्वच्छ (होता है)।

व्यासभाष्यम्- तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दु:खितेषु करुणाम्, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयत: शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते।३३।।

भाष्यानुवाद:- उन भावनाओं में से सुखभोगयुक्त सब प्राणियों में मैत्री की, दु:खी प्राणियों में करुणा की, पुण्यात्माओं में हर्ष की और अपुण्यत्माओं में उपेक्षा की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार भावना करने वाले उपासक के आत्मा में शुद्धधर्म उत्पन्न होता है। उससे चित्त प्रसन्न होता है। प्रसन्न चित्त एकाग्र होकर स्थिति पद को प्राप्त होता है।।३३।।

सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापात्मा के विषय में मित्रता, दया, हर्ष, और उपेक्षा की भावना रखने से चित्त प्रसन्न और विमल हो जाता है।संसार में चार प्रकार के लोग रहते हैं जिनसे प्रतिदिन हमारा व्यवहार होता है।

सुखी
दुखी
पुण्यात्मा
पापात्मा

इनके साथ व्यवहार करने में ही व्यक्ति अज्ञानवश स्वयं दुखी सुखी होता रहता है। व्यवहार का भी अपना विज्ञान है और सर्वप्रथम महर्षि पतंजलि ने यह विज्ञान संसार को इस सूत्र में दिया है। यह विज्ञान सार्वभौमिक है और सभी मनुष्यों पर समान रूप से लागू होता है।

चित्त की या मन की प्रसन्नता किस प्रकार प्राप्त करें जब भी इस विषय पर चर्चा होगी तो सबसे पहले महर्षि के इस सूत्र का वर्णन किया जायेगा। सूत्र कहता है कि इस संसार में चार प्रकार के लोगों से

आपका सामना होगा और उन चार प्रकार के लोगों से आपको एक निश्चित दृष्टि को ध्यान में रखकर व्यवहार करना होगा।

1) सुखी प्रतीत होते व्यक्ति के विषय में मित्रता का भाव रखना होगा।

2) दुखी प्रतीत होते व्यक्ति के विषय में दया का भाव रखना होगा।

3) जो पुण्यात्मा हैं उनके प्रति हर्ष का भाव रखना चाहिए।

4) जो पापात्मा हैं पाप में लगे हुए हैं उनके प्रति मन में उपेक्षा का भाव रखना चाहिए।

क्या होगा जब हम सुखी व्यक्तियों के प्रति मित्रता का भाव रखेंगे ?- आईये इसका विज्ञान समझते हैं- जब हम सुखी व्यक्तियों के प्रति मित्रता की भावना से व्यवहार करते हैं तो हमारे चित में प्रसन्नता का भाव जग जाता है और हम भी अनायास ही खुश हो जाते हैं। जितना अधिक हम सुखी व्यक्तियों के संपर्क में रहेंगे उतना ही हमारा चित्त प्रसन्नता से भरा रहेगा। सुखी व्यक्ति हमारे लिए सहज ही प्रेरणा बन जाता है और हमें अपनी ओर आकर्षित करता है। इसलिए यदि सुखी व्यक्ति के प्रति हमारा मैत्री पूर्ण व्यवहार होगा तो हम अधिक से अधिक सुख अपनी ओर आकर्षित कर पाएंगे। जिससे हमारी मैत्री होती है उसकी सहज संवेदनाएं हमारे भीतर भी स्पंदित होती हैं और अधिक तीव्रता से हम उसे ग्रहण कर पाने में सक्षम हो पाते हैं लेकिन संसार में सदा ऐसा संभव नहीं है कि हमें केवल सुखी व्यक्ति ही मिलें इसलिए अलग अलग प्रकार के व्यक्ति हमें व्यवहार में मिलते रहेंगे।

क्या होगा जब हम दुखी व्यक्तियों के प्रति दया का भाव रखेंगे ?- आईये इसका विज्ञान भी समझते हैं- महर्षि ने दुखी व्यक्तियों के प्रति दु:ख का भाव न रखकर दया का भाव रखने को कहा है। क्योंकि यदि दुखी के प्रति हम दु:ख का भाव रखेंगे तो हम भी दुखी हो जायेंगे इसलिए दुखी के प्रति दया का भाव रखने का निर्देश है। दया का भाव रखने से हमारी मनुष्यता भी जीवित रहेगी और हम संवेदना के स्तर पर भी जीवित रह पाएंगे। दया के भाव से हमारे भीतर करुणा उत्पन्न होगी और हम अपने सामर्थ्य के अनुसार दुखी व्यक्ति की सेवा सुश्रुषा भी कर पाएंगे। संसार में अधिकतर लोग दुखी हैं और व्यवहार में हम अधिकतर ऐसे ही लोगों से मिलते रहते हैं इसलिए हम दुखियों के प्रति दया का भाव रखते हुए यथासंभव उनकी सेवा करें जिससे हमारा चित्त विचलित न होकर शांत रह सके। आज अधिकांश व्यक्ति अशांत इसलिए भी हैं कि चारों ओर तो दु:ख है लेकिन उनके भीतर दया का भाव समाप्त प्राय हो गया है तो दया भाव नहीं दिखाने और उपलब्ध सामर्थ्य का प्रयोग नहीं करने से वह दु:ख तप्त हो गया है। महर्षि द्वारा दिए गए इस अति प्राचीन सूत्र का प्रयोग बंद हुआ तो सारी मानवता दु:ख में डूब गई है। यदि आज मानवता को पुन: इस दु:ख के घेरे से बाहर लाना है तो प्रत्येक को महर्षि पतंजलि के इस सूत्र की ओर लौटने के अतिरिक्त कोई और मार्ग शेष नहीं है।

क्या होगा जब हम पुण्यात्माओं के प्रति हर्ष का भाव रखेंगे ?- आईये इसका विज्ञान भी समझते हैं- जितना अधिक मानव अपनी सहज प्रवृत्तियों के प्रति जागरूक होता जायेगा उतना ही उसका चित्त शांत, निर्मल और विमल होकर उसे प्रसन्न रखेगा। वस्तुत: यह सम्पूर्ण सूत्र सहज प्रवृत्ति की ओर ही इशारा है। महर्षि कह रहे हैं कि सहज प्रवृत्ति के सहारे हम अपने चित्त को शांत और प्रशांत रख सकते हैं।

जब भी कोई व्यक्ति अच्छे कर्म कर रहा हो तो एक मनुष्य होने के नाते हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसेक कार्य को सराहें और भगवत्प्राप्त सामर्थ्य के अनुसार उसकी अच्छे कर्म करने में सहायक बनें। यही सहज प्रवृत्ति होनी चाहिए। लेकिन हम अच्छे कर्म में सहायक न बनकर बाधक बनते हैं तो भले ही उस समय किसी को अच्छा भले ही लगे लेकिन भीतर से हम बुरे इन्सान बनते जायेंगे और अंततः दुःख को ही प्राप्त होंगे। हमारे भीतर की जो अन्य सहज प्रवृत्तियां हैं वे भी अव्यवस्थित होकर हमारे चित्त को अशांत करती रहेंगी।

इसलिए महर्षि कहते हैं कि जो भी शुभ कर्म में लगा है उसे देखकर, सुनकर, जानकर हमारे भीतर हर्ष की भावना आनी चाहिए। जैसा मैंने कहा कि यह सहज प्रवृत्ति है लेकिन अनेक जन्म जन्मान्तर से जन्म–मृत्यु के चक्र में फंसकर व्यक्ति अपनी इस सहज प्रवृत्ति को भूल चुका है या खो चुका है इसीलिए महर्षि इसे पुरुषार्थ की श्रेणी में रख रहे हैं अर्थात् हमें ऐसी भावना करनी पड़ेगी।यदि सहजता से किसी साधक को, किसी शुभ कर्म कर रहे व्यक्ति को देखकर हर्ष नहीं भी हो रहा है तो भी इस सूत्र को याद करके उसके प्रति हर्ष की भावना निर्मित करनी पड़ेगी ताकि धीरे धीरे वह सहज भावना पुनः अपनी स्थिति को प्राप्त हो जाए।

क्या होगा जब हम अशुभ में प्रवृत्त लोगों के प्रति उपेक्षा का भाव रखेंगे?– आईये इसका विज्ञान भी समझते हैं– पूरे जीवन में हम व्यावहारिक स्तर पर ऐसे बहुत से लोगों से मिलते हैं जो शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों में लगे रहते हैं और यह जीवन शैली उनके लिए अति सामान्य होती है। पूरी मानवता लगभग इस जीवन शैली के आधार पर अपना जीवन जी रही है। इस प्रकार की परिस्थिति में एक साधक को कैसे व्यवहार करना चाहिए और चित्त को किस प्रकार शांत प्रशांत रखना चाहिए इसी ओर इशारा करता है यह सूत्र। महर्षि का स्पष्ट निर्देश है कि अशुभ या गलत कर्मों में लगे हुए व्यक्तियों के प्रति हम उपेक्षा का भाव रखें जिससे कि हमारा मन विक्षोभ को न प्राप्त हो।

यह अत्यंत कठिन साधना है और यह बिना समझ के सम्भव नहीं है। अशुभ में लगे व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा का भाव करने से पूर्व आपको अशुभ की ही सर्वथा उपेक्षा करनी होगी। आपके मन में यह भाव प्रतिष्ठित हो जाये कि एक क्षण को भी अशुभ आपके आस पास नहीं भटक सकता है। क्या है अशुभ और क्या है इसकी प्रवृत्ति जब तक यह ठीक ठीक समझ में नहीं आता है तब तक अशुभ के प्रति उपेक्षा उत्पन्न नहीं होगी और जब तक अशुभ के प्रति उपेक्षा नहीं कर पायेगा साधक तब तक अशुभ में प्रवृत्त व्यक्ति के लिए उपेक्षा करने का भाव भी नहीं आएगा।

उदाहरण के लिए: यदि आपके पूरे मन एवं प्राणों में गाली अर्थात् अपशब्दों के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं होगा तब तक जो व्यक्ति आपको या किसी अन्य को आपकी उपस्थिति में गाली देता है; उसके प्रति आप उपेक्षा के भाव में नहीं आ सकते हैं। यह एक प्रक्रिया है और इसका प्रारम्भ है अशुभ की उपेक्षा।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥1.34॥

पदच्छेद: प्रच्छर्दन , विधारणाभ्याम् , वा , प्राणस्य ।

शब्दार्थ: वा- अथवा, **प्राणस्य**- प्राणवायु को, **प्रच्छर्दन**- बारम्बार बाहर निकालने (और), **विधारणाभ्याम्**- रोकने से (भी चित्त स्थिर होता है)

व्यासभाष्यम्- कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्। विधारणं प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं संपादयेत्॥34॥

भाष्यानुवाद:- उदरस्थवायु को नासिका के पुटों द्वारा विशिष्ट प्रयत्न के द्वारा बाहर निकालना प्रच्छर्दन है। विधारण = रोकना प्राणायाम है अथवा उन दोनों के द्वारा मन की स्थिति का सम्पादन करे॥३४॥

नासिका द्वारा फेफड़ों में स्थित वायु को वेगपूर्वक बाहर फेंकने एवं बाहर ही उसे रोककर रखने से मन की साधनात्मक स्थिति बनती है या एकाग्र स्थिति बनती है। इस सूत्र में दो शब्द विशेष रूप से कहे गए हैं-

प्रच्छर्दन: फेफड़ों में रहने वाली प्राणवायु को वेगपूर्वक बाहर फेंकने को प्रच्छर्दन कहते हैं।

विधारण: वेगपूर्वक बाहर की ओर फेंकी प्राणवायु को बाहर ही रोक देने की प्रक्रिया को विधारण कहते हैं।

मन की स्थिति को साधने के लिए ये दो साधन कहे गए हैं। जब कभी भी मन में विक्षोभ हो, मन चंचलता से ग्रसित हो, निराशा, उदासी, किंकर्तव्यविमूढ़ता के पल हों, अकर्मण्यता मन पर छाई हो, आलस्य प्रमाद अपना जाल फेंकता हो तब प्रत्येक मनुष्य को प्राणायाम की इस विधि का उपयोग करके अपनी चेतना को स्थिर करना चाहिए। स्थिर हुई चेतना ही फिर उर्ध्वगामी होकर मनुष्य को प्रज्ञालोक तक लेकर जा सकती है।

प्राणायाम के मुख्यत: तीन भेद कहे गए हैं-

रेचक

पूरक

कुम्भक

रेचक: फेफड़ों में स्थित प्राणवायु को (श्वास) बाहर ले जाना या तीव्रता से फेंकना रेचक कहलाता है।

पूरक: नासिका छिद्रों से श्वास को भीतर ले जाना योग की भाषा में पूरक कहलाता है।

कुम्भक: श्वास को रोक देना कुम्भक कहलाता है और इसके दो भेद हैं।

बाह्य कुम्भक- बाहर फेंकी गई श्वास को बाहर ही प्रयत्नपूर्वक रोक देना बाह्य कुम्भक कहलाता है।

अन्त:कुम्भक- भीतर ली गई श्वास को भीतर ही प्रयत्नपूर्वक रोक देना अन्त: कुम्भक कहलाता है।

इस सूत्र में प्राणायाम के इन तीन भेदों में से दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। रेचक को ही प्रच्छर्दन शब्द से

और कुम्भक को विधारण शब्द से कहा है।
आईये इस सूत्र के वैज्ञानिक पक्ष पर कुछ विचार करते हैं। हमारा मन, हमारे प्राणों की गति पर निर्भर करता है और हमारे प्राण हमारे मन की स्थिति पर निर्भर करते हैं। मन और प्राण परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं अतः यह तो निश्चित ही है कि किसी एक पक्ष पर होने वाली गतिविधि अन्य पर प्रभाव अवश्य डालेगी।
गतिविधि यदि प्राण और मन को संतुलित करने की होगी तो दोनों के ऊपर सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा और यदि गतिविधि या प्रक्रिया विक्षोभ पैदा करने की होगी तो विपरीत एवं नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। जब साधक प्राणों के आयामों में से प्रच्छर्दन एवं विधारण का प्रयोग करता है तो प्राणों के इस प्रकार के स्पंदन से मन भी उसी लय के साथ समाहित होने लगता है। मन भी तीव्रता के साथ हिलोरे लेता है और फिर दृढ़ता के साथ स्थिर हो जाता है। इस तीव्रता में मन सोचना बंद कर देता है जिससे मन की चंचलता, अस्थिरता, सोचना, व्यर्थ की चिंता आदि सबकुछ खत्म हो जाता है और मन अपनी स्थिर अवस्था को प्राप्त हो जाता है।
यह पूर्णतः वैज्ञानिक बात है कि यदि मन को शांत करना है या उसे स्थिर अवस्था में लाना है तो इस केवल प्राणों में किये गए प्रयोगों से ही सम्भव है अथवा मन के द्वारा ही किये गए कुछ अन्य उपायों से सम्भव है।
मन को जितना हम सोचने के पार ले जा सकें उतना ही मन को स्थिर कर पाएंगे इसीलिए अष्टांग योग का अस्तित्व है। इस प्रकार प्रच्छर्दन एवं विधारण उन उपायों में से एक प्रमुख उपाय है। यह मन को साधने की साधनाओ में से एक प्रमुख उपाय है।
आगे के 5 और सूत्रों में चित्त की स्थिति बनाने या चित्त को एकाग्राभिमुख करने की बात महर्षि करेंगे।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥1.35॥

पदच्छेदः विषयवती , वा , प्रवृत्तिः , उत्पन्ना , मनसः , स्थिति , निबन्धिनी ।
शब्दार्थः विषयवती - विषयवाली, **प्रवृत्तिः** - प्रवृत्ति, **उत्पन्ना** - उत्पन्न (होकर वह), **वा** - भी, **मनसः** - मन की, **स्थिति** - स्थिति (को), **निबन्धनी** - बाँधने वाली (होती है)।

व्यासभाष्यम् -नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः। जिह्वाग्रे रससंवित्। तालुनि रूपसंवित्। जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्। जिह्वामूले शब्दसंविदित्येता वृत्तय उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निबध्नन्ति, संशयं विधमन्ति, समाधिप्रज्ञायां च द्वारीभवन्तीति। एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरश्म्यादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या।

यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति, एतेषां यथाभूतार्थ-प्रतिपादनसामर्थ्यात, तथापि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिवाप-वर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति। तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योप- देशोपोद्ब

लनार्थमेवावश्यं कश्चिदर्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः। ।।३५।।

भाष्यानुवादः- नासिका के अग्रभाग में धारणा करने वाले इस साधक को जो दिव्यगन्ध का साक्षात्कार होता है वह गन्धप्रवृत्ति है। जिह्वा के अग्रभाग में धारणा करने से दिव्यरस का साक्षात्कार होता है वह रसप्रवृत्ति है। तालु में धारणा करने से दिव्यरूप का साक्षात्कार होता है वह रूपप्रवृत्ति है। जिह्वामध्य में धारणा करने से दिव्यस्पर्श का साक्षात्कार होता है वह स्पर्शप्रवृत्ति है। जिह्वामूल में धारणा करने से दिव्यशब्द का साक्षात्कार होता है वह शब्दप्रवृत्ति है। ये इतनी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर करती हैं और समाधिप्रज्ञा में माध्यम बनती हैं। इससे चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि, प्रदीप और रश्मि आदि में उत्पन्न प्रवृत्ति विषयवती ही जाननी चाहिए।

यद्यपि उन-उन शास्त्रों, अनुमानप्रमाण तथा आचार्यों के उपदेश से ज्ञात बातें यथार्थ ही होती हैं क्योंकि इनमें यथार्थ बतलाने का सामर्थ्य होता है फिर भी जब तक इनमें से कोई एक देश अपने उपकरण ों (मन-इन्द्रियों) द्वारा नहीं जाना जाता तब तक परोक्ष के समान रहने वाला अपवर्गपर्यन्त सारा विषय सूक्ष्मतत्त्वों के प्रति दृढ़विश्वास को उत्पन्न नहीं करता। इसलिये शास्त्र, अनुमान और आचार्यों के उपदेश की पुष्टि के लिए अवश्य ही किसी विशिष्ट अंश को प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए। ।।३५।।

पांच विषयों (रुप,रस,गन्ध, स्पर्श एवं शब्द) वाली उत्पन्न हुई प्रवृत्ति भी मन को एकाग्र एवं स्थिरता प्रदान करने वाली होती है जिससे मन शांत एवं निर्मल हो जाता है। 5 विषयों में से किसी विषय को विशेष रूप से एकाग्रता का विषय बनाया जाता है तब जो प्रकृष्ट वृत्ति उत्पन्न होती है वह मन को शांत, प्रशांत एवं विमल बना देती है। यह स्थिति योग में आरूढ़ होने के लिए अत्यंत आवश्यक है। जैसा कि अनेक स्थानों पर पहले कहा जा चुका है कि योग केवल चित्त की दो ही प्रकार की भूमियों में संभव है-एक एकाग्र भूमि और दूसरा निरुद्ध भूमि।

जब तक साधक को एकाग्र भूमि प्राप्त नहीं होगी वह योगमार्ग ओर आगे कदम नहीं रख सकता है अतः साधक को एकाग्र भूमि प्राप्त कराने के लिए ही यह सब उपाय महर्षि बता रहे हैं।

मन को प्रसन्न, शांत, प्रशांत एवं स्थिरता प्रदान करने के बहुत सारे उपायों में से यह एक उपाय है। महर्षि कहते हैं कि साधक किसी भी एक प्रक्रिया को श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करके अपनी मनःस्थिति को ठीक कर सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि- 5 विषयों में से किसे अभ्यास के लिए चुना जाए? क्या अभ्यास के लिए महर्षि ने कोई निश्चित क्रम बताया है? हम अपनी बुद्धि से यह निर्णय कर सकते हैं कि किस विषय को हम अपने अभ्यास का माध्यम बना सकते हैं।

जब साधक आंख बंद कर, पद्मासन या किसी भी सुखासन में बैठकर विषयों को माध्यम बनाकर अपने मन को शांत करने के उपाय का अनुष्ठान करता है तो सर्वप्रथम शब्द एक ऐसा विषय है आंख बंद करने के बाद भी प्रकृति की सानिध्य में हमें सुनाई देता है। अतः शब्द से प्रारम्भ करना सर्वोत्तम है। जब महर्षि ने इन सूत्रों को लिखा होगा तब निश्चित ही चारों ओर प्रकृति ही प्रकृति होगी एवं महर्षि

ने इन सूत्रों को प्रकृति के सानिध्य में ही अपनाने की दृष्टि से लिखा होगा। अतः मन की स्थिरता एवं प्रशांतता के लिए ये सब अभ्यास हमें प्रकृत्ति की समीपता में ही करने चाहिए।

आंखें बंद कर, सुखासन या पद्मासन में बैठकर हम नदी की कलकल ध्वनि को विषय बनाकर उसे सुनने में तल्लीन हो जाएं। शेष सभी 4 विषय अर्थात् रुप, रस, गन्ध एवं स्पर्श हट जाएं। साधक की समस्त चेतना केवल शब्द सुनने पर एकत्रित हो जाये, धीरे धीरे केवल नदी का कलरव, कलकल ध्वनि या नाद शेष रह जायेगा यहां तक कि जब साधक को अपने होने का अनुभव भी तिरोहित हो जाता है तो इस उपाय की पूर्णता घटित होती है। जब शब्द विषय ही शेष रह जाता है तो मन में एक ही वृत्ति प्रगाढ़ होकर मन को लयबद्ध कर देती है, जहां द्वैत समाप्त हो जाता है और एकत्व का अनुभव ही शेष रह जाता है। एकाकार होने की यह भावना अप्रतिम सुख देने के साथ साथ मन को एक नए आयाम पर ले जाती है, मन को एक शिखर आरोहण करा देती है। साधक का यह अनुभव उसे अध्यात्म की ओर अधिक गहराई में ले जाने को आतुर हो जाता है और इसके लिए आवश्यक पुरुषार्थ विशेष करने का भी साहस देता है। साधक के मन में आध्यात्मिक उन्नति की ऐसी उमंग चढ़ती है जिसका कोई पार नहीं। यह उत्साह, उमंग और दृढ़-इच्छाशक्ति बड़ी सात्विक और संयमित होती है। इन क्षणों में साधक अनियंत्रित होकर नहीं अपितु पूर्ण संयमित होकर योग मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है।

शब्द को विषय बनाकर जब साधक अभ्यास करता है तो वहां शब्द की निरन्तरता होनी चाहिए। यदि शब्द बीच-बीच में खंडित हो रहा है तो वृत्ति का प्रवाह नहीं बन पाएगा, बार बार एकाग्रता भंग होगी जिससे मन में चंचलता कम होने के बजाय बढ़ने लगे जाएगी।

अतः नदी का अजस्र प्रवाह या सतत चलने वाली ओंकार की ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है। जितनी भी प्राकृतिक सतत चलने वाली ध्वनियां हैं वही इस उपाय के लिए उपयुक्त हैं।

शब्द के बाद रूप एक ऐसा विषय है जो प्रतिक्षण हमारे अनुभव में आता है। बन्द आंखों से भी रूप एक ऐसा विषय है जो निरंतर दिखता एवं चलता रहता है। मन की इस सहज प्रवृत्ति को यदि ध्यान एवं एकाग्रता का विषय बना लिया जाए तो आसानी से अन्य विषय तिरोहित हो जाते हैं। रूप बिषय को माध्यम बनाकर अभ्यास करने के लिए साधक को किसी बन्द गुफा या बन्द कमरे में जहां किसी भी प्रकार से शब्द न सुनाई दे, वहाँ बैठना चाहिए ताकि केवल रूप विषय पर एकाग्रता बनाई जा सके। जहां शब्द व्यवधान न बने किसी भी तरह। हाँ एकबार जब साधक इसमें निष्णात हो जाता है तब उसके लिए शब्द भी किसी प्रकार का व्यवधान नहीं रह जाता है। लेकिन प्रारंभिक साधकों के लिए यह सावधानी अत्यंत आवश्यक है।

बन्द कमरे या गुफा में पद्मासन या सुखासन में बैठकर शांत चित्त चित्र या भगवान की मूर्ति को अविचल निहारते जाएं। प्रगाढ़ता के साथ देखने भर का अभ्यास करना है जिससे कि वह रूप ही शेष रह जाये। रूप जितना अज्ञात की ओर ले जाने वाला हो उतना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि अज्ञात की ओर ले जाना वाला रूप विचार की ओर नहीं लेकर जाता वह शून्य की ओर ले जाता है। अज्ञात के विषय में हमें कुछ पता नहीं होता है इसलिए उस विषय में विचार उत्पन्न न होकर शून्यता महसूस होती है जो मन

को शांत एवं निर्मल बना देती है।
इसी प्रकार दिव्य गंध, सात्विक गंध का आलंबन लेकर उस गन्ध विषय में पूर्णतः एकाकार हो जाने से भी मन को निर्मलता एवं प्रशांतता प्राप्त होती है। जब भी हम विषयों को माध्यम बनाकर मन की शांति एवं स्थिरता के लिए साधना या अभ्यास करते हैं तो यह अनिवार्य शर्त है कि हम उस विषय में पूर्णतः तल्लीन हो जाएं, उस विषय के अतिरिक्त हमारे भीतर कुछ भी शेष न बचे ऐसी स्थिति का निर्माण हुए बिना, हम प्रकृष्ट वृत्ति द्वारा मन को एकाग्र एवं शांत नहीं कर सकते हैं।
दिव्य गन्ध या सात्विक गन्ध के लिए आप सुगंधित घूप, किसी पुष्प की सुगंध या सात्विक मिष्ठान या पकवान की गन्ध का सहारा ले सकते हैं। तीक्ष्ण इत्र या ऐसी गन्ध जो मन को उत्तेजित करती हो उसको विषय नहीं बनाना चाहिए।
गन्ध, रस एवं स्पर्श ये विषय ऐसे हैं जिन्हें साधने में विशेष प्रयत्न या अभ्यास करना पड़ता है। मेरी दृष्टि में साधक को शब्द के आश्रय अथवा दिव्य रूप के आश्रय से ही यह साधना करनी चाहिए क्योंकि यह सर्वसुलभ एवं सरल विधियों में से एक हैं। समाज में इन दो विधियों का सहारा भी खूब लिया जाता है। अन्य तीन गन्ध, रस एवं स्पर्श का प्रचलन कम रहा है और श्रम साध्य है। जब साधक के पास दो सर्वसुलभ विकल्प उपलब्ध हों तब साधक को इन्हीं दो के ऊपर कार्य करना चाहिए।
रस के माध्यम से यदि कोई अभ्यास करना चाहे तो किसी मन पसंद एवं जो घर में बन सकता है ऐसे मिष्ठान को विषय बनाकर उसके ही रस का स्वाद महसूस करते हुए पूर्णतः उसमें तल्लीन हो जाएं। बांकी सभी विषय निवृत्त हो जाएं; केवल रस विषय ही शेष रह जाये इस प्रकार भी एक वृत्ति शेष रहने से मन की शांत स्थिति एवं स्थिरता प्राप्त हो जाती है।
जो साधक स्पर्श विषय को आधार बनाकर मन को शांत एवं स्थिर करना चाहते हैं वे किसी कोमल वस्त्र, कम्बल आदि के सात्विक स्पर्श को विषय बनाकर उसको अनुभव करने का अभ्यास करें और धीरे धीरे उस स्पर्श में तल्लीन हो जाये जिससे केवल स्पर्श का अनुभव ही शेष रह जाये।
इस प्रकार 5 विषयों को किस प्रकार विषय बनाकर उझसे मन को शांत एवं निर्मल किया जा सकता है उसकी बात यहां पूरी हुई। स्मरण रहे कि यह उपाय केवल मन को शांत करने, एकाग्रता बनाने एवं मन की स्थिरता के लिए किए जाने चाहिए न कि इन्हें ही अंतिम उपाय मान लिया जाए। योग की उच्चतम साधना के लिए ये उपाय साधन मात्र हैं।
आगे के सूत्रों में मन की प्रशांतता एवं निर्मलता के लिए महर्षि कुछ और उपाय बता रहे हैं।

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥1.36॥

पदच्छेदः विशोका , वा , ज्योतिष्मती ।
शब्दार्थ : वा- अथवा, **विशोका** - शोकरहित, **ज्योतिष्मती** - ज्योतिष्मति प्रवृत्ति (भी मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है)।

व्यासभाष्यम्- प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्तते। हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित,

बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं, तत्र स्थितिवैशारद्यात्प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते। तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तम्-तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीत इति। एषा द्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।।३६।।

भाष्यानुवाद- प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी, यह अंश पूर्वसूत्र से आता है। हृदयपुण्डरीक में धारणा करने वाले योगी को बुद्धि का जो साक्षात्कार होता है - बुद्धिसत्त्व प्रकाशरूप आकाश के समान होता है उसमें एकाग्रताजन्य निर्मलता के कारण प्रवृत्ति (उत्कृष्ट ज्ञान) सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणि की कान्ति के सदृशरूप वाली उत्पन्न होती है। उसी प्रकार अस्मिता में एकाग्रचित्त तरङ्गों से रहित महान् समुद्र के समान शान्त, महान् अस्मितामात्र होता है। जिसके विषय में कहा गया है कि उस अणुमात्र आत्मा को जानकर मैं हूँ इस प्रकार जानता है। विशोका ज्योतिष्मती नामक यह प्रवृत्ति दो प्रकार की है - एक विशोका विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, दूसरी विशोका अस्मितामात्र ज्योतिष्मती प्रवृत्ति। जिस साक्षात्कारात्मक प्रवृत्ति के द्वारा योगी का चित्त स्थिति पद को प्राप्त करता है।।३६।।

शोक से रहित एवं प्रकाश पूर्ण प्रवृत्ति उत्पन्न करने से भी साधक का मन स्थिरता को प्राप्त होता है। पूर्व में कहे गए उपायों से जिस प्रकार मन स्थिर, शांत एवं विमल हो जाता है इसी प्रकार विशोका ज्योतिष्मती नाम की इस विशेष प्रवृत्ति से भी मन विमल हो जाता है।

व्यास भाष्य के अनुसार यह दो प्रकार की है- 'विषयवती ज्योतिष्मती' 'अस्मिता मात्र ज्योतिष्मती'

इस प्रवृत्ति में सत्त्व गुण अधिक मात्रा में रहता है; रजोगुण एवं तमोगुण शून्य रहता है। रजोगुण एवं तमोगुण रहित होने से ही इसे विशोका कहा जाता है। शोकरजो गुण एवं तमोगुण से ही उत्पन्न होता है। कुछ ध्यान के अभ्यासी बताते हैं कि नाभि के ऊपर हृदय प्रदेश में एक कमल है जिसका मुख नीचे की ओर है। श्वास को तेजी से बाहर फेंकने एवं वहीं रोकने से यह कमल ऊर्ध्व मुख हो जाता है और साधक प्रफुल्लित अनुभव करने लग जाता है। इस हृदय प्रदेश स्थित कमल के बीच में ओंकार है। इस कमल का सीधा सम्बन्ध ब्रह्मनाड़ी से है जो सूर्य, चंद्र आदि लोको से संबंधित है। जब साधक या योगी इस बिंदु पर एकाग्र होता तो आत्मा में सात्विक प्रकाश भासने लग जाता है। योगी को सर्वत्र सुनहरा प्रकाश अनुभव में आता है जिससे उसका मन गहरा शांत होने लग जाता है।

कुछ योगी बताते हैं कि भृकुटि मध्य में सात्विक प्रकाश की कल्पना करने से धीरे धीरे वहां प्रकाश की झलक दिखाई देने लग जाती है और गहरे अभ्यास से पूरे शरीर में वह प्रकाश फैलने लग जाता है। जिससे साधक का मन उसी प्रकाश में तल्लीन हो जाता है और वह स्वयं को प्रकाश स्वरूप अनुभव करने लग जाता है।

वीतरागविषयं वा चित्तम्।।37।।

पदच्छेदः वीत , राग , विषयम् , वा , चित्तम् ।

शब्दार्थः वा - अथवा, **राग**- राग, **वीत**- रहित, विषयम्- विषयवाला (महापुरुषों का) **चित्तम्**- चित्त (मन की स्थिति को बाँधने वाला होता है)।

व्यासभाष्यम्-वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति॥।३7॥

भाष्यानुवादः- वीतराग योगियों के चित्त का आलम्बन करने वाले योगसाधक का चित्त 'स्थितिपद' को प्राप्त करता है।।३७।।

जिन योगियों का चित्त अर्थात् अंतःकरण राग मुक्त हो गया है ऐसे योगियों के चित्त का आश्रय लेने से, उनके चित्त में एकाग्रता बनाने से भी साधक का चित्त निर्मल एवं शांत हो जाता है।

हम जिस भाव से युक्त होकर, जिस वीतराग महापुरुष के द्वंद्वातीत, इच्छारहित, सहज एवं सरल चित्त का भाव आश्रय लेकर अभ्यास करते हैं, हम भी उसी वीतराग भाव से आप्लावित होने लगते हैं। हम जैसे विचार करते हैं वैसे ही बनने लग जाते हैं। जैसी वस्तु, विचार या व्यक्ति की महिमा गाते हुए उसपर चिंतन करते हैं उस वस्तु, विचार या व्यक्ति की महिमा से हम भी भरने लग जाते हैं। इसी मूल धारणा का सहारा इस सूत्र में लिया गया है।

कैसे लें वीतराग चित्त का आश्रयः साधक अपनी सुविधानुसार किसी भी आसन चाहे पद्मासन हो या सुखासन या अन्य कोई, उसमें अच्छे से स्थित होकर कोमलता से आंखे बंद करके किसी वीतराग महापुरुष के इच्छारहित चित्त पर मन को एकाग्र करने का अभ्यास करें।

एक मिनट तक मध्यम गति से श्वास को भीतर लें और छोड़ें। इस प्रकार से मन आंशिक शांत होकर प्रारंभिक रूप से एकाग्र हो जाएगा और साधक वीतराग चित्त पर सहजता से मन को टिका सकता है। एक बार में ही वीतराग महापुरुष जैसे महर्षि पतंजलि, महर्षि कपिल, महर्षि कणाद, महर्षि जैमिनी, महर्षि वेदव्यास, मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री राम, योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण, आदि योगी शिव अथवा ऐसे गुरु जिनके ऊपर आपको विश्वास हो कि वे वीतराग हो चुकें हैं; ऐसे वीतराग चित्त की महिमा का मन ही मन में स्पष्टता से मनन कर लें और प्रसन्नता का अनुभव करें। तत्पश्चात ऐसे वीतराग चित्त में अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा, प्रयास को लगा दें और अपने को तल्लीन कर दें।

एक बात का ध्यान रखना है कि इसमें अधिक विचार नहीं करना है अपितु वीतराग महापुरुष के चित्त को ही अनुभव करने का प्रयास करना है। साधक को इस स्थिति तक पहुँचना होगा जैसे वे वीतराग महापुरुष के चित्त वाला ही हो गया है और उसे वह सब अनुभव हो रहा है जैसा उन वीतराग महापुरुष को महसूस होता हो। यह इस साधना का मुख्य एवं मूल बिंदु है।

जब साधक इस प्रकार से वीतराग चित्त को अनुभव करने लग जायेगा तो स्वतः ही उसका भी चित्त तदाकार हो शांत एवं निर्मलता को प्राप्त हो जाएगा। क्योंकि जिसके सभी द्वंद्व समाप्त हो चुके हैं, जिसकी इच्छा और अनिच्छा समाप्त हो गई है, जो राग और द्वेष से पार सहज और सरल हो चुका है, जो किसी भी दौड़ का हिस्सा नहीं है, जो एकत्व एवं समत्व को प्राप्त हो चुका है वह मन की निर्मलता एवं प्रशांतता को सदा पाया हुआ है और ऐसे चित्त का आश्रय उस साधक को भी इसी प्रकार

की अनुभूति से भर देता है।
ऐसा नहीं है कि इस विधि को अपनाने के बाद साधक का चित्त सदा के लिए निर्मल एवं शांत हो जाता है, साधक जब जब इस विधि का प्रयोग करता है तब तब उसका मन शांत एवं निर्मल हो जाता है। शांत एवं निर्मल हुए मन से योग मार्ग पर आगे बढ़ने में सहायता मिलती है। यह बार-बार करने वाला अभ्यास है। इसके बार-बार के अभ्यास से फिर साधक का चित्त सहज ही प्रसन्न एवं शांत रहने लगता है। राग से रहित महापुरुषों, योगियों के चित्त में मन को एकाग्र करनेवाला चित्त भी साधक के मन को शांत, स्थिर एवं निर्मल बनाता है।
ऐसे योगी एवं महापुरुष, जीवन के सभी क्षेत्रों में हमारे आदर्श जिन्होंने पूर्व में योग विद्या एवं अध्यात्म विद्या से अपने अंतःकरण को निर्मल, शुद्ध एवं राग रहित कर लिया है, उनके चित्त में मन को अखंडरूपेण लगाए रखने से भी साधक के मन में शांत प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगती है जिससे उसका मन भी शांत एवं निर्मल हो जाता है।
हमारा मस्तिष्क जैसा सोचता है, हृदय जैसी भावना रखता है और बुद्धि जैसी तर्कपूर्ण एवं श्रद्धा के साथ विचार करती है; इन सब में हमारा लगाव या जुड़ाव होता जाता है। योगियों का रागरहित हुआ चित्त भी एक सात्विक आलंबन है जिस पर यदि इच्छापूर्वक मन एकाग्र किया जाए तो जैसा एक रागरहित हुए योगी के चित्त में प्रशांतता होती है; उसी की तरंग साधक भी महसूस करने लग जाता है।
आप भी एक प्रयोग करके इसे अनुभव कर सकते हैं। परम पिता परमेश्वर के प्रति, अपने गुरुजनों के प्रति हमारी अनन्य श्रद्धा होती है। प्रत्यक्ष रूप से हमारे गुरु का हमारे जीवन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। एक समर्थ गुरु अपने शिष्यों के जीवन को प्रतिपल मार्गदर्शित करते हैं क्योंकि उनका सम्पूर्ण जीवन ही शिष्य के लिए दर्शन बन जाता है। एक ओर जहाँ गुरु का आचरण भी शिष्य को उसके जीवन में मार्गदर्शक का कार्य करता है वहीं अपने वचनों से, अपने आदेशों व निदेशों से भी शिष्य को आगे बढ़ने में सहायता करते हैं।
" परमपिता परमेश्वर या मेरे समर्थ गुरु एवं गुरुसत्ता, ऋषि सत्ता मेरे माध्यम से जी रहे हैं। मेरे माध्यम से मेरा परमात्मा, मेरा गुरु जी रहा है। इसलिए मैं एक पल को भी कोई ऐसा कार्य, भावना या विचार न करूं जिससे मेरे परमात्मा और मेरे गुरु के जीने के ढंग पर कालिख पड़े। " इस प्रकार की भावना से आवेशित चित्त से जब हम अपने अपने समर्थ एवं योगी गुरु, स्वयं परमात्मा के चित्त पर मन को एकाग्र ही नहीं अपितु हम वहीं हैं ऐसा मानेंगे तो तत्क्षण हमारा पुराना चित्त खो जायेगा और तत्क्षण हम भी शांति पा जाएंगे।
यह प्रयोग अध्यात्म की दृष्टि से भी अत्यंत लाभकारी है। ऐसा विचार करने मात्र से आपके जीवन में सकारात्मक परिवर्तन आने लग जाएंगे और पाएंगे कि आप उसी समय एक नए इंसान बन गए हैं। गुरु चेतना, ऋषि चेतना एवं ब्रह्म चेतना आपके भीतर प्रकाशित होने लग जायेगी। यदि जीवन को जीना ही जो तो उसे अपना मानकर नहीं अपितु परमात्मा का मानकर जियेंगे तो सदैव तनावमुक्त, प्रसन्नचित्त, पुरुषार्थी जीवन जियेंगे।

इस पूरे संसार में परमात्मा एवं समर्थ गुरु सत्ता, ऋषि सत्ता के अतिरिक्त किसका ऐसा चित्त होगा जिस पर मन एकाग्र किया जा सकता हो अर्थात् केवल परमात्मा एवं समर्थ गुरु सत्ता का चित्त ही ऐसा चित्त है, अन्य नहीं।

आज के समय में हम ऐसे ही समर्थ गुरु परम पूज्य स्वामी रामदेव जी महाराज जी के आश्रय में पल और बढ़ रहे हैं जिनके चित्त में मन को लगाकर हम भी अपने मन को शांत और निर्मल बना सकते हैं। पूज्य श्री की अपनी निजी अभिलाषा परमात्मा की अभिलाषा में मिल गई है इसलिए उनका स्वयं का कोई राग और द्वेष नहीं है। ऐसे रागरहित एवं द्वेष रहित चित्त पर भी साधक सुगमता से मन को एकाग्र कर मन को स्थिर कर सकता है।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥1.38॥

पदच्छेदः स्वप्न , निद्रा , ज्ञान , आलम्बनम् , वा ।

शब्दार्थः स्वप्न- स्वप्न (और), **निद्रा**- निद्रा (के), **ज्ञान**- ज्ञान (का), **आलम्बनम्** - अवलम्बन (करनेवाला चित्त), **वा**- भी (स्थिर हो सकता है)।

व्यासभाष्यम्- स्वप्नज्ञानालम्बनं वा निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति॥38॥

भाष्यानुवादः- स्वप्नगत ज्ञान को आलम्बन बनाने वाला वा सुषुप्तिगत ज्ञान को आलम्बन करने वाला, तदाकारकारित योगी का चित्त स्थितिपद को प्राप्त करता है ॥३८॥

स्वप्नज्ञनित एवं निद्रा से जनित ज्ञान का आलंबन लेने वाला चित्त भी मन को स्थिरता एवं प्रशांतता देने वाला होता है। शास्त्रों में तीन प्रमुख अवस्थाओं को माना गया है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति

जाग्रत अवस्था में रजोगुण की अधिकता होने और तमो गुण के दबे होने से मनुष्य की वृत्तियां बाहर की ओर बहती हैं। वहीं निद्रा में तमोगुण बढ़ जाता है और रजोगुण को दबा लेता है जिससे वृत्तियां भीतर की ओर (अंतर्मुखी) हो जाती हैं।

जाग्रत से भिन्न निद्रा अवस्था को भी ज्ञान की दृष्टि से दो भागों में बांटा जा सकता है।

एक स्वप्न दूसरा सात्विक निद्रा। ऐसे व्यक्तियों के लिए, जिन्हें अच्छी सात्त्विक वृत्ति के कारण सात्त्विक स्वप्न आते हैं उनके लिए एक उपाय बताते हैं। वे कहते हैं कि, जब व्यक्ति प्रातः काल सोकर उठता है तो कई बार स्वप्न का ज्ञान उठने के बाद बना रहता है। प्रयत्नपूर्वक यदि कोई उस ज्ञान को स्मरण कर कुछ काल तक उसी स्वप्न ज्ञान की स्मृति को बना पाए तो एकाग्रता के समय उस ज्ञान का निरंतर आलंबन लेकर भी मन शांत और निर्मल हो जाता है। स्मृति का गहरा प्रयोग कर वह चित्त एक वृत्ति का आश्रय लेकर स्थिरता को प्राप्त हो जाता है।

इससे भिन्न, अर्थात् स्वप्न से भिन्न सुषुप्ति अवस्था से बाहर आकर जब कोई व्यक्ति यह कहता है

कि वह रात सुखपूर्वक सोया, उसे बहुत अच्छा विश्राम प्राप्त हुआ तो यह जो सोने के बाद का ज्ञान है यदि कोई इस अनुभूति का आलंबन लेकर मन को एकाग्र करे तो वह भी शांति को प्राप्त कर सकता है और यह आलंबन भी मन को सम्यक रूप से बांधने वाला होता है।

महर्षि ने इन सूत्रों में प्रसिद्ध सभी विधियों के बारे में अपने शिष्यों को बता दिया, इन विधियों की कोई भी सीमा नहीं है यह जानकर उन्होंने चित्त की प्रशांतता प्राप्त करने के लिए अंतिम उपाय भी अगले सत्र में बता दिया है।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥1.39॥

पदच्छेद: यथा , अभिमत , ध्यानात् , वा

शब्दार्थ: यथा - (जिसको) जो, **अभिमत** - अभिमत (हो, उसके), **ध्यानात्** - ध्यान से;
वा - भी (मन स्थिर हो जाता है)।

व्यासभाष्यम्- यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति॥39॥

भाष्यानुवाद:- उपरोक्त निर्देशित साधनों में से जो साधन साधक के अनुकूल हों, उन्हीं के आलम्बन से चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न करे। वहाँ पर स्थिरता को प्राप्त चित्त (योग से सम्बद्ध) अन्य विषयों में भी स्थितिपद को प्राप्त करता है।।३९।।

उपरोक्त कही गई विधियों में से जिसे जो विधि अपनी प्रकृति के अनुसार उचित लगती हो या समझ में आती हो, उसके अनुष्ठान या पालन से भी मन शांत एवं निर्मल हो हो जाता है।

इस सूत्र के दो प्रकार से अर्थ निकलते हैं। एक, उपरोक्त विधियों में से कोई एक विधि या उपरोक्त बताई गई विधियों के अतिरिक्त कोई अन्य विधि

मन को शांत, प्रशांत, निर्मल, विमल एवं स्थिर करने के लिए उस समय प्रचलित कुछ प्रमुख एवं मर्यादित साधनों एवं विधियों का अच्छी प्रकार से उल्लेख करने के बाद भी महर्षि ने यहां कहा है कि केवल 6 विधि ही नहीं है अपितु मन को शांत एवं निर्मल करने के और भी उपाय हो सकते हैं अत: जिसको जैसा अभिमत हो वह उन विधियों की सहायता से मन को शान्त कर सकता है अर्थात् वह अन्य सात्त्विक विधियों का अनुष्ठान कर सकता है।

हम सब ऋषि मुनियों की ही संतान है, वे ही हमारे पूर्वज और आदर्श हैं। उन्होंने प्रथम दृष्टि से जिन विधियों का उल्लेख मन की निर्मलता एवं उसकी स्थिरता के लिए सूत्र रूप में कह दिए हैं, हमें उन्हीं विधियों को अपने अभ्यास में लाना चाहिए; क्योंकि बहुत सारी विधियों में से स्वयं महर्षि ने श्रेष्ठ आलंबनों का चुनाव किया है।

महर्षि ने यह सूत्र रचकर अन्य संभावित विधियों का निषेध नहीं किया है। प्रत्येक सूत्र में "यह नहीं तो इस विधि का उपयोग करें" ऐसा वे कहते आये हैं।

महर्षि के समय में बहुत सारी विधियां प्रचलित होंगी, उन विधियों में से जब कुछ प्रमुख विधियों को सूत्र रूप में कह दिया तो अन्य विधियों का कोई निषेध नहीं हो जाये इसलिए यह सूत्र कहा है।

स्मरणीय बिन्दु

1. चित्त-प्रसादन के चार स्तम्भ: संसार के सुखी, दु:खी, पुण्यात्मा और पापात्मा इन चार प्रकार के लोगों के प्रति क्रमश: मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा रखने से चित्त प्रसन्न व निर्मल होता है।

2. शुक्ल धर्म की उत्पत्ति: व्यासभाष्य के अनुसार इन चारों सामाजिक प्रवृत्तियों की भावना (चित्त-प्रसादन के उपाय) करने वाले उपासक के भीतर शुक्ल धर्म (पवित्र पुण्य) का उदय होता है।

3. सुखी जनों के प्रति मैत्री: सुखी व्यक्तियों से ईर्ष्या करने के स्थान पर मैत्री भाव रखने से चित्त में प्रसन्नता बढ़ती है और हम भी अनायास सुख को आकर्षित करते हैं।

4. दु:खियों के प्रति करुणा: दु:खी जनों को देखकर स्वयं दु:खी होने के बजाय उनके प्रति दया (करुणा) का भाव रखने से मानवता जीवित रहती है और हम सामर्थ्य अनुसार उनकी सेवा कर पाते हैं।

5. पुण्यात्माओं के प्रति मुदिता: अच्छे व सात्त्विक कर्म करने वाले पुण्यात्माओं को देखकर मन में हर्ष (मुदिता) का भाव लाना चाहिए। यह हमारी खोई हुई सहज सात्त्विक प्रवृत्ति को पुन: जागृत करता है।

6. पापात्माओं के प्रति उपेक्षा: दुष्कर्मों या अशुभ में प्रवृत्त लोगों के प्रति विक्षोभ या क्रोध न करके उनके प्रति उपेक्षा (उदासीनता) का भाव रखने से चित्त अशांत होने से बच जाता है।

7. प्राणों द्वारा चित्त-स्थिरता: प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य सूत्र के अनुसार श्वास को बलपूर्वक बाहर निकालने (प्रच्छर्दन) और बाहर ही रोककर रखने (विधारण) से मन शीघ्र स्थिर हो जाता है।

8. पंच-विषयवती प्रवृत्तियाँ: नासिकाग्र, जिह्वाग्र, तालु, जिह्वामध्य और जिह्वामूल में क्रमश: धारणा करने से दिव्य गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त को एकाग्र करती हैं।

9. विशोका ज्योतिष्मती व वीतराग चित्त: हृदयपुण्डरीक में ज्योति का ध्यान करने से शोकरहित ज्योतिष्मती प्रवृत्ति जागृत होती है, तथा राग-द्वेष से रहित महापुरुषों के शान्त चित्त का आलम्बन करने से भी साधक का मन स्थिर हो जाता है।

10. यथाभिमत ध्यान की स्वतंत्रता: महर्षि पतंजलि ने एकाग्रता के सर्वसुलभ उपायों की पूर्णता करते हुए अंत में यथाभिमतध्यानाद्वा सूत्र रचा, जिसके अनुसार साधक अपनी प्रकृति के अनुकूल किसी भी सात्त्विक विषय का ध्यान कर सकता है।

विशेष शब्दावली

1. चित्त-प्रसादनम्: मन का पूरी तरह से प्रसन्न, स्वच्छ, शांत और निर्मल (विमल) हो जाना।

2. मुदिता: किसी पुण्यात्मा या श्रेष्ठ पुरुष के शुभ कार्यों को देखकर मन में होने वाला सात्त्विक हर्ष या उल्लास।

3. उपेक्षा: अशुभ या पाप कर्मों में लगे व्यक्तियों के प्रति मन में उदासीनता या निरपेक्षता का भाव रखना।

4. प्रच्छर्दनम्: फेफड़ों तथा उदर में स्थित प्राणवायु को विशिष्ट प्रयत्न के साथ वेगपूर्वक बाहर की ओर फेंकना।

5. विधारणम्: बाहर फेंकी गई प्राणवायु (श्वास) को बाहर ही बलपूर्वक रोक कर रखने की प्रक्रिया (बाह्य कुम्भक)।

6. तन्मयता/तल्लीनता: ध्यान के समय आलम्बन (विषय) के अतिरिक्त स्वयं के होने के भान को भी भूलकर एकाकार हो जाना।

7. विशोका: शोक, चिन्ता और मानसिक संताप से सर्वथा रहित अवस्था, जिसमें रजोगुण और तमोगुण शून्य हो जाते हैं।

8. हृदयपुण्डरीक: नाभि के ऊपर हृदय प्रदेश में स्थित अष्टदल कमल, जिसे ध्यान का मुख्य केन्द्र माना गया है।

9. वीतराग: वह महापुरुष जिसके अंत:करण से राग, द्वेष, वासना, इच्छा और आसक्ति का सर्वथा नाश हो चुका हो।

10. यथाभिमत: जो विषय या साधन साधक की अपनी मानसिक रुचि और प्रकृति के पूर्णत: अनुकूल हो।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्... सूत्र के व्यावहारिक महत्व को समझाइए।

प्रश्न 2: प्राणायाम के सन्दर्भ में प्रच्छर्दन और विधारण शब्दों के तात्विक अर्थ को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3: विषयवती प्रवृत्ति से क्या तात्पर्य है? इसके अंतर्गत आने वाले किन्हीं दो प्रकृष्ट रूपों का वर्णन कीजिए।

प्रश्न 4: विशोका वा ज्योतिष्मती प्रवृत्ति साधक के मन को किस प्रकार विमल और प्रशांत बनाती है?

प्रश्न 5: स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा सूत्र के आधार पर सात्त्विक निद्रा के बाद होने वाली अनुभूति के उपयोग को समझाइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: **मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चिप्रसादनम्** सूत्र के व्यासभाष्य के आलोक में सविस्तार मीमांसा कीजिए। चारों सामाजिक प्रवृत्तियों के पीछे छिपे वैज्ञानिक कारण को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2: मन और प्राणों के पारस्परिक सम्बन्ध की वैज्ञानिक विवेचना कीजिए। **प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य** सूत्र के आधार पर प्राणायाम के भेदों का वर्गीकरण करते हुए मन को विचारशून्य करने की इसकी वैज्ञानिक क्रियाविधि को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3: वीतरागविषयं वा चित्तम् सूत्र के व्यावहारिक क्रियान्वयन की विधि क्या है? योगसाधना में समर्थ गुरु अथवा ऋषि चेतना के आलम्बन से साधक के अंतःकरण में होने वाले तात्विक परिवर्तनों की समीक्षा कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्... सूत्र के अनुसार सुखी व्यक्तियों के प्रति साधक को कैसा भाव रखना चाहिए?

(1) करुणा का भाव

(2) उपेक्षा का भाव

(3) मैत्री (मित्रता) का भाव

(4) मुदिता का भाव

प्रश्न 2. दु:खी प्राणियों के प्रति दया का भाव रखने से साधक के अंतःकरण में क्या प्रभाव पड़ता है?

(1) वह स्वयं अत्यधिक दु:खी हो जाता है

(2) उसका चित्त विचलित न होकर शान्त रहता है और मनुष्यता जीवित रहती है

(3) उसके भीतर राग की उत्पत्ति होती है

(4) उसकी एकाग्रता सर्वथा नष्ट हो जाती है

प्रश्न 3. शुभ या पवित्र कर्मों में लगे पुण्यात्माओं को देखकर उत्पन्न होने वाली मुदिता भावना का सरल अर्थ क्या है?

(1) उदासीनता

(2) सात्त्विक हर्ष या उल्लास

(3) अज्ञान जनित संताप

(4) बलपूर्वक रोकना

प्रश्न 4. व्यासभाष्य के अनुसार चित्त-प्रसादन के उपायों का सतत अभ्यास करने वाले साधक में किस धर्म का उदय होता है?

(1) कृष्ण धर्म

(2) शुक्ल धर्म

(3) शुक्लकृष्ण धर्म

(4) अविरत धर्म

प्रश्न 5. फेफड़ों में स्थित प्राणवायु को विशिष्ट प्रयत्नपूर्वक बाहर निकालने की प्राणायाम प्रक्रिया को क्या कहते हैं?

(1) विधारण

(2) प्रच्छर्दन (रेचक)

(3) पूरक

(4) अन्तःकुम्भक

प्रश्न 6. विषयवती प्रवृत्ति के अंतर्गत जिह्वा के अग्रभाग (टिप) पर धारणा करने से किस दिव्य तत्त्व का साक्षात्कार होता है?

(1) दिव्यरूप

(2) दिव्यगन्ध

(3) दिव्यरस

(4) दिव्यशब्द

प्रश्न 7. हृदयपुण्डरीक (हृदयकमल) में चित्त को एकाग्र करने पर जो प्रकाशमयी बुद्धि का साक्षात्कार होता है, वह कौन-सी प्रवृत्ति है?

(1) विषयवती

(2) विशोका वा ज्योतिष्मती

(3) वीतराग चित्त

(4) अभावप्रत्यय

प्रश्न 8. वीतरागविषयं वा चित्तम् सूत्र के सन्दर्भ में वीतराग महापुरुषों के ध्यान का मुख्य उद्देश्य क्या है?

(1) सांसारिक सिद्धियाँ प्राप्त करना

(2) उनके द्वंद्वातीत, इच्छारहित व शान्त भाव से अपने चित्त को आप्लावित करना

(3) अधिक से अधिक मानसिक विचार उत्पन्न करना

(4) भूतकाल की स्मृतियों को संचित करना

प्रश्न 9. जाग्रत अवस्था के सर्वथा विपरीत, निद्रा (सुषुप्ति) की अवस्था में किस गुण की प्रधानता बढ़ जाती है जो वृत्तियों को अंतर्मुखी करती है?

(1) सत्त्वगुण

(2) रजोगुण

(3) तमोगुण

(4) उपधिगुण

प्रश्न 10. यथाभिमतध्यानाद्वा सूत्र साधक को मन स्थिर करने के लिए क्या स्वतंत्रता प्रदान करता है?

(1) किसी भी तामसिक विषय के चिन्तन की

(2) अपनी रुचि व प्रकृति के अनुकूल किसी भी सात्त्विक माध्यम पर ध्यान लगाने की

(3) केवल प्राणायाम करने की अनिवार्यता की

(4) ध्यान की सभी स्थापित कड़ियों को छोड़ने की

खण्ड-3

उद्देश्य

- क्रियायोग (तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान) के स्वरूप को समझाना।
- 5 क्लेशों (अविद्या, अस्मिता आदि) के कारणों को स्पष्ट करना।
- द्रष्टा (आत्मा) और दृश्य (प्रकृति) के बीच के भेद को परिभाषित करना।
- अष्टांग योग के 8 अंगों के महत्व और अनुष्ठान की विधि बताना।
- यमों और नियमों के पालन में आने वाले मानसिक अवरोधों को दूर करना।

परिणाम

- विद्यार्थी क्रियायोग के द्वारा अपने मानसिक दुखों और क्लेशों को क्षीण करने में सफल होंगे।
- यम-नियमों (सत्य, अहिंसा आदि) को जीवन में उतारकर छात्र नैतिक और अनुशासित बनेंगे।
- प्रतिपक्ष भावना सीखकर छात्र नकारात्मक विचारों और क्रोध को सकारात्मकता में बदल सकेंगे।
- आत्मज्ञान और मानसिक संतुलन प्राप्त कर विद्यार्थी जीवन की हर परीक्षा में सफल होंगे।
- अष्टांग योग और क्रियायोग के कुशल प्रशिक्षक बनकर समाज में आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनेंगे।

इकाई 9
क्रिया योग एवं क्रिया योग का फल

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥2.1॥

पदच्छेदः तपः, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधानानि, क्रिया-योगः ।
शब्दार्थः तपः - तप, **स्वाध्याय** - अध्यात्मशास्त्रों के पठन-पाठन (और), **ईश्वर-प्रणिधानानि** - ईश्वर शरणागति - (ये तीनों), **क्रिया-योगः** - क्रिया योग हैं।

व्यासभाष्यम्- नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत इति तपस उपादानम्। तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते। स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा। ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा॥१॥

भाष्यानुवादः- जो तप नहीं कहता (व्यक्ति) उसका योग सिद्ध नहीं होता। प्रवाह से अनादि कर्मों एवं क्लेशों की वासनाओं से रंगी हुई एवं विषयजाल को उपस्थित करने वाली अशुद्धि तपस्या के बिना छिन्न-भिन्न नहीं होती। इसलिये तप का ग्रहण किया है। और साधक के द्वारा वह तपस्या की

जानी चाहिए जो चित्त को प्रसन्न करने वाली हो, बाधित न करने वाली हो, ऐसा योगी लोग मानते हैं। प्रणवादि पवित्रमन्त्रों का जप और मोक्षशास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय कहा जाता है। सब कर्मों को परमगुरु (ईश्वर) में अर्पित कर देना और उनके लौकिक फलों को न चाहना ईश्वर प्रणिधान है।।१।।
साधनपाद का यह प्रथम सूत्र है। समाधिपाद में योग के मूलभूत एवं उच्च सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के बाद महर्षि साधनपाद का आरंभ करते हैं। साधन पाद में क्रियायोग एवं अष्टांग योग के माध्यम से समाधिलाभ प्राप्त करने की विधियों एवं उपायों के ऊपर दृष्टि डाली गई है। शिष्यों को सर्वप्रथम क्रिया योग के रूप में पहला साधन बताते हैं-
क्रियायोगः तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान इन तीन साधना पद्धति के समग्र अनुष्ठान को 'क्रिया योग' के नाम से कहा गया है।
कोई भी व्यक्ति जो योग मार्ग पर अपनी यात्रा प्रारम्भ करना चाहता है वह इन तीन प्रकार की साधनाओं को एक साथ अनुष्ठान के रूप में कर सकता है। इसके लिए किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं है। ऐसी साधना पद्धति जिसे समझकर कोई भी अपना कार्मिक अनुष्ठान प्रारंभ कर सकता है।
तपः - द्वन्दों को सहन करने का नाम तप है। द्वंद्व हैं-सुख दुख, लाभ हानि, मान अपमान, सर्दी गर्मी आदि। जीवन में व्यक्ति अनेक प्रकार जे द्वन्दों से घिरा रहता है अतः किसी भी साधक को इन द्व न्दों को सहने का अभ्यास करना चाहिए जिससे उसके भीतर तप का अंश निर्मित होने लग जाये और उसकी सहनशक्ति बढ़कर उसे किसी भी प्रकार के उलझन से, विचलन से बचा ले।
ऐसा कहा गया है कि जो तपस्वी नहीं है उसका योग सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् जो तपस्वी नहीं होगा तो निश्चित रूप से वह द्वन्दों से भरा होगा और विचलन की स्थिति में होगा। विचलन और द्वंद्व से भरे व्यक्ति में योग घटित नहीं हो सकता है। अतः तपस्वी होने को हमें अनिवार्य रूप से प्रथम और महत्त्वपूर्ण चरण समझना चाहिए।
योग के जितने भी साधन होंगे वहां अभ्यास और वैराग्य की उपस्तिथि अवश्यमेव होगी। योग के सब प्रकार के साधनों के अनुष्ठान में अभ्यास और वैराग्य ये दो सर्वोपरि साधनों की आहुति अवश्य लगेगी। तप का निरंतर अभ्यास और तप के अनुष्ठान में बाधक तत्वों के प्रति वैराग्य, यह सबकुछ योगी के लिए कर्तव्य है।
स्वाध्याय स्व का अर्थ है स्वयं और अध्याय का अर्थ है अध्ययन। स्वयं का अध्ययन। स्वाध्याय का दूसरा अर्थ है ऐसे शास्त्रों का अध्ययन जो योगी की अक्लिष्ट वृत्तियों को उभारे तथा क्लिष्ट वृत्तियों को नष्ट करने नें सहायक हों। शास्त्र या गुरु वचन जो योगी को योग मार्ग पर बनाये रखें, उसे योग की स्थिति से नीचे न आने दें।
स्वाध्याय एक एन्टी वायरस की तरह है जो बीच-बीच में आने वाले संशयों को दूर करके बार-बार साधक को योग मार्ग पर उन्मुख करता है। यदि कोई साधक तप तो करता है, ईश्वर प्रणिधान भी करता है तो उसे कभी कभी संशय घेर सकता है उस स्थिति में उसके योग मार्ग से गिरने की संभावना भी रहती है अतः समग्र रूप से क्रिया योग का अनुष्ठान करणीय है।

स्वाध्याय से साधक स्वतः योग मार्ग पर आरूढ़ रहता है।
ईश्वर प्रणिधानः मन,वचन, वाणी से अपने समस्त कर्मों को बिना फल की इच्छा किये सर्वमना ईश्वर को समर्पित कर देना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। ईश्वर प्रणिधान नें साधक स्वयं को निमित्त मात्र मानकर कर्मयोग का आश्रय लेकर, अपने आश्रम विहित कर्मों को असंशयित होकर करता है जिससे वह द्वंद्व रहित हो जाता है और समाधि की ऊंची स्थिति तक पहुंच जाता है।
योग में ईश्वर प्रणिधान एक प्रमुख साधना पद्धति गई जिसका अवलम्बन लेकर किसी भी श्रेणी का साधक योग के सर्वोपरि लाभ समाधि तक को प्राप्त कर सकता है। इन तीन क्रियाओं का समग्र रूप से अनुष्ठान करते रहने से, योग यात्रा अच्छे से आगे बढ़ जाती है।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥2.2॥

पदच्छेदः समाधि , भावना , अर्थः , क्लेश , तनू , करण , अर्थः , च
शब्दार्थः समाधि - (यह क्रियायोग) समाधि की, **भावना** - सिद्धि, **अर्थः** - के लिए, **च** - और, **क्लेश** -(अविद्यादि) क्लेशों को, **तनू** - क्षीण, **करण** - करने, **अर्थः** - के लिए (है)।

व्यासभाष्यम्- स ह्यासेव्यमानः समाधिं भावयति क्लेशांश्च प्रतनूकरोति। प्रतनूकृतान्क्लेशान्प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवर्धर्मिणः करिष्यतीति तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्त्वपुरुषान्यतामात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति॥२॥

भाष्यानुवादः - सेवन किया जाने वाला वह (क्रियायोग) समाधि को उत्पन्न करता है और क्लेशों को निर्बल बना देता है। वह निर्बल बने क्लेशों को विवेकख्याति रूपी अग्नि के द्वारा दग्धबीज सदृश बनायेगा। उनके निर्बल करने से क्लेशों के सम्पर्क से रहित सत्त्व (बुद्धि) पृथक् है और पुरुष पृथक् है इसको जनाने वाली सूक्ष्मबुद्धि समाप्ताधिकार वाली (कृतकृत्य) होकर प्रकृति में लीन होने में समर्थ हो जायेगी **॥२॥**

प्रथम सूत्र में क्रियायोग की साधनात्रय पद्धति के बारे में बताने के बाद शिष्यों के मन की सहज जिज्ञासा का समाधान करते हुए महर्षि कहते हैं कि- क्रियायोग के निरंतर अभ्यास एवं वैराग्यपूर्ण अनुष्ठान से समाधि की भावना प्रबल होती है और साथ ही साथ में व्यक्ति के भीतर पञ्च क्लेशों का बल भी क्षीण होता चले जाता है। पञ्च क्लेश कौन कौन से है एवं उनके अपने क्या-क्या कार्य हैं, यह सबकुछ आने वाले सूत्रों में महर्षि पृथक रूप से बताएंगे।
जब साधक क्रियायोग अर्थात् तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान का निरंतर अनुष्ठान करता है तब उसके भीतर विवेकख्याति नाम की अग्नि उत्पन्न होने लगती है जो क्लेशों को दग्धबीज जैसी अवस्था में ले आती है। योग की भाषा में कहें तो प्रकृति और पुरुष के भेद को जनाने वाली सूक्ष्म बुद्धि प्रकृति में

लीन हो जाती है।

क्रियायोग से कैसे क्लेश निर्बल हो जाते हैं- तप से साधक के शरीर के साथ-साथ मन की भी अशुद्धि मिटने लगती है, वहीं स्वाध्याय से मन और हृदय की शुद्धि होने लग जाती है। ईश्वर प्रणिधान से समर्पण की भावना के अतिरेक होने से हृदय पूर्ण रूप से स्वच्छ एवं उदात्त हो जाता है। इस प्रकार क्रियायोग का अनुष्ठान साधक को पञ्च क्लेशों से रहित करता हुआ शुद्ध अंतःकरण प्रदान करता है। शुद्ध अंतःकरण से साधक की आगे की यात्रा और अधिक आनंददायक एवं गतिशील हो जाती है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि, हृदय की शुद्धता से ही योग का मार्ग आगे बढ़ता है। इसलिए प्रारंभ में ही क्रियायोग का अभ्यास आवश्यक है। जब तप से द्वंद्व सहन करने की शक्ति आ जायेगी तब अविचलन की स्थिति में अधर्माचरण नहीं होगा। सत्य और असत्य का बोध ठीक प्रकार से हो पायेगा। मैं और मेरे रूपी अहंकार से साधक दूर होने लग जायेगा। राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी क्लेशों का बल भी कम होता चले जाएगा। कायिक, मानसिक और वाचिक तप से, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान से जीवन के विभिन्न आयामों पर विस्तृत रूप से प्रभाव पड़ेगा और योगी निर्भार होता चला जायेगा।

अतः क्रियायोग के फलस्वरूप साधक के मन में समाधि के प्रति भावना प्रगाढ़ होती चली जायेगी और साथ ही जिन पञ्च क्लेशों से उसका जीवन नारकीय हुआ पड़ा है, उनके बंधनो से भी वह मुक्त होता चला जायेगा।

प्रत्येक व्रत एवं अनुष्ठान का निरंतर अभ्यास एवं वैराग्यपूर्वक निर्वहन करना ही योग मार्ग में सफलता है अन्यथा बीच मंझधार की स्थिति बनी रहती है।

स्मरणीय बिन्दु

- क्रियायोग की परिभाषाः महर्षि पतंजलि के अनुसार तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान के सम्मिलित रूप को क्रियायोग कहते हैं।
- तप की अनिवार्यताः अनादि कर्मों और क्लेशों की वासनाओं से उत्पन्न अशुद्धि बिना तपस्या के नष्ट नहीं होती है।
- स्वाध्याय का स्वरूपः प्रणव (ओ३म्) आदि पवित्र मंत्रों का जप और मोक्षशास्त्रों का अध्ययन ही स्वाध्याय है।
- ईश्वर प्रणिधान का अर्थः अपने समस्त कर्मो को परमगुरु ईश्वर में अर्पित करना और फल की इच्छा न रखना ईश्वर प्रणिधान है।
- क्रियायोग का मुख्य फलः क्रियायोग का निरंतर अनुष्ठान चित्त में समाधि भाव जगाता है और पाँचों क्लेशों को निर्बल करता है।

विशेष शब्दावली

- क्रियायोग: व्यावहारिक धरातल पर की जाने वाली प्रारंभिक योग साधना पद्धति।
- द्वन्द्व: जीवन की विपरीत परिस्थितियाँ जैसे सुख-दु:ख, लाभ-हानि, मान-अपमान आदि।
- तनूकरण: चित्त में जमे क्लेशों के प्रभाव को अत्यंत कमजोर या निर्बल बनाना।
- विवेकख्याति: बुद्धि (सत्त्व) और चेतन आत्मा (पुरुष) के पृथाक् स्वरूप का वास्तविक ज्ञान।
- दग्धबीज: भुने हुए बीज की भाँति क्लेशों की वह निष्क्रिय स्थिति जिससे वे पुन: अंकुरित नहीं हो सकते।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: महर्षि पतंजलि के अनुसार तप का क्या स्वरूप है और व्यासभाष्य के अनुसार तप करते समय किस बात का ध्यान रखना चाहिए?

प्रश्न 2: क्रियायोग के अंतर्गत स्वाध्याय को साधना मार्ग का एंटीवायरस क्यों कहा गया है? स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न: समाधिभावनार्थ: क्लेशतनूकरणार्थश्च सूत्र के आलोक में क्रियायोग के उद्देश्यों की विस्तृत विवेचना कीजिए। व्यासभाष्य के अनुसार क्रियायोग किस प्रकार क्लेशों को दग्धबीज अवस्था में बदलता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. साधनपाद के प्रथम सूत्र के अनुसार निम्नलिखित में से कौन-सा क्रियायोग का अंग नहीं है?

(1) तप

(2) स्वाध्याय

(3) प्राणायाम

(4) ईश्वर प्रणिधान

प्रश्न 2. व्यासभाष्य के अनुसार साधक को किस प्रकार के तप का सेवन करना चाहिए?

(1) जो शरीर को अत्यधिक पीड़ा दे

(2) जो चित्त की प्रसन्नता को बाधित न करे

(3) जो केवल सांसारिक सुख प्रदान करे

(4) जो समाज में चमत्कार दिखाए

प्रश्न 3. मोक्षशास्त्रों का अध्ययन और पवित्र मंत्रों का जप योगदर्शन में किस नाम से जाना जाता है?

(1) तप

(2) स्वाध्याय

(3) ईश्वर प्रणिधान

(4) विवेकख्याति

प्रश्न 4. समाधिभावनार्थ:... सूत्र के अनुसार क्रियायोग का मुख्य कार्य क्लेशों को किस अवस्था में

लाना है?

(1) अत्यधिक तीव्र बनाना

(2) तनू (निर्बल या क्षीण) करना

(3) जाग्रत करना

(4) मिश्रित करना

प्रश्न 5. विवेकख्याति रूपी अग्नि (प्रसंख्यानाग्नि) क्लेशों को किस सदृश बना देती है जिससे वे पुनः अंकुरित नहीं होते?

(1) अंकुरित बीज

(2) दग्धबीज (भुने हुए बीज)

(3) अशुक्ल कर्म

(4) क्लिष्ट वृत्ति

इकाई 10
पञ्च क्लेश तथा अविद्या क्लेशों की जननी

अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥2.3॥

पदच्छेदः अविद्या , अस्मिता , राग , द्वेष , अभिनिवेशाः , क्लेशाः ।
शब्दार्थः अविद्या- अविद्या, **अस्मिता**- अस्मिता (अहंकार), **राग**- राग, द्वेष- द्वेष (और)
अभिनिवेशाः - अभिनिवेश (जीवन के प्रति ममता- ये पाँचों)
क्लेशाः - क्लेश हैं।

व्यासभाष्यम्- क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इत्यर्थः। ते स्यन्दमाना गुणाधिकारं द्रढयन्ति, परिण ाममवस्थापयन्ति, कार्यकारणस्त्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वा कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्तीति ॥३॥

भाष्यानुवादः- क्लेश का अर्थ पाँच विपर्यय (अर्थात् पाँच प्रकार का मिथ्याज्ञान) है। वे वर्त्तमान (प्रवृत्त हुए) गुणों के अधिकार (कार्योत्पादन रूपी गुणों के अधिकार) को बलिष्ठ बनाते हैं। (कार्यरूप) परिणाम को चलाते हैं कार्य-कारण के स्रोत को उत्पन्न करते हैं, परस्पर सहयोग देकर कर्म फल को सम्पन्न करते हैं ॥३॥

पूर्व के सूत्र में एक नया शब्द आया क्लेश अतः स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठना था कि अब ये क्लेश क्या हैं और इनकी संख्या कितनी है? महर्षि उक्त जिज्ञासा के उत्तर में सभी पञ्च क्लेशों के नाम गिनाते हैं। ये हैं- अविद्या,अस्मिता,राग,द्वेष और अभिनिवेश
क्लेशों से महर्षि का क्या आशय है, इस बात समझाने के लिए महर्षि व्यास जी अपने योग दर्शन के भाष्य में कहते हैं कि ये पांच क्लेश पांच प्रकार के मिथ्याज्ञान हैं। अविद्या आदि ये पांच क्लेश व्यक्ति की अधर्म प्रवृति को बढ़ा देते हैं और इस प्रकार प्रवृति को कार्य रूप में परिणित कर देते हैं। अंततः व्यक्ति जन्म जन्मांतर कर्म फल के चक्रव्यूह में फंसता चले जाता है। जब तक प्रत्येक प्रवृति या कर्म के मूल में ये पांच कर्म होंगे मनुष्य बंधन से मुक्त नहीं हो सकता है।
जब तक अविद्या आदि क्लेश मूल में है किसी भी कर्म के व्यक्ति धर्माचरण से युक्त नहीं हो सकता है। समाधि की सिद्धि नहीं हो सकती है। साधक अपने सच्चे स्वरूप में स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः इस सूत्र में महर्षि ने संकेत रूप में पांच क्लेशों के केवल नाम यहां गिनाए हैं। आगे के सूत्रों में विस्तृत रूप से इन पांच क्लेशों के स्वरूप एवं उनके कार्यों के ऊपर बात की गई है।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥2.4॥

पदच्छेदः अविद्या , क्षेत्रम् , उत्तरेषाम् , प्रसुप्त , तनु , विच्छिन्न , उदाराणाम्

शब्दार्थः अविद्या - अविद्या (ही), **उत्तरेषाम्** - अगले शेष चार अर्थात् अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेशों का (उत्पत्ति), **क्षेत्रम्** - क्षेत्र है, (जो), **प्रसुप्त** - प्रसुप्त, **तनु** - शिथिल कर दिए गए, **विच्छिन्न** - कभी अन्य वृत्ति के द्वारा विच्छिन्न अर्थात् अभिभूत होकर और **उदाराणाम्** - उदार होकर - (इन चार प्रकार की अवस्थाओं वाले होते हैं)।

व्यासभाष्यम्- अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विधविकल्पानां, प्रसुप्ततनु-विच्छिन्नोदाराणाम्। तत्र का प्रसुप्तिः? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः, तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः। प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति, अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते। तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति।

तनुत्वमुच्यते-प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति। तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्यना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः। कथम्? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात् न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति। रागश्च क्वचिदृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चौत्रो रक्त इत्यन्यासु खीषु विरक्तः, कि तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वत्तिरिति। स हि तदा प्रसुप्तनुविच्छिन्नो भवति। विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। ।।४।।

भाष्यानुवादः- यहाँ अविद्या प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार अवस्थावाले चार प्रकार के अगले अस्मितादि क्लेशों का क्षेत्र = प्रसवभूमि है। उनमें से प्रसुप्ति क्या है ? चित्त में केवल शक्तिरूप से स्थित क्लेशों का बीजभाव को प्राप्त हो जाना (प्रसुप्ति है)। आलम्बन के उपस्थित होने पर उसका प्रवृत्त होना = जाग जाना प्रबोध है। विवेकख्यातियुक्त दग्धक्लेशबीज वाले योगी के समक्ष व्यञ्जक विषय (आलम्बन) के होने पर भी क्लेश नहीं जागता, दग्धबीज (क्लेश) का अङ्कुर = उगना कैसे होगा ? इसलिए क्षीण क्लेश (योगी) कुशल, चरमदेह कहा जाता है। वह दग्धबीजभाव नामक पाँचवीं क्लेशावस्था विवेकख्यातियुक्त योगी की ही होती है अन्य की नहीं।
तनुत्व कहा जाता है - प्रतिपक्ष भावना से प्रताड़ित क्लेश निर्बल होते हैं। उसी प्रकार रुक रुक कर उस-उस रूप से पुनः प्रकट होते हैं इसलिए विच्छिन्न कहे जाते हैं। कैसे ? रागकाल में क्रोध के न दीखने से। राग के समय क्रोध प्रवृत्त नहीं होता। कहीं दीखने वाला राग विषयान्तरमें नहीं है, ऐसा नहीं होता। चैत्र (नामक कोई पुरुष) एक स्त्री में रक्त (आसक्त) अन्य स्त्रियों में विरक्त है, ऐसा नहीं है अपितु उसमें राग वर्त्तमान है, अन्यों में भविष्य में होने वाला है। वही (राग) तब प्रसुप्त, तनु वा विच्छिन्न होता है। विषय के प्रति जो प्रकट रहता है, वह उदार है। ।।४।।

प्रस्तुत सूत्र में महर्षि अब पञ्च क्लेशों में से प्रथम क्लेश अविद्या की परिभाषा कर रहे हैं, उसके स्वरूप के बारे में हम सबको बता रहे हैं।
साधक का कार्य है कि वह क्रियायोग का आश्रय लेकर समाधि की भावना को बढ़ाते जाए और साथ

ही साथ अपने क्लेशों को क्षीण करते चले जाएं। इसके लिए क्लेशों के स्वरूप का ठीक ठीक ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। यदि कोई भी साधक इनके स्वरूपों को भली भांति समझपूर्वक समझ लेता है तो इनको निर्बल करने के लिए कृत संकल्पित हो सकता है और समय और साधना के साथ ये निर्बल हो सकते हैं।

अविद्याः सबसे पहली और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अविद्या सब क्लेशों की जननी है। सबके मूल में अविद्या ही उपस्थित है। अविद्या के होने मात्र से सारे बंधन और दुख हैं, क्लेश हैं।

ऐसा समझें कि अविद्या कारण (उत्पत्तिकर्ता) है तो शेष चार क्लेश (अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) उसके कार्य हैं।

अविद्या के साथ-साथ शेष 4 क्लेशों की पांच अवस्थाएं बताई गई हैं। ये सभी क्लेश इन 4 अवस्थाओं में डोलते रहते हैं। पांचवीं जो अवस्था है वह दग्धबीज है, उसे प्रयत्नपूर्वक या योगस्थ होकर साधक को प्राप्त करनी पड़ती है।

जब साधक के चित्त में क्लेश केवल बीज रूप में होते हैं तो क्लेशों की ऐसी अवस्था प्रसुप्त कही जाती है। अभी इन क्लेशों का अंकुरण नहीं हुआ है, लेकिन ये अनुकूल वातावरण प्राप्त होने पर कभी भी प्रकट होकर मनुष्य को बंधन और दुख में डाल सकते हैं। जिन जिन क्लेशों के संस्कार कमजोर रूप में बीजभाव को प्राप्त हैं, उनके लिए अनुकूल वातावरण प्राप्त होने पर भी वे धीरे-धीरे अपना प्रभाव दिखाते हैं, तुरंत से उद्बुद्ध नहीं होते, लेकिन जितना वे प्रकट होते हैं अगली बार वहीं से प्रकट होने लगते हैं। ऐसा नहीं होता है कि वे वापस अपनी बीज अवस्था को चले जाएं।

इसी प्रकार जिन क्लेशों के संस्कार मजबूत होते हैं या जो पूर्व में थोड़ा बहुत उगने शुरू हो गए थे, उनको अनुकूल वातावरण मिलने पर तत्क्षण अपना प्रभाव दिखाना शुरू कर देते हैं और मनुष्य को अपने अपने कार्य में प्रवृत्त कर देते हैं, द्वंद्व में डालना शुरू कर देते हैं और मनुष्य एक आंतरिक संघर्ष में पड़ जाता है। यह प्रक्रिया केवल क्लेशों के बारे में ही नहीं अपितु अच्छे शुभ संस्कारों के लिए भी समझनी चाहिए।

प्रक्रिया निर्दोष होती है, वह तो संवाहक मात्र होती है। दोष, हमारे चयन, प्रवृति और संस्कारों का होता है। एक ही सीढ़ी हमें ऊपर भी चढ़ाती है और वही नीचे की ओर भी ले जाती है। हमें तय करना है कि हमें शिखर की ओर चढ़ना है या नीचे पतन की ओर।

चित्त में जब क्लेश थोड़ा बहुत उगा हुआ रहता है, न तो केवल बीज रूप में और न ही पूर्ण रूप से अंकुरित। क्लेशों की ऐसी अवस्था जब उनकी शक्ति क्षीण रूप में होती है और उनके कार्य रूप में प्रवृत्त होने की प्रबल शक्ति नहीं होती है। यदि कोई भी अनुकूल परिस्थिति आ जाये तो वह तनु अवस्था से उदार अर्थात् कार्य रूप में शीघ्रता से आ जायेगा।

ऐसा समझें कि कोई व्यक्ति क्रोधी तो नहीं है पर अपने क्रोध को भीतर ही भीतर दबा के रखता है। जब भी क्रोध करने की स्थिति निर्मित होने की संभावना रहती है वह प्रयत्नपूर्वक रोक लेता है। यह क्रोध रूपी संस्कार की तनु अवस्था है। यदि मनुष्य क्रोध दबाने पर ध्यान न दे तो कभी भी क्रोध कर

सकता है। इसी प्रकार राग, द्वेष, अभिनिवेश, काम, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या आदि क्लेशों या संस्कारों के विषय में समझ लेना चाहिए।

आज के समय में सभी क्लेश और बुरे संस्कार इस तनु अवस्था में है और लोगों के जीवन में क्रियायोग अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान के अभाव के कारण सारे अनर्थ हो रहे हैं। सभी क्लेशों को जैसे ही अनुकूल आलंबन मिलता है तो वे उदार अवस्था में आकर मनुष्य को अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त कर देते हैं और फिर नाना प्रकार से बांधते रहते हैं। इस प्रकार पूरी दुनिया एक अनजाने से भय, चिंता और अवसाद का शिकार हो रही है।

विछिन्नः जब कोई एक क्लेश प्रबल रूप से उदार अवस्था में आ जाता हं तो उसके विरोधी स्वभाव वाले क्लेश चित्त में नीचे दब जाते हैं। ऐसे क्लेशों को विछिन्न अवस्था वाला कहा जायेगा।

जैसे कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से द्वेष करता है और अभी वह अपने बच्चे से अच्छे से प्रेम पूर्वक बात कर रहा है, उसके साथ खेल रहा है। उसकी बच्चे के प्रति राग का भाव प्रबल है। अचानक से ऐसा व्यक्ति उसके सम्मुख आ जाता है जिससे वह घनघोर द्वेष करता है तो उसके राग के भाव नीचे दब जाएंगे और द्वेष की प्रवृत्ति प्रबल हो जाएगी। इस स्थिति में जो राग नामक क्लेश है उसकी विछिन्न अवस्था हो जाएगी और द्वेष को उदार अवस्था वाला कहेंगे।

अतः स्पष्ट है किक्लेशों की प्रसुप्त अवस्था बालपन में सबसे अधिक होती है। उसके बाद जैसे- जैसे व्यक्ति संसार में विचरण करने लगता है उसके क्लेश धीरे धीरे तनु, फिर विछिन्न एवं उदार होते चले जाते हैं। यदि क्रियायोग का सहारा न लिया जाए तो मनुष्य में सभी क्लेश, विकार या तो विछिन्न अवस्था में रहेंगे या फिर उदार(प्रकट रूप में) रहेंगे।

उदारः जब कोई भी क्लेश अनुकूल वातावरण पड़ने पर तीव्र रूप में कार्य रूप में आ जाता है तो उसे उस क्लेश की उदार अवस्था में आना कहते हैं। जैसे क्रोध का वातावरण प्राप्त होने पर जब तक क्रोध को दबाकर रखा जाता है तो वह क्रोध की तनु अवस्था और जब क्रोध प्रकट रूप में अर्थात् जब व्यक्ति क्रोध करने लग जाता है तो उसे उदार अवस्था कहेंगे। क्रोध के प्रबल होने पर उससे विपरीत प्रेम या स्नेह की विछिन्न अवस्था कही जाएगी।

दग्धबीजः क्लेशों की दग्धबीज की अवस्था केवल युक्त योगी जनों की होती है। जब किसी क्लेश की उदार या विछिन्न अवस्था को क्रियायोग के साधन से तनु किया जाता है और फिर योग मार्ग पर आगे बढ़ते हुए निर्बीज समाधि से पूरी तरह समाप्त किया जाता है, तो उसे दग्धबीज अवस्था कहते हैं। जैसे किसी बीज को आग में भून दिया जाय तो उसमें अंकुरण की संभावना 100 प्रतिशत नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार निर्बीज समाधि से पांचों क्लेशों को पूरी तरह भून (दग्धबीज) कर दिया जाता है और योगी निर्बीज अवस्था को या दग्धबीज अवस्था को प्राप्त हो जाता है। यही सबसे बड़ा लक्ष्य है। अतः साधक एवं युञ्जन योगी को होशपूर्वक अपने क्लेशों की तनु अवस्था का ध्यान रखकर उन्हें उदार होने से पूर्व ही दग्धबीज करने का पूरा प्रयास करते रहना चाहिये। क्लेशों को तनु से उदार अवस्था में न लाने देने के लिए प्रतिपक्ष भावना रूपी साधन का बार बार प्रयोग करना चाहिए। प्रतिपक्ष भावना का

अर्थ है कि जो भी विकार, या कुसंस्कार प्रकट होना चाह रहा है उसके विपरीत अच्छे या शुभ गुणों का चिंतन करना, कुसंस्कार या क्लेश के दुष्परिणाम का चिंतन कर उससे दूर हटने का प्रयास करना। इस प्रकार प्रतिपक्ष भावना से क्लेशों को उदार होने से बचाया जा सकता है और उन्हें दग्धबीज भी करने में आगे बढ़ा जा सकता है और अंतिम रूप से दग्धबीज करने के लिए निर्बीज या असम्प्रज्ञात समाधि का प्रयोग होता है।

अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥2.5॥

पदच्छेद: अनित्य , अशुचि , दु:ख , अनात्मसु , नित्य , शुचि , सुख , आत्म-ख्याति:, अविद्या ।
शब्दार्थ: अनित्य- अनित्य, **अशुचि**- अपवित्र, दु:ख- दुख (और), **अनात्मसु**- आत्मा से भिन्न पदार्थ में (यथाक्रम से), **नित्य**- नित्य, **शुचि**- पवित्र, **सुख**- सुख (और), **आत्म-ख्याति:** - आत्माभाव की अनुभूति, **अविद्या**- अविद्या है।

व्यासभाष्यम्- अनित्ये कार्ये नित्यख्याति:। तद्यथा-ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौ:, अमृता दिवौकस इति। तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये शुचिख्याति:, उक्तं च -

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्नि: स्यन्दान्निधनादपि। कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचि विदु:

इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते। नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितव चन्द्रं भित्त्वा नि:सृतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति कस्य केनाभिसंबन्धो, भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्यय इति। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यात:।

तथा दु:खे सुखख्यातिं वक्ष्यति-परिणामतापसंस्कारदु:खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिन: (२।१५) इति। तत्र सुखख्यातिरविद्या।

तथानात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे, पुरुषोकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति। तथैतदत्रोक्तम्-व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य संपदमनुनन्दत्यात्मसंपदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्वान:, स सर्वोऽप्रतिबुद्ध इति।

एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसंतानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति। ॥५॥

भाष्यानुवाद: अनित्य पदार्थों में नित्य पदार्थ का ज्ञान अविद्या है। जैसे कि पृथिवी नित्य, चन्द्र तारों सहित द्युलोक नित्य, देवगण नित्य हैं, उसी प्रकार अशुद्ध अतिघृणित शरीर में शुद्धज्ञान। और कहा है - स्थान (उदर स्थान) के कारण, उपादान (रजवीर्य) के कारण, उपष्टम्भ (रसरक्तादि) का आश्रय होने के कारण, नि:स्यन्द (मलमूत्र स्वेदादि) के कारण और निधन (मृत्यु) के कारण व शुद्धि की अपेक्षा

रखने के कारण विद्वान् शरीर को अशुद्ध मानते हैं। इस प्रकार अशुद्ध शरीर में शुद्ध ज्ञान देखा जाता है। चन्द्रमा के नवीन कला के समान मनोरम यह कन्या मधु और अमृत के अवयवों से बनी हुई के समान, चन्द्रमा को फोड़कर निकली हुई सी प्रतीत होती है। नीलकमल की पंखुडियों के समान विशाल नेत्रवाली श्रृंगाररसविलास से युक्त दृष्टियों के द्वारा मानों प्राणिजगत् को तृप्त कर रही हो। इस प्रकार किस (अपवित्र शरीर) का किस (मधु अमृत चन्द्र) के साथ सम्बन्ध है? इस प्रकार अशुद्ध शरीर में शुद्धि का विरुद्ध ज्ञान होता है। इसी प्रकार इसके द्वारा अपुण्य में पुण्य का ज्ञान और अनर्थ में अर्थ का ज्ञान व्याख्यात हुआ। वैसे ही दुःख में सुख का ज्ञान **परिणामतापसंस्कार दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्व विवेकिनः (२/१५)** के द्वारा कहेगा। उसमें सुख ज्ञान अविद्या है।

इसी प्रकार अनात्मा में आत्मख्याति अर्थात् बाह्योपकरण चेतन (बन्धु, बान्धव, पशु आदि) अचेतन (भूमि, धन, सम्पत्ति आदि) भोग के आधार शरीर को, पुरुष के उपकरण मन को, जो कि आत्मा नहीं है उनको आत्मा जानना अविद्या है। इसी प्रकार इस विषय में कहा गया है कि पुत्र, मित्र, पशु आदि व्यक्त, धन सम्पत्ति भूमि आदि अव्यक्त पदार्थों को अपना स्वरूप मानकर उनकी सम्पन्नता पर अपनी सम्पन्नता जानता हुआ प्रसन्न होता है। उनकी विपन्नता में अपनी विपन्नता मानता हुआ शोक करता है, ऐसा मानने वाला प्रत्येक व्यक्ति अज्ञानी है।

इस क्लेश सन्तान और फल सहित कर्माशय की चार भागों में रहने वाली यह अविद्या मूल है। ।।५।।

इससे पूर्व सूत्र में अविद्या की छोटी सी परिभाषा दी थी कि वह सभी क्लेशों की जननी है, प्रभव या प्रसव भूमि है। अब प्रस्तुत सूत्र में अविद्या के स्वरूप के बारे में बता रहे हैं। अनित्य पदार्थों में नित्यता देखना,अशुद्ध पदार्थों में शुद्धता देखना, दुःख को सुख समझना और जड़ पदार्थों को चेतन जानना यही अविद्या का प्रमुख लक्षण है।

कैसे हम अनित्य में नित्य का दर्शन करते हैं?-यह प्रकृति त्रिगुणात्मक है। परिणामी है लेकिन चेतन तत्त्व से पृथक सभी प्राकृतिक तत्त्वों को सदा बने रहने वाला समझना अविद्या है। प्रकृति के जड़ पदार्थों से निर्मित इस मानव शरीर को भी नित्य समझना गहरी अविद्या है। यह शरीर सदा रहेगा इस प्रकार की बुद्धि रखने वाला घोर अविद्या में जी रहा है।

यदि कोई शरीर को अनित्य समझकर तदनुरूप भावनात्मक एवं क्रियात्मक आचरण नहीं करता है, वह तो अत्यंत घनघोर अविद्या रूपी क्लेश से ग्रसित है, ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार जितने भी दैनिक जीवन में हम अनित्य पदार्थो से सम्बद्ध रहते हैं, उनके प्रति यदि नित्यता के भाव से व्यवहार करते हैं और समझते हैं कि ये व्यक्ति, स्थान, सम्बन्ध नित्य बने रहेंगे तो ऐसा समझना ही अविद्या है।

वस्तुतः सर्वप्रथम इस शरीर को नित्य मानना ही सब प्रकार के अविद्या के मूल में है। शरीर को नित्य मानकर जब हम व्यक्ति, वस्तु, स्थान और सम्बन्धो को नित्य मानकर व्यवहार करने लगते हैं तो पूरी तरह अविद्या से आविष्ट हो जाते हैं। तब बंधन और अधिक कठोर और दुखदायी होने लग जाता है।

इस प्रकार अनित्य में नित्य देखने से कैसे अविद्या मानी जाती है आप समझ सकते हैं। योग का प्रारंभ स्वयं अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि से होता हुआ आत्म तत्त्व तक जाता है। अतः शरीर,मन, बुद्धि के विकारों से ऊपर उठकर, देहाध्यास से ऊपर उठकर ही योग सिद्ध होता है। इसलिए अविद्या के जितने भी रूप हैं वे सबसे पहले साधक को अपने शरीर,मन एवं बुद्धि से जोड़कर देखने पड़ेंगे और उनसे निवृत होना पड़ेगा।

कुछ लोग शरीर को शुद्ध करने में अपने जीवन को लगा देते हैं और जीवन के बड़े लक्ष्य दुख निवृति की ओर ध्यान ही नहीं देते हैं। ऐसा नहीं है कि हमें अपने शरीर की शुद्धि के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए। अष्टांग योग के आठ अंगों में नियम में शौच के ऊपर बात की गई है लेकिन वह शौच शरीर के बाहरी एवं भीतरी शुचिता के लिए कहा गया और वे भी उतना ही जितने में व्यवहार सिद्ध होता है। न कि शरीर की शुद्धि के लिए उसमें लिप्त होने के लिए कहा गया है। अब अशुद्धि में शुद्धि देखने से कैसे अविद्या निर्मित होती उसे समझते हैं–

मानव शरीर को जैसे नित्य मानने से अविद्या क्लेश सिद्ध हो रहा था उसी प्रकार इस शरीर को शुद्ध मानना भी अविद्या है। शरीर की सुंदरता, यौवन आदि को देखकर, इसे शुद्ध और सुगंधित समझना अविद्या है।

शरीर तो स्वभाव से ही अशुद्ध है। इसे बार बार शुद्ध न किया जाए तो यह अशुद्धि का घर बन जायेगा। अशुध्द शरीर को नित्य और शुद्ध मानना भी अविद्या है।

अविद्या का तीसरा प्रमुख स्वरूप है– दुख को सुख समझना। संसार में जिसे लोग सुख समझते है वस्तुतः वह दुख ही है। इस प्रकार दुख को सुख समझना एक गहरी अविद्या है जिसके फेर में पूरी दुनिया घूम रही है। केवल योगी व्यक्ति ही आभासीय और सांसारिक सुखों में दुख दर्शन कर उनसे दूर होने का अभ्यास करता है।

यह संसार माया से बना है ऐसा सभी सामान्य रूप से कहते पाए जाते हैं लेकिन वह माया कैसे समझ में आये ये भी एक बहुत बड़ी माया है। अतः संसार में जिसे सुख माना जा रहा है वस्तुतः वह दुख ही है। जब तक एक साधक दुख और सुख दोनों प्रकार की अनुभूति से मुक्त नहीं होगा तब तक वह जीवन मुक्त नहीं हो सकता है। योग के मार्ग पर यह सबसे बड़ी परीक्षा है साधक की।

किस प्रकार सुख को दुख समझें इसकी विस्तृत व्याख्या हम आगे के सूत्र संख्या 15 में करेंगे। वहां 4 प्रकार के दुखों के बारे में विस्तार से बताएंगे और साथ ही यह भी बताएंगे कि कैसे एक युञ्जन योगी को दुख समझना चाहिए और कैसे गृहस्थियों को दुख समझना चाहिए।

अविद्या के चौथे रूप में अनात्मा में आत्मा का दर्शन करना अविद्या है। जड़ पदार्थों में आत्मभाव रखना अविद्या है। मन, बुद्धि, शरीर को ही आत्मा मानकर चलना अविद्या है।

जड़ एवं चेतन तत्त्व का ठीक ठीक निर्धारण नहीं कर पाना अविद्या है। जब तक कोई साधक प्रकृति और पुरूष का समझ की दृष्टि से भेद ठीक से नहीं जान पाता है तो वह योग की अपनी यात्रा प्रारंभ नहीं कर सकता है। अनुभव और आचरण की दृष्टि से भेद को विवेकज्ञान प्राप्त होने पर ही हो पायेगा,

उसी ज्ञान के लिए योग का सारा पुरुषार्थ है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।।2.6।।

पदच्छेदः दृक् , दर्शन , शक्त्योः , एकात्मता , इव , अस्मिता ।
शब्दार्थः दृग्दर्शनशक्त्योः - दृक-शक्ति और दर्शन-शक्ति इन दोनों का, **एकात्मता** - एकरूप **इव** - जैसा (भान होना),**अस्मिता** - अस्मिता (क्लेश है)।

व्यासभाष्यम्- पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते। भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते, स्वरूप-प्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति। तथा चोक्तम्-बुद्धितः परं पुरुषमाकार-शीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्यात्तत्राऽऽत्मबुद्धि मोहेनेति।। ६।।

भाष्यानुवादः पुरुष देखने वाला (और) बुद्धि देखने का साधन है। इन दोनों का एक रूप में प्रतीत होना अस्मिता क्लेश कहा जाता है। भोक्तृशक्ति (भोक्ता) भोग्यशक्ति (भोग्य) नितान्त पृथक् तथा अमिश्रित हैं। इनके मिश्रित रूप में प्राप्त होने (पृथक् पृथक् प्राप्त न होने) पर भोग सिद्ध होता है। (दोनों के) स्वरूप के परिज्ञान होने पर तो कैवल्य ही होता है, भोग कैसे ? और ऐसा कहा है - मोह (अविद्या) के कारण अपने को बुद्धि से भिन्न, चेतन स्वरूप, नित्य, ज्ञानादि गुण सम्पन्न न मानकर बुद्धि में आत्मा की प्रतीति करता है (अर्थात् बुद्धि को आत्मा मानता है)।।६।।

हमारे इस शरीर में दो प्रकार की शक्ति हैं। एक है दृक् शक्ति अर्थात् देखने वाला पुरुष और दूसरी शक्ति है दर्शन शक्ति अर्थात् देखने की साधन स्वरूपा बुद्धि। जब इन दोनों शक्तियों के बीच भेद ज्ञान को न देखकर दोनों के एकरूप ज्ञान को अस्मिता नामक क्लेश कहते हैं।
दो विपरीत तत्त्वों के गुण,स्वभाव एवं स्वरूप में अत्यंत भेद होना स्वाभाविक है लेकिन अविद्या के कारण जब चेतन और जड़ पदार्थों के बीच के भेद को न समझकर उनमें एकरूपता का भान रखते हैं तो इसे अस्मिता क्लेश कहा जाता है। अज्ञान के कारण यह इतना मिला जुला रूप व्यक्ति को दिखता है कि बिना योगस्थ हुए इनके परस्पर भेद को देखना असंभव है। इसे ही ईश्वर की माया शक्ति कहा जाता है।
पुरुष चेतन तत्त्व है वहीं बुद्धि जड़ है और प्रकृति का प्रथम विकार है। पुरुष अपरिणामी है वहीं बुद्धि परिणामिनी है। पुरुष में देखने की शक्ति है लेकिन बुद्धि दिखाने वाली साधन मात्र है।
अष्टांग योग एवं क्रियायोग की साधना के अभाव में व्यक्ति माया के वशीभूत हुआ इस बुद्धिग्राह्य भेद को भी न पहचानकर दोनों को एक जैसा समझ लेता है और फिर दुख पाता हुआ क्लेश के संस्कार जमा करता जाता है।
पुरुष शक्ति और दर्शन शक्ति (बुद्धि) के स्वरूप को अलग अलग न जानकर इन्हें एक ही समझना यह

मानव जाति की सबसे बड़ी और आखिरी गलतफहमी है। जो मनुष्य योग साधना से इनके अलग-अलग स्वरूप को ठीक ठीक से जान लेता है उसे ही सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है अन्यों को नहीं।
इस प्रकार हमने जाना कि अस्मिता नामक क्लेश क्या है। इन सभी क्लेशों को हम क्रिया योग (तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान) द्वारा क्षीण कर सकते हैं और फिर अष्टांग योग एवं आगे असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा दग्धबीज करके कृतकृत्य हो सकते हैं।

सुखानुशयी रागः ॥2.7॥

पदच्छेदः सुख , अनुशयी , रागः ।
शब्दार्थः सुख- सुख (की प्रतीति के), **अनुशयी**- पीछे (अर्थात् सुख को भोगने की इच्छा), **रागः**- राग (क्लेश है)।

व्यासभाष्यम्- सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स राग इति॥७॥

भाष्यानुवादः सुख को जानने वाले का सुखस्मरणपूर्वक सुख वा सुख के साधन में जो आकांक्षा = तृष्णा = लोभ है, वह राग है ॥ ७॥

अविद्या, अस्मिता नामक दो क्लेशों को विस्तारपूर्वक समझाने के बाद राग तीसरा क्लेश है जो सामान्य रूप से प्रत्येक मनुष्य में प्रकट रूप में पाया ही जाता है। जब कभी भी हम किसी भी सुख को भोगते हैं तो भोगने के बाद हमारे अंतःकरण (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार) में उस सुख और जिन साधनों से हमें सुख प्राप्त हुआ था उनके प्रति पुनः भोग करने की जो इच्छा है, वह इच्छा विशेष या लोभ विशेष को राग नाम का क्लेश कहते हैं।
सुख भोगने में तो सभी को अच्छा लगता है लेकिन सुख भोगने में उतनी हानि नहीं है जितनी सुख भोगने के बाद राग नाम का क्लेश आपको जीवन भर आगे दुखों में डालता रहेगा। इसलिए साधु संत जब सन्यास लेते हैं तो राग और द्वेष रूपी इन दोनों क्लेशों को छोड़ने के लिए सर्व सम्भव सुखों से और सांसारिक सभी द्वेषों से अपना मुँह मोड़ लेते हैं।
राग और द्वेष ये दो क्लेश ही दैनिक जीवन में हमें क्लेशों के बीच फंसाकर हमारे संस्कार प्रबल करते रहते हैं इनसे बचना ही योग मार्ग पर आगे बढ़ने की सफलता है।
राग कैसे बन जाता है- मान लीजिए कि आपने जिह्वा से कोई सुख लिया। गुलाब जामुन खाया और उसे स्वाद ले लेकर खाया तो आपके अंदर के अन्तःकरण रूपी सॉफ्टवेयर में गुलाब जामुन के प्रति सुख की इच्छा अंकित हो गई। अगली बार जब गुलाब जामुन आपके सम्मुख होगा तब पुरानी स्मृति या याद अन्तःकरण देगा और आपको भीतर से धक्का देगा कि गुलाब जामुन खाओ। यदि सहज उपलब्ध है तो आप खा लेंगे लेकिन यदि गुलाब जामुन प्राप्त करने में कोई बाधा आ रही है तो आपको बैचेन भी करने लग जायेगा। यह सब राग नाम का क्लेश करा रहा है।

यदि गुलाब जामुन देने में कोई व्यक्ति ही बाधा बन रहा है तो तुरंत ही उस व्यक्ति से आपका द्वेष हो जाएगा। इस प्रकार राग वाले विषय में जो भी बाधक होगा चाहे वह व्यक्ति हो, वस्तु हो या स्थान हो आप उससे द्वेष करने लग जाएंगे। जिस विषय में भी आपके राग की प्रबलता होगी उसके बीच आने वाले तत्त्वों में आप द्वेष करने लग जाएंगे। इस प्रकार राग और द्वेष दोनों आपके जीवन को हिलाने लग जाएंगे। फिर द्वंद्व, विचलन और उलझन जीवन में शुरू होती चली जायेगी। इसी प्रकार के जितने भी सुख हम अन्य इंद्रियों (आंख, कान, नाक, त्वचा) से लेते हैं, उनके विषय में भी ऐसा ही समझ लेना चाहिए। आगे के सूत्रों में बताएंगे कि कैसे ये क्लेश मानव के सुंदर जीवन को नारकीय बना देते हैं और कैसे हम इन क्लेशों से और सब प्रकार के दुखों से बच सकते हैं।

दु:खानुशयी द्वेषः ॥2.8॥

पदच्छेदः दु:ख , अनुशयी , द्वेषः ।
शब्दार्थः दु:ख- दु:ख (की प्रतीति के), **अनुशयी**- पीछे (अर्थात् दु:ख को न भोगने की इच्छा), **द्वेषः** - द्वेष (क्लेश है)।

व्यासभाष्यम्- दु:खाभिज्ञस्य दु:खानुस्मृतिपूर्वो दु:खे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति ॥८॥

भाष्यानुवादः दु:ख को जानने वाले का दु:ख स्मरणपूर्वक दु:ख वा दु:ख के साधन में जो प्रतिकार करने का भाव, क्रोध करने का (मानसिक), भाव मारने की इच्छा; क्रोध है, वह 'द्वेष' है। ॥८॥

यह भी सर्वविदित है कि सबके जीवन में अलग अलग दुख आते रहते हैं, जब दुख भोग लिया जाता है या आकर चला जाता है तो उसके बाद दुख और जिनके कारण से दुख मिला था उन्हें दूर करने की इच्छा संस्कार रूप में चित्त में अंकित रह जाती है, जिसे द्वेष नामक क्लेश कहते हैं।
द्वेष नामक क्लेश से अनेक दुर्भाव जैसे मानसिक एवं प्रकट क्रोध, हिंसा, ईर्ष्या, उत्पन्न होते हैं। द्वेष नामक क्लेश जब जीवन में अधिक बढ़ जाता है तो निरंतर संशय की स्थिति बना देता है जिसके कारण से व्यक्ति किसी पर भी सहजता से विश्वास नहीं कर पाता है। यदि कोई व्यक्ति निरंतर संशय की स्थिति में जीता है तो वह अपनी आत्मा से दूर होता चला जाता है। एक प्रकार से वह केवल शरीर भाव से ही जी रहा है, जीवन के असली तत्त्व जो वह स्वयं आत्मस्वरूप है उससे बहुत अधिक बिछड़ने लग जाता है। यह स्थिति अत्यंत भयावह है।
द्वेष क्लेश बढ़ने से, लगातार नकारात्मक भाव से भरने लग जाता है। स्वभाव से चिढचिढा और शिकायती होने लग जाता है।
जब कोई व्यक्ति किसी दुख से ग्रसित होता है तो चिंतन करता है कि दुख क्यों आया, किन साधनों के कारण आया तो यह दुख का अनुभव संस्कार रूप में चित्त पर चिपक जाता है। चित्त पर चिपके ये संस्कार कोई भी अनुकूल वातावरण उत्पन्न होने पर स्मृति को उत्पन्न कर देते हैं। फिर इस स्मृति

से द्वेष पैदा होता है। यही द्वेष के उत्पन्न होने का क्रम एवं प्रक्रिया है।
राग और द्वेष दो विपरीत क्लेश हैं लेकिन दोनों की उत्पत्ति के क्रम एवं प्रक्रिया में एक जैसी समानता है। राग अलग तरह से व्यक्ति को दुखी करता है और द्वेष अलग तरह से। द्वेष, व्यक्ति को पाप और हिंसा में प्रवृत्त करता है। बुरे कर्माशयों की ओर लेकर जाता है और फिर पूरे मानव जीवन को जन्मजन्मांतरों में भटकाता है। इसलिए दैनिक जीवन में राग और द्वेष को ठीक ठीक समझकर इनका प्रयोग केवल स्वयं के जीवन के उत्थान में लगाना चाहिए।
द्वेष क्लेश होने के साथ साथ एक शक्ति भी है। ऐसी शक्ति जो हमें हटाने की, निवृत्ति की शक्ति देती है। अतः इसका प्रयोग यदि आप स्वयं के जीवन से दोषों और दुर्गुणों को हटाने के लिए करेंगे तो यही शक्ति सात्विक शक्ति बन जाएगी। ईश्वर ने जो कुछ बनाया है उसमें अच्छाई और बुराई दोनों डालकर भेजी हुई है, अब यह आपका चुनाव है कि आप उस शक्ति का प्रयोग अच्छाई के लिए करते हैं या स्वयं उसकी चपेट में आकर स्वयं को नष्ट करते हैं।
जग की सेवा, खोज अपनी, प्रीति उससे कीजिये
जिंदगी का राज है ये जानकर जी लीजिये।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥2.9॥

पदच्छेदः स्वरसवाही , विदुषः , अपि , तथा , आरूढः , अभिनिवेशः ।
शब्दार्थः स्वरसवाही- जो परम्परागत स्वभाव से चला आ रहा है एवं, **विदुषः** - (जो मूढ़ों की भाँति) विवेकशील पुरुषों में, अपि - भी, **तथारूढः** - विद्यमान देखा जाता है, (वह), **अभिनिवेशः** - अभिनिवेश अर्थात् जीवन के प्रति ममता है।

व्यासभाष्यम्- सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयासमिति। न चाननुभूत-मरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः। एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चायमभिनिवेशः क्लेशः स्वरसवाही, कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्टयात्मकः पूर्वजन्मानु-भूतं मरण दुःखमनुमापयति।

यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः। कस्मात्? समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति ॥९॥

भाष्यानुवादः प्रत्येक प्राणी की यह नित्य आत्मेच्छा होती है कि मैं न होऊ ऐसा न हो किन्तु मैं होऊँ (अर्थात् सदा रहूँ)। मरण धर्म के अनुभव के बिना यह आत्मेच्छा नहीं होती। इसके द्वारा पूर्वजन्म का अनुभव सिद्ध होता है। और यह अभिनिवेश क्लेश अपने संस्कार से, केवल जन्मे हुए कृमि का भी प्रत्यक्षानुमानागमों द्वारा असम्भावित मरणभय उच्छेद स्वरूप (यह क्लेश) पूर्वजन्म में अनुभूत मरण दुःख को जनाता है।
अत्यन्त मूढ़ों में जिस प्रकार यह क्लेश दिखता है, उसी प्रकार आदि और अन्त जानने वाले विद्वान् में

भी विद्यमान है। क्यों ? मरण दुःख के अनुभव करने के कारण यह वासना उन ज्ञानी एवं अज्ञानी दोनों में समान रूप से होती है।।९।।

प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक डर समान रूप से वर्तमान है वह है मृत्यु का डर। इसे अभिनिवेश क्लेश के नाम से कहा गया है। केवल सामान्य मनुष्य नहीं अपितु ऐसे विद्वान भी जो अभी केवल शास्त्रीय रीति से आत्मा, परमात्मा, प्रकृति को जानते हैं, योग के सिद्धांतों, नियमों को केवल जानते हैं लेकिन पूर्ण रूप से सजा अनुभव नहीं प्राप्त किया है और अभी जीवन मुक्तिका अभ्यास कर रहे हैं, वे भी इस अभिनिवेश क्लेश से युक्त होते हैं। यह क्लेश अत्यंत सूक्ष्म रूप से सामान्य मनुष्यों, विद्वानों के चित्त में उपस्थित रहता ही है।

एक प्रश्न उठता है कि इस जन्म में बिना मृत्यु के क्षण आये हुए कैसे किसी को मृत्यु का भय हो सकता है। यदि किसी को मृत्यु के क्षण आये हों लेकिन मृत्यु मुख से बच गया हो तब तो उसे मृत्यु का भय क्या होता है, यह पता चल सकता है।

लेकिन सभी के जीवन में न तो ऐसी घटनाएं होती है और न ही ऐसा सम्भव हो सकता है। तब किस कारण से सभी जीव मात्र के मन में मृत्यु का डर अर्थात् अभिनिवेश क्लेश बैठा हुआ है। यह भी सत्य है कि प्रत्येक प्राणी के भीतर अभिनिवेश क्लेश है। इसका अर्थ है कि संस्कार रूप में यह डर बैठा हुआ है, इस जन्म से नहीं बल्कि पूर्व जन्म में जब उसकी मृत्यु हुई थी तब उसके मन में मृत्यु का जो भय उत्पन्न हुआ था वही वर्तमान जीवन में अभिनिवेश क्लेश के रूप में आंतरिक रूप से बना हुआ है। इससे पूर्व जन्म भी सिद्ध हो जाता है। आत्मा अजर और अमर है यह भी सिद्ध होता है। जन्म जन्मान्तरों से जीवन का प्रवाह चला आ रहा है इस बात की सिद्धि भी अभिनिवेश नामक क्लेश के रहने से हो जाती है।

यह क्लेश अत्यंत सूक्ष्म रूप में सदैव कार्यरत है। कोई कोई व्यक्ति तो इस सिंड्रोम से अत्यंत ग्रसित रहता है क्योंकि उसका यह अभिनिवेश नाम का क्लेश उदार अवस्था में आ जाता है। इसलिए जो निरंतर तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान रूपी साधना त्रय का आश्रय लेकर जीवन में आगे बढ़ते है वे मृत्यु के भय से भी मुक्त होते चले जाते हैं और जब किसी योगी को पूर्ण रूप से यथार्त या तत्त्वज्ञान का अनुभव जो जाता है वह न तो स्वयं की मृत्यु के भय से ग्रसित होता है अपितु किसी भी प्राणी के मृत्यु पर व्यथित नहीं होता है।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥2.१०॥

पदच्छेदः ते , प्रतिप्रसव , हेयाः , सूक्ष्माः ।

शब्दार्थः ते - वे (पूर्वोक्त पाँच क्लेश, जो क्रिया योग से), सूक्ष्माः - सूक्ष्मावस्था को प्राप्त हैं, प्रतिप्रसव- चित्त को अपने कारण में विलीन करने के साधन द्वारा, हेयाः - नष्ट करने योग्य हैं।

व्यासभाष्यम्- ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्त

गच्छन्ति॥१०॥

भाष्यानुवाद:- योगी के कृतकार्य चित्त के (प्रकृति में) लीन होने पर उसी के साथ ये पाँच क्लेश विलीन हो जाते हैं ॥१०॥

पूर्व के सूत्र संख्या 3 से लेकर 9 तक महर्षि पतंजलि ने पञ्च क्लेशों के स्वरूप एवं कार्यों के विषय में विस्तार से समझाया।

शिष्यों द्वारा क्लेशों को ठीक से जान लेने के बाद उनके मन में जिज्ञासा हुई कि ये क्लेश तो बहुत दुखदायी हैं, इनके कारण तो पूरा जीवन ही अस्त व्यस्त हुआ पड़ा है। सारे बंधन और दुखों का कारण भी यहीं है तो अब इनका सर्वथा नाश किस प्रकार सम्भव है?

क्या क्रियायोग से केवल इन्हें तनु ही किया जा सकता है या कोई और उपाय भी है। शिष्यों को उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि- ये अविद्या आदि पञ्च क्लेश अत्यंत सूक्ष्म हैं। ये चित्त रूपी जिस प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं, उसी में लीन होने योग्य होने से त्याज्य हैं।

योग साधना में जो बाधक तत्त्व हैं उन्हें उनके कारण में लीन करना होता है और जो समाधि में सहायक तत्त्व हैं उनकी अभिव्यक्ति करनी होती है। साधक को यह समझना बहुत आवश्यक है कि कौन से दुर्गुण किस कारण में जाकर लीन होंगे और कौन से सहायक तत्त्व या भाव किस कारण से अभिव्यक्त होंगे। योग मार्ग में कुछ भी नष्ट नहीं होता, सिर्फ लीन हो जाता है। जो जिससे उत्पन्न है उसी में जाकर उसका विलय होना ही नष्ट होना कहा जाता है। अत: एक दृष्टि रखनी होती है कि हमें अपने दुर्गुणों, विकारों, कुसंस्कारों, बुरी आदतों को उनके कारण में लीन करा देना है और जो कुछ शुभ है, अच्छे संस्कार हैं उन्हें अभिव्यक्त करना है। इसी एक सोच और दृष्टि से साधक योग मार्ग पर आगे बढ़ने लगे जाता है।

जैसे ही पञ्च क्लेश, चित्त के साथ प्रकृति में लीन हो जाते हैं, योगी विकार रहित होकर समाधि की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। ईश्वर के साहचर्य को प्राप्त करता हुआ नित्य आंनद में रमण करता है। समाधान की स्थिति में जीता है, जीवन मुक्ति के साथ जीता है।

ध्यानहेयास्तवृत्तय: ॥2.११॥

पदच्छेद: ध्यान , हेया: , तत् , वृत्तय: ।

शब्दार्थ: वृत्तय: - वृत्तियाँ, **ध्यान**- ध्यान के द्वारा, **हेया:** - नष्ट करने योग्य हैं।

व्यासभाष्यम्- क्लेशानां या वृत्तय: स्थूलास्ता: क्रियायोगेन तनूकृता: सत्य: प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद्दग्धबीजकल्पा इति। यथा वस्त्राणां स्थूलो मल: पूर्व निर्धूयते पश्चात्-सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन वापनीयते तथा स्वल्पप्रतिपक्षा: स्थूला वृत्तय: क्लेशानां, सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति॥११॥

भाष्यानुवादः- क्लेशों की जो स्थूल वृत्तियाँ हैं वे क्रियायोग द्वारा सूक्ष्म की जाती है प्रसङ्ख्यान (विवेकख्याति) के द्वारा नष्ट करने योग्य होती हैं, जिससे सूक्ष्म हो जायें, दग्धबीज के सदृश हो जायें। जिस प्रकार वस्त्रों का स्थूलमल पहले दूर किया जाता है पश्चात् सूक्ष्ममल प्रयत्न से दूर किया जाता है। उसी प्रकार क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ अल्प प्रयत्न से दूर करने योग्य होती हैं, जबकि सूक्ष्म (वृत्तियाँ) अधिक प्रयत्न के द्वारा दूर करने योग्य होती हैं।।११।।

जब क्लेशों को क्रियायोग के द्वारा निर्बल कर दिया जाता है अर्थात् क्लेशों की स्थूल वृत्तियों को क्रियायोग से सूक्ष्म कर दिया जाता है तब ध्यान के द्वारा उन्हें दग्धबीज करने का प्रयास करना चाहिए। जब क्लेश बड़े रूप में या उग्र रूप में प्रकट होते हैं तो इसे क्लेशों का स्थूल रूप कहा जाता है। इसे हटाने के लिए क्रियायोग का सहारा लिया जाता है। क्रियायोग से इन्हें केवल सूक्ष्म किया जा सकता है लेकिन इन्हें लगभग पूरी तरह खत्म करने के लिए साधक को विशेष प्रयत्न करना पड़ता है जिसे महर्षि ने 'ध्यान' कहा है।

यहां ध्यान से महर्षि का अर्थ है विवेकख्याति। ध्यान से जैसे एकनिष्ठ ज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार मुझे अपने क्लेशों के सूक्ष्म रूप को समाप्त करना है इस प्रकार के एकनिष्ठ ज्ञान के प्रवाह से हटाने का बड़ा प्रयत्न करना चाहिए।

योग दर्शन एक व्यवस्थित शास्त्र है। यहाँ ठीक-ठीक स्वरुप ज्ञान, निश्चित प्रक्रिया, निश्चित लक्ष्य, समस्या और समाधान की बात की जाती है। अतः यदि महर्षि यह कहते हैं कि सूक्ष्म क्लेश ध्यान या विवेकज्ञान के द्वारा हटाये जा सकते हैं तो यह 100% सत्य है। कोई भी साधक यदि ठीक ठीक साध ना का आचरण करेगा तो निश्चित पायेगा कि योग सूत्रों में वर्णित विधियों से उसे कहे गए परिणाम मिलते ही हैं।

यह योग दर्शन आचरण का शास्त्र है, इसमें बिना आचरण के कोई गति नहीं है। इसलिए जो भी साधक योग सूत्रों को पढ़कर अपने जीवन में साधना करना चाहते हैं उन्हें निश्चित की गई विधियों को आचरण में लाना ही होगा।

जब क्रियायोग से हमारे क्लेश सूक्ष्म हो जाएंगे तब बार बार प्रत्येक कर्म, व्यवहार, चेष्टा में साधक को देखना चाहिए कहीं लेशमात्र इनमें क्लेश तो नहीं है। यदि है तो उससे दूर होने का प्रयास करते रहना चहिए। इस प्रकार जब निरंतर रूप से ज्ञान का प्रहार होता रहेगा तो एक दिन ऐसा आएगा जब आप पूर्ण रूप से क्लेशों के ऊपर नियंत्रण पा लेंगे।

स्मरणीय बिन्दु

1. पाँच क्लेशों के नामः योगदर्शन के अनुसार जीवन में बन्धन और दुखों का कारण बनने वाले पाँच क्लेश क्रमशः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हैं।

2. क्लेश और मिथ्याज्ञानः व्यासभाष्य के अनुसार क्लेश का वास्तविक अर्थ पाँच प्रकार का विपर्यय अर्थात् पाँच भेदों वाला मिथ्याज्ञान है।

2. अविद्या सब क्लेशों की जननीः अविद्या मूल कारण है, और शेष चार क्लेश (अस्मिता, राग, द्व ेष, अभिनिवेश) उसके कार्य हैं। अविद्या ही इन सबकी उत्पत्ति भूमि है।

3. क्लेशों की चार मुख्य अवस्थाएँः अविद्या को छोड़कर बाकी चारों क्लेश सामान्य मनुष्यों में चार अवस्थाओं, प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार में बदलते रहते हैं।

4. दग्धबीज (पाँचवीं अवस्था): निर्बीज या असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा क्लेशों के बीजों को पूर्णतः भून देना दग्धबीज कहलाता है, जिसके बाद उनके पुनः अंकुरित होने की सम्भावना नष्ट हो जाती है।

5. अविद्या के चार पैर (चतुष्पदा): अनित्य को नित्य समझना, अपवित्र (अशुचि) को पवित्र समझना, दुःख को सुख समझना और अनात्मा (जड़) को आत्मा (चेतन) मानना ही अविद्या का स्वरूप है।

6. अस्मिता क्लेश का रहस्यः देखने वाले चेतन तत्त्व (दृक्-शक्ति/पुरुष) और देखने के साधन रूपी जड़ तत्त्व (दर्शन-शक्ति/बुद्धि) को अज्ञानवश एक ही मान लेना अस्मिता क्लेश है।

7. राग और द्वेष का आधारः पूर्व में भोगे गए सुख के स्मरण से उत्पन्न होने वाली तृष्णा को राग कहते हैं, तथा पूर्व अनुभूत दुःख के प्रति उत्पन्न होने वाले क्रोध या प्रतिकार के भाव को द्वेष कहते हैं।

8. अभिनिवेश (मृत्यु का भय): परंपरा से चला आ रहा मृत्यु का सूक्ष्म डर ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में समान रूप से रहता है, जो पूर्वजन्म के मरण-दुःख के संस्कारों को प्रमाणित करता है।

9. क्लेशों के समूल नाश की विधिः क्लेशों की उग्र (स्थूल) वृत्तियों को क्रियायोग द्वारा तनु (सूक्ष्म) किया जाता है, और फिर विवेकख्याति (ध्यान/प्रसंख्यान) द्वारा उन्हें हमेशा के लिए अपने कारण (प्रकृति) में लीन कर दिया जाता है।

विशेष शब्दावली

1. स्यन्दमानाः चित्तभूमि में निरंतर प्रवृत्त होने वाली या लगातार बहने वाली धारा।

2. प्रसुप्तिः क्लेशों का चित्त में केवल सुप्त शक्ति के रूप में (बिना अंकुरित हुए) बीज रूप में पड़े रहना।

3. चरमदेहः वह मुक्त योगी जिसके क्लेश सर्वथा क्षीण हो चुके हैं और यह उसका अन्तिम सांसारिक शरीर है।

4. प्रतिपक्षभावनाः चित्त में उठने वाले किसी भी बुरे विकार या कुसंस्कार को रोकने के लिए उसके

ठीक विपरीत अच्छे गुणों का चिंतन करना।

5. उदारः किसी क्लेश को अनुकूल वातावरण मिलते ही पूरी तरह से जाग्रत और प्रकट रूप में कार्य करते हुए देखना।

6. अतद्रूपप्रतिष्ठम्ः किसी वस्तु या तत्त्व को उसके वास्तविक रूप में न जानकर, किसी अन्य कल्पित रूप में समझना।

7. कायमाधेयशौचत्वात्ः शरीर अपनी उत्पत्ति और प्रकृति से ही सर्वथा अपवित्र है, इसे बाहर से साफ करके केवल कुछ समय के लिए शुद्ध रखा जाता है।

8. दृग्दर्शनशक्त्योः देखने वाली चेतन शक्ति (पुरुष) और देखने की क्षमता रखने वाली जड़ साधन-शक्ति (बुद्धि)।

9. गर्धस्तृष्णाः भोगे हुए सुखों को दोबारा पाने के लिए मन में उठने वाली तीव्र लालसा या गहरा लोभ।

10. प्रतिप्रसवहेयाः चित्त की वृत्तियों और विकारों को बलपूर्वक नष्ट करने के बजाय, उन्हें उनके मूल कारण (प्रकृति) में ही वापस विलीन कर देना।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1ः व्यासभाष्य के अनुसार क्लेशों को विपर्यय क्यों कहा गया है और ये मनुष्य को किस प्रकार प्रभावित करते हैं?

प्रश्न 2ः क्लेशों की विच्छिन्न और उदार अवस्थाओं के मध्य तात्विक अन्तर को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3ः अविद्या के अनित्य में नित्य तथा अशुचि में शुचि नामक दो रूपों को व्यासभाष्य के आधार पर समझाइए।

प्रश्न 4ः दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता सूत्र के आधार पर बताइए कि भोग और कैवल्य की स्थितियाँ कैसे निर्मित होती हैं?

प्रश्न 5ः स्वरसवाही विदुषोऽपि... सूत्र के आधार पर सिद्ध कीजिए कि अभिनिवेश क्लेश पूर्वजन्म के अस्तित्व को प्रमाणित करता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्नः अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् सूत्र की व्यासभाष्य के आलोक में सविस्तार व्याख्या कीजिए। क्लेशों की चारों अवस्थाओं का विशद वर्णन करते हुए समझाइए कि ध्यान और क्रियायोग द्वारा उन्हें दग्धबीज अवस्था में कैसे बदला जा सकता है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

प्रश्न 1. योगदर्शन के साधनपाद के अनुसार क्लेशों की कुल संख्या कितनी बताई गई है?

(1) तीन

(2) चार

(3) पाँच

(4) नौ

प्रश्न 2. निम्नलिखित में से किस क्लेश को अन्य सभी क्लेशों की प्रसवभूमि या जननी कहा गया है?

(1) अस्मिता

(2) अभिनिवेश

(3) अविद्या

(4) राग

प्रश्न 3. ''दु:खानुशयी द्वेष:'' सूत्र के अनुसार पूर्व में भोगे गए दु:ख के स्मरण से चित्त में जो प्रतिघात या क्रोध का भाव उत्पन्न होता है, वह कौन-सा क्लेश है?

(1) राग

(2) द्वेष

(3) अविद्या

(4) अस्मिता

प्रश्न 4. छोटे से जातक कृमि (कीड़े) से लेकर बड़े-बड़े विद्वानों के चित्त में स्वत: बहने वाला (स्वरसवाही) मृत्यु का भय कौन-सा क्लेश कहलाता है?

(1) अस्मिता

(2) अभिनिवेश

(3) विच्छिन्न क्लेश

(4) प्रसुप्त क्लेश

प्रश्न 5. क्लेशों की वह कौन-सी पाँचवीं अवस्था है जो केवल विवेकख्याति से युक्त योगियों के चित्त में ही घटित होती है, अन्यत्र नहीं?

(1) प्रसुप्त अवस्था

(2) तनु अवस्था

(3) उदार अवस्था

(4) दग्धबीज अवस्था

इकाई 11
दृश्य एवं दृष्टा का स्वरुप

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥2.१७॥

पदच्छेदः द्रष्टृ , दृश्ययोः , संयोगः , हेयः , हेतुः ।
शब्दार्थः द्रष्टृ- द्रष्टा (और), **दृश्ययोः** - दृश्य का, **संयोगः** - संयोग (उक्त), **हेयः** - दुःख का, **हेतुः** - कारण है।

व्यासभाष्यम्- द्रष्टा बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुषः। दृश्या बुद्धिसत्त्वोपारूढाः सर्वे धर्माः। तदेतद् दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः। अनुभवकर्मविषयतामापन्नमन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात् परतन्त्रम्।

तयोर्हग्दर्शनशक्त्योरनादिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुर्दुःखस्य कारणमित्यर्थः। तथा चोक्तम्-तत्संयोग-हेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः। कस्मात् ? दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात्। तद्यथा-पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेत्तृत्त्वं, परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाऽधिष्ठानम्। एतत्त्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोति। कस्मात्? त्रित्वोपलब्धिसामर्थ्यादिति। अत्रापि तापकस्य रजसः सत्त्वमेव तप्यम्। कस्मात्? तपिक्रियायाः कर्मस्थत्वात्। सत्त्वे कर्मणि तपिक्रिया नापरिणामिनि निष्क्रिये क्षेत्रज्ञे। दर्शितविषयत्वात्सत्त्वे तु तप्यमाने तदाकारानुरोधी पुरुषोऽनुतप्यत इति ॥१७॥

भाष्यानुवादः- द्रष्टा का अर्थ-बुद्धि में विद्यमान चित्रों को देखने वाला पुरुष है। दृश्य का अर्थ-बुद्धि में विद्यमान शब्द स्पर्शादि समस्त धर्म हैं। वह यह दृश्य अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के समान समीप होने मात्र से (जीव का) उपकार करने वाला दृश्य होने के कारण द्रष्टा रूपी पुरुष स्वामी का स्व (सम्पत्ति) बन जाता है। क्योंकि अनुभव रूपी कर्म का विषय बन जाता है। (जीवात्मा के सानिध्य से) चेतन सदृश स्वरूप को प्राप्त, स्वतन्त्र होने पर भी परार्थ (जीवात्मा के लिये) होने से परतन्त्र है। जीवात्मा एवं बुद्धि इन दोनों का, प्रयोजन के लिए किया हुआ संयोग (प्रवाह से) अनादि है यह 'दुःख का कारण' है। और वैसा कहा है- उस संयोग के कारण को दूर करने से दुःख का पूर्ण प्रतिकार होवे। क्यों ? छोड़ने योग्य दुःख के हेतु का प्रतिकार देखे जाने से। वह जैसा कि - पादतल की भेद्यता, काँटे का भेदन सामर्थ्य, काँटे का परिहार-काँटे पर पैर न रखना अथवा जूता पहनकर रखना है। लोक में जो इन तीनों को जानता है वह वहाँ प्रतिकार को करता हुआ कॉटा चुभने से उत्पन्न दुःख को प्राप्त नहीं करता। क्यों ? तीनों (भेद्यत्व, भेदकत्व, प्रतीकार) के सामर्थ्य को जानने के कारण। यहाँ पर भी तापक रजस् का तप्य सत्त्व गुण ही है। क्यों ? ताप क्रिया के कर्म में होने के कारण। सत्त्वगुणरूपी द्रव्य में ही ताप क्रिया होती है। अपरिणामी निष्क्रिय क्षेत्रज्ञ में नहीं। बुद्धि में विद्यमान विषयों को देखने

वाला होने से सत्त्व के तप्त होने पर उसके स्वरूप को ग्रहण करने वाला पुरुष अनुतप्त होता है, यह देखा जाता है ।।१७।।

योग में दु:ख को हेय के नाम से कहा गया है। इससे पूर्व के सूत्र में महर्षि हेय (भविष्य में आने वाले दुख) को छोड़ने के लिए कहते हैं। अब पर दो प्रश्न उठते हैं कि-

इस दु:ख का कारण क्या है? और इस दु:ख को कैसे हटाया जाए? अत: महर्षि दु:ख के कारण को बताने के लिए इस सूत्र की रचना करते हैं। दृष्टा और दृश्य का संयोग ही हेय अर्थात् दुख का कारण हैं। दृष्टा कहते हैं शरीर में स्थित जीवात्मा को और दृश्य कहते हैं सत्त्व, रजस और तमस एवं उनसे उत्पन्न बुद्धि आदि समस्त जड़ पदार्थ। पुरुष या जीवात्मा एवं प्रकृति का जो संयोग (अज्ञानपूर्वक जो सम्बन्ध) है वही त्याज्य दुख का कारण है।

इस संसार में अलग अलग लोग अपने अपने दु:खों से परेशान रहते हैं और अपने अपने स्तर पर वे उन दु:खों को दूर करने का प्रयास करते रहते हैं। उन प्रयासों से उन्हें कभी तात्कालिक रूप से आंशिक सफलता मिलती भी है और कभी नहीं भी मिलती है। लेकिन यदि मुख्य रूप से दु:खों के कारणों पर दृष्टि डाली जाए तो पुरुष और प्रकृति का अज्ञानपूर्ण संयोग या मिला जुला स्वरूप ही मुख्य कारण दिखता है।

अब एक बात समझने की यह है कि सभी सुख दु:ख का आभार यह स्थूल शरीर है। वर्गीकरण की दृष्टि से शरीर को तीन भागों में बांटा गया है।

स्थूल शरीर

सूक्ष्म शरीर

कारण शरीर

रक्त, मांस, हाथ पांव युक्त जो यह पुतला है उसे स्थूल शरीर कहा जाता है। बुद्धि, अहंकार, 10 इन्द्रियाँ, मन, एवं पांच तन्मात्राओं को सूक्ष्म शरीर कहते हैं, जिसके माध्यम से मृत्यु पश्चात आत्मा नए शरीर में प्रवेश करता है।

जब आत्म तत्त्व सूक्ष्म शरीर के साथ संयुक्त होता है तब पूर्व जन्मों के संस्कारों के कारण ही गर्भ प्राप्त करता है है पुन: स्थूल शरीर में प्रवेश कर जाता है।

ही सब सुख दु:खों का आधार है और शरीर प्राप्त करने का कारण आत्मा और सूक्ष्म शरीर का संयोग है। अत: जब दु:खों को पूर्ण रूप से हटाने की बात आएगी तो शरीर से मुक्त होकर सूक्ष्म शरीर के साथ संयोग को भी हटाना पड़ेगा।

इस प्रकार गहराई से विचार करने पर हम पाते हैं कि जो सूक्ष्म शरीर या प्रकृति के साथ आत्मा का अज्ञान जनित संयोग हो गया है, जब तक इसका उच्छेद नहीं होगा तब तक पूर्ण रूप से दु:खों से मुक्त नहीं हुआ जा सकता है।

जन्म जन्मान्तरों से हम इस देह भाव को हजारों लाखों बार प्राप्त कर चुके हैं और हर जन्म में हमने

इससे छूटने की कोशिश भी की होगी। लेकिन फिर वासनाओं के वश में आकर सांसारिक जीवन में व्यस्त हो गए होंगे और सोचा होगा कि अभी मुक्ति की क्या आवश्यकता है। अभी तो और मनुष्य जीवन जीकर समाज में परोपकार करेंगे। इस प्रकार बार बार बचते रहे होंगे, लेकिन ईश्वर भी जानता है कि मनुष्य यदि एक बार देह भाव को प्राप्त हो गया तो वापस लौटते लौटते कई जन्म लग जाएंगे। इसलिए जब इसकी सारी वासनाएं खत्म हो जाएंगी तब यह योग का सहारा लेकर आगे बढ़ेगा और फिर यदि योग्य होगा तो मुक्ति को पाकर शाश्वत आंनद में स्थित हो जाएगा अन्यथा पुनः पुनः योग मार्ग की शरण में आता रहेगा।

यह सारी व्यवस्था ऐसे ही शाश्वत रूप से चलती आ रही है। इसलिए यदि आप में साधना के प्रति गहरी इच्छा जागृत हो रही है तो योग मार्ग पर अविलंब आगे बढ़ जाएं और फिर यह तय करें कि अब तो सब दोषों से मुक्त होकर शाश्वत शांति, मुक्ति या कैवल्य को प्राप्त करना है।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥2.१८॥

पदच्छेदः प्रकाश, क्रिया, स्थिति,शीलम्, भूतेन्द्रिय, आत्मकम्, भोग, अपवर्ग, अर्थम्, दृश्यम् ।
शब्दार्थः प्रकाश- प्रकाश, **क्रिया**- क्रिया (और), **स्थिति**- स्थिति (जिसका)
शीलम्- स्वभाव (है), **भूतेन्द्रिय**- भूत और इन्द्रियाँ (जिसका), **आत्मकम्**- स्वरूप (हैं, पुरुष के लिए), **भोग**- भोग (और), **अपवर्ग**- मुक्ति ही (जिसका), **अर्थम्**- प्रयोजन (है, वह), **दृश्यम्**- दृश्य (है)।

व्यासभाष्यम्- प्रकाशशीलं सत्त्वम्। क्रियाशीलं रजः। स्थितिशीलं तम इति। एते गुणाः परस्परो-परक्तप्रविभागाः परिणामिनः संयोगविभागधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गङ्गित्वे-ऽप्यसंभिन्नशक्तिप्रविभागास्तुल्यजातीयातुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः प्रधानवेलायामुपदर्शितसंनिधाना गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्णीतानुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः संनिधिमात्रोपकारिणोऽयस्कान्तमणिकल्पाः प्रत्ययमन्तरेण ैकतमस्य वृत्तिमनुवर्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति। एतद् दृश्यमित्युच्यते। ॥१८॥

भाष्यानुवादः - सत्त्व प्रकाश स्वभाव वाला है। रजस् क्रिया स्वभाव वाला है। तमस् स्थिति स्वभाव वाला है। ये गुण परस्पर अनुरक्त अंश वाले, परिणामी संयोग विभाग धर्मों से युक्त एक दूसरे के आश्रय से मूर्त द्रव्यों के रूप में प्रकट होने वाले, परस्पर अङ्गाङ्गी होने पर भी अपनी-अपनी शक्ति को भिन्न रखने वाले, समानजातीय असमानजातीय द्रव्यों में शक्ति भेद से विद्यमान रहने वाले, अपनी प्रधानता के समय अपने अस्तित्व को अभिव्यक्त करने वाले, गौण होने पर भी व्यापारमात्र से प्रधान गुण में अन्तर्भावित सत्ता वाले अनुमान से जानने योग्य, पुरुषार्थ रूपी कर्त्तव्य के कारण प्रयुक्त सामर्थ्य वाले, सन्निधिमात्र से उपकार करने वाले, चुम्बक के समान (धर्मादि) प्रत्यय को अभिव्यक्त न करते हुये किसी एक की वृत्ति का अनुसरण करने वाले प्रधान शब्द से कहे जाते हैं। यह 'दृश्य' कहा जाता है।।।१८।।

दुख के स्वरूप एवं उसके कारण दृष्टा एवं दृश्य के अज्ञानजनित संयोग के बारे में बताने के बाद महर्षि दृश्य के स्वरूप में बताने के लिए इस सूत्र पर चर्चा कर रहे हैं।अब हम अगले सूत्रों में दृश्य और दृष्टा के बारे में विस्तार से समझेंगे-

दृश्यः जो प्रकाशशील, क्रियाशील एवं स्थितिशील, भूत और इन्द्रिय स्वरूप है एवं पुरुष के किये भोग एवं अपवर्ग रूपी प्रयोजन द्वय को सिद्ध करता है, उसे दृश्य कहते हैं। दृश्य को आप प्रकृति के नाम से भी कह सकते हैं। सरल अर्थों में कहें तो सत्त्व (प्रकाशशील), रजस् (क्रियाशील) एवं तमस् (स्थितिशील) से बना तत्त्व दृश्य कहलाता है। इसके साथ ही पृथ्वी आदि जो पांच महाभूत हैं और जो 10 इन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय) समूह है यह भी दृश्य कहलाता है। दृश्य का यह सारा स्वरूप निष्प्रयोजन नहीं है अपितु यह जीवात्मा के लिए भोग और अपवर्ग सिद्ध करवाने के लिए है। दृश्य पुरुष के लिए साधन स्वरूप है और यह साधन योगियों के लिए भी है और सांसारिक लोगों के लिए भी है। सांसारिक व्यक्तियों के भोग के लिए भी काम करता है और यदि कोई भोगों से छूटना चाहता है तो भी इसे अपवर्ग अर्थात् मुक्ति प्रदान करने के लिए काम करता है। अतः एक ही साधन से दोनों प्रकार के लोगों के प्रयोजन को सिद्ध करता है दृश्य। इस प्रस्तुत सूत्र में दृश्य के बारे में ठीक प्रकार से उसका स्वरूप बता दिया गया है।

साधक को चाहिए कि वह दृष्टा और दृश्य के स्वरूप को एक बार ठीक ठीक से समझ ले जिससे वह अपना प्रयोजन भी ठीक से निर्धारित कर ले और जिस साधन से अपवर्ग प्राप्त करना चाहता है उसे भी ठीक से जान ले जिससे वह उसका ठीक प्रकार उपयोग कर पाएं।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥2.२०॥

पदच्छेदः द्रष्टा , दृशिमात्रः , शुद्धः , अपि , प्रत्ययः , अनुपश्यः ।

शब्दार्थः द्रष्टा- द्रष्टा (जो), **दृशिमात्रः** - चेतनमात्र (ज्ञानस्वरूप आत्मा) है, **शुद्धः**- (यद्यपि वह) शुद्ध अर्थात् निर्विकार (होता हुआ),**अपि**- भी (बुद्धिवृत्ति के), **प्रत्ययः**- अनुरूप, **अनुपश्यः** - देखनेवाला है।

व्यासभाष्यम्- दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणापरामृष्टेत्यर्थः। स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी। स बुद्धेर्न सरूपो नात्यन्तं विरूप इति। न तावत्सरूपः। कस्मात्? ज्ञाताज्ञातविषयत्वात्परिणामिनी हि बुद्धिः, तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वा ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति।

सदा ज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति। कस्मात्? न हि बुद्धिश्च नाम पुरुष-विषयश्च स्याद् गृहीताऽगृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदा ज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति। कि च परार्था बुद्धिः संहत्यकारित्वात, स्वार्थः पुरुष इति। तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात्त्रिगुणा बुद्धिस्त्रिगुण ात्वादचेतनेति। गुणानां तूपदष्टा पुरुष इति। अतो न सरूपः। ॥२०॥

भाष्यानुवादः- दृशिमात्र का अर्थ विशेषणों से रहित ज्ञान स्वरूप ही है। वह पुरुष बुद्धि वृत्ति को जानने वाला है। वह न बुद्धि के समानरूप वाला है न ही अत्यन्त विरुद्धरूप वाला है। समानरूप वाला नहीं है। क्यों ? विषयों के जानने न जानने वाली होने से बुद्धि परिणाम वाली है। और उसके गौ आदि वा घट आदि विषय ज्ञात-अज्ञात होते हैं, (ये बुद्धि के) परिणाम को दिखाते हैं।

सदा ज्ञात विषय वाला होना तो पुरुष के अपरिणामित्व को प्रकट करता है। क्यों ? बुद्धि जो पुरुष का विषय है वह कभी ज्ञात-अज्ञात नहीं होती। उस से पुरुष सदा ज्ञात विषय वालाहै यह और पुरुष का परिणामरहित होना सिद्ध है। और क्या (हेतु है कहते हैं) बुद्धि (तीन गुणों का) संघात रूप होकर कार्य करने के कारण परार्थ (पुरुषार्थ) है जबकि पुरुष स्वार्थ है। उसी प्रकार सब विषयों का ज्ञान कराने वाली होने से बुद्धि त्रिगुण वाली है, तीन गुणों से युक्त होने के कारण अचेतन है। पुरुष गुणों को निकटता से जानने वाला है अतः बुद्धि के समानरूप वाला नहीं है।।२०।।

सूत्र संख्या 17 में दृष्टा और दृश्य ये दो शब्द आये थे। उसमें से दृश्य शब्द को विस्तृत रूप से समझाने के बाद अब महर्षि दृष्टा के विषय में बता रहे हैं। पहले भी सरल शब्दों में बताया है कि- सभी जड़ पदार्थो (प्रकृति-मन बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रियाँ, आदि) को दृश्य के नाम से कहा जाता है और चेतन तत्त्व (आत्मा-जीवात्मा) को योग में दृष्टा के नाम से कहा गया है।

दृष्टा की परिभाषा करते हुए महर्षि कहते हैं कि दृष्टा अर्थात् पुरूष (देखने वाला) केवल ज्ञान स्वरूप एवं शुद्ध होता हुआ भी चित्त में उठने वाली वृत्तियों के अनुरूप देखने वाला है अर्थात् पुरुष या आत्मा, नित्य शुद्ध-बुद्ध एवं मुक्त होने के बाद भी चित्त में उठने वाले विचारों या वृत्तियों के अनुसार ही देखता है।

चित्त जैसा दिखायेगा वैसा ही आत्मा देखेगा। आत्मा स्वयं से देखने का चयन नहीं करती अपितु उसका चित्त जैसी जानकारी मन एवं इंद्रियों के संयोग से प्राप्त करेगा, वही आत्मा देखेगी। इसीलिए कहा जाता है कि आत्मा के शुद्ध स्वरूप जो कि नित्य है, उसे पाने के लिए पहले चित्त, मन, बुद्धि एवं इंद्रियों की शुद्धि अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि यदि ये अशुद्ध रहे तो आत्मा शुद्ध होने के बाद भी अशुद्धि को ही ग्रहण करेगी। सांख्य दर्शन सहित अनेकों ग्रंथो में यह बात कही गई है कि आत्मा तो निर्विकार है, शुद्ध है, लेकिन दूषित चित्त ही आत्मा को अशुद्धि के साथ जोड़ता है। आत्मा के अतिरिक्त इस देह में जो कुछ है वह उसके साधन स्वरूप है, उपकरण हैं। इसलिए नौकर जो कुछ दिखाएंगे वही आत्मा तक पहुचेगा। इस पूरी प्रक्रिया में आत्मा मन, बुद्धि, चित्त अहंकार की शुद्धि के लिए प्रेरणा कर सकता है।

तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ।।2.२१।।

पदच्छेदः तत् , अर्थ , एव , दृश्यस्य , आत्मा ।

शब्दार्थः दृश्यस्य - (उक्त) दृश्य का, **आत्मा**- स्वरूप, **तत्**- उस (द्रष्टा के), **अर्थ**- लिए, **एव**- ही (है)।

व्यासभाष्यम्- दृशिरूपस्य पुरुषस्य कर्मरूपतामापन्नं दृश्यमिति तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा स्वरूपं भवतीत्यर्थः ॥२१॥

भाष्यानुवाद:- दृश्य, द्रष्टा रूप पुरुष की कर्मरूपता को प्राप्त होता है इसलिये उसो (पुरुष) के लिये दृश्य का आत्मा (अर्थात्) स्वरूप होता है ।।२१।।

प्रस्तुत सूत्र में महर्षि पुनः एक बार प्रकृति के प्रयोजन के बारे में बता रहे हैं। दृश्य अर्थात् प्रकृति का जो कुछ भी स्वरुप है वह आत्मा के को भोग एवं भोगों से निवृत्ति (मुक्ति-मोक्ष या कैवल्य) दिलाने के लिए है। इस बात महर्षि ने दो बार कहा है इसका अर्थ यह है कि महर्षि इस बात को जोर देकर कहना चाहते हैं। पतंजलि योग सूत्र जैसे गहन शास्त्र में कोई भी शब्द व्यर्थ नहीं है और इसे अत्यंत संक्षिप्त बनाया गया है जिससे केवल गूढ़ रूप में ही बात को कहा जाए।

किसी भी शास्त्र को लिखने के पीछे ४ कारण होते हैं जिन्हें अनुबन्ध चतुष्टय कहते हैं।

१. **अधिकारी**

२. **विषय**

३. **प्रयोजन**

४. **सम्बन्ध**

यदि एक बात को दुसरे प्रकार से पुनः कहा जा रहा है तो उसके पीछे कारण होता है कि इस बात को अच्छे से समझ लिया जाये। दृश्य का सम्पूर्ण स्वरुप या उसके सभी अंग पुरुष के प्रयोजन सिद्ध करने के लिए होते हैं, इसे बार बार दोहराने का इतना ही अर्थ है कि साधक प्रकृति को केवल दुःख का कारण न समझे या फिर इससे दूर भागकर न जाये अपितु इसे ही साधन बनाकर अपवर्ग-मुक्ति को प्राप्त करे। यह एक अत्यन्त सूक्ष्म सा इशारा महर्षि ने हम सबके लिए दिया है। पूर्व में भी हमने आपसे कहा था कि कांटे से ही काँटा निकाला जाता है और बाद में जिस कांटे से काँटा निकाला था उसे भी फेंक दिया जाता है। इसी उदहारण को जब आप अपने सम्मुख रखेंगे तब आपको योग के मार्ग का सही सही बोध होता रहेगा।

मुख्य रूप से प्रकृत्ति का प्रयोजन पुरुष को अपवर्ग (मुक्ति या मोक्ष) दिलाना है, भोग मुख्य नहीं है अर्थात् गौण है। जिस प्रकार यात्रा करते समय हम किसी वाहन का उपयोग गन्तव्य तक पहुँचने के लिए करते हैं उसी प्रकार मुक्ति रूपी गन्तव्य तक पहुँचने हेतु भोग यात्रा के बीच के सुख सविधाएं मात्र हैं। इन सुख सुविधाओं का यात्रा के सहज सम्पन्न होने के लिए उपयोग मात्र ही श्रेष्ठ दर्शन है। यदि कोई सुख सुविधाओं में ही फंसा रह जायेगा तो मंजिल प्राप्त होने पर भी वह साधन को नहीं छोड़ेगा और पुनः जन्म-जन्मान्तरों के फेर में पड़ता जायेगा और ऐसा होना सबसे बड़ा दुर्भाग्य है।।

सिद्धांतः

प्रकृति का सम्पूर्ण उद्देश्य पुरुष को भुक्ति और मुक्ति दिलाने के लिए हुआ है।

प्रकृत्ति स्वयं के लिए नहीं अपितु जीवात्मा के लिए उत्पन्न हुई है।

प्रकृत्ति जड़ पदार्थ है और जड़ पदार्थ स्वयं के लिए उपयोगी न होकर चेतन तत्त्व के काम आते हैं।

प्रकृत्ति संघात है अतः संघात सदैव परार्थ के लिए होता है। अर्थात् जड़ पदार्थों का जो मिला जुला स्वरुप होता है वह किसी चेतन तत्त्व के भोग सिद्धि या उसके निःश्रेयस के लिए होता है।
पुरुष अर्थात् जीवात्मा प्रकृत्ति के सहयोग के बिना न तो भोग ही भोग सकता है और न ही भोगों से मुक्ति पा सकता है।

स्मरणीय बिन्दु

- दुःख का मूल कारणः द्रष्टा (जीवात्मा) और दृश्य (प्रकृति/बुद्धि) का अज्ञानपूर्ण संयोग ही भविष्य में आने वाले दुःखों (हेय) का मुख्य कारण है।
- शरीर के तीन प्रकारः सुख और दुःख का आधार यह स्थूल शरीर है, जिसे तीन भागों स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर में वर्गीकृत किया गया है।
- दृश्य का त्रिगुणात्मक स्वभावः दृश्य (प्रकृति) तीन गुणों, सत्त्व (प्रकाशशील), रजस् (क्रियाशील) और तमस् (स्थितिशील) से मिलकर बना है।
- द्रष्टा का वास्तविक स्वरूपः द्रष्टा (पुरुष या जीवात्मा) स्वरूप से सदैव शुद्ध, चेतनमात्र, निर्विकार और अपरिणामी है, जो चित्त की वृत्तियों के अनुरूप देखता है।
- प्रकृति का मुख्य प्रयोजनः प्रकृति का संपूर्ण अस्तित्व स्वयं के लिए नहीं, बल्कि पुरुष (जीवात्मा) को भोग (भुक्ति) और मोक्ष (अपवर्ग/मुक्ति) दिलाने के लिए है ।

विशेष शब्दावली

- द्रष्टाः शरीर में स्थित चेतन तत्त्व या ज्ञानस्वरूप जीवात्मा (देखने वाला पुरुष)।
- दृश्यः सत्त्व, रजस्, तमस्, पांच महाभूत और दसों इंद्रियों से युक्त समस्त जड़ पदार्थ या प्रकृति।
- हेयः भविष्य में आने वाला दुःख जो त्यागने योग्य या छोड़ने योग्य है।
- अपवर्गः सांसारिक बंधनों और वासनाओं से पूर्ण मुक्ति, मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति।
- परार्थः जो स्वयं के लिए उपयोगी न होकर किसी अन्य (चेतन तत्त्व या पुरुष) के प्रयोजन के लिए कार्य करे।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १: पतंजलि योगसूत्र के अनुसार हेय हेतु (दुःख का कारण) क्या है? सुस्पष्ट कीजिए।
प्रश्न २: शरीर का वर्गीकरण कितने भागों में किया गया है? उनके नाम और सूक्ष्म शरीर का महत्त्व बताइए।
प्रश्न ३: अनुबन्ध चतुष्टय से आप क्या समझते हैं? इनके चारों अंगों के नाम लिखिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १: दृश्य (प्रकृति) का स्वरूप क्या है? इसके तीनों गुणों और मूल प्रयोजन की विस्तृत विवेचना कीजिए।

प्रश्न २: द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः सूत्र की व्याख्या करते हुए द्रष्टा (पुरुष) और बुद्धि में अंतर स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पेया प्रश्न

१. महर्षि पतंजलि के अनुसार हेय हेतु अर्थात् दुःख का कारण क्या है?

(अ) केवल प्रकृति का प्रभाव

(ब) जीवात्मा का एकाकीपन

(स) द्रष्टा और दृश्य का संयोग

(द) स्थूल शरीर का विनाश

२. निम्नलिखित में से कौन-सा गुण क्रियाशील स्वभाव वाला माना गया है?

(अ) सत्त्व गुण

(ब) रजस् गुण

(स) तमस् गुण

(द) उपर्युक्त सभी

३. बुद्धि, अहंकार, मन, १० इंद्रियाँ और ५ तन्मात्राओं के समूह को क्या कहा जाता है?

(अ) स्थूल शरीर

(ब) सूक्ष्म शरीर

(स) कारण शरीर

(द) कैवल्य शरीर

४. दृश्य (प्रकृति) का मुख्य उद्देश्य पुरुष के लिए क्या सिद्ध करना है?

(अ) केवल धन-संपत्ति कमाना

(ब) भोग और अपवर्ग (मुक्ति)

(स) केवल सांसारिक सुख भोगना

(द) संसार का विनाश करना

५. द्रष्टा (पुरुष) स्वरूप से शुद्ध और निर्विकार होने पर भी किसके अनुरूप देखता है?

(अ) चित्त या बुद्धि की वृत्तियों के अनुरूप

(ब) केवल स्थूल आँखों के अनुरूप

(स) अन्य मनुष्यों की इच्छा के अनुरूप

(द) वह कभी कुछ नहीं देखता

इकाई 12
अष्टांग योग का वर्णन

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥2.28॥

पदच्छेदः योग , अङ्ग , अनुष्ठानात् , अशुद्धिः , क्षये , ज्ञान , दीप्तिः , आविवेकख्यातेः ।
शब्दार्थः योग- योग (के), **अङ्ग** - (विभिन्न) अंगों का, **अनुष्ठानात्**- अनुष्ठान से **अशुद्धिः** - अपवित्रता (के), **क्षये**- नाश होने पर, **ज्ञान**- ज्ञान (का), **दीप्तिः**- प्रकाश, **अविवेकख्यातेः** - विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है।

व्यासभाष्यम्-योगाङ्गान्यष्टावभिधायिष्यमाणानि। तेषामनुष्ठानात्पञ्चपर्वणो विपर्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाशः। तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः। यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वम-शुद्धिरापद्यते। यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्धते। सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवत्या विवेकख्यातेः। आगुणपुरुषस्वरूपविज्ञानादित्यर्थः। योगाङ्गा-नुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणम् यथा परशुश्छेद्यस्य। विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणं यथा धर्मः सुखस्य, नान्यथा कारणम्। कति चौतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति? नवैवेत्याह। तद्यथा-

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः।

वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् इति।

तत्रोत्पत्तिकारणं-मनो भवति विज्ञानस्य। स्थितिकारणं-मनसः पुरुषार्थता, शरीरस्येवाहार इति। अभिव्यक्तिकारणं-यथा रूपस्यालोकस्तथा रूपज्ञानम्, विकारकारणं-मनसो विषयान्तरम्, यथाग्निः पाक्यस्य। प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य। प्राप्तिकारणं-योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः। वियोग कारणं तदेवाशुद्धेः। अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः। एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्या मूढत्वे, द्वेषो दुःखत्वे, रागः सुखत्वे, तत्त्वज्ञानं माध्यस्थ्ये। धृतिकारणं शरीरमिन्द्रियाणाम्, तानि च तस्य। महाभूतानि शरीराणाम्, तानि च परस्परं सर्वेषाम्। तैर्यग्यौनमानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वादिति।

एवं नव कारणानि। तानि च यथासंभवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि। योगाङ्गानुष्ठानं तु द्विधैव कारणत्वं लभत इति॥२८॥

भाष्यानुवादः - (आगे) कहे जाने वाले योग के आठ अङ्ग हैं। उनके अनुष्ठान से पांच पर्वो वाले अशुद्धि रूपी विपर्यय का नाश होता है। उसके क्षय होने पर सम्यक् ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) की अभिव्यक्ति

होती है। और जैसे-जैसे साधन आचरण में लाये जाते हैं वैसे-वैसे अशुद्धि क्षीणता को प्राप्त होती है। और जैसे-जैसे अशुद्धि क्षीण होती जाती है वैसे-वैसे क्षीणता के क्रम के अनुसार ज्ञान की दीप्ति भी बढ़ती जाती है। वह यह विवृद्धि विवेकख्यातिपर्यन्त अर्थात् गुण एवं पुरुष के स्वरूप के ज्ञान तक प्रकर्षता को अनुभव करती है। योगाङ्गानुष्ठान अशुद्धि के वियोग का कारण है जैसे कि परशु (छेद्य लकड़ी के वियोग का कारण होता है)। विवेकख्याति का तो प्राप्ति का कारण है, जैसा कि सुख का कारण धर्म है। योगाङ्गो का अनुष्ठान अन्य प्रकार का कारण नहीं है। अर्थात् योगाङ्गों का अनुष्ठान अशुद्धि के वियोग का कारण और विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है, इससे अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का कारण नहीं है।

शास्त्र में ये कारण कितने होते हैं ? नौ ही हैं ऐसा कहा है। वह जैसे कि - उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, आप्ति, वियोग, अन्यत्व, धृति। इस प्रकार कारण नौ प्रकार से बतलाये हैं। (क्रमशः) उनमें (१) मन विज्ञान का उत्पत्तिकारण है। (२) मन की स्थिति का कारण पुरुषार्थता है जैसे कि शरीर की स्थिति का कारण आहार है। (३) अभिव्यक्ति का कारण जिस प्रकार रूप की अभिव्यक्ति का कारण प्रकाश है उसी प्रकार रूप का ज्ञान (भी) रूप की अभिव्यक्ति का कारण है। (४) मन के विकार का कारण विषयान्तर होना जैसे कि पकाने योग्य पदार्थ का कारण अग्नि (होता है)। (५) ज्ञान का कारण जैसे कि धूमज्ञान अग्नि के ज्ञान का कारण होता है। (६) प्राप्ति का कारण-योगाङ्गों का अनुष्ठान विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है। (७) वियोगकारण-योगाङ्गानुष्ठान ही अशुद्धि के वियोग का कारण है। (८) अन्यत्वकारण - जैसे कि सोने के रूपान्तर का सुवर्णकार कारण होता है। इसी प्रकार एक स्त्री के ज्ञान में मोह का
कारण अविद्या, दुःख का कारण द्वेष, सुख का कारण राग और माध्यस्थ (तटस्थता) का कारण तत्त्वज्ञान है। (९) धृतिकारण - इन्द्रियों को धारण करने वाला कारण शरीर है और वे इन्द्रियाँ शरीर को धारण करने में कारण हैं। शरीर को धारण करने में महाभूत कारण हैं। और वे सब एक दूसरे के धारण करने में कारण हैं। तिर्यक् (पशुपक्ष्यादि) मनुष्य और देवता परस्पर एक-दूसरे के निमित्त (सहयोगी) होने से परस्पर धृति के कारण हैं।।२८।।

साधन पाद के सूत्र संख्या एक से लेकर २७ तक महर्षि ने क्लेशों से लेकर कैवल्य पर्यन्त एक विशाल पूरी प्रक्रिया समझा दी। किस प्रकार क्लेशों के उदय से जन्म-मरण के बंधन में फंसता हुआ मनुष्य जाति-आयु और भोग के लपेटे में आता है। फिर संसार में दुःख दर्शन करता हुआ उससे छूटने का प्रयत्न कर सकता है। आत्मा और बुद्धि (प्रकृति) के स्वरुप को अलग अलग समझाया। प्रकृति और पुरुष का जो अज्ञान जनित संयोग है उसे हटाने की प्रक्रिया समझाई। और अंत में यह बताया कि जब तक दृढ, न खंडित होने वाली विवक ख्याति की प्राप्ति नहीं हो जाती पूर्ण रूप से दुखों से निवृत्ति नहीं हो सकती है। इस पूरी प्रक्रिया में एक साथ कैवल्य की स्थिति बुद्धि के स्तर पर समझा दी गई। लेकिन विवेक ख्याति की स्थिति तक पहुँचने के लिया साधना विशेष के बारे में अधिक चर्चा नहीं

हुई। केवल प्रारभ में क्रिया योग के माध्यम से क्लेशों को तनु करने एवं समाधि की भावना प्रबल करने का इशारा महर्षि ने किया था। इस प्रकार यह सिद्ध है कि ऐसे साधक जो योग मार्ग पर आगे बढ़ना चाहते हैं, उन्हें सर्व प्रथम क्रिया योग का सहारा लेना चाहिए। तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान के निरंतर अभ्यास से उनके क्लेश तनु अवस्था में आ जाएँ और साथ ही समाधि कि भावना प्रतिदिन प्रबल होती चली जाये तो फिर उन्हें अष्टांग योग में पदार्पण करना चाहिए। क्रियायोग का अभ्यास किये बिना ही या क्रिया योग में एक स्थिति विशेष लाये बिना ही अष्टांग योग में प्रगति नहीं हो पायेगी। अष्टांग योग के अभ्यास में कठिनता अनुभव होगी और साधक बीच में ही प्रमादी होकर योग यात्रा को स्थगित कर सकता है। इससे आगे वाले सूत्रों में अष्टांग योग के बारे में महर्षि विस्तृत चर्चा करेंगे तब सभी विषयों पर विस्तार से समझने का प्रयास करेंगे।

योग के अंगो का अनुष्ठान करने से निरंतर सब प्रकार की अशुद्धि का नाश होता जाता है और जैसे जैसे जितने अंश में अशुद्धि हटती जाती है, उतने ही अंशों में ज्ञान का प्रकाश भी उदित होता जाता है। अशुद्धि के नाश का एवं ज्ञान के प्रकाश का क्रम विवेक ख्याति होने तक चलता रहता है। एक समय ऐसा आता है जब अशुद्धि पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है और ज्ञान का प्रकाश पूर्ण रूप से प्रकाशित हो जाता है। इस स्थिति तो विवेक ख्याति कहते हैं, जिसकी चर्चा पूर्व सूत्रों में की जा चुकी है।

दो प्रकार से योग घटित होता है। एक व्यवहार काल से और दूसरा साधना काल से। जब दोनों कालों में सम्यक रूप से योग संपन्न होता जाता है तो पूर्व संचित वृत्तियों का निरोध होता चला जाता है और नए कर्म निष्कामता में परिवर्तित होते चले जाते हैं, अर्थात् कर्म फल देने वाले नहीं बनते हैं। इस प्रकार पुराना सब कुछ समाप्त होता चला जाता है और नए संस्कार और वृत्तियाँ नहीं बनती हैं। या अशुद्धि हटती चली जाती है और ज्ञान का प्रकाश होता चला जाता है। अग्रिम सूत्रों से इस पादपर्यन्त एवं उससे भी आगे तीसरे पाद तक अब अष्टांग योग की विस्तृत चर्चा शुरू होती है।

यमनिमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥2.29॥

पदच्छेद: यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधय:,अष्टौ, अङ्गानि ।

शब्दार्थ **: यम**–यम, **नियम** - नियम, **आसन** - आसन, **प्राणायाम** - प्राणायाम, **प्रत्याहार** - प्रत्याहार, **धारणा** - धारणा, **ध्यान** - ध्यान (और), **समाधय:** - समाधि**; अष्टौ** - (ये) आठ
अङ्गानि - (योग के) अंग हैं।

व्यासभाष्यम्- यथाक्रममेषामनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्याम: ॥२९॥

भाष्यानुवाद: - क्रम अनुरूप यम नियमों के अनुष्ठान एवं स्वरुप कि व्याख्या करेंगे।

इस सूत्र के माध्यम से महर्षि अष्टांग योग की परिभाषा कर रहे हैं। मैं इसे योग सूत्रों की आत्मा कहता हूँ। यह सूत्र समस्त सूत्रों का केंद्र है। अष्टांग योग में जितने भी सूत्र आते हैं वे सभी योग दर्शन के नाभिकीय सूत्र हैं। यही वे सूत्र हैं जो साधना पथ का निर्धारण एवं समस्त ऐश्वर्य, विभूतियों को देने वाले हैं। आध्यात्मिक जगत के जितने भी ऐश्वर्य हो सकते हैं वे सब इसी अष्टांग योग के अनुष्ठान

से प्राप्त होते हैं।
योग के आठ अंग हैं-यम,नियम,आसन,प्राणायाम,प्रत्याहार,धारणा,ध्यान,समाधि,
इस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं। इस सूत्र में एक महत्त्वपूर्ण शब्द आया है-वह है अनुष्ठान। अनुष्ठान शब्द का अर्थ होता है विशेष व्रताभ्यास।
जिसे मन, वचन और कर्म की एकरूपता से सम्पन्न किया जाता है उसे अनुष्ठान कहते हैं। इसलिए सूत्र का अर्थ हुआ कि मन,वचन और कर्म से यम-नियमों आदि आठ अंगों के अनुष्ठान से सब प्रकार की मलिनता का नाश होकर विवेक ख्याति होने तक निरंतर ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है।
अत: साधक को चाहिए कि क्रिया योग पूर्वक योग के इन आठ अंगो का व्रताभ्यास या अनुष्ठान करना चाहिए जिससे वह प्रकृति और पुरुष के बीच के संयोग को नष्ट कर अपने स्वरुप में स्थिति को प्राप्त कर सके। अपने सभी दुखों का अन्त कर शाश्वत प्रभु के आनंद में स्थित हो करे। आगे एक एक अंग को ठीक प्रकार से समझने का प्रयास करते चले जायेंगे।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥2.30॥

पदच्छेदः अहिंसा , सत्य , अस्तेय , ब्रह्मचर्य , अपरिग्रहाः , यमाः ।
शब्दार्थः अहिंसा- अहिंसा, **सत्य**- यथार्थ ज्ञान, **अस्तेय**- अस्तेय(चोरी का अभाव)
ब्रह्मचर्य - ब्रह्मचर्य (और), **अपरिग्रहाः**- अपरिग्रह(संग्रह का अभाव), **यमाः** - (ये पाँच) यम हैं।

व्यासभाष्यम्- तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः, उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्त-त्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते। तथा चोक्तम् स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमान-स्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति।

सत्यं यथार्थे वाग्मनसे। यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेदिति।

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्, तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति। ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः। विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥३०॥

भाष्यानुवादः - (यमों) में से सब प्रकार से सब कालों में समस्त भूतों को पीड़ा न देना 'अहिंसा' है। अगले यम नियम अहिंसामूलक हैं। अर्थात् अहिंसा पर आश्रित हैं। उस (अहिंसा) की सिद्धि के हेतु होने के कारण उसकी सिद्धि के लिए (शेष यम और नियमों का) प्रतिपादन किया जाता है। उस

(अहिंसा) को निर्मल करने के लिए ही अपनाये जाते हैं। और वैसा कहा है - निश्चय ही वह यह ब्राह्मण (योगी) जैसे-जैसे बहुत सारे व्रतों को अपनाना चाहता है वैसे-वैसे असावधानी के कारण होने वाले हिंसा के कारणों से निवृत्त होता हुआ उसी उच्चस्तर की अहिंसा का (आचरण) करता है।
जो पदार्थ जैसा हो उसके सम्बन्ध में वैसी ही वाणी और वैसा ही मन में होना सत्य है। जिस प्रकार देखा (प्रत्यक्ष किया), जिस प्रकार अनुमान से जाना और जिस प्रकार सुना उसी प्रकार वाणी और मन का होना (सत्य है)।
अशास्त्रीय अर्थात् अवैधरूप से दूसरों के पदार्थों को लेना **'स्तेय'** है। उसका प्रतिषेध अर्थात् उसको छोड़ना, अभिलाषा न करना **'अस्तेय'** है।
गुप्तेन्द्रिय उपस्थ का संयम ब्रह्मचर्य है। अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग, हिंसा दोषों के दीखने से विषयों को स्वीकार न करना अपरिग्रह है। ये यम हैं ।।३०।।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ये पांच यम हैं। आईये इन्हें विस्तार पूर्वक समझने का प्रयास करते हैं और स्वयं के जीवन में इनका पालन किस विधि और निषेध से संभव हो सकता है उस पर एक सार्थक दृष्टि डालते हैं।
अहिंसाः- मन, वचन एवं कर्म से किसी भी प्राणी के प्रति वैरभाव नहीं रखना अहिंसा कहलाता है। यह अहिंसा भाव रूप में भी होनी चाहिए और क्रिया में भी दिखनी चाहिए। ऐसा न हो कि भाव तो अहिंसा का रखते हैं लेकिन क्रिया रूप में हिंसा हो रही है अतः भाव और क्रिया रूप से किसी भी प्राणी को (मनुष्य हो या पशु, पक्षी या अन्य कीट पतंग) को मन, वाणी और कर्म से किसी भी प्रकार से जानबुझकर कष्ट नहीं देना **'अहिंसा'** कहलाता है।
सत्यः- किसी भी वस्तु, व्यक्ति या स्थान के विषय में हम जो कुछ या जैसा भी जानते, समझते और मानते और सुनते हैं वाणी से उसी रूप व्यक्त करना ही सत्य कहलाता है। जाने, समझे, अनुभव एवं माने गए विषयों की यथार्त अभिव्यक्ति को 'सत्य' कहते हैं। अपनी ओर से कुछ भी बढ़ा या घटाकर बोलना असत्य हो जाता है। यह अत्यंत सूक्ष्म और विशाल विषय है जिस पर आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।
अस्तेयः- सामान्य शब्दों में कहें तो चोरी नहीं करने का भाव अस्तेय कहलाता है। सांसारिक व्यवस्था के अंतर्गत सभी संसाधनों का स्वामित्व किसी न किसी के पास होता ही है अतः बिना स्वामी से पूछे किसी भी वस्तु को न लेना **'अस्तेय'** कहलाता है।
दूसरा अर्थ है कि मन, वचन और कर्म से किसी दुसरे की वस्तु को अपना न मानना अस्तेय कहलाता है। आप मन ही मन तो दुसरे की वस्तु या संसाधन पर दृष्टि रखते हैं लेकिन भौतिक रूप से उस वस्तु या संसाधन को लेते नहीं तो यह अस्तेय नहीं कहा जायेगा। इसलिए भाव और क्रिया की एकरूपता तो सभी यमों के विषय में एक समान लागू होती है।
ब्रह्मचर्यः- ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म जैसी चर्या में अपने जीवन को पालना। यह इसकी अत्यन्त गहरी

और समग्र व्याख्या है। भाव रूप में स्वयं को ब्रह्म की दिनचर्या के लिए तैयार करना और क्रिया रूप में विधि और निषेध की साधना से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। अपनी जीवनीय एवं सृजनात्मक शक्ति वीर्य का रक्षण करना, ईश्वर की आराधना, स्तुति करना एवं सम्बन्धों की शुचिता रखना ब्रह्मचर्य की क्रियात्मक साधना है।

अपरिग्रहः-जीवन निर्वाह के मध्य विभिन्न संसाधनों का उपयोग एवं प्रयोग स्वाभाविक है, और जितने की आवश्यकता से मनुष्य का कर्मक्षेत्र अबाधित रूप से गतिमान होता हो तो उससे अधिक संसाधनों के संग्रह की प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए, यही 'अपरिग्रह' है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह इन पांच यमो की सामान्य व्याख्या कर दी है, आगे जब प्रत्येक यम के लाभ की चर्चा की जाएगी तब और अधिक विस्तार से बता दिया जायेगा।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥2.31॥

पदच्छेदः जाति , देश , काल , समय , अनवच्छिन्नाः , सार्वभौमाः , महाव्रतम् ।

शब्दार्थः जाति- (उक्त यम) जाति, **देश**- देश (स्थान), **काल**- काल (और), **समय**- विशेष नियम (की), **अनवच्छिन्नाः** - सीमा से रहित (और), **सार्वभौमाः**- सब अवस्थाओं में पालन करने योग्य, **महाव्रतम्**- महाव्रत कहलाते हैं।

व्यासभाष्यम्- तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्ना-मत्स्यवधकस्य मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा। सैव देशावच्छिन्ना-न तीर्थे हनिष्यामीति। सैव कालावच्छिन्ना-न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यामीति। सैव त्रिभिरुप-रतस्य समयावच्छिन्ना देवब्राह्मणार्थे नान्यथा हनिष्यामीति। यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति। एभिर्जातिदेशकालसमयैरनवच्छिन्ना। अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः। सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविदितव्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते।।३१।।

भाष्यानुवादः - उनमें से जाति से सीमित अहिंसा का स्वरूप-मछली को मारने वाले की मछलियों में ही हिंसा होती है, अन्यत्र नहीं। वही देश से सीमित - जैसे कि तीर्थ में नहीं मारूंगा। वही काल से सीमित-जैसे कि चतुर्दशी के दिन, पुण्य दिन नहीं मारूंगा। वही इन तीनों से पृथक् अर्थात् जाति, देश, काल से सीमित न होकर भी समय (किसी नियम) से सीमित जैसे कि देवों एवं ब्राह्मणों के लिये मारूंगा, अन्य प्रकार से नहीं। जैसे कि क्षत्रियों की युद्ध में ही हिंसा होती है, अन्यत्र नहीं। इन जाति, देश, काल, समयों की सीमाओं से रहित अहिंसादि सब प्रकार से आचरण करने योग्य हैं। सभी भूमियों में सब विषयों में सब प्रकार से अव्यभिचरित सार्वभौम महाव्रत कहलाते हैं।।३१।।

इन पांच यमों को महाव्रत भी कहा जाता है। ये सभी महाव्रत जाति, देश एवं काल एवं समय आदि अन्तरायों (अर्थात् बाधाओं) से परे प्रत्येक परिस्थिति में अनुष्ठान करने योग्य हैं। कैसी भी स्थिति या परिस्थिति हो साधक को इन पांच यमों को नहीं छोड़ना चाहिए। अन्य सभी अनुष्ठान तो व्रत हैं लेकिन ये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह तो महाव्रत हैं अर्थात् कभी भी छोड़ने योग्य नहीं है।

१.जाति से पार- योग दर्शन में जब जब जाति शब्द का प्रयोग होगा तो उसे किसी जीव या प्राणी से जोड़कर समझना है। मनुष्य, पशु, पक्षी या अन्य किसी भी कीट पतंगों से परे अहिंसा का पालन करना चाहिए। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि मैं तो मनुष्य मात्र के लिए तो अहिंसक हूँ लेकिन पशुओं की हिंसा करता हूँ। मन, वचन और कर्म से प्रत्येक प्राणी समुदाय की हिंसा न करना ही अहिंसा है। अहिंसा हमारा स्वभाव होना चाहिए न कि चयन। जाति विशेष पर अहिंसा का भाव रखना और किसी अन्य जाति पर हिंसा का भाव रखना, यह दोनों उचित नहीं है और अहिंसा के अंतर्गत नहीं आता है। सभी प्राणियों पर जाति से परे भाव रखकर समान रूप से अहिंसा रखनी चाहिए।

२.देश से पार- योग दर्शन में जब जब देश शब्द का प्रयोग होता तो उसे किसी स्थान विशेष के अर्थ में स्वीकार करें। जैसे अहिंसा जाति से परे होती है, उसी प्रकार सब देशों अर्थात् स्थान पर अहिंसा का भाव रखना चाहिए। किसी स्थान को पवित्र मानकर अन्य स्थान पर हिंसा करना यह भी उचित नहीं है, बंधन में डालने वाला है। जैसे कोई तीर्थ स्थानों पर जाकर हिंसा न करे लेकिन उनसे भिन्न स्थानों पर हिंसा को उचित ठहराए तो इस प्रकार का व्यवहार अहिंसा में नहीं आयेगा। हर हाल में प्रत्येक स्थान पर अहिंसा का अनुष्ठान करना ही अहिंसा कहलाता है। इसी प्रकार से यम के अंगो के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

३. काल से परे- इस सूत्र में काल शब्द से कोई समय या तिथि विशेष या उत्सव विशेष लेना है। कोई कहे कि मैं तो किसी तिथि, पर्व या उत्सव विशेष के दिन ही अपनी इष्टकामना की पूर्ति हेतु हिंसा करूँगा अन्य दिन पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन करूँगा तो इसे भी हिंसा ही कहा जायेगा क्योंकि अहिंसा तो वह होती है जो प्रत्येक काल में अनुष्ठान के योग्य होती है। अहिंसा के पालन में काल किसी भी प्रकार से बाधा नहीं बनता है, अतः काल को आधार बनाकर अपने मन से हिंसा और अहिंसा का निर्धारण नहीं करना चाहिए।

४.समय से परे- यहाँ सूत्र में समय का अर्थ नियम विशेष है। कोई देवों या ब्राह्मणों को आधार बनाकर यह नियम बांध ले कि वह केवल इस समय पर ही हिंसा करेगा अन्य समय नहीं तो यह भी हिंसा का ही रूप हो जायेगा। महर्षि ने इससे भी पार अहिंसा को रखा है। कोई यह भी कहे कि किसी अन्याय के प्रतिरोध में या ब्राह्मणों की हत्या के बदले में ही हिंसा करूँगा तो इसकी भी हिंसा में ही गणना होगी। इतना संभव है कि उसे पाप न लगे लेकिन पूर्ण रूप से अहिंसा के पालन में यह बाधा ही है। एक अहिंसा को जाति, देश, काल और समय की सीमा से पार समझाया गया है, ठीक इसी प्रकार शेष यमों सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को भी इन्हीं सब उदाहरणों एवं प्रसंगों से समझ सकते हैं।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥2.३२॥

पदच्छेदः शौच , संतोष , तपः , स्वाध्याय , ईश्वर , प्रणिधानानि , नियमाः

शब्दार्थः शौच- बाह्य एवं अंतःस्वच्छता, **संतोष**- संतुष्टि, **तपः**- तप ,**स्वाध्याय**- स्वाध्याय (और), **ईश्वर-प्रणिधानानि**- ईश्वर-शरणागति - (ये पाँच), **नियमाः**- नियम हैं।

व्यासभाष्यम्- तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम्। आभ्यन्तरं चित्तमला-नामाक्षालनम्। संतोषः संनिहितसाधनाधिकस्यानुपादित्सा। तपो द्वन्द्वसहनम्। द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे, शीतोष्णे, स्थानासने, काष्ठमौनाकारमौने च। व्रतानि चौषां यथायोगं कृच्छ्चान्द्रायण ासान्तपनादीनि। स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा। ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।

संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी

यत्रेदमुक्तं ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च (१।२९) इति ॥ ३२॥

भाष्यानुवादः उनमें से शौच - मिट्टी, जल आदि से होने वाला और पवित्र भोजन आदि बाह्य (शौच) हैं। चित्त के मलों को दूर करना आभ्यन्तर (शौच) है। सन्तोष - अपने पास में विद्यमान साधन से अधिक (साधन) को ग्रहण करने की अनिच्छा। तप- द्वन्द्वों को सहना। और द्वन्द्व भूख प्यास, शीतोष्ण, खड़ा होना बैठना, काष्ठ मौन (लकड़ी के समान मौन) आकार मौन (मुख से कुछ न बोलना) और अनुकूलता के अनुसार व्रत कृच्छ्र, चान्द्रायण, सान्तपनादि तप कहलाते हैं। स्वाध्याय - मोक्ष (के उपदेश करने वाले) शास्त्रों का अध्ययन और प्रणव (ओम्) का जप। ईश्वरप्रणिधान - सब कर्मों को उस परमगुरु (परमेश्वर) में अर्पित करना। शय्या वा आसन पर स्थित अथवा मार्ग पर चलता हुआ आत्मनिष्ठ, वितर्क जाल से रहित, संसार के बीजरूपों अविद्या के क्षय को देखता हुआ नित्यमुक्त, अमृत भोगने वाला होता है। जिसके प्रसङ्ग में यह कहा गया है कि उस (ईश्वरप्रणिधान) से जीवात्मा के स्वरूप का ज्ञान, ईश्वरसाक्षात्कार और अन्तरायों का अभाव होता है ।।३२।।

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान ये पांच नियम हैं।

महर्षि , पांच यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह) की विस्तृत चर्चा करने के बाद योग के दुसरे अंग नियम की व्याख्या करते हैं। नियम का अर्थ होता है जिन्हें हम नियमपूर्वक अपने दैनिक जीवन का हिस्सा बना लें, यदि इनके प्रयोग में अनियमितता आती है तो धीरे धीरे योग मार्ग ओझल होने लग जाता है। नियमों के पालन से भीतर और बाहर से एक स्पष्टता रहती है जिसके कारण से योग मार्ग पर एक निश्चित गति बनी रहती है।और यह सर्वविदित है कि जहाँ गति है वहीँ प्रगति ळें बाह्य शुचिता एवं आन्तरिक शुचिता के आधार पर शौच के दो विभाग कहे गये हैं। यह शरीर दो प्रकार से मलिनता को प्राप्त होता है।

१.शारीरिक रूप से

२.मानसिक रूप से

शारीरिक शुचिता यदि नहीं होगी तो मन भी अशांत एवं मलिन महसूस करेगा और यदि मानसिक

शुचिता (वैचारिक शुचिता) नहीं होगी तो उसका असर शरीर पर भी पड़ेगा। आधुनिक विज्ञान में कहा जाता है कि अधिकतर बीमारियाँ सायको-सोमेटिक हैं अर्थात् शरीर से मन की ओर या मन से शरीर की ओर आने वाली हैं। अतः शरीर और मन दोनों की शुचिता यह प्रथम नियम है।

शारीरिक शुचिता- नित्य स्नान कर शरीर की शुद्धि करने को बाह्य शौच कहते हैं। मिट्टी एवं जल से प्राकृतिक रूप से शरीर को स्वच्छ रखा जाता है। आज के आधुनिक दौर में तो मिट्टी की जगह अनेकों प्रकार के साबुन आदि ने जगह ले ली है, फिर भी जितना संभव हो प्राकृतिक रूप से ही हम शरीर की शुद्धि रखने का प्रयास करें। जब शरीर शुद्ध रहता है तो मन स्वयं जी प्रफुल्लित रहता है अतः बाह्य शुचिता आंतरिक शुचिता के लिए बहुत आवश्यक है।

आन्तरिक शुचिता- अपने भीतर के अंतःकरण की मलिनता को पवित्र विचारों एवं अहिंसा आदि यमों के अनुष्ठान से दूर करना ही आंतरिक शुचिता कहलाती है। जिस प्रकार शरीर को यदि स्वच्छ नहीं करेंगे तो कुछ ही दिनों में शरीर दुर्गन्ध छोड़ने लग जायेगा इसलिए नियमित रूप से स्नान करने से ही शरीर की शुद्धि बनी रहती है। उसी प्रकार अपने अंतःकरण की भी नित्य प्रति शुद्धि आवश्यक है। सामान्य रूप से शरीर तो सभी स्वच्छ रखते हैं लेकिन आंतरिक शुचिता की ओर कम ही लोगों का ध्यान रहता है। इस प्रकार भीतर की मलिनता तो सर्वाधिक होती है और सबसे अधिक आंतरिक मलिनता योग मार्ग में बाधा बनकर खड़ी रहती है। चित्त में जितने भी क्लेश, कुसंस्कार हैं वे सब भीतर की गंदगी हैं जिससे योगी को छुटकारा पाना होता है।

संतोष- इस संसार में आनंद के बाद सबसे बड़ा कोई सुख है तो वह है संतोष का सुख। प्रभु प्रदत्त सामर्थ्य का पूर्ण प्रयोग करने के बाद प्रसाद रूप में जो कुछ प्राप्त हो, उसी में प्रसन्न रहना ही 'संतोष' है। एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है कि सम्पूर्ण सामर्थ्य का प्रयोग करना आवश्यक है, यदि कोई मेहनत ही न करे और फिर जो कुछ फल स्वरुप में प्राप्त हो तो उसे संतोष की निम्न श्रेणी में ही गिना जायेगा। कारण कि ईश्वर ने जितना करने का सामर्थ्य तुम्हें दिया था उसका तुमने अनादर किया। ईश्वर के दिए सामर्थ्य का अनादर तुम्हें भीतर भीतर ही चुभता रहेगा और अंततः तुम्हें संतोषी न बनाकर दुखी कर देगा। जीवन भर एक आन्तरिक द्वंद्व तुम्हें इसलिए परेशान करेगा कि तुम जो कुछ कर सकते थे, वह तुमने किया नहीं। सामर्थ्य एवं फल प्राप्ति के बीच एक लम्बी खाई निर्मित होती रहेगी और यही खाई तुम्हें बार-बार एहसास दिलाएगी कि 'तुम कर सकते थे लेकिन तुमने किया नहीं'। यही दुःख बन जायेगा। इसलिए पूर्ण पुरुषार्थ करने के बाद फल में आसक्ति रखे बिना जो कुछ परिणाम रूप में मिले उसे प्रसाद भाव से स्वीकार करना ही 'संतोष' है।

तप- क्रिया योग की व्याख्या करते समय भी तप को समझाया गया था। जीवन में आने वाले सभी द्वंद्वों को सहन करना ही 'तप' है। सुख-दुःख, मान-अपमान, भूख-प्यास, हार-जीत, आदि जितने भी विपरीत परिस्थितियां हैं ये सभी द्वंद्व में डालने वाली होती हैं। इनसे विचलित हुए बिना प्रयत्नपूर्वक इनसे हटना भी तप है। यदि किसी भी प्रकार से इनके हटने का उपाय न हो तो बिना प्रभावित हुए इन्हें सहना भी तप है। द्वंद्व की विशेषता है कि यह एक आन्तरिक खिंचाव उत्पन्न करता है जिससे व्यक्ति की

सहजता और सरलता बाधित होती है और वह विचलित हो जाता है। विचलन की इस स्थिति में वह योग मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता है इसलिए सब प्रकार के द्वंदों से मुक्त रहने के लिए तप का अभ्यास आवश्यक हो जाता है। अष्टांग योग के सभी आठ अंग, पुरुष के निर्विकार स्वरुप की प्राप्ति के लिए होते हैं अतः जितने प्रकार कि बाधाए संभव हो सकती हैं, उन्हें दूर करने का प्रयास अष्टांग योग से निष्पन्न होता है। तप के विषय में अनेक लोग यह मानते हैं कि महीनो भूखे प्यासे रहकर शरीर और मन को साधना तप है, एक पाँव पर खडे रहना ही तप है, या फिर पञ्च भौतिक तत्त्वों को आधार बनाकर जैसे आग, पानी, हवा आदि के बीच रहकर कष्ट उठाने को तप कहते हैं। किन्हीं अंशों में इसे तप तो कहा जा सकता है लेकिन इनसे यदि शरीर कि विशेष हानि होती हो तो फिर ये योग में बाधक तत्त्व हैं, क्योंकि शरीर योग मार्ग में साधन है और यदि साधन ही स्वस्थ या कार्य करने में अक्षम है तो फिर कैसे आगे प्रगति होगी। ज्ञानपूर्वक या विवेक पूर्वक अपने दैनिक जीवन में आने वाले द्वंद्व रूपी कष्टों को सहना ही वास्तविक तप है, अलग से तप करने की आवश्यकता ही नहीं है। शारीरिक तप तो हो सकता है अभ्यास से सिद्ध भी हो जाये पर सुख-दुःख, मान-अपन, जय-पराजय को अभ्यास के साथ-साथ आचरण से भी सहा जाता है।

स्वाध्यायः अपने स्वयं के स्वरुप के विषय में सजग रहना एवं ऐसे ग्रन्थ जो समाधि की भावना को बल देते हों एवं गुरु मुख से सुने गए मोक्षदायक वचनों का बार बार चिंतन और मनन स्वाध्याय कहलाता है। वेद, उपनिषद, दर्शन, गीता, नीति वाक्यों का अध्ययन करना 'स्वाध्याय' कहलाता है। प्रणव एवं गायत्री मन्त्रों का अर्थ पूर्वक जप करना भी स्वाध्याय के अंतर्गत आता है। यदि कोई साधक नियमित रूप से स्वाध्याय नहीं करता है तो योग मार्ग पर बढ़ने की उसकी इच्छा न्यून होती चली जाती है जिसके कारण वह शिथिल पड़ जाता है अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि साधक स्वाध्याय का साथ कभी न छोड़े।

ईश्वर प्रणिधानः लौकिक चाहना हो या पारलौकिक चाहना, उसकी प्राप्ति के लिए अपने सभी कर्मों को पूरी तरह ईश्वर को समर्पित कर देने का भाव ही ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। ईश्वर प्रणिधान में साधक स्वयं को कर्म करने में निमित्त मानता है और फिर उसके भीतर कर्म करने के सामर्थ्य को भी ईश्वर का दिया हुआ मानकर कर्म करता है। फिर फल की इच्छा न करता हुआ जो कुछ फल स्वरुप मिल जाये उसे अनुग्रह के भाव से स्वीकार करता है। ईश्वर प्रणिधान एक ऊँची स्थिति है जो साधक को सीधे समाधि के लाभ तक पहुंचा सकती है।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ 2.33॥

पदच्छेदः वितर्क , बाधने , प्रतिपक्ष , भावनम् ।

शब्दार्थः वितर्क- वितर्क (यम और नियमों के हिंसादि के भाव), **बाधने**- (यम-नियम के पालन में) बाधा पहुँचावें तब, **प्रतिपक्ष** - उनके प्रतिपक्षी (विचारों का बारंबार), **भावनम्**- चिन्तन (करना

चाहिए)।

व्यासभाष्यम्- यदास्य ब्राह्मणस्य हिंसादयो वितर्को जायेरन्हनिष्याम्यहमपकारिणमनृतमपि वक्ष्यामि, दव्यमप्यस्य स्वीकरिष्यामि, दारेषु चास्य व्यवायी भविष्यामि, परिग्रहेषु चास्य स्वामी भविष्यामीति। एवमुन्मार्गप्रवणवितर्कज्वरेणातिदीप्तेन बाध्यमानस्तत्प्रतिपक्षान्भावयेत् - ''घोरेषु संसाराङ्गारेषु पच्यमानेन मया शरणमुपागतः सर्वभूताभयप्रदानेन योगधर्मः। स खल्वहं त्यक्त्वा वितर्कान्पुनस्तानाददानस्तुल्यः श्ववृत्तेने'' ति भावयेत्। यथा श्वा वान्तावलेही तथा त्यक्तस्य पुनराददान इत्येवमादि सूत्रान्तरेष्वपि योज्यम्।।३३।।

भाष्यानुवादः - जिस समय इस ब्राह्मण (योगी) को हिंसा आदि वितर्क उत्पन्न होवें कि मैं अपकारी की हत्या करूंगा, असत्य भी बोलूँगा, इसके द्रव्य को लूँगा (अपहरण करूँगा), इसकी स्त्री के साथ अनाचार करूंगा, इसके परिग्रह (सञ्चित धन) पर अधिकार करूँगा। इस प्रकार अति तीव्र कुमार्गोन्मुख वितर्क ज्वर के द्वारा पीड़ित होने पर उसके प्रतिपक्षों की (अर्थात् प्रतिकूल विचारों की) भावना करे। जैसे कि घोर संसाररूपी अङ्गारों मे झुलसते हुए मैंने सब प्राणियों को अभयदान कर योगधर्म की शरण ली है। वही मैं वितर्कों को त्याग कर पुनः उनको ग्रहण करता हुआ कुत्ते के समान व्यवहार करने वाला हो गया हूँ। जिस प्रकार कुत्ता वमन किए को ग्रहण करने वाला होता है, उसी प्रकार (मैं) छोड़े हुए को पुनः ग्रहण करने वाला हूँ। इसी प्रकार अन्य सूत्रों में कहे हुए साधनों में वितर्कों के उठने पर प्रतिपक्ष की भावना जाननी चाहिये।।३३।।

यम नियमों का पालन करते हुए पूर्व संचित बुरे संस्कारों के कारण बीच बीच में अनेक बढ़ाएं उत्पन्न होती रहेंगी। जब अहिंसा, सत्य आदि यमों का पालन कर रहे होंगे तो उनसे ठीक विपरीत भाव जागेंगे। तब उस स्थिति में कैसे हम विकारों या बुरे संस्कारों से बच सकते हैं, महर्षि उसके लिए साधना विशेष बता रहे हैं।

यम, नियमों के पालन करते समय इनसे विपरीत भाव या विचार आकर परेशान करते हैं तब ठीक उनसे विपरीत शुभ विचारों का चिंतन करना चाहिए। यम एवं नियमों का अनुष्ठान तो जागृत अवस्था में होता है तो यह जागृत अवस्था की साधना है। जैसे किसी के मन में हिंसा या झूठ बोलने की वृत्ति आ जाये तब उसी समय अहिंसा एवं सत्य रूपी यम एवं उनके फल का चिंतन कर चित्त को शांत करने का प्रयास करना चाहिए। इसी प्रकार से अन्य भावों के लिए भी समझ लेना चाहिए।

यदि साधक क्रिया योग पूर्वक अष्टांग योग में प्रवेश करेगा तो इस प्रकार के बाधाओं को बहुत अधिक सीमा तक कम कर सकता है। फिर भी कुछ अंशों में यम-नियमों के पालन में बाधाएं आएँगी तब दृढ मन से हिंसा के विपरीत दया का भाव, असत्य के विपरीत सत्य बोलने के भाव, चोरी करने के विपरीत अचौर्य का भाव, कामुकता या वासना के बदले इन्द्रियों का संयम या ब्रह्मचर्य, संग्रह की भावना के बदले पूर्ण पुरुषार्थ कर जो कुछ अर्जन किया है, उसमें से अपने जीवन निर्वहन के लिए निकाल कर अन्यों को प्रसाद रूप में वितरण कर देना ही प्रतिपक्ष भावना रूपी साधना है।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ 2.34॥

पदच्छेदः वितर्काः , हिंसा , आदयः , कृत , कारित , अनुमोदिताः , लोभ , क्रोध , मोह , पूर्वकाः , मृदु , मध्य , अधिमात्राः , दुःख , अज्ञान , अनन्त , फलाः , इति , प्रतिपक्ष , भावनम्।

शब्दार्थः हिंसा- (यम और नियमों के विरोधी) हिंसा, **आदयः** - आदि (भाव), **वितर्काः** - वितर्क (कहलाते हैं; जो तीन प्रकार के होते हैं), **कृत** - स्वयं किए हुए, **कारित** - दूसरों से करवाये हुए (और),**अनुमोदिताः** - अनुमोदित किए हुए, **पूर्वकाः** - (इनके) कारण हैं -
लोभ - लोभ, क्रोध - क्रोध (और), **मोह** - मोह, **मृदु** - (इनमें भी कोई) मृदु, **मध्य** - मध्यम (और), **अधिमात्राः** - बड़ा (होता है), **दुःख** - ये क्लेश (और), **अज्ञान** - अज्ञान (का), **अनन्त** - अनन्त, **फलाः** - फल देनेवाले हैं। **इति** - ऐसा (विचार करना ही), **प्रतिपक्ष** - प्रतिपक्ष (की), **भावनम्** - भावना (है)।

व्यासभाष्यम्- तत्र हिंसा तावत्-कृतकारितानुमोदितेति त्रिधा। एकैका पुनस्त्रिधा लोभेन मांसचर्मार्थेन, क्रोधेनापकृतमनेनेति, मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति। लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधा मृदुमध्याधिमात्रा इति। एवं सप्तविंशतिर्भेदा भवन्ति हिंसायाः। मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिविधाः- मृदुमृदुर्मध्यमृदुस्तीव्रमृदुरिति। तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यस्तीव्रमध्य इति। तथा मृदुतीव्रो मध्यतीव्रोऽधि-मात्रतीव्र इति। एवमेकाशीतिभेदा हिंसा भवति। सा पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयभेदादसंख्येया प्राण-भृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वादिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यम्।

ते खल्वमी वितर्का दुःखाज्ञानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्, दुःखमज्ञानं चानन्तं फलं येषामिति प्रतिपक्षभावनम्। तथा च हिंसकस्तावत्प्रथमं वध्यस्य वीर्यमाक्षिपति, ततश्च शस्त्रादिनिपातेन दुःखयति, ततो जीवितादपि मोचयति। ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्यं भवति, दुःखोत्पादान्नरकतिर्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति, जीवितव्यपरोपणात्प्रतिक्षणं च जीवितात्यये वर्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात्कथञ्चिदेवोच्छ्वसिति। यदि च कथञ्चित्पुण्यावापगता हिंसा भवेत्तत्र सुखप्राप्ती भवेदल्पायुरिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथासंभवम्। एवं वितर्काणां चामुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन् न वितर्केषु मनः प्रणिदधीत॥३४॥

भाष्यानुवादः- उन में से हिंसा की गई, करवायी गई और अनुमोदित की गई इस प्रकार त्रिविध है। इन में से एक एक फिर तीन प्रकार की है। जैसे कि मांस चर्म के लिए की हुई (हिंसा अर्थात्) लोभ से। इसने अपकार किया (इस भावना से की हुई हिंसा) अर्थात् क्रोध से। (इस हिंसा से) मुझे धर्म (पुण्य) मिलेगा (ऐसी भावना से की हुयी हिंसा) अर्थात् मोह से। लोभ, क्रोध, मोह भी मृदु (मन्द),

मध्य (पहले से अधिक), अधिमात्र (सबसे अधिक) ऐसे तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार हिंसा के सत्ताईस भेद होते हैं। ये मृदु, मध्य, अधिमात्र फिर तीन-तीन प्रकार के होते हैं जैसे कि मृदुमृदु, मध्यमृदु, तीव्रमृदु। इसी प्रकार मृदुमध्य, मध्यमध्य, तीव्र मध्य (और) मृदुतीव्र, मध्यतीव्र, अधिमात्रतीव्र। इस प्रकार हिंसा इक्यासी भेद वाली होती है। फिर वह (हिंसा) नियम, विकल्प, समुच्चय भेद से प्राणधारियों के प्रकार अगणित होने के कारण असङ्ख्य भेद वाली होती है। इस प्रकार असत्यादि वितर्कों में भी (भेदों को) समझ लेना चाहिए।

ये वितर्क दु:ख, अज्ञानरूपी अनन्त फल वाले होते हैं, इस प्रकार जानकर (वितर्क विरोधी) भावना करनी चाहिए। दु:ख और अज्ञानरूपी अनन्त फल हैं जिन-जिन हिंसादि वितर्कों के (ऐसा समझकर) वितर्कों के विरुद्ध (अहिंसा आदि) प्रतिपक्षों की भावना करनी चाहिए। और (अब वितर्को के विरुद्ध प्रतिपक्ष भावना के स्वरूप को बतलाते हैं) जैसे कि-और उसी प्रकार हिंसक प्रथम वध्य (प्राणी) के बल को अवरुद्ध करता है। पश्चात् शस्त्रादि के प्रहार के द्वारा दु:खी करता है। आगे जीवन से भी वियुक्त कर देता है। उस (पशु) के बल के अवरुद्ध करने से (हिंसक) के चेतन-अचेतन साधन निर्बल हो जाते हैं। दु:ख उत्पन्न करने से हिंसक नरक दु:खदायी = (पशु, पक्षी आदि), तिर्यक् = (कीड़े, मकोड़े आदि) के तथा मृतक शरीरों में (कीट के रूप में जन्म लेकर) दु:ख-अनुभव करता है। जीवन से वियुक्त करने से क्षण-क्षण जीवन की मरणासन्न अवस्था में वर्तमान, मरण को चाहता हुआ भी दु:खफल निश्चितरूप से भोग्य होने के कारण केवल किसी प्रकार श्वास लेता है। और यदि वह हिंसा (हिंसक के) पुण्य के साथ मिलकर फल देवे, तो उस हिंसक को सुख प्राप्ति होने पर वह (हिंसक) अल्पायु होता है। इसी प्रकार असत्य आदि में भी यथा सम्भव योजना कर लेनी चाहिए। इस प्रकार (हिंसादि) वितर्कों का अनुगमन करने वाले अनिष्ट फल को जानता हुआ वितर्कों में मन को न लगावे।।३४।।

प्रस्तुत सूत्र में हिंसा आदि वितर्कों (बाधाओं) को विस्तार से समझाया गया है और साथ में ही उनके कारणों के ऊपर भी महर्षि ने प्रकाश डाला है। यम नियमों के जितने भी विपरीत या उल्टे भावनाएं या विचार हैं वे सभी वितर्क कहलाते हैं। ये विभाग की दृष्टि से तीन प्रकार के होते हैं-

कृत: ऐसे वितर्क या यम नियमों से विपरीत भाव जो स्वयं करते हैं, वे कृत कहलाते हैं- जैसे- स्वयं किसी प्राणी के साथ हिंसा करना या कष्ट पहुँचाना, स्वयं असत्य बोलना, स्वयं अपने मन से चोरी के विषय में सोचन और फिर चोरी करना, स्वयं कामुक विचारों को आश्रय देकर अब्रह्मचर्य में बरतना, आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संचय करना , शरीर एवं मन की अशुद्धि रखना , असन्तोष में जीना, सुख-दु:ख, मान-अपमान, जय-पराजय आदि द्वंदों से विचलित होना , मुक्तिदायक ग्रंथों एवं गुरु वचनों का चिंतन, मनन न करना एवं नास्तिकता का भाव अर्थात् ईश्वर में विश्वास न रखना। स्वयं किये जाने से ये सभी कृत वितर्क कि श्रेणी में आते हैं।

कारित: ऐसे कार्य जो स्वयं न करके दूसरों के माध्यम से करवाए जाते हैं कारित वितर्क कहलाते हैं।

कोई यह समझे कि हमने स्वयं से तो कम नहीं किये तो इसका फल हमें नहीं मिलेगा तो यह ठीक नहीं है क्योंकि केवल कृत कर्म ही नहीं अपितु कारित और अनुमोदित कर्म भी करवाने और समर्थन करने से फल देने वाले होते हैं। जैसे- दूसरों को हिंसा के लिए तैयार करना, झूठ बोलने के लिए उकसाना से लेकर सभी यमों और नियमों के विपरीत जो कार्य करवाता है वे सभी कारित कहलाते हैं और पाप रूपी फल देने वाले होते हैं। कारित वितर्क से भी स्वयं का चित्त उन बाधाओं से बंध जाता है क्योंकि उनके विषय में प्रवृत्ति बनी रहती है जिसके कारण से वे अपना प्रभाव नहीं छोड़ते और साधक को योग मार्ग से विचलित करते ही हैं।

अनुमोदितः जब स्वयं कोई कर्म नहीं करते, और दूसरों को प्रेरित करके भी कर्म नहीं करवाते हैं लेकिन यदि कोई अन्य यम-नियमों के विपरीत भावों को क्रिया रूप में कर रहा हो तो उसका समर्थन करना ही अनुमोदित कहलाता है। गलत बातों का समर्थन करना भी गलत होता है। आध्यात्मिक जगत का सत्य तो भाव ही हैं। यदि भाव रूप से ही आप चाहे अच्छी चीजों का बुरी चीजों से जुड़े रहते हैं तो आपको शुभ-अशुभ फल भी अवश्य मिलेगा। जैसे- कोई दूसरा हिंसा आदि करता है तो उसे सही ठहराना , , कोई असत्य बोलकर बोलता है और तुम उसके समर्थन में आकर उसे सही ठहराते हैं, इस प्रकार सभी यम-नियमों के विपरीत कोई अन्य कुछ भी गलत करता है या सोचता भी है तो उसका किसी भी रूप में समर्थन तुम्हें ही बाँध देता है। यह सबकुछ अनुमोदित वितर्क हैं और त्यागने योग्य हैं। कृत-कारित एवं अनुमोदित इन तीन वितर्कों के मूल में तीन कारण हैं।

१. लोभ,

२. क्रोध व

३. मोह

लोभ द्वाराः कुछ वितर्कों को करने के पीछे लोभ कारण होता है। जब उसे लोभ सम्मोहित कर देता है तब वह वशीभूत हुआ यम-नियमों के विपरीत भावों को आदर देकर सपरिवार उन्हें निमंत्रित कर लेता है और फिर बंधन में फंस जाता है। चूँकि वितर्क भी मुख्य रूप से तीन प्रकार के होते हैं तो लोभ के कारण होए वाले वितर्क भी तीन भेदों में बंट जाते हैं।

लोभ द्वारा कृतः जब स्वयं के द्वारा कोई वितर्क या बाधा में लोभ के कारण हम फंस जाते हैं और कर्म कर देते हैं तो इसे लोभ द्वारा कृत वितर्क ऐसा कहते हैं।

लोभ द्वारा कारितः लोभ या लालच के अधीन होकर जब व्यक्ति दूसरों को कहकर कर्म करवाए तो इसे लोभ द्वारा कारित वितर्क कहते हैं।

लोभ के द्वारा अनुमोदितः लोभ के कारण जब व्यक्ति दूसरों द्वारा किये गये वितर्कों के समर्थन में आ जाता है और उसके कर्मों को सही ठहराने लग जाता है तब इसे लोभ द्वारा अनुमोदित वितर्क कहते हैं।

क्रोध द्वारा कृतः जब स्वयं के द्वारा कोई वितर्क या बाधा में के कारण हम फंस जाते हैं और कर्म कर देते हैं तो इसे क्रोध द्वारा कृत वितर्क ऐसा कहते हैं।

क्रोध द्वारा कारितः या गुस्से के अधीन होकर जब व्यक्ति दूसरों को कहकर कर्म करवाए तो इसे द्व

ारा कारित वितर्क कहते हैं।

क्रोध के द्वारा अनुमोदितः के कारण जब व्यक्ति दूसरों द्वारा किये गये वितर्कों के समर्थन में आ जाता है और उसके कर्मों को सही ठहराने लग जाता है तब इसे द्वारा अनुमोदित वितर्क कहते हैं।

मोह द्वारा कृतः जब स्वयं के द्वारा कोई वितर्क या बाधा में मोह के कारण हम फंस जाते हैं और कर्म कर देते हैं तो इसे मोह द्वारा कृत वितर्क ऐसा कहते हैं।

मोह द्वारा कारितः के अधीन होकर जब व्यक्ति दूसरों को कहकर कर्म करवाए तो इसे मोह द्वारा कारित वितर्क कहते हैं।

मोह के द्वारा अनुमोदितः मोह के कारण जब व्यक्ति दूसरों द्वारा किये गये वितर्कों के समर्थन में आ जाता है और उसके कर्मों को सही ठहराने लग जाता है तब इसे द्वारा अनुमोदित वितर्क कहते हैं।

प्रत्येक वितर्क के मुख्य रूप कृत, कारित एवं अनुमोदित तीन भेद कहे गए हैं। फिर प्रत्येक के तीन भेद लोभ, क्रोध और मोह कहे गए हैं।

कृत-लोभ कृत, क्रोध कृत एवं मोह कृत

कारित- लोभ कारित, क्रोध कारित एवं मोह कारित

अनुमोदित- लोभ अनुमोदित, क्रोध अनुमोदित एवं मोह अनुमोदित

इस प्रकार तीन वितर्कों के कुल ९ प्रकार हो गए।

ये ९ भेद भी अब मात्रा के अनुसार पुनः ३ प्रकार होते हैं- मृदु, मध्य एवं अधिमात्र अर्थात् तीव्र मात्र वाले।

इस प्रकार 9x3 = 27 प्रकार के हुए।

अब चूँकि मृदु, मध्य एवं अधिमात्र अर्थात् तीव्र के भी पुनः तीन भेद कहे गये हैं।

मृदु-मृदु, मृदु-मध्य- मृदु-तीव्र

मृदु-मध्य , मध्य-मध्य एवं तीव्र-मध्य

मृदु-तीव्र, मध्य-तीव्र एवं तीव्र-तीव्र

अतः २७x३=८१ इस प्रकार सूक्ष्म विवेचन से कुल इक्क्यासी भेद वाले ये वितर्क हो जाते हैं। इस प्रकार हिंसा वितर्क के ८१ भेद होते हैं। आगे यम-नियमों के भी ८१-८१ भेद समझने चाहिए। फिर यह हिंसा नियम, विकल्प एवं समुच्चय भेद से प्राणियों के प्रकार अनगिनत होने से असंख्य भेद वाली होती है। इसी प्रकार अन्य यमो और नियमों के बारे में भी समझ लेना चाहिए।

आगे हिंसा आदि वितर्कों के तीन अन्य प्रकार भी होते हैं -

नियम :- हिंसा के विषय में कोई एक नियम बना लेना कि मैं तो केवल एक ही प्राणी या पशु के साथ हिंसा करूँगा अन्यों के साथ अहिंसा के नियम का पालन करूँगा तो इसे नियम कहते हैं। बांकी असत्य आदि यम, नियमों के बारे में भी ऐसा ही समझ लें।

विकल्प :- जब विकल्प रूप में यह कहे कि दो पशुओं में से किसी एक ही हिंसा करूँगा या फिर

इन दो अवसरों पर ही असत्य भाषण या चोरी करूँगा आदि आदि।

समुच्चयः- जो भी प्राणी मिले उसके साथ हिंसा, असत्य, चोरी आदि वितर्कों को करना

चूँकि प्राणधारियों की संख्या अनगिनत होने से ये वितर्क भी असंख्य होते हैं अतः साधक को इनसे नितांत बचना चाहिए।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥2.३५॥

पदच्छेदः अहिंसा , प्रतिष्ठायाम् , तत् , सन्निधौ , वैर , त्यागः

शब्दार्थः अहिंसा- अहिंसा (की), **प्रतिष्ठायाम्**- दृढ़ स्थिति हो जाने पर, **तत्**- उस (योगी के), **सन्निधौ**- निकट, **वैर**- (सब प्राणी) वैरभाव, **त्यागः** - त्याग कर देते हैं।

व्यासभाष्यम्- सर्वप्राणिनां भवति ३५॥

भाष्यानुवादः सब प्राणियों का होता है।

यम-नियमों की विस्तृत चर्चा करने के बाद अब उनके अनुष्ठान से क्या फल प्राप्त होते हैं, उसकी चर्चा प्रारंभ कर रहे हैं। सभी १० यम नियमों के पालन करने से योगी को क्या क्या शारीरिक, मानसिक लाभ मिलता है उसकी चर्चा यहाँ से शुरू होती है।

यमों में अहिंसा को सबसे पहले गिना गया है। जिस प्रकार सभी क्लेशों के मूल में अविद्या है उसी प्रकार सभी यमों के मूल में अहिंसा है। जब साधक निरंतर अहिंसा का मन, वचन और कर्म से पालन करता है और वह उसके जीवन में प्रतिष्ठित हो जाती है तो सब प्राणियों के प्रति उसकी हिंसा खत्म हो जाती है और सभी अन्य प्राणियों की उसके प्रति वैरभाव, हिंसा भी खत्म हो जाती है द्य केवल ऐसा नहीं है कि साधक की ओर से ही हिंसा या वैरभाव का अभाव हो जायेगा अपितु अन्य सभी प्राणी भी योगी के प्रति वैरभाव त्याग देते हैं।

मन से किसी भी प्राणी के प्रति हिंसा का विचार नहीं करना मानसिक अहिंसा कहलाती है।

वाणी से किसी भी प्राणी के प्रति कठोर व्यवहार न करना वाचिक अहिंसा कहलाती है।

शरीर से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देना कायिक अहिंसा कहलाती है।

जब योगी स्वयं अहिंसा में प्रतिष्ठित हो जाता है तो कैसे अन्य प्राणी भी उसके प्रति वैरभाव से रहित हो जाते हैं ? यह प्रश्न उठता है-

समाधान- आप सबने सुना होगा. जैसा व्यवहार हम दूसरों के साथ करते हैं तो दुसरे भी हमारे साथ वैसा व्यवहार करने लग जाते हैं। अप अपने जीवन में इस नियम का प्रयोग एक माह तक करके देखें और आप पायेगे कि आश्चर्यजनक रूप से परिणाम मिलते हैं। जैसे जैसे आपके मन से किसी एक व्यक्ति के प्रति सब प्रकार की मलिनता दूर होती जाती है, उस व्यक्ति के जीवन में भी आपके प्रति मैत्री का भाव निर्मित होता जाता है। उसे विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता आपके साथ मित्रता निभाने के लिए। केवल आपकी साधना मात्र से ही दुसरे व्यक्ति में आपके प्रति आकर्षण उत्पन्न होने लग जाता

है। इस प्रकार जब सूक्ष्मता से कोई साधक मन, वचन और कर्म से सबके प्रति निर्मल होता जाता है तो उसका प्रभाव व्यापक रूप पड़ता है।
जैसे जैसे साधक अहिंसा के भाव से भरने लग जाता है वह उतना ही अन्य यमों और नियमों के पालन के लिए तत्पर रहने लग जाता है। इसलिए अहिंसा को सभी यमों के मूल में बताया गया है।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥2.३६॥

पदच्छेद: सत्य , प्रतिष्ठायाम् , क्रिया , फल , आश्रयत्वम् ।
शब्दार्थ **: सत्य**- सत्य (में), **प्रतिष्ठायाम्**- दृढ़ स्थिति हो जाने पर (उस योगी की)
क्रिया- क्रिया अर्थात् कर्म, **फल**-फल के, **आश्रयत्वम्**- आश्रय का भाव (आ जाता है)।

व्यासभाष्यम्- धार्मिको भूया इत्ति भवति धार्मिक:। स्वर्ग प्राप्नुहीति स्वर्ग प्राप्नोति। अमोधास्य वाग्भवति॥ ३६॥

भाष्यानुवाद: धार्मिक होओ ऐसा कहने पर धार्मिक हो जाता है। स्वर्ग (सुख) को प्राप्त करो ऐसा कहने पर स्वर्ग (सुख) को प्राप्त करता है। इस योगी की वाणी निष्पाप = यथार्थ = सफल हो जाती है ॥३६॥

प्रस्तुत सूत्र में महर्षि सत्य सिद्धि का फल बताते हैं। जब साधक-योगी पूर्ण रूप से सत्य में प्रतिष्ठित हो जाता है तब वह जो कुछ कहता है वह धरातल पर सत्य रूप में घटित हो जाता है। व्यास भाष्य में कहा है कि जब योगी कि वाणी सिद्ध हो जाती है अर्थात् योगी जब सत्य में पूर्ण रूप से बरतता है तो वह जिसे कहे "धार्मिक हो जाओ" तो वह धार्मिक हो जाता है, जिसे कहे कि तुम "स्वर्ग को प्राप्त करो " तो वह सचमुच स्वर्ग की प्राप्ति कर लेता है।
वाणी कैसे सिद्ध होती है या योगी कैसे सत्य में प्रतिष्ठित होता है ?- जैसे जैसे योगी के सभी क्लेश क्षीण होते जाते हैं इस प्रकार उसका चित्त निर्मलता को उत्तरोत्तर प्राप्त करता रहता है। ज्ञान के प्रकाश की लौ विवेक ख्याति तक जलती रहती है। पञ्च क्लेशों की जननी तो अविद्या है अत: जब अविद्या का नाश होता है और विद्या साथ साथ में घटित होती रहती है तब योगी को सबकुछ स्पष्ट दिखाई देने लग जाता है। एक ओर विद्या बढ़ती है तो दूसरी ओर राग और द्वेष भी क्षीण होते जाते हैं जिसके कारण वह योगी निष्पक्ष हो जाता है। एक निष्पक्ष व्यक्ति ही सत्य का अवलंबन ले सकता है। समाज में भी लोग उसी व्यक्ति की अधिक सुनते और मानते हैं जो पक्षपाती न हो अर्थात् निष्पक्ष हो। इस प्रकार अविद्या का नाश किया हुआ, राग और द्वेष से रहित हुआ योगी फिर जो कुछ विवेकपूर्वक कहता है, वह सत्य रूप में घटित होने लगता है। वह केवल कहता नहीं है अपितु वह जो कुछ करता है वह भी फल को अवश्य प्राप्त होता है। उसकी समस्त क्रियाएं फल के आश्रित ही रहती हैं।
ऐसे बहुत से उदहारण समाज में ही देखने को मिल जाते हैं कि निश्चल बच्चों के कहने पर कई

लोगों का हृदय परिवर्तन हो जाता है, क्योंकि उनका कहा हुआ उनके हृदय को तत्क्षण निर्मल कर देता है। उनके मन में एक क्षण को भी यह भाव नहीं आता कि इस अबोध बालक का इस प्रकार उपदेश करने में स्वयं का क्या स्वार्थ हो सकता है। योगी भी बालक सदृश ही निर्मलता को प्राप्त कर जाते हैं और फिर वे जिसे जो कह दें वह सत्य रूप में घटित हो जाता है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥2.37॥

पदच्छेदः अस्तेय , प्रतिष्ठायाम् , सर्व , रत्न , उपस्थानम् ।
शब्दार्थः अस्तेय- अस्तेय अर्थात् चोरी के अभाव (में), **प्रतिष्ठायाम्**- दृढ़ स्थिति हो जाने पर (उस योगी के सामने), **सर्व**- सब प्रकार के, **रत्न**- रत्न, **उप-स्थानम्**- प्रकट हो जाते हैं।

व्यासभाष्यम्- सर्वदिकाद्यान्यस्योपतिष्ठते सनानि॥३७॥

भाष्यानुवादः- इस योगी को सब दिशाओं में स्थित रत्न (उत्तम पदार्थ यथायोग्य) उपस्थित होते हैं।।३७।।

अब महर्षि अस्तेय अर्थात् चोरी न करने का सिद्धि रूप में फल बताते हैं। अस्तेय का अर्थ होता है किसी भी वस्तु, पदार्थ, स्थान, धन आदि को उसके स्वामी की आज्ञा के बिना लेना। इसमें चोरी, छीना-झपटी, लूट, डकैती सबकुछ आ जाती है। केवल क्रियात्मक रूप से ऐसा करना ही स्तेय नहीं है अपितु मन में इस प्रकार के विचार लाना भी स्तेय अर्थात् चोरी करना है।
क्रिया योग से जब योगी अपने क्लेशों को तनु कर लेता है और मन, वचन और कर्म से किसी भी प्रकार से चौर्य कर्म नहीं करता है तब उसे अस्तेय की सिद्धि हो जाती है और फलस्वरूप उसे वह सबकुछ प्राप्त होने लगता है जो उसे आवश्यक होता है। उसके सम्मुख सब प्रकार का ऐश्वर्य-धन संपदा दास भाव से उपस्थित हो जाती है।
महर्षि तो स्पष्ट ही कह रहे हैं कि ऐसे अस्तेय में प्रतिष्ठित योगी को सब प्रकार के उत्तम रत्नों (धन, पद, प्रतिष्ठा) आदि की प्राप्ति हो जाती है ा कैसे अस्तेय में प्रतिष्ठित होने से योगी को सब प्रकार के उतम पदार्थों की प्राप्ति होती है?- सर्वथा अचौर्य का भाव होना ही अस्तेय में प्रतिष्ठित होना है, अतः अचौर्य का भाव घटित होने पर कुछ विशेष गुण योगी में आ जाते हैं, जैसे-

१.आवश्यकता से अधिक की इच्छा का न होना
२.लोभ क्षीण हो जाना
३.ईमानदारी
४.अन्यों के अभाव को अनुभव करना
इस प्रकार जब योगी अपनी कम से कम आवश्यकताओं के बीच अपना जीवन एवं साधना को आगे

बढ़ाता है तो वह न तो मन से यह विचार करता है कि किसी दुसरे की वस्तु उसकी हो जाये और न ही चोरी जैसे कर्म ही वह करता है। वह तो केवल अपनी सीमित आवश्यकता की पूर्ति हेतु कर्मयोग का सहारा लेता है और पुरुषार्थ पूर्वक अर्जन कर लेता है। अतः उसके जीवन में न्यूनतम से न्यूनतम आवश्यकतायें होती हैं जिन्हें वह पुरुषार्थ से पूरा कर लेता है।

अध्यात्म का यह नियम है कि- जो चाहता है उसे नहीं मिलता है और जो नहीं चाहता है उसे सबकुछ मिल जाता है। इस प्रकार जब योगी को अपने जीवन निर्वाह से अतिरिक्त कुछ भी इच्छित नहीं होता तब अस्तेय की सिद्धि स्वरुप उसे सबकुछ प्राप्त हो जाता है लेकिन तब वह उसका भी प्रयोग नहीं करता है। यदि वह योगी कर्मयोग के मार्ग पर आगे बढ़ जाता है तो फिर जो कुछ उसे प्राप्त होता जाता है वह सबकुछ स्वयं के लिए नहीं अपितु प्राणिमात्र के उत्कर्ष के लिए लगा देता है। ईश्वर का भी यह विधान है कि जो बाँट सकता है उसी को देता है। जिस योगी का मन, पाने की वासनाओं से रिक्त होता है उसी के पात्र में खाली जगह होती है, जिसे भरा जा सकता है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥2.३८॥

पदच्छेदः ब्रह्मचर्य , प्रतिष्ठायाम् , वीर्य , लाभः ।
शब्दार्थः ब्रह्मचर्य- ब्रह्मचर्य (में), **प्रतिष्ठायाम्**- दृढ़ स्थिति हो जाने पर, **वीर्य**- सामर्थ्य (का), **लाभ**-लाभ (होता है)

व्यासभाष्यम्- यस्य लाभादप्रतिघान्गुणानुत्कर्षयति, सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति॥३८॥

भाष्यानुवादः - जिसकी प्राप्ति से (योगी अपने) अप्रतिघात = अप्रतिहत-गुणों को बढ़ाता है। स्वयं सिद्धि को प्राप्त हुआ (विनयादिगुणयुक्त) शिष्यों में ज्ञान के आधान में समर्थ होता है।।३८।।
अब महर्षि ब्रह्मचर्य के व्रत का फल बता रहे हैं। जैसा कि पूर्व के सूत्रों में भी हमने बताया कि ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ है ब्रह्म जैसी चर्या का पालन करना। ब्रह्मचर्य का यह एक व्यापक अर्थ है। स्थूल अर्थ है जो हमारी जीवनी शक्ति वीर्य है, उसका संरक्षण करना। ब्रह्मचर्य पालन के फलस्वरूप योगी को अप्रतिम उत्साह की प्राप्ति होती है। उसके जीवन में प्रतिक्षण एक नूतन और पहले से बढ़ा हुआ उत्साह रहता है।
वर्णाश्रम के विभाग के अनुसार ब्रह्मचर्य की व्याख्या भी थोडा सा परिवर्तित होती है। २५ वर्ष तक का आश्रम तो ब्रह्मचर्य पालन का ही काल होता है, लेकिन २५ से ५० वर्ष तक का गृहस्थ आश्रम, केवल संतान उत्पत्ति के लिए वीर्य या रज के उपयोग की आज्ञा देता है। तीसरे एवं चौथे आश्रम अर्थात् वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम में पुनः पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य पालन का विधान है।
गृहस्थ आश्रम में संतान उत्पत्ति या वंश वृद्धि के लिए जो सम्बन्ध निर्मित होते हैं वे किसी प्रयोजन को सिद्ध करने के कारण सार्थक हो जाते हैं और इस प्रकार अब्रह्मचर्य के अंतर्गत नहीं आते हैं।

लेकिन इसके विपरीत जब भी अब्रह्मचर्य में कोई बरतता है तो वह निंदनीय हो जाता है, केवल क्षणिक सुखभोग का साधन बन जाता है और शक्ति का अपव्यय माना जाता है। वीर्य या रज की सार्थकता दो प्रकार से ही संभव है–

१.संतान या वंशवृद्धि करने में

२.व्यक्ति के भीतर रहकर उसके व्यक्तित्व को निखारने में

यदि संतान उत्पत्ति के अतरिक्त वीर्य या रज शरीर से बाहर निकलता है तो जीवनी शक्ति का अनादर है। भगवान द्वारा प्रदत्त उसकी शक्ति का घोर अपमान है। योगी इस बात को ठीक प्रकार से समझ लेता है और पहले स्थूल रूप से इसके संरक्षण पर ध्यान देता है और फिर इसे साधता हुआ अपनी दिनचर्या और जीवन चर्या को ब्रह्म जैसी करने में लग जाता है।

योगी सोचता है कि–

१.मैं ऐसे जियूं जैसे ब्रह्म जीता है।

२.मेरे माध्यम से ब्रह्म ही जी रहे हैं।

३.यदि ब्रह्म मेरे शरीर, मन का आश्रय लेकर जीते तो कैसे जीते? मुझे उसी प्रकार से जीना है।

४.मुझे कोई भी ऐसा कृत्य नहीं करना है जिससे मेरा ईश्वर

इस प्रकार के विचार इसे निरंतर ब्रह्मचर्य में लागए रखते हैं और फलस्वरूप वह सदा उत्साही बना रहता है। उसे किसी भी प्रकार से ग्लानि, हीनता नहीं सताती है। सदैव सकारात्मकता उसकी अनुगामी होती है। इस प्रकार उत्साही और सकारात्मक बनकर वह योग मार्ग में आने वाले सभी बाधाओं को आसानी से पार करने में सक्षम हो जाता है। जीवन में आने वाले विघ्नों को भी आसानी से पार कर लेता है। जहाँ एक ओर ब्रह्मचर्य के पालन में उसे अतिशय आनंद की प्राप्ति होती है वहीँ शारीरिक एवं मानसिक रूप से वह सशक्त होता जाता है। वीर्य के व्यय में जो निरुत्साह मिलता है, उसके संरक्षण में उतना ही उत्साह बढ़ता जाता है।

सीधी सी बात है कि जब कोई वीर्य का नाश करता है तो परिणाम में उसे ग्लानि, और उत्साह की कमी महसूस होती है, यह सभी का अनुभव है। अतः जब मन, वचन और कर्म से वीर्य का संरक्षण किया जायेगा तो इसके स्थान पर आत्मविश्वास एवं उत्साह की वृद्धि स्वाभाविक है द्य जैसे– जैसे ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान आगे बढ़ता जायेगा वैसे वैसे साधक के जीवन में उत्साह भी बढ़ता जायेगा। जब जीवन में भरी उत्साह होगा तो स्वतः ही उसकी आयु भी बढ़ती चली जाएगी, योगी दीर्घायु हो जाता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥2.३९॥

पदच्छेदः अपरिग्रहः , स्थैर्ये , जन्म , कथन्ता , सम्बोधः

शब्दार्थ **: अपरिग्रहः** – अपरिग्रह (के), **स्थैर्ये**– दृढ़ प्रतिष्ठित हो जानेपर; **जन्म**– पूर्वजन्म, **कथन्ता**– कैसे हुए थे ?, **संबोधः**– इस बात का भलीभाँति ज्ञान हो जाता है।

व्यासभाष्यम्- अस्य भवति। कोऽहमासं, कथमहमासं, किंस्विदिदं, कथंस्विदिदम्, के वा भविष्यामः, कथं वा भविष्याम इत्येवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते। एता यमस्थैर्ये सिद्धयः॥३९॥

भाष्यानुवादः - इस योगी को (जन्मकथन्ता सम्बोध) होता है। मैं कौन था, मैं कैसा था, यह क्या है, यह कैसे हुआ है, हम कौन होंगे, कैसे होंगे ? इस प्रकार। इस योगी को पूर्वकाल परकाल और मध्यकाल की अपने जन्म विषयक जिज्ञासा स्वतः उदित हो जाती है। ये पूर्वलिखित सिद्धियाँ यम विषयक स्थिरता होने पर उदित होती हैं।।३९।।

योगी के जीवन में अपरिग्रह के प्रतिष्ठित हो जाने पर उसे अपने पूर्व जन्म की, वर्तमान जन्म कि एवं आगे किस प्रकार जीवन अंगड़ाई ले सकता है इसकी पूरी जानकारी हो जाती है। साधना के पथ पर अष्टांग योग का अनुष्ठान करते करते योगी जब अनावश्यक वस्तुओं, विचारों, भावनाओं का परित्याग कर देता है तब इस स्थिति को अपरिग्रह कहते हैं। अपरिग्रह के सिद्ध होने पर उसे अपने भूतकाल एवं वर्तमान काल का ठीक ठीक बोध हो जाता है और साथ ही भविष्य में क्या हो सकता है इसका भी उसे अनुमान लग जाता है। यह सबकुछ अपरिग्रह में प्रतिष्ठित होने पर होता है।

कैसे योगी को अपने पूर्व जन्म की सभी आवश्यक घटनाएँ पता चल जाती हैं? योगी के मन में जब अनावश्यक रूप से न तो विचारों को लेकर कोई संचय की वासना होती है और न ही वस्तुओं को लेकर तब उसके जीवन में एक सहज प्रवाह उदित होता है। उस सहज प्रवाह में किसी भी प्रकार की कोई बाधा नहीं होती है, होता है तो सिर्फ एक सहज प्रवाह। अनेक जन्म जन्मान्तरों से हमारे जीवन का प्रवाह चला आ रहा है और हमने उसे अनुभवपूर्वक उसे कभी न कभी जिया है। स्मृति और संस्कार के रूप में सब कुछ बंद पड़ा है, लेकिन वर्तमान जीवन में हमारे पाने की चाहना और अनेकानेक वासनाएं उन स्मृतिओं के बीच बाधा बनकर खड़ी रहती हैं।

हम प्रयत्नपूर्वक अपना पूर्व जन्म स्मरण भी करना चाहें तो भी हमें स्मरण नहीं आती हैं। लेकिन जब योगी के जीवन से आवश्यकता से अधिक संग्रह करने की इच्छा, चाहना या वासना समाप्त हो जाती है तब उसे पूर्व जन्म की जानने योग्य सभी महत्वपूर्ण घटनाएँ स्मरण में आ जाती हैं। केवल पूर्व जन्म ही नहीं अपितु वर्तमान जन्म की बालपन की घटनाएँ उसे पता चल जाती हैं। इस प्रकार भूत और वर्तमान जन्म का ज्ञान हो जाने से वह भविष्य की दिशा भी जान लेता है।

जो भी संस्कार रूप से हमारी स्मृति में है, उसे पुनः स्मरण करने में केवल हमारी वासनाएं ही बाधा हैं। वासना कुछ पाने की, आवश्यकता से अधिक संचय करने की। जब योगी इस आवश्यकता से अधिक संचय करने की प्रवृत्ति पर नियंत्रण पा लेता है तब उसके जीवन का प्रवाह फिर से बहने लग जाता है और वह जब चाहे अपनी पुरानी स्मृतियों को खंगाल सकता है। अतः अपरिग्रह के सिद्ध होने पर योगी अपने भूत, वर्तमान और भविष्य को जान लेता है।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥2.40॥

पदच्छेदः शौचात् , स्व , अङ्ग , जुगुप्सा , परैः , असंसर्गः ।
शब्दार्थः शौचात्- शौच के पालन से, **स्व**- अपने, **अङ्ग**- अंगों (में),**जुगुप्सा**- वैराग्य (और) **परैः** - दूसरों के साथ, **संसर्गः** - संसर्ग न करने की भी फिर प्रवृत्ति नहीं रहती।

व्यासभाष्यम्- स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति। किं च परैरसंसर्गः कायस्वभावावलोकी स्वमपि कायं जिहासुर्मुज्जलादिभिराक्षालयन्नपि कायशुद्धिम-पश्यन्कथं परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृज्येत ॥४०॥

भाष्यानुवादः- अपने शरीर में जुगुप्सा = घृणा होने पर शौच का पालन करने वाला, शरीर के दोष को देखने वाला, शरीर में आसक्तिहीन यति होता है। और भी, दूसरों से संसर्गरहित होता है। शरीर के स्वरूप को देखने वाला, अपने शरीर को छोड़ने की इच्छा वाला मिट्टी, जल आदि से धोता हुआ भी शरीर की शुद्धि नहीं देखने वाला, अत्यन्त ही प्रयत्न न करने वाले लोगों के शरीरों के साथ कैसे संसर्ग करे ? (अर्थात् नहीं करता है) ॥४०॥
अब महर्षि पञ्च नियमों में से पहले नियम शौच के पालन से क्या फल मिलता है, उसके बारे में बता रहे हैं। जैसे यम में अहिंसा सबसे पहले आती है उसी प्रकार नियमों में शौच सबसे पहले लिखा गया है। जब तक आत्मा का अधिष्ठान यह शरीर भीतर एवं बाहर से स्वच्छ नहीं होगा तब तक साधना की प्रक्रिया सही ढंग से प्रारम्भ नहीं हो पायेगी। अष्टांग योग के प्रयोग से पूर्व योगी क्रिया योग का अभ्यास करता है ताकि उसके पञ्च क्लेश तनु या निर्बल हो जाएँ और वह अष्टांग योग के द्वारा फिर पूर्ण रूप से अपने क्लेशों को दग्ध्बीज कर सके।
आप जानते हैं कि, अविद्या सब क्लेशों की जननी है। अविद्या रूपी क्लेश को दूर करने के लिए नित्य पदार्थ में नित्य का दर्शन और शुद्ध पदार्थ में शुद्धता का दर्शन करना आवश्यक होता है। अतः जब तक हमें शुद्ध और अशुद्ध के बीच का भेद नहीं पता होगा हम अविद्या को पूर्ण रूप से नहीं हटा सकते हैं। हमारा यह शरीर हमसे सबसे अधिक पास में है और इसमें शुद्धि और अशुद्धि दोनों छुपी हुई है। इसलिए सबसे पहले शरीर की बाहर और भीतर की स्वच्छता को समझना बहुत जरुरी हो जाता है। शौच के स्वरुप को हम नियमों में समझ आयें है अभी समझते हैं कि यदि योगी शौच में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है तो फल में उसे क्या मिलता है ?
शरीर को नित्य स्नान से शुद्ध किया जाता है और इसे शरीर की बाह्य शुद्धि कहते हैं। आन्तरिक रूप से मन में कई प्रकार की मलिनता छुपी रहती है, सत्य आदि आचरण से उस मलिनता की सफाई , आन्तरिक शुद्धता कहते हैं।
मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, चुगली करना, किसी की बुरे करना आदि अनेक प्रकार के मल चिपके रहते हैं, अतः इनका साधना के द्वारा, अच्छे विचारों के द्वारा सफाई करना ही आन्तरिक शुद्धि है। बुरे विचारों को प्रतिपक्ष भावना के द्वारा शुभ भावनाओं में परिवर्तित करना यह भी आन्तरिक

शुद्धि है।
इस प्रकार योगी जब भीतर और बाहर दोनों जगह से स्वच्छ हो जाता है तब वह स्वयं भी अपने शरीर के प्रति अनासक्त हो जाता है और दूसरों के शरीर के प्रति आकर्षण से हट जाता है। तात्पर्य यह है कि न तो उसका स्वयं का शरीर उसके लिए किसी प्रकार भोग की वस्तु बनता है और न ही किसी अन्य का।
शरीर की बाह्य और आन्तरिक शुचिता करते करते वह शरीर के सत्य से अवगत हो जाता है, कि यह केवल एक साधन मात्र है, इसमें मन लगाने जैसा शाश्वत कुछ नहीं है। यदि स्वयं के शरीर या अन्यों के शरीर में किसी भी प्रकार से रस रखा तो यह बंधन का कारण बनेगा, नाना प्रकार के दुखों में लेकर जायेगा। इसके साथ ही सांसारिक प्रवृत्तियों में फंसकर रख देगा। शरीर की बाहर और भीतर की शुचिता से सारी काम-वासनाएं खत्म हो जाती हैं। फलस्वरूप योगी अनेक प्रकार से अपने क्लेशों से भी मुक्त होता जाता है।
एक बात ध्यान देने योग्य अवश्य है कि - कोई भी यम-नियम हो, यदि योगी उसका पालन पूर्ण रूप से करने में सक्षम हो जाता है तो वह सभी यम-नियमों की पूर्ति में भी सहायक हो जाता है। सभी यम-नियम परस्पर इतने गुंथे हुए हैं कि एक में भी सिद्धि प्राप्त होती है तो वह सभी की पूर्ति में कहीं न कहीं सहायक बनने लग जाता है।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ।।2.42।।

पदच्छेदः संतोषात् , अनुत्तम , सुख , लाभः ।
शब्दार्थः संतोषात्- संतोष (से), **अनुत्तम**- परम, **सुख**- सुख, **लाभः** - प्राप्त (होता है)।

व्यासभाष्यम्- तथा चोक्तम् - यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशी कलाम् इति ।।४२।।

भाष्यानुवादः-और उसी प्रकार कहा गया है कि - लोक में जो कामजन्य सुख है और जो महान् स्वर्ग सुख है, ये दोनों सुख तृष्णा के क्षय से होने वाले सुख का सोलहवाँ भाग भी नहीं हो सकते ।।४२ ।।
अब दूसरे नियम संतोष के फल के बारे में महर्षि बताते हैं। संतोष की प्राप्ति होने से योगी को उत्तम सुखों की प्राप्ति होती है। जो संतोषी नहीं होते हैं वे और-और चाहिए इस प्रकार छोटे-छोटे सुखो के पीछे भागते हैं। इस प्रकार भागते भागते उन्हें कभी भी स्थायी सुख की प्राप्ति नहीं होती है। भागते रहने से भोग के प्रति उनकी आसक्ति बढ़ती ही जाती है और ऐसे लोग आत्म-साक्षात्कार की योग्यता खो देते हैं।
निरंतर असंतोष में जीने से उनके जीवन में एक खालीपन बना रहता है जिसके कारण वे सदैव परेशानी और तनाव में रहते हैं। लेकिन जो अपने हिस्से का पूर्ण पुरुषार्थ करते हुए, अपने कर्मों के फल को प्रसाद स्वरुप समझकर संतुष्ट रहते हैं, वे ही वस्तुतः सुखी रहते हैं। वे संतोष की प्रक्रिया के पालन में भी सुखी रहते हैं और जब संतोष उनके जीवन का हिस्सा बन जाता है तब संतोष के फल के रूप

में उन्हें उत्तम सुखों का सानिध्य प्राप्त होता है।
क्यों संतोष को सबसे बड़ा सुख कहा जाता है ? –सभी भौतिक सुख भोगने के बाद समाप्त हो जाते हैं और फिर परिणाम में दुखदायी ही सिद्ध होते हैं, लेकिन संतोष रूपी सुख अनंत होता है।संतोष आपको आपकी स्थिति से हिलाता नहीं है अपितु शांत स्थिति में पहुंचाता है।
वहीँ संतोष किसी अकर्मण्यता का नाम नहीं है। संतोष का अर्थ है, उपलब्ध सामर्थ्य का पूर्ण उपयोग करना और बिना फल की इच्छा किये फिर फल स्वरुप जो कुछ प्राप्त हो उसे सम्पूर्ण मन से स्वीकार करना। जब हम अपना सम्पूर्ण सामर्थ्य लगाते हैं तो फल की इच्छा तो करते हैं लेकिन उसका मूल्यांकन हमें अपने हिसाब से नहीं करना चाहिए, इसी को फल की इच्छा न करना कहते हैं। पुरुषार्थ हम कितना भी अधिक बढाकर कर सकते हैं लेकिन फल के लिए हम अपनी इच्छा को कम या अधिक नहीं कर सकते हैं, क्योंकि फल के विषय में हम अधिकारी नहीं हैं। यही दृष्टि रखना संतोष की दृष्टि रखना कहलाता है। वस्तुतः सभी सुखों का आधार संतोष ही है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥2.43॥

पदच्छेदः काय-इन्द्रिय-सिद्धिः-अशुद्धि-क्षयात्, तपसः
शब्दार्थः तपसः - तप के अनुष्ठान, पालन या फल से, **अशुद्धि-क्षयात्**- अशुद्धि का क्षय होने से, **काय**- शरीर की एवं, **इन्द्रिय**-5 कर्मेन्द्रियों व 5 ज्ञानेन्द्रियों का **सिद्धि**-सामर्थ्य बढ़ता है।

व्यासभाष्यम्- निर्वर्त्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलम्। तदावरणमलापगमात्कायसिद्धि-रणिमाद्या। तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्वणदर्शनाचेति ॥४३॥

भाष्यानुवादः - आचरण में लाया जाने वाला तप अशुद्धिजनित आवरणरूपी मल को नष्ट करता है। उस आवरण मल के दूर होने से काया की सिद्धि जैसे कि अणिमा आदि, हो जाती है। उसी प्रकार इन्द्रियों की सिद्धि जैसा कि दूर से, देखना सुनना आदि उत्पन्न होती हैं। ।।४३।।

तप के अनुष्ठान के पूर्ण होने पर योगी को क्या लाभ मिलता है, इस विषय में महर्षि बता रहे हैं। तप, क्रिया योग का एक महत्वपूर्ण भाग है। तप से क्लेश क्षीण होते हैं यह हम पूर्व में पढ़ आये हैं , लेकिन अभी जब तप का नियम के रूप में पालना की जाती है और जब तप में योगी प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसके शरीर एवं इन्द्रियों की अशुद्धि का क्षय हो जाता है। उसकी इन्द्रियां और शरीर मल रहित होकर विशेष सामर्थ्य से युक्त हो जाती हैं।
काया की अशुद्धि क्या है और इन्द्रियों की अशुद्धि क्या है ? - पसीना, दुर्गन्ध या मैल ये सब कुछ शरीर की बाहरी अशुद्धि है और मन में कुविचारों, क्रोध, लोभ, आदि दुर्गुणों रूप में भीतरी अशुद्धि है। इस प्रकार काया अर्थात् शरीर की दोनों प्रकार से जब शुद्धि हो जाती है।
इन्द्रियों में चंचलता या जड़ता होना ही उनका अशुद्धि है। जब वे सत्त्वस्थ होने लगती हैं तो इसी को इन्द्रियों की शुद्धि कहा जाता है। यदि इन्द्रियों के ऊपर नियंत्रण नहीं किया जाये तो वे बाहर की ओर

ले जानेवाली होती हैं। जैसे जैसे योगी तप के अभ्यास से उन्हें नियन्त्रित करने लगता है तो उनमें सत्त्व गुण बढ़ने लग जाता है। सत्त्व गुण के बढ़ने का नाम ही इन्द्रियों की अशुद्धि का क्षय है।
इस प्रकार शरीर और इन्द्रियों की अशुद्धि का क्षय तप के निरंतर अनुष्ठान से होता है। जैसे सोने को तपाने से उसके भीतर का मल जलकर नष्ट हो जाता है और सोना निखर जाता है, उसी प्रकार शरीर और इन्द्रियां भी तप की अग्नि से तपकर निखर जाते हैं। तप के स्वरूप की चर्चा पूर्व के सूत्रों में कई बार कर दी गई है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोग: ॥2.44॥

पदच्छेद: स्वाध्यायात् -इष्टदेवता-सम्प्रयोग:
शब्दार्थ: स्वाध्यायात्-सद्ग्रन्थों एवं गुरुमुख से सुने ज्ञान का अध्ययन करने से, **इष्टदेवता**-विद्वान, ऋषि-मुनि एवं योग एवं स्वाध्यायनिष्ठ योगियों स, **सम्प्रयोग:**-उनका साक्षात् दर्शन एवं उनकी अनुकम्पा प्राप्त हो जाती है।

व्यासभाष्यम्- देवा ऋषय: सिद्धाश स्वाध्याचशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति ॥४४॥

भाष्यानुवाद:- विद्वान वेदमन्त्रार्थों के द्रष्टा, योगसिद्ध-स्वाध्यायशील को प्राप्त होते हैं और उसके कार्य में सहायता देते हैं। ॥४४॥

चौथे नियम स्वाध्याय के फल की चर्चा यहाँ की जा रही है। तप के बाद स्वाध्याय भी क्रिया योग का भाग रहा है और अब अष्टांग योग के नियम का भी भाग है। दो बार इसकी चर्चा होने से यह महत्वपूर्ण हो जाता है।
ऐसे ग्रन्थ या साहित्य जो हमें योग मार्ग पर आगे बढ़ाने में सहायक होते हैं, उनका अध्ययन या अध्यापन करना स्वाध्याय कहलाता है। ऐसे ग्रन्थ जो मुक्ति कि बात करते हों, योग मार्ग की बाधाओं से बचाते हों, उनका अध्ययन और अध्यापन करना स्वाध्याय कहलाता है। ऋषि-मुनि एवं गुरुओं के आप्त वचनों को सुनना और सुनाना या उनपर चिंतन और मनन करना स्वाध्याय कहलाता है। गायत्री और ओंकार जैसे वैदिक मन्त्रों का अर्थपूर्वक जाप करना भी स्वाध्याय कहलाता है।
स्वाध्याय एक ऐसी प्रकिया और साधन है जिसके माध्यम से योगी क्रियात्मक रूप से योग न करता हुआ भी योग में बरत रहा होता है। स्वाध्याय योगी की प्रवृत्ति को योग मार्ग पर लगाये रखता है, उसे योग के वातावरण से युक्त रखता है। जो साधक स्वाध्याय का अवलंबन नहीं लेते वे धीरे धीरे योग मार्ग से कब विमुख हो जाते हैं उन्हें भी पता ही नहीं चलता है।
शास्त्रों में ऐसा लिखा है कि योग और स्वाध्याय इन दो साधनों का आश्रय लेते हुए धीरे धीरे परमात्मा प्रकाशित हो जाता है। जब योग करके थक जाएँ तो स्वाध्याय करें और जब स्वाध्याय करते करते थक जाएँ तब पुन: योग कर लें। इस प्रकार योग और स्वाध्याय दोनों का बारी बारी अभ्यास से परमात्मा

भी प्रकाशित हो जाता है अर्थात् भगवान साधक के हृदय में प्रकट हो जाते हैं।
जब जीवन में योग और स्वाध्याय का अजस्र प्रवाह चलता है तब संसार के लिए समय समाप्त हो जाता है। अतः जब योगी इस प्रकार योग और स्वाध्याय में पूर्ण रूप से स्थित हो जाता है तब वह जिसे अपना इष्ट देवता समझता है, उनके दर्शन पा जाता है। स्वाध्याय करते करते योगी की जिस महापुरुष, देवताओं में, या ऋषि-मुनियों में अतिशय श्रद्धा उत्पन्न होती है, उनके दिव्य दर्शन होने लग जाते हैं। साथ ही उनका अप्रत्यक्ष रूप से आशीर्वाद प्राप्त होने लग जाता है और वे उसकी प्रत्येक कार्य में सहायता करने लग जाते हैं।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥2.45॥

पदच्छेदः समाधिसिद्धिः, ईश्वर- प्रणिधानात् ।
शब्दार्थः ईश्वर-प्रणिधानात्-ईश्वर प्रणिधान से, **समाधिसिद्धिः**-समाधि की प्राप्ति हो जाती है।

व्यासभाष्यम्- ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितर्थ जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च। ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूर्त प्रजानातीति ॥४५॥

भाष्यानुवादः- शरीर, वाणी और मन से होने वाली क्रियाओं एवं उनके फलों को ईश्वर के अर्पित करने वाले की समाधि सिद्ध होती है। जिससे देशान्तर, देहान्तर और कालान्तर में होने वाले अभीष्ट को यथावत् जानता है। उससे इसकी प्रज्ञा (बुद्धि) पदार्थ को यथावत् जानती है ॥४५॥

ईश्वर प्रणिधान, यह अंतिम अर्थात् पांचवा नियम है। महर्षि कहते हैं कि, जब योगी ईश्वर प्रणिधान में पूर्णता को प्राप्त हो जाता है तो फल स्वरुप उसे समाधि की प्राप्ति हो जाती है। योग में ईश्वर प्रणिधान को कभी तो स्वतंत्र साधनरूप से कहा गया है और कभी किसी साधना का अंग विशेष बनाकर बताया गया है। इसलिए ईश्वर प्रणिधान अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है योग में।
ईश्वर प्रणिधान, भक्ति की पराकाष्ठा है जहाँ पर योगी निरहंकारी होकर ईश्वर के शरणागत हो जाता है और अपने सभी कर्मों, चेष्टाओं और वृत्तियों को ईश्वर में अर्पण कर देता है। इस प्रकार भक्ति विशेष करता हुआ वह ऐसे जीता है जैसे उसके माध्यम से स्वयं भगवान जी रहे हों। उसकी स्वयं की इच्छा को भी वह ईश्वर की इच्छा में विलीन कर देता है, तब इस प्रकार उसकी स्वयं की सत्ता भी ईश्वर की सत्ता हो जाती है। ईश्वर तो नित्य समाधान में बरतता है अर्थात् समाधि की अवस्था में रहता है तो योगी की भी समाधि लग जाती है। जब योगी अपनी सत्ता का अहंकार छोड़ देता है और ऐसे जीता है जैसे भगवान जीता है तो उसका ज्ञान भी ईश्वर के ज्ञान के सदृश हो जाता है अर्थात् विवेकज्ञान हो जाता है। विवेकज्ञान होने से अविद्या का नाश हो जाता है और अविद्या के नाश के सभी पञ्च क्लेशो का भी नाश होकर तब योगी समाधि के लाभ को प्राप्त हो जाता है।

स्थिरसुखमासनम् ॥2.46॥

पदच्छेद: स्थिर-सुखम् आसनम् ।

शब्दार्थ: स्थिर-एक ही स्थिति विशेष में बिना हिले डुले स्थिर रहना, **सुखम्**- सुखमय अर्थात् आरामदायक स्थिति या अवस्था को, **आसनम्** - आसन कहते हैं।

व्यासभाष्यम्- तद्यथा पद्मासनं, वीरासनं, भद्रासनं, स्वस्तिकं, दण्डासने, सोपाश्रयं, पर्य क्रौञ्चनिषदनं, हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं, समसंस्थानं, स्थिरमुखं, यथासुखं वेत्येवमादीनि ॥४६॥

भाष्यानुवाद:- वह जैसे कि पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिक, दण्डासन, सोपाश्रय पर्यङ्क, क्रौञ्चनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन, समसंस्थान, स्थिरसुख और यथासुख आदि ॥४६॥

आसन अष्टांग योग की साधना में एक महत्त्वपूर्ण अंग है। यह एक ऐसी कड़ी है जो आगे के अंगो में पूरी तरह अनुगत रहती है। आसन से ही क्रियात्मक योग प्रारंभ होता है। प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि में भी आसन पूरी तरह अनुगत रहता है।

आसन की परिभाषा करते हुए महर्षि कहते हैं कि शरीर की वह स्थिति जिसमें साधक बिना हिले डुले सुख एवं स्थिरता पूर्वक रह सके, आसन कहलाती है। योग मार्ग पर चलने में बहुत सारा विचलन उपस्थित होता रहता है इसलिए स्थिरता की आवश्यकता बनी रहती है। शरीर और मन में यह स्थिरता आसन की सिद्धि से आती है।

आसन के कितने प्रकार हैं, इस विषय में महर्षि ने कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया है। उनकी परिभाषा से लगता है कि कोई भी स्थिति जिसमें आप अधिक देर तक बिना हिले डुले सुख पूर्वक बैठ सकते हैं वे सभी आसन है। सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि, इस धरती पर जितने जीव हैं उनके बैठने या लेटने के आधार पर उतने ही आसन हैं। अगले सूत्र में महर्षि बताएँगे कि आसन कैसे सिद्ध होते हैं।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥2.47॥

पदच्छेद: प्रयत्न-शैथिल्य-अनन्त-समापत्तिभ्याम् ।

शब्दार्थ : **प्रयत्न**-आसन करते समय शारीरिक गतिविधियों या चेष्टाओं को सहज प्रयत्न द्वारा, **शैथिल्य**-शिथिल या रोक देने से, **अनन्त**-और अनन्त (आकाश या परमात्मा) में **समापत्तिभ्याम्**-सहज ध्यान लगाने से आसन की सिद्धि हो जाती है।

व्यासभाष्यम्- भवतीति वाक्यशेषः। प्रयत्नोपस्यात्सिध्यत्यासनं येन नाङ्गमेजयो भवति। अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति ॥४७॥

भाष्यानुवाद:- (प्रयत्न की शिथिलता एवं अनन्त में समापत्ति से आसन की सिद्धि) होती है यह (सूत्र का) वाक्य शेष है। प्रयत्न के उपराम से आसन सिद्ध होता है जिससे अङ्गों में कम्पन नहीं होता। और अनन्त (परमेश्वर) में समापत्ति (एकाग्रता) को प्राप्त चित्त आसन को सम्पादित करता है ॥४७॥

जब योगी आसनों का अभ्यास करता है तब उसे किस प्रकार आसन करने चाहिए यह इस सूत्र में बतलाया गया है। लोक में जब आसन की बात आती है तब सामान्य रूप से स्थिरसुखमासनम् इस सूत्र का सन्दर्भ दिया जाता है। जबकि हमें इस सूत्र के साथ साथ अगले विधि सूत्र प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् को भी कहना चाहिए । तभी हम एक साथ आसन को ठीक ठीक समझ सकते हैं।

यहाँ विषय अष्टांग योग का चल रहा है और तीसरे अंग के रूप में आसन की बात आई है। आगे प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की बात भी की जाएगी। अष्टांग योग का अंतिम परिण ाम समाधि लगना है अतः यहाँ आसन से महर्षि का आशय ध्यान में बैठने के आसन से ही होगा, यह स्पष्ट हो रहा है। बैठने के आसन के बाद अन्य जितने भी आसन हैं उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गई है। लकिन सामान्य रूप से आसन की मूल परिभाषा कर दी गई है। अभी हम केवल प्राणायाम, धारणा और ध्यान हेतु बैठे जाने वाले आसन को केंद्र में रखकर समझने का प्रयास करेंगे।

महर्षि स्पष्ट कह रहे हैं कि, आसन करते समय प्रयत्न की शिथिलता रखो। योगी को पद्मासन, सुखासन या सिद्धासन किसी भी एक आसन का चयन कर लेना चाहिए और फिर शरीर की चेष्टाओं को या किसी भी प्रकार की गतिविधिओं को शिथिल छोड़ देना चाहिए और साथ में मन को अनंत परमात्मा के आश्रय में लगा देना चाहिए। यदि योगी शरीर को ढ़ीला तो छोड़ देता है लेकिन मन को साथ में परमात्मा में नहीं लगाता है तो मन की भटकन से शरीर में भी विचलन होगा और आसन सिद्ध नहीं होगा अर्थात् आसन स्थिर और सुखपूर्ण नहीं हो पायेगा। आसन की सिद्धि से शरीर में स्थिरता और सुख मिलेगा जिससे आगे प्राणायाम, धारणा, ध्यान करने में शरीर की स्थिति किसी भी प्रकार बाधा न पहुंचाएं। इसलिए आसन एक महत्त्वपूर्ण बिंदु है प्राणायाम, एवं ध्यान करने में।

अतः योगी का सबसे पहला कार्य है कि वह आसन की सिद्धि हेतु अभ्यास करे, तभी उसे आगे के योग के अंगों में सफलता मिलेगी। आज आसन को नजर अंदाज करके साधक सीधे ध्यान लगाना चाहते हैं, सीधे प्राणायाम का अभ्यास करना चाहते हैं जिसके कारण से किसी का भी पूर्ण लाभ नहीं प्राप्त हो पता है।

पद्मासन, सुखासन या सिद्धासन में बैठना और फिर सभी प्रयत्नों को रोक देना और साथ में मन को अनंत परमात्मा में लगाकर रखने के अभ्यास से धीरे धीरे आसन सिद्ध हो जायेगा जो फिर आगे प्राणायाम, ध्यान करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥2.48॥

पदच्छेदः ततः, द्वन्द्वः, अनभिघातः

शब्दार्थः ततः-आसन की सिद्धि हो जाने पर, **द्वन्द्वः** - सर्दी - गर्मी भूख- प्यास, लाभ- हानि आदि द्वंद्व, **अनभिघातः** -कम से कम अथवा पूर्ण रूप से नहीं सताते हैं।

व्यासभाष्यम् - शीतोष्णाादिभिर्द्वन्द्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥४८॥

भाष्यानुवादः -आसन सिद्ध होने पर (साधक) शीतोष्णादि द्वन्द्वों के द्वारा अभिभूत (बाधित) नहीं होता ॥४८॥

जैसे ही आसन सिद्ध हो जाता है तब योगी की सारी तन की और मन की विचलन समाप्त हो जाती है। जब योगी के शरीर और मन में किसी भी प्रकार का विचलन नहीं रहता है तब वह सब प्रकार के द्वंदों से मुक्त हो जाता है। जब वह आसनस्थ होता है तब शरीर में किसी भी प्रकार की गतिविधि नहीं होती है और मन के परमात्मा में लगे होने से भी मन में किसी प्रकार की गतिविधि नहीं होती है। इस प्रकार न भूख-प्यास, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि द्वंद्व नहीं सताते हैं। आसन के सिद्ध हो जाने के बाद भी उसके दैनिक जीवन में भी द्वंद्व योगी को नहीं सताते हैं। उसके जीवन में एक विशेष दृढ़ता आ जाती है। जो द्वंद्व शरीर को सताते की क्षमता रखते थे, उनका असर अब शरीर पर कम होने लगता है। जैसे सर्दी-गर्मी

ऐसे द्वंद्व जो मन को सताते हैं वे अब मन पर असर कम या पूर्ण रूप से बंद कर देते हैं। जैसे - लाभ-हानि, जय-पराजय मान-अपमान आदि। क्योंकि आसन के समय मन का परमात्मा में लगे रहने से उसमें किसी प्रकार का अब विचलन नहीं होता है।

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥2.49॥

पदच्छेदः तस्मिन् सति, श्वास,प्रश्वासयोः गतिविच्छेदः प्राणायामः

शब्दार्थ : त**स्मिन् सति**-आसन की सिद्धि हो जाने पर, **श्वास** -प्राणवायु को अन्दर लेने (पूरक) **प्रश्वासयोः** - प्राणवायु को बाहर छोड़ने की (रेचक), **गतिविच्छेदः** - सहज गति को अपने सामर्थ्य अनुरूप रोक देना या स्थिर कर देना ही, **प्राणायामः** - प्राणायाम कहलाता है।

व्यासभाष्यम् - सत्यासनजये बाहास्य वायोराचमनं चासः। कौष्ट्यस्य वायोनिःसारणं प्रश्वासः। तयोर्गतिविच्छेद उमयाभावः प्राणायायः ॥४९॥

भाष्यानुवादःआसन के सिद्ध होने पर बाह्य वायु को भीतर भर लेना श्वास है। कोष्ठगत वायु को बाहर निकालना प्रश्वास है। उन दोनों द्वारा गति का विच्छेद अर्थात् दोनों को रोकना प्राणायाम कहलाता है।।४९।।

अब महर्षि आसन किए सिद्ध हो जाने पर कसी प्राणायाम करना है उसे बताते हैं। इस सूत्र से भी स्पष्ट है कि महर्षि आसन की सिद्धि प्राणायाम से पूर्व मानते हैं। अतः साधकों को आसन की सिद्धि पर विशेष रूप से कार्य करना चाहिए जिससे वे प्राणायाम का ठीक ठीक से अभ्यास कर सकें।

योगी जब पद्मासन, सुखासन या सिद्धासन में अधिक देर तक स्थिरता पूर्वक एवं सुख लेता हुआ बैठने में समर्थ हो जाता है तब उसके श्वास और प्रश्वास की गति को रोक देने की प्रक्रिया को प्राणायाम कहते हैं।

यदि योगी स्थिरता से बैठा हुआ है और उसने श्वास भीतर ली हुई है, तब श्वास को वहीँ के वहीँ रोक देने को प्राणायाम कहेंगे। यदि योगी ने श्वास बाहर छोड़ी हुई है तो उसे बाहर वहीँ रोक देना भी प्राणायाम कहेंगे। अब यह अभ्यास पर निर्भर करेगा कि योगी कितनी देर तक श्वास को रोक कर रख

सकता है। अभ्यास से प्राणायाम की अवधि बढ़ाते जाते हैं। यही प्राणायाम की परिभाषा है। प्राणायाम के कितने प्रकार हैं ये अगले सूत्र में बताएँगे। प्राणायाम को सबसे बड़ा तप कहा गया है क्योंकि आती-जाती सांसों को रोकने में जो पुरुषार्थ करना पड़ता है और उस स्थिति में बने रहने में जो पुरुषार्थ है, उसमें बहुत तप लगता है।

प्राणायाम से पूर्व आसन की सिद्धि अनिवार्य बताई है, इसके पीछे एक महत्त्वपूर्ण कारण है-

आसन करते समय मन को परमात्मा में लगाने के लिए महर्षि ने निर्देश किया है। इस प्रकार आसन की सिद्धि होने पर मन का नियंत्रण भी साथ साथ में हो जाता है। मन और प्राण का सम्बन्ध गहरे में जुड़ा हुआ है। मन यदि शांत है तो प्राण भी शांत होते हैं और यदि प्राणों में स्थिरता होती है तो मन भी स्थिर बना रहता है। मन में यदि किसी प्रकार से चंचलता है तो प्राण भी चंचल होने लगते हैं। और इसी प्रकार प्राणों के चंचलता से युक्त होने पर मन भी चंचल हो जाता है। चूँकि आसन की सिद्धि से तन के साथ मन भी स्थिर हो जाता है और जब स्थिर तन और स्थिर मन के साथ प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है तो प्राणों को स्थिर करना आसान हो जाता है। तब आप चारों प्राणायाम का अभ्यास अच्छी प्रकार से करने में सक्षम हो जाते हैं, यही कारण है कि आसन की सिद्धि प्राणायाम और आगे ध्यान, धारणा के लिए अत्यंत उपयोगी और आवश्यक है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥2.50॥

पदच्छेद: बाह्य-आभ्यंतर-स्तम्भवृत्तिः-देश -काल-संख्याभिःपरिदृष्टः दीर्घ-सूक्ष्मः

शब्दार्थः बाह्यवृत्तिः -प्राणवायु को बाहर निकालकर कर बाहर ही रोकना, **आभ्यंतरवृत्तिः** - प्राणवायु को भीतर भरकर भीतर ही रोकना, **स्तम्भवृत्तिः**- प्राणवायु को न भीतर भरना न ही बाहर छोड़ना अर्थात् प्राणवायु जहाँ है उसे वहीं पर रोकना, देश -स्थान अर्थात् प्राणवायु नासिका से जितनी दूरी तक जाता है वह उसका स्थान है। काल -समय अर्थात् जितने समय तक प्राणवायु बाहर या भीतर रुकता है।, **संख्याभिः** -एक प्राणायाम को करने में स्वाभाविक रूप से कितने श्वास प्रश्वास हो सकते हैं, उनकी गणना द्वारा, **परिदृष्टः** -भली प्रकार देखा व जाना हुआ प्राण, **दीर्घ** -लम्बा व, **सूक्ष्मः** -हल्का हो जाता है।

व्यासभाष्यम्- यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः। यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृतायलाद्भवति। यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोच मापद्यते तथा द्वयोर्युगपद्यत्वभाव इति। क्योऽप्येते देशेन परिदृष्टा इयानस्य विषयो देश इति। कालेन परिस्रष्टा क्षणानामिवत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः संख्याभिः परिदृष्टा एतावद्भिः चासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्धिद्वितीय उद्घात एवं तृतीयः। एवं मुदुरेवं मध्य एवं तीख इत्ति संख्या-परिदृष्टः। स खल्वयमेवमभ्यस्तो दीर्थसूक्ष्मः ॥५०॥

भाष्यानुवादः- जिसमें श्वास को बाहर निकाल कर रोकना (होता है) वह 'बाह्य' है जिसमें भीतर

भरकर रोकना (होता है) वह 'आभ्यन्तर' है। तीसरा 'स्तम्भवृत्ति' (वह है जिसमें) दोनों श्वास-प्रश्वासों को प्रयत्न से तत्काल रोकना होता है। जैसे तपे पाषाण पर डाला हुआ जल चारों ओर से संकोच को प्राप्त करता है उसी प्रकार दोनों श्वास-प्रश्वासों की गति का अभाव होता है। ये तीनों देश से परीक्षित होते हैं। इतना देश इसका विषय है, इस प्रकार काल के द्वारा परीक्षित अर्थात् क्षणों की सङ्ख्या से निश्चित काल द्वारा निर्धारित सङ्ख्या द्वारा परीक्षित - इतने श्वास प्रश्वासों द्वारा प्रथम उद्घात, इसी प्रकार धारित (स्तम्भित) प्राणायाम का (इतने श्वास प्रश्वासों द्वारा) द्वितीय उद्घात एवं तृतीय उद्घात। ऐसा मृदु, ऐसा मध्य, ऐसा तीव्र इस प्रकार सङ्ख्या के द्वारा परीक्षित प्राणायाम हुआ। वह (तीन प्रकार का प्राणायाम) उक्त विधि से अभ्यस्त होने पर दीर्घ एवं सूक्ष्म (वायु सञ्चार वाला) हो जाता है।। ५०।।
महर्षि ने प्राणायाम को चार भागों में बांटा है। इस सूत्र में तीन प्रकारों को समझाया गया है। ये तीन प्रकार निम्न हैं-

1.बाह्यवृत्ति प्राणायाम

2.आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम

3.स्तम्भवृत्ति प्राणायाम।

1.बाह्यवृत्ति प्राणायामः- प्राण को तीव्र वेग से बाहर फेंककर फिर उसे बाहर ही रोक देने की प्रक्रिया को बाह्यवृत्ति प्राणायाम कहते हैं। प्राण वायु को नासिका छिद्रों से बाहर फेंकने को योग की भाषा में रेचक कहते हैं।

2.आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायामः- प्राणवायु को नासिका से भीतर लेकर फिर उसे भीतर ही रोक देने की प्रक्रिया को आभ्यंतरवृत्ति प्राणायाम कहते हैं। प्राण वायु को नासिका छिद्रों से भीतर लेने को योग की भाषा में पूरक कहते हैं।

3.स्तम्भवृत्ति प्राणायामः- जब श्वास प्रश्वास के समय हमारी श्वास जहाँ पर ही होती है (या तो बाहर होगी या भीतर) उसे वहीँ के वहीँ रोक देने की प्रक्रिया को स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम कहते हैं। श्वास को रोकने की प्रक्रिया को कुम्भक कहते हैं। यदि श्वास को बाहर रोककर रखा जाता है तो इसे बाह्य कुम्भक कहते हैं और यदि शरीर के भीतर रोका जाता है तो इसे अन्तः कुम्भक या आभ्यंतर कुम्भक कहते हैं।

ये तीनों प्राणायाम देश, काल और संख्या पूर्वक किये जाते हैं। अर्थात् जब जब ये प्राणायाम किये जायेंगे यह देखा जायेगा कि आपकी प्राण वायु नासिका से कितना आगे तक जा रही है, कितना समय आपको एक प्राणायाम करते हुए लग रहा है और एक प्राणायाम करते हुए सामान्य रूप से आप कितने श्वास प्रश्वास ले सकते हैं। इस प्रकार देश, काल और संख्या से अच्छी प्रकार से नापा हुआ या परीक्षित किया हुआ प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म या हल्का हो जाता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।।2.51।।

पदच्छेदः बाह्य, आभ्यन्तर-विषय-आक्षेपी, चतुर्थः

शब्दार्थः बाह्य –श्वास को बाहर निकाल कर बाहर ही रोकना, **आभ्यन्तर**–श्वास को भीतर लेकर भीतर ही रोकना, **विषय** –कार्य या कर्म का, **आक्षेपी**– त्याग या विरोध करने वाला, **चतुर्थः** –यह चौथा प्राणायाम है।

व्यासभाष्यम्- देशकालसंख्याभिर्वाह्यविषयपरिस्रष्ट आक्षिप्तः। तथाभ्यन्तरविषयपरिरष्ट आक्षिप्तः। उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्तु विषया नालोचितो गत्यभावः सकृदासख्ध एव, देशकालसंख्याभिः पस्टिष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वास-योविषयावधारणात्क्रमेण भूमिजयादुमयाक्षेपपूर्वको गत्यभाववतुर्थः प्राणायाम ग्रत्यये विशेषः ॥५१॥

भाष्यानुवादः-(देश काल संख्याओं द्वारा परीक्षित बाह्य विषय (वाला प्राणायाम) बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी के द्वारा) उल्लङ्घित होता है। इसी प्रकार परीक्षित आभ्यन्तर विषय वाला (इसी के द्वारा) उल्लङ्घित होता है, दोनों प्रकार से दीर्घ और सूक्ष्म होता है। (दोनों प्रकार के प्राणायामों के अभ्यासपूर्वक) भूमि की सिद्धि होने पर क्रमशः दोनों (श्वास-प्रश्वासों) की गति का अभाव होने पर चतुर्थ प्राणायाम है। तीसरा (प्राणायाम) तो बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रदेशों वाले प्राणायामों का परीक्षण किये बिना ही श्वास-प्रश्वास की गति निरोध रूप एक ही बार में किया जा सकने वाला देश, काल और संख्या से परीक्षित होता हुआ दीर्घसूक्ष्म होता है। चतुर्थ तो श्वास-प्रश्वासों के देश, काल, संख्या के निश्चय हो चुकने के कारण क्रम से भूमि के जय से दोनों (श्वास-प्रश्वासों) के अतिक्रमणपूर्वक गति का अभाव रूप चतुर्थ प्राणायाम है, यह विशेष है।। ५१।।

यह पूर्व के तीन प्रकार के प्राणायाम से एकदम भिन्न कार्य वाला प्राणायाम है।

हमने पूर्व में बाह्य वृत्ति और आभ्यंतर वृत्ति प्राणायाम को समझा है अतः यह चतुर्थ प्राणायाम इन दोनों प्राणायामों के विपरीत कार्य करता है।

जब हम बाह्य वृत्ति प्राणायाम में बाहर गई श्वास को बाहर ही रोकते हैं और कुछ समय बाद हमें शास भीतर लेने की आवश्यकता अनुभव होने लगती है। यदि इस स्थिति में हमने श्वास भीतर भर लिया तो यह बाह्य वृत्ति प्राणायाम हो जायेगा लेकिन यदि हमने श्वास भीतर न लेकर पुनः श्वास को बाहर की ओर धक्का देकर फिर से रोक लिया तो यही चतुर्थ प्राणायाम हो जायेगा। इस प्रकार एक बार ऐसा करने के बाद जब हमें तीव्र इच्छा होने लग जाएगी कि अब श्वास ले लें तब पुनः यदि प्रयत्न पूर्वक हमने एक और धक्का देकर श्वास को बाहर ही रोक लें तो यह चतुर्थ प्राणायाम का एक और अभ्यास हो जायेगा।

इस प्रकार जब श्वास भरकर हम भीतर रोकते हैं तब सामर्थ्य अनुसार रोकने के बाद इच्छा होगी कि श्वास को बाहर छोड़ दें लेकिन तभी श्वास को और भीतर खींच कर रोक लेंगे तो यह चतुर्थ प्राणायाम हो जायेगा। अब जितनी बार भी प्रयत्नपूर्वक हम ऐसा करेंगे उतनी बार चतुर्थ प्राणायाम हो जायेगा।

अतः बाह्य वृत्ति और आभ्यंतर वृत्ति के करने के बाद जब श्वास भीतर और बाहर छोड़ने की इच्छा के विपरीत प्रयत्न करते हैं तो यही चतुर्थ प्राणायाम कहलाता है।

प्राणायाम के विषय में कुछ सावधानियाँ-

1. साधना नहीं अपितु स्वास्थ्य की दृष्टि से प्राणायाम करने वाले साधक आसन और प्राणायाम को साथ साथ में साधते रहें
2. प्राणायाम को सदैव खाली पेट ही करें जिससे प्राणवायु का संचार ठीक प्रकार से हो पाए और शरीर किसी अन्य गतिविधि में न लगा रहे।
3. प्राणायाम का अभ्यास प्रारंभ में अत्यंत वेग पूर्वक नहीं करना चाहिए।
4. प्रारंभ में प्राणायाम का अभ्यास धीरे धीरे एवं छोटे छोटे अभ्यास के साथ करना चाहिए।

जिन प्राणायामों की बात यहाँ योगदर्शन में की जा रही हैं इनका अभ्यास रोग होने की स्थिति में नहीं करनी चाहिए, हाँ अनुलोम विलोम, कपालभांति आदि जो अन्य प्राणायाम के भेद हैं उन्हें धीरे धीरे किया जा सकता है, उनसे अवश्य लाभ होगा।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥2.52॥

पदच्छेदः ततःक्षीयते,प्रकाश-आवरणम् ।
शब्दार्थः ततः-उस प्राणायाम के अभ्यास से, **प्रकाश** -विवेकज्ञान पर पड़ा, **आवरणम्** -आवरण या पर्दा, **क्षीयते**-कमजोर हो जाता है।

व्यासभाष्यम्- प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म। यत्तदाचक्षते महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्त्वमावृत्य तदेवाकार्य नियुङ्क्त इति। तदस्य प्रकाशावरण ां कर्म संसार्वनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथा चोक्तम्-तपो न परे प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिच ज्ञानस्येति ॥५२॥

भाष्यानुवादः प्राणायाम करने वाले इस योगी के विवेकज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म (पाप रूप कर्म) क्षीण हो जाता है। जिसके सम्बन्ध में कहते हैं कि महान् मोहमय विषयरूपी इन्द्रजाल से प्रकाश स्वरूप बुद्धि को आवृत्त कर वह ही दुष्कर्म में लगाता है। इस योगी के प्रकाश को आवृत्त करने वाला, संसार में बाँधने वाला अशुभ कर्म प्राणायाम के अभ्यास से दुर्बल होता है और प्रतिक्षण क्षीण होता है। और उसी प्रकार कहा है कि - प्राणायाम से बढ़कर तप नहीं, उससे मलों की शुद्धि होती है और ज्ञान की दीप्ति होती है ॥५२॥

जब आसन की सिद्धि हो जाती है और सम्यक प्रकार से प्राणायम का अभ्यास बढ़ने लग जाता है तब प्राणायाम के अभ्यास से विवेकज्ञान के ऊपर पड़ा अज्ञान का पर्दा धीरे धीरे हटने लग जाता है और प्रकाश बढ़ने लग जाता है। जितने अंश में प्राणायाम से अज्ञान के या अविद्या के आवरण का नाश होता है उतने ही अंश में योगी के भीतर विवेकज्ञान का प्रकाश भी होता जाता है। प्राणायाम के सतत अभ्यास से एक ओर शरीर की शुद्धि होती है वहीँ दूसरी ओर मन का की मलिनता भी धुलती जाती

है। तन और मन के सभी विकारों का नाश होने से बुद्धि में भी निर्मलता आती है। बुद्धि में स्वयं को अलग और पुरुष को अलग देखने की क्षमता बढ़ती जाती है। पुरुष और बुद्धि का पृथक पृथक ज्ञान न हो पाना ही आवरण है और इसी आवरण का नाश प्राणायाम के द्वारा होता है।
प्राणायाम के अभ्यास से मन और प्राण दोनों एक साथ नियंत्रण में आ जाते हैं जिससे एकाग्रता बढ़ती है। इन्द्रियों के ऊपर विशेष नियंत्रण आ जाता है। आसन सिद्ध होने के बाद जब प्राणायाम भी सध जाता है तो प्रत्याहार, धारणा, ध्यान में विशेष प्रगति होती है।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥2.53॥

पदच्छेदः धारणासु,च,मनसःयोग्यता ।
शब्दार्थः च–और, **मनसः** – मन को, **धारणासु**–कहीं भी एकाग्र करने की, **योग्यता**– सामर्थ्य बढ़ जाता है।

व्यासभाष्यम्-प्राणायामाभ्यासादेव, प्रच्छदैनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य (१/३४) इति वचनात् ॥५३॥

भाष्यानुवादः प्राणायाम के अभ्यास से ही (धारणाओं में मन की योग्यता भी होती है) 'प्रच्छर्दनविध ारणाभ्यां वा प्राणस्य' (१/३४) इस वचन से ॥५३॥
प्राणायाम के दुसरे लाभ की चर्चा यहाँ की जा रही है। प्राणायाम के निरंतर अनुष्ठान से जो मन के ऊपर विशेष नियन्त्रण आ जाता है उससे मन को कहीं भी एकाग्र करने का सामर्थ्य बढ़ जाता है। योगी जब चाहे मन को देह या देह के बाहर किसी भी स्थान में एकाग्र कर लेता है। प्रत्याहार, धारणा और ध्यान की उच्चतम स्थिति पाने के लिए चित्त का एकाग्र होना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि योग या तो एकाग्र अवस्था में घटित हो सकता है या फिर निरुद्ध अवस्था में। इसलिए आसन की सिद्धि के बाद प्राणायाम में विशेष गति होना अत्यन्त आवश्यक है।
यदि मन एवं इन्द्रियों में नियंत्रण होगा तो ही प्रत्याहार सम्भव है और जब प्रत्याहार घटित होगा तभी किसी स्थान विशेष में धारणा लग पायेगी और योगी का ध्यान लग पायेगा। योग में सबकुछ परस्पर सम्बंधित है।

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥2.54॥

पदच्छेदः स्वविषय–असम्प्रयोगे, चित्तस्य–स्वरूपानुकार–इव–इन्द्रियाणाम् .प्रत्याहारः ।
शब्दार्थः स्वविषय– अपने– अपने विषयों अर्थात् कार्यों के साथ, **असम्प्रयोगे**– संपर्क सम्बन्ध न होने से, **चित्तस्य–स्वरूपानुकार** – चित्त के वास्तविक स्वरूप के, **इव**– समान या अनुसार, **इन्द्रियाणाम्** – इन्द्रियों का होना, प्रत्याहार– प्रत्याहार कहलाता है।

व्यासभाष्यम् - स्वविषयसंप्रयोगाभावे वित्तस्वरूपानुकार इवेति चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धानीन्द्रियाणि

नेतरेन्द्रिय जयबदुपायान्तरमपेक्षन्ते। यथा मधुकरराजं मक्षिका उत्पतन्तमनुत्पतन्ति निविशयानमनुनि विशन्ते तचेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानीत्येष प्रत्याहारः ॥५४॥

भाष्यानुवादः- इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ संयोग न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण करना अर्थात् चित्त के निरुद्ध होने पर चित्त के समान इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, इतर इन्द्रिय जय के समान दूसरे उपाय की अपेक्षा नहीं रखती। जिस प्रकार मधु मक्खियों की रानी के उड़ने पर मध ुमक्खियाँ उड़ती हैं, बैठने पर बैठती हैं उसी प्रकार इन्द्रियाँ चित्त के निरोध होने पर निरुद्ध होती हैं, यह प्रत्याहार है।।५४।।

महर्षि अब प्रत्याहार के विषय में अपने शिष्यों को समझाते हैं। प्राणायाम करने के बाद जब मन एवं इन्द्रियों पर योगी का नियन्त्रण आने लगता है तब धारणा और ध्यान को सिद्ध करने के लिए इन्द्रियों के विषयों पर नियन्त्रण करने की आवश्यकता रहती है। स्वभाव से ही इन्द्रियां बहिर्मुखी होती हैं, वे अपने अपने विषय की ओर गति करती हैं और यही बहिर्मुखता योग में बाधक तत्त्व है, धारणा और ध्यान के घटने में इन्द्रियों का अंतर्मुखी होना नितांत आवश्यक है।
इन्द्रियों का अपने अपने नियत विषयों या कार्यो के साथ सम्बंधित न होकर चित के स्वरुप के अनुसार अनुसरण करना ही प्रत्याहार कहलाता है अर्थात् इन्द्रियों का आहार है उनके अपने अपने विषय और उस आहार का त्याग कर देना है प्रत्याहार।
प्रत्याहार अर्थात् जब इन्द्रियां अपने विषय की ओर गति न करके अपने चित्त के वास्तविक स्वरुप में स्थित हो जाती हैं तब योगी को धारणा करने की शक्ति प्राप्त होती है और वह उस ठहरे हुए चित्त को किसी स्थान विशेष में लगाये रखने का प्रयास कर पाता है।
अतः प्रत्याहार प्राणायाम के बाद प्राप्त नियंत्रण की शक्ति का प्रायोगिक उपयोग है जो आगे धारणा और ध्यान लगाने में सहायक होता है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥2.55॥

पदच्छेदः ततः, परमा, वश्यता-इन्द्रियाणाम् ।
शब्दार्थः तत-उसके बाद अर्थात् प्रत्याहार की सिद्धि होने पर, **परमा** -परम अर्थात् सबसे ऊँचा, **वश्यता**-वशीकरण अर्थात् नियंत्रण, **इन्द्रियाणाम्**-इन्द्रियों पर आता है।

व्यासभाष्यम्- शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित। सक्तिर्व्यसनं व्यस्तत्येने श्रेयस इति। अविरुद्धा प्रतिपत्तिर्याव्या। शब्दादिसंप्रयोगः स्वेच्छवेत्यन्ये। रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित्। चित्तैकाग्रपादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः। तत्तक्ष परमात्वियं वश्यता यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत्प्रयलकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥५५॥

भाष्यानुवादः- शब्दादि (विषयों) में अव्यसन इन्द्रियजय है, ऐसा कुछ (कहते हैं)। सक्ति (आसक्ति)

व्यसन कहलाता है क्योंकि यह कल्याण से वञ्चित करती है, इस प्रकार। अविरुद्ध प्राप्ति (अर्थात् अविरुद्ध भोग) न्यायसङ्गत है (यह व्यसन नहीं है)। स्वेच्छा से शब्दादि का प्रयोग (इन्द्रियजय है) ऐसा अन्य (मानते हैं)। रागद्वेषादि का अभाव होने पर सुख-दु:ख रहित शब्दादि का ज्ञान (इन्द्रियजय है) ऐसा और कुछ लोग मानते हैं। चित्त की एकाग्रता से इन्द्रियों की शब्दादि में अप्रवृत्ति (अर्थात् इन्द्रियों का शब्दादि से) सन्निकर्ष न होना ही (इन्द्रिय जय है) ऐसा जैगीषव्य (का कथन है)। और उनसे तो यह वश्यता उत्कृष्ट है जो कि चित्त के निरोध होने पर इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, दूसरे इन्द्रियजय के समान योगीजन प्रयत्नजनित अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं रखते ॥५५॥

जब प्रत्याहार की भी सिद्धि हो जाती है अर्थात् योगी जब प्रत्याहार करने में सक्षम हो जाता है तब इन्द्रियों पर उसका एक विशेष नियंत्रण या वशता आ जाती है। वास्तविक रूप से वह इन्द्रियजय के अत्यंत करीब आ जाता है। इन्द्रियजय का अर्थ है अपनी इच्छानुसार अपनी इन्द्रियों को को उनके उनके विषय में लगाना।

अष्टांग योग के आठों ही अंग अपना अपना विशेष महत्त्व रखते हैं और प्रत्येक के ऊपर योगी को कार्य करना होता है। ये सभी आठ अंग जब योगी के द्वारा ठीक प्रकार से पालित होते हैं तब एक दुसरे की सिद्धि के लिए सहायक होते हैं। इस प्रकार प्रत्याहार की भी अपनी महत्ता है और बहुत बड़ी महत्ता है। यदि प्रत्याहार सिद्ध न हो योगी का तो वह अधिक देर तक चित्त को किसी एक स्थान पर अधिक समय के लिए लगाकर नहीं रख सकता है। उसकी इन्द्रियों पर वश न होने से चित्त बार बार इन्द्रियों के विषयों की ओर गति करता रहेगा। लेकिन प्रत्याहार की सिद्धि के लिए प्राणायाम सिद्ध होना आवश्यक है, बिना प्राणायाम के ठीक प्रकार से अभ्यास किये बिना इन्द्रियों के ऊपर नियंत्रण नहीं आयेगा और प्राणायाम की सिद्धि आसन की सिद्धि पर निर्भर है। योग में सबकुछ एक दुसरे पर निर्भर है अत: समग्रता के सिद्धांत का पालन आवश्यक है।

जब तक योग में समग्र दृष्टि का समावेश नहीं होगा तब तक वास्तविक प्रगति संभव नहीं है। जब योगी के भीतर आसन एवं प्राणायाम पूर्वक प्रत्याहार सिद्ध हो जाता है तब उसकी इन्द्रियां योगी के अनुसार ही अपने अपने विषयों की ओर प्रवृत्त होती हैं न कि वे योगी को अपने विषयों की ओर लेकर जाती हैं, इस प्रकार योगी के जीवन में एक ठहराव आ जाता है और वह धारणा और ध्यान के लिए तैयार होने लग जाता है।

इन्द्रियों की यह परम वशता क्या है ?- जब तक प्रत्याहार सिद्ध नहीं हुआ था इन्दियाँ व्यक्ति को जब चाहे तब अपने अपने विषय में लेकर चली जाती थी और न चाहते हुए भी व्यक्ति भोगों की ओर चला जाता था और होश आने पर पछताता था। योग मार्ग पर चलते चलते बहुत बार भटकता भी रहता था और फिर प्रायश्चित करते करते ग्लानि भाव में भी चले जाता था लेकिन जब प्रत्याहार सिद्ध हो जाता है तब फिर न तो भोगों की ओर ही उसकी गति होती है और न ही फिर कोई ग्लानि या भटकन ही होती है वह एकाग्र हो जाता है और फिर योग मार्ग पर वह निर्बाध रूप से आगे बढ़ने लग जाता है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।।3.1।।

पदच्छेद: देश, बन्ध:, चितस्य, धारणा
शब्दार्थ: चित्तस्य-चित्त को, **देश**-शरीर स्थित किसी स्थान (नाभि, हृदय या माथे) पर **बन्ध:** -बाँधना अर्थात् ठहराना या केन्द्रित करना, **धारणा**-धारणा होती है।

व्यासभाष्यम्- नाचिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्छिन ज्योतिषि, नासिकाचे, जिह्वाय इत्येवमादिषु देशेषु बाहो वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण वन्य इति धारणा ।।1।।

भाष्यानुवाद:नाभि चक्र में, हृदय कमल में, मस्तकगत प्रकाश में, नासिका के अग्र भाग में, जिह्वा के अग्रभाग आदि प्रदेशों में अथवा बाह्य विषय में चित्त का केवल वृत्ति से बाँधना श्धारणाश कही जाती है ।।१।।
योग मार्ग पर चलते हुए साधक जब विविध यौगिक साधनों का अभ्यास करता हुआ एक स्थिति को प्राप्त कर लेता है फलस्वरूप सिद्धियाँ उसे प्राप्त होने लगती हैं।ये सिद्धियाँ किस प्रकार योगी को मिलती हैं और क्या क्या इन सिद्धियों के द्वारा कार्य सम्पादित होता है यह विभूति पाद में महर्षि ने बतलाया है। योग दर्शन के प्रत्येक सूत्र में एक लयबद्धता छुपी हुई है, एक प्रवाह छुपा हुआ है।जैसा कि हम पूर्व के पादों (समाधि पाद और साधन पाद) में यह समझते आये हैं कि चित्त क्या है? इसका स्वरुप क्या है? अब महर्षि चित्त की धारणा विशेष के बारे में समझा रहे हैं।
योग के साधनों का अभ्यास करते हुए जब चित एकाग्र हो जाता है तो फिर उसे शरीरस्थ या शरीर के बाहर किसी अंग, स्थान विशेष पर एकाग्र करने का प्रावधान महर्षि बता रहे हैं और इसी एकाग्र करने की प्रक्रिया को यहाँ "धारणा" के नाम से परिभाषित किया जा रहा है।शांत प्रशांत मन से जब साधक अपने चित की एकाग्रता को नाभि स्नाथान, सिकाग्र, भृकुटी अथवा हृदय प्रदेश अथवा जिह्वा के अग्रभाग में से किसी एक पर ले जाता है तो इस प्रकिया को धारणा के नाम से महर्षि कह रहे हैं।यह एक पारिभाषिक सूत्र है अर्थात् ऐसा सूत्र जो किसी एक निश्चित प्रकिया को एक एक नाम दे रहा है।धारणा करने से क्या होगा यह आगे के सूत्रों में महर्षि स्वयमेव ही बताएँगे।धारणा योग के अन्तरंग साधनों में से एक अंग है, योग के अन्तरंग साधन और कौन कौन से हैं उनके विषय में महर्षि आगे बताएँगे।
योग दर्शन में कुछ सूत्र परिभाषात्मक हैं, कुछ सूत्र परिक्रियात्मक हैं, कुछ परिमाणात्मक हैं लेकिन इसके साथ ही सभी सूत्रों में विधि निषेध परक निर्देश छुपे हुए हैं।
धारणा कैसे करें : साधक को चाहिए कि अपनी सुविधा अनुसार बाह्य अथवा आंतरिक किसी अंग विशेष पर अपनी एकाग्रता को ले जाकर उस बिंदु, अंग अथवा स्थान पर ठहराने का सहज प्रयत्न करें।उस क्षण सब प्रकार से अपने आप को प्रवृति निर्वृति (किसी भी कार्य में लगने और हटने के भाव से) से ऊपर उठा ले और सहज प्रयत्न में एकाग्रता पूर्वक उस धारणा के स्थान पर बने रहें।यह

स्थान या तो शरीर के भीतर माथा, हृदय, नासिकाग्र या शरीरस्थ कोई भी चक्र हो सकता है।शरीर के बाहर किसी चित्र (वृक्ष, पर्वत, पुष्प जो भी चित्र आपको अभीष्ट हो) पर भी आप धारणा कर सकते हैं।प्रारंभ में साधक के पास अपनी सुविधा के अनुसार भीतर या बहार किसी स्थान को चुनने की स्वतंत्रता तो है लेकिन अभ्यास हो जाने के बाद धीरे धीरे साधक बाह्य अलाम्बनों को त्यागता हुआ अंतर्मुखी होने लगता है और फिर अपने भीतर ही धारणा का अभ्यास करता हुआ अपनी साधना को आगे बढाता है।इसलिए जो प्रयत्न पूर्वक पहले से ही अपने शरीरस्थ अंगों में धारणा का अभ्यास कर सके वे अवश्य करें।

निरंतर यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार का अभ्यास करता हुआ धारणा के अभ्यास के लिए प्रवृत्त होता है जिससे योग के पूर्व 5 अंगों के अभ्यास से पुष्ट हुआ मन आसानी से किसी स्थान विशेष पर एकाग्र होने लगता है।इसलिए योगाभ्यास में क्रम का भी अपना महत्व है, क्रम से आठो अंगों का किया हुआ अभ्यास शीघ्रता से फल देता है।

जैसे जैसे हमारी धारणा में गति होने लग जाती हैं, मन और शांत और प्रशांत होने लगता है।धारणा की यह साधना हमें अंतर्मुखी बनाने लग जाती है और हमारी इन्द्रियों पर हमारी वशता और प्रगाढ़ होने लग जाती है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥3.२॥

पदच्छेदः तत्र, प्रत्यैक-तानता, ध्यानम् ।

शब्दार्थः तत्र- जहाँ पर अर्थात् जिस स्थान पर धारणा का अभ्यास किया गया है, उसी स्थान पर, **प्रत्यय**- ज्ञान या चित्त की वृत्ति की, **एकतानता**- एक समान ज्ञान अर्थात् एकरूपता बनी रहना ही, **ध्यानम्** - ध्यान है।

व्यासभाष्यम्- तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सहशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामुष्टो ध्यानम्

भाष्यानुवादः- उस (धारणा विषयक) प्रदेश में ध्येय रूपी आलम्बन वाले ज्ञान की एकरूपता (ज्ञान का) एक समान प्रवाह अर्थात् दूसरे ज्ञान से अमिश्रित ज्ञान प्रवाह श्ध्यानश कहलाता है।। २।।

धारणा विषयक निर्देश देने के बाद महर्षि योग के तीन अन्तरंग साधनों में से दुसरे अन्तरंग साधन ध्यान की बात कर रहे हैं।महर्षि पतंजलि ने पुरे योग दर्शन में क्रम का विशेष महत्व रखा हुआ है।प्रत्येक विषय को ठीक से परिभाषित करते हुए, उसके साधन की बात बताते हुए फिर वे दुसरे विषय को सूत्र रूप में हमारे सामने लाते हैं।इसी क्रम में ध्यान की परिभाषा करते हुए महर्षि कहते हैं कि- अपने अपने रूचि अनुसार साधक ने जिस स्थान विशेष (नाभि चक्र, नासिकाग्र, भृकुटी या मूर्धा, हृदय प्रदेश अथवा जिह्वा के अग्र भाग) पर अपनी धारणा को बनाया था उस स्थान में उस विषयक ज्ञान के प्रवाह का एक समान जितनी देर तक बना रहता है, उतनी देर के लिए उसे ध्यान कहा जाता है।

यदि कोई योग साधक अपने मूर्धा में भगवान् के किसी साकार रूप के ऊपर धारणा करता है और उस मूर्धा स्थान पर भगवान् के रूप का ज्ञान जितनी देर तक अबाधित रूप से बना रहता है, उतनी देर के लिए समझें कि साधक का ध्यान हुआ।प्रारंभ में साधक का ध्यान हो सकता है कुछ समय के लिए ही लगे लेकिन इसी ध्यान के अभ्यास को और गहराई से करते रहने से ध्यान का अभ्यास भी अच्छे से होने लग जाता है और जितनी देर तक ध्यान लगा रहता है उतनी देर के लिए चित्त एक ही विषय में एकाग्र होने लग जाता है, जिसका परिणाम होता है कि साधक चाहे तो कभी भी, किसी भी विषय में स्वेच्छा से अपनी इन्द्रियों को अंतर्मुखी कर सकता है।जब ऐसा नियंत्रण साधक में आने लग जाए तो फिर भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों क्षेत्र में प्रगति कर सकता है।

इसीलिए पुरे भारत वर्ष में यदि सबसे अधिक प्रचलित कोई शब्द है तो वह है "ध्यान"।सभी बड़े बुजुर्ग, घर परिवार में सभी को यह बोलते हैं कि- बेटा ध्यान से जाना, ध्यान से खाना, ध्यान से रहना, ध्यान से बोलना आदि आदि।ध्यान शब्द पुरे भारत वर्ष में बोले जाने वाला सर्वाधिक प्रचलित शब्द है।लेकिन आज वैदिक शिक्षा के अभाव में इस शब्द की महत्ता केवल एक सम्भावना के रूप में ही रह गई है।जैसे जैसे वैश्विक रूप से योग को पहचान मिली है तो पुनः योग के सभी आठों अंगों के ऊपर चर्चा शुरू हुई है सबसे अधिक उसमें ध्यान के ऊपर चर्चा प्रारंभ हुई है।

जो कुछ शुभ है, उसकी धारणा करते हुए हम अपने ध्यान को बढ़ाएं तो फिर सब प्रकार से जीवन में समाधान ही समाधान होगा।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।।3.3।।

पदच्छेदः तत एव, अर्थ-मात्र-निर्भासम् ,स्वरुप-शून्यम् , इव, समाधिः

शब्दार्थः तदेव-तब वह ध्यान ही, **अर्थमात्र**-केवल उस वस्तु के अर्थ या स्वरूप का, **निर्भासं**-आभास मात्र करवाने वाला, **स्वरूपशून्यम्** -अपने स्वरूप से शून्य हुआ, **इव**-जैसा **समाधिः** -समाधि होती है।

व्यासभाष्यम्- ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्धार्स प्रत्ययात्यकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते ।।३।।

भाष्यानुवादः- ध्येयाकार में भासित होने वाला ध्यान ही जब अपने ज्ञानात्मक स्वरूप से रहित जैसा हो जाता है ध्येय के स्वभाव को प्राप्त होने के कारण, तब श्समाधिश कहा जाता है ।।३।।

धारणा और ध्यान के बाद महर्षि पतंजलि अब योग के तीन अन्तरंग साधन में से तीसरे अन्तरंग साधन समाधि के विषय में बता रहे हैं।जब साधक यम, नियम आदि सभी 5 बाह्य अंगों के समुचित पुरुषार्थ से धारणा का अभ्यास करता हुआ ध्यान में प्रतिष्ठित होता है तब ध्यान की निरंतरता से जिस विषय पर ध्यान कर रहा होता है, उसी के स्वरुप में लीन हो जाता है तो इस स्थिति को ही समाधि कहते हैं।समाधि लगने पर साधक या ध्याता अपने स्वरुप को भूल सा जाता है या यूँ कहें वह भूल जाता है कि वह ध्यान कर रहा था या वह किसका ध्यान कर रहा था, उसे बस ध्येय (जिसपर ध्यान लगाया जा जाता है) के स्वरुप का भी ज्ञान होता रहता है।

उदहारण के लिए : यदि कोई साधक, शास्त्रों में वर्णित परम पिता परमेश्वर के स्वरुप पर धारणा करता हुआ धीरे धीरे ध्यानस्थ हो जाता है तो जितनी देर तक ध्यान प्रगाढ़ होता है उतनी देर साधक समाधि में रहता है और उसे केवल परम पिता परमेश्वर के स्वरुप का ही भान होता रहता है।इस भाव स्थिति में साधक स्वयं के अस्तित्व से भी अनभिज्ञ रहता हुआ केवल ईश्वर के आनंद में डूबा रहता है, जितनी देर तक ध्यान अविछिन्न रूप से बना रहता है, समाधि भी लगी रहती है।इसलिए आपने "ध्यान टूट जाता है", "समाधि टूट जाती है" इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग सुना होगा।

महर्षि व्यास ने योग को समाधि कहा है और समाधि को खोलते हुए उसे समाधान का नाम दिया है।वस्तुतः योग समाधान के रूप में ही हमारे समक्ष आता है।आज के इस भौतिक जगत में यदि समाधान रूप कोई विकल्प है तो वह केवल योग ही है।एकमात्र योग के आश्रय में रहकर हम अपने सम्पूर्ण जीवन को सब दिशाओं से उठा सकते हैं।चाहे स्वस्थ जीवन की बात हो या एक आदर्श जीवनचर्या के जीने की बात हो, यह सबकुछ योग में स्थित रहकर संभव किया जा सकता है।जब हमारे जीवन में सब प्रकार से समाधान होता है तभी हम सुखी हो सकते हैं और आनंद को प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि जिसके पास समाधान नही होता है वही दुखी और दरिद्र अपने को महसूस करता है।

यदि मनुष्य सब कर्मों को करता हुआ योग के इन तीन अन्तरंग अंगो 'धारणा-ध्यान-समाधि' को अपने जीवन में नहीं सम्मिलित करता है तो सब प्रकार का असंतुलन जीवन में प्रवेश कर जाता है।सब प्रकार के बाह्य पुरुषार्थ करते हुए यदि हम आन्तरिक पुरुषार्थ नही करेंगे तो यही असंतुलन का कारण बन जाता है।इसलिए जीवन में संतुलन के लिए बाह्य एवं आन्तरिक पुरुषार्थ दोनों आवश्यक हैं।

स्मरणीय बिन्दु

- अनुष्ठान का प्रभाव: योग के अंगों के निरंतर अनुष्ठान से अशुद्धियों का नाश होता है और विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है।
- शास्त्रोक्त न कारण: शास्त्र में उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, आप्ति, वियोग, अन्यत्व और धृति नाम से नौ कारण बताए गए हैं।
- योग के आठ अंग: यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के आठ मुख्य अंग (अष्टांग योग) हैं ।
- पाँच यम: अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम कहलाते हैं, जो मन, वचन और कर्म से पालनीय हैं ।
- सार्वभौम महाव्रत: जब यम जाति, देश, काल और समय की सीमाओं से रहित होकर सब अवस्थाओं में पाले जाते हैं, तब वे महाव्रत बनते हैं ।
- पाँच नियम: शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम हैं, जिन्हें दैनिक जीवन में अपनाना अनिवार्य है ।
- प्रतिपक्ष भावना: यम-नियमों के पालन में जब हिंसा आदि वितर्क (बाधाएँ) बाधा डालें, तब

उनसे विपरीत शुभ विचारों का चिंतन करना चाहिए ।

- हिंसा के भेदः मूल रूप से कृत, कारित और अनुमोदित रूप में तीन प्रकार की हिंसा, लोभ-क्रोध-मोह के भेदों से कुल ८१ प्रकार की हो जाती है ।
- प्राणायाम के चार प्रकारः श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है, जिसके बाह्य, आभ्यंतर, स्तम्भवृत्ति और चतुर्थ नाम से चार प्रकार हैं ।
- अंतरंग योग त्रयः धारणा, ध्यान और समाधि को योग का अंतरंग साधन माना गया है, जो साधक को सीधे आत्मिक समाधान तक पहुँचाते हैं ।

विशेष शब्दावली

- विवेकख्यातिः प्रकृति (गुणों) और पुरुष (जीवात्मा) के वास्तविक पृथक् स्वरूप का यथार्थ ज्ञान।
- अनुष्ठानः मन, वचन और कर्म की एकरूपता के साथ किया जाने वाला विशेष व्रताभ्यास।
- अस्तेयः बिना स्वामी की आज्ञा के किसी की वस्तु को न लेने या चोरी न करने का दृढ़ भाव ।
- अपरिग्रहः जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक साधनों से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करने की प्रवृत्ति।
- वितर्कः यम और नियमों के मार्ग में बाधा पहुँचाने वाले हिंसा, असत्य और कामुकता आदि दुर्विचार ।
- कृत-कारित-अनुमोदितः स्वयं किया हुआ (कृत), दूसरों से कराया हुआ (कारित) और गलत कार्य का समर्थन करना (अनुमोदित)।
- गतिविच्छेदः श्वास और प्रश्वास की स्वाभाविक चलती हुई गति को अपने सामर्थ्य अनुसार रोक देना।
- प्रत्याहारः इंद्रियों को उनके बाहरी विषयों से हटाकर चित्त के स्वरूप के अनुकूल अंतर्मुखी कर लेना।
- एकतानताः ध्येय वस्तु के ज्ञान या चित्त की वृत्ति का बिना किसी व्यवधान के एक समान निरंतर बहना।
- समाधिः ध्यान की वह पराकाष्ठा जहाँ साधक स्वयं के स्वरूप को भूलकर केवल ध्येय मात्र के आभास में लीन रहता है।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १: सार्वभौम महाव्रत किसे कहते हैं? इसके घटकों को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न २: यम-नियमों के संदर्भ में प्रतिपक्ष भावनम् की साधना विधि क्या है?

प्रश्न ३: आसन की मूल परिभाषा क्या है और महर्षि पतंजलि के अनुसार इसे सिद्ध करने के क्या उपाय हैं?

प्रश्न ४: प्रत्याहार का क्या अर्थ है? व्यास भाष्य में दिए गए मधुमक्खी के उदाहरण से इसे समझाइए।
प्रश्न ५: योग दर्शन के अनुसार धारणा और ध्यान में क्या सूक्ष्म अंतर है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १: अष्टांग योग के प्रथम दो अंगों यम और नियम का विस्तृत सकारण वर्गीकरण कीजिए। इनके निरंतर अनुष्ठान से साधक को मिलने वाले फलों की ससूत्र समीक्षा कीजिए।
प्रश्न २: पतंजलि योगसूत्र के आधार पर प्राणायाम की प्रामाणिक परिभाषा दीजिए। इसके चारों प्रकारों (बाह्य, आभ्यंतर, स्तम्भवृत्ति और चतुर्थ) की व्यास भाष्य के आलोक में सविस्तार व्याख्या कीजिए।
प्रश्न ३: योग के अंतरंग अंगों धारणा, ध्यान और समाधि के क्रमिक अंतर्संबंधों का विश्लेषण कीजिए। समाधि की अवस्था में स्वरूपशून्यमिव पद से क्या अभिप्राय है? स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

१. योगांगों के निरंतर अनुष्ठान से अशुद्धियों का क्षय होने पर किसकी प्राप्ति होती है?
(अ) सांसारिक वैभव की
(ब) विवेकख्याति पर्यंत ज्ञानदीप्ति की
(स) स्थूल शरीर के अमरत्व की
(द) केवल शारीरिक बल की

२. शास्त्र के अनुसार मन विज्ञान का कारण है यह किस प्रकार का कारण माना गया है?
(अ) उत्पत्तिकारण
(ब) स्थितिकारण
(स) विकारकारण
(द) वियोगकारण

३. मन, वचन और कर्म की एकरूपता के साथ किए जाने वाले विशेष व्रताभ्यास को क्या कहते हैं?
(अ) प्राणायाम
(ब) प्रत्याहार
(स) अनुष्ठान
(द) धारणा

४. सब प्रकार से, सब कालों में समस्त प्राणियों को मन, वाणी और कर्म से पीड़ा न देना क्या कहलाता है?

(अ) सत्य

(ब) अहिंसा

(स) अस्तेय

(द) अपरिग्रह

५. यम और नियमों के पालन में बाधा डालने वाले अशुभ विचारों को योग दर्शन में क्या संज्ञा दी गई है?

(अ) वितर्क

(ब) प्रत्यय

(स) विकल्प

(द) महाव्रत

६. हिंसा मूल रूप से कृत, कारित और अनुमोदित के भेद से तीन प्रकार की है, इसके मूल में कौन-से तीन कारण होते हैं?

(अ) काम, मद, लोभ

(ब) लोभ, क्रोध, मोह

(स) अविद्या, अस्मिता, राग

(द) ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान

७. संतोष नामक नियम का सम्यक् पालन करने से साधक को किस फल की प्राप्ति होती है?

(अ) रत्नों की उपस्थिति

(ब) पूर्वजन्म का ज्ञान

(स) अनुत्तम (परम) सुख की लाभ

(द) इष्टदेवता का दर्शन

८. प्राणवायु को नासिका छिद्रों से तीव्र वेग पूर्वक बाहर निकालकर बाहर ही रोक देने की प्रक्रिया क्या कहलाती है?

(अ) बाह्यवृत्ति प्राणायाम

(ब) आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम

(स) स्तम्भवृत्ति प्राणायाम

(द) चतुर्थ प्राणायाम

९. इंद्रियों का अपने-अपने बाहरी विषयों से संबंध टूटकर चित्त के स्वरूप के सदृश अंतर्मुखी हो जाना क्या है?

(अ) धारणा

(ब) प्रत्याहार

(स) आसन

(द) ध्यान

१०. जब ध्यान ध्येय के स्वरूप में पूरी तरह लीन होकर अपने ज्ञानात्मक स्वरूप से रहित जैसा हो जाता है, तब उसे क्या कहते हैं?

(अ) धारणा

(ब) नियम

(स) समाधि

(द) प्रतिपक्ष भावना

खण्ड- 4

उद्देश्य

- संयम (धारणा, ध्यान और समाधि का मिश्रण) के वास्तविक स्वरूप को समझाना ।
- योग से प्राप्त होने वाली विभूतियों या सिद्धियों का संक्षिप्त परिचय देना।
- समय की सबसे छोटी इकाई क्षण और उसके क्रम पर संयम की विधि बताना।
- मनुष्यों के तीन प्रकार के कर्मों (शुक्ल, कृष्ण, मिश्रित) के विज्ञान को स्पष्ट करना।
- धर्ममेघ समाधि और जीवन के अंतिम लक्ष्य कैवल्य के स्वरूप को परिभाषित करना।

परिणाम

- विद्यार्थी धारणा और ध्यान को मजबूत करके प्रज्ञावान (उत्कृष्ट बुद्धिमान) बनने में सफल होंगे।
- छात्र समय की सूक्ष्मता (क्षण) को समझकर जीवन में समय का सर्वश्रेष्ठ प्रबंधन कर सकेंगे।
- निष्काम और शुक्ल कर्मों को अपनाकर विद्यार्थियों का जीवन दोषमुक्त, नैतिक और तनावमुक्त बनेगा।
- छात्र सिद्धियों या सफलताओं के मिलने पर भी अहंकारमुक्त रहकर निरंतर आगे बढ़ते रहेंगे।
- ध्यान, संयम और समाधि के सिद्धांतों को सिखाने वाले उच्च स्तरीय योग थेरेपिस्ट (Therapist) या मार्गदर्शक बनकर देश-विदेश में भारी आर्थिक लाभ अर्जित करेंगे।

इकाई 13
संयम का स्वरुप एवं संयम का फल

त्रयमेकत्र संयमः।। 3.4।।

पदच्छेदः त्रयम् , एकत्र, संयमः ।

शब्दार्थः त्रयम् -तीनों (धारणा, ध्यान व समाधि) का, **एकत्र** -एक ही विषय में सम्मिलित रूप से लगे रहने की स्थिति, **संयमः**-संयम कहलाती है।

व्यासभाष्यम्- तदेतद्धारणाध्यानसमाधित्रयमेकत्र संयमः। एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति।।४।।

भाष्यानुवादः - एक विषयक (धारणा, ध्यान, समाधि नामक) तीनों साधन संयम कहे जाते हैं। (अर्थात् इन तीनों का समुदित नाम संयम है) इस कारण इन तीनों की शास्त्रीय परिभाषा संयम है ।।४।।
अष्टांग योग के अंतिम तीन अंगों (धारणा, ध्यान व समाधि) का किसी एक ही विषय में अभ्यास करना संयम कहलाता है।

इस सूत्र के माध्यम से महर्षि " धारणा, ध्यान और समाधि " को संयम के नाम से कह रहे हैं। योगदर्शन के आगे के सूत्रों में जब महर्षि किसी एक ही वास्तु, स्थान या शरीर के आन्तरिक अंगों में धारणा, ध्यान और समाधि लगाने की बात करेंगे तो अलग अलग धारणा-ध्यान और समाधि का प्रयोग न करके केवल इतना ही कहेंगे कि इस स्थान, अंग विशेष पर संयम करने से ये विशेष परिणाम आएंगे। यहाँ इस सूत्र के माध्यम से धारणा-ध्यान और समाधि को एक सामूहिक नाम "संयम" दे दिया गया है।लेकिन एक बात ध्यान देने योग्य है कि जब धारणा-ध्यान-समाधि एक ही विषय, वस्तु में होंगे और एक ही प्रवाह में होंगे तभी हम इसे "संयम" के नाम से संबोधित करेंगे।अथवा ऐसे समझें कि जब महर्षि संयम लगाने की बात करते हैं तो उसी विषय, स्थान या अंग पर धारणा-ध्यान और समाधि का अभ्यास करना है।सम्यक धारणा-ध्यान और समाधि के बाद ही अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः॥ 3.5॥

पदच्छेदः तत् ,जयात् , प्रज्ञालोकः ।
शब्दार्थः तत् -उस संयम पर, **जयात्**- विजय प्राप्त करने से, **प्रज्ञा**- समाधि प्रज्ञा का, **आलोकः** - प्रकाश या उत्कर्ष होता है।

व्यासभाष्यम्- तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोको, यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदीभवति ॥५॥

भाष्यानुवादः- उस संयम के जीत लेने पर समाधि प्रज्ञा का आलोक (उत्कर्ष) होता है। जैसे जैसे संयम दृढ़ (परिपक्व) होता जाता है वैसे वैसे समाधि प्रज्ञा निर्मल होती जाती है।
धारणा-ध्यान-समाधि जिसे एक स्वरुप से संयम कहते हैं, का अभ्यास करने से और फिर उसकी सिद्धि होने से साधक को प्रकृष्ट ज्ञान का प्रकाश स्वयं में हो जाता है।इस सूत्र में महर्षि ने संयम करने से सर्वप्रथम क्या फल मिलता है यह बतलाया है।जब तक संयम सिद्ध नही हो जाता है तब तक किसी वस्तु, विषय का सामान्य ज्ञान तो होता रहता है लेकिन संयम के सिद्ध होने पर तद्विषयक सही सही ज्ञान होने लगता है।साधना से यह सिद्धि साधक को मिलने लगती है।इस प्रकार के ज्ञान के प्राप्त होने पर साधक को चाहिए कि भूलवश अहंकार भी भीतर प्रवेश न करें क्योंकि सभी सिद्धियाँ अपने साथ अहंकार को ला सकती हैं यदि साधक चेतन और सावधान नहीं रहा तो इस सिद्धिओं का प्रयोग करता हुआ कुछ ही समय में अपनी स्थिति से नीचे गिर सकता है और उसकी साधना खंडित हो सकती हैं इसलिए सिद्धिओं की प्राप्ति में यह सावधानी विशेष रूप से रखने के लिए महर्षि ने अंत में स्पष्ट निर्देश भी दिया है।
संयम की सिद्धि होने जाने पर साधक के चित्त में तमोगुण और रजोगुण न्यून हो जाते हैं जिससे सत्वगुण अधिक उभर कर आ जाता है और विशेष ज्ञान की अनुभूति होने लग जाती है।चित्त की इस दशा को बनाये रखने के लिए साधक को चाहिए कि वह संयम का निरंतरता के साथ अभ्यास करता रहे।

ध्यान रहे यहाँ संयम को एकत्व रूप में धारणा-ध्यान और समाधि को कहा जा रहा है।

तस्य भूमिषु विनियोगः॥ 3.6॥

पदच्छेदः तस्य, भूमिषु, विनियोगः
शब्दार्थः तस्य -उस संयम का, **भूमिषु** -योग की भूमियों या अवस्थाओं में, **विनियोगः** -विशेष प्रयोग या अभ्यास करना चाहिए।

व्यासभाष्यम्- तस्य संयमस्य जितभूमेर्यानन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः। न ह्यजिताधरभूमिरनन्तरभूषि विलङ्घय प्रान्तभूमिषु संयमं लभते। तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः ! ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तर भूमिकाय च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः। कस्मात् ? तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात्। भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः। कथम् ? एवं ह्युक्तम् -

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् इति ॥६॥

भाष्यानुवादः- उस संयम की जितभूमि की जो अगली भूमि है उसमें विनियोग = प्रयोग करना चाहिये। निम्न भूमि को न जीतनेवाला योगी तदनंतर भूमि को छोड़कर अगली ऊँची भूमियों में संयम नहीं कर सकता। उस संयम के न होने से प्रज्ञा लोक = (उस योगी की प्रज्ञा का उत्कर्ष) कैसे हो सकता है ? ईश्वर की कृपा से अगली भूमियों को जीते हुए योगी का परचित्त ज्ञान आदि पिछली भूमियों में संयम अपेक्षित नहीं है। क्यों ? वह अर्थ (उत्तर भूमिजय) अन्य कारण (ईश्वरप्रसाद) से ज्ञात होने से। इस भूमि के अनन्तर यह यह भूमि है इस विषय में योग ही गुरु = मार्गदर्शक है। कैसे ? ऐसा ही कहा है - योग, योग के द्वारा जानने योग्य है। योग, योग से आगे बढ़ता है। योग में जो अप्रमत्त = (असावधान नहीं होता) है, वह दीर्घकाल तक योग में रमण करता है अर्थात् योगजन्य आनन्द का अनुभव करता है॥ ६॥

जब साधक को संयम सिद्धि से विशेष बुद्धि मिल जाती है तो उस बुद्धि का प्रयोग कर उसके ही आश्रय में आगे बढ़ना चाहिए, क्योंकि वह विशेष बुद्धि मिली ही इसीलिए है कि उसका सहारा लेकर साधक अपने आगे की योग की अवस्थाओं में आगे बढ़ सके।यह एक प्रकार का साधक को प्रभु का प्रसाद है।
योग में शनैः शनैः प्रवेश के लिए कहा जाता है क्योंकि क्रमबद्ध बढ़ने से और धीरे धीरे अनुभव करते हुए बढ़ने से योग का मार्ग सुगम से सुगमतर होता चले जाता है लेकिन यदि जल्दीबाजी की और शॉर्टकट लेने का भाव बना रहा तो साधना भी खंडित होती है और योग का सारा पुरुषार्थ भी व्यर्थ चले जाता है।इसलिए संयम सिद्धि से जो बुद्धि में प्रकाश होता है उसी का सहारा लेकिन धीरे धीरे आगे बढ़ने के लिए महर्षि ने इस सूत्र के माध्यम से निर्देशित किया है।
जैसे ही यह विशेष प्रज्ञा साधक को मिलती है , वही विशेष प्रज्ञा साधक को आगे की योग की अवस्था

कौन सी है उसका भी प्रकाश साधक की बुद्धि में करती है।साधक को चाहिए की निकटवर्ती योग की अवस्था में पुनः धारणा-ध्यान-समाधि की एकरूप साधना करके योग की अवस्था को भी पार करे, यही क्रम महर्षि जी इस सूत्र के माध्यम से बता रहे हैं, यदि साधक निकटवर्ती योग की अवस्था को छोड़कर उससे आगे की अवस्थाओं में संयम का अभ्यास करता है तो निश्चित ही योग मार्ग में व्यवधान खड़े हो जायेंगे। महर्षि इस सूत्र के माध्यम से एकबार फिर क्रमबद्ध साधना एवं क्रमबद्ध फल प्राप्ति का महत्व बता रहे हैं।

संयम सिद्धि के बाद उपजी विशेष प्रज्ञा से साधक को सहज ही यह ज्ञान प्राप्त हो जायेगा लेकिन महर्षि फिर भी आगाह कर रहे हैं जिससे कि किसी भी प्रकार की मानवीय गलतियों के लिए कोई भी स्थान शेष न रह जाये।

स्मरणीय बिन्दु

- संयम की परिभाषाः अष्टांग योग के अंतिम तीन अंगों, धारणा, ध्यान और समाधि का जब एक ही विषय या वस्तु में एक साथ प्रयोग होता है, तो उसे संयम कहते हैं।
- प्रज्ञालोक की प्राप्तिः संयम पर विजय प्राप्त करने या उसके परिपक्व होने से साधक के चित्त में रजोगुण और तमोगुण कम हो जाते हैं और समाधि प्रज्ञा का निर्मल प्रकाश (उत्कर्ष) उदित होता है।
- क्रमबद्ध साधना का महत्त्वः योग में शॉर्टकट या जल्दबाजी वर्जित है; साधक को संयम का विनियोग निचली भूमि को जीतने के बाद उससे ठीक अगली उच्च भूमि में क्रमानुसार ही करना चाहिए।

विशेष शब्दावली

- एकत्रः एक ही विषय, वस्तु या स्थान में सम्मिलित रूप से लगे रहने की स्थिति।
- प्रज्ञालोकः संयम की सिद्धि से बुद्धि में उदित होने वाला समाधि प्रज्ञा का प्रकृष्ट प्रकाश या यथार्थ ज्ञान।
- विनियोगः योग की विभिन्न भूमियों या अवस्थाओं में योग्यता के अनुसार संयम का विशेष प्रयोग अथवा अभ्यास करना।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १: पतंजलि योगसूत्र के अनुसार संयम किसे कहते हैं? विवेचना कीजिए।

प्रश्न २: तस्य भूमिषु विनियोगः सूत्र के माध्यम से महर्षि पतंजलि साधक को क्या मार्गदर्शन दे रहे हैं?

बहुविकल्पीय प्रश्न

१. धारणा, ध्यान और समाधि के सम्मिलित रूप को शास्त्र में क्या संज्ञा दी गई है?

(अ) प्रत्याहार

(ब) संयम

(स) महाव्रत

(द) विवेकख्याति

२. संयम पर विजय प्राप्त करने से सर्वप्रथम किसका आलोक या उत्कर्ष होता है?

(अ) समाधि प्रज्ञा का

(ब) शारीरिक बल का

(स) सांसारिक धन का

(द) केवल इंद्रियों का

३. संयम की सिद्धि हो जाने पर साधक के चित्त में कौन-से दो गुण न्यून (कम) हो जाते हैं?

(अ) सत्त्व और रज

(ब) सत्त्व और तम

(स) रज और तम

(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

४. तस्य भूमिषु विनियोगः सूत्र के अनुसार संयम का प्रयोग कहाँ करना चाहिए?

(अ) सीधे सर्वोच्च भूमि पर

(ब) जित भूमि से ठीक अगली उच्च भूमि पर

(स) केवल पिछली जीती हुई भूमियों पर

(द) साधना छोड़कर लौकिक कार्यों में

५. व्यास भाष्य में उद्धृत श्लोक के अनुसार योग को किसके द्वारा जाना जाना चाहिए?

(अ) केवल गुरु के वचनों द्वारा

(ब) शास्त्रों के रटने द्वारा

(स) योग के (अभ्यास) द्वारा

(द) केवल कल्पनाओं द्वारा

इकाई 14
विभूतियों का संक्षिप्त परिचय एवं विवेक ज्ञान का स्वरुप

योगदर्शन के तीसरे अध्याय 'विभूतिपाद' में योग के अभ्यास द्वारा प्राप्त होने वाली विभूतियों अथवा सिद्धियों का वर्णन किया गया है। ये विभूतियाँ धारणा, ध्यान और समाधि के एकत्रित त्रि-संयम की साधना स्वरूप उत्पन्न होती हैं। इनमें मनोविज्ञानिक, पारलौकिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ जैसे-भूत, भविष्य का ज्ञान, दूसरों के चित्त का पढ़ना, रूप-परिवर्तन, परकाया प्रवेश, सूक्ष्म एवं आकाश गमन, अणिमा-लघिमा आदि महान सिद्धियाँ आती हैं।
हालाँकि महर्षि पतंजलि स्पष्ट करते हैं कि ये विभूतियाँ योगी के मार्ग में विघ्न भी बन सकती हैं यदि उनमें आसक्ति हो जाए। ये केवल साधक की उन्नति का संकेत हैं, अंतिम नहीं। योग का परम उद्देश्य है-कैवल्य, अर्थात चित्त की सम्पूर्ण निवृत्ति और पुरुष का स्वरूप में स्थित होना। इसलिए योगी को चाहिए कि वह इन सिद्धियों में न रुककर विवेकपूर्वक अंतिम लक्ष्य मुक्ति की ओर निरन्तर अग्रसर हो। विभूतियाँ योगसाधना की सफलता के संकेत मात्र हैं, परन्तु उन पर आसक्त न होकर उन्हें विवेकर्पूवक पार कर लेना ही एक सच्चे योगी की पहचान है।

महर्षि पतंजलि द्वारा विभूतिपाद में कुल 37 विभूतियों का वर्णन किया गया है। इन विभूतियों के पीछे मुख्य साधन है संयम (धारणा, ध्यान, समाधि का एकत्र अभ्यास), विवेकख्याति - (सत्त्व और पुरुष का स्पष्ट भेद), चित्तशुद्धि और वैराग्य

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्॥ 3.52॥

पदच्छेद: क्षण-तत्क्रमयोः, संयमात् , विवेकजं, ज्ञानम्
शब्दार्थः क्षण-समय की सबसे छोटी इकाई को क्षण कहते हैं, **तत्क्रमयोः** -क्षण एवं क्षण की निरंतरता में, **संयमात्** -संयम करने से, **विवेकजं**- विवेकज (विवेक से उत्पन्न), **ज्ञानम्**- ज्ञान की प्राप्ति होती है।

व्यासभाष्यम् - यथापकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणः। यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यादुत्तरदेशमुपसंपद्येत स कालः क्षणः, तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः। क्षणतत्क्रमयोर्नास्ति वस्तुसमाहार इति बुद्धिसमाहारो मुहूर्ताहोरात्रादयः। स खल्वयं कालो वस्तुशून्यो बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते।

क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी। क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा। तं कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः। न च द्वौ क्षणौ सह भवतः। क्रमश्च न द्वयोः सहभुवोरसंभवात्, पूर्वस्मादुत्तरस्य भाविनो यदानन्तर्यं

क्षणस्य स क्रमः। तस्माद्वर्तमान एवैकः क्षणो न पूर्वोत्तरक्षणाः सन्तीति। तस्मान्नास्ति तत्समाहारः। ये तु भूतभाविन क्षणास्ते परिणामान्विता व्याख्येयाः। तेनैकेन क्षणेन कृत्स्नो लोकाः परिणाममनुभवति। तत्क्षणोपारूढाः खल्वमी सर्वे धर्माः। तयोः क्षणतत्क्रमयोः संयमात्तयोः साक्षा-त्करणम्। ततश्च विवेकजं ज्ञानं प्रादुर्भवति ।।५२।।

भाष्यानुवादः- जिस प्रकार छोटे से छोटा द्रव्य परमाणु (कहा जाता) है। इसी प्रकार छोटे से छोटा काल, क्षण (कहलाता) है अथवा जितने समय में चला हुआ परमाणु पूर्व देश को छोड़कर उत्तर देश को प्राप्त करे वह काल श्क्षणश (कहलाता) है। उन (क्षणों का) अविच्छिन्न प्रवाह 'क्रम' कहा जाता है। क्षण और उनके क्रम का वस्तुरूप में संग्रह नहीं (होता) है इसलिए मुहूर्त अहोरात्रादि बुद्धिगृहीत हैं। वह यह (बुद्धि के द्वारा गृहीत) अवास्तविक काल बुद्धि द्वारा निर्मित, शब्दज्ञान के पीछे चलनेवाला, लौकिक असमाहित जनों को वस्तु स्वरूप के समान प्रतीत होता है।

क्षण तो वास्तविक एवं क्रम का आश्रय (होता है), और क्रमशः क्षणों का अव्यवहित स्वरूप है। कालवेत्ता योगीजन उसको 'काल' ऐसा कहते हैं। दो क्षण एक साथ उपस्थित नहीं होते। और दो क्षणों का क्रम भी एक साथ नहीं होता, दो क्षणों का एक साथ उपस्थित होना, असंभवहोने से। पूर्व क्षण से उत्तर क्षण का जो अव्यवहितत्व है, वह क्रमशः है। इसलिए वर्तमान ही एक क्षण (होता) है पूर्व एवं उत्तर क्षण नहीं होते। इसलिए उसका संग्रह नहीं (होता) है। जो तो भूत और भावी क्षण हैं वे परिण ाम में अन्वित कहे जाने चाहिए। उस एक (वर्तमान) क्षण के द्वारा समस्त लोक परिणाम का अनुभव करता है। वे धर्म उस क्षण पर आरूढ़ हैं। उन क्षण एवं उनके क्रमों में संयम से उन (क्षण एवं क्रमों) का साक्षात्कार होता है। उससे विवेकजन्य ज्ञान प्रादुर्भूत होता है ।।५२।।

जब योगी समय की सूक्ष्म गणना जिसे महर्षि क्षण नाम से कह रहे हैं, उसपर संयम करता है तो योगी को विवेकज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। क्षण क्षण परस्पर जुड़ते चले जाते हैं और जब दो क्षणों के क्रम के विभाग में योगी धारणा,ध्यान और समाधि को एक साथ लगाता है तो वह वह सत्य और असत्य, सही और गलत, कर्त्तव्य और अकर्तव्य, विधि और निषेध इन सबके बीच के अंतर को स्पष्ट रूप से जान लेता है और मुक्त होने के मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है।

जो कुछ इस संसार में घटित हो रहा है तो भगवान के अतिरिक्त यदि उसका कोई प्रत्यक्ष साक्षी है तो वह है समय। अब आइए समझते हैं कि समय क्या है?

क्षण -क्षण का जोड़ है समय और यह सदैव वर्तमान ही होता है। समय के बीत जाने और प्रतीक्षा की अपेक्षा से यह भूत और भविष्य कहलाता है। लेकिन समय सदैव वर्तमान रहा है इसलिए उसके गर्भ में सब ज्ञान, विज्ञान समाहित है। इसलिए महर्षि पतंजलि कह रहे हैं कि समय की सबसे सूक्ष्म इकाइयों के बीच जब संयम करते हैं तो योगी को विवेक ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। विवेक ज्ञान का अर्थ ही है जिसने जैसा था वैसा ज्ञान लिया। किसी भी प्रकार की मिलावट विवेक ज्ञान में नहीं होती है। यही विवेकज्ञ को फिर मुक्ति के मार्ग पर आगे ले जाता है और योगी मुक्त हो जाता है।

कहावत भी है कि - जिसने कण पकड़ लिया वह धनवान हो जाता है और जिसने क्षण पकड़ लिया वह ज्ञानवान हो जाता है।

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयम् अक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।। 3.54।।

पदच्छेद: तारकं, सर्व-विषयं, सर्वथा-विषयम् , अक्रमं, च-इति,विवेकजं, ज्ञानम् ।
शब्दार्थ: तारकं-स्वयं की प्रतिभा अर्थात् योग्यता, साधना से उत्पन्न होने वाला ज्ञान, **सर्वविषयं**-सभी ज्ञेय तत्त्वों को जानने वाला, **सर्वथा**- सदा अर्थात् भूतकाल, वर्तमान काल व भविष्य काल में, **विषयम्**-सभी विषयों को जानने वाला, **च**-और, **अक्रमम्** -बिना क्रम के **इति**- ऐसा या इस प्रकार का, **विवेकजं**- विवेक से उत्पन्न, **ज्ञानम्**- ज्ञान कहलाता है।

व्यासभाष्यम्- तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्यर्थः। सर्वविषयत्वान्नास्य किञ्चिद-विषयीभूतमित्यर्थः।सर्वथाविषयमतीतानागतप्रत्युत्पन्नंसर्वपर्यायैःसर्वथाजानातीत्यर्थःअक्रममित्येकक्षण ाोपारूढं सर्वं सर्वथा गृह्णातीत्यर्थः। एतद्विवेकजं ज्ञानं परिपूर्णम्। अस्यैवांशो योगप्रदीपो, मधुमती भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति ।। ५४।।

भाष्यानुवादः- तारक का अर्थ यह है कि अपनी प्रतिभा से उत्पन्न, उपदेश जनित नहीं है। श्सर्वविषयश का अर्थ यह है कि इसका कोई अविषय नहीं है। सर्वथाविषय का अर्थ यह है कि अतीत, अनागत, वर्तमान सबको सब प्रकार से जानता (जनाता) है। अक्रम का अर्थ यह है कि एक क्षण में उपस्थित सब को सब प्रकार से ग्रहण करता (कराता) है। यह विवेकज ज्ञान परिपूर्ण होता है। मधुमती भूमि से लेकर जहाँ तक (योग प्रदीप) परिसमाप्त होता है वहाँ तक रहने वाला वह योगप्रदीप इसी विवेकज ज्ञान का अंश है । ५४।।

पूर्व के दो सूत्रों में विवेकज्ञान के विषय में अलग अलग प्रकार से चर्चा महर्षि ने की है। अब महर्षि विवेकज्ञान क्या होता है? विवेकज्ञान की मुख्य क्या विशेषताएं हैं उनके विषय में बात कर रहे हैं। क्योंकि विवेकज्ञान का वास्तविक स्वरूप क्या है यह प्रश्न शिष्यों के मन में आना स्वाभाविक था।
महर्षि पतंजलि विवेकज्ञान की चार मुख्य विशेषताओं की बात कर रहे हैं।
1. तारक
2. सर्व विषय
3. सर्वथा विषय
4. अक्रम
अर्थात् योगी की स्वयं की मति या स्व-सामर्थ्य से उत्पन्न होने वाला, सब विषयों का यथार्थ बोध कराने वाला, मुक्ति मार्ग में सभी आवश्यक पदार्थों, तत्त्वों का सब काल का ज्ञान कराने वाला, और जो बिना क्रम का अर्थात् अबाधित ज्ञान कराने वाला ज्ञान है, उसे विवेकज्ञान कहा गया है।
तारक ज्ञान**:** जो योग साधना करते करते योगी की स्वयं को प्रतिभा से उत्पन्न ज्ञान होता है उसे तारक

ज्ञान कहते हैं। इसे ही शास्त्रों में प्रत्युत्पन्न मति भी कहा गया है। यह बुद्धि योग साधना के साथ-साथ उत्पन्न होती रहती है। इस स्थिति में योगी को स्वयं से ही सत्य ज्ञान की अनुभूति होती रहती है। अचानक से कुछ स्फूर्णा होती है और बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश होने लग जाता है।

सर्व विषय: विवेकज्ञान, योगी को सभी विषयों का ठीक ठाक ज्ञान कराने वाला होता है। जो कुछ भी मोक्ष के लिए जानने योग्य विषय हैं, उन सबका ज्ञान योगी को होने लगता है। इसे ही सर्व विषय के नाम से महर्षि कह रहे हैं।

सर्वथा विषय: केवल सभी विषयों का ज्ञान ही नहीं, सभी विषयों, पदार्थों के सभी कालों में उनकी स्थिति या अवस्था पूर्व में कैसी रही और आगे भविष्य में कैसी स्थिति या अवस्था रहेगी इसका ज्ञान भी विवेकज्ञान कराता है। चूंकि विवेकज्ञान का विषय इतना बड़ा है कि उसे किसी एक विशेषण से कहना असंभव है इसलिए महर्षि विवेकज्ञान की व्याख्या करते हुए अलग अलग विशेष साथ में लगा रहे हैं।

अक्रम: सामान्य या लौकिक ज्ञान क्रमपूर्वक होता है अर्थात् एक ज्ञान के बाद तत्क्षन दूसरा ज्ञान उदित हो जाता है इस प्रकार हमारे ज्ञान या अनुभव में यह क्रम चलता रहता है। कभी भी एक ही ज्ञान की अखंडित अवस्था नहीं रहती है। लेकिन जब विवेकज्ञान उत्पन्न होता है तब जिस भी विषय में हम जान रहे हैं उसके विषय में तैल धारावत अखंड, अक्रम से अबाधित ज्ञान होता है। इसे ही अक्रम विशेषण से महर्षि कह रहे हैं।

विवेकज्ञान ,साधना के उपरांत बुद्धि की सात्विक अवस्था है अत: इसे सामान्य रूप से समझना कठिन है क्योंकि यह सबके अनुभव का विषय नहीं होता है। विवेकज्ञान की झलक लंबी तपस्या और योग साधना से हो संभव हो पाती है। योगी को प्रारंभ में ही कुछ अनुभव होने लग जाते हैं जिसे आधार बनाकर वह निरंतर अपने साधना के पथ पर आगे बढ़ता जाता है।

स्मरणीय बिन्दु

- विभूतियों का मूल स्रोत: योगदर्शन के विभूतिपाद में वर्णित अलौकिक शक्तियाँ या विभूतियाँ ध ारणा, ध्यान और समाधि के एकत्रित त्रि-संयम की साधना से उत्पन्न होती हैं।
- कैवल्य ही परम लक्ष्य: महर्षि पतंजलि के अनुसार ये विभूतियाँ अंतिम लक्ष्य नहीं हैं, बल्कि योगी के मार्ग में विघ्न भी बन सकती हैं; योग का परम उद्देश्य कैवल्य (मुक्ति) ही है।
- कुल विभूतियाँ और साधन: विभूतिपाद में कुल 37 विभूतियों का वर्णन है, जिनके पीछे मुख्य साधन संयम, विवेकख्याति, चित्तशुद्धि और वैराग्य हैं।
- क्षण और क्रम पर संयम: समय की सबसे छोटी इकाई क्षण और उसके निरंतर प्रवाह क्रम पर संयम करने से योगी को विवेकज ज्ञान की प्राप्ति होती है।
- काल का वास्तविक स्वरूप: योगियों के अनुसार वर्तमान ही एकमात्र वास्तविक क्षण है, जबकि भूत और भविष्य के क्षण केवल बुद्धि-निर्मित और अवास्तविक हैं।

विशेष शब्दावली

- विभूति: योग साधना के उच्च स्तर पर प्राप्त होने वाली अलौकिक, पारलौकिक या मनोवैज्ञानिक सिद्धियाँ।
- क्षण: काल या समय की वह सबसे छोटी इकाई, जिसमें एक परमाणु अपने पूर्व स्थान को छोड़कर अगले स्थान को प्राप्त करता है।
- क्रम: क्षणों का वह निरंतर और अविच्छिन्न प्रवाह जो समय की गति को दर्शाता है।
- विवेकजं ज्ञानम्: क्षण और उसके क्रम पर संयम करने से उत्पन्न होने वाला यथार्थ, मिलावट-रहित और परम कल्याणकारी ज्ञान।
- अक्रमम्: बिना किसी क्रम या व्यवधान के, एक ही क्षण में सब कुछ सब प्रकार से ग्रहण करने वाला अखंड ज्ञान प्रवाह।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १: महर्षि पतंजलि के अनुसार योग मार्ग में विभूतियों (सिद्धियों) का क्या स्थान है? क्या ये बाधक हैं?

प्रश्न २: व्यास भाष्य के आलोक में क्षण और क्रम की प्रामाणिक परिभाषा दीजिए।

प्रश्न ३: जिसने क्षण पकड़ लिया वह ज्ञानवान् हो जाता है, इस कथन का दार्शनिक अभिप्राय स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १: तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयम् अक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् सूत्र की विस्तृत व्याख्या करते हुए विवेकज ज्ञान की चारों मुख्य विशेषताओं का सविस्तार वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

१. योगदर्शन के किस पाद में धारणा, ध्यान और समाधि के त्रि-संयम से प्राप्त सिद्धियों का वर्णन है?

(अ) समाधिपाद

(ब) साधनपाद

(स) विभूतिपाद

(द) कैवल्यपाद

२. काल या समय की सबसे छोटी और परमापकर्ष इकाई को क्या कहा जाता है?

(अ) मुहूर्त

(ब) अहोरात्र

(स) क्षण
(द) क्रम

३. क्षण और उसके क्रम पर पूर्ण संयम करने से योगी को किस विशेष ज्ञान की प्राप्ति होती है?
(अ) लौकिक ज्ञान की
(ब) विवेकज ज्ञान की
(स) इंद्रियजन्य ज्ञान की
(द) केवल शब्द ज्ञान की

४. विवेकज ज्ञान की विशेषताओं में जो ज्ञान उपदेश-जनित न होकर स्वयं की प्रतिभा से उत्पन्न होता है, उसे क्या कहते हैं?
(अ) तारक ज्ञान
(ब) सर्व विषय ज्ञान
(स) अक्रम ज्ञान
(द) शब्द ज्ञान

५. व्यास भाष्य के अनुसार, विवेकज ज्ञान का अंश योगप्रदीप किस योग-भूमि से लेकर अंत तक रहता है?
(अ) वशीकार भूमि
(ब) मधुमती भूमि
(स) एकाग्र भूमि
(द) निरुद्ध भूमि

इकाई 15
सिद्धियों के प्रकार एवं कर्म के प्रकार

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ।।4.1।।

पदच्छेदः जन्म–औषधि–मन्त्र–तपः–समाधिजाः–सिद्धयः
शब्दार्थः जन्म– जन्म से, **औषधि**– औषधियों से, **मन्त्र**– शक्तिशाली मंत्रो के जप करने से
तपः– तप करने से, **समाधिजाः**– समाधि से, **सिद्धयः**– अनेक प्रकार की सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं।

व्यासभाष्यम्– देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः। ओषधिभिरसुरभवनेषु रसायनेनेत्येवमादि। मन्त्रैराकाश–गमनाणिमादिलाभः। तपसा संकल्पसिद्धिः कामरूपी यत्र तत्र कामग इत्येवमादि। समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः ।।1।।

भाष्यानुवादः– देहान्तर में (होने वाली) जन्म के द्वारा (होने वाली) जन्मजा सिद्धि कही जाती है। भवनों में औषधियों के द्वारा, रसायन के द्वारा, जो सिद्धि होती है इत्यादि। मन्त्रों के द्वारा आकाशगमन, अणिमा आदि की प्राप्ति होती है। तप से संकल्प की सिद्धि होती है, अभिलषित रूपवाला होकर जहाँ तहाँ कामना के अनुसार गमन करता है इत्यादि। समाधिज सिद्धिया पूर्वपाद में व्याख्यात हो चुकी हैं ।।१।।

योगसूत्र के अंतिम और चौथे पाद कैवल्य में महर्षि अब सिद्धियों के कारणों पर बात कर रहे है। चूंकि पूर्व के सूत्रों में सर्वत्र सिद्धियों की बात हुई है तो शिष्यों को सहज जिज्ञासा हुई कि यह सिद्धियां क्या केवल धारणा, ध्यान और समाधि स्वरूप संयम से ही प्राप्त होंगी या कुछ अन्य कारण भी हो सकते हैं? शिष्यों के मन में यह प्रश्न इसलिए भी आया कि क्या केवल योग के अभ्यास से ही सिद्धियां मिल सकती हैं या योग से इतर भी अन्य साधन हो सकते हैं? तब महर्षि शिष्यों से कहते हैं कि सिद्धियां 5 प्रकार से मिलती हैं– जन्म से,औषधि से,मंत्रों से,तप सेएवंसमाधि के द्वारा
जन्म से सिद्धिः जिन योगियों के पूर्व जन्म में योग में अच्छी स्थिति थी लेकिन प्रारब्ध वश साधना के बीच में ही शरीर छूट गया, उनमें से किसी को जन्म से ही सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं अर्थात् ऐसे योगियों को बिना किसी विशेष पुरुषार्थ के ही कुछ सिद्धियां समय के साथ मिलने लग जाती हैं। जिन सिद्धियों की बात महर्षि ने पूरे विभूति पाद में किया है उनमें से कुछ सिद्धियां जन्मजात रूप से योगी को सहज ही उपलब्ध हो जाती हैं।
औषधि से सिद्धिः आगे महर्षि बताते हैं कि औषधि के प्रयोग से कुछ सिद्धियां को प्राप्त किया जाता है। किसी को भी सिद्धि तब प्राप्त होती है जब वह अपने शरीरस्थ या उससे बाहर किसी अंग विशेष या पदार्थ विशेष पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर लेता है। जब यही कार्य किसी औषधि के सेवन

से संपन्न होता है तो सिद्धि प्राप्त होने लग जाती है। औषधि जब शरीर में जाती है तो रासायनिक क्रियाओं को संपन्न करती हुई अंग विशेष पर जो प्रभाव पड़ने से वशता आती है, उससे सिद्धि मिलने लग जाती है।

पूर्व में भी कई ऐसे उदाहरण हमें सुनने और पढ़ने में आते हैं जहां पर वृद्ध शरीर का पुनः यौवन को प्राप्त हो जाना। जैसे चव्यन ऋषि जी पुनः अपने युवास्था को प्राप्त हो गए थे केवल युवास्था ही नहीं अपितु उन्हें रूप, लावण्य, बल और वज्र जैसी सिद्धि भी साथ में प्राप्त हो गई थी।

मंत्रों से सिद्धिः मंत्रों के नियमित जप से मन एकाग्र हो जाता है। एकाग्र मन से जब जप उत्कृष्ट कोटि का हो जाता है तो मन से संबंधित सिद्धियां व्यक्ति को प्राप्त होने लग जाती हैं।

तप से सिद्धिः शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक भेद की दृष्टि से तप तीन प्रकार के होते हैं। किसी एक प्रकार के तप के अभ्यास से भी सिद्धियों की प्राप्ति होती है। शारीरिक तप के अभ्यास से शरीर संबंधी सिद्धि की प्राप्ति होती है और मानसिक तप करने से इंद्रियों एवं पंच महाभूत संबंधी वशता प्राप्त होकर उससे संबंधित सिद्धियां प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार जब हम सभी द्वंद रूप तप का अभ्यास करते हैं तो आध्यात्मिक बल स्वरूप सिद्धियां मिलती हैं।

महर्षि पतंजलि तप की परिभाषा करते हुए कहते है कि द्वंद्वों को सहन करना ही तप है। सर्दी, गर्मी, लाभ, हानि, जय, पराजय, मान, अपमान आदि सभी द्वंद्वों को सहन करना तप कहलाता है। तप करने की विशेषता यही है कि जब दो विपरीत स्थिति और परिस्थिति के बीच व्यक्ति फंस जाता है तब सहनशील होकर शांत रहने का अभ्यास करना। जब हम कुछ भी नहीं चुनते हैं बस निष्पक्ष होकर, दृष्टा भाव या साक्षी भाव में स्थित हो जाते हैं। इस प्रकार तप करने से अलग अलग सिद्धियों की प्राप्ति होने लग जाती है।

समाधि से सिद्धिः योगाभ्यास से जब क्लेश तनु हो जाते हैं और मन, चित्त और हृदय निर्मल हो जाता है तो धारणा, ध्यान और समाधि स्वरूप संयम को शरीर में या शरीर से बाहर किसी बिंदु, तत्त्व में लगाने से तत्संबंधी विषयों के ऊपर वशता प्राप्त हो जाती है और अनेकानेक सिद्धियां प्राप्त होने लग जाती हैं। इस प्रकार प्राप्त सिद्धियों को समाधिज सिद्धि कहा जाता है।

इस प्रकार महर्षि पतंजलि ने किस प्रकार सिद्धियों को अलग अलग स्त्रोतों से प्राप्त किया जाता है इसके विषय में विस्तृत रूप से बताया है।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।।4.7।।

पदच्छेदः कर्म-अशुक्ल-अकृष्णम् योगिनः,त्रिविधम् ,इतरेषाम् ।

शब्दार्थः योगिनः- योगी के, **कर्म**- कर्म अथवा कार्य, **अशुक्ल**- पुण्य से रहित व **अकृष्ण** - पाप से रहित होते हैं, **इतरेषाम्** - योगी से अन्य सांसारिक व्यक्तियों के कर्म त्रिविधम् - तीन प्रकार के होते हैं।

व्यासभाष्यम्- चतुष्पदा खल्वियं कर्मजातिः। कृष्णा, शुक्लकृष्णा, शुक्लाऽशुक्लाकृष्णा चेति। तत्र कृष्णा दुरात्मनाम्। शुक्लकृष्णा बहिः साधनसाध्या तत्र परपीडानुग्रहद्वारेणैव कर्माशयप्रचयः। शुक्ला तपःस्वाध्यायध्यानवताम्। सा हि केवले मनस्यायतत्वाद्बहिः साधनानधीना न परान्पीडयित्वा भवति। अशुक्लाकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति। तत्राशुक्लं योगिन एव फलसंन्यासात्, अकृष्णं चानुपादानात्। इतरेषां तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति ॥७॥

भाष्यानुवादः-कर्मजाति (कर्म समूह) चार प्रकार की होती है। और वे जैसे कृष्ण (पाप), शुक्लकृष्ण (पापपुण्य), शुक्ल (पुण्य) अशुक्लाकृष्ण (न पुण्य न पाप)। उनमें से पापात्मक (कर्मजाति) दुरात्माओं की होती है। पाप-पुण्य (कर्मजाति) बाह्य साधनों से सम्पादित होती है। उसमें दूसरों को दुःख देकर, दूसरों पर दया करने के द्वारा ही कर्माशयों का सङ्ग्रह किया जाता है। पुण्य (कर्मजाति) तप, स्वाध्याय और ध्यान करने वालों की होती है। वह (कर्मजाति) केवल मन के आश्रित होने से, बाह्य साधनों के आधीन न होने से, दूसरों को दुःख देने से नहीं होती है। पापपुण्य रहित (कर्मजाति) संन्यासियों, क्षीण ाक्लेश वालों एवं चरम (अन्तिम) देह वालों की होती है। उनमें से फलसंन्यास करने से पुण्यरहित तथा पाप कर्मों को न अपनाने से पापरहित (कर्मजाति) योगियों की ही होती है। अन्य समस्त प्राणियों की पूर्वोक्त तीन प्रकार की (कर्मजाति) होती है। **॥७॥**

प्रस्तुत सूत्र में महर्षि बता रहे हैं कि योगियों के कर्म पाप और पुण्य के पार होते हैं। अर्थात् न तो पुण्य कमाने की दृष्टि से कार्य करते हैं और न ही पाप कर्म ही करते हैं। उनके कर्मों के विषय में सहज गति होती है। वे जो कुछ भी करते हैं वो शुभ ही होता है।
वहीं योगियों से भिन्न लोगों के कर्म विभाग की दृष्टि से तीन प्रकार के होते हैं-

शुक्ल कर्म

कृष्ण कर्म

शुक्ल और कृष्ण कर्म

शुक्ल कर्मः वे सभी कर्म जो शुभ होते हैं, जिन्हें करने से स्वयं एवं समष्टि का कल्याण होता है और कर्ता को पुण्य लाभ होता है। ऐसे कर्म जो समाज की दृष्टि से भी अच्छे होते हैं। कर्ता में सत्त्व गुण की प्रधानता जब होती है तब वह शुक्ल कर्म करता है।
जीवन में अच्छी संगति, स्वाध्याय, योगाभ्यास अपनाने से व्यक्ति शुभ कर्मों में प्रवृत्त होता हुआ शुक्ल कर्म करता है।

कृष्ण कर्मः ऐसे अशुभ कर्म जिन्हें करने से स्वयं का भी अहित होता है और कहीं कहीं न कहीं समष्टि का भी अकल्याण होता है।
कर्ता में जब सत्त्व गुण दबा होता है और रजस और तमस का प्रभाव हावी होता है तब कर्ता कृष्ण कर्म करने में प्रवृत्त होता है।
जीवन में बुरी संगति होने से, स्वाध्याय की कमी होने से, जीवन में तप नहीं होने से, योगाभ्यास न

करने से व्यक्ति कृष्ण कर्म करता है।

शुक्ल-कृष्ण कर्मः जो व्यक्ति पूर्ण रूप से योग में प्रतिष्ठित नहीं हुआ होता है उसके कर्म कभी भी एक तरफा नहीं होते हैं। अर्थात् केवल शुक्ल कर्म या केवल पाप या कृष्ण कर्म नहीं होते हैं। उसके जीवन में मिश्रित कर्म होते हैं। कभी वह पुण्य कर्म करता है तो कभी वह पाप कर्म करता है। इस प्रकार जब वह कभी पुण्य कर्म और कभी पाप कर्म करता है तो इसे ही महर्षि पतंजलि शुक्ल-कृष्ण कर्म कह रहे हैं। व्यक्ति में कभी सत्त्व गुण, तो कभी रजस या तमस गुण के घटते बढ़ते प्रभाव से वह मिश्रित कर्म करता है। लेकिन जो योगी होता है वह इन तीन गुणों के पार जाकर, गुणातीत होकर कर्म करता हैं जहां उसे पाप और पुण्य कुछ भी नहीं छूता है। अतः हम सबको गुणातीत होकर कर्म करने का अभ्यास करना चाहिए।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ।।4.8।।

पदच्छेदः ततः-तत-विपाक-अनुगुणानाम्-एव-अभिव्यक्तिः वासनानाम् ।

शब्दार्थः ततः-उन सांसारिक व्यक्तियों के तीन प्रकार के कार्यों से, **तद्**- उन, **विपाक**- फलोन्मुख कर्मों के, **अनुगुणानाम्**-भोगों के अनुरूप, एव-ही, **वासनानाम्**- व्यक्ति के वासनाओं या संस्कारों की, **अभिव्यक्तिः**- अभिव्यक्ति होती हैं, या वे प्रकट होते हैं।

व्यासभाष्यम्- तत इति त्रिविधात्कर्मणः। तद्विपाकानुगुणानामेवेति। यज्जातीयस्य कर्मणो यो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुशेरते तासामेवाभिव्यक्तिः। न हि दैवं कर्म विपच्यमानं नारकतिर्यङ्मनुष्यवासनाभिव्यक्तिनिमित्तं संभवति। किं तु दैवानुगुणा एवास्य वासना व्यज्यन्ते। नारकतिर्यङ्मनुष्येषु चैवं समानश्चर्चः ।।८।।

भाष्यानुवादः- ततः अर्थात् तीन प्रकार के कर्म से, उनके फलों के अनुरूप (वासनाओं की) ही (अभिव्यक्ति होती है)। जिस प्रकार के कर्म का जो विपाक, उसके अनुरूप जो वासना कर्मफल का अनुसरण करती है, उन ही की अभिव्यक्ति होती है। फलोन्मुख दैवीकर्म नरक, तिर्यक,, मनुष्यादि भोग की अभिव्यक्ति का कारण नहीं बन सकता। किन्तु दैवी भोग के अनुरूप ही इसकी वासनाएँ अभिव्यक्त होती हैं। नारकीय, तिर्यक् एवं मनुष्यों की वासनाओं में भी यही सिद्धान्त होता है।।८।।

पूर्व सूत्र में, योगियों से भिन्न जो सामान्य लोग होते हैं उनके कर्मों को तीन प्रकार महर्षि ने बताए थे। वे तीन प्रकार के कर्म थेः-शुक्ल कर्म,कृष्ण कर्म, शुक्ल - कृष्ण कर्म अर्थात् पाप पुण्य मिश्रितकर्म अब जिनके जीवन में ये तीन प्रकार के कर्म होते हैं तो इन कर्मों और इन कर्मों के फलोन्मुख होने के अनुसार वासनाएं प्रकट होती हैं अर्थात् इच्छाएं उत्पन्न होती हैं। फिर जैसे शुभ, अशुभ या शुभ अशुभ मिश्रितकर्म होंगे उसी प्रकार की इच्छाएं भी मनुष्य में पैदा हो जाती हैं।

महर्षि यहां कर्मों एवं उनके फलों के उन्मुख होने के सीधे से गणित की बात कर रहे हैं। आम बोलचाल की भाषा में जिसे कह देते हैं जैसा बोओगे वैसा काटोगे या जैसे बीज बोओगे वैसी ही फसल काटोगे।

अच्छे कर्मों से अच्छी इच्छाएं उत्पन्न होंगी। बुरे कर्मों से बुरी इच्छाएं उत्पन्न होंगी। बाकी मिश्रित कर्म से अच्छी बुरी इच्छाएं उत्पन्न होती रहेंगी। वहीं योगियों के कर्म निष्काम होने के कारण वे कर्म संस्कार से रहित हो जाते हैं तो उनमें किसी भी प्रकार से वासनाएं प्रकट नहीं होंगी।
यहां वासना शास्त्रीय शब्द है। आज के समय में वासना का अर्थ केवल काम वासना से लिया जाता है लेकिन शास्त्रों में वासना शब्द का अर्थ कर्म जनित फल की उन्मुखता से है अर्थात् कर्म के बाद जो कर्म का संस्कार बनता है और मनुष्य को बलात् खींचने की प्रवृत्ति है उसे वासना शब्द से कहा जाता है।

स्मरणीय बिन्दु

- सिद्धियों के ५ स्रोत: कैवल्यपाद के प्रथम सूत्र के अनुसार सिद्धियाँ केवल समाधि से ही नहीं, बल्कि जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि के द्वारा कुल ५ प्रकार से उत्पन्न हो सकती हैं।
- जन्मजात और औषधिज सिद्धियाँ: पूर्व जन्म के योग संस्कारों के कारण मिलने वाली सिद्धियाँ जन्मजा कहलाती हैं, जबकि विशिष्ट रसायनों या औषधियों के सेवन से प्राप्त होने वाले शारीरिक रूपांतरण को औषधिज सिद्धि कहते हैं।
- योगियों के कर्म: एक पूर्ण योगी के कर्म अशुक्ल-अकृष्ण होते हैं; अर्थात् वे फल की इच्छा का त्याग (फलसंन्यास) करने के कारण पुण्य रहित और बुरे कर्म न अपनाने के कारण पाप रहित होते हैं।
- सांसारिक मनुष्यों के ३ कर्म: योगियों से इतर सामान्य मनुष्यों के कर्म तीन श्रेणियों, शुक्ल (पुण्य), कृष्ण (पाप) और शुक्ल-कृष्ण (मिश्रित) में विभाजित होते हैं।
- कर्म और वासना का संबंध: मनुष्य के तीन प्रकार के कर्मों के फलोन्मुख (विपाक) होने पर उसके अंदर उसी के अनुरूप वासनाओं या नए संस्कारों की अभिव्यक्ति होती है।

विशेष शब्दावली

- समाधिजा: सिद्धय: : यम-नियमों के पालनपूर्वक क्लेशों को सूक्ष्म कर त्रि-संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) द्वारा प्राप्त होने वाली अलौकिक शक्तियाँ।
- अशुक्ल-अकृष्णम्: पुण्य (शुक्ल) और पाप (कृष्ण) के बंधनों से सर्वथा रहित, गुणातीत होकर किए जाने वाले योगियों के निष्काम कर्म।
- शुक्ल-कृष्ण कर्म: पुण्य और पाप से मिश्रित वे सामान्य कर्म जो व्यक्ति में सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के घटते-बढ़ते प्रभाव के कारण होते हैं।
- विपाक: मनुष्य द्वारा किए गए कर्मों का वह समय आने पर मिलने वाला परिणाम या फलोन्मुखीकरण।
- वासना: शास्त्रीय अर्थ में कर्म जनित फल की उन्मुखता, अर्थात् कर्म के बाद बना वह गहरा संस्कार जो मनुष्य को अपनी ओर बलात् खींचता है।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १ः पतंजलि योगसूत्र के अनुसार सिद्धियाँ कितने प्रकार से प्राप्त होती हैं? उनके नाम लिखिए।

प्रश्न २ः व्यास भाष्य के अनुसार कृष्ण कर्म और शुक्ल कर्म में क्या अंतर है? सुस्पष्ट कीजिए।

प्रश्न ३ः शास्त्र सम्मत वासना शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? यह सामान्य धारणा से किस प्रकार भिन्न है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १ः कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् सूत्र के आलोक में कर्मों की चारों श्रेणियों की विस्तृत व्याख्या कीजिए। योगियों के कर्म सामान्य मनुष्यों से किस प्रकार भिन्न होते हैं?

बहुविद्युतीय प्रश्न

१. महर्षि पतंजलि के अनुसार सिद्धियाँ मुख्य रूप से कितने प्रकार के साधनों से उत्पन्न होती हैं?

(अ) तीन प्रकार से

(ब) पाँच प्रकार से

(स) आठ प्रकार से

(द) केवल एक प्रकार से

२. औषधियों के सेवन या रसायनों के प्रयोग से प्राप्त होने वाली सिद्धि का सटीक पौराणिक उदाहरण कौन-सा है?

(अ) च्यवन ऋषि का पुनः युवावस्था प्राप्त करना

(ब) पतंजलि का योगसूत्र लिखना

(स) व्यास जी का भाष्य लिखना

(द) किसी का आकाश में उड़ना

३. योगियों के कर्म निम्नलिखित में से किस श्रेणी के अंतर्गत आते हैं?

(अ) केवल शुक्ल कर्म

(ब) केवल कृष्ण कर्म

(स) शुक्ल-कृष्ण मिश्रित कर्म

(द) अशुक्ल-अकृष्ण कर्म

४. जैसा बोओगे वैसा काटोगे, यह व्यावहारिक नियम योग दर्शन के अनुसार किस पर पूरी तरह लागू होता है?

(अ) केवल प्रकृति के तत्वों पर

(ब) केवल मुक्त संन्यासियों पर

(स) सामान्य मनुष्यों की वासनाओं और कर्मों पर

(द) केवल देवताओं पर

५. फलसंन्यास करने के कारण योगियों के कर्मों में किसका संचय नहीं होता है?

(अ) पुण्य या शुक्ल कर्माशय का

(ब) आध्यात्मिक बल का

(स) समाधि प्रज्ञा का

(द) शारीरिक स्वास्थ्य का

इकाई 16
धर्ममेघ समाधि एवं कैवल्य का स्वरूप

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः॥ 4.29॥

पदच्छेदः प्रसंख्याने-अपि-अकुसीदस्य, सर्वथा, विवेकख्यातेः-धर्ममेघः, समाधिः
शब्दार्थ **: प्रसंख्याने**- बुद्धि व आत्मा दोनों के पृथक-पृथक स्वरुप ज्ञान होने पर, **अपि**- भी, **अकुसीदस्य**- विवेक ज्ञान से उत्पन्न सिद्धियों में अनासक्त हो जाने पर, **सर्वथा**- पूरी तरह से, **विवेकख्यातेः**- विवेकख्याति के प्राप्त होने पर, **धर्ममेघः**- धर्ममेघ नामक, **समाधिः**- समाधि की प्राप्ति होती है

व्यासभाष्यम्- यदाऽयं ब्राह्मणः प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्ततोऽपि न किञ्चित्प्रार्थयते। तत्रापि विरक्तस्य सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवतीति संस्कारबीजक्षयान्नास्य प्रत्ययान्तराण्युत्पद्यन्ते। तदास्य धर्ममेघो नाम समाधिर्भवति ॥२९॥

भाष्यानुवादः- यह योगी जब विवेकख्याति (से उत्पन्न सिद्धियों) में भी रागरहित हो जाता है उससे भी कुछ कामना नहीं करता, उसमें भी रागरहित (उस योगी) की सब प्रकार से विवेकख्याति ही होती है। इसलिए संस्कारों के बीजों का क्षय होने से इस (योगी) के (विवेकख्याति से) भिन्न ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। तब इस योगी को धर्ममेघ नामक समाधि की प्राप्ति होती है ।।२९।।

जब योगी क्रिया योग के द्वारा सभी बचे हुए पूर्ण जन्म ने संस्कारों को तनु करता हुआ नाश की तरफ ले जाता है तब केवल सत्व गुण की प्रधानता शेष रह जाती है।
लेकिन जब तब तीनों गुणों से रहित अवस्था नहीं आ जाती हैं तब तक कैवल्य की अवस्था योगी को प्राप्त नहीं हो सकती है।
विवेकख्याति जी इस अवस्था में योगी सब सांसारिक सुख सुविधाओं से विरक्त हो जाता है, यहां तक की योग साधना से प्राप्त सभी विभूतियों को भी वह छोड़ देता है अर्थात् उनमें किसी भी प्रकार से राग नहीं रखता है। उसकी तो एकमेव सात्विक इच्छा शेष रहती है कि वह अपने सहज और सरल, शुद्ध स्वरूप कैवल्य को प्राप्त कर ले।
इस अवस्था को ही महर्षि धर्ममेघ समाधि कह रहे हैं। जहां कैवल्य ज्ञान का प्रवाह अखंड रूप से सब इच्छाओं से अबाधित रहता है तब इसी अखंडित प्रवाह या धारा का नाम धर्ममेघ समाधि कहते हैं। जैसे बादल एक धारा के रूप में बहता है उसी प्रकार से योगी के भीतर जो सच्चा धर्म है वह भी बहने लगता है। यह संप्रज्ञात समाधि की उत्कृष्ट अवस्था है।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः॥ 4.30॥

पदच्छेदः ततः,क्लेश-कर्म-निवृत्तिः
शब्दार्थः ततः - उस धर्ममेघ नामक समाधि से, **क्लेशकर्म**- क्लेश मूलक कर्म समुदायों की **निवृत्तिः** - समाप्ति हो जाती है।

व्यासभाष्यम्- तल्लाभादविद्यादयः क्लेशाः समूलकाषं कषिता भवन्ति। कुशलाकुशलाश्च कर्माशयाः समूलघातं हता भवन्ति। क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति। कस्मात् ? यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम्। न हि क्षीणविपर्ययः कश्चित् केनचित् क्वचिज्जातो दृश्यत इति ॥३०॥

भाष्यानुवादः- उस (धर्ममेघसमाधि) के लाभ से अविद्या आदि क्लेश समूल नष्ट हो नाते है (भावी) पुण्यापुण्य कर्माशय समूल नष्ट हो जाते हैं। क्लेश और कर्माशयों की निवृत्ति होने पर जीवनकाल में ही योगी विमुक्त हो जाता है। किसलिए ? क्योंकि अविद्या ही जन्म का कारण है। नष्ट हुई अविद्या वाला कोई (व्यक्ति) किसी के द्वारा और कहीं (भी) उत्पन्न हुआ देखा नहीं जाता है ॥३०॥

प्रस्तुत सूत्र में महर्षि धर्ममेघ समाधि के फल के बारे में बता रहे हैं। योग में किसी भी अवस्था की प्राप्ति के बाद योगी के शेष अंतराओं की समाप्ति का फल मिलता है। यहां भी धर्ममेघ समाधि के फलस्वरूप पूर्व जन्म के बचे हुए क्लेशों के नाश का फल योगी को मिल जाता है।
धर्ममेघ समाधि के बाद योगी के जीवन में सभी क्लेश चाहे इस जन्म के हों या पिछले अनेकों जन्म के हों, वे सभी पूरी तरह से दग्धाबीज हो जाते हैं और योगी का जीवन सम्पूर्णरूप से कैवल्याभिमुख हो जाता है।
अब योगी के जीवन में न तो क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) के लिए कोई जगह शेष रहती है और न ही योग की अन्य कोई बाधा। योगी का जीवन पूर्ण रूप से गुणातीत हो जाता है जहां पर सब क्लिष्ट और अकलिष्ट विचार रूपी तरंगों से उसका जीवन पुनः तरंगित नहीं होता है। अपितु वह अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव में प्रतिष्ठित होने लगता है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥ 4.34॥

पदच्छेदः पुरुषार्थ-शून्यानां,गुणानाम्, प्रतिप्रसवः, कैवल्यं, स्वरुप-प्रतिष्ठा, वा, चिति-शक्तिः, इति
शब्दार्थः पुरुषार्थ- अपने भोग और अपवर्ग रूपी प्रयोजन से, **शून्यानां**- रहित हुए, **गुणानाम्**- गुणों का, **प्रतिप्रसवः** - अपने कारण में लीन हो जाना ही, **कैवल्यम्**-कैवल्य अर्थात् मुक्ति है
वा- अथवा **चितिशक्तिः** - पुरुष अथवा जीवात्मा का, स्वरूप- अपने सच्चे स्वरूप में प्रतिष्ठा- प्रतिष्ठित या अवस्थित होना, **इति**- इस प्रकार योग शास्त्र की समाप्ति का सूचक है।

व्यासभाष्यम्- कृतभोगापवर्गाणां पुरुषार्थशून्यानां यः प्रतिप्रसवः कार्यकारणात्मकानां गुणानां तत्कैवल्यं, स्वरूपप्रतिष्ठा पुनर्बुद्धिसत्त्वानभिसम्बन्धात्पुरुषस्य चितिशक्तिरेव केवला, तस्याः सदा तथैवावस्थानं कैवल्यमिति॥३४॥

भाष्यानुवादः- (महदादि) कार्य-कारणात्मक जिन गुणों ने (पुरुष के लिए) भोग तथा अपवर्ग को सम्पन्न किया हो और जो पुरुषार्थता से रहित हो गये हों, उनका जो अपने कारण में लीन होना है, वह 'कैवल्य' है। स्वरूप में प्रतिष्ठा, फिर से पुरुष का बुद्धिसत्त्व से सम्बन्ध न होने से केवल चितिशक्तिमात्र का रहना, उसका सदा उसी प्रकार स्थित रहना कैवल्य है ।।३४।।

अब हम महर्षि पतंजलि विरचित योग दर्शन या योग सूत्र के अंतिम पाद कैवल्य के अंतिम सूत्र (4. 34) के ऊपर चर्चा करेंगे। इस सूत्र में जीवन के अंतिम एवं सर्वोच्च लक्ष्य कैवल्य के स्वरूप की चर्चा की गई है। मनुष्य के जीवन में पुरुषार्थ चतुष्ट्य की बात आती है अर्थात् सब प्राणियों से अतिरिक्त मनुष्य जीवन की यात्रा धर्म, अर्थ, काम से गुजरती हुई मोक्ष तक पहुंचती है। मनुष्य का जन्म तो सबको मिल जाता है लेकिन वस्तुतः वह अपनी यात्रा धर्म से शुरू नहीं कर पाता है फिर मोक्ष तक पहुंचना तो असंभव ही है।

सामान्य मनुष्यों का जीवन धर्म और मोक्ष से अछूता केवल अज्ञान जनित कामनाओं और अर्थ के बीच झूलता रहता है। उसे न तो धर्म की खबर होती है और न ही जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष की। जब मनुष्य, योगी के रूप में अपनी योगसाधना के बल पर सब क्लेशों और सकाम कर्मों को नष्ट करता हुआ, ज्ञान को ढकने वाले आवरणों एवं अशुद्धियों को हटा लेता है तब वह गुणातीत हुआ मोक्ष या कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। यह कैवल्य या मोक्ष की अवस्था का स्वरूप कैसा होता है यह इस सूत्र के माध्यम से महर्षि हम सबको बता रहे हैं।

सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के दो ही मुख्य काम है। जीवात्मा के लिए जीवन में सब सुख, सुविध ाओं रूपी संसाधनों की पूर्ति कराते हुए अंततोगत्वा उसे अपवर्ग अर्थात् मुक्ति तक पहुंचाना। जब ये तीन गुण अपने इस प्रयोजन से मुक्त हो जाते हैं अर्थात् पुरुष को भोग उपलब्ध कराते हुए कैवल्य तक पहुंचा देते हैं तो इनका कार्य यहीं पर समाप्त हो जाता है। इसी स्थिति को कैवल्य के नाम से कहा जाता है अर्थात् प्रकृति और पुरुष का संयोग यहां पर आकर टूट जाता है और पुरुष अकेला हो जाता है या केवल पुरुष रह जाता है। प्रकृति एवं उनके तीन गुणों से निर्मित सबकुछ अपने मूल उद्‌गम को वापस लौट जाते हैं। इस प्रकार पुरुष की केवल बचे रहने की अवस्था को कैवल्य कहते हैं। दूसरे शब्दों को एवं अर्थ में महर्षि कहते हैं कि आत्मा के अपने शुद्धत्म स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाने को कैवल्य कहते हैं।

योग सूत्र के तीसरे सूत्र में इसी बात को कहा गया था। कि जब योगी के चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब दृष्टा अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है। उसी स्वरूप में स्थिति को यहां पर महर्षि मोक्ष या कैवल्य के नाम से कह रहे हैं।

यह एक ऐसी स्थिति है जहां से फिर योगी का पुनः जन्म नहीं होता अपितु वह अपने स्वरूप को पाकर फिर और कुछ पाने के इच्छा से सर्वथा रहित हो जाता है। जीवात्मा का जितना भी जीवन शेष होता है उसे विदेह होकर जीता है और निष्काम कर्म करता हुआ परमात्मा के आनंद में मग्न हो जाता है। क्योंकि जन्म और मरण के कारण तीन गुण अब अपने कारण में लीन हो चुके होते हैं अतः जन्म मरण का कोई कारण शेष नहीं रहने से योगी का पुनः जन्म नहीं होता। इति कहकर महर्षि पतंजलि योग सूत्र की संपूर्णता की घोषणा करते हैं और इस प्रकार योग दर्शन यहां पूर्ण हो जाता है।

स्मरणीय बिन्दु

- धर्ममेघ समाधि का उदयः जब योगी विवेकख्याति से उत्पन्न सिद्धियों व विभूतियों में भी सर्वथा अनासक्त (अकुसीद) हो जाता है, तब उसे धर्ममेघ नामक समाधि की प्राप्ति होती है।
- संस्कार बीजों का क्षयः धर्ममेघ समाधि की अवस्था में संस्कारों के बीजों का समूल नाश हो जाने के कारण विवेकख्याति से भिन्न अन्य कोई सांसारिक विचार (प्रत्यय) उत्पन्न नहीं होता।
- जीवन मुक्ति की अवस्थाः इस समाधि के लाभ से अविद्या आदि पाँचों क्लेश और पुण्यापुण्य कर्माशय समूल नष्ट हो जाते हैं, जिससे योगी जीवित रहते हुए ही विमुक्त (जीवन मुक्त) हो जाता है।
- गुणों का प्रतिप्रसवः जब सत्त्व, रजस् और तमस् गुण पुरुष के भोग और मोक्ष रूपी प्रयोजन को पूरा कर चुके होते हैं, तब वे अपने मूल कारण (प्रकृति) में विलीन हो जाते हैं, जिसे कैवल्य कहते हैं।
- योग शास्त्र की पूर्णताः कैवल्य की अवस्था में जीवात्मा अपने शुद्ध, नित्य और मुक्त स्वरूप में सदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाती है, जहाँ पुनर्जन्म का कोई कारण शेष नहीं रहता।

विशेष शब्दावली

- प्रसंख्यानः बुद्धि (प्रकृति) और आत्मा (पुरुष) दोनों के पृथक्-पृथक् स्वरूप का होने वाला यथार्थ ज्ञान।
- अकुसीदस्यः विवेक ज्ञान से सिद्ध होने वाली अलौकिक शक्तियों या सिद्धियों में भी सर्वथा रागरहित या अनासक्त हो जाना।
- धर्ममेघः समाधिः संप्रज्ञात समाधि की वह उत्कृष्ट अवस्था जहाँ कैवल्य ज्ञान का अखंड प्रवाह सब प्रकार की सांसारिक इच्छाओं से रहित होकर बहता है।
- प्रतिप्रसवः भोग और मोक्ष का कार्य पूरा हो जाने पर महदादि कार्य-कारणात्मक तीनों गुणों का अपने मूल कारण में लीन हो जाना।
- चितिशक्तिः शुद्ध चेतन स्वरूप पुरुष या जीवात्मा जो अपने वास्तविक निर्विकार रूप में सदा के लिए अवस्थित हो जाती है।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १: महर्षि पतंजलि के अनुसार धर्ममेघ समाधि का स्वरूप क्या है और इसका यह नाम क्यों पड़ा?

प्रश्न २: धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति से योगी को क्या फल मिलता है? व्यास भाष्य के अनुसार स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न १: पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति सूत्र की विस्तृत व्याख्या करते हुए कैवल्य (मोक्ष) के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

१. बुद्धि और आत्मा के पृथक्-पृथक् स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने की अवस्था को क्या कहा जाता है?

(अ) प्रसंख्यान

(ब) प्रतिप्रसव

(स) अकुसीद

(द) अभिनिवेश

२. विवेक ज्ञान से उत्पन्न सिद्धियों में भी सर्वथा रागरहित (अनासक्त) हो जाने वाले योगी को कौन-सी समाधि मिलती है?

(अ) सवितर्क समाधि

(ब) धर्ममेघ समाधि

(स) सविचार समाधि

(द) आसन्न समाधि

३. व्यास भाष्य के अनुसार, किस क्लेश के समूल नष्ट हो जाने पर योगी का पुनर्जन्म कहीं भी नहीं देखा जाता?

(अ) राग

(ब) अस्मिता

(स) अविद्या

(द) अभिनिवेश

४. पुरुषार्थ से रहित हुए तीनों गुणों का अपने मूल कारण में लीन हो जाना योग दर्शन के अनुसार क्या है?

(अ) कैवल्य

(ब) प्रसंख्यान

(स) कर्माशय

(द) विदेहमुक्ति

५. योगसूत्र के अंतिम सूत्र (४.३४) में चितिशक्ति शब्द किसके लिए प्रयुक्त हुआ है?

(अ) त्रिगुणात्मक बुद्धि के लिए

(ब) शुद्ध चेतन पुरुष या जीवात्मा के लिए

(स) बाह्य प्रकृति के लिए

(द) अविद्या के बंधनों के लिए

UNIVERSITY OF PATANJALI

NAAC A+ GRADE ACCREDITED

Open & Distance Learning
(ODL)

SELF-LEARNING MATERIAL (SLM)

M.A Sanskrit Literature

Semester - II

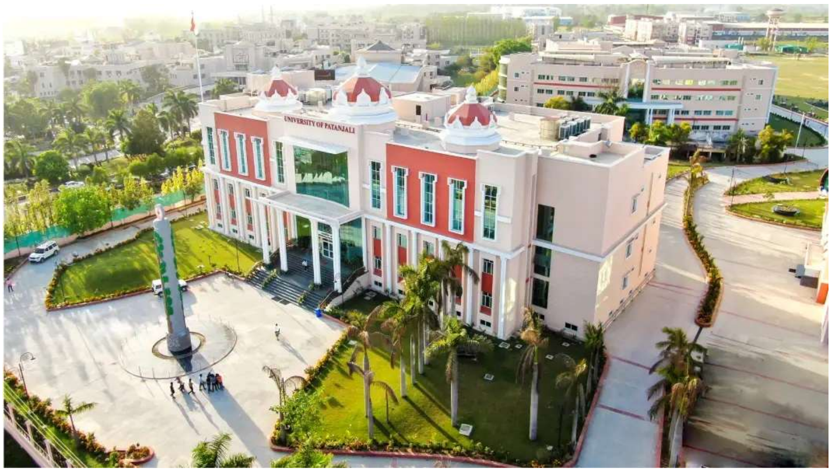

ACADEMIC SESSION

2026 — 2027

Department of Sanskrit

UNIVERSITY OF PATANJALI

Delhi Highway, Haridwar, Uttarakhand — 249405

www.universityofpatanjali.com

लेखक

1. स्वामी परमार्थदेव
2. स्वामी आर्षदेव
3. स्वामी सौम्यदेव
4. स्वामी भद्रदेव
5. स्वामी ओंकारदेव
6. स्वामी कृष्णदेव
7. स्वामी इन्द्रदेव
8. डा.बदरीनाथ बळ्ळारी
9. डा. सावर सिङ्ग यादव

समीक्षक

डा. ब्रजभूषण ओझा प्रध्यापक (व्याकरण) बनारस हिन्दु विश्वविद्याल काशि

संपादक

प्रो. मनोहर लाल आर्य विभागाध्यक्ष संस्कृतविभाग पतंजलि विश्वविद्यालय हरिद्वार

।। ओ९म् ।।

सा विद्या या विमुक्तये

उपनिषद् बोध

MSSAMJ-201

दिव्य प्रकाशन

उपनिषद् बोध
MSSAMJ-201

उद्देश्य–

- विद्यार्थियों को उपनिषदों के परिचय के साथ इस के विषय में ज्ञान प्रदान कराना।
- विद्यार्थियों को उपनिषदों में सन्निहित अध्यात्मविद्या तथा सांसारिक व्यवहार की दिव्यता का बोध कराना।
- विद्यार्थियों को उपनिषदों में सन्निहित ईश्वर जीव प्रकृति के सच्चे स्वरूप से अवगत कराना।

परिणाम–

- विद्यार्थी उपनिषद् में सन्निहित विषय से पूर्णरूप से अवगत हो जाता है।
- विद्यार्थी उपनिषदों के गहन अध्ययन से देश काल परिस्थिति में विचलित नहीं होता उस के जीवन में ठहराव आ जाता है।
- विद्यार्थी के जीवन में सुख–शान्ति व दिव्यता का आधान होता है।

सहायक ग्रन्थ–

उपनिषद् संदेश, दिव्य प्रकाशन, पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार।
एकादशोपनिषद्, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार।
ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर।

विषय-सूची

खण्ड-1	**5-42**
इकाई- 1.1 उपनिषद् शब्द का अर्थ एवं निर्वचन।	5-10
इकाई-1.2 उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय।	11-14
इकाई-1.3 उपनिषदों में ओंकार (ईश्वर/ब्रह्म/परमात्मा) का स्वरूप।	15-35
इकाई-1.4 गायत्री मंत्र का माहात्म्य।	36-42
खण्ड-2	**43-86**
इकाई-2.1 उपनिषदों में आत्मा, मन व इन्द्रियों का स्वरूप।	43-71
इकाई-2.2 उपनिषदों में शिक्षा व्यवस्था।	72-77
इकाई-2.3 उपनिषदों में राजनैतिक व्यवस्था।	78-81
इकाई-2.4 उपनिषदों में पंचकोश का स्वरूप।	82-86
खण्ड-3	**87-125**
इकाई-3.1 सिद्ध योगी का विराट् स्वरूप एवं सिद्धि के उपाय।	87-107
इकाई-3.2 उपनिषदों में प्राणविद्या।	108114
इकाई-3.3 उपनिषदों में आनन्द की मीमांसा।	115-118
इकाई-3.4 उपनिषदों में शाश्वत् सुख (भूमा) की प्राप्ति।	119-125
खण्ड-4	**126-142**
इकाई-4.1 शरीर की नदी के रूप में उपमा।	126-129
इकाई-4.2 अजा तथा अज का वर्णन (प्रकृति एवं पुरुष का वर्णन)।	130-133
इकाई-4.3 श्वेताश्वरोपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप।	134-138
इकाई-4.4 उपनिषदों में सृष्टि रचना।	139-142

भूमिका

भारत की सनातन आध्यात्मिक परंपरा में उपनिषदों का स्थान सर्वोच्च है। ये ग्रंथ केवल धार्मिक ग्रंथ नहीं, बल्कि आत्मबोध, जीवन के रहस्य, ब्रह्म ज्ञान, और आत्मा-परमात्मा के संबंध को उजागर करने वाले दिव्य स्रोत हैं। 'उपनिषद बोध' पुस्तक का उद्देश्य इन्हीं महान उपनिषदों की गूढ़ शिक्षाओं को सरल, स्पष्ट और बोधगम्य रूप में प्रस्तुत करना है, जिससे आम पाठक भी आत्मज्ञान की दिशा में आगे बढ़ सके।

उपनिषद शब्द का अर्थ है 'निकट बैठना' (उप=निकट, नि=नीचे, सद्=बैठना), अर्थात गुरु के समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त करना। यह ज्ञान केवल सूचनात्मक नहीं, बल्कि अनुभवात्मक और मुक्तिदायक होता है। उपनिषदों में न तो कर्मकांड की प्रधानता है, न ही बाह्य आडंबर की यहाँ आत्मा की खोज, ब्रह्म का साक्षात्कार, और जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति ही मुख्य विषय हैं।

'उपनिषद बोध' पुस्तक इसी ज्ञान परंपरा को आज के परिप्रेक्ष्य में पुनः जागृत करने का एक विनम्र प्रयास है। आज जब जीवन की दौड़ में मानव थक चुका है, मानसिक तनाव, असंतोष और उद्देश्यहीनता से ग्रसित है, तब उपनिषदों की शाश्वत शिक्षाएँ मार्गदर्शक बन सकती हैं। यह पुस्तक उन गूढ़ मंत्रों, सूक्तियों और संवादों को सरल भाषा में समझाने का प्रयास करती है, जो उपनिषदों में गुरु और शिष्य के बीच हुए हैं।

पुस्तक में प्रमुख उपनिषदों जैसे ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न, तैत्तिरीय, छांदोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद की शिक्षाओं का सार संक्षेप में दिया गया है। हर उपनिषद की पृष्ठभूमि, उसमें उठाए गए प्रश्न, और उनके उत्तरों को समसामयिक दृष्टिकोण से जोड़ने का प्रयास किया गया है। साथ ही, वैदिक दर्शन के प्रमुख सिद्धांत जैसे आत्मा की अमरता, ब्रह्म की सर्वव्यापकता, अद्वैत का सिद्धांत, और माया की व्याख्या को भी यथासंभव सरलता से स्पष्ट किया गया है।

यह पुस्तक न केवल विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है, बल्कि उन साधकों, अध्यात्म में रुचि रखने वालों और सामान्य पाठकों के लिए भी लाभकारी है, जो उपनिषदों को समझने की जिज्ञासा रखते हैं लेकिन उनकी क्लिष्ट भाषा और शास्त्रीय शैली के कारण दूरी बनाए रखते हैं।

अंत में, यह कहना समीचीन होगा कि ष्उपनिषद बोधष केवल एक पुस्तक नहीं, बल्कि आत्मा की ओर लौटने का एक निमंत्रण है। यह हमें हमारे अस्तित्व के मूल प्रश्नों से जोड़ती है मैं कौन हूँ? जीवन का उद्देश्य क्या है? मृत्यु के पार क्या है? इन सबका उत्तर उपनिषदों में निहित है।

इस कृति के माध्यम से यदि पाठकों में आत्मबोध की जिज्ञासा जागे, और वे आत्म-चिंतन की ओर प्रवृत्त हों, तो यही इस पुस्तक की सफलता होगी।

खण्ड- 1
इकाई-1.1 उपनिषद् शब्द का अर्थ एवं निर्वचन

उद्देश्य-

1. उपनिषद् शब्द के अर्थ को समझना।
2. उपनिषद् की व्युत्पत्ति का अध्ययन करना।
3. उपनिषदों के आध्यात्मिक महत्व को जानना।

उपनिषद् शब्द महर्षि पाणिनि विरचित धातुपाठ के **'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु'**[1] धातु से **उप** तथा **नि उपसर्ग** पूर्वक **क्विप्** प्रत्यय होकर **उपनिषद्** शब्द निष्पन्न होता है। सद् धातु के तीन अर्थ हैं पहला विशरण (नाश होना) दूसरा-गति (ज्ञान, गमन, प्राप्ति) तथा तीसरा-**अवसादन** (शिथिल करना)। इसी प्रकार **'उप'** उपसर्ग का अर्थ है समीप या निकट और **'नि'** उपसर्ग का अर्थ है निश्चय/नितरां या निसदन। इन अर्थों के अनुसार-**''उपसामीप्येननितरां सीदन्ति प्राप्नुवन्ति परं ब्रह्म यया विद्यया सा उपनिषद्।।''**[2] अर्थात् जिस विद्या के द्वारा परब्रह्म का सामीप्य एवं तादात्म्य प्राप्त किया जाता है, वह 'उपनिषद्' है।

अवसादन (शिथिल करना) इस आधार पर उपनिषद् का अर्थ हुआ 'जो पाप ताप का नाश करे, सच्चा ज्ञान प्रदान करे, आत्मबोध की प्राप्ति कराए और अज्ञान अविद्या को शिथिल करे वह उपनिषद् विद्या है। विद्वानों ने उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी मानी है-**उप**-सामीप्य अथवा व्यवधान रहित, **नि**-विशिष्ट या सम्पूर्ण, **सद्**-ज्ञान या बोध, अर्थात् सामीप्य द्वारा प्राप्त विशिष्ट बोध व्यवधान रहित सम्पूर्ण ज्ञान उपनिषद् है।

आचार्य रामनाथ वेदालंकार जी ने उपनिषद् दीपिका की भूमिका में इस प्रकार लिखा है-

''उप गुरोः समीपे निषीदन्ति उपविशन्ति अध्यात्मज्ञानग्रहणाय शिष्या यत्र सा उपनिषद्।''- अर्थात् जिसमें गुरु और शिष्य समीप बैठकर अध्यात्म ज्ञान की चर्चा करते हैं, उस शास्त्र का नाम उपनिषद् है।

''उप ब्रह्मणः समीपे निषीदन्ति उपविशन्ति शिष्या यया सा उपनिषद्''-अर्थात् इसे उपनिषद् इसलिए भी कहते हैं, क्योंकि इससे शिष्य ब्रह्म के समीप बैठने के अधिकारी हो जाते हैं।

उपनिषादयति सर्वानर्थकरसंसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।।[3] अर्थात्- 'जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले संसार का नाश करती है, संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती है तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है।

शब्दस्तोम महानिधि में उपनिषद् को स्पष्ट करते हुए लिखा है **''उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मविद्याऽनया सोपनिषत्।।**[4]**''** अर्थात् ब्रह्मविद्या की जिससे प्राप्ति होती है वह उपनिषद् कहलाती है।

---

1. पाणिनि धातुपाठ।
2. शांकर भाष्य
3. छान्दोग्योपनिषद् भूमिका
4. शब्दस्तोभ महानिधि

पद्मचन्द्रकोष में उपनिषद् का अर्थ किया गया है-**''उपनिषीदति प्राप्नोति ब्रह्मात्मभावोऽनया सा उपनिषत्''।**[1] अर्थात् जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सके उसे उपनिषद् कहते हैं अर्थात् शिष्य का गुरु के समीप परम तत्त्व को, गूढ़ उपदेश सुनने के लिए निश्चय पूर्वक बैठना, जिससे शिष्य की अविद्या का नाश होता है, ब्रह्म प्राप्ति होती है तथा उसके कर्मबन्धन तद्जन्य दु:ख आदि का शिथिलीकरण होकर क्षय हो जाता है। इस प्रकार उपनिषद् शब्द **अध्यात्म-विद्या** या **ब्रह्म विद्या** के रूप में प्रयुक्त होने लगा। व्याकरण महाभाष्य में महर्षि पतंजलि ने उपनिषद् को रहस्य नाम देकर लिखा है-

चत्वारो वेदा: साङ्गा: सरहस्या बहुधा भिन्ना:।।

महान् व्याकरणाचार्य महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय के **'जीविकोपनिषदावौपम्ये'** सूत्र में उपनिषद् शब्द का छिपाने अर्थ में प्रयोग किया है। अर्थात्- किसी बात को छिपाकर अथवा रहस्यात्मक बनाकर चला गया ऐसा बताया है। इससे भी उपनिषद् विद्या का रहस्यात्मक स्वरूप प्रकट होता है।

श्री शंकराचार्य जी ने बृहदारण्यकोपनिषद् की भूमिका में लिखा है-**''सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषद् शब्द वाच्या संसारस्यात्यन्तावसादनात् उपनिपूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात्। ग्रन्थोऽप्युपनिषद् उच्यते।।''**[2] अर्थात्-यह उपनिषद् नामक ब्रह्मविद्या संसार के अत्यन्त अवसादन-उच्छेद करने के लिए है। उपपूर्वक सद् धातु का ऐसा अर्थ होने से।

यह **रहस्य विद्या या गुह्य विद्या** कहलाती है। कठोपनिषद् पर अपने भाष्य की भूमिका में इस शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में आचार्य शंकर लिखते हैं- **केन पुनरर्थयोगेन उपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्युच्यते। ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविक-विषय-वितृष्णा: सन्त उपनिषच्छब्द वाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्याम् उपसद्योपगम्य, तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति, तेषामविद्यादे: संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद्, विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्या उपनिषदित्युच्यते।।**[3] किस अर्थ का योग होने के कारण उपनिषद् शब्द से विद्या का कथन होता है। सो बतलाते हैं।

जो मोक्षगामी पुरुष लौकिक और पारलौकिक विषयों से विरक्त होकर उपनिषद् शब्द की वाच्य तथा आगे कहे जाने वाले लक्षणों से युक्त विद्या के समीप जाकर अर्थात् उसे प्राप्त कर उसी को निष्ठा से निश्चयपूर्वक उसका परिशीलन करते हैं। उनके अविद्या आदि संसार के बीज का विशरण-हिंसन अर्थात् विनाश करने के कारण इस अर्थ के योग से ही 'उपनिषद्' शब्द से वह विद्या कही जाती है।

उपनिषद् का मुख्य अर्थ अध्यात्म विद्या है, इनमें प्राय: ब्रह्म विद्या का ही प्रतिपादन किया गया है। वेद के अंत में होने के कारण **वेदांत** अथवा उत्तरमीमांसा के नाम से भी प्रचलित है। जिसके अध्ययन करने से मुमुक्षु लोगों की अविद्या नष्ट हो जाती है। जो विद्या साधकों को ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है और जिस विद्या के अभ्यास से गर्भवास आदि नाना प्रकार के दु:ख अथवा बन्धन शिथिल हो जाते हैं, उसे उपनिषद् कहते हैं। ब्रह्म-प्राप्ति की विद्या के प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों को भी उपनिषद् कहते हैं।

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् की भूमिका में शंकराचार्य उपनिषद् शब्द का अर्थ

1. पद्मचन्द्रकोष
2. शांकर भास्य
3. आचार्य शंकरकठोपनिषद् भाष्य भूमिका

करते हैं- **य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्यजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयति। अविद्यादिसंसार-कारणञ्चात्यन्तमवसादयति विनाशयत्युपनिषद्। उप-नि-पूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात्।** जो लोग श्रद्धाभक्ति पूर्वक आत्मभाव से इस ब्रह्मविद्या के समीप आते हैं उनके गर्भवास जन्म, जरा और रोग आदि अनर्थ समूह का छेदन करती है अथवा उन्हें परब्रह्म को प्राप्त करा देती है या संसार के कारणस्वरूप अविद्या आदि का अत्यन्त अवसादन-विनाश कर कर देती है; इसलिए इसे उपनिषद् कहते हैं। क्योंकि 'उप' और 'नि' पूर्वक 'सद्' धातु का यही अर्थ माना गया है।

उपनिषदों ने स्वयं ही उपनिषद् का अर्थ बताया है। यथा केनोपनिषद् में-''**उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषत् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति।**'' शिष्य कहता है, महाराज मुझे उपनिषद् का उपदेश कीजिये। गुरु कहते हैं, तुझे हमने 'उपनिषद्' कह दी है, निश्चय ही हमने तुझे ब्राह्मी उपनिषद् कही है। यहाँ पर उपनिषद् शब्द का अर्थ स्पष्ट रूप से ब्रह्म सम्बन्धी विद्या व शास्त्र है, ऐसा ज्ञात होता है।

इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् का भी भाव है-''**वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। एषा वेदोपनिषद्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्।**''[1] वेद का उपदेश करके आचार्य शिष्य को कहता है- सत्य बोलो। धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय में प्रमाद मत करो आदि। यह वेदोपनिषद् है, यह अनुशासन है। इसका पालन तुम्हें करते रहना चाहिए। यहां वेदोपनिषत् का अर्थ वेद का उपदेश, वेद की शिक्षा है।

छान्दोग्य उपनिषद् में भी ऐसा ही भाव प्रकट किया है-''**यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।**'' जिस कर्म को ज्ञान से, श्रद्धा से और ईशादि उपनिषद् शास्त्रों से या शंकराचार्य के अनुसार योगयुक्त होकर जो कर्म किया करता है उसका वह कर्म बलवत्तर होता है। यहां उपनिषद् शब्द से उपनिषद् शास्त्रों का ग्रहण होता है, क्योंकि ब्रह्म विद्या का तो विद्या शब्द से ही ग्रहण हो जाता है।

''उपनिषद्'' शब्द का अर्थ यूं भी समझा जा सकता है-जब लोग (परि) चारों ओर इकट्ठे होकर (सद्) बैठते हैं तो उनके समूह को परिषद् कहते हैं। इसी प्रकार (सम्) एक साथ (सद्) बैठने वाले लोगों के समूह को संसद् कहते हैं। ठीक इसी प्रकार जहाँ शिष्य गुरु के चरणों में जाकर बैठते थे, उन छोटी-छोटी उपदेश सभाओं का नाम उपनिषद् था। शनैः शनैः उन बैठकों में (उपनिषदों में) जिस ब्रह्मविद्या का विचार होता था, उसे भी उपनिषद् कहा जाने लगा। इसके पश्चात् जिन ग्रन्थों में यह विद्या लिखी गई, उन्हें भी उपनिषद् के नाम से पुकारा जाने लगा।

वैदिक साहित्य के मुख्यतः चार भाग हैं-संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता आदि भागों में ज्ञान, कर्म, उपासना, विज्ञान आदि मार्गों का उल्लेख हुआ है। उपनिषद् में ज्ञान का प्रतिपादन है। अतएव उपनिषद् विद्या अन्य विद्याओं की अपेक्षा प्रधानतम एवं गौरवमयी है। इसी विद्या को लक्ष्य करके कहा जाता है कि **'सा विद्या या विमुक्तये'** वही वास्तविक विद्या है, जो मोक्ष प्राप्ति में सहायक हो। **'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्।'**[2] योगेश्वर श्रीकृष्णजी महाराज कहते हैं- 'मैं विद्याओं में अध्यात्म विद्या हूँ।'

1. तैत्तिरीय उप. शिक्षावल्ली- 11
2. गीता 10.32

'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते'[1] 'परा विद्या वह है, जिससे उस अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान होता है।' इत्यादि उपनिषद् वाक्यों द्वारा इसी को **'मोक्षदायिनी विद्या'**, **'अध्यात्मविद्या'** तथा **'परा विद्या'** आदि नाम दिये गये हैं तथा यही विद्या सब अनर्थों के मूलभूत संसार की निवृत्ति करती हुई परमानन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति का मुख्य कारण बतायी गयी है। इसीलिए इसे सब से श्रेष्ठ कहा गया है।

उपनिषदों की महिमा महान् है। शब्द इसे व्यक्त नहीं कर सकते, क्योंकि शब्द सीमित हैं और भाषा अधूरी है। उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के हृदय का साकार मोती है। वे ज्ञान के भण्डार और अध्यात्मविद्या के अगाध सागर हैं।

संस्कृत के धार्मिक या अध्यात्मिक साहित्य में उपनिषदों का विशेष स्थान है। उपनिषद् वह चिर प्रदीप्त ज्ञान-दीपक है जो सृष्टि के आदि से प्रकाश देता आ रहा है और प्रलयपर्यन्त प्रकाश देता रहेगा। उपनिषद् वह आध्यात्मिक मानसरोवर है, जिसमें स्नान करने से संसार की सन्तप्त और उद्विग्न आत्माओं को शान्ति प्राप्त होती है। अध्यात्म-विद्या का वर्णन जिस सीधे और सरल मार्ग से उपनिषदों में किया गया है, ऐसा वर्णन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। उपनिषदों के अध्ययन से ब्रह्म, जीव, प्रकृति, जन्म और मृत्यु-सम्बन्धी सभी संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

उपनिषदों की महिमा और गौरव तो इस तथ्य से ही स्पष्ट है कि महर्षि वेदव्यास को इनके वाक्यों का समन्वय करने के लिए एक सम्पूर्ण दर्शन-वेदान्तदर्शन की रचना करनी पड़ी।

स्मरणीय बिन्दु-

- उपनिषद् ब्रह्मविद्या का ज्ञान देते हैं।
- उपनिषदों को वेदान्त कहा जाता है।
- उपनिषद् आत्मा और परमात्मा के संबंध को स्पष्ट करते हैं।
- अज्ञान का नाश उपनिषदों का प्रमुख उद्देश्य है।

शब्दावली-

- उपनिषद् - ब्रह्मविद्या
- ब्रह्म - परम सत्य
- आत्मा - जीव चेतना
- वेदान्त - वेद का अंतिम भाग
- अविद्या - अज्ञान

5 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषद् शब्द का अर्थ लिखिए।

---

1. मुण्डकोपनिषद. 1/1/5

2. 'उप' और 'नि' उपसर्ग का अर्थ बताइए।

3. उपनिषद् को ब्रह्मविद्या क्यों कहा जाता है?

4. उपनिषद् का मुख्य उद्देश्य क्या है?

5. उपनिषदों का वैदिक साहित्य में क्या स्थान है?

15 अंक के प्रश्न–

1. उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

2. उपनिषदों के आध्यात्मिक महत्व पर प्रकाश डालिए।

3. उपनिषदों को वेदान्त क्यों कहा जाता है? स्पष्ट कीजिए।

4. उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मविद्या का विवेचन कीजिए।

5. आधुनिक जीवन में उपनिषदों की प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

बहु–विकल्पीय प्रश्न–

1. उपनिषद् शब्द किस धातु से बना है?

(क) गम्

(ख) सद्

(ग) भू

(घ) कृ

2. उपनिषदों को किस नाम से भी जाना जाता है?

(क) पुराण

(ख) वेदान्त

(ग) स्मृति

(घ) सूत्र

3. उपनिषदों का मुख्य विषय क्या है?

(क) राजनीति

(ख) ब्रह्मविद्या

(ग) युद्ध

(घ) ऋषि

4. उपनिषदों का उद्देश्य क्या है?

(क) अज्ञान का नाश

(ख) व्यापार

(ग) मनोरंजन

(घ) धन संचय

5. उपनिषद् किस साहित्य का भाग हैं?

(क) वैदिक साहित्य

(ख) जैन साहित्य

(ग) बौद्ध साहित्य

(घ) लोक साहित्य हड्डियों

इकाई- 1.2 उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय

उद्देश्य-

1. प्रमुख उपनिषदों का परिचय प्राप्त करना।
2. उपनिषदों की संख्या और स्वरूप को समझना।
3. विभिन्न उपनिषदों की विशेषताओं का अध्ययन करना।

उपनिषदों की संख्या के विषय में विद्वानों के मत भिन्न-भिन्न हैं। तथापि यहाँ पर कुछ तथ्य-सत्य प्रस्तुत किए जा रहे हैं। वैदिक साहित्य को चार भागों में विभाजित किया गया है-

1. संहिता 2. ब्राह्मण 3. आरण्यक 4. उपनिषद्

ऐसा कहा जाता है कि चारों वेदों के एक सहस्र एक सौ अस्सी (1180) उपनिषदें हैं। इनमें से मूल उपनिषदों की संख्या में भी मतभेद है। अडियार लाईब्रेरी मद्रास से प्रकाशित उपनिषद् संग्रह में 179 उपनिषदों का समावेश हुआ है। गुजराती प्रिंटिंग प्रेस मुम्बई से मुद्रित उपनिषद् वाक्य महाकोश में 222 उपनिषदों की नामावली दी गई है, इनमें 2 अभी उपलब्ध नहीं हो सकी।

इन सब उपनिषदों में **मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार 108 उपनिषदें हैं।**

उपनिषद् वेदों का भाग हैं और इस प्रकार प्राचीन हिंदू धर्मग्रंथों का अभिन्न भाग हैं जो मुख्य रूप से दर्शन, ध्यान और भगवान् की सच्ची पहचान कराने हेतु सरल व सशक्त साधन हैं। उपनिषद् वेदों के रहस्यवादी और आध्यात्मिक प्रतिबिम्ब हैं और इन्हें वेदान्त (वेदों की परिणति) के रूप में भी जाना जाता है।

उपनिषदों की संख्या के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है ठीक-ठीक संख्या का निर्धारण बड़ा कठिन है।

वैदिक धर्म के अवलम्बी महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने 11 उपनिषदों को ही प्रामाणिक माना है स्वयं आदिगुरु शंकराचार्य जी ने भी 11 उपनिषदों पर भाष्य लिखा है।

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डकमाण्डूक्यतित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश।।

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर-प्रायः इन ग्यारह उपनिषदों का ही पठन-पाठन होता है और इन्हीं पर विद्वान् लोग अपनी टीकाएँ लिखते हैं।

एकादश उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय-

1. ईशावास्योपनिषद् : इस उपनिषद् का नाम इसके प्रथम मन्त्र **'ईशावास्यामिदं सर्वम्....'** से कहा गया है। इसे ईशोपनिषद् भी कहते हैं। **यह यजुर्वेद का चालीसवां (40) अध्याय है।** इसमें मात्र अठारह मन्त्र हैं, किन्तु इनमें संक्षेपपूर्वक उपनिषदों के सभी विषयों का अति प्रभावशाली निरूपण हुआ है। अतएव यह बहुत लोकप्रिय और महत्वपूर्ण उपनिषद् है।

2. केनोपनिषद् : इसका नामकरण इसके प्रारम्भिक वाक्य 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः' क्योकि यहाँ

पहला शब्द "**केन**" है। इसलिए इस उपनिषद् का नाम केनोपनिषद् हो गया। यह **सामवेद की जैमिनीय शाखा** के ब्राह्मण-ग्रन्थ का नवम अध्याय है। इसको **'ब्राह्मणोपनिषद्'** भी कहते हैं। इसका प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्मतत्त्व' है।

3. कठोपनिषद् : कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा के अन्तर्गत यह उपनिषद् आती है। इसमें दो अध्याय और छः वल्लियाँ हैं। इसका प्रारम्भ नचिकेता की कथा से होता है, जिसमें श्रेय और प्रेय का सुन्दर विवेचन है। जो आत्मा परमात्मा के स्वरूप को स्पष्ट करती है।

4. प्रश्नोपनिषद् : अथर्ववेद की **पिप्पलाद संहिता** के ब्राह्मण-ग्रंथ का एक अंश 'प्रश्नोपनिषद्' है। इसमें अलग-अलग 6 ऋषियों ने 6 प्रश्न किये हैं। प्रश्नोत्तर के रूप में ब्रह्मतत्त्व का निरूपण किया गया है, इसीलिए इसका यह नामकरण प्रश्नोपनिषद् हुआ है।

5. मुण्डकोपनिषद् : अथर्ववेद की **शौनक शाखा** का एक अंश 'मुण्डकोपनिषद्' है। इसमें तीन मुण्डक और प्रत्येक मुण्डक में दो-दो अध्याय हैं। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति और ब्रह्मतत्त्व विचारणीय विषय है।

6. माण्डूक्योपनिषद् : यह **अथर्ववेद का एक संक्षिप्त उपनिषद्** है। इसमें मात्र बारह मन्त्र हैं। इसमें **'ओंकार'** के महत्त्व का निरूपण है।

7. तैत्तिरीयोपनिषद् : यह **यजुर्वेदीय उपनिषद्** है। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के ब्राह्मणग्रन्थ के अन्तिम भाग को **'तैत्तिरीय-आरण्यक'** कहते हैं। यह आरण्यक दस प्रपाठकों में विभाजित है। इनमें से सात से नौ तक के प्रपाठकों को 'तैत्तिरीयोपनिषद्' कहते हैं। उक्त तीन प्रपाठकों के क्रमशः शिक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली नाम हैं।

8. ऐतरेयोपनिषद् : यह **ऋग्वेदीय उपनिषद्** है। ऋग्वेद के 'ऐतरेयब्राह्मण' के पांच भाग हैं जिनको पांच आरण्यक की संज्ञा दी गई है। इसके द्वितीय आरण्य के चतुर्थ से षष्ठ अर्थात् तीन अध्यायों को **'ऐतरेयोपनिषद्'** कहते हैं। इन तीन अध्यायों में क्रमशः सृष्टि, जीव और ब्रह्म का निरूपण है।

9. छान्दोग्योपनिषद् : सामवेद की **कौथुमी शाखा** के तीन ब्राह्मण हैं- ताण्ड्य, षड्विंश और मन्त्र। इन्हीं के अन्तिम आठ अध्याय छान्दोग्यब्राह्मण अथवा 'छान्दोग्योपनिषद्' कहलाते हैं। ये आठ अध्याय बहुत विस्तृत हैं, अतः यह उपनिषद् बहुत विशाल है।

10. बृहदारण्यकोपनिषद् : शुक्ल-यजुर्वेद की दो शाखाएं हैं। उन दोनों का ब्राह्मणग्रन्थ 'शतपथ' है। इसके अन्तिम छः अध्यायों को बृहदारण्यक या 'बृहदारण्यकोपनिषद्' कहते हैं। इसका 'बृहत्' नाम अन्वर्थ है, क्योंकि आकार में यह सबसे बड़ी उपनिषद् है। इसमें भी सृष्टि और ब्रह्म का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है।

11. श्वेताश्वतर उपनिषद् : यह भी **कृष्ण यजुर्वेद** का भाग है। इसके छः अध्याय हैं। श्वेताश्वतर नाम के ऋषि थे जिन्होंने इस उपनिषद् को सीखा और इसे अपने शिष्यों को सिखाया।

उपनिषदों की रचना गद्यात्मक एवं पद्यात्मक दोनों प्रकार की है जिनका परिचय इस प्रकार से है-

1. गद्यात्मक उपनिषद्

1. ऐतरेय, 2. केन, 3. छान्दोग्य, 4. तैत्तिरीय, 5. बृहदारण्यक

इनका गद्य ब्राह्मणों के गद्य के समान सरल, लघुकाय तथा प्राचीन है।

2. पद्यात्मक उपनिषद्

1. ईश, 2. कठ, 3. श्वेताश्वतर

इनका पद्य वैदिक मंत्रों के अनुरूप सरल, प्राचीन तथा सुबोध है।

3. अवान्तर गद्योपनिषद्

1. प्रश्न

4. आथर्वण (अर्थात् कर्मकाण्डी) उपनिषद्

अन्य अवांतरकालीन उपनिषदों की गणना इस श्रेणी में की जाती है।

प्रस्तुत पाठ्य पुस्तक ''उपनिषद्–बोध'' ग्यारह उपनिषदों में वर्णित मुख्य विषयों पर आधारित है। यह पुस्तक सार रूप में अल्पकाल में ही तत्त्वबोध के लिए सुनियोजित रूप से बनाई गयी है। जो कि ज्ञान पिपासु मुमुक्षु पाठकों या विद्यिार्थियों के लिए अत्यन्त सरल व सुबोधगम्य एवं अध्यात्म पथ के पथिकों के लिए प्रकाश का काम करेगी।

महत्वपूर्ण बिंदु-

- उपनिषद वैदिक ज्ञान का सार हैं।
- प्रमुख उपनिषदों में ईश, केन, कठ, प्रश्न आदि शामिल हैं।
- उपनिषद मोक्ष और आत्मज्ञान का मार्ग बताते हैं।
- उपनिषद भारतीय दर्शन की आधारशिला हैं।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
मोक्ष	मुक्ति
आत्मज्ञान	आत्मा का ज्ञान
ब्रह्मविद्या	परम सत्य का ज्ञान
संवाद	वार्तालाप
वेदान्त	वेद का अंतिम भाग

5 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषदों की संख्या कितनी मानी गई है?
2. ईशोपनिषद् का मुख्य विषय क्या है?
3. केनोपनिषद् का आधार क्या है?
4. कठोपनिषद् में किस संवाद का वर्णन है?

5. माण्डूक्योपनिषद् में किसका वर्णन है?

15 अंक के प्रश्न-

1. प्रमुख उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. ईश, केन और कठोपनिषद् का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. प्रश्नोपनिषद् एवं मुण्डकोपनिषद् का विवेचन कीजिए।
4. उपनिषदों के दार्शनिक महत्व पर चर्चा कीजिए।
5. उपनिषदों का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव स्पष्ट कीजिए।

बहु विकल्पीय-

1. ईशोपनिषद् किस वेद से संबंधित है?

(क) ऋग्वेद

(ख) यजुर्वेद

(ग) सामवेद

(घ) अथर्ववेद

2. कठोपनिषद् में किसका संवाद है?

(क) राम और लक्ष्मण

(ख) नचिकेता और यम

(ग) अर्जुन और कृष्ण

(घ)जनक और याज्ञवल्क्य

3. मुण्डकोपनिषद् किस वेद से संबंधित है?

(क) अथर्ववेद

(ख) सामवेद

(ग) ऋग्वेद

(घ) यजुर्वेद

4. उपनिषदों का मुख्य लक्ष्य क्या है?

(क) मोक्ष

(ख) धन

(ग) राजनीति

(घ) युद्ध

5. 'ओम्' का विशेष वर्णन किस उपनिषद् में है?

(क) ईश

(ख) माण्डूक्य

(ग) केन

(घ) प्रश्न

इकाई-1.3 उपनिषदों में ओंकार (ईश्वर/ब्रह्म/परमात्मा) का स्वरूप

उद्देश्य-

1. ओंकार के महत्व को समझना।
2. ब्रह्म और ओम् के संबंध का अध्ययन करना।
3. उपनिषदों में ओंकार की आध्यात्मिक व्याख्या जानना।

चारों वेदों, स्मृतियों, दर्शनों के साथ-साथ एकादश उपनिषदों में तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में परमपिता परमेश्वर के मुख्य नाम के रूप में ओंकार, ओम्, प्रणव, उद्गीथ आदि प्रसिद्ध हैं। जिसका दिग्दर्शन निम्न बिन्दुओं में किया गया है- कठोपनिषद् में यमाचार्य नचिकेता को ईश्वर का उपदेश देते हुए कहते हैं कि-

1. ईश्वर का मुख्य नाम ओ३म् है-

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्व दन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।[1]

अर्थात् हे नचिकेता! जिस परमपिता परमेश्वर का, उस ब्रह्म का मैंने तुम्हें उपदेश किया है जिसकी प्राप्ति के लिये योगीजन द्वंद्वों को सहते हुए तप और समाधि में निरंतर रत रहते हैं, ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य व्रत का अखण्डित पालन करते हैं। इस सर्वव्यापक जगन्नियन्ता परब्रह्म परमेश्वर का अपना निज नाम 'ओ३म्' है। जिसका अर्थ है रक्षा करने वाला, सृष्टि का निर्माता, संहरता, कर्मानुसार भोग-योनि प्रदाता और अपने भक्तों को मुक्ति सुख से युक्त करने वाला है। इसी को अनेक ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि नामों से पुकारा जाता है। इसी के जाप और ध्यान से मोक्ष प्राप्त होता है।

2. ओंकार ईश्वर के मुख्य नाम के रूप में बताया गया है-

(क) अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वैतद् भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति।।[2]

अर्थात् चतुर्थ प्रश्न के पश्चात् सत्यकाम ने ऋषि पिप्पलाद से पूछा कि, हे भगवन्! मनुष्यों में जो मरणपर्यन्त परमात्मा के मुख्य नाम ओङ्कार का समाधिस्थ होकर उसको ध्यान करे तो वह उससे किस लोक को प्राप्त होता है। इस प्रश्न के उत्तर में ऋषि कहते हैं

(ख) तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद्विद्व ानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति।।[3]

अर्थात् हे सत्यकाम! जो मनुष्य जीवन पर्यन्त उस परब्रह्म परमात्मा के मुख्य 'ओ३म्' नाम का जाप करता है, वह परं मुक्ति को और अपरम् सांसारिक सुखों को भी प्राप्त होता है। इससे विद्वान् जैसे लोक को प्राप्त

1. कठोपनिषद् 2/15
2. प्रश्नोपनिषद्5/1
3. प्रश्नोपनिषद्5/2

करना चाहता है, वैसे को ही प्राप्त हो सकता है। यदि वह यज्ञ-यागादि का ही अनुष्ठान करता रहता है, तो उसे इह लौकिक सुख प्राप्त होता है, धन-वैभव, पुत्रादि खूब प्राप्त होते हैं और यदि योग साधना में रत रहता है तो मोक्ष का आनन्द प्राप्त होता है। किसी न किसी एक सुख लोक को अवश्य प्राप्त करता है।

3. ओंकार की उपासना का उपदेश-

(क) स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति॥[1]

अर्थात् हे शिष्य! यदि विद्वान् ओ३म् की 'अकार' मात्रा का अर्थात् केवल ज्ञान ही ज्ञान में लगा रहे कर्म तद्वत् न करे, तो वह उस ज्ञान द्वारा अर्थात् ज्ञानी शीघ्र ही इस लोक में जन्म धारण करता है, जिससे इह लौकिक सुख के साथ-साथ थोड़ा-थोड़ा तप, ब्रह्मचर्य का पालन और श्रद्धा से युक्त होकर उस ब्रह्म की महिमा का अनुभव करता है, कि प्रभु आपने अति कृपा की जो मुझे यह सब इहलौकिक सुख दिया, पर ये यहीं तक सीमित रह जाते हैं, इसलिये मुक्ति सुख को प्राप्त नहीं कर पाते ।

(ख) यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माजीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः॥[2]

हे सत्यकाम! जो ज्ञानी उस ओंकार की (अकार, उकार और मकार) अर्थात् ज्ञान, कर्म उपासना इन तीनों का समन्वय करके चलता है, तो वह इहलौकिक सुख को भी और सोमलोक, देवत्व कोटि को और इनके साथ उपसना द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है अर्थात् जीव के शरीर में भी सर्वश्रेष्ठ, पुरिशयं इस समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक पुरुष परमपूर्ण पुरुष उस जगदीश्वर को जानकर प्राप्त कर लेता है।

यहां एक उदाहरण दिया है। जैसे- पैर ही उदर है जिसका ऐसा सर्प जब कैंचुली से छूट जाता है, तब अति सुखी होता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को जानने पर संसार के आवागमनरूप दुःख से छूटकर आनन्दित होता है।

(ग) तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योऽन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥[3]

अर्थात् हे शिष्य! जो मुमुक्षु ओ३म् की उक्त तीनों मात्राओं का अर्थात् ज्ञान, कर्म और उपासना को समन्वयपूर्वक एक साथ अनुष्ठान करता रहता है, तो वह मृत्यु को लांघकर एक दूसरे से अति निकट का जिनका सम्बन्ध है, उनमें पृथक्त्व नहीं है अर्थात् ज्ञानपूर्वक, कर्म करने वाला ही इहलौकिक सुखों को प्राप्त होता है, और ज्ञान-कर्म के साथ-साथ उपासना भी करता है, मन, वचन और कर्म जिसकी एक हैं। छल-कपट, राग-द्वेष आदि से सर्वथा रहित हो गया है। मन का मल, आवरण और विक्षेप, ज्ञान, कर्म और उपासना को दूर हो गया है, वही फिर कम्पायमान नहीं होती, उसे फिर किसी से भी, कहीं भी भय नहीं होता। भय उसे ही होता है जिसका मन पवित्र नहीं, असत्यवादी है, ईर्ष्या तथा द्वेष से युक्त है व संकीर्ण

1. प्रश्नोपनिषद् 5/3
2. प्रश्नोपनिषद् 5/5
3. प्रश्नोपनिषद् 5/6

भावनाओं से युक्त है।

(घ) ऋग्भिरेतं यजुभिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति।।[1]

अर्थात् उस मन, वचन, कर्म वाले को ऋक् ज्ञान इस लोक का सुख प्राप्त कराता है, ज्ञान और वेदोक्त यज्ञ-यागादि शुभ कर्मों से, इस लोक के सुख के साथ-साथ अन्तरिक्ष सोमलोक जीवन में शान्ति भी प्राप्त होती है, नहीं तो बहुत से धनी-मानी भी मानसिक अशान्ति से युक्त पीड़ित होते हुए देखे हैं। साम उपासना करके उस अजर, अमर, अविनाशी ओंकार रूप ब्रह्म को जानकर मुक्त हो जाते हैं। इस संसार के जन्म-मरण रूप भय से अभय हो जाते हैं अर्थात् मुक्ति की अवधि तक इस भौतिक शरीर में नहीं आते इसी के साथ-साथ यह पञ्चम प्रश्न समाप्त होता है।

4. प्रणव जप का आलम्बन-

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।[2]

अर्थात् हे ब्रह्म जिज्ञासुओं! यदि तुम ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त करना चाहते हो तो जो सदा नूतन एक रस रहने वाला ब्रह्म का मुख्य नाम 'ओ३म्' है उस को धनुष बनाओ, जाप करने को आधार बनाओ, क्योंकि सभी वेद शास्त्रों में 'ओ३म्' नाम को ही सबसे बड़ा और महत्त्वशाली माना गया है और अपनी आत्मा का शर=साधक समझो और ब्रह्म को साध्य जानो। फिर प्रमाद, आलस्य रहित होकर निरन्तर समाधि का अभ्यास करो। तब ही आप का लक्ष्य पूरा हो सकता है। जैसे- तन्मय हो कर शिकारी अपने तीर को निशाने पर मार कर कृतकृत्य हो जाता है।

(क) अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्।।[3]

जैसे रथ के पहियों के बीच में अरे लगे रहते हैं अथवा जैसे मानव देह की नाभि में समस्त नाड़ियों का समूह है, वैसे ही यह विराट् पुरुष नानाविध संसार को रचकर इसमें ओत-प्रोत है। इसलिये वही परब्रह्म तुम को अविद्या रूपी अन्धकार, पाखण्ड से पार कर सकता है उस 'ओम्' का तुम ध्यान करो, उसके स्थान में किसी अन्य को मत स्मरण करो तभी तुम्हारा कल्याण हो सकेगा अन्यथा नहीं।

(ख) ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।।[4]

जिसका कभी नाश नहीं होता, जो भूत-भविष्यत् आदि तीनों कालों से भी पृथक् सर्वव्यापक है। जिस ब्रह्म का मुख्य नाम 'ओ३म्' है यह सारा ब्रह्माण्ड उसी का रचा हुआ है, उसकी ही महिमा का द्योतक है जैसे अकार, उकार और मकार इन तीन मात्राओं से 'ओ३म्' शब्द बनता है। अकार से ईश्वर, उकार से

---

1. प्रश्नोपनिषद्5/7
2. मुंडकोपनिषद् 2/2/4
3. मुंडकोपनिषद् 2/2/6
4. माण्डूक्योपनिषद् 1

जीव और मकार से प्रकृति। अकार से पृथिवी, उकार से अन्तरिक्ष और मकार से द्युलोक। अकार से ज्ञान, उकार से कर्म और मकार से उपासना। अकार से ऋग्वेद, उकार से यजुर्वेद और मकार से सामवेद। अकार से सृष्टि की उत्पत्ति, उकार से स्थिति और मकार से प्रलय। इस प्रकार ओंकार का विस्तार से वेदशास्त्रों व ऋषि–मुनियों ने उपदेश किया है। इसलिये सर्वत्र ओ३म् का ही महत्त्व दृष्टिगोचर हो रहा है।

(ग) एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥[1]

हे मनुष्यो! वह ब्रह्म सम्पूर्ण ऐश्‍वर्यों का स्वामी है, सर्वज्ञाता सर्वव्यापक, और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निमित्त कारण होता हुआ प्रभव (अप्ययौ) उत्पत्ति और विनाश अपने में मानो लीन करने वाला है यही उसकी सगुणता है न कि शरीरधारी बनकर उत्पन्न होना।

(घ) सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति॥[2]

अर्थात् वह ब्रह्म अविनाशी है, उसका मुख्य नाम ओंकार है जिसके अकार, उकार और मकार ही तीन पाद हैं। इन तीनों मात्राओं का सविस्तार वर्णन पूर्व में कर आयें हैं।

(ङ) जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद॥[3]

ओ३म् इसकी अकार प्रथम मात्रा है यह ही जागरित स्थान वाली कही जाती है, जिसका नाम वैश्वानर है। जैसे अकार सब व्यजंनों में व्यापक है बिना अकार के कोई भी अक्षर नहीं बोला जाता, वैसे ही बिना चेतन, ब्रह्मरूप कर्त्ता के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। जैसे बिना कुम्हार के मिट्टी से घड़ा नहीं बन सकता। यह सबका आदि है जो ऋग्वेद से सम्बन्धित है ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड है ज्ञानी व्यक्ति सर्वत्र प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, और सकल विश्व का नेता बनता है। जैसे– 'वैश्वान् नरान् नयति' इति वैश्वानरः जगदीश्वरः। संसार का नियामक ब्रह्म है, जिसे वैश्वानर भी कहते हैं।

(च) स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति। ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद॥[4] अर्थात् ब्रह्म की दूसरी मात्रा उकार है, जो स्वप्न स्थान वाली 'तैजस्' नाम से पुकारी जाती है। जो पूर्व की अपेक्षा उत्कृष्ट वाली है, जिसका सम्बन्ध यजुर्वेद से है। यजुर्वेद कर्मकाण्ड से युक्त है जो ज्ञानी भी और तद्रूप आचरण वाला भी हो तो अधिक श्रेष्ठ कहलायेगा, वही राष्ट्र में ज्ञान और वैदिक कर्मों का प्रचारक होगा। इस प्रकार के ज्ञानी और कर्मकाण्डी के कुल में वेद और ईश्वर का ज्ञाता ही पैदा होगा, यह निश्चय रूप से जान लेना चाहिये।

(छ) सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदंसर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद॥[5]

मकार ओंकार की तृतीयमात्रा है जो ब्रह्म की सुप्त स्थान वाली प्राज्ञ नाम से कही जाती है जिसका

---

1. माण्डूक्योपनिषद् 6
2. माण्डूक्योपनिषद् 8
3. माण्डूक्योपनिषद् 9
4. माण्डूक्योपनिषद् 10
5. माण्डूक्योपनिषद् 11

सामवेद से सम्बन्ध है। अर्थात् ज्ञानी और यज्ञ-यागादि शुभ के साथ-साथ ईशोपासक भी है। वह सांसारिक सुखों को प्राप्त करता हुआ मानसिक शान्ति का भी उपयोग करने वाला होता है। इस प्रकार तीनों ओंकार की मात्राओं के रहस्यों को जानने वाला शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शान्ति को प्राप्त करता है।

(ज) अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद॥[1]

ओंकार जो सब में व्याप्त, सबसे श्रेष्ठ, सबका कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, कल्याणकारी, अद्वितीयादि गुण विशिष्ट है, उसका चतुर्थपाद अमात्रवाला है। योगी लोग समाधिस्थ होकर अपने शुद्ध-पवित्र जीवन से उक्त परब्रह्म को प्राप्त होकर इस संसार के दुःख रूप आवागमन से छूट जाते हैं। यही इस ओंकार की उपासना का रहस्य जानना चाहिये। जिससे मानव जीवन सफल हो सके।

(झ) ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳसर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओंशोमिति शस्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नुवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति॥[2]

ओ३म् ही ब्रह्म का मुख्य निज नाम है, अन्य अग्नि, वायु, रुद्र आदि गौणिक नाम हैं। जैसे किसी का 'देवदत्त, धनंजय, सीता, गीता आदि' नाम मुख्य होता है। ओ३म् ही इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एकमात्र पालक-पोषक और 'निमित्त' कारण है। उससे भिन्न कोई नहीं हो सकता। जिस समय गुरु-शिष्य को कुछ सुनाने के लिये कहता तो, वह ओ३म् नाम बोलकर ही उस आज्ञा को स्वीकार करके सुनाना प्रारम्भ कर देता है। ओ३म् ही को बोलकर उपदेशक, उपदेश प्रारम्भ करते हैं। ओ३म् का ही उच्चारण करके साम गान को गाते हैं, और ऋग्वेद, यजुर्वेद के मन्त्रों का उच्चारण भी प्रथम ओ३म् ही को बोलकर करते हैं और समाप्ति भी ओ३म् शम ओम् ओम् कहकर करते हैं। यज्ञ की व्यवस्था करने वाला अध्वर्यु भी यजुर्वेद के विशिष्ट मन्त्रों का उच्चारण ओ३म् से ही पढ़ता है। ब्रह्मा भी ओ३म् ही को बोलकर ईश्वर की स्तुति करके यज्ञ को प्रारम्भ कराता है। ओ३म् कह कर ही अग्निहोत्र करने की आज्ञा देता है। वेद का विद्वान् ब्राह्मण ओ३म् का ही उच्चारण करके प्रवचन की इच्छा करता है। जिससे मैं ब्रह्म को प्राप्त हो जाऊं। वास्तव में उसके ऐसा करने से वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। और जो भी 'ओ३म्' का अनुष्ठान करेगा वह भी ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है, जीवन के शुद्ध, पवित्र, स्वस्थ और परोपकारमय होने के पश्चात्।

5. उद्गीथ की उपासना छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम प्रपाठक के चतुर्थ खण्ड में उद्गीथ अर्थात् ओंकार की उपासना का वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं-

(क) ओमित्येतदक्षरमुदगीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्॥[3]

ओ३म् जो परमात्मा का निज नाम है, उस अक्षर अविनाशी की ही उपासना करें, और इसी का गान करें, जो इसका उद्गान और उपासना करता है मानो वह ब्रह्म का ही व्याख्यान करता है। क्योंकि यह उसी का

1. माण्डूक्योपनिषद् 12
2. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/8/1
3. छान्दोग्य. 1/4/1

ही व्याख्यान जानना चाहिये।

(ख) अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति।।[1]

अब यह बतलाते हैं कि, जो यह उद्गीथ है, वही प्रणव ओ३म् है, और जो प्रणव है, वही उद्गीथ है, अर्थात् इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है, ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, और जो यह सूर्य है, यही उद्गीथ है, और यह सूर्य ही प्रणव है, क्योंकि यह ओ३म् का ही मानो उच्चारण करता हुआ जाता है, समस्त ब्रह्माण्ड इसी की महिमा गा रहा है।

(ग) अथ खलु य उद्गीथ स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति। होतृषदनाद्धेवापि दुरुद गीतमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति।।[2]

अब पुनः यह बतलाते हैं कि जो ऋग्वेदी ऋत्विज हैं वे ओंकार के लिये 'प्रणव' शब्द का उच्चारण करते हैं, वे अपने आसन पर बैठे हुए ही सामवेदी उद्गाता जो 'प्रणव' के स्थान में उद्गीथ का उच्चारण करते हैं, उन की अशुद्धि को बतला कर ठीक कर देते हैं और सामवेदी ऋग्वेदी की अशुद्धि को बतलाकर ठीक कर देते हैं अर्थात् उन दोनों का उच्चारण अपनी-अपनी दृष्टि से उचित ही होता है, केवल शब्द का ही भेदमात्र है, अर्थ दोनों का एक ही है।

(घ) एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः।।[3]

इन पञ्च महाभूतों का पृथिवी ही रस है, सार है, पृथिवी का रस और सार जल है, जल का अन्न, फल, औषधादि वनस्पतियां हैं, वनस्पतियों का रस 'पुरुष' है अर्थात् जैसा अन्न-जलादि का मानव सेवन करता है वैसा ही रस, रक्त और वीर्य एवं विचारादि बनते हैं, वैसी ही सन्तान पैदा होंगी। पुरुष का महत्त्व इसी में है कि वह उत्तम, मधुर, सत्य-प्रिय सारगर्भित वाणी बोले। और इस वाणी से प्रभु का उद्गीथ गान एवं स्तुति करें।

(ङ) स एष रसाना रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः।।[4]

यह उद्गीथ पूर्वोक्त पृथिवी, जल, औषधि, पुरुष, वाणी, ऋक्, साम और उद्गीथ के रसक्रमों में सबसे उत्कृष्ट और उच्च महत्त्व रखने वाला है।

(च) कतमा कतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति।।[5]

अर्थात् कौन-कौन सी ऋचायें ऋक् कहलाती हैं, कौन-कौन से मंत्र साम कहाते हैं, और कौन सा उद्गीथ है। इस सबका विशेष रूप से विचार होना चाहिये। आगे पृथक-पृथक् वर्णन इस प्रकार करते हैं।

(छ) वागेवर्क्प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः। तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्चर्क्च साम च।।[6]

1. छान्दोग्य. 1/4/1
2. छान्दोग्य. 1/5/1
3. छान्दोग्य. 1/5/5
4. छान्दोग्योपनिषद् 1/1/2
5. छान्दोग्योपनिषद् 1/1/3
6. छान्दोग्योपनिषद् 1/1/4

वाणी ही ऋचा ऋग्वेद कहलाती है, जिनका गान नहीं होता, प्राण साम है क्योंकि सामवेद का गान मधुरतापूर्वक सस्वर गान किया जाता है, 'ओ३म्' यह अविनाशी पद है यह उद्गीथ यजुर्वेद कहाता है। इसका उच्चारण उच्च स्वर से किया जाता है।

(ज) तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योऽन्यस्य कामम्॥[1]

जब स्त्री-पुरुष गर्भाधान के समय परस्पर मिलते हैं, तब वे दोनों एक दूसरे की कामना को पूर्ण करते हैं। अर्थात् सन्तान रूपी कामना को पूरा करते हैं। वैसे ही ये वाणी और प्राण अथवा ऋक् और साम इन दोनों के मिलने पर एक ओंकार अक्षर को पैदा करते हैं। अर्थात् ये दोनों जोड़े 'ओ३म्' के ही गुणों का गान करते हैं।

(झ) आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते॥[2]

जो विद्वान् श्रद्धा से, हृदय से और मन्त्रों का उच्चारण सुमधुर स्वर से इस ओंकार रूप उद्गीथ की उपासना करता है उसकी सभी कामनायें एवं सभी इष्ट इच्छायें पूर्ण होती हैं।

(ञ) तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किंचानुजा नात्योमित्येव तदाह एषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा समर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते॥[3]

वह जो 'ओ३म्' पद है यह अनुज्ञा स्वीकृति अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और जो भी किसी विषय की स्वीकृति देनी है वह समृद्धि का सूचक है, क्योंकि समृद्धशाली, सामर्थ्यवान् ही आप्तकाम होता है, वही दूसरे को भी समृद्धशाली और आप्तकाम होने के लिये सुमार्ग पर चलने की ही आज्ञा देता है, अच्छा व्यक्ति कभी कुमार्ग का उपदेश करता ही नहीं है। इस रहस्य को जो विद्वान् अच्छे प्रकार से समझ जाता है, वह भी अपनी सभी श्रेष्ठ कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ हो जाता है।

(ट) तेनेयं त्रयीविद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शꣳसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन॥[4]

इस ओंकार से ही तीनों प्रकार की विद्याओं ज्ञान, कर्म एवं उपासना का प्रारम्भ होता है। सोम-यज्ञ में अथवा यज्ञों में होता 'ओ३म्' का उच्चारण करके ही ऋग्वेद के मन्त्रों को सुनाता है, अध्वर्यु 'ओ३म्' बोलकर यजुर्वेद के मन्त्रों से कर्म करने की आज्ञा देता है और उद्गाता 'ओ३म्' बोलकर ही सामवेद के मन्त्रों का सुस्वर से गान करता है। इस 'ओ३म्' को पूजार्थ और वृद्धि अर्थ और इसकी ही महिमा से वह भी महत्त्वशाली, समृद्धशाली और सभी उत्तम स्वादिष्ट भोग्य पदार्थों से युक्त हो जाता है।

(ठ) तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति॥[5]

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 1/1/5
2. छान्दोग्योपनिषद् 1/1/7
3. छान्दोग्योपनिषद् 1/1/8
4. छान्दोग्योपनिषद् 1/1/9
5. छान्दोग्योपनिषद् 1/1/10

संसार में दो प्रकार के पुरुष होते हैं, एक ओंकार के महत्त्व को जानने वाले और एक अज्ञानी। परन्तु जो ज्ञानी हैं वे जिस भी कार्य को करते हैं, वे ज्ञानपूर्वक, श्रद्धा पूर्वक, और तल्लीनतादि से करते हैं, उनका किया हुआ वह कार्य वीर्यशाली, महत्त्वशाली, उत्तम अधिक फलदायक होता है। और जो अज्ञानी हैं, वे अपने कार्य को बिना जानें, बिना श्रद्धा और चञ्चलता से करते हैं, वे सफल मनोरथ को नहीं प्राप्त होते। केवल ओंकार के जाप मात्र से ही कार्य की सिद्धि नहीं होती है, अपितु तद्वत् आचरण करना भी चाहिये तभी आप्तकाम होते हैं।

उपनिषदों में परमपिता परममेश्वर के सच्चे स्वरूप का दिग्दर्शन किया गया है। जिसको जानकर साधक कृत्-कृत्य हो जाता है। परमात्मा के सच्चे स्वरूप को जानने की जिज्ञासा होनी चाहिए। इस विषय में उपनिषदों का स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि ईश्वर के सच्चे स्वरूप का वर्णन उपनिषदों में बहुत ही स्पष्टता से दिया गया है। अध्यात्म को जानने और मानने वाले सभी आस्तिक मत ईश्वर की सत्ता को मानते हैं परन्तु सब ईश्वर के स्वरूप और उसके गुण, कर्म व स्वभाव को लेकर एक मत नहीं हैं। यदि एक मत होते तो आज संसार में अलग-अलग मत, पंथ, सम्प्रदाय नहीं बनते। वेदों और उपनिषदों में ईश्वर का जो स्वरूप मिलता है वह पूर्णतय: तर्क एवं युक्तिसंगत है, जिसका साक्षी मनुष्य की आत्मा भी है। जिस व्यक्ति ने मनुष्य जीवन में ईश्वर के सत्यस्वरूप को जानने का प्रयत्न नहीं किया, उस मनुष्य का जन्म लेना निरर्थक कहा जा सकता है। ऐसे मनुष्य ने अपने धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के पावन उद्देश्य को भूलकर मानों मनुष्य जन्म के विपरीत भौतिकता एवं इन्द्रिय सुख भोग में जीवन व्यतीत कर पशुवत् जीवन को जिया है।

मनुष्य जीवन की सार्थकता के लिए उचित है कि वह ईश्वर जीव और प्रकृति के सच्चे स्वरूप को जानें। ईश्वर के सच्चे स्वरूप के दिग्दर्शन हेतु उपनिषदों के कुछ प्रमाण प्रस्तुत हैं।

1. ईश्वर कण-कण में विद्यमान है, सब कुछ उसी का है- ईशोपनिषद् का पहला मन्त्र ही ईश्वर के स्वरूप का बोध करा रहा है:-

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।[1]

निरन्तर गतिशील विशाल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी हमारा संसार, पृथ्वी-मण्डल है यह सब शक्तिशाली प्रभु के द्वारा बसने योग्य, बसाने योग्य, आच्छादन करने योग्य, प्रकाशित करने योग्य, थामने योग्य और सुरभित करने योग्य है। इसलिए इस संसार को त्यागभाव से भोगों का अथवा प्रभु द्वारा प्रदत्त इस संसार के पदार्थों का त्यागपूर्वक उपभोग करो। लोभ और लालच मत करो यह धन भला किसका है? अथवा यह धन तो 'क:' प्रजापति का है। अत: त्यागपूर्वक इसका उपभोग करो।

इस मन्त्र का प्रथम उपदेश ईश्वर के स्वरूप को स्पष्ट कर रहा है, अर्थात् सर्वव्यापक ईश्वर इस ब्रह्मांड की प्रत्येक वस्तु और स्थान में ओत-प्रोत है। कण-कण में उसकी विद्यमानता है। ईशोपनिषद् का चौथा मन्त्र भी ईश्वर की विशेषता का वर्णन कर रहा है।

2. ईश्वर एक है, सर्वशक्तिमान है- उसे इन्द्रियों से नहीं पाया जा सकता है।

---

1. ईशोपनिषद् 1

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाआप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।[1]

अर्थात् वह सर्वव्यापक परमात्मा गति और कम्पन से रहित है, वह अचल, स्थिर और गतिशून्य है। वह एक है और अद्वितीय है। वह मन से भी अधिक वेगवान् है। इस प्रभु को देवगण-इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर पाते, क्योंकि वह प्रभु तो पहले से ही पहुँचा हुआ है। गन्तव्य स्थान पर विराजमान है। वह परमात्मा ठहरा हुआ भी, दौड़ते हुए दूसरों को लाँघ जाता है। उसी परमात्मा के आश्रय से वायु जलों को और जीव कर्मों को धारण करता है।

मन आदि इन्द्रियों से परमात्मा को प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन्द्रियां परिछिन्न, भौतिक, सीमित शक्ति वाली हैं। ईश्वर अपरिछिन्न, सर्वव्यापक, अभौतिक और सर्वशक्तिमान् है। पुनः अगले मन्त्र में ईश्वर की महत्ता का प्रतिपादन किया है:-

3. सर्वव्यापक ईश्वर सबको गति प्रदान करते हैं-

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।[2]

वह सर्वव्यापक परमात्मा कम्पन (गति) करता है ऐसा प्रतीत होता है या वह गति (कम्पन) नहीं करता, वह स्थिर एवं कूटस्थ है। वह परमात्मा बहुत दूर है और सचमुच वह अत्यन्त समीप है। वही सारे ब्रह्माण्ड के अन्दर विराजमान है और वही सारे विश्व के बाहर भी है।

वह परमात्मा सब को एजयति गति देता है परन्तु वह स्वयं गति नहीं करता। अर्थात् स्वयं सर्वव्यापक होने से चलता नहीं परन्तु सबको चलाता है, वह दूर भी है और निकट से भी निकट है, वह संसार के अन्दर भी है बाहर भी है।

4. पुनः उसी ईश्वर के स्वरूप में कहा है-

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।[3]

वह परमात्मा सर्वव्यापक, शीघ्रकारी, सर्वशक्तिमान्, स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से रहित है, घाव, छिद्र तथा नस-नाड़ी के बन्धन से रहित है। परम पवित्र एवं निष्पाप है। वह शुभ एवं अशुभ कर्मों से रहित है। क्योंकि शुभ व अशुभ कर्म शरीर धारी ही करता है। वह कवि है, क्रान्तदर्शी एवं विद्वान् है, वह सबके मनों को गति देने वाला है, मन की वृत्तियों को जानने वाला है, सर्वज्ञ एवं सर्वान्तर्यामी है। दुष्ट और पापियों का पराभव करने वाला है। स्वयं सिद्ध, अपनी सत्ता से स्वयं देदीप्यमान्, अपने-आप होने वाला अनादि है। वह अपनी शाश्वत् प्रजा और जीवों के लिए अनादि काल से पदार्थों को यथार्थ रूप में, जो पदार्थ जैसे होने चाहिए, उसी रूप में निर्मित एवं व्यवस्थित करता है।

5. ईश्वर के मुख्य नाम ओ३म् का स्मरण करने की शिक्षा दी है-

---

1. ईशोपनिषद् 4
2. ईशोपनिषद् 5
3. ईशोपनिषद् 8

ओ३म् क्रतो स्मर, क्लिबे स्मर। कृतंꣳ स्मर।।[1]

हे शुभाशुभ कर्म के कर्त्ता जीव तू परमात्मा का जो मुख्य नाम 'ओ३म् है, उसका स्मरण कर, उसको मत भूल, अपने व्यतीत जीवन का ध्यान रख, आगे क्या करना है, कैसे करना है, इसका भी ध्यान दे, और अपने शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक सामर्थ्य का भी ध्यान कर।

6. ईश्वर को अग्नि नाम से पुकारा है जो सबको प्रकाशित करता है। समस्त शुभाशुभ कर्मों को जानता है-

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम।।[2]

हे प्रकाश स्वरूप भगवन् आप, वेदोक्त पथ से भटके हम सभी दु:खी जनों को अभ्युदय एवं नि:श्रेयस की प्राप्ति रूप सुपथ पर ले चलिये। क्योंकि हे प्रभो! आप हमारे समस्त शुभाशुभ कर्मों को जानते हैं। इसलिये हम से कुटिलता युक्त पाप कर्म को पृथक करो। जिससे हम निष्पाप हों, आप की बहुत प्रकार की प्रार्थना रूप भक्ति कर सकें।

7. केनोपनिषद् के प्रथम खण्ड के दूसरे श्लोक में उस परमात्मा की शक्ति से इन्द्रियों के सामर्थ्य का वर्णन किया है-

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं, स उ प्राणस्य प्राण:।
चक्षुषश्चरतिमुच्य धीरा: प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।[3]

जिसकी शक्ति से ये कान सुनते हैं, वह कानों का भी कान है, जिसकी शक्ति से यह मन चिन्तन-मनन करता है, वह मन से अति सूक्ष्म है। जिसकी शक्ति से यह वाणी बोलती है, इसलिये वह वाणी से भी सूक्ष्म है और वह प्राणों का आधारभूत होने से प्राणों का भी प्राणदाता है। चक्षुओं में देखने की शक्ति देने वाला होने से चक्षु का भी चक्षु= सर्वद्रष्टा है। इस प्रकार उस ईश्वर को धीर पुरुष जानने के पश्चात् इन साधन भूत भौतिक इन्द्रियों के ही पालन, पोषण, सजावट और इनके विषयों में ही रमण न करते हुए, इनका परित्याग करके ईश चिन्तन में लग जाते हैं वे इस मृत्युलोक से मरने पर मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

8. परमपिता परमेश्वर इतना सूक्ष्म है कि उसे इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता अपितु इन्द्रियां उसी की शक्ति से कार्य करती हैं-

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो
न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो ऽविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे।।[4]

ब्रह्म को हम न तो चक्षु:, इन भौतिक नेत्रों से देख सकते, क्योंकि ये स्थूल रूपवान् वस्तु को ही दिखला सकती है। ईश्वर अरूपवान्= निराकार है, उसको वाणी से भी नहीं प्राप्त कर सकते अथवा न कोई चर्चा

---

1. ईशोपनिषद् 8
2. ईशोपनिषद् 1/18
3. केनोपनिषद् 1/2
4. केनोपनिषद् 1/3

की जा सकता है कि ब्रह्म इतना ही, उसको मन भी न जान सकता, क्योंकि मन का भी विषय नहीं, मन भी भौतिक है, न हम जानते, हमने उसे देखा नहीं जिससे उसका पूर्णरूप से उपदेश कर सकें क्योंकि वह हमारे इस ज्ञात से और अज्ञात से महान् और भिन्न है। ऐसा पूर्व ऋषि, मुनि, योगियों से सुना है, उन्होंने हमें ऐसा ही उपदेश किया है।

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥[1]
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥[2]
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासत॥[3]
यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्। तदेव०॥[4]
यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव०॥[5]

9. वह ईश्वर धर्म-अधर्म कार्य कारणरूप आदि से पृथक है-

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यति तद्वद॥[6]

यमाचार्य नचिकेता को समझाते हुए कहते हैं कि- हे नचिकेता! ब्रह्म इस धर्म-अधर्म से सर्वथा रहित है, और उसके लिये सांसारिक जीवों के समान शुभाशुभ कर्म करने, व न करने और न ही इनके सुख-दुःख रूप फल भोगने वाला है, यह सब प्रपञ्च सांसारिक जीवों के साथ ही लगा हुआ है। और जो भूत, भविष्यत्, और वर्तमान इन तीनों कालों से भी सम्बन्धित नहीं है।

इसलिये जो मनुष्य उस ब्रह्म को उपरोक्त गुण वाला जानता है, वही उसे प्राप्त करता है, अन्य नहीं, उसी को कहा है जैसा ब्रह्म का स्वरूप और उसके प्राप्ति के साधन वेद शास्त्रों में वर्णित किये हैं, वैसा ही अन्यों को उपदेश करना।

10. परमात्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मनः॥[7]

हे नचिकेता! वह ब्रह्म अतिसूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान् से भी महान् है। उसके बराबर बल विद्यादि में कोई नहीं, वह सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वनियन्ता है।

---

1. केनोपनिषद् 1/4
2. केनोपनिषद् 1/5
3. केनोपनिषद् 1/6
4. केनोपनिषद् 1/7
5. केनोपनिषद् 1/8
6. कठोपनिषद् 2/14
7. कठोपनिषद् 2/20

जो दुष्कर्मी नहीं है, ईशोपासक है, जिसके मन के राग-द्वेष, मल और आवरण नष्ट हो गये हैं जिसके ऊपर उस जगद् धारक परमात्मा की कृपा हो जाती है और शरीर की धातु=इन्द्रियां बाह्य विषयों से हट कर आभ्यान्तरमुखी हो गई हैं, वही उसको प्राप्त कर सकता है।

11. ईश्वर अविनाशी है वह क्षरण को प्राप्त नहीं होता-

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्। अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि।।[1]

यमाचार्य कहते हैं कि हे नचिकेता जो अविनाशी परब्रह्म परमात्मा है वह यज्ञ-याग वेदोक्त शुभ कर्म करने वालों का सेतु है। अर्थात् जैसे किसी नदी को पार करने के लिये पुल होता है जिसके द्वारा सरलता से नदी के पार हो जाते हैं। वैसे ही यज्ञ-याग और उपासना करने वालों का परम दयालु परमात्मा उन्हें भवसागर से पार कर देता है। वे आवागमन रूप दुःखसागर से तर जाते हैं और जो भी इस भवसागर से तरने की इच्छा रखते हैं, वे भी उक्त कर्मों को करके अभयपूर्वक सुख से पार हो सकते हैं। हम और आप भी हो सकते हैं। इसमें किसी के साथ किसी भी प्रकरण का पक्षपात नहीं होता, क्योंकि ईश्वर तो निष्पक्ष, कर्मानुसार फल देता है।

परमपिता परमेश्वर की सर्वव्यापकता को दर्शाते हुए आचार्य नचिकेता को बताते हैं कि-

12. ईश्वर को सूक्ष्म दृष्टि वाले योगी ही प्राप्त कर सकते हैं।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।।
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।।[2]

हे नचिकेता! यात्री की यात्रा ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये ही है परन्तु वह तो कहीं दूर नहीं है वह तो समस्त संसार के कण-कण में व्याप्त है, पर अति सूक्ष्म, निराकार होने के कारण इन भौतिक आँख आदि इन्द्रियों से दिखलाई नहीं देता, क्योंकि ये परिच्छिन्न और एकदेशी है, रूपवान् पदार्थ को ही देख सकती हैं, अरूपवान् को नहीं। वह ब्रह्म सूक्ष्मदर्शियों योगियों के द्वारा सूक्ष्म-तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा ही जाना जा सकता है और समाधि द्वारा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है।

उसके साक्षात्कार का विधान यह है कि जो बुद्धिमान् उसे प्राप्त करना चाहता है तो सर्वप्रथम वह वाणी आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर आभ्यन्तर विषयी करके मन में लगावे, मन को आत्मा में और आत्मा को उस महान् परमात्मा में नियोजित करें। क्योंकि जब तक परमात्मा में आत्मा को, आत्मा में मन, बुद्धि को और मन में ज्ञान और कर्मेन्द्रियों को नहीं लगाया जायेगा तब तक समाधि की अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। बिना समाधि अवस्था के उस ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, तब तक आवागमन रूप महानदुःख से छुटकारा नहीं हो सकता। वह सर्वत्र विद्यमान है और ईश्वर प्रणिधान से अर्थात् योग के आठ अंगों के अनुष्ठान से प्राप्त किया जा सकता है।

1. कठोपनिषद् 3/2
2. कठोपनिषद् 3/12-13

पुनः कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय के अन्तिम तृतीय वल्ली के श्लोकों द्वारा ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हैं–

13. ईश्वर को भौतिक पदार्थों के जैसे प्राप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि वह अभौतिक है अत्यंत सूक्ष्म है–

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।।[1]

हे नचिकेता! वह ब्रह्म इतना सूक्ष्म है कि जिस सूक्ष्म आकाश का गुण शब्द है, उससे भी बतलाया नहीं जा सकता, न वायु के स्पर्श छू सकता है, न नासिका के गन्ध के समान ग्रहण किया जा सकता है, न अग्नि के समान रूप वाला है, जिसे आंखों से देखा जा सकता है। अर्थात् इन सबसे भी सूक्ष्म है। वह अनादि, अनन्त और सबसे महान् है और सदा एकरस रहने वाला ध्रुव है। इस प्रकार के विशेष को जो जान लेता है, वही मृत्यु के मुख से बच जाता है। क्योंकि अविद्या के कारण प्रकृति और शरीर के धर्मों को अपना समझने वाला कि मैं शरीर हूँ, वही मृत्यु के मुख में जाता है। अर्थात् उसी का विनाश होता है, और जो आत्मा के अजर-अमर आदि स्वभाव को जानता है वह मृत्यु से नहीं डर सकता।

14. ईश्वर इस जगत् का धारक है–

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते। एतद्वैतत्।।[2]

हे नचिकेता! इस ब्रह्माण्ड में दो चेतन महत्त्वशाली शक्तियाँ हैं, एक तो परब्रह्म परमात्मा जो इस जगत् का धारक है, और एक जीवात्मा जो इस शरीर का स्वामी है, जिसकी शक्ति से ही आंख रूप देखती है, जिह्वा रसास्वाद लेती है, नासिका गन्ध ग्रहण कर रही है, कान शब्द सुनते हैं, और त्वचा स्पर्श का अनुभव करती है। जब वह जीवात्मा इस शरीर से निकल जाता है, तब कोई भी इन्द्रियाँ कुछ भी ग्रहण नहीं कर पाती। शरीर अग्नि में भस्म हो जाता है। जीवात्मा ही तब शेष रहता है। यही आपका तृतीय प्रश्न था यह मैंने आपको बतला दिया कि जीवात्मा ही सदा रहता है।

15. ईश्वर जातवेदा के रूप में सारे विश्व में व्याप्त है–

अरण्येर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिव ईड्यो जागृवर्हिविष्मर्मिनुष्येभिरग्निः।। एतद्वैतत्।।[3]

हे नचिकेता! वह जातवेदा अग्नि जो सारे संसार में व्याप्त है वह वैसे ही प्रकट होती है जैसे दो अरणियों के परस्पर के रगड़ने से उनमें निहित अग्नि प्रज्वलित हो जाती है। वे संसार रूप गर्भ में इसी प्रकार सुरक्षित है जैसे माता के गर्भ में बच्चा रहता है। उसको वही प्राप्त प्रज्वलित कर सकते हैं, जो प्रतिदिन प्रातः-सायं कम से कम दो घण्टे स्तुति, उपासनादि करते हैं, जो जागरूक हैं, आलसी-प्रमादी और विषयी नहीं हैं और जो दोनों समय अग्निहोत्र करते हैं, ऐसे ही सुकर्मी ईशोपासक मनुष्यों के द्वारा वह ब्रह्मरूप अग्नि प्राप्त होती है।

---

1. कठोपनिषद् 3/15
2. कठोपनिषद् 4/3
3. कठोपनिषद् 4/8

16. परमात्मा इस ब्रह्माण्ड को सुव्यवस्थित रखने वाला है-

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन।। एतद्वै तत्।।[1]

हे नचिकेता! जिस सर्वशक्तिमान् ईश की शक्ति से व उसकी सुव्यवस्था से सूर्य समय पर उदय होता है, और समय पर ही प्रतिदिन अस्त होता है। एक मिनट का भी अन्तर नहीं होने देता है। और न केवल सूर्य अपितु सभी ग्रह, उपग्रह रूप देवता उसी ब्रह्म की शक्ति से कार्य कर रहे हैं उसकी इस सुव्यवस्था को कोई तोड़ नहीं सकता। जैसे अग्नि का ऊर्ध्वगमन, वायु का तिर्यक् गमन, जल का अधोगमन, आंख से देखना, कान से सुनना, मुख से खाना व नासिका से गंध ग्रहण करना आदि। दुनिया में किसी की शक्ति नहीं जो अग्नि को अधोगमन, वायु का ऊर्ध्वगमन, मुख से न खाकर कान से खाना, आंख से न देखकर जिह्वा से देखना आदि विपरीत करा सके वह सर्वशक्तिदाता ब्रह्म ही है। जो इस सारे ब्रह्माण्ड को सुव्यवस्था में रखे हुए है।

17. हृदय स्थान में ईश्वर का वास है-

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।। एतद्वै तत्।।[2]

शरीरस्थ हृदय स्थान में अगुष्ठमात्र का रिक्त स्थान है, जहां जीवात्मा का निवास है। उसमें ईश्वर रहता है, अर्थात् ज्ञानी व मुमुक्षु लोग समाधि समय में हृदयचक्र में मन आदि इन्द्रियों को समाहित करके ईशचिन्तन करते हैं, तब उस प्रभु के दर्शन उसके आनन्द का अनुभव करते हैं।

18. ईश्वर भूत भविष्यतादि कालों का स्वामी है-

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः।। एतद्वै तत्।।[3]

हे नचिकेता! जो मनुष्य उस ज्योतिस्वरूप ब्रह्म को थोड़ा सा भी जान लेता है, क्योंकि पूर्ण तो यह मनुष्य समझ ही नहीं सकता, क्योंकि यह अल्पज्ञ, सीमित शक्ति वाला है। जो ब्रह्म इस भूत और भविष्यत् आदि कालों का स्वामी है, अर्थात् जो संसार में पदार्थ पूर्व हो चुके हैं, उनका भी और जो हैं, और होंगे उनका भी एकमात्र नित्य चेतन ब्रह्म ही स्वामी है। उसकी आज्ञा को, नियम को बड़े से बड़ा चक्रवर्ती राजा भी नहीं तोड़ सकता। साधारण की तो बात ही क्या है। मौत से बच नहीं सकते, वही बच सकता है, जो उसकी उपासना करके उसे पा लेता है। ऐसा वह ब्रह्म है।

19. ईश्वर जो सदैव जागृत रहता है जो अमृत रूप है-

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।

1. कठोपनिषद् 4/9
2. कठोपनिषद् 4/12
3. कठोपनिषद् 4/13

तस्मिँल्लोका:श्रिता: सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्।।[1]

हे नचिकेता! अब तू ब्रह्म के सम्बन्ध में और सुन जो यह ब्रह्म सभी प्राणियों के सोने के पश्चात् भी जागता रहता है, अर्थात् जो कभी नहीं सोता, सभी जीवों के कर्मानुसार भोग योनि प्राप्त कराता है, और सृष्टि के सभी पदार्थों का सृजन जैसा होना चाहिए ठीक वैसा ही करता है, जिसके वेदरूपी ज्ञान में और सृष्टि रचना में किञ्चित् भी न्यूनता नहीं है। वही शक्तिशाली ब्रह्म शुक्र है, अमृत है और समस्त लोक-लोकान्तर उसी के आश्रित हैं। उसी की व्यवस्था से व्यवस्थित होकर अपनी-अपनी परिधि में घूम रहे हैं। किसी की भी यह शक्ति नहीं जो उसकी इस व्यवस्था को तोड़ सके। वह ब्रह्म इतना शक्तिमान् है।

20. जैसे अग्नि और वायु सारे संसार के पदार्थों में प्रविष्ट है वैसे परमात्मा भी-

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।[2]
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।[3]
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषै:।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदु:खेन बाह्य:।।[4]

जिस प्रकार एक ही अग्नि और हवा सारे संसार के पदार्थों में प्रविष्ट है अर्थात् अग्नि, जल, वायु, आदि पञ्चभूत सभी पदार्थों में न्यूनत्व अथवा अधिकत्व की दृष्टि से विद्यमान होते हैं, प्रत्येक पदार्थों में उनको देख सकते हैं, इसी प्रकार वह परमात्मा भी सभी संसार के पदार्थों में विद्यमान है।

जैसे सूर्य भी सम्पूर्ण लोक का पथ प्रदर्शक होता हुआ इन दृश्यमान बाह्य पदार्थों से प्रभावित नहीं होता है, वैसे ही वह एक सर्वव्यापक ब्रह्म भी संसार के पदार्थों में व्याप्त होता हुआ सांसारिक सुख-दु:ख से अभिभूत नहीं होता है। (9-11)

21. ईश्वर एक है और सभी में विद्यमान है-

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा य: करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।।[5]

हे नचिकेता! वह ब्रह्म एक है, अनेक नहीं, सब भूतों के अन्दर भी बैठा हुआ वही उनके शुभ-अशुभ कर्मों को देख रहा है उससे कोई छुप नहीं सकता। साकार मानने पर एकदेशी हो जाता है, फिर कैसे जीवों के कर्मफल की यथार्थरूप में व्यवस्था करेगा। एक अनादि सत्व-रज तम साम्यावस्था प्रकृति से इस संसार को नानाविध बनाता है। जो धैर्यशाली विवेकी हैं वे ही उस आत्मा में स्थित योग द्वारा उसका साक्षात्कार करते हैं उनको ही मुक्ति रूपी स्थाई सुख प्राप्त होता है। इनसे भिन्न अधैर्यवान् और अविवेकियों को वह

1. कठोपनिषद् 5/8
2. कठोपनिषद् 5/9
3. कठोपनिषद् 5/10
4. कठोपनिषद् 5/11
5. कठोपनिषद् 5/12

सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

22. ईश्वर नित्य है-

नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥[1]

जो जीव और कारणरूप प्रकृति अनादि नित्य पदार्थ हैं उन को नित्य रहने वाला, क्योंकि प्रकृति से सूक्ष्म जीवात्मा और इनसे भी सूक्ष्म ईश्वर है। इसीलिये इनमें व्याप्य-व्यापक भाव कहा है। स्थूल वस्तु में ही सूक्ष्मता आ सकती है, छोटे पात्र में बड़ा पात्र कैसे आ सकता है? जैसे सूक्ष्म अग्नि और आकाश सबमें व्याप्त है। वही एक ब्रह्म सभी प्राणियों के कर्मफलों को प्राप्त कराता है उस इस प्रकार के संसार रूपी गर्भ आत्माओं में रहने वाले ब्रह्म को धीर-ब्रह्मज्ञानी जान लेते हैं उन्हीं को शाश्वत्-शान्ति प्राप्त होती है और जो महा-अज्ञानी हैं उसकी इस प्रकार की सत्ता से अनभिज्ञ हैं, उसका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते, वे आवागमन रूप दु:ख-सागर में गोते खाते रहते हैं। उनको शाश्वत् शान्ति कभी नहीं मिलती।

23. ईश्वर प्रकाशकों का भी प्रकाशक है-

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥[2]

उस ब्रह्म को न तो सूर्य का प्रकाश ही प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा के ही प्रकाश से, न तारागणों से, न विद्युत के ही प्रकाश से फिर इस भौतिक अग्नि की तो बात ही क्या है। अपितु ये सभी चन्द्रादि उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं, उसका प्रकाश ही सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। इसलिये ऐसा वह ब्रह्म है, और उसको योग-समाधि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा मेरा मत है, यही उपदेश मैंने आपको दिया है। उसको तू स्वीकार कर, जो तू चाहता है वह ब्रह्म तुझे प्राप्त हो जायेगा।

24. ईश्वर शरीर रहित है निराकार है-

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥[3]

वह ब्रह्म कैसा है? उसका वर्णन करते हुए ऋषि बोले कि वह सब सूर्य-चन्द्र आदि प्रकाशकों का भी प्रकाशक शरीर रहित निराकार, इस ब्रह्माण्ड के अन्दर और बाहर कण-कण में व्याप्त है। अजर, अमर नित्य शाश्वत् रहने वाला है। प्राण, मन रहित है, शुद्ध स्वरूप है और इस प्रकृति से भी सूक्ष्म है। उससे सूक्ष्म कोई नहीं है। अविनाशी जीवात्मा से अत्यंत श्रेष्ठ है। पुनः उक्त विषय को और स्पष्ट करते हैं-

25. ईश्वर सबको धारण करने वाला है-

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥[4]

---

1. कठोपनिषद् 5/13
2. कठोपनिषद् 5/15
3. मुण्डकोपनिषद् 2/1/2
4. मुण्डकोपनिषद् 2/1/3

वह ब्रह्म ही इस प्राणः (जीवात्मा) को मन आदि ग्यारह ज्ञान-कर्म इन्द्रियों सहित भौतिक शरीर को धारण कराता है और आकाश, वायु, अग्नि, जल और इस समस्त विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी को उत्पन्न करता है। अर्थात् इस जड़-चेतन जगत् को यथावत् उत्पन्न करके व्यवस्थित रखता है, स्वयं उत्पन्न नहीं होता।

26. ईश्वर का रूपक अलंकार के रूप में वर्णन-

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विबृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥[1]

अब उस जगन्नियन्ता ब्रह्म का रूपक-अलंकार के रूप में वर्णन करते हैं उस परब्रह्म परमात्मा का यह भौतिक अग्नि-मूर्धा मस्तिष्क में ज्ञान तन्तु के समान है, जैसे अग्नि से समस्त पदार्थ दृष्टिगोचर होने लगते हैं, वैसे ही मूर्धा में ही ज्ञान केन्द्र है, ईश्वर की समस्त सत्य-विद्याओं का प्रकाश वेदवाणी द्वारा सृष्टि के आदि में, मानवों के कल्याणार्थ ऋग्वेद-यजुर्वेदादि चारों वेदों को अग्नि, वायु आदि ऋषियों द्वारा प्रकट करता है। सूर्य और चन्द्र ही मानो उसके दो नेत्रवत् है, पूर्व, पश्चिमादि दिशायें जिसके कान हैं, विस्तृत वेदवाणी ही जिसकी वाणी है, जैसे लौकिक व्यक्ति स्ववाणी द्वारा उपदेश करता है, वैसे ही वह ब्रह्म सभी मनुष्यों के सत्यासत्य, निर्णायार्थ वेदवाणी को प्रकट करता है। वायु ही मानो जिसके प्राण हैं अर्थात् वायुवत् समस्त चराचर जगत् का धारक है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही जिसका विशाल हृदय है, पृथिवी पैरवत् है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अन्दर और बाहर विद्यमान है।

27. ब्रह्म का तेज ही सारे ब्रह्माण्ड में फैला हुआ है-

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमां विद्युतो भांति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥[2]

जैसे कठोपनिषद् के 5/15 में कहा है वैसे ही मुण्डकोपनिषद् में कहा है।

28. ईश्वर सर्वव्यापक सबसे श्रेष्ठ और महान है-

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्मदक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥[3]

हे ब्रह्म जिज्ञासुओं! तुम उस अविनाशी ब्रह्म को भली प्रकार जानो फिर मानो क्योंकि बिना ब्रह्म के स्वरूप के जाने आत्म कल्याण नहीं होता। वह ब्रह्म ही हमारे आगे-पीछे, दायें-बायें और ऊपर-नीचे है। अर्थात् सर्वत्र फैला हुआ है सर्वव्यापक है और सबसे श्रेष्ठ और महान् है। इसलिए उसको योगाभ्यास द्वारा अवश्य प्राप्त करो।

29. ईश्वर त्रिकालातीत ओंकार स्वरूप है-

ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव।

---

1. मुण्डकोपनिषद् 2/1/4
2. मुण्डकोपनिषद् 2/2/10
3. मुण्डकोपनिषद् 2/2/11

यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।।[1]

जिसका कभी नाश नहीं होता, जो भूत-भविष्यत् आदि तीनों कालों से भी पृथक् एवं सर्वव्यापक है। जिस ब्रह्म का मुख्य नाम 'ओ३म्' है यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस का रचा हुआ है, उसकी ही महिमा का द्योतक है। जैसे अकार, उकार और मकार इन तीन मात्राओं से 'ओ३म्' शब्द बनता है। अकार से ईश्वर, उकार से जीव और मकार से प्रकृति। अकार से पृथिवी, उकार से अन्तरिक्ष और मकार से द्यौ लोक। अकार से ज्ञान, उकार से कर्म और मकार से उपासना। अकार से ऋग्वेद, उकार से यजुर्वेद और मकार से सामवेद। अकार से सृष्टि की उत्पत्ति, उकार से स्थिति और मकार से प्रलय। इस प्रकार ओंकार का विस्तार से वेदशास्त्रों ने ऋषि एवं मुनियों ने उपदेश किया है। इसलिये सर्वत्र ओ३म् का ही महत्त्व दृष्टिगोचर हो रहा है।

30. परमात्मा शिव स्वरूप अर्थात् कल्याणकारी है-

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव
संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद स एवं वेद।।[2]

अर्थात् ओंकार जो सब में व्याप्त, सबसे श्रेष्ठ, सबका कर्त्ता, धर्त्ता, हर्ता, कल्याणकारी और अद्वितीयादि गुण विशिष्ट है, उसका चतुर्थपाद अमात्रवाला है। योगी लोग समाधिस्थ होकर अपने शुद्ध-पवित्र जीवन से उस उक्त परब्रह्म को प्राप्त होकर इस संसार के दुःखरूप आवागमन से छूट जाते हैं। यही इस ओंकार की उपासना का रहस्य जानना चाहिये।

ऐतरेयोपनिषद् के प्रथम अध्याय प्रथम खण्ड में एकमात्र सृष्टिकर्ता ईश्वर की महिमा का वर्णन है:-

31. सृष्टि का कर्ता ईश्वर है-

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।।[3]

अर्थात् इस कार्यरूप सृष्टि से पूर्व प्रलयसमय में परमात्मा ही इस का एकमात्र रचयिता था। अन्य जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में और मोक्षात्मायें मोक्षानन्द में थीं और प्रकृति भी अपने कारण-अवस्था में थी। इसलिये उस समय यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अव्यवहार्य दशा में रहता है। अर्थात् इन सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि पञ्चमहाभूतों का और जीवात्माओं की इस वर्तमान जैसी स्थूल आकृति-प्रकृति नहीं होती, इसी से इनको आँख खोलने और वन्द करने के व्यवहार से रहित कहा है। यह सब भौतिक शरीर के साथ ही होता है, प्रलयावस्था में नहीं। उस समय सृष्टि के आदि में प्रलयावस्था की अवधि समाप्त होने पर ईश्वर ने चाहा की इस ब्रह्मांड का पुनः सृजन करूं, तात्पर्य है की इस सारे ब्रह्मांड का रचयिता ईश्वर ही है।

32. ईश्वर सर्वव्यापक है-

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैवं तपसा योऽनुपश्यति।।[4]

जिस प्रकार तिलों में तेल होता है, पर बिना पेले तेल नहीं दीखता, दही में घृत होता हुआ भी बिना मथे

---

1. माण्डूक्योपनिषद् 1
2. माण्डूक्योपनिषद् 12
3. ऐतरेयोपनिषद् 1/1
4. श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/15

नहीं दीखता, भूमि में झरने का जल बिना खोदे नहीं दीखता और अरणियों में अग्नि होती हुई बिना घर्षण किए नहीं प्रकट होती, इसी प्रकार जीवात्मा में परमात्मा विद्यमान होता हुआ भी बिना सत्य, द्वन्द्वों के सहने और श्रद्धापूर्वक समाधि का अभ्यास किये ईश्वर का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है।

33. ईश्वर निराकार एवं सर्व ज्ञानमय है-

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्तिवेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥[1]

हे मनुष्यो! वह निराकार ब्रह्म हाथ, पैर, चक्षुः, श्रोत्र आदि से रहित होता हुआ भी सबको पकड़े हुए है, सर्वत्र गतिशील है, सबको, सब समय, सब स्थानों में शुभाशुभ कर्म करते हुए देखता है और सबकी सुनता है। कोई उसे पुकारे तो वह सुख-शान्ति देगा, रक्षा करेगा। वह सब कुछ को जानता है, क्योंकि वह सर्वज्ञानमय है, सर्वज्ञ है, परन्तु उसको पूर्णरूप से कोई नहीं जान सकता, क्योंकि वह असीम है, मानव ससीम, अल्पज्ञ और एक देशी है और उसी महान् पुरुष को सृष्टि से पूर्व भी विद्यमान मानते हैं, ऐसा सब वेदशास्त्रों का कथन है।

34. ईश्वर अणु से अणु महान से महान है-

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमीशम्॥[2]

अर्थात् यह सर्वत्र व्यापक प्रभु अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है। इस प्राणीमात्र के हृदयस्थ आत्मा में व्याप्त है। जो उस ब्रह्म को सब कुछ जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, संहार करता हुआ भी, अक्रतु समझकर उसकी उपासना करता है, वह उस प्रभु की कृपा से, अथवा शुद्ध पवित्र जीवन से साधना, यज्ञ-यागादि वेदोक्त शुभकर्म करता है, वह शोक सन्ताप और पञ्च क्लेशों से रहित होकर उसकी महिमा का पात्र हो जाता है, अथवा मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

35. परमात्मा जरा जीर्ण-शीर्णता से रहित अर्थात् जन्म मरण रहित शाश्वत् है-

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्॥[3]

अर्थात् हे ब्रह्म जिज्ञासुओं! उस ब्रह्म को मैं भली प्रकार से जानता हूँ कि, वह जरा-जीर्ण-शीर्णता से रहित है, सबसे प्राचीन अनादि, शाश्वत् नित्य रहने वाला है, सर्वज्ञाता, सर्वव्यापक है। सबसे विभु होने के कारण और जन्म-मरण रहित है। ऐसा ही ब्रह्म के जानने वाले विद्वान् लोग कहते हैं। अर्थात् यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है, आर्ष मत है।

उपनिषदों में परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का वर्णन उपर्युक्त मन्त्रों के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है। यदि मनुष्य को परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का बोध प्राप्त करना है तो वह उपनिषदों के स्वाध्याय से सम्भव हो सकता है। मनुष्य जीवन का उद्देश्य परमात्मा के स्वरूप को समझकर ही पूर्ण किया जा सकता

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/19
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/20
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/21

है। यद्यपि उपनिषदों में वर्णित ईश्वर के स्वरूप के विषय में दिये गये प्रमाण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं, परन्तु विस्तार भय से कुछ प्रमाण ही प्रस्तुत किये गये हैं।

महत्वपूर्ण बिंदु-

(क) ओम् ब्रह्म का प्रतीक है।

(ख) माण्डूक्योपनिषद् में ओम् का विस्तृत वर्णन है।

(ग) ओंकार ध्यान और आत्मज्ञान का माध्यम है।

(घ) ब्रह्म को अनन्त और शाश्वत कहा गया है।

शब्दावली-

ओम् - प्रणव

ब्रह्म - परम सत्य

प्रणव - पवित्र ध्वनि

ध्यान - एकाग्र साधना

शाश्वत - अनन्त

5 अंक के प्रश्न-

1. ओम् का क्या अर्थ है?
2. उपनिषदों में ओंकार को क्या कहा गया है?
3. माण्डूक्योपनिषद् में ओम् का क्या महत्व है?
4. ओंकार का संबंध किससे है?
5. ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषदों में ओंकार के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
2. माण्डूक्योपनिषद् में ओम् की व्याख्या स्पष्ट कीजिए।
3. ब्रह्म और ओंकार के संबंध पर चर्चा कीजिए।
4. ओंकार की उपासना का महत्व बताइए।
5. उपनिषदों में ब्रह्म स्वरूप का विवेचन कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. ओम् किसका प्रतीक है?

(क) अग्नि

(ख) ब्रह्म

(ग) वायु

(घ) जल

2. ओम् का विशेष वर्णन किस उपनिषद् में है?

व ḁकऋ प्रश्न

(ख) माण्डूक्य

(ग) केन

(घ) ईश

3. ब्रह्म का स्वरूप कैसा माना गया है?

(क) नश्वर

(ख) सीमित

(ग) अनन्त

(घ) दु:खमय

4. ओंकार का उच्चारण किससे जुड़ा है?

(क) ध्यान

(ख) युद्ध

(ग) व्यापार

(घ) राजनीति

उत्तररू ḁकऋ

5. उपनिषदों में ब्रह्म को क्या कहा गया है?

(क) परम सत्य

(ख) राजा

(ग) देवता

(घ) योद्धा

इकाई-1.4 गायत्री मंत्र का माहात्म्य

उद्देश्य-

1. गायत्री मंत्र का अर्थ समझना।
2. गायत्री मंत्र के आध्यात्मिक महत्व को जानना।
3. जीवन में गायत्री मंत्र की उपयोगिता समझना।

साधक को योगमय जीवन जीने के लिए गायत्री जिसको सावित्री के नाम से भी पुकारा जाता है, इसकी उपासना परम आवश्यक है। वेदादि शास्त्रों से लेकर उपनिषदों तक गायत्री की महिमा का वर्णन प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। एकादश उपनिषदों में भी इसकी महिमा का वर्णन प्राप्त होता है।

1. छान्दोग्योपनिषद् के तृतीय प्रपाठक के 12वें खण्ड में गायत्री मन्त्र का महत्व प्रकाशित किया गया है।

(क) गायत्री वा इदꣳसर्वं भूतं यदिदं किञ्च वाग्वै। गायत्री वाग्वा इदँ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च॥[1]

अर्थात् यह जो भी कुछ दृश्यमान जगत् है, यह सारा मानो गायत्री का ही रूपान्तर है। वाणी से ही इसका उच्चारण होता है, गायत्री से इस समस्त ब्रह्माण्ड की रक्षा होती है, और प्रभु का गुण गाया जाता है। इसीलिये कहा है कि यह गायन्तं त्रायते गायत्री वाणी से गाई जाती है और सबकी रक्षा करती है।

(ख) या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याꣳहीदꣳसर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते॥[2]

वह जो गायत्री है, यही मानो पृथिवी है, जिस प्रकार यह पृथिवी सबका आधार तथा रक्षक है, इसी प्रकार गायत्री भी सभी उपासकों का आधार है और बल, तेज, बुद्धि को देने के कारण रक्षक है। इसका कोई उल्लघंन नहीं कर सकता। इसका तिरस्कार करने वाले कभी भी सच्चा साधक नहीं बन सकता। पवित्र बुद्धि के बिना उपासना हो ही नहीं सकती। इसमें इसी की प्रार्थना है, इसलिये इस का परित्याग करके योगसिद्धि सम्भव नहीं हो सकती।

(ग) या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाःप्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते॥[3]

जो यह पृथिवी है, वही मानो गायत्री है, जिस प्रकार इस जगत् में पृथिवी गायत्री का रूप है, इसी प्रकार इस पुरुष शरीर में भी गायत्री का ही रूप है। इस शरीर में ही प्राणादि इन्द्रियां प्रतिष्ठित हैं । जिस प्रकार प्राण शरीर की रक्षा करते हैं, इनके बिना शरीर का कोई मूल्य नहीं रहता, इसी प्रकार गायत्री के बिना भी शरीर को व्यर्थ ही समझना चाहिये।

(घ) यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 3/12/1
2. छान्दोग्योपनिषद् 3/12/2
3. छान्दोग्योपनिषद् 3/12/3

नातिशीयन्ते॥[1]

अर्थात् जो इस शरीर में हृदय का स्थान है, इसके बिना प्राण स्थिर नहीं रह सकते, हृदय आधार है, इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, ठीक इसी तरह शरीर में गायत्री का महत्व है, इसकी भी उपेक्षा करके कोई महापुरुष नहीं बन सकता, क्योंकि बुद्धिमान् ही उच्चता को प्राप्त होता है, बुद्धिहीन सदैव निम्नता को प्राप्त होता है।

(ङ) सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम्॥[2]

यह गायत्री चार चरण वाली है, और इसमें एक-एक पाद में छः-छः अक्षर हैं। इस प्रकार इसमें 24 अक्षर होते हैं। अर्थात् यह वाणी से उच्चारण होती है, इस कारण पहला पाद 'वाणी' है, दूसरा पृथिवी के समान सब उपासकों का आधार है, उस 'पृथिवी' को ही दूसरा पाद कहा। तीसरा 'शरीर' रूप और चौथा हृदयवत् होने से 'हृदय' को माना है। इस विषय में आगे एक ऋचा द्वारा वर्णन करते हैं-

(च) तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति॥[3]

इस गायत्री रूप परम पुरुष भगवान् की महिमा अति महान् है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि जितना भी यह ब्रह्माण्ड है, यह तो उसके एक पैर में ही समाया हुआ है, तीन तो इससे भिन्न द्युलोक में हैं जिनके लिये कोई वर्णन करने का पदार्थ शेष नहीं हैं, इतना महान् है वह परमपिता परमेश्वर, जो सबसे बड़ा है।

(छ) यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः॥[4]

जो द्युलोक से भी ऊपर है, वही ब्रह्म है, इसी का गायत्री वर्णन करती है, यह जो पुरुष से बाहर आकाश है इसमें ही वह ब्रह्म व्याप्त है। इसलिये आकाश को कभी शून्य नहीं समझना चाहिये।

(ज) अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः॥[5]

यह आकाश जो बाहर है, वही इस पुरुष के हृदय में आकाश है, जिसमें जीवात्मा गायत्री द्वारा उस ब्रह्म का गान करता है, इसलिये उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता।

(झ) अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्त्ति पूर्णामप्रवर्तिनीꣳश्रियं लभते य एवं वेद॥[6]

यह जो पुरुष शरीर के अन्तःकरण रूप हृदय में आकाश है, इसी में वह पूर्ण ब्रह्म जिसका कभी परिवर्तन नहीं होता, सदा एक रस रहता हुआ विद्यमान है, इसलिये जो इस गायत्री महिमा के महत्त्व को समझ लेता है, वह भी पूर्ण-स्थिर लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है।

2. बृहदारण्यकोपनिषद् के पाँचवें अध्याय के 14वें ब्राह्मण में भी गायत्री मन्त्र के रहस्य का वर्णन किया गया है।

1. छान्दोग्योपनिषद् 3/12/4
2. छान्दोग्योपनिषद् 3/12/5
3. छान्दोग्योपनिषद् 3/12/6
4. छान्दोग्योपनिषद् 3/12/7
5. छान्दोग्योपनिषद् 3/12/8
6. छान्दोग्योपनिषद् 3/12/9

(क) भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद॥[1]

'भूमि-अन्तरिक्ष-दि-औ' ये आठ अक्षर हैं, इसी प्रकार 'तत् सवितुर् वरेण्यम्' इस एक पाद 'गायत्री' में भी आठ ही अक्षर हैं। इस प्रकार जो उपासक इस पाद के उच्चारण के साथ-साथ तीनों लोकों का ध्यान भी करते है तो वह तीनों लोकों के ऐश्वर्य को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् इस पृथिवी लोक का राज्य भी भोगता है तथा जीवन में उदात्तवृत्ति वाला भी हो जाता है, और द्युलोक, आनन्द लोक अर्थात् मोक्ष का भी अधिकारी हो जाता है।

(ख) ऋचो यजूꣳषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदुहैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद॥[2]

'ऋचः-यजूँषि-सामानि' ये भी आठ अक्षर होते हैं, और 'भर्गो-देवस्य-धीमहि' इस गायत्री के दूसरे पाद में भी आठ ही अक्षर हैं। इस प्रकार जो उपासक इस द्वितीय पाद के जाप के साथ-साथ ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीनों विद्याओं का भी ध्यान करता है तो वह इन तीनों विद्याओं से युक्त हो जाता है अर्थात् इनको प्राप्त कर लेता है।

(ग) प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षराꣳह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतंपदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवꣳहैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद॥[3]

'प्राणः-अपानः वि+आनः' ये भी आठ अक्षर होते हैं, और गायत्री के तृतीय पाद में भी 'धियो यो नः प्रचोदयात्' आठ ही अक्षर हैं, इसलिये जो गायत्री के तृतीय पाद के जाप के साथ-साथ इन तीनों 'प्राण-अपान-व्यान' का भी ध्यान करता है तो वह इन प्राणों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

गायत्री का एक चौथा भी पाद है जो प्राप्त करने के योग्य है, जिससे रजोगुण आदि दूर हैं, शुद्ध पवित्र है, जो यह तप रहा है और दृष्टिगोचर हो रहा है, और सभी योग साधकों को ऊपर उठने के लिये तपा रहा है, जो अत्यन्त ही शोभायुक्त, यश-कीर्ति शान्ति का देने वाला है। उस चतुर्थ पाद को जो समझ लेता है वह भी ऐश्वर्य (श्री) और शोभा से युक्त हो जाता है।

(घ) सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वैसत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणौ वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलँ सत्यादोगीय इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गयाꣳतत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाꣳस्तत्रे तद्यद्गयाँस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूꣳ सावित्रीमन्वाहैषैव सा स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाꣳस्त्रायते॥[4]

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद् 5/14/1
2. बृहदारण्यक उपनिषद् 5/14/2
3. बृहदारण्यक उपनिषद् 5/14/3
4. बृहदारण्यक उपनिषद् 5/14/4

यह गायत्री इस चौथे पाद में ही प्रतिष्ठित है, यही पाद जानने के योग्य और इस समस्त ब्रह्माण्ड से ऊपर है, अलग है, यह सत्य में प्रतिष्ठित है, सत्य का अर्थ ब्रह्म से है। जिस समय दो व्यक्ति आपस में किसी विषय पर चर्चा करते हुए जा रहे हो, उनमें एक तो यह कह रहा हो मैंने देखा है, और दूसरा यह कहता हो कि, मैंने सुना है, तो हम उस देखने वाले की बात को ही सत्य मानेंगे, विश्वास करेंगे। इसीलिये कहा है सत्य में बल होता है, जहां बल होता है उसमें ही प्राण शक्ति सन्निहित होती है। यह गायत्री अध्यात्म दृष्टि से प्राणों से शरीर की रक्षा करती है, इसीलिए इसे 'गायत्री' कहते हैं इसका सविता-देवता है इसलिये 'सावित्री' भी कहते हैं। और गुरु जब उपनयन संस्कार करता है तब इसी का उपदेश देता है, इस कारण इसे 'गुरु मन्त्र' भी कहते हैं, क्योंकि उस यह ब्रह्मचारी के प्राणों की रक्षा करता है तथा वह नूतन ब्रह्मचारी विद्या बलादि को प्राप्त होता है।

(ङ) ताꣳहैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद्यदि ह वा अप्येवंविद्बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकञ्चन पदं प्रति॥[1]

एक आचार्य कहते हैं कि 'अनुष्टुप्छन्द' वाली सावित्री का आचार्य उपदेश करे, वह यह है 'तत्सवितुर्वणीमहे' वयं देवस्य भोजनं, श्रेष्ठं सर्वधातमं, तुरं भगस्य धीमहि'। परन्तु हम कहते हैं कि यह मत समीचीन नहीं है, 'त्रिपदा गायत्री' का ही उपदेश करना चाहिये, अथवा उपदेश करे। जो इस गायत्री का उपदेश दाता है, यदि वह अधिक भी दक्षिणा ले भी लेवे तब भी उसे बहुत मानना नहीं चाहिये, क्योंकि वह गायत्री के एक पाद के समान भी नहीं है।

(च) स य इमाꣳस्त्रींल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथम पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात्॥[2]

वह जो गायत्री के 'भूः-भुवः स्वः' का उपेदश करने वाला है, उसके महत्व को बतलाता है, यदि उसको इन पृथिवी आदि तीनों लोकों के ऐश्वर्य को भी दिया जाय तो वह गायत्री के 'तत्सवितुर्वरेण्यं' इस एक चरण के समकक्ष है, जो दूसरे 'भर्गो देवस्य धीमहि' पद का उपदेश करे उसे मानो 'ऋग्-यजु-साम=त्रयीविद्या' की प्राप्ति दूसरे पाद के समान है, गायत्री के 'धियो यो नः प्रचोदयात्' इस तृतीय चरण का उपदेश मानो। उसने इस समस्त ब्राह्मण्ड का ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया, पर यह सब इस तृतीय पाद के समकक्ष ही है, और जो चौथा प्राप्तव्य-शुद्ध पाद है उसको किसी सांसारिक ऐश्वर्य से तुलना नहीं की जा सकती और न ही उसके लिये सांसारिक ऐश्वर्य अवशेष रहा है।

(छ) तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि हि पद्यसे। नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा॥[3]

1. बृहदारण्यक उपनिषद् 5/14/5
2. बृहदारण्यक उपनिषद् 5/14/6
3. बृहदारण्यक उपनिषद् 5/14/7

गायत्री की उपासना निम्न रूप में करनी चाहिये हे गायत्री मां! तू एक पदवाली है, त्रिलोकों को प्राप्त कराने वाली है, हे मां! तू दो पद वाली है, इससे त्रयी-विद्या को प्राप्त कराती है, तू त्रिपदवाली है इससे प्राण-अपान-व्यान की शक्ति अथवा समस्त भूमण्डल का ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाली है, और जो तेरा प्राप्त करने योग्य शुद्ध चौथा चरण है, इससे समस्त मोक्ष प्राप्त कराने वाली है। तू चार चरणों वाली होती हुई भी पाद रहित है, क्योंकि तेरा ज्ञान पूर्णरूप से नहीं किया जा सकता, इसलिये उस चौथे पद के लिये मेरा नमस्कार हो। जो गायत्री से और गायत्री के उपदेष्टा से द्वेष करता है उसकी समस्त कामनायें क्षीण हो जाती हैं, किसी भी प्रकार के अभीष्ट फल की कामना को प्राप्त नहीं कर सकता और जो इसकी उपासना करता है, वह समस्त ऐश्वर्यों से परिपूर्ण होता है।

3. गायत्री के विषय में राजा जनक तथा गायत्री के ज्ञाता अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल का संवाद भी प्रासंगिक है।

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्नु हो तद्गायत्रीविदब्रूथा अथ कथꣳ हस्तीभूतो वहसीति मुखꣳ ह्यस्याः सम्राण्न विदाञ्चकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अतिबह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत्संदहत्येवꣳहैवैवंविद्यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः संभवति।।[1]

राजा जनक ने गायत्री के ज्ञाता अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल को कहा कि आप गायत्री को जानते हुए भी फिर क्यों हाथी के समान भार को ढ़ोने वाले बने हुये हो? बुडिल ने कहा कि हे सम्राट्! मैं गायत्री को तो जानता हूं, पर इसका मुख क्या है, इसे नहीं जानता। अर्थात् अभी मैंने शब्द- बोध ही प्राप्त किया है, इसको स्व-जीवन में नहीं उतारा है, अर्थात् इसकी उपासना विधिपूर्वक नहीं कर पा रहा हूँ। राजा ने कहा कि इसका मुख 'अग्नि' है जिस प्रकार अग्नि धातुओं के मल को सम्पूर्णता से नष्ट कर देती है, इसी प्रकार यह गायत्री भी अपने उपासक के समस्त अज्ञानता को, पापमयी-वृत्तियों को भस्म करके उसके हृदय, मन, बुद्धि आदि को पवित्र, जरा रहित, और अमृतत्व से युक्त कर देती है।

महत्वपूर्ण बिंदु-

ख गायत्री मंत्र बुद्धि और चेतना को जागृत करता है।

ख यह ऋग्वेद का प्रसिद्ध मंत्र है।

ख गायत्रे मंत्र का जप मानसिक शांति देता है।

ख भारतीय संस्कृति में इसका अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है।

शब्दावली-

गायत्री -वेदमाता

मंत्र - पवित्र ध्वनि

साधना - आध्यात्मिक अभ्यास

---

1. बृहदारण्यक उपनिषद् 5/14/8

चेतना – जागरूकता

जप – मंत्र का पुनरावृत्ति पाठ

5 अंक के प्रश्न–

1. गायत्री मंत्र किस वेद से लिया गया है?
2. गायत्री मंत्र का मुख्य संदेश क्या है?
3. गायत्री मंत्र के ;षि कौन हैं?
4. गायत्री मंत्र का जप क्यों किया जाता है?
5. गायत्री मंत्र का आध्यात्मिक महत्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न–

1. गायत्री मंत्र का अर्थ एवं महत्व स्पष्ट कीजिए।
2. भारतीय संस्कृति में गायत्रे मंत्र की भूमिका पर चर्चा कीजिए।
3. गायत्री मंत्र के आध्यात्मिक प्रभावों का वर्णन कीजिए।
4. जीवन निर्माण में गायत्री मंत्र की उपयोगिता बताइए।
5. उपनिषदों में मंत्र साधना का महत्व स्पष्ट कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न–

1. गायत्री मंत्र किस वेद में है?

(क) ऋग्वेद

(ख) सामवेद

(ग) यजुर्वेद

(घ) अथर्ववेद

2. गायत्री मंत्र के ऋषि कौन हैं?

(क) वशिष्ठ

(ख) वि श्वामित्र

(ग) याज्ञवल्क्य

(घ) नारद

3. गायत्री मंत्र किस देवता को समर्पित है?

(क) अग्नि

(ख) सूर्य

(ग) इन्द्र

(घ) वरुण

4. गायत्री मंत्र का उद्देश्य क्या है?

(क) बुद्धि का विकास

(क) धन प्राप्ति

(ख) युद्ध विजय

(ग) व्यापार वृद्धि

5. गायत्री मंत्र को क्या कहा जाता है?

(क) वेदमाता

(ख) उपनिषद्

(ग) पुराण

(घ) सूत्र

खण्ड-2

इकाई-2.1 उपनिषद् में आत्मा, मन व इन्द्रियों का स्वरूप

उद्देश्य-

1. आत्मा के स्वरूप को समझना।
2. मन और इन्द्रियों के कार्यों का अध्ययन करना।
3. आत्मा, मन और इन्द्रियों के पारस्परिक संबंध को जानना।

आत्मा का स्वरूप-

1. आत्मा अमर है तथा शरीर नाशवान है-

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।।[1]

जब मृत्यु आती है, तब प्राण वायु जीवात्मा इस शरीर से बाहर निकल कर आकाशस्थ वायु में विलीन हो जाता है, उसके पश्चात् शरीर को जला देते हैं। इसलिये अविनाशी जीवात्मा शरीर से पृथक् है। उसका शरीर के नाश के साथ नाश नहीं होता।

कठोपनिषद् में यमाचार्य नचिकेता को आत्मा का स्वरूप बताते हुए कहते हैं-

2. आत्मा अजन्मा है मरता नहीं है-

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[2]

हे नचिकेता! जिस प्रकार ईश्वर अजर, अमर, नित्य है, इसी प्रकार जीवात्मा भी न उत्पन्न होता है, और न मरता है अजर, अमर, नित्य सदा रहने वाला अनादि है। चेतन जीवात्मा का शरीर के साथ संयोग होने पर चेतनता आ जाती है, और वियोग होने पर समाप्त हो जाती है। इसीलिये कहा है कि शरीर के नाश के साथ उसका नाश नहीं होता है।

3. आत्मा न मरता है न किसी को मारता है-

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।[3]

हे नचिकेता! जो मारने वाला जीवात्मा को मैंने मार दिया और मरने वाला भी यह समझता है कि मैं मर गया, ये दोनों ही वास्तव में नहीं जानते, क्योंकि आत्मा न मरता है, और न किसी से, किसी भी साधन रूप अस्त्र-शस्त्रादि से मारा जा सकता है।

---

1. ईशोपनिषद् 17
2. कठोपनिषद् 2/18
3. कठोपनिषद् 2/19

4. आत्मा इस शरीर रूपी रथ का रथी है-

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥[1]

इस श्लोक में शरीर को रथ के अलंकार से समझाया है, जैसे गाड़ी में घोड़े, सारथी और स्वामी आदि होते हैं, उसी प्रकार इस शरीर को रथ जानो, आत्मा को इसका रथी (स्वामी), बुद्धि को सारथी और मन को लगाम समझो।

5. आत्मा को भोक्ता कहा गया है-

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥[2]

इस श्लोक में पांच ज्ञानेन्द्रिय आंख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा और हाथ, पैर, उपस्थ, गुदा और वाक् इन पांचों को कर्मेन्द्रियों कहते हैं, ये दस घोड़े बतलाये हैं, और इनके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि विषय ही विचरने के स्थान हैं। आत्मा-इन्द्रिय और मन से युक्त इसका भोक्ता है, ऐसा मनीषी पुरुषों का कथन है।

6. आत्मा इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भी सूक्ष्म है तथा परमात्मा आत्मा से सूक्ष्म है-

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥[3]
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥[4]

हे नचिकेता! आंख आदि इन्द्रियों से सूक्ष्म इनके रूप, रस, गंध आदि विषय हैं, इन विषयों से सूक्ष्म मन है। और मन से सूक्ष्म बुद्धि है, बुद्धि से सूक्ष्म महत्तत्त्व है। आत्मा से यहां महत्तत्त्व का ग्रहण है। क्योंकि महत्तत्त्व से ही अहंकार आदि विकृति को प्राप्त होते हैं। महत्तत्त्व से सूक्ष्म कारणरूप अव्यक्त प्रकृति है और प्रकृति से भी सूक्ष्म जीवात्मा, जीवात्मा से भी परमात्मा, जो सब से सूक्ष्म है वह है उस ईश्वर से सूक्ष्म अन्य कोई पदार्थ नहीं वह अन्तिम है। जिसको मानव ने संसार के इन पदार्थों से सब प्राप्त किया है। क्योंकि मनुष्यों के लिये भोग और अपवर्ग के सम्पादन के लिये ही ईश्वर प्रकृति से जगत् को रचता है। और उसका अपना कोई अन्य प्रयोजन नहीं।

7. ईश्वर के साक्षात्कार के लिए आत्मा मनादि इन्द्रियों सहित ईश्वर में नियोजित करें-

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छांत आत्मनि॥[5]

उसके साक्षात्कार का विधान यह है कि जो बुद्धिमान् उसे प्राप्त करना चाहता है तो सर्वप्रथम वह वाणी

---

1. कठोपनिषद् 3/3
2. कठोपनिषद् 3/4
3. कठोपनिषद् 3/10
4. कठोपनिषद् 3/11
5. कठोपनिषद् 3/13

आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर आभ्यन्तर विषयी करके मन में लगावे, मन को आत्मा में और आत्मा को उस महान् परमात्मा में नियोजित करे।

8. शरीर के हृदय स्थान में जीवात्मा का निवास है-

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्।।[1]

अर्थात्- शरीर के हृदय स्थान में अगुष्ठमात्र का रिक्त स्थान है, जहां जीवात्मा का निवास है, उसमें ईश्वर रहता है। अर्थात् ज्ञानी, मुमुक्षु लोग समाधि के समय हृदयचक्र में मन आदि इन्द्रियों को समाहित करके ईशचिन्तन करते हैं तब उस प्रभु के दर्शन एवं उसके आनन्द का अनुभव करते हैं। साधना काल में मन को समाहित करना चाहिये, ऐसा अनुभव सिद्ध योगियों का है। इस प्रकार जो योगी साधना करते हैं वे उस ईश्वर को प्राप्त होते हैं जो भूत और भविष्यत आदि कालों का स्वामी है। फिर वे पाप और प्श्चाताप नहीं करते, ऐसा निश्चय जानो।

9. आत्मा परमात्मा के सानिध्य में आनन्दित रहता है-

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम।।[2]

हे गौतम कुलोत्पन्न नचिकेता! जैसे शुद्ध पवित्र जल शुद्ध पात्र में डालने पर शुद्ध रहता है, और वही जल अशुद्ध पात्र में डालने से अशुद्ध हो जाता है, वैसे ही आत्मज्ञानी का आत्मा जब परमात्मा के सानिध्य को प्राप्त हो जाता है, तब वह भी आनन्द में मग्न रहता है। और जब प्रकृति में लीन होता है, तब अपने शुद्ध रूप को भी भुलाकर प्रकृतिवत् जड़ सा मानता हुआ महा दुःखों को प्राप्त होता रहता है।

10. आत्मा के भोग और अपवर्ग का साधन शरीर है-

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते। एतद्वै तत्।।[3]

हे नचिकेता! जो जीवात्मा कभी उत्पन्न व मरता नहीं, शुद्ध पवित्र है, उस आत्मा के भोग और अपवर्ग की प्राप्ति का साधन यह शरीर रूपी घर है। एकादश जिसके द्वार हैं-दो आंख, दो कान, दो नाक, एक मुख, एक तालू, एक नाभि, एक उपस्थेन्द्रिय और एक गुदा द्वार। इन सबका यह शासक स्वामी है। जब इनको शुभ मार्ग में, ईश चिन्तन में लगाता है, तब उन शुभकर्मों के अनुष्ठान से आवागमन रूप दुःख को प्राप्त न होकर शोक नहीं करता, अपितु उससे विमुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। यही आत्मा का स्वरूप है।

11. आत्मा शुद्ध हंस के समान नीर-क्षीर विवेकी होता है-

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।।[4]

---

1. कठोपनिषद् 4/12
2. कठोपनिषद् 4/15
3. कठोपनिषद् 5/1
4. कठोपनिषद् 5/2

अर्थात्- हे नचिकेता! यह आत्मा हंस के समान नीर-क्षीर, सत्यासत्य, पाप-पुण्य का विश्लेषण करने वाला है। पवित्र स्वभाव वाला, सबको बसाने वाला, हृदयरूपी आकाश में जिसका निवास है, अथवा आकाश के समान उच्च विचारों वाला, वेदज्ञान का आदान-प्रदान करने वाला, यज्ञादिशुभ कर्मों का कर्ता, जिसकी शरीर में आने और निकल कर जाने की कोई निश्चित तिथि न हो, निरन्तर क्रियाशील, शरीर रूपी अपने घर में रहने वाला यदि आत्मज्ञान हो जाय तो परमात्मा के सानिध्यरूप घर में रहने वाला। स्वकर्मानुसार कभी मनुष्य योनि में आता है, कभी देव शरीर को प्राप्त होता है, कभी देव से भी उच्चावस्था को प्राप्त करता है, और यदि ब्रह्म की उपासना करता है तो आकाशवत् सर्वव्यापक उस ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। यदि दुष्कर्म करे तो पृथिवी में, जल आदि में रहने वाले जीव-जन्तुओं की योनि को प्राप्त होता रहता है। यही इस जीवात्मा की अवस्था है। अर्थात् अज्ञानवश कुभोग, कुयोनि को प्राप्त होता रहता है। और ब्रह्मज्ञान से मोक्ष के आनन्द को भोगता है।

12. आत्मा शरीर का स्वामी है-

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते।।[1]

हे नचिकेता! शरीर का स्वामी जीवात्मा कभी प्राणों को ऊपर ले जाता है, और कभी अपान को नीचे को फेंकता है, इस शरीर के मध्य अर्थात् हृदय में विराजमान उस वामन जीवात्मा की ही सभी देवता व इन्द्रियाँ अपने-अपने भोगों को प्राप्त कराती हैं। क्योंकि आत्मा के रहते हुए ही इन्द्रियों का अस्तित्व भी रहता है, यदि आत्मा इस शरीर से निकल जाय तो उनकी भी सत्ता समाप्त हो जाय। इसलिये आत्मा के भरण-पोषण और आज्ञा में प्रत्येक क्षण तत्पर रहती हैं।

13. जीवात्मा शरीर छोड़कर ईश्वर की व्यवस्था में रहता है।

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत्।।[2]

हे यमाचार्य! इस जीवात्मा के शरीर के परित्याग देने शरीर को छोड़ देने व इससे पृथक् हो जाने पर क्या शेष रहता है? इसका उत्तर देते हुए यमाचार्य बोले कि, हे पुत्र! शरीर तो अग्नि में जल कर पञ्चभूतों में अर्थात् अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाता है, और जीवात्मा को जब तक दूसरा देह नहीं मिलता तब तक आकाश में ब्रह्मशक्ति के सहारे रहता है या मोक्ष में रहता है। यही शेष रहता है उस आत्मा का कभी विनाश नहीं होता।

14. आत्मा ही जीवन का आधार है।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।।[3]

हे नचिकेता! यह मनुष्य, न तो प्राण से जीवित रहता है, और न ही अपान से। अपितु किसी अन्य कारण

1. कठोपनिषद् 5/3
2. कठोपनिषद् 5/4
3. कठोपनिषद् 5/5

से ही जीवित रहता है। जिसके आश्रय से प्राण और अपान भी रहते हैं, वह है जीवात्मा।

15. सभी इन्द्रियों का स्वामी आत्मा है।

> **इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।**
> **सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥**[1]

इन्द्रियों से महत्त्वशाली मन है, मन से महत्त्वशाली बुद्धि है, बुद्धि से महान् महत्तत्त्व है, और यह महत्तत्त्व से भी विशेष व महत्त्वशाली,यह मूल प्रकृति है। जिससे यह सारा जगत् बनता है।

> **अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।**
> **यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥**[2]

इस मूल प्रकृति से भी सूक्ष्म और महत्त्वशाली जीवात्मा और इससे भी सूक्ष्म सर्वव्यापक परमात्मा जिसका कोई कारण नहीं, अनिर्वचनीय है, अनुभवगमनीय है। जिसको जानकर यह मनुष्य मृत्यु के बन्धन से छूटकर अमृत को प्राप्त हो जाता है।

16. आत्मा अङ्गुष्ठ परिमाण वाला हृदयदेशी है-

> **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।**
> **तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।**
> **तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥**[3]

सबका अन्तरात्मा अङ्गुष्ठ परिमाण वाला है, जो परम पुरुष के रूप में सदैव सबके हृदय देश में प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार मूञ्ज से उसकी सींक अलग की जाती है, उसी प्रकार मनुष्य के लिए उचित है कि वह धैर्यपूर्वक अपनी आत्मा को शरीर से पृथक् करे (पृथक् करके देखे-अनुभव करे), उसे शुद्ध समझे। वह अमृत स्वरूप ही है।

> **हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां**
> **द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यान श्चरति॥**[4]

यह आत्मा प्राणी के हृदय प्रदेश में स्थित है। इस हृदय प्रान्त में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उन सभी नाड़ियों में प्रत्येक की सौ-सौ शाखायें हैं और उन सभी नाड़ी शाखाओं में भी प्रत्येक की बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखायें हैं। इन सब नाड़ी शाखाओं में व्यान वायु सञ्चरित होता है।

17. आत्मा द्रष्टा व भोक्ता है-

> **एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा**
> **कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते॥**[5]

यही द्रष्टा (देखने वाला), स्प्रष्टा (स्पर्श करने वाला), श्रोता (सुनने वाला), घ्राता (सूंघने वाला),

---

1. कठोपनिषद् 6/7
2. कठोपनिषद् 6/8
3. कठोपनिषद् 6/17
4. प्रश्नोपनिषद् 3/6
5. प्रश्नोपनिषद् 4/9

रसयिता (रस लेने वाला), मन्ता (मनन करने वाला), कर्ता (कर्म करने वाला) और बोद्धा (जानने वाला) विज्ञानात्मा पुरुष है; जो परम अविनाशी ब्रह्म में स्थित हो जाता है।

18. आत्मा परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है-

विज्ञानात्मा सह देवै श्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति॥[1]

हे सोम्य! जिस अविनाशी परब्रह्म में समस्त देवगण, समस्त प्राण और समस्त भूत भली प्रकार प्रतिष्ठित होते हैं, उसे जानने वाला सर्वज्ञाता भी उसी में (परमात्मा में) प्रविष्ट हो जाता है।

19. आत्मा कर्मफल का स्वाद लेने वाला है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥[2]

साथ-साथ रहने तथा सख्यभाव वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष पर रहते हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के पिप्पल (कर्मफल) का स्वाद लेता है और दूसरा अनशन (निराहार) पूर्वक केवल देखता रहता है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥[3]

समान वृक्ष (देह) पर निवास करने वाला जीवात्मा मोह में डूबा हुआ असमर्थ होकर शोक-संतप्त रहता है। जब वह योगियों से सेवित परमात्मा की महिमा का बोध प्राप्त करता है, तब मुक्त हो जाता है।

20. आत्मा अणु है-

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥[4]

वह सूक्ष्म आत्मा मन के द्वारा जानने योग्य है। जिसमें देह से सम्बद्ध पाँच रूपों वाला प्राण स्थित है। इन्हीं प्राणों से सम्पूर्ण प्रजाओं का मन भी व्याप्त है। जिसके शुद्ध हो जाने पर यह आत्मा प्रकाशित होने लगता है।

21. जीव की सेवा द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति-

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥[5]

सबके पोषण के आधार रूप, सबके आश्रयरूप इस विस्तृत ब्रह्मचक्र (व्यवस्था) में जीव भ्रमण करता रहता है। इस चक्र से पृथक् होकर जब वह आत्मा को और प्रेरक परमात्मा को सेवा द्वारा संतुष्ट करता है, तो वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

---

1. प्रश्नोपनिषद् 4/11
2. मुण्डकोपनिषद् 3/1/1
3. मुण्डकोपनिषद् 3/1/2
4. मुण्डकोपनिषद् 3/1/9
5. श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/6

22. आत्मा भोक्ता होने से बन्धन में आता है-

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥[1]

नश्वर जगत् और अनश्वर चेतना के संयोग से निर्मित यह सम्पूर्ण व्यक्त और अव्यक्त विश्व का पोषण वह परमात्मा करता है। जीवात्मा संसार के विषयों का भोक्ता होने के कारण उसमें फँसता है, परन्तु परब्रह्म का ज्ञान होने पर सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

23. आत्मा अल्पज्ञ, अल्प सामर्थ्य वाला है।

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥[2]

ज्ञानी- अज्ञानी, सर्वसमर्थ-असमर्थ यह दोनों (ईश और जीव) अजन्मा ही हैं। भोक्ता (जीव) के लिए एक भोग्या (प्रकृति) भी अजन्मा है। विश्वरूपों में संव्याप्त अनन्त आत्मा-अकर्ता (कर्त्तापन के भाव से मुक्त) है। इन तीनों (ईश्वर, जीव और प्रकृति) को जब ब्रह्मयुक्त अनुभव करे, वही यथार्थ ज्ञान है।

24. जीवात्मा के दो मुख्य रहने के स्थान होते हैं-

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीय स्वप्नस्थानं तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोक स्थानं च॥[3]

हे वैदेह! इस जीवात्मा के दो मुख्य रहने के स्थान होते हैं, एक 'जाग्रत् अवस्था' कहते हैं और दूसरा परलोक 'समाधि अवस्था' इनमें श्रेष्ठ है, तीसरी अवस्था स्वप्न की है, उसे इनका सन्धि स्थल कहते हैं। उस सन्धि स्थान में ठहरा हुआ यह इन दोनों अवस्थाओं को देखता है।

25. जीवात्मा स्वप्न अवस्था में प्राण के साथ बाहर घूम-फिर कर आ जाता है-

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स इयतेऽमृतो यत्रकाम हिरणमयः पुरुष एकहꣳसः॥[4]

यह जीवात्मा हंसवत् उस स्वप्न अवस्था में प्राण के द्वारा इस शरीर की रक्षा करता हुआ इस शरीर रूपी आश्रय को छोड़कर बाहर घूम-फिरकर पुनः इस शरीर रूपी घोंसले में आ जाता है।

26. आत्मा उच्च अवस्था को प्राप्त कर सांसारिक पदार्थों में नहीं फंसता-

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते नहि रसयित् रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत्॥[5]

जब यह जीवात्मा उस उच्चावस्था को प्राप्त हो जाता है, तब उसे सांसारिक रसयुक्त पदार्थ भी रस नहीं देते, जिह्वा इन्द्रिय होती हुई भी रसास्वाद नहीं करती। इसे केवल उस ही ब्रह्म के आनन्दरूप रस में तृप्त

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/8
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/9
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/9
4. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/12
5. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/25

रहती है। अन्य रस नीरस लगते हैं।

यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत्।।[1]

इसको सांसारिक वार्तालापादि करने की इच्छा नहीं होती बोलना नहीं चाहता, इनमें रुचि ही नहीं रहती, मौनता को धारण किये रहता है, बहुत ही आवश्यक समझा तो यदा-कदा बोल लिया, स्वतः ही वाणी के प्रयोग की इच्छा हट जाती है, उस ब्रह्म में तल्लीन रहता है अथवा ब्रह्म सम्बन्धी चर्चा करता है, अन्य विषय की तो बात ही नहीं करता, और न ही इन लौकिक बातों को बोलना पसन्द करता है।

यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात्।।[2]

उस अवस्था में पहुँचने के प्श्चात् कान होते हुए भी सांसारिक बातों को सुनना नहीं चाहते। ऐसा नहीं होता कि कर्ण शक्ति का विलोप हो गया है, वह तो होती है, परन्तु लौकिक बातों को सुनने में इसकी स्वतः ही प्रवृत्ति हट जाती है और न इनमें कुछ आनन्द आता है, जिस से इनको सुनें।

यद्वै तन्न मनुते मन्यानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत।।[3]

जो यह उच्चावस्था प्राप्त आत्मा हो जाती है, उस समय इसे सांसारिक विषय चिन्ता की प्रवृत्ति स्वतः ही दूर हो जाती है, केवल उसी ब्रह्म का चिन्तन-मनन निदिध्यासन और साक्षात्कार में ही मन लगा रहता है, इसे बाह्य विषयों के चिन्तन के लिये अवसर ही नहीं मिलता और उनमें रुचि भी नहीं रहती, जिससे उनका चिन्तन करे ।।

26. मृत्यु के समय आत्मा की स्थिति-

प्रसंग- इस चतुर्थाध्याय के चौथे ब्राह्मण में भी याज्ञवल्क्य, विदेह को पुनर्जन्म के विषय में उपदेश करते हुए कहते हैं-

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्यसंमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्चवक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुष पराङ् र्प्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति।।[4]

हे राजन्! जब यह आत्मा बलहीनता को प्राप्त हो जाता है, मन भी चिन्तन-मनन शक्ति से हीन सा हो जाता है तब इन्द्रियां, दश-प्राण इसके पास आकर स्वकार्य से विराम ले लेती हैं, और यह आत्मा उनकी शक्तियों को लेकर हृदय में प्रवेश कर जाता है। उस समय यह दृष्टा जीव अन्तर्मुखी हो जाता है अर्थात् इन बाह्य नेत्रों से रुप को ग्रहण नहीं करता है अरूपवान् हो जाता है।

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकी भवति न जिघ्रतीत्याहुरेकी भवति न रसयत इत्याहुरेकी भवति न वदतीत्याहुरेकी भवति न शृणोतीत्याहुरेकी भवति न मनुत इत्याहुरेकी भवति न स्पृशतीत्याहुरेकी

---

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/26
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/27
3. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/3/28
4. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/1

भवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीर देशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणाऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणो अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति। तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।।[1]

जिस समय यह जीवात्मा इस शरीर को छोड़ता है, मरता है, तब वह बाहर की अपेक्षा अन्तर्मुखी हो जाता है, उस समय लोग तो यह कहते रहते हैं कि यह अब न देखता, न ही सूंघता, न ही रस लेता है, न ही बोलता है, न ही सुनता है, न मनन करता है, न स्पर्श करता है, और न ही कुछ किसी को जानता व पहचानता है, परन्तु वह उस समय हृदयस्थ केन्द्रित होता है और हृदय का अग्र भाग प्रकाशित हो उठता है, उससे वह जीव चाहे आंख से वा मूर्धा से, अथवा शरीर के किसी भी दूसरे भाग से निकल जाता है, उसके निकलने के पश्चात् प्राण भी निकल जाते हैं, उस समय इस आत्मा के साथ विद्या, उसके जैसे शुभाशुभ कर्म और पूर्व-प्रज्ञा पूर्व संस्कार जाते हैं, और कुछ भी धनैश्वर्य, कुटुम्ब आदि परिवार साथ नहीं जाता है।

27. आत्मा विविध स्वरूपों वाला है-

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमयः आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽ धर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदं मयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभि सम्पद्यते।।[2]

हे राजन्! यह जीवात्मा, आनन्दमय, ज्ञानमय, मननशील, द्रष्टा, श्रोता इस संसार का उपभोक्ता रसमय, गमनशील एक से दूसरे स्थान योनि में आने-जाने वाला, हृदयाकाश में रहने वाला और बिना शरीर के आकाश में रहता है, तेजमय है, अतेज, तेज हीन हो जाता है क्रोध भी करता है, कभी क्रोधहीन होता है, जब धर्म के कार्यों को करता है, तब धर्ममय धर्मात्मा कहलाता है और जब अधर्मयुक्त कार्य करता है, तब अधर्मात्मा कहलाता है, इसलिये यह सब कुछ है, यह इस भूतल पर शरीरधारी बन जाता है, जब उत्तम कर्म करता है तब आदित्य परलोक का वासी हो जाता है, जैसा कर्म, जैसा आचरण करने वाला होता है, वैसा ही कहलाता है, अच्छे कर्मों से सज्जन और बुरे कर्मों से दुष्ट कहलाता है, पुण्य कर्मों से पुण्यकारी, पाप कर्मों से पापी होता है, जैसे कर्म, जैसी चेष्टा यह कर्म करने वाला जीव करता है, वैसी ही सिद्धि प्राप्त करने वाला होता है।

मन का स्वरूप-

मनुष्य जीवन में मन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, बिना मन के मनुष्य जीवन का व्यवहार असंभव हो जायेगा। यह आत्मा का करण है तथा जड़ है इसके माध्यम से ही सारे कर्म सम्पन्न होते हैं। यहाँ पर एकादश उपनिषदों में वर्णित मन के विषय में जो यत्र तत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण संकेत मिलते हैं उनको प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम ईशोपनिषद् में ही मन के विषय में संकेत आया कि-

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/2
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/5

1. मन की शक्ति ईश्वर की शक्ति से कम है-

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाऽआप्नुवन् पूर्वमर्षत्।।[1]

परमपिता परमेश्वर मन की गति (शक्ति) से भी अधिक गतिमान (शक्तिमान) है, अर्थात् मन की शक्ति ईश्वर से कम है। हमारा मन अत्यंत गति वाला है परन्तु ईश्वर की गति (शक्ति) के समक्ष अत्यंत न्यून है।

2. मन ईश्वर से कुछ छिपा नहीं सकता-

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।[2]

मन कितना भी शक्तिशाली हो परन्तु परमात्मा के सर्वव्यापक होने से सबके मन की बात जानने वाला है। मन ईश्वर से कुछ भी छिपा नहीं सकता।

3. मन किसकी शक्ति प्रेरणा से अपने विषय को प्राप्त होता है?-

ओ३म् केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।।[3]

किसकी शक्ति प्रेरणा से प्रेरित होकर यह मन अपने मनन रूप विषय को चिन्तन में लाता है। अर्थात् अपने इच्छित विषयों को प्राप्त करता है। इसका स्वयं का सामर्थ्य विषयों का परिज्ञान करने में असमर्थ है।

4. मन को चिन्तन मनन की शक्ति ईश्वर से मिलती है-

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचꣳ स उ प्राणस्य प्राणः।।[4]

जिसकी शक्ति से ये कान सुनते हैं वह कानों का भी कान तथा जिसकी शक्ति से यह मन चिन्तन मनन करता है वह मन से भी अति सूक्ष्म है। अर्थात् मन स्थूल है। इस मन में मनन का सामर्थ्य ईश्वर से मिलता है।

5. मन से ईश्वर (ब्रह्म) को नहीं जाना जा सकता-

(क) न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो।।[5]

अर्थात् उसको मन भी नहीं जान सकता क्योंकि वह ईश्वर मन का विषय नहीं है, मन तो भौतिक है।

(ख) यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।।[6]

वह ब्रह्म मन (अन्तःकरण) से विचारा नहीं जाता। किन्तु ब्रह्म की उपासनादि से मन आदि का भी ज्ञान होता है।

6. मन शरीररूपी रथ में प्रग्रह (लगाम) है-

आत्मानँ रथितं विद्धि शरीरँ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।[7]

---

1. ईशोपनिषद् 4
2. ईशोपनिषद् 8
3. केनोपनिषद् 1/1
4. केनोपनिषद् 1/2
5. केनोपनिषद् 1/3
6. केनोपनिषद् 1/5
7. कठोपनिषद् 3/3

यह आत्मा शरीररूपी रथ का स्वामी है, शरीर रथ है। बुद्धि सारथी है और मन प्रग्रह (लगाम) है।

7. मनादि से युक्त होकर ही आत्मा भोक्ता कहलाता है-

आत्मेन्द्रिमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥[1]

आत्मा शरीर, इन्द्रिय तथा मनयुक्त होकर ही भोक्ता कहलाता है।

8. मन के संयम से इन्द्रियां वश में हो जाती हैं-

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥[2]

जो विवेकी अभ्यास व वैराग्य से मन को वश में कर लेता है, उसकी इन्द्रियां वैसे ही वश में हो जाती हैं, जैसे सारथी के सुशिक्षित घोड़े वश में रहते हैं।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥[3]

जिसका सारथी शुद्ध बुद्धि है, और मन रूपी प्रग्रह (लगाम) जिसके वश में है?, वह ब्रह्म के परम पद को प्राप्त करता है।

9. मन की सूक्ष्मता-

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥[4]

इन्द्रियों से सूक्ष्म अर्थ गन्धतन्मात्रादि विषय हैं और अर्थ विषयों से सूक्ष्म मन हैं, मन से सूक्ष्म बुद्धि है और बुद्धि से आत्मा महत्तत्त्व सूक्ष्म हैं।

10. मन के द्वारा इन्द्रियों का संयम-

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥[5]

जो बुद्धिमान उसे प्राप्त करना चाहता है तो सर्वप्रथम वह वाणी आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर के मन में लगावें, मन को आत्मा में और आत्मा को उस महान परमात्मा में लगावें।

11. एकाग्र मन से ब्रह्म की प्राप्ति-

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन मृत्योः
स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥[6]

ब्रह्म की प्राप्ति एकाग्र मन से ही हो सकती है। शुद्ध अन्तःकरण वाला साधक ही उसे प्राप्त कर सकता है, जो उस ब्रह्म को अखंडित, एकरस रहने वाला अद्वितीय मानेगा और इससे विपरीत जो उस ब्रह्म को तथा

1. कठोपनिषद् 3/4
2. कठोपनिषद् 3/6
3. कठोपनिषद् 3/9
4. कठोपनिषद् 3/10
5. कठोपनिषद् 3/13
6. कठोपनिषद् 4/11

एक शरीर में अनेक जीवात्माओं को समझेगा, वही मृत्यु रूप दुःख को प्राप्त होगा।

12. सूक्ष्म शरीर, जिसमें मन भी है, उसके सहित जीवात्मा हृदय में रहता है-

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति॥[1]

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः॥[2]

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥[3]

शरीर में अंगुष्ठ मात्र स्थान वाले हृदय में लिंग शरीर सहित जीवात्मा रहता है। इससे स्पष्ट है कि मन का स्थान भी हृदय है।

13. इन्द्रियों से अधिक शक्तिशाली मन-

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।

सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥[4]

इन्द्रियों से महत्त्वशाली मन है, मन से महत्त्वशाली सत्त्व अर्थात् बुद्धि है, बुद्धि से महान् महत्तत्त्व है, और यह महत्तत्त्व से भी विशेष महत्त्वशाली यह मूल प्रकृति है जिससे यह सारा जगत् बनता है।

14. मुक्ति हेतु मन के संयम की अनिवार्यता-

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चैनम्।

हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुर मृतास्ते भवन्ति॥[5]

उस ब्रह्म को कोई आँखों से देखना चाहे, हाथों से पकड़ना चाहे तो ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि वह रूपवान् नहीं है, साकार नहीं है। उसे तो मनीषी ही हृदय रूपी गुफा में दिव्य नेत्र से मनादि इन्द्रियों को वश में करके योग समाधि में उसका साक्षात्कार करके मुक्ति को प्राप्त होते हैं ।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।

बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥[6]

जब योगाभ्यासादि से पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ चञ्चलता रहित होकर परमेश्वर में स्थिर हो जाती हैं, और बुद्धि भी ज्ञानविरुद्ध आचरण नहीं करती, उसे सर्वोत्तम दशा (मोक्ष) कहते हैं।

15. कामनाएँ हृदय (अन्तःकरण) में रहती हैं-

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः॥[7]

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः॥[8]

हृदय (अन्तःकरण) में स्थित कामनाएँ जब दूर हो जाती हैं, और जब हृदय (अंतःकरण) की गांठे नष्ट

---

1. कठोपनिषद् 4/12
2. कठोपनिषद् 6/17
3. कठोपनिषद् 6/9
4. कठोपनिषद् 6/7
5. कठोपनिषद् 6/9
6. कठोपनिषद् 6/10
7. कठोपनिषद् 6/14
8. कठोपनिषद् 6/15

हो जाती हैं, तब जीवात्मा मुक्त होता है।

16. मन आदि इन्द्रियों से ब्रह्म की प्राप्ति असम्भव है-

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।।[1]

वह परमपिता परमेश्वर न तो वाणी से, न मन से, न नेत्रादि इन भौतिक इन्द्रियों से प्राप्त किया जा सकता है।

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्।।[2]

मन के साथ वाणी आदि सभी इन्द्रियां उस अनन्त ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकती क्योंकि ये मनादि भौतिक इन्द्रियाँ परिछिन्न हैं। इनकी शक्ति सीमित है।

17. मन आदि चौदह देवता शरीर के प्रकाशक हैं-

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापःपृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च।
ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामः।।[3]

वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ नेत्र और कानादि पाँच ज्ञानेन्द्रियां एवं मनादि चार अन्तःकरण (कुल चौदह देवता) इस शरीर के प्रकाशक हैं।

18. मन के संकल्प से प्राणों का शरीर में प्रवेश-

आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे।।[4]

यह प्राण (आत्मा) परमात्मा से उत्पन्न होता है, जिस प्रकार यह छाया पुरुष के होने पर होती है इसी प्रकार यह प्राण इसके ही आश्रित है। इस शरीर में मन के किए हुए शुभ-अशुभ संकल्प से यह प्राण शरीर में आता है।

19. मन के शुभाशुभ संकल्पानुसार भिन्न-भिन्न लोक व योनि की प्राप्ति-

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्त तेजाः। पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः।
यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति।।[5]

मरते समय जैसे मनुष्य के विचार होते हैं उसी के अनुसार प्राण उसको पुनर्जन्म में ले जाते हैं। क्योंकि प्राण की दो शक्तियां हैं- प्रथम शारीरिक, द्वितीय मानसिक। तेज ही शारीरिक शक्ति का संचार करता है। प्राण की मानसिक शक्ति चित्त है, इसी से संकल्प और विकल्प होते हैं।

20. मन यजमान के रूप में है-

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः। मनो ह वाव यजमानः।
इष्टफलमेवोदानः। स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति।।[6]

1. कठोपनिषद् 6/12
2. तैत्तिरी.ब्रह्म.व. चतुर्थ अनु.-1 एवं नवमनु.
3. प्रश्नो. 2/2
4. प्रश्नो. 3/3
5. प्रश्नो. 3/10
6. प्रश्नो. 4/4

अर्थात् जो श्वास अन्दर बाहर आता-जाता रहता है यह ही श्वास-प्रश्वास रूप आहूति शरीर को धारण किए हुए हैं। इस शरीर में यह प्रसिद्ध मन ही यजमान है, इष्ट फल की प्रप्ति कराने वाला 'उदान' प्राण है।

21. निद्रावस्था में मन की स्थिति-

तस्मै स होवाच, यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकी भवन्ति। ताःपुनःरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति।।[1]

महर्षि ने कहा जिस प्रकार अस्त होते हुए सूर्य की सबकी सब किरणें इस तेजोमंडल में एक हो जाती हैं तथा उदय होने पर पुनः सब ओर फैलती रहती हैं, ठीक ऐसे ही निद्रा के समय वे सब इन्द्रियाँ परमदेव मन में एक हो जाती हैं। मन इन्द्रियों को उसी प्रकार अपने-अपने विषय में नियुक्त करता है जिसको आत्मा ग्रहण करना चाहता है। इसलिए मन के अभाव में कोई भी इन्द्रिय स्वतः विषय को ग्रहण नहीं कर सकती।

22. मन की उत्पत्ति-

(क) स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोकालोकेषु च नाम च।।[2]

उस परमपिता परमेश्वर ने शरीर को जीवित रखने के लिए सर्वप्रथम प्राणों की रचना की, प्राण के बाद श्रद्धा को उत्पन्न किया, इसके बाद आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी को रचा। इसके बाद मन (अन्तःकरण) और इन्द्रिय समुदाय की उत्पत्ति हुई।

(ख) तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्।।[3]

पर ब्रह्म के संकल्परूप तप से उपचय वृद्धि को प्राप्त होता है, उससे अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से प्राण, मन, सत्य (पाँच महाभूत) समस्त लोक (और कर्म) तथा कर्मो से अवश्यम्भावी सुख-दुःखरूप फल उत्पन्न होता है।

(ग) हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः।।[4]

हृदय से मन का आविर्भाव हुआ तथा मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ।

23. मन को ब्रह्म कहा है-

(क) यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः। तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि।।[5]

जो दीप्तिमान है और जो सूक्ष्मों से भी सूक्ष्म है जिसमें समस्त लोक और उन लोकों में रहने वाले प्राणी स्थित हैं वही यह अविनाशी ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी मन है, वही यह सत्य है, वह अमृत है। हे

---

1. प्रश्नो. 4/2
2. प्रश्नो. 6/4
3. मुण्डक. 1/1/8
4. ऐतरेय. 1/1/4
5. मुण्डक. 2/2/2

सोम्य! उस वेधने योग्य लक्ष्य को तू वेध।

(ख) स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः॥[1]

वह जो पहले बताया हुआ है यह हृदय के भीतर आकाश है उसमें यह विशुद्ध प्रकाश रूप अविनाशी मनोमय पुरुष रहता है।

(ग) मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥[2]

तप करने के पश्चात् पुनः मन को ब्रह्म जाना। क्योंकि मन से ही समस्त प्राणी जीवित रहते हैं। यदि मन में उत्साह और सुविचार हैं तो, जीवन में भी उत्साह और सुविचार रहेंगे, मन में निराशा और कुविचार होंगे तो शरीर मृतवत् दूषित रहेगा। इसलिये मन को ही जीने और मरने का मुख्य साधन माना है। जिसके मन वश में है उसके सभी इन्द्रियां वश में रहती हैं। जिसका मन वश में नहीं, वही इन्द्रियों का दास कहाता है। इसलिये मनादि इन्द्रियों को वश में करना भी तप का ही काम है।

24. ब्रह्म को प्राप्त करने में मन (चित्त) को साधन बनाना-

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद् भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥[3]

उपनिषदों में वर्णित प्रणवरूप महान् अस्त्र धनुष को लेकर निश्चय ही उपासना के द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ाये, भावपूर्ण चित्त (मन) के द्वारा उस बाण को खींचकर, हे प्रिय! उस परम अक्षर पुरुषोत्तम को ही लक्ष्य मानकर वेध।

25. शुद्ध मन से ईश्वर की प्राप्ति-

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥[4]

जिसमें पांच भेदों वाला प्राण भली भाँति प्रविष्ट है यह सूक्ष्म आत्मा मन से जानने में आने वाला है, प्राणियों का यह सम्पूर्ण चित्त प्राणों से व्याप्त है। जिस अन्तःकरण के विशुद्ध होने पर यह आत्मा (परमात्मा को प्राप्त करने में) सब प्रकार से समर्थ होता है।

26. शुद्ध मन से ही भोग्य पदार्थों व दिव्य लोक की प्राप्ति-

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः॥[5]

जो शुद्ध पवित्र अन्तःकरण वाले हो जाते हैं वे जिस-जिस लोक और भोग्य पदार्थों की कामना करते हैं

---

1. तैत्तिरी. 1/6/1
2. तैत्तिरी. 3/4/1
3. मुण्डक. 2/2/3
4. मुण्डक. 3/1/9
5. मुण्डक. 3/1/10

वे उस उसको प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए ऐश्वर्य की कामना वाला मनुष्य शरीर से भिन्न आत्मा को जानने वाले महात्मा की पूजा करें।

27. ईश्वर शक्ति के बिना मन की शक्ति हीनता-

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति॥[1]

परमात्मा ने मनुष्य शरीर की रचना की परन्तु उसकी शक्ति के बिना ये इन्द्रियां कार्य नहीं कर सकती, न ही मन संकल्प विकल्प कर सकता है।

28. हृदय को मन के रूप में प्रस्तुत किया गया है-

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्॥[2]

जो यह हृदय है यही मन भी है।

29. मन को आत्मा के रूप में कहा है-

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः।
अमृतो हिरण्मयः॥[3]

जो यह हृदय के भीतर आकाश है उसमें विशुद्ध प्रकाशस्वरूप अविनाशी मनोमय पुरुष (परमेश्वर) रहता है।

30. मन आनन्द देने वाला ब्रह्म है-

आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मनानन्दम्।
शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व॥[4]

वह ब्रह्म आकाश के सदृश शरीर वाला इन्द्रियादि समस्त प्राणों को विश्राम देने वाला, मन को आनन्द देने वाला, शान्ति से सम्पन्न, अविनाशी है यों मानकर तू उसकी उपासना कर।

31. मन करण समुदाय (पङ्क्ति) के अन्तर्गत आता है-

अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः।
चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्॥[5]

आध्यात्मिक शरीर के अन्दर रहने वाला पीङ्क्त है। प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान इस प्रकार यह प्राणों की पङ्क्ति है। नेत्र, कान, मन, वाणी और त्वचा यह करण समुदाय की पङ्क्ति है।

---

1. ऐतरेय. 3/1/11
2. ऐतरेय. 3/1/2
3. तैत्तिरी. 1/6/1
4. तैत्तिरी. 1/6/4
5. तैत्तिरी. 1/7/1

32. मन चारों वेदों के ज्ञान से ओत-प्रोत रहता है-

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥[1]

इस प्राणमय कोष से भिन्न तीसरा मनोमय कोष है, उसका भी पुरुष आकार है। जैसे सिर उसका यजुर्वेद है, ऋग्वेद दक्षिण भाग है, सामवेद उत्तर भाग है, आदेश आज्ञा विधिवाक्य उसका धड़ है और अथर्ववेद पूंछ आश्रय स्थान है। अर्थात् मन में चारों वेदों का ज्ञान ओत-प्रोत रहता है ज्ञान का साधन मन ही है।

33. विज्ञानमय जीवात्मा मनोमय शरीर में व्याप्त रहता है-

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः॥[2]

निश्चय ही उस पहले बताए हुए इस मनोमय पुरुष से अन्य इसके अन्दर रहने वाला आत्मा विज्ञानमय है, उस विज्ञानमय आत्मा में यह मनोमय शरीर व्याप्त है।

34. मन कि स्थिरता, तत्व ज्ञान व भगवत् प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना-

(क) युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत॥[3]

सब को उत्पन्न करने वाला परमात्मा पहले हमारे मन बुद्धियों को तत्व की प्राप्ति के लिए अपने स्वरूप में लगाते हुए अग्नि, ज्योति (प्रकाशन सामर्थ्य को) अवलोकन करके भौतिक पदार्थों से उपर उठकर हमारी इन्द्रियों में स्थापित करें।

(ख) युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या॥[4]

परमात्मा की अद्भुत सृष्टि रचना को देखकर हम भी अपनी पूरी शक्ति से और एकाग्र मन से समाहित होकर स्वर्गीय सुख (भगवत् प्राप्ति रूप आनन्द) के लिए प्रयत्न करें।

(ग) युक्त्वाय मनसा देवान् सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥[5]

परमात्मा जो सब को उत्पन्न करने वाला स्वर्गादि लोकों में आकाश में गमन करने वाले बहुत ज्ञान वाले, प्रकाश फैलाने वाले उन देवताओं को हमारे मन बुद्धि से संयुक्त करके प्रकाशदान करने के लिए प्रेरणा करता है।

(घ) युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः॥[6]

जो वेद शास्त्रों के ज्ञाता ईश प्राप्ति के इच्छुक हैं, वे मनादि इन्द्रियों को विषयों से हटाकर बुद्धि को भी समाहित करके परमात्मा के साथ संयुक्त कर देते हैं।

1. तैत्तिरी. 2/3/2
2. तैत्तिरी. 2/4/2
3. श्वेता. 2/1
4. श्वेता. 2/2
5. श्वेता. 2/3
6. श्वेता. 2/4

35. स्थिर और पवित्र मन वाला ईश्वर का साक्षात्कार करता है-

(क) अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते। सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः॥[1]

जिसका जीवन अग्नि के समान शुद्ध पवित्र तेजस्वी है, वायु के समान शरीर आत्मा बलिष्ठ है, जिसका जीवन आनन्द रूप सोमरस से परिपूर्ण है, सत्यप्रिय मधुर है और जिसका मन उस ब्रह्म में लीन हो जाता है वही उसे प्राप्त कर सकता है।

(ख) हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य॥[2]

इन्द्रियों को बाह्य विषयों से पृथक कर, मन के साथ संयुक्त कर आत्मा को परमात्मा में लगावें।

(ग) विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥[3]

साधक को चाहिए कि मन को सावधान होकर वश में किए रहे और परमात्मा की प्राप्ति रूप लक्ष्य तक पहुँच जाये।

(घ) हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति॥[4]

इसीलिए कहा है की शुद्ध, पवित्र हृदय वाला ब्रह्म जिज्ञासु एकाग्र मन करके समाधि द्वारा उसे जानकर मोक्ष के भागी हो जाते हैं ।

(ड.) हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥[5]

वह ब्रह्म मानव के हृदय में है उसे हृदय में ही एकाग्र मन करके समाधि द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है और उसे जो जान लेते हैं वे मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

36. योगानुष्ठान में मन की अनुकूलता-

मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥[6]

योगानुष्ठान के समय अन्य बिन्दुओं के साथ-साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए की सर्वथा अनुकूल और नेत्र को पीड़ा न देने वाले गुहादि शून्य स्थान में मन को ध्यान में नियुक्त करने का प्रयास करना चाहिए।

इन्द्रियों का स्वरूप-

1. इन्द्रियां ईश्वर प्राप्ति में असक्षम हैं।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥[7]

वह परमात्मा कंपन तक नहीं करता परन्तु मन से भी अधिक वेगवान् है; इन्द्रियां उसे प्राप्त नहीं कर सकतीं परन्तु वह इन्द्रियों से भी पूर्व वर्तमान है; वह ठहरा हुआ ही अन्य दौड़ते हुओं को पीछे छोड़ देता है; उसी के कारण वायु, जो स्वयं हल्की है, अपने से भारी जल को उठा लेती है।

---

1. श्वेता. 2/6
2. श्वेता. 2/8
3. श्वेता. 2/9
4. श्वेता. 4/17
5. श्वेता. 4/20
6. श्वेता. 2/10
7. ईशोपनिषद् 4

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां येनस्तद् व्याचचक्षिरे।।[1]

ब्रह्म को हम न तो चक्षुः इन भौतिक नेत्रों से देख सकते, क्योंकि ये स्थूल रूपवान् वस्तु को ही दिखला सकती है, ईश्वर अरूपवान निराकार है, उसको वाणी से भी नहीं प्राप्त कर सकते अथवा न कोई चर्चा की जा सकता है कि ब्रह्म इतना ही, उसको मन भी न जान सकता, क्योंकि मन का भी विषय नहीं, मन भी भौतिक है, न हम जानते, हमने उसे देखा नहीं जिससे उसका पूर्णरूप से उपदेश कर सकें क्योंकि वह हमारे इस ज्ञात से और अज्ञात से महान् और भिन्न है। ऐसा पूर्व ऋषि, मुनि, योगियों से सुना है, उन्होंने हमें ऐसा ही उपदेश किया है।

2. इन्द्रियों का सामर्थ्यदाता परमात्मा है।

ऊँ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।।[2]

किसकी प्रेरणा से मन मानो विषय पर टूटा पड़ता है? किसके द्वारा नियुक्त किया हुआ प्राण जन्मते ही पहले पहल गति करने लगता है? किसकी प्रेरणा से इस वाणी को हम बोलते हैं? चक्षु और श्रोत्र को कौन देव अपने-अपने विषयों में नियुक्त करता है?

(क) श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचꣳ स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।[3]

हे जिज्ञासु! श्रोत्र का वही श्रोत्र है, मन का वही मन है, वाणी की वही वाणी है, प्राण का वही प्राण है, चक्षु का वही चक्षु है। यह जानकर धीर लोग इन्द्रियों के विषयों का संग छोड़ देते हैं, और मृत्यु के अनन्तर इस लोक से अमृत हो जाते हैं।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।[4]

वाणी जिसे प्रकट नहीं कर सकती, जिससे वाणी प्रकट होती है, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह नहीं।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।[5]

जो मन से मनन नहीं करता परन्तु जिसके द्वारा मन मनन करता है, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह नहीं।

---

1. केनोपनिषद् 1/3
2. केनोपनिषद् 1/1
3. केनोपनिषद् 1/2
4. केनोपनिषद् 1/4
5. केनोपनिषद् 1/5

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।[1]

जो चक्षु से नहीं देखता, जिसके द्वारा चक्षु देखती है, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह नहीं।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।[2]

जो श्रोत्र से नहीं सुनता, जिसके द्वारा श्रोत्र सुनते हैं, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह नहीं।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।[3]

जो प्राण वायु से सांस नहीं लेता, जिससे प्राण प्राणित हो रहा है, उसी को तू 'ब्रह्म' जान, जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह नहीं।

3. भोग से इन्द्रियों का तेज क्षीण होता है-

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैस्तत्, सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।।[4]

अर्थात् नचिकेता यमाचार्य से कहने लगे कि आप जो कुछ भी धनादि दे रहे हो यह सब आज है, कल नहीं रहेगा अर्थात् क्षणिक एवं नाशवान् अस्थायी है, क्योंकि कहां मोक्ष सुख जिसमें न नष्ट होने का भय है, न चोर व राजा का भय है, न बुढ़ापे और न मृत्यु का भय है। और कहां धन, जीवनादि जिसमें उपरोक्त सभी भय हैं, और मनुष्य के जीवन के नाशक हैं, सभी इन्द्रियों के तेज को भी क्षीण करने वाले हैं, क्योंकि विषय भोगी निस्तेज हो जाता है, इन्द्रियों का सामर्थ्य क्षीण होने लगता है।

4. इन्द्रियों को अश्व की उपमा दी गई है-

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।[5]

पांच ज्ञानेन्द्रिय आंख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा और हाथ, पैर, उपस्थ, गुदा और वाक् इन पांचों को कर्मेन्द्रियों कहते हैं, ये दस घोड़े बतलाये हैं, और इनके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि विषय ही गोचर= विचरने के स्थान हैं। आत्मा-इन्द्रिय और मन से युक्त इसका भोक्ता है, ऐसा मनीषी पुरुषों का कथन है। इसका यह तात्पर्य है कि जो मनुष्य शरीर को ही सब कुछ समझते हैं, इसे ही सजाने-संवारने, पालने आदि में ही अपने अमूल्य जीवन को खो देते हैं। इसका जो स्वामी है उसका कुछ भी ध्यान नहीं रखते, उसके लिये कैसा भोजन चाहिये, यह शरीर इसे क्यों मिला है, इसको सर्वथा ही भूल जाते हैं। स्वयं भोक्ता न

1. केनोपनिषद् 1/6
2. केनोपनिषद् 1/7
3. केनोपनिषद् 1/8
4. कठोपनिषद् 1/26
5. कठोपनिषद् 3/4

रहकर, भोग्य बन जाते हैं। स्वामी के स्थान में इन्द्रियों के दास बन बैठते हैं। हे नचिकेता! वे क्या उस ब्रह्म को जान सकते हैं? उन्हीं को मेरा यह उपदेश क्योंकर रुचिकर हो सकता है। इसीलिये तो आज आध्यात्मिक बातें कोई सुनना पसंद नहीं करता, क्योंकि संसार में सभी प्रायः दास हो गये हैं, स्वामी तो आप जैसा कोई विरला ही देखने को मिलता है। ठीक ही शास्त्र में कहा है विनाशकाले विपरीत बुद्धिः? जब विनाश के दिन आते हैं बुद्धि बिगड़ जाती है, उल्टे पथ के गामी हो जाते है, पतंगे की तरह इन्द्रिय विषय रूप अग्नि में भस्म होते जा रहे हैं। जो इनके स्वरूप को अच्छी प्रकार जानते हैं वे अपनी इन्द्रियों को वश में रख कर अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं।

5. आत्मज्ञानी की अश्वरूपी इन्द्रियां वश में रहती हैं-

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।[1]

हे नचिकेता! जो मनुष्य अज्ञानी होता है, और मन जिस के वश नहीं होता, उस की इन्द्रियां कभी वशीभूत नहीं हो सकती, जिस प्रकार अशिक्षित घोड़े अपने सारथी को गर्त में गिरा देते हैं, इसी प्रकार उन इन्द्रियों के दास को इन्द्रियां पतन के गर्त में गिरा देती हैं, वह कभी उन्नति नहीं कर सकता ।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।[2]

अर्थात् जो ज्ञानी है, जिसे प्रकृति-पुरुष का विवेक है, मन जिसके वश में है, उसकी इन्द्रियां भी सदा वश में रहती हैं, वह स्वामी होता है। वह इस प्रकार ही अपने लक्ष्य पर पहुंच जाता है जिस प्रकार शिक्षित घोड़े अपने सारथी को गन्तव्य स्थान पर पहुंचा देते हैं।

6. इन्द्रियां स्थूल हैं-

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।।[3]

हे नचिकेता! आंख आदि इन्द्रियों से इनके रूप, रस, गंध आदि विषय हैं, इन विषयों से सूक्ष्म मन है और मन से सूक्ष्म बुद्धि है, बुद्धि से सूक्ष्म महत्तत्त्व है, आत्मा से यहां महत्तत्त्व का ग्रहण है, क्योंकि महत्तत्व से ही अहंकार आदि विकृति को प्राप्त होते हैं।

7. ईश्वर ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है-

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।[4]

हे नचिकेता! ईश्वर ने इन्द्रियों को बर्हिमुख वाला बनाया है, इसलिये ये बाह्य विषयों को ही देखती हैं, उन्हें ही ग्रहण करती हैं। कोई धीर पुरुष जिसके पूर्वजन्म के शुभकर्म हैं, जो संसार से छूटना चाहता है,

---

1. कठोपनिषद् 3/5
2. कठोपनिषद् 3/6
3. कठोपनिषद् 3/10
4. कठोपनिषद् 4/1

विषय भोगों में जिसको किञ्चित् भी रुचि नहीं है, इन विषयों को दु:ख का सागर समझा है, वही इन बाह्य मुखवाली इन्द्रियों को आभ्यान्तरमुखवाली करता है, तब ये उस परमात्मा को प्राप्त करने में सहयोगी होती हैं। नहीं तो ये मानव को पथभ्रष्ट करती रहती हैं।

8. इन्द्रियों की सत्ता आत्मा से अलग है-

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयस्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति।।[1]

इन्द्रियों की आत्मा से अलग सत्ता है, क्योंकि इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं और अंत में नष्ट हो जाती हैं। परन्तु आत्मा की सत्ता को पृथक् मानने वाला फिर वही धीर-ज्ञानी-विवेकी पुरुष शोक-सन्ताप नहीं करता। क्योंकि शोक-सन्ताप वही अज्ञानी करता है जो इन्द्रियों को अपना स्वरूप समझता है।

9. इन्द्रियों से महत्त्वशाली मन है-

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्।।[2]

इन्द्रियों से महत्त्वशाली मन है, मन से महत्त्वशाली बुद्धि है, बुद्धि से महान् महतत्त्व है, और यह महतत्त्व से भी विशेष महत्त्वशाली अव्यक्त=यह मूल प्रकृति है जिससे यह सारा जगत् बनता है।

10. भौतिक इन्द्रियों से परमात्मा को नहीं पाया जा सकता-

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।।[3]

हे नचिकेता! उस ब्रह्म को कोई आंखों से देखना चाहे और हाथों से पकड़ना तो वह न देख सकता और न पकड़ ही सकता है। क्योंकि वह रूपवान नहीं है, साकार नहीं है, जिसे देखा और पकड़ा जा सके।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।।[4]

नचिकेता! उस ब्रह्म को कोई बाह्य वाणी, मन और चक्षु आदि इन भौतिक इन्द्रियों से प्राप्त करना चाहे यह उसकी अति भूल है, क्योंकि वह अभौतिक है। वह है अवश्य, यही कहा जा सकता है, क्योंकि यह दृश्यमान संसार किसी कर्त्ता की ओर संकेत कर रहा है। जहां नियम और व्यवस्था देखी जाती है, वहां नियामक और व्यवस्थापक का अवश्य बोध होता है। प्रकृति जड़ और चेतन अधीन होता है, जड़ स्वयं कोई चेष्टा और सुनियोजित परिणितता को प्राप्त नहीं हो सकती उसको जानने का यही उपाय है, वह है, और सृष्टि का, जीवों के कर्मफलों की व्यवस्था का यथार्थ विधान करता है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यै देवैस्तपसा कर्मणा वा।।[5]

उस ब्रह्म को कोई आंखों से देखना चाहे तो नहीं देख सकता, क्योंकि वह स्थूल नहीं, अवयव रहित,

---

1. कठोपनिषद् 6/6
2. कठोपनिषद् 6/7
3. कठोपनिषद् 6/9
4. कठोपनिषद् 6/12
5. मुण्डको. 3/1/8

निराकार है, ये भौतिक चक्षु सावयव को ही देख सकता है। न वह वाणी से ही बखान किया जा सकता है, क्योंकि वह वाणी का भी विषय नहीं, और न ही अन्य इन्द्रियों से ही ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि ये सब परिच्छिन्न अर्थात् सीमित शक्ति वाली हैं।

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।।[1]

अर्थात् मन के साथ वाणी आदि सभी इन्द्रियां जिस बह्म को बिना प्राप्त किये ही लौट आती हैं, क्योंकि इन्द्रियां परिच्छिन्न हैं। उस अनन्त ब्रह्म को इनसे प्राप्त नहीं किया जा सकता।

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।।[2]

अर्थात् जहां से मन के साथ वाणी आदि इन्द्रियां बिना ब्रह्म को प्राप्त के लौट आती हैं क्योंकि वह इनकी प्राप्ति की सीमा से रहित है।

11. इन्द्रियों के आत्मानुकूल होने पर ईश्वर का साक्षात्कार होता है-

हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।।[3]

उसे तो मनीषी ही हृदयरूपी गुफा में अथवा ज्ञान रूपी दिव्य नेत्र से मन आदि इन्द्रियों को वश में करके योगसमाधि में ही उस का साक्षात्कार=अनुभव होता है, इस प्रकार के जानने वाले ही मुक्ति प्राप्त करते हैं।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।[4]

जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन के साथ समाहित होकर आत्मा में ठहर जाती हैं आत्मानुकूल हो जाती हैं, और बुद्धि भी तर्क-वितर्क से रहित होकर आत्मभाव को प्राप्त हो जाती है और इन सबको वश में करके आत्मा परमात्मा के ध्यान में मग्न हो जाता है, तब उसको ईश्वर का साक्षात्कार होकर मुक्ति प्राप्त होती है।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगी हि प्रभवाप्ययौ।।[5]

उस इस प्रकार की चित्तवृत्तियों के निरोध को, मन आदि इन्द्रियों की स्थिरता को, जो योग के रहस्य को समझ लेते हैं, वे ही प्रमाद-आलस्य रहित होकर तब योगी बनते हैं, और निश्चय से पूर्व के दुष्ट संस्कारों की उत्पत्ति का विनाश करके, अन्य अशुभों को उत्पन्न नहीं होने देते, तब आत्मस्वरूप की स्थिति प्राप्त होती है, योग में मन लगता है, इससे भिन्न कुसंस्कार वालों का कभी समाधि में मन नहीं लग सकता, न वे इस ब्रह्मविद्या को सुन और जान सकते हैं, ऐसा तू निश्चय ज्ञान।

12. इन्द्रियों का अस्तित्व प्राण से ही संभव है, प्राण इन्द्रियों का रक्षक है, इन्द्रियों से श्रेष्ठ है।

(क) या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः।।[6]

1. तैत्तिरीयो. अनु. 4/1
2. तैत्तिरीयो. अनु. 9/1
3. कठो. 6/9
4. कठो. 6/10
5. कठो. 6/11
6. प्रश्नोपनिषद् 2/12

इन्द्रियां प्राणों से प्रार्थना करती हैं कि हे प्राण! जो तेरा विस्तार वाणी में, कान और आंख आदि ज्ञान और कर्मेन्द्रियों में है, मन में फैला हुआ है। उसको कल्याणकारी कर, हम को छोड़कर मत जा, क्योंकि हम आप के बिना जीवित नहीं रह सकतीं। आप ही हमारे रक्षक पालकादि हो।

(ख) छान्दोग्योपनिषद् में इस विषय में बहुत ही सुन्दर प्रसंग आता है-

अथ ह प्राणा अहꣳ श्रेयसि व्यूदिरेऽहर श्रेयानस्म्यहꣳ श्रेयानस्मीति।।[1]

एक बार प्राण और इन्द्रियां अपनी श्रेष्ठता के लिए परस्पर विवाद करने लगे कि मैं श्रेष्ठ हूँ-मैं श्रेष्ठ हूँ।

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति।।[2]

तब उन प्राणों ने अपने पिता प्रजापति के पास जाकर पूछा 'भगवन्! हममें से श्रेष्ठ कौन है?' तब प्रजापति ने उत्तर दिया कि 'तुममें से जिस तत्त्व के निकल जाने पर शरीर अत्यन्त पापिष्ठ दिखाई देने लगे, वही तत्त्व श्रेष्ठ है।'

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक्।।[3]

वाक् इन्द्रिय ने उत्क्रमण किया, अर्थात् शरीर से बाहर चली गयी। उसने एक वर्ष तक प्रवास में रहने के बाद वापस लौटकर पूछा-'मेरे बिना तुम जीवित रहने में कैसे समर्थ रह सके?' तब इन्द्रियों ने कहा-जिस प्रकार गूँगा वाणी से बिना बोले हुए भी प्राण से श्वासोच्छ्वास करता है, नेत्रों से देखता है, कानों से सुनता है और मन से चिन्तन करते हुए जीवनयापन करता है। उसी प्रकार ऐसा सुनकर वागिन्द्रिय ने शरीर में पुनः प्रवेश किया।

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथान्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः।।[4]

चक्षु ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक प्रवास में रहने के प्श्चात् वापस लौटकर पूछा 'मेरे बिना तुम जीवित कैसे रह सके?, 'जिस प्रकार नेत्रहीन नेत्रों से देख नहीं सकता, तो भी प्राणों से श्वासोच्छ्वास करते, वाणी से बोलते, कानों से श्रवण करते और मन से चिन्तन करते हुए जीवित रहता है, उसी प्रकार, ऐसा सुनकर नेत्र ने पुनः प्रवेश किया।

श्रोत्रꣳहोच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बधिरा अश्रृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम्।।[5]

श्रोत्र ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक प्रवास में रहने के उपरान्त पुनः लौटकर पूछा- हमारे बिना तुम कैसे जीवित रहे? तब अन्य इन्द्रियों ने कहा- 'जिस प्रकार बधिर बिना सुने, प्राण से प्राणन करते, वाणी से

---

1. छान्दोग्य. 5/1/6
2. छान्दोग्य. 5/1/7
3. छान्दोग्य. 5/1/8
4. छान्दोग्य. 5/1/9
5. छान्दोग्य. 5/1/10

बोलते, चक्षु से देखते और मन से चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम भी जीवित रहे।' यह सुन करके श्रोत्र ने शरीर में पुनः प्रवेश किया।

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकततेर्ते मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः॥[1]

मन ने बाह्य गमन किया। एक वर्ष तक प्रवास में रहने के बाद लौटकर उसने वाक् आदि इन्द्रियों से पूछा कि 'मेरे बिना तुम किस प्रकार जीवित रहे?' 'जिस प्रकार छोटे बच्चे, जिनका कि मन विकसित नहीं होता, प्राण द्वारा श्वासोच्छ्वास करते, वाणी से बोलते, चक्षु से देखते, कर्णों से श्रवण करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार।' यह सुनकर मन ने शरीर में पुनः प्रवेश किया।

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथासुहयः पड्वीशशङ्कूनसंखि-देदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तꣳ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति॥[2]

फिर प्राण बहिर्गमन करने के लिए तत्पर होता है। जिस तरह शक्तिशाली अश्व पैर बाँधने की कीलों को उखाड़ देता है, उसी प्रकार प्राण ने समस्त इन्द्रियों के बन्धन से अपने आप को मुक्त किया। तब उन सबने प्राण से निवेदन किया कि 'भगवन्! आप अपने ही स्थान पर रहें, आप ही हम सब में श्रेष्ठ हैं, आप बाहर न जाएँ'।

अथ हैनꣳ वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति॥[3]

तत्पश्चात् उस वागिन्द्रिय ने मुख्य प्राण से कहा– 'मैं जो वसिष्ठ हूँ, वह वसिष्ठ आप ही हैं।' चक्षु ने कहा– ''मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, सो प्रतिष्ठा आप ही हैं।''

अथ हैनꣳ श्रोत्रमुवाच यदहꣳ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति॥[4]

फिर उस श्रोत्र ने कहा कि 'मैं जो सम्पद्' हूँ, सो वह सम्पद् आप ही हैं। उस मुख्य प्राण से मन ने कहा– मैं जो आयतन हूँ, वह आयतन आप ही हैं।

न वै वाचो न चक्षूꣳषि न श्रोत्राणि न मनाꣳसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति॥[5]

इसलिए लोक में वाक् आदि समस्त इन्द्रियों को न वाणी, न नेत्र, न श्रोत्र और न ही मन; बल्कि सबको 'प्राण' नाम से ही सम्बोधित करते हैं, क्योंकि ये सभी प्राण ही हैं।

(ग) कुछ ऐसा ही प्रसंग बृहदारण्यक उपनिषद् में आता है–

अथातो व्रतमीमांसा प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे

1. छान्दोग्य. 5/1/11
2. छान्दोग्य. 5/1/12
3. छान्दोग्य. 5/1/13
4. छान्दोग्य. 5/1/14
5. छान्दोग्य. 5/1/15

द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यम प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिरे। अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरँश्चासंचरँश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति। त एतस्यैव सर्वे रूपमभवँस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति। तेन वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद। य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम्॥[1]

अब पितृलोक को कर्म से जीतने के विषय में कहते हैं। इसके लिये सर्वप्रथम व्रत की मीमांसा विचार करते हैं, प्रजापति ने कर्म साधन इन्द्रियों को रचा। उनमें एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या होने लगी, इस कारण वाणी ने व्रत लिया कि मैं सदा बोलती ही रहूंगी, आंखों ने कहा मैं देखती ही रहूंगी और कानों ने कहा कि मैं सुनता ही रहूंगा, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों ने भी स्व-स्व कार्य की सामर्थ्यता का व्रत लिया। मृत्यु थक कर उनके पास गई, और उनको प्राप्त होकर मृत्यु ने उनको कर्म करने से रोक दिया। जिसके फलस्वरूप वाणी थक जाती है, कान भी सुनना बन्द कर देते हैं, चक्षु भी देखने में असमर्थ हो जाते हैं, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियां भी स्वकार्य में असमर्थ हो जाती हैं, परन्तु जो शरीरगत प्राण है उसे मृत्यु ने नहीं रोका, वह स्वकार्यरत ही रहा, तब इन्द्रियों ने यह समझ लिया कि यही प्राण हममें श्रेष्ठ है, जो सदा चलता हुआ थकता ही नहीं है। इसलिये आओ, हम सब इसी के अनुव्रती हो जायें। वे सब उनकी अनुगामी हो गई, इसी कारण सब ही इन्द्रियों को प्राण नाम से भी पुकारते हैं, क्योंकि जो जिस कुल में जन्म लेता है उसको भी उसी कुल से पुकारने लगते हैं। जो इस रहस्य को सम्यक्तया जान लेता है वह फलता-फूलता है और जो आपस में ईर्ष्या करता है वह सूखकर और अन्त में मर जाता है। इस प्रकार इससे शरीरगत प्राण की महता प्रकट की गई।

13. योगाभ्यास से मनादि इन्द्रियों का नियंत्रण-

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥[2]

उस परमात्मा को न नेत्र से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से और तप अथवा कर्म से ही। ज्ञान के प्रसाद से पुरुष विशुद्ध चित्त हो जाता है अर्थात् जो इन्द्रियों पर संयम करता है संयमी है तथा ब्रह्मज्ञान से युक्त है जिस पर उसकी कृपा हो गई है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध-पवित्र हो गया है, वह योगाभ्यास करता हुआ उस निराकार अनन्त जगदीश के दर्शन करता है।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
विहोत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥[3]

जो वेद शास्त्रों के ज्ञाता, ईश प्राप्ति के इच्छुक हैं, वे मनादि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर बुद्धि को भी समाहित करके आत्मा के साथ संयुक्त कर देते हैं, और आत्मा को सबसे महान् ज्ञानी, सबका पूजनीय, सारे संसार का उत्पादक और सबके कर्मों का जानने वाला, अद्वितीय परमात्मा होता के साथ जोड़कर

---

1. बृहदारण्यक. 1/5/21
2. मुण्डको. 3/1/8
3. श्वेताश्व. 2/4

योगशास्त्रानुसार समाधि लगाते हैं, अच्छे प्रकार उसकी स्तुति-प्रार्थना और उपासना करते हैं, वही उस ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। इन्द्रियों के दास और असमाहित चित्तवाले कभी उस ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकते।

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥[1]

प्राणायाम की विधि को बतलाते हुए कहते हैं कि इधर-उधर से बाह्यवृत्तियों को रोककर प्राणों को श्वास को पहले अच्छे प्रकार अन्दर लेवे इसे पूरक कहते हैं। फिर इसी अवस्था में कुछ काल भीतर ही रोके रखें इसे आभ्यान्तरकुम्भक कहते हैं। जब श्वास घुटने लगे तब धीरे-धीरे नासिका के द्वारों से बाहर निकाल देवे, इसे रेचक कहते हैं, उसी प्रकार कुछ देर श्वास को बाहर ही रोके रक्खे, इसको बाह्यकुम्भक कहते हैं, इस प्रकार का मुख्य प्राणायाम कहते हैं। शेष इन्हीं के भेद-प्रभेद हैं। जैसे- भस्त्री प्राणायाम, भ्रामरी प्राणायामादि। प्राणायाम से धातुओं से मल नष्ट होते हैं, जैसे अग्नि से धातु जंग नष्ट हो जाता है, और इन्द्रियां वश में होती है। जैसे दुष्ट घोड़ों को वश में करके रथ को सीधा चलाया जाता है। इस प्रकार आलस्य-प्रमाद रहित होकर कम से कम तीन बार प्राणायाम अवश्य करें।

14. परमात्मा में इन्द्रियों का अस्तित्व नहीं है (परमात्मा इन्द्रिय रहित है)-

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥[2]

हे मनुष्यो! उस महान् प्रभु में सभी इन्द्रियों के गुण विद्यमान होते हुए भी, इन्द्रियों से पृथक् है। अर्थात् मानव जैसी स्थूल व सूक्ष्म इन्द्रियां उसमें नहीं हैं, क्योंकि वह निराकार है। और वह सबका स्वामी है, सबको आश्रय देने वाला है। जैसे माता-पिता अपनी संतान को चाहे कैसी भी हो, उसको पालते हैं, उसकी रक्षा करते हैं, वैसे ही वह इन सांसारिक माता-पिताओं से महान् होने से सब का ध्यान रखता है। सबको जल, वायु, प्रकाशादि देता है, पक्षपात नहीं करता है।

नवद्वारे पुरे देही हꣳसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥[3]

इस शरीर रूपी नगरी में, दो आंख, दो कान, दो नासिक, एक मुख और उपस्थ, गुदा इन्द्रियां ही नौ द्वार हैं, जिसका जीवात्मा उपभोग करता है, इस में प्रकाशित विराजमान है। जब उसको क्षीण देखता है तब हंसवत् इसमें से उड़ निकल जाता है। अथवा इसमें रहकर मोक्ष प्राप्त करके इसे त्याग देता है। दूसरा इस संसाररूपी नगरी का सम्पूर्ण इस भूमण्डल का, चर-अचर लोकों का स्वामी एकमात्र ईश्वर है, जो इसमें रहता हुआ भी इसमें लिप्त नहीं होता। यही उस हंसरूप ब्रह्म की महानता है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥[4]

---

1. श्वेताश्व. 2/9
2. श्वेताश्व. 3/17
3. श्वेताश्व. 3/18
4. श्वेताश्व. 3/19

हे मनुष्यो! वह निराकार ब्रह्म हाथ, पैर, चक्षुः, श्रोत्र आदि से रहित होता हुआ भी सबको पकड़े हुए है, सर्वत्र गतिशील है, सबको, सब समय, सब स्थानों में शुभाशुभ कर्म करते हुए देखता है और सबकी सुनता है, कोई उसे पुकारे याद तो करे पर दुःख में ही ऊपर ऊपर से पुकारते हैं, सुख में सब भूले रहते है, सुख में भी उसे याद रखे तब ही तो वह सुख-शान्ति देगा, रक्षा करेगा। वह सब कुछ को जानता है, क्योंकि वह सर्वज्ञानमय है, सर्वज्ञ है, परन्तु उसका पूर्णरूप से कोई नहीं जान सकता, क्योंकि वह असीम है, मानव असीम, अल्पज्ञ और एक देशी है। और उसी महान् पुरुष को सृष्टि से पूर्व भी विद्यमान मानते हैं, ऐसा सब वेदशास्त्रों का कथन है।

महत्वपूर्ण बिंदु-

- आत्मा अमर और शाश्वत है।
- मन इन्द्रियों का नियंत्र्क है।
- इन्द्रिय-निग्रह आत्मज्ञान का साधन है।
- आत्मा शरीर से भिन्न है।

शब्दावली-

आत्मा - जीव चेतना

इन्द्रिय - ज्ञान प्राप्ति का साधन

मन - विचार शक्ति

आत्मज्ञान - आत्मा का ज्ञान

निग्रह - नियंत्रण

5 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषदों में आत्मा का स्वरूप क्या बताया गया है?
2. मन का मुख्य कार्य क्या है?
3. इन्द्रियाँ कितने प्रकार की होती हैं?
4. आत्मा और शरीर में क्या अंतर है?
5. मन को नियंत्रित करना क्यों आवश्यक है?

15 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. मन एवं इन्द्रियों के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
3. आत्मा, मन और शरीर का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. उपनिषदों में आत्मज्ञान का महत्व बताइए।
5. इन्द्रिय-निग्रह के साधनों का वर्णन कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. आत्मा को उपनिषदों में क्या कहा गया है?

(क) नश्वर

(ख) शा श्वत

(ग) दु:खमय

(घ) परिवर्तनशील

2. मन का संबंध किससे है?

(क) विचार

(ख) भोजन

(ग) व्यापार

(घ) युद्ध

3. इन्द्रियों का कार्य क्या है?

(क) ज्ञान प्राप्त करना

(ख) शासन करना

(ग) धन कमाना

(घ) युद्ध करना

4. आत्मा कैसी है?

(क) अमर

(ख) नाशवान

(ग) दु:खी

(घ) सीमित

5. मन को नियंत्रित करने का माध्यम क्या है?

(क) योग

(ख) युद्ध

(ग) व्यापार

(घ) निद्रा

इकाई-2.2 उपनिषदों में शिक्षा व्यवस्था

उद्देश्य-

1. उपनिषदकालीन शिक्षा प्रणाली को समझना।
2. गुरु-शिष्य परंपरा का अध्ययन करना।
3. शिक्षा के आध्यात्मिक उद्देश्य को जानना।

भारतीय ज्ञान परम्परा में गुरु-शिष्य परम्परा से जो शिक्षा व्यवस्था हमारे उपनिषदों में वर्णित है वह अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न उच्च भाव चेतना ऋतम्भरा प्रज्ञा से युक्त व्यक्तित्व निर्माण से विश्व कल्याण की पावनी परम्परा रही है। यहाँ पर तैत्तिरियोपनिषद् में वर्णित शिक्षा व्यवस्था का किचिंत वर्णन किया जा रहा है। शिक्षा वल्ली के द्वितीय अनुवाक में कहा है-

वर्ण, स्वर, मात्रा बल और इनके मेल से शब्द-सन्तान या संहिता को कहा है।

शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्।

साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।[1]

इसके बाद 'शब्द-ज्ञान' में 'साम'-अर्थात् समता (Harmony) से उच्चारण करना आना चाहिये, ऊंचे-नीचे बोलने का ढंग आना चाहिये। वर्ण, स्वर, मात्रा, बल और साम के ज्ञान के अनन्तर शब्दों का 'सन्तान' प्रारम्भ हो जाता है, शब्दों से वाक्य और वाक्यों से ग्रन्थ बन जाते हैं। यही शब्दों का सन्तान है, फैलाव है। इस प्रकार वर्णों से प्रारंभ करके वर्णों की सन्तान तक पहुंच जाने में ही सब शिक्षा समा जाती है।

शिक्षा वल्ली के तृतीय अनुवाक में कहा है कि अक्षर अभ्यास की संहिता जीवन में महासंहिता बन जानी चाहिये।

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः सꣳहिताया
उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पंचस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधि
विद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासꣳहिता इत्याचक्षते।।[2]

शब्द-ज्ञान कराकर गुरु-शिष्य दोनों मिलकर कहते हैं-'सह नौ यशः सह नौ ब्रह्मवर्चसम्-हम दोनों का यश एक-साथ बढ़े, हम दोनों का ब्रह्म-तेज एक-साथ बढ़े।

अभी कहा कि 'वर्णों' से प्रारम्भ करके 'वर्णों' की सन्तान' तक पहुंच जाना ही शिक्षा है। 'वर्णों की सन्तान' का अर्थ है, वर्णों का आपस में मिलना-जुलना। वर्णों के इस मेल-जोल को ही 'संहिता' कहते हैं। जैसे माता-पिता के मेल से सन्तान होती है, वैसे वर्णों के मेल से, उनकी 'संहिता' से 'शिक्षा' प्रारम्भ होती है।

'संहिता' से 'ज्ञान' का उदय होता है, पांच 'महा-संहिता' से 'उपनिषद्-ज्ञान' का उदय होता है। कठोपनिषद् में यमाचार्य ने भी नचिकेता को सन्धि में से गुजरने का उपदेश दिया है।

1. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/2/1
2. तैत्तिरीयोपनिषद्, 1/3/1

अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्।
आकाशः सन्धिः वायुः सन्धानम्। इत्यधिलोकम्।।[1]
अथाधिजौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्।
आपः सन्धिः। वैद्युतः सन्धानम्। इत्यधिज्यौतिषम्।।[2]
अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्।
विद्या सन्धिः। प्रवचनꣳसन्धानम्। इत्यधिविद्यम्।।[3]
अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्।
प्रजा सन्धिः। प्रजननꣳसन्धानम्। इत्यधिप्रजम्।।[4]
अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनूत्तररूपम्।
वाक् सन्धिः। जिह्वा सन्धानम् । इत्यध्यात्मम्।।[5]
इतीमामहासꣳहिता। य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद।
सन्धीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन।।[6]

इन पाँच महासन्धियों का वर्णन जो यहां प्रस्तुत किया गया है वह हमारी प्राचीन शिक्षा का अत्यन्त ही उच्चतम, श्रेष्ठतम, आदर्श था। जिसकी आज महती आवश्यकता है। इन पाँच महासन्धियों की प्रक्रिया से जिस व्यक्तित्व का निर्माण होता है वह नर से नारायण, मानव से महामानव बनने का सामर्थ्य अर्जित कर लेता है।

विद्या में महासन्धि का अभिप्राय है कि-विद्या का उद्गम स्थल आचार्य है, विद्या का लक्ष्य शिष्य है, अन्तेवासी है, अतः आचार्य पूर्व रूप है, शिष्य उत्तर रूप है। गुरु-शिष्य का मेल विद्या द्वारा होता है, अतः विद्या सन्धि है। विद्या की भी अभिव्यक्ति प्रवचन से होती है, अतः प्रवचन सन्धान है। वर्णों की संहिता की तरह यह विद्या की महासंहिता है। विद्या के क्षेत्र आचार्य अन्तेवासी विद्या तथा प्रवचन मानो एक-एक वर्ण है। जैसे भिन्न-भिन्न वर्णो की सन्धि से एक अभिन्न अक्षर उत्पन्न होता है, वैसे आचार्य अन्तेवासी, विद्या तथा प्रवचन की महासन्धि से, महासंहिता से, ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है।

शिक्षावल्ली के नवं अनुवाक में ऋत् के पालन करने तथा स्वाध्याय करने का विशेष उपदेश दिया गया है-

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति

1. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/3/2
2. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/3/3
3. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/3/4
4. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/3/5
5. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/3/6
6. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/3/7

सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥[1]

जो सब सत्य विद्या से युक्त, सर्वज्ञानमय, ईश्वर की वेदवाणी तीनों कालों में एक समान रहने वाली है, उसका नित्य स्वयं स्वाध्याय करें और दूसरों को सुनावें। मन, वाणी और कर्म में कभी अनृत और मिथ्या आचरण न करना। भूख-प्यास, गर्मी, सर्दी, मान-अपमानरूप द्वन्द्वों को सहना, आत्मकल्याण व राष्ट्र कल्याण के कार्यों में भयंकर से भयंकर आपत्ति आये तो भी न घबराना। अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखना, इन्द्रियों का दास न बनें, स्वामी बनें। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकाररूप अन्तःकरण चतुष्टय को शान्त-सुविचारों वाला रखना। ब्रह्मचर्य का पालन, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ, संन्यास और योगरूप पञ्च अग्नियों का समयानुसार स्वजीवन में पालन करके ईश प्राप्ति करना। नित्य दोनों समय यज्ञ सन्ध्या का अनुष्ठान करना और शुभ कर्म करना। अतिथि यज्ञ का व्रत धारण करना, मातृ, पितृ और ऋषि ऋण से उर्ऋण होना। उत्तम सन्तान को जन्म देना तथा उसे ईश्वर भक्त व राष्ट्र भक्त बनाना। जब पुत्र के पुत्र उत्पन्न हो जाय तब गृहस्थाश्रम का और तीनों ऐषणाओं (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा) का परित्याग करके वानप्रस्थ अथवा संन्यास आश्रम धारण करके साधना, स्वाध्याय और वेद, योग, यज्ञ, आयुर्वेद का प्रचार-प्रसार ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में करना। इन सब कर्मों के करते हुए भी स्वाध्याय और वेदोपदेश का त्याग कभी न करें।

जीवन में सत्य का धारण करना ही श्रेष्ठ है, ऐसा सत्यवक्ता रथीतर का पुत्र राथीतर का मत है। सत्यवादी कभी किसी से डरता नहीं। और स्वाध्याय प्रवचन जीवन पर्यन्त करते रहना ही सबसे श्रेष्ठ कार्य है, ऐसा मुद्गल ऋषि का पुत्र 'नाक' का कहना है क्योंकि वेद के प्रचार-प्रसार से व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में अविद्या, पाखण्ड नहीं पनप सकती है।

इसी प्रकार ऋषि अपने शिष्यों को दीक्षान्त समारोह के अवसर पर स्वाध्याय का उपदेश देते हैं-

वेदादि सत्यशास्त्रों का, ऋषिप्रणीत ग्रन्थों का नित्य स्वाध्याय करना, स्वाध्याय में आलस्य प्रमाद नहीं करना। अर्थात् वेदादि शास्त्रों के पठन-पाठन में कभी प्रमाद न करना।

उपनिषदों में ऋषियों ने स्वाध्याय के महत्व का भी प्रतिपादन किया है। हमारे जीवन में स्वाध्याय का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यह न केवल हमें मनोविकारों से बचाता है अपितु हमारे मन को श्रेष्ठता, सूक्ष्मता, दिव्यता, शुद्धता, पवित्रता, प्रसन्नता आदि से ओत-प्रोत कर हमारी चेतना को भी उर्ध्वगामी बनाता है।

सम्पूर्ण विद्या अध्ययन के पश्चात् आचार्य के द्वारा अन्तेवासी को उसके जीवन की दिव्यता के लिए दीक्षान्त समारोह में दिया गया उपदेश-

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥[2]

सांगोपांग वेद को पढ़ाने के पश्चात् आचार्य अपने शिष्य को दीक्षान्त समारोह के अवसर पर निम्नरूप में उपदेश देते हैं। हे पुत्र! तू अपने जीवन में सदा सत्य और धर्म का पालन ही करते रहना, असत्य,

1. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/9/1
2. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11/1

अधर्म का आचरण कभी मत करना। वेदादि सत्यशास्त्रों का, ऋषिप्रणीत ग्रन्थों का भी नित्य स्वाध्याय करना। अश्लील, क्षुद्र पुरुषों की पुस्तक कभी मत पढ़ना। आचार्य को जो कुछ भी श्रद्धा रूप प्रिय धनादि वस्तु हो उसे अवश्य दक्षिणा में देकर, उनसे आज्ञा लेकर गृहस्थ में जाना चाहे तो अवश्य जाकर उत्तम सन्तान पैदा करना। गृहस्थाश्रम की मर्यादाओं को, पञ्चमहायज्ञों की परम्परा को कभी मत तोड़ना। सत्य व्यवहार से, धर्म कार्यों से, अपने कल्याणकारी कार्यों से, धनैश्वर्य-प्राप्ति के लिये और वेद के पठन-पाठन में कभी प्रमाद न करना।

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकꣳसुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥[1]

हे प्रिय शिष्य! ब्रह्मयज्ञ, अग्निहोत्र, और पितृकार्य अर्थात् जीवित माता, पिता, दादा, दादी और वृद्ध जनों की सेवा में कभी आलस्य-प्रमाद मत करना, नित्य इनका अनुष्ठान करना। क्योंकि माता-पिता, आचार्य और विद्वान् अतिथि इनको देव समान मानकर सेवा करना। देवता वही है जो हमको जीवन कल्याणार्थ कुछ देवे। ये हमारा लालन पालन पोषण करते हैं और उत्तम शिक्षा देते हैं, इसलिये 'देव' कहते हैं।

हे स्वकल्याण इच्छुक शिष्य! तू अपने जीवन में उन्हीं कर्मों का आचरण करना जो निन्दित न हों, शिष्ट सम्मत हों, अशिष्ट और निन्दित कर्मों को कभी मत करना। हमारे जीवन में भी जो सुचरित्र हैं, उन्हीं का आचरण करना, मनुष्य के नाते से हम में भी कोई दुर्गण हों तो उसे मत अपनाना।

ये के चास्मच्छेयाँसो ब्राह्मणाः, तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धयादेयम् अश्रद्धया देयम्। श्रियादेयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्॥[2]

हे शिष्य! और जो हम से भी उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव विद्यायुक्त वेदज्ञ ब्राह्मण हैं, उनकी आसन से, भोजनादि से अच्छे प्रकार सेवा करना। योग, यज्ञ, याग, गो-राष्ट्रकार्यों में या लोक कल्याण के कार्यो में और वेदविद्या व योगविद्या के प्रचार-प्रसार में यथाशक्ति श्रद्धा से, बिना श्रद्धा के, धन-सम्पत्ति होने पर, अथवा कम होने पर, लोक-लज्जा के भय से अच्छे प्रकार जानकर देश-काल, योग्यतानुसार अवश्य दान देना चाहिये।

अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामा स्युः। यथा ते तत्र वर्त्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामा स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तत्रवर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम् । एवमुचैतदुपास्यम्॥[3]

हे शिष्य! तुझे कहीं कर्मों के शुभाशुभ अनुष्ठान में सन्देह हो अथवा आचार, व्यवहार में उलझन दृष्टिगोचर हो तो उस समय जो वेदज्ञ, चिन्तन, मननशील, परामर्श देने में समर्थवान् हों, चाहे वे स्वयं उस कार्य में लगे हों, चाहे किन्हीं के द्वारा नियुक्त किये गये हों, कठोर, कर्कश स्वभाव युक्त न हों, और धर्म

1. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11/2
2. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11/3
3. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11/4

की वृद्धि चाहने वाले हों, वे जैसे आचरण करें, तुम भी वैसा ही करना, स्वेच्छानुसार मत चलना, मनमानी मत करना।

और तुम्हारे मन में ही विवादास्पदों में सन्देह हो। अर्थात् जो दोष तुम्हें, वा किसी को लगाया गया हो उसमें संशय हो कि यह अनुचित है तो वहां भी उपरोक्त गुण युक्त ही विद्वानों का निर्णय ही तुम्हें स्वीकार होना चाहिये, उसमें 'मेरी मानी जाय ऐसा विचार नहीं करना चाहिए।' यही मेरा आपको अन्तिम उपदेश है, और यही वेद-उपनिषदों का सार है, यही अनुशासन है, इसी का अनुष्ठान करना चाहिये, इसके ही आचरण से मानव का कल्याण होता है। समाज तथा राष्ट्र की उन्नति होती है, और विश्व में सुख-शांति फैलती है। आज इस शिक्षा का अभाव है, इसीलिये विद्यार्थी उद्दण्ड और मातृ-पितृ, गुरु और गो-राष्ट्र भक्ति से हीन हैं, सर्वत्र अशान्ति है, भय है, कायरता, कमजोरी है। आलस्य प्रमाद है, शोक विषाद है। अन्य ग्रन्थों में भी इसी विषय में उपदेश दिया गया है।

महत्वपूर्ण बिंदु-

- गुरुकुल शिक्षा का प्रमुख केंद्र था।
- गुरु-शिष्य संबंध अत्यंत पवित्र माना जाता था।
- शिक्षा का उद्देश्य आत्मज्ञान था।
- ब्रह्मचर्य और अनुशासन को महत्व दिया गया।

शब्दावली-

गुरुकुल - शिक्षा आश्रम

ब्रह्मचर्य - संयमपूर्ण जीवन

अनुशासन - नियम पालन

आचार - व्यवहार

आत्मज्ञान - आध्यात्मिक ज्ञान

5 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषदकालीन शिक्षा का मुख्य उद्देश्य क्या था?
2. गुरु-शिष्य परंपरा क्या है?
3. आश्रम व्यवस्था का महत्व बताइए।
4. ब्रह्मचर्य का क्या अर्थ है?
5. शिक्षा में आचार का क्या महत्व था?

15 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषदों में वर्णित शिक्षा व्यवस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. गुरु-शिष्य संबंध की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. उपनिषदकालीन और आधुनिक शिक्षा व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. ब्रह्मचर्य और अनुशासन का महत्व स्पष्ट कीजिए।

5. उपनिषदों में शिक्षा के नैतिक मूल्यों की विवेचना कीजिए।

बहु विकल्पीय-

1. उपनिषदकालीन शिक्षा का केंद्र क्या था?

(क) गुरुकुल

(ख) विद्यालय

(ग) विश्वविद्यालय

(घ) सभा

2. गुरु-शिष्य परंपरा किस पर आधारित थी?

(क) धन

(ख) अनुशासन

(ग) युद्ध

(घ) राजनीति

3. ब्रह्मचर्य का संबंध किससे है?

(क) संयम

(ख) व्यापार

(ग) राजनीति

(घ) मनोरंजन

4. शिक्षा का उद्देश्य क्या था?

(क) आत्मज्ञान

(ख) धन कमाना

(ग) युद्ध

(घ) मनोरंजन

5. उपनिषदों में शिक्षा किसके माध्यम से दी जाती थी?

(क) पुस्तक

(ख) संवाद

(ग) परीक्षा

(घ) लेखन

इकाई- 2.3 उपनिषदों में राजनैतिक व्यवस्था

उद्देश्य-

1. उपनिषदकालीन राजनीतिक व्यवस्था को समझना।
2. राजा और प्रजा के संबंधों का अध्ययन करना।
3. धर्म आधारित शासन प्रणाली को जानना।

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही अध्यात्मिक व्यवस्था के साथ-साथ, शिक्षा-चिकित्सा व्यवस्था, आत्मरक्षा से लेकर राष्ट्ररक्षा व्यवस्था, आर्थिक, राजनैतिक व्यवस्था अत्यन्त समर्थ एवं सम्पूर्ण विश्व में अग्रणी थी। जिसके मूल में ऋषियों का ज्ञान एवं चरित्रवान बुद्धिमान, बलवान, प्रज्ञावान, धीर-वीर-गम्भीर, प्रजावत्सल राजाओं का त्याग व तपपूर्ण जीवन था। जिनके राज्य में सभी प्रजाजन सुखी, समृद्धशाली रहते थे। यहाँ पर छान्दोग्योपनिषद् के पाँचवें प्रपाठक में वर्णित एक प्रसंग प्रस्तुत किया जा रहा है जो प्राचीन भारत के राज्य व्यवस्था का सर्वोत्तम उदाहरण है-

अश्वपति राजा का वैश्वानर-ब्रह्मा के सम्बन्ध में उपमन्यु आदि ऋषियों को उपदेश देते हुए कहते हैं-

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो
बुडिल आश्वतराश्विस्ते हेते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमाꣳसाञ्चक्रुः
को नु आत्मा किं ब्रह्मेति॥[1]

उपमन्यु गोत्रोत्पन्न प्राचीनशाल, पुलुष का वंशज सत्ययज्ञ, भल्लव का वंशज इन्द्रद्युम्न शर्कराक्ष का वंशज जन और अश्वताराश्व गोत्रोत्पन्न बुडिल जो बड़ी-बड़ी महल अट्टालियों के स्वामी थे और वेदों के भी ज्ञाता थे। एक समय इकट्ठे होकर विचार किया कि आत्मा और ब्रह्म क्या है?

ते ह संपादयाञ्चक्रुरूद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं
वैश्वानरमध्येति तꣳहन्ताभ्यागच्छामेति तꣳहाम्याजग्मुः॥[2]

उक्त विचार के पश्चात् वे उद्दालक ऋषि के पास पहुंचे, क्योंकि वे ही वैश्वानर-आत्मा की खोज में लगे हुए थे।

स ह संपादयाञ्चकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो
न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति॥[3]

जब वे उद्दालक के पास गये तो उद्दालक ऋषि ने विचार किया कि, ये जहां धन-धान्य से भरपूर हैं वहां शास्त्रज्ञ भी हैं, इसलिये इनके सभी प्रश्नों का उत्तर अच्छे प्रकार न दे सकूँ, इन्हें किसी अन्य गुरु के पास भेज दूं।

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 5/11/1
2. छान्दोग्योपनिषद् 5/11/2
3. छान्दोग्योपनिषद् 5/11/3

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेय संप्रतीममात्मानं
वैश्वानरमध्येति तꣳहन्ताभ्यागच्छामेति तꣳहोभ्याजग्मुः॥[1]

उनको ऋषि बोले कि, हे महानुभावो! कैकेय देश का राजा अश्वपति इस समय वैश्वानर के अन्वेषण में संलग्न हैं। इसलिये आओ हम सब उन्हीं के पास चलें, ऐसा विचार करके वे अश्वपति के पास पहुंच गये।

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार। स ह प्रातः संजिहानच 'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः' यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति॥[2]

जब वे ऋषि अश्वपति महाराज के राजमहल में पहुंच गये, तब उनकी अलग-अलग सेवा कराई। वह प्रात:काल उठकर उन ऋषियों के पास जाकर बोले कि हे ऋषियो! मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है, कञ्जूस नहीं, मद्यप (शराबी) नहीं, ऐसा कोई गृहस्थ नहीं है जो हवन=यज्ञ किये बिना भोजन करता है न ही अविद्वान है, और न ही कोई व्यभिचारी है, फिर व्यभिचारिणी स्त्री तो हो ही नहीं सकती। महानुभावो मैं कुछ समय के पश्चात् ही एक बहुत विशाल यज्ञ करने को जा रहा हूं, उसमें जितनी दक्षिणा प्रत्येक ऋत्विक् को मिलेगी उतनी-उतनी ही आप सबको दूंगा, इसलिये आप सब तब तक यहीं निवास करें।

'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः'

राजा अश्वपति महाराज के द्वारा राज्य की इतनी सुन्दर व्यवस्थायें जिसमें किसी भी प्रकार का प्रजा में कोई विकार न हो, व्यभिचार न हो, भष्टाचार न हो, जहाँ व्यष्टि से समष्टि का सत्कार हो, उपकार हो, सदाचार हो ऐसी राजव्यवस्था वास्तव में धरा पर स्वर्ग की प्रतिष्ठा का महानुष्ठान है। किसी राजा को अपनी प्रजा पर अपने शासन व्यवस्था पर कितना विश्वास होना बहुत बड़ी बात है। वर्तमान परिस्थितियों को हम देखते हैं। तो लोकव्यवहार में, घर-परिवार में समाज में अत्यन्त ही असंतोष, अव्यवस्था, असहजता, असंयम, नशा, व्यभिचार, भ्रष्टाचार आदि का बोलबाला है। जिससे यह पता चलता है कि हम यदि धरती को, अपने राष्ट्र को स्वर्ग बनाना चाहते हैं तो राजा अश्वपति के पदचिन्हों पर चलकर ही सम्भव हो पायेगा। अर्थात् ''यथा राजा तथा प्रजा'' यदि राजा जितेन्द्रिय धीर, वीर, गम्भीर धर्मात्मा, दिव्यात्मा निष्काम सेवी होगा तो प्रजा भी वैसी बनेगी। इसमें कोई संशय नहीं है।

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 5/11/4
2. छान्दोग्योपनिषद् 5/11/5

महत्वपूर्ण बिंदु-

- शासन धर्म पर आधारित था।
- राजा प्रजा का रक्षक माना जाता था।
- न्याय और सत्य को सर्वोच्च स्थान दिया गया।
- प्रजा कल्याण शासन का मुख्य उद्देश्य था।

शब्दावली-

शासन - प्रशासन व्यवस्था
प्रजा - नागरिक
धर्म - नैतिक कर्तव्य
न्याय - निष्पक्ष निर्णय
कल्याण - भलाई

5 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषदकालीन शासन व्यवस्था कैसी थी?
2. राजा का मुख्य कर्तव्य क्या था?
3. धर्म और राजनीति का क्या संबंध था?
4. प्रजा के प्रति राजा का दायित्व क्या था?
5. न्याय व्यवस्था का महत्व बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषदों में वर्णित राजनीतिक व्यवस्था का विवेचन कीजिए।
2. राजा के कर्तव्यों और गुणों का वर्णन कीजिए।
3. धर्म आधारित शासन प्रणाली पर चर्चा कीजिए।
4. उपनिषदकालीन राजनीति और आधुनिक राजनीति की तुलना कीजिए।
5. प्रजा कल्याण की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

बहु विकल्पीय-

1. उपनिषदकालीन शासन का आधार क्या था?

(क) धर्म
(ख) धन
(ग) युद्ध
(घ) व्यापार

2. राजा का मुख्य कर्तव्य क्या था?

(क) प्रजा की रक्षा

(ख) व्यापार

(ग) मनोरंजन

(घ) धन संचय

3. न्याय व्यवस्था किस पर आधारित थी?

(क) धर्म

(ख) बल

(ग) धन

(घ) राजनीति

4. प्रजा के कल्याण का उत्तरदायित्व किसका था?

(क) राजा

(ख) व्यापारी

(ग) सैनिक

(घ) किसान

5. उपनिषदों में आदर्श शासन का आधार क्या था?

(क) सत्य और धर्म

(ख) युद्ध

(ग) कर संग्रह

(ख) शक्ति

इकाई-2.4 उपनिषदों में पंचकोश का स्वरूप

उद्देश्य-

1. पंचकोश सिद्धांत को समझना।
2. मानव शरीर के विभिन्न कोशों का अध्ययन करना।
3. आत्मा और पंचकोश के संबंध को जानना।

पञ्चकोशों का स्वरूप तैत्तिरीयोपनिषद् के भृगुवल्ली के अनुसार-

वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता के पास जाकर बोला कि मुझे ब्रह्म का उपदेश करें, ब्रह्म क्या है? और कैसे प्राप्त होता है? इस प्रश्न को सुनने के पश्चात् वरुण ने अन्न, प्राणादि को ब्रह्म कहा, इस आख्यायिका के माध्यम से पञ्चकोशों की चर्चा की गयी।

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।।[1]

उस भृगु ने तप करने के पश्चात् वास्तव में अन्न को ही ब्रह्म जाना क्योंकि अन्न से ही ये समस्त प्राणी जीवित रहते हैं, और अन्न में ही लीन हो जाते हैं।

यहाँ अन्न से तात्पर्य 'अन्नमयकोश' है, इन्हीं पांचों कोशों द्वारा उसको ब्रह्म तक ले जाना है। सर्वप्रथम 'अन्न कोश' से निर्मित इस भौतिक शरीर का बोध कराना है। यह किन-किन तत्वों से बना हुआ है, और कैसे इससे ऊपर उठकर 'प्राणमय कोशादियों' को प्राप्त करेगा। जब वह अन्नमय कोश के रहस्य को समझ गया कि वास्तव में यह भौतिक शरीर उस ईश्वर का मन्दिर है इसी साधन से उसको प्राप्त करने का पहला उपाय है। इसे स्वस्थ, नीरोग और पवित्र रखें। इसके प्श्चात् पुनः भृगु के पूछने पर तप करने को ही कहा, तप के पश्चात्।

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणात् हि एव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो। ब्रह्मेति। तं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्त्वा।।[2]

तप करने के पश्चात् भृगु ने प्राणों को ब्रह्म जाना, क्योंकि प्राणों से ही अर्थात् प्राण नाम ईश्वर का भी है, इसलिये प्राण से ही यह संसार जीवित है, और अन्त में प्राण में ही विलीन हो जाता है, और जिसके अन्दर प्राण=आत्मिक शक्ति है वही ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। निर्बल, रोगी क्या ब्रह्म को प्राप्त करेंगे। उनका तो स्वयं का ही जीवन भार रूप हुआ करता है। इस 'प्राणमयकोश' को ठीक-ठीक जानने के पश्चात् पुनः पिता के पास जाकर कहा कि भगवन् इससे आगे कहो? पिता ने तप से ही ब्रह्म को जानने की बात कही। उसने फिर तप किया और आगे जाना।

1. तैत्तिरीयोपनिषद् 3/2/1
2. तैत्तिरीयोपनिषद् 3/3/1

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्ति इति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं इत्यादि शेष पूर्ववत्॥[1]

तप करने के पश्चात् पुनः मन को ब्रह्म जाना। क्योंकि मन से ही समस्त प्राणी जीवित रहते हैं। यदि मन में उत्साह और सुविचार हैं तो, जीवन में भी उत्साह और सुविचार रहेंगे मन में निराशा और कुविचार होंगे तो शरीर मृतवत् दूषित रहेगा। इसलिये मन को ही जीने और मरने का मुख्य साधन माना है। जिसके मन वश में है उसके सभी इन्द्रियां वश में रहती हैं। जिसके मन वश में नहीं, वही इन्द्रियों का दास कहाता है। इसलिये मनादि इन्द्रियों को वश में करना भी तप का ही काम है। तपस्वी की ही इन्द्रियां वश में रहती हैं। इस प्रकार 'मनोमयकोश' का रहस्य समझ में आने के प्श्चात, फिर पिता से और उपदेश के लिये कहा। पिता ने पुनः तप करने के लिये ही कहा। पुनः उसने तप किया और क्या जाना इसे आगे बतलाते हैं।

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद् हि एव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेवं वरुणं इत्यादि पूर्ववत्॥[2]

उस भृगु ने पुनः कुछ काल तप करने के पश्चात् 'विज्ञान' को ही ब्रह्म जाना। क्योंकि प्रत्येक जीव के मन में यही उमंग रहती है कि, मैं और आगे बढ़ूं, विशेष कला-कौशल रूपी विज्ञान को प्राप्त करूं। इसलिये इस आशा से ही समस्त प्राणी जीवित हैं, और आशा लेकर ही मर जाते हैं। इस कारण विज्ञान को जीवन-मरण का साधन माना।

इस प्रकार 'मनोमय कोश' से आगे 'विज्ञानमयकोश' में पहुंच कर मन में जो अहंभाव और ममत्व था उसे भी त्याग करके समबुद्धि को प्राप्त करके। पुनः पिता से पूछा कि अब मैं क्या करूं। पिता ने पुनः तप करने को ही कहा। तप के प्श्चात् उसके जीवन में क्या विशेष ज्ञान के अंकुर जागृत हुए, इसे आगे वर्णन करते हैं।

आनन्दो ब्रह्म इति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥[3]

तप के पश्चात् भृगु ऋषि ने आनन्दकन्द ब्रह्म को जाना। क्योंकि उस आनन्दरूप प्रभु से ही ये समस्त चर-अचर जगत् उत्पन्न होता है और अन्त में उसी में विलीन हो जाता है। अथवा मानव का जो अन्तिम लक्ष्य है **आनन्द मोक्ष** की प्राप्ति, उसे कुछ एक पूर्णकर जाते हैं, कुछ एक आशा सहित मर जाते हैं। इस प्रकार यह संसार चल रहा है।

इस प्रकार पांचों कोशों को भृगु ऋषि ने पुनः पुनः तप करके समझा। और मोक्ष प्राप्त किया। जो भी इस प्रकार तप करेंगे वे भी मुक्त हो सकते हैं। इससे आगे कोई प्रश्न शेष नहीं रहता। इसलिये भृगु ने पिता से पुनः प्रश्न नहीं किया। इस विद्या को ही 'भार्गवी वारुणी ब्रह्मविद्या' के नाम से ही उच्चारण करते हैं।

पहले कोश को **अन्नरसमय** कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि मानव बल, बुद्धि, आदि वर्धक कारक,

---

1. तैत्तिरीयोपनिषद् 3/4/1
2. तैत्तिरीयोपनिषद् 3/5/1
3. तैत्तिरीयोपनिषद् 3/6/1

गोघृत, दुग्ध, फलादि उत्तम पदार्थों का सेवन करके शरीर को नीरोगी, और बलिष्ठ बनावें, बल बुद्धि नाशक शराब, मांस, मदिरादि गन्दे अभक्ष्य पदार्थ न खाये, न पीये।

दूसरे कोश को **प्राणमय** कहा है। प्राणायामादि के द्वारा अपने प्राण और इन्द्रियों को पुष्ट और वश में करे, इन्द्रियों का दास न बने, स्वामी बनें।

मनोमय कोश से अपने मन को नानाविध ज्ञानोपार्जन में संयुक्त करे। इसी कारण इसके अंग चारों वेद बतलायें हैं, और साथ में 'आदेश' को धड़ कहा है जो व्यक्ति उस ब्रह्म और वेद की आज्ञानुसार अपने जीवन को चलाता है, नियम और मर्यादा में रहता है। वह बाह्य जगत्=विषयों से हटकर आभ्यान्तरमुखी होकर साधना का अधिकार ईशोपासक है प्राप्त कर लेता है।

इसके पश्चात् विज्ञानमय कोश से पहली शिक्षा है-ईशापोसक में ईश्वर और समाधि के साधनों के प्रति 'श्रद्धा' हो, 'ऋदादि' योगांगों के अनुसार चले। सत्य, मन, वचन, कर्म में एकरूपता हो, और सदाचार का आश्रय लेवे।

योग चित्त की बाह्यवृत्तियों को रोक कर अभ्यान्तरमुखी होवें। महतत्त्व पक्षपात रहित होकर, समबुद्धि वाला होवे, अहंभाव और ममत्व का परित्याग कर देवे।

आनन्दमयकोश- जब मनुष्य को चौथी सीढ़ी विज्ञानमय कोश की प्राप्त हो जाती है, फिर उसका जीवन एक अद्वितीय बन जाता है। सबसे प्रेम करता है, सदैव मोक्ष प्रमोद आनन्द में मस्त रहता है, और एकमात्र ईश्वर को ही सब कुछ समझता है। अर्थात् दुनिया से प्यार करे, ईर्ष्या न करे, सदा प्रसन्नचित्त और ईशोपासना में ही लवलीन रहे। यह पञ्चकोशों का महत्त्व है। इनसे उक्त शिक्षाओं को धारण करके स्वजीवन को कृतकृत्य करे।

महत्वपूर्ण बिंदु-

- पंचकोश मानव अस्तित्व के पाँच आवरण हैं।
- अन्नमय कोश शरीर से संबंधित है।
- आनंदमय कोश आत्मिक आनंद का प्रतीक है।
- पंचकोश आत्मज्ञान की ओर ले जाते हैं।

शब्दावली-

पंचकोश	- पाँच आवरण
अन्नमय कोश	- शरीर संबंधी कोश
प्राणमय कोश	- प्राण शक्ति का कोश
आनंदमय कोश	- आनंद का आवरण
आत्मज्ञान	- आत्मा का ज्ञान

5 अंक के प्रश्न-

1. पंचकोश क्या हैं?
2. अन्नमय कोश का अर्थ बताइए।

3. प्राणमय कोश का कार्य क्या है?

4. आनंदमय कोश किससे संबंधित है?

5. पंचकोश सिद्धांत का महत्व क्या है?

15 अंक के प्रश्न–

1. उपनिषदों में वर्णित पंचकोश का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

2. पंचकोश और आत्मा के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

3. अन्नमय से आनंदमय कोश तक की यात्र का विवेचन कीजिए।

4. पंचकोश सिद्धांत की आध्यात्मिक उपयोगिता बताइए।

5. मानव विकास में पंचकोश की भूमिका पर चर्चा कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न–

1. पंचकोश सिद्धांत किस उपनिषद् में वर्णित है?

(क) कठोपनिषद्

(ख) तैत्तिरीयोपनिषद्

(ग) केनोपनिषद्

(घ) ईशोपनिषद्

2. अन्नमय कोश किससे संबंधित है?

(क) शरीर

(ख) मन

(ग) आत्मा

(घ) आनंद

3. प्राणमय कोश का संबंध किससे है?

(क) प्राण शक्ति

(ख) धन

(ग) राजनीति

(घ) युद्ध

4. आनंदमय कोश क्या प्रदान करता है?

(क) दुःख

(ख) आनंद

(ग) क्रोध

(घ) मोह

5. पंचकोश का अंतिम लक्ष्य क्या है?

(क) आत्मज्ञान

(ख) व्यापार

(ग) राजनीति

(घ) मनोरंजन

खण्ड-3

इकाई-3.1 सिद्ध योगी का विराट् स्वरूप एवं सिद्धि के उपाय

उद्देश्य-

1. कर्म सिद्धांत को समझना।
2. पुनर्जन्म की अवधारणा का अध्ययन करना।
3. कर्म और जीवन के संबंध को जानना।

योगी के लक्षण-

किसी भी व्यक्ति, वस्तु, स्थान, के विषय में यदि हमको पहले से कोई स्पष्टता नहीं है, हम उससे सर्वथा अपरिचित हैं, तो हमसे ज्ञान में जो बड़े हैं, माता-पिता, गुरु, आचार्य, धीर-गम्भीर विद्वान् उनसे उस व्यक्ति, वस्तु, स्थान के सम्बन्ध में पूछते हैं अथवा शास्त्रों में उसके विषय में पढ़कर ज्ञान प्राप्त करते हैं कि अमुख व्यक्ति, वस्तु, स्थान का क्या गुण, कर्म, स्वाभाव उसका लक्षण क्या है? उपनिषदों में योग साधक जो अष्टांगयोग का पालन करता है वेदानुकूल, शास्त्रानुकूल, आत्मनुकूल आचरण करने वाले सिद्ध योगी के लक्षणों के विषय में बहुत सुन्दर बात कही है-

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते, उभेनानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति, हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥[1]

संसार में दो प्रकार के मार्ग हैं-एक श्रेय और दूसरा प्रेय वे दोनों ही भिन्न-भिन्न मनुष्य के प्रयोजन को सिद्ध करने वाले हैं, जो व्यक्ति उन दोनों में से जो श्रेयमार्ग को चुनता है, उस पर चलता है वह योगी ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है, और मोक्ष सुख को प्राप्त करता है और जो प्रेय मार्ग अर्थात् सांसारिक भोग और ऐश्वर्यों को ही चाहता है वह मुक्तिपद से च्युत हो जाता है। कहने का आशय यह है कि योगी भौतिक सुखों की चाहना ना करता हुआ श्रेय पथ का पथिक होता है।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसोवृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥[2]

श्रेय और प्रेय ये दोनों मार्ग प्राप्त होते हैं, धीर, गम्भीर, योगी पुरुष इन दोनों के विषय में अच्छी प्रकार गम्भीरता से विचार करके, अर्थात् यह सोचकर कि मेरे लिये कौन सा कल्याणकारी व अकल्याणकारी मार्ग है? तब वे प्रेय की अपेक्षा श्रेय मार्ग को ही चुनते हैं, और साधारण पुरुष श्रेय की अपेक्षा प्रेय अर्थात् सांसारिक भोग के मार्ग को चुनते हैं।

ऐसा क्यों? इसका कारण यह है कि श्रेयमार्ग प्रारंभ में अतिकष्ट साध्य तप, दम, संयमादिगम्य है, परन्तु

---

1. कठोपनिषद् 2.1
2. कठोपनिषद् 2.2

अंत में उसका फल अतिमधुर, आनन्दायक होता है, मोक्ष, जिज्ञासु, योगी यह सब कुछ को जानकर श्रेय मार्ग को चुनता है। प्रेय मार्ग आरम्भ में क्षणिक सुखदायक, कष्ट असाध्य सा लगता है, पर अंत में उसका फल अति कष्टदायक होता है। उस पर भोगवृत्ति साधारण बुद्धिवाला गम्भीरता से विचार नहीं कर पाता, क्योंकि उसकी बुद्धि अदूरदर्शी होती है, प्रत्यक्ष तक ही सीमित होती है। दूरदर्शी प्रत्यक्ष की अपेक्षा परोक्ष में होने वाले परिणाम तक पहुँच जाता है, क्योंकि विषय भोगों का परिणाम क्षणिक सुख की अपेक्षा महद् दु:खदायी होता है, युवा अवस्था में पता नहीं लग पाता, वृद्ध अवस्था में पछताता है।

मुण्डकोपनिषद् में जो जिज्ञासु, मुमुक्षु, योगी होते हैं, उनके विषय में कहा है-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशया:।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।[1]

जिस समय मुमुक्षु के हृदयगत कामवासनाएं रूपी गांठें खुल के जाती हैं, सभी प्रकार के संशय जो मन में उत्पन्न होते रहते हैं, वे भी समाप्त हो जाते हैं, और योग-क्षेमार्थ अर्थात् इहलौकिक सुखार्थ के लिए किये जाने वाले सभी प्रकार के कर्मों का क्षय हो जाता है, तब मोक्ष प्राप्त होता है। अथवा उस ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त करने के पश्चात् उक्त सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान स्वत: ही हो जाता है। क्योंकि सब सन्देहों का सम्बन्ध मन से है, योग साधना के द्वारा जब योगी का मन पूर्ण नियन्त्रण में आ जाता है, तो ऐसे समाधि प्राप्त योगी की उच्च चेतना की अवस्था होती है। सन्देहों, संशयों और कर्मों के क्षीण होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। यह अटल सिद्धान्त है।

यदा पश्य: पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जन: परमं साम्यमुपैति।।[2]

जिस समय मनुष्य के मन का मैल चित्त की विक्षिप्त वृत्तियाँ और आवरण दूर हो जाता है उस समय इस प्रकार का शुद्धान्त:करण वाला ज्ञानी योग साधक उस शुद्ध ज्योतिस्वरूप, जगत्कर्त्ता, और वेद के कर्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सकलैश्वर्यशाली उस पूर्ण पुरुष परब्रह्म को देख, ज्ञान लेता है तब वह ज्ञानी, योगी शुभाशुभ कर्मों के संस्कारों से छूटकर और राग-द्वेषादि से पृथक् होकर उस परम पुरुष परमात्मा की समता को अर्थात् परमपिता परमेश्वर के गुणों का प्रतिनिधित्व कर आनन्द को प्राप्त हो जाता है।

प्राणो ह्येष य: सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरति: क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठ:।।[3]

वह परमात्मा सम्पूर्ण जीवों में जीवनीय शक्ति का सञ्चार करने वाला होने से 'प्राण' नाम से भी पुकारा जाता है और जो पञ्चमहाभूतों में प्रकाश है वह भी उसी जगदीश्वर का है। इनकी महानता देखने से उस महान् ईश्वर का ज्ञान होता है। इस सबको जानने वाला योगी विद्वान् कहलाता है। ऐसा विद्वान् अधिक व्यर्थ की बातें करने वाला नहीं होता, सारगर्भित ही बोलता है, और जो भी अन्यों को उपदेश करता है वह पहले स्वयं के जीवन में उतारता है। अपने अन्दर ईशचिन्तनादि शुभकर्मों में ही रमण करता है। और क्रियाशील

1. मुण्डकोपनिषद् 2.2.8
2. मुण्डकोपनिषद् 3.1.3
3. मुण्डकोपनिषद् 3.1.4

कर्मठ होता है। आलसी-प्रमादी नहीं होता। इन उक्त गुणयुक्त ही ब्रह्म और वेद के ज्ञाताओं में सबसे वरिष्ठ उत्तम माना जाता है।

श्वेताश्वरोपनिषद् में भी योगी के लक्षण क्या होते हैं, इसके विषय में कहा गया है-

पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।।[1]

जो सच्ची योगसाधना करता है अष्टांगयोग का पालन करता हुआ दिव्य जीवन जीता है। वह योगी पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पञ्च महाभूतों पर जब विजय प्राप्त कर लेता है, अर्थात् इनके प्रभाव को सहन कर लेता है, घबराता नहीं है, तब जानो योग की सिद्धि प्राप्त हो गई। उस समय उस योगी को कोई रोग नहीं सताता है। न वृद्धावस्था, न मौत का ही मन में भय रहता है, और उसका शरीर अग्नि के समान देदीप्यमान तेजस्वी हो जाता है, मुखमण्डल विशेष आभा से युक्त हो जाता है।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति।।[2]

और इसके साथ-साथ योग सिद्धि के पश्चात् अनेक दिव्य तत्त्व गुण उस योगी के जीवन में और आ जाते हैं उसका शरीर स्फूर्तियुक्त, नीरोगी हो जाता है। लोभ-लालच की वृत्ति का सर्वथा अभाव हो जाता है, शरीर की सुन्दरता, वाणी में मधुरता, प्रियता तथा दुर्गन्ध का अभाव, मल-मूत्र में भी दुर्गन्ध कम हो जाती है, और बहुत कम मलादि हो जाता है। कहावत है-योगी=चौबीस घण्टे में एक बार मलादि त्यागते हैं, भोगी गृहस्थी दो बार, और रोगी अनेक बार।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वंप्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः।।[3]

जिस प्रकार मिट्टी का पात्र वा लोहादि धातु अग्नि के संयोग से देदीप्यमान् और शुद्ध-पवित्र हो जाती है, इसी प्रकार योगी जब उस पर ब्रह्मतत्त्व के दर्शन कर लेता है तब उसका जीवन भी कृतकृत्य हो जाता है और सभी प्रकार के दुःख-शोक-सन्ताप नष्ट हो जाते हैं। अपने समान ही सबको समझने लगता है, अर्थात् यह मेरा है, यह तेरा है इत्यादि अहंभाव सब समाप्त हो जाता है। सबमें ईशशक्ति के ही दर्शन करता है। सबको एक ईश्वर की ही सन्तान समझने लगता है।

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।।[4]

जब योगी विवेक=योग द्वारा अपनी आत्मा को परमात्मा में लगा देता है, तब वह उस जन्म-मरण रहित, नित्य रहने वाला एकरस, सब पदार्थों से शुद्ध-पवित्र देव को जानकर सब पापों से, दुःखों के बन्धनों से छूट जाता है, सदा आनन्दकन्द भगवान् के आनन्द का अनुभव करता है। जैसे कोई दीपकादि के प्रकाश से

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/12
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/13
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/14
4. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/15

सब पदार्थों के दर्शन करके आनन्दित होता है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥[1]

एक साङ्गोपाङ्ग वेद का विद्वान् योगी कहता है कि मैं उस ब्रह्म को भली प्रकार जानता हूं। वह सब ओर से परिपूर्ण है, सबसे महान् है, सूर्य से भी अधिक तेजवान् है, अन्धकार से और अविद्या से सर्वथा रहित है। उस इस प्रकार के स्वरूप वाले ब्रह्म को जान करके ही जन्म-मरण रूप मृत्यु के भय से मानव मोक्ष की अवधि तक बच सकता है। उसको जानने का और मृत्यु से बचने का योग से भिन्न दूसरा कोई मार्ग नहीं है, ऐसा निश्चय जानो और मानो।

योगी का दृष्टिकोण, मति एवं भक्ति-

योगी का दृष्टि कोण आत्मानुकूल वेदानुकूल शास्त्रोक्त ऋषिप्रोक्त होता है योगी की दृष्टि अतिसूक्ष्म होती है उसे क्या ग्राह्य है? क्या त्याज्य है? क्या भक्ष्य है? क्या अभक्ष्य है? क्या हेय है? क्या उपादेय है? इसका सम्पूर्णता से बोध होता है। विद्या अविद्या दोनों के स्वरूप को भली-भाँति समझता है। जैसा कि ईशोपनिषद् के इस मन्त्र में कहा गया है-

विद्याञ्चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥[2]

जो लोग विद्या और अविद्या का आचरण साथ-साथ करते हैं वे अविद्या से मृत्यु को तर करके विद्या से अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

शास्त्रदृष्टि से विद्या का अर्थ **'वेत्ति पदार्थस्वरूपं यया सा विद्या, न वेत्ति पदार्थस्वरूपं भ्रमादन्यस्मिनन्यं निश्चिनोति सा अविद्या'** जिससे पदार्थ के वास्तविक अर्थ को बोध किया जाय वह विद्या कहाती है, और जिससे भ्रम व दोषवश यथार्थ ज्ञान न हो, वह अविद्या होती है।

ऋषिपतञ्जलि की दृष्टि से **अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मसु ख्यातिरविद्या॥**[3] अनित्य पदार्थों को नित्य, वा नित्यों का अनित्य, सांसारिक विषय रूप अपवित्रों को पवित्र, ईश्वर उपासना यज्ञ-शुभकर्मों को अपवित्र मानना, दुःखकारक संसार के भोगों में सुख समझना और सुखमय ईश्वर भक्ति को दुःखमय समझना और जड़ पदार्थ को चेतन समझना चेतन को जड़ समझना अविद्या कहाती है।

लौकिक दृष्टि से विद्या को सुखदायकमाना है, स्वयं भी उपरोक्त मंत्र में विद्ययाऽमृतमश्नुते विद्या से अमृतरूप सुख की प्राप्ति होती है ऐसा कहा है। फिर विद्या को अन्धकार का कारण क्यों कहा? अविद्या=अज्ञान तो अन्धकार का कारण होता है **ज्ञानान्मुक्तिः**[4] ज्ञान से तो मुक्ति कही है।

इन मंत्रों में अविद्या का अर्थ है-जो कुछ भी जानना ही न चाहते, केवल भागे जा रहे हैं, कर्मों की विधि क्या है, कैसे, कौन से कर्म मानव को करने चाहियें, और कैसे न करने चाहिये, इस विचार से शून्य होकर

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/8
2. ईशो. 11
3. योगदर्शन 2.5
4. सांख्यदर्शन 3.23

कर्मों को पशुवत् कर रहे हैं, वे अन्धकार को जाते हैं। परन्तु जिनको सभी प्रकार के शास्त्रपूर्वक कर्मों का बोध है, फिर वे उस प्रकार का जीवन में आचरण नहीं करते, केवल शब्द जाल में ही मस्त रहते हुए दुःख भोग रहे हैं। इनको उनसे अधिक दुःख प्राप्त होता है। क्योंकि मूर्ख की अपेक्षा ज्ञानी, ध्यानी यदि पाप करे तो अधिक दण्डनीय होता है।

दूसरा इसका अर्थ है कि जो अविद्या भौतिक विज्ञान में ही व्यस्त रहते हैं, इसको ही एकमात्र जीवन का अन्तिम चरण समझते हैं, वे अन्धकर को प्राप्त होते हैं, और जो विद्या=आध्यात्मिक का केवल ढोंग भरते हैं, वे उससे भी अधिक अन्धकार कष्टों को प्राप्त होते हैं।

इसलिये वेद में कहा है कि **उभयं सह** अविद्या भौतिक ज्ञान और विद्या आध्यात्मिक ज्ञान को एक साथ आचरण करने से ही अर्थात् भौतिक के साथ आत्मिक ज्ञान का भी अनुष्ठान होने से ही भौतिक ज्ञान से जीवनीय साधनों को प्राप्त होते हुए, आत्मिक साधना से मोक्ष सुख को मानव प्राप्त कर सकता है। अकेले से न इह लौकिक सुख ही मिलता है, न पारलौकिक ही। जैसे कि आजकल देख रहे हैं आध्यात्मिक से विमुख होकर भौतिकवाद की ही उन्नति में लग रहे हैं, जिससे सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति है। लखपति भी दुःखी, करोड़पति भी, राजा भी दुःखी, प्रजा भी, महलवाला भी दुःखी है, बिना महलवाला भी।

इन सबका यही तात्पर्य है कि अविद्याभौतिक ज्ञान और वेदोक्त यज्ञ-यागादि शुभकर्म करते हुए, ईश भक्ति, योगाभ्यास करके मोक्ष को प्राप्त करें, आवागमन के चक्र से बचें, दुःख, अशान्ति से दूर होवें। वास्तव में ज्ञानपूर्वक कर्मों से इहलौकिक सुख मिलता है, इसी को वेद ने अविद्या कहा है, और उपासना से परम शान्ति मिलती है जिसे विद्ययाऽमृतमश्नुते कहा है, इसलिये **उभयं सह** कहा है।

अविद्या का अर्थ है पराधीनता, मूर्ख सदा परवश रहते हैं। जानते हुए भी वैसा आचरण न करना इसलिये पराधीनता के कारणों को जानकर स्वाधीनता को प्राप्त करना।

विद्या का अर्थ है स्वाधीनता, ज्ञानी स्वाभिमानी स्वाधीनता है। संसार की चकाचौंध में योगी भ्रमित नहीं होता है अपितु सृष्टि के पालन कर्ता परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पित होता है। उसका हृदय प्रार्थनापूर्ण होता है। और सदा ज्ञानदृष्टि अर्थात् तत्त्वदर्शन की याचना करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥[1]

हे संसार के पालक-पोषक भगवन्! सांसारिक आकर्षणमय चकाचौंध से, यथार्थ तत्त्व आपको प्राप्त करने का मार्ग मुझ से छूटा हुआ है इसलिये आप मुझ पर कृपा करो उस मेरे अज्ञान को नष्ट कर दो, जिससे मैं सत्य=यथार्थ तत्त्व को ठीक-ठीक समझकर आपके दर्शन कर सकूँ। संसार के विषय भोग रूप चमकीले पदार्थों में ही अपने अमूल्य जीवन को नष्ट न कर दूं।

वास्तव में यह संसार अज्ञानी के लिये एक जालरूप है। इसमें जो फंस गया उसका निकलना दुष्कर हो जाता है। अविवेकपूर्ण व स्वार्थपूर्ण सम्बन्धों को अति महत्त्वशाली पाश माने हैं। इनमें फंसा हुआ व्यक्ति पापरत रहता है। अन्धे के समान हो जाता है। जानता हुआ भी काम, क्रोध, लोभ, मोहादि वशीभूत हुआ

1. ईशो. 15

सत्य को, धर्म को, ईशोपासना को आचरण में नहीं ला पाता। जैसे-न्यायधीश लोभवश अन्याय करता है, अधिवक्ता असत्य बोलता है तथा झूठी गवाही भी दिलवाता है। चोर चोरी करता है, कामी कामना का शिकार हुआ कामी श्वानवत् पागल होकर अपने को पतित करता है, धन, पुत्र, कलत्र, मोहवश दूसरों के प्राणघातक हो जाते है, फिर सत्य की, धर्म की ईशोपासना की बात उसे कैसे रुचिकर लगे। रुचिकर उसे ही लग सकती है, जो ज्ञानी हैं, योगी है, इनमें फंसा हुआ नहीं है। इनको जीवन का साधनमात्र समझता हुआ वेदोक्त पथ का पथिक बनकर मुक्ति का परमशान्ति का इच्छुक है। सांसारिक क्षणिक सुखदायक भोगविलासों का सर्वथा परित्याग कर दिया है। जिसने यह समझ लिया है कि मैं संसार में परमशान्ति की प्राप्ति के लिये ही मनुष्य-चोले में आया हूँ, प्रकृति का सम्बन्ध संसार की समस्त वस्तुयें मेरे को मोक्ष प्राप्ति हेतु ही कृपा से साधन रूप में प्राप्त हुई हैं इत्यादि।

योगी कभी भी अंहकार से युक्त नहीं होता परमपिता परमेश्वर की सत्ता एवं व्यवस्था के सम्बन्ध में जो यथार्थ जानता समझता है वही कहता है किसी को भ्रम में नहीं डालता लोक में जो अज्ञानी होते हैं वे बड़ी-बड़ी ढींग हांकते हैं। स्वयं भी अंधकार में रहते हैं दूसरों को भी अंधकार में धकेलते हैं।

यस्यामतं तस्यमतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।।[1]

जो निरभिमान होकर ईश्वर के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि मैंने उसे नाममात्र ही जाना है क्योंकि वह असीम है, मैं सीमित शक्ति वाला हूं तो उसने कुछ जाना है ऐसा समझना चाहिए, और जो अभिमान के वशीभूत होकर भोली जनता को अपने जाल में फंसाने की दृष्टि से यह घोषणा करते हैं कि मैं उस ब्रह्म को साक्षात्कार कर चुका हूं। आओ, तुम्हें भी कुछ क्षणों में, कुछ दिनों में ही उसके दर्शन करा दूंगा ऐसे ढोंगी, मिथ्यावादी, अहंकारी को जानना चाहिये कि यह कुछ नहीं जानता। जैसे **'थोथा चना बाजे घना'** ऐसा उसे समझ कर उसके चक्र में नहीं फंसना चाहिये। इसीलिये अगले चरण में कहा है-

अविज्ञातं विजानतां जो यह कहते हैं कि वह ब्रह्म इतना महान् है कि उसे कोई पूर्ण रूप से नहीं जान सकता, वह कुछ जानता है, ऐसा जानने और जानने का दावा करने वाले अभिमानी को न जानने वाला समझे।

वास्तव में जो, जितना ईश्वर भक्त और विद्वान् होता जाता है, उतना ही वह नम्र और अपने को साधारण सा ईश्वर भक्त और विद्वान् समझने लगता है,और जो दो-चार विभूतियां सीखकर, दो-चार ग्रन्थ शब्द रूप में पढ़कर अभिमान के वशीभूत होता है वही अपने को बहुत बड़ा योगी और महान् विद्वान् समझता है यही उसकी मूर्खता की पहचान है। यह रहस्य इसमें बतलाया है। क्योंकि हीरे और रत्न वाला उनको छुपाकर रखता है, और कौड़ियों वाला सरे बाजार बेचता फिरता है। योगी, ब्रह्मज्ञानी स्वयं की पूजा कराने आदि आडम्बरों से दूर रहते हैं, सादा जीवन रखते हैं और जो अज्ञानी, अहंकारी, होते हैं वे अपनी पूजा कराने तक ही सीमित रहते हैं। उनका मिथ्या व्यवहार खेल के समान धनार्जन तक ही सीमित रह जाता हैं, और ब्रह्मज्ञानी धन और सांसारिक विषयों से दूर भागते हैं। इनको साधना में बाधक समझते हैं तथा आत्मबोध पूर्वक अपना कर्तव्य करते हैं-

---

1. केनो. 3

प्रतिबोधविदितं मतम् अमृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दते अमृतम्।।[1]

सांसारिक विषयों को ही सब कुछ समझकर इनमें ही बुद्धि रखना 'बोध' कहलाता है और इन्द्रियों को इनसे हटाकर, इन्हें हेय समझकर, ईश्वर में मन लगाने को प्रति उल्टा कर देना प्रतिबोध कहलाता है। यही ज्ञान 'प्रतिबोध विदित' कहलाता है। इस आत्मिक ज्ञान से ही अमृतत्व अर्थात् जीवन मुक्ति की अवस्था प्राप्त होती है। मुक्ति के लिये सर्वप्रथम प्रकृति-पुरुष का विवेक होना आवश्यक है। विवेक के लिये इन्द्रियों को भौतिक विषयों से विमुख करके आभ्यन्तर वाली ईश्वर की समाधि वाली करना अति आवश्यक है, क्योंकि इन्द्रियों का बाह्यमुखी होने से विवेक की अवस्था प्राप्त नहीं होगी, विवेक के विना जीवन्मुक्त की, और जीवन्मुक्त की अवस्था के बिना मोक्ष प्राप्त होना असम्भव है यही इसका रहस्य है।

मानव जीवन की सफलता का रहस्य बतलाते हुए ऋषि कहते हैं-

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः, प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।[2]

मनुष्य! तूने इस अमूल्य मानव चोला पाकर उस ब्रह्म को जान लिया तो समझ तूने सब कुछ प्राप्त कर लिया, जीवन सफल कर लिया, और नहीं जाना तो सबसे बड़ी हानि की है। क्योंकि मानव से भिन्न पशु, पक्षी आदि की योनि में उसे नहीं जाना जा सकता, वे केवल भोग योनि होती है और मनुष्य योनि भोग और कर्म योनि भी होती है इसमें ही सच्चे योगी बनकर ईशोपासना की जा सकती है।

अगले चरण में कहा है धीर, योगीजन उस परमात्मा की सत्ता को सम्पूर्ण जड़-चेतन में अनुभव करके इस लोक से जब जाते हैं अर्थात् इस प्रकार के आत्म साक्षात्कार सम्पन्न योगी जब शरीर त्यागते हैं तब मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् आवागमन के चक्र से बच जाते हैं।

संसार में दो प्रकार की योनियाँ होती हैं, एक भोग योनि, दूसरी भोग और कर्म उभय प्रकार की। यह सभी जानते हैं, मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं-एक पशु, पक्षीवत् खाना, पीना, भोग-विलासों में ही सारा जीवन व्यतीत करके अन्त में केवल पश्चाताप करने वाले। दूसरे-संसार की वस्तुओं को साधन रूप में समझकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में लगे रहते हैं, और धर्म, अर्थ काम, मोक्ष के लिए वेदादि शास्त्रों के बताये मार्ग पर चलकर आत्मकल्याण से विश्वकल्याण के कर्तव्य निर्वहन करके आनन्द में रहते हैं।

ऋषि का कहना है कि मानव चोला बार-बार नहीं मिलता। बड़े शुभकर्मों के प्रताप से प्राप्त होता है, इसे व्यर्थ मत खोओ, विषय भोगों में ही नष्ट मत करो, ईश्वर को प्राप्त करो।

यदि आप उस ब्रह्म को प्राप्त करना चाहते हो तो आप को घोर तप करना होगा भूख, प्यास, मानापमानादि को सहन करना पड़ेगा इन्द्रियों को स्वच्छन्दता से रोककर, इनको अपने अनुकूल बनाना होगा, और वेदोक्त यज्ञ, याग, उपासना का निरन्तर अनुष्ठान करना होगा। चारों वेदों की शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, इन वेद के छः अंगों सहित और न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त और मीमांसा शास्त्रों सहित पढ़ना होगा और सत्य ही बोलना, मानना तदनुसार कर्म करते हुए। जो सत्यस्वरूप परब्रह्म है उसके

1. केनो. 2.4
2. केनो. 5

सहारे रहना अर्थात् इधर-उधर की सब बातें छोड़कर ईश-चिन्तन में ही मन लगाना होगा, तब ब्रह्म की प्राप्ति होगी। ब्रह्म को प्राप्त करना कोई साधारण काम नहीं है, अनेक साधकों में कोई विरला ही, अनेक जन्मों में प्राप्त कर सकता है। ऐसी दिव्य दृष्टि व विचार योगी का ही हो सकता है।

आत्मा और परमात्मा के विषय में योगी का दृष्टिकोण स्पष्ट होता है योगी जानता है कि इन भौतिक अनित्य इन्द्रियों से उस अभौतिक नित्य का बोध नहीं किया जा सकता वह वाणी का विषय नहीं है जैसा कि कठोपनिषद् में यमाचार्य नचिकेता को बताते हैं-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमैवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥[1]

हे नचिकेता! न तो उस ब्रह्म के दर्शन बड़े-बड़े ब्रह्म सम्बन्धी व्याख्यान देने से ही होते हैं, न ही-तर्क-वितर्क करने वाली बुद्धि से और न ही बहुत शास्त्र सुननेमात्र से ही होते हैं। उस आत्मा के दर्शन तो उसे होते हैं जिसके ऊपर उसकी कृपा हो जाती हैं। कृपा उस पर होती है जिस का मन-वचन-कर्म एक है, जैसा सुना, पढ़ा है, वैसा ही कहता है। तदरूप ही आचरण करता है। आध्यात्म जीवन से भिन्न सब कुछ नीरस ही लगता है, उस को परमात्मा स्वयं स्वीकार कर लेता है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात॥[2]

जिसका मन दुष्कर्मों से दूर न हुआ हो, और मन, चित्त जिसका शान्त न हुआ हो, उस असमाहित चित्त वाले को कभी ब्रह्म के दर्शन नहीं हो सकते, अभ्यास और वैराग्य के द्वारा जिस ने इस चञ्चल मन को वश में कर लिया है, उसी को ईश के दर्शन होते हैं। जैसे शुद्ध-स्थिर दर्पण में शुद्ध, स्थिर आकृति दिखती है, वैसे ही शुद्ध-पवित्र अन्तःकरण हो, आसन भी जिसका स्थिर हो, तभी उपासना होती है। मिनट-मिनट में आसन बदलने वाले का भी मन कभी समाहित नहीं हो सकता।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥[3]

हे नचिकेता! उस ब्रह्म के दर्शन वही कर सकता है जिस व्यक्ति का ब्रह्मबल और क्षात्र बल परिपुष्ट है, बुद्धिहीन=मूर्ख और निर्बल, दुर्बल, रोगी व्यक्ति ब्रह्म के दर्शन नहीं कर सकता, क्योंकि मूर्ख तो उस ब्रह्म के स्वरूप को और उसकी प्राप्ति के साधनों को ठीक-ठीक जान ही नहीं सकता। जिसे यही पता नहीं कि मुझे कहा जाना है, और कैसे जाना है, वह तो बिना पते के लिफाफे के समान व्यर्थ ही है, पृथ्वी पर भार रूप ही है। और निर्बल, रोगी, कभी स्थिर आसन में नहीं बैठ सकता, रोगी का मन, चित्त भी रोगयुक्त रहता हैं, ऐसे का भी ईश्वर में मन नहीं लग सकता।

दूसरी बात रहस्य की यह बतलाई की ब्रह्मबल, क्षात्र बल के साथ-साथ जिसका जीवन धार्मिक और ईशोपासना से युक्त है। जो पापरूप मृत्यु से डरता है और पवित्र जीवन का उपासक है, वही ब्रह्म को प्राप्त

1. कठो 2.23
2. कठो 2.24
3. कठो 2.25

कर सकता है। हे नचिकेता ! इस रहस्य को साधारण जन नहीं जान सकता और जिसने जान लिया वह ब्रह्म के परमपद को प्राप्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्म के आनन्द में लीन रहता है।

योगमार्ग का पथिक सच्चा योगी इस बात को अच्छी प्रकार से जानता है कि यह योगमार्ग, ज्ञानमार्ग इतना सरल नहीं है। परन्तु इस पथ के आलम्बन के अतिरिक्त ओर कोई उपाय भी नहीं है। इसलिये इस पर तो आलस्य प्रमाद रहित होकर चलना ही पड़ेगा। इसलिये बहुत सुन्दर बात कही है-

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।।[1]

हे ब्रह्मजिज्ञासुओ! उठो, आलस्य, प्रमाद, स्वार्थ और अज्ञानता को त्याग कर, सावधान होकर, एकमात्र ब्रह्म प्राप्ति का ही लक्ष्य बनाकर श्रेष्ठ ज्ञानियों के पास जाकर उनसे ब्रह्म को जानने के उपायों को जानो-प्राप्त करो। क्योंकि यह मार्ग छुरे की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान अति कठिन है, इसको पार करना साधारण बात नहीं, ऐसा धीर, गम्भीर कवियों का और ब्रह्मज्ञानियों का कथन है।

इसका यह अर्थ भी नहीं समझना चाहिये कि वह कठिन है तो उस मार्ग पर चलना ही निरर्थक है। हाँ, कठिन है पर असम्भव नहीं है। यदि ब्रह्मप्राप्ति असम्भव होती तो वेद शास्त्र में उसका उपदेश नहीं होता, उपदेश है तो वह साध्य भी है, यह निश्चय पूर्वक जानना चाहिये। कठिनता से तो साधारण ही मनुष्य डरते हैं, परन्तु जो मातृभूमि के रक्षक होते हैं, जो अपनी संस्कृति संस्कारों की रक्षा करते हैं, जो गो-राष्ट्र और ईश्वर भक्त होते हैं, वे कभी नहीं डरते। वे मृत्यु को भी पराजित कर देते हैं। उनके सामने एक ही लक्ष्य होता है, 'कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्'। कार्य की सिद्धि करना, जिसको प्रारम्भ कर दिया है उसे मध्य में विघ्न-बाधाओं के आने पर भी न छोड़ना। योगी का दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट होता है। श्रेष्ठ पवित्र अन्तःकरण वाला, दार्शनिक, दूरदृष्टा और सूक्ष्मदृष्टा होता है।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।।[2]

ब्रह्म की प्राप्ति एकाग्र मन वाला, शुद्ध अन्तःकरण वाला ही प्राप्त कर सकता है, और जो उसको अखण्डित एक रस रहने वाला अद्वितीय समझेगा और जो उस ब्रह्म को, और एक शरीर में अनेक जीवात्माओं को समझेगा वही आवागमन के मृत्युरूप दुःख को प्राप्त होगा।

देखो नचिकेता! यदि इस ब्रह्माण्ड में और शरीर में अनेक ईश्वर और अनेक जीवात्मायें, होवें तो, किसी प्रकार भी व्यवस्था न हो पायेगी। एक ईश्वर कहेगा कि सृष्टि इस प्रकार हो, दूसरा कहेगा, नहीं इस प्रकार हो, मनुष्य के दो आंख पीछे भी हों इत्यादि तो सृष्टि में एकरूपता कैसे हो सकती, दोनों में झगड़ा ही होता रहेगा। इसी प्रकार एक शरीर में अनेक आत्मायें हों तो, एक कहेगा यह मेरा है, दूसरा कहेगा नहीं, तू यहां से निकल, यह मेरा है। एक कहेगा चल सत्संग, दूसरा कहेगा क्या है वहां जाकर क्या मिलेगा, व्यर्थ में क्यों समय नष्ट करना, इस प्रकार उनमें झगड़ा ही होता रहेगा, जीवन की समय रूपी गाड़ी निकल जायेगी फिर अंत में पछताते ही रहेंगे, हाय! हमने भी न शुभ कर्म किया।

1. कठो. 3.14
2. कठो. 4.11

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥[1]

जो योग साधना के पथ से विरुद्ध आचरण करने वाले हैं जो सांसारिक भोग को ही सबकुछ समझते हैं तथा अनेक प्रकार की आशाओं के जाल में ग्रस्त काम-क्रोध-मुक्त अपने कामोपभोग के लिए अन्याय से धन का संचय करते रहते हैं। मैंने यह धन प्राप्त कर लिया अब यह धन मिल गया, फिर यह धन मिलेगा-इसी प्रकार मग्न रहते हैं। मैं भोगी हूँ, बलवान् हूँ, सिद्ध हूँ, उच्च कुल में उत्पन्न हुआ हूँ, मेरी समानता कौन कर सकता है, मैं दानदाता हूँ, प्रसन्न रहता हूँ, इस प्रकार अज्ञान में फंसे रहते हैं। अनेक प्रकार के चित्त विकारों से युक्त मोह जाल में फंसे कामभोगों में आसक्त-ऐसे मनुष्य अपवित्र नरक में गिरते हैं। परन्तु जो सच्चे योगी होते हैं उनका विचार, व्यवहार तथा संस्कार अत्यन्त दिव्य होते हैं। यदि मनुष्य आत्मानुकूल आचरण करे तो वह सच्चा योगी हो सकता है। परन्तु स्वार्थवश आत्मप्रेरणा व आत्मज्योति को अज्ञानी लोग अनसुना कर देते हैं उसका अनादर करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में बहुत सुन्दर बात कही गयी है-

आत्मनेवायं ज्योतिषास्ते पल्लयते कर्म कुरुते विपल्येतीति॥[2]

आशय यह है कि आत्मा की ज्योति से ही इस पुरुष का अस्तित्व रहता है, यह उठने-बैठने, चलने-फिरने की विविध क्रियाओं को करता है आत्मज्योति का वर्णन ऋषि दयानन्द सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास में ईश्वर सिद्धि के प्रसंग में करते हैं- 'उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे काम करने में, अभय, निःशंकता और आनन्द उत्साह की अनुभूति होती है।' वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है। यही आत्मज्योति है। इसकी प्रेरणा सदा प्रभु की ओर से होती रहती है।

जो सच्चे योगसाधक होते हैं वह सांसारिक परिवार के प्रति आसक्ति नहीं रखते। उनका अध्यात्मिक परिवार निराला होता है। योग विद्या में निपुण योगी के अद्‌भुत् कुटुम्बीजन हैं, जिनको पाकर के योगी पूर्ण रूप से अभय हो जाता है, उसको संसार में किसी का भय नहीं रह जाता।

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी।
सत्यं मित्रमिदं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम्
ह्येते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद् भयं योगिनः॥[3]

धैर्य जिसका पिता, क्षमा जिसकी माता, शान्ति जिसकी धर्मपत्नी, सत्य जिसका मित्र, दया जिसकी बहन, मन का संयम जिसका भ्राता, भूमि जिसकी शैया, दिशायें ही जिसकी वस्त्र, ज्ञान ही जिसका भोजन है, हे सखे ऐसे कुटुम्बीजनों से युक्त योगी को किससे भय होगा। अर्थात् किसी से नहीं होगा, कुछ ऐसा ही संकेत यह श्लोक भी कर रहा है-

नित्यानित्य विचारणा प्रणयिनी, वैराग्यमेकं सुहृन्

---

1. चार्वाक दर्शन-1.5
2. बृहदा. 4.3.7
3. भर्तृहरिकृत वै. 100

मित्राण्येव यमादयः शमदम-प्रायाः सखायो मताः।
मैत्राद्याः परिचारिकाः सहचरी, नित्यं मुमुक्षा बला
दुच्छेद्या रिपवश्च मोहममता सङ्कल्पवैरादयः॥[1]

साधनापथ के मनुष्य के लिये तो नित्य और अनित्य पदार्थों के विचारने की वृत्ति ही प्रेमिका है, वैराग्य ही एकमात्र सुहृत् है, यम नियम आदि मित्र हैं, शम दम आदि सखा हैं, मैत्री करुणा आदि सेविकाएँ हैं, मुक्ति की इच्छा ही सहचरी है और मोह, ममता, भोग-संकल्प तथा वैरभाव आदि ही उसके प्रयत्न-पूर्वक उखाड़ने योग्य शत्रु हैं।

योगी की दृष्टि में ये सांसारिक संसाधन नाश को प्राप्त होने वाले होते हैं इसलिए इनमें आसक्ति नहीं रखता, जैसा कि वाल्मीकि रामायण में कहा है-

सर्वे क्षयान्ता निचयाः, पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥[2]

सभी सङ्ग्रह अन्त में क्षय को प्राप्त होते हैं, सभी उन्नत वस्तुओं का भी अन्त में पतन होता है, सभी संयोग को प्राप्त पदार्थों का अन्त में वियोग होता है और सभी जीवित प्राणियों की अन्त में मृत्यु होती है। इसलिए आशा, तृष्णा के जाल में नहीं फंसना चाहिए। विवेक, वैराग्यपूर्वक सच्चे साधक, योगी बनकर संसार में विचरना चाहिए।

दिनमपि रजनी सायं प्रातः, शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः॥[3]

दिन-रात सायं प्रातः और शिशिर वसन्त आदि बारम्बार आते रहते हैं; इस प्रकार काल क्रीडा कर रहा है तथा आयु बीतती जा रही है, तो भी आशा रूपी वायु पिण्ड नहीं छोड़ रही है।

यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः।
पश्चाद्धावति जर्जर देहे, वार्तां पृच्छति कोऽपि न गेहे॥[4]

जब तक मनुष्य धन कमाने में लगा रहता है, तब तक उसका परिवार उससे प्रेम करता है, किन्तु जब बुढ़ापे में शरीर जीर्ण हो जाता है, तो घर में कोई उसकी बात भी नहीं पूछता है।

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्॥[5]

शरीर गल गया है, सिर के बाल पक गये हैं और मुख दांतों से रहित हो गया है, इस अवस्था से युक्त बुढ़ा मनुष्य लकड़ी लेकर चलता है, तो भी जीने की बलवती लालसा उसका पिण्ड नहीं छोड़ती है।

योगी का आहार, विचार एवं व्यवहार-

---

1. प्रबो. 6.3
2. वाल्मी. अयो. 105.16
3. चर्पट. 1
4. चर्पट. 3
5. चर्पट. 6

योगपथ पर आहार का विशेष महत्व होता है पवित्र आहार से ही पवित्र विचार आते हैं और जिसके पवित्र विचार भी हैं उसका पवित्र व्यवहार भी होगा। इसलिए हमारे ऋषियों पर आहार पर विशेष बल दिया है। लोक में प्रचलित भी है जैसा खायें अन्न, वैसा होवे मन। जैसा पीयेंगे पानी, वैसी होवे वाणी।

जिसका आहार शुद्ध नहीं है उसका विचार व व्यवहार शुद्ध नहीं होगा और वह योग पथ पर आगे नहीं बढ़ पायेगा, सच्चा योगी नहीं बन पायेगा। अत्यन्त दुःखमय जीवन व्यतीत होगा, इसलिए छान्दोग्योपनिषद् में शुद्ध आहार, विचार, व्यवहार के ऊपर बल देते हुए कहा गया है-

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे
सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति'॥[1]

जिन मनुष्यों में थोड़ा सा भी ज्ञान होता है वे अध्यात्म उन्नति के लिए पुरुषार्थ करते हैं, परन्तु पूर्ण जागरूकता और सजगता ना होने के कारण सफल नहीं हो पाते, जिससे निराशा हाथ लगती है। परन्तु इस उन्नति के लिये सर्वप्रथम आहार-विचार व्यवहार का शुद्ध होना अतिआवश्यक है। तभी स्थिर मति प्राप्त होती है, शुद्धान्तः करण होता है। शुद्ध, पवित्र, आत्मावाला ही उस भूमा के दर्शन करने का पात्र बनता है। उसके सभी हृदयगत संशय नष्ट हो जाते हैं, अविद्या से पार मानसिक कलुषित भाव सब धुल जाते हैं। इसलिए आहार शुद्ध होना चाहिए।

आहारशुद्धिः सत्याहारशुद्धौ सत्वशुद्धिः॥[2]

अन्न शुद्ध तो मन शुद्ध।

अयाचितं तु तद् भैक्ष भोक्तव्यं च मुमुक्षुभिः॥[3]

मुमुक्ष पुरुष को वही भिक्षा खानी चाहिये, जो बिना मांगे प्राप्त हो जाये।

अन्न हमारे लिए ब्रह्म के समान है, अन्न से ही सब प्राणियों की उत्पत्ति होती है इसलिए योगी कभी अन्न की निन्दा नहीं करता। जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्न की महिमा बतायी गयी है।

अन्नाद् भूतानि जायन्ते; जातान्य अन्नेन वर्धन्ते।
अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति॥[4]

अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न से वृद्धि करते हैं, प्राणियों द्वारा भक्षण किया जाता है तथा प्राणियों को भक्षण करता है, इसलिये उसे अन्न कहते हैं।

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात॥[5]

अन्न को परब्रह्म समझना चाहिए।

अन्नं न निन्द्यात् तद् व्रतम्॥[6]

अन्न की निन्दा न करें, यही व्रत (सदैव) धारण करें।

1. छान्दोग्यपनिषद् 7.26.2
2. शांकरभाष्य ब्रह्म सूत्र 3/4/29
3. संन्यासोपनिषद् 2/68
4. तैत्तिरीयोपनिषद् 2.2
5. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगु, 2.1
6. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगु-.7.1

अन्नं न परिचक्षीत, तद् व्रतम्।।[1]

अन्न का परित्याग न करें, यही व्रत (सदैव) धारण करें।

अन्नं बहु कुर्वीत, तद् व्रतम्।।[2]

अन्न की प्रशंसा करें, यही व्रत (सदैव) धारण करें।

इसी प्रकार से अन्य ग्रन्थों में भी आहार के विषय में उपदेश किया गया है।

क्षुद्विघातार्थमाहारस्तद्वत्सेव्यो मुमुक्षुणा।।[3]

मुक्ति की कामना करने वाले व्यक्ति को भी भूख मिटाने के लिए भोजन का सेवन करना चाहिए।

मिताहारं विना यस्तु योगारम्भ समाचरेत्।
नाना रोगो भवेन्त्यस्य किंचिद् योगो न सिध्यति।।[4]

मिताहार के बिना जो साधक योग का आरम्भ करता है, उसके अन्दर नाना रोग हो जाते हैं और उसका योग सिद्ध नहीं होता।

योगी का त्याग पूर्वक वेदोक्त जीवन-

प्राचीन काल से ही भारतवर्ष त्यागी तपस्वी योगी, ऋषिमुनियों का देश रहा है, सम्पूर्ण विश्व में भारत वर्ष इसीलिए विश्वगुरू रहा है। क्योंकि यहाँ जो ज्ञानी, ध्यानी विद्वान् महापुरुष अपने जीवन को निष्काम भाव से वेदोक्त शास्त्रोक्त कर्मों को करते हुए सदैव **मनसा वाचा कर्मणा सर्वभूतहितरत्।।** होकर व्यष्टि से समष्टि के कल्याण के लिए सब कुछ समर्पित कर देते हैं। योगी की समस्त दुर्गुण, दुर्व्यसन, दुर्व्यवहार, दुराचार, दुर्गति, अभाव अविद्या, अन्धकार, अन्याय अधर्म, अज्ञान से भी मुक्ति होती है। तथा सत्यपूर्ण, समग्र, सन्तुलित, संयमित, मर्यादित, अहिंसक, न्यायपूर्ण जीवन होता है। योगी की कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं होता। वे विकट से विकट संकट में कभी विचलित नहीं होते, आत्मनोन्नति व राष्ट्रोन्नति के लिए अहर्निश निष्काम कर्म में लगे रहते हैं। यही योगियों की विशेषता है कि अपने लिए कुछ नहीं चाहिए फिर भी संसार की भलाई के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं। वर्तमान युग में 'योगऋषि परम पूज्य गुरुवर श्री स्वामी रामदेव जी महाराज' जो ऋषि परम्परा के संवाहक हैं अहर्निश अखण्ड-प्रचण्ड पुरुषार्थ करते हुए निवृत्ति मूलक प्रवृत्ति से देश और दुनिया का कल्याण कर रहे हैं। यही उपनिषदों का उपदेश, आदेश संदेश है कि **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।'**[5] परमात्मा द्वारा दिया गया शरीर व संसार का भोग त्यागपूर्वक करो, लोभ लालच मत करो, क्योंकि **'लोभः पापस्य कारणम्'** श्रीमद्भगवद्गीता के द्वादश अध्याय (भक्तियोग) में त्याग की बड़ी महिमा गायी गयी है, **'ध्यानत्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'।**[6] कर्मफल त्याग से शीघ्र ही शान्ति की प्राप्ति होती है, वहीं

1. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगु-.8.1
2. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगु-.9.1
3. सौन्दरनन्दम् 14/12
4. योगकर्णिका, नाथ-अघोरानन्दकृता 4/28
5. ईशोपनिषद् 1
6. श्रीमद्भगवद्गीता 12.12

पर कहा है- **'सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः'**[1] तथा **'शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।'**[2] अर्थात् भगवान् को भी वही योगी भक्त प्रिय होता है जो सच्चा त्यागी होता है। सच्चे योगी बनकर के त्यागपूर्वक वेदानुकूल कर्म करें। इसी बात का उपदेश ईशोपनिषद् के दूसरे मन्त्र में दिया गया है। जिसमें वेदोक्त कर्मों को करते हुए सौ वर्ष तक जीने का उपदेश दिया है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।[3]

तो इस प्रकार अपने कर्मों को निर्लेप भाव से करते हुए ही व्यक्ति दुःखों से बच सकता है, इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

योगी द्वारा किये गये सारे कर्म पूजा करने के समान है। संसार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो कर्म के बिना रह सकें, अतः योगी कर्म करता भी है तो योग युक्त होकर निष्काम भाव, ब्रह्मभाव से युक्त होकर।

कुछ ऐसे ही भावों को प्रकट करते हुए गीता के श्लोक-

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।[4]
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।।[5]

'सिया राममय सब जग जानी' 'जिधर देखता हूं, उधर तू ही तू है।'

सब भूतों की जो रात है अर्थात् सारे भूत जिस विषय में सोए पड़े हैं, उसी विषय में संयमी जागता है अथवा दूसरे प्रकार से कहें तो जिस विषय में सब भूत जाग रहे हैं, उस विषय में (ज्ञानी) सोया हुआ रहता है। समस्त अज्ञानी मनुष्य विषय-वासनाओं व ऐषणाओं की पूर्ति में तल्लीन हैं, दिन में जैसे अन्य सब प्राणी क्रियाशील रहते हैं, वैसे ही वे अज्ञानी मनुष्य भी सभी सांसारिक विषयों में क्रियाशील रहते हैं, किन्तु ज्ञानी के लिए यह सब रात है। वह इन सब से विरक्त व इन सब के प्रति निष्क्रिय है। समस्त भूत इन्द्रियनिग्रह व गहन धर्माचरण आदि में विरत व निष्क्रिय हैं अर्थात् इन विषयों में सोये पड़े हैं, ज्ञानी इन्हीं सब विषयों में जाग रहा होता है अर्थात् ज्ञानी के लिए यह दिन है और अज्ञानग्रस्त प्राणियों के लिए यह रात है। योगी के मन, वाणी व शरीर से वेदोक्त लोकोपकारक कर्मों का ही अनुष्ठान होता है। जिससे समस्त भूमण्डल कृतार्थ हो जाता है।

मनसि वचसि काये, पुण्यपीयूषपूर्णास् त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून्, पर्वतीकृत्य नित्यं, निजहृदि विकसन्तः, सन्ति सन्तः कियन्तः।।[6]

जिन्होंने अपने मन, वाणी तथा शरीर में पुण्य-कर्म रूपी अमृत भरा हुआ है। और जो अपने परोपकार के

1. श्रीमद्भगवद्गीता 12.16
2. श्रीमद्भगवद्गीता 12.17
3. ईशोपनिषद् 2
4. गीता 5.7
5. मुण्डकोपनिषद्.11.43
6. नीति. 79

कर्मों से तीनों लोकों को तृप्त करते हैं। जो अन्यों के अल्प से भी गुणों को पर्वत के समान विशाल समझते। अपने हृदय प्रसन्न होते हैं ऐसे सत्पुरुष कितने हैं? अर्थात् कोई-कोई विरले ही हैं।

योगी कभी भी अविवेकपूर्ण कामनाओं को प्रश्रय नहीं होता वह सदा विवेकपूर्ण कर्मों का संम्पादन अनासक्त भाव से करता है गीता के श्लोक से यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति स्थितप्रज्ञ है, सिद्धावस्था को प्राप्त हो गया है, उसके लिए कर्म का त्याग आवश्यक नहीं है। उसे कर्मफल की चाह त्यागकर अपना कर्त्तव्य तो निभाना ही है। कामना व फल में आसक्ति से जो निर्लिप्त है, उसके चित्त की शान्ति नहीं डिगती है, समुद्र के समान वह शान्त बना रहता है।

योगी का यज्ञीय जीवन-

वैदिक साहित्य में यज्ञ का बहुत बड़ा महत्व है। यह सम्पूर्ण संसार यज्ञमय है और उस परमात्मा के द्वारा यह विराट् यज्ञ अहर्निश चल रहा है। महर्षि पाणिनी के अनुसार यज्ञ शब्द का अर्थ-यज्-देवपूजा संगतिकरण, दान इन तीन अर्थों में प्रयोग किया जाता है। जो अलग-अलग संदर्भों में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। संसार में जो भी कल्याणकारी, हितकारी, वेदानुकूल, शास्त्रानुकूल व आत्मानुकूल कर्म हैं वे सब यज्ञीय कर्म कहलाते हैं। ऐसे कर्म करने वाले साधक योगी का जीवन यज्ञीय हो जाता है। एकादशोपनिषद् में अलग-अलग संदर्भों में यज्ञ की विवेचना की गयी है। मुण्डकोपनिषद् में इसके महत्व को दर्शाते हुए कहा गया है कि-

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वा पन्थाः सुकृतस्य लोके।।[1]

वास्तव में यह बात त्रिकाल सत्य है कि प्रत्येक जीवधारी को कर्म करना चाहिये, परन्तु उनका यथार्थ बोध कवियों और ऋषि मुनियों ने चारों वेदों में योग समाधि द्वारा किया और अन्यों को उनका वैसा ही उपदेश किया कि हे सत्य के और ईश्वर प्राप्ति के जिज्ञासुओ! तुम भी अपने इस मानव-जीवन को यदि सफल करना चाहते हो तो उस ईश्वर को जानो, मानो और योगाभ्यास करो, यही एकमात्र कल्याण का मार्ग है। उस ब्रह्म को वही प्राप्त कर सकता है जिसका यज्ञ-याग और योग द्वारा अन्तःकरण निर्मल हो गया है। जैसे निर्मल दर्पण में आकृति साफ दिखती है, मलिन में नहीं, वैसे ही निर्मल अन्तःकरण में ईश के दर्शन हो सकते हैं, लोकैषणा, वित्तैषणा आदि वासना वाले मलिन अन्तःकरण वाला ब्रह्म का साक्षात्कार कभी नहीं कर सकता।

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत्।।[2]

जिस समय हवन कुण्ड में अग्नि की ज्वालायें अच्छे प्रकार से प्रदीप्त होने लगती हैं तब अति श्रद्धा से आज्यभाग आदि आहुतियों को डालें, जिस से डाला हुआ साकल्य तुरंत भस्म होकर वायुमण्डल को शुद्ध करने वाला होवे। मन्द अग्नि में किया हुआ यज्ञ कष्ट देता है, सुलगता रहता है। इसी प्रकार मलिन चित्तवाला

1. मुण्डकोपनिषद् 2.1
2. मुण्डकोपनिषद् 2.2

ईश दर्शन का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता और श्रद्धा, तप से रहित अन्तःकरण पवित्र नहीं हो सकता।

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च।
हुतमवैश्वदेवमविधिनाहुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति॥[1]

जिस गृहस्थ के घर में नित्य दैनिक हवन नहीं होता है, न कभी अमावस्या और पूर्णमासी के दिन ही होता है, न कभी चार महीने में ही होता है, न कभी शरद् कालीन कार्तिक अथवा होली- दीपावली आदि विशेष पर्वों पर ही होता है, न कभी अतिथि यज्ञ होता है, अर्थात् घर में महान् विद्वान, त्यागी, तपस्वी वेदोद्धारक साधु-सन्तों का आदर-मान नहीं होता है और न ही भूखे, प्यासे, निराश्रितों को ही भोजन-वस्त्रादि से भी सहायता की जाती हो। इस सब को विधि आदिपूर्वक न करने वाला गृहस्थी अपने सात लोकों के शुभकर्मों के फलों से रहित हो जाता है। अर्थात् वह कभी भी मुक्ति को और उस ब्रह्म को जान व प्राप्त नहीं कर सकता जिस ब्रह्म के जानने और प्राप्त करने के पश्चात् न कुछ जानने और प्राप्त करने के लिये अवशिष्ट नहीं रहता है।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फूलिंगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥[2]

जिस समय अग्नि कालवत् भयंकर प्रज्वलित हो, मन के समान अति वेगवाली, अति चपल, बहुत ही लाल वर्ण युक्त हो, श्वेतवर्ण के समान जिसका रंग हो अर्थात् धुंआ न हो, जिसमें से चिनगारियां निकल रही हों और भी कई प्रकार के रंगों से युक्त हो, तब आहुति डालनी चाहिये। बुझी और धूम्रवाली अग्नि में आहुति डाली हुई से विशेष लाभ नहीं होता। उक्त देदीप्यमान अग्नि में आहुति डालने से प्राणशक्ति पैदा होती है, कुण्डलियां जागृत हो जाती हैं। तब पृथिवी लोक से अर्थात् मूलाधार चक्र से ब्रह्मरन्ध्रचक्र तक पहुंच जाता है। इसी को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि, भूःलोक अग्नि को काली कहा है क्योंकि जब तक मनुष्य इस भूतल के पदार्थों में ही रमण करता रहेगा तब तक उसका मन मलिन ही रहेगा। राग-द्वेष आदि कालिमाओं से युक्त रहेगा और जब इस भूतल के पदार्थों से ममत्वभाव का परित्याग करेगा, तब धीरे-धीरे शुद्ध अन्तःकरण होता हुआ सत्यलोक को प्राप्त हो जायेगा। जैसे प्रदीप्त अग्नि धातुओं के मलों को दूर करके उसे कुन्दन बना देता है, वैसे ही उस व्यक्ति के सभी इन्द्रियों के और मन-चित्त के मल नष्ट होकर शुद्ध पवित्र अन्तःकरण वाला होता हुआ ईश दर्शन का वह पात्र बन जाता है।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालम् आहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासाः॥[3]

जो सुख शान्ति का इच्छुक देदीप्यमान अग्निओं में यज्ञ करता रहता है, उसको वे आहुतिय सूर्य द्वारा उस लोक में ले जाती हैं जहां देवों का देव परम पिता परमात्मा सबका रक्षक-पालक है। अर्थात् यज्ञ द्वारा अन्न, जल और वायु शुद्ध होता है, इनकी शुद्धि से और सेवन से मानव का अन्तःकरण पवित्र होता है, स्वस्थ अवस्था प्राप्त होती है, और समाधि में मन लगता है। योग द्वारा ही उस परब्रह्म का साक्षात्कार

---

1. मुण्डकोपनिषद् 2.3
2. मुण्डकोपनिषद् 2.4
3. मुण्डकोपनिषद् 2.5

होता है, परमानन्द को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यज्ञ व यज्ञ की आहुतियाँ यज्ञकर्त्ता के लिये अत्यन्त उपकारक होती।

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥[1]

उस यज्ञकर्ता को वे आहुतियां आओ आओ इस प्रकार बुलाती हैं जैसे चेतन मनुष्य किसी को इशारे से बुलाता है, प्रिय वाणी बोलती हुई और अर्चना करती हुई यह कहती हैं कियह है तुम्हारे यज्ञ का पुण्य प्रताप जिससे तुम ब्रह्म को प्राप्त हुए हो। इसका भाव यह है कि यज्ञ-याग और सन्ध्या वन्दन करने वाला सूर्य के समान तेजस्वी, शुद्ध अन्तःकरण वाला हो जाता है, उसकी वाणी में और व्यवहार में माधुर्य, आकर्षणशक्ति प्राप्त हो जाती है, दुनियां उस का मान-सम्मान करती है, सबको प्रिय लगता है, और जो सबका हितैषी, प्रिय होता है वह परमात्मा का भी प्रिय हो जाता है। सुख-शांति को प्राप्त करता है। यदि यज्ञकर्त्ता में उपरोक्त गुण न आयें तो वह यज्ञ-का झूठा दम्भ भरता है कि मैं नित्य यज्ञ करता हूं, बहुत दान देता हूं इत्यादि। दम्भी, अहंकारी, अव्यवहार कुशल और कठोर भाषी बड़े-बड़े यज्ञ-याग, दान-पुण्य करके भी ईश्वर का प्यार नहीं पा सकते और न ही मुक्ति प्राप्त सकते।

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्, बृहरारण्यकोपनिषद् में यज्ञ के महत्व को दर्शाया गया है।

अविद्या, अहंकार, प्रमाद से मुक्ति-

वर्तमान काल में यदि हम घर, परिवार, समाज, राष्ट्र में परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, एक-दूसरे का अपमान, घृणा, कलह, दीनता और हीनता का भाव आदि समस्याओं को देखते हैं तो उन समस्याओं के मूल में अविद्या, अहंकार, प्रमाद आदि पाये जाते हैं। जब तक इससे निवृत्ति नहीं होगी तब तक समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य में अविद्या, अहंकार व प्रमाद से मुक्त होने के लिए विशेष बल दिया है। महर्षि पतंजलि जी ने योगदर्शन के द्वितीय पाद में पाँच क्लेश गिनाये हैं- जिनमें अविद्या को सबसे पहले रखा है-

इसलिए एकादश उपनिषदों में विद्या और अविद्या रहस्य के सम्बन्ध में उपदेश दिया गया है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥[2]
अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुराविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥[3]
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥[4]

---

1. मुण्डकोपनिषद् 2.6
2. ईशोपनिषद् 9
3. ईशोपनिषद् 10
4. ईशोपनिषद् 11

विद्या और अविद्या के रहस्य के स्वरूप को ठीक-ठीक समझकर जो संतुलित जीवन जीते हैं, वे अपने जीवन को और इस जगत को भी सुखः, शान्ति, आनन्द से परिपूर्ण कर देते हैं। परन्तु कुछ लोग जो अल्पज्ञ होते हैं, अहंकार से परिपूर्ण होते हैं वे इस रहस्य को नहीं समझ पाते और केवल भौतिक सुख की चाहना में ही लगे रहते हैं। जो क्षणिक सुख है, भौतिक सुख है, शारीरिक सुख है, मिथ्या सुख है, ये ही अविद्या है। जो शाश्वत सुख है, यथार्थ सुख है, आत्मिक सुख है, वही विद्या है। इस रहस्य को जो अज्ञानी हैं भौतिकवादी हैं वे नहीं समझ पाते हैं। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है-

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त॥[1]

श्रेय और प्रेय मार्ग दोनों ही एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न फल वाले हैं, प्रेयमार्ग अविद्या का मार्ग है, अर्थात् सांसारिक सुख वेदोक्त यज्ञ-यागादि द्वारा प्राप्त होता है, और श्रेयमार्ग विद्या का है, अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति के यथार्थ स्वरूप को जानकर, समाधि द्वारा प्राप्त होता है। हे नचिकेता! तू विद्या के मार्ग का इच्छुक है, जिससे तू इन सांसारिक लुभायमान अनेक वस्तुओं में न फँसा, यह मैंने तुझे निश्चय से जान लिया है। तू अविद्या से मुक्त और विद्या युक्त आचरण वाला है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः॥[2]

जो व्यक्ति स्वयं तो अविद्या, अज्ञान, पाखण्ड और भौतिकवाद के ही चक्र में लिप्त हों, अपने को फिर भी महान्, धीर, विद्वान् मानते हों, ऐसों से सदा सावधान रहना चाहिये। इनको सदा नाना प्रकार के दुःख पीड़ित करते हुए नीच गति को प्राप्त कराते हैं। इनका उपदेश ऐसा ही समझना चाहिये। जैसे- अंधा स्वयं तो कूप में गिरता है, पर अन्य पीछे चलने वालों को भी गर्त में गिराता है। इसलिये हे नचिकेता! तू श्रेयपथगामी है, सांसारिक विषय=भौतिकवाद इस मार्ग में बाधक होता है, वह तो शरीर तक ही सीमित है, आत्मा का भोजन नहीं। आत्मा का भोजन तो त्याग, तप, दम ही है। जो मुमुक्षु हैं वे इस पथ को कभी नहीं त्यागते, उनके अन्दर भौतिकवाद विकार नहीं कर पाता। जैसे-आप को मैंने कितना अद्वितीय असाधारण लोभ-लालच भी दिया, पर आप श्रेय मार्ग से एक पग भी पीछे नहीं हटे। सांसारिक विषय भोग सब ब्रह्मविद्या की तुलना में न के बराबर है। यही सच्चे जिज्ञासु और पण्डित के लक्षण होते हैं। वे स्वयं भी स्थाई सुख-शांति के मार्ग पर निर्भ्रान्त हुए चलते हैं, और अन्यों को भी उसी ओर प्रेरित करते हैं।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥[3]

वेदशास्त्र के ज्ञान से जो सर्वथा अनभिज्ञ है, जो ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप को नहीं जानते, सदा सांसारिक धन-दौलत, पुत्र-कलत्रादि के ही मोह तथा अहंकार में फंसे रहते हैं, उनको ब्रह्मविद्या का उपदेश अच्छा नहीं लगता, वे मूढ़ इस लोक से भिन्न अन्य कुछ भी परलोक आदि को नहीं मानते। खाओ-पीओ,

1. कठोपनिषद् 2.4
2. कठोपनिषद् 2.5
3. कठोपनिषद् 2.6

मौज उड़ाओ, धर्म, कर्म, परलोकादि कुछ नहीं होता, ये सब उन्हें व्यर्थ लगते हैं। इसलिये इस प्रकार के अज्ञानी, भौतिकवादी बार-बार मृत्यु के ही ग्रास होते रहते हैं। इन्हें कभी सच्ची स्थाई शान्ति मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती और जो भौतिकता में लिप्त नहीं होते वे ही ब्रह्मविद्या के अधिकारी होते हैं।

इसी प्रकार का उपदेश मुण्डकोपनिषद् में भी दिया गया है-

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः।

जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥[1]

अविद्या, अज्ञान और पाखण्ड में पड़े हुए भी अपने को बहुत बड़े धीर, गम्भीर और विद्वान् समझने वाले लोग नीच योनियों में ठोकरें खाते हुए नाना प्रकार के कष्टों से जर्जरित होते रहते हैं। कभी भी बिना वेदज्ञान के सत्यतत्त्व को, ईश्वर के सच्चे स्वरूप को, उसकी उपासना की योगविधि को प्राप्त नहीं हो सकता। अर्थात् अविद्या युक्त आचरण से स्वयं भी दु:खी रहेगा और दूसरों को भी दु:खी करता रहेगा।

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।

यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥[2]

यह और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अविद्या-अंधकार रूप दु:ख सागर में पड़े हुए भी हम ही सबसे अधिक ज्ञानी, मानी और पुण्य भाग्यशाली हैं। ऐसा अपने आप को मानकर यथार्थ बोध के लिये प्रयत्न नहीं करते, ऐसे अल्पज्ञ को बालकवत् मूढ़ ही समझना चाहिये। वे राग-द्वेष मोह के वशीभूत होकर वेदशास्त्रों की निन्दा करते रहते हैं, जिसके फलस्वरूप नीच से नीच योनियों को प्राप्त होते रहते हैं। कभी सुख-शान्ति को प्राप्त नहीं होते।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥[3]

जो लोग यश, मान, पूजादि की ही अभिलाषा से अहंकार, अभिमान के वशीभूत होकर दान-यज्ञ आदि करते हैं और इन्हीं के करने में जीवन का परम लक्ष्य समझ बैठते हैं, अन्य कुछ भी योगादि कर्म नहीं करते, वे केवल इहलौकिक सुख को ही कुछ काल प्राप्त होकर पुनः इस संसार में आकर जन्म-मरण के दु:ख को प्राप्त होते हैं और जो यज्ञ-याग कर्म काण्ड के साथ-साथ अपने-अपने वर्ण आश्रम के कर्त्तव्य कर्मों का यथावत् अनुष्ठान और ईश्वर की स्तुति उपासना भी करते हैं, वे ही मोक्ष के अधिकारी होते हैं।

इस प्रकार अविद्या, अहंकार, आलस्य प्रमाद के विषय में जानकर समझकर योग पथ पर चलने वाले साधक को शीघ्र ही ये दुर्गुणों को छोड़ देना चाहिए और जो श्रेष्ठ कार्य अनुष्ठान हैं जैसे-विद्यार्जन, योगानुष्ठान, यज्ञ, दान, जप, तप आदि में लगना चाहिए। आरम्भ में कठिनाई होगी परन्तु धीरे-धीरे इसका अभ्यास हो जाता है तो सरलता रहती है। परम पूज्य गुरुदेव जी महाराज (योगर्षि श्री स्वामी रामदेव जी महाराज) कहते हैं कि **''इच्छा न होने पर भी अच्छा काम अवश्य करना चाहिए और बुरा काम कितनी भी इच्छा हो कभी भी नहीं करना चाहिए।''**

1. मुण्डकोपनिषद् 1/2/8
2. मुण्डकोपनिषद् 1/2/9
3. मुण्डकोपनिषद् 1/2/10

हे दिव्य स्वरूप स्वप्रकाशस्वरूप जगदीश्वर! आप हम जीवों को विज्ञान और धन से प्राप्त होने वाले सुख की प्राप्ति के लिये धर्म पथ से सब श्रेष्ठ ज्ञान एवं बुद्धि को प्राप्त कराओ। आप हमारे सम्पूर्ण दुर्गुण, दुर्व्यसनों को जाने वाले हैं, इनसे हमको दूर कर दीजिये।

हम विद्या और अविद्या, आत्मा-परमात्मा, प्रकृति के स्वरूप को भली प्रकार से समझ सकें, उनमें परस्पर भेद कर सकें विवेक वैराग्यपूर्वक जीवन का निर्वहन कर सकें। मृत्यु अर्थात् रोग, दोष, दुःख, क्लेश, संताप से बचकर अमृतत्व अर्थात् शाश्वत् आनन्द की प्राप्ति कर सकें।

वर्तमान की युवा पीढ़ी को इन सभी व्यसनों से बचाने का उत्तरदायित्व समाज के घर के ज्ञानी विद्वान् महापुरुषों का है। वे स्वयं सदाचार, सद्व्यवहार, सात्त्विक जीवन शैली का आलम्बन लेकर वेदानुकूल, शास्त्रानुकूल जीवन को महत्व देते हुए योग, यज्ञ, संध्या हवन, स्वाध्याय सेवा से युक्त रहकर जीवन को जीयें अर्थात् ऐसी प्रेरणा सबको करें।

महत्वपूर्ण बिंदु-

- कर्म के अनुसार फल प्राप्त होता है।
- पुनर्जन्म कर्मों पर आधारित है।
- आत्मज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।
- शुभ कर्म जीवन को श्रेष्ठ बनाते हैं।

शब्दावली-

कर्म - कार्य

पुनर्जन्म - पुनः जन्म लेना

मोक्ष - जन्म-मरण से मुद्रि

आत्मज्ञान - आत्मा का ज्ञान

शुभ कर्म - अच्छे कार्य

5 अंक के प्रश्न-

1. कर्म से क्या अभिप्राय है?
2. पुनर्जन्म सिद्धांत क्या है?
3. शुभ और अशुभ कर्म में अंतर बताइए।
4. उपनिषदों में कर्म का क्या महत्व है?
5. मोक्ष और पुनर्जन्म का संबंध स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषदों में कर्म सिद्धांत का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. पुनर्जन्म की अवधारणा का विवेचन कीजिए।
3. कर्म और भाग्य के संबंध पर चर्चा कीजिए।
4. शुभ कर्मों के महत्व को स्पष्ट कीजिए।

5. उपनिषदों में मोक्ष प्राप्ति के साधनों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. पुनर्जन्म का आधार क्या है?

(क) कर्म

(ख) धन

(ग) युद्ध

(घ) व्यापार

2. शुभ कर्म का परिणाम क्या है?

(क) दु:ख

(ख) सुख

(ग) क्रोध

(घ) मोह

3. उपनिषदों के अनुसार मोक्ष किससे प्राप्त होता है?

(क) आत्मज्ञान

(ख) धन

(ग) युद्ध

(घ) राजनीति

4. कर्म सिद्धांत का संबंध किससे है?

(क) कार्य और फल

(ख) व्यापार

(ग) मनोरंजन

(घ) शासन

5. पुनर्जन्म का चक्र कब समाप्त होता है?

(क) आत्मज्ञान से

(ख) धन से

(ग) युद्ध से

(घ) निद्रा से

इकाई-3.2 उपनिषदों में प्राणविद्या

उद्देश्य-

1. योग के स्वरूप को समझना।
2. ध्यान की प्रक्रिया का अध्ययन करना।
3. योग और आत्मज्ञान के संबंध को जानना।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड के अस्त्वि में प्राण का महत्वपूर्ण स्थान है, प्राण सर्वाधिक शक्तिशाली एवं उपयोगी जीवनी तत्त्व पंचतत्त्वों की दृष्टि से भी वायु तत्त्व हमारे शरीर के संचालन में बड़ी भूमिका निभाता है। जिसे वात कहते हैं। जो श्वास के रूप में हमारा प्राण है। उपनिषदों में प्राण को सभी इन्द्रियों को धारण करने वाला बताया गया है। प्रश्नोपनिषद् में प्राण के विषय में विशद् रूप से चर्चा की है- **सृष्टि का धारण, प्रकाशन करने वाली मुख्य शक्ति प्राण ही है-**

एक बार ब्रह्माण्ड के जड़ जगत् के विषय में आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी पिण्ड के चेतन जगत के विषय में वाणी, मन, चक्षु तथा श्रोत्र झगड़ने लगे और जोर-जोर से कहने लगे कि हम इसका धारण कर रहे हैं।

तान्हवरिष्ठः प्राण उवाच, मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं
प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः॥[1]

इन्हें झगड़ते देखकर सर्व-श्रेष्ठ 'प्राण' ने कहा-मूर्खता में मत पड़ो। मैं अपने को पांच भागों में विभक्त करके 'वाण' रूप जड़-चेतन जगत् को जैसे छप्पर को बल्ली धारण करती है वैसे धारण कर रहा हूं।

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्त तद्यथा मक्षिका मधुकर राजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति॥[2]

'ब्रह्मांड' के जड-जगत् के पृथिवी-जल आदि पांचों महाभूतों ने और 'पिंड' के चेतन-जगत् की पांचों इन्द्रियों ने 'प्राण' की इस बात में अश्रद्धा प्रकट की, मानने से हिचकिचाहट दिखलाई। प्राण भी अपना अभिमान रोक न सका। वह उत्क्रमण करने ही लगा, निकलने ही लगा कि दूसरे सब भी निकलते नजर आने लगे, वह ठहर गया तो दूसरे भी सब ठहर गये। जैसे शहद की मक्खियों की रानी-मक्खी के उड़ जाने पर सब मक्खियां उड़ जाती हैं उसके बैठ जाने पर सब बैठ जाती हैं, इसी प्रकार 'ब्रह्मांड' के पांचों महाभूत तथा 'पिंड' की पांचों इन्द्रियां प्रीति-पूर्वक प्राण की स्तुति करने लगीं।

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूँषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च॥[3]

रथ के चक्र की नाभि में जैसे अरे जुड़े रहते हैं, वैसे प्राण में सब स्थित हैं। ऋक्, यजु, साम- अर्थात्

1. प्रश्न.उ.-2.3
2. प्रश्न.उ.-2.4
3. प्रश्न.उ.-2.6

सम्पूर्ण 'ज्ञान-कांड' एवं यज्ञ-अर्थात् सम्पूर्ण 'कर्म-कांड' प्राण की साधना के लिये ही है। संसार को थामने वाली भौतिक-शक्ति 'क्षत्र' है, आत्मिक-शक्ति 'ब्रह्म' है। ये दोनों भी प्राण-शक्ति पर ही आश्रित हैं।

प्रजापतिश्चरति गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।
तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि॥[1]

हे प्राण! तू प्रजापति का रूप है। गर्भ में तू ही विचरण करता है, उत्पन्न होने पर ही उत्पन्न होता है। हे प्राण! सम्पूर्ण प्रजाएं उपहार ला-लाकर तेरे ही चरणों में रखती है। तू ही अपनी भिन्न-भिन्न प्राण-शक्तियों के द्वारा जड़-चेतन जगत् को थामे हुए है।

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुदोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥[2]

हे प्राण! अपने तेज से तू ही 'इन्द्र' है; अपने रक्षण से तू ही 'रुद्र' है; तू ही संसार की ज्योतियों के स्वामी 'सूर्य' के रूप में अन्तरिक्ष में विचरण कर रहा है।

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति॥[3]

हे प्राण! जब तू वर्षा करता है तब आनन्द से विभोर तेरी प्रजाएं सब-तरफ खड़ी मन-ही मन कह उठती हैं, अब भरपूर अन्न होगा।

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः॥[4]

हे प्राण! नीचे-सेनीच पुरुष-'व्रात्य'-तेरा ही रूप है, उच्च से उच्च- एकमात्र 'ऋषि' भी तेरा ही रूप है; तू संसार का 'अत्ता है, भोक्ता है, हम तेरे 'आद्य' को, भोग्य को पहुंचाने वाले हैं-तू भोक्ता और हम भोग्य हैं; तू विश्व का पति है; प्राण-रूप दीखने वाली वायु का भी तू ही पिता है।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षूँषि।
या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः॥[5]

हे प्राण! मेरा जो रूप वाणी में जाकर ठहरा हुआ है, जो श्रोत्र और जो चक्षु में है, तेरा जो रूप मन में फैल रहा है, उसे कल्याणकारी बना, उत्क्रमण मत कर-मेरी प्राण-शक्ति का किसी अंग में ह्रास न हो।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रींश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति॥[6]

पृथिवी, द्यु तथा अन्तरिद्वा-इन तीनों लोकों में जो-कुछ भी स्थित है, सब प्राण के ही बस में हैं। हे प्राण! जैसे माता पुत्र की रक्षा करती है, ऐसे ही तू हमारी रक्षा कर। हमें 'श्री'-भौतिक-ऐश्वर्य-तथा

1. प्रश्न.उ.-2.7
2. प्रश्न.उ-2.9
3. प्रश्न.उ.-2.10
4. प्रश्न.उ.-2.11
5. प्रश्न.उ.-2.12
6. प्रश्न.उ.-2.13

'प्रज्ञा'-मानसिक तथा आत्मिक ऐश्वर्य-का प्रदान कर।

आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे
छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृते तेनायात्यस्मिञ्छरीरे॥[1]

ऋषि पिप्पलाद कहने लगे कि, हे शिष्य! आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है, जैसे-शरीर के साथ-साथ छाया का सम्बन्ध है, जहां-जहां शरीर है, वहां-वहां छाया भी अवश्य होती है, जहां शरीर नहीं वहां छाया भी नहीं। इसी प्रकार जहां आत्मा है वहां प्राण अवश्य रहते हैं। मन की शुभाशुभ वासनाओं से यह प्राण शरीर में आता है।

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष
प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव सन्निधत्ते॥[2]

जैसे चक्रवर्ती राजा अधिकृतान् अपने अधीन राजा आदि की नियुक्ति करता है कि आप इन-इन ग्रामों को अपने अधिकार में रक्खो, इनके आप राजा हो, इसी प्रकार प्राण भी अन्य अपान, समान, व्यान, उदानादि प्राणों की पृथक-पृथक् सन्निधत्ते नियुक्ति करके स्वयं उनका अधिष्ठाता रहता है। इन दस प्राणों को इस प्रकार समझें।

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते मध्ये तु समानः।
एष ह्येतद्धृतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति॥[3]

अपान गुदा और उपस्थ इन्द्रिय में रहता है, चक्षु, श्रोत्र, मुख और नासिका में स्वयं प्राण रहता है, समान नाभि में रहता हुआ खाये-पीये को खींचता है। इससे सारे शरीर में इसका सञ्चार होता है, इसी कारण दो आंख, दो कान, दो नासिका और एक मुख=जिह्वा ये सात-ऋषि=ज्वालायें स्व-स्व कार्य में नियुक्त होती हैं। समर्थ बनती हैं।

हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां
द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति॥[4]

उन सब प्राणों का आधारभूत आत्मा ऊदय में रहता है। वहीं पर एक सौ एक नाडियों का चक्कर=समूह है। उनमें से एक-एक नाड़ियों से सौ-सौ नाड़ियां निकलती हैं, फिर उनमें से बहत्तर-बहत्तर नाड़ियां निकलती हैं फिर इसी प्रकार प्रत्येक नाड़ी से सहस्रों नाड़ियां निकलती है इनमें व्यान प्राण का संचार होता है। इनकी संख्या 72,72,10,201 बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख, दस हजार दो सौ एक होती हैं।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति।
पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्॥[5]

अथ एक या उर्ध्वः उदानः उन नाड़ियों में से एक नाड़ी ऊपर=मूर्धा को जाती है, जिसे सुषुम्णा नाड़ी

1. प्रश्न.उ.-3.3
2. प्रश्न.उ.-3.4
3. प्रश्न.उ.-3.5
4. प्रश्न.उ.-3.6
5. प्रश्न.उ. 3.7

कहते हैं। वह जैसे, जिसके कर्म होते हैं वैसे-वैसे लोक की प्राप्ति कराती है। पुण्यवानों को पुण्यलोक और पापियों का नरकलोक में ले जाती है। और पापपुण्य मिश्रित वालों को मनुष्य लोक प्राप्त कराती है।

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः।

पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः॥[1]

अब शरीर पिण्ड के पश्चात् बाह्य पिण्ड का वर्णन करते हुए ऋषि बोले कि, हे कुशलता अर्थात् सुयोग्यता रखने वाले कौशल्य पुत्र यह सूर्य ही इस बाह्य जगत् का प्राण है, सूर्य न हो तो किसी भी पदार्थ में प्राणों का सञ्चार नहीं हो सकेगा। इसलिये यह उदित होकर अपने शक्ति से चक्षु की प्राणशक्ति को अनुगृहीत करता है। आंखं शरीर पिण्ड का सूर्य है और आदित्य इस जगत् का चक्षु है। इन दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध है, जैसे- सूर्य ऊपर है और पृथिवी नीचे है, वैसे ही प्राण ऊपर है, अपान नीचे है। पृथिवी में जो देवता है, जिसके कारण नीचे को खींची जाती है वह है इसका आकर्षण, नहीं तो सूर्य के आकर्षण से ऊपर को खींची चली जाती और सूर्य से जा टकराती। इसी प्रकार शरीर की अपान शक्ति शरीर को ऊपर नहीं उठने देती, पृथिवी पर रखती है। और जो सूर्य-पृथिवी के बीच का आकाश है, वही समान वायु ही व्यान है।

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः।

पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः॥[2]

तेज ही उदान जब तक बाह्य जगत् से तेज की प्राप्ति होती रहती है, तब तक ही जीवात्मा उसकी सहायता से रहता है, और जब तेज उपशान्त हो जाता है, तब इन्द्रियां बाह्य जगत् से हटकर मन के साथ संयुक्त होने लगती हैं, तब जानो यह अब मरेगा और अन्य शरीर को धारण करने की इच्छा कर रहा है। इसलिये जिन मकानों में सूर्य का प्रकाश नहीं जाता, अथवा कभी अग्नि नहीं जलाई जाती, उनमें प्राणशक्ति कम होगी, वहां के रहने वाले रोगी और अल्पायु वाले होंगे।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः

सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति॥[3]

मरते समय जैसे मनुष्य के विचार होते हैं, उसी के अनुसार प्राण उसको पुनर्जन्म में ले जाते हैं, क्योंकि प्राण की दो शक्तियां हैं, एक शारीरिक, दूसरी मानसिक तेज ही शारीरिक शक्ति का सञ्चार करता है। प्राण की मानसिक शक्ति 'चित्त' है। इसी से संकल्प और विकल्प होते हैं। आत्मा और प्राणों का सहाचर्य है। इसलिये जब प्राण शरीर से जाते हैं, तब चित्त और आत्मा सभी निकल जाते हैं। निकलने का मार्ग योगियों का 'उदानमार्ग' ब्रह्मरन्ध्र है, साधारण व्यक्ति का जहां से चाहे वहां से निकल जाते हैं।

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च

भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥[4]

प्राणः एव प्राण ब्रह्म के चार पादों में एक है, वह वायु की ही ज्योति से प्रकाश वाला और स्वकार्य में

---

1. प्रश्न.उ. 3.8
2. प्रश्न.उ. 3.9
3. प्रश्न.उ. 3.10
4. छान्दोग्य. 3.18.4

समर्थ होता है। जो विद्वान् इस रहस्य को अच्छे प्रकार समझ लेता है, यह भी कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज से युक्त हो जाता है।

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन्प्राणे सर्वंसमर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः॥[1]

हे नारद! प्राण आशा से भी अधिक महत्व रखते हैं, जिस प्रकार चक्र की नाभि में अरे लगे होते हैं, इसी प्रकार अब तक का उक्त तत्त्व सब प्राणों में समर्पित हैं, सब कुछ प्राणों के कारण चेष्टा को प्राप्त है, प्राण रहित सब व्यर्थ हो जाता है। इसीलिये सारे संसार का चक्र = शरीर की क्रियायें प्राणों की सुरक्षा हेतु ही हो रही हैं। प्राण ही माता-पिता, भाई-बहन और आचार्य हैं, यही ब्राह्मणता को प्राप्त कराता है।

तदेष श्लोको भवति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्याऽसत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति। अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्याऽऽसत ऋषय सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्ध्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते॥[2]

उक्त विषय की स्पष्टता में यह कहा भी है कि-एक ऐसा चमचा है जिसका नीचे को मुख है, और ऊपर की ओर जड़ हैं, उसमें सम्पूर्ण यश समाविष्ट है। उसके किनारे पर सात ऋषि उपस्थित हैं, और आठवीं वाणी भी है जो ब्रह्म का व्याख्यान करती है। इस सबका रहस्य यह है कि मानव का जो यह सिर है यही चमस है, इसका ऊपर का भाग चमस का तला है, नीचे का भाग उसका मुंह है। इसमें ही सात ऋषि हैं अर्थात् दो आंख, दो कान, दो नासिका, एक जिह्वा ये ऋषि हैं, और आठवीं वाणी ईश का गुणगान करती रहती है। इन सातों से और आठवीं वाणी से ही इस प्रकार का ज्ञान और यश प्राप्त होता है।

महत्वपूर्ण बिंदु-

- योग आत्मा और परमात्मा का मिलन है।
- ध्यान मानसिक शांति प्रदान करता है।
- योग आत्मज्ञान का मार्ग है।
- नियमित ध्यान से एकाग्रता बढ़ती है।

शब्दावली-

योग - मिलन

ध्यान - एकाग्र साधना

आत्मज्ञान - आत्मा का ज्ञान

एकाग्रता - मन की स्थिरता

साधना - अभ्यास

1. छान्दोग्य-7.15.1
2. बृहद्. उ. 2.2.3

5 अंक के प्रश्न–

1. योग का अर्थ क्या है?
2. ध्यान क्यों आवश्यक है?
3. उपनिषदों में योग का उद्देश्य क्या है?
4. मन को शांत करने का उपाय क्या है?
5. ध्यान का मानसिक प्रभाव क्या है?

15 अंक के प्रश्न–

1. उपनिषदों में योग की अवधारणा का वर्णन कीजिए।
2. ध्यान की विधि एवं महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. योग और आत्मज्ञान के संबंध पर चर्चा कीजिए।
4. मानसिक शांति में ध्यान की भूमिका बताइए।
5. आधुनिक जीवन में योग की उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न–

1. योग का मुख्य उद्देश्य क्या है?

(क) आत्मज्ञान

(ख) व्यापार

(ग) राजनीति

(घ) युद्ध

2. ध्यान किससे संबंधित है?

(क) एकाग्रता

(ख) व्यापार

(ग) युद्ध

(घ) मनोरंजन

3. योग से क्या प्राप्त होता है?

(क) मानसिक शांति

(ख) क्रोध

(ग) आलस्य

(ख) मोह

4. मन को नियंत्रि करने का साधन क्या है?

(क) ध्यान

(ख) युद्ध

(ग) राजनीति

(घ) निद्रा

5. उपनिषदों में योग किससे जुड़ा है?

(क) आत्मा

(ख) व्यापार

(ग) धन

(घ) शासन

इकाई-3.3 उपनिषदों में आनन्द की मीमांसा

उद्देश्य-

1. नैतिक मूल्यों को समझना।
2. सत्य, अहिंसा एवं सदाचार का महत्व जानना।
3. उपनिषदों की नैतिक शिक्षाओं का अध्ययन करना।

तैत्तिरियोपनिषद् के ब्रह्मनन्द वल्ली में आनन्द की मीमांसा का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है-

भीषाऽस्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः । भीषाध्स्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चम इति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवास्यात्साधुयुवाध्यापकः । आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः । स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः । स एकः पितृणां चिरलोकलोका नामानन्दः। श्रोत्रिस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं पितृणां चिरलोक लोकानामानन्दाः । स एक आजानजानां देवानामानानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानामानन्दः ये कर्मणा देवानपि यन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कमदेवानां देवानामानन्दाः स एको देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दाः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । स यश्चायं पुरुषे।[1]

उस परमात्मा के भय, अनुशासन व्यवस्था से वायु चल रहा है, ठीक समय में सूर्य उदय और अस्त होता है, अग्नि, इन्द्र विद्युत भी स्व-स्व कार्य करते आ रहे हैं और करते रहेंगे, पांचवां मृत्यु भी इस संसार में भागा फिर रहा है।

यश्चासावादित्ये। स एकः । स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मान- मुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मान-मुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति । तदप्येष श्लोको भवति।[2]

अब आगे आनन्द की परिभाषा मीमांसा पर विचार करते हैं-इस संसार में मान लो एक ऐसा व्यक्ति हो जो शरीर से हष्ट-पुष्ट, स्वस्थ हो, जिसका जीवन सुविचारों से ओत-प्रोत हो, नम्र भी हो, ईर्ष्या-द्वेष से दूर हो, और शास्त्रज्ञ भी हो, पूर्ण उत्साही, सुशासक, वचनबद्ध, दृढ़विश्वासी आदि गुणयुक्त हो और धनधान्य से भरपूर पृथिवी उसकी हो जाय तो भी यह एक मनुष्य आनन्द की कोटि में ही गिना जा सकता है। इस सबके बराबर तो कामशक्ति से रहित, वेद के ज्ञाता को, वेदविद्या के पठन-पाठन में आनन्द आता

1. छान्दोग्य
2. छान्दोग्य

है। यह वाक्य सब ही आनन्दों के साथ जुड़ा हुआ होने से वहां भी इसका अन्वय कर लेवें जिससे बार-बार दुहराया न जाये।

इस प्रकार से सैंकड़ों मनुष्य आनन्द भी, एक मनुष्यगन्धर्व जो मननशीलता के साथ-साथ सामवेद का ज्ञाता भी हो उसके एक आनन्द के समतुल्य जानना चाहिये। जो मनुष्य गन्धर्वो के सौ आनन्द हैं, वह देवगन्धर्व के एक आनन्द के समान हैं। और जो देवगन्धर्व के एक आनन्द के समान हैं, वह चिरकाल तक उत्तम लोकों में रहने वाले पितरों के एक आनन्द के समान है। इसी प्रकार पितरों के जो सौ आनन्द हैं वे जो जन्म से ही दिव्य गुणयुक्त महान् विद्वान् हैं, उनके एक आनन्द के बराबर है और जो आजानजों के सौ आनन्द हैं, वे कर्मशील दिव्यगुणयुक्त विद्वानों के एक आनन्द के समकक्ष हैं। और जो कर्मदेवों के सौ आनन्द हैं, वे चक्रवर्ती राजा के एक आनन्द के समान जानने चाहिये। और जो इन्द्र के सौ आनन्द हैं, वे उस सम्राट् के जो वेदज्ञ गुरु हैं उसके एक आनन्द के तुल्य हैं। और जो सम्राट गुरु के सौ आनन्द हैं, वे सम्राटों के गुरुओं का भी गुरु, प्रजा का स्वामी परमात्मा के एक आनन्द के समान है।

और जो इस जीवात्मा में है, वही सूर्य आदि लोकों में ब्रह्म व्यापक है। वह एक है, अनेक नहीं, ऐसा निश्चय जानें। जो विद्वान् उस ईश्वर को इस प्रकार ठीक-ठीक समझ लेता है, वह मर करके पुनः इस संसार में जन्म ग्रहण नहीं करता, अपितु मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।

अर्थात् वह ऐषणाओं से रहित होकर, अहंकार और ममत्व के भाव को छोड़कर अन्नमयकोश से ऊपर उठ जाता है, उसके पश्चात् मन-बुद्धि अन्तःकरणों के कार्यों को नियन्त्रित करके 'प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमयकोशों' को जो सूक्ष्म शरीर है, उसकी भी ममता का परित्याग करके 'आनन्दमयकोश' में अर्थात् कारण शरीर में प्रवेश कर जाता है। इस कारण शरीर से ही मुक्ति के आनन्द का उपभोग सदैव करता रहता है।

महत्वपूर्ण बिंदु-

- सत्य और अहिंसा नैतिक जीवन के आधार हैं।
- सदाचार से व्यक्तित्व का विकास होता है।
- नैतिक शिक्षा चरित्र निर्माण करती है।
- उपनिषद नैतिक मूल्यों पर बल देते हैं।

शब्दावली-

नैतिकता	- सदाचार
सत्य	- सच्चाई
अहिंसा	- हिंसा का अभाव
सदाचार	- अच्छा व्यवहार
चरित्र	- व्यक्तित्व

5 अंक के प्रश्न–

1. नैतिक शिक्षा क्या है?
2. सत्य का क्या महत्व है?
3. अहिंसा का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. सदाचार किसे कहते हैं?
5. नैतिक जीवन क्यों आवश्यक है?

15 अंक के प्रश्न–

1. उपनिषदों में वर्णित नैतिक शिक्षाओं का विवेचन कीजिए।
2. सत्य और अहिंसा के महत्व पर चर्चा कीजिए।
3. नैतिक मूल्यों का मानव जीवन पर प्रभाव स्पष्ट कीजिए।
4. उपनिषदों में सदाचार की अवधारणा बताइए।
5. आधुनिक समाज में नैतिक शिक्षा की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न–

1. नैतिक जीवन का आधार क्या है?

(क) सत्य

(ख) धन

(ग) युद्ध

(घ) व्यापार

2. अहिंसा का अर्थ क्या है?

(क) हिंसा करना

(ख) किसी को कष्ट न देना

(ग) युद्ध करना

(घ) शासन करना

3. सदाचार किससे संबंधित है?

(क) अच्छे व्यवहार से

(ख) राजनीति से

(ग) व्यापार से

(घ) युद्ध से

4. उपनिषदों में किसे सर्वोच्च माना गया है?

(क) सत्य

(ख) धन

(ग) बल

(घ) युद्ध

5. नैतिक शिक्षा का उद्देश्य क्या है?

(क) चरित्र निर्माण

(ख) धन कमाना

(ग) राजनीति

(घ) मनोरंजन

इकाई-3.4 उपनिषदों में शाश्वत् सुख (भूमा) की प्राप्ति

उद्देश्य-

1. मोक्ष के स्वरूप को समझना।
2. मोक्ष प्राप्ति के साधनों का अध्ययन करना।
3. आत्मज्ञान और मोक्ष के संबंध को जानना।

मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य भूमा की प्राप्ति है। सांसारिक सुख की कामना भोगी करते हैं। जो क्षणिक सुख है, जिसमें सुख कम दुःख अधिक मिलता है जो संकीर्ण है। जिसमें स्वार्थ, लोभ, लालच है। व्यक्ति स्वयं का भी उत्थान नहीं कर पाता और संसार का भी भला नहीं कर पाता। इसके विपरीत योगी आत्मा, दिव्य आत्मा, सुख-शान्ति व आनन्द को पाकर परम ऐश्वर्य का अनुभव करता है। साधक का आत्मिक सुख सतत् बढ़ता ही रहता है। जिसे वह दूसरों को भी बांटता रहता है, इसलिए छान्दोग्य उपनिषद् में भूमा के सन्दर्भ में बहुत ही सुन्दर उपदेश दिया गया है-

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳहोवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच॥[1]

प्राचीन समय में नारद मुनि सनत्कुमार ऋषि के पास पहुंचे। वहां ऋषि से बोले कि महाराज मुझे 'भूमा' का उपदेश कीजिये क्योंकि मैं इसे ही जानना चाहता हूँ। अच्छा, हम उसका ही उपदेश करेंगे जिसे तुम नहीं जानते हो। परन्तु आप यह बतलायें कि आपने क्या-क्या पढ़ा है?

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि॥[2]

नारद बोले भगवन्! मैंने ऋग्वेद आदि चारों वेदों को पढ़ा है और इतिहास पुराण, वेदों का ज्ञान करने वाला व्याकरण शास्त्र, पितृ विज्ञान सेवा-शुश्रूषा शास्त्र, जिसे गृहविज्ञान भी कह सकते हैं, गणित शास्त्र, दैवविद्या दैविक प्रकोपों का शमन कैसे किया जा सके, निधिशास्त्र, अर्थशास्त्र, वाकोवाक्य, तर्कशास्त्र, संविधान शास्त्र, एकायन, नीति, धर्मशास्त्र, देवविद्या, निरुक्त शास्त्र, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, रसायन एवं प्राणी मात्र का शास्त्र, क्षत्र, धनुर्विद्या, नक्षत्रविद्या, ज्योति व शास्त्र, सर्पविद्या, भयंकर विषों का प्रभाव कैसे नष्ट किया जाये, और देवजनविद्या, नृत-गीत-कलादि विद्या भी पढ़ी हैं।

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतꣳह्येव मे भगवद् दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति। तं होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 7.1.1
2. छान्दोग्योपनिषद् 7.1.2

नामैवैतत्।।[1]

इसलिये भगवन् मेरा यह सब कुछ पढ़ा हुआ, अर्थ बोधमात्र ही है, आत्मवित् आत्मा और परमात्मा का मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है। अतः आप जैसे आत्मज्ञानी ही मुझे आत्मवित् करके मेरे को शोकरूपी सागर से पार कर सकते हैं, अर्थात् आप मुझे ब्रह्म ज्ञान देकर दुःख से पार करें। इतना कहने के पश्चात् ऋषि बोले- वास्तव में आप जो भी कुछ पढ़ पायें हैं वह सब शब्दमात्र ही है। परन्तु ये विद्यायें व्यर्थ नहीं हैं, ब्रह्मज्ञान के लिए ये सारी विद्यायें आवश्यक हैं, उनका बोध होना चाहिए। परन्तु हे नारद ये जो शास्त्रज्ञान को ही ब्रह्म मानकर उपासना करता है। वह तो शास्त्रबोध का महत्व है। इतने तक ही वह लौकिक यश को प्राप्ति करा सकता है, ब्रह्म ज्ञान का नहीं। नारद बोले कि हे भगवन इसके आगे का ज्ञान मुझे कराइये, ऋषिवर मुझे उसी का उपदेश करें, और इस प्रकार से सनत्कुमार ने नारद को उपदेश देना आरम्भ किया।

एक-एक बिन्दु पर नारद जिज्ञासा करते गये और सनत्कुमार उसका उत्तर देते गये। **(इसका उपदेश छान्दोग्योपनिषद् सप्तम प्रपाठक द्वितीय खण्ड से लेकर छब्बीसवें खण्ड तक इसका उपदेश दिया है।)** जिसको संक्षिप्त में प्रस्तुत कर रहे हैं। हे नारद! वेदादि शास्त्रों का जो ज्ञान प्राप्त किया है वह नाममात्र का ज्ञान है, इसे कह सकते हैं, इसके आगे है। वाणी ब्रह्म के आगे है, मन ब्रह्म के आगे हैं, संकल्प ब्रह्म के आगे हैं, चित्त ब्रह्म के आगे है, ध्यान ब्रह्म के आगे है, विज्ञान ब्रह्म के है, बल ब्रह्म के आगे है, अन्न ब्रह्म के आगे है, जल ब्रह्म के आगे हैं, तेज ब्रह्म के आगे हैं, आकाश ब्रह्म के आगे हैं, स्मृति ब्रह्म के आगे है, आशा ब्रह्म के आगे है, प्राण के आगे सब कुछ समर्पित है। प्राण के बिना कोई भी माता-पिता भाई बहन आचार्य, जीवित नहीं रहते। देखो नारद प्राणयुक्त जीवित माता, पिता आदि कोई भी अनुचित व्यवहार कर देता है तो लोग उसको धिक्कारते हैं, प्राणहन्ता हैं, ब्राह्मणहन्ता कहते हैं और यदि शरीर से प्राण अपने आप निकल जाते हैं तो उस शरीर को कोई भी पीड़ा दे, जलाये कोई कुछ नहीं कहता हे नारद इस संसार में शरीर में प्राण ही सबकुछ करा रहे हैं।

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदति।
सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति।।[2]

हे नारद! जो व्यक्ति सत्य और धर्मपूर्वक आगे बढ़ता है, वह अतिवादी ही होता है, क्योंकि उसने अपने पुरुषार्थ से सत्य का आश्रय लेकर आलसी-प्रमादी और व्यर्थ की बातें करने वालों को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ा है, उन्नति की है। तू इसी प्रकार अतिवादी बन, सत्य को जानकर आत्मवादी बन। हे भगवन्! मुझे सत्य की ही शिक्षा कीजिये।

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन्सत्यं वदति।
विजान्नैव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति।[3]

हे नारद! सत्यवादी वही हो सकता है जिसे सत्य का बोध है, जो सत्य को जानता ही नहीं, वह सत्य कैसे बोल सकता है? वस्तु के यथार्थ बोध को सत्य कहते हैं। तो भगवन! मुझे विज्ञान की ही शिक्षा करें।

1. छान्दोग्योपनिषद् 7.1.3
2. छान्दोग्योपनिषद् 7.16.1
3. छान्दोग्योपनिषद् 7.17.1

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति। नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति
मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति मति भगवो विजिज्ञास इति।।[1]

हे नारद! विज्ञान को तो वही प्राप्त कर सकता है, जो मनन-चिन्तनशील होता है, साधारण व्यक्ति अमननशील इस विज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। तो भगवन् मुझे विज्ञान का ही उपदेश करें। इसी को मेरी जानने की इच्छा है। ठीक है तुझे जानना भी चाहिये।

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रदधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते।
श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति।।[2]

हे नारद! जब मनुष्य गुरु आदि विद्वान् के प्रति श्रद्धा करता है, तब वह मतिमान् होता है, बिना श्रद्धा के ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता हैं। इसलिये तुझे अति श्रद्धालु बनना चाहिये। ठीक है भगवन्! मुझे 'श्रद्धा' की ही इच्छा है, इसी का उपदेश कीजिये।

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्राद्दधाति।
निस्तिष्ठष्ठन्नैव स श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति।।[3]

हे नारद! जब मनुष्य निष्ठा को धारण करता है, तब वह श्रद्धालु बनता है। जिसे गुरु के प्रति निष्ठा नहीं होती वह श्रद्धालु हो ही नहीं सकता। इसलिये तू निष्ठावान् बन। तो भगवन! मुझे इसी तत्व का ज्ञान करायें मैं यही जानना चाहता हूँ।

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति।
कृत्वैव निस्तिष्ठति। कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति।
कृतिं भगवो विजिज्ञास इति।।[4]

हे नारद! उस ही मनुष्य में निष्ठा का अंकुर उत्पन्न होता है, जो कर्म करता है, कर्मशील है। बिना कर्मठ के निष्ठा केवल बातों से नहीं होती। इसलिये तू कर्मशील बन! तो भगवन! मुझे इसी का ज्ञान करायें। मेरी यही इच्छा है।

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति। नासुखं लब्ध्वा करोति। सुखमेव लब्ध्वा करोति।
सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सुखं भगवो विजिज्ञास इति।।[5]

हे नारद! जब मनुष्य को किसी कार्य के करने से सुख प्राप्त होता है, तब ही वह उसको करने में प्रवृत्त होता है, बिना सुख के कोई प्रवृत्त नहीं होता। इसलिये तुझे सुख की इच्छा करनी चाहिये। तो भगवन! इसी का उपदेश कीजिये, यही मेरी इच्छा है।

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमेव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।
भूमानं भगवो विजिज्ञास इति।।[6]

1. छान्दोग्योपनिषद् 7.18.1
2. छान्दोग्योपनिषद् 7.19.1
3. छान्दोग्योपनिषद् 7.20.1
4. छान्दोग्योपनिषद् 7.21.1
5. छान्दोग्योपनिषद् 7.22.1
6. छान्दोग्योपनिषद् 7.23.1

हे नारद! सुख को वही व्यक्ति प्राप्त करता है जो भूमा है, जिसका हृदय विशाल है, संकुचित नहीं है, अपने पराये के चक्र से ऊपर उठ गया है। जो सारी पृथिवी को अपना परिवार समझता है, किसी निर्दोष को नहीं सताता है। इसलिये आप भी भूमा बनने का यत्न करें। हां भगवन मैं भूमा बनना ही चाहता हूं, इसी की शिक्षा दीजिये।

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोति-अन्यद्वि जानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथवैयदल्पं तन्मर्त्यꣳस भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति।।[1]

हे नारद! भूमा वह होता है जो किसी को अपने से भिन्न नहीं देखता है, सब में आत्मवत भाव मानता है, व्यर्थ की बातें न सुनता है, न बोलता है, और जो आत्म तत्त्व को जानता है जिसके अन्दर उक्त गुण नहीं हैं, वह अभूमा है, संकुचित हृदय वाला है। इसलिये भूमा ही अमृत है, सुख-शान्ति है, और अल्पता दुःख अशान्ति का कारण है। तो भगवन् भूमा तत्व किसमें प्रतिष्ठित है? वह तो अपनी ही महिमा के आधार पर प्रतिष्ठित है किसी अन्य आश्रय की उसे आवश्यकता नहीं, स्वयं ही जब मानव उक्त गुणों को धारण करता है, तब वह भूमा हो जाता है।

गो-अश्वमिह महिमेत्याचक्षतेहस्तिहिरण्यं दास-भार्यक्षेत्राण्यायतनानानीति।
नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमिति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति।।[2]

देखो नारद संसार में गौ, हाथी, घोड़े, सोना, सेवक-दास, पत्नी, भूमि और बड़े-बड़े भवनों को ही महिमा का कारण मानते हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में ये तो बहुत साधारण हैं, क्योंकि ये किसी दूसरे में प्रतिष्ठित हैं, अर्थात् दूसरे के आधार पर टिकी हुई हैं। इस वास्ते ये महिमा के कारण नहीं है। जिसका उपदेश मैं आपको करना चाहता हूं। अथवा आप जिस तत्त्व को जानना चाहते हो।

स एवाधस्तात्स उपरिष्टत्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳसर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳसर्वमिति।।[3]

नारद! भूमा का आधार अन्य नहीं है, वह स्वयं में नीचे से ऊपर, पीछे, आगे और दायें, बायें है वह ब्रह्म ही सब कुछ है अपने में परिपूर्ण है। उस भूमा रूप ब्रह्म के दर्शन करने के पश्चात् अन्य किसी की भी आवश्यकता नहीं रहती। वह भी अपने को नीचे-ऊपरादि सर्वत्र समझने लगता है, अर्थात् उसकी भावना विशाल हो जाती है, अल्प भाव जीवन से समाप्त हो जाता है। कोई पराया रहता ही नहीं, दूसरे में, सब प्राणियों में अपनी आत्मा ही समझने लगता है। फिर वह किसी निरपराधी को नहीं सताता। यही भूमा का लक्षण है।

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳसर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड

---

1. छान्दोग्योपनिषद् 7/24/1
2. छान्दोग्योपनिषद् 7/24/2
3. छान्दोग्योपनिषद् 7/25/1

आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषा सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति।।[1]

और यही 'आत्म-आदेश' है, उस ब्रह्म को ही ऐसा जान और मान लेता है, वह भी ब्रह्मवत् हो जाता है, उस की दृष्टि अल्पता से हटाकर भूमा हो जाती है, उसको सर्वत्र आनन्द की अनुभूति होती है, सर्वत्र अबाध गति को प्राप्त कर लेता है, और जो उस ब्रह्म को नहीं जान पाता वह 'भूमा' नहीं बन सकता, अल्पवृत्ति वाला ही रहता है। बिना भूमा के स्थाई शान्ति प्राप्त नहीं होती, इसी कारण वे आवागमन के चक्र में ही दुःख उठाते रहते हैं। इसी को मृत्युलोक कहा है।

तस्य है वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मता ध्यानमात्मश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदꣳसर्वमिति।।[2]

अर्थात् हे नारद! जो ब्रह्मजिज्ञासु-सुख शान्ति का इच्छुक उस 'भूमा-रूप' ब्रह्म को अपनी आत्मा में दर्शन कर लेता है, स्वीकार और समझ लेता है। वह इस निश्चय पर पहुंच जाता है कि उस आत्मा=ब्रह्म से ही प्राणों का विकास, 'आशा' का भाव, 'स्मृति' में प्रकाश, आकाश, तेज, जलादि पञ्च महाभूतों की उत्पत्ति, उसी की व्यवस्थानुसार प्राणियों के जन्म-मरण की व्यवस्था, अन्नादि भोग्य पदार्थों की प्राप्ति, शारीरिक-मानसिक-आत्मिक बल, विज्ञान, ध्यान में मन लगना, चेतनता, सुसंकल्प, मन की पवित्रता, वाणी में बोलने की शक्ति, शास्त्र बोध, मन्त्रोच्चारण का सामर्थ्य और मानव में शुभकर्म करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। अर्थात् सभी कुछ उस भूमा से ही प्राप्त होता है वही सबको पैदा करता है।

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताँ सर्वꣳ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विꣳशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारस्त स्कन्द इत्याचक्षते तꣳस्कन्द इत्याचक्षते।।[3]

हे नारद! मेरे कथन की पुष्टि में किसी ऋषि-मुनि का निम्न श्लोक व कथन है-जो आत्मज्ञानी उस भूमा के दर्शन कर लेता है, उसे ठीक-ठीक जान और मान लेता है, फिर उसको न मृत्यु का भय रहता है, न रोग-शोक का दर्शन करता है, वह सब कुछ इहलौकिक सुख को प्राप्त होकर निःश्रेयस की प्राप्ति कर लेता है। वह प्रथमावस्था में साधारण कोटि में होता है फिर उसकी कृपा तिगुणी, पंचगुणी, सातगुणी, नौगुणी, दसगुणी, सौगुणी और बीस हजार एक गुणी उन्नति कर जाता है। परन्तु इस उन्नति के लिये सर्वप्रथम आहार-विचार व्यवहार का शुद्ध होना अति आवश्यक है, तभी स्थिर मति प्राप्त होती है, शुद्धान्तः करण होता है। शुद्ध, पवित्र, आत्मावाला ही उस भूमा के दर्शन करने का पात्र बनता है। उसके सभी हृदयगत

1. छान्दोग्योपनिषद् 7/25/2
2. छान्दोग्योपनिषद् 7/26/1
3. छान्दोग्योपनिषद् 7/26/2

शंकायें=संशय नष्ट हो जाते हैं, मानसिक कलुषित भाव सब धुल जाते हैं अन्धकार अविद्या से पार होकर उस आत्मा के दर्शन कर लेता है। इस प्रकार का आत्मतत्त्व का उपदेश ऋषि सनत्कुमार ने नारद को किया। इसी कारण ऋषि को 'स्कन्द' नाम से भी पुकारते हैं।

इस प्रकार से यह भूमा का उपदेश प्रत्येक साधक को आत्मसात् करना चाहिए। और उच्च चेतना में रहकर हृदय की विशालता, भावों की विशालता से अपना आत्मकल्याण और विश्व कल्याण करना चाहिए। सनत्कुमार और नारद का यह संवाद बार-बार पढ़ना चाहिए मनन करना चाहिए तथा जीवन में उतारने का प्रयत्न करना चाहिए। जो सच्चे योगी होते हैं उनका जीवन हर पल हर क्षण भूमा से ओत-प्रोत रहता है। एकादशोपनिषद् की यह योगविद्या व्यष्टि से समष्टि के कल्याण के लिए अत्यन्त अति आवश्यक है।

महत्वपूर्ण बिंदु-

- मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य है।
- आत्मज्ञान मोक्ष का मुख्य साधन है।
- मोक्ष जन्म-मरण के चक्र से मुद्रि है।
- उपनिषद आत्मिक स्वतंत्रा पर बल देते हैं।

शब्दावली-

मोक्ष ख्र मुद्रि

आत्मज्ञान	- आत्मा का ज्ञान
जीवन-मुक्ति	- जीवित अवस्था में मुद्रि
जन्म-मरण चक्र	- संसार का चक्र
परम लक्ष्य	- सर्वोच्च उद्देश्य

5 अंक के प्रश्न-

1. मोक्ष क्या है?
2. मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन क्या है?
3. आत्मज्ञान का क्या महत्व है?
4. जन्म-मरण के चक्र से मुद्रि कैसे मिलती है?
5. उपनिषदों में मोक्ष को क्यों महत्वपूर्ण माना गया है?

15 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषदों में मोक्ष की अवधारणा का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. आत्मज्ञान और मोक्ष के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
3. मोक्ष प्राप्ति के साधनों का विवेचन कीजिए।
4. उपनिषदों में जीवन-मुक्ति की अवधारणा पर चर्चा कीजिए।
5. आधुनिक जीवन में मोक्ष की प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. मोक्ष का अर्थ क्या है?

(क) जन्म-मरण से मुक्ति

(ख) धन प्राप्ति

(ग) युद्ध विजय

(घ) व्यापार

2. मोक्ष किससे प्राप्त होता है?

(क) आत्मज्ञान

(ख) राजनीति

(ग) युद्ध

(घ) व्यापार

3. उपनिषदों में जीवन का अंतिम लक्ष्य क्या है?

(क) मोक्ष

(ख) धन

(ग) शासन

(घ) मनोरंजन

4. जन्म-मरण का चक्र किससे समाप्त होता है?

(क) ज्ञान

(ख) धन

(ग) बल

(घ) युद्ध

5. मोक्ष का संबंध किससे है?

(क) आत्मा

(ख) व्यापार

(ग) राजनीति

(घ) युद्ध

खण्ड-4

इकाई-4.1 शरीर की नदी के रूप में उपमा

उद्देश्य-

1. ब्रह्म के स्वरूप को समझना।
2. निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म का अध्ययन करना।
3. ब्रह्म और आत्मा के संबंध को जानना।

श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रथम अध्याय के पाँचवें श्लोक में इस शरीर की नदी के रूप में उपमा का वर्णन किया गया है-

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥[1]

जिस प्रकार नदी का जल कई स्रोतों=भागों में होकर बहता है, इसी प्रकार, इस शरीर रूपी नदी की पांच ज्ञानेन्द्रियां ही पांच स्रोत हैं, जिनके द्वारा ज्ञान रूपी जल बहता रहता है। जैसे नदी के उद्गम स्थान पहाड़ होते हैं, वैसे ही इन इन्द्रियों के उत्पत्ति स्थान पांच महाभूत हैं, जिनके कारण इसमें उग्रता, वेग और शुभाशुभरूपी वृतियों की वक्रता प्राप्त होती रहती है टेढ़े-मेढ़े मार्गों में बहती है। जिस प्रकार नदी में तरंगें उठा करती हैं, इसी प्रकार इस शरीररूपी नदी में पञ्च प्राण-अपानादि ही तरंगें हैं। पांच रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शादि इन्द्रियों के विषयों में ही लिप्त रहती हुई बहती रहती है। नदी के आवर्त=भंवर के समान इसमें भी उक्त विषय ही भवंररूप में हैं जिन्होंने जीव= मनुष्य डूबा रहता हैं। जैसे अधिक पानी के वेंग से नदी का प्रवाह वेग हो जाता है, वैसे ही, गर्भ दुःख, जन्म, जरा, व्याधि और मरण ये पाँच दुःख ही इसके प्रवाह हैं। जिस प्रकार नदी को पार करने के अनेक पचासों तरीके हैं इसी प्रकार हम आवागमन रूपी चक्रवाली नदी को भी पार करने के यज्ञ, याग, दान, पुण्य, निष्काम कर्मरूप अनेक मार्ग हैं, और अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ही इसके पाँच पर्व=जोड़ हैं। इस प्रकार एक नदी की उपमा से, इस शरीर रूपी नदी के रहस्यमय तत्त्वों को समझाया है। जो ब्रह्मविद्या से अत्यन्त ही सम्बन्धित हैं। क्योंकि जब शरीर रचना का बोध होगा तब ही तो मानव प्रकृति और ईश्वर को जान पायेगा।

प्रसंग-पुनः उक्त विषय में ही कहते हैं-

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥[2]

जिस ब्रह्म की कृपा से ही समस्त प्राणी जीवित रहते हैं, और सबका पालक है,` सबका आधार वही है। उस महान् ब्रह्म ही व्यवस्था में यह जीवात्मा जन्म-मरण रूप चक्र में घूम रहा है। अपने से भिन्न जो उस

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/5
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/6

ब्रह्म को प्रेरित करने वाला जान लेता है, वह उस प्रभु की अत्यन्त कृपा पाकर अमृत को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् आवागमन के चक्र से बच जाता है और जो इस संसार को भ्रमण कराने वाला अविद्यावश अपने को समझता है, वही आवागमन के चक्र को प्राप्त होता रहता है।

भक्त की प्रार्थना-

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥[1]

हे सुख-शान्ति और योग के इच्छुको! सुनो, जिस ब्रह्म को पूर्व के योगियों ने वेदशास्त्र की उत्तम विधि से उसे प्राप्त करके दिव्य स्थानों को प्राप्त करने वाले हुए, उसी प्रकार तुम भी अपनी बुद्धि और मन को उस ब्रह्म में लगाओ, जिससे उस ब्रह्म की प्राप्ति कर सको। बिना वेदपथ और ऋषि, मुनि, योगियों के मार्ग पर चले जीवन का अन्तिम लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता।

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः॥[2]

हे ब्रह्म इच्छुको! उस ब्रह्म को वही प्राप्त कर सकता है, मथ सकता है, जिसका जीवन अग्नि के समान शुद्ध पवित्र, तेजस्वी है, वायु के समान शरीर-आत्मा-बलिष्ठ और एक के पश्चात् दूसरी, तीसरी कुवासनाओं को जीवन में नष्ट करके श्रेष्ठ पथगामी हो गया है, और जिसका जीवन सोम सबको आनन्दित करने वाला है, जिसका व्यवहार सत्य-प्रिय-मधुर है, और जिसका मन उस ब्रह्म में लीन हो जाता है, वही उसे प्राप्त कर सकता है। तद्भिन्न निस्तेज, निर्बल, असत्यवादी, कठोरभाषी, व्यवहार कुशलता से रहित और विषयी, परपीड़ा देने वाला उसे कभी प्राप्त नहीं कर सकता।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृणवते न हि ते पूर्वमक्षिपत्॥[3]

सवित्रा जो योगी व मनुष्य अपने जीवन को वेद और सृष्टि रचना क्रम के अनुसार अति श्रद्धा-भक्ति के साथ व्यतीत करता है, कुपथगामी नहीं होता है, वह ब्रह्म को प्राप्त होता है, ब्रह्म के मोक्ष पद के प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है, उच्च स्थान बना लेता है। फिर पतन नहीं होता है=बिना ब्रह्म को प्राप्त किये उस मार्ग से पहले नहीं हटता है। उसका एकमात्र लक्ष्य होता है, कार्य की सिद्धि अथवा शरीर की उस कार्य की सिद्धि में आहुति दे देना। अस्थिर चित्त वाले कभी उस ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकते।

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/5
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/6
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 2/7

महत्वपूर्ण बिंदु-

- ब्रह्म को परम सत्य कहा गया है।
- ब्रह्म शाश्वत और अनन्त है।
- आत्मा और ब्रह्म का संबंध अद्वैत माना गया है।
- ब्रह्मविद्या आत्मज्ञान का मार्ग है।

शब्दावली-

ब्रह्म - परम सत्य

निर्गुण गुणरहित

सगुण - गुणयुक्त

अद्वैत - एकत्व

ब्रह्मविद्या - ब्रह्म का ज्ञान

5 अंक के प्रश्न-

1. ब्रह्म क्या है?
2. निर्गुण ब्रह्म से क्या अभिप्राय है?
3. सगुण ब्रह्म का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. उपनिषदों में ब्रह्म को कैसे वर्णित किया गया है?
5. ब्रह्म और आत्मा का क्या संबंध है?

15 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. निर्गुण और सगुण ब्रह्म का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. ब्रह्म और आत्मा के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
4. उपनिषदों में अद्वैतवाद की अवधारणा पर चर्चा कीजिए।
5. ब्रह्मविद्या के महत्व का विवेचन कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. उपनिषदों में ब्रह्म को क्या कहा गया है?

(क) नश्वर

(ख) परम सत्य

(ग) दुःख

(घ) शरीर

2. निर्गुण ब्रह्म कैसा है?

(क) गुणयुक्त

(ख) आकारयुक्त

(ग) गुणरहित

(घ) नश्वर

3. ब्रह्म और आत्मा का संबंध क्या है?

(क) भिन्न

(ख) एकत्व

(ग) विरोध

(घ) असंबंधित

4. अद्वैतवाद का प्रतिपादन किसने किया?

(क) शंकराचार्य

(ख) रामानुज

(ग) बुद्ध

(घ) महावीर

5. ब्रह्मविद्या किससे संबंधित है?

(क) परम सत्य के ज्ञान से

(ख) राजनीति से

(ग) व्यापार से

(घ) युद्ध से।

इकाई-4.2 अजा तथा अज का वर्णन (प्रकृति एवं पुरुष का वर्णन)

उद्देश्य-

1. आत्मज्ञान के महत्व को समझना।
2. आत्मा के स्वरूप का अध्ययन करना।
3. आत्मज्ञान और मोक्ष के संबंध को जानना।

प्रकृति-पुरुष के विषय में श्वेताश्वतरोपनिषद् के चौथे अध्याय में बहुत ही सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया गया है-

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेका न्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देव नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु॥[1]

जो परमात्मा एक है, निराकार होने से वर्ण-रूपादि रहित है। जिस जगदीश ने अपनी शक्ति से अनेक वर्ण वाले इस ब्रह्माण्ड को बहुत प्रकार का रचा है। और इस जगत् के प्रत्येक पदार्थ को कोई न कोई विशेष महत्त्वयुक्त किया है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु सप्रयोजन है, निरर्थक नहीं है। सृष्टि के आदि में इस नानाविध संसार को विशेष रूप में उत्पन्न करता है, और अन्त में उसका संहार कर देता है। इस प्रकार के हे महान् देव! आप हमको अत्युकृष्ट मेधाबुद्धि और नानाप्रकार के ज्ञान-विज्ञान से संयुक्त करो, जिससे हम सब प्रकार के ऐश्वर्य को और सुख-शान्ति को प्राप्त कर सकें।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापति॥[2]

हे ब्रह्मजिज्ञासुओ वही प्रजापति परमात्मा ज्ञानस्वरूप और स्वयं प्रकाश युक्त होने से 'अग्नि' है, इस जगत् का संहारक होने से 'आदित्य' है, अनन्त सामर्थ्यवान् और सब को प्राण धारण कराने से 'वायु' है, आनन्दस्वरूप और अपने भक्तों को आनन्द देने के कारण उसे ही 'चन्द्रमा' भी कहते हैं, महान् वीर्यशाली होने से 'शुक्र', महान् होने से 'ब्रह्म', सर्वत्र व्यापक होने से 'आप' और सबका पालक होने से उसे प्रजापति भी कहते हैं। परन्तु ये सब उसके गौणिक नाम है, मुख्य निज नाम उसका एक 'ओ३म्' ही है। इस नाम से ही उस की उपासना करनी चाहिये, किसी अन्य से नहीं।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वम् कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥[3]

सारे विश्व को अपने व्यापकत्व रूप गर्भ में रखता है इसलिये उसे 'स्त्री' कहते हैं। पितावत् पालक-पोषक होने से पुरुष, दूषित वृत्तियों का विनाशक होने से तुझे ही कुमार और कुमारी कह

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/1
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/2
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/3

देते हैं, दुष्टों को अपने रुद्ररूप दण्ड से दण्डित करने वाला होने से सबको ठग रहा है अर्थात् वश में करने वाला है, और तू ही इस सृष्टि पैदा करने वाला है। मानो आपका ही यह सारा संसार मुख है अर्थात् प्रलय समय में इसे खा जाते हो अर्थात् नष्ट कर देते हो।

नीलः पतंगो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भः ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा।।[1]

हे भगवन्! आप ही नीले, पीले, हरे और लाल-लाल आंखों वाले पशु-पक्षी आदि को उत्पन्न करने वाले हैं, आप ही विद्युत चमकाते हुए मेघों द्वारा वर्षा करने वाले हो, वसन्त-ग्रीष्मादि ऋतुओं का समय-समय पर प्रकट करने वाले भी आप ही हो, आप समुद्र के समान अगाध=गहन=महान् हो, स्वयं अनादि एक रस रहने वाले हो, विभु भी आप हो, और इस ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करनेहारे भी आप ही हो। आपके सिवा इस नानाविध पशु, पक्षी, मनुष्यादि को उत्पन्न करने का सामर्थ्य किसी में भी नहीं है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।[2]

इस मन्त्र में तीन बार 'अज' शब्द का वर्णन होने से, ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन अनादि सत्ताओं का रहस्य प्रकट किया है। अ+ज=अज तो कभी पैदा नहीं होता, विनाश रहित। परन्तु ये दो और तो एकरस रहते हैं, प्रकृति जो सत्व, रज और तम गुणयुक्त कारण अवस्था वाली है, वह अजा कहाती है, और जब विकृति को प्राप्त होती है, अर्थात् उपादान प्रकृति से ईश्वर जब इस अनेक रूपों वाली सृष्टि को उत्पन्न करता है, तब वह विनाश वाली हो जाती है। प्रकृति स्वयं जड़ होने से सृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकती, चेतन ब्रह्म ही करता है। जीव और ब्रह्म में यह अन्तर है। जीव तो इस सृष्टि का भोग करता हुआ इसमें रम जाता है, परन्तु ईश्वर इन जीवों द्वारा भोगी हुई सृष्टि=प्रकृति का त्याग कर देता है। वह तो दृष्टामात्र रहता है, और जीवों के कर्मानुसार भोग योनि प्राप्त कराता रहता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।[3]

एक प्रकृति रूपी वृक्ष पर समान गुण-कर्मादि वाले दो सुन्दर पक्षीरूप में बैठे हैं, अर्थात् एक उनमें ईश्वर है और दूसरा जीव उन दोनों में एक जीवात्मा तो उस वृक्ष के स्वादिष्ट फल को खा रहा है। अर्थात् इस प्रकृति का उपभोग कर रहा है, क्यों कि इस सृष्टि को ईश्वर जीवों के कर्म-फल भोगार्थ और अपवर्गार्थ ही उत्पन्न करता है, और दूसरा जो ईश्वर रूप पक्षी है, वह इसका उपभोग न करता हुआ उसको चारों ओर से देख रहा है। अर्थात् प्रकृति भोग है, जीवात्मायें भोक्ता हैं और ईश्वर दृष्टा है। प्रकृति से बना हुआ यह संसार ही एक मानो वृक्ष है। इसमें इन

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/4
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/5
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/6

रहस्यों को ऋषि ने स्पष्ट किया है। यह मन्त्र ऋग्वेद 1/164/20 का है। इस प्रकार ऋषि ने आगे भी कहीं-कहीं मन्त्र रक्खे हैं, अपने विषय की पुष्टि हेतु।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥[1]

प्रकृति रूपी एक ही वृक्ष पर बैठा हुआ जीवात्मा तो इस संसार के विषय भोगों में इतना निमग्न हो जाता है कि, इसे यज्ञ-याग और ईशभक्ति आदि शुभ कर्म याद ही नहीं रहते, इनमें रूचि ही नहीं लेता। परन्तु कुछ काल के पश्चात् इतना पछताता है कि, मैंने अविद्या=मूढवश सब कुछ खो दिया। परन्तु जब उस प्रभु के भक्तों को, शुभकर्मियों को सुख-शान्तिमय जीवन यापन करते हुए देखता है तब इसे इस प्रभु की महिमा का बोध होता है कि, प्रभु की भक्ति में ही सब कुछ दु:ख-शोक निवृत्त होते हैं। सांसारिक विषय तो क्षणिक सुख के हेतु हैं अंत में महदु:खकारक होते हैं।

महत्वपूर्ण बिंदु-

- आत्मज्ञान मोक्ष का मार्ग है।
- आत्मा अमर और शाश्वत है।
- आत्मज्ञान से अज्ञान का नाश होता है।
- साधना और ध्यान आत्मज्ञान के साधन हैं।

शब्दावली-

आत्मज्ञान - आत्मा का ज्ञान
आत्मा - जीव चेतना
साधना - आध्यात्मिक अभ्यास
मोक्ष - मुक्ति
अज्ञान - अविद्या

5 अंक के प्रश्न-

1. आत्मज्ञान क्या है?
2. आत्मा का स्वरूप कैसा है?
3. आत्मज्ञान क्यों आवश्यक है?
4. आत्मज्ञान और मोक्ष का क्या संबंध है?
5. उपनिषदों में आत्मा को कैसे वर्णित किया गया है?

15 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषदों में आत्मज्ञान की अवधारणा का विवेचन कीजिए।
2. आत्मा के स्वरूप का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/7

3. आत्मज्ञान और मोक्ष के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

4. आत्मज्ञान प्राप्ति के साधनों पर चर्चा कीजिए।

5. आधुनिक जीवन में आत्मज्ञान की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. आत्मज्ञान का संबंध किससे है?

(क) आत्मा से

(ख) व्यापार से

(ग) राजनीति से

(घ) युद्ध से

2. आत्मा कैसी मानी गई है?

(क) नश्वर

(ख) शाश्वत

(ग) दुखी

(घ) सीमित

3. आत्मज्ञान का परिणाम क्या है?

(क) मोक्ष

(ख) क्रोध

(ग) मोह

(घ) दु:ख

4. आत्मा और शरीर का संबंध कैसा है?

(क) एक

(ख) भिन्न

(ग) विरोधी

(घ) असंबंधित

5. आत्मज्ञान प्राप्त करने का माध्यम क्या है?

(क) साधना

(ख) व्यापार

(ग) राजनीति

(घ) युद्ध

इकाई-4.3 श्वेताश्वरोपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप

उद्देश्य-

1. सत्य और धर्म के महत्व को समझना।
2. नैतिक जीवन में धर्म की भूमिका जानना।
3. उपनिषदों की नैतिक शिक्षाओं का अध्ययन करना।

उपनिषदों में ब्रह्म, जीव प्रकृति का बहुत ही सुन्दर निरुपण किया गया है। परन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् में ब्रह्म (देव) का सुन्दर दिग्दर्शन प्रस्तुत है-

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥[1]

जो सूर्यादि और वेदज्ञ विद्वानों का स्वामी=रक्षक है। जिसमें ये समस्त लोक-लोकान्तर अधिष्ठित हैं। और जो इस संसार में दो पैर वाले मनुष्य और चार पैर वाले गौ आदि पशुओं का शासक है, नियामक है। हम सबउसी सुखदायक, द्विव्यगुणयुक्त ब्रह्म की ही उपासना करें, और अपनी सकल उत्तम सामग्री को उसी के अर्पण कर देवें। अर्थात् यज्ञ-यागादि उत्तमकार्यों में, वेद के प्रचार-प्रसार में लगा देवें। जिससे तन, मन, धन का सदुपयोग हो, और हमें सुख-शान्ति प्राप्त हो। सच्चे त्याग में, ईश्वर प्राणिधान में, और अपरिग्रह में जो आनन्द है, वह विषयभोगों में, असंतोष में और संग्रह की वृत्ति में कहां है?

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥[2]

इस संसार में जो सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है, उस पदार्थ का भी वही रचने वाला है। इस सम्पूर्ण जगत् के मध्य में विराजमान है, अर्थात् इसका अधिपति है, और अनेक गाय, बैल, पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट, पतंगादि रूपों में इस जगत् को रचा हुआ है। उस विश्व रचयिता कल्याणकारी, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, एक ब्रह्म को जानकर ही स्थाई शान्ति को प्राप्त होता है। अन्य कोई स्थाई शान्ति की प्राप्ति का मार्ग नहीं है।

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांछिनत्ति॥[3]

वही ईश्वर सदा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रक्षक, पालक और स्वामी है, और सबमें व्याप्त है। जिसकी उपासना में ब्रह्मज्ञानी, ऋषि, मुनि और शान्ति के इच्छुक विद्वान्जन लगे हुए हैं, उस ब्रह्म को जो भली प्रकार प्राप्त कर लेता है, वही मृत्यु की बन्धन रूपी बेड़ियों को काट देता है, अर्थात् संसार के आवागमन रूप चक्र से मुक्त हो जाता है।

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/13
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/14
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/15

विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥[1]

जो घृत से भी अति तरल, सूक्ष्म, पुष्टिकारक, कल्याणकारी, सब भूतों में व्याप्त और संसार का नियामक है, उस इस प्रकार के एक ब्रह्म को, देवेश को जान जाता है, वह क्लेश कर्म विपाक आदि सभी प्रकार के पाशों से छूट जाता है। उसका जान लेना ही इतना महत्त्वयुक्त है।

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥[2]

वह परमात्म देव, सारे संसार का कर्त्ता–धर्त्ता और हर्त्ता है, सभी प्राणियों के हृदयरूपी गुफा में विराजमान है। उसको जो जानने चाहे तो वह आठ योगांगों के अनुष्ठान से ही प्राप्त कर सकता है। बिना योगांगों के जीवन में आचरण किये उसे कोई प्राप्त नहीं कर सकता। इसी लिये कहा है कि शुद्ध पवित्र हृदयवाला, ब्रह्मजिज्ञासु, एकाग्रमन करके समाधिद्वारा ही जान सकता है। जो जान लेते हैं, वे अमृत=मोक्ष के भागी हो जाते हैं।

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासञ्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी॥[3]

जिस समय योगी को उस परमदेव की आनन्दमयी ज्योति प्राप्त हो जाती है, उस समय रजोगुण, तमोगुण और अविद्या रूपी अन्धकार का सर्वथा अभाव हो जाता है। उस ईश ज्योति के आगे=तुलना में न सूर्य का प्रकाश है, न रात्रि में चन्द्रमा का ही प्रकाश है। उस प्रभु का जो तेजोमय रूप है, वह न सत् है, न असत्, वह तो एकमात्र कल्याणकारी है, अक्षर=जो कभी क्षीण नहीं होता, सदा एक रस बना रहता है, सब को प्राप्त करने के योग्य है, उसी प्रभु से यह सर्व सत्यविद्यायुक्त, मानवमात्र का कल्याणकारी वेदवाणी सृष्टि के आदि में अग्नि–वायु आदि ऋषियों द्वारा प्रकट हुई है।

सत्–असत् का भाव यह है कि, जो उस प्रभु के आनन्द को प्राप्त कर लेता है, उसके लिये सत् है, और जो विषयी है, मूर्ख है, संसार के मोह–माया के जाल में ही फंसा हुआ है उसके लिये वह असत् है, उसे उसका पता ही नहीं।

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः॥[4]

जिस परमात्मा का नाम ही एकमात्र महान् यश युक्त है, यश प्राप्त कराने वाला है, उसकी कोई साकार नहीं है। जब साकार, अर्थात् देहधारी नहीं है, तब कोई न ऊपर से, न और न ही मध्य में से छू व पकड़ सकता है। अर्थात् साकारवान् वस्तु ही पकड़ी जा सकती है, निराकारवान् नहीं।

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/16
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/17
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/18
4. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/19

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥[1]

उस निराकार ब्रह्म का कोई रूप नहीं जिसको मानव आंखों के सामने खड़े हुए को देख सके। वह तो मानव के हृदय में है, उसे हृदय में ही एकाग्रमन करके समाधि द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है, और जो उसको जान लेते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्॥[2]

कोई मूर्ख व्यक्ति तो उसको रूपादि रहित होने के कारण मानता ही नहीं, विरला ही उसकी शरण को प्राप्त होता है। हे दुष्टों को दण्ड देकर रुलाने वाले प्रभो! आपका जो कल्याणकारी वेदोपदेश है, उससे मेरी सदा रक्षा करें। अर्थात् ऐसा शुभाशीर्वाद देवें जिससे मैं उस वेदपथ से कभी विमुख न होऊँ।

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे॥[3]

हे दण्डदाता रुद्र! आप हम पर सदा ऐसी कृपा करते रहो जिससे हम पुत्र–पौत्रों से, लम्बी आयु से, दुधारी गौओं से, घोड़ों से और वीर पुरुषों से युक्त रहें, धनैश्वर्यशाली होवें। और सदा यज्ञ–यागादि शुभ कर्म करते रहें, आपको कभी न भूलें, अर्थात् पुत्रादि का हमें अभाव प्राप्त न हो, वे छोटी आयु में हमसे न छूटे=मरे नहीं और सांसारिक सुखों को प्राप्त होकर आपको कभी भूलें नहीं, ऐसा वरदान मांगते हैं।

महत्वपूर्ण बिंदु–

- सत्य और धर्म जीवन के आधार हैं।
- धर्म नैतिक कर्तव्यों का पालन सिखाता है।
- सत्य से समाज में विश्वास बढ़ता है।
- उपनिषद नैतिक जीवन पर बल देते हैं।

शब्दावली–

सत्य – सच्चाई
धर्म – नैतिक कर्तव्य
नैतिकता – सदाचार
कल्याण – भलाई
कर्तव्य – दायित्व

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/20
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/21
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/22

5 अंक के प्रश्न–

1. सत्य का क्या अर्थ है?
2. धर्म किसे कहते हैं?
3. सत्य और धर्म का संबंध स्पष्ट कीजिए।
4. नैतिक जीवन में सत्य का क्या महत्व है?
5. उपनिषदों में धर्म को क्यों महत्वपूर्ण माना गया है?

15 अंक के प्रश्न–

1. उपनिषदों में सत्य की अवधारणा का वर्णन कीजिए।
2. धर्म और नैतिकता के संबंध पर चर्चा कीजिए।
3. सत्य और धर्म का मानव जीवन पर प्रभाव स्पष्ट कीजिए।
4. उपनिषदों में वर्णित नैतिक मूल्यों का विवेचन कीजिए।
5. आधुनिक समाज में सत्य और धर्म की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए।

बहु विकल्पीय प्रश्न–

1. उपनिषदों में किसे सर्वोच्च माना गया है?

(क) सत्य

(ख) धन

(ग) बल

(घ) युद्ध

2. धर्म का संबंध किससे है?

(क) नैतिक कर्तव्य

(ख) व्यापार

(ख) राजनीति

(घ) मनोरंजन

3. सत्य का पालन करने से क्या प्राप्त होता है?

(क) सम्मान

(ख) दु:ख

(ग) मोह

(घ) क्रोध

4. धर्म का उद्देश्य क्या है?

(क) कल्याण

(ख) युद्ध

(ग) व्यापार

(घ) राजनीति

5. नैतिक जीवन का आधार क्या है?

(क) सत्य और धर्म

(ख) धन

(ग) शक्ति

(घ) युद्ध

इकाई-4.4 उपनिषदों में सृष्टि रचना

उद्देश्य-

1. शांति की अवधारणा को समझना।
2. मानव कल्याण के सि)ांतों का अध्ययन करना।
3. उपनिषदों के सार्वभौमिक संदेश को जानना।

संसार में जो कुछ भी हम देख, सुन, जान रहे हैं, सूक्ष्मातिसूक्ष्म महान से भी महान तिल से लेकर ताड़ तक, कण से लेकर पहाड़ तक अखिल ब्रह्माण्ड का रचनाकार परमपिता परमेश्वर है। जिसका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद् के पाँचवे अध्याय में किया गया है-

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥[1]

ये दोनों ही (जीव-प्रकृति) उस अनन्त परब्रह्म के अधीन हैं। और विद्या अविद्या से युक्त हैं। जीवात्मा विद्या=स्वाभाविक ज्ञान से युक्त है, और प्रकृति अविद्या=जड़ है, ज्ञान और चेतनता से शून्य है। जब प्रकृति कार्यरूप में परिणित हो जाती है, तब वह विनाश वाली हो जाती है।

अथवा जब जीवात्मा प्रकृति के धर्मों को अविद्या तथा अहंकार के वशीभूत होकर अपने को बहुत बड़ा समझने लगता है, तब वह प्रकृतिवत् जड़ता, मूर्खता को धारण कर लेता है, और जब परमात्मा की ओर झुकता है, श्रेयपथगामी बनता है, तब ज्ञानवान् हो जाता है, मृत्यु बन्धन से छूट जाता है। परन्तु इन दोनों से भिन्न परमात्मा इनको नियम में रखता है, जिससे यह सारा ब्रह्माण्ड अनुशासन बद्ध होकर स्व-स्व कार्य में संलग्न रहता है।

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्॥[2]

हे मनुष्यो! जो अद्वितीय ब्रह्म प्रत्येक मानव, पशु, पक्षी आदि के शरीर की रचना करता है, सम्पूर्ण कार्य कारणों का अधिष्ठाता है और सृष्टि के आदि में वह वेदज्ञान को अग्नि आदि ऋषियों के हृदय मस्तिष्क बुद्धि में इसी प्रकार प्रकट कर देता है, जैसे कोई ऋषि-विद्वान् ब्रह्मजिज्ञासु के हृदय में ज्ञान भर देते हैं, उसे ज्ञानी बना देता है। उस इस प्रकार के महान् प्रसिद्ध सर्वज्ञ ब्रह्म का समाधि द्वारा साक्षात्कार करे। जिससे जीवन सफल हो सके।

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा॥[3]

हे ब्रह्मजिज्ञासु ऋषि-मुनियो! वह जगदीश जीवों के कर्मानुसार प्रत्येक को बहुधा अलग-अलग अनेक

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 5/1
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 5/2
3. श्वेताश्वतरोपनिषद् 5/3

रूपों-रंगों-योनियों के रूप में इस सृष्टि को विशेष रूप से जालवत् बनाता है। जैसे कोई शिकारी नाना प्रकार के हिरण, पक्षी आदि को पकड़ने के लिये वैसे ही जालों को फैलाता है। अन्त में फिर इसको समेट लेता है वैसे ही वह परमात्मा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की व्यवस्था कर रहा है, सबका शासक है। सृष्टिरूपी जाल को कभी फैलाता है, कभी प्रलय करता है।

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान्।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः॥[1]

जिस प्रकार सूर्य स्वयं प्रकाशमान् होता हुआ, समस्त ऊपर-नीचे आदि दिशाओं में प्रकाश फैलाता है, चमकता है इसी प्रकार वह परब्रह्म परमात्मा सर्वश्रेष्ठ सभी योनियों के अनुसार गुण-कर्म स्वभावपूर्वक इस जगत् को बनाता है, और इसका स्वयं नियामक रहता है। जैसे यन्त्र निर्माता के यन्त्र वशीभूत होता है, उस पर बैठकर उसे चलाता है।

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः॥[2]

जो ब्रह्म इस विश्व की उत्पत्ति का निमित्त कारण है, वही जो जिस पदार्थ का स्वभाव है, उसको उसी के अनुरूप बनाता है, उसी नियम में वह कार्यरत है, जैसे आम का बीज आम ही बनेगा, कीकर का वृक्ष नहीं, मिट्टी से मिट्टी के ही पात्र बनेंगे लोहे, सोने के नहीं, लकड़ी से लकड़ी के, सूत से कपड़ा इत्यादि इस प्रकार सम्पूर्ण द्रव्यों के गुणों का भी वह एक ही सर्व अधिष्ठाता विनियोग कर रहा है। हम भी उन पदार्थों से वैसे ही लाभों को प्राप्त करके सुखी होवें।

महत्वपूर्ण बिंदु-

- उपनिषद विश्व शांति का संदेश देते हैं।
- मानव कल्याण उपनिषदों का मुख्य उद्देश्य है।
- शांति मंत्र मानसिक और सामाजिक संतुलन प्रदान करते हैं।
- विश्व बंधुत्व की भावना उपनिषदों में प्रमुख है।

शब्दावली-

शांति - मानसिक एवं सामाजिक संतुलन
कल्याण - भलाई
विश्व बंधुत्व - सार्वभौमिक भाईचारा
सद्भाव - आपसी प्रेम
मानवता - मानव धर्म

---

1. श्वेताश्वतरोपनिषद् 5/4
2. श्वेताश्वतरोपनिषद् 5/5

5 अंक के प्रश्न–

1. शांति का क्या अर्थ है?
2. मानव कल्याण से क्या अभिप्राय है?
3. उपनिषदों में शांति मंत्रें का क्या महत्व है?
4. विश्व बंधुत्व का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
5. उपनिषदों में मानवता का क्या संदेश दिया गया है?

15 अंक के प्रश्न–

1. उपनिषदों में शांति की अवधारणा का विवेचन कीजिए।
2. मानव कल्याण के सिद्धांतों पर चर्चा कीजिए।
3. उपनिषदों के सार्वभौमिक संदेश का वर्णन कीजिए।
4. विश्व शांति में उपनिषदों की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
5. आधुनिक समाज में उपनिषदों की उपयोगिता पर चर्चा कीजिए।

बहु विकल्पीय–

1. उपनिषदों में शांति मंत्र किसके लिए हैं?

(क) वि श्व कल्याण

(ख) युद्ध

(ग) व्यापार

(घ) राजनीति

2. मानव कल्याण का उद्देश्य क्या है?

(क) सबकी भलाई

(ख) युद्ध

(ग) धन संचय

(घ) शक्ति प्रदर्शन

3. विश्व बंधुत्व का अर्थ क्या है?

(क) सभी को अपना मानना

(क) युद्ध करना

(ख) व्यापार बढ़ाना

(ग) शासन करना

4. उपनिषद किस पर बल देते हैं?

(क) शांति और सद्भाव

(ख) युद्ध

(ग) राजनीति

(घ) संघर्ष

5. शांति मंत्रों का उद्देश्य क्या है?

(क) मानसिक एवं सामाजिक शांति

(ख) व्यापार वृद्धि

(ग) युद्ध विजय

(घ) मनोरंजन।

।। ओ३म् ।।

काव्यं काव्यशास्त्रञ्च

MSSAMJ-202

दिव्य प्रकाशन

एम.ए. संस्कृतम् पाठ्यक्रमस्य द्वितीयसत्रम्
द्वितीयपत्रम् - काव्यं काव्यशास्त्रञ्च
पेपर कोड : MSSAMJ-202 Credit-5

उद्देश्य -

- विद्यार्थियों को काव्य, काव्यशास्त्र के विषय में जानकारी प्रदान करना।
- विद्यार्थियों को काव्य, काव्यशास्त्र में सन्निहित व्यवहारिकता की जानकारी प्रदान करना।
- विद्यार्थियों को काव्य, काव्यशास्त्र में सन्निहित अवधारणाओं के माध्यम से व्यावसायिक दक्षता प्रदान करना।

परिणाम-

- छात्र को काव्यशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का पूर्णरूप से बोध हो जाता है।
- छात्र काव्यशास्त्र की रचना शैली से अवगत हो जाता है।
- काव्यशास्त्र में निहित मान्यताओं का बोध कर लेता है।

खण्ड-1 शुकनासोपदेशः कादम्बरी (बाणभट्ट) (क्रेडिट-2)

इकाई-1.1 लक्ष्मीमदस्वरूपम्, विषयासक्तिस्वरूपम्, गुरूपदेशगरिमा

इकाई-1.2 राजलक्ष्मीविवेचनम्, लक्ष्मीवैचित्र्यम्, लक्ष्मीप्रभाववैचित्र्यम्

इकाई-1.3 राजोपदेशगरिमा, गुरूपदेशपात्रत्वम्

इकाई-1.4 गुरूपदेशविमुखानाम् स्थितिः, उपदेश उपसंहारः

खण्ड-2 साहित्यदर्पणः प्रथमपरिच्छेदः द्वितीयपरिच्छेदश्च (क्रेडिट-1)

इकाई-2.1 मंगलाचरणम्, काव्यप्रयोजनञ्च

इकाई-2.2 काव्यस्वरूपम् (विभिन्नाचार्याणाम् अथ च आचार्यविश्वनाथस्य मते)

इकाई-2.3 वाक्यस्वरूपम्, अभिधाशक्तिनिरूपणम्, संकेतग्रहश्च

खण्ड -3 साहित्यदर्पणः द्वितीयपरिच्छेदः समाप्तिपर्यन्तम् (क्रेडिट-1)

इकाई-3.1 लक्षणाशक्तिनिरूपणम्, लक्षणाभेदा उपादानलक्षणा-लक्षणलक्षणादयः

इकाई-3.2 व्यञ्जनाशक्तिनिरूपणम् व्यञ्जनाभेदाः शाब्दीव्यञ्जनार्थीव्यञ्जनादयः

खण्ड -4 सौन्दरानन्दम् (पञ्चमसर्गः, नन्ददीक्षा, 52 श्लोक (क्रेडिट-1)

इकाई-4.1 बुद्धस्य आगमनम्, बुद्धोपदेशः

इकाई-4.2 मोहनाशः, विषयदोषदर्शनम्, योगाभ्यासादेः गुणवर्णनम्

इकाई-4.3 प्रज्ञावबोधः, आसक्तिदोषनिवारणञ्च

इकाई-4.4 दीक्षामाहात्म्यम्, नन्दस्य दीक्षाग्रहणम्

विज़य सूची

विज़य	पृज़्ठ संख्या
खण्ड-1 शुकनासोपदेशः कादम्बरी (बाणभट्ट)	**7-50**
इकाई-1.1 लक्ष्मीमदस्वरूपम्, विषयासक्तिस्वरूपम्, गुरूपदेशगरिमा	7
इकाई-1.2 राजलक्ष्मीविवेचनम्, लक्ष्मीवैचित्र्यम्, लक्ष्मीप्रभाववैचित्र्यम्	17
इकाई-1.3 राजोपदेशगरिमा, गुरूपदेशपात्रत्वम्	31
इकाई-1.4 गुरूपदेशविमुखानाम् स्थितिः, उपदेश उपसंहारः	43
खण्ड-2 साहित्यदर्पणः प्रथमपरिच्छेदः द्वितीयपरिच्छेदश्च	**1-81**
इकाई-2.1 मंगलाचरणम्, काव्यप्रयोजनञ्च	51
इकाई-2.2 काव्यस्वरूपम् (विभिन्नाचार्याणाम् अथ च आचार्यविश्वनाथस्य मते)	57
इकाई-2.3 वाक्यस्वरूपम्, अभिधाशक्तिनिरूपणम्, संकेतग्रहश्च	73
खण्ड -3 साहित्यदर्पणः द्वितीयपरिच्छेदः समाप्तिपर्यन्तम्	**82-113**
इकाई-3.1 लक्षणाशक्तिनिरूपणम्, लक्षणाभेदा उपादानलक्षणा-लक्षणलक्षणादयः	82
इकाई-3.2 व्यञ्जनाशक्तिनिरूपणम् व्यञ्जनाभेदाः शाब्दीव्यञ्जनार्थीव्यञ्जनादयः	100
खण्ड -4 सौन्दरानन्दम् (पञ्चमसर्गः, नन्ददीक्षा, 52 श्लोक	**114-145**
इकाई-4.1 बुद्धस्य आगमनम्, बुद्धोपदेशः	114
इकाई-4.2 मोहनाशः, विषयदोषदर्शनम्, योगाभ्यासादेः गुणवर्णनम्	123
इकाई-4.3 प्रज्ञावबोधः, आसक्तिदोषनिवारणञ्च	134
इकाई-4.4 दीक्षामाहात्म्यम्, नन्दस्य दीक्षाग्रहणम्	140

भूमिका

प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक में विभिन्न ईकाईयों के माध्यम से पाठ्यवस्तुओं का समायोजन किया है जिसमें शुकनाशोपदेश, साहित्यदर्पण तथा सौन्दरानन्द के कुछ अंको को रखा गया है जिसकी प्रस्तावना कुछ इस प्रकार है-

(1) शुकनासोपदेश' संस्कृत साहित्य की एक महत्वपूर्ण काव्यरचना है, जिसका लेखक प्रसिद्ध गद्यकाव्यकार बाणभट्ट को माना जाता है। यह ग्रंथ कादम्बरी के उपसंहार में सम्मिलित है, परंतु अपने स्वतंत्र दर्शन, नीति, और काव्यात्मक सौंदर्य के कारण यह एक अलग रूप में भी प्रतिष्ठित है।

यह उपदेश एक राजनैतिक व नैतिक शिक्षण है, जो राजा तारापीड के मन्त्री शुकनास द्वारा राजकुमार चंद्रापीड को दिया गया है। इसमें राजधर्म, नीतिशास्त्र, लोकव्यवहार, आत्मनियंत्रण, और जीवन के व्यावहारिक पक्षों का सुगठित वर्णन मिलता है। यह न केवल एक युवराज को आदर्श राजा बनाने की शिक्षा देता है, अपितु किसी भी व्यक्ति को आदर्श नागरिक और नीति पारायण मानव बनने की प्रेरणा देता है।

शुकनासोपदेश की शैली सरल, प्रवाहपूर्ण तथा अलंकारिक है। इसमें उपदेशात्मकता होते हुए भी शुष्कता नहीं, अपितु भाव और बुद्धि का संतुलन विद्यमान है। इसके वाक्य विन्यास में संस्कृत गद्य की श्रेष्ठ परंपरा का पालन हुआ है।

यह ग्रंथ भारतीय चिंतन परंपरा में राजनीति और नैतिकता के समन्वय का अद्‌भुत उदाहरण है। इसमें 'राजा' को केवल सत्ता का स्वामी नहीं, अपितु धर्म, न्याय और लोककल्याण का प्रतिनिधि माना गया है। अत: 'शुकनासोपदेश' न केवल साहित्यिक बल्कि दार्शनिक और व्यावहारिक दृष्टि से भी अत्यंत मूल्यवान ग्रंथ है।

(2) 'साहित्यदर्पण' संस्कृत काव्यशास्त्र का एक प्रसिद्ध लक्षणग्रंथ है, जिसकी रचना आचार्य विश्वनाथ ने 14वीं शताब्दी में की थी। यह ग्रंथ दर्पण की भाँति सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को प्रतिबिंबित करता है, जिसमें काव्य की परिभाषा से लेकर रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सभी विषयों का सम्यक् निरूपण किया गया है। इसमें कुल 10 परिच्छेद (अध्याय) हैं, जिनमें प्रथम और द्वितीय परिच्छेद का स्थान विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि ये साहित्यशास्त्र की आधारशिला प्रदान करते हैं।

प्रथम और द्वितीय परिच्छेद मिलकर साहित्यदर्पण के सिद्धांतात्मक ढाँचे की नींव रखते हैं। एक ओर वे काव्य के स्वरूप और प्रयोजन को स्पष्ट करते हैं, तो दूसरी ओर काव्य के निर्माण की प्रक्रिया और कवि की आवश्यक योग्यताओं को रेखांकित करते हैं। प्रथम और द्वितीय परिच्छेद में काव्यस्वरूप, वाक्यस्वरूप, अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जनादि के विषय में विस्तृत चर्चा की गई है। ये दोनों अध्याय

साहित्यशास्त्र के अध्ययन हेतु अत्यंत आवश्यक हैं और आचार्य विश्वनाथ की दार्शनिक गहराई व व्यावहारिक दृष्टि को प्रकट करते हैं।

(3) 'सौन्दरानन्द' बौद्ध धर्म पर आधारित प्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य है, जिसकी रचना महाकवि अश्वघोष ने की थी। यह काव्य गौतम बुद्ध के अनुज नन्द और उनकी पत्नी सौन्दरी की कथा पर आधारित है। कुल 18 सर्गों में विभक्त इस महाकाव्य का पञ्चम सर्ग अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें नन्द की संन्यास दीक्षा का मार्मिक वर्णन किया गया है।

इस सर्ग में यह दर्शाया गया है कि नन्द राजवैभव, कामविलास और लौकिक सुखों में डूबा हुआ व्यक्ति है, किंतु भगवान् बुद्ध की करुणामयी प्रेरणा और धर्मोपदेश के प्रभाव से वह दीक्षित होने के लिए प्रेरित होता है। बुद्ध की आभा, धैर्य और वाणी में जो आकर्षण है, वही नन्द को सांसारिक मोह से हटाकर वैराग्य की ओर अग्रसर करता है।

यह सर्ग न केवल मानव-जीवन में वैराग्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया को दर्शाता है, बल्कि यह भी स्पष्ट करता है कि बाह्य प्रेरणा से उत्पन्न दीक्षा यदि अंतरात्मा से अंगीकृत न हो, तो वह स्थायी नहीं होती। नन्द यद्यपि बुद्ध के कहने पर दीक्षित हो जाता है, किंतु उसकी चित्तवृत्ति अभी भी सौन्दरी के प्रति आसक्त रहती है- यही इस सर्ग का मनोवैज्ञानिक पक्ष है।

काव्य की दृष्टि से, अश्वघोष का यह सर्ग श्रृंगार और शान्त रस का अद्‌भुत संगम है। भाषा में स्पष्टता, भावों में गहनता और शैली में सौष्ठव का अनूठा समन्वय दिखाई देता है।

इस प्रकार, पञ्चम सर्ग केवल एक दीक्षा का विवरण न होकर मानव मन की चंचलता, धर्ममार्ग की कठिनाई और बुद्ध के धैर्यपूर्ण मार्गदर्शन का सजीव चित्र प्रस्तुत करता है। यह अध्याय साधकों के लिए एक आदर्श वैराग्य-प्रेरक प्रसंग प्रस्तुत करता है, जो आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना प्राचीन काल में था।

खण्ड-1 शुकनासोपदेशः कादम्बरी (बाणभट्ट)

इकाई-1.1

लक्ष्मीमदस्वरूपम्, विषयासक्तिस्वरूपम्, गुरूपदेशगरिमा

उद्देश्य

- विवेक की जागृतिः राजकुमार चन्द्रापीड को राज्याभिषेक से पूर्व सत्ता के मद और धन की चंचलता के प्रति सचेत करना।
- नैतिक मार्गदर्शनः युवावस्था में सहज रूप से आने वाले दोषों (अहंकार, काम, अज्ञान) को गुरु के उपदेश रूपी प्रकाश से दूर करना।
- आदर्श शासक का निर्माणः एक राजा को कैसा होना चाहिए और उसे किन चाटुकारों या दोषों से बचना चाहिए, इसका व्यावहारिक ज्ञान देना।

परिणाम

- आत्मानुशासनः पाठक या श्रोता में आत्म-निरीक्षण की क्षमता विकसित होती है।
- सतर्कताः ऐश्वर्य और पद मिलने पर व्यक्ति अहंकार की गर्त में गिरने के बजाय विनम्र बने रहने की प्रेरणा प्राप्त करता है।
- गुरु की महत्ताः यह स्थापित होता है कि शास्त्र ज्ञान होने के बाद भी जीवन के व्यावहारिक और चारित्रिक उत्थान के लिए गुरु का उपदेश अनिवार्य है।

तात चन्द्रापीड! विदितवेदितव्यस्य अधीतसर्वशास्त्रस्य ते नाल्पमप्युपदेष्टव्यमस्ति । केवलञ्च निसर्गत एव अभानुभेद्यमरत्नालोकच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्।अपरिणामोपशमो दारूणो लक्ष्मीमदः। कष्टमनञ्जनवर्तिसाध्यपरम् ऐश्वर्यतिमिरान्धत्वम्। अशिशिरोपचारहार्योऽतितीव्रः दर्पदाहज्वरोष्मा। सततममूलमन्त्रशम्यो विषमो विषयविषास्वादमोहः। नित्यमस्नानशौचबाध्यो बलव. ान् रागमहावलेपः। अजस्रमक्षपावसानप्रबोधा धोरा च राज्यसुखसन्निपातनिद्रा भवति, इत्यतो विस. तरेणाभिधीयसे।

शब्दार्थ-तात = वत्स या पुत्र, चन्द्रापीड = राजा तारापीड का पुत्र, विदितवेदितव्यस्य = जानने योग्य सम्पूर्ण व्यावहारिकता को जानने वाला, अधीतसर्वशास्त्रस्य = जिसने सम्पूर्ण व्याकरणयुद्धादि शास्त्रों को पढ़ लिया है, ते = तुम्हारे अर्थात् चन्द्रापीड के लिए, अल्पम् = न्यून, अपि = भी, न = नहीं, उपदेष्टव्यम् = उपदेश के योग्य, अस्ति = है, केवलम् = मात्र, च = और, निसर्गतः = स्वभाव से, एव = ही. अभानुभेद्यम् = सूर्य के द्वारा न नाश करने योग्य, अरत्नालोकोच्छेद्यम् = मणियों

के आलोक से न छेदन करने योग्य, अप्रदीपप्रभापनेयम् = दीपक (चिमनी) की प्रभा से न दूर करने योग्य, अतिगहनम् = अत्यन्त दुर्धर्ष (गाढ), यौवनप्रभवम् = युवावस्था में उत्पन्न, तमः = अंधकार, अपरिणामोपशमः = वृद्धावस्था में भी जो शान्त या नष्ट नहीं होने वाला, दारुणः = भयङ्कर, लक्ष्मीमदः = धन दौलत का अभिमान। कष्टम् = बड़े खेद की बात है, अनञ्जनवर्तिसाध्यम् = अञ्जन की शलाका से मिटाया नहीं जा सकता, अपरम् = दूसरा, ऐश्वर्यतिमिरान्धत्वम् = धन दौलत व प्रभुसत्ता रूपी रतौंधी अर्थात् मोतिया बिन्द रूपी नेत्र रोग के अन्धेपन को। अशिशिरोपचारहार्यः = शीतल उपचार (चन्दन माला बर्फ) से भी शान्त न होने योग्य, अतितीव्रः = अत्यन्त तीक्ष्ण (तेज), दर्पदाह ज्वरोष्मा = अभिमान रूपी अग्नि के बुखार की गर्मी। सततम् = हमेशा, अमूलमन्त्रशम्यः = जड़ी बूटी तथा मन्त्रों से भी शान्त न किया जाने योग्य, विषमः भयङ्कर, विषयविषास्वादमोहः = लौकिक सुख रूपी विष के भोग की मूर्च्छा। नित्यम् = सदैव, अस्नान शौचबाध्यः = स्नान तथा पवित्रता से भी जिसका नाश नहीं किया जा सकता, बलवान = शक्तिशाली, रागमलावलेपः = लौकिक सुख रूपी मल, कीचड़ का लेपन। अजस्रम् = हमेशा, अक्षपावसानप्रबोधा = रात्रि के बीत जाने पर भी न जागने वाली, घोरा = बहुत गाढ़ी, राज्यसुखसन्निपातनिद्रा = राजकीय सुख समूहों से उत्पन्न निद्रा, भवति = होती है, इत्यतः = इसलिए, विस्तरेण = विस्तारपूर्वक, अभिधीयतसे = तुमसे कह रहा हूँ।

अनुवाद–वत्स चन्द्रापीड! जानने योग्य (व्यावहारिक, राजनीतिक, धाार्मिक) बातों को तुम जानते हो, तुम समस्त शास्त्रों का अध्ययन भी कर चुके हो, अतः तुम्हारे लिए कुछ भी उपदेश शेष नहीं है, जो तुम्हें दिया जाये, परन्तु केवल यह कहना है कि युवावस्था उत्पन्न अज्ञान रूपी अंधकार स्वभाव से ही सूर्य के द्वारा नष्ट नहीं किया जा सकता है, मणियों की किरणों से भी छिन्न भिन्न नहीं किया जा सकता, दीपों की आभा से दूर नहीं किया जा सकता है। यह अंधकार अन्तिम अवस्था अर्थात् वृद्धावस्था में भी शान्त नहीं होता है, धन का अभिमान बहुत भयंकर होता है। दूसरा धन दौलत रूपी नेत्ररोग (मोतियाबिन्द) के अंधेपन को काजल की शलाका के द्वारा मिटाया नहीं जा सकता। अतीव तेज अभिमान रूपी अग्नि ज्वर की गर्मी शीतल उपचार (माला चन्दन बर्फ) आदि से दूर नहीं की जा सकती। अत्यन्त भयंकर विषय भोग रूपी विष के आस्वादन से उत्पन्न मोह अर्थात् मूर्च्छा को निरन्तर प्रयोग में लेने वाली जड़ी बूटियों तथा मन्त्रों के द्वारा भी शान्त नहीं किया जा सकता है। शक्तिशाली उपभोग साधन रूपी कीचड़ के प्रचण्ड लेप को नित्य किये जाने वाले स्थान तथा पवित्रता से दूर नहीं किया जा सकता है और राजकीय सुख भोग के समूह रूपी भयंकर निद्रा रात्रि के अन्त होने पर भी अर्थात् सुबह होने पर भी नहीं खुलती है। इस कारण विस्तारपूर्वक तुमसे कहा जा रहा है।

समासाः–

विदितं ज्ञातं वेदितव्यं वेदनीयं येन सः विदितवेदितव्यः तस्य विदितवेदितव्यस्य ('अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहिः समासः)

अधीतं पठितं सर्वशास्त्रं येन स अधीतसर्वशास्त्रः तस्य अधीतसर्वशास्त्रस्य (बहुव्रीहिः)

भेत्तुं योग्यं भेद्यं, भानुना सूर्येण भेद्यं भेदनीयमिति (तृतीयातत्पुरुष समासः) न भानुभेद्यम् इति अभानुभेद्यम् (नञ् तत्पुरुषः)।

उच्छत्तुं योग्यम् उच्छेद्यम्, रत्नानां मणीनाम् आलोकः प्रकाशः इति (षष्ठीतत्पुरुषः) रत्नालोकस्तेन उच्छेद्यं, न रत्नालोकोच्छेद्यमिति अरत्नालोकोच्छेद्यम्। (तृतीयागर्भनञ्तत्पुरुषः)

अपनेतुं योग्यम् अपनेयं, प्रदीपस्य दीपकस्य प्रभा आभा प्रदीपप्रभा (षष्ठीतत्पुरुषः) तया अपनेयं, प्रदीपप्रभापनेयम् (तृतीया तत्पुरुषः) न प्रदीपप्रभापनेयमिति अप्रदीपप्रभापनेयम्। (नञ् तत्पुरुषः)

यूनां समूहः यौवनं तस्मात् प्रभवम् उत्पन्नम्। (पंचमी तत्पुरुषः)

अञ्जनं वर्तयतीति अञ्जनवर्ति तेन साध्यं प्रतीकार्यं अञ्जनवर्तिसाध्यं (तृतीयातत्पुरुषः) न अञ्जनवर्तिसाध्यमिति (नञ् तत्पुरुषः)

हर्तुं योग्यो हार्यः, शिशिरश्चासौ उपचारः शिशिरोपचारः (कर्मधारयतत्पुरुषः) तेन हार्यः, शिशिरोपचारहार्यः (तृतीयातत्पुरुषः) न शिशिरोपचारहार्यः इति अशिशिरोपचारहार्यः, (नञ् तत्पुरुषः)

दर्पः अभिमानः एव दाहज्वरस्तीव्रतापः (कर्मधारयतत्पुरुषः) तस्य उष्मा उष्णता दर्पदाहज्वरोष्मा (षष्ठीतत्पुरुषः)

शन्तुं योग्यः शम्यः, मूलश्च मन्त्रश्चेति मूलमन्त्रौ (इतरेतरयोगद्वन्द्वः) ताभ्यां शम्यः शमनीयो मूलमन्त्रशम्यः (तृतीयातत्पुरुषः) न मूलमन्त्रशम्यः अमूलमन्त्रशम्यः (नञ् तत्पुरुषः)

विषया उपभोगसाधनानि एव विषाणि गरलानि विषयाविषाणि (कर्मधारयतत्पुरुषः) तेषाम् आस्वा. दनेन उपभोगेन उत्पन्नो यो मोहः मूर्च्छा विषयविषास्वादमोहः (षष्ठीतत्पुरुषः)

बाधितुं योग्यो बाध्यः, स्नानञ्च शौचञ्चेति स्नानशौचे (इतरेतरयोगद्वन्द्वः) ताभ्यां बाध्यः स्नानशौचबाध्यः (तृतीयातत्पुरुषः) न स्नानशौचबाध्यः अस्नानशौचबाध्यः (नञ् तत्पुरुषः)

रागः विषयासक्तिः एव मलं पङ्कः (कर्मधारयतत्पुरुषः) तस्य अवलेपः लेपनं रागमलावलेपः (षष्ठीतत्पुरुषः)

प्रबोधनं प्रबोधः, क्षपायाः अवसानं क्षपावसानम् (षष्ठीतत्पुरुषः) न क्षपावसाने निशान्ते प्रबोधः जागरणं यस्यां सा अक्षपावसानप्रबोधा (बहुव्रीहिः)

राज्यसुखस्य आधिप्त्योत्पन्नानन्दस्य सन्निपातः संघातः राज्यसुखसन्निपातः (षष्ठीतत्पुरुषः) राज्यसुखसन्निपातः एव निद्रा शयनम् (कर्मधारयतत्पुरुषः)

गर्भेश्वरत्वमभिनवयौवनत्वमप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वञ्चेति महतीयं खल्वनर्थपरम्परा सर्वा। अविनयानामेकैकमप्येषामायतनं, किमुत समवायः। यौवनारम्भे च प्रायः शास्त्रजलप्रक्षालननिर्मलापि कालुष्यमुपयाति बुद्धिः। अनुज्झितधवलतापि सरागैव भवति यूनां दृष्टिः। अपहरति च वात्येव

शुष्कपत्रं समुद्धूतरजोभ्रान्तिरतिदूरम् आत्मेच्छया यौवनसमये पुरुषं प्रकृतिः।

शब्दार्थ–गर्भेश्वरत्वम् = गर्भावस्था अर्थात् जन्म से ही धनशाली होना, अभिनवयौवनत्वम् = नवीन युवावस्था होना, अप्रतिमरूपत्वम् = अतुलनीय सुन्दरता होना, अमानुषशक्तित्वम् = देवता जैसी शारीरिक शक्तिशाली होना, च = और/इति = यह, महती = बहुत बड़ी या लम्बी, अनर्थपरम्परा = आपत्तियों की परम्परा अर्थात् श्रृंखला है, खलु = निश्चित ही, सर्व = समस्त, अविनयानाम् = उद्दण्डताओं की, एषां = इन, एकैकम् = हरेक या प्रत्येक, आयतनम् = मन्दिर या घर, अर्थात् इन चारों में एक एक ही दोषों का खजाना है, किमुत = तो क्या, समवायः = समूह अर्थात् इन चारों के समूह का तो क्या कहना, जिनमें ये चारों हैं वह दोषों का पिटारा हो जाता है, यह भाव है, यौवनारम्भे = युवावस्था के प्रारम्भ में, च = और, प्रायः = अक्सर, शास्त्रजल = शास्त्र के ज्ञान रूपी जल से, प्रक्षालन निर्मलापि = धुलकर मल–विकार रहित होने वाली अर्थात् स्वच्छ बुद्धि = मति या मनीषा, कालुष्यम् = कलुषता अर्थात् कामयुक्त, उपयाति = प्राप्त हो जाती है अर्थात् स्वच्छ बुद्धि भी विकृत हो जाती है, अनुज्झितधवलतापि = सफेदी को न त्यागने पर भी, सरागैव = लालिमा से युक्त ही (प्रेमवाली), यूनाम् = युवकों की, दृष्टि = नयन अर्थात् विचार, भवति = हो जाते हैं, अपहरति = अपहरण कर लेती है, च = तथा, वात्या इव = प्रचण्ड आँधी (बवण्डर) के समान, शुष्कपत्रम् = सूखे पत्ते को, समुद्भूतरजोभ्रान्तिः = धूल को आकाश में उड़ाने वाली हवा या रजोगुण से उत्पन्न भ्रम वाला स्वभाव, अतिदूरम् = बहुत दूर, आत्मेच्छया = अपनी इच्छा के अनुसार, यौवनसमये = युवावस्था के समय में, पुरुषं = पुरुष को, प्रकृतिः = स्वभाव या नायिका ।

अनुवाद–गर्भ से ही धनशाली होना, नवीन युवावस्था अनुपम लावण्य तथा अलौकिक शक्ति यह निश्चय ही अनर्थों अर्थात् दोषों की श्रृंखला है। इनमें से एक भी समस्त दोषों अर्थात् आपत्तियों का आयतन अर्थात घर है तो इनके समूह का तो कहना है क्या है। युवावस्था के प्रारम्भ में प्रायः शास्त्र रूपी पानी से प्रक्षालित निर्मल बुद्धि भी मलिनता को प्राप्त करती है। युवकों की दृष्टि शुभ्रता का बिना त्याग किये भी अनुराग तथा लालिमा से युक्त हो जाती है तथा युवावस्था में रजोगुण से प्रादुर्भूत भ्रमात्मक स्वभाव अपनी इच्छा के अनुसार पुरुष को उसी प्रकार बहुत दूर ले जाता है जैसे धूलयुक्त बवण्डर इच्छानुसार शुष्क पत्ते को अत्यन्त दूर उड़ा ले जाता है।

समासाः–

यूनां समूहः यौवनं, अभिनवं यौवनं यस्य स अभिनवयौवनः (बहुव्रीहिः) तस्य भावः अभिनवयौवनत्वम्

अप्रतिमं रूपं यस्य अप्रतिमरूपः (बहुव्रीहिः) तस्य भावः अप्रतिमरूपत्वम् (तस्य भावस्त्वतलौ)

मनोर्जातिः मानुषः ('मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' इति अण् प्रत्ययः) मानुषस्य शक्तिः मानुषशक्तिः (षष्ठीतत्पुरुषः) न विद्यते मानुषशक्तिर्यस्य अमानुषशक्तिः (बहुव्रीहिः) तस्य भावः अमानुषशक्तित्वम्

शास्त्रमेव जलं सलिलं शास्त्रजलम् (कर्मधारयतत्पुरुषः) तस्य प्रक्षालनेन निर्मला पवित्रीकृता या सा (षष्ठीगर्भतृतीयातत्पुरुषः)

अनुज्झिता अपरित्यक्ता धवलता शुभ्रता यया सा अनुज्झितधवलता (बहुव्रीहिः)

समुद्भूता समुत्पन्ना रजोभ्रान्ति रजोगुणभ्रमिः यस्यां सा समुद्भूतरजोभ्रान्तिः (बहुव्रीहिः)

विषयासक्तिस्वरूपम्

इन्द्रियहरिणहारिणी च सततमतिदुरन्तेयम् उपभोगमृगतृष्णिका नवयौवनकषायितात्मनश्च सलिलानीव तान्येव विषयस्वरूपाण्यास्वाद्यमानानि मधुरतराण्यापतन्ति मनसः। नाशयति च दिङ्मोह इवोन्मार्गप्रवतर्कः पुरुषमत्यासङ्गो विषयेषु**। भवादृशा एव भवन्ति भाजनान्युपदेशानाम्। अपगतमले हि मनसि स्फटिकमणाविव रजनीकरगभस्तयो विशन्ति सुखेनोपदेशगुणाः।**

शब्दार्थ-इन्द्रियहरिणहारिणी = इन्द्रिय रूपी हिरण को दूर ले जाने वाली या अपनी ओर आकर्षण करने वाली, सततम् = हमेशा, अतिदुरन्ता = अति कठिनता से अन्त होने वाली, इयम् = यह, उपभोगमृगतृष्णिका = सांसारिक विषय भोग रूपी मृगतृष्णा, नवयौवनकषायितात्मनः = नूतन युवावस्था से कषैला अन्तःकरण वाले को, आस्वाद्यमानानि = जिसका आस्वादन किया जा सके, मधुरतराणि = अत्यधिक मीठे, आपतन्ति = प्रतीत होते हैं या गिरते हैं, मनसः = मन को, नाशयति च = और नष्ट कर देता है, दिङ्मोहः = दिग्भ्रम की तरह, उन्मार्गप्रवर्तकः = गलत मार्ग पर प्रवृत्त करने वाला, अत्यासङ्गः = अत्यधिक आसक्ति, विषयेषु = सांसारिक सुख साधनों में, भवादृशाः = आपके समान एव = ही, भवन्ति = होते हैं, भाजनानि = उचित पात्र, उपदेशानाम् = उपदेशों के, अपगतमले = गन्दगी से रहित, हि = क्योंकि, मनसि = मन में, स्फटिकमणौ इव = स्फटिक मणि की तरह, रजनीकरगभस्तयः = चन्द्रमा की किरणें, विशन्ति = प्रवेश करते हैं, सुखेन = सहजतया, उपदेशगुणाः = उपदेश की अच्छाइयाँ या उपदेश के गुण।

अनुवाद - सांसारिक विषय भोग की मृगमरीचिका इन्द्रिय रूपी हिरण को हरण करने वाली है, जिसका नाश बहुत ही दुष्कर है। नूतन युवावस्था में कषायित अर्थात् सांसारिक रागद्वेष से युक्त मन को पानी की तरह वे ही विषय भोग आस्वादन करने पर पूर्वापेक्षया अधिक मीठे प्रतीत होते हैं। विषय भोग के प्रति अधिक आसक्ति (लगाव) कुमार्ग पर चलाने बाले दिशाभ्रम की तरह पुरुषों को नष्ट कर डालती है। आपके सदृश लोग ही उपदेशों के पात्र होते हैं, क्योंकि उपदेशों के गुण (अच्छाइयां) मल से विहीन मन में बिना प्रयास के उसी प्रकार प्रवेश करते हैं जैसे चन्द्रमा की किरणें स्फटिक मणि में।

समासाः-

अतिदुष्करः अन्तः यस्या सा अतिदुरन्ता (बहुव्रीहिः)

उपभोगाः सुखसाधनानि एव मृगतृष्णिका मृगमरीचिका उपभोगमृगतृष्णिका (कर्मधारयतत्पुरुषः)

नवं चादः यौवनं नवयौवनं (कर्मधारयतत्पुरुषः) तेन कषायितः आत्मा यस्य नवयौवनकषायितः (बहुव्रीहिः) तस्य नवयौवनकषायितात्मनः।

इदम् मधुरम् इदम् मधुरम् अनयोरतिशयेन मधुरम् इति मधुरतरम् ('द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ'

इति तरप् प्रत्ययः)

दिशः मोहः दिङ्मोहः (षष्ठीतत्पुरुषः)

आसङ्गम् आसक्तिम् अतिक्रान्तः अत्यासङ्गः ('अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति अनेन द्वितीयातत्पुरुषः)

अपगतं नष्टीभूतं मलं यस्य स अपगतमलम् (बहुव्रीहिः) तस्मिन् अपगतमले

रजनीं निशां करोतीति निशाकरः (उपपदतत्पुरुषः) तस्य गभस्तिः रजनीकरगभस्तिः (षष्ठीतत्पुरुषः) ते....

गुरूपदेशगरिमा

गुरुवचनममलमपि सलिलमिव महदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्य। इरस्य तु करिण इव शङ्खाभरणमाननशोभासमुदयमधिकतरमुपजनयति। हरति च सकलम् अतिमलिन-मन्धकारमिव दोषजातं प्रदोषसमयनिशाकर इव गुरुपदेशः प्रशमहेतुर्वयःपरिणाम इव पलितरूपेण शिरसिसजालममलीकुर्वन् गुणरूपेण तदेव परिणमयति।

शब्दार्थ-गुरुवचनम् = गुरु का उपदेश या वाणी, अमलमपि = मल रहित या कल्याणकारी होने पर भी, सलिलमिव = पानी की तरह, श्रवणस्थितम् = कान में जाकर, महत् = अतिशय, शूलं = पीड़ा को, उपजनयति = पैदा करता है, हाथियों, = समस्त, अतिशय शुलं पीडा को पैदा कर देता है, अभव्यस्य = दुष्ट पुरुषों के, इतरस्यतु = दूसरों के तो अर्थात् सज्जनों के तो, करिण = हाथियों, शङ्खाभरणमिव = शङ्ख के आभूषणों की तरह, अधिकतरम् = और अधिक, आननशोभासमुदयम् = मुख की शोभा संघात को, उपजनयति = उत्पन्न करता है, प्रदोषसमये = गोधूलिवेला में, निशाकर इव = चन्द्र के सदृश, अतिमलिनमपि = अतिशय मलयुक्त को भी, पक्ष में अत्यन्त निन्दनीय को भी, सकलम् = समस्त, अंधकारमिव = अंधकार के सदृश, दोषजातम् = रात्रि में उत्पन्न, पक्ष में कामक्रोधादि दोष समूह को, हरति = हर लेता है या दूर कर देता है, वयः परिणाम = वार्धक्य के, इव-समान, सिरसिजजालम् = सिर पर उत्पन्न केश समूहों को, अमलीकुर्वन् = निर्मल करती हुई, पलितरूपेण = सफेद रंग के रूप में, प्रशमहेतुः = शान्त करने का कारण, गुरुपदेशः = गुरु का हितकारी उपदेश, तदेव = उन केशों को, पक्ष में, कामक्रोधादि दोष समूह को, गुणरूपेण = गुणों के रूप में, परिणमयति = रूपान्तरित कर देती है या बदल देती है।

अनुवाद - गुरु का उपदेश मङ्गलप्रद होने पर भी जल की तरह दुष्ट व्यक्ति के कान में अतिशय पीड़ा को उत्पन्न करता है परन्तु वही उपदेश सज्जन पुरुषों के मुख के शोभा सङ्घात को उसी तरह और अधिक सुशोभित करता है जैसे शङ्ख के आभूषण से हाथी का मुख अधिक सुशोभित होता है तथा सायंकालीन चन्द्रमा जिस प्रकार रात्रि के अंधकार को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार गुरु का उपदेश समस्त दोष को दूर कर देता है। गुरु का शान्तिकारक उपदेश वृद्धावस्था के समान पकने (श्वेत) के

रूप से केश समूह को निर्मल कर उन्हीं दोषों को गुण रूप में परिवर्तित कर देता है।

समासाः-

गुरोः आचार्यस्य वचनम् उपदेशः इति गुरुवचनम् (षष्ठीतत्पुरुषः)

अविद्यमानं मलं यस्मिन् तत् अमलम् ('नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' बहुव्रीहिः)

श्रूयतेऽनेन इति श्रवणम् तस्मिन् स्थितम् श्रवणस्थितम् (सप्तमीतत्पुरुषः)

शङ्खस्याभरणम् शङ्खाभरणम् (षष्ठीतत्पुरुषः)

शिरसि जायते शिरसिजः ('सप्तम्यां जनेर्डः' इति जनेर्डः प्रत्ययः, 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक्) शिरसिजस्य जालम् समूहं शिरसिजजालम् (षष्ठीतत्पुरुषः)

अयमेव चानास्वादितविषयरसस्य ते काल उपदेशस्य। कुशुमशरशरप्रहारजर्जरिते हि हृदये जलमिव गलत्युपदिष्टम्। अकारणञ्च भवति दुष्प्रकृतेरन्वयः श्रुतं चाविनयस्य। चन्दनप्रभवो न दहति किमनलः? किं वा प्रशमहेतुनापि न प्रचण्डतरीभवति वडवानलो वारिणा? गुरुपदेशश्च नाम पुरुषाणामखिलमलप्रक्षालनक्षममजलं स्नानम् अनुपजातपलितादिवैरूप्यमजरं वृद्धत्वम्; अनारोपित मेदोदोषं गुरुकरणम्, असुवर्णविरचनमग्राम्यं कर्णाभरणम्, अतीतज्योतिरालोकः, नोद्व ेगकरः प्रजागरः विशेषेण राज्ञाम्।

शब्दार्थ-अयमेव = यही, च = और, अनास्वादितविषयरसस्य = जिसने सांसारिक सुख साधनों को नहीं भोगा है, ते = तुम्हारे, उपदेशस्य = शिक्षा का, कालः-समय है, कुसुमशर = कामदेव के, शरप्रहार = बाण के प्रहार से, जर्जरिते = छलनी हुए, हृदये = हृदय में, जलमिव = पानी की तरह, उपदिष्टम् = गुरु का उपदेश, गलति = गिर जाता है, हि = निश्चित ही, दुष्प्रकृतेः = दुष्ट स्वभाव वाले मनुष्य का, अन्वयः = कुल, वा = अथवा, श्रुतम् = शास्त्रबोध, विनयस्य = नम्रता का, अकारण = कारण नहीं, भवति = होता है, चन्दनप्रभवः = चन्दन की लकड़ी से उत्पन्न, अनलः आग, किं = क्या, न दहति = नहीं जलाती है, वा = अथवा, प्रशमहेतुनापि = शान्त करने का कारण के द्वारा भी, वारिणा = जल से, वडवानलः = सागर की आग, न = नहीं, प्रचण्डतरीभवति = अधिक भयङ्कर (उग्र) हो जाती है, गुरूपदेशश्च नाम = और आचार्य की शिक्षा, पुरुषाणाम् = मनुष्यों के, अखिलमल = समस्त दोषों के, प्रक्षालनक्षमम् = धोने में समर्थ, अजलस्नानं = बिना जल के स्नान है, अनुपजातपलितादिवैरूप्यम् = केशों को बिना सफेद रूप विकृत किये ही, अजरं = विना वार्धक्य के, वृद्धत्वम् = बुढ़ापा है। अनारोपितमेदोदोषम् = चर्बी के वृद्धि के बिना, गुरुकरणम् = भारी बनाता है या गुरुता प्रदान करता है, असुवर्णविरचनम् = स्वर्ण मय न होने पर भी, अग्राम्यम् = असुन्दर नहीं है अर्थात् सुन्दर है, कर्णाभरणम् = कान का आभूषण है, अतीतज्योतिः = लौ से रहित, आलोकः = प्रकाश है, नोद्वेगकरः = उद्विग्न न करने वाला, प्रजागरः = जागरण है, विशेषेण = विशेष कर के, राज्ञाम् = राजाओं के लिए।

अनुवाद-सांसारिक विषय का आस्वादन न करने वाले तुम्हारे लिए उपदेश का यही समुचित

समय है, क्योंकि कामदेव के बाण के प्रहार से जर्जरित (छलनी हुए) हृदय में गुरु का उपदेश जल की भांति नहीं ठहरता है। बुरे स्वभाव वाले व्यक्ति की विनम्रता का कारण सद्वंश और शास्त्र बोध नहीं होता है। क्या चन्दन की लकड़ी से उत्पन्न अग्नि नहीं जलाती है? अथवा क्या शीतलता प्रदान करने वाले समुद्र जल से उत्पन्न आग और अधिक प्रचण्ड नहीं हो जाती है? गुरु का उपदेश व्यक्ति के सम्पूर्ण दोषों को धोने में समर्थ है तथा बिना जल के स्नान है। केशों के पकने व विकृति के बिना बुढ़ापा रहित वृद्धता है। चर्बी को बिना बढ़ाये ही गुरुता का कारक है। स्वर्ण से निर्मित न होने पर भी ग्राम्य दोष से विहीन कानों का आभूषण है। लौ से रहित प्रकाश है। उद्विग्नता न करने वाला जागरण (जागृति) है, विशेष कर के राजाओं के लिए।

समासाः-

न आस्वादितः विषयरसः सांसारिकभोग्यरसो येन, स अनास्वादितविषयरसः (बहुव्रीहिः) तस्य अनास्वादितविषयरसस्य

कुसुमान्येव शरा यस्य स कुसुमशरः (बहुव्रीहिः) कुसुमशरस्य शरप्रहारेण जर्जरितः यौऽसौ कुसुमशरशरप्रहारजर्जरितः (बहुव्रीहिः) तस्मिन् कुसुमशरशरप्रहारजर्जरिते

दुष्टः प्रकृतिर्यस्य स दुष्टप्रकृतिः (बहुव्रीहिः) तस्य दुष्प्रकृतेः

अखिलं चादः मलम् अखिलमलं (कर्मधारयतत्पुरुषः) तस्य प्रक्षालने धाावने क्षमं योग्यम् अखिलमलप्रक्षालनक्षमम् (षष्ठीगर्भसप्तमीतत्पुरुषः)

जलस्य स्नानम् जलस्नानम् (षष्ठीतत्पुरुषः) न जलस्नानम् अजलस्नानम् (नञ्तत्पुरुषः)

अनुपजातम् अनुत्पन्नं पलितादि वैरूप्यं विकृतिर्यस्मिन्तादृशम् अनुपजातपलितादिवैरूप्यम् (बहुव्रीहिः)

न विद्यते जरा यस्मिन् तत् अजरम् (बहुव्रीहिः)

न आरोपितः समुत्पादितः मेदोदोषः स्थूलोत्पादकधातुवृद्धिर्येन तादृशम् अनारोपितमेदोदोषम् (बहुव्री. हिः)

सुवर्णेन विरचना यस्य तत् सुवर्णविरचनम् (बहुव्रीहिः) न सुवर्णविरचनम् असुवर्णविरचनम् (नञ्तत्पुरुषः)

अतीतं ज्योतिः यस्मात् स अतीतज्योतिः (बहुव्रीहिः)।

स्मरणीय बिंदु

- युवावस्था का अंधकार: यह सूर्य या मणियों से दूर नहीं होता (अभानुभेद्यम् अरत्नालोकच्छेद्यम्। यह अत्यंत गहरा होता है।
- लक्ष्मी का मद: धन का नशा अपरिणामोपशम है, यानी वृद्धावस्था में भी शांत नहीं होता।
- गुरु-उपदेश का स्वरूप: यह अजल स्नान है जो बिना पानी के मन को निर्मल कर देता है।
- ऐश्वर्य रूपी तिमिर: सत्ता का अंधापन ऐसा मोतियाबिंद है जो काजल की सलाई (अंजनवर्ती) से ठीक नहीं होता।
- राजाओं की स्थिति: राजा अक्सर अहंकार रूपी बुखार से पीड़ित रहते हैं और हितकारी बातों को सुनना बंद कर देते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) शुकनासोपदेश के आधार पर लक्ष्मी (राजलक्ष्मी) के स्वभाव और उससे उत्पन्न होने वाले दोषों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

2) गुरु के उपदेश को अजल स्नान और बिना सोने का आभूषण क्यों कहा गया है? तार्किक व्याख्या कीजिए।

3) युवावस्था में बुद्धि शास्त्र रूपी जल से धोने पर भी कलुषित हो जाती है इस कथन के परिप्रेक्ष्य में बाणभट्ट के विचारों की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) लक्ष्मीमद और ऐश्वर्य-तिमिर में क्या मुख्य अंतर बताया गया है?

2) राजाओं को उपदेश देना कठिन क्यों होता है? शुकनास के अनुसार कारण स्पष्ट करें।

3) चन्दनप्रभवो न दहति किमनल: (क्या चन्दन से उत्पन्न आग नहीं जलाती?) इस उदाहरण का प्रयोग किस संदर्भ में किया गया है?

4) शुकनास ने चन्द्रापीड को उपदेश देने के लिए यही सही समय क्यों माना?

5) वृद्धावस्था और गुरु-उपदेश के प्रभाव की तुलना किस प्रकार की गई है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) शुकनासोपदेश किस ग्रंथ का अंश है?

(क) हर्षचरितम् (ख) कादम्बरी
(ग) दशकुमारचरितम् (घ) नीतिशतकम्

2) अजलस्नानम् किसे कहा गया है?

(क) तीर्थ यात्रा को (ख) दान को
(ग) गुरु के उपदेश को (घ) मौन धारण को

3) कौन-सा अंधकार अभानुभेद्य (सूर्य से न टूटने वाला) है?

(क) रात्रि का अंधकार (ख) युवावस्था का अज्ञान
(ग) बादलों का साया (घ) गुफा का अंधेरा

4) लक्ष्मी से उत्पन्न तन्द्रा (आलस्य) का कारण क्या है?

(क) अधिक भोजन (ख) राज्य रूपी विष का विकार
(ग) निद्रा (घ) थकान

5) गुरु का उपदेश किसके समान कानों में शूल (पीड़ा) पैदा करता है?

(क) विद्वान के (ख) राजकुमार के

(ग) अभव्य (दुष्ट या अयोग्य) व्यक्ति के (घ) हाथी के

इकाई-1.2

राजलक्ष्मीविवेचनम्, लक्ष्मीवैचित्र्यम्, लक्ष्मीप्रभाववैचित्र्यम्

उद्देश्य

- लक्ष्मी के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटनः राजकुमार चन्द्रापीड को यह समझाना कि धन और सत्ता (लक्ष्मी) दिखने में आकर्षक हैं, लेकिन स्वभाव से अत्यंत चंचल और दोषपूर्ण हैं।
- सतर्कता और आत्म-नियंत्रणः राज्याभिषेक से पूर्व राजकुमार को उन प्रलोभनों के प्रति सचेत करना जो एक अच्छे शासक को भी मार्गभ्रष्ट कर सकते हैं।
- पात्रता का बोधः यह बताना कि लक्ष्मी किसी योग्यता या कुल को नहीं देखती, बल्कि यह अनार्या (दुष्टा) किसी को भी कभी भी छोड़ सकती है।

परिणाम

- मोह भंगः पाठक यह समझ पाता है कि भौतिक सुख और लक्ष्मी शाश्वत नहीं हैं, अतः इनके मद में अहंकार करना व्यर्थ है।
- कुशल नेतृत्वः शासक में चाटुकारों को पहचानने और लक्ष्मी के कुप्रभावों से बचकर प्रजापालन करने की दृष्टि विकसित होती है।
- चरित्र निर्माणः सत्ता पाकर भी विनम्र बने रहने के महत्व की स्थापना होती है।

राजलक्ष्मीविवेचनम्

विरला हि तेषामुपदेष्टारः। प्रतिशब्दक इव राजवचनमनुगच्छति जनो भयात्। उद्दामदर्पपृथुस्थगितश्रवणविवराश्चोपदिश्यमानमपि ते न शृण्वन्ति। शृण्वन्तोऽपि च गजनिमीलितेनावधीरयन्तः खेदयन्ति हितोपदेशदायिनो गुरून्। अहङ्कारदाहज्वरमूर्च्छान्धकारिता विह्वला हि राजप्रकृतिः। अलीकाभिमानोन्मादकारीणि धनानि राज्यविषविकारतन्द्राप्रदा राजलक्ष्मीः।

शब्दार्थ-हि = क्योंकि, तेषाम् = उनके, उपदेष्टार = उपदेश देने वाले, प्रतिशब्दक इव = प्रतिध्वनि के समान, राजवचनम् = राजाओं के वचन को, अनुगच्छति = अनुगमन करते हैं, जनः = प्रजा, भयात् = डर के कारण, उद्दाम = अत्यन्त, दर्पश्वयथु = अभिमान रूप सूजन से, स्थगित = बन्द हो जाते हैं, श्रवणविवराः = कानों के बिल जिसके, उपदिश्यमानम् = उपदेश दिये जाने पर, अपि = भी, ते = वे, न = नहीं, शृण्वन्ति = सुनते हैं, शृण्वन्तोऽपि = सुनने पर भी, गजनिमीलितेन = हाथी के सदृश नेत्र बन्द कर, अवधीयन्तः = अवहेलना करते हुए, हितोपदेशदायिनः = हित की बात करने वालों

को, गुरुन् = गुरुजनों को, खेदयन्ति = खिन्न कर देते हैं, हि = क्योंकि, अहङ्कारदाहज्वर = गर्व रूपी अग्निज्वर, मूर्छान्धकारिता = मूर्च्छा से अन्धा हुआ, विह्वला = व्याकुल होती है, राजप्रकृतिः = राजाओं का स्वभाव, अलीकाभिमान = मिथ्या गर्व के, उन्मादकारिणी = उन्माद को करने वाली, धनानि = धन होते हैं, राजलक्ष्मीः = राज्य की श्री, राज्यविषविकारतन्द्राप्रदा = राज्य रूपी विष विकार से उत्पन्न आलस्य प्रदान करने वाली।

अनुवाद - प्रस्तुत गद्यांश में शुकनाश राजाओं के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि राजाओं को उपदेश देने वाले बहुत कम लोग होते हैं। प्रजा डर के कारण प्रतिध्वनि के समान ही राजाओं के वचनों के अनुगामी होते हैं। उत्कट गर्व रूपी सूजन से बन्द कानों के छिद्र वाले वे राजगण दिये गये उपदेश को भी नहीं सुनते हैं। कदाचित् सुन भी लेते हैं तो हाथी के निमीलित (बन्द) नेत्र के समान अवहेलना करते हुए हितचिन्तन करने वाले गुरुओं को खिन्न कर देते हैं। राजाओं का स्वभाव अहङ्कार रूपी अग्नि ज्वर की मूर्च्छा से अन्धकार के सदृश व्याकुल कर देने वाला होता है। धन मिथ्या गर्व के कारण मतवाला बना देता है। राजलक्ष्मी राज्य रूपी विष से उत्पन्न तन्द्रा (आलस्य) प्रदान करने वाली होती है।

समासाः-

शब्दं प्रतिगतः प्रतिशब्दकः ('प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया' इति प्रादिसमासः। स्वार्थे कन् इति कन् प्रत्ययः।)

उद्दामाः भयङ्कराः दर्पाः गर्वाः त एव श्वयथवः शोथास्तैः स्थगितानि आच्छादितानि श्रवणविवराणि कर्णछिद्राणि येषां ते, उद्दामदर्पश्वययुस्थगितश्रवणविवराः (कर्मधारयगर्भबहुव्रीहिः)

हितोपदंशं ददाति तच्छीलमस्य ते हितोपदेशदायिनः

अहङ्कार एव दाहज्वरः (कर्मधारयतत्पुरुषः) तेन मूर्च्छा अहङ्कारदाहज्वरमूर्च्छा तया अंधकारिता अहङ्कारदाहज्वरमूर्च्छान्धकारिता (तृतीयागर्भतृतीयातत्पुरुषः)

अलीकः अभिमानः (कर्मधारयतत्पुरुषः) तेन उन्मादः (तृतीयातत्पुरुषः) तं कर्तुं शीलं येषां तानि अलीकाभिमानोन्मादकारीणि (बहुव्रीहिः)

राज्यमेव विषम् (मयूरव्यंसकत्वात्समासः) तदुत्पन्नः विकारस्तज्जन्यातन्द्रा ('शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपश्च') तस्याः प्रदा राज्यविषविकारतन्द्रीपदा (षष्ठीतत्पुरुषः)

आलोकयतु तावत् कल्याणाभिनिवेशी लक्ष्मीमेव प्रथमम्। इयं हि सुभटखड्गमण्डलोत्पल. वनविश्रमभ्रमरी लक्ष्मीः क्षीरसागरात् परिजातपल्लवेभ्यो रागम् इन्दुशकलादेकान्तवक्रताम्, उच्चैः श्रवसश्चञ्चलताम्, कालकूटान्मोहनशक्तिम्, मदिराया मदम् कौस्तुभमणेरतिनैष्ठुर्यम्, इत्येतानि सहवासपरिचयवशाद्विरहविनोदचिह्नानि गृहीत्वैवोद्गता। नह्येवंविधमपरमपरिचितमिह जगति किञ्चिदस्ति यथेयमनार्या।

शब्दार्थ-आलोकयतु = देखो, तावत् = तो, कल्पाभिनिवेशः = कल्याण प्राति के प्रति आकांक्षी चन्द्रापीड, लक्ष्मीमेव = लक्ष्मी को ही, प्रथमम् = सबसे पहले, इयं हि = यह लक्ष्मी, सुभट = योद्धाओं के, खड्गमण्डल = करताल समूह रूपी, उत्पलवन = कमल जंगल में, विभ्रम = भ्रमण करने वाली, भ्रमरी = भौंरी के सदृश, लक्ष्मी = यह लक्ष्मी, क्षीरसागरात् = समुद्र से, पारिजातपल्लवेभ्यः = कल्पवृक्ष के पल्लवों से, रागम् = अनुराग (प्रेम), इन्दुशकलात् = चन्द्र के खण्ड से अर्थात् चन्द्र कला से, एकान्तवक्रताम् = अत्यधिक कुटिलता को, उच्चैः श्रवसः = उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा से, चञ्चलताम् = चपलता को, कालकूटात् = कालकूट नामक विष से, मोहनशक्तिम् = मोहित करने की शक्ति को, मदिरायाः = शराब से, मदम् = मादकता को, कौस्तुभमणेः = कौस्तुभ नामक मणि से, अतिनैष्ठुर्यम् = अत्यधिक कठोरता को, इत्येतानि = इन सब दुर्गुणों को, सहवासपरिचयवशात् = एक साथ समुद्र में निवास करने के कारण परिचय होने से, विरहविमोद चिह्नानि = अलह होने के कारण उत्पन्न दुःख को दूर करने के चिह्न स्वरूपों को, गृहीत्वा = लेकर, इव = तरह, उद्गता = उत्पन्न हुई है, इह = यहाँ, जगति = संसार में, एवं विधम् = ऐसा, अपरिचिम् = अपरिचित, किञ्चित् = कोई, अपरम् = दूसरा, नास्ति = नहीं है, यथा = जैसे, इयम् = यह, अनार्या = दुष्टा लक्ष्मी है।

अनुवाद - मंगल की कामना करने वाले आप सबसे पहले लक्ष्मी को ही देखें। बड़े-बड़े योद्धाओं के तलवार समूह रूपी कमल वन में विचरण करने वाली भ्रमरी के सदृश यह लक्ष्मी पारिजात (कल्पवृक्ष) के पल्लवों से अनुराग, चन्द्रमा के खण्ड से अति टेढ़ापन, उच्चैःश्रवस नामक अश्व से चञ्चलता, कालकूट नामक विष से मूर्छित करने की शक्ति, मदिरा से मादकता, कौस्तुभ मणि से अति कठोरता, ये सब एक साथ निवास करने से परिचयवश अलग होने वाले चिह्नों को लेकर दुग्ध समुद्र से प्रकट हुई है। इस जगत् में ऐसी कोई दूसरी अपरिचित वस्तु नहीं है जैसी यह दुष्टालक्ष्मी।

समासाः-

कल्याणे अभिनिवेशो यस्य स कल्याणाभिनिवेशः (बहुव्रीहिः)

सुभटानां सुयोद्धृणां खड्गमण्डलम् असिसमूहः सुभटखड्गमण्डलम् (षष्ठीतत्पुरुषः) तद् एव उत्पलवनं पुण्डरीकविपिनं सुभटखड्गमण्डलोत्पलवनम् (कर्मधारयतत्पुरुषः) तस्मिन् विभ्रमः भ्रमणं सुभटखड्गमण्डलोत्पलवनविभ्रमः (सप्तमीतत्पुरुषः) तस्मिन् भ्रमरी मधुकरी सुभटखड्गमण्डलोत्पल-वनविभ्रमभ्रमरी (सप्तमीतत्पुरुषः)

इन्दोः चन्द्रमसः शकलात् खण्डात् इति इन्दुशकलः (षष्ठीतत्पुरुषः) तस्मात्...

नैष्ठुर्यमतिक्रान्तः तत् अतिनैष्ठुर्यम् ('अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति तत्पुरुषः समासः)

अर्तुं योग्या आर्या, न आर्या अनार्या (नञ्तत्पुरुषः)

लब्धाऽपि खलु दुःखेन परिपाल्यते। दुढगुणपाशसन्दाननिष्पन्दीकृतापि नश्यति। उद्दामदर्पभटसहस्त्रोल्लासितासिलता पञ्चरविधृताऽप्यपक्रामति। मदजलदुर्दिनान्धकारगज-

घनघटापरिपालितापि प्रपलायते। न परिचयं रक्षति, नाभिजनमीक्षते, न रूपमालोकयते, न कुलक्रममनुवर्तते, न शीलं पश्यति, न वैदग्ध्यं गणयति, न श्रुतमाकर्णयति, न धर्ममनुरुध्यते, न त्यागमाद्रियते, न विशेषज्ञतां विचारयति, नाचारं पालयति न सत्यमवबुध्यते, न लक्षणं प्रमाणीकरोति।

शब्दार्थ–लब्धाऽपि = प्राप्त होने पर भी, खलु निश्चित ही, दुःखेन = बहुत कष्ट से, परिपाल्यते = सुरक्षा की जाती है, दृढगुणपाशसन्दान = मजबूत रस्सी रूपी बन्धन से, निष्पन्दीकृतापि = निश्चेष्ट की जाने पर भी, नश्यति = नष्ट हो जाती है, उद्दाम = अत्यन्त, दर्प = गर्व, भटसहस्र = हजारों वीरों के द्वारा, उल्लासित = चलाई गई, असिलता = तलवार रूपी, पञ्जर = पिंजरे में, विधृतापि = रखी गयी भी, अपक्रामति = निकल कर भाग जाती है, मदजल = हाथी के मस्तिष्क से निकलने वाली जल की धारा, दुर्दिन = वर्षा के कारण अन्धकारित, गज = हाथी, घनघटा = बादल की छटा से, परिपालिताऽपि = रक्षित होने पर भी, प्रपलायते भाग जाती है, न = नहीं, परिचयं = परिचय, रक्षति = रखती है, नाभिजनम् = न उच्चकुलीनता को, ईक्षते = देखती है, न रूपम् = न रूप को, आलोकयते = देखती है, न कुलक्रमम् = न कुल परम्परा का, अनुवर्तते = अनुवर्तन करती है, न शीलं पश्यति = न स्वभाव देखती है, न वैदग्ध्यं गणयति = न चतुराई को समझती है, न श्रुतमाकर्णयति = न शास्त्र बोध को सुनती है, न धर्ममनुरुध्यते = न धर्म का अनुमोदन करती है, न त्यागमाद्रियते = न त्याग का आदर करती है, न विशेषज्ञतां विचारयति = न विशिष्ट ज्ञान का विचार करती है, नाचारं पालयति = न सदाचार का पालन करती है, न सत्यमवबुध्यते = न सत्य को जानती है, न लक्षणं प्रमाणीकरोति = शारीरिक चिह्न के प्रमाण को भी नहीं मानती है।

अनुवाद – प्राप्त हो जाने पर भी इसको सम्हाल कर रख पाना अति कष्टकारक है। भलीभाँति प्रयुक्त सन्धि विग्रह आदि गुण रूपी रस्सी के बन्धन से निश्चेष्ट किये जाने पर भी खिसक जाती है। भयङ्कर अभिमानी हजारों योद्धाओं के द्वारा भांजते हुए तलवार रूपी पिंजरे में रखी हुई भी निकल जाती है। मदजल रूपी मेघों से आवृत्त दिन के कारण अंधकार से युक्त हाथी रूपी मेघमाला से संरक्षित होने पर भी भाग जाती है। यह न परिचय रखती है, न उच्च कुल को देखती है, न सुन्दरता को पसन्द करती है, न वंश की परिपाटी का अनुसरण करती है, न सदाचार देखती है, न विद्वत्ता को गिनती है, न शास्त्र ज्ञान को सुनती है, न धर्म का अनुगमन करती है, न दान का आदर करती है, न विशिष्ट ज्ञान का विचार करती है, न शिष्ट के आचरण की अनुपालना करती है, न यथार्थ को जानती है, न ही शारीरिक ध्वज वज्र आदि चिह्नों को प्रमाण के रूप में स्वीकार करती है।

समासाः–

दृढाः सुष्ठु प्रयुज्यमानाः गुणाः सन्धिविग्रहादिराजनीतिकगुणा एव पाशः रज्जुः दृढगुणपाशः (कर्मधारयतत्पुरुषः) तेन यत् सन्दानं बन्धनं दृढगुणपाशसन्दानं (तृतीयातत्पुरुषः) तेन निष्पन्दीकृता स्थिरीकृता दृढगुणपाशसन्दाननिष्पन्दीकृता (तृतीयातत्पुरुषः) (यहाँ विरोधाभास तथा निरंगकेवलरूप अल. ंकार विद्यमान है।)

असि लता इव इति असिलता ('उपमितं व्याघ्रदिभिः सामान्याप्रयोगे' इति अनेन उपमितसमासः) उद्दामः दर्पः येषाम् ते उद्दामदर्पाः (बहुव्रीहिः) तादृशाः भटाः उद्दामदर्पभटाः (कर्मधारयः) तेषां सहस्राणि उद्दामदर्पभटसहस्राणि (षष्ठीतत्पुरुषः) तैः उल्लासिता उद्दामदर्पभटसहस्रोल्लासिता (तृतीयातत्पुरुषः) तादृशी असिलता उद्दामदर्पभटसहस्रोल्लासितासिलता (कर्मधारयः) सा एव पञ्चरम् तस्मिन् विधृता रक्षिता उद्दाम दर्पभटसहस्रोल्लासितासिलतापञ्चरविधृता (सप्तमीतत्पुरुषः) (इस वाक्य में विभावना और विशेषोक्ति का संदेहसंकर अलंकार विद्यमान है।)

मदजलम् एव दुर्दिनं मदजलदुर्दिनं (कर्मधारयः समासः) तेन अन्धकारः मदजलदुर्दिनान्धकारः (तृतीयातत्पुरुषः) तद्युक्ता गजाः मदजलदुर्दिनान्धकारगजाः (तृतीयातत्पुरुषः) तेषां घटा मदजलदुर्दिनान्धकारगजघटा (षष्ठीतत्पुरुषः) तया परिपालिता परिरक्षिता मदजलदुर्दिनान्धकारगजघटापरिपालिता (तृतीयातत्पुरुषः) (इसमें पारम्परिक रूपक, विभावना व विशेषोक्ति अलंकार का सन्देहसंकर अलंकार विद्यमान है।)

लक्ष्मीवैचित्र्यम्

गन्धर्वनगरलेरवेव पश्चत एव नश्यति। अद्याप्यारूढमन्दरपरिवर्तावर्तभ्रान्तिजनित-संस्कारेव परिभ्रमति। कमलिनीसञ्चरणव्यतिकरलग्ननलिननालकण्टकेव न क्वचिदपि निर्भरमा-बध्नाति पदम्। अतिप्रयत्नविधृतापि परमेश्वरगृहेषु विविधगन्धगजगण्डमधुपानमत्तेव परिस्खलति। पारुष्यमिवोपशिक्षितुमसिधारासु निवसति। विश्वरूपत्वमिव ग्रहीतुमाश्रिता नारायणमूर्तिम्। अप्रत्ययबहुला च दिवसान्तकमलमिव समुचितमूलदण्डकोषमण्डलमपि मुञ्चति भूभुजम्।

शब्दार्थ–गन्धर्वनगरलेखा = गन्धर्व के नगर की रेखा, इव = समान, पश्यत एव = देखते ही, नश्यति = नष्ट हो जाती है, अद्यापि = आज भी, आरूढ = उत्पन्न, मन्दर = मन्दराचल (एक पहाड़) के, परिवर्त = चारों तरफ घूमने से, आवर्त = भंवर में, भ्रान्तिजनित = घूमने से प्रादुर्भूत, संस्काराइव = संस्कार की तरह, परिभ्रमति = चारों तरफ घूमती रहती है, कमलिनी = कमल संघात में, सञ्चरण = चलने में, व्यतिकर = सम्पर्कवश, लग्न = लगे हुए, नलिननाल = कमलिनी के डण्ठल के, कण्टकक्षतेव = कांटों से विद्ध (घायल) हुए के समान, क्वचिदपि = कहीं भी, निर्भरं = स्थायी रूप से, न = नहीं, पदम् = पैर को, आबध्नाति = रखती है, अतिप्रयत्न = अतिप्रयासपूर्वक, विधृतापि = रखने पर भी, परमेश्वर गृहेषु = महाराजाओं के महलों में, विविध = अनेक, गन्धगज = मदोन्मत्त हाथियों के, गण्डमधु = कनपटी से बहते हुए मद की धारा को, पानमत्ता इव = पीने के कारण मतवाली के समान, परिस्खलति = लड़खड़ा कर चलती है, पारूष्यमिव = मानो कठोरता को, उपशिक्षितुम् = सीखने के लिए, असिधारासु = तलवार की धाराओं में, निवसति = निवास करती है, विश्वरूपत्वमिव = मानो व्यापक स्वरूप को, ग्रहीतुम् = ग्रहण करने के लिए, नारायणमूर्तिम् = विष्णु भगवान् की मूर्ति का, आश्रिता = आश्रय लिया है, अप्रत्ययबहुला = अधिक अविश्वास वाली लक्ष्मी, दिवसान्तकमलम् इव = दिन के अन्त के समय के कमल के समान, समुपचित = बैठे हुए, मूल = विजय का हेतु, दण्डकोषः = उपाय विशेष वाले, पक्षे = पक्ष, मण्डल = राष्ट्र, भूभुजं = राजा को, मुञ्चति = त्याग देता है।

अनुवाद - (यह लक्ष्मी) गन्धर्वो के नगर की रेखा के सदृश देखते ही नष्ट हो जाती है। आज भी मानो मन्दर नामक पर्वत के चारों तरफ घूमने से उत्पन्न आवर्त भंवर की भ्रान्ति से जानित संस्कार की तरह चारों तरफ घूमती रहती है। कमलनियों में विचरण करने के कारण सम्पर्कित कमल डण्ठल के कांटों से घायल हुई की तरह मानो वह कहीं भी चिरकाल तक पैर जमा कर नहीं ठहरती है। बड़े-बड़े राजाओं के महलों में अति प्रयासपूर्वक रखी जाने पर भी विविध प्रकार के मतवाले हाथियों के गण्डस्थल (कपोलों) के मद्य को पीने के कारण मतवाली की तरह लड़खड़ा कर चलती है। मानो कठोरता की शिक्षा के लिए तलवार की धार पर निवास करती है। विश्वरूपता (व्यापकता) को ग्रहण करने के लिए विष्णु का आश्रय लिया है। अत्यधिक अविश्वास वाली (यह लक्ष्मी) सायंकालीन कमल के सदृश बढ़े हुए मूल, नाल, कली सामदानादि राजनीतिक उपाय, खजाना तथा विस्तीर्ण राज्य से परिपूर्ण राजा का भी परित्याग कर देती है।

समासाः-

गन्धर्वाणां नगरं तस्य लेखा इति गन्धर्वनगरलेखा (षष्ठीतत्पुरुषः)

आरूढः उत्पन्नः मन्दरस्य मन्दराचलस्य परिवर्तः (षष्ठीतत्पुरुषः) भ्रमणं तज्जनितः य आवर्तः जलभ्रमिस्तस्माद्या भ्रान्तिः भ्रमणं तज्जनितः संस्कारः वेगो यस्या सा आरूढमन्दरपरिवर्तावर्तभ्रान्तिजनितसंस्कारा (बहुव्रीहिः)

कमलिनीषु सञ्चरणव्यतिकरेण लग्नानि नलिननालकण्टकानि तैः क्षता या सा (तृतीयातत्पुरुषः)

विविधाश्च ते गन्धगजाः (कर्मधारयतत्पुरुषः) तेषां गण्डानां मधुपानेन मत्ता या सा (षष्ठीतत्पुरुषः)

लतेव विटपकानध्यारोहति । गङ्गेव वसुजनन्यपि तरङ्गबुद्‌चञ्चला। दिवसकरगतिरिव प्रकटितविविधसंक्रान्तिः।पातालगुहेवतमोबहुला।हिडम्बेवभीमसाहसैकहार्यहृदया।प्रावृडिवाचिरद्युतिकारिणी। दुष्टपिशाचीव दर्शितानेकपुरुषोच्छ्राया स्वल्पसत्त्वमुन्मत्तीकरोति। सरस्वतीपरिगृहीतमीर्ष्ययेव नालिङ्गति। जनम् गुणवन्तमपवित्रमिव न स्पृशति। उदारसत्त्वममङ्गलमिव न बहु मन्यते। सुजनमनिमित्तमिव न पश्यति। अभिजातमहिमिव लङ्घयति। शूरं कण्टकमिव परिहरति। दातारं दुस्वप्नमिव न स्मरति। विनीतं पातकिनमिव नोपसर्पति। मनस्विनमुन्मत्तमिवोपहसति।

शब्दार्थ-लता इव = वल्ली के समान, विटपकान् = वृक्ष की टहनियों पर, लक्ष्मी पक्ष में धूर्तो पर, अध्यारोहति = आश्रय लेती है, गङ्गा इव = गङ्गा की तरह, वसुजननी = भीष्म की माता, लक्ष्मी पक्ष में धन उत्पन्न करने वाली, अपि = भी, तरङ्गबुद्‌बुद्‌चञ्चला = लहर तथा बबूले के समान चञ्चल, दिवसकरगतिरिव = सूर्य की गति की तरह, प्रकटितविविधसंक्रान्तिः = क्रमशः बारह राशियों पर संक्रमण करती है, पक्ष में अनेक पुरुषों के पास जाती है, पातालगुहा इव = पाताल की गुफा के समान, तमोबहुला = अधिक अंधकार वाली, लक्ष्मी पक्ष में तमोगुण वाली है, हिडिम्बा इव = भीम की पत्नी हिडिम्बा की तरह, भीमसाहसैकहार्य्यहृदया = भीम के साहस से ही जिसके हृदय को जीता जा सके, लक्ष्मी पक्ष में भयङ्कर साहसी के उपर मात्र हृदय को लुटाने वाली, प्रावृडिव = वर्षा ऋतु

के समान, अचिरद्युतिकारिणी = शीघ्र प्रकाश करने वाली, लक्ष्मी पक्ष में बहुत न्यून समय तक ठहरने वाली, दुष्टपिशाचीव = क्रूर राक्षसी की तरह, दर्शितानेकपुरुषोच्छ्राया = अनेक प्रकार के पुरुषों की छाया को दिखाने वाली, लक्ष्मी पक्ष में अनेक लोगों को उन्नति दिखाकर, स्वल्पसत्त्वम् = कमजोर हृदय वाले को, उन्मत्तीकरोति = पागल बना देती है, सरस्वतीपरिगृहीतम् = सरस्वती (विद्या) से परिपूर्ण, ईर्ष्यया = ईर्ष्या के कारण, इव = तरह, नालिङ्गति = पास नहीं जाती है, जनम् = पुरुष को, गुणवन्तम् = गुणवान् पुरुष को, अपवित्रमिव = अशुद्ध के समान, न स्पृशति = स्पर्श नहीं करती है, उदारसत्त्वम् = उदारता से युक्त पुरुष को, अमङ्गलमिव = अशुभकारी समझकर, न बहुमन्यते = अधिक सम्मान नहीं देती है, सुजनम् = सज्जन या विनम्र पुरुष को, अनिमित्तमिव = अपशकुन के सदृश मानकर, न पश्यति नहीं देखती है, अभिजातम् = ऊँचे कुल में उत्पन्न व्यक्ति को, अहिमिव = सर्प के समान, लङ्घयति = लांघ कर चलती है, शूरम् = पराक्रमी व्यक्ति को, कण्टकमिव = कांटे के समान, परिहरति = दूर हटा देती है, दातारम् = दानी पुरुष को, दुःस्वप्नमिव = बुरे स्वप्न की तरह, न स्मरति = याद नहीं करती है, विनीतम् = विनयशील नर को, पातकिनमिव = पापी के सदृश मानकर, नोपसर्पति = पास नहीं भटकती है, मनस्विनम् = स्वाभिमानी व्यक्ति को, उन्मत्तमिव = पागल के समान समझ कर, उपहसति = उपहास करती है।

अनुवाद - वृक्षों का आश्रय लेनें वाली लता के समान यह लक्ष्मी धूर्तजनों का आश्रय लेती है। भीष्म आदि आठ वसुओं को जन्म देने वाली तथा लहरों और बबोलों से चञ्चल प्रतीत होने वाली गङ्गा के सदृश धन को उत्पन्न करने वाली यह लक्ष्मी लहर तथा बबूलों की तरह चञ्चल अर्थात क्षण स्थायिनी है। मेष, वृष, मिथुन आदि द्वादश राशियों पर संक्रमण करने वाली सूर्य की गति के समान यह लक्ष्मी विविध पुरुषों के समीप गमन करती है। अत्यधिक अन्धकार वाली पाताल की गुफा के समान यह लक्ष्मी तमोगुण से युक्त रहती है। अर्जुन के भाई भीम के ऊपर मात्र हृदय को न्योछावर करने वाली घटोत्कच की माता हिडम्बा के समान यह मात्र पराक्रमी पुरुषों के ऊपर ही रीझने वाली है। शीघ्र प्रकाशित होने वाली वर्षाकालीन बिजली की तरह यह लक्ष्मी आती है और पुनः गायब हो जाती है। दुष्ट पिशाचिनी जैसे अपने शरीर में अनेक पुरुषों की छाया दिखा कर दुर्बल पुरुषों को भयभीत कर पागल बना देती है लक्ष्मी भी उसी प्रकार अनेक पुरुषों को उन्नति दिखा कर अल्प बुद्धिमान् जनों को अपनी आशा में पागल बना डालती है। सरस्वती अर्थात् विद्या से परिगृहीत अर्थात् युक्त व्यक्तियों को इर्ष्या के कारण मानो आलिङ्गन नहीं करती है। गुण वाले व्यक्तियों को अपवित्र समझ कर स्पर्श नहीं करती है। उदार हृदय व्यक्तियों को अमङ्गल मानकर अधिक सम्मान नहीं करती है। सज्जन पुरुषों को अपशकुन के सदृश नहीं देखती है। उच्चकुलीन व्यक्तियों को सर्प के सदृश लांघ कर चलती है। वीर पुरुष को काटे के समान दूर हटा देती है। दानशील पुरुषों को बुरे स्वप्न की तरह याद नहीं करती है। विनयशील पुरुषों को पापी समझकर उसके पास नहीं जाती है। स्वाभिमानी व्यक्तियों को पागल समझ कर उनका उपहास करती है।

समासाः-

वसोः भीस्माद्यष्टसंख्यकस्य धनदेवस्य जननी प्रसूः वसुजननी (षष्ठीतत्पुरुषः)

दिवसं करोति दिवसकरः (उपपदतत्पुरुषः) तस्य गतिरिव गतिर्यस्य स दिवसकरगतिः (उत्तरपदलोपी बहुव्रीहिः)

प्रकटिता विविधसंक्रान्तिः यया सा प्रकटितविविधसंक्रान्तिः (बहुव्रीहिः)

तमो बहुलं यस्यां सा तमोबहुला (बहुव्रीहिः)

अचिरा द्युतिः या सा अचिरद्युतिः (कर्मधारयः) तां कर्तुं शीलं यस्या सा अचिरद्युतकारिणी (बहुव्रीहिः)

दर्शितः अनेकपुरुषाणामुच्छ्रायोऽभ्युदयो यया सा दर्शितानेकपुरुषोच्छ्राया (बहुव्रीहिः)

परस्परविरुद्धञ्चेन्द्रजालमिव दर्शयन्ती प्रकटयति जगति निजं चरितम्। तथाहि सततम् उष्माणमारोपयन्त्यपि जाड्यमुपजनयति। उन्नतिमादधानापि नीचस्वभावतामाविष्करोति। तोयराशिसम्भवापि तृष्णां सम्वर्द्धयति। ईश्वरतां दधानाप्यशिवप्रकृतित्वमातनोति। बलोपचयमाहरन्त्यपि लघिमानमापादयति। अमृतसहोदरापि कटुविपाका। विग्रहवत्यप्यप्रत्यक्षदर्शना पुरुषोत्तमरतापि खलजनप्रिया। रेणुमयीव स्वच्छमपि कलुषीकरोति।

शब्दार्थ-परस्परविरुद्धम् = परस्पर विरोधी, इन्द्रजालमिव जादूगरी के समान, दर्शयन्ती = प्रदर्शित करती हुई, जगति संसार में, निजं = अपने, चरितं = आचरण को, प्रकटयति = प्रगट करती है, तथाहि = क्योंकि, सततम् = हमेशा, उष्माणम् = गर्मी को, आरोपयन्ती = आरोपित करती हुई, अपि = भी, जाड्यम् = मूर्खता को, उपजनयति = पैदा करती है, उन्नतिम् = अभ्युदय को, आदधानापि = धारण करवाती हुई भी, नीचस्वभावताम् = नीच स्वभावत्व को, आविष्करोति = आविष्कार करती है, तोयराशि = समुद्र से, सम्भवापि = उत्पन्न हुई होने पर भी, तृष्णां = प्यास को, सम्वर्द्धयति = बढ़ाती रहती है, ईश्वरताम् = सम्प्रभुता, तथा अधिकारत्व को, दधानापि = पुष्ट करती हुई भी, अशिवप्रकृतित्वम् = दुष्ट स्वभावत्व को, आतनोति = विस्तृत करती है, बलोपचयम् = बल की वृद्धि को, आहरन्ती = करती हुई, अपि = भी, लघिमानम् = लघुता को, आपादयति = प्रगट करती है, अमृतसहोदरापि = अमृत की सहोदर बहिन होने पर भी, कटुविपाका = कड़वी है, विग्रहवत्यपि = शरीर धारण करने पर भी, अप्रत्यक्षदर्शना = प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती है, पुरुषोत्तमरतापि = विष्णु के प्रति अनुराग रखने पर भी, खलजनप्रिया = दुष्ट जनों की प्रेयसी है, रेणुमयीव = धूलि वाली की तरह, स्वच्छमपि = पवित्र वस्तुओं को भी, कलुषीकरोति = मलिन बना डालती है।

अनुवाद - इस प्रकार यह लक्ष्मी इन्द्रजाल (जादूगरी) दिखाती हुई मानो इस जगत में परस्पर विरोधी धर्म से युक्त अपने चरित्र (चाल-चलन) को प्रगट करती है। जैसे कि हमेशा प्रदान करती हुई भी शीतलता को उत्पन्न करती है। पक्ष में धन दौलत रूपी अभिमान उत्पन्न कर मनुष्यों में मूर्खता पैदा करती है। ऊँचा बना कर भी नीचे ही रखती है। पक्ष में धन से तो ऊपर उठाती है पर स्वभाव

से नीच (अधम) बना डालती है। समुद्र से उत्पन्न होने भी प्यास को बढ़ाती है। पक्ष में धन प्राप्ति की अभिलाषा को बढ़ाती रहती है। ईश्वर होकर भी अमङ्गल स्वभाव वाली है। पक्ष में धन प्रभुसत्ता आदि देकर भी दूसरों को परेशान करने के कारण दुष्ट स्वभाव का विस्तार करती है। बल में वृद्धि करके भी लघुता को प्रकट करती है पक्ष में धन रूपी बल को बढ़ाकर भी कृपणता रूपी दोष से युक्त बनाती है। अमृत की सगी बहन होने पर भी रसास्वादन में कड़वी लगती है। पक्ष में अत्यन्त दुःख प्रदान करती शरीर धारण करने पर भी प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती है। पक्ष में राजाओं, धानाढ्य लोगों में परस्पर युद्ध कराकर भी किसी को दिखाई नही देती है। उत्तम पुरुषों में आसक्त होने पर भी दुष्ट पुरुषों से प्रेम करती है। पक्ष में विष्णु की पत्नी होने पर भी दुर्जनों को ही प्रेम करती है। धूलि वाली होकर मानो निर्मल वस्तुओं को भी मल युक्त कर देती है। पक्ष में अहङ्कारादि दोर्षो से रहित व्यक्तियों को अभिमानादि दोषों से युक्त कर देती है।

समासाः-

स्वश्चासौ भावः स्वभावः (कर्मधारयः तत्पुरुषः) नीचस्य स्वभावः नीचस्वभावः तस्य भावः नीचस्वभावताम् (षष्ठीपुरुषः)

तोयस्य जलस्य राशिः इति तोयराशिः (षष्ठीतत्पुरुषः) तस्मात् सम्भवा समुत्पन्ना इति तोयराशिसम्भवा (पंचमीतत्पुरुषः समासः)

बलस्य शक्तेरूपचयः वृद्धिरिति बलोपचयः (षष्ठीतत्पुरुषः)

कटुः विपाकः यस्या सा कटुविपाका (बहुव्रीहिः)

अविद्यमानं प्रत्यक्षदर्शनं यस्या सा अप्रत्यक्षदर्शना (बहुव्रीहिः)

प्रत्यक्षम् अक्ष्णोऽभिमुखम् ('लक्षणेनाभिप्रती आभीमुख्ये' इति अनेन अव्यवीभावसमासः)

पुरि शेते पुरुषः (उपपदसमासः) तेषूत्तमस्तत्र रता अनुरक्ता पुरुषोत्तमरता (सप्तमीतत्पुरुषः)

खलश्चासौ जनः खलजनः (कर्मधारयः) स दुष्टपुरुषः प्रियः यस्या सा खलजनप्रिया (बहुव्रीहिः समासः)

अकलुषं कलुषं करोति इति कलुषीकरोति ('कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' इति अनेन च्विः प्रत्ययः)

लक्ष्मीप्रभाववैचित्र्यम्

यथा यथा चेयं चपला दीप्यते तथा तथा दीपशिखेव कज्जलमलिनमेव कर्म केवलमुद्वमति। तथाहि, इयं संवर्द्धनवारिधारा तृष्णाविषवल्लीनाम्, व्याधगीतिरिन्द्रियमृगाणाम्, परामर्शधूमलेखा सच्चरित्रचित्राणाम्, विभ्रमशय्या मोहदीर्घनिद्राणाम्, निवासजीर्णवलभी धनमदपिशाचिकानाम्, तिमिरोद्गतिः शास्त्रदृष्टीनाम्, पुरःपताका सर्वाविनयानाम्, उत्पत्तिनिम्नगा क्रोधावेगग्राहाणाम्,

आपानभूमिर्विषयमधूनाम्, संगीतशाला भ्रूविकारनाट्यानाम्, आवासदरी दोषाशीविषाणाम्, उत्सारणवेत्रलता सत्पुरुषव्यवहाराणाम्, अकालप्रावृट् गुणकलहंसकानाम्, विसर्पणभूमिर्लोकापवादविस्फोटकानाम्, प्रस्तावना कपटनाटकस्य, कदलिका कामकारिणः, वध्यशाला साधुभावस्य, राहुजिह्वा धर्मेन्दुमण्डलस्य।

शब्दार्थ-यथा = जैसे, च = और, इयम् = यह, चपला = चञ्चल लक्ष्मी, दीप्यते = बढ़ती जाती है, तथा = वैसे, दीपशिखेव दीप की शिखा (ज्योति) के समान, कज्जलमलिनम् = काजल के समान मलिन, एव= ही, कर्म = कार्य को, केवलम् = मात्र, उद्वमति = उल्टी करती है, तथाहि = जैसे कि, इयं = यह लक्ष्मी, तृष्णाविषवल्लीनाम् = प्यास रूपी विष की लताओं की, संवर्द्धनवारिधारा = बढ़ाने वाली जल की धारा है, इन्द्रियमृगाणाम् = इन्द्रिय रूपी हिरणों की, व्याधगीतिः = बहेलियों के गीत हैं, सच्चरित्रचित्राणाम् = सज्जनों के चरित्र के चित्रों की, परामर्शधूमलेखा = पोछने वाली धूमों की रेखा है, मोहदीर्घनिद्राणाम् = मूर्च्छा रूपी लम्बी निद्रा की, विभ्रमशय्या = विलासता की शय्या (पलंग) है, धनमदपिशाचिकानाम् = धनमद रूपी राक्षसी के लिए, निवासजीर्णवलभी = निवास करने वाली पुरानी छज्जा है, शास्त्रदृष्टीनाम् = शास्त्रदृष्टि (विद्वानों) के लिए, तिमिरोद्गति = रतौंधी (आँख का अन्धत्व रोग) है, सर्वाविनयानाम् = समस्त उद्दण्डता के, पुरः पताका = आगे की ध्वजा है, क्रोधावेगग्राहाणाम् = क्रोध के आवेश रूपी मगरमच्छ के लिए, उत्पत्तिनिमग्ना = पैदा करने वाली गङ्गा नदी है, विषयमधूनाम् = सांसारिक उपभोग साधन रूपी शराब के, आपानभूमिः = पीने का स्थान (अड्डा) है, भ्रूविकार नाट्यानाम् = भौं मटकाने रूपी अभिनय के लिए संगीत शाला = (रंगमञ्च) है, दोषाशीविषाणाम् = दोष (क्राम-क्रोध-लोभ-मद-मात्सर्य) रूप सर्पो के लिए, आवासदरी = बिल (निवास करने की गुफा) है, सत्पुरुषव्यवहाराणाम् = सज्जन पुरुषों के व्यवहार की, उत्सारणवेत्रलता = दूर हटाने वाली बेंत की छड़ी है, गुणकलहंसकानाम् = गुणरूपी राजहंसों के लिए, अकालप्रावृट् = बिना समय (ऋतु) के वर्षा है, लोकापवादविस्फोटकानाम् = लौकिक कलङ्क (फोड़ा-फुंसी) रूपी बम के, विसर्पणभूमिः = कामना रूपी गज की, कदलिका = केली है, साधुस्वभावस्य = सज्जनता के लिए, वध्यशाला = बूचडखाना है, धर्मेन्दुमण्डलस्य = धर्म रूपी चन्द्रमण्डल के लिए, राहुजिह्वा = राहु (राक्षस) की जीभ है।

अनुवाद - जैसे जैसे यह चञ्चल स्वभाव वाली लक्ष्मी बढ़ती जाती है, वैसे वैसे दीपक के लौ की तरह मात्र बुरे कर्मों को ही उत्पन्न करती है पक्ष में काजल के समान मलिनता रूप कर्म को उगलती है। क्योंकि यह लक्ष्मी तृष्णा (धन-दौलत को प्राप्त करने की भूख) रूपी विषबेल को बढ़ाने वाली जल की धारा है। इन्द्रिय रूपी हिरणों को फंसाने वाला व्याध (बहेलियों) का गीत है। सज्जन पुरुषों के चरित्र रूपी चित्रों को पोंछने वाली या नष्ट करने वाली धुएँ की रेखा है। मोह (अज्ञानता) रूपी लम्बी निद्रा की विलासशय्या (सुन्दर, पलंग) है। धन के अहङ्कार रूपी राक्षसी के निवास की पुरानी अटारी है। शास्त्र दृष्टि (विद्वान्) के लिए रतौंधी (आँख के अन्धत्व की बीमारी) है। समस्त उद्दण्डताओं के आगे की ध्वजा (सूचना) है। क्रोध के आवेग रूपी मगरमच्छ को उत्पन्न करने वाली गङ्गा नदी है। सांसारिक भोग रूपी मदिरा के पीने का स्थान (अड्डा) है। भौंह (आँख) मिचोली रूपी

अभिनय के लिए रंगमञ्च है। काम–क्रोध–द्रोहादि समस्त दोष रूपी सर्पों के लिए निवास करने की गुफा (बिल) है। सज्जन पुरुषों के व्यवहार को दूर भगाने का बेंतसदण्ड है। दया दाक्षिण्यादि समस्त गुण रूपी कलहंसों के लिए बिना समय के वर्षा ऋतु है। लौकिक कलङ्क रूपी फोड़े फुंसी के फिसलने का स्थान है। छल छिद्र रूपी नाटकों की भूमिका है। काम वासना रूपी हाथी के लिए कदली (केला) का वन है। सुन्दर स्वभाव के लिए हत्यागृह (बूचड़खाना) है। धर्म रूपी चन्द्र मण्डल के लिए राक्षसराज राहु की जिह्वा है।

समासाः–

कज्जलमिव मलिनम् कज्जलमलिनम् ('उपमानानि सामान्यवचनैः' इति अनेन उपमानतत्पुरुषः समासः)

विषस्य वल्ली विषवल्ली (षष्ठीतत्पुरुषः) तृष्णा एव विषवल्ली तृष्णाविषवल्ली तासाम् तृष्णाविषवल्लीनाम् (कर्मधारयतत्पुरुषः)

सम्वर्द्धनाय वारिधारा सम्वर्द्धनवारिधारा (चतुर्थीतत्पुरुषः)

धूमस्य लेखा धूमलेखा (षष्ठीतत्पुरुषः) परामर्शाय धूमलेखा परामर्शधूमलेखा (चतुर्थीतत्पुरुषः)

विभ्रमस्य शय्या विभ्रमशय्या (षष्ठीतत्पुरुषः)

जीर्णश्चासौ वलभी इति जीर्णवलभी (कर्मधारयः) निवासाय जीर्णवलभी निवासजीर्णवलभी (चतुर्थीतत्पुरुषः)

शास्त्रमेव दृष्टिः नेत्रम् अस्य शास्त्रदृष्टिः तेषां शास्त्रदृष्टीनाम् (बहुव्रीहिः)

उत्पत्तये निम्नगा, उत्पत्तिनिम्नगा (चतुर्थीतत्पुरुषः)

वध्यानां शाला वध्यशाला (षष्ठीतत्पुरुषः)

(इस गद्यांश में पारम्परिक रूपक अलंकार दिखाई पड़ रहा है।)

न हि तं पश्यामि यो ह्यपरिचितयानया न निर्भरमुपगूढः, यो वा न विप्रलब्धः। नियतमियमालेख्यगतापि चलति, पुस्तकमय्यपि इन्द्रजालमाचरति, उत्कीर्णापि विप्रलभते, श्रुताप्यभिसन्धत्ते, चिन्तितापि वञ्चयति, एवं विधयापि चानया दुराचारया कथमपि दैववशेन परिगृहीताः विक्लवा भजन्ति राजानः सर्वाविनयाधिष्ठानताञ्च गच्छन्ति।

शब्दार्थ–न हि = नहीं, तम् = ऐसे व्यक्ति को, पश्यामि = देख रहा हूँ, यो = जो, हि = निश्चय रूप से, अपरिचितया = अपरिचित, अनया = इस लक्ष्मी के द्वारा, न = नहीं, निर्भरम् = अच्छी तरीके से, उपगूढः = आलिङ्गन किया गया हो, यो = जो, वा = अथवा, न = नहीं, विप्रलब्धः = त्यागा न गया हो, नियतम् = निश्चित रूप से, इयम् = यह लक्ष्मी, आलेख्यगतापि = चित्र रूप में कागज पर लिख देने पर भी, चलति = चलती रहती है, पुस्तमयी = कठपुतली या कपड़े की बनी गुड़िया होने पर, अपि = भी, इन्द्रजालम् = इन्द्रजाल (जादू) या माया की तरह, आचरति = आचरण करती है, उत्कीर्णापि

= पत्थर या लकड़ी पर खुदवा देने पर भी, विप्रलभते = निकल जाती है, श्रुतापि = सुनने पर भी, अभिसन्धत्ते = ठग लेती है अर्थात् नहीं सुनती है, चिन्तितापि = चिन्तन करने पर भी, वञ्चयति = ठग लेती है, एवंविधया = इस प्रकार की, अपि भी, च = तथा, दुराचारया = दुष्ट आचरण करने वाली, अनया = इस लक्ष्मी ने, कथमपि = किसी प्रकार, दैववशेन = भाग्य के कारण, परिगृहीता = स्वीकार किये गये, राजानः = राजगण, विक्लवाः = परेशान, भवन्ति = होते हैं, च = तथा, सर्वाविनयाधिष्ठानताम् = समस्त अविनयों के घर, गच्छन्ति = हो जाते हैं।

अनुवाद- ऐसे किसी पुरुष को नहीं देख रहा हूँ जो इस अपरिचित लक्ष्मी के द्वारा भली-भाँति आलिङ्गित नहीं हुवा हो और पुनः इस लक्ष्मी के द्वारा छोडा न गया हो। हमेशा के लिए इस लक्ष्मी को यदि पुस्तक में चित्र की तरह लिख कर रखा जाये तो भी यह वहाँ से निकल जाती है। वस्त्र या काठ की पुतली की तरह यह लक्ष्मी मायाजाल की तरह दोहरा आचरण करती है। प्रस्तर आदि पर खोद कर रखी जाने पर भी वह वहाँ से भी अलग हो जाती है। सुनने पर भी यह हमेशा सन्देह करती है। चिन्तन या स्मरण करने पर भी ठग लेती है। इस प्रकार की इस दुष्ट आचरण करने वाली लक्ष्मी के द्वारा कैसे भी भाग्य के कारण राजा चक्कर में आ जाता है तो वह हमेशा बेचैन तथा समस्त उद्दण्डताओं का मन्दिर हो जाता है।

समासाः-

न परिचिता अपरिचिता तया (नञ्तत्पुरुषः)

आलेखितुं योग्यम् आलेख्यं गता आलेख्यगता (द्वितीयातत्पुरुषः)

स्मरणीय बिंदु

- अद्वितीय चंचलताः लक्ष्मी को तलवारों के पिंजरे में रखने पर भी यह भाग जाती है (रक्षित होने पर भी भागना)।
- दोषों का संचयः यह समुद्र से निकलते समय पारिजात से राग, चंद्रमा से टेढ़ापन, उच्चैःश्रवा घोड़े से चंचलता और कालकूट विष से मोहक शक्ति लेकर आई है।
- विरोधाभासी स्वभावः यह ज्ञानियों को त्याग देती है, शूरवीरों को काँटे की तरह छोड़ देती है और सज्जनों को अपशकुन मानती है।
- जादूगरनी जैसा आचरणः यह चित्र में अंकित होने पर भी चल देती है और पत्थर पर खुदी होने पर भी गायब हो जाती है (इंद्रजाल के समान)।
- राजाओं की दुर्गतिः लक्ष्मी के प्रभाव से राजा अहंकार रूपी बुखार से ग्रस्त होकर हितकारी गुरुओं की बात अनसुनी कर देते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) शुकनासोपदेश के आधार पर लक्ष्मी के समुद्र-मंथन से प्राप्त गुणों और उनके प्रतीकात्मक अर्थों की विस्तृत विवेचना कीजिए।

2) लक्ष्मी किन-किन गुणों वाले व्यक्तियों का त्याग कर देती है? पाठ के आधार पर स्पष्ट कीजिए कि लक्ष्मी के लिए विद्वत्ता और कुलीनता का क्या महत्व है।

3) राजाओं की राजप्रकृति (स्वभाव) लक्ष्मी के आने पर कैसे विकृत हो जाती है? शुकनास के तर्कों द्वारा सिद्ध कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) लक्ष्मी को अनार्या और इंद्रजाल क्यों कहा गया है?

2) दीपशिखा (दीपक की लौ) और लक्ष्मी के आचरण में क्या समानता बताई गई है?

3) लक्ष्मी के लिए गंगालहरी का उदाहरण किस संदर्भ में दिया गया है?

4) राजा लोग हितकारी गुरुओं को क्यों कष्ट देते हैं?

5) लक्ष्मी को दुष्ट पिशाचिनी क्यों माना गया है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) लक्ष्मी ने कठोरता (नैष्ठुर्यम्) किससे प्राप्त की?

(क) मदिरा से — (ख) कालकूट विष से
(ग) कौस्तुभ मणि से — (घ) उच्चैःश्रवा से

2) अजलस्नानम् (बिना जल का स्नान) किसे कहा गया है?

(क) राज्याभिषेक को — (ख) गुरु के उपदेश को
(ग) लक्ष्मी के स्पर्श को — (घ) गंगा स्नान को

3) लक्ष्मी किसके पास पिंजरे में बंद होने पर भी नहीं टिकती?

(क) तलवारों के मण्डल (शूरवीरों) के पास (ख) कवियों के पास
(ग) मूर्खों के पास (घ) देवताओं के पास

4) लक्ष्मी किसे साँप (अहि) की तरह लाँघ जाती है?

(क) धूर्त को (ख) कुलीन/मर्यादा पुरुष को (अभिजातम्)
(ग) चोर को (घ) चाटुकार को

5) शुकनासोपदेश के लेखक कौन हैं?

(क) कालिदास (ख) भारवि
(ग) बाणभट्ट (घ) माघ

इकाई 1.3

राजोपदेशगरिमा, गुरूपदेशपात्रत्वम्

उद्देश्य

- सच्चाई का प्रकटीकरण: राजकुमार चन्द्रापीड को यह समझाना कि धन और सत्ता (लक्ष्मी) के मद में डूबे राजाओं का व्यवहार कितना अस्वाभाविक और विनाशकारी हो जाता है।
- सावधानी: सत्ता मिलने के बाद आने वाले मनोवैज्ञानिक विकारों (अहंकार, मोह, विवेकहीनता) के प्रति सचेत करना।
- नैतिक बोध: यह बताना कि राजकीय तामझाम (छत्र, चमर, अभिषेक) केवल बाहरी आडंबर हैं, जो अक्सर मनुष्य के गुणों को ढक देते हैं।

परिणाम

- विवेक जागृति: पाठक यह समझ पाता है कि सत्ता केवल अधिकार नहीं, बल्कि एक भारी उत्तरदायित्व है जिसमें मद (अहंकार) का स्थान नहीं होना चाहिए।
- छल-कपट की पहचान: राजाओं के इर्द-गिर्द रहने वाले स्वार्थी चाटुकारों और धूर्त सेवकों के कपटपूर्ण व्यवहार को समझने की दृष्टि प्राप्त होती है।
- आदर्श आचरण: प्रतिकूल परिस्थितियों में भी धैर्य और संयम बनाए रखने की प्रेरणा मिलती है।

राजोपदेशगरिमा

तथाहि अभिषेकसमय एव चैतेषां मङ्गलकलशजलैरिव प्रक्षाल्यते दाक्षिण्यम्, अग्निकार्यधूमेनेव मलिनीक्रियते हृदयम्, पुरोहितकुशाग्रसम्मार्जनीभिरिवोपनीयते क्षान्तिः, उष्णीषपट्टबन्धनेनेवाच्छाद्यते जरागमनस्मरणम्, आतपत्रमण्डलेनेवापवार्यते परलोकदर्शनम्, चामरपवनैरिवापह्रियते सत्यवादिता, वेत्रदण्डैरिवोत्सार्यन्ते गुणाः, जयशब्दकलकलैरिव तिरस्क्रियन्ते साधुवादाः ध्वजपटपल्लवैरिव परामृश्यते यशः।

शब्दार्थ-तथाहि = क्योंकि, अभिषेकसमयएव = राज्याभिषेक के समय ही, एषाम् = राजाओं के, दाक्षिण्यम् = उदारता को, मङ्गलकलशजलैरवि = मङ्गल कलशों के जल से ही, प्रक्षाल्यते = धो दिया जाता है, अग्निकार्यधूमेन इव = अभिषेक के यज्ञ के धुएँ से, हृदयम् = मन को, मलिनीक्रियते = धूमिल (मलिन) कर दिया जाता है, पुरोहितकुशाग्रसम्मार्जनीभिः इव = मानो पण्डित के कुशा के अग्रभाग रूपी झाड़ू से, क्षान्तिः = क्षमा रूपी गुण को, अपनीयते = दूर कर दी जाती है, उष्णीयपट्टबन्ध नेन इव = मानो पगड़ी के वस्त्र को बांधने से, जरागमनस्मरणम् = बुढ़ापा के आगमन की स्मृति को,

अवच्छाद्यते = ढक दी जाती है, आतपत्रमण्डलेन इव = मानो राज्याभिषेक के समय प्रयुक्त छत्र के मण्डल से, परलोकदर्शनम् = स्वर्गादिलोक अथवा जन्मान्तर का दर्शन, अपवार्यते = रुद्ध कर दिया जाता है, चामरपवनैः इव = मानो चामर (चंवर) के वायु से, सत्यवादिता = सत्य वचन, अपह्रियते = अपहृत हो जाता है, वेत्रदण्डैः इव = मानो बैत के दण्डों से, गुणाः = शूरता उदारता, दया करुणा आदि गुण, उत्सार्यन्ते = भगा दिये जाते हैं, जयशब्दकलकलैः इव = मानो जय जय शब्द के कोलाहल से, साधुवादः इव = मानो ध्वजा के वस्त्र रूपी पत्तो से, यशः = यश, परामृश्यते = पोंछ दिया जाता है।

अनुवाद-क्योंकि राज्याभिषेक के समय ही इन राजाओं की उदारता को मानो अनुवाद मंगलकारी कलश के जर्लो से धो दी जाती है। हृदय (मन) को मानो अग्निकार्य (हवन, यज्ञ) आदि के धुएँ से धूमिल कर दिया जाता है। क्षमा (सहनशीलता) मानो पण्डित के कुशाग्र रूपी झाड़ुओं से बुहार दी जाती है। वृद्धावस्था के आगमन की स्मृति को मानो पगड़ी के वस्त्र से ढक दी जाती है। जन्मान्तर के दर्शन को मानो छतरी के घेरे से घेर दिया जाता है। सत्य वचन को मानो चंवर के वायु से दूर कर दिया जाता है। दया दाक्षिण्य आदि गुणों को मानो बैंत के दण्ड से दूर कर दिया जाता है। धन्यवाद अथवा प्रशंसा आदि वचनों को मानों जय शब्द के कोलाहल से दबा दिया जाता है। यश मानो ध्वजा के वस्त्र रूपी पत्तों से पौंछ दिया जाता है।

समासाः-

अभिषेकस्य समयः अभिषेकसमयः तस्मिन् अभिषेकसमये (षष्ठीतत्पुरुषः)

अमलं मलं क्रियते मलिनीक्रियते

कुशाग्र एव सम्मार्जनी कुशाग्रसम्मार्जनी ('मयूरव्यंसकादयश्च' इति समासः) पुरोहितस्य पण्डितस्य कुशाग्रसम्मार्जनी पुरोहितकुशाग्रसम्मार्जनी ताभिः पुरोहितकुशाग्रसम्मार्जनीभिः (षष्ठीतत्पुरुषः समासः)

जराया आगमनम् जरागमनम्, जरागमनस्य स्मरणम् जरागमनस्मरणम् (उभयत्र षष्ठीतत्पुरुषः)

आतपत्रस्य छत्रस्य मण्डलम् आतपत्रमण्डलम् तेन आतपत्रमण्डलेन (षष्ठीतत्पुरुषः)

सत्यं वदति तच्छीलमस्य इति सत्यवादी तस्य भावः सत्यवादिता। ('सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति णिनिप्रत्ययः, 'तस्य भावस्त्वतलौ' इति तल्प्रत्ययः)

तथाहि, केचित् श्रमवशशिथिलशकुनिगलपुटचपलाभिः खद्योतोन्मेषमुहूर्तमनोहराभिर्मनस्विजनगर्हिताभिः सम्पद्भिः प्रलोभ्यमानाः, धनलवलाभावलेपविस्मृतजन्मानोऽनेकदोषोपचितेन दुष्टासृजेव रागावेशेन बाध्यमानाः, विविधविषयग्रासलालसैः पञ्चभिरप्यनेकसहस्रसंख्यैरिवेन्द्रियैरायास्यमानाः, प्रकृतिचञ्चलतया लब्धप्रसरेण एकेनापि शतसहस्रतामिवोपगतेन मनसा आकुलीक्रियमाणा विह्वलतामुपयान्ति।

शब्दार्थ-केचित् = कुछ राजा लोग, श्रमवशशिथिल शकुनिगलपुटचपलाभिः = थकान के कारण

शिथिल हुए पक्षियों के गर्दन के अगले भाग की तरह चञ्चल, खद्योतोन्मेषमुहूर्तमनोहराभिः = जुगनू की चमक की तरह क्षणिक सुन्दर प्रतीत होने वाले, मनस्विजन गर्हिताभिः = स्वाभिमानियों के द्वारा निन्दित, सम्पद्भिः = धन-दौलतों से, प्रलोभ्यमानाः = लुभाये हुए राजा लोग, धनलवलाभावलेपविस्मृतजन्मानः = थोड़े से धन के लोभ से अभिमानी होकर जन्मान्तर की बात को भूलने वाले, अनेकदोषोपचितेन = कामक्रोधादि विविध दोषों से बढ़े हुए, लोहित पक्ष में-वात, पित्त, कफ रूपी त्रिदोषों से बढ़े हुए दुष्टासृजेव = बेकार खून की तरह, रागावेशेन = प्रेमासक्ति के कारण, बाध्यमानाः = दुःखित किये जाते हुए, विविधविषयग्रासलालसै = अनेक प्रकार के सांसारिक विषय भोग की लालसा वाले, पञ्चभिरपि = पांच इन्द्रियाँ होने पर भी, अनेकसहस्त्रसंख्यैरिव = मानो अनेक हजार संख्या वाले, इन्द्रियैः = कान, नाक, आँख आदि इन्द्रियों से, आयास्यमानाः = प्राप्त करने का प्रयास किये जाते हुए, प्रकृतिचञ्चलतया = स्वभाव से ही चञ्चल होने से, लब्धप्रसरेण = अवसर प्राप्त होने पर, एकेनापि = एक होते हुए भी, सहस्त्रतामिव = मानो हजारों की तरह, उपगतेन = बने हुए, मनसा = हृदय से, आकुलीक्रियमानाः = व्याकुल किये जाते हुए, विह्वलताम् = अधीरता को, उपयान्ति = प्राप्त होते रहते हैं।

अनुवाद-इस गद्यांश में धन रूपी लक्ष्मी से युक्त राजाओं की दशा का वर्णन करते हुए शुकनास चन्द्रापीड को उपदेश देते हैं कि जैसे पक्षी दूर देश से उड़ते-उड़ते अपने घोंसलों में आते हैं उस समय उनके गर्दन का अग्र भाग परिश्रम के कारण ऊपर नीचे करता है, उस गलपुट की तरह चञ्चला लक्ष्मी के द्वारा लुभाये जाते हुए, वर्षाकालीन आकाश में क्षणिक चमकने वाले खद्योत नामक कीड़े की तरह सुन्दर लगने वाली धन रूपी लक्ष्मी के द्वारा, स्वाभिमानियों के द्वारा निन्दित सम्पत्ति रूपी लक्ष्मी के द्वारा लुभाये गये, तनिक धन के मद से विस्मृत जन्म वाले राजा लोग काम क्रोधाादि विविध दोषों से वृद्धि को प्राप्त खराब शोणित की तरह प्रेमासक्त पीड़ित होकर विविध प्रकार के विषयों को भोगने की लालसा वाले पांच इन्द्रिय होने पर भी अनेकों हजार रूपी इन्द्रियों से विषयों को भोगने का प्रयास करते हुए स्वभाव से चञ्चल अवसर को प्राप्त एक मन होने पर भी हजारों मन से व्याकुल होते हुए विह्वलता को प्राप्त होते हैं।

समासाः-

श्रमवशेन शिथिलः श्रमवशशिथिलः (तृतीयातत्पुरुषः) शकुनेः गलस्य पुटं शकुनिगलपुटम् (षष्ठीतत्पुरुषः) तद्वच्चञ्चला ताभिः श्रमवशशिथिलशकुनिगलपुटचपलाभिः (कर्मधारयः)

खद्योतस्य ज्योतिरिङ्गिणस्य उन्मेषवत् मुहूर्तं मनोहराभिः खद्योतोन्मेषुमुहूर्तमनोहराभिः (षष्ठीतत्पुरुषः)

मनोऽस्यास्तीति मनस्वी मनस्विना गर्हिता मनस्विगर्हिता ताभिः मनस्विगर्हिताभिः (तृतीयातत्पुरुषः)

धनस्य वित्तस्य लवः बिन्दुः धनलवः, तस्य लाभः धनलवलाभः (उभयत्र षष्ठीतत्पुरुषः)

तस्य अवलेपेन विस्मृतं जन्म यैः ते धनलवलाभावलेपविस्मृतजन्मानः (बहुव्रीहिः)

लब्धः प्राप्तः प्रसरोऽवसरो येन स लब्धप्रसरः तेन लब्धप्रसरेण (बहुव्रीहिः समासः)

गुरूपदेशपात्रत्वम्

ग्रहैरिव गृह्यन्ते, भूतैरिवाभिभूयन्ते, मन्त्रैरिवावेश्यन्ते, सत्त्वैरिवावष्टभ्यन्ते, वायुनेव विडम्ब्यन्ते, पिशाचैरिव ग्रस्यन्ते, मदनशरैर्मर्माहता इव मुखभङ्गसहस्त्राणि कुर्वते, धनोष्मणा पच्यमाना इव विचेष्टन्ते, गाढप्रहाराहता इव अङ्गानि न धारयन्ति, कुलीरा इव तिर्यक् परिभ्रमन्ति, अधर्मभग्नगतयः पङ्गव इव परेण सञ्चार्यन्ते, मृषावादविषविपाकसञ्जातमुखरोगा इवातिकृच्छ्रेण जलपन्ति, सप्तच्छदतरव इव कुसुमरजोविकारैरासन्नवर्तिनां शिरः शूलमुत्पादयन्ति, आसन्नमृत्यव इव बन्धुजनम् अपि नाभिजानन्ति, उत्कम्पितलोचना इव तेजस्विनो नेक्षन्ते, कालदष्टा इव महामन्त्रैरपि न प्रतिबुध्यन्ते, जातुषाभरणानीव सोष्माणं न सहन्ते, दृष्टवारणा इव महामानस्तम्भनिश्चलीकृता न **गृह्णन्त्युपदेशम्।**

शब्दार्थ-ग्रहैः = मंगल राहू आदि ग्रहों के द्वारा, गृह्यन्ते इव = मानो ग्रसित कर लिये जाते हैं, भूतैः = भूतों के द्वारा, अभिभूयन्ते इव = मानो तिरस्कृत किये जाते हैं। मन्त्रैः = तन्त्र विद्या के मन्त्रों से, आवेश्यन्ते इव = मानो वश में कर लिये जाते हैं, सत्त्वैः = हिंसक जन्तुओं के द्वारा, अवष्टभ्यन्ते इव = मानो बलात् पकड़ लिये जाते हैं, वायुना = वात नामक रोग से, विडम्ब्यन्ते इव = मानो छल किये जाते हैं, पिशाचैः = पिशाचों के द्वारा, ग्रस्यन्ते इव = मानो ग्रसित किये जाते हैं, मदनशरैः = कामदेव के बाणों से, मर्माहता इव = मानो मर्मस्थल पर चोट खाने से, मुखभङ्गसहस्त्राणि = हजारों प्रकार से मुख टेढ़ा-मेढ़ा, कुर्वत = करते हैं, धनोष्मणा = धन की गर्मी से, पच्यमाना इव = मानो पकाये जाते हुए, विचेष्टन्ते = छटपटाते हैं, गाढप्रहाराहता = भयंकर प्रहार से घायल हुए के, इव = समान, अङ्गानि = अवयवों को, न धारयन्ति = धारण नहीं कर पाते हैं, कुलीरा इव = केकड़े के समान, तिर्यक् = टेढ़े-मेढ़े, परिभ्रमन्ति = चलते हैं, अधर्मभग्नगतयः = अधर्म से टूटे हुए गति वाले, पङ्गव इव = लंगड़े के समान, परेण = दूसरों के द्वारा, सञ्चार्यन्ते = चलाये जाते हैं, मृषावादविषविपाकसञ्जातमुखरोगाः = मिथ्या वचन रूपी विष के फल से उत्पन्न मुख के रोग वालों के समान, अतिकृच्छ्रेण = अत्यधिक कठिनता से, जल्पन्ति = बोल पाते हैं, सप्तच्छदतरव इव = सप्तपर्ण वाले तरु के सदृश, कुसुमरजोविकारैः = फूल के पराग से उत्पन्न विकारों से, आसन्नवर्तिनाम् = पास में रहने वाले लोगों के, शिरःशूलम् = सिर की पीड़ा को, उत्पादयन्ति = उत्पन्न करते हैं, आसन्नमृत्यव इव = समीप मृत्युवालों के समान, बन्धुजनम् = सगे सम्बन्धियों को, नाभिजानन्ति = नहीं पहचानते हैं, उत्कुपितलोचना इव = चक्षुरोगियों के सदृश, तेजस्विनः = तेज तर्रार व्यक्तियों को, नेक्षन्ते = नहीं देखना चाहते हैं, कालदष्टा इव = काले नाग से डसे हुए के सदृश, महामन्त्रैरपि = महामन्त्रों के द्वारा भी, राजा पक्ष में महामन्त्रियों के सलाह मशविरा के द्वारा भी, न प्रतिबुध्यन्ते = चेतनां में नहीं आते हैं, राजपक्ष में = समझदारी नहीं आती है, जातुषाभरणानीव = लाख के आभूषणों के सदृश, सोष्माणम् = आग को, राजपक्ष में = महापराक्रमी व्यक्ति को, न सहन्ते = नहीं सह पाते हैं, दुष्टवारणा इव = पागल हाथी के सदृश, महामानस्तम्भनिश्चलीकृतापि = विशाल खम्भे में बांधने से चेष्टारहित करने पर भी, राजपक्ष मे = अति गर्व के कारण जडबुद्धि हो जाने पर भी, उपदेश = उपदेश को, न गृह्णन्ति = नहीं ग्रहण करते हैं।

अनुवाद- धन तथा पद रूप लक्ष्मी की प्राप्ति में आतुर राजा गण मानो शनिश्चर, मङ्गल, राहु इत्यादि ग्रहों के द्वारा पकड़ लिये जाते हैं। भूत-प्रेत आदि के द्वारा मानो दबोच किये जाते हैं। तान्त्रिक विद्या के वशीकरण मन्त्रों के द्वारा मानो वश में कर लिये जाते हैं। हिंसक प्राणियों के द्वारा मानो बलपूर्वक पकड़ लिये जाते हैं। वात नामक रोग से मानो अधीर किये जाते हैं। राक्षसों के द्वारा मानों ग्रसित किये जाते हैं। कामदेव के बाण से घायल मर्मस्थल वाले की तरह हजारों प्रकार के मुख बनाते हैं। धन की गर्मी से पकाये हुए की तरह विविध प्रकार की चेष्टाएँ करते हैं। भयङ्कर प्रहार से घायल हुए की तरह अवयवों को व्यवस्थित नहीं रख पाते हैं। केकड़े के सदृश हमेशा तिरछे होकर इधर-उधर घूमते हैं। अधर्म के कारण टूटे पैर वाले लंगड़े के सदृश दूसरों के द्वारा चलाये जाते हैं। पक्ष में-पाप आचरण करने के कारण नष्ट हो गये हैं धर्म रूपी सत्कर्म वाले राजा दूसरों के द्वारा सत्कर्म में प्रवृत्त कराये जाते हैं। मिथ्या भाषण रूपी विष के परिणाम से उत्पन्न मुख रोग से युक्त व्यक्ति के सदृश अत्यन्त कष्ट से बातचीत करते हैं। पुष्प के पराग के विकारों से समीप में रहने वाले पुरुषों के शिर की पीड़ा (खुजली) को उत्पन्न करने वाले सप्तपर्ण नामक वृक्ष के सदृश मनोवेदना उत्पन्न करते हैं नजदीक मृत्यु वालों के समान अपने भाई बन्धुओं को भी नहीं पहचानते हैं। नेत्र रोगियों की तरह तेजस्वी पुरुषों को नहीं देखना चाहते हैं। पक्ष में-सूर्य को नहीं देख पाते हैं। नाग के द्वारा दंशित पुरुषों की तरह गरुड़ से सम्बन्धित महामन्त्रों के द्वारा भी चैतन्यवान् नहीं होते हैं। पक्ष में-अमात्यों की उत्कृष्ट मन्त्रणा से भी सचेत नहीं होते हैं। लाख के आभूषणों की तरह तेज तर्रार नर को सहन नहीं कर पाते हैं पक्ष में अग्नि को नहीं सहते हैं, मद से मत्त हाथी के सदृश महान् अभिमान के कारण जड़ की तरह उपदेश को नहीं स्वीकार करते हैं। पक्ष में-विशाल खम्भे में बांधने पर भी वश में नहीं आते हैं।

समासाः-

गाढश्चासौ प्रहारश्च गाढप्रहारः (कर्मधारयः) तेन आहताः घातिताः गाढप्रहाराहता (तृतीयातत्पुरुषः)

न धर्मः अधर्मः (नञ्तत्पुरुषः) अधर्मेण पापाचरणेन भग्ना विनष्टा गतिः सत्कृतिः येषां ते अधर्मभग्नगतयः (बहुव्रीहिः)

मृषावाद एव विषः गरलम् मृषावादविषः (कर्मधारयः) तस्य विपाकः परिणामः मृषावादविषविपाकः (षष्ठीतत्पुरुषः) तेन सञ्जात उत्पन्नो मुखरोगः येषाम् ते मृषावादविषविपाकसञ्जातमुखरोगाः (बहुव्रीहिः समासः)

आसन्नं निकटं मृत्युः येषाम् ते आसन्नमृत्यवः (बहुव्रीहिः)

उत्कुपितं लोचनं येषां ते उत्कुपितलोचनाः (बहुव्रीहिः)

महामानश्चासौ स्तम्भः महामानस्तम्भः विशालयूपः (कर्मधारयः) अनिश्चलं निश्चलं कृता इति निश्चलीकृताः, महामानस्तम्भेन निश्चलीकृताः महामानस्तम्भनिश्चलीकृताः (तृतीयातत्पुरुषः)

तृष्णाविषमूर्च्छिताः कनकमयमिव सर्वं पश्यन्ति, इषव इव पानवर्धिततैक्ष्ण्याः परप्रेरिता विनाशयन्ति, दूरस्थितान्यपि फलानीव दण्डविक्षेपैर्महत्कुलानि शातयन्ति, अकालकुसुमप्रसवा इव मनोहराकृतयोऽपि लोकविनाशहेतवः श्मशानाग्नय इवातिरौद्रमूर्तयः तैमरिका इवादूरदर्शिनः, उपसृष्टा इव क्षुद्राधिष्ठितभवनाः, श्रूयमाणा अपि प्रेतपटहा इवोद्वेजयन्ति, चिन्त्यमानाऽपि महापातकाध्यवसाया इवोपद्रवमुपजनयन्ति, अनुदिवसमापूर्णमाणा, पापेनेवाध्मातमूर्तयो भवन्ति, तदवस्थाश्च व्यसनशतशरव्यतामुपगता वल्मीकतृणाग्रावस्थिता जलबिन्दव इव पतितमप्यात्मानं नावगच्छन्ति।

शब्दार्थ-तृष्णाविषमूर्च्छिताः = लालसा रूपी विष से मूर्च्छित नृपजन, सर्वं = सब कुछ, कनकमयम् इव = स्वर्णाधिक्य के समान, पश्यन्ति = अवलोकन लोकन करते हैं, इषव इव = बाणों के सदृश, पानवर्द्धिततैक्ष्ण्याः = कसौटी पर घिसने के कारण बढ़े हुए पैनापन वाले, राजपक्ष में- शराब के पीने से बढ़े हुए उग्र स्वभाव वाले, परप्रेरिताः = दूसरों के द्वारा चलाये जाने पर, राजपक्ष में-चापलूसों के द्वारा प्रेरित, विनाशयन्ति = नष्ट कर डालते हैं, राजपक्ष में-दूसरों को पीड़ित करते हैं, दूरस्थितानि अपि = दूर में स्थित होने पर भी, फलानि इव = फलों के समान, महाकुलानि = अच्छे कुल के लोगों को, दण्डविक्षेपैः = फलपक्ष में दण्ड के फैंकने से, राजपक्ष में-राजकीय दण्ड प्रावधान से, शातयन्ति = फलपक्ष में गिरा देते हैं, राजपक्ष में-दुःख प्रदान करते हैं, अकालकुसुमप्रसवा इव = बिना समय के उत्पन्न पुष्प के सदृश, मनोहराकृतय इव = मनोहर आकृति (स्वरूप) वाले की तरह, लोकविनाशहेतवः = साधारण लोगों के विनाश के हेतु होते हैं, श्मशानाग्नय इव = श्मशान भूमि के आग की तरह, अतिरौद्रभूतयः = अत्यन्त भयङ्कर भस्म वाले, पक्षे (सम्पत्ति वाले) होते हैं, तैमरिका इव = रतौंधी रूपी आँख के रोगी की तरह, अदूरदर्शिनः = दूर तक न देखने वाले, राजपक्ष में-दूरदृष्टि के अभाव वाले होते हैं कि इसका परिणाम क्या होगा, उपसृष्टा इव = वेश्यालयों के सदृश, क्षुद्राधिष्ठितभवनाः = क्षुद्र (नीच) पुरुषों से राजप्रासाद व्याप्त रहता है, श्रूयमाणा अपि = सुनाई देने पर भी, प्रेतपटहा इव = मृत्यु के पश्चात् शव के आगे बजने वाले नगाड़ों के सदृश, उद्वेजयन्ति = परेशान या अशान्त करते हैं, चिन्त्यमाना अपि = याद करने पर भी, महापातकाध्यवसाया इव = ब्राह्मण, स्त्री, हत्या आदि महापाप कार्यों के सदृश, उपद्रवम् = उपद्रव को, उपजनयन्ति = उत्पन्न करते हैं, अनुदिवसम् = प्रत्येक दिन, पापेन = पाप या दुष्कर्म से, आपूर्यमाणा इव = परिपूर्ण के सदृश, आध्मातमूर्तयः = स्थूल शरीर वाले हो जाते हैं, तदवस्थाश्च = पाप से मोटे हुए शरीर वाले होने पर, व्यसनशतशरव्यताम् = सैकड़ों गंदी आदतों को, उपगताः = प्राप्त होते हैं, वल्मीक तृणाग्रावस्थिताः = दीमक के ऊपर उपजे घास के उपरिभाग में स्थित, जलबिन्दव इव = जल बिन्दुओं के सदृश, पतितम् अपि = पतिप (गिरे हुए) को भी, बिन्दु पक्ष में-नीचे गिरे हुए भी, आत्मानं = अपने आप को, न = नहीं, अवगच्छन्ति = जानते हैं (पहचानते हैं)।

अनुवाद- राजगण तृष्णा (धन की लालसा) रूपी गरल से मोहित होकर समस्त पदार्थों को सोने (सुवर्ण) की तरह अवलोकन करते हैं। सान पर रगड़ने के कारण बढ़े हुए तीक्ष्ण धारदार बाण की तरह, मद्यपान करने से बर्धित उग्र स्वभाव वाले नृपजन दूसरों (सचिवों) या (चाटुकारों) के द्वारा प्रेरित होकर दूसरों को सदा पीड़ित किया करते हैं। वृक्ष में लगे हुए दूरस्थ फलों की तरह दूर में स्थित महाकुल

में उत्पन्न लोगों को राजकीय दण्ड विधान से दुःख देते हैं, फलपक्ष में- दण्ड के प्रहार से फलों को नीचे गिराते हैं। बिना समय के उत्पन्न पुष्प की तरह दिखने में मनोहर आकृति वाले होने पर भी नृपजन प्रजाजनों के विनाश के कारण होते हैं, पुष्पपक्ष में- समस्त लोगों के विनाश सूचक होते हैं। श्मशान (प्रेतवन) की अग्नि के सn`श अत्यन्त भयङ्कर ऐश्वर्य प्रभुसत्ता तथा धन वाले होते हैं, अग्निपक्षमें-भूतयः (भस्म) वाले होते हैं। रतौंधी के रोगियों की तरह अग्रसोची नहीं होते हैं या दूर तक नहीं देख पाते हैं। वेश्याओं के सn`श क्षुद्र लोगों से व्याप्त भवन वाले होते हैं। सुनने पर भी मृत्यु के पश्चात् शव के आगे बजने वाले नगाड़ों की तरह विचलित कर देते हैं। स्मरण करने पर भी ब्रह्महत्या, स्त्रीहत्या आदि महापाप के उद्योग के समान उपद्रव को उत्पन्न करते हैं। मानो प्रतिदिन पाप करने के कारण पाप से फूले हुए मोटे शरीर वाले होते हैं। पाप से वर्धित शरीर वाले नृपजन सैकड़ों प्रकार के दुर्व्यसनों की शरणस्थली हो जाते हैं। बांबी के ऊपर उत्पन्न तृण (घास) के अग्रिम भाग पर विद्यमान जलबिन्दुओं की भांति धर्मच्युत हुए अपने आप को नहीं समझ पाते हैं, जलबिन्दु पक्षे जल बिन्दुओं को नहीं देख पाते हैं।

समासाः-

तृष्णा एव विषः गरलः तृष्णाविषः (मयूरव्यंसकादिसमासः) तेन मूर्च्छिता तृष्णाविषमूर्च्छिता (तृतीयातत्पुरुषः)

पानेन निशानघर्षनेन वा वर्धितं समेधितं तैक्ष्ण्यं तीक्ष्णता तेजो येषां ते पानवर्धिततैक्ष्ण्या (बहुव्रीहिः)

कुसुमानां पुष्पानां प्रसवो जनिः कुसुमप्रसवः (षष्ठीतत्पुरुषः) अकाले असमये कुसुमप्रसवाः अक. ालकुसुमप्रसवाः (सप्तमीतत्पुरुषः)

रौद्रा चासौ भूतिः वित्तं भस्म वा इति रौद्रभूतिः (कर्मधारयः) अतिक्रान्तम् रौद्रभूतिम् अतिरौद्रभूतयः (प्रादि समासः अत्यादयः०)

क्षुद्रैः नीचपुरुषैः अधिष्ठितम् व्याप्तम् भवनम् यासाम् ता क्षुद्राधिष्ठितभवना (बहुव्रीहिः)

प्रेतानां मृत्युप्राप्तानां शरीराणां पटहा वाद्यविशेषा ढक्काध्वनयो वा प्रेतपटहा (षष्ठीतत्पुरुषः)

महच्चादः पातकं महापातकम् ('सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः' इति अनेन कर्मधारयः समासः।) महापातकानाम् अध्यवसायाः उद्योगा ब्रह्महत्या स्त्रीहत्या आदयः महापातकानाध्यवसायाः (षष्ठीतत्पुरुषः)

आध्माता मूर्तियेषां ते आध्मातमूर्तयः (बहुव्रीहिः)

अपरे तु स्वार्थनिष्पादनपरैर्धनपिशितग्रासगृध्रैरास्थाननलिनीधूर्तबकैः द्यूतं विनोद इति, परदाराभिगमनं वैदग्ध्यमिति, मृगयां श्रम इति, पानं विलास इति, प्रमत्तता शौर्यमिति, स्वदारपरि**त्यागम् अव्यसनितेति गुरुवचनावधीरणमपरप्रणेयत्वमिति, अजितभृत्यतां सुखोपसेव्यत्वमिति, नृत्यगीतवाद्यवेश्याभिसक्तिं रसिकतेति, महापराधावकर्णनं महानुभावतेति, परिभवसहत्वं क्षमेति, स्वच्छन्दतां प्रभुत्वमिति, देवावमाननं महासत्त्वतेति, वन्दिजनख्यातिं यश इति, तरलताम् उत्साह इति, अविशेषज्ञताम् अपक्षपातित्वमिति दोषनपि गुणपक्षमध्यारोपयद्भिरन्तः स्वयमपि विहसद्भिः**

प्रतारण**कुशलैर्धूतैरमानुषलोकोचिताभिः स्तुतिभिः प्रतार्यमाणा वित्तमदमत्तचित्ता निश्चेतनतया तथैवेत्यात्मन्यारोपिताकाभिना मर्त्यधर्माणोऽपि दिव्यांशावतीर्णमिव सदैवतमिवातिमानुषम् आत्मानमुत्प्रेक्षमाणाः प्रारब्धदिव्योचितचेष्टानुभावाः सर्वजनस्योपहास्यतामुपयान्ति।**

शब्दार्थ–अपरे तु = दूसरे नृपजन तो, स्वार्थनिष्पादनपरैः = अपने प्रयोजन की सिद्धि में सतत प्रयत्नशील, धनपिशितग्रासगृध्रैः = धन रूपी मांस के खण्ड की प्राप्ति के लिए गिद्ध बने हुए, आस्थाननलिनीबकैः = सभामण्डप रूपी कमलिनी के ऊपर विराजमान बगुले बने हुए (कमलिनी वन में हंस की शोभा होती है. बगुले की नहीं। यहाँ राजा की गिद्ध और बगुले से उपमा की गई है), द्यूतं = जुआ खेलना, विनोद इव = मानो मनोरंजन है, परदाराभिगमनं = दूसरों की स्त्री के पास जाना, वैदग्ध्यमिति = चतुराई है, मृगया = शिकार करना, श्रम इति = परिश्रम (व्यायाम) है, पानं = शराब पीना, विलास इति = विलासिता (आनन्द) है, प्रमत्तता = अभिमान करना, शौर्यमिति = शूरता है, स्वदारपरित्यागः = अपनी पत्नी का परित्याग करना, अव्यसनिता इति = अनासक्ति है, गुरुवचनावधीरणम् = गुरु के वचनों को तिरस्कृत करना, अपरप्रणेयत्वम् इति = दूसरों के अधीन न रहना है, अजितभृत्यता = नौकरों को अपने वश में नहीं रख पाना, सुखोपसेव्यत्वम् = आनन्दपूर्वक जीना है, नृत्यगीतवाद्यवेश्याभिसक्तिः = नाचना, गीत, गाना, वीणा बजाना, वेश्यागमन करना, रसिकता इति = रसिकता है, महापराधानाकर्णनम् = महापराधा को भी न सुनना, महानुभावता इति = महामहिमा शालिता है, परिभवसहत्वम् = दूसरों के द्वारा कृत अपमान को सहना, क्षमा इति = सहनशीलता है, स्वच्छन्दता = इच्छानुसार व्यवहार करना, प्रभुत्वम् इति = प्रभुता है, देवावमाननं = देवताओं को प्रणाम न करके अपमानित करना, महासत्त्वता इति = महान् शक्तिशालिता है, बन्दिजनख्यातिः = स्तुति पाठकों द्वारा स्तुति करना, यशः इति = इस प्रकार कीर्ति है, तरलता = चञ्चलता, उत्साह इति = उत्साह है, अविशेषज्ञता = किसी भी विषय में अधिक जानकारी न होना, अपक्षपातित्वम् इति = पक्षपात न करना है, दोषानपि = दुष्कर्मों को भी, गुणपक्षम् = गुण की पंक्ति में, अध्यारोपयद्भिः = स्थापित करते हुए, अन्तः = अन्दर ही अन्दर, स्वयमपि = अपने आप भी, विहसद्भिः = हँसते हुए, प्रतापरणाकुशलैः = ठगने में अतिकुशल, धूर्तैः = धूर्त मनुष्यों के द्वारा, अमानुषोचिताभिः = देवों के योग्य, स्तुतिभिः = स्तोत्रों से, प्रतार्यमाणा = ठगे जाते हुए, वित्तमदमत्तचित्ताः = धन के गर्व से अभिमानी मन वाले, निश्चेतनया = चेतना से शून्य होने के कारण, तथैव इति = धूर्तों के अनुसार, आत्मनि = अपनी आत्मा पर, आरोपितालीकाभिमानाः = मिथ्या अभिमान का आरोप करने वाले घमण्डी नृपजन, मर्त्यधर्मानोऽपि = मानव होने पर भी, दिव्याशांवतीर्णमिव = देवता का अवतार मानकर, सदैवतमिव = मानो अपने आप पर देवत्व समझकर, अतिमानुषम् = महामानव के स्वरूप में, आत्मानम् = अपने आप को, उत्प्रेक्षमाणाः = समझते हुए, प्रारब्धदिव्योचितचेष्टानुभावाः = देवों के समान आचार व्यवहार प्रारम्भ करके, सर्वजनस्य = समस्त प्रजाजनों के, उपहास्यताम् = उपहास के कारण, उपयान्ति = बनते हैं।

अनुवाद – दूसरे नृपजन तो मात्र स्वार्थ की सिद्धि में तत्पर रहते हैं। धन रूपी मांस के ग्रास को प्राप्त करने वाले गिद्ध पक्षी के समान होते हैं। राज्यसभा रूपी कमलिनी के वन में विचरण करने वाले बगुले के समान लगते हैं। वे नृपजन जूआ खेलना मनोरंजन मानते हैं। दूसरों की स्त्री के पास जाने

को चतुराई समझते हैं। शिकार खेलने को परिश्रम (व्यायाम) करना मानते हैं। शराब पीने को विलासिता कहते हैं। अहंकार को वीरता मानते हैं। अपनी धर्मपत्नी के परित्याग को संसार के प्रति अनासक्ति मानते हैं। गुरु के उपदेश की अवहेलना करके अपने आपको किसी के अधीन न होना समझते हैं। सेवकों को वश में न कर पाने को सुन्दर सेवा समझते हैं। नाचना, गाना, वीणा आदि बजाना तथा वेश्याओं में अनुराग को रसिकता की संज्ञा देते हैं। भयङ्कर से भयङ्कर अपराध को भी न सुनने (ध्यान नहीं देना) को महाप्रभावशाली मानते हैं। तिरस्कार (अपमान) सहने को ही सहनशीलता कहते हैं। इच्छानुसार कार्य करने को प्रभुता मानते हैं। देवताओं के अपमान करने को महाबलशालिता समझते हैं। स्तुति करने वाले भाटों की प्रशंसा को ही यश मानते हैं। चञ्चलता को उत्साह कहते हैं। किसी विषय की विशेष जानकारी न होने को निष्पक्षता मानते हैं। दोषों को भी गुण कहने वाले अन्दर ही अन्दर स्वयं भी हँसने वाले वञ्चना (ठगी) करने में कुशल धूर्तों के द्वारा अलौकिक प्रशंसाओं से ठगे हुए धन रूपी गर्व के कारण गर्वीले मनवाले नृपजन चेतना से शून्य होकर फालतू में अपने ऊपर मिथ्या अहंकार को थोपते हुए मनुष्य होकर भी देवता के अंश के रूप में अवतरित की तरह मानते हुए देवता के समान मानव से अपने आपको ऊपर समझते हुए देवों के सदृश अलौकिक कार्य को करते हुए समस्त प्रजाजनों के उपहास के कारण बनते हैं।

समासाः-

स्वस्मै अर्थः इति स्वार्थः (चतुर्थी समासः) तस्य निष्पादनं सिद्धिः स्वार्थनिष्पादनम् (षष्ठीतत्पुरुषः) तस्मिन् परैः स्वार्थनिष्पादनपरैः (सप्तमीतत्पुरुषः)

परेषां दाराः स्त्री इति परदाराः (षष्ठीतत्पुरुषः) तेन सहाभिगमनं सम्भोगः परदाराभिगमनम् (तृतीयातत्पुरुषः)

विगतः शेषः इति विशेषः ('प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया') तम् जानाति इति विशेषज्ञः, तस्य भावः विशेषज्ञता, न विशेषज्ञता अविशेषज्ञता (नञ्तत्पुरुषः)

मर्त्यः धर्मो येषां ते मर्त्यधर्माणः (बहुव्रीहिः)

दिवि भवः दिव्यः, तस्य अंशः देवतांशः, तस्य अवतीर्णम् दिव्यांशावतीर्णम् (षष्ठीतत्पुरुषः)

दिव्योचितश्चासौ चेष्टानुभावः दिव्योचितचेष्टानुभावः (कर्मधारयः) प्रारब्धः दिव्योचितचेष्टानुभावः यैः ते प्रारब्धदिव्योचितचेष्टानुभावः (बहुव्रीहिः)

आत्मविडम्बनाञ्चानुजीविना जनेन क्रियमाणामभि**नन्दन्ति। मनसा देवताध्यारोपणवि**प्रता**रणाद सद्भूतसम्भावनोपहताश्चान्तः**प्रवि**ष्टापरभुजद्वयमिवात्मबाहुयुगलं सम्भावयन्ति। त्वगन्तरिततृतीयलोचनं स्वललाटमाशङ्कते। दर्शनप्रदानमप्यनुग्रहं गणयन्ति। दृष्टिपातमप्युपकारपक्षे स्थापयन्ति। सम्भाषणमपि संविभागमध्ये कुर्वन्ति। आज्ञामपि वरप्रदानं मन्यन्ते। स्पर्शमपि पावनमाकलयन्ति।**

शब्दार्थ-अनुजीविना = अपने पीछे जिन्दा रहने वाले, जनेन = नौकरों व धूर्तों के द्वारा, क्रियमाणाम् = की जाती हुई, आत्मविडम्बनाम् = अपनी वञ्चना (ठगी) को, अभिनन्दन्ति = अभिनन्दन करते हैं या स्वागत करते हैं, मनसा = हृदय से, देवताध्यारोपणप्रतारणा = देवत्व की स्थापना रूप मिथ्या विचार से, सम्भूतसम्भावनोपहताश्च = प्रादुर्भूत धारण से नष्ट बुद्धि वाले, अन्तः = अपने अन्दर, प्रविष्टापरभुजद्वयम् = मानो दो भुजाएँ और उत्पन्न हो गयी हैं इस प्रकार, आत्मबाहुयुगलम् = अपनी दोनों भुजाओं को,

सम्भावयन्ति = सम्भावना करते (मानते) हैं, त्वगन्तरिततृतीयलोचनम् = त्वचा के अन्दर उत्पन्न तीसरे नेत्र वाले, स्वललाटम् = अपने ललाट (मस्तिष्क) को, आशङ्कन्ते = स्वीकार करते हैं अर्थात् मैं शंकर हूँ ऐसा मानते हैं, दर्शनप्रदानमपि = प्रजाजनों को अपना दर्शन देना भी, अनुग्रहं = कृपा को, गणयन्ति = समझते हैं, दृष्टिपातमपि = किसी के ऊपर नजर डालने को भी, उपकारपक्षे = उपकार के रूप में, स्थापयन्ति = स्थापित करते हैं, सम्भाषणमपि = किसी के साथ बातचीत करने को, संविभागमध्ये = दान देना, कुर्वन्ति = स्वीकार करते हैं, आज्ञा = किसी के लिए आज्ञा देने को, वरप्रदानम् = वरदान देना, मन्यन्ते = मानते हैं, स्पर्शमपि = हाथ से छूने को, पावनम् = पवित्र, आकलयन्ति = मानते हैं।

अनुवाद - नृपजन धूर्त सेवकों के द्वारा की गई अपनी वञ्चना (धोखाधड़ी) का भी अभिनन्दन करते हैं। मन से अपने पर देवत्व का मिथ्या आरोप के कारण नष्ट-भ्रष्ट बुद्धि वाले नृपजन अन्दर ही अन्दर दो भुजा और उत्पन्न हो गये हैं, की तरह अपनी दोनों भुजाओं की सम्भावना करते हैं अर्थात् (चार भुजावाले विष्णु के समान अपने को मानते हैं) त्वचा के अन्दर छिपे हुए तीसरे नेत्र वाले अपने ललाट (भाल) की सम्भावना भी करते हैं अर्थात् (अपने आपको त्रिनेत्र शङ्कर के समान मानते हैं) अतः ये नृपजन किसी को दर्शन देना भी कृपा समझते हैं। किसी प्रजाजन के ऊपर नजर डालने को उपकार मानते हैं। किसी के साथ बातचीत करने को दान देने के समान स्वीकारते हैं। आदेश देना वरदान मानते हैं। स्पर्श (छूने) को पवित्र मानते हैं।

समासाः- देवताया अध्यारोपणप्रतारणा देवताध्यारोपणप्रतारणा (षष्ठीतत्पुरुषः) ताभिः सम्भूता चासौ सम्भावना सम्भूतसंभावना (कर्मधारयगर्भतृतीयातत्पुरुषः) ताभिः उपहता नष्टीभूता देवताध्यारोपण-प्रतारणासम्भूतसम्भावनोपहताः (तृतीयातत्पुरुषः)

त्वगन्तरितं तृतीयलोचनं यस्य तम् त्वगन्तरिततृतीयलोचनम् (बहुव्रीहिः)।

स्मरणीय बिंदु

- अभिषेक का प्रभावः अभिषेक के समय मंगल-कलशों के जल से मानो उदारता धुल जाती है और यज्ञ के धुएँ से हृदय मलिन हो जाता है।

- राजाओं की जड़ताः वे मदोन्मत्त हाथी की तरह उपदेश ग्रहण नहीं करते और लाख के आभूषण ाों की तरह तेजस्वी (अग्नि तुल्य) व्यक्तियों को सहन नहीं कर पाते।

- लक्ष्मी का विषैला प्रभावः लक्ष्मी रूपी विष से मूर्छित राजा सब कुछ कंचनमय (सोने का) देखने लगते हैं और उनकी दूरदृष्टि नष्ट हो जाती है।

- देवत्व का मिथ्या आरोपः राजा स्वयं को ईश्वर का अंश मानने लगते हैं; उन्हें लगता है कि उनके पास चार भुजाएँ (विष्णुवत्) या माथे पर तीसरा नेत्र (शिववत्) आ गया है।

- व्यवहार में विकृतिः वे आज्ञा देने को वरदान और बातचीत करने को दान समझने लगते हैं। उनका आचरण किसी श्मशान की अग्नि के समान भयानक हो जाता है।

अभ्यास प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) शुकनासोपदेश के आधार पर राजाओं की अमानवीयता और अहंकार का सविस्तार वर्णन कीजिए।

2) अभिषेक के समय राजाओं के सद्‌गुण लुप्त हो जाते हैं शुकनास के इस कथन की तार्किक विवेचना कीजिए।

3) लक्ष्मी से प्रभावित राजाओं की तुलना बाणभट्ट ने किन-किन प्राकृतिक एवं पौराणिक उपमानों से की है? सोदाहरण लिखिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) अभिषेक के समय उष्णीष-पट्ट (पगड़ी) बाँधने का राजा की स्मृति पर क्या प्रभाव पड़ता है?

2) राजाओं को दूरदर्शी (दूरी तक न देखने वाला) क्यों कहा गया है?

3) राजा लोग तेजस्वी पुरुषों को सहन क्यों नहीं कर पाते?

4) राजाओं द्वारा स्वयं पर देवत्व के आरोप (स्वयं को भगवान मानना) के क्या दुष्परिणाम होते हैं?

5) शुकनासोपदेश में श्मशान की अग्नि का दृष्टांत किसके लिए प्रयुक्त हुआ है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) राज्याभिषेक के समय मंगल-कलशों के जल से क्या धुल जाता है?

(क) शरीर की गंदगी (ख) उदारता (दाक्षिण्यम्)
(ग) पाप (घ) वस्त्र

2) राजा किसके समान उपदेश को ग्रहण नहीं करते?

(क) पत्थर के समान (ख) मदोन्मत्त हाथी के समान
(ग) मछली के समान (घ) बालक के समान

3) राजा लोग आज्ञा देने को क्या मानते हैं?

(क) बोझ (ख) वरदान
(ग) अपराध (घ) मनोरंजन

4) लक्ष्मी रूपी विष से मूर्छित राजाओं को सब कुछ कैसा दिखाई देता है?

(क) अंधकारमय	(ख) सफेद
(ग) कंचनमय (सुवर्णमय)	(घ) डरावना

5) चाटुकारों द्वारा ठगे गए राजा स्वयं के ललाट (माथे) पर किसकी आशंका करते हैं?

(क) तिलक की	(ख) पसीने की
(ग) तीसरे नेत्र की	(घ) मुकुट की

इकाई-1.4

गुरूपदेशविमुखानाम् स्थितिः, उपदेश उपसंहारः

उद्देश्य

- मिथ्या अहंकार का उन्मूलनः राजकुमार को यह समझाना कि धन के मद में डूबे राजा क्यों गुरुओं, वृद्धों और देवताओं का सम्मान करना छोड़ देते हैं।
- आत्म-मंथन के लिए प्रेरित करनाः सत्ता प्राप्त करने से पूर्व स्वयं के दोषों को पहचानने और उनसे ऊपर उठने की शिक्षा देना।
- सफल शासक की नींवः अभिषेक के बाद आने वाली चुनौतियों (जैसे- चाटुकार, धूर्त सेवक, इन्द्रिय सुख) के प्रति मानसिक रूप से तैयार करना।

परिणाम

- हृदय का प्रक्षालनः उपदेश सुनने के बाद राजकुमार चन्द्रापीड का मन जल से धुले हुए के समान निर्मल, पवित्र और प्रकाशित हो जाता है।
- दृष्टिकोण में परिवर्तनः पाठक यह जान पाता है कि लक्ष्मी (धन) केवल मूर्खों को ही नहीं, बल्कि विद्वानों और धैर्यवानों को भी भ्रष्ट करने की शक्ति रखती है।
- कर्तव्य बोधः राज्य संचालन को केवल उपभोग का साधन न मानकर उसे कुल-परम्परा और प्रजा-पालन के उत्तरदायित्व के रूप में स्वीकार करने की प्रेरणा मिलती है।

गुरूपदेशविमुखानाम् स्थितिः

मिथ्यामाहात्म्यगर्वनिर्भराश्च न प्रणमन्ति देवताभ्यः, न पूजयन्ति द्विजातीन्, न मानयन्ति मान्यान्, नार्चयन्त्वर्चनीयान्, नाभिवादयन्त्यभिवादनार्हान्, नाभ्युतिष्ठन्ति गुरून्, अनर्थकाया-सान्तरितविषयोपभोगसुखमित्सुपहसन्ति विद्वज्जनम्, जरावैक्लव्यप्रलपितमिति पश्यन्ति वृद्धजनोपदेशम्, आत्मप्रज्ञापरिभव इत्यसूयन्ति सचिवोपदेशाय, कुप्यन्ति हितवादिने।

शब्दार्थ-मिथ्यामाहात्म्यगर्वनिर्भराः = मिथ्या महत्ता रूपी अभिमान से भरे हुए नृपजन, च = और, न = नहीं, प्रणमन्ति = प्रणाम करते हैं, देवताभ्यः = देवताओं के लिए, न = नहीं, पूजयन्ति = पूजा करते हैं, द्विजातीन् = ब्राह्मणों को, न = नहीं, मानयन्ति = सम्मान करते हैं, मान्यान् = सम्माननीय पुरुषों को, न = नहीं, अर्चयन्ति = अर्चना करते हैं, अर्चनीयान् = वन्दनीय पुरुषों की, न = नहीं, अभिवादयन्ति = अभिवादन करते हैं, अभिवादार्हान् = अभिवादन के योग्य व्यक्तियों का, न = नहीं, अभ्युत्तिष्ठन्ति = उठकर सम्मान करते हैं, गुरुन् = गुरुओं का, अनर्थक = व्यर्थ के, आयासान्तरित विषयोपयोगसुखम्

= परिश्रम से नष्ट हो गये हैं सांसारिक विषय भोग रूपी सुख जिसके, इति = इस प्रकार, विद्वज्जनम् = विद्वान् पुरुषों का, उपहसन्ति = उपहास करते हैं, जरावैक्लव्यप्रलपितम् = वृद्धावस्था की बेचैनी के कारण कुछ भी बोलते हैं, इति = इस प्रकार, वृद्धजनोपदेशम् = वृद्ध लोगों के उपदेश को, पश्यन्ति = देखते हैं, आत्मप्रज्ञापरिभवः = अपनी मति का अपमान मानकर, सचिवोपदेशाय = मन्त्रिगणों के उपदेश की, असूयन्ति = निन्दा करते हैं (गुण में दोष निकालते हैं), हितवादिने = हित कर बात कहने वालों के ऊपर क्रोध करते हैं।

अनुवाद - इस प्रकार झूठी महत्ता के अभिमान से चूर चूर वे नृपजन देवताओं को प्रणाम नहीं करते हैं, ब्राह्मणों को आदर नहीं देते हैं, सम्माननीयों का सम्मान नहीं करते हैं, वन्दनीयों की वन्दना नहीं करते हैं, अभिवादन के योग्य जनों का अभिवादन नहीं करते हैं, गुरुओं के सम्मान में खड़े नहीं होते हैं, व्यर्थ के परिश्रम में व्यस्त रहने के कारण सांसारिक वनितादि विषय सुखों से वंचित समझकर विद्वानों का उपहास करते हैं। वृद्धजनों के द्वारा दिये गये उपदेश को वृद्धावस्था की बेचैनी के कारण प्रलाप (बकवास) है, ऐसा देखते हैं। मन्त्रियों के द्वारा दिये गये सही सुझावों को अपनी बुद्धि का तिरस्कार समझ कर निन्दा करते हैं। हित की बात करने वालों के ऊपर क्रोध करते रहते हैं।

समासाः-

मिथ्या च तन्माहात्म्यं मिथ्यामाहात्म्यम् एव गर्वोऽभिमानः मिथ्यामाहात्म्यगर्वः (कर्मधारयः) तेन निर्भरा युक्ता इति मिथ्यामाहात्म्यगर्वनिर्भरा (तृतीयातत्पुरुषः)

जरायाः वैक्लव्यं जरावैक्लव्यम् (षष्ठीतत्पुरुषः) तेन प्रलपितम् जरावैक्लव्यप्रलपितम् (तृतीयातत्पुरुषः)

आत्मनः प्रज्ञा आत्मप्रज्ञा, तस्याः परिभवः तिरस्कारः आत्मप्रज्ञापरिभवः (उभयत्र षष्ठीतत्पुरुषः)

सर्वथा तमभिनन्दन्ति तमालपन्ति, तं पार्श्वे कुर्वन्ति, तं संवर्द्धयन्ति, तेन सह सुखमवतिष्ठन्ते, तस्मै ददति, तं मित्रतामुपजनयन्ति, तस्य वचनं शृण्वन्ति, तत्र वर्षन्ति, तं बहु मन्यन्ते, तमाप्ततामापादयन्ति, योऽहर्निशमनवरतमुपरचिताञ्जलिरधिदैवतमिव विगतान्यकर्तव्यः स्तौति, यो वा माहात्म्यमुद्भावयति। किं वा तेषां साम्प्रतं येषामतिनृशंसप्रायोपदेशनिर्घृणं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाणम्, अभिचारक्रियाः क्रूरैकप्रकृतयः पुरोधसो गुरवः, **पराभिसन्धानपरा मन्त्रिण उपदेष्टारः नरपतिसहस्त्रभुक्तोज्झितायां लक्ष्म्यामासक्तिः, मारणात्मकेषु शास्त्रेषु अभियोगः, सहजप्रेमार्द्रहृदयानुरक्ता भ्रातर उच्छेद्याः।**

शब्दार्थ-सर्वथा = हर प्रकार से, तम् = उस का, अभिनन्दन्ति = अभिनन्दन करते हैं, तम् = उससे, आलपन्ति = बातचीत करते हैं, तं = उसको, पार्श्वे = नजदीक में, कुर्वन्ति = लाते हैं, तं = उसका, सम्वर्द्धयन्ति = सम्वर्द्धन करते हैं, तेन सह = उनके साथ, सुखम् = सुख से, अवतिष्ठन्ते = बैठते हैं, तस्मै = उसको, ददति = देते हैं, तं = उसको, मित्रताम् = मित्र, उपनयन्ति = बनाते हैं, तस्य = उसकी, वचनं = वाणी को, शृण्वन्ति = सुनते हैं, तत्र = उनके यहाँ, वर्षन्ति = धन की वर्षा करते हैं, तं = उसको, बहु = अत्यधिक, मन्यन्ते = सम्मान करते हैं, तम् = उसको, आप्ताताम् = सत्यवक्ता के रूप में, आपादयन्ति = प्रतिष्ठापित करते हैं, यः = जो, अहर्निशम् = दिनरात, अनवरतम्

= सतत, उपरचिताञ्जलिः = अञ्जलि बांधकर के, अधिदैवतम् = हमारे देवता हो, इव = की तरह, विगतान्यकर्तव्यः = सारे करने योग कार्य को छोड़ दिया है जिसने (ऐसा व्यक्ति), स्तौति = स्तुति करता है, यः = जो, वा = अथवा, माहात्म्यं = महत्ता को, उद्भावयन्ति = प्रकट करते हैं, वा = अथवा, किं = क्या, साम्प्रतम् = उचित है, तेषां = उनका, अतिनृशंस = अत्यन्त घृणित, प्रायोपदेशनिर्धृणम् = प्रायः करके निर्दय उपदेश वाले, कौटिल्यशास्त्र प्रमाणम् = चाणक्य रचित अर्थशास्त्र में वर्णित दण्डादि विधानों को प्रमाण मानते हैं, अभिचारक्रियाक्रूरैकप्रकृतयः = मारण, मोहन, वशीकरण व उच्चाटन रूपी अभिचार क्रिया से अतिक्रूर स्वभाव वाले, पुरोधसः = पण्डित, गुरवः = आचार्य हैं, पराभिसन्धानपरा = दूसरों को ठगने में प्रवृत्त, मन्त्रिणः = मन्त्रिगण, उपदेष्टारः = उपदेश देने वाले हैं, नरपतिसहस्त्रभुक्तोज्झितायाम् = हजारों नृपों के द्वारा भोग कर त्यागी गयी, लक्ष्म्याम् = लक्ष्मी में अर्थात् धन दौलत में, आसक्तिः = अति लगाव होता है, मारणात्मकेषु = मृत्यु से सम्बन्धित, शास्त्रेषु = तन्त्रविद्याओं में, अभियोग = विशेष रुचि है, सहजप्रेमार्द्रहृदयानुरक्ताः = स्वाभाविक प्रेम से अभिषिक्त हृदयानुराग वाले, भ्रातरः = भातृगण, उच्छेद्याः = मृत्यु के घाट उतार दिये जाते हैं।

अनुवाद - सभी प्रकार से उसका अभिनन्दन करते हैं, उससे बातचीत करते हैं, उसको नजदीकी बनाते हैं। उसको उन्नति प्रदान करते हैं। उसके साथ मौज-मस्ती करते हैं। उसको देते हैं। उसको मित्र बनाते हैं। उसके वचन को सुनते हैं, वहाँ वर्षा करते हैं, उसको बहुत सम्मान देते हैं। उसको सत्यवक्ता मानते हैं। जो रात-दिन हाथ जोड़ कर अपने समस्त कार्यो का परित्याग करके राजा को देवता मानकर उसकी स्तुति करते हैं अथवा वह जो महत्ता को प्रगट करता है अथवा उनका और कौन सा कार्य जिनका अत्यन्त निष्ठुर दण्ड विधान रूप निर्दय उपेदश वाला चाणक्य का अर्थशास्त्र ही प्रमाण है। मारण मोहन आदि अभिचार क्रिया के कारण क्रूर स्वभाव वाले पण्डित ही आचार्य हैं, दूसरों को ठगने में लगे हुए मन्त्रिसमूह ही उपदेशक हैं। हजारों राजाओं के द्वारा उपभोग के पश्चात् त्यागी गयी लक्ष्मी में ही आसक्ति है। तन्त्र विद्याओं में ही रुचि है। स्वाभाविक प्रेम से द्रवीभूत हृदय वाले भातृगण को नष्ट कर दिया जाता है।

समासाः-

नृशंसमतिक्रान्तोऽतिनृशंसः (अत्यादयः० द्वितीयातत्पुरुषः) प्रायः चासौ उपदेशः प्रायोपदेशः (कर्मधारयः) अतिनृशंसेन प्रायोपदेशः अतिनृशंसप्रायोपदेशः (तृतीयातत्पुरुषः) तेन निधृर्णम् अतिनृशंसप्रायोपदेशनिधृर्णम् (तृतीयातत्पुरुषः)

अभिचारस्य क्रियया क्रूरैका प्रकृतिर्येषां ते अभिचारक्रियाक्रूरैक प्रकृतयः (षष्ठीतत्पुरुषगर्भतृतीया-तत्पुरुषगर्भबहुव्रीहिः)

नराणां पतिः नरपतिः, तेषां सहस्राणि नरपतिसहस्राणि (उभयत्र षष्ठीतत्पुरुषः) पूर्वं भुक्ता पश्चाच्च उज्झिता इति भुक्तोज्झिता ('पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' इति कर्मधारयः समासः) नरपतिसहस्रैः भुक्तोज्झिता तस्याम् नरपतिसहस्रभुक्तोज्झितायाम् (तृतीयातत्पुरुषः)

सहजं स्वाभाविकं प्रेम प्रीतिः सहजप्रेम (कर्मधारयः) तेन आर्द्रं द्रवीभूतं यत् हृदयं चित्तम् सहजप्रेमार्द्रहृदयम्, तेन अनुरक्ताः प्रीतिभरिताः सहजप्रेमार्द्रहृदयानुरक्ताः (उभयत्रतृतीयातत्पुरुषः)

कुटिलस्य भावः कर्म वा = कौटिल्यम्, शास्ति अनेन इति शास्त्रम्, प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम् कौटिल्यस्य शास्त्रप्रमाणम् इति कौटिल्यशास्त्रप्रमाणम् (षष्ठीतत्पुरुषः)

तदेवं प्रायातिकुटिककष्टचेष्टासहस्त्रदारुणे राज्यतन्त्रे, अस्मिन् महामोहान्धकारिणि च यौवने, कुमार! तथा प्रयतेथा यथा नोपहस्यसे जनैः, न निन्द्यसे साधुभिः न धिक्क्रियसे गुरुभिः, नोपालभ्यसे सुहृद्भिः, न शोच्यसे विद्वद्भिः। यथा च न प्रकाश्यसे विटैः, न प्रहस्यसे कुशलैः, नास्वाद्यसे भुजङ्गैः, नावलुप्यसे सेवकवृकैः न वञ्च्यसे धूर्तैः, न प्रलोभ्यसे वनिताभिः, न विडम्ब्यसे लक्ष्म्या, न नर्त्यसे मदेन, नोन्मत्तीक्रियसे मदनेन, नाक्षिप्यसे विषयैः, नावकृष्यसे रागेण, नापह्रियसे सुखेन। कामं भवान् प्रकृत्यैव धीरः, पित्रा च महता प्रयत्नेन समारोपितसंस्कारः तरलहृदयमप्रतिबुद्धञ्च मदयन्ति धनानि, तथापि भवद्गुणसन्तोषो मामेवं मुखरीकृतवान्।

शब्दार्थ-तद् = इसलिए, एवं इस प्रकार, प्रायः = प्रायः करके, अतिकुटिलकष्टचेष्टा सहस्त्रदारुणे = अत्यन्त कुटिल (वक्र) तथा दुःखदायक हजारों भयङ्कर चालों वाले, राज्यतन्त्रे = राजकीय शासन में, अस्मिन् = इस, महामोहान्धकारिणि = अति अज्ञान रूपी अन्धकार करने वाले, यौवने = युवावस्था में, कुमार! = हे चन्द्रापीड!, तथा = वैसा, प्रयतेथा = प्रयत्न करना चाहिए, यथा = जिससे, न = नहीं, उपहस्यसे = उपहास करे, जनैः = साधारण जनता, न निन्द्यसे = निन्दा नहीं करे, साधुभिः = सज्जन पुरुषों के द्वारा, न धिक्क्रियसे = तुम्हें धिक्कार न दें, गुरुभिः = गुरुवृन्दों के द्वारा, न उपालभ्यसे = तुम्हें उलाहना न दें, सुहृद्भिः = मित्रजन, न शोच्यसे = शोक न करें, विद्वद्भिः = विद्वज्जन, यथा = जैसे, च = और, न प्रकाश्यसे = तुम्हें उजागर (प्रकाशित) न करें, विटैः = कामी जन, न प्रहस्यसे = उपहास न करें, कुशलैः = राजनीति में दक्ष लोगों के द्वारा, न आस्वाद्यसे = आस्वाद (तुम्हारे धन पर मौज-मस्ती) न कर सके, भुजङ्गैः = लम्पट जन, नावलुप्यसे = लूटे न जा सके, सेवकवृकैः = नौकर चाकर रूपी भेड़ियों के द्वारा, न वञ्च्यसे = तुम्हें ठग न लें, धूर्तः = धूर्तजन, न प्रलोभ्यसे = लुभा न सके, वनिताभिः = कामिनीजन, न विडम्ब्यसे = विडम्बना के पात्र न बन सको, लक्ष्म्या = धन सम्पत्ति रूपी लक्ष्मी से, न नर्त्यसे = नचाये न जा सको, मदेन = गर्व से, न उन्मत्तीक्रियसे = पागल न बनाये जा सको, मदनेन = कामदेव के द्वारा, न आक्षिप्यसे = अपनी ओर आकर्षित न कर सके, विषयैः = सांसारिक सुखों, न अवकृष्यसे = नीचे न खींच ले, रागेण = प्रेम, सुख, नापह्रियसे = अपहरण न कर ले, सुखेन = सुख, भवान् = चन्द्रापीड, कामम् = अत्यधिक, प्रकृत्या = स्वभाव से, एव = ही, धीरः = धैर्यशाली, च तथा, पित्रा = पिता के द्वारा, प्रेम, महता = अत्यधिक, प्रयत्नेन = प्रयास से, समारोपितसंस्कारः = संस्कार से युक्त कराये गये हो, प्रकृत्या पिता के द्वारा, महता न न, सुखेन तरलहृदयम् = चञ्चल हृदय वाले को, च = और, अप्रतिबुद्धम् = अप्रौढ बुद्धि वाले को, धनानि = धन दौलत, मदयन्ति = घमण्डी बना देते हैं, तथापि = फिर भी, भवद्गुण सन्तोषः = तुम्हारे समस्त गुणों की सन्तुष्टि, माम् = मुझे, एवं = इस प्रकार, मुखरीकृतवान् = बोलने के लिए प्रेरित करती है।

अनुवाद - इसलिए इस प्रकार प्रायशः अति कुटिल तथा दुःख दायक हजारों भीषण चालों वाले राज्य व्यवस्था में तथा इस महा अज्ञान रूपी अन्धकार से युक्त युवावस्था में हे चन्द्रापीड! वैसा प्रयास करना चाहिए जिससे सामान्य प्रजाजन तुम्हारा उपहास न करें, सज्जन प्रजा तुम्हारी निन्दा न करे, आचार्यों के द्वारा धिक्कृत न किये जाओ, मित्र वर्ग उपालम्भ न दे, विद्वज्जन शोक न करें और जिस प्रकार कामुक जन तुम्हें प्रकाशित न कर सकें, दक्ष राजनीतिज्ञ जन प्रहास न करें, लम्पट लोग तुम्हारे वैभव से मौज मस्ती न कर सकें, भृत्य रूपी भेड़िये तुम्हें नोंच न खायें, धूर्तजन तुम्हें ठग न लें, कान्ताजन तुम्हें लुभा न लें, धन-दौलत तुम्हें चकाचौंध में न डाल दे, गर्व तुम्हें नचाये न, कामदेव तुम्हें प्रमत्त (पागल) न कर दे, विषय भोग तुम्हें अपनी ओर आकर्षित न कर सकें, राग (स्नेह) खींच न ले, सांसारिक तथा राजकीय सुख तुम्हारा अपहरण न कर ले। तुम स्वभाव से ही अति धैर्यशाली हो तथा पिता ने महान् प्रयास से तुम में अच्छे संस्कार प्रदान किये हैं। धन-दौलत चञ्चल हृदय वाले तथा अविवेकी जन को पागल कर देते हैं। फिर भी तुम्हारे अच्छे गुण मुझे बोलने के लिए प्रेरित कर रहे हैं।

समासा:-

कुटिला चासौ कष्टचेष्टा कुटिलकष्टचेष्टा (कर्मधारयः) ताम् अतिक्रान्तः अतिकुटिलकष्टचेष्टा (द्वितीयातत्पुरुषः) तेषाम् सहस्राणि तदेव दारूणं तस्मिन् अतिकुटिलकष्टचेष्टासहस्रदारूणे (षष्ठीतत्पुरुषगर्भ-कर्मधारयः)

महांश्चासौ मोहो महामोहः, स एव अन्धः (उभयत्र कर्मधारयः) तम् करोति तच्छीलमस्येति महामोहान्धकारिणि

कुमारयति क्रीडयतीति कुमारः, कुत्सितो मारो मदनो यस्येति कुमारः (बहुव्रीहिः)

समारोपितः संस्कारः समारोपितसंस्कारः (कर्मधारयः समासः)

अमुखरं मुखरम् अकरोत् इति मुखरीकृतवान्

इदमेव च पुनः पुनरभिधीयसे, विद्वांसमपि सचेतनमपि महासत्त्वमप्यभिजातमपि धीरमपि प्रयत्नवन्तमपि पुरुषमियं दुर्विनीता खलीकरोति लक्ष्मीरिति। सर्वथा कल्याणैः पित्रा क्रियमाणमनु-भवतु भवान् नवयौवराज्याभिषेकमङ्गलम्, कुलक्रमागतामुद्वह पूर्वपुरुषैरुढां धुरम्,

अवनमय द्विषतां शिरांसि, उन्नमय स्वबन्धुवर्गम्, अभिषेकानन्तरञ्च प्रारब्धदिग्विजयः परिभ्रमन् विजितामपि तव पित्रा सप्तद्वीपभूषणां पुनर्विजयस्व वसुन्धराम्। अयञ्च ते कालः प्रतापमारोपयितुम्, आरूढप्रतापो हि राजा त्रैलोक्यदर्शीव सिद्धादेशो भवति इत्येतावदभिधायोपशशाम्।

शब्दार्थ-इदम् = यह, एव = ही, च = और, पुनः पुनः = बार-बार, अभिधीयसे = तुम्हें कह रहा हूं, विद्वांसमपि = ज्ञानी को भी, सचेतसमपि = सहृदय को भी, महासत्त्वमपि = शक्तिशाली को भी, अभिजातमपि = उच्च कुल में जन्मे को भी, धीरमपि = धैर्यशाली को भी, प्रयत्नवन्तमपि = प्रयास वाले को भी, पुरुषं = पुरुष को, इयं = यह, दुर्विनीता = दुष्टा, लक्ष्मीः = धन दौलत, खलीकरोति = मूर्ख बना देती है, सर्वथा = सभी प्रकार से, कल्याणैः = मङ्गलकारी, पित्रा = पिता के द्वारा, क्रियमाणं =

किये जाते हुए, नवयौवराज्याभिषेकमङ्गलम् = नवीन युवराज की गद्दी पर अभिषेक रूपी मांगलिक कार्य का, भवान् = तुम, अनुभवतु = अनुभव करो, कुलक्रमागताम् = वंश क्रम से आये हुए, पूर्वपुरुषैरूढां = पूर्वजों के द्वारा चलाई गई, धुरम् = राजकीय भार को, उद्वह = वहन करो, द्विषतां = शत्रुओं के, शिरांसि = मस्तकों को, अवनमय = झुकाओ, बन्धुवर्गम् = मित्रों तथा भ्रातृवर्ग को, उन्नमय = उठाओ, अभिषेकानन्तरम् = राज्य गद्दी पर बैठने के पश्चात्, च = और, प्रारब्धदिग्विजयः = प्रारम्भ कर लिया है दिग्विजय जिसने, परिभ्रमन् = घूमते हुए, तव = तुम्हारे, पित्रा = पिता द्वारा, विजितामपि = जीती हुई, सप्तद्वीपभूषणां = सात द्वीपों वाली, वसुन्धरां = पृथिवी को, पुनः = फिर, विजयस्व = जीत लो, अयम् = यह, च और, ते = तुम्हारा, कालः = समय, प्रतापम् = पराक्रम को, आरोपयितुम् = स्थापित करने के लिए, आरूढप्रतापः = जिसका प्रताप सभी प्रजाओं तथा राजाओं पर स्थापित है, राजा = भूप, त्रैलोक्यदर्शीव = त्रिलोक को देखने वाले योगियों की तरह, सिद्धादेशः = सिद्धादेश, भवति = हो जाता है, इति = इस तरह, एतावत् = इतना, अभिधाय उपदेश देकर, उपशशाम = बोलना बन्द कर दिया।

अनुवाद - और यही तुमसे बार बार कह रहा हूँ कि यह दुष्टा लक्ष्मी (धन) विद्वान् को भी, जागरूक को भी, महाशक्तिशाली को भी, प्रयत्न करने वाले पुरुष को भी मूर्ख बना देती है। सभी प्रकार से हितकारी पिता के द्वारा स्थापित किये जा रहे नवयुवराज गद्दी के आनन्द का आप अनुभव करो। वंश की परम्परा से आयी हुई तथा पूर्वजों के द्वारा धाारित राज्य की गद्दी का निर्वाह करो। राज्य गद्दी पर बैठने के पश्चात् चारों दिशाओं को जीतना प्रारम्भ करो और पिता के द्वारा जीती हुई सात द्वीपों वाली पृथिवी को तुम पुनः जीत लो। यही समय तुम्हारे प्रताप को प्रजाजनों तथा नृपजनों पर स्थापित करने का है। जिस राजा का प्रताप प्रजाजनों तथा नृपजनों पर स्थापित हो जाता है वह राजा त्रैलोक्य द्रष्टा योगी की तरह सिद्धादेश अर्थात् उसके आदेश की अनुपालना होती है। इस प्रकार इतना उपदेश देकर शुकनास चुप हो गये।

समासाः-

महत् सत्त्वं यस्येति स महासत्त्वम् (बहुव्रीहिः)

प्रारब्धो दिग्विजयो येन स प्रारब्धदिग्विजयः (बहुव्रीहिः)

उपदेश उपसंहारः

उपशान्तवचसि शुकनासे चन्द्रापीडस्ताभिरुपदेशवाग्भिः प्रक्षालित इव, उन्मीलित इव, स्वच्छीकृत इव, निर्मृष्ट इव, अभिषिक्त इव, अभिलिप्त इव, अलंकृत इव, पवित्रीकृत इव, उद्भासित इव, प्रीतहृदयो मुहूर्त स्थित्वा स्वभवनमाजगाम।

जब शुकनास मौन हो गया तो चन्द्रापीड उसके उन (जल-सदृश) उपदेश-वचनों से धुला हुआ सा, चमक गया-सा, स्वच्छ (निर्मल तथा पवित्र) हृदय-सा, माँजा हुआ-सा, नहलाया हुआ-सा, लेप कर दिया गया-सा, सुशोभित-सा, पवित्र किया हुआ-सा और दमकाया हुआ-सा, प्रसन्न-चित्त हुआ-हुआ, कुछ देर ठहरकर, अपने महल में लौट आया।

स्मरणीय बिंदु

- गुरु-अपमान के लक्षण: अहंकारी राजा गुरु के उठने पर खड़े नहीं होते, वृद्धों के उपदेश को बुढ़ापे का प्रलाप (बकवास) मानते हैं और सचिवों की सलाह को अपनी बुद्धि का अपमान समझते हैं।

- दुष्ट संगति का प्रभाव: राजा उन्हीं को मित्र बनाते हैं जो दिन-रात उनकी झूठी स्तुति करते हैं। वे चाणक्य के नीतिशास्त्र को क्रूर और कौटिल्य की नीतियों को केवल ठगने का माध्यम मानने लगते हैं।

- लक्ष्मी की प्रकृति: बाणभट्ट के अनुसार, लक्ष्मी कुल-क्रम से नहीं आती, वह हजारों राजाओं द्वारा भोगकर छोड़ी गई वेश्या के समान है, जो विद्वानों को भी खल (दुष्ट) बना देती है।

- उपदेश का प्रभाव: शुकनास का उपदेश चन्द्रापीड के लिए अजल स्नान (बिना जल का स्नान) सिद्ध होता है, जो भीतर के अंधकार को मिटा देता है।

- अंतिम संदेश: सिद्धादेश: भवति - जिस राजा का प्रताप स्थिर हो जाता है, उसकी आज्ञा सिद्ध योगी के वचनों की तरह कभी निष्फल नहीं होती।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) गुरु के उपदेश से विमुख राजाओं की सामाजिक और नैतिक स्थिति कैसी हो जाती है? पाठ के आधार पर सविस्तार उत्तर दीजिए।

2) शुकनास ने चन्द्रापीड को लक्ष्मी और युवावस्था के किन खतरों से बचने की सलाह दी है? स्पष्ट कीजिए।

3) उपदेश के अंत में शुकनास ने चन्द्रापीड को किन भावी उत्तरदायित्वों (जैसे- दिग्विजय, प्रजा-पालन) के लिए प्रेरित किया?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) अहंकारी राजा वृद्धों के उपदेश को क्या कहकर उपेक्षित करते हैं?

2) सेवक-वृक (सेवक रूपी भेड़िये) से क्या तात्पर्य है?

3) राजा किन लोगों को अपना हितैषी और मित्र मानते हैं?

4) उपदेश सुनने के बाद चन्द्रापीड की मानसिक स्थिति कैसी हो गई?

5) कौटिल्य शास्त्र को राजाओं के संदर्भ में अतिनृशंस क्यों कहा गया है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) अहंकारी राजा सचिवों (मंत्रियों) के उपदेश को क्या मानते हैं?

(क) वरदान (ख) अपनी बुद्धि का अपमान
(ग) समय की बर्बादी (घ) मनोरंजन

2) शुकनास के अनुसार, राजा किसे भेड़िये (वृक) के समान मानते हैं?

(क) शत्रुओं को (ख) सेवकों को
(ग) मंत्रियों को (घ) हिंसक पशुओं को

3) उपदेश के अंत में शुकनास ने चन्द्रापीड को क्या करने के लिए कहा?

(क) वन जाने के लिए (ख) दिग्विजय करने के लिए
(ग) शास्त्र पढ़ने के लिए (घ) विश्राम करने के लिए

4) लक्ष्मी किसे खल (दुष्ट) बना देती है?

(क) केवल अनपढ़ को (ख) केवल आलसी को
(ग) विद्वान् और धैर्यवान् पुरुष को भी (घ) किसी को नहीं

5) उपदेश समाप्त होने पर शुकनास की स्थिति क्या थी?

(क) वह रोने लगा (ख) वह उपशशाम (शांत/मौन) हो गया
(ग) वह क्रोधित हो गया (घ) वह नाचने लगा

इति शुकनासोपदेशः

खण्ड-2

साहित्यदर्पणः प्रथमपरिच्छेदः द्वितीयपरिच्छेदश्च

इकाई-2.1 मंगलाचरणम्, काव्यप्रयोजनञ्च

उद्देश्य

- निर्विघ्न समाप्तिः ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए वाग्देवी सरस्वती की वंदना करना।
- काव्य प्रयोजन का स्पष्टीकरणः यह सिद्ध करना कि काव्य केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति का सरल साधन है।
- काव्य की श्रेष्ठताः शास्त्र (वेद-पुराण) की तुलना में काव्य के सुकुमार और आनंदमयी मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना।
- अनुबंध चतुष्टयः ग्रंथ के विषय, अधिकारी, प्रयोजन और संबंध का परिचय देना।

परिणाम

- ज्ञान का प्रकाशः पाठक यह समझ पाता है कि काव्य हृदय के अज्ञानांधकार को दूर कर आ. त्मिक प्रकाश फैलाता है।
- व्यवहार शिक्षाः रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत् के माध्यम से नैतिक मूल्यों की स्थापना होती है।
- परमानंद की प्राप्तिः यह स्पष्ट होता है कि कठिन शास्त्रों के विपरीत काव्य अल्पबुद्धि और सुकुमार मति वाले लोगों को भी परमानंद के साथ ज्ञान प्रदान करता है।

ग्रन्थारम्भे निर्विघ्नेन प्रारिप्सितपरिसमाप्तिकामो वाङ्मयाधिकृततया वाग्देवतायाः सांमुख्यमाधत्ते-

शरदिन्दुसुन्दररुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी ।

अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान्प्रकाशयतु ॥ १ ॥

अनुवाद-ग्रन्थकार (साहित्यदर्पण के रचयिता कविराज विश्वनाथ) अपने ग्रन्थ (साहित्यदर्पण) की निर्विघ्नसमाप्ति की कामना से, ग्रन्थारम के पहले, वाङ्मय की एकमात्र अधिकारिणी भगवती वाग्देवी की दया-दीक्षा का ध्यान कर रहा है-

शरच्चन्द्र की कान्ति से भी बढ़ी-चढ़ी कान्ति वाली, वह (त्रिभुवनवन्दिता) वाग्देवी सरस्वती हमारे हृदय का अज्ञानान्धकार दूर करती रहे और उसमें समस्त (काव्यात्मक) अर्थ-तत्त्वों को

अवभासित करती रहे।

(काव्य-प्रयोजन : पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति)

अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह-

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।

काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरुप्यते ॥ २ ॥

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव ।

अनुवाद-जो काव्य के प्रयोजन हैं वे ही अलंङ्कारशास्त्र के भी हैं । यह ग्रन्थ (साहित्यदर्पण) काव्य का अङ्ग है (क्योंकि काव्य की समीक्षा का शास्त्र-अलङ्कारशास्त्र काव्य का अङ्ग हुआ करता है) और इसके भी वे ही प्रयोजन हैं जो काव्य के हुआ करते हैं । इसलिये यहाँ काव्य-प्रयोजन का निर्देश किया जा रहा है-

काव्य एक ऐसी वस्तु है जिससे अल्पबुद्धि मानव को, बिना किसी कष्ट-साधना के, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति हुआ करती है। इसलिये 'काव्य' क्या है? इसका निरूपण किया जा रहा है।

पुरुषार्थचतुष्टय प्राप्तिरूप काव्य-प्रयोजन वस्तुतः सर्वविदित है क्योंकि यह सभी जानते हैं कि काव्य उपदेश दिया करता है-'राम के ऐसा आचार-व्यवहार बनाओ, रावण के ऐसा आचार-व्यवहार न बनाओ।' काव्य का यह उपदेश 'कृत्य' धर्मादिरूप कर्त्तव्य-कर्म की ओर हमारी प्रवृत्ति है और 'अकृत्य' अधर्मादिरूप अकर्त्तव्य-अकर्म की ओर से हमारी निवृत्ति का कारण है (और इस प्रकार चतुर्वर्ग प्राप्ति का अन्यतम उपाय है) ।

उक्तं च (भामहेन)-

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।

करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥' इति ।

इसीलिये तो कहा गया है-

'सत्काव्य का अनुशीलन अथवा निर्माण एक ऐसी वस्तु है जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का तात्त्विक ज्ञान हुआ करता है, कलाओं में व्यत्पत्ति बढ़ा करती है, विदग्ध अथवा सहृदय होने का सुयश मिला करता है और उसकी प्राप्ति हुआ करती है जिसे हृदय का आह्लाद कहा जाता है ।' (भाभह : काव्यालंकार तथा अग्निपुराण) ।'

(चतुर्वर्ग-प्राप्ति का सरल सुखद साधन काव्य ही है)

किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना, 'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च सुप्रसिद्धैव । अर्थप्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा । कामप्राप्तिश्चार्**थद्वारैव । मोक्षप्राप्तिश्च एतज्जन्यधर्मफलाननुसंधानात्, मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्त्याध ायकत्वाच्च ।**

चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दु:खादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते । परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव ।

और वस्तुतः यह बात स्वयंसिद्ध है-काव्य से धर्मप्राप्ति तो इसलिए सिद्ध है क्योंकि भगवान् विष्णु के चरणारविन्द की स्तुति (स्तोत्र-काव्य-भावना अथवा स्तोत्र काव्य-रचना) धर्म का ही तो लाभ है । यहाँ एकः शब्दः' इत्यादि वेद-वाक्यों का प्रमाण भी दिया जा सकता है। जिसका तात्पर्य है-'एक ही शब्द (विष्णु-वाचक प्रणव अथवा ओङ्काररूप शब्द-वस्तुतः शब्दमात्र, क्योंकि समस्त शब्द अन्ततोगत्वा भगवद्वाचक ही हैं) जिसका सोच-समझ कर प्रयोग किया जाय और ठीक-ठीक अर्थ-रहस्य समझा जाय, क्या इहलोक और क्या परलोक-दोनों से सम्बद्ध हमारे मनोरथों का पूरक हुआ करता है ।'

काव्य से अर्थ-प्राप्ति तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है ही । काव्य से कामरूप पुरुषार्थ की सिद्धि इसलिये संभव है क्योंकि जब काव्य से अर्थ-लाभ हुआ तो उसके द्वारा काम-सुख तो अवश्य ही प्राप्त होगा ।

ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वक्तव्यम्। कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात् ?

काव्य मोक्ष प्राप्ति का भी साधन है क्योंकि काव्य के द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में उस अनासक्ति योग की भावना भरी जाया करती है जो काव्य-संभूत धर्मादिफल-भोग के प्रति स्वाभाविक है (क्योंकि अनासक्ति-योग ही मोक्ष-प्राप्ति है) । काव्य से मोक्ष-प्राप्ति का एक यह भी अभिप्राय है-काव्य हम में मोक्ष शास्त्र सम्बन्धी विषयों की व्युत्पत्ति उत्पन्न किया करता है । वैसे तो वेदादिशास्त्र पुरुषार्थचतुष्टय के प्रापक मान गये हैं, किन्तु वेदादिशास्त्रों में कोई रस नहीं मिला करता और इसलिये इनके द्वार पुरुषार्थचतुष्टय की जो प्राप्ति है वह एक दु:खद साधना है और प्रौढ़बुद्धि लोगों के लिए ही संभव है। काव्य तो परमानन्दसंदोह-रस का जनक है और इसलिये काव्य से पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति हुआ करती है वह एक सुखद साधना है और कोमलबुद्धि लोग के भी वश में है।

इसका अभिप्राय यह है कि परिपक्व बुद्धि वालों को वेदशास्त्रों से ही पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति हो सकती है तो काव्य की उपयोगिता ही क्या है? परन्तु बात तो वस्तुतः यह है कि जब कड़वी-कसैली औषध (वेदशास्त्र = मनुष्य के ताप-संताप की कड़वी-कसैली औषध हैं) से होने वाली रोग शमन वह तो मीठी खांड (काव्य = मानव के ताप-संताप की मीठी खांड सरीखी औषध है) से ही हो सकती है, तब भला कौन ऐसा होगा जो अपने ताप-शमन के लिए मीठी खांड (काव्य) के प्रति लालायिव न हो उठे !

(काव्य-प्रयोजन की प्रामाणिकता)

किञ्च काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणोऽप्युक्तम्-

'नरत्व दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥ इति ।

'त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्' इति च ।

अनुवाद- इतना ही क्यों ? काव्य की उपयोगिता में तो शास्त्रों और पुराणों का भी प्रमाण है ।

अग्निपुराण का यह कथन है- 'सबसे पहले तो संसार में मानव-जन्म दुर्लभ है, इससे भी दुर्लभ है विद्यालाभ, उससे भी दुर्लभ है कवित्व और जिसे कवि-प्रतिभा कहते हैं वह तो अत्यन्त दुर्लभ है।' (अग्निपुराण ३२७.३)

और यह भी- 'नाट्य एक ऐसी वस्तु है जिससे धर्म, अर्थ और काम रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति हुआ करती है ।' (अग्निपुराण ३३८.७)

विष्णुपुराणेऽपि-

'काव्यालापाश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च ।

शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ॥ इति ।

तेन हेतुना तस्य काव्यस्य स्वरूपं निरुप्यते ।

इस सम्बन्ध में विष्णुपुराण (१.२२.८४) का यह उल्लेख है-

'समस्त काव्य साहित्य और समस्त संगीत वस्तुतः शब्दमूर्ति भगवान् विष्णु के ही अंश हैं।' अब जबकि यह सिद्ध है कि काव्य जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी है तब काव्य क्या है ? इसका विचार विमर्श तो आवश्यक ही है ।

(साहित्यदर्पण का अनुबन्ध-चतुष्टय)

एतेनाभिधेयं च प्रदर्शितम् ।

अनुवाद-इस उपर्युक्त विचार विमर्श से यह स्पष्ट है कि इस साहित्यदर्पण नामक ग्रन्थ का 'अभिधेय' या विषय क्या है? काव्यस्वरूप विचार इसका विषय है, और इसका 'प्रयोजन' क्या है? चतुर्वर्गप्राप्ति इसका प्रयोजन है, इसका 'अधिकारी' कौन है? काव्यप्रेमी सामाजिकजन इसके अधिकारी हैं, और इसका 'सम्बन्ध' क्या है? साहित्यदर्पण और काव्य के बीच प्रतिपादक और प्रतिपाद्य इसका सम्बन्ध है।

स्मरणीय बिंदु

- मंगलाचरण: आचार्य विश्वनाथ ने शरत्कालीन चंद्रमा के समान कांति वाली सरस्वती से अज्ञान दूर करने की प्रार्थना की है।
- चतुर्वर्ग फल: काव्य से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों की प्राप्ति होती है।
- शास्त्र बनाम काव्य: शास्त्र कटु औषधि (कड़वी दवा) की तरह हैं, जबकि काव्य सिताशर्करा (मिश्री) की तरह मीठा है जो रोग (अज्ञान) को सुगमता से काटता है।
- धर्म प्राप्ति: भगवद्-वंदना और एक भी शब्द के सम्यक् ज्ञान से इहलोक और परलोक में फल मिलता है।

अनुबंध चतुष्टय:

अभिधेय (विषय): काव्य का स्वरूप।

प्रयोजन: चतुर्वर्ग (पुरुषार्थ) की प्राप्ति।

अधिकारी: काव्य प्रेमी सहृदय सामाजिक।

संबंध: प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) साहित्यदर्पण के अनुसार काव्य प्रयोजन की सविस्तार व्याख्या कीजिए। यह शास्त्रों के प्रयोजन से किस प्रकार भिन्न है?

2) काव्यं यशसे अर्थकृते... के भाव को आचार्य विश्वनाथ ने किस प्रकार पुष्ट किया है? अग्निपुराण और विष्णुपुराण के प्रमाणों सहित उत्तर दीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) आचार्य विश्वनाथ ने मंगलाचरण में सरस्वती की तुलना किससे की है और क्या वरदान माँगा है?

2) काव्य के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति कैसे संभव है? स्पष्ट करें।

3) रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत् इस पंक्ति का काव्य के संदर्भ में क्या महत्व है?

4) साहित्यदर्पण का अनुबंध चतुष्टय क्या है? संक्षेप में लिखें।

5) अल्पबुद्धि वाले व्यक्तियों के लिए काव्य को श्रेष्ठ साधन क्यों माना गया है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) साहित्यदर्पण के मंगलाचरण में किस देवी की स्तुति की गई है?

(क) लक्ष्मी (ख) वाग्देवी (सरस्वती)
(ग) दुर्गा (घ) पार्वती

2) काव्य को शास्त्रों की तुलना में क्या कहा गया है?

(क) कटु औषधि (ख) निरस मार्ग
(ग) सिताशर्करा (मिश्री) (घ) कठिन साधना

3) नरत्वं दुर्लभं लोके... यह श्लोक किस पुराण से उद्धृत है?

(क) विष्णुपुराण (ख) शिवपुराण
(ग) अग्निपुराण (घ) मत्स्यपुराण

4) साहित्यदर्पण का मुख्य अभिधेय (विषय) क्या है?

(क) राजाओं का वर्णन (ख) काव्य स्वरूप निरूपण
(ग) युद्ध वर्णन (घ) व्याकरण

5) काव्य से अर्थ (धन) की प्राप्ति किस प्रकार की सिद्धि है?

(क) परोक्ष सिद्धि (ख) प्रत्यक्ष सिद्धि
(ग) आध्यात्मिक सिद्धि (घ) इनमें से कोई नहीं

इकाई-2.2

काव्यस्वरूपम् (विभिन्नाचार्याणाम् अथ च आचार्यविश्वनाथस्य मते)

उद्देश्य

- आचार्य विश्वनाथ ने केवल अपना लक्षण देने के लिए यह चर्चा नहीं की, बल्कि उनके कुछ गहरे शास्त्रीय उद्देश्य थे:

- पूर्व मतों का परिष्करण: मम्मट के काव्यप्रकाश को उस समय तक सर्वमान्य माना जाता था। विश्वनाथ का उद्देश्य उस लक्षण की तार्किक कमियों (व्याप्ति दोषों) को उजागर करना था।

- रस की सर्वोच्चता स्थापित करना: काव्य के अन्य अंगों (अलंकार, रीति, गुण) को उनके सही स्थान पर रखना और रस को काव्य की एकमात्र आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित करना।

- काव्य की व्यापक परिभाषा देना: एक ऐसी परिभाषा का निर्माण करना जो केवल उत्तम काव्य पर ही नहीं, बल्कि रसात्मक होने वाले हर काव्य रूप (नाटक, महाकाव्य, मुक्तक) पर समान रूप से लागू हो।

- दोष और काव्य का संबंध स्पष्ट करना: यह स्पष्ट करना कि दोष होने से काव्य का आनंद कम तो हो सकता है, लेकिन उसका काव्यत्व समाप्त नहीं होता।

परिणाम

- रस-सिद्धांत की विजय: विश्वनाथ के इस विवेचन के बाद साहित्यशास्त्र में रस को काव्य का अनिवार्य और सबसे महत्वपूर्ण तत्व मान लिया गया। इससे पूर्व के अलंकार-प्रधान या रीति-प्रधान मत गौण हो गए।

- लक्षण की स्पष्टता: वाक्यं रसात्मकं काव्यम् एक अत्यंत संक्षिप्त, सरल और सटीक लक्षण के रूप में उभरा, जिसे समझना और याद रखना अन्य जटिल लक्षणों की तुलना में आसान था।

- अलंकारों का पद-निर्धारण: यह स्पष्ट हो गया कि अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म हैं। वे हों तो शोभा बढ़ती है, न हों तो भी काव्य जीवित रहता है (जैसे बिना आभूषण के भी मनुष्य, मनुष्य ही रहता है)।

- दोषों की नई व्याख्या: यह स्वीकार किया गया कि काव्य निर्दोष होना चाहिए, लेकिन अदोष होना काव्य की अनिवार्य शर्त (लक्षण) नहीं हो सकती। इससे कवियों को थोड़ी छूट मिली कि एकाध दोष होने पर भी उनकी रचना अकाव्य नहीं कहलाएगी।

- समन्वय: विश्वनाथ ने रस के अंतर्गत ही भाव, रसाभास आदि को समेटकर काव्य की परिधि को अत्यंत व्यापक बना दिया।

(काव्यस्वरूपविवेक की भूमिका : 'काव्यप्रकाश'-कृत काव्यलक्षण-निर्देश)

तत्किं स्वरूपं तावत्काव्यमित्यपेक्षायां कश्चिदाह-'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः कापि' इति ।

अनुवाद- 'काव्य क्या है ?' इस प्रश्न के समाधान में एक काव्याचार्य काव्यप्रकाशरचयिता आचार्य मम्मट का यह कथन है-

'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जो दोषरहित हो, गुणसहित हो और यथासंभव तथा यथास्थान अनलंकृत भी हो तो कोई क्षति नहीं ।'

(दोषरहित शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में 'अव्याप्ति')

एतच्चिन्त्यम् ।

तथाहि- यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वाङ्गीकारस्तदा-

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राऽप्यसौ तापसः

सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।

धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा

स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिभुजैः ॥' इति ।

किन्तु काव्य-स्वरूप का उपर्युक्त निरूपण इसलिये युक्तियुक्त नहीं कि यदि दोषरहित ही शब्दार्थयुगल 'काव्य' हुआ करे तब यह सूक्ति तो 'काव्य' नहीं हो पायेगी!

'वस्तुतः सर्वप्रथम अपमान तो यह है कि मुझ त्रिलोकविद् रावण के भी शत्रु पैदा होने लगे, इससे बढ़कर मेरा और क्या अपमान कि इन शत्रुओं में एक तापस भी शत्रु बन बैठा, और तो और यह तापस भी इस लङ्का में आकर राक्षसवंश के विनाश में जुट गया, ओह! क्या मैं रावण जी भी रहा हूँ। धिक्कार है इन्द्रविजयी मेघनाद को, नींद से उठा कुम्भकर्ण भी अब किस काम का, और मेरे ये भुजदण्ड किस काम के जो 'स्वर्ग' कहे जाने वाले किसी छोटे मोटे टोले की लूट-खसोट में व्यर्थ के लिये ही फूले बने बैठे हैं ।'

अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात् ।

प्रत्युत ध्वनि**त्वेनोत्तमकाव्यता अस्याङ्गीकृता, तस्मादव्याप्तिर्लक्षणदोषः ।**

ननु कश्चिदेवांशोऽत्र दुष्टो न पुनः सर्वोऽपीति चेत्, तर्हि यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यंवा किमपि न स्यात् । न च कंचिदेवांशं काव्यस्य दूषयन्तः श्रुतिदुष्टादयो दोषाः, कि तर्हि सर्व. मेव काव्यम् । तथाहि-काव्यात्मभूतस्य रसस्यानपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नाङ्गीक्रियते। अन्यथा

नित्यदोषानित्यदोषत्वव्यवस्थाऽपि न स्यात् !

यह सूक्ति इसलिये काव्य नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ 'विधेयाविमर्श' दोष आ पड़ा है **टिप्पणी**- 'विधेयाविमर्श' दोष- इसलिये आ पड़ा है क्योंकि यहाँ कवि ने वाक्यरचना के सामान्य सिद्धान्त-उद्देश्य-विधेयभाव के पूर्वपश्चाद्भाव के नियम -

'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत् ।

न ह्यलब्धास्पदं किञ्चित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति ॥'

का स्पष्ट उल्लंघन किया है। एक बार तो इस नियम का उल्लंघन 'अयमेव न्यक्कारः' स्थान पर 'न्यक्कारो ह्यमेव' करके किया गया है और दूसरी बार किया गया है 'एभिर्भुजैः वृथा' के बदले '... वृथोच्छूनः किमेभिर्भुजैः' इत्यादि रूप से वाक्य-विन्यास करके, जहाँ 'वृथा' रूप विधेयांश, जिसे प्रधानता देनी चाहिये, समास में डालकर अप्रधान बना दिया गया है। होना तो चाहिये इस उपर्युक्त सूक्ति को उत्तम काव्य जैसा कि रसभावादि अभिव्यञ्जना के कारण इसे माना भी गया है! इससे तो यही निष्कर्ष निकला 'दोषरहित शब्दार्थयुगल काव्य है'-यह काव्य-लक्षण 'अव्याप्ति' दोष से दूषित है क्योंकि जिस शब्दार्थयुगल, जैसे कि 'न्यक्कारो ह्ययम्' आदि, को काव्य होना चाहिये वह इस लक्षण की कसौटी पर काव्य ही नहीं ठहरता ।

यहाँ यह समाधान भी अकिञ्चित्कर ही रहा कि यह (न्यक्कारो ह्ययम् आदि) सूक्ति जितने अंश में दोषयुक्त है उतने अंश में भले ही काव्य न हो किन्तु अन्यत्र रसभावादि की अभिव्यञ्जना के अंश में तो काव्य ही रहेगी, क्योंकि समस्त शब्दार्थयुगल तो यहाँ दूषित नहीं ठहरा । क्यों? इसलिये कि एक ओर से तो दोषयुक्त अंश दूसरी ओर से दोषमुक्त अंश से अपनी-अपनी ओर खींची गयी यह सूक्ति 'अकाव्य' अथवा 'काव्य' कुछ भी नहीं हो पायेगी !

और साथ ही साथ यहाँ यह बात भी तो है कि श्रुतिदुष्ट (अथवा विधेयाविमर्श) आदि दोष किसी शब्दार्थयुगल को अंशतः ही नहीं अपितु पूर्णतया दूषित करने वाले हुआ करते हैं और इसलिये 'न्यक्कारो ह्ययम्' आदि में 'विधेयाविमर्श' को आंशिक दोष कह देने से कोई उद्देश्य नहीं सिद्ध हो जायगा। ऐसा इसलिये क्योंकि यदि इन दोषों से काव्य के आत्मभूत रस का कोई विघात नहीं हो पाता तब इन्हें दोष भी तो नहीं माना गया होता ! (वस्तुतः इन दोषों से काव्य के आत्मभूत रस का अपकर्ष हुआ करता है) दोष को तो काव्य के आत्मतत्त्व रस का सर्वात्मना अपकर्षक मानना ही पड़ेगा क्योंकि बिना ऐसा माने नित्यदोष और अनित्यदोष की विभाग-व्यवस्था कैसे सिद्ध हो सकेगी।

यदुक्तं ध्वनिकृता-

'श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।

ध्वन्यात्मन्येव श्रृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥' इति ।

किञ्च एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात् ।

नन्वीषदर्थे नञः प्रयोग इति चेत्तर्हि 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्युक्ते निर्दोषयोः काव्यत्वं न स्यात् । सति संभवे 'ईषद्दोषौ' इति चेत्, एतदपि काव्यलक्षणे न वाच्यम्, रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधाादिपरिहारवत् । नहि कीटानु वेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः किन्तूपादेयतारतम्यमेष कर्तुम् । तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य । उक्तं च-

'कीटनुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता ।

दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ॥' इति ।

जो कि ध्वनि-दार्शनिक आचार्य की इस उक्ति में सिद्ध की जा चुकी है-

'श्रुतिदुष्ट आदि जो दोष नित्य और अनित्य दोनों माने गये हैं इसीलिये माने गये हैं क्योंकि श्रृंगारादिरस प्रधान काव्य में तो ये सर्वथा हेय हैं (किन्तु रौद्रादिरसप्रधान काव्य में उपादेय भी हैं)।'

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि 'दोषरहित शब्दार्थयुगल' को काव्य मानने में या तो काव्य का क्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है या काव्य का कोई क्षेत्र ही नहीं बचा रहता । क्योंकि ऐसा असंभव है कि कोई भी सूक्ति ऐसी बन पड़े जिसमें दोष का ऐसा अभाव हो जो ऐकान्तिक और आत्यन्तिक-दोनों हों।

अब यदि इस संकट से पिण्ड छुड़ाने के लिये 'अदोषौ' के नञ् (अ) का अभिप्राय 'अभाव' न लेकर 'ईषत्' 'स्वल्प' लिया जाय क्योंकि नञ् (अ) का अभिप्राय 'ईषत्' भी हुआ करता है तब तो इससे भी भयंकर संकट उपस्थित हो जायगा जिसका रूप यह होगा कि 'निर्दोष शब्दार्थयुगल' काव्य नहीं कहा जा सकेगा (क्योंकि काव्य तो उसी शब्दार्थयुगल को कहेंगे जिसमें कुछ थोड़ा दोष अवश्य हो)। इससे भी छुटकारा पाने के लिये यदि यह कहा जाय कि 'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जिसमें यदि दोष हों तो बहुत थोड़े हों' तब तो इसका यही सीधा उत्तर होगा कि काव्य-लक्षण में इस प्रकार की बात कहनी ही नहीं चाहिये (क्योंकि दोष का होना या न होना अथवा थोड़ा होना या अधिक होना काव्य के स्वरूप का नियामक अथवा अनियामक नहीं अपितु उसकी उपादेयता के वर्द्धन या अवर्द्धन का ही कारण हो सकता है)। जैसे कि जब हमें किसी रत्न के स्वरूप का विवेचन करना होता है तब यह नहीं कहना होता कि 'रत्न वह है जिसमें कीटानुवेध का दोष न लगा हो' । इसी प्रकार काव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुये यह नहीं कहना चाहिये कि 'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जिसमें दोष न हो' 'कीटानुबेध' होने या न होने से रत्न की 'उपादेयता' में न्यूनाधिक्य भले ही हो 'रत्नता' में कैसे कोई क्षति होने लगी ! श्रुतिदुष्टादि दोषों के सद्भाव अथवा अभाव में भी शब्दार्थयुगलरूप काव्य की उपादेयता में घटती-बढ़ती तो संभव है किन्तु 'काव्यता' में कोई क्षति कैसे होने लगी ! तभी तो ऐसा कहा गया है-

'जिस प्रकार कोई रत्न कीटानुवेध के होने पर भी रत्न ही रहा करता है, उसी प्रकार कोई काव्य रसभावाभिव्यञ्जक शब्दार्थयुगल-श्रुतिदुष्टादि दोष के होने पर भी काव्य ही रहा करता है ।'

('सगुण' शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में अनुपपत्ति)

किञ्च । शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम् । गुणानां रसैकधर्मत्वस्य 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः' इत्यादिना तेनैव प्रतिपादितत्वात् । 'रसाभिव्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्यत इति चेत् ? तथाहि-तयोः काव्यस्वरूपेणाभिमतयोः शब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा ? नास्ति चेत्, गुणवत्त्वमपि नास्ति, गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । अस्ति चेत् ? कथं नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम् । गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्यैतल्लभ्यत इति चेत् ? तर्हि सरसावित्येव वक्तुं युक्तम्, न सगुणाविति । नहि प्राणिमन्तो देशा इति केनाऽप्युच्यते । ननु 'शब्दार्थौ सगुणौ' इत्यनेन गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ काव्ये प्रयोज्यावित्यभिप्राय इति चेत् ? न, गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थौ काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वम्, न तु स्वरूपधायकत्वम् । उक्तं हि-'काव्यस्य शब्दार्थौ **शरीरम्, रसा. दिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंङ्कारा: कटककुण्डलादिवत्' इति ।**

अनुवाद-(काव्यप्रकाश-कृत उपर्युक्त काव्यलक्षण में 'शब्दार्थयुगल की अदोषता' में तो अव्याप्ति-दोष है ही, किन्तु) साथ ही साथ यहाँ 'शब्दार्थयुगल की सगुणता' में काव्य-स्वरूप की मान्यता भी युक्तिसंगत नहीं क्योंकि 'शब्दार्थयुगल' को 'सगुण' तब कहा जाय जब कि 'गुण' शब्द और अर्थ के धर्म माने जा सकें ! गुण तो एकमात्र रस के धर्म हैं और उपर्युक्त काव्यलक्षणकार (आचार्य मम्मट) ने ही इन्हें रस-धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है-

'जैसे शौर्य आदि आत्मा के अपृथक्सिद्ध गुण अथवा धर्म हुआ करते हैं (न कि शरीर के) वैसे ही माधुर्य आदि रसरूप काव्यात्मतत्त्व के अपृथक् सिद्ध गुण अथवा धर्म हुआ करते हैं (न कि शब्द और अर्थ रूप काव्य-शरीर के) ।' (काव्यप्रकाश. ८)

अब यदि इस अड़चन से छुटकारा पाने के लिये यह कहा जाय कि 'शब्दार्थयुगल की सगुणता' का अभिप्राय 'शब्दार्थयुगल की रसाभिव्यञ्जकता' है क्योंकि रसाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ को उपचारतः सगुण शब्द और अर्थ कहा ही जा सकता है', तब तो यही कहना पड़ता है कि ऐसी बात यहाँ बहुत ठीक नहीं बैठती । क्यों ? इसलिये कि जिस शब्दार्थयुगल को काव्य-रूप मान लिया गया उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि 'उसमें रस है या रस नहीं है ?' यदि इसका उत्तर यह दिया गया कि 'उसमें रस नहीं है' तब तो यही सिद्ध हो गया कि उसमें 'गुणवत्ता' भी नहीं है क्योंकि जहाँ रस रहेगा वहाँ ही गुण रहेंगे और जहाँ रस नहीं होगा वहाँ गुण भी नहीं होंगे ! अब यदि यहाँ यह उत्तर सोचा गया कि 'उसमें रस है (इसलिये गुण भी हैं)' तब तो यह पूछना पड़ेगा कि 'शब्दार्थयुगल की सगुणता के' बदले 'शब्दार्थयुगल की रसवत्ता' को काव्यस्वरूप का नियामक क्यों न बताया गया ? यदि यहाँ यह कहा जाय कि 'शब्द और अर्थ की सगुणता' का अभिप्राय 'शब्द और अर्थ की सरसता' ही निकलना चाहिये क्योंकि रस के बिना गुण की स्थिति ही असंभव है' तब तो इसका सीधा उत्तर यह दिया जायगा कि 'शब्दार्थयुगल की सगुणता' के बदले 'शब्दार्थयुगल की सरसता' को काव्य-स्वरूप का नियामक क्यों न माना जाय ? भला यह कोन सा तुक कि कहना हो 'ये वे भूभाग हैं जहाँ प्राणी

रहा करते हैं' और कहा जाय 'ये वे भूभाग हैं जहाँ शौर्यादि (गुण) रहा करते हैं !' (भला शब्द और अर्थ की 'सरसता' को मन में रख कर शब्द और अर्थ की 'सगुणता' के प्रतिपादन की समझ कोई बुद्धिमानी हुई !)

यहाँ यह समाधान भी कि 'सरस शब्दार्थयुगल' के बदले 'सगुण शब्दार्थयुगल' का औपचारिक प्रयोग काव्य में गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ के प्रयोग पर जोर देने के उद्देश्य से किया गया, कोई समाधान नहीं क्योंकि गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्य के उत्कर्षवर्द्धक भले ही हों, स्वरूप नियामक तो कदापि नहीं हो सकते। तभी तो ऐसा कहा गया है-

'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस-भाव आत्मतत्त्व है, माधुर्यादिगुण शौर्यादि की भाँति रसरूप आत्मतत्त्व के अपृथक् सिद्ध धर्म हैं, श्रुतिदुष्टादि दोष काणत्व (काना होने) आदि की भाँति रसरूप आत्मतत्त्व के सौन्दर्यापकर्षक हैं, वैदर्भी आदि रीतियाँ शरीरसंस्थान (अङ्गरचना) के समान काव्य-संस्थान हैं और अनुप्रास उपमादि अलङ्कार कटक, कुण्डल आदि आभूषणों की भाँति शब्द और अर्थ के सौन्दर्यवर्द्धक हैं ।'

(सर्वत्र अलङ्कृत शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में अनौचित्य)

एतेन 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति यदुक्तम्, तदपि परास्तम्। अस्यार्थः- सर्वत्र सालङ्कारौ कचित्त्वस्फुटालङ्कारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति । तत्र सालङ्कार शब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षाधायकत्वात् ।

अनुवाद-उपर्युक्त उद्धरण की विचारधारा के देखते काव्यप्रकाशकृत काव्य-लक्षण में शब्द और अर्थ को 'अनलंकृती पुनः क्वापि'-सर्वत्र अलंकृत किन्तु कदाचित् अनलंकृत कहना भी किसी काम का नहीं । 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का अर्थ क्या है ? यही न कि सर्वत्र तो अलङ्कारसहित शब्दार्थयुगल काव्य है ही किन्तु कहीं-कहीं ऐसा भी शब्दार्थयुगल काव्य ही समझना चाहिए जहाँ कोई भी अलङ्कार स्पष्ट रूप से दिखाई न दे । अब जहाँ तक 'सर्वत्र अलङ्कृत शब्द और अर्थ को' काव्य मानने का आग्रह है उसके सम्बन्ध में तो यही कहा जायगा कि यह आग्रह ठीक नहीं क्योंकि अलङ्कृत शब्द और काव्य के स्वरूपाधायक नहीं काव्यरूप नहीं, अपितु एकमात्र काव्य के उत्कर्षाधायक हुआ करते हैं-काव्य की उत्कृष्टता के साधन हैं ।

(प्रसक्तानुप्रसक्त्या वक्रोक्तिजीवितकार का खण्डन)

एतेन 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम् । वक्रोक्तेरलङ्काररूपत्वात् ।

अनुवाद-जब कि यह सिद्ध है कि अलङ्कृत शब्द और अर्थ 'काव्य' नहीं तब वक्रोक्तिजी. वितकार (कुन्तक) का यह कथन कि 'वक्रोक्ति अथवा भङ्गीभणिति (विचित्र अभिधान और अभिधेय) काव्य का जीवन है' स्वयं असिद्ध हो गया । भला 'वक्रोक्ति', जो एक अलङ्कार है, काव्य का आत्मतत्त्व

कैसे होगा?

(अलङ्कार की अस्फुट प्रतीती में काव्य की मान्यता-काव्यप्रकाशकार का व्यामोहमात्र)

यच्च क्वचिदस्फुटालङ्कारत्वे उदाहृतम्-

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एवं चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥ इति ।

एतच्चिन्त्यम् । अत्र हि विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य संदेहसङ्करालङ्कारस्य स्फुटत्वम् ।

अनुवाद-काव्यप्रकाशकार ने 'अनलंकृती पुनः क्वापि शब्दार्थौ काव्यम्' के उदाहरण रूप में जो यह सूक्ति उद्धृत की है-

'पता नहीं क्या बात है कि मेरा पति भी वही जिसने मेरे कुमारीपन में ही मेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न किया, वसन्त की रातें भी वही जिनका आनन्द अबतक भोग चुकी हूँ, खिली वासन्ती लताओं की सुगन्ध से भीनी भीनी कदम्बवन की उद्दीपक वायु भी वही जिसने मुझे सदा उन्मत्त बनाया है और मैं भी वही जो पहले हो चुकी हूँ, किन्तु ज्यों ही रेवातीर के वेतसनिकुञ्जों की याद आ जाती है त्यों ही चित्त वहाँ राग-रंग के लिए अकस्मात् मचल उठता है !'

जिसके लिए यह कहा है कि किसी भी अलंकार की यहाँ स्पष्ट प्रतीति न होने पर भी यह (शब्दार्थयुगल) काव्य है वह सब वस्तुतः ठीक नहीं । क्यों ? इसलिए कि यहाँ तो विभावना और विशेषोक्ति अलङ्कारों का 'संदेह संकर' निःसन्दिग्धरूप से दिखायी दे रहा है ।

(सरस्वतीकण्ठाभरण-सम्मत काव्य-लक्षण स्वयं खण्डित)

एतेन-

'अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥'

इत्यादीनामपि काव्यलक्षणत्वमपास्तम् ।

अनुवाद-उपर्युक्त विचार विमर्श से यह भी सिद्ध हो गया है कि कतिपय काव्य-लक्षण जैसे किं भोजराज (सरस्वतीकण्ठाभरणकार) का यह काव्यलक्षण-

'काव्य वह (शब्दार्थयुगल) है जो दोषरहित हो, गुणयुक्त हो, अलङ्कारों से अलङ्कृत हो और रससमन्वित हो और कवि वह है जो इस प्रकार के काव्य की रचना किया करता है और कीर्ति तथा

प्रीति की प्राप्ति होती है । (सरस्वतीकण्ठाभरण)' और इसी प्रकार के अन्य काव्य लक्षण किसी भी काम के नहीं ।

(ध्वनिकार-कृत काव्यलक्षण का खण्डन)

यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्-'काव्यस्यात्मा ध्वनिः-' इति तत्किं वस्त्वलङ्काररसादि- लक्षण ास्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, उत रसादिरूपमात्रो वा ? नाद्यः,- प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः ।

द्वितीयश्चेदोमिति ब्रूमः ।

अनुवाद-अब प्रश्न यह उठता है कि ध्वनिकार (आनन्दवर्धन) का यह कथन कि 'ध्वनि काव्य का आत्मतत्त्व है' कैसे काव्य का निर्दुष्ट लक्षण न माना जाय? किन्तु यहाँ सब से पहले तो यह देखना है कि क्या वस्तु-अलङ्कार और रसरूप से त्रिविध ध्वनि को काव्य का आत्मतत्त्व माना गया है ? या केवल रसभावादिरूप ध्वनि को ही ! यदि यहाँ यह कहा जाय कि 'वस्तु-अलङ्कार और रसरूप त्रिविध ध्वनि काव्य का आत्मतत्त्व है' तब तो यही उत्तर दिया जायगा कि इस काव्य-लक्षण के अनुसार ऐसे भी शब्दार्थ-सन्दर्भ जैसे कि प्रहेलिका बन्ध (पहेली) आदि, जो कि ध्वनिवाद के अनुसार कदापि काव्य नहीं, वह भी काव्य-कोटि में स्थान पाने लगेंगे (क्योंकि प्रहेलिकाबन्ध आदि में भी तो वस्तुरूप अर्थ प्रतीत ही हुआ करता है और चमत्कारकारक भी लगा करता है)! अब यदि इस समस्या से पीछा छुड़ाने के लिये यह कहा जाय कि 'रसभावादिरूप ध्वनि ही केवल काव्य का आत्मतत्त्व है' तब तो यही कहा जायगा कि इसमें हमारा (साहित्यदर्पणकार) का भी ऐकमत्य है (किन्तु तब काव्य का लक्षण 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' नहीं हो पायगा जिसमें दो सम्भावनायें हों और एक निरर्थक हो जाय) ।

ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, तदा-

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धिअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥
[श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राहं, दिवस एव प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्ध, शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि ॥]

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत ? न,-अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः, अन्यथा 'देवदत्तो ग्रामं याति' इति वाक्ये तद्भृत्यस्य तदनुसरणरूपव्यङ्ग्यावगतेरपि काव्यत्वं स्यात् । अस्त्विति चेत् ? न, रसवत एव काव्यत्वाङ्गीकारात् ।

यदि कोई पूछे कि यदि रसभावादिरूप ही ध्वनि काव्य का आत्मतत्त्व हो तो इस रचना अर्थात्-

'अरे रतौंधी वाले बटोही ! आँखें खोल कर दिन में ही देख लो कि यहाँ मेरी सास सोया करती है और यहाँ मैं सोया करती हूँ । ऐसा न कर बैठना कि बिना देखे-भाले मेरी खाट पर ही लेट लगाने लग जाओ ।'

इसको कैसे 'काव्य' माना जाय? जिसमें केवल वस्तु-मात्र ही ध्वनित हो रहा है (अर्थात् यह प्रतीत हो रहा है कि ऐसा कहने वाली नायिका आगन्तुक पुरुष को अपनी खाट पर ही अपने साथ लेटने का संकेत कर रही है) न कि रसभावादि !, तब इसका समाधान यह रहा कि 'इस रचना को इसलिये काव्य नहीं माना गया कि यहाँ वस्तु रूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो रहा है अपितु इसलिये कि यहाँ भी रसाभास की ही ध्वनि स्पष्ट प्रतीत हो रही है (क्योंकि परपुरुष के साथ किसी नायिका के रतिभाव का प्रकाशन श्रृंगाररस का आभास नहीं तो और क्या) !

निष्कर्ष यह निकला कि जिस किसी भी शब्दार्थसन्दर्भ को 'काव्य' माना जायगा, रसादिरूप अर्थ के अभिव्यञ्जक होने के ही कारण माना जायगा। क्योंकि यदि वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ के ही अभिव्यञ्जक होने से कोई शब्दार्थयुगल काव्य होने लगे तब तो यह वाक्य भी जैसे कि 'देवदत्त गाँव जा रहा है' काव्य बन बैठेगा क्योंकि यहाँ भी एक वस्तुरूप व्यङ्ग्य अर्थ जैसे कि 'देवदत्त के पीछे-पीछे उसका नौकर भी चला जा रहा है' निकल ही सकता है ! अब यहाँ यह कह बैठना कि 'देवदत्त गाँव जा रहा है' आदि वाक्य भी काव्य बन जाय तो कोई आपत्ति नहीं, वस्तुतः एक उलटी-पुलटी बात होगी, क्योंकि वही शब्दार्थयुगल काव्य कहे जाने योग्य हो सकता है जो रसमय हो-रसाभिव्यञ्जक हो ।

काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वादमुखपिण्डदानद्वारा वेदशास्त्रविमुखानां सुकुमारमत. ीनां राजपुत्रादीनां विनेयानां 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्ति-निवृत्त्युपदेश इति चिरन्तनैरप्युक्तत्वात् । तथा चाग्नेयपुराणोऽप्युक्तम्-'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' इति ।

तभी तो प्राचीन काव्याचार्यों का यह कथन है कि काव्य का ही उद्देश्य है कि वह कोमल बुद्धिवाले और इसीलिये वेदशास्त्र के अनुशीलन से जी चुराने वाले राजकुमारों और ऐसे ही सुखलिप्त अन्य पुरुषों को, जिनके लिये आचार-व्यवहार का ज्ञान अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, पहले तो अपने रसरूप मधुर प्रसाद से लुभा ले और तब 'राम जैसे महापुरुषों के समान आचरण करना चाहिये न कि रावण जैसे नीचों के समान' आदि रूप से धर्म-कर्म के प्रति प्रवर्त्तन और अधर्म-अकर्म से निवर्तन के उपदेश दिया करे ।

'रसादि रूप व्यङ्ग्य अर्थ के प्रकाशक ही शब्दार्थयुगल काव्य हो सकते हैं (न कि वस्तु और अलङ्काररूप व्यङ्ग्य अर्थ के भी) यह एक ऐसी बात है जिसमें साक्षात् अग्नि-पुराण (३३६. ३३) का यह वचन प्रमाण है-

'काव्य में, चाहे उसमें जितना भी उक्ति-वैचित्र्य झलका करे, रस ही एक मात्र आत्म भूत तत्त्व है ।'

व्यक्तिविवेककारेणाऽप्युक्तं-'काव्यस्यात्मन्यङ्गिनि, रसादिरुपे न कस्यचिद्विमतिः' इति । ध्व. निकारेणाऽप्युक्तम्-'नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः, इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः' इत्यादि ।

इसीलिये तो व्यक्तिविवेककार (आचार्य महिमभट्ट) ने कह रखा है-'जहाँ तक काव्य के

जीवन-तत्त्व रसभावादि की बात है, कोई भी काव्याचार्य ऐसा नहीं जो किसी प्रकार का मतभेद रखता हो। (यहाँ जो भी मतभेद है वह केवल रसभावादिरूप काव्यात्मतत्त्व की संज्ञाओं जैसे कि 'कार्य', 'अनुमेय', 'भोग,' 'व्यङ्ग्य' आदि में है न कि इन संज्ञाओं से सूचित 'रसभावादि' रूप काव्यात्मतत्त्व में है।)'

यही क्यों ? स्वयं ध्वनिकार (आचार्य आनन्दवर्धन) का यह कथन है और इसी भाँति अन्य भी कथन है:- 'कवि का महान् पद (काव्य के) कथा-शरीर मात्र के निर्माण पर किसी को नहीं मिला करता वह तो वस्तुतः रसानुगुण काव्य-प्रबन्ध-निर्माण पर मिला करता है क्योंकि कथा-शरीर तो इतिहास आदि में ही बना-बनाया रहता है ।'

ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषाञ्चिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेत् ? न, रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन, प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात् । यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद् दोषाभावादलङ्कारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्ध साम्याद् गौण एव ।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है-यदि रसमय वाक्य ही काव्य हो तब किसी काव्य-प्रबन्ध के भीतर जो कतिपय नीरस पद्य-वाक्य हुआ करते हैं वे तो काव्य नहीं हो सकते न ? किन्तु इसका यह समाधान होगा-जैसे किसी पद्य-काव्य की रसमयता से उसके भीतर आने वाले कतिपय नीरस पदों में भी सरसता झलका करती है वैसे ही किसी काव्य-प्रबन्ध की सरसता से उसके भीतर यदि कुछ नीरस भी पद्यवाक्य प्रयुक्त हों, तो वे भी सरसता ही टपकाने वाले मान लिये जाया करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि काव्य वस्तुतः वही शब्दार्थ-सन्दर्भ है जो सरस हो, रसभाव का अभिव्यञ्जक हो । कभी-कभी नीरस भी शब्दार्थ-सन्दर्भ काव्य कह दिये जाया करते हैं किन्तु ऐसा कहना अपवाद में ही होता है न कि मुख्यतः, क्योंकि सरस काव्य-बन्ध की भाँति इनमें भी ऐसा लगा करता है मानो वर्ण-ध्वनियाँ गुणाभिव्यञ्जक हो रही हैं, दोष फटक नहीं पा रहे हैं और अलङ्कारों की भी छटा छिटक रही है ।

(वामनकृत काव्य-लक्षण का खण्डन)

यत्तु वामनेनोक्तम्- 'रीतिरात्मा काव्यस्य' इति, तन्न; रीतेः संघटनाविशेषत्वात्। संघटनायाश्चावयवसंस्थानरूपत्वात्, आत्मनश्च, तद्भिन्नत्वात् ।

अनुवाद-उपर्युक्त काव्य स्वरूप विवेक से यह भी स्पष्ट है कि आचार्य वामन (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिकार) का यह कथन कि 'रीति (गुणविशिष्ट पदरचना) ही काव्य का आत्मतत्त्व सारतम पदार्थ है' कदापि युक्तियुक्त नहीं ।

'रीति' क्या है ? 'रीति' है एक संघटना विशेष ऐसी पदरचना जो गुणवती हो। जो भी संघटना हो अथवा जैसी भी संघटना हो उसका यही अभिप्राय है कि वह एक प्रकार का अङ्गविन्यासविशेष

है। और जो आत्मतत्त्व है वह अङ्गरचना नहीं शरीरसंस्थान विशेष नहीं अपि तु उससे सर्वथा विलक्षण वस्तु है । जब जब कि 'रीति' काव्य की अङ्गरचना है तो उसे काव्य का आत्मतत्त्व कैसे माना जाय?

(ध्वनिकार-सम्मत काव्यात्मवाद में दोष-दर्शन)

यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्-

'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥' इति ।

अत्र वाच्यात्मत्वं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः-' इति स्ववचनविरोधादेवापास्तम् ।

अनुवाद-ध्वनिकार (आनन्दवर्धनाचार्य) ने काव्य के आत्मतत्त्व का दिग्दर्शन तो अवश्य किया ही है किन्तु एक स्थान पर ऐसी बात कह दी है-

'काव्य का वही अर्थ वस्तुतः काव्य का आत्मभूत सारतम अर्थ है जिसे सहृदय-हृदय सराहते नहीं थकते । और वह अर्थ ऐसा है जिसके दो भेद स्पष्ट हैं- पहला वाच्यरूप अर्थ और दूसरा प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) रूप अर्थ आदि, जिसमें वाच्यरूप अर्थ काव्य का आत्मतत्त्व बना दिखाई दे रहा है और अन्यत्र यह कह रखा है कि 'काव्य का जो आत्मभूत तत्त्व है वह ध्वनि (व्यङ्ग्य रूप अर्थ) ही है ।' अब ये दोनों परस्पर विरूद्ध कथन कैस काव्य-स्वरूप के निरुपण में प्रमाण होने लगे ?

(स्वयं आचार्य विश्वनाथ के मत में काव्यस्वरूप)

तत्किं पुनः काव्यमित्युच्यते-

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्-

रसस्वरूपं निरूपयिष्यामः । रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य । तेन विना तस्य काव्यत्वानङ्गीकारात् । 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्तियोगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते ।

अनुवाद-काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में आलङ्कारिकों के इस मति-भ्रम के निवारण के लिये अब यह बताना आवश्यक है कि काव्य क्या है ?

काव्य क्या है ? 'काव्य वह वाक्य है जो रसात्मक हो ।'

'रस क्या है ? इसका निरूपण तो आगे किया ही जायगा । यहां 'रसात्मक' वाक्य का अभिप्राय बता देना उचित है । 'रसात्मक' वाक्य उस वाक्य को कहते हैं जिसका आत्मतत्त्व 'रस' हुआ करता है । अथवा जिसे जीवित जागृत रखने वाला एकमात्र सारतम तत्त्व 'रस' है । 'रस' के बिना कोई भी वाक्य काव्य नहीं हो सकता, यह ऐसी बात है जो पहले ही बता दी जा चुकी है । यहाँ 'रस' का अभिप्राय केवल (शृंङ्गारादि) रस नहीं अपि तु वह है जो आस्वादविषय हो' इस 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर जो भी सहृदयों के आस्वाद के विषय हुआ करते हैं जैसे कि भाव, रसाभास

और भावाभास आदि वे सभी यहाँ विवक्षित और समुच्चित हैं ।

(काव्य-रसात्मकवाक्य-के निदर्शन)

तत्र रसो यथा-

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्यासमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

अत्र हि संभोगशृङ्गाराख्यो रसः ।

अनुवाद-जैसे कि यह (प्राचीन) सूक्ति जिसमें 'रस' ही सारतम तत्त्व है-

'नवोढा सुन्दरी ने देखा कि शयनगृह से और सभी लोग जा चुके हैं, वह अपनी सेज से कुछ धीरे से उठकर उसने नींद का बहाना बनाये सोने वाले अपने प्रियतम का मुँह बड़े ध्यान से देखा, उसे सचमुच सोया समझ कर निश्चिन्तता के साथ, उसका मुख-चुम्बन कर लिया और जैसे ही उसके कपोलों पर आनन्द का रोमाञ्च (चेहरे पर हल्की मुस्कुराहट) देखकर वह लज्जा से अपना मुँह झुकाये खड़ी हुई कि उसने (प्रियतम ने) हँस-हँसकर, बड़ी देर तक, उस पर चुम्बनों की बौछार शुरू कर दी।'

यहाँ जो वाक्य है वह 'काव्य' है क्योंकि इसमें इसका जीवनाधायक संभोगशृंङ्गार रस साक्षात् विराजमान है।

अथवा

भावो यथा महापात्रराघवानन्दसान्धिविग्रहिकाणाम्-

यस्यालीयत शल्कसीम्नि जलधिः पृष्ठे जगन्मण्डलं,
दंष्ट्रायां धरणी, नखे दितिसुताधीशः, पदे रोदसी ।
क्रोधे क्षत्रगणः, शरे दशमुखः, पाणौ प्रलम्बासुरो,
ध्याने विश्वमसावधार्मिककुलं, कस्मैचिदस्मै नमः ॥

अत्र भगवद्विषया रतिर्भावः ।

सान्धिविग्रहिक महापात्र श्री राघवानन्द कविराज की यह सूक्ति, जिसमें 'भाव' की जीवनाधायकता स्पष्ट है-

'उस अवाङ्मनसगोचर तत्त्व को शतशत प्रणाम जिस मत्स्यावतार रूप के शल्करूप छिलके की

किसी कोर में अपार पारावार छिप गया, जिस कूर्मावतार रूप के पृष्ठ पर समस्त ब्रह्माण्ड का भार स्थित हो गया, जिस वराह मूर्ति की दाड़ों पर धरती की जान बच गयी, जिस नृसिंहावतार रूप के नख में दानवराज हिरण्यकश्यपु का सर्वस्व लुप्त हो गया, जिस वामन रूप के पग में द्यावापृथिवी (आकाश और धरती) नप गये, जिस परशुराम रूप के क्रोध में समस्त क्षत्रिय वंश के लोग भस्मीभूत हो गये, जिस रामावतार रूप के बाण में दशानन रावण का लोप हो गया, जिस कृष्णावतार रूप के हाथ में प्रलम्बासुर प्रलीन हो गया, जिस बुद्धावतार रूप के ध्यान में सम्पूर्ण भौतिक जगत् विलीन हो गया और जिस कल्कि रूप के खड्ग से अधर्मी लोग लुप्त हो गये ।'

यहाँ जो वाक्य है वह 'काव्य' है क्योंकि इसका सारभूत तत्त्व इसमें अभिव्यक्त भगवद्विषयक (कविनिष्ठ) रतिभाव है ।

अथवा

रसाभासो यथा-

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।

शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥

अत्र सम्भोगशृङ्गारस्य तिर्यग्विषयत्वाद् रसाभासः । एवमन्यत् ।

यह सूक्ति जिसमें 'रसाभास' का अनुप्राणन सर्वसंवेद्य है-

'स्मरबान्धव वसन्त का आगमन क्या हुआ एक ओर तो प्रेमातुर भ्रमर ने, पुष्प-चषक में, प्रियतमा भ्रमरी को, पुष्परस की मदिरा पिलानी शुरू की और स्वयं उच्छिष्ट मदिरा को प्रेम से पीने लगा और दूसरी ओर कामातुर कृष्णसार मृग अपनी प्रियतमा मृगी से जा सटा और आनन्दसे आँखें मीचे खड़ी उस हिरणी को सींगों से खुजलाते हुए प्रेम करने लगा !

यहाँ जो वाक्य है वह 'काव्य' है क्योंकि इसमें प्रेमी पक्षियुगल और पशुयुगल के हृदय का रतिभाव अभिव्यक्त हो रहा है। इसी भांति अन्यान्य रस और भाव और उन दोनों के आभासों से अनुप्राणित जो वाक्य हों उन्हें भी 'काव्य' मानना चाहिये।

(रसात्मक वाक्यरूप काव्य और उसके अपकर्षकारक दोष का सम्बन्ध)

दोषाः पुनः काव्ये किंस्वरूपा ? इत्युच्यन्ते-

दोषास्तस्यापकर्षकाः ।

श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव, शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणेव, व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव, साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते । एषां विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः ।

अनुवाद-जिस 'रसात्म वाक्य' को काव्य कहा गया है उसकी अपकृष्टता जिनके द्वारा हुआ करती है ये ही (काव्य के) दोष कहे जाते हैं ।

दोष वस्तुतः वे हैं जो रसात्मक वाक्यरूप काव्य की उत्कृष्टता अथवा सुन्दरता के विघातक हुआ करते हैं। इन दोषों में ये दोष जैसे कि श्रुतिकटुत्व, अपुष्टार्थत्व आदि तो ऐसे हुआ करते हैं जो मानव-शरीर की उत्कृष्टता के विघातक काणत्व (कानेपन), खञ्जत्व (लङ्गड़ेपन) आदि की भांति काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ की उत्कृष्टता के विघातक होते हुये काव्य के रसादिरूप आत्मतत्त्व के अपकर्षकारक हुआ करते हैं और कुछ ऐसे भी हुआ करते हैं जिन्हें रस-दोष कहते हैं जैसे कि निर्वेदादि व्यभिचारिभावों का, उनके वाचक शब्दों से अभिधान आदि जो मूर्खत्व आदि दोषों की भांति रसादिरूप काव्यात्मतत्त्व के साक्षात् अपकर्षजनक बना करते हैं। रसात्मकवाक्य के साक्षात् अथवा परम्परया अपकर्षकारक इन दोषों के अपने-अपने उदाहरण तो आगे यथावसर दिये ही जायेंगे ।

(गुण, अलङ्कार और रीति के स्वरूप तथा उनके सम्बन्धों का संकेतात्मक निरूपण)

गुणादयः किंस्वरूपा इत्युच्यन्ते-

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्कारीतयः ॥ ३ ॥

(काव्यात्मभूत 'रस' और गुण-अलङ्कार-रीतितत्त्व : परस्पर सम्बन्ध)

गुणाः शौर्यादिवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इन्युच्यन्ते । इह यद्यपि गुणानां रसधर्मत्वं तथापि गुणशब्दोऽत्र गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थयोरुपचर्यते । अतश्च 'गुणाभिव्यञ्जकाः शब्दारसस्योत्कर्षकाः' इत्युक्तं भवतीति प्रागेवोक्तम् । एषामपि विशेषोदाहरण ानि वक्ष्यामः ।

अनुवाद-अब काव्यात्मभूत रस के उत्कर्षकारक जो तत्त्व हैं जैसे कि गुण आदि, उनका स्वरूप बता देना आवश्यक है-

गुण, अलङ्कार और रीति वे काव्यतत्त्व हैं जो रसात्मक वाक्य-रूप काव्य की उत्कृष्टता के कारण हुआ करते हैं ।

काव्यात्मभूत रस के उत्कर्षकारक तत्व ही रसात्मक वाक्य-रूप काव्य के उत्कर्षकारक तत्त्व हुआ करते हैं। ये ही वे तत्त्व हैं जिन्हें गुण, अलङ्कार और रीति कहा करते हैं। इनमें माधुर्य आदि गुण, अनुप्रास-उपमादि अलङ्कार और वैदर्भी आदि रीति-तत्त्व काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ के उत्कर्षकारक होते हुये उसी प्रकार काव्य के आत्मभूत रस के उत्कर्षकारक माने जाया करते हैं जिस प्रकार शौर्य आदि गुण, कटक-कुण्डलादि अलङ्कार और अवयव-विन्यास आदि शरीर-संस्थान मानवशरीर के उत्कर्षक होते हुये मानव-व्यक्तित्व के उत्कर्षक माने जाया करते हैं।

यहाँ गुणों के काव्यशरीरभूत शब्द और अर्थ के उत्कर्षकारक होनेमें एक विशेष बात है और

वह यह है-वस्तुतः तो माधुर्य आदि गुण रस-रूप काव्यात्मतत्त्व के धर्म हैं किन्तु उपचारतः इन्हें काव्य-शरीरभूत शब्द और अर्थ का भी धर्म माना जा सकता है क्योंकि रस के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ रसधर्मभूत गुण के भी अभिव्यञ्जक हुआ ही करते हैं। इस प्रकार गुण के रसोत्कर्षकारक कहे जाने का अभिप्राय गुणाभि-व्यञ्जक शब्द और अर्थ का रसोत्कर्षकारक कहा जाना है जैसा कि पहले भी (अर्थात् मम्मटकृत काव्य-लक्षण की समीक्षा के प्रसङ्ग में) कहा ही जा चुका है। इन रसोत्कर्षक गुणों, अलङ्कारों और रीतियों के सोदाहरण निरूपण आगे यथावसर किये ही जायेंगे ।

स्मरणीय बिंदु

- मम्मट के लक्षण का खंडनः मम्मट ने अदोषौ (दोषरहित) कहा था, जिसे विश्वनाथ ने अव्याप्ति दोष बताकर खारिज किया। उदाहरणः न्यक्कारो ह्ययमेव... श्लोक में विधेयाविमर्श दोष होने पर भी वह उत्तम काव्य माना जाता है।

- दोष का स्वरूपः दोष काव्य के आत्मभूत रस का अपकर्ष करते हैं, जैसे मनुष्य के शरीर में कानापन या लंगड़ापन।

- गुणों का स्थानः गुण (माधुर्य आदि) रस के अनिवार्य धर्म हैं, जैसे आत्मा के लिए शौर्य। ये शब्द-अर्थ के धर्म नहीं हैं।

- अलंकार और रीतिः अलंकार (उपमा आदि) कटक-कुण्डल की भाँति बाहरी आभूषण हैं और रीति (वैदर्भी आदि) शरीर के अंगों की बनावट (अवयव-संस्थान) की तरह है।

- विश्वनाथ का सूत्रः वाक्यं रसात्मकं काव्यम् अर्थात् रसयुक्त वाक्य ही काव्य है।

- रस की व्यापकताः यहाँ रस शब्द से केवल ९ रस ही नहीं, अपितु भाव, रसाभास और भावाभास का भी ग्रहण होता है।

- काव्य का प्रयोजनः चतुर् वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति और रामादि के समान आचरण करने का उपदेश।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) आचार्य मम्मट द्वारा प्रदत्त काव्य-लक्षण तददोषौ शब्दार्थौ... का आचार्य विश्वनाथ ने किन युक्तियों के आधार पर खंडन किया है? विस्तार से समझाइए।

2) वाक्यं रसात्मकं काव्यम् सूत्र की व्याख्या करते हुए सिद्ध कीजिए कि रस ही काव्य की आत्मा है। इसमें रस पद की व्याप्ति कहाँ तक है?

3) काव्य में दोष, गुण, अलंकार और रीति के पारस्परिक संबंध और उनकी स्थिति को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) विश्वनाथ ने न्यक्कारो ह्ययमेव... श्लोक का उद्धरण किस संदर्भ में दिया है?

2) अदोषौ पद में नञ् का अर्थ ईषद् (थोड़ा) मानने पर क्या आपत्ति आती है?

3) कीटानुविद्धरत्न के उदाहरण द्वारा विश्वनाथ क्या सिद्ध करना चाहते हैं?

4) ध्वनिकार के काव्यस्यात्मा ध्वनिः मत पर विश्वनाथ की क्या प्रतिक्रिया है?

5) रीति को काव्य की आत्मा क्यों नहीं माना जा सकता? आचार्य विश्वनाथ के तर्क दीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) वाक्यं रसात्मकं काव्यम् किस आचार्य का कथन है?

(क) मम्मट (ख) भामह
(ग) विश्वनाथ (घ) आनंदवर्धन

2) विश्वनाथ के अनुसार अलंकार काव्य में किसके समान हैं?

(क) आत्मा के समान (ख) कटक-कुण्डल के समान
(ग) शौर्य के समान (घ) कानापन के समान

3) न्यक्कारो ह्ययमेव... श्लोक में कौन सा मुख्य दोष बताया गया है?

(क) श्रुतिकटु (ख) पुनरुक्ति
(ग) विधेयाविमर्श (घ) अक्रमत्व

4) काव्य का जीवित (प्राण) तत्त्व अग्निपुराण के अनुसार क्या है?

(क) शब्द (ख) अर्थ
(ग) रीति (घ) रस

5) वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् किस आचार्य का मत है जिसका विश्वनाथ ने खंडन किया?

(क) कुन्तक (ख) वामन
(ग) दण्डी (घ) उद्भट

इकाई-2.3

वाक्यस्वरूपम्, अभिधाशक्तिनिरूपणम्, संकेतग्रहश्च

द्वितीयः परिच्छेदः

उद्देश्य

- काव्य के लक्षण में प्रयुक्त वाक्य और शब्द के दार्शनिक एवं व्याकरणिक आधार को स्पष्ट करना।
- यह बताना कि कोई भी शब्द-समूह काव्य तभी बन सकता है जब वह भाषा के नियमों (योग्यता, आकांक्षा आदि) पर खरा उतरे।
- अभिधा शक्ति के महत्व को स्थापित करना क्योंकि लक्षणा और व्यंजना इसी पर टिकी हैं।

परिणाम

- भाषाई सटीकताः पदों के समूह मात्र को वाक्य मानने की भ्रांति दूर हुई।
- संकेतग्रह की स्पष्टताः यह सिद्ध हुआ कि भाषा सीखने की प्रक्रिया सामाजिक व्यवहार और तर्क पर आधारित है।
- उपाधिवाद की स्थापनाः यह निष्कर्ष निकला कि शब्द किसी एक विशेष वस्तु का नहीं, बल्कि उसके सामान्य धर्म (जाति आदि) का बोध कराते हैं।

(वाक्य निरूपण तथा वाक्यरूप पदसमूह की विशेषता-योग्यतादि)

वाक्यस्वरूपमाह-

वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।

योग्यता पदार्थानां परस्परसंबन्धे बाधाभावः । पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे 'वह्निना सिञ्चति' इत्याद्यपि वाक्यं स्यात् । आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः । स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः । निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादीनामपि वाक्यत्वं स्यात् । आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः। बुद्धिविच्छेदेऽपि वाक्यत्वे इदानीमुच्चारितस्य देवदत्तशब्दस्य दिनान्तरोच्चारितेन गच्छतीति पदेन सङ्गतिः स्यात् । अत्राकाङ्क्षायोग्यतयोरात्मार्थधर्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपचारात् ।

अनुवाद-('वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस काव्य-लक्षण की प्रतिपद परीक्षा की दृष्टि से, सर्वप्रथम) अब 'वाक्य क्या है?' इसका विचार किया जा रहा है-

'वाक्य' ऐसे पदों का समूह है जिसमें योग्यता, आकाङ्क्षा और आसत्ति का रहना अनिवार्य है।

वाक्यरूप पदसमूह की विशेषताओं में 'योग्यता' वह विशेषता है जिसे पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में किसी बाध अथवा विरोध का अभाव होता है। यदि इस विशेषता के अभाव में भी पदसमूह 'वाक्य' होने लगे तब तो ऐसे भी पदसमूह जैसे कि 'वह्निना सिञ्चति' (आग से सींच रहा है) आदि जहाँ आग और सींचना इन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में विरोध ही सर्वानुभवसिद्ध है यह सभी वाक्य बनने लगेंगे ! वाक्यरूप पदोच्चय की दूसरी विशेषता है 'आकाङ्क्षा' अर्थात् एक-एक पदों के अर्थ की प्रतीति में अभिप्रेत-प्रतीति की समाप्ति का अभाव एक पदार्थ की प्रतीति में अभिप्रेत-प्रतीति की समाप्ति का जो अभाव है वह वस्तुतः श्रोता की एक जिज्ञासा है जो कि एक पद से अन्वित दूसरे पद को ढूँढा करती है क्योंकि यदि परस्पर निराकाङ्क्ष अर्थ वाले भी पदसमूह वाक्य माने जाने लगे तब तो ऐसे भी पदसमूह जैसे कि 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' (गौ, अश्व, पुरुष, हाथी) आदि (जहाँ किसी भी पद का अर्थ किसी दूसरे पद के अर्थ की आकाङ्क्षा रखता नहीं प्रतीत हो रहा और प्रत्येक पद पूर्णतया अपने आप में ही समाप्त है) वाक्य होने लगेंगे ! वाक्यरूप पदकदम्ब की तीसरी जो विशेषता है वह 'आसत्ति' है । आसत्ति क्या है? 'आसत्ति' है किसी अभिप्राय के उपस्थापक पदार्थों की अविच्छिन्न अथवा अव्यवहित उपस्थिति । यदि किसी अभिप्राय के उपस्थापक पदार्थों की अविच्छिन्न अथवा व्यवहित उपस्थिति में भी कोई पदोच्चय वाक्य कहा जाने लगे तब तो अभी बोले गये 'देवदत्तः' (देवदत्त) पद और दूसरे दिन बोले गये 'गच्छति' (जाता है) पद का मिलाव भी वाक्य ही बनने लगे !

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि 'आकाङ्क्षा' और 'योग्यता' को वाक्यरूप पदोच्चय अथवा पदसमूह का जो धर्म बताया गया है वह मुख्यरूप से नहीं अपितु औपचारिक रूप से ही बताया गया है। क्यों? इसलिये कि 'आकाङ्क्षा' । अथवा एक पद से अन्वित होनेवाले दूसरे पद के ज्ञान की स्वाभाविक इच्छा तो वस्तुतः श्रोता का धर्म है न कि पद का । इसी प्रकार 'योग्यता' भी पद-धर्म नहीं किन्तु पदार्थ-धर्म ही है क्योंकि उपपत्ति का सद्भाव अथवा असद्भाव पदों से नहीं अपितु पदार्थों से सम्बद्ध रह सकता है। किन्तु जब कि उपचार का आश्रय लिया जाय तब तो यह कहा ही जा सकता है कि आकाङ्क्षा और योग्यता वाक्यरूप पदोच्चय-धर्म हैं। 'आकाङ्क्षा' तो इसलिये वाक्यरूप पदोच्चय धर्म है क्योंकि आकाङ्क्षा और पदोच्चय में परम्परया जन्य-जनकभाव सम्बन्ध रहा करता है (अर्थात् 'आकाङ्क्षा' और 'वाक्यार्थ' और वाक्यार्थ 'पदोच्चय' में जब साक्षात् जन्यजनक-भाव सम्बन्ध है तब आकाङ्क्षा और पदोच्चय में तो यह परम्परया रहेगा ही)। इसी प्रकार 'योग्यता' को वाक्यरूप पदोच्चय-धर्म इसलिये माना जाया करता है क्योंकि 'योग्यता' और 'पदार्थ' तथा 'पदार्थ' और 'पदोच्चय' में जब साक्षात् आश्रयाश्रयिभाव-सम्बन्ध है तब 'योग्यता' और 'पदोच्चय' में तो इसे परम्परया मानना ही चाहिये।

(महावाक्य निरूपण तथा उनके प्रकार)

वाक्योच्चयो महावाक्यम्-

योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त इत्येव ।

अनुवाद-'महावाक्य' वह है जो कि वाक्यों का उच्चय अथवा समूह हुआ करता है। जैसे

योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पद समूह ही 'वाक्य' होता है वैसे ही वही वाक्यसमूह 'महावाक्य' होता है जो योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त हो ।

इत्थं वाक्यं द्विधा मतम् ॥ १ ॥

इत्थमिति वाक्यत्वेन महावाक्यत्वेन च ।

उक्तं च तन्त्रवार्तिके-

'स्वार्थबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।

वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ॥' इति ।

तत्र वाक्यं यथा- 'शून्यं वासगृहम्' इत्यादि । महावाक्यं यथा- रामायण-महाभारत-रघुवंशादि।

इस प्रकार 'वाक्य' के दो भेद स्पष्ट हैं। यहाँ 'इत्थम्'-(इस प्रकार से) का अभिप्राय है-'वाक्य रूप से और महावाक्य रूप से' वाक्य के द्वैविध्य का।

'वाक्य' और 'महावाक्य' के सम्बन्ध में प्राचीनाचार्यों की यह उक्ति प्रमाण है-

'अपने अपने अर्थबोधन में समाप्त (आकांक्षादि विशिष्ट) वे सभी पद-सन्दर्भ रूप 'वाक्य' जब परस्पर अङ्गाङ्गि भाव-सम्बन्ध से संबद्ध हो जाया करते हैं तब 'एक वाक्य' अथवा 'महावाक्य' रूप में दिखायी दिया करते हैं।'

'वाक्य' के उदाहरण के रूप में 'शून्यं वासगृहम्' आदि श्लोकवाक्य देखे जा सकते हैं और 'महावाक्य' के उदाहरण तो रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि महाकाव्य हैं ही ।

(वाक्यस्वरूप निरुपक पदोच्चय का विश्लेषण)

पदोच्चयो वाक्यमित्युक्तम् ।

तत्र किं पदलक्षणमित्यत आह- वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः । यथा- घटः । प्रयोगार्हेति प्रातिपदिकस्य व्यवच्छेदः । अनन्वितेति वाक्यमहावाक्ययोः । एकेति साकाङ्क्षानेकपदवाक्यानाम् । अर्थबोधका इति कचटतपेत्यादीनाम् । वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितम् ।

अनुवाद-पहले यह बताया जा चुका है कि पद-सन्दर्भ 'वाक्य' है किन्तु जिसका सन्दर्भ वाक्य है उसका अर्थात् 'पद' का स्वरूप क्या है ? इसका बताना आवश्यक है। इसलिये 'पद' का लक्षण किया जा रहा है-

'पद' वे वर्ण समूह हैं जो प्रयोग-योग्य हुआ करते हैं और किसी दूसरे पद के अर्थ से जिसका सम्बन्ध न हो, ऐसे अर्थ के बोधक हुआ करते हैं।

उदाहरण के लिये, 'घटः' (घड़ा) यह वर्ण-समुदाय जो कि प्रयोग के योग्य है और एक

अनन्वित अर्थ का अवबोधक हो वह पद है । यहाँ (कारिका में, वर्णों के) 'प्रयोगार्ह'-'प्रयोगयोग्य' कहने का अभिप्राय यह है कि प्रातिपादिक को-प्रत्ययरहित प्रकृति मात्र को-(जैसे कि 'घट' इस वर्ण-समुदाय को) पद न मान लिया जाय, 'अनन्वित अर्थ के बोधक' कहने का जो तात्पर्य है वह यह है कि 'वाक्य' और महावाक्य' को (जो कि परस्पर अन्वित अर्थ के अवबोधक पद-समुदाय हैं) 'पद' न समझ लिया जाय और 'एक अर्थ के बोधक' कहने का प्रयोजन यह है कि परस्पर साकांक्ष पद-समूह (जो कि अनेक अर्थ के अवबोध कराने वाले हुआ करते हैं) 'पद' के रूप में न देख लिये जायें । साथ ही साथ 'अर्थबोधक' वर्णो को ही जो 'पद' कहा गया है वह इसीलिये जिसमें क, च, ट, त, प इत्यादि निरर्थक वर्ण पद की श्रेणी से बाहर गिने जायें । यहाँ (कारिका में) 'वर्णाः' इस बहुवचन का अभिप्राय, अर्थात् वर्ण-बाहुल्य विवक्षित नहीं (क्योंकि प्रयोग-योग्य और एक अनन्वित अर्थ के बोधक एक या दो भी वर्ण पद हुआ करते हैं) ।

(त्रिविध अर्थ का निरूपण)

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः ॥ २ ॥

एषां स्वरूपमाह-

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः ।

व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥ ३ ॥

ता अभिधाद्याः ।

अनुवाद-(पद जिस 'अनन्वित एक अर्थ' के बोधक हुआ करते हैं वह) अर्थ तीन प्रकार का हुआ करता है-पहला-वाच्यार्थ, दूसरा-लक्ष्यार्थ और तीसरा-व्यङ्ग्यार्थ ।

इन त्रिविध अर्थो के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है-

इनमें 'वाच्य' अर्थ वह है जो अभिधा शक्ति द्वारा प्रतिपादित किया जाया करता है, 'लक्ष्य' अर्थ वह अर्थ है जा लक्षणाशक्ति द्वारा बोधित हुआ करता है और 'व्यङ्ग्य' अर्थ उसे कहते हैं जो व्यञ्जना शक्ति द्वारा अवगत किया जाया करता है। इस प्रकार शब्द की जो शक्तियाँ (अभिधा, लक्षणा और व्यंजना) हैं वे भी तीन ही हुआ करती हैं ।

यहाँ कारिका में 'ताः'-उन (शक्तियों) का अभिप्राय है शब्द की अभिधा आदि (अर्थात् लक्षण ा और व्यञ्जना) शक्तियों का ।

(अभिधा शक्ति-निरुपण)

तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा ।

अनुवाद-इन त्रिविध शब्द-शक्तियों में 'अभिधा शक्ति' वह शक्ति है जिससे संकेतित (प्रसिद्ध)

अर्थ का ज्ञान हुआ करता है और इसीलिए जिसे शब्द की प्रथम (मुख्य) शक्ति कहते हैं।

(किसी पद के संकेतित अथवा प्रसिद्ध अर्थ का बोधन कराने वाली शक्ति तो 'अभिधा' हुई और) किसी पद के संकेत (शक्ति) का ग्रहण जिन उपायों से हुआ करता है वे ये हैं-

(संकेतग्रह के उपाय)

उत्तमवृद्धेन मध्यमवृद्धमुद्दिश्य 'गामानय' इत्युक्ते तं गवानयनप्रवृत्तमुपलभ्य बालोऽस्य वाक्यस्य 'सास्नादिमत्पिण्डानयनमर्थः' इति प्रथमं प्रतिपद्यते, अनन्तरं च 'गां बधान' 'अश्वमानय' इत्यादावावापोद्वापाभ्यां गोशब्दस्य 'सास्नादिमानर्थः' आनयनपदस्य च 'आहरणमर्थः' इति संकेतमवधारयति । क्वचिच्च प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात्, यथा-'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यत्र । क्वचिदाप्तोपदेशात्, यथा-'अयमश्वशब्दवाच्यः' इत्यत्र । तं च सङ्केतितमर्थं बोधयन्ती शब्दस्य शक्त्यन्तरानन्तरिता शक्तिरभिधा नाम ।

(१) वृद्ध व्यवहार-किसी परिवार में किसी गृहस्वामी ने किसी गृहसेवक को आदेश दिया- 'गामानय'-गौ लाओ'। इस वाक्य के सुनते गृहसेवक गौ लाने लगा। अब परिवार का बालक, जो अपने बड़े-बूढ़ों का यह व्यवहार देख रहा है, सर्वप्रथम केवल इतना समझा करता है कि 'गामानय'-'गौ लाओ' इस वाक्य का अर्थ 'एक सास्नादि विशिष्ट प्राणिविशेष का लाना' है । इसके बाद उसने ऐसे भी वाक्य सुने-'गां बधान'-'गौ बांध दो' 'अश्वमानय'-'घोड़ा लाओ' आदि आदि। अब जब उसे यह पता चला कि 'गामानय'-'गौ लाओ' के प्रयोग से सास्नादियुक्त प्राणिविशेष लाया गया और 'अश्वमानय' 'घोड़ा लाओ' के प्रयोग से एक दूसरे प्रकार का प्राणिविशेष लाया गया, तब उसे शब्दों के इस आवापोद्वाप (रखने-हटाने) से गो पद का सास्नादिविशिष्ट प्राणिरूप अर्थ और इसी भाँति अश्व पद का केसरादिविशिष्ट प्राणिरूप अर्थ का पता चल गया। इसी प्रकार 'गामानय' और 'गां वधान' आदि वाक्य प्रयोग में 'आनयन' और 'वन्धन' की भिन्न-भिन्न क्रियाओं का दर्शन करते बालक को इसी आवापोद्वाप से यह भी पता चल गया कि 'आनय' का अर्थ 'आहरण'-'ले आना' हुआ करता है (और 'बधान' का अर्थ 'बन्धन'-बाँधना' हुआ करता है)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बालक को 'गाम्', 'आनय' 'अश्वम्', बधान' आदि आदि पदों के संकेत (शक्ति) का ग्रहण वृद्ध व्यवहार से ही सबसे पहले संभव हुआ करता है ।

(२) कहीं-कहीं 'प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहार'-अर्थात् किसी प्रसिद्धार्थक पद जिसका अर्थ पहले से जाना जा चुका हो-समभिव्याहार अथवा सान्निध्य से भी संकेत का ग्रहण हुआ करता है जैसे कि इस वाक्य अर्थात् 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति'-'इस खिले कमल के भीतर मधुकर (भ्रमर) मधु-पान कर रहा है' में (जहाँ 'कमल' इस पूर्वपरिज्ञातार्थक पद के समभिव्याहार (साहचर्य) से 'मधुकर' इस पद का, भ्रमररूप अर्थ में, संकेतग्रह हुआ करता है।

(३) कहीं पर 'आप्तोपदेश' अर्थात् किसी प्रामाणिक व्यक्ति के उपदेश से भी संकेत का अवधारण किया जाया करता है जैसे कि 'अयमश्वशब्दवाच्यः'- 'यह प्राणी वह है जिसे 'अश्व' कहते

हैं' इत्यादि स्थलों पर (जहाँ किसी श्रेष्ठ प्रामाणिक व्यक्ति ने 'अश्व' पद का संकेतग्रह किसी बालक को अपने कथन-मात्र से, मानो अंगुली पकड़ कर, करा दिया है)।

अब इन्हीं उपायों से जाने गये संकेतित अर्थ का अवबोधन कराने वाली जो शब्दशक्ति है वहीं शक्ति 'अभिधा' नाम की शक्ति है। यह शक्ति इस लिये शब्द की मुख्यशक्ति मानी जाती है क्योंकि किसी शब्द और उसके अभिधान के बीच अन्य कोई भी शब्द-शक्ति नहीं आती है (जब कि शब्द और उसकी अन्य शक्तियों जैसे कि लक्षणा के ही बीच में अभिधा का व्यवधान आ जाता है क्योंकि अभिहित अर्थ में बाधादि के ही कारण तो लक्षणा का स्वरूपोत्थान सम्भव है) ।

(चतुर्विध संकेत-क्षेत्र का व्यवस्था-निरुपण)

सङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च ॥ ४ ॥

जातिर्गोपिण्डादिषु गोत्वादिका । गुणो विशेषाधानहेतुः सिद्धो वस्तुधर्मः । शुक्लादयो हि गवादिकं सजातीयेभ्यः कृष्णगवादिभ्यो व्यावर्तयन्ति । द्रव्यशब्दा एकव्यक्तिवाचिनो हरिहर-डित्थडवित्थादयः । क्रियाः साध्यरूपा वस्तुधर्माः पाकादयः । एषु हि अधिश्रयणावश्रयणान्तादिपूर्वापरीभ.ूतो व्यापारकलापः पाकाहिशब्दवाच्यः । एष्वेव हि व्यक्तेरुपाधिषु संकेतो गृह्यते, न व्यक्तौ; आनन्त्यव्यभिचारदोषापातात् ।

अनुवाद-इन उपर्युक्त उपायों से जिस संकेत का ग्रहण हुआ करता है उस के चतुर्विध क्षेत्र हैं जैसे कि (१) जाति, (२) गुण, (३) द्रव्य और (४) क्रिया ।

'जाति' वह है (जिसे पदार्थ का प्राणप्रद नित्य वस्तुधर्म कहा करते हैं और उदाहरण के लिए) जिसे 'गौ' आदि व्यक्तियों में 'गोत्व' आदि के रूप में देखा जाया करता है।

'गुण' उसे कहते हैं जो एक नित्य वस्तुधर्म है और जिसके द्वारा सजातीय वस्तु व्यक्तियों एक दूसरे से पृथक् रूप से पहचानी जाया करती हैं। उदाहरण के लिये 'शुक्ल' आदि गुण । ये 'शुक्ल' आदि गुण ऐसे वस्तुधर्म हैं (जो नित्य हैं, वस्तुव्यक्तियों में समवेत रहा करते हैं और) जिनसे शुक्ल वर्णवाली वस्तु-व्यक्तियों कृष्णादिवर्णवाली वस्तु-व्यक्तियों से व्यावृत्त की जाया करती हैं जैसे कि किसी गोव्यक्ति का शुक्ल-गुण उसे सजातीय कृष्णादिवर्णवाली गोव्यक्तियों से अलग किया करता है।

'द्रव्य' वह है जिसे वस्तु-व्यक्ति की 'संज्ञा' कह सकते हैं और ऐसे शब्द जैसे कि हरिहर, डित्थ, डवित्थ आदि द्रव्यवाचक अथवा संज्ञावाचक (यदृच्छात्मक) शब्द माने जाया करते हैं क्योंकि ये एक व्यक्ति के ही वाचक हुआ करते हैं।

'क्रिया' उसे कहते हैं जो एक ऐसा वस्तुधर्म है जो सिद्ध नहीं अपितु साध्य रहा करता है जैसे कि 'पाक' आदि। 'पाक' आदि शब्द इसलिए क्रियावाचक शब्द हैं क्योंकि ये अधिश्रयण (चूल्हे पर बरतन चढ़ाने) से लेकर अवश्रयण (सिद्ध अन्न के पात्र के चूल्हे से उतारने) तक के क्रमशः होने वाले जितने भी कार्यकलाप हुआ करते हैं उन सब का अभिप्राय अपने में रखा करते हैं।

ये उपर्युक्त जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में वस्तुतः व्यक्तियों की चतुर्विध उपाधियां हैं और इन्हीं में शब्दों का संकेत-ग्रह संभव है न कि व्यक्तियों में। व्यक्तियों में संकेतग्रह इसलिये युक्तियुक्त नहीं क्योंकि कहाँ तो 'गो' शब्द एक और कहाँ गोव्यक्तियों अगणित (आनन्त्य दोष) ! यदि एक किसी गोव्यक्ति में गो पद का संकेतग्रह हो चुके तो अन्य गोव्यक्तियों, जहाँ संकेतग्रह नहीं हुआ, कैसे 'गो' पद से अभिहित होगा, ऐसा व्यभिचार दोष होने लगेगा।

स्मरणीय बिंदु

- आचार्य विश्वनाथ के अनुसार: वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्ति युक्तः पदोच्चयः अर्थात्, पदों का वह समूह वाक्य कहलाता है जिसमें तीन तत्व अनिवार्य हों:
- योग्यता: पदों के अर्थों में परस्पर संबंध होने पर बाधा का न होना। (जैसे- आग से सींचता है वाक्य नहीं है, क्योंकि आग में सींचने की योग्यता नहीं है)।
- आकांक्षा: एक पद को सुनने के बाद दूसरे पद को जानने की जिज्ञासा। (जैसे- केवल गाय कहने से अर्थ पूर्ण नहीं होता, लाओ कहने की आकांक्षा बनी रहती है)।
- आसत्ति (सन्नधि): पदों का बिना विलंब के निरंतर उच्चारण करना। (यदि एक शब्द आज और दूसरा कल बोला जाए, तो वह वाक्य नहीं है)।

शब्द और अर्थ के प्रकार

- अर्थ तीन प्रकार के हैं: वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ।
- शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं: अभिधा (मुख्य शक्ति), लक्षणा और व्यंजना।
- अभिधा शक्ति और संकेतग्रह
- अभिधा: जो शब्द के संकेतित या प्रसिद्ध अर्थ का बोध कराए, वह अभिधा है। इसे अग्रिमा (प्रथम) शक्ति कहा जाता है।

संकेतग्रह के साधन:

- वृद्ध व्यवहार: बड़ों को आपस में व्यवहार करते देखकर (जैसे बालक गाँव लाओ सुनकर अर्थ समझता है)।
- आप्तोपदेश: किसी विश्वसनीय व्यक्ति के कहने से (जैसे- इसे घोड़ा कहते हैं)।
- प्रसिद्ध पद सामीप्य: ज्ञात शब्दों के साथ होने से अज्ञात शब्द का अर्थ जानना (जैसे- कमल के साथ मधुकर शब्द से भ्रमर का बोध)।

- चतुर्विध संकेत
- (संकेत कहाँ होता है?) विश्वनाथ के अनुसार संकेत केवल जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया (उपाधियों) में होता है, व्यक्ति में नहीं। जातिः जैसे गोत्व (गायपना)। गुणः जैसे शुक्ल (सफेद)। द्रव्यः जैसे संज्ञा शब्द डित्थ आदि। क्रियाः जैसे पाक (पकाना)।
- तर्कः व्यक्ति अनंत हैं, इसलिए व्यक्ति में संकेत मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष आता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) वाक्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

2) संकेतग्रह से क्या तात्पर्य है? बालक वृद्ध-व्यवहार के माध्यम से शब्द का अर्थ कैसे सीखता है? आवाप-उद्वाप प्रक्रिया के साथ समझाइए।

3) विश्वनाथ के अनुसार संकेत केवल जाति आदि उपाधियों में ही क्यों होता है? व्यक्ति में संकेत मानने पर किन दोषों की प्राप्ति होती है?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) वह्निना सिञ्चति (आग से सींचता है) वाक्य क्यों नहीं माना जा सकता?

2) अभिधा शक्ति को अग्रिमा या मुख्या शक्ति क्यों कहा जाता है?

3) आसत्ति (सन्निधि) का अभाव होने पर वाक्य रचना में क्या बाधा आती है?

4) द्रव्यवाचक (यदृच्छा) शब्दों के दो उदाहरण दीजिए।

5) प्रसिद्ध पद सामीप्य से संकेतग्रह को एक उदाहरण देकर समझाइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) पदोच्चय (पदों का समूह) वाक्य होने के लिए कितनी शर्तें अनिवार्य हैं?

(क) दो (ख) तीन
(ग) चार (घ) पाँच

2) श्रोता की जिज्ञासा को क्या कहा जाता है?

(क) योग्यता (ख) आसत्ति
(ग) आकांक्षा (घ) संकेत

3) अभिधा शक्ति द्वारा प्राप्त अर्थ को क्या कहते हैं?

(क) लक्ष्यार्थ (ख) वाच्यार्थ
(ग) व्यंग्यार्थ (घ) संकेतार्थ

4) संकेत किन में ग्रहण किया जाता है?

(क) केवल जाति में (ख) केवल व्यक्ति में
(ग) जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में (घ) केवल गुणों में

5) गाम् आनय (गाय लाओ) किस प्रकार के संकेतग्रह का उदाहरण है?

(क) आप्तोपदेश (ख) प्रसिद्ध पद सामीप्य
(ग) व्याकरण (घ) वृद्ध व्यवहार

खण्ड-3

साहित्यदर्पणः द्वितीयपरिच्छेदः समाप्तिपर्यन्तम्

इकाई 3.1 लक्षणाशक्तिनिरूपणम्, लक्षणाभेदा उपादानलक्षणालक्षणलक्षणादयः

उद्देश्य

- अभिधा की सीमाओं को स्पष्ट करना और यह बताना कि काव्य में अर्थ की गहराई केवल मुख्य अर्थ तक सीमित नहीं है।

- लोक-व्यवहार और कवियों के विशिष्ट प्रयोगों (जैसे गंगा में घर) के पीछे के तार्किक और मनोवैज्ञानिक कारणों को स्पष्ट करना।

परिणाम

- काव्य-सौन्दर्य की वृद्धिः लक्षणा के माध्यम से ही रूपक, अतिशयोक्ति जैसे अलंकारों का दार्शनिक आधार तैयार हुआ।

- अर्थ-विस्तारः पाठक को शब्दों के पीछे छिपे प्रयोजन (जैसे पावनत्व, शीतलता) तक पहुँचने का मार्ग मिला।

- लक्षणा के 80 भेदों (यहाँ प्रारंभिक 16 का उल्लेख है) की तार्किक आधारशिला स्थापित हुई।

(लक्षणाशक्ति-निरुपण)

अथ लक्षणा-

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते ।
रुढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥ ५ ॥

अनुवाद-लक्षणाशक्ति क्या है ?

लक्षणाशक्ति वह शब्द-शक्ति है जो कहीं मुख्यार्थ के बाधित अथवा अनुपपन्न हो जाने पर वहाँ एक ऐसे अर्थ का अवबोधन कराती है जो कि मुख्यार्थ से (सर्वथा असंबद्ध नहीं अपितु) किसी न किसी रूप से सम्बद्ध तो अवश्य रहा करता है किन्तु मुख्यार्थ के स्वभाव से भिन्न स्वभाव का ही हुआ

करता है और ऐसा होने का कारण या तो 'रूढि' (प्रयोग-प्रवाह) है (जो वक्ता के वश में नहीं) या 'प्रयोजन-विवक्षा' (जो वक्ता के अधिकार की बात है)।

(लक्षणा-विवेक)

'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यादौ कलिङ्गादिशब्दो देशविशेषादिरूपे स्वार्थेऽसंभवन् यया शब्दशक्त्या स्वसंयुक्तान् पुरुषादीन् प्रत्याययति, यया च 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ गङ्गादिशब्दो जलमयादिरुपर्थवाचकत्वात्प्रकृतेऽसंभवन् स्वस्य सामीप्यादिसंबन्धसंबन्धिनं तटादिं बोधयति, सा शब्दस्यार्पिता स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा शक्तिर्लक्षणा नाम। पूर्वत्र हेतू रूढिः प्रसिद्धिरेव। उत्तरत्र 'गङ्गातटे घोषः' इति प्रतिपादनालभ्यस्य शीतत्वपावनत्वादिशयस्य बोधनरूपं प्रयोजनम्। हेतुं विनापि यस्य कस्यचित्संबन्धिनो लक्षणेऽतिप्रसङ्गः स्यात्, इत्युक्तम्-'रुढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ' इति।

अनुवाद-उदाहरण के लिये 'कलिङ्ग साहसिकः' 'कलिङ्ग साहसी है' इत्यादि प्रसङ्ग यदि लिये जायें तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि 'कलिङ्ग' आदि शब्द की अभिधाशक्ति के द्वारा 'कलिङ्ग' आदि का जो अर्थ निकलेगा वह 'एक देशविशेष आदि' रूप ही अर्थ होगा और यह अर्थ ऐसा अर्थ होगा जो यहाँ बाधित अथवा अनुपपन्न होगा (क्योंकि अचेतन-कलिङ्ग आदि देश और साहसादिरूप चेतन-धर्म का परस्पर सम्बन्ध कैसा?)। अब जिस शक्ति के द्वारा (ऐसी अनुपपत्ति दूर की जाया करती है और) 'कलिङ्ग' आदि शब्द अपने देशविशेषादिरूप मुख्य अर्थ से संयोगसम्बन्ध से सम्बद्ध पुरुषादिरूप अर्थ का अवबोध करवाया करते हैं शब्द की वह शक्ति है जिसे 'लक्षणाशक्ति' समझा जाना चाहिये। इसी प्रकार ऐसे स्थलों जैसे कि 'गङ्गायां घोषः'-'गंगा पर कुटिया है' आदि में, जहाँ शब्द की अभिधाशक्ति से 'गङ्गा' आदि का अर्थ प्रवाहादिरूप ही निकल सकता है जो कि यहाँ अनन्वित अथवा असंगत प्रतीत हो रहा है (क्योंकि 'गङ्गा'-जलप्रवाह और 'घोष'-कुटिया में आधाराधेयभावरूप सम्बन्ध कैसे स्थापित हो पायेगा?) यह लक्षणाशक्ति का ही महत्व है कि 'गङ्गा' आदि शब्द अपने मुख्यार्थभूत जलप्रवाहादिरूप अर्थ के साथ सामीप्यादि सम्बन्ध से सम्बद्ध 'तटादि' रूप अर्थ की प्रतीति करवाया करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि (अभिधाशक्ति जहाँ शब्द की स्वाभाविक अथवा ईश्वरप्रदत्त शक्ति है, वहाँ) लक्षणा वह शक्ति है जो शब्द की स्वाभाविक शक्ति नहीं और न जिसे ईश्वरप्रदत्त ही कह सकते हैं क्योंकि वह तो एक ऐसी शब्दशक्ति है जिसे काल्पनिक कहा जा सकता है और ऐसा इसलिये क्योंकि यह तो बाधित मुख्यार्थ की शक्ति है जिसे वह शब्द के लिये समर्पित कर दिया करता है। पहले (अर्थात् 'कलिङ्गः साहसिकः' आदि) उदाहरण में लक्षणा का जो हेतु है वह 'रूढि' अथवा प्रयोग-प्रवाह है और दूसरा जो उदाहरण है (अर्थात् गङ्गायां घोषः') उसमें जो लक्षणा का हेतु है वह है शीतलता, पवित्रता आदि की उत्कृष्टता का अवबोधनरूप प्रयोजन है, जो कि 'गङ्गातटे घोषः'-'गंगा के तीर पर कुटिया है' इस प्रकार के प्रयोग में कदापि प्रतीत नहीं हो सकता (क्यों? इसलिये कि शीतलता और पवित्रता आदि की विशेषतायें गङ्गा की धारा की विशेषतायें हैं न कि गंङ्गा के तीर की और 'तीर' का तात्पर्य गङ्गा की धारा से अत्यन्त संयुक्त स्थलभाग ही नहीं अपितु कुछ दूरस्थ भूभाग भी हो सकता

है जहाँ गङ्गा की धारा की शीतलता और पावनता का कोई सम्बन्ध नहीं)। बिना किसी रूढि अथवा प्रयोजनविवक्षा के केवल मुख्यार्थ से यथाकथञ्चित् सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन ही लक्षणारूप शब्दशक्ति का कार्य नहीं है, क्योंकि तब तो किसी भी शब्द का कुछ भी लक्ष्यार्थ निकलने लगेगा! इसलिये (इस बौद्धिक अराजकतता को रोकने के लिये) रूढि अथवा प्रयोजन-विवक्षा को लक्षणा के हेतुरूप से मानना नितान्त आवश्यक है जैसा कि 'रूढेः प्रयोजनाद्वापि' इस कारिकांश से स्पष्ट है ।

केचित्तु 'कर्मणि कुशलः' इति रुढावुदाहरन्ति । तेषामयमभिप्रायः-कुशाँल्लातीति व्युत्पत्तिलभ्यः कुशग्राहिरूपो मुख्योऽर्थः प्रकृतेऽसंभवन् विवेचकत्वादिसाधर्म्यसम्बन्धसम्बन्धिनं दक्षरूपमर्थं बोधयति। तदन्ये न मन्यन्ते । कुशग्राहिरूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात् । अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम् । व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गौः शेते' इत्यत्रापि लक्षणा स्यात् । 'गमेर्डोः' (उणादि-२।६७) इति गम्धातोर्डोप्रत्ययेन व्युत्पादितस्य गोशब्दस्य शयनकालेऽप्रयोगात् ।

लक्षणा के रूढिरूप हेतु का उदाहरण कुछ लोग (अर्थात् काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट) 'कर्मणि कुशलः' (कार्य में दक्ष) दिया करते हैं और इसका यह अभिप्राय बताया करते हैं-यहाँ 'कुशल' शब्द लाक्षणिक शब्द है क्योंकि इस शब्द की 'कुशान लाति (छिनत्ति) इति कुशलः' इस व्युत्पत्ति से सिद्ध जो 'कुश उखाड़ने वाला' यह मुख्य अर्थ है वह यहाँ असङ्गत और अनुपपन्न है और इस असङ्गति अथवा अनुपपत्ति के निराकरण में यह शब्द 'दक्ष' अथवा 'निपुण' रूप लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन किया करता है क्योंकि इस शब्द के 'कुशोत्पाटक' रूप मुख्यार्थ और 'दक्ष' अथवा 'निपुण' रूप लक्ष्यार्थ में एक सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध 'साधर्म्य' का सम्बन्ध है क्योंकि कुश उखाड़ने वाले में जैसी विवेचकता हुआ करती है वैसी ही विवेचकता किसी कार्य के सुचारु रूप से सम्पादन करने वाले में भी आवश्यक है।'

किन्तु दूसरे लोग (जिनके साथ साहित्यदर्पणकार भी सहमत हैं) यहाँ यह सब ठीक नहीं समझते और उनका ऐसा समझना उचित भी है क्योंकि भले ही 'कुशल' शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ 'कुश का उखाड़ने वाला' हो, इसका जो प्रसिद्ध अर्थ है वह तो 'दक्ष' अथवा 'निपुण' ही है। क्योंकि बात यह है कि शब्दों की व्युत्पत्ति और शब्दों की प्रवृत्ति (व्यवहार) के निमित्त एक नहीं अपितु भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। (इस प्रकार 'कुशल' शब्द की व्युत्पत्ति-प्रकृति-प्रत्यय-विभागकल्पना से 'कुशोत्पाटक' अर्थ भले ही निकला करे किन्तु इस शब्द का व्यवहार तो एकमात्र 'दक्ष' अथवा 'निपुण' अर्थ में ही हुआ करता है। इसमें क्या प्रमाण कि व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ ही मुख्यार्थ हो और वह अर्थ जो प्रवृत्तिनिमित्तक हो मुख्यार्थ न हुआ करे ! इससे यही सिद्ध है कि 'कुशल' शब्द का मुख्यार्थ दक्ष' है।) क्योंकि व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ ही यदि सर्वत्र मुख्यार्थ हुआ करे तब तो 'गौः शेते'-'गौ सोती है' यहाँ भी लक्षणा ही हुआ करेगी क्योंकि 'गौ' शब्द की व्युत्पत्ति है-'गच्छतीति गौः', जिसमें गमनार्थक 'गम्लृ' (गम्) धातु से 'गमेर्डोः' इस उणादि (२-६७) सूत्र के अनुसार 'डो' प्रत्यय लगा हुआ है जिससे इसका वाचकरूप से प्रयोग तभी उचित है जब कि गो चलती रहा करे । गाय-बैल के लिये

उनके सोते समय तो 'गो:' शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता (और यदि होता है और अवश्य होता है, तब तो यही मानना पड़ेगा कि 'गौः शेते' आदि प्रयोग लाक्षणिक प्रयोग हैं) ।

(लक्षणा के भेद-प्रभेद तथा प्रथम उपादानलक्षणा)

तद्भेदानाह-

मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये ।

स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा ॥ ६ ॥

अनुवाद-जिस शक्ति के द्वारा किसी शब्द का मुख्यार्थ, किसी वाक्यार्थ में, अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना भी, अपने अन्वय अर्थात् अन्य पदार्थ के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध की सिद्धि के लिये, अपने से भिन्न किसी अर्थ का आक्षेप अथवा प्रत्यायन किया करता है वह शक्ति 'उपादानलक्षणा' कही जाया करती है ।

रूढावुपादानलक्षणा यथा-'श्वेतो धावति' । प्रयोजने यथा-'कुन्ताः प्रविशन्ति' । अनयोर्हि श्वेतादिभिः कुन्तादिभिश्चाचेतनतया केवलैर्धावनप्रवेशनक्रिययोः कर्तृयान्वयमलभमानैरेतत्सिद्धये आत्मसम्बन्धिनोऽश्वादयः पुरुषादयश्चाक्षिप्यन्ते । पूर्वत्र प्रयोजनाभावाद्रूढिः, उत्तरत्र तु कुन्तादीनाम. तिगहनत्वं प्रयोजनम् । अत्र च मुख्यार्थस्यात्मनोऽप्युपादानम् । लक्षणलक्षणायां तु परस्यैवोपलक्षण ामित्यनयोर्भेदः । इयमेवाजहस्वार्थेत्युच्यते ।

अनुवाद-यह उपादानलक्षणा 'रूढि' अथवा प्रयोग-प्रवाह की दृष्टि से 'श्वेतो धावति-'सफेद' दौड़ रहा है' इत्यादि प्रसङ्गों में और 'प्रयोजन' अथवा अभिप्राय-विशेष के प्रकाशन की दृष्टि से 'कुन्ताः प्रविशन्ति-'भाले प्रवेश कर रहे हैं'-इत्यादि प्रसङ्गों में देखी जा सकती है। यहां पहले अर्थात् 'श्वेतो धावति' और दूसरे अर्थात् 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादि उदाहरणों में यह स्पष्ट है कि 'श्वेत' (सफेद रंग) और 'कुन्त' (भाला) दोनों चेतना शून्य वस्तुएँ हैं और इसलिये अपने आप में न तो 'श्वेत' ही दौड़ने की क्रिया के कर्ता के रूप में सम्बद्ध प्रतीत हो सकता है और न 'कुन्त' को ही प्रवेश करने की क्रिया के कर्ता के रूप में समन्वित समझा जा सकता है। अब इन वाक्यों में 'श्वेत' और 'कुन्त' रूप पदार्थों के दौड़ने और प्रवेश करने की क्रियाओं के कर्ता के रूप में समन्वित होने के लिए यह आवश्यक है कि ये अपने से भिन्न किन्तु किसी न किसी सम्बन्ध (समवाय अथवा संयोग से सम्बद्ध अर्थों जैसे कि 'घोड़े' और 'मनुष्य' आदि का आक्षेप अथवा प्रत्यायन करा दें । यहां पहला अर्थात् 'श्वेतो धावति' आदि उदाहरण तो रूढि में उपादानलक्षणा का उदाहरण है क्योंकि इसमें किसी अभिप्रायविशेष का प्रकाशन नहीं किया जा रहा (इस प्रकार की भाषा तो वस्तुतः प्रतिदिन के व्यवहार में दिखायी दिया करती है) है। किन्तु दूसरे अर्थात् 'कुन्ताः प्रविशन्ति' आदि के सम्बन्ध में तो यह स्पष्ट ही है कि यहाँ एक अभिप्राय-विशेष का प्रकाशन किया जा रहा है और वह अभिप्राय-विशेष है-'कुन्तों (भालों) की अतिगहनता-किसी घने जंगल के वृक्षों की सी असंख्येयता' (जिसके देखते लोग भाग खड़े हों)।

‘उपादानलक्षणा’ इस नाम से ही यह सिद्ध है कि इस लक्षणा में शब्द का मुख्यार्थ अपने से भिन्न अर्थ को तो लक्षित किया ही करता है किन्तु अपने आप को भी छोड़ा नहीं करता। वस्तुतः इसीलिए यह लक्षणा, ‘लक्षणलक्षणा’ से, (जिसका अभी प्रतिपादन किया जायगा) जिसमें शब्द का मुख्यार्थ, अपने आप को छोड़कर अपने से भिन्न अर्थ को ही केवल लक्षित किया करता है, सर्वथा भिन्न प्रकार की लक्षणा हुआ करती है। ‘उपादानलक्षणा’ को ही ‘अजहत्स्वार्था वृत्ति’ भी कहते हैं (क्योंकि ‘उपादान’-मुख्यार्थ का अपने स्वरूप को ग्रहण किये रहना और ‘स्वार्थ का परित्याग न करना’ दोनों एक ही बातें हैं) ।

(द्वितीय लक्षणलक्षणा)

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये ।

उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा ॥ ७ ॥

अनुवाद-जिस शक्ति के द्वारा किसी शब्द का मुख्यार्थ, किसी वाक्यार्थ में, अपने स्वरूप का इसलिये सर्वथा परित्याग कर दिया करता है जिससे वहां उससे भिन्न (किन्तु किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध) किसी अर्थ का युक्तियुक्त समन्वय स्थापित हो जाय और ऐसा करते हुए वह (मुख्यार्थ) एकमात्र लक्ष्यार्थ का उपलक्षक बन जाया करता है, वह शब्दशक्ति ‘लक्षणलक्षणा’ कही जाया करती है।

(उदाहरण-निरुपण **)**

रूढिप्रयोजनयोर्लक्षणलक्षणा यथा-‘कलिङ्गः साहसिकः’ ‘गङ्गायां घोषः’ इति च । अनयोर्हि पुरुषतटयोर्वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये कलिङ्गशब्दावात्मानमर्पयतः ।

अनुवाद-यह लक्षणा भी ‘रूढि’ और ‘प्रयोजन’ दोनों अवस्थाओं में हुआ करती है। जैसे कि रूढि में-‘कलिङ्गः साहसिकः’-‘कलिङ्ग साहसी है’ और प्रयोजन के प्रतिपादनार्थ, जैसे कि-‘गङ्गायां घोषः’-‘यह कुटी अथवा आभीरपल्ली गङ्गा पर है।’ यहाँ पहली अर्थात् ‘रूढलक्षणलक्षणा’ में यह स्पष्ट है कि ‘कलिङ्ग’ शब्द (जिसका मुख्यार्थ एक प्रान्तविशेष-एक जड़ वस्तु-है और इसलिए जिसमें ‘साहस’ जैसे चेतन-पदार्थ के धर्म का समन्वय असंभव है) अपने स्वरूप और स्वभाव को इसलिये सर्वथा छोड़ चुका है जिससे इससे लक्षित होने वाला, इससे सर्वथा भिन्न अर्थ अर्थात् कलिङ्गनिवासी व्यक्तिविशेषरूप अर्थ यहाँ (जैसा कि युक्तियुक्त ही है) समन्वित हो जाय। दूसरी अर्थात् ‘प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा’ में भी यह निःसंदिग्ध है कि ‘गङ्गा’ शब्द (जिसका मुख्यार्थ जल की धारा है जो कि कुटी अथवा आभीरपल्ली के अधिकरण (आधार) होने के कदापि योग्य नहीं) अपने आपको, अपने लक्ष्यार्थ अर्थात् ‘तट’ रूप अर्थ के लिये सर्वथा सौंप चुका है क्योंकि ‘तट’ रूप लक्ष्यार्थ ही यहाँ वाक्यार्थ में युक्तियुक्त हो सकता है जैसा कि वस्तुतः प्रतीत ही हो रहा है (‘गङ्गातटे घोषः’ के बदले ‘गङ्गायां घोषः’ का प्रयोग इसीलिये किया जाया करता है जिसमें गङ्गा की शीतलता और पवित्रता कुटी के वातावररण के रूप में प्रतीत हो जाया करे)।

यथा वा-

'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेवल सदा सखे ! सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ॥'

अथवा निम्न उदाहरण में 'प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा' देख ली जायः-

(किसी कुटिल व्यक्ति के प्रति उसके किसी सहृदय मित्र की मार्मिक उक्ति)-अरे मित्र ! तुमने जो मेरी भलाइयाँ की हैं उनका कहाँ तक बखान करूँ । अरे ! तुमने तो अपना सभी सौजन्य मुझ पर प्रकट कर दिया !! भगवान् करे, बस ऐसे ही आप सौ वर्षों तक जीवन-यापन करते हुए सुखी रहें!!!

अत्रापकारादीनां वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये उपकृतादयः शब्दा आत्मानमर्पयन्ति । अपकारिणं प्रत्युपकारादिप्रतिपादनान्मुख्यार्थबाधो वैपरीत्यलक्षणः सम्बन्धः, फलमप्यपकारातिशयः। इयमेव जहत्स्वार्थेत्युच्यते ।

यहाँ 'उपकृत,' 'सुजनता' आदि शब्द अपने मुख्यार्थ से सर्वथा भिन्न अर्थ जैसे कि 'अपकार,' 'दुर्जनता' आदि के आगे आत्मसमर्पण किये पड़े हैं क्योंकि यहाँ वाक्यार्थ में इन लक्षित अर्थों का ही समन्वय संभव है और युक्तिसिद्ध भी है। यहाँ 'लक्षणा' का स्वरूप इस प्रकार प्रकाशित हो रहा है-(मुख्यार्थबाध) 'उपकृत', 'सुजनता' आदि शब्दों का अपना मुख्यार्थ अनुपपन्न होने से बाधित है, क्योंकि कुटिलता का व्यवहार करने वाले भला कैसे किसी का उपकार और सौजन्यपूर्ण कार्य कर सकते हैं! साथ ही साथ (मुख्यार्थ योग) यहाँ 'उपकार' और 'अपकार', 'सुजनता' और 'दुर्जनता' आदि मुख्य और लक्ष्य अथों में एक सम्बन्ध भी स्पष्ट है जो कि 'वैपरीत्य' रूप सम्बन्ध है। इस प्रकार के प्रयोग का एक प्रयोजन भी है जो कि यहाँ कुटिल मित्र की कुटिलता (और वक्ता की सुजनता) की पराकाष्ठा का प्रतिपादन है ।

यह लक्षणलक्षणा ही 'जहत्स्वार्था वृत्ति' कही जाती है क्योंकि 'लक्षणलक्षणा'-अर्थात् शब्द का स्वार्थसमर्पणपूर्वक परार्थ का प्रतिपादन तथा 'अपने अर्थ को छोड़-छाड़ देना।' दोनों एक ही बातें हैं ।

(उपर्युक्त लक्षणाओं के निमित्त-भेद से अन्य भेद)

आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

ताः पूर्वोक्ताश्चतुर्भेदलक्षणाः ।

अनुवाद-उपर्युक्त लक्षणाओं में भी 'आरोप' और 'अध्यवसान' के कारण दो-दो भेद दिखायी दिया करते हैं ।

यहाँ 'उपर्युक्त लक्षणाओं' का अभिप्राय है-चारों प्रकारों की लक्षणाओं का ।

(सारोपा और साध्यवसाना लक्षणायें)

विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत् ॥ ८ ॥

सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका ।

अनुवाद-वह लक्षणा 'सारोपा' लक्षणा कही जाया करती है जिसमें 'विषय अर्थात् आरोप विषय-जिस पर आरोप किया जाये अपने स्वरूप में विराजमान रहते हुये भी अपने से भिन्न अर्थात् विषयी (अर्थात् आरोप्यमाण-जिसका आरोप किया जाय, उस) के साथ एकरूप-अभिन्न-प्रतीत हुआ करता है। और वह लक्षणा जिसे 'साध्यवसानिका' लक्षणा कहा करते हैं ऐसी हुआ करती है जिसमें 'विषयी' के द्वारा आच्छन्न-स्वरूप 'विषय' के अभेद का अनुभव हुआ करता है ।

विषयिणा अनिगीर्णस्य विषयस्य तेनैव सह तादात्म्यप्रतीतिकृत्सारोपा। इयमेव रूपकालङ्कारस्य बीजम् ।

रूढावुपादानलक्षणा सारोपा यथा-'अश्वः श्वेतो धावति' । अत्र हि श्वेतगुणवान् अश्वोऽनिगीर्णस्वरूपः स्वसमवेतगुणतादात्म्येन प्रतीयते ।

अनुवाद-लक्षणा के 'सारोपा' होने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की लक्षणा आरोप के विषय और उसके विषयी में ऐसा अभेद बतलाया करती है जिसमें 'विषय' का स्वरूप 'विषयी' के द्वारा ढका-ढँकाया नहीं प्रतीत हुआ करता। **यही लक्षणा वस्तुतः रूपक-अलङ्कार का बीज है।** उदाहरण के लिये, रूढि में आरोपगर्भित उपादान लक्षणा (रूढोपादानसारोपा)-'अश्वः श्वेतो धावति' 'सफेद घोड़ा दौड़ रहा है' इत्यादि में देखी जा सकती है। यहाँ सफेद रंग वाला घोड़ा दौड़ रहा है यही अभिप्राय निकला करता है। वस्तुतः बात यह है कि 'सफेद रंग वाला घोड़ा' न कहकर 'सफेद घोड़ा' ही कहा जाया करता है क्योंकि इस प्रकार के प्रयोग की एक रूढि अथवा परम्परा चली आ रही है। साथ ही साथ यहाँ 'श्वेत' शब्द एक रंगविशेष का अभिप्राय रखने के कारण 'दौड़ता है' इस क्रिया के साथ असम्बद्धार्थक सा होकर, इस वाक्यार्थ में समन्वित हो सकने के लिये, अपने मुख्यार्थ को बिना छोड़े भी, अपने से भिन्न (किन्तु समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध) 'श्वेत गुण युक्त' रूप पदार्थ का बोधक हो रहा है और इस प्रकार यहाँ 'उपादान' का सिद्धान्त सर्वथा लागू दिखायी दे रहा है। इसके अतिरिक्त यहाँ 'आरोप' भी स्पष्ट है क्योंकि आरोप के विषय 'अश्व' का स्वरूप विषयी अर्थात् 'श्वेत' से ढका नहीं है (क्योंकि दोनों साक्षात् शब्दतः प्रतिपादित हैं) और तब भी 'अश्व' रूप द्रव्य और उसमें समवायसम्बन्ध से रहने वाला श्वेत रूप गुण दोनों परस्पर अभिन्न रूप से बताये जा रहे हैं (क्योंकि बिना ऐसा हुये 'श्वेत' और 'अश्व' शब्दों का समानाधिकरण्य = समान विभक्ति द्वारा उपादान-कदापि नहीं हो सकता) ।

प्रयोजने यथा-'एते कुन्ताः प्रविशन्ति' ।

अत्र सर्वनाम्ना कुन्तधारिपुरुषनिर्देशात्

प्रयोजन की विवक्षा में, उपादानवती सारोपा लक्षणा (प्रयोजनवती सोपादान सारोपा लक्षणा) इस

प्रकार के प्रयोगों, जैसे कि 'एते कुन्ताः प्रविशन्ति'–'ये भाले प्रवेश कर रहे हैं' आदि में देखी जा सकती है। यहाँ 'आरोप' स्पष्ट है क्योंकि 'एते'–'ये'–इस सर्वनाम शब्द से निर्दिष्ट लोगों (अनिगीर्ण स्वरूप विषय) और 'कुन्ताः'–'भाले' (विषयी) इन दोनों के तादात्म्य (अभेद) का पता चल रहा है (जिससे इस दृश्य की भयावहता बढ़ती प्रतीत हो रही है) ।

रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा यथा–'कलिङ्गः पुरुषो युध्यते' । अत्र कलिङ्गपुरुषयोराधाराधेयभावः सम्बन्धः ।

इसी प्रकार रूढि में आरोप गर्भित लक्षण लक्षणा (रूढ सारोपा लक्षण लक्षणा) ऐसे प्रयोगों, जैसे कि 'कलिङ्गः पुरुषो युध्यते'–'यह कलिङ्ग पुरुष लड़ रहा है' इत्यादि में देखी जा सकती है। जहाँ 'कलिङ्ग' (देश विशेष) और 'पुरुष' में 'आधार' और 'आधेय' का सम्बन्ध होने के कारण 'कलिङ्ग' (विषयी) और 'पुरुष' (विषय) का अभेद भी (समानाधिकरण्य अर्थात् एक विभक्ति के प्रयोग में) स्पष्ट पता चल रहा है (और यह तो निश्चित ही है कि 'कलिङ्ग' शब्द अपने देशविशेष रूप मुख्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर एकमात्र 'कलिङ्ग निवासी' रूप अर्थ का उपलक्षक हो रहा है अन्यथा यहाँ वाक्यार्थ में इसका समन्वय कैसे ?)

प्रयोजने यथा–'आयुर्घृतम्' । अत्रायुष्कारणमपि घृतं कार्यकारणभावसम्बन्ध सम्बन्ध्यायुस्तादात्म्येन प्रतीयते । अन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेणायुष्करत्वं प्रयोजनम् ।

प्रयोजन के प्रतिपादन में आरोप गर्भित लक्षण लक्षणा (प्रयोजनवती सारोपा लक्षण लक्षणा) का उदाहरण है–'आयुर्घृतम्'–'घी आयु है'। यहाँ 'आरोप' का अभिप्राय है–'घृत', जो दीर्घ जीवन का कारण है और 'आयु'–'दीर्घजीवन', जो घृत के सेवन का परिणाम है–दोनों में तादात्म्य अथवा अभेद की प्रतीति (साथ ही साथ यहाँ 'आयु' शब्द अपने मुख्यार्थ (दीर्घ जीवन) का सर्वथा परित्याग कर इस मुख्यार्थ से कार्यकारण–भावरूप सम्बन्ध से सम्बद्ध, 'आयु के कारण' रूप अर्थ का उपलक्षक हो रहा है)। यहाँ जिस उद्देश्यविशेष के बोध के लिये 'आयुर्घृतम्' कहा गया है वह है अन्य पौष्टिक पदार्थो की अपेक्षा घृत की संजीवन शक्ति का आधिक्य ।

यथा वा– राजकीये पुरुषे गच्छति 'राजासौ गच्छति' इति । अत्र स्व स्वामिभावलक्षणः सम्बन्धः । यथा वा– अग्रमात्रेऽवयवभागे 'हस्तोऽयम्' । अत्रावयवावयविभावलक्षणसम्बन्धः । 'ब्राह्मणेऽपि तक्षाऽसौ' । अत्र तात्कर्म्यलक्षणः । इन्द्रार्थासु स्थूणासु 'अमी इन्द्राः' अत्र तादर्थ्यलक्षणः सम्बन्धः । एवमन्यत्रापि । निगीर्णस्य पुनर्विषयस्यान्यतादात्म्यप्रतीति- कृत्साध्यवसाना । अस्याश्चतुर्षु भेदेषु पूर्वोदाहरणान्येव । तदेवमष्टप्रकारा लक्षणा ।

इसी प्रकार मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में अन्यान्य अनेकों सम्बन्ध जहां–तहां दिखाई पड़ा करते हैं जिनके आधार पर लक्षणा टिका करती है जैसे कि जब कोई राज–कर्मचारी जा रहा हो तो लोग कह उठते हैं– 'वह राजा साहब जा रहे हैं' (राजाऽसौ गच्छति)। अब यहां जो बात है वह है 'असौ'–'वह' (राजकर्मचारी) और 'राजा'–दोनों अर्थात् विषय और विषयी का स्पष्टतया अपने–अपने शब्दों द्वारा

उपादान और दोनों में अभेद का प्रत्यायन, जिसका कारण है दोनों का स्वस्वामिभाव रूप सम्बन्ध से सम्बद्ध रहना (इस प्रकार यहां भी सारोपा प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा स्पष्ट दिखायी दे रही है)। अथवा जब केवल अपने या किसी दूसरे के हाथ के अगले हिस्से को लक्ष्य कर कहा जाता है–'यह हाथ' (हस्तोऽयम्) तब भी वस्तुत: रूढ सारोपा लक्षणलक्षणा का ही आश्रय लिया गया प्रतीत होता है क्योंकि 'हाथ' और 'हाथ के अगले हिस्से' में अवयवावयविभाव सम्बन्ध विराजमान है (हाथ तो अवयवी है और उसका अगला हिस्सा उसका अवयव है) जिसके कारण 'अयम्'–'यह' (विषय) और 'हस्त:'–'हाथ' (विषयी) का अभेदारोप स्पष्ट प्रतीत होता है । इसी प्रकार जब तक्षण–कला में कुशल किसी ब्राह्मण के लिये कहा जाता है–'वह तो बढ़ई है (तक्षाऽसौ) तब वहां भी प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा स्पष्ट दिखायी दिया करती है क्योंकि 'असौ'–'वह ब्राह्मण' और 'तक्षा'–'बढ़ई' दोनों में 'तात्कर्म्य' (जो जिसका कार्य न हो उसका उस कार्य में सामर्थ्य) रूप सम्बन्ध विद्यमान है जिसके कारण दोनों में अभेद प्रतीति स्पष्ट है और साथ ही साथ यहाँ निर्दिष्ट व्यक्ति के तक्षण–कौशल के भी प्रकाशित करने का उद्देश्य झलक रहा है। इसी भांति जब यज्ञ में इन्द्र के उद्देश्य से स्थापित 'स्थूणाओं' (स्तम्भों) को लक्ष्य कर कहा जाता है–'अमी इन्द्रा:'–'ये रहे इन्द्र' तब वहां भी प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा ही दिखायी दिया करती है क्योंकि 'अमी' अर्थात् स्थूणाओं (स्तम्भों) और 'इन्द्रा:' 'इन्द्र' दोनों में 'तादर्थ्य' (एक के, दूसरे के उद्देश्य से, प्रतीक रूप से अवस्थान) का सम्बन्ध विराजमान है जिसके कारण दोनों में तादात्म्य की प्रतीति करवायी गयी है और साथ ही साथ इन्द्र की पूज्यता के भाव को स्थूणाओं में प्रतिष्ठित करने का उद्देश्य भी स्पष्ट प्रतीत हो रहा है । इसी भांति के अनेकानेक अन्य प्रयोग हुआ करते हैं जहाँ सारोपा लक्षणलक्षणा का दर्शन किया जा सकता है।

अब वह लक्षणा जिसमें 'अध्यवसान' का सिद्धान्त लागू रहा करता है (साध्यवसाना लक्षणा) ऐसी हुआ करती है जिसमें 'विषयी' के द्वारा अन्तर्हित किये हुये (और इसीलिये शब्दत: अनुपात्त) 'विषय' का 'विषयी' के साथ तादात्म्य अथवा अभेद बताया जाया करता है। इस लक्षणा के चारों प्रकारों को उपर्युक्त सारोपा लक्षणा के उदाहरणों द्वारा समझा जा सकता है।

जैसे कि रूढ़ साध्यवसाना उपादानलक्षणा–'श्वेतो धावति'–'सफेद दौड़ रहा है' प्रयोजनवती साध्यवसाना उपादान लक्षणा 'कुन्ता: प्रविशन्ति'–'भाले प्रवेश कर रहे हैं' । यहां 'श्वेत:' और 'कुन्ता:' ये विषयी तो शब्दत: उपात्त हैं किन्तु 'अश्व:' और 'एते' ये आरोप विषय अन्तर्हित हैं और इसलिये शब्दत: प्रतिपादित नहीं किये गये।

इसी प्रकार रूढ साध्यवसाना लक्षणलक्षणा–'कलिङ्ग: साहसिक:'–'कलिङ्ग साहसी है'–और प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षण–लक्षणा 'गङ्गायां घोष:'–'गङ्गा पर कुटी है' यहां भी 'कलिङ्ग:' और 'गङ्गायां'–ये दोनों 'विषयी' तो विद्यमान हैं किन्तु आरोप विषय जैसे कि 'असौ' और 'अत्र' विद्यमान नहीं । किन्तु दोनों में अभेद का बोध स्वभावत: हो रहा है ।

(निमित्तभेद से उपर्युक्त लक्षणा के भेद शुद्धा और गौणी)

सादृश्येतरसंबन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि ।

सादृश्यात्तु मता गौण्यस्तेन षोडश भेदिताः ॥ ९ ॥

अनुवाद-ये उपर्युक्त अष्टविध (चार प्रकार की सारोपा और चार प्रकार की साध्यवसाना) लक्षणायें भी 'शुद्धा' और 'गौणी'-इन दो भेदों में विभक्त होकर १६ प्रकार की हुआ करती हैं । 'शुद्धा' का अभिप्राय है-उपर्युक्त अष्टविध लक्षणाओं में सादृश्यरूप सम्बन्ध से भिन्न प्रकार के ही सम्बन्ध जैसे कि कार्यकारणभावादिरूप सम्बन्ध का पाया जाना और 'गौणी' का तात्पर्य है उपर्युक्त अष्टविध लक्षण ाओं में सादृश्य सम्बन्ध का ही प्रयोजक होना ।

ताः पूर्वोक्ता अष्टभेदा लक्षणाः । सादृश्येतरसंबन्धाः कार्यकारणभावादयः । अत्र शुद्धानां पूर्वोदाहरणान्येव ।

अनुवाद-यहां कारिका में 'ताः'-'उन' (लक्षणाओं) का अभिप्राय है पूर्वोक्त आठों प्रकारों की (४ प्रकार की सारोपा तथा ४ प्रकार की साध्यवसाना) लक्षणाओं का। 'सादृश्येतरसम्बन्धाः'-'सादृश्य रूप सम्बन्ध से भिन्न प्रकार के सम्बन्धों से सम्बद्ध होने' का तात्पर्य है कार्यकारणभाव आदि-आदि रूप सम्बन्धों से सम्बद्ध होने का । इन लक्षणाओं में 'शुद्धा' लक्षणाओं के तो उदाहरण वे ही हैं जिन्हें अभी-अभी निर्दिष्ट किया जा चुका है (जैसे कि 'अश्वः श्वेतो धावति' आदि।

1-2. रूढावुपादानलक्षणा सारोपा गौणी यथा- 'एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि' । अत्र तैलशब्दस्तिलभवस्नेहरूपं मुख्यार्थमुपादायैव सार्षपादिषु स्नेहेषु वर्तते । प्रयोजने यथा- राजकुमारेषु तत्सदृशेषु च गच्छत्सु 'एते राजकुमारा गच्छन्ति' ।

अब 'गौणी' लक्षणाओं के जो उदाहरण हैं वे ये हैं जैसे कि-रूढि में गौणी सारोपा उपादानलक्षणा-'एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि'-ये वे तेल हैं जो हेमन्तऋतु में सुखकर हुआ करते हैं । यहाँ लक्षणा के उपादानवती (और साथ ही साथ रूढि में गौणी सारोपा) होने का अभिप्राय यह है कि 'तैल' शब्द अपने मुख्य अर्थ अर्थात् तिलों से निकाले गये स्नेहनपदार्थरूप अभिप्राय को बिना छोड़े हुए ही सरसों आदि से निकाले गये स्नेहन पदार्थों का बोधक हो रहा है (क्योंकि तिल और सरसों आदि पदार्थों में स्निग्धता का सादृश्य सर्वविदित है) साथ ही साथ यहाँ रूढि भी स्पष्ट है क्योंकि 'तैल' शब्द प्रायः समस्त स्निग्ध पदार्थों के निचोड़ के लिये व्यवहार किया जाता है । इसके अतिरिक्त 'एतानि' (विषय) और 'तैलानि' (विषयी) दोनों पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट हैं और दोनों में अभेद का भी अनुभव हो रहा है जो कि 'सामानाधिकरण्य' से वस्तुतः प्रतिपादित किया हुआ है) ।

प्रयोजन में गौणी सारोपा उपादानलक्षणा जैसे कि-'एते राजकुमाराः गच्छन्ति'-'ये राजकुमार लोग चले जा रहे हैं'-यह वाक्य। ऐसा वाक्य वस्तुतः राजकुमारों को ही जाते हुए निर्दिष्ट कर नहीं बोला जा रहा, अपितु राजकुमार की तरह दिखने वाले सुन्दर नवयुवकों को भी लक्ष्य कर बोला जा रहा है (यहाँ यह स्पष्ट है कि 'एते' (विषय) और 'राजकुमाराः' (विषयी) दोनों का, पृथक् निर्देश होने से, अभेदारोप किया गया है और ऐसे आरोप में सादृश्यसम्बन्ध के ही एकमात्र निमित्त होने से लक्षणा का

गौणी होना भी स्वयंसिद्ध है। साथ ही साथ यहाँ 'राजकुमारा:' यह शब्द अपने मुख्यार्थ को बिना छोड़े हुए भी अपने मुख्यार्थ से भिन्न सजे-धजे सुन्दर युवकों को लक्षित कर रहा है जिसमें उपादान का स्वरूप स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। ऐसे प्रयोग का एक प्रयोजन यह भी हो सकता है कि निर्दिष्ट लोगों की उत्कृष्ट स्वभाव आदि की ओर संकेत करना)।

3-4. रूढावुपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा- 'तैलानि हेमन्ते सुखानि' । प्रयोजने यथा- 'राजकुमारा गच्छन्ति' ।

रूढि में साध्यवसाना गौणी उपादानलक्षणा जैसे कि-'तैलानि हेमन्ते सुखानि'-'तेल हेमन्त ऋतु में आनन्द दिया करते हैं'।

प्रयोजन में साध्यवसाना गौणी उपादानलक्षणा जैसे कि-'राजकुमारा: गच्छन्ति'-'राजकुमार लोग चले जा रहे हैं' यहाँ दोनों उदाहरणों में रूढि और प्रयोजन प्रतिपादन तो क्रमश: स्पष्ट ही है। तथा 'तैलानि' और 'राजकुमारा:' (विषयी) के द्वारा 'एतानि' और 'एते' (विषय) का स्वरूप अन्तर्निगीर्ण है जिसमें अध्यवसानमूलक अभेद सिद्ध हो रहा है।

5-6. रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी यथा-'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति' । प्रयोजने यथा-'गौर्वाहीक:' ।

रूढि में गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा जैसे कि-'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति'-'राजा अपने कांटे गौडराज को उखाड़ रहा है' । [यहाँ 'कण्टक' शब्द अपना आत्मसमर्पण कर रहा है क्योंकि बिना ऐसा किये यहाँ के वाक्यार्थ में 'गौडेन्द्र' शब्द की संगति नहीं बैठ सकती। भला 'कण्टकम्' और 'गौडेन्द्र'-में कैसा सामानाधिकरण्य ! यह सामानाधिकरण्य तो गौडराज और कांटे में दु:खदायी होने के सादृश्य के ही कारण संभव है। इस प्रकार 'कण्टक' शब्द वस्तुत: 'दु:खद नीच शत्रु'-इस अर्थ का ही उपलक्षक मात्र है (गौणी लक्षणलक्षणा) । यहाँ रूढि है क्योंकि क्षुद्र शत्रु के लिये 'कण्टक' शब्द प्रयोगप्रवाह में पड़ निकला है । साथ ही साथ पृथ्क्-पृथक् निर्दिष्ट 'कण्टकम्' (विषयी) और 'गौडेन्द्रम्' (विषय) दोनों में तादात्म्य अथवा अभेद भी प्रतीत ही हो रहा है-सारोपा लक्षणा] ।

प्रयोजन में, गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा जैसे कि-'गौर्वाहीक:'-'वाहीक (व्यक्ति) बैल है। पंजाब का एक नाम वाहीक भी है-

पञ्चानां सिन्धुषष्ठानामन्तरालेषु ये स्थिता।

वाहीका नाम ते देशा न तत्र दिवसं वसेत्॥

(यहाँ गौ:-'बैल' और 'वाहीक'- किसी व्यक्ति'-में मूर्खता का सादृश्य होने से गौणी लक्षणा का स्वरूप स्पष्ट दिखायी दे रहा है । इस प्रकार के प्रयोग से उस व्यक्ति की अत्यधिक मूर्खता का प्रकाशन ही यहाँ वक्ता का प्रयोजन है। साथ ही 'गौ' शब्द मूर्ख का ही उपलक्षण करने में चरितार्थ है जिसमें लक्षणलक्षणा की रूपरेखा स्पष्ट झलक रही है) ।

7-8. रूढौ लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा- 'राजा कण्टकं शोधयति' । प्रयोजने यथा-'गौर्जल्पति' ।

रूढि में, गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा जैसे कि-'राजा कण्टकं शोधयति'-'राजा कांटे को उखाड़ रहा है' (यहाँ रूढि तो इसलिये है क्योंकि 'कण्टक' शब्द क्षुद्रशत्रु के अर्थ में साधारणतया प्रयुक्त हुआ करता है; साथ ही यहाँ अध्यवसान के सिद्धान्त को भी लागू होते हुए देख सकते हैं क्योंकि 'कण्टक'-इस 'विषयी' के द्वारा 'गौडेन्द्र'-यह विषय अन्तर्निगूढ पड़ा है जिसमें दोनों का सर्वथा भेदाभाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है, इसके अतिरिक्त 'कण्टक' और 'गौडेन्द्र' के बीच लक्षणा-प्रयोजक दु:खदायित्वरूप गुण का सादृश्य भी स्पष्ट है और साथ ही साथ 'कण्टक' शब्द एकमात्र क्षुद्रशत्रु का ही उपलक्षक हो रहा है क्योंकि अपने मुख्यार्थ में तो इसका यहाँ के वाक्यार्थ में, समन्वय होने से रहा) ।

प्रयोजन में, गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा जैसे कि-'गौर्जल्पति'-'बैल बोल रहा है' (यहाँ किसी मूर्ख व्यक्ति को बोलते देख वक्ता ने जो 'गौर्जल्पति' जैसा वाक्य प्रयुक्त किया है उसमें उसका उद्देश्य वस्तुत: उस व्यक्ति की मूर्खता की पराकाष्ठा का ही प्रतिपादन है । निर्दिष्ट व्यक्ति और बैल में मूर्खता के गुण का सादृश्य ही यहां लक्षणा का प्रयोजक है। साथ ही साथ 'गौ' इस विषयी के द्वारा आरोप के विषय 'वाहीक' के स्वरूप के सर्वथा अन्तर्हित होने से लक्षणा का साध्यवसाना होना भी नि:संदिग्ध है । इसके अतिरिक्त 'गौ' शब्द एकमात्र मूर्खरूप अर्थ का ही उपलक्षण है जिसमें 'लक्षण' भी अथवा 'किसी शब्द के, अपने अर्थ से भिन्न अर्थ के लिये, आत्मसमर्पण' का अभिप्राय स्पष्ट प्रतीत हो जाता है)।

अत्र केचिदाहुः-गोसहचारिणो गुणा जाड्यामान्द्यादयो लक्ष्यन्ते । ते च गोशब्दस्य वाहीकार्थाभिधाने निमित्तीभवन्ति । तदयुक्तम्-गोशब्दस्यागृहीतसङ्केतं वाहीकार्थमभिधातुम् अशक्यत्वाद् गोशब्दार्थमात्रबोधनाच्च । अभिधाया विरतत्वाद् विरतायाश्च पुनरुत्थानाभावात् ।

'गौर्वाहीक:' किं वा 'गौर्जल्पति' आदि लाक्षणिक प्रयोगों में लक्षणा के रहस्य के उद्घाटन में विद्वानों का कुछ मतभेद है । जैसे कि कुछ लोगों का कहना है- 'वाहीक बैल है' इस प्रयोग में लक्षणा के द्वारा केवल जड़ता और मन्दता आदि गुणों का ही बोध हो सकता है क्योंकि ये गुण ऐसे हैं जो कि 'गौ' शब्द के मुख्यार्थ के साथ उसके नित्यसंपृक्त धर्म के रूप में विराजमान रहा करते हैं । अब जब कि 'गौ' शब्द अपनी लक्षणाशक्ति के द्वारा जाड्य, मान्द्य आदि गुणों को लक्षित कर चुका तब इन्हीं गुणों की महिमा से यह संभव है कि 'गौ' शब्द की अभिधाशक्ति 'वाहीक' रूप अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ हो जाय क्योंकि वस्तुत: जड़ता, मन्दता आदि के गुण ही तो यहाँ 'गौ' शब्द के 'वाहीक' के अर्थ में व्यवहृत होने के निमित्त (प्रवृत्तिनिमित्त) हैं ।' किन्तु ऐसी बात ठीक नहीं लगती। 'गौ' शब्द अभिधा के द्वारा 'वाहीक' अर्थ का उपस्थापक कदापि नहीं माना जा सकता क्योंकि इस शब्द का इस अर्थ में कहीं कोई संकेत नहीं दिखायी देता। साथ ही साथ 'गो' पद की अभिधा तो अपने मुख्यार्थमात्र के अवबोधन में ही समाप्त हो चुकी है और यहाँ उसके मुख्यार्थ की अनुपपत्ति से ही लक्षणा को प्रोत्साहन मिला है। अब जब एक बार अभिधा की शक्ति समाप्त हो चुकी और उसके पुनरुज्जीवित

होने का कोई कारण नहीं तो फिर 'गो' पद की अभिधा की क्या चर्चा !

अन्ये च पुनर्गोशब्देन वाहीकार्थो नाभिधीयते, किन्तु स्वार्थसहचारिगुणसाजात्येन वाहीकार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते । तदप्यन्ये न मन्यन्ते । तथाहि- अत्र गोशब्दाद्वाहीकार्थः प्रतीयते, न वा ? आद्ये गोशब्दादेव वा ? लक्षिताद्वा गुणाद् ? अविनाभावाद्वा ? तत्र, न प्रथमः, वाहीकार्थेऽस्यासंकेतित्वात् । न द्वितीयः,-अविनाभावलभ्यस्यार्थस्य शाब्देऽन्वये प्रवेशासंभवात् । शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते । न द्वितीयः,-यदि हि गोशब्दाद्वाहीकार्थो न प्रतीयते, तदाऽस्य वाहीकशब्दस्य च सामानाधिकरण्यमसमञ्जसं स्यात् ।

कुछ दूसरे लोगों का यह कहना है 'गौर्वाहीक'-जैसे प्रयोग में ऐसी बात नहीं कि 'गो' पद अपनी अभिधाशक्ति के द्वारा 'वाहीक' रूप अर्थ का बोध करवाया करता है क्योंकि यहाँ तो वस्तुतः 'गो' पद की लक्षणाशक्ति से ही वाहीकरूप अर्थ के साथ संगत वे जाड्य-मान्द्य आदि गुण बताये जाया करते हैं जिनका गो पद के मुख्यार्थ के साथ नित्य संबद्ध जाड्य-मान्द्य गुणों आदि के साथ सादृश्य रहा करता है।' किंतु इस मत से भी कई लोग सहमत नहीं हैं । उनका यहां यह अभिप्राय है-'पहले तो यह निर्णय होना चाहिये कि गो पद से वाहीकरूप अर्थ का बोध होता है या नहीं होता ? यदि ऐसा कहा जाय कि गो पद से वाहीकरूप अर्थ का बोध हुआ करता है तब यह बताना आवश्यक है कि वाहीकरूप अर्थ का बोध क्या केवल गो पद से ही हुआ करता है या गो पद से लक्षित उन जाड्य, मान्द्य आदि गुणों के द्वारा जो कि गो पद के मुख्यार्थ के साथ अपृथक्सिद्धरूप से रहा करते हैं? अब ऐसा तो कहा नहीं जा सकता कि गो पद से ही वाहीकरूप अर्थ का अभिधान हुआ करता है क्योंकि गो पद और वाहीक अर्थ में वाच्यवाचकभाव रूप सम्बन्ध कैसे ! यहाँ यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं कि गो पद से लक्षित जाड्य, मान्द्य आदि गुण ही गो पद के द्वारा वाहीक रूप अर्थ के अभिधान में प्रवृत्तिनिमित्त बना करते हैं क्योंकि आक्षेपतः प्रतीत होने वाले, गो पद के मुख्यार्थ से नित्यसम्बद्ध जाड्य, मान्द्य आदि गुण यहाँ शाब्दबोध में क्यों समाविष्ट मान लिये जायें? शाब्दबोध का तो सिद्धान्त ही यह है कि शब्द से सम्बद्ध आकांक्षा शब्द से ही पूर्ण की जाय (न कि अर्थ के आक्षेप अथवा अध्याहार से) ! यहाँ इन झंझटों से यह कह कर नहीं बचा जा सकता कि गो पद से वाहीक रूप अर्थ का बोध नहीं हुआ करता । क्योंकि जब गो पद से वाहीक रूप अर्थ की प्रतीति ही नहीं हो सकती तब 'गौः और वाहीकः' में सामानाधिकरण्य कैसे ?

तस्मादत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वादि- साधर्म्यसंबन्ध ाद् वाहीकार्थं लक्षयति । वाहीकस्याज्ञत्वाद्यतिशयबोधनं प्रयोजनम् । इयं च गुणयोगाद् गौण ीत्युच्यते । पूर्वा तूपचारामिश्रणाच्छुद्धा ।

उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्। यथा-'अग्निर्माणवकयोः' । शुक्लपटयोस्तु नात्यन्तं भेदप्रतीतिः, तस्मादेवमादिषु शुद्धैव लक्षणा ।

अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यही है कि यहाँ अभिधा से 'गौः और वाहीकः' में कोई सम्बन्ध नहीं

स्थापित हो सकता। यह तो लक्षणा की ही शक्ति है जो यहां मूर्खता आदि के सादृश्य को अपना प्रयोजक बनाकर गो पद से वाहीकरूप अर्थ को लक्षित किया करती है। यहां लाक्षणिक गो पद के प्रयोग में वक्ता का एक उद्देश्य छिपा है और वह है-वाहीक की अत्यधिक मूर्खता का अवबोधन। लक्षणा के 'गौणी' कहे जाने का ही यह अभिप्राय है कि इस प्रकार की लक्षणा में, शब्द के मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में जो सम्बन्ध रहा करता है वह साधर्म्य अथवा सादृश्यरूप ही योग हुआ करता है। गौणी के अतिरिक्त जो लक्षणा है अर्थात् शुद्धा को इसीलिये 'शुद्धा' कहते हैं क्योंकि उसमें किसी प्रकार के 'उपचार' का अभिप्राय नहीं रहा करता।

'उपचार' क्या है? 'उपचार' है-दो सर्वथा भिन्न पदार्थों में, उनके अधिकाधिक साधर्म्य अथवा सादृश्य के कारण, उनकी परस्पर भिन्नता की प्रतीति का स्थगित हो जाया करना। जैसे कि 'अग्निर्माणवकः' इत्यादि प्रयोगों में 'अग्नि' और 'माणवक' (बालक) रूप पदार्थों में, तेजस्विता आदि के गुणों के सादृश्य के कारण, परस्पर भिन्नता की प्रतीति स्थगित है (क्योंकि बिना ऐसा हुये दो भिन्नार्थक पदों में सामानाधिकरण्य कैसे दिखाई दे!)। इसका यह अभिप्राय नहीं कि जहां भी सामानाधि करण्य हो वहां 'उपचार' ही रहा करे। 'शुक्लः पटः' में सामानाधिकरण्य है किन्तु 'उपचार' नहीं क्योंकि यहां 'शुक्ल' और 'पट' रूप पदार्थ (गुण और द्रव्य होने के नाते) भले ही भिन्न हों किन्तु ऐसे परस्पर सर्वथा भिन्न नहीं जैसे कि 'अग्नि' और 'माणवक' रूप पदार्थ हैं। इसलिये 'शुक्लः पटः' आदि प्रयोगों में गौणी की कोई संभावना नहीं अपितु केवल शुद्धा लक्षणा ही मानी जाती है (गौणी लक्षणा तो वस्तुतः 'उपचार' पर निर्भर है)।

(प्रयोजनवती लक्षणाओं के भेद : गूढव्यङ्ग्या और अगूढव्यङ्ग्या लक्षणाओं के दृष्टान्त)

व्यङ्ग्यस्य गूढागूढत्वाद् द्विधा स्युः फललक्षणाः ॥ १० ॥

प्रयोजने या अष्टभेदा लक्षणा दर्शितास्ताः प्रयोजनरूपव्यङ्ग्यस्य गूढागूढतया प्रत्येकं द्विधा भूत्वा षोडश भेदाः । तत्र गूढः, काव्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धिविभवमात्रवेद्यः । यथा-'उपकृतं बहु तत्र-' इति । अगूढः, अतिस्फुटतया सर्वजनसंवेद्यः । यथा-

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥'

अत्र 'उपदिशति' इत्यनेन 'आविष्करोति' इति लक्ष्यते । आविष्कारातिशयश्चाभिधेयवत्स्फुटं प्रतीयते।

अनुवाद-उपर्युक्त आठों प्रकारों की प्रयोजनवती लक्षणाओं के भी दो-दो भेद स्पष्ट हैं-(१) गूढ (प्रयोजन) व्यंग्या लक्षणायें और (२) अगूढ (प्रयोजन) व्यंग्या लक्षणायें।

प्रयोजनवती लक्षणाओं के द्विविध भेद का तात्पर्य यह है-

आठ प्रकार की जो प्रयोजनवती लक्षणायें बतायी जा चुकी हैं उनमें प्रयोजन रूप व्यङ्ग्यार्थ के गूढ (सहृदयजनसंवेद्य) और अगूढ (सर्वजनसंवेद्य) होने के कारण, प्रत्येक के दो-दो भेद हुआ करते

हैं जिससे इनके सोलह भेद सिद्ध होते हैं।

प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ के 'गूढ' होने का अभिप्राय है उसके एकमात्र ऐसे व्यक्तियों के द्वारा वेद्य होने का जिनकी बुद्धि काव्यार्थतत्त्व के सतत मनन-चिन्तन से परिपक्व हो चुकी है। गूढव्यङ्ग्या लक्षणा के उदाहरण के लिये-'उपकृतं बहु तत्र' आदि सूक्ति पर्याप्त है, जहाँ सहृदयों को वक्ता की उदारहृदयता की सूक्ष्म प्रतीति स्वभावतः हुआ करती है। प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ के 'अगूढ' होने का तात्पर्य है उसके सभी लोगों के द्वारा अत्यन्त स्फुटतया प्रतीत हो जाने का, जैसा कि-

'यौवन का मद ही रमणियों को समस्त हाव-भावों का उपदेश दिया करता है' इत्यादि सूक्ति में स्पष्ट है जहाँ 'उपदिशति' (उपदेश दिया करता है) का अभिप्राय 'आविष्करोति' (प्रकट किया करता है) निकला करता है (जो कि वाच्य नहीं अपितु लक्ष्यरूप अर्थ है) और जहाँ वक्ता का प्रयोजन अर्थात् हावभावों के प्रकाशन की विचित्रता और पूर्णता का अभिप्राय वाच्यार्थ की भाँति अत्यन्त स्पष्ट है ।

(प्रयोजनवती लक्षणाओं में धर्मिगत और धर्मगत प्रयोजन के निदर्शन)

धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता अपि द्विधा ।

एता अनन्तरोक्ताः षोडशभेदा लक्षणाः फलस्य धर्मिगतत्वेन धर्मगतत्वेन च प्रत्येकं द्विधा भूत्वा द्वात्रिंशद्भेदाः । दिङ्मात्रं यथा-

'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्वलाकाघना
वताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥'

अत्रात्यन्तदुःखसहिष्णुरूपे रामे धर्मिणि लक्ष्ये तस्यैवातिशयः फलम् । 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटे शीतत्वपावनत्वरूपधर्मस्यातिशयः फलम् ।

अनुवाद-ये उपर्युक्त १६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणायें भी अपने व्यङ्ग्यरूप प्रयोजन के धर्मिगत और धर्मगत होने के कारण दो-दो भेदों में विभक्त हो जाती हैं ।

इन अभी-अभी प्रतिपादित १६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणाओं में प्रत्येक के पुनः द्विविध होने का अभिप्राय है इनमें प्रत्येक में व्यङ्ग्यरूप से विराजमान प्रयोजन के धर्मिगत और धर्मगत दो रूपों में प्रतीत होने का, जिसके कारण इन लक्षणाओं के ३२ भेद बन गये । संक्षिप्त निदर्शन के लिये यह सूक्ति पर्याप्त है-

मैं तो राम ठहरा ! भले ही विहार करती बकपंक्ति से भरे बादल अपनी स्निग्ध श्यामल कान्ति

से आकाश को रँगते हुये उमड़ पड़ें, भले ही शीतल मन्द समीर चतुर्दिक् झूमती चले और भले ही मेघों के प्रेमी मयूरों की मादकताभरी केकाध्वनि सर्वत्र गूंज उठे, मैं तो यह सब कुछ सह लूंगा ! मेरा हृदय तो पत्थर का ठहरा ! लेकिन सुकुमार, कोमल हृदय वाली सीता क्या करेगी? हा देवि ! सीते ! धीरज धरना !'

यहाँ जो प्रयोजन अभिव्यक्त हो रहा है अर्थात् एक के बाद एक अनेकों दुःखों के सहन करते-करते दुःख की पीडा से शून्य-चेतन एक संकटापन्न व्यक्तित्व, वह धर्मिगत है क्योंकि यह वस्तुतः अनेकानेक दुःखों के सहन करने वाले रामरूप धर्मी-यहाँ 'राम' पद का एक मात्र अर्थ दुःखों का भोगने वाला ही है-को ही सहृदयों के हृदयपटल पर उत्कटता से अंकित कर देता है। प्रयोजन का धर्मगत होना 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में देखा जा सकता है जहाँ शैत्य और पावनत्व धर्मों पर ही सहृदयों का ध्यान ठहरता है न कि तटरूप धर्मी पर जो कि 'गङ्गा' शब्द का लक्ष्यार्थ है।

(लक्षणा के ४० भेदों का निरूपण)

तदेव लक्षणभेदाश्चत्वारिंशन्मता बुधैः ॥ ११ ॥

रूढावष्टौ फले द्वात्रिंशदिति चत्वारिंशल्लक्षणाभेदाः ।

अनुवाद-इस प्रकार जैसा कि काव्याचार्यों का मत है, लक्षणा के ४० भेद सिद्ध होते हैं। ८ प्रकार की रूढ लक्षणायें तथा ३२ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणायें = ४० प्रकार की लक्षणायें।

(एक अन्य निमित्त से लक्षणा के ८० भेद तथा उपसंहार)

किञ्च-

पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

ता अनन्तरोक्ताश्चत्वारिंशद्भेदाः । तत्र पदगतत्वे यथा-'गङ्गायां घोषः' । वाक्यगतत्वे यथा-'उपकृतं बहु तत्र' इति । एवमशीतिप्रकारा लक्षणाः ।

अनुवाद-उपर्युक्त ४० प्रकार की लक्षणायें, 'पदगत' और 'वाक्यगत' अभी-अभी प्रतिपादित ४० प्रकार की लक्षणाओं का । अब लक्षणा के 'पदगत' होने का उदाहरण तो 'गङ्गायां घोषः' रहा (जहां 'गङ्गा' यह एक पद लाक्षणिक है) और उसके 'वाक्यगत' होने के उदाहरण के रूप में 'उपकृतं बहु तत्र' आदि सूक्ति पूर्वोद्धृत है ही जहां अनेकानेक पदों में विपरीत लक्षणा विराज रही है। इस प्रकार लक्षणा के सब मिला कर ८० प्रकार अवश्यमेव सिद्ध हैं ।

स्मरणीय बिंदु

- लक्षणा के तीन अनिवार्य कारण:
- मुख्यार्थबाध: मुख्य अर्थ का तालमेल न बैठना।
- तद्योग: मुख्य अर्थ और लक्ष्य अर्थ में कोई संबंध होना।
- रूढ़ि या प्रयोजन: परंपरा से वैसा प्रयोग होना या कोई विशेष उद्देश्य होना।

- उपादान बनाम लक्षण-लक्षणा: उपादान (अजहत्स्वार्था) में शब्द अपना अर्थ नहीं छोड़ता (जैसे- कुन्ता: प्रविशन्ति = भालेधारी पुरुष), जबकि लक्षण-लक्षणा (जहत्स्वार्था) में मुख्य अर्थ पूरी तरह छूट जाता है (जैसे- गंगा का तट)।

- सारोपा बनाम साध्यवसाना: सारोपा में उपमेय (विषय) और उपमान (विषयी) दोनों का स्पष्ट उल्लेख होता है (आयुर्घृतम्), जबकि साध्यवसाना में उपमान उपमेय को निगल जाता है (गौर्जल्पति)।

- शुद्धा बनाम गौणी: सादृश्य (समानता) के आधार पर गौणी होती है और सादृश्येतर संबंधों (जैसे कार्य-कारण) के आधार पर शुद्धा होती है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) लक्षणा की परिभाषा देते हुए उसके प्रमुख तीन हेतुओं (कारणों) की सोदाहरण विवेचना कीजिए।

2) उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा में क्या अंतर है? कुन्ता: प्रविशन्ति और गङ्गायां घोष: के उदाहरणों से सिद्ध कीजिए।

3) सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उनके भेदों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) रूढ़ि और प्रयोजन लक्षणा के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए।

2) गौर्वाहीक: में गौणी लक्षणा क्यों मानी गई है?

3) जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था पदों का अर्थ बताइए।

4) आयुर्घृतम् में कौन सा संबंध (तद्योग) काम कर रहा है?

5) गूढ़ और अगूढ़ व्यंग्य लक्षणा का एक-एक उदाहरण दीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) मुख्यार्थबाधे तद्युक्तोययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते - यह किस शक्ति का लक्षण है?

(क) अभिधा (ख) लक्षणा
(ग) व्यंजना (घ) तात्पर्य

2) गङ्गायां घोषः में लक्षणा का प्रयोजन क्या है?

(क) जल का ज्ञान (ख) मछली पकड़ना
(ग) शीतलता और पावनत्व (घ) केवल तट

3) जहाँ सादृश्य (समानता) संबंध हो, वहाँ कौन सी लक्षणा होती है?

(क) शुद्धा (ख) गौणी
(ग) उपादान (घ) रूढ़ि

4) कुन्ताः प्रविशन्ति किस लक्षणा का उदाहरण है?

(क) लक्षण-लक्षणा (ख) उपादान लक्षणा
(ग) सारोपा (घ) साध्यवसाना

5) आचार्य विश्वनाथ ने लक्षणा के कुल कितने भेदों की ओर संकेत किया है (संपूर्ण परिच्छेद के अंत तक)?

(क) 16 (ख) 32
(ग) 64 (घ) 80

इकाई-3.2

व्यञ्जनाशक्तिनिरूपणम्, व्यञ्जनाभेदाः शाब्दीव्यञ्जनार्थीव्यञ्जनादयः

उद्देश्य

- अभिधा और लक्षणा की सीमाओं को सिद्ध करना कि वे केवल नियत अर्थ दे सकती हैं, चमत्कारिक अर्थ नहीं।
- काव्य में व्यंग्य की प्रधानता स्थापित करना, जो ध्वनि संप्रदाय का आधार है।
- अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग में आने वाली दुविधा को दूर करने के लिए तार्किक मापदण्ड (संयोगादि) प्रस्तुत करना।

परिणाम

- काव्यगत विलक्षणताः व्यंजना के कारण ही कविता सहृदय के हृदय में रस का संचार करती है।
- शब्द-शक्ति का पूर्ण वर्गीकरणः वाचक-वाच्य, लक्षक-लक्ष्य और व्यंजक-व्यंग्य के त्रैविध्य की स्थापना हुई।
- व्याकरण और साहित्य का समन्वयः यह सिद्ध हुआ कि काव्य में केवल व्याकरण सम्मत अर्थ पर्याप्त नहीं है, बल्कि संदर्भ ही अर्थ का निर्णायक है।

(व्यञ्जनाशक्ति निरूपण)

अथ व्यञ्जना-

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः ॥ १२ ॥

सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।

अनुवाद-व्यञ्जनाशक्ति शब्द और अर्थ आदि की वह शक्ति है जो अभिधा आदि शक्तियों के शान्त हो जाने पर अपने-अपने कार्य कर चुकने के बाद क्षीण सामर्थ्य हो जाने पर एक ऐसे अर्थ का अवबोधन कराती है जो बाध्य, लक्ष्यादिरूप अर्थों से सर्वथा एक विलक्षण प्रकार का अर्थ हुआ करता है।

(व्यञ्जनालक्षण-परिष्कार)

'शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभावः' इति नयेनाभिधालक्षणातात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु यया अपरोऽन्योऽर्थो बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्तिर्व्यञ्जनध्ययनगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जनानाम ।

अनुवाद-यहाँ अभिधादि शक्तियों के शान्त हो जाने का अभिप्राय यह है-एक सामान्य सिद्धान्त है-'शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभावः' अर्थात् एक बार जब शब्द, बुद्धि और कर्म अपना अपना

व्यापार कर चुकते हैं तब फिर उनमें कोई व्यापार नहीं हो सकता । इस सिद्धान्त के अनुसार यह मानना अनिवार्य है कि अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य की शक्तियां जब एक बार अपना-अपना अर्थ उपस्थित कर चुकीं तब फिर किसी अर्थ का उपस्थापन कदापि नहीं कर सकतीं । अब यदि कहीं वाच्य, लक्ष्य और तात्पर्य रूप अर्थों से सर्वथा भिन्न अर्थ प्रतीत हो रहा हो जैसा कि हुआ ही करता है तब यह निश्चित है कि जिस शक्ति के द्वारा वह अर्थ उपस्थापित किया जा रहा है वह शक्ति व्यञ्जनाशक्ति है ।

इस शक्ति को व्यञ्जन कहें, ध्वनन कहें, गमन कहें, प्रत्यायन कहें या और जो चाहें कहें किन्तु इसे अभिधादि से विलक्षण ही मानना पड़ेगा क्योंकि यह शक्ति केवल शब्द की नहीं, किन्तु अर्थ की और अर्थ की ही क्यों प्रकृति की, प्रत्यय की, उपसर्ग की और निपात आदि की शक्ति के रूप में स्फुरित हुआ करती है ।

(व्यञ्जना के प्रकारों का निरुपण : **शाब्दी व्यञ्जना**)

तत्र-

अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा ॥ १३ ॥

अनुवाद-इस व्यञ्जना के सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि शब्द की व्यञ्जना दो प्रकार की हुआ करती है- १. अभिधामूलक व्यञ्जना और २. लक्षणा मूलक व्यञ्जना।

(१. अभिधामूलक व्यञ्जना)

अभिधामूलामाह-

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते ।

एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साऽभिधाश्रया ॥ १४ ॥

अनुवाद-अभिधामूलक व्यञ्जना का निरूपण यह है-अभिधामूलक व्यञ्जना शब्द की वह शक्ति है जो कि संयोगादिरूप अभिधानियामकों में से किसी के द्वारा कही हुई किसी अनेकार्थक शब्द के किसी एक प्राकरणिक अर्थ में नियन्त्रित कर दिये जाने पर एक ऐसे अर्थ को उपस्थित किया करती है जो कि वाच्यार्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थ हुआ करता है ।

आदिशब्दाद्विप्रयोगादयः । उक्तं हि-

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥ इति ॥

अनुवाद-यहां 'संयोगाद्यैः' इत्यादि कथन से अभिधानियामक तत्त्वों में 'संयोग' के अतिरिक्त जिन दूसरे तत्त्वों का समावेश अपेक्षित है उनमें 'विप्रयोग' आदि समझे जाने चाहिये । वस्तुतः इस प्रसङ्ग में (आचार्य भर्तृहरि की) यह सूक्ति स्मरणीय है-

'ऐसे प्रसङ्गों में, जहां किसी (अनेकार्थक) शब्द के अर्थ का परिच्छेद अथवा निर्णय न हो रहा हो, जिन कारणों से किसी अर्थ-विशेष का ज्ञान संभव है वे हैं-संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, शब्दान्तरसान्निध्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि के शब्दार्थ की अखण्डता (अविच्छिन्नता) का विशेष स्मारक रूप हेतु हुआ करता है।

उपर्युक्त शब्दों के अर्थ विशेष स्मारक तत्त्वों के उदाहरण-

'सशङ्खचक्रो हरिः' इति शङ्खचक्रयोगेन हरिशब्दो विष्णुमेवाभिधत्ते ।

(१) **संयोग**-जैसे कि, 'सशङ्खचक्रको हरिः'। यहां अनेकार्थक 'हरि' शब्द का भगवान विष्णु अर्थ इसलिये हो रहा है क्योंकि शङ्ख और चक्र का सम्बन्ध इसी अर्थ में उपपन्न है तथा शङ्ख और चक्र का संयोग विद्यमान है अतः हरि शब्द से यहाँ अन्य अर्थों को जैसे कि यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, सिंह, भेक आदि नहीं लिया जायेगा।

'अशङ्खचक्रो हरिः' इति तद्वियोगेन तमेव ।

(२) **विप्रयोग**-जैसे कि 'अशङ्खचक्रो हरिः'। यहाँ शङ्ख और चक्र के विश्लेष के कारण 'हरि' शब्द एकमात्र विष्णुवाचक ही बन रहा है (क्योंकि जैसे शङ्ख और चक्र का संयोग विष्णु से ही स्वभावतः सिद्ध है वैसे ही इनका विश्लेष अथवा वियोग भी विष्णु से ही संभव है न कि यमादि से)।

'भीमार्जुनो' इति अर्जुनः पार्थः ।

(३) **साहचर्य**-जैसे कि 'भीमार्जुनौ'। यहाँ अर्जुन पद अनेकार्थक है क्योंकि 'अर्जुन' के अर्थ पृथापुत्र पाण्डवप्रवीर और एक वृक्षविशेष-दोनों हैं । किन्तु 'साहचर्य' के कारण अर्थात् 'भीम' पद के भीमसेनरूप और 'अर्जुन' पद के पाण्डवप्रवीर भीमानुज अर्जुनरूप अर्थों में ही सहचरभाव की संगति के कारण 'अर्जुन' पद का अर्थ एकमात्र पृथापुत्र अर्जुन ही हो सकता है (न कि वृक्षविशेष)।

'कर्णाजुनौ' इति कर्णः सूतपुत्रः ।

(४) **विरोधिता**-जैसे कि 'कर्णार्जुनौ'। यहाँ 'विरोधिता' अर्थात् पारस्परिक वैरविरोध के भाव के कारण 'कर्ण' पद का अर्थ केवल सूतपुत्र कर्ण ही हो सकता है न कि कान आदि।

'स्थाणु वन्दे' इति स्थाणुः शिवः ।

(५) **अर्थ**-जैसे कि 'स्थाणुं वन्दे'। यहां 'अर्थ' अर्थात् वन्दना के अर्थ अथवा प्रयोजन की दृष्टि से 'स्थाणु', पद का अभिप्राय एक मात्र भगवान् शिव हो सकता है न कि और कुछ जैसे कि ठूँठ (लकड़ी का स्तम्भ) आदि ।

'सर्वं जानाति देवः' इति देवो भवान् ।

(६) प्रकरण–जैसे कि 'सर्वं जानाति देवः' । यहाँ 'देव' पद, जो कि अनेकार्थक है, प्रकरण के कारण एक मात्र 'आप' इस अर्थ का ही उपस्थापक हो रहा है न कि देवता आदि का।

'कुपितो मकरध्वजः' इति मकरध्वजः कामः ।

(७) **लिङ्ग**–जैसे कि 'कुपितो मकरध्वजः'। यहाँ लिङ्ग अर्थात् मीनध्वजरूप धर्मविशेष के कारण 'मकरध्वज' शब्द का अर्थ एकमात्र 'कामदेव' ही हो सकता है न कि समुद्र आदि क्योंकि समुद्ररूप अर्थ में यह धर्मविशेष साक्षात् संगत नहीं।

'देवः पुरारिः' इति पुरारिः शिवः ।

(८) **शब्दान्तरसान्निध्य**–जैसे कि 'देवः पुरारिः'। यहाँ 'अन्यशब्दसन्निधि' के कारण अर्थात् 'देव' शब्द के समीप्य से 'पुरारिः' पद केवल शिव का ही वाचक हो सकता है न कि किसी शत्रुनगरसंहारक अन्य राजवीर आदि का।

'मधुना मत्तः पिकः' इति मधुर्वसन्तः ।

(९) **सामर्थ्य**–जैसे कि 'मधुना मत्तः पिकः'। यहाँ सामर्थ्य के कारण अर्थात् कोकिल को उन्मत्त बनाने के सामर्थ्य के कारण 'मधु' पद का एकमात्र अर्थ वसन्त ऋतु ही हो सकता है न कि और कुछ जैसे कि दैत्यविशेष, मधु आदि।

'पातु वो दयितामुखम्' इति मुखं सांमुख्यम् ।

(१०) **औचिती**- जैसे कि 'पातु वो दयितामुखम्' । यहाँ औचित्य के कारण अर्थात् कामार्त्त प्रेमी के परित्राण की योग्यता की दृष्टि से 'मुखम्' पद का अर्थ एक मात्र 'साम्मुख्य' अथवा अनुकूलता ही निकल सकता है न कि मुंह जिसमें प्रेमी के परित्राण की कोई योग्यता नहीं।

'विभाति गगने चन्द्रः' इति चन्द्रः शशी।

(११) **देश**–जैसे कि 'विभाति गगने चन्द्रः'। यहाँ 'देश' के कारण अर्थात् आकाशरूप देश अथवा स्थान के विवक्षित होने की दृष्टि से 'चन्द्र' पद जो कि कर्पूर आदि अर्थों का भी वाचक है, एक मात्र 'चन्द्रमा' का अर्थ रख सकता है।

'निशि चित्रभानुः' इति चित्रभानुर्वह्निः ।

(१२) **काल**–जैसे कि 'निशि चित्रभानुः' पद जो कि अग्नि और सूर्य दोनों अर्थों का वाचक है पर यहाँ 'अग्नि' ही अर्थ लिया जायेगा, क्योंकि रात्रि में सूर्य उदित नहीं होता इसलिए।

'भाति रथाङ्गम्' 'रथाङ्गम्' इति नपुंसकव्यक्त्या रथाङ्गं चक्रम् ।

(१३) **व्यक्ति**–जैसे कि 'भाति रथाङ्गम्' । यहाँ 'रथाङ्ग' पद जो कि चक्र और चक्रवाक दोनों

अर्थों जा वाचक है व्यक्ति अर्थात् नपुंसकलिङ्ग के कारण एकमात्र रथ के चक्र (पहिये) का ही अर्थ दे सकता है।

स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृन्न काव्य इति तस्य विषयो नोदाहृतः ।

(१४) **स्वर**-'स्वर' के द्वारा अनेकार्थक पद के अर्थ का निर्णय केवल वेद में ही संभव है न कि काव्य-साहित्य में। स्वर की अर्थ-नियामकता का उदाहरण इसीलिये यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

इदं च केऽप्यसहमाना आहुः- स्वरोऽपि काक्वादिरूपः काव्ये विशेषप्रतीतिकृदेव । उदात्तादिरूपोऽपि मुनेः पाठोक्तदिशा शृङ्गारादिरसविशेषप्रतीतिकृदेव' इति एतद्विषये उदाहरण-मुचितमेव इति, तन्न; तथाहि- स्वराः काक्वादय उदात्तादयो वा व्यङ्ग्यरूपमेव विशेषं प्रत्याययन्ति, न खुलु प्रकृतोक्तमनकार्थशब्दस्यैकार्थनियन्त्रणरूपं विशेषम् । किञ्च यदि यत्र क्वचिदनेकार्थशब्दानां प्रकरणादिनियमाभावादनियन्त्रितयोरप्यर्थयोरनुरूपस्वरवशेनैकत्र नियमनं वाच्यं, तदा तथाविध स्थले श्लेषानङ्गीकारप्रसङ्गः; न च तथा अत एवाहुः श्लेषनिरूपणप्रस्तावे- 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति च नयः, इत्यलमुपजीव्यानां मान्यानां व्याख्यानेषु कटाक्षनिक्षेपेण । आदिशब्दात् 'एतावन्मात्रस्तनी' इत्यादौ हस्तादिचेष्टादिभिः स्तनादीनां कमलकोरकाद्याकारत्वम् ।

किन्तु कतिपय काव्याचार्य यह मानने को तैयार नहीं कि स्वर केवल वेद में ही अर्थ नियामक हुआ करता है। उनका यह कहना है-'स्वर अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार का ध्वनिविकाररूप कण्ठस्वर तो काव्य में अर्थविशेष का परिच्छेदक हुआ ही करता है (क्योंकि भरतनाट्यशास्त्रकार की यही मर्यादा है)। और उदात्तादि रूप स्वर भी, जैसा कि (नाट्यशास्त्रकार) भरतमुनि ने पाठ्य के धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है, शृङ्गारादि भिन्न-भिन्न रस-भावों के प्रत्यायन करने में समर्थ ही हैं। ऐसी परिस्थिति में, काव्य-साहित्य में स्वर की अर्थनियामकता का उदाहरण देना तो उचित ही है।' किन्तु वस्तुतः यह कथन युक्तियुक्त नहीं। क्यों? इसलिये कि ध्वनि विकार अथवा उदात्तादिरूप स्वर भले ही व्यङ्ग्यरूप अर्थविशेष के प्रत्यायक हों, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकल सकता कि इनके द्वारा किसी अनेकार्थक शब्द का किसी एक अर्थ में नियन्त्रण भी, जिसका यहां प्रतिपादन अभीष्ट है, किया जाया करता है। यहां एक और भी बात ध्यान देने की है और वह यह है-किसी श्लिष्ट प्रसङ्ग को लें, जहां प्रकरणादि के द्वारा किसी अनेकार्थक शब्द के अर्थ का निर्णय सम्भव नहीं और उस शब्द के दो अथवा दो से अधिक अर्थ बिना किसी रोकटोक के निकल रहे हों। अब यदि यह कहा जाय कि उस शब्द का पाठ्योचित स्वर उस शब्द के दोनों अर्थों में से किसी एक अर्थ का निर्णायक बन जाया करता है तब तो इसके बदले यही कहा जायगा कि ऐसे प्रसङ्गों में श्लेषालङ्कार नाम की कोई चीज ही नहीं हुआ करती। किन्तु बात तो यह है कि ऐसे प्रसङ्ग श्लेषालङ्कार के ही प्रसङ्ग हुआ करते हैं। वस्तुतः इसीलिये श्लेषालङ्कार-निरूपण के प्रसङ्ग में यह कहा गया है (जैसा कि काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने ही कहा है) 'काव्य का क्षेत्र ऐसा है जहां स्वर का कोई काम नहीं'। अन्ततोगत्वा सिद्धान्त यही निकला कि काव्य में स्वर को अर्थनियामक नहीं माना जा सकता (और इसलिये इसके उदाहरण न दिये जाने की जो बात कही गयी वह ठीक ही कही गयी। इस सम्बन्ध में और भी बहुत कुछ कहा जा सकता

है किन्तु अच्छा है न कहा जाय क्योंकि ऐसा करना प्राचीन प्रामाणिक काव्याचार्यों की समीक्षाओं पर कटाक्ष करना ही होगा।

(१५) स्वर के अतिरिक्त जिन अन्य अर्थनियामक तत्त्वों को 'आदि' शब्द द्वारा समुच्चित किया गया है ('स्वरादयः' इत्यादि में) उनमें चेष्टा अथवा अभिनयमुद्रा आदि अन्तर्भूत हैं। चेष्टा अथवा हाथ आदि की मुद्राओं के द्वारा अर्थ का निर्णय, जैसे कि-'एतावन्मात्रस्तनी' आदि में। यहां हाथ की चेष्टाओं से ही 'एतावत्' शब्द कमलकोरक आदि अभिप्रायों को दिया करता है जिनसे यहां नायिका के स्तनों की रूप-रेखा का निर्देश विवक्षित है।

एवमेकस्मिन्नर्थेऽभिधया नियन्त्रिते या शब्दार्थस्यान्यार्थबुद्धिहेतुः शक्तिः साऽभिधामूला व्यञ्जना। यथा मम तातपादानां महापात्रचतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्गमहाकवीश्वरश्रीचन्द्रशेखर-सांधिविग्रहिकाणाम्-

इस उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि अभिधामूला व्यञ्जना वह शक्ति है जिसके द्वारा किसी शब्द का एक अन्य ही अर्थ निकला करता है और वहाँ निकला करता है जहां उस शब्द की अभिधा (किसी न किसी अभिधा-नियामक तत्त्व के द्वारा) किसी एक अर्थ में नियन्त्रित कर दी गयी होती है। अभिधामूला व्यञ्जना के उदाहरण के रूप में चतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्ग, महाकवीश्वर, महापात्र पूज्य पितृचरण श्रीचन्द्रशेखर सांधिविग्रहिक (सांधिविग्रहिक उस मन्त्री को कहते हैं जो अन्य राजाओं के साथ व्यवहार्य नीति का निर्णय करे और उनके साथ सन्धि या विग्रह कराये) की यह सूक्ति पर्याप्त है-

'दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजं संभीलयंस्तेजसा
प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः ।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रूचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः ॥'

'(दुर्गालङ्घितविग्रहः) जिसकी सामरिक शक्ति को बड़े-बड़े दुर्ग भी नहीं रोक सकते, (मनसिजं तेजसा संमीलयन्) जिसके सौन्दर्य से कामदेव भी परास्त पड़ा है, (प्रोद्यद्राजकुलः) जिसने कितने ही अभ्युदयशील राजगणों को अपना वशवर्ती बना रखा है, (गृहीतगरिमा) जिसके आगे प्राप्त गौरव गाथा भी पराजित रहा करता है, (विष्वग्वृतो भोगिभिः) जिसके चतुर्दिक् महावैभवशाली लोग रहा करते हैं, (नक्षत्रेशकृतक्षणः) जो बड़े-बड़े राजाओं पर भी उपेक्षादृष्टि रखा करता है, (गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्) जिसकी भगवान् शिव में प्रगाढ भक्ति है, (गामाक्रम्यविभूतिभूषिततनुः) और जो कि दिग्विजय करने के कारण अपने समस्त ऐश्वर्य में सुशोभित है वह (उमावल्लभः) महारानी उमा का प्राणपति महाराज श्री भानुदेव (राजति) सदा शोभायमान होते रहें।'

अत्र प्रकरणेनाभिधया उमावल्लभशब्दस्थोमानाम्नीमहादेवीवल्लभभानुदेवनृपतिरूपेऽर्थे नियन्त्रिते व्यञ्जनयैव गौरीवल्लभरूपोऽर्थो बोध्यते । एवमन्यत् ।

यहां अभिधामूला व्यञ्जना इसलिये है क्योंकि प्रकरण ने भले ही 'उमावल्लभ' शब्द को एकमात्र 'उमा नाम की महारानी के पति महाराज श्री भानु देव' के अर्थ में निमन्त्रित कर ही रखा है, किन्तु यह निश्चित है कि इसका यहां एक अन्य ही अर्थ अर्थात् पार्वतीपति शिवरूप अर्थ निकल पड़ता है और अन्त में महाराज भानुदेव और भगवान् शिव का परस्पर औपम्य भी स्पष्ट अभिव्यक्त हो उठता है। इसी भांति इस व्यञ्जना के दूसरे उदाहरण भी देखे जा सकते हैं।

(२. लक्षणामूलक व्यञ्जना)

लक्षणामूलामाह-

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।

यया प्रत्याय्यते सा स्याद् व्यञ्जना लक्षणाश्रया ॥ १५ ॥

अब लक्षणामूलक व्यञ्जना का निरूपण किया जा रहा है- लक्षणामूलक व्यञ्जना वह है जिसके द्वारा उस प्रयोजन का प्रत्यायन करवाया जाया करता है जिसकी दृष्टि से लाक्षणिक पद का प्रयोग हुआ करता है।

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ जलमयाद्यर्थबोधनादभिधायां तटाद्यर्थबोधनाच्च लक्षणायां विरतायां यथा शीतत्वपावनत्वाद्यतिशयादिर्बोध्यते सा लक्षणामूला व्यञ्जना।

लाक्षणिक पद-प्रयोगों में लक्षणामूलक व्यञ्जना के द्वारा प्रयोजन के प्रत्यायन का रहस्य यह है-'गङ्गायां घोषः'-'गंगा पर कुटी' जैसे प्रसंग में, जहां 'गङ्गा' शब्द ऐसा प्रयुक्त है जिसकी अभिधाशक्ति तो प्रवाहरूप अर्थ के अवबोध में ही क्षीण हो चुकी है और लक्षणा का व्यापार सामीप्य-सम्बन्ध की प्रयोजकता अधिक से अधिक तटरूप अर्थ का ही उपस्थापन कर पाता है, यह तो एकमात्र यहां की लक्षणाश्रित व्यञ्जना का ही सामर्थ्य है जिसके द्वारा यहां शीतलता और पवित्रता के सुन्दर वातावरण की उत्कट प्रतीति करवा रही है जिसको लक्ष्य में रखकर 'गङ्गातटे' इस वाचक पद के बदले 'गङ्गायाम्' इस लाक्षणिक पद का व्यवहार हुआ करता है।

(आर्थी व्यञ्जना)

एवं शाब्दीं व्यञ्जनामुक्त्वार्थीमाह-

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः ।

प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च ॥ १६ ॥

वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत् साऽर्थसम्भवा ।

व्यञ्जनेति सम्बध्यते ।

इस प्रकार शाब्दी व्यञ्जना का विश्लेषण करके अब आर्थी व्यञ्जना का विचार किया जा रहा है-

'अर्थसंभवा अथवा आर्थी व्यञ्जना वह व्यञ्जना है जो कि इन निम्नांकित कारणों से किसी अन्य ही अर्थ का बोध कराती है-

१. कारण - वक्तृवैशिष्ट्य

२. " - बोद्धव्यवैशिष्ट्य

३. " - वाक्यवैशिष्ट्य

४. " - अन्यसंनिधिवैशिष्ट्य

५. " - वाच्यवैशिष्ट्य

६. " - प्रस्ताववैशिष्ट्य

७. " - देशवैशिष्ट्य

८. " - कालवैशिष्ट्य

९. " - काकुवैशिष्ट्य

१०. " - चेष्टावैशिष्ट्य

११. " - अन्यान्यवैशिष्ट्य

यहाँ कारिका में 'सा'-'वह' इस सर्वनाम पद के साथ 'व्यञ्जना' इस पद का सम्बन्ध है न कि और किसी का। इस प्रकार वक्तृवाक्यादि अर्थ की प्रतीति जिस शक्ति से होती है वह शक्ति व्यञ्जना शक्ति ही है अन्य कोई शक्ति नहीं। तथा अब इस आर्थीव्यञ्जना के भेदों का विस्तृत वर्णन किया जा रहा है।

तत्र वक्तृवाक्यप्रस्तावदेशकालवैशिष्ट्ये यथा मम-

'कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा

धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः ।

केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्जमञ्जु-

र्दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य ॥'

अत्रैतं देशं प्रति शीघ्रं प्रच्छन्नकामुकस्त्वया प्रेष्यतामिति सखीं प्रति कयाचिद् व्यज्यते ।

जैसे कि वक्तृवैशिष्ट्य, वाक्यवैशिष्ट्य, प्रस्ताववैशिष्ट्य, देशवैशिष्ट्य और काल वैशिष्ट्य के कारण किसी अर्थ के द्वारा अन्य अर्थ के प्रत्यायन में आर्थी व्यञ्जना का स्वरूप इस स्वरचित सूक्ति में स्पष्ट है-

'वसन्त की मादक ऋतु आ पहुँची है, कामदेव की त्यौरियाँ पूर्ण हो गई हैं, रतिश्रम को दूर भगाने वाली हवा बहने लगी है, क्रीडावन भी ऐसा है जिसका अशोककुञ्ज बड़ा मनोहर दीख रहा है और पति भी पास नहीं। अरी सखी! तू ही बता कि अब करूँ भी तो क्या करूँ !'

यहाँ वस्तुतः बात यह है कि कोई नायिका अपनी सखी के प्रति यह अभिप्राय प्रकट करना चाहती है 'यथाशीघ्र तू इस एकान्त स्थान पर मेरे प्रच्छन्नकामुक को भेज' यहाँ पर इस सूक्ति का जो अर्थ है वह आपाततः प्रतीत अर्थ से सर्वथा भिन्न प्रकार का ही अर्थ है किन्तु वक्तृवैशिष्ट्यादि के कारण इसकी प्रतीति अवश्य हो उठती है और इसी में इस सूक्ति का सौन्दर्य भी झलक उठता है।

बोद्धव्यवैशिष्ट्ये यथा-

'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि ! दूति ! बान्धवनजस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥'

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति विपरीतलक्षणया लक्ष्यम् । तस्य च रन्तुमिति व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्यं दूतीवैशिष्ट्याद् बोध्यते ।

बोद्धव्यवैशिष्ट्य के कारण किसी अर्थ के द्वारा अन्यार्थ की प्रतीति, जैसे कि-

'तेरे स्तनों के किनारे ऐसे जिनमें चन्दन का नामोनिशान नहीं बचा ! तेरा अधर ऐसा जिसका रंग बिलकुल फीका हो गया ! तेरी आँखें ऐसी जिनकी कोर में अंजन की हुई काजल न रही और तेरी दुबली-पतली देह ऐसी जो पुलकित हो उठी है ! अरी मुझ सरीखे सखीजन की व्यथा को कुछ न समझने वाली, झूठी दूती ! तू यहाँ से वापी में नहाने के लिये गयी थी, उस नीच के पास भला तू क्यों गई !'

यहाँ पहले तो (अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ में वैपरीत्य रूप सम्बन्ध के रहने से) विपरीतलक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ निकल रहा है-'तू उसी (नीच) के पास गयी थी' और इस लक्ष्यार्थ के द्वारा व्यंग्यार्थ निकल रहा है 'रमण करने के लिये' (गयी थी)। इस प्रकार के व्यंग्यार्थ का बोध यहाँ 'बोद्धव्यवैशिष्ट्य' अथवा प्रतिपाद्य दूती के व्यक्तित्व की विशेषता के ही कारण संभव है ।

अन्यसंनिधिवैशिष्ट्ये यथा-

'उअ णिच्चल णिप्पन्दा, भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ ।
णिम्मलमरगअभाउणपरिट्ठिआ (दा)सङ्खसुत्ति व्व ॥'

[पश्य निश्चलनिस्पन्दा विसिनीपत्रे राजते बलाका ।

निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव ॥]

अत्र बलाकाया निस्पन्दत्वेन विश्वस्तत्वम्, तेनास्य देशस्य विजनत्वम्, अतः संकेतस्थानमेतदिति कयापि संनिहितं प्रच्छन्नकामुकं प्रत्युच्यते । अत्रैव स्थाननिर्जनत्वरूपं व्यङ्ग्यार्थवैशिष्ट्यं प्रयोजनम् ।

अन्य सन्निधिवैशिष्ट्य के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतिपत्ति जैसे कि-

'अरे देखो तो कैसा दृश्य है! कमलिनी के पत्ते पर चुपचाप बैठी यह बलाका (मादा बगुला) ऐसी सुन्दर दीख रही ही है मानो किसी निर्मल नीलम की थाली में शंख शुक्ति (अंजन रखने की शंख की बनी सितुही) पड़ी हो।'

यहाँ बलाका का बिना हिले-डुले बैठने के अभिप्राय से यह व्यंग्यार्थ निकल रहा है कि इस स्थान पर निःशंकता विराज रही है जो वस्तुतः इस व्यंग्यार्थ का व्यञ्जक है कि यह स्थान ऐसा है जहाँ किसी के आने-जाने की संभावना नहीं। यह व्यंग्यार्थ भी अन्ततोगत्वा इस विचित्र व्यंग्यार्थ में लीन हो जाता है कि यही वह स्थान है जो प्रेम-मिलन के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। अब यह अन्तिम व्यंग्यार्थ इसलिये प्रतीत हो रहा है क्योंकि यहाँ 'अन्यसंनिधिवैशिष्ट्य' की व्यंग्यार्थ-प्रयोजकता विराजमान है क्योंकि यहाँ नायिका अपने समीप खड़े प्रच्छन्न प्रेमी के प्रति यह सब कुछ कहना चाह रही है। यहाँ एक और भी बात है और वह यह है कि यहाँ अभिव्यंग्य 'इस स्थान की निर्जनता' का जो अभिप्राय है वह भी (वाच्यवैशिष्ट्य की प्रयोजकता से) उपर्युक्त अन्तिम व्यंग्यार्थ अर्थात् 'यह स्थान ही प्रेम-मिलन का अत्यन्त सुन्दर स्थान है' इस अभिप्राय का ही अभिव्यञ्जक देखा जा सकता है।

'भिन्नकण्ठध्वनिरैः काकुरित्यभिधीयते' इत्युक्तप्रकारायाः काकोर्भेदा आकरेभ्यो ज्ञातव्याः । एतद्वैशिष्ट्ये यथा-

'गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।

अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ ॥'

अत्र नैष्यति, अपि तर्हि एष्यत्येवेति काक्वा व्यज्यते'

काकुवैशिष्ट्य से व्यंग्यार्थ की प्रतीति के उदाहरण के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि 'काकु' (किसी भावावेश अथवा उद्देश्य विशेष के कारण) कण्ठ की बदली ध्वनि को कहा करते हैं और इसके अनेकानेक भेद आकर-ग्रन्थों जैसे कि नाट्यशास्त्र आदि काव्यालंङ्कारशास्त्र के प्रामाणिक आधारभूत ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। काकुवैशिष्ट्य में किसी अर्थ की व्यङ्ग्यार्थप्रत्यायकता यहाँ इस प्रकार है-

अरी सखी ! भौंरों की गुञ्जार और कोयलों की कूक से सुहावने इस वसन्त समय में वे तो नहीं आयेंगे जो कि अपने माता-पिता के अधीन होने के कारण कहीं दूर जाने को उद्यत हैं ?'

इत्यादि सूक्ति में देखी जा सकती है जहां 'नैष्यति' 'नहीं आयेंगे' पर पढ़ने वाली 'काकु अथवा ध्वनि-विकृति' के द्वारा 'एष्यति' 'अवश्य आयेंगे' का अभिप्राय अभिव्यक्त हो उठता है।

चेष्टावैशिष्ट्ये यथा-

'संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।

हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥'

अत्र संध्या संकेतकाल इति पद्मनिमीलनादिचेष्टया कयाचिद् द्योत्यते ।

चेष्टावैशिष्ट्य में किसी अर्थ की व्यङ्ग्यार्थबोधकता जैसे कि-

'नायिका भी कितनी चतुर निकली कि जैसे ही उसने यह देखा कि उसका कामुक प्रेममिलन की बेला को जानने के लिये उत्सुक है वैसे ही उसने अपनी हँसती आंखों के इशारे से अपने हाथ में लिये लीलाकमल की पंखुड़ियों को बन्द कर दिया।'

यहाँ किसी नायिका की, लीलाकमल की पंखुड़ियों के बन्द करने की चेष्टा से यही स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि वह सायंकाल को अपने प्रेम-मिलन का समय बताना चाह रही है।

एवं वक्त्रादीनां व्यस्तसमस्तानां वैशिष्ट्ये बोद्धव्यम् ।

अर्थव्यञ्जकता के उपकरणों के ये उपर्युक्त उदाहरण रहे, इन्हीं के ऐसे भी उदाहरण देखे जा सकते हैं जिनमें या तो ये व्यस्त रूप से (अलग-अलग) या समस्त रूप से (मिले-जुले) व्यङ्ग्यार्थप्रत्यायन के सहायक हुआ करें।

(आर्थी व्यञ्जना के प्रकारत्रय का निरूपण)

त्रैविध्यादियमर्थानां प्रत्येकं त्रिविधा मता ॥ १७ ॥

अर्थानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यत्वेन त्रिरूपतया सर्वा अप्यनन्तरोक्ता व्यञ्जनास्त्रिविधाः । तत्र वाच्यार्थस्य व्यञ्जना यथा-'कालो मधुः-' इत्यादि । लक्ष्यार्थस्य यथा- 'निःशेषच्युतचन्दनम्'- इत्यादि । व्यङ्ग्यार्थस्य यथा-'उअ णिच्चल-' (पश्य निश्चल) इत्यादि । प्रकृतिप्रत्ययादिव्यञ्जकत्वं तु प्रपञ्चयिष्यते ।

ये आर्थी व्यञ्जनायें भी इसलिये तीन प्रकार की हुआ करती हैं क्योंकि व्यञ्जक अर्थ के तीन प्रकार हुआ करते हैं।

अभी जिन आर्थी व्यञ्जनाओं का निरूपण किया जा चुका है उनमें 'प्रकारत्रय' मानना इसलिये उचित है क्योंकि उनके अभिव्यञ्जक अर्थ भी वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य रूप से तीन प्रकार के हुआ करते हैं। जैसे कि १. वाच्यार्थ की व्यञ्जना- 'कालो मधुः' इत्यादि, २. लक्ष्यार्थ की व्यञ्जा- 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि और ३. व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना- 'उअ णिच्चल' (पश्य निश्चल) इत्यादि

। इसके अतिरिक्त प्रकृति की व्यञ्जना, प्रत्यय की व्यञ्जना आदि भी व्यञ्जना के प्रकार ही हैं जिनका विवेचन आगे किया ही जायगा ।

(शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना में अर्थ और शब्द की परस्पर सहकारिता)

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽर्थान्तराश्रयः ।

एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥ १८ ॥

यतः शब्दो व्यञ्जकत्वेऽप्यर्थान्तरमपेक्षते, अर्थोऽपि शब्दम्, तदेकस्य व्यञ्जकत्वेऽन्यस्य सहकारितावश्यमङ्गीकर्तव्या ।

अनुवाद-(आर्थी व्यञ्जना में) वही अर्थ अभिव्यञ्जक हुआ करता है जो शब्द द्वारा बोधित हो और (शाब्दी व्यञ्जना में) वही शब्द अभिव्यञ्जक हुआ करता है जो एक से अधिक अर्थ का आश्रय हो इसलिये जहां एक शब्द अथवा अर्थ प्रधान रूप से अभिव्यञ्जक रहा करता है वहां दूसरा अर्थ अथवा शब्द उसका सहायक हुआ करता है।

(शाब्दी व्यञ्जना के क्षेत्र में) शब्द की व्यञ्जकता अर्थ की अपेक्षा किया करती है और (आर्थी व्यञ्जना के क्षेत्र में) अर्थ की व्यञ्जकता शब्द की अपेक्षा किया करती है-इससे यही मानना पड़ता है कि एक की व्यञ्जकता में दूसरे की व्यञ्जकता का साथ अवश्य रहता है।

(शब्द की उपाधि-त्रैविध्य का स्पष्टीकरण)

अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यात्त्रिविधो मतः ।

शब्दोऽपि वाचकस्तद्वल्लक्षको व्यञ्जकस्तथा ॥ १९ ॥

अभिधोपाधिको वाचकः । लक्षणोपाधिको लक्षकः । व्यञ्जनोपाधिको व्यञ्जकः ।

अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना-इन तीन उपाधिओं अथवा धर्मों की विशेषता के कारण शब्द भी तीन प्रकार के हुआ करते हैं जैसे कि १. वाचक, २. लक्षक और ३. व्यञ्जक ।

'वाचक' शब्द वह शब्द है जिसमें अभिधाधर्म सम्बद्ध रहा करता है (अभिधोपाधिक), 'लक्षक', वह जिसमें लक्षणाधर्म का सम्बन्ध है (लक्षणोपाधिक) और 'व्यञ्जक' वह जिसमें व्यञ्जनाधर्म सम्बद्ध रहता है।

(तात्पर्य नामक एक अन्यवृत्ति)

किञ्च-

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।

तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे ॥ २० ॥

इसके अतिरिक्त कतिपय पदवाक्यतत्त्ववित् लोग जैसे कि श्रीकुमारिलभट्ट आदि मीमांसक तात्पर्य नामक एक और भी शक्ति माना करते हैं जो (वाक्यगत) पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों के परस्पर अन्वय रूपी सम्बन्ध का बोध करवाया करती है, और जिसके द्वारा उपस्थापित अर्थ (वाक्यार्थ) तात्पर्यार्थ कहा जाया करता है। यह तात्पर्यार्थ पृथक्-पृथक् पदों का अर्थ नहीं अपितु वाक्य का अर्थ हुआ करता है।

(अभिहितान्वयवाद और तात्पर्यवृत्ति)

अभिधाया एकैकपदार्थबोधनविरामाद् वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्य नाम वृत्तिः । तदर्थश्च तात्पर्यार्थः । तद्बोधकं च वाक्यमित्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।

तात्पर्यवृत्ति के मानने वाले लोग वे मीमांसाचार्य हैं जो 'अभिहितान्वयवादी' कहे जाते हैं। अभिहितान्वयवादी (भाट्टमतानुयायी) मीमांसकों की दृष्टि में 'तात्पर्यवृत्ति' की मान्यता इसलिये आवश्यक है क्योंकि अभिधावृत्ति तो पृथक्-पृथक् पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों के बोध कराने में ही क्षीणशक्ति हो जाया करती है और वाक्यार्थ पृथक्-पृथक् पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ नहीं अपितु पदार्थों का परस्पर सम्बद्धरूप अर्थ होता है। अब इस वाक्यार्थस्वरूप पदार्थसंसर्ग अथवा परस्पर पदार्थसम्बन्ध के अवबोध के लिये कोई न कोई वृत्ति अवश्य होनी चाहिये। यह पदार्थसंसर्ग की बोधिका वृत्ति तात्पर्यवृत्ति ही है अन्य कोई वृत्ति नहीं। जो अर्थ इस तात्पर्यवृत्ति के द्वारा प्रतिपाद्य होता है वह तात्पर्यार्थ कहलाता है। यह तात्पर्यार्थ पृथक्-पृथक् पदों द्वारा नहीं अपितु वाक्य द्वारा ही उपस्थापित किया जाता है।

इति साहित्यदर्पणे वाक्यस्वरूपनिरुपणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ।

स्मरणीय बिंदु

- विराम के बाद व्यापार का अभाव: नियम के अनुसार शब्द, बुद्धि और कर्म एक बार शांत होने पर दोबारा सक्रिय नहीं होते; अतः नए अर्थ के लिए नई शक्ति (व्यंजना) अनिवार्य है।

- शाब्दी बनाम आर्थी व्यंजना: शाब्दी व्यंजना शब्द पर निर्भर होती है (जिसके अभिधामूला और लक्षणामूला दो भेद हैं), जबकि आर्थी व्यंजना वक्ता, श्रोता, कंठ-स्वर (काकु), देश, काल और चेष्टा आदि पर आधारित होती है।

- अनेकार्थक शब्दों का नियमन: भर्तृहरि के वाक्यपदीय के अनुसार संयोग, वियोग, साहचर्य, वि. रोध, प्रकरण, लिंग आदि ऐसे 14 तत्व हैं जो अनेकार्थक शब्दों के अर्थ को प्रसंगानुसार निश्चित करते हैं (जैसे सशंखचक्रों हरिः में हरि का अर्थ केवल विष्णु है)।

- तात्पर्य वृत्ति: कुमारिल भट्ट के अनुयायी (अभिहितान्वयवादी) इसे मानते हैं, जिसका कार्य अलग-अलग पद-पदार्थों को आपस में जोड़कर संपूर्ण वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) का बोध कराना है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) व्यंजना शब्द-शक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए शाब्दी और आर्थी व्यंजना के अंतर को सोदाहरण समझाइए।

2) अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगैर्नीयते सकृत् इस कारिका के आधार पर अनेकार्थक शब्दों के अर्थ-नियमन के किन्हीं पांच तत्वों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

3) अभिहितान्वयवाद के संदर्भ में तात्पर्य वृत्ति की आवश्यकता और उसके स्वरूप का सविस्तार वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः का व्यंजना के संदर्भ में क्या महत्व है?

2) काकु (ध्वनि विकार) किस प्रकार व्यंग्यार्थ का बोध कराती है? नैष्यति के उदाहरण से स्पष्ट करें।

3) आर्थी व्यंजना में वक्ता और बोधव्य की विशिष्टता का क्या अर्थ है?

4) अभिधामूला व्यंजना और लक्षणामूला व्यंजना के एक-एक उदाहरण दीजिए।

5) चेष्टा द्वारा व्यंग्यार्थ बोध का उदाहरण (कमल की पंखुड़ियां बंद करना) समझाइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) अभिधा और लक्षणा के शांत हो जाने पर जिस शक्ति से विलक्षण अर्थ निकले, वह है:

(क) तात्पर्य (ख) व्यंजना (ग) लक्षणा (घ) संकेत

2) सशंखचक्रों हरिः में हरि का अर्थ विष्णु किस कारण से निश्चित हुआ?

(क) साहचर्य (ख) प्रकरण (ग) संयोग (घ) सामर्थ्य

3) तात्पर्य वृत्ति को मानने वाले आचार्य किस मत के अनुयायी हैं?

(क) वैयाकरण (ख) अन्विताभिधानवादी (ग) अभिहितान्वयवादी (घ) बौद्ध

4) मधुना मत्तः पिकः में मधु का अर्थ वसन्त किस आधार पर है?

(क) काल (ख) सामर्थ्य (ग) औचित्य (घ) देश

5) गंगायां घोषः में तट का बोध लक्षणा से होता है, पर पावनत्व का बोध होता है:

(क) अभिधा से (ख) तात्पर्य से (ग) व्यंजना से (घ) संयोग से

खण्ड -4

सौन्दरानन्दम् (पञ्चमसर्गः, नन्ददीक्षा, 52 श्लोक

इकाई-4.1 बुद्धस्य आगमनम्, बुद्धोपदेशः

उद्देश्य

- नन्द का हृदय-परिवर्तनः विषय-भोगों और अपनी पत्नी (सुन्दरी) के प्रेम में आसक्त नन्द को मोक्ष के मार्ग की ओर प्रवृत्त करना।

- गुरु-महिमा का प्रदर्शनः यह दिखाना कि कैसे बुद्ध ने बिना किसी दबाव के, केवल अपनी गरिमा और संकेतों से नन्द को सांसारिक मोह से अलग कर दिया।

- धार्मिक कर्तव्य बोधः राजसी वैभव को छोड़कर भिक्षा और अध्यात्म के महत्व को प्रतिपादित करना।

परिणाम

- नन्द का अनुगमनः पत्नी के प्रति गहरा अनुराग होने के बावजूद नन्द बुद्ध के प्रभाव और गौरव (महिम्ना) के कारण उनके पीछे चलने को विवश हो जाता है।

- पात्र-दानः बुद्ध द्वारा नन्द के हाथ में अपना भिक्षा-पात्र थमाना इस बात का प्रतीक है कि उन्होंने नन्द को अपना उत्तराधिकारी (अध्यात्म में) चुन लिया है।

- मोक्ष-बीज का उदयः बुद्ध ने नन्द के भीतर छिपे मोक्ष-बीज को पहचान लिया, जिसका परिण ााम अंततः नन्द की दीक्षा के रूप में निकलता है।

अथावतीर्याश्वरथद्विषेभ्यः शाक्या यथास्वर्द्धिगृहीतवेषाः।

महापणेभ्यो व्यवहारिणश्च महामुनौ भक्तिवशात् प्रणेमुः ॥ १ ॥

अन्वयः- अथ अश्वरथद्विपेभ्यः अवतीर्य यथास्वर्द्धिगृहीतवेषाः शाक्याः महापणेभ्यः व्यवहारिणश्व महामुनौ भक्तिवशात् प्रणेमुः ।

व्याख्या- अथ = तत्पश्वात्, अश्वरथद्विषेभ्यः अश्वाश्च = घोटकाश्च, रथाश्च =स्यन्दनाश्च, द्विपाश्च = गजाश्चेति तेभ्यः = वाजिरथहस्तिभ्यः, अवतीर्य = अधोऽवगम्य, यथास्वर्द्धिगृहीतवेषाः- स्वस्य ऋद्धिः स्वर्द्धिः, स्वर्द्धिमनतिक्रम्य गृहीताः वेषाः यैः ते = निजसम्पदनुसारं धृतवेशाः, शाक्याः = शाक्यकुलोत्पन्नाः, महापणेभ्यः = उत्तमविपणिभिः, व्यवहारिणश्च = व्यापारिणः, महामुनौ = गौतमे, भक्तिवशात् = निष्ठावशात्, प्रणेमुः = अनमन् ।

हिन्दी–इसके बाद घोड़े, हाथी और रथों से उतर कर अपनी–अपनी सम्पत्ति के अनुसार वेश–भूषा धारण किये शाक्यों तथा नगरसेठों ने बुद्ध को निष्ठापूर्वक प्रणाम किया ।। १ ।।

केचित् प्रणम्यानुययुर्मुहूर्तं केचित् प्रणम्यार्थवशेन जग्मुः ।

केचित् स्वकेष्वावसथेषु तस्थुः कृत्वाऽञ्जलीन् वीक्षणतत्पराक्षाः ॥ २ ॥

अन्वयः–केचित् प्रणम्य मुहूर्तम् अनुययुः, केचित् प्रणम्य अर्थवशेन जग्मुः, केचित् अञ्जलीन् कृत्वा स्वकेषु आवसथेषु वीक्षणतत्पराक्षाः तस्थुः ।

व्याख्या–केचित् = कतिपयजनाः, प्रणम्य = नत्वा, मुहूर्तम् = क्षणम्, अनुययुः = अनुचचाल, केचित् = कतिचिदन्याः, प्रणम्य = प्रणामं कृत्वा, अर्थवशेन = प्रयोजनाधीनेन, जग्मुः = ययुः, केचित् = केऽपि, अञ्जलीन् = करसम्पुटम्, कृत्वा = विधाय, स्वकेषु = स्वकीयेषु, आवसथेषु = निवासस्थानेषु, वीक्षणतत्पराक्षाः–वीक्षणे = अवलोकने, तत्परे = निरते, अक्षिणी = नेत्रे, येषां ते = दर्शननिरतनयनाः, तस्थुः = तत्रैव जडवदतिष्ठन् ।

हिन्दी–कुछ लोग मन्त्रमुग्ध की तरह उन्हें प्रणाम कर क्षण भर उनका अनुसरण किया, कुछ लोग प्रणाम कर कार्यवश लौट गये और कुछ लोग हाथ जोड़कर अपने घरों में ही स्थिर रहे ।

बुद्धस्ततस्तत्र नरेन्द्रमार्गे स्रोतो महद्भक्तिमतो जनस्य ।

जगाम दुःखेन विगाहमानो जलागमे स्रोत इवापगायाः ॥ ३ ॥

अन्वयः– ततः बुद्धः तत्र नरेन्द्रमार्गे महद्भक्तिमतः जनस्य स्रोतः जलागमे अपगायाः स्रोत इव दुःखेन विगाहमानः जगाम ।

व्याख्या– ततः = तदनन्तरम्, बुद्धः = तथागतः, तत्र = तस्मिन् स्थाने, नरेन्द्रमार्गे = राजपथि, महद्भक्तिमतः–महती=अत्यधिका, भक्तिः=श्रद्धा, यस्मिन् तस्य, जनस्य = लोकस्य, स्रोतः = प्रवाहः, जलागमे = प्रावृट्काले, अपगायाः = नद्याः, स्रोतः = प्रबलधारा, इव = यथा, दुःखेन = पीडया, विगाहमानः = प्रवेशं कुर्वन्, जगाम = अगमत् ।

हिन्दी–इसके बाद उस राजमार्ग पर श्रद्धावनत उन भक्तों की उमड़ती भीड़ को दुःख के साथ चीरते हुए आगे बढ़ते गये, मानो वर्षागम में नदी की धारा में प्रवेश कर रहे हो ।।

अथो महद्भिः पथि सम्पतद्भिः सम्पूज्यमानाय तथागताय ।

कर्तुं प्रणामं न शशाक नन्दस्तेनाभिरेमे तु गुरोर्महिम्ना ॥ ४ ॥

अन्वयः– अथ पथि महद्भिः सम्पतद्भिः सम्पूज्यमानाय तथागताय नन्दः प्रणामं कर्तुं न शशाक, तु तेन गुरोः महिम्ना अभिरेमे ।

व्याख्या– अथ = अनन्तरम्, पथि = मार्गे, महद्भिः = अतिशयैः, सम्पतद्भिः = समागतजनैः,

सम्पूज्यमानाय = सम्यक्प्रकारेण पूजिताय, तथागताय = सुगताय, नन्दः = बुद्धानुजः, प्रणामम् = प्रणतिम्, कर्तुम् = विधातुम्, न = नहि, शशाक = अशक्नात्, तु = किन्तु, तेन = एतेन, गुरोः = तथागतस्य, महिम्ना = गौरवेण, अभिरेमे = आनन्दितो बभूव ।

हिन्दी–तब उस राजमार्ग पर बुद्ध को प्रणाम करने के लिए उमड़ती भीड़ को चीर कर राजा नन्द गुरु को प्रणाम नहीं कर सका। फिर भी गुरु के इस गौरव से उसे प्रसन्नता ही हुई ।।

स्वं चावसङ्गं पथि निर्मुमुक्षुभक्तिं जनस्यान्यमतेश्व रक्षन् ।

नन्दं च गेहाभिमुखं जिघृक्षन् मार्ग ततोऽन्यं सुगतः प्रपेदे ॥ ५ ॥

अन्वयः –ततः पथि स्वम् अवसङ्गं च निर्मुमुक्षुः अन्यमतेः जनस्य च भक्तिं रक्षन् गेहाभिमुखं च नन्दं जिघृक्षन् सुगतः अन्यं मार्ग प्रपेदे ।

व्याख्या – ततः = तत्पश्चात्, पथि = मार्गे, स्वम् = निजम्, अवसङ्गम् = अनुगच्छन्तं जनम्, च = पुनः, निर्मुमुक्षुः = मोचितुमिच्छुः, अन्यमतेः–अन्या मतिर्यस्य सः, तस्य = भिन्नसम्प्रदायाश्रितस्य, जनस्य = लोकस्य च पुनः, भक्तिम् = निरतिम्, रक्षन् – रक्षां कुर्वन्, गेहाभिमुखम् = सदनगमनोत्सुकम्, च नन्दम् = स्वानुजम्, जिघृक्षन् = गृहीतुमिच्छन्, सुगतः = बुद्धः, अन्यम् = अपरम्, मार्गम् = पथम्, प्रपेदे = प्राप्तवान् ।

हिन्दी– तब रास्ते में आत्मीय जनों से छुटकारा पाने के इच्छुक, भिन्न सम्प्रदाय वालों की भक्ति का संरक्षण करने वाले तथा अपने छोटे भाई नन्द से मिलने को इच्छुक भगवान् बुद्ध ने दूसरी राह पकड़ ली ।।

ततो विविक्तं च विविक्तचेताः सन्मार्गविन्मार्गमभिप्रतस्थे।

गत्वाऽग्रतश्चाग्र्यतमाय तस्मै नान्दीविमुक्ताय ननाम नन्दः ॥ ६ ॥

अन्वयः–ततः विविक्तचेताः सन्मार्गवित् च विविक्तम् मार्गम् अभिप्रतस्थे, नन्दः अग्रतः गत्वा अग्र्यतमाय नान्दीविमुक्ताय तस्मै ननाम ।

व्याख्या – ततः = तत्पश्चात, विविक्तचेताः–विविक्तम्=शान्तम्, चेतः=चित्तं, यस्य सः = शान्तचेताः, सन्मार्गवित्–सन्मार्गम् = पवित्रपथम्, वेत्ति = जानाति, यः असौ = सत्पथवेत्ता, च = पुनः, विविक्तम् = जनशून्यम्, मार्गम् = पथम्, अभिप्रतस्थे = जगाम, नन्दः = सुगतानुजः, अग्रतः = पुरतः, गत्वा = उपगम्य, अग्र्यतमाय = पूज्यतमाय, नान्दीविमुक्ताय = आनन्दरहिताय, तस्मै = बुद्धाय, ननाम = नमश्चकार ।

हिन्दी– इसके बाद जब शान्तचित्त तथा पुण्य–पथ को जानने वाले बुद्ध उस एकान्त पथ पर चले आये, तब राजा नन्द ने आगे बढ़कर उस आनन्दशून्य सुगत को प्रणाम किया ।।

शनैर्व्रजन्नेव स गौरवेण पटावृतांसो विनतार्धकायः ।

अधोनिबद्धाञ्जलिरूर्ध्वनेत्रः सगद्गदं वाक्यमिदं बभाषे ॥ ७ ॥

अन्वयः-पटावृतांसः विनतार्धकायः सः शनैः व्रजन्नेव अधोनिबद्धाञ्जलिरुर्ध्वनेत्रः गौरवेण सगद्गदम् इदं वाक्यं बभाषे ।

व्याख्या-पटावृतांसः-पटेन = उत्तरीयेण, आवृतः = परिवेष्टितः, अंसः = स्कन्धः, यस्य सः वस्त्रावेष्टितस्कन्धः, विनतार्धकायः-विनतः = अवनतः, अर्द्धककायः = शरीरार्द्धभागः, यस्य सः, सः= नन्दः, शनैः=मन्दम्, व्रजन्नेव=गच्छन्नेव, अधाोनिवद्धाञ्जलिः = अधाकृतकरसम्पुटः, ऊधर्वनेत्रः= उद्गतनयनः, सः = नन्दः, गौरवेण = ससम्मानेन, सगद्गदं = अस्पष्टवाचा सहितं, इदं = वक्ष्यमाणम्, वाक्यं वचनं, बभाषे जगाद ।

हिन्दी - जिसका कन्धा वस्त्र से ढँका हुआ था, उस नन्द ने सम्मानपूर्वक धीरे-धीरे जाते हुए आधा शरीर झुकाकर नीचे की ओर हाथ जोड़कर और ऊपर की ओर नेत्र उठाकर गद्गद स्वर से यह वचन कहा ॥

प्रासादसंस्थो भगवन्तमन्तःप्रविष्टमश्रौषमनुग्रहाय ।

अतस्त्वरावानहमभ्युपेतो गृहस्य कक्ष्यामहतोऽभ्यसूयन् ॥ ८ ॥

अन्वयः-प्रासादसंस्थः अहम् अनुग्रहाय भगवन्तम् अन्तःप्रविष्टम् अश्रौषम्, अतः कक्ष्यामहतः गृहस्य अभ्यसूयन् त्वरावान् अभ्युपेतः (अस्मि) ।

व्याख्या- प्रासादसंस्थः-प्रासादे = राजभवने, सन्तिष्ठति = निवसति, इति = राजभवने स्थितः, अहम् = नन्दः, अनुग्रहाय = अनुकम्पार्थम्, भगवन्तम् = श्रीमन्तम्, अन्तःप्रविष्टम् = राजभवने समागतम्, अश्रौषम् = शुश्राव, अतः = अत एव, कक्ष्यामहतः = अन्तःपुरदीर्घस्य, गृहस्य = राजभवनस्य, अभ्यसूयन् = क्रुद्धन्, त्वरावान् = त्वरायुक्तः, अभ्युपेतः = समागतः, अस्मीति भावः ।

हिन्दी-अपने राजमहल में स्थित मैंने सुना कि मुझ पर अनुग्रह कर श्रीमान् राजभवन में पधारे थे, अतः उस विशाल भवन के परिचारकों को डाँटकर मैं श्रीमान् के सामने उपस्थित हूँ ॥

तत्साधु साधुप्रिय मत्प्रियार्थं तत्रास्तु भिक्षूत्तम भैक्षकालः ।

असौ हि मध्यं नभसो यियासुः कालं प्रतिस्मारयतीव सूर्यः ॥ ९ ॥

अन्वयः- तत् साधु साधुप्रियः भिक्षूत्तमः मत्प्रियार्थं भैक्षकालः तत्रास्तु, असौ हि नभसः मध्यं यियासुः सूर्यः काले प्रतिस्मारयति इव ।

व्याख्या- तत् = तस्माद् हेतोः, साधुप्रियः = साधूनां प्रियः अथवा साधवः प्रियाः यस्य सः = परिव्राजकप्रियः, भिक्षूत्तमः = परिव्राजकश्रेष्ठः, मत्प्रियार्थम् = मदीयहितसाधनाय, भैक्षकालः = भिक्षासमयः,

अत्रास्तु = मद्गृहे भवतु, असौ = अयम्, हि = यतः, नभसः = आकाशस्य, मध्यम् = मध्यस्थानम्, यियासुः = गमनेच्छुः, सूर्यः = दिनकरः, कालम् = समयम्, प्रतिस्मारयति = प्रतिबोधयति, इव = यथा ।

हिन्दी-अतः हे साधुप्रिय भिक्षुश्रेष्ठ ! मेरे हित साधन की दृष्टि से आज आप के भिक्षाटन का समय मेरे घर पर हो, क्योंकि भुवन-भास्कर अब आकाश के मध्य भाग में पहुंचना ही चाह रहे हैं ।।

इत्येवमुक्तः प्रणतेन तेन स्नेहाभिमानोन्मुखलोचनेन ।

तादृङ् निमित्तं सुगतश्चकार नाहारकृत्यं स यथा विवेद ॥ १० ॥

अन्वयः - प्रणतेन स्नेहाभिमानोन्मुखलोचनेन तेन इत्येवम् उक्तः सुगतः तादृग् निमित्तं चकार यथा सः नाहारकृत्यं विवेद ।

व्याख्या-प्रणतेन = वन्दमानेन, स्नेहाभिमानोन्मुखलोचनेन-स्नेहश्च = अनुरागश्च, अभिमानश्च = गर्वश्च, ताभ्याम् उन्मुखे उत्कण्ठिते, लोचने = नयने, यस्य सः तेन = अनुरागगर्वोत्कण्ठितनयनेन, तेन = राज्ञा, इत्येवम् = एवंविधम्, उक्तः = निवेदितः, सुगतः = तथागतः, तादृग = तेन प्रकारकम्, निमित्तम् = कारणम्, चकार = कृतवान्, यथा = येन प्रकारेण, सः नन्दः, आहारकृत्यम्-आहारस्य = भोजनस्य, कृत्यम् = कार्यम्, न विवेद = नहि ज्ञातवान् ।

हिन्दी-प्रेम, गर्व और सम्मान के साथ उन्मुख आँखों वाले राजा नन्द ने इस प्रकार जब निवेदित किया तब भगवान् बुद्ध ने कुछ ऐसा संकेत किया, जिससे नन्द ने समझा कि इन्हें भोजन नहीं करना है ।।

बुद्धस्य उपदेशः

ततः स कृत्वा मुनये प्रणामं गृहप्रयाणाय मतिं चकार ।

अनुग्रहार्थं सुगतस्तु तस्मै पात्रं ददौ पुष्करपत्रनेत्रः ॥ ११ ॥

अन्वयः-ततः सः मुनये प्रणामं कृत्वा गृहप्रयाणाय मतिं चकार तु पुष्करपत्रनेत्रः सुगतः अनुग्रहार्थं तस्मै पात्रं ददौ ।

व्याख्या-ततः तत्पश्चात्, सः = राजा, मुनये गौतमाय, प्रणामं कृत्वा = प्रणति विधाय, गृहप्रयाणाय = गृहे गमनाय, मतिम् =बुद्धिम्, चकार = अकरोत्, तु = किन्तु, पुष्करपत्रनेत्रः- पुष्करस्य = पद्मस्य, पत्रमिव = दलवत्, नेत्रम् = नयनम्, यस्य सः = कमलदलचक्षुः, सुगतः तथागतः, अनुग्रहार्थम् = अनुकम्पितम्, तस्मै = नृपनन्दाय, पात्रम् = भिक्षापात्रम्, ददौ = अदात् ।

हिन्दी-तब राजा नन्द ने बुद्ध के चरणों में प्रणाम कर घर लौट जाना चाहा, परन्तु उस कमलनयन ने नन्द पर अनुग्रह करते हुए अपना भिक्षापात्र उनके हाथों में थमा दिया ।।

ततः स लोके ददतः फलार्थं पात्रस्य तस्याप्रतिमस्य पात्रम् ।

जग्राह चापग्रहणक्षमाभ्यां पद्मोपमाभ्यां प्रयतः कराभ्याम् ॥ १२ ॥

अन्वयः-ततः लोके फलार्थ ददतः तस्य अप्रतिमस्य पात्रस्य पात्रं प्रयतः सः चापग्रहणक्षमाभ्यां पद्मोपमाभ्यां कराभ्यां जग्राह ।

व्याख्या-ततः = तदनन्तरम्, लोके = संसारे, फलार्थम् = लाभाय, ददतः = पात्रं प्रयच्छतः, तस्य = सुगतस्य, अप्रतिमस्य = भिक्षापत्राम्, प्रयतः = संयतः सः = राजा नन्दः, चापग्रहणक्षमाभ्याम् - चापस्य = धनुषः, ग्रहणाय = अङ्गीकरणाय, क्षमो = समर्थौ ताभ्याम्, पद्मोपमाभ्याम् पद्मम् = कमलम्, उपमा = तुलना, यस्य ताभ्याम्, कराभ्याम् = हस्ताभ्याम्, जग्राह = गृहीतवान् ।

हिन्दी- इसके बाद संसार में जन्म-ग्रहण के उद्देश्य की संपूर्ति हेतु उस अतुलनीय व्यक्ति के भिक्षापात्र को उस संयमी ने अपने धनुष ग्रहण करने योग्य कमल के सदृश हाथों से ग्रहण किया ।।

पराङ्मुखन्त्वन्यमनस्कमाराद्विज्ञाय नन्दः सुगतं गतास्थम् ।

हस्तस्थपात्रेऽपि गृहं यियासुः ससार मार्गान्मुनिमीक्षमाणः ॥ १३ ॥

अन्वयः - सुगतं तु पराङ्मुखम् अन्यमनस्कं गतास्थं विज्ञाय हस्तस्थपात्रोऽपि गृहं यियासुः नन्दः मुनिम् ईक्षमाणः मार्गात् ससार ।

व्याख्या- सुगतम् = तथागतम्, तु = किन्तु, पराङ्मुखम् = विमुखम् अन्यमनस्कम् - अन्यस्मिन् = अपरस्मिन्, मनः = चित्तम्, यस्य तम्, गतास्थम् = उदासीनम्, विज्ञाय = ज्ञात्वा, हस्तस्थपात्रोऽपि-हस्ते = करे, तिष्ठति = धृतः, पात्रम् = भाजनम्, यस्य सः = करधृतभिक्षाभाजनोऽपि, गृहम् = सदनम्, यियासुः = जिगमिषुः, नन्दः = बुद्धानुजः, मुनिम् = बुद्धम्, ईक्षमाणः = अवलोकयन्, मार्गात् = पथात्, ससार = पृथग्वभूव ।

हिन्दी-भगवान् बुद्ध को अन्यमनस्क विमुख एवं उदास जानकर हाथ में भिक्षापात्र रहने के बावजूद घर जाने की इच्छा से नन्द बुद्ध को देखते हुए उनकी राह से हट गये ।।

भार्यानुरागेण यदा गृहं स पात्रं गृहीत्वापि यियासुरेव ।

विमोहयामास मुनिस्ततस्तं रथ्यामुखस्यावरणेन तस्य ॥ १४ ॥

अन्वयः-यदा सः पात्र गृहीत्वाऽपि भार्यानुरागेण गृहुं वियासुः एव ततः मुनिः तस्य रथ्याभिमुखस्य आवरणेन तं विमोहयामास ।

व्याख्या-यदा = यस्मिन् काले, सः = राजा, पात्रम् = भिक्षाभाजनम् गृहीत्वाऽपि = धृत्वाऽपि, भार्यानुरागेण = प्रियाप्रेम्णा, गृहम् = राजभवनम्, यियासुः = जिगमिषुः, एवेति निर्धारणे, ततः = तदा, मुनिः = बुद्धः, तस्य = नन्दस्य, रथ्याभिमुखस्य = राजपथाभिमुखत्य, आवरणेन = अवरोधेन, तम् =

नन्दम्, विमोहयामास = मोहग्रस्तं चकार ।

हिन्दी-जब नन्द भिक्षापात्र हाथ में लेने के बावजूद पत्नी-प्रेम के कारण घर की ओर लौट जाना चाह रहा था, तब भगवान् बुद्ध ने मार्गावरोध से उसे विमोहित कर दिया ।।

निर्मोक्षबीजं हि ददर्श तस्य ज्ञान मृदुः क्लेशरजश्च तीव्रम् ।

क्लेशानुकूलं विषयात्मकं च नन्दं यतस्तं मुनिराचकर्ष ॥ १५ ॥

अन्वयः-मुनिः तस्य ज्ञानं मृदुः क्लेशानुकूलं विषयात्मकं क्लेशरजः तीव्रं च हि निर्मोक्षबीजं च ददर्श यतः तं नन्दम् आचकर्ष ।

व्याख्या-मुनिः = सुगतः, तस्य = निजानुजस्य, ज्ञानम् = प्रतीतिः, मृदुः = मन्दम्, क्लेशानुकूलम्-क्लेशस्य = कष्टस्य, अनुकूलम् = सहायकम्, विषयात्मकम् = मोहासक्तम्, क्लेशरजः = पीडारजः, तीव्रम् = अत्यधिकम्, हि = तथाऽपि, निर्मोक्षबीजम् - निर्मोक्षस्य = मोक्षस्य, बीजम् = कारणम्, यस्मिन्, च = पुनः, ददर्श = अवलोकयामास, यतः = यस्मात्, तम् = पूर्वोक्तम्, नन्दम् = बुद्धानुजम्, आचकर्ष = आकृष्टवान् ।

हिन्दी-बुद्ध ने नन्द के ज्ञान को मन्द, क्लेशानुकूल, विषयासक्त तथा दुःखरूपी रज को अधिक बढ़ाने वाला-फिर भी मोक्ष के बीज को अपने आप में छिपाये देखकर उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया ।।

स्मरणीय बिंदु

- शाक्यों का स्वागतः बुद्ध के आगमन पर शाक्य वंशीय लोग अपने वाहनों (घोड़े, हाथी, रथ) से उतरकर भक्तिपूर्वक उन्हें प्रणाम करते हैं।
- नन्द की दुविधाः नन्द बुद्ध को भोजन के लिए निमन्त्रित करना चाहता है, लेकिन बुद्ध मौन रहकर संकेत देते हैं और उसे अपना पात्र पकड़ा देते हैं।
- काकु और संकेतः बुद्ध का मौन रहना और पात्र देना नन्द के लिए एक ऐसा उलझाव (विमोह) पैदा करता है जिससे वह न चाहते हुए भी बुद्ध के साथ चल पड़ता है।
- विजातीय भक्ति का रक्षणः बुद्ध केवल अपनों का ही नहीं, बल्कि अन्य मतों के लोगों की भक्ति का भी सम्मान करते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) सौन्दरनन्दम् के पञ्चम सर्ग के आधार पर बुद्ध के कपिलवस्तु आगमन और शाक्यों द्वारा उनके स्वागत का सविस्तार वर्णन कीजिए।

2) नन्द का अपनी पत्नी के प्रति अनुराग और बुद्ध के प्रति गौरव इन दोनों के बीच के द्वंद्व को स्पष्ट कीजिए।

3) बुद्ध ने नन्द को अपनी ओर कैसे आकर्षित किया? मोक्ष-बीज और विषयासक्ति के संदर्भ में बुद्ध के दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) अथावतीर्याश्वरथद्विषेभ्यः श्लोक में शाक्यों ने बुद्ध का अभिवादन किस प्रकार किया?

2) नन्द बुद्ध को प्रणाम करने में असमर्थ क्यों रहा और इसका उस पर क्या प्रभाव पड़ा?

3) बुद्ध ने अपना मार्ग बदलकर एकांत मार्ग क्यों चुना?

4) नन्द की शारीरिक मुद्रा का वर्णन कीजिए जब वह बुद्ध से बात कर रहा था।

5) बुद्ध द्वारा नन्द को भिक्षा-पात्र पकड़ाने का सांकेतिक अर्थ क्या है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) शाक्य किन वाहनों से उतरकर बुद्ध को प्रणाम करने पहुँचे?

(क) केवल अश्व (ख) केवल रथ
(ग) अश्व, रथ और हाथी (घ) पैदल

2) बुद्ध ने नन्द के हाथ में क्या थमा दिया?

(क) माला (ख) भिक्षा-पात्र
(ग) राजचिह्न (घ) पुष्प

3) कमल के पत्ते के समान नेत्रों वाला विशेषण किसके लिए प्रयुक्त हुआ है?

(क) नन्द (ख) शाक्य
(ग) बुद्ध (घ) सूर्य

4) नन्द किसके अनुराग (प्रेम) के कारण घर वापस जाना चाहता था?

(क) माता (ख) पिता

(ग) भार्या (पत्नी) (घ) प्रजा

5) बुद्ध ने नन्द में क्या देखा जिसके कारण उसे अपनी ओर खींचा?

(क) अपार धन (ख) शारीरिक बल

(ग) मोक्ष का बीज (घ) अस्त्र-कौशल

इकाई–4.2

मोहनाशः, विषयदोषदर्शनम्, योगाभ्यासादेः गुणवर्णनम्

उदेश्य

● मोह का निवारणः नन्द के हृदय में व्याप्त काम–वासना और पत्नी के प्रति आसक्ति (मोह) को ज्ञान के माध्यम से नष्ट करना।

● अध्यात्म का बोधः नन्द को यह समझाना कि वास्तविक सुख विषयों (इन्द्रियों) में नहीं, बल्कि अध्यात्म–सुख और प्रज्ञा में है।

● वैराग्य की स्थापनाः वृद्धावस्था, रोग और मृत्यु की अनिवार्यता बताकर नन्द को वैराग्य के लिए तैयार करना।

परिणाम

● मानसिक द्वंद्वः नन्द बुद्ध के उपदेशों को सुनता तो है, लेकिन उसका हृदय अभी भी पत्नी के विरह में दुखी है।

● दीक्षा का आदेशः बुद्ध नन्द को प्रव्रजित करने के लिए अपने शिष्य आनन्द को आदेश देते हैं।

● अनिच्छा के बावजूद स्वीकृतिः नन्द बुद्ध के गौरव के कारण बाहरी रूप से तथेति (ऐसा ही हो) कहता है, यद्यपि भीतर से वह दीक्षा नहीं लेना चाहता।

मोहनाशः

सङ्क्लेशपक्षो द्विविधश्व दृष्टस्तथा द्विकल्पो व्यवदानपक्षः ।

आत्माश्रयो हेतुबलाधिकस्य बाह्याश्रयः प्रत्ययगौरवस्य ॥ १६ ॥

अन्वयः–सङ्क्लेशपक्षः द्विविधः तथा व्यवदानपक्षः द्विकल्पः दृष्टः हेतुबलाधिकस्य आत्माश्रयः प्रत्ययगौरवस्य च बाह्याश्रयः (दृष्टः) ।

व्याख्या–सङ्क्लेशपक्षः = कष्टकरभागः, द्विविधः द्विधा, तथा व्यवदानपक्षः = पवित्रतायाः अथवा पराक्रमशीलतायाः स्वरूपम्, द्विकल्पः द्विप्रकारकः, दृष्टः = अवलोकितः, हेतुबलाधिकस्य– हेतोः बलं हेतुबलम्, अधिकं यस्मिन् तस्य = कुशलमूलातिशयस्य, हेतु = मूलम् बलम् = शक्तिः यस्मिन् मूलशक्तिर्निहिता भवति तथा तस्यैव प्रधानता भवति, सः स्वाश्रितो भवति । आत्माश्रयः– आत्मा आश्रयः यस्य सः = निजाधारः, प्रत्ययगौरवस्य बाह्यवस्तुप्रधानस्य, प्रत्ययस्य = कारणस्य, गौरवं = प्रधानता, यस्मिन् तस्येति । यस्मिन् जने कारणस्य किं वा कस्याप्याश्रयस्य प्रधानता भवति, सः पराश्रितो भवति।

च = पुनः, बाह्याश्रयः-बाह्यः बहिःस्थ-व्यक्तिः, अथवा वस्तु अस्ति आश्रयः यस्य सः = पराश्रयः ।

हिन्दी-जैसे क्लेश दो प्रकार के देखे जाते हैं, उसी तरह पवित्रता भी दो तरह की देखी जाती है। जिस व्यक्ति में हेतुबल की अधिकता होती है, वह व्यक्ति आत्माश्रित होता है तथा जिसमें बाहरी वस्तुओं की प्रधानता होती है, वह पराश्रित होता है ।।

अयत्नतो हेतुबलाधिकस्तु निर्मुच्यते घट्टितमात्र एव ।

यत्नेन तु प्रत्ययनेयबुद्धिर्विमोक्षमाप्नोति पराश्रयेण ॥ १७ ॥

अन्वयः-हेतुबलाधिकः तु घट्टितमात्र एव अयत्नतः निर्मुच्यते, प्रत्ययनेयबुद्धिः पराश्रयेण यत्नेन विमोक्षम् आप्नोति ।

व्याख्या-हेतुबलाधिकः = बीजशौर्यप्रधानः, तु = किन्तु, घट्टितमात्र एव = केवल-प्रोत्साहित एव, अयत्नतः = अनुद्योगतः, निर्मुच्यते = मुक्तो भवति, प्रत्ययनेयबुद्धिः = प्रत्ययनेयाः पराश्रिताः, बुद्धिः = मतिर्यस्य सः, पराश्रयेण = अन्याधीनेन, यत्नेन = सायासेन, विमोक्षम् = मुक्तिम्, आप्नोति = लभते ।

हिन्दी-जिस व्यक्ति में मूलशक्ति की प्रधानता होती है वह सामान्य प्रेरणा पाते ही मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जिनकी बुद्धि बाहरी कारणों पर आश्रित होती है, वह दूसरों की जकड़ से बड़ी कठिनाई से मुक्त होते हैं ।।

नन्दः स च प्रत्ययनेयचेता यं शिश्रिये तन्मयतामवाप ।

यस्मादिमं तत्र चकार यत्नं तं स्नेहपङ्कान्मुनिरुज्जिहीर्षन् ॥ १८ ॥

अन्वयः-प्रत्ययनेयचेताः सः नन्दः यं शिश्रिये तन्मयताम् अवाप, यस्मात् मुनिः तं स्नेहपङ्कात् उज्जिहीर्षन् तत्र इमं यत्नं चकार ।

व्याख्या-प्रत्ययनेयचेताः-प्रत्ययनेयम् = पराधीनम्, चेतः = बुद्धिर्यस्यासौ, सः = पूर्वोक्तः, नन्दः = बुद्धानुजः, यम् = किञ्चिदपि, शिश्रिये = आश्रयत, तन्मयताम् = दत्त-चित्तताम्, अवाप = प्राप, यस्मात् = येन कारणेन, मुनिः = बुद्धः, तम् = नन्दम्, स्नेहपङ्कात्-स्नेहः = भार्यानुरागः, एव पङ्काः = कर्दमाः तस्मात्, उज्जिहीर्षन् = उद्धारयितुमिच्छन्, तत्र = तस्मिन् स्थाने, इमम् = एनम्, यत्नम् = प्रयासं, चकार = अकरोत् ।

हिन्दी-पराश्रित बुद्धि वाला नन्द जिसका आश्रय ग्रहण करता उसी का हो जाता था, अतः बुद्ध ने उसे वासनारूपी कीचड़ से निकालने का प्रयास किया ।।

नन्दस्तु तु दुःखेन विचेष्टमानः शनैरगत्या गुरुमन्वगच्छन् ।

भार्यामुखं वीक्षणलोलनेत्रं विचिन्तयन्नार्द्रविशेषकं तत् ॥ १९ ॥

अन्वयः-नन्दस्तु दुःखेन विचेष्टमानः वीक्षणलोलनेत्रम् आर्द्रविशेषकं तत् भार्यामुखं विचिन्तयन्

अगत्या शनैः गुरुम् अन्वगच्छत् ।

व्याख्या–नन्दः = गौतमानुजः, तु = किन्तु, दुःखेन = कष्टेन, विचेष्टमानः = तीव्रोत्कण्ठायमानः, वीक्षणलोलनेत्रम्–विशेषेण = विलक्षणेन, ईक्षणम् = अवलोकनम्, तस्मिन् लोले = चञ्चले, नेत्रे = नयने यस्य सः = दर्शनोत्सुकचपलेक्षणः, आर्द्रविशेषकम् = सिक्ताङ्गरागम्, तत् = पूर्ववर्णितम्, भार्यामुखम्–भार्यायाः = स्त्रियाः, मुखम् आननम्, विचिन्तयन् = ध्यायन्, अगत्या = विवशं भूत्वा, शनैः–शनैः = मन्दम्–मन्दम्, गुरुम् = बुद्धम्, अन्वगच्छत् = अनुससार ।

हिन्दी–बेचारा नन्द दुःख से छटपटाता हुआ, गीले अंगराग लपेटे प्रतीक्षारत चंचल आँखों वाली पत्नी का ध्यान करता हुआ विवश होकर बुद्ध के पीछे–पीछे चलने लगा ।।

ततो मुनिस्तं प्रियमाल्यहारं वसन्तमासेन कृताभिहारम् ।

निनाय भग्नप्रमदाविहारं विद्याविहाराभिमतं विहारम् ॥ २० ॥

अन्वयः–ततः मुनिः तं प्रियमाल्यहारं वसन्तमासेन कृताभिहारं भग्नप्रमदाविहारम् विद्याविहाराभिमतम् विहारं निनाय ।

व्याख्या–ततः = तत्पश्चात्, मुनिः = बुद्धः, तम् = नन्दम्, प्रियमाल्यहारम्–माल्यम् = स्रग्, च हारश्च = कण्ठाभरणञ्च, माल्यहारौ, प्रियौ = रुचिकरौ, माल्यहारौ यस्य सः, तं प्रियमाल्यहारम् = प्रियस्रग्ग्रैवेयकम्, वसन्तमासेन = वसन्तर्त्तुना, कृताभिहारम्–कृतः = सम्पादितः, अभिहारः यस्मिन् सः, तम् = आक्रान्तम्, भग्नप्रमदा–विहारम् – भग्नः = विनष्टः, प्रमदायाः = सुन्दर्यः, विहारः = सम्भोगः, यस्य तम् = विनष्टसुन्दरीसुरतम्, विद्याविहाराभिमतम्–विद्यायाः = आध्यात्मिकज्ञानस्य, विहारः = परिक्रमः, अभिमतः = अभीप्सितः, यस्य तम् = विद्याविहाराभीष्टम्, विहारम् = सङ्घारामम्, निनाय = अनयत् ।

हिन्दी–तब भगवान् बुद्ध ने नन्द को, जिन्हें माला और कण्ठहार प्रिय थे, जिन पर वसन्तऋतु ने आक्रमण किया था, जिनका प्रमदाविहार नष्ट हो गया था, उन्हें उस विहार में लाया गया जो विद्या में विहार करने वाले को प्रिय थे ।।

दीनं महाकारुणिकस्ततस्तं दृष्ट्वा मुहूर्त करुणायमानः ।

करेण चक्राङ्कतलेन मूर्ध्नि पस्पर्श चौवेदमुवाच चौनम् ।। ।। २१ ।।

अन्वयः–ततः महाकारुणिकः तं मुहूर्त्त दीनं दृष्ट्वा करुणायमानः च चक्राङ्कतलेन करेण मर्ध्नि पस्पर्श एनम् इदं च उवाच ।

व्याख्या– ततः = तदनन्तरम्, महाकारुणिकः = अतिशयकृपालुः, तम् = नन्दम्, मुहूर्तम् = क्षणम्, दीनम् = आर्त्तम्, दृष्ट्वा = अवलोक्य, करुणायमानः = करुणायुक्तः सन्, च = पुनः, चक्राङ्कतलेन–चक्रस्य = विष्णोः अभेदस्य अङ्कः = चिह्नम्, तेन वक्रचिह्नितकराग्रेण, करेण हस्तेन, मूर्तिन – जिरति, मुक्तं तलम् = प्रहस्तम्, तेन चक्रचिह्नितकराग्रेण, करेण = हस्तेन, मूर्ध्नि = शिरसि, पस्पर्श = स्पृष्टवान्, एनम् =

नन्दम् इदम् = एतत्, उवाच = जगाद ।

हिन्दी- तब परम दयालु बुद्ध ने उस तरह दु:खी नन्द को पल भर देखकर दयापूर्वक चक्रचिह्नित अपनी हथेली उसके सिर पर रख दी ।।

विषयाणां दोषदर्शनम्

यावन्न हिंस्त्रः समुपैति कालः शमाय तावत् कुरु सौम्य! बुद्धिम् ।

सर्वास्ववस्थास्विह वर्तमानं सर्वाभिसारेण निहन्ति मृत्युः ॥ २२ ॥

अन्वयः-सौम्य ! यावत् हिंस्त्रः कालः न समुपैति तावत् बुद्धि शमाय कुरु, इह सर्वासु अवस्थासु वर्त्तमानं मृत्युः सर्वाभिसारेण निहन्ति ।

व्याख्या-सौम्य = हे प्रियदर्शन ! यावत् = यावत्कालपर्यन्तम्, हिंस्त्रः = घातकः, कालः = समयः, न = नहि, समुपैति = सम्यक्प्रकारेणायाति, तावत् = तावदेव कालम्, बुद्धिम् = मतिम्, शमाय = शान्तये, कुरु = विधेहि, यतो हि-इह = संसारे, सर्वासु = सकलासु, अवस्थासु = दशासु, वर्त्तमानम् = विद्यमानाम्, मृत्युः = अन्तकः, सर्वाभिसारेण-सर्वः = सकलश्वासौ, अभिसारः = निश्चितस्थाने गमनम्, तेन निहन्ति = हिनस्ति । अस्मिन् मर्त्यलोके सर्वेषां मृत्युनिश्चितमेवेत्यस्मिन् विषये नन्दस्य ध्यानाकृष्टं करोति भगवान् बुद्ध इति ।

हिन्दी-हे प्रियदर्शन ! जब तक यह घातक काल पास नहीं आ टकपता तब तक अपनी बुद्धि को शान्ति में संलग्न करो, क्योंकि इस संसार में हर स्थिति में रहने वाले लोगों को मौत हर तरह से दबोच लेती है ।।

साधारणात् स्वप्नविभादसाराल्लोलं मनः कामसुखान्नियच्छ ।

हव्यैरिवाग्नेः पवनेरितस्य लोकस्य कामैर्न हि तृप्तिरस्ति ॥ २३ ॥

अन्वयः–स्वप्ननिभात् असारात् साधारणात् कामसुखात् लोलं मनः नियच्छ, हि पवनेरितस्य अग्नेः हव्यैः इव लोकस्य कामैः तृप्तिः नास्ति ।

व्याख्या–स्वप्ननिभात्-स्वप्नस्य = स्वापस्य, निभः = समानः, तस्मात् प्रसुप्तज्ञानसदृशात्, असारात् = सारहीनात्, साधारणात् = सर्वसाधारणोपभोग्यात्, कामसुखात् = विषयानन्दात्, लोलम् = चपलम्, मनः = चित्तम्, नियच्छ = निवारणं कुरु, हि=यतः, पवनेरितस्य-पवनेन=वायुना, ईरितः= प्रेरितस्तस्य वातेनोत्ते. जितस्य, अग्नेः = वह्नेः, हव्यैः = घृतादि आह्वनीयद्रव्यैः, इव = यथा, लोकस्य = संसारस्य, कामैः = विषयोपभोगैः, तृप्तिः = सन्तुष्टिः, नास्ति = न भवति ।

हिन्दी-सपने की तरह सारहीन तथा सर्वसाधारणोपभोग्य इस विषयानन्द की ओर भटकते अपने इस चंचल मन को रोको, क्योंकि पवन-प्रेरित आग की तृप्ति घी की आहुति से कभी नहीं होती, ठीक उसी प्रकार विषयानन्द से मन सन्तुष्ट नहीं होता ।।

श्रद्धाधनं श्रेष्ठतमं धनेभ्यः प्रज्ञारसस्तृप्तिकरो रसेभ्यः ।

प्रधानमध्यात्मसुखं सुखेभ्योऽविद्यारतिर्दुःखतमारतिभ्यः ।। २४ ।।

अन्वयः—धनेभ्यः श्रद्धाधनं श्रेष्ठतमं रसेभ्यः प्रज्ञारसः तृप्तिकरः सुखेभ्यः अध्यात्मसुखं प्रधानम् अरतिभ्यः अविद्यारतिः दुःखतमा ।

व्याख्या—धनेभ्यः = सम्पद्भ्यः श्रद्धाधनम् = आस्थाधनम्, श्रेष्ठतमम् = सर्वोत्कृष्टम्, रसेभ्यः = आस्वादेभ्यः प्रज्ञारसः = ज्ञानरसः, सदसद्विवेकिनी बुद्धिरेव प्रज्ञा भवति, प्रज्ञातत्त्वेनोत्पन्नरस एवं तृतिकरो भवति । तृप्तिकरः = आनन्ददायको भवति, सुखेभ्यः = आनन्देभ्यः, अध्यात्मसुखम् = आत्मसुखम्, प्रधानम् = मुख्यम्, अरतिभ्यः = दुःखेभ्यः, अविद्यारतिः = अज्ञानजन्यदुःखम्, दुःखतमा = सर्वातिशयकष्टप्रदा भवति ।

हिन्दी—धनों में श्रद्धा रूपी धन ही सर्वोत्कृष्ट है। रसों में प्रज्ञारस ही तृप्तिकर है। सुखों में अध्यात्म सुख ही मुख्य सुख है और दुःखों में अविद्यारूपी दुःख ही सर्वाधिक दुःखदायी है ।।

हितस्य वक्ता प्रवरः सुहृद्भ्यो धर्माय खेदो गुणवान् श्रमेभ्यः ।

ज्ञानाय कृत्यं परमं क्रियाभ्यः किमिन्द्रियाणामुपगम्य दास्यम् ।। २५ ।।

अन्वयः-हितस्य वक्ता सुहृद्भ्यः प्रवरः धर्माय खेदः श्रमेभ्यः गुणवान् ज्ञानाय कृत्यं क्रियाभ्यः परमम् इन्द्रियाणां दास्यम् उपगम्य किम् ?

व्याख्या-हितस्य = लाभदायकस्य, वक्ता = उपदेष्टा, सुहृद्भ्यः = सखिभ्यः, प्रवरः = श्रेष्ठः, धर्माय खेदः = धर्माय कृतश्रमः, श्रमेभ्यः = परिश्रमेभ्यः, गुणवान् = दक्षः, ज्ञानाय = बोधाय, कृत्यम् = कार्यम्, क्रियाभ्यः = कर्मेभ्यः, परमम् = उत्तमम्, इन्द्रियाणाम् = विषयिणाम्, दास्यम् = सेवकत्वम्, उपगम्य = समीपमागत्य, किम् = न किमपि भवतीति भावः । बुद्धस्य कथनमिदं नीतिपरकमध्यात्मकोन्मुखञ्चास्ति ।

हिन्दी-हितकर उपदेष्टा मित्रों में उत्कृष्ट है, धर्म के लिए किया गया श्रम ही सार्थक है, ज्ञानार्जन के लिए की गई क्रिया सारी क्रियाओं में श्रेष्ठ है; इसके अतिरिक्त, इन्द्रियों का गुलाम बनने से क्या लाभ ? ।।

तन्निश्चितं भीक्लमशुग्वियुक्तं परेष्वनायत्तमहार्यमन्यैः ।

नित्यं शिवं शान्तिसुखं वृणीष्व किमिन्द्रियार्थार्थमनर्थमूढ्वा ।। २६ ।।

अन्वयः-तत् निश्चितं भीक्लमशुग्वियुक्तं परेषु अनायत्तम् अन्यैः अहार्य नित्यं शिवं शान्तिसुखं वृणीष्व इन्द्रियार्थार्थम् अनर्थम् ऊढ्वा किम् ?

व्याख्या-तत् = तेन, निश्चितम् = मुक्तचित्तम्, भीक्लमशुग्वियुक्तम् = त्रास-खेद-परितापशून्यम्,

परेषु = अपरेषु, अनायत्तम् = अनधीनम्, अन्यैः = अपरैः, अहार्यम् = आहरणीयम्, नित्यम् = अनश्वरम्, शिवम् = शुभदम्, शान्तिसुखम् = वैराग्य-सुखम्, वृणीष्व = आप्नुहि, इन्द्रियार्थार्थम् = विषयभोगनिमित्तम्, अनर्थम् = अनिष्टम्, ऊढ्वा = वहित्वा, किम् = किमित्याक्षेपे, न किमपीत्यर्थः ।

हिन्दी-अतः मुक्तचित्त होकर डर, थकान और शोकरहित, स्वाधीन, दूसरों के द्वारा न छीने जाने वाला, अविनाशी, कल्याणप्रद वैराग्य-सुख का वरण करो, विषय-सुख के लिए विपत्ति मोल लेने से क्या फायदा ?

जरासमा नास्त्यमृजा प्रजानां व्याधेः समो नास्ति जगत्यनर्थः ।

मृत्योः समं नास्ति भयं पृथिव्यामेतत्त्रयं खल्ववशेन सेव्यम् ॥ २७ ॥

अन्वयः-प्रजानां जरासमा अमृता जगति व्याधेः समः अनर्थः नास्ति मृत्योः समं भयं नास्ति पृथिव्याम् एतत्त्रयम् अवशेन सेव्यं खलु ।

व्याख्या-प्रजानाम् = जनानाम्, जरासमा = वृद्धावस्थासदृशा, अमृजा = अस्वच्छता, नास्ति = न भवति, जगति = संसारे, व्याधेः = रोगस्य, समः = अनिष्टम्, नास्ति, मृत्योः = अन्तकस्य, समम् = सदृशम्, भयम् = त्रासम्, नास्ति = न विद्यते, एतत् = पूर्वोक्तम्, त्रयम् = जरा रुज्-मरणत्रयम्, खलु = निश्चयेन, अवशेन = विवशभावेन, सेव्यम् = सेवनीयं भवति ।

हिन्दी-लोगों में बुढ़ौती की तरह कोई गन्दगी नहीं है, संसार में रोग की तरह कोई बड़ा अनर्थ नहीं है और मृत्यु की तरह कोई दूसरा डर नहीं है। उस पर भी यह कि संसार में सम्पूर्ण लोग इन तीनों को लाचार होकर स्वीकार करते हैं ॥

स्नेहेन कश्चिन्न समोऽस्ति पाशः स्रोतो न तृष्णासममस्ति हारि ।

रागाग्निना नास्ति समस्तथाग्निस्तच्चेत्त्रयं नास्ति सुखं च तेऽस्ति ॥ २८ ॥

अन्वयः-स्नेहेन समः कश्चित् पाशः नास्ति, तृष्णासमं हारि स्रोतः नास्ति, तथा रागाग्निना समः अग्निः नास्ति, चेत् तत् त्रयं च नास्ति ते सुखम् अस्ति ।

व्याख्या-स्नेहेन = प्रेम्णा, समः - तुल्यः, कश्चित् = कोऽपि, पाशः = बन्धनम्, नास्ति = न भवति, तृष्णा = भोगेच्छा, समम् = सदृशम्, हारि = प्रवाहि, स्रोतः = प्रवाहः, नास्ति = न विद्यते, तथा = अपि च, रागा. ग्निना समः = स्नेहानिलेन सदृशः, अग्निः = ज्वालकः, नास्ति = न विद्यते, चेत् = यदि, तत् = पूर्वोक्तम्, त्रयम् = त्रिसङ्ख्यकम्, च = पुनः, नास्ति = न विद्यते, तर्हि =, ते = तव, सुखम् = हर्षम्, अस्ति = विद्यते । अत्र हारि-हर्तुशीलमस्येति 'स्रोतः' इत्यस्य पदस्य विशेषणम् । अध्यात्ममुखीनीतिपरकोऽयं श्लोकः । 'स्नेहेन' तथा 'रागाग्निना' इत्यत्र तुल्यार्थकस्य योगे तृतीयाविभक्तिर्भवति । **रूपकाऽलङ्कारश्चेति** ।

हिन्दी-प्रेम की तरह कोई बन्धन नहीं है, तृष्णा की तरह बहा ले जानेवाली कोई तेज धारा नहीं है, अनुराग की आग की तरह जलाने वाली कोई आग नहीं है, यदि ये तीनों नहीं है तो तुम्हारा जीवन

सुखी है ॥

अवश्यभावी प्रियविप्रयोगस्तस्माच्च शोको नियतं निषेव्यः ।

शोकेन चोन्मादमुपेयिवांसो राजर्षयोऽन्येऽप्यवशा विचेलुः ॥ २९ ।

अन्वयः-प्रियविप्रयोगः अवश्यभावी तस्मात् च शोकः नियतं निषेव्यः शोकेन उन्मादम् उपेयिवांसः राजर्षयः अन्येऽपि च अवक्षाः विचेलुः ।

व्याख्या-प्रियविप्रयोगः-प्रियस्य = दयितस्य, विप्रयोगः = विप्रलम्भः, अवश्यभावी-अवश्यम् = नियतम्, भवतीति अवश्यभावी = अपरिहार्यम्, तस्मात् = तेन कारणेन, च = पुनः, शोकः = कष्टम्, नियतम् = निश्चितम्, निषेव्यः = सेवितव्यः, शोकेन = दुःखेन, उन्मादम् = चित्तविभ्रमम्, उपेयिवांसः = लब्धवन्तः, राजर्षयः = नृपमुनयः, अन्येऽपि = अपरेऽपि, च = पुनः, अवशाः = विवशाः, विचेलुः = व्यचलन् ।

हिन्दी-प्रिय का वियोग अनिवार्य है, अतः दुःख तो झेलना ही पड़ेगा। ऐसे शोक से विवश सामान्य जन को कौन पूछे, जब कि राजर्षि भी इससे विचलित हुए हैं ? ॥

योगाभ्यासादेः गुणवर्णनम्

प्रज्ञामयं वर्म बधान तस्मान्नो क्षान्तिनिघ्नस्य हि शोकबाणाः ।

महच्च दग्धु भवकक्षजालं सन्धुक्षयाल्पाग्निमिवात्मतेजः ॥ ३० ॥

अन्वयः-तस्मात् प्रज्ञामयं वर्म बधान, हि क्षान्तिनिघ्नस्य नो शोकवाणाः महत् भवकक्षजालं च दग्धुम् अल्पाग्निमिव तेजः सन्धुक्षय ।

व्याख्या-तस्मात् = कारणात्, प्रज्ञामयम् = ज्ञानमयम्, वर्म कवचम्, बधान = धारय, हि = इति निश्वयेन, क्षान्तिनिघ्नस्य = धैर्यात्तस्य, नो = नहि, शोकबाणाः = दुःखशराः, महत् = विशालः, भवकक्षजालम् = संसारजालम्, च = पुनः, दग्धुम् = भस्मीभूतकर्तम्, अल्पाग्निमिव = स्तोकज्वलन. मिव, तेजः = आत्मज्योतिः, सन्धुक्षय = प्रज्वलितं कुरु । भवकक्षजालम्-भवः = संसारः, एव कक्षः = काष्ठादिस्तेषाञ्जालः = समूह इति ।

हिन्दी-अतः प्रज्ञारूपी कवच पहन लो, क्योंकि जो धैर्य के आश्रित है, उस पर शोक रूपी तीरों का वश नहीं चलता। महाभवजाल को जलाने के लिए अपने तेज को प्रदीप्त करो; जैसे बड़े तृण-समूह को जलाने के लिए थोड़ी-सी आग को प्रज्वलित किया जाता है ॥

यथौषधैर्हस्तगतैः सविद्यो न दश्यते कश्चन पन्नगेन ।

तथानपेक्षो जितलोकमोहो न दश्यते शोकभुजङ्गमेन ॥ ३१ ॥

अन्वयः-यथा हस्तगतैः औषधैः सविद्यः कश्चन पन्नगेन न दश्यते तथा अनपेक्षः जितलोकमोहः शोकभुजङ्गमेन न दश्यते ।

व्याख्या-यथा = येन प्रकारेण, हस्तगतैः = करस्थैः, औषधैः = औषधिभिः, सविद्यः - विद्यया सहितः = सर्पविद्यायाः ज्ञाता, कश्चन = कोऽपि जनः, पन्नगेन = सर्पण, पतन् गच्छतीति पन्नगः = सर्पः, न = नहि, दश्यते = दष्टो भवति, तथा = तेन प्रकारेण, अनपेक्षः-न विद्यते अपेक्षा यस्य सः = अपेक्षाशून्यः, जितलोकमोहः-जितः = पराजितः, लोकस्य = संसारस्य, मोहः = भ्रमः, येन सः संसारासङ्गशून्यः, शोक. भुजङ्गमेन- शोकः = चिन्ता, तदेव भुजङ्गमः = सर्पस्तेन = चिन्तासर्पेण, न दश्यते = न दष्टो भवति ।

हिन्दी- सर्पौषधि हाथ में लिए सर्पविद्याज्ञाता जैसे साँप से डँसा नहीं जाता, उसी प्रकार संसार के मोह को जीत लेनेवाला निरपेक्ष व्यक्ति चिन्तारूपी साँप से डँसा नहीं जाता ।।

आस्थाय योगं परिगम्य तत्त्वं न त्रासमागच्छति मृत्युकाले ।

आबद्धवर्मा सुधनुः कृतास्त्रो जिगीषया शूर इवाहवस्थः ॥ ३२ ॥

अन्वयः-योगम् आस्थाय तत्त्वं परिगम्य मृत्युकाले त्रासं न समागच्छति आबद्धवर्मा सुधनुः कृतास्त्रः शूरः जिगीषया आह्वस्थः शूरः इव ।

व्याख्या-योगम् = मोक्षोपायम्, आस्थाय = आश्रित्य, तत्त्वम् = मूलकारणम्, परिगम्य= अधिगम्य, मृत्युकाले = अन्तसमये, त्रासम् = भयम्, न नहि, समागच्छति = समायाति, आबद्धवर्मा- आबद्धम् = निगृहीतम्, वर्म = कवचं, येन सः आबद्धवर्मा = धृतकवचः, सुधनुः = सुष्ठुचापम्, कृतास्त्रः-कृतम् = निर्मितम्, अस्त्रम् = आयुधम्, येन सः कृतास्त्रः = धृतप्रहरणम्, शूरः = वीरः, जिगीषया = जेतुमिच्छया, आह्वस्थः - आह्वे = सङ्ग्रामे, तिष्ठतीति = निवसतीति, शूरः = वीरः, इव = यथेति ।

हिन्दी-योगाभ्यास और तत्त्वज्ञान से मनुष्य मौत से भी नहीं डरता। जैसे रणभूमि में कोई वीर कवच पहन कर हाथों में सुन्दर आयुध लेकर किसी से भय नहीं खाता ।।

इत्येवमुक्तः स तथागतेन सर्वेषु भूतेष्वनुकम्पकेन ।

धृष्टं गिरान्तर्हृदयेन सीदंस्तथेति नन्दः सुगतं बभाषे ॥ ३३ ॥

अन्वयः सर्वेषु भूतेषु अनुकम्पकेन तथागतेन सः इत्येवम् उक्तः अन्तर्हृदयेन सीदन् नन्दः धृष्टं गिरा 'तथेति' सुगतं बभाषे ।

व्याख्या-सर्वेषु = सकलेषु, भूतेषु = जीवेषु, अनुकम्पकेन = कृपालुना, तथागतेन = बुद्धेन, इत्येवम् = अनेन प्रकारेण, सः = असौ, उक्तः = उपदिष्टः, अन्तर्हृदयेन = अन्तर्मनसा, सीदन् = क्लिशन्, नन्दः = गौतमानुजः, धृष्टम् = साहसपूर्वकम्, गिरा = वचनम् 'तथेति' = यथा भगवन् आदिशति तथैव, सुगतम् = बुद्धम्, बभाषे = उवाच ।

हिन्दी-सभी जीवों पर दया करने वाले बुद्ध का आदेश सुनकर अपना साहस एकत्रित कर दुःखी

मन से नन्द ने 'ऐसा ही होगा' इस प्रकार बुद्ध को कहा ।।

अथ प्रमादाच्च तमुज्जिहीर्षन्मत्वाऽऽगमस्यैव च पात्रभूतम् ।

प्रव्राजयानन्द शमाय नन्दमित्यब्रवीन्मैत्रमना महषिः ।। ३४ ।।

अन्वयः-अथ च प्रमादात् उज्जिहीर्षन् आगमस्यैव पात्रभूतं च मत्वा मैत्रमना महर्षिः आनन्द ! नन्दं शमाय प्रव्राजाय इति अब्रवीत् ।

व्याख्या-अथ अनन्तरम्, च = इति पादपूर्त्यर्थम्, प्रमादात् = अनवधानात्, उज्जहीर्षन् = उद्धारकर्त्तुमभिलषन, तम् = नन्दम्, आगमस्यैव = वैराग्यस्यैव, पात्रभूतम् = भाजनस्वरूपम्, च, मत्वा = ज्ञात्वा, मैत्रमना = सौहृच्चेता, महर्षिः = गौतमबुद्धः, आनन्द = एतदाख्यपट्टशिष्यं प्रति सम्बुद्धौ, नन्दम् = नृपम्, शमाय = वैराग्याय, प्रव्राजय = प्रव्रजितं कुरु, इति अब्रवीत् = आदिष्टवान् ।

हिन्दी-अज्ञान में डूबने से बचाने के लिए, उन्हें संन्यास ग्रहण करने योग्य समझ कर भगवान् बुद्ध ने मैत्रीभाव से अपने शिष्य आनन्द को इन्हें प्रव्रजित करने का आदेश दिया ।।

नन्दं ततोऽन्तर्मनसा रुदन्तमेहीति वैदेहमुनिर्जगाद ।

शनैस्ततस्तं समुपेत्य नन्दो न प्रव्रजिष्याम्यहमित्युवाच ।। ३५ ।।

अन्वयः-ततः अन्तर्मनसा रुदन्तं नन्दं वैदेहमुनिः जगाद-'एहि इति' तत शनैः नन्दः तं समुपेत्य 'अहं न प्रव्रजिष्यामि' इति उवाच ।

व्याख्या-ततः = तत्पश्चात्; अन्तर्मनसा = अन्तःकरणेन, रुदन्तम् = विलपन्तम्, नन्दम् - नृपम्, वैदेहमुनिः = आनन्दः, जगाद = उवाच, एहि = समागम्यताम्, इति = एवम्, ततः = तदा, शनैः = मदं मन्दम्, नन्दः = गौतमानुजः, तम् = आनन्दम्, समुपेत्य = समीपं गत्वा, अहम् = राजानन्दः' न प्रव्रजिष्यामि = सन्यासग्रहणं न करिष्यामि, इति = इत्थम्, उवाच = अकथयत् ।

हिन्दी-तब अन्तर्मन से कलपते नन्द को आनन्द ने अपने पास बुलाया, फिर धीरे-धीरे उनके पास पहुँच कर नन्द ने कहा-मैं संन्यास ग्रहण नहीं करूँगा ।।

श्रुत्वाथ नन्दस्य मनीषितं तद्बुद्धाय वैदेहमुनि शशंस ।

संश्रुत्य तस्मादपि तस्य भावं महामुनिर्नन्दमुवाच भूयः ।। ३६ ।।

अन्वयः-अथ नन्दस्य तत् मनीषितं श्रुत्वा वैदेहमुनिः बुद्धाय शशंस, तस्मादपि तस्य भावं संश्रुत्य महामुनिः नन्दं भूयः उवाच ।

व्याख्या-अथ = अनन्तरम्, नन्दस्य = गौतमानुजस्य, तत् = पूर्वोक्तम्, मनीषितम् = अभिलषितम्, श्रुत्वा=आकर्ण्य, वैदेहमुनिः = आनन्दः, बुद्धाय = तथागताय, शशंस = कथयामास, तस्मादपि = आनन्दादपि, तस्य = नन्दस्य, भावम् = अभिप्रायम्, संश्रुत्य = आकर्ण्य, महामुनिः = बुद्धः, नन्दम् =

स्वानुजम्, भूयः = पुनः, उवाच = जगादेति ।

हिन्दी-नन्द के अभिप्राय को जानकर आनन्द ने तब बुद्ध को इससे अवगत कराया। उनसे नन्द का विचार जानकर बुद्ध ने पुनः नन्द से कहा ।।

स्मरणीय बिंदु

- संक्लेश और व्यवदानः दु:ख (संक्लेश) और शुद्धि (व्यवदान) दो प्रकार के होते हैं आत्म-आश्रित और बाह्य-आश्रित ।
- विषय दोषः विषयों का सुख स्वप्न के समान असार है। जैसे वायु से भड़की आग घी से शांत नहीं होती, वैसे ही काम-वासना भोग से शांत नहीं होती।
- चतुर्विध श्रेष्ठताः धनों में श्रद्धा, रसों में प्रज्ञा, सुखों में अध्यात्म और दुखों में अविद्या सबसे बढ़कर है।
- प्रज्ञा-कवचः बुद्ध ने नन्द को प्रज्ञा (ज्ञान) का कवच पहनने की सलाह दी ताकि शोक के बाण उसे न लग सकें।
- जरा-व्याधि-मृत्युः संसार के तीन सबसे बड़े भय और अनर्थ बुढ़ापा, बीमारी और मौत हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) भगवान बुद्ध ने नन्द को विषयों (काम-सुख) के दोषों के बारे में क्या उपदेश दिया? सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

2) प्रज्ञा-रूपी कवच और योग-अभ्यास के महत्व पर बुद्ध के विचारों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

3) नन्द की प्रव्रज्या (दीक्षा) के समय उसकी मानसिक स्थिति और बुद्ध के करुणापूर्ण व्यवहार का चित्रण कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) हेतुबल की अधिकता वाला और बाह्य कारणों पर आश्रित व्यक्तियों में क्या अंतर है?

2) बुद्ध ने अग्नि और हवि (घी) के उदाहरण से काम-सुख की तुलना किस प्रकार की?

3) संसार में श्रद्धा, प्रज्ञा और अध्यात्म को श्रेष्ठ क्यों माना गया है?

4) शोक के बाणों से बचने के लिए बुद्ध ने नन्द को क्या धारण करने के लिए कहा?

5) नन्द ने आनन्द से एकांत में क्या कहा और क्यों?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) बुद्ध ने किसके मस्तक पर अपना चक्र-चिह्नित हाथ रखा?

(क) आनन्द (ख) सुन्दरी
(ग) नन्द (घ) बुद्ध

2) जरा (बुढ़ापा) के समान प्रजाओं के लिए कोई दूसरी क्या नहीं है?

(क) शुद्धि (ख) गन्दगी/अस्वच्छता
(ग) प्रसन्नता (घ) शक्ति

3) प्रज्ञा की तुलना बुद्ध ने किससे की है?

(क) बाण से (ख) कवच से
(ग) सर्प से (घ) अग्नि से

4) बुद्ध ने नन्द को दीक्षा देने का आदेश किसे दिया?

(क) सारिपुत्र (ख) आनन्द
(ग) राहुल (घ) देवदत्त

5) काम-सुख की तुलना किसके समान की गई है जो असार है?

(क) पर्वत (ख) स्वप्न
(ग) समुद्र (घ) वज्र

इकाई-4.3

प्रज्ञावबोधः, आसक्तिदोषनिवारणञ्च

उद्देश्य

- विवेक जागृत करना: नन्द को यह समझाना कि जब उसके बड़े भाई (बुद्ध) और अन्य भाई संन्यास ले चुके हैं, तो वह मोह में क्यों फँसा है।
- संसार की भयंकरता का चित्रण: संसार को एक जलते हुए घर और मृत्यु के पाश के समान दिखाकर नन्द के मन में वैराग्य उत्पन्न करना।
- आसक्ति का निवारण: यह सिद्ध करना कि जिस वस्तु में सुख (आसक्ति) है, उसके वियोग में उतना ही बड़ा दु:ख छिपा है।
-

परिणाम

- तार्किक बोध: नन्द को यह समझ आता है कि संसार अनित्य है और राजा-महाराजा भी सब छोड़कर चले गए हैं।
- मोह-पाश पर प्रहार: बुद्ध स्पष्ट रूप से पत्नी (सुन्दरी) को मोहजाल और दु:ख का कारण बताते हैं।
- प्रव्रज्या की पृष्ठभूमि: नन्द मानसिक रूप से भौतिक सुखों की निस्सारता को स्वीकार करने की स्थिति में आता है।

प्रज्ञावबोधः

मय्यग्रजे प्रव्रजितेऽजितात्मन् भ्रातृष्वनुप्रव्रजितेषु चास्मान् ।
ज्ञातींश्च दृष्ट्वा व्रतिनो गृहस्थान् संविन्न कि तेऽस्ति न वास्ति चेतः ॥ ३७ ॥

अन्वयः-अजितात्मन् ! अग्रजे अपि प्रव्रजिते अस्मान् भ्रातृषृ च अनुप्रव्रजितेषु ज्ञातीन् च गृहस्थान् व्रतिनः दृष्ट्वा किं ते संवित् नास्ति चेतः वा नास्ति ।

व्याख्या-अजितात्मन् = अवशिन्, अग्रजे = ज्येष्ठभ्रातरि, अपि बुद्धे, प्रव्रजिते = प्रव्रज्यामुपगते, अस्मान् भ्रातृषु = सहोदरेषु, च = पुनः, अनुप्रव्रजितेषु = अनुसृत्य संन्यस्तेषु, ज्ञातीन् = विदितान्, च = पुनः, गृहस्थान्-गृहे = सदने, तिष्ठतीति = निवसतीति गृहस्थास्तान् = गृहिणः, व्रतिनः-व्रतमस्ति अस्य व्रती, ते = नियमवन्तः, दृष्ट्वा = अवलोक्य, किं ते = तब, संवित्-सम्यक् वेत्तीति संवित् = ज्ञानम्,

नास्ति = न विद्यते, वा = आहोस्वित्, चेतः = चित्तम्, नास्ति = न विद्यते ।

हिन्दी–हे अवशिन् ! मुझ अग्रज के संन्यास ग्रहण करने पर तथा हमारे छोटे भाइयों के संन्यासी बन जाने पर तथा अपने परिचितों को घर में रहते हुए भी व्रत पालन करते देखकर भी क्या तुम्हारी आंख नहीं खुलती अथवा तुम्हारे पास चित्त है ही नहीं ।।

राजर्षयस्ते विदिता न नूनं वनानि ये शिश्रियिरे हसन्तः ।

निष्ठीव्य कामानुपशान्तिकामाः कामेषु नैवं कृपणेषु सक्ताः ।। ३८ ।।

अन्वयः–नूनं ते राजर्षयः न विदिताः ये हसन्तः वनानि शिश्रियिरे उपशान्ति-कामाः कामान् निष्ठीव्य कृपणेषु कामेषु नैवं सक्ताः ।

व्याख्यातूनम्–नूनम् = निश्चयेन, ते = पुरातनाः, राजर्षयः = नृपमुनयः, न = नहि, विदिताः = परिचिताः, ये = मुनयः, हसन्तः = मुदिताः सन्तः, वनानि = अरण्यानि, शिश्रियिरे = सिसिविरे, उपशान्तिकामा = उपशामनम्, कामयन्ते = अभिलषन्ते, ये वे शमप्राप्तकामाः, कामान् = विषयोपभोगान्, निष्ठीव्य = तिरस्कारं कृत्वा, कृपणेषु = तुच्छ-विषयेषु, कामेषु = विपयेषु, न = नहि, एवम् = अनेन प्रकारेण, सक्ताः = आसक्ताः भवन्ति ।

हिन्दी–निश्चय ही तुम उन राजर्षियों को नहीं जानते, जिन्होंने हँसते हुए वन गमन किये। उन्होंने तुच्छ वासना का तिरस्कार किया तथा कभी भी विषयोपभोग में इस तरह आसक्त नहीं हुए ।।

भूयः समालोक्य गृहेषु दोषान्निशाम्य तत्त्यागकृतं च शर्म ।

नैवास्ति मोक्तुं मतिरालयं ते देशं मुमूर्षोरिव सोपसर्गम् ।। ३९ ।।

अन्वयः–भूयः गृहेषु दोषान् निशाम्य तत्त्यागकृतं शर्म च समालोक्य ते सोपसर्गे देशं मुमूर्षोः इव आलयं मोक्तुं मतिः नैव अस्ति ।

व्याख्या–भूयः = पुनः, गृहेषु = गेहेषु दोषान् = अवगुणान्, निशाम्य = अवलोक्य, तत्त्यागकृतं-तेषाम् = दोषाणाम्, त्यागेन = मोचनेन, कृतं शर्म = शान्तिम्, च समालोक्य = आलोक्य, ते तव नन्दस्य, सोपसर्गम् = उपद्रवयुक्तम्, देशं = स्थानम्, मुमूर्षोः = मोक्तुमिच्छोः, इव = यथा, आलयम् = गृहम्, मोक्तुम् = विमोचयितुम्, मतिः = बुद्धिः, नैव अस्ति = विद्यते । **अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः** ।

हिन्दी–फिर घर के दोषों तथा उसके त्याग से होने वाली शान्ति को देखकर; जैसे कि मृत्यु की इच्छा करनेवाला व्यक्ति उपद्रवयुक्त स्थान को नहीं छोड़ना चाहता है. उसी तरह तुम घर छोड़ने का विचार नहीं करते हो ।।

संसारकान्तारपरायणस्य शिवे कथं ते पथि नारुरुक्षा ।

आरोप्यमाणस्य तमेव मार्ग भ्रष्टस्य सार्थादिव सार्थिकस्य ।। ४० ।।

अन्वयः संसारकान्तारपरायणस्य ते सार्थात् भ्रष्टस्य, सार्थिकस्य तमेव मार्गम् आरोप्यमाणस्य इव शिवे पथे आरुरुक्षा कथं न ?

व्याख्या- संसारः = जगत्, एवं कान्तारः = वनम्, तस्मिन् परायणः = निमग्नस्तस्य = जगदटवीप्रसक्तस्य, ते = तव, सार्थात् = सन्दोहात्, भ्रष्टस्य = वियुक्तस्य, सार्थिकस्य = व्यापारिणः, तमेव = पूर्वोक्तमेव, मार्गम् = पथम्, आरोप्यमाणस्यैव स्थिरीक्रियमाणस्यैव, शिवे = कल्याणप्रदे, पथे = मार्गे, आरुरुक्षा = आरोढुमिच्छा, कथं न = कथन्न जायते ।

हिन्दी-काफिले से भटका व्यापारी जैसे अपनी सही राह नहीं पकड़ पाता है, उसी तरह संसार रूपी सघन वन में भटकते हुए तुम्हारी इच्छा कल्याणकारी राह पर क्यों नहीं चलना चाहती है ?

यः सर्वतो वेश्मनि दह्यमाने शयीत मोहान्न ततो व्यपेयात् ।

कालाग्निना व्याधिजराशिखेन लोके प्रदीप्ते स भवेत् प्रमत्तः ॥ ४१ ॥

अन्वयः यः सर्वतः दह्यमाने वेश्मनि मोहात् शयीत ततो न व्यपेयात्, सः व्याधिजराशिखेन कालाग्निना प्रदीप्ते लोके प्रमत्तः भवेत् ।

व्याख्या-यः = पुरुषः, सर्वतः = चतुर्दिक्षु, दह्यमाने = जाज्वल्यमाने, वेश्मनि = सदने, मोहात् = अज्ञानात्, शयीत स्वप्यात्, ततः = तस्मात्, न = नहि, व्यपेयात् = निर्गच्छेत, सः = तादृग् जनः, व्याधिजराशिखेन-व्याधिश्च = रोगश्च, जरा च = वृद्धावस्था च, ते शिखा = ज्वालः, यस्य तेन, कालाग्निना-कालः समयः, एव अग्निः = वह्निस्तेन, प्रदीप्ते = प्रज्वलिते, लोके = संसारे, प्रमत्तः = उन्मत्तः, भवेत् = स्यादिति ।

हिन्दी-जो चारों ओर से आग लगे हुए घर में सोता है, उससे बाहर नहीं निकलता है; वही व्यक्ति रोग और बुढ़ौती की लपटों वाली कालाग्नि से जलती दुनियाँ में प्रमत्त की तरह रहता है ।।

प्रणीयमानश्च यथा वधाय मत्तो हसेच्च प्रलपेच्च वध्यः ।

मृत्यौ तथा तिष्ठति पाशहस्ते शोच्यः प्रमाद्यन्विपरीतचेताः ॥ ४२ ॥

अन्वयः-यथा वधाय प्रणीयमानः वध्यः मत्तः प्रलपेत् च हसेत् च तथा पाशहस्ते मृत्यौ तिष्ठति प्रमाद्यन् विपरीतचेताः शोच्याः ।

व्याख्या-यथाः = येन रूपेण, बधाय = हननाय, प्रणीयमानः = नीयमानः, बध्यः = हन्तव्यो जनः, मत्तः = प्रमत्तः, प्रलपेत् = जल्पेत्, च = पुनः, हसेत् = हसनं कुर्यात्, तथा = तेन प्रकारेण, पाशहस्ते = करधृतपाशे, मृत्यौ = अन्तके, तिष्ठति = उपस्थिते, प्रमाद्यन् = प्रमादं कुर्वन्, विपरीतचेताः = विपरीतबुद्धिः, शोच्यः = चिन्त्यो भवति ।

हिन्दी-जैसे वध के लिए ले जाया जाता बलिपुरुष उन्मत्त होकर प्रलाप करता है तथा हँसता है, उसी तरह हाथ में पाश लेकर मौत के सामने रहने पर भी मस्त रहने वाला विपरीतबुद्धि व्यक्ति

चिन्तनीय है ।।

आसक्तिदोषनिवारणम्

यदा नरेन्द्राश्च कुटुम्बिनश्च विहाय बन्धूंश्च परिग्रहांश्च ।

ययुश्च यास्यन्ति च यान्ति चैव प्रियेष्वनित्येषु कुतोऽनुरोधः ॥ ४३ ॥

अन्वयः-यदा नरेन्द्राश्च कुटुम्बिनश्च परिग्रहांश्च बन्धूंश्च विहाय ययुश्च यास्यन्ति च यान्ति च अनित्येषु प्रियेषु अनुरोधः कुतः ?

व्याख्या-यदा = यस्मिन् काले, नरेन्द्राश्च = राजानश्च, कुटुम्बिनश्च = गृहस्थाश्च, परिग्रहांश्च = परिजनांश्च, बन्धूंश्च = सगोत्रांश्च, विहाय = परित्यज्य, ययुश्च = जग्मुश्च, यास्यन्ति च = व्रजिष्यन्ति च, यान्ति च = गच्छन्ति च, तदा अनित्येषु = नश्वरेषु, प्रियेषु = मनोहरेषु, अनुरोधः = अभिनिवेशः, कुतः = कथम् ?

हिन्दी-जब राजे-महाराजे भी अपने परिवार, परिजन और बन्धु-बान्धवों को छोड़कर चले गये, चले जायेंगे और चले जा रहे हैं; तो फिर नश्वर, क्षणिक प्रिय-वस्तुओं के प्रति आग्रह कैसा ? ।।

किञ्चिन्न पश्यामि रतस्य यत्र तदन्यभावेन भवेन्न दुःखम् ।

तस्मात् क्वचिन्न क्षमते प्रसक्तिर्यदि क्षमस्तद्विगमान्न शोकः ॥ ४४ ॥

अन्वयः-किञ्चित् न पश्यामि यत्र रतस्य तदन्यभावेन दुःखं न भवेत्, तस्मात् क्वचित् प्रसक्तिः न क्षमते यदि क्षमः तद्विगमात् शोकः न ।

व्याख्या-किञ्चित् = अहं किमपि, न = नहि, पश्यामि = अवलोकयामि, यत्र यस्मिन् स्थाने, रतस्य = अनुरक्तस्य, तदन्यभावेन-तस्य अन्योन्यभावस्तेन = तदन्यथाजातेन, दुःखम् = कष्टम्, न = नहि, भवेत् = स्यात्, तस्मात् = तेन कारणेन, क्वचित् = कुत्रापि, प्रसक्तिः = आसक्तिः, न = नहि, क्षमते = सहते, यदि = चेत्, क्षमः = उचितः, तद्विगमात्-तस्य = प्रियस्य, विगमः = वियोगस्तस्मात्, शोकः = दुःखम्, न = नहि भवेदिति ।

हिन्दी-मैं ऐसा कुछ भी नहीं देखता, जिसमें आसक्त होने वाले को उससे बिछुड़ने पर दुःख न हो, अतः आसक्ति कहीं उचित नहीं हैं, यदि उचित है तो फिर उसके बिछुड़ने पर कष्ट नहीं होना चाहिए ।।

तत् सौम्य ! लोलं परिगम्य लोकं मायोपमं चित्रमिवेन्द्रजालम् ।

प्रियाभिधानं त्यज मोहजालं छेत्तुं मतिस्ते यदि दुःखजालम् ॥४५॥

अन्वयः-तत् हे सौम्य ! लोकं लोलं मायोपमम् इन्द्रजालम् इव चित्रं परिगम्य यदि दुःखजालं छेत्तु ते मतिः प्रियाभिधानं मोहजालं त्यज ।

व्याख्या–तत् = तस्मात्, सौम्य = हे भद्र, लोकम् = जगत्, लोलम् = चपलम्, मायोपमम्–माया = ममता, उपमा = तुलना, यस्य तम्, इन्द्रजालम् = मायाकृत्यम्, इव = यथा, चित्रम् = विस्मयोत्पादकम्, परिगम्य = ज्ञात्वा, यदि = चेत्, दुःखजालम् = शोकसमूहः, छेत्तुम् = भेत्तुम्, ते = तव, मतिः = बुद्धि, तर्हि प्रियाभिधानम्–प्रिया = कान्ता, अभिधानम् = नामकम्, यस्य तम्, मोहजालम् = अज्ञानबन्धनम्, त्यज = परित्यजेति कर्त्तयतेति भावः ।

हिन्दी–अतः हे भद्र ! इस संसार को अस्थिर, मायापूर्ण तथा इन्द्रजाल की तरह विस्मयोत्पादक जानकर यदि तुम्हारा विचार इस दुःखजाल को काटने का है तो कान्ता नामक मोहपाश को काट डालो ।।

स्मरणीय बिंदु

- दृष्टान्तः संसार की तुलना इन्द्रजाल (जादू के खेल) और माया से की गई है।
- जरा–व्याधि–पाशः बुढ़ापा और रोग काल–रूपी अग्नि की लपटें हैं।
- विपरीत बुद्धिः मृत्यु सामने खड़ी हो और फिर भी मनुष्य भोगों में मग्न रहे, तो वह वध के लिए ले जाए जा रहे मदमस्त पशु के समान है।
- अविभाज्य दुःखः ऐसी कोई प्रिय वस्तु नहीं है, जिसके बिछड़ने पर दुःख न हो। अतः अनासक्ति ही एकमात्र समाधान है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) भगवान बुद्ध ने संसार को जलते हुए घर और इन्द्रजाल के उदाहरण से किस प्रकार समझाया है? विस्तार से लिखिए।

2) आसक्ति ही दुःख का मूल कारण है पाठ के आधार पर इस कथन की समीक्षा कीजिए।

3) बुद्ध ने नन्द को किन पूर्ववर्ती राजाओं और भ्राताओं का उदाहरण देकर संन्यास के लिए प्रेरित किया?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) विपरीत बुद्धि वाले व्यक्ति की तुलना किससे की गई है?

2) जरा (बुढ़ापा) और व्याधि (रोग) को बुद्ध ने क्या संज्ञा दी है?

3) प्रियाभिधानं त्यज इस पंक्ति में प्रिया (पत्नी) के प्रति बुद्ध का क्या दृष्टिकोण है?

4) काफिले से भटके हुए व्यापारी का उदाहरण यहाँ किस सन्दर्भ में दिया गया है?

5) नन्द को अपने भाइयों के संन्यास लेने पर बुद्ध ने क्या उलाहना (व्यंग्य) दिया?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) संसार की तुलना किससे की गई है?

(क) सुदृढ़ भवन से (ख) इन्द्रजाल/माया से
(ग) रत्नों की खान से (घ) अक्षय पात्र से

2) मृत्यु किसके समान पाश (फंदा) हाथ में लिए खड़ी है?

(क) व्याध (शिकारी) (ख) मित्र
(ग) राजा (घ) यमराज

3) बुद्ध के अनुसार कौन सा मार्ग शिव (कल्याणकारी) है?

(क) गृहस्थ मार्ग (ख) भोग मार्ग
(ग) मोक्ष/संन्यास मार्ग (घ) युद्ध मार्ग

4) उपनाम या नाम (प्रिया) को बुद्ध ने क्या कहा है?

(क) सुख का साधन (ख) मोहजाल
(ग) अमृत (घ) आभूषण

5) किसके वियोग में दु:ख अवश्यम्भावी है?

(क) शत्रु के (ख) निर्जीव वस्तु के
(ग) प्रिय वस्तु के (घ) कड़वी औषधि के

इकाई-4.4

दीक्षामाहात्म्यम्, नन्दस्य दीक्षाग्रहणम्

उद्देश्य

- कठोर सत्य का बोध: नन्द को यह समझाना कि कल्याणकारी मार्ग कभी-कभी अरुचिकर (कठोर) भी हो सकता है, जैसे कड़वी औषधि।
- राग का उच्छेदन: नन्द के भीतर व्याप्त काम-रूपी शल्य (काँटे) को निकालने के लिए उसे वैराग्य की दीक्षा देना।
- शिष्यत्व की स्थापना: नन्द को एक राजकुमार से एक अनुशासित भिक्षु के रूप में परिवर्तित करना।

परिणाम

- समर्पण: बुद्ध के तर्कों और उपमाओं से प्रभावित होकर नन्द अंततः दीक्षा के लिए तैयार हो जाता है।
- शारीरिक परिवर्तन: नन्द के सुंदर केश काट दिए जाते हैं और वह काषाय (गेरुआ) वस्त्र ध ारण करता है।
- मानसिक स्थिति: दीक्षा के बावजूद नन्द का मन नवनिर्मित बंदी हाथी के समान दुखी और चिंतामग्न है। वह शारीरिक रूप से भिक्षु बन गया है, परंतु मानसिक रूप से अभी भी सुन्दरी के मोह में है।

दीक्षामाहात्म्यम्

वरं हितोदर्कमनिष्टन्नं न स्वादु यत्स्यादहितानुबद्धम् ।

यस्मादहं त्वां विनियोजयामि शिवे शुचौ वर्त्मनि विप्रियेऽपि ॥ ४६ ॥

अन्वयः-हितोदर्कम् अनिष्टम् अन्नं वरं स्यात् यत् अहितानुबद्ध स्वादु च न वरं यस्मात् अहं त्वां शिवे शुचौ वर्त्मनि विप्रियेऽपि विनियोजयामि ।

व्याख्या-हितोदर्कम्-हितः = लाभकर, उदर्कः = अन्तः, यस्य तत् = लाभान्तम्, अन्नम् = भक्ष्यपदार्थः, वरम् = श्रेष्ठम्, स्यात् = भवेत्, यत् अहितानुबद्धम्-अहितेन = अकल्याणकरेण, अनुबद्धम् = नियन्त्रितम्, स्वादु = स्वादयुक्तम्, न = नोचितम्, यस्मात् = येन कारणेन, अहम् = बुद्धः, त्वाम् = नन्दम्, शिवे = कल्याणप्रदे, शुचौ = पवित्रे, वर्त्मनि = मार्गे, विप्रियेऽपि = अनिटकरे सत्यपि, विनियोजयामि = नियोजयामि ।

हिन्दी–हितकर अप्रिय भोजन भी श्रेष्ठ होता है, किन्तु अहितकारी सुस्वादु भोजन भी अग्राह्य होता है। अतः अप्रिय होने के बावजूद भी मैं तुम्हें मंगलमय पवित्र रास्ते पर ले जा रहा हूँ ।।

बालस्य धात्री विनिगृह्य लोष्टं यथोद्धरत्यास्यपुटप्रविष्टम् ।

तथोज्जिहीर्षुः खलु रागशल्यं तत्त्वामवोचं परुषं हिताय ॥ ४७ ॥

अन्वयः–यथा धात्री बालस्य निगृह्य आस्यपुटप्रविष्टं लोष्टम् उद्धरति तथा खलु रागशल्यम् उज्जिहीर्षुः हिताय तत्पुरुषं त्वाम् अवोचम् ।

व्याख्या–यथा = येन रूपेण, धात्री = अङ्कपालिका, बालस्य = बटुकस्य, निगृह्य = उपगृह्य, आस्यपुटप्रविष्टम्–आस्यपुटे = मुखपुटे, प्रविष्टम् = निविष्टम्, लोष्टम् = मृत्खण्डम्, उद्धरति = निस्सारयति, तथा = तेन प्रकारेण, खलु = निश्चयेन, रागशल्यम् = कष्टकण्टकम्, उज्जिहीर्षुः = उद्धर्त्तुमिच्छुः, हिताय = कल्याणाय, तत् = पूर्वोक्तम्, परुषम् = कठोरम्, त्वाम् = नन्दम्, अवोचम् = अकथयम् ।

हिन्दी–जैसे कोई धाय बालक को पकड़कर उसके मुँह से मिट्टी के ढेले को बाहर निकालती है, वैसे ही अनुरागरूपी काँटे को निकालने की इच्छा से ही मैंने तुम्हें कठोर बातें कहीं हैं ।।

अनिष्टमप्यौषमातुराय ददाति वैद्यश्च यथा निगृह्य ।

तद्वन्मयोक्तं प्रतिकूलमेतत् तभ्यं हितोदर्कमनुग्रहाय ॥ ४८ ॥

अन्वयः–यथा वैद्यः निगृह्य आतुराय अनिष्टम् अपि औषधं ददाति तद्वत् मया अनुग्रहाय प्रतिकूलं हितोदर्कम् एतत् तुभ्यम् उक्तम् ।

व्याख्या–यथा = येन विधिना, वैद्यः = चिकित्सकः, निगृह्य = गृहीत्वा, आतुराय = दुःखीजनाय, अनिष्टमपि = कटु–कषायोऽपि, औषधम् = भैषज्यम्, ददाति = प्रयच्छति, तद्वत् = तथैव, मया = बुद्धेन, अनुग्रहाय = दयायै, प्रतिकूलम् = विपरीतम्, हितोदर्कम् = हितान्तम्, एतत् = पूर्वोक्तवचः, तुभ्यम् = नन्दाय, उक्तम् = निगदितम् ।

हिन्दी–जैसे चिकित्सक रोगी को पकड़कर उसे अप्रिय औषधि का सेवन कराता है, उसी प्रकार तुम पर दया कर मैंने अप्रिय, किन्तु परिणाम सुखकर अप्रिय बातें तुमसे कहीं हैं ।।

तद्यावदेव क्षणसन्निपातो न मृत्युरागच्छति यावदेव ।

यावद्वयो योगविधौ समर्थं बुद्धिं कुरु श्रेयसि तावदेव ॥ ४९ ॥

अन्वयः–तत् यावत् एव क्षणसन्निपातः यावत् एव मृत्युः न आगच्छति यावत् वयः योगविधौ समर्थं तावत् एव श्रेयसि बुद्धिं कुरु ।

व्याख्या–तत् = तस्मात्, यावत् = यावत्कालपर्यन्तम्, एवेति निश्चयेन, क्षणसन्निपातः–क्षणे = अत्यल्पसमये, सन्निपातः = विनाशः, यावदेव = यावन्मात्रकाले, मृत्युः = प्राणनाशः, न = नहि, आगच्छति

= समायाति, यावद् वयः = आयुः, योगविधौ = योगाभ्यासे, समर्थम् = सक्षमम्, तावदेव = तावदेव काले, श्रेयसि = कल्याणे, बुद्धिम् = मतिम्, कुरु = विधेहिं ।

हिन्दी-अतः जब तक यह जीवन है, जब तक मौत नहीं दबोच लेती, जब तक योगाभ्यास में शरीर समर्थ है, तभी तक अपनी बुद्धि को कल्याण में लगाओ ।।

नन्दस्य दीक्षाग्रहणम्

इत्येवमुक्तः स विनायकेन हितैषिणा कारुणिकेन नन्दः ।

कर्तास्मि सर्वं भगवन् वचस्ते तथा यथाऽऽज्ञापयसीत्युवाच ।। ५० ।।

अन्वयः-हितैषिणा कारुणिकेन विनायकेन इत्येवम् उक्तः सः नन्दः उवाच भगवन् ! यथा आज्ञापयसि तथैव ते सर्वं वचः कर्त्ता अस्मि ।

व्याख्या-हितैषिणा = कल्याणकारिणा, कारुणिकेन = करुणापरायणेन, विनायकेन = तथागतेन, इत्येवम् = अनेन रूपेण, उक्तः = उपदिष्टः, सः = पूर्वोक्तः, नन्दः = गौतमानुजः, उवाच = जगाद, भगवन् = श्रीमन्, यथा = येन प्रकारेण, आज्ञापयसि = आदिशसि, तथैव = तेन रूपेणैव, ते = तव, सर्वम् = सकलम्, वचः = वचनम्, कर्त्ता = कारकः, अस्मि = भवामि ।

हिन्दी- कल्याणकामी, दयालु भगवान् बुद्ध ने जब इस तरह समझाया तब नन्द ने कहा- अब श्रीमान् जैसा कहेंगे, वैसा ही करूंगा ।।

आदाय वैदेहमुनिस्ततस्तं निनाय संश्लिष्य विचेष्टमानम् ।

व्ययोजयच्चाश्रुपरिप्लुताक्षं केशश्रियं छत्रनिभस्य मूर्ध्नः ।। ५१ ।।

अन्वयः ततः-वैदेहमुनिः तम् आदाय विचेष्टमानं संश्लिष्य ततः निनाय छत्र-निभस्य मूर्ध्नः अश्रुपरिप्लुताक्षं केशश्रियं व्ययोजयत् ।

व्याख्या-ततः = तत्पश्चात्, वैदेहमुनिः = आनन्दः, तम् = नन्दम्, आदाय = नीत्वा, विचेऽटमानम् = अतिदुःखिनम्, संश्लिष्य = समालिङ्ग्य, ततः = तस्मात्स्थानात्, निनाय = अनयत्, छत्रनिभस्य-छत्रस्य = राजछत्रस्य, निभः = कान्तिर्यस्य तस्य, मूर्ध्नः = शिरसः, अश्रुपरिप्लुताक्षम्-अश्रुपरिप्लुते अक्षिणी यस्मिन् तत् = वाष्पजलपूरितनेत्रम्, केशश्रियम्-केशस्य = लोमस्य, श्रियम् = शोभाम्, व्ययोजयत् = वियोजितवान् ।

हिन्दी-तब आनन्दमुनि दुःख से तड़पते नन्द को वहाँ से पकड़ कर ले गये । उसकी आँखें आँसू से डबडबाई थी, फिर उनके छत्रतुल्य केश की शोभा को उनसे अलग किया ।।

अथो नतं तस्य मुखं सबाष्पं प्रवास्यमानेषु शिरोरुहेषु ।

वक्राग्रनालं नलिनं तडागे वर्षोदकक्लिन्नमिवाबभासे ॥ ५२ ॥

अन्वयः-अय शिरोरुहेषु प्रवास्यमानेषु तस्य सबाष्पं नतं मुखं तडागे वर्षोदकक्लिन्नं वक्राग्रनालं नलिनम् इव आबभासे ।

व्याख्या-अथ = अनन्तरम्, शिरोरुहेषु = केशेषु, प्रवास्यमानेषु = कर्त्तनक्रियमाणेषु, तस्य = नन्दस्य, सबाष्पम् = अश्रुपूर्णम्, नतम् = अवनतम्, मुखम् = आननम्, तडागे = सरसि, वर्षोदकक्लिन्नम् = वर्षाजलेन सिक्तम्, वक्राग्रनालम्-अग्रश्चासौ नालः अग्रनालः, वक्रः अग्रनालः यस्य तत् = वक्रीभूताग्रनालम्, नलिनम् = पद्मम्, इव = यथा, आबभासे = शोभयामास ।

हिन्दी-केश काटे जाते समय झुका हुआ नन्द का अश्रुपूर्ण मुख वर्षा जल से भीगे टेढ़े अग्रनाल वाले कमल की तरह सुशोभित हुआ ।।

नन्दस्ततस्तरुकषायविरक्तवासा-

श्चिन्तावशो नवगृहीत इव द्विपेन्द्रः ।

पूर्णः शशी बहुलपक्षगतः क्षपान्ते

बालातपेन परिषिक्त इवाबभासे ॥ ५३ ॥

अन्वयः-ततः तरुकषायविरक्तवासाः नवगृहीतः द्विपेन्द्र इव चिन्तावशः नन्दः बहुलपक्षगतः पूर्णः शशी बालातपेन परिषिक्त इव आबभाषे ।

व्याख्या-ततः=तत्पश्चात्, तरुकषायविरक्तवासाः-तरोः = वृक्षस्य, कषायश्च = गैरिकवर्णश्च, विरक्तानाम् = रागरहितानाम्, वासः = वस्त्रम्, यस्य सः, नवगृहीतः = सद्यःवशीकृतः, द्विपेन्द्रः = गजराजः, इव = यथा, चिन्तावशः = शोकवशः, नन्दः = तथागतानुजः, बहुलपक्षगतः-बहुले = कृष्णे, पक्षे = मासार्द्धे, गतः = प्राप्तः, पूर्णः = सकलकलात्मकः, शशी = निशाकरः, बालातपेन-बालः = नवोदितश्चासौ, आतपः = दिवाकरस्तेन = नवोदितसूर्येण, परिषिक्त इव = सिञ्चित इव, आबभासे = शशुभे ।

हिन्दी-तब विरक्तों (भिक्षुओं) का काषाय वस्त्र पहनकर नन्द भवन में ही पकड़े गये गजेन्द्र के समान चिन्ता के वशीभूत हो गया और ऐसे शोभित हुआ जैसे कृष्ण पक्ष में गया हुआ पूर्ण चन्द्रमा जो कि रात्रि के अन्त में बाल सूर्य की किरणों से अभिषिक्त हो रहा हो ।।

सौन्दरनन्दे महाकाव्ये नन्दप्रव्राजनो नाम पञ्चमसर्गः ॥ ५ ॥

स्मरणीय बिंदु

- उपमा (धात्री और बालक): जैसे माता बालक के गले में अटकी मिट्टी निकालने के लिए उसे कष्ट देती है, वैसे ही बुद्ध ने नन्द के हित के लिए कठोर वचन कहे।
- मुंडन का दृश्य: केश काटते समय नन्द का अश्रुपूर्ण झुका हुआ मुख वर्षा से भीगे झुके हुए कमल के समान प्रतीत हुआ।
- भिक्षु वेष: गेरुआ वस्त्र पहने नन्द की तुलना बाल सूर्य की किरणों से रंजित चंद्रमा से की गई है।
- उपमा अलंकार का सौंदर्य: यहाँ अश्वघोष ने नन्द की विवशता और सुंदरता को दिखाने के लिए द्विपेन्द्र (हाथी) और शशी (चंद्रमा) जैसी उच्च कोटि की उपमाओं का प्रयोग किया है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1) दीक्षा के महत्व को स्पष्ट करने के लिए बुद्ध ने हितकर भोजन और धात्री के कौन-से उदाहरण दिए? विस्तार से लिखिए।

2) नन्द के मुंडन और काषाय वस्त्र धारण करने के दृश्य का काव्यात्मक वर्णन पाठ के आधार पर कीजिए।

3) दीक्षा के पश्चात नन्द की मानसिक स्थिति इस विषय पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1) बुद्ध के अनुसार अहितकर स्वादिष्ट भोजन और हितकर कटु भोजन में कौन श्रेष्ठ है और क्यों?

2) मुंडन के समय नन्द के मुख की तुलना झुके हुए कमल से क्यों की गई है?

3) नन्द ने बुद्ध के उपदेशों को सुनने के बाद अंत में क्या प्रतिज्ञा की?

4) आनन्द मुनि नन्द को कहाँ ले गए और वहाँ क्या कृत्य संपन्न हुआ?

5) नोगृहीतः द्विपेन्द्र इव यहाँ नन्द की तुलना हाथी से क्यों की गई है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1) बुद्ध ने नन्द के हृदय से किस प्रकार का शल्य (काँटा) निकालने की बात कही?

(क) घृणा का (ख) राग/मोह का
(ग) ईर्ष्या का (घ) क्रोध का

2) मुंडन के समय नन्द के मुख को किसके समान बताया गया है?

(क) सूर्य (ख) वर्षा से भीगा कमल
(ग) दर्पण (घ) स्वर्ण

3) नन्द ने दीक्षा के समय कौन-से रंग के वस्त्र धारण किए?

(क) श्वेत (ख) पीत
(ग) काषाय/गेरुआ (घ) नील

4) नन्द को हाथ पकड़कर दीक्षा के लिए कौन ले गया?

(क) बुद्ध (ख) आनन्द
(ग) सुन्दरी (घ) प्रजापति

5) भिक्षु वेष में नन्द की चिंतामग्न स्थिति की तुलना किससे की गई है?

(क) पिंजरे में बंद सिंह से (ख) नए पकड़े गए श्रेष्ठ हाथी से
(ग) आकाश के तारागण से (घ) मरुस्थल के यात्री से

॥ इति काव्यं काव्यशास्त्रञ्च समाप्तः ॥

॥ ओ३म् ॥

न्याय-वैशेषिकदर्शनम्

MSSAMJ-203

दिव्य प्रकाशन

न्याय-वैशेषिकदर्शनम्
MSSAMJ-203

उद्देश्य :-

- न्याय व वैशेषिक के सिद्धान्तों का अवबोध कराना।
- न्याय व वैशेषिक के सूत्रार्थ व भाष्यार्थ को सहज रीति से हृदयंगम कराना।
- न्याय व वैशेषिक के पदार्थों से अवगत कराना।

इकाई-1 - न्याय **क्रेडिट-1**

- प्रवृत्तिपरीक्षाप्रकरणम्
- दोषपरीक्षाप्रकरणम्
- प्रेत्यभावपरीक्षाप्रकरणम्
- ईश्वर निमित्त्वकारणत्वप्रतिपादनम्
- विभिन्नवाद परिचयम्
- फलपरीक्षाप्रकरणम्
- दु:खपरीक्षाप्रकरणम्

इकाई- 2 - न्याय **क्रेडिट-1**

- अपवर्गपरीक्षाप्रकरणम्
- तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रकरण
- परमाणुस्वरूपनिरूपण
- तत्त्वज्ञानविवृद्धिप्रकरणम्
- तत्त्वज्ञानपरिपालनप्रकरणम्

इकाई- 3 - वैशेषिक **क्रेडिट-1**

- धर्म का लक्षण
- षड्पदार्थों का सामान्य परिचय
- द्रव्य-गुण-कर्म के भेद और लक्षण।
- पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों के गुणों की परीक्षा।
- काल व दिशा के लक्षण एवं परीक्षा।
- आत्मा के साधक लिङ्ग

इकाई- 4 - वैशेषिक **क्रेडिट-1**

- आत्मा के द्रव्यत्व-नित्यत्व एवं नानात्व में हेतु।
- पृथिव्यादि के पाञ्चभौतिकत्व एवं त्रिभौतिकत्व का निषेध।
- योनिज एवं अयोनिज शरीर।
- दोषयुक्त भोजन से पाप एवं दोषरहित भोजन से पाप का अभाव।
- शुचि एवं अशुचि द्रव्य।

परिणामः-

- न्याय व वैशेषिक की सम्यक् दृष्टि प्राप्त करता है।
- नैयायिक तर्क प्रणाली सम्पन्न व्यक्तित्व का निर्माण होता है।
- वैशेषिक दर्शन के अध्ययन से समस्त भौतिकपदार्थों की विवेचना में सक्षम होता है।

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ सं.**

इकाई-1 - न्याय **7-27**

- प्रवृत्तिपरीक्षाप्रकरणम्
- दोषपरीक्षाप्रकरणम्
- प्रेत्यभावपरीक्षाप्रकरणम्
- ईश्वर निमित्त्वकारणत्वप्रतिपादनम्
- विभिन्नवाद परिचयम्
- फलपरीक्षाप्रकरणम्
- दु:खपरीक्षाप्रकरणम्

इकाई- 2 - न्याय **28-43**

- अपवर्गपरीक्षाप्रकरणम्
- तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रकरण
- परमाणुस्वरूपनिरूपण
- तत्त्वज्ञानविवृद्धिप्रकरणम्
- तत्त्वज्ञानपरिपालनप्रकरणम्

इकाई- 3 - वैशेषिक **44-96**

- धर्म का लक्षण
- षड्पदार्थों का सामान्य परिचय
- द्रव्य-गुण-कर्म के भेद और लक्षण।
- पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों के गुणों की परीक्षा।
- काल व दिशा के लक्षण एवं परीक्षा।
- आत्मा के साधक लिङ्ग

इकाई- 4 - वैशेषिक

- आत्मा के द्रव्यत्व-नित्यत्व एवं नानात्व में हेतु।
- पृथिव्यादि के पाञ्चभौतिकत्व एवं त्रिभौतिकत्व का निषेध।
- योनिज एवं अयोनिज शरीर।
- दोषयुक्त भोजन से पाप एवं दोषरहित भोजन से पाप का अभाव।
- शुचि एवं अशुचि द्रव्य।

भूमिका

न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम माने जाते हैं। इस दर्शन का प्रमुख उद्देश्य ज्ञान की शुद्धता और प्रमाणों की सही पहचान करना है। न्याय दर्शन में चार प्रमाणों को स्वीकार किया गया है– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन प्रमाणों के माध्यम से सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है।

न्याय दर्शन की विशेषता यह है कि यह तर्क और विश्लेषण के माध्यम से सत्य को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। यह दर्शन जीव, ईश्वर, आत्मा, मोक्ष और बंधन की अवधारणाओं को तर्कसंगत रूप से प्रस्तुत करता है। मोक्ष को इस दर्शन में आत्मा की सभी दुखों से मुक्ति के रूप में देखा गया है, और इसका उपाय है– सत्य ज्ञान की प्राप्ति।

न्याय दर्शन में संसार को मिथ्या नहीं माना गया, बल्कि यथार्थ रूप से स्वीकार किया गया है। इसमें विवेक और तर्क के माध्यम से अज्ञान और भ्रम को दूर करने का मार्ग दिखाया गया है, जिससे मनुष्य मोक्ष की ओर अग्रसर हो सके।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कणाद माने जाते हैं। यह दर्शन मुख्यतः पदार्थों की यथार्थ प्रकृति और उनके वर्गीकरण पर आधारित है। वैशेषिक दर्शन में छः पदार्थों (वास्तविकताओं) की चर्चा की गई है ख्र द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय।

यह दर्शन ब्रह्मांड और पदार्थों की सूक्ष्म संरचना को समझाने का प्रयास करता है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण जगत परमाणुओं से बना है, और यही परमाणु विभिन्न रूपों में संसार की वस्तुओं को बनाते हैं। यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक सोच के बहुत निकट है और भारतीय तात्त्विक चिन्तन में इसकी विशेष भूमिका रही है।

वैशेषिक दर्शन भी मोक्ष को मानव जीवन का परम लक्ष्य मानता है। इसके अनुसार, मोक्ष ज्ञान से प्राप्त होता है, और यह ज्ञान सत्य वस्तुओं के तात्त्विक स्वरूप को जानने से होता है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं। न्याय दर्शन प्रमाण और तर्क के माध्यम से सत्य तक पहुंचने का मार्ग दिखाता है, जबकि वैशेषिक दर्शन उस सत्य को पदार्थ और उसकी श्रेणियों के रूप में प्रस्तुत करता है। दोनों दर्शन ज्ञान, तर्क, विज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति में अहम भूमिका निभाते हैं। भारतीय दर्शन के विकास और उसकी वैज्ञानिक सोच में इनकी भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है

इकाई-1

न्यायदर्शन

अथ प्रवृत्तिपरीक्षाप्रकरणम्-

प्रमेयों की परीक्षा के लिए निर्दिष्ट प्रमेय सूत्र **आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्।।** (१/१/९) में पठित क्रम के अनुसार मन की परीक्षा के अनन्तर प्रवृत्ति की परीक्षा के लिए महर्षि गौतम कहते हैं–

प्रवृत्तिर्यथोक्ता । ४/१/१

जिस प्रकार प्रवृत्ति लक्षण द्वारा कह दी गई है वही प्रवृत्ति की परीक्षा समझ लेनी चाहिए। प्रवृत्ति के लक्षण सूत्र **'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः'** (१/१/१७) में प्रवृत्ति के विषय में जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, वही उसकी परीक्षा के लिए पर्याप्त है। उसकी परीक्षा के लिए और कुछ वक्तव्य शेष नहीं; क्योंकि वह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। **इति प्रवृत्तिपरीक्षाप्रकरणम्।**

अथ दोषपरीक्षाप्रकरणम्–

तथा दोषाः । ४/१/२

बुद्धिसमानाश्रयत्वादात्मगुणाः, प्रवृत्तिहेतुत्वात् पुनर्भवप्रतिसन्धानसामर्थ्याच्च संसार हेतवः, संसारस्यानादित्वादनादिना प्रबन्धेन प्रवर्तन्ते, मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तत्त्वज्ञानात् तन्निवृत्तौ रागद्वेषप्रबन्धोच्छेदेऽपवर्ग इति। प्रादुर्भावतिरोधानधर्मका इत्येवमाद्युक्तं दोषाणामिति। (वा.भाष्य)

उसी प्रकार प्रवृत्ति के समान रागादि दोष भी परीक्षित जाननी चाहिए। 'दोष' शब्द से यहाँ राग, द्वेष, मोह का ग्रहण होता है। इसका विवरण भी लक्षणसूत्र 'प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः' (१/१/१८) तथा प्रसंगानुसार (१/१/२), 'वीतरागजन्मादर्शनात्' (३/१/२५) आदि के व्याख्यानों से समझ लेना चाहिए।

विशेष– १. बुद्धि (ज्ञान) के समानाश्रय होने से ये राग, द्वेषादि दोष भी बुद्धि के समान आत्मा के गुण हैं। ये प्रवृत्ति द्वारा जन्म-मरणात्मक संसार के प्रवाहरूप से अनादि कारण हैं। **दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्गः।।** (१/१/२) के अनुसार दोषों की निवृत्ति मिथ्याज्ञान की निवृत्तिपूर्वक तत्त्वज्ञान से होती है।

२. यद्यपि दोषों के स्वरूप पर मतभेद नहीं है, किन्तु उनके विभागों के विषय में आगे विस्तार पूर्वक वर्णन करेंगे।

सन्दर्भ– अब गौतम ऋषि विविध दोषों को तीन राशियों में विभक्त करते हैं–

तत्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् । ४/१/३

तेषां दोषाणां त्रयो राशयस्त्रयः पक्षाः। रागपक्षः कामो मत्सरः स्पृहा तृष्णा लोभ इति। द्वेषपक्षः क्रोध ईर्ष्याऽसूया द्रोहोऽमर्ष इति। मोहपक्षो मिथ्याज्ञानं विचिकित्सा मानः प्रमाद इति। (वा.भाष्य) राग, द्वेष तथा मोहरूप अवान्तर भेद होने के कारण उन (दोषों) की तीन राशियाँ (तीन समुदाय) हैं। प्रवृत्ति के निमित्तभूत दोषों का तीन समुदायों में अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे-

१. **रागपक्ष** (रागसमुदाय) में-

- **काम**- अनेक प्रकार के भोगों की इच्छा ।
- **मत्सर**- बिना अपने प्रयोजन के भी दूसरों को हानि पहुँचाने की इच्छा ।
- **स्पृहा**- अन्य की वस्तु पाने की इच्छा ।
- **तृष्णा**- जन्मान्तर की कारणरूप आशा ।
- **लोभ**- अन्याय से दूसरे के धन की इच्छा ।

२. **द्वेषपक्ष** में-

- **क्रोध**- किसी से अपराध होने पर नेत्रादिविकार पूर्वक शीघ्र प्रतिशोध लेने की भावना ।
- **असूया**- दूसरे के गुणों को न सराहना (न सहन करना) ।
- **ईर्ष्या**- अन्य व्यक्ति के लाभ को देखकर द्वेषबुद्धि होना (जलना) ।
- **द्रोह**- दूसरे को हानि पहुँचाने की इच्छा ।
- **अमर्ष**- किसी से अपराध हो जाने पर नाराज होना ।
- **अभिमान**- अपने सत्य अथवा काल्पनिक गुणों का प्रदर्शन करना ।

३. **मोहपक्ष में-**

- **विपर्यय**- मिथ्या (अयथार्थ) ज्ञान होना। संशय सन्देह, शक करने की आदत ।
- **तर्क**- तर्क में तर्क के द्वारा तर्क के लिए अर्थात् कुतर्क करना ।
- **मान**- अपने अन्दर अविद्यमान अथवा अल्पमात्रा में विद्यमान गुणों से स्वयं को बड़ा मानना।
- **प्रमाद**- कर्त्तव्य में अकर्तव्य बुद्धि होना (असावधान रहना)।
- **भय**- दु:खसाधनों के प्राप्त होने पर उनकी निवृत्ति में अशक्यबुद्धि (उपाय न सूझना)।
- **शोक**- पुनः न प्राप्त होने वाले पदार्थ के वियोग में दु:खबुद्धि।

संशय– जिस प्रकार सब दोषों को तीन भागों में विभक्त किया गया है, उसी प्रकार इन तीन राशियों को भी केवल एक 'दोष' नामक राशि में रखा जा सकता है। तीन पक्ष बनाना भी अनावश्यक है।

समाधान– ये तीन विभाग अनुचित नहीं है; क्योंकि राग, द्वेष, मोह एक दूसरे से सर्वथा भिन्न स्वरूप हैं। इनका एक–दूसरे में अन्तर्भाव सम्भव नहीं हो सकता। जैसे- 'राग' आसक्ति स्वरूप है, किसी के प्रति गहरी अनुकूलता को प्रकट करना।

द्वेष– असहिष्णुतारूप अमर्ष है, जिसमें प्रतिकूलता का अस्तित्व है।

मोह– मिथ्याज्ञान स्वरूप है।

इस प्रकार ये तीनों परस्पर भिन्न हैं। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप में इनकी भिन्नता का अनुभव करता है। अतः तीन विभाग उचित हैं।

संशय– समस्त दोषों के तीन विभाग किए जाने पर पूर्वपक्ष आक्षेप करता है-

एकमात्र तत्त्वज्ञान (सम्यङ्मति, यथार्थज्ञान) इन राग, द्वेष, मोह- तीनों दोषों का विरोधी (नाशक) है, अर्थात् तत्त्वज्ञान के होते ही ये सब नष्ट हो जाते हैं। इसलिए इनके तीन भेद ठीक नहीं। यदि दोषों के तीन भेद माने जाएँ, तो फिर इनके प्रतिद्वन्द्वी भी तीन ही होने चाहिए। परन्तु इनका विरोधी एक ही तत्त्वज्ञान है, अतः दोषों में भी एकत्व होना चाहिए।

समाधान– अब महर्षि गौतम उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं-

व्यभिचारादहेतुः । ४/१/५

एकप्रत्यनीकाः पृथिव्यां श्यामादयोऽग्निसंयोगेनैकेन, एकयोनश्च पाकजा इति। (वा.भाष्य) विभिन्न अनेक पदार्थों का नाश किसी एक विरोधी के द्वारा भी देखा जाता है। जैसे- वस्त्र, लकड़ी, पुस्तक, तेल आदि परस्पर भिन्न (विजातीय) पदार्थों का एक अग्नि द्वारा नाश हो जाता है। कच्चे घड़े का श्यामरूप, मृदुस्पर्श, विशेषगन्ध ये परस्पर भिन्न गुण अग्नि के संयोग से नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार कच्चे आम आदि के विविध गुणों का अग्नि के संसर्ग से पाकज गुण से परिवर्तन देखा जाता है। ऐसे ही एक तत्त्वज्ञान से नष्ट होने वाले राग, द्वेष, मोह, रूप, दोष परस्पर अभिन्न (एक) नहीं हो सकते।

सन्दर्भ– अब सूत्रकार तीनों दोषों में मोह की प्रबलता दिखाते हैं-

तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः । ४/१/६

मोहः पापः, पापतरो वा द्वावभिप्रेत्योक्तम्, कस्मात्? नामूढस्येतरोत्पत्तेः। (वा.भाष्य) उन तीनों में से मोह सबसे अधिक पापयुक्त प्रबल दुष्ट है, मोहरहित व्यक्ति में इतर (राग–द्वेष) की उत्पत्ति भी नहीं देखी जाती। क्योंकि सूत्रकार ने 'राग और मोह में' तथा 'द्वेष और मोह में' ऐसा विभाग माना है'। सब दोषों में मोह की प्रबलता है- क्योंकि जो मोहरहित है, उसे किसी के प्रति राग–द्वेष नहीं रहता।

तत्त्वज्ञान से मोह (मिथ्याज्ञान) का नाश होता है, मोह के न रहने पर राग-द्वेष की उत्पत्ति ही नहीं होती; क्योंकि कारण के नाश से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु 'मोह' है। अहित से अनुराग और वास्तविक हित से द्वेष ये दोनों मोह के कारण उत्पन्न होते हैं, इसी का दूसरा नाम 'मिथ्याज्ञान' है। तत्त्वज्ञान से इस मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, जिससे राग और द्वेष, की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

संशय– उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष आक्षेप करता है -

इस शास्त्र के अनुसार कार्य कारण का परस्पर भेद माना जाता है। गतसूत्र के अनुसार जब 'मोह' रागादि दोषों का कारण है, तो वह स्वयं दोष नहीं हो सकता: क्योंकि कारण कभी कार्य नहीं होता। अत: 'मोह' दोष नहीं, अपितु दोषों का कारण है।

समाधान– अब सूत्रकार उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं -

न, दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य । ४/१/८

प्रवर्त्तनालक्षणा दोषा इत्यनेन दोषलक्षणेनावरुध्यते दोषेषु मोह इति। (वा.भाष्य) मोह के भी दोष के लक्षणों के अंतर्गत होने से उक्त कथन उचित नहीं। शुभ-अशुभ प्रवृत्ति के हेतु दोष हैं **प्रवर्त्तनालक्षण ाा दोषा:।** (१/१/१८)। राग-द्वेष के समान मोह भी इस लक्षण के अन्तर्गत आ जाता है। अत: राग-द्वेष का कारण होते हुए भी 'मोह' दोष है।

सन्दर्भ– अब महर्षि गौतम समानजातीय पदार्थों में कार्य कारण भाव दिखाकर उक्त कथन की पुष्टि करते हैं-

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेध:। ४/१/९

द्रव्याणां गुणानां वाऽनेकविधविकल्पो निमित्तनैमित्तिकभावे तुल्यजातीयानां दृष्ट इति। (वा.भाष्य)

समानजातीय द्रव्यों तथा गुणों का परस्पर कारण कार्यभाव देखा जाता है। जैसे-१. द्रव्य अथवा पार्थिव रूप में मृत्तिका घट का समवायिकारण होती है। २. तन्तुगत स्पर्श आदि गुण वस्त्रगत स्पर्श आदि गुण का असमवायिकारण होते हैं। और ३. कारण द्रव्य समस्त, कार्यद्रव्यों का निमित्तकारण होता है। इसी प्रकार 'मोह' दोष होते हुए भी सजातीय राग-द्वेष का कारण हो सकता है। अत: मोह को रागादि दोषों से पृथक् पदार्थ मानना उचित नहीं। **इति दोषपरीक्षाप्रकरणम्।**

अथ प्रेत्यभावपरीक्षाप्रकरणम्।

प्रसंग- दोषों की परीक्षा के अनन्तर अब प्रमेयसूत्र **आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमन:प्रवृत्तिदोष-प्रेत्यभावफलदु:खापवर्गास्तु प्रमेयम्** (१/१/९) के अनुसार क्रमप्राप्त 'प्रेत्यभाव' की परीक्षा आरम्भ करते हैं।

संशय– आत्मा के नित्य होने से उसमें जन्म-मरणरूप प्रेत्यभाव नहीं हो सकता। महर्षि गौतम उक्त

संशय का समाधान करते हैं -

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः। ४/१/१०

नित्योऽयमात्मा प्रैति पूर्वशरीरं जहाति म्रियते इति प्रेत्य च पूर्वशरीरं हित्वा भवति जायते शरीरान्त. रमुपादत्त इति तच्चैतदुभयं 'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः'। (वा.भाष्य) आत्मा के नित्य होने पर 'प्रेत्यभाव' की सिद्धि होती है नित्य आत्मा के द्वारा पूर्वशरीर को छोड़ना 'मृत्यु' और मरकर अन्य शरीर को प्राप्त करना 'जन्म' है। इसी जन्म-मरण के सतत प्रवाह को 'प्रेत्यभाव' कहते हैं। स्वरूप से आत्मा के जन्म-मरण (उत्पत्ति विनाश) नहीं होते। जैसा लक्षणसूत्र में कहा है **पुनरुत्पत्तिःप्रेत्यभावः॥** (१/१/१९) । आत्मा का स्वरूपतः नष्ट और उत्पत्ति होना मानें, तो प्रेत्यभाव नहीं बन सकता; क्योंकि नष्ट वस्तु कभी पुनः उसी प्रकार के अस्तित्व में नहीं आती। इसके अतिरिक्त 'कृतहानि' और 'अकृताभ्यागम' दोष भी प्राप्त होता है। अतः आत्मा की नित्यता में ही प्रेत्यभाव मानना चाहिए।

सन्दर्भ- अब नित्य आत्मा के प्रेत्यभाव निरूपण से शरीर की उत्पत्ति का प्रकार बताते हैं-

व्यक्ताद् व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् । ४/१/११

कथमुत्पत्तिरिति चेत्? केन प्रकारेण किन्धर्मकात् कारणाव्यक्तं शरीराद्युत्पद्यत इति? (वा.भाष्य) व्यक्त कारण से व्यक्त कार्यों की उत्पत्ति होती है प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध होने से। रूपादि गुणों से युक्त व्यक्त (इन्द्रियग्राह्य) पृथिव्यादि कारणों से वैसे ही शरीरादि कार्य उत्पन्न होते हैं। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण है, कि रूपादि गुण युक्त मृत्तिकादि द्रव्यों से वैसे ही (रूपादि गुणों से युक्त) घटादि पदार्थों की उत्पत्ति देखी जाती है। इससे अदृष्ट पदार्थों में भी यही अनुमान होता है, कि व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है।

संशय- अब उक्त निरूपण में पूर्वपक्ष आक्षेप करता है-

न, घटाद् घटानिष्पत्तेः । ४/१/१२

इदमपि प्रत्यक्षं, न खलु व्यक्ताद् घटाव्यक्तो घट उत्पद्यमानो दृश्यते इत्ति व्यक्ताद् व्यक्तस्यानुत्पत्तिदर्शनान्न व्यक्तं कारणमिति। (वा.भाष्य) व्यक्त घट से किसी घट की उत्पत्ति नहीं होती यह भी प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः सर्वत्र व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति बताना अप्रमाणित है।

समाधान- अब गौतम ऋषि उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं-

व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः । ४/१/१३

न ब्रूमः सर्वं सर्वस्य कारणमिति, किन्तु यदुत्पद्यते व्यक्तं द्रव्यं तत्तथाभूतादेवोत्पद्यते इति। व्यक्तं च तन्मृद्द्रव्यं कपालसंज्ञकं यतो घट उत्पद्यते। न चैतन्निह्नुवानः क्वचितदभ्यनुज्ञां लब्धुमर्हतीति। (वा.भाष्य) व्यक्त कारण से घट की उत्पत्ति होने से व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होने का प्रतिषेध उचित नहीं। हम यह नहीं कहते, कि प्रत्येक व्यक्त द्रव्य अन्य व्यक्त को उत्पन्न करता हैं, अपितु हमारा कथन

यह है, कि जो व्यक्त द्रव्य आदि कार्य उत्पन्न होते हैं, वह उसी प्रकार के व्यक्त कारण से उत्पन्न हुआ करते हैं। व्यक्त घट जिन कारण द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं, वे मृदवयव या कपालखण्ड व्यक्त द्रव्य हैं। यदि इसको झुठलाया जाए तो कहीं कोई व्यवस्था नहीं रह सकती। कार्यकारणभाव का यह यथार्थ सिद्धान्त है। अतः व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति का प्रतिषेध उचित नहीं। **इति प्रेत्यभावपरीक्षाप्रकरणम्।**

अथेश्वरस्य निमित्तकारणत्वप्रतिपादनम्।

जगत् के उपादानकारण की समीक्षा करके अब निमित्त कारण ईश्वर की परीक्षा के लिए सूत्रकार कहते हैं-

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् । ४/१/१९

पुरुषोऽयं समीहमानो नावश्यं समीहाफलं प्राप्नोति तेनानुमीयते पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति, यदधीनं स ईश्वरः। तस्मादीश्वरः कारणमिति। (वा.भाष्य) पुरुष के कर्मों की असफलता देखे जाने से ईश्वर (निमित्त) कारण है। यह पुरुष इच्छापूर्वक चेष्टायें (क्रियायें) करता है, किन्तु इच्छानुसार फल प्राप्त नहीं कर पाता। इससे अनुमान होता है, कि प्राणियों के किए हुए कर्मों का फल प्राप्त होना दूसरे के अधीन है। जिसके अधीन है, वह ईश्वर है। इसलिए ईश्वर को शरीरोत्पत्ति एवं जगत् का (निमित्त) कारण मानना चाहिए।

सन्दर्भ– उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष आक्षेप करता है-

न, पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः । ४/१/२०

ईश्वराधीना चेत्फलनिष्पत्तिः स्यादपि तर्हि पुरुषस्य समीहामन्तरेण फलं निष्पद्येतेति। (वा.भाष्य) पुरुषकर्माभावे, पुरुष के कर्मों के अभाव में फल की सिद्धि (प्राप्ति) न होने से (कर्मफल के लिए ईश्वर को निमित्तकारण कहना) ठीक नहीं। पुरुष को अपने कर्मों से फल की प्राप्ति होती है। यदि फल की प्राप्ति ईश्वर के अधीन होती, तो बिना पुरुषार्थ के भी फल की प्राप्ति हो जाती। परन्तु कर्म किए बिना किसी कार्य की सिद्धी नहीं होती। अतः उक्त पक्ष उचित नहीं है।

इसके अतिरिक्त यदि कर्मफल को ईश्वर की इच्छा के अधीन मानें, तो 'अकृताभ्यागमदोष' बिना कर्म किए फलप्राप्ति होना रूप दोष तथा पुरुषों की फल प्राप्ति में विविधता व न्यूनाधिकता होने से ईश्वर पर अन्याय एवं पक्षपात का दोष लगेगा।

समाधान– अब गौतम ऋषि उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं -

तत्कारितत्वादहेतुः । ४/१/२१

पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति, फलाय पुरुषस्य यतमानस्येश्वरः फलं सम्पादयतीति। (वा.भाष्य) कर्मफल के उस ईश्वर के द्वारा कारित (सम्पादित) होने से उक्त हेतु उचित नहीं है। पुरुष (जीवात्मा) की

फलप्राप्ति में ईश्वर को निमित्तकारण बताने से पुरुष के किए कर्मों का प्रतिषेध नहीं होता। ईश्वर उन कर्मों को सफल करता है। जीवों के कर्मानुसार ईश्वर विविध प्रकार के शरीर एवं अन्य भोग्य पदार्थ बनाता है अर्थात् जगत् रचना करता है, जिससे उन कर्मों का फल व्यवस्थित रूप से मिल सके। इससे यह प्रमाणित होता है, कि बिना कर्म के न तो ईश्वर ही किसी को फल देता है; क्योंकि वह नियंता तथा न्यायकारी है, और न बिना ईश्वर की सहायता के कर्म (क्रियायें) ही किसी को फल देने में समर्थ हो सकते हैं; क्योंकि वे जड़ हैं एवं चेतन के अधीन है। जैसे बीज बिना कृषक के और कृषक बिना बीज के फलोत्पत्ति करने में असमर्थ होते हैं वैसे ही ईश्वर और कर्म दोनों ही फलोत्पत्ति में सापेक्ष हैं। अतः पुरुष के कर्मों का फल ईश्वर की निमित्तता के बिना सम्भव नहीं है। इस मान्यता का खण्डन करने के लिए पूर्वपक्ष का **'पुरुषकर्माभावे फलानिष्पतेः'** हेतु उचित नहीं है। **इति ईश्वरस्य निमित्तकारणत्वप्रतिपादनम्।**

अथानिमित्तवाद (अकारणवाद) प्रत्याख्यान–

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् । ४/१/२२

अनिमित्ता शरीराद्युत्पत्तिः, कस्मात्? कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् कण्टकस्य तैक्ष्णयम्, पर्वतधातूनां चित्रता, ग्राव्णां श्लक्ष्णता, निर्निमित्तं चोपादानं दृष्टं तथा शरीरादिसर्गोऽपीति। (वा.भाष्य)

किसी निमित्त के बिना स्वभाव से ही भाव (कार्य) की उत्पत्ति होती है, कांटों की तीक्ष्णता आदि के देखे जाने से। शरीरादि कार्यो की उत्पत्ति बिना किसी निमित्त के हो जाती है ऐसा मानना चाहिए, क्योंकि कांटों की तीक्ष्णता, पहाड़ी धातुओं की विविधता पत्थरों का चिकनापन बिना किसी निमित्त के (नैसर्गिगरूप से) ही देखा जाता है। इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति के लिए किसी निमित्त का मानना अनावश्यक है।

अब आचार्य ने उक्तवाद का प्रौढिवाद से खण्डन किया।

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः । ४/१/२३

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिरित्युच्यते यतश्चोत्पद्यते तन्निमित्तम्। अनिमित्तस्य निमित्तत्वान्नानिमित्ता भावोत्पत्तिरिति। (वा.भाष्य) अनिमित्त के निमित्त होने से (कार्योत्पत्ति) बिना निमित्त के नहीं होती। जिससे जो उत्पन्न होता है, वह उसका निमित्त कारण कहलाता है। वादी के कथनानुसार जब अनिमित्त से भाव (कार्य) की उत्पत्ति होती है, तो वही अनिमित्त उस कार्य का निमित्त हो गया। फिर बिना निमित्त के कार्योत्पत्ति कहाँ रही?

समाधान– अब 'अकारणवादी' के आक्षेप का सिद्धान्त रूप से समाधान करते है।

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः । ४/१/२४

अन्यद्धि निमित्तमन्यच्च निमित्तप्रत्याख्यानाम्, न च प्रत्याख्यानमेव प्रत्याख्येयं यथाऽनुदकः कमण्डलुरिति नोदकप्रतिषेध उदकं भवतीति। (वा.भाष्य) निमित्त और अनिमित्त के परस्पर भिन्न

अर्थ होने से (निमित्तता का) प्रतिषेध उचित नहीं। वादी ने जो कांटों की तीक्ष्णता आदि के दृष्टान्त के द्वारा निमित्त के बिना कार्य की उत्पत्ति कही है, वह इसलिए उचित नहीं, कि अनिमित्त (निमित्ताभाव) का ज्ञान अपने प्रतियोगी निमित्त के सापेक्ष होने से भावरूप निमित्त का बोध कराता है। यदि निमित्त (भावरूप कारण) कोई पदार्थ न होता, तो निमित्ताभाव का ज्ञान भी नहीं हो सकता, परन्तु होता है। इससे स्पष्ट है, कि 'अनिमित्त' शब्द का प्रयोग परमाण्वादि भावरूप कारणों से कार्योत्पत्ति का प्रतिषेधक नहीं है। जैसे- अनित्य अ+नित्य, वैसे ही अनिमित्त=अ+निमित्त है। यदि कोई प्रतियोगी न हो तो 'नञ्च' किसका प्रतिषेध करेगा और न ही अभाव से भावरूप कार्य की उत्पत्ति में कोई प्रमाण मिलता है।

इसके अतिरिक्त उपादान कारण से कार्यमात्र की उत्पत्ति में जीवों के धर्माधर्म रूप कर्म सहयोगी कारण होने से कांटों की तीक्ष्णता आदि भी निमित्त के बिना नहीं होते, अपितु सनिमित्तक हैं। जिन जीवों को काँटों की तीक्ष्णता आदि से सुख-दु:ख होना होता है, उन्हीं के कर्मों के अधीन होकर उनकी उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। अत: कार्योत्पत्ति को अनिमित्तक (स्वाभाविक) कहना प्रमाणशून्य होने से वादी का दुस्साहसमात्र है। **इति अनिमित्तकवादप्रत्याख्यानम्।**

अथ सर्वानित्यत्वनिराकरणम्।

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् । ४/१/२५

किमनित्यं नाम? यस्य कदाचिद् भावस्तदनित्यम्। उत्पत्तिधर्मकनुत्पन्नं नास्ति विनाशधर्मकं चाविनष्टं नास्ति। किं पुनः सर्वम्? भौतिकं च शरीरादि अभौतिकं च बुद्ध्यादि तदुभयमुत्पत्तिविनाशधर्मकं विज्ञायते तस्मात्तत्सर्वमनित्यमिति। (वा.भाष्य) उत्पत्ति और विनाश धर्मवाला होने से सब पदार्थमात्र अनित्य है। जो वस्तु कभी हो, कभी न हो, उसे 'अनित्य' कहते हैं। उत्पत्ति और विनाश पाए जाने से शरीर आदि भौतिक तथा बुद्धि आदि अभौतिक सब पदार्थ अनित्य हैं, नित्य नहीं। अत: आत्मा को नित्य मानना उचित नहीं हैं।

सन्दर्भ- अब सूत्रकार प्रौढिवाद से उक्तवाद का खण्डन करते हैं।

नानित्यतानित्यत्वात् । ४/१/२६

यदि तावत्सर्वस्यानित्यता नित्या? तन्नित्यत्वान्न सर्वमनित्यम्। अथानित्या? तस्यामविद्यमानायां सर्वं नित्यमिति। (वा.भाष्य) अनित्यता के नित्य होने से उक्तवाद उचित नहीं। यदि सबकी अनित्यता नित्य है, तो उस अनित्यता के नित्य होने से सब अनित्य नहीं हो सकते है; क्योंकि अनित्यता सब से बाहर तत्त्व नहीं है और यदि अनित्यता अनित्य है, तो उसके न रहने से सबका नित्य होना सिद्ध हो जाएगा। अत: सब पदार्थों को अनित्य मानना उचित नहीं।

सन्दर्भ- अब 'सर्वानित्यत्ववादी' प्रौढिवादी की आपत्ति का समाधान करता है-

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् । ४/१/२७

तस्या अनित्यताया अप्यनित्यत्वम्। कथम्? यथा अग्निर्दाह्यं विनाश्यानुविनश्यति एवं सर्वस्यानित्यता सर्वं विनाश्यानुविनश्यतीति। (वा.भाष्य) जलाने योग्य (काष्ठादि पदार्थ) को विनष्ट करके (जलाकर) पश्चात् अग्नि के स्वयं के विनाश के समान उस (अनित्यता) की भी अनित्यता सिद्ध होती है। जैसे- काष्ठादि दाह्य पदार्थ को नष्ट करके (जलाकर) अग्नि स्वयं भी नष्ट हो जाती है (बुझ जाती है), वैसे ही पदार्थों की अनित्यता भी सबको नष्ट करके स्वयं भी अन्त में नष्ट हो जाती है अनित्य हा. ेने के कारण। इस प्रकार सबकी अनित्यता के साथ स्वयं अनित्यता भी अनित्य बनी रहती है। अतः सर्वानित्यत्ववाद असंगत नहीं है।

सन्दर्भ– अब महर्षि गौतम पूर्वपक्ष के उक्त समाधान का खण्डन करते हुए अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं-

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धि व्यवस्थनात् । ४/१/२८

अयं खलु वादो नित्यं प्रत्याचष्टे, नित्यस्य च प्रत्याख्यानमनुपपन्नम्। कस्मात्? यथोपलब्धि व्यवस्थानात्। (वा.भाष्य) उपलब्धि के अनुसार व्यवस्था होने से नित्य का प्रत्याख्यान नहीं हो सकता।

जो पदार्थ जैसा उपलब्ध होता है, उसी के अनुसार उसकी व्यवस्था स्वीकार करनी चाहिए, अर्थात् जिस पदार्थ का उत्पत्ति और विनाश प्रमाण से सिद्ध हों, वह अनित्य है, जैसे- शरीर, इन्द्रिय, ज्ञान, घट, पट आदि तथा जिस पदार्थ का अनित्यत्व प्रमाण से सिद्ध न हो सकें, वह नित्य समझना चाहिए, जैसे पृथिवी आदि के परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और इनके गुण आदि। अतः बिना किसी प्रमाण के सब पदार्थों को अनित्य कहना उचित नहीं है। **इति सर्वानित्यत्वनिराकरणम्।**

अथ सर्वनित्यत्वनिराकरणप्रकरणम्।

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् । ४/१/२९

भूतमात्रमिदं सर्वं तानि च नित्यानि भूतोच्छेदानुपपत्तेरिति। (वा.भाष्य) पाँच भूतों के नित्य होने से पदार्थ मात्र नित्य है। यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् पञ्चभूतात्मक है। (नैयायिक) कारण रूप भूतों को नित्य मानते हैं। अतः भूतात्मक गो, घट आदि सभी द्रव्य नित्य हैं।

समाधान– महषि गौतम उक्त वाद का निराकरण करते हैं-

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः । ४/१/३०

उत्पत्तिकारणं चोपलभ्यते विनाशकारणं च, तत् सर्वनित्यत्वे व्याहन्यते इति। (वा.भाष्य) अनेक पदार्थों की उपलब्धि और विनाश के कारणों की उपलब्धि होने से (उक्त वाद) उचित नहीं है।

जैसे- घट की उत्पत्ति और विनाश के कारण भूत कपाल-संयोग और घट का टूट जाना आदि प्रत्यक्ष से उपलब्ध होते हैं, ऐसे ही अन्य अनेक पदार्थों के उत्पत्ति और विनाश के कारण उपलब्ध होते हैं। इसलिए पदार्थमात्र को नित्य कहना प्रमाण सिद्ध नहीं है। जिन पदार्थों के उत्पत्ति और विनाश के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध होते हैं, वे स्पष्टतया अनित्य हैं।

सन्दर्भ– उक्त निराकरण का सर्वनित्यत्ववादी खण्डन करता है-

सब पदार्थों के पंचभूतत्व के अन्तर्गत आ जाने से (सबकी नित्यता का) प्रतिषेध ठीक नहीं।

जिन पदार्थों के उत्पत्ति विनाशकारण उपलब्ध होते हैं, वे भी भूतलक्षणों के अन्तर्गत आ जाने से भूत ही हैं, उनसे भिन्न नहीं, और पाँचों भूतों की नित्यता सिद्ध हो चुकी है। अतः भूतोत्पन्न ये पदार्थ भी नित्य माने जाने चाहिए। इन द्रव्यों की नित्यता का प्रतिषेध उचित नहीं।

समाधान– अब पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए महर्षि गौतम सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं-

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः । ४/१/३२

कारणसमानगुणस्योत्पत्तिः कारणं चोपलभ्यते। न चैतदुभयं नित्यविषयाम्, न चोत्पत्तितत्कारणोपलब्धिःशक्या प्रत्याख्यातुम्,नचाविषया काचिदुपलब्धिः।उपलब्धिसामर्थ्यात्कारणेन समानगुणं कार्यमुत्पद्यते इत्यनुमीयते, स खलूपलब्धेर्विषय इति। (वा.भाष्य)

गो, घटादि भौतिक पदार्थों को अनित्य ही माना जाना चाहिए, क्योंकि उनकी उत्पत्ति तथा विनाश के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध होते हैं, जिससे पृथिवी आदि भूतो के कार्य होने पर भी गो, घटादि पदार्थों में पंचभूतों के परमाणुओं के समान भूतरूपता अथवा भूतों के समान नित्यता नहीं आ सकती; क्योंकि कार्य की उत्पत्ति और विनाश उसके नित्य माने जाने में बाधक हो जाते हैं। प्रत्येक अवयवी उत्पत्ति-विनाश धर्म वाला होता है। अतः उसे नित्य नहीं कहा जा सकता।

सन्दर्भ– पूर्वपक्ष प्रकारान्तर से सबकी नित्यता का प्रतिपादन कर सकता है, कि किसी भी कार्यद्रव्य का उपादान कारण अवस्थित रहता है, उसके कुछ धर्म निवृत्त (अन्तर्हित) हो जाते हैं और कुछ अन्य धर्म उभर आते हैं। धर्मों का यह प्रादुर्भाव और तिरोभाव ही विनाश और उत्पत्ति है। जिसका प्रादुर्भाव होता है, वह उससे पहले भी कारण रूप में विद्यमान रहता है, और जिसका तिरोभाव होता है, वह नष्ट होकर भी कारणरूप में विद्यमान रहता है। इस प्रकार सब पदार्थों की नित्यता सिद्ध होती है।

आचार्य महर्षि गौतम इस धारणा का निराकरण करते हैं -

न, व्यवस्थानुपपत्तेः । ४/१/३३

अयमुपजनः इयं निवृत्तिरिति व्यवस्था नोपपद्यते, उपजातनिवृत्तयोर्विद्यमानत्वात्। (वा.भाष्य) व्यवस्था न हो सकने से उक्त कथन उचित नहीं है। उत्पन्न हुए पदार्थ की उत्पत्ति से पूर्व तथा विनष्ट पदार्थ के विनाश के पश्चात् भी विद्यमान मानने पर 'यह धर्म प्रादुर्भूत (उत्पन्न) हुआ, यह तिरोहित (नष्ट)

हुआ'- यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकती; क्योंकि जब वे धर्म कार्य के उपादान द्रव्य के साथ प्रत्येक अवस्था में निरन्तर विद्यमान रहते हैं, तब किसका कैसा प्रादुर्भाव? और किसका कैसा तिरोभाव? इसके अतिरिक्त 'कब किसकी उत्पत्ति हुई और कब किसकी निवृत्ति होगी' यह काल व्यवस्था भी नहीं बन सकती। इससे भूत और भविष्यत् का लोप हो जाएगा। केवल वर्तमान ही रह जाएगा; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ सदा विद्यमान है। इसलिए अविद्यमान को रूपविशेष की प्राप्ति 'उत्पत्ति' और स्वरूपहानि 'निवृत्ति' प्राप्त होती है- ऐसा मानकर ही इस व्यवस्था को सुरक्षित रखा जा सकता है। अतः यह पक्ष सर्वथा असंगत है, कि उत्पत्ति से पूर्व तथा विनाश के पश्चात् भी पदार्थ विद्यमान रहता है। **इति सर्वनित्यत्वनिराकरणम्।**

अथ सर्वपृथक्त्वनिराकरणप्रकरणम्।

अब सूत्रकार पूर्वपक्ष का 'सर्वपृथक्त्ववाद' प्रस्तुत करते हैं-

सर्वं पृथक् भावलक्षणपृथक्त्वात् । ४/१/३४

सर्वं नाना न कश्चिदेको भावो विद्यते। कस्मात्? भावलक्षणपृथक्त्वात्। (वा.भाष्य) सब पदार्थों की पृथक्-पृथक् सत्ता होने से, प्रत्येक पदार्थ (सदात्मक पदार्थ) अनेक अवयवों का समूह मात्र है, स्वतन्त्र अवयवी के रूप में नहीं; क्योंकि उसमें अवयवों के लक्षण (स्वरूप और नाम) स्वतन्त्र रूप से पृथक् हैं। जैसे- कुम्भ (घट) यह पदार्थ गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा बर्तन की तली पार्श्वभाग, कपाल, ग्रीवा आदि अनेक पदार्थों का समुदाय होने से सबका वाचक है, किसी एक वस्तु (अवयवी) का नहीं। ऐसे ही अन्य पदार्थों को भी समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है, कि गुणों और अवयवों के अतिरिक्त कोई गुणी या अवयवी नहीं है।

समाधान– अब महर्षि गौतम उक्त वाद का निराकरण करते हैं -

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः । ४/१/३५

अनेक प्रकार के लक्षणों से एक पदार्थ की उत्पत्ति होने के कारण उक्तवाद उचित नहीं।

अर्थात् अनेक अवयवों तथा विभिन्न पदवाच्य साधनों से एक पदार्थ उत्पन्न होता है। जैसे कुम्भ (घट) एक अर्थ है, जो बुध्न, ग्रीवा आदि अवयवों तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, संयोग आदि गुणों से उत्पन्न हुआ है और इन अवयवों तथा गुणों से पृथक् अवयवी है। द्रव्य और गुण एवं अवयव और अवयवी परस्पर भिन्न होते हैं। गुण द्रव्य के एवं अवयवी अवयवों के आश्रित रहता है। अतः घट आदि पदार्थ नानारूप न होकर एकमात्र इकाई (अवयवी) है।

सन्दर्भ– अब सूत्रकार अवयवी के अस्तित्व की सिद्धि में अन्य हेतु देते हैं-

लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः । ४/१/३६

न कश्चिदेको भाव इत्ययुक्तः प्रतिषेधः। कस्मात्? लक्षणव्यवस्थानादेव। लोक-व्यवहार में संज्ञापदों (नाम) एवं अवयवों का व्यवस्थित सद्भाव पाए जाने से 'अवयवी' के अस्तित्व का निषेध नहीं हो सकता। जैसे 'घट' यह एक वाचक पद है, जिसका वाच्य ग्रीवा, पार्श्व एवं गोलाई से युक्त एक अर्थ है। वह केवल परमाणुओं का समूह नहीं हो सकता। परमाणु अतीन्द्रिय हैं, किन्तु घट इन्द्रिय-ग्राह्य। और 'घट में जल भरा है'- यह व्यवहार मिट्टी के परमाणुओं के समूहमात्र में नहीं हो सकता। 'घट' आदि अवयवी कहने से जो अर्थ प्रतीत होता है, वह परमाणु-समूह कहने से प्रतीत नहीं होता । इसके अतिरिक्त 'अवयव' किसी अवयवी के कारणतत्त्वों को कहते हैं। यदि 'अवयवी' का एक इकाई के रूप में कोई अस्तित्व नहीं है, तो वे कारणतत्त्व किसके अवयव कहलाएँगे। वस्तुतः कारणतत्त्वों में 'अवयव' पद का प्रयोग 'अवयवी' की अपेक्षा से होता है, अर्थात् अवयव अवयवी परस्पर सम्बद्ध पद हैं। इससे यह सिद्ध है, कि अनेक लक्षणों में एक भाव लक्षित होता है। यदि एक न मानेंगे, तो समुदाय भी न रहेगा क्योंकि एक से ही अनेक होते हैं। अतः एक घटादि संज्ञावाचक अर्थ को एक अवयवी न मानकर उसे समूहमात्र कहना निराधार एवं प्रमाणहीन वाद है।

इति त्रिभिः सूत्रैः सर्वपृथक्त्वनिराकरणम् ।

अथ सर्वशून्यतावादनिराकरणम् (अभाववादखण्डनम्)

सर्वमभावोभावेष्वितरेतराभावसिद्धेः । ४/१/३७

यावद्भवजातं तत्सर्वमभावः। कस्मात्? भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः। (वा.भाष्य) जितने भावरूप में पदार्थ कहे जाते हैं, वे वास्तव में अभावरूप हैं, क्योंकि प्रत्येक भाव का उससे भिन्न समस्त भावों में अभाव पाया जाता है। जैसे घड़ा वस्त्र नहीं, वस्त्र घड़ा नहीं, गाय घोड़ा नहीं, घोड़ा गाय नहीं। इसी प्रकार जब तथाकथित भावरूप पदार्थों में एक-दूसरे का अभाव सिद्ध है, तो सबको अभावरूप ही क्यों न मान लिया जाए ।

विशेष- गतप्रकरण (४/१/१४-१८) में अभाव की कारणता का प्रतिषेध किया है, यहाँ भाव को अभाव मानने का विवेचन है।

प्रसंग- अब सूत्रकार सर्वशून्यतावाद (= अभाववाद) का खण्डन करते हैं -

न, स्वभावसिद्धेर्भावानाम् । ४/१/३८

न सर्वमभावः। कस्मात्? स्वेन भावेन सद्भावाद्भावानाम्, स्वेन धर्मेण भावा भवन्तीति प्रतिज्ञायते। (वा.भाष्य) संसार में सब कुछ अभाव या शून्यरूप नहीं है क्योंकि स्वरूप (=अपने अस्तित्व) से प्रत्येक पदार्थ की विद्यमानता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध है। यदि घट में पट का अभाव है, तो अपना (घट का) तो भाव (=अस्तित्व) है। इसी प्रकार यदि अश्व जाति से गो जाति का ग्रहण नहीं होता, तो अपना (=अश्व जाति का) तो ग्रहण होता है। फिर भाव से अभाव की सिद्धि कैसे होगी? अतः सब

पदार्थों में अपना अपना भाव होने से उनका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। गाय घोड़ा नहीं है या घोड़ा गाय नहीं है- इत्यादि कहने का तात्पर्य तो केवल इतना है, कि गाय और घोड़ा एक नहीं हैं, ये परस्पर भिन्न पदार्थ हैं, और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। अतः सर्वशून्यवाद सर्वथा निर्मूल एवं असंगत है।

प्रसंग- अब पूर्वपक्षी 'भावों की स्वभावसिद्धि' का निराकरण करता है -

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् । ४/१/३९

अपेक्षाकृतमापेक्षिकम्। ह्रस्वापेक्षाकृतं दीर्घं दीर्घापेक्षाकृतं ह्रस्वं, न स्वेनात्मनावस्थितं किञ्चित्। (वा. भाष्य) सब पदार्थों के स्वभाव सापेक्ष हैं। ह्रस्व की अपेक्षा दीर्घ और दीर्घ की अपेक्षा ह्रस्व कहाता है। दूसरे की अपेक्षा के बिना कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप में अवस्थित नहीं है। अतः आपेक्षिक होने से भावों की स्वभाव सिद्धि नहीं हो सकती। घट अपने अस्तित्व के लिए घट के अतिरिक्त पटादि समस्त पदार्थों के भेद की अपेक्षा करता है। इससे सिद्ध है, कि घट की सत्ता एवं प्रतीति में पटादि भेद का ज्ञान अपेक्षित है।

इसलिए 'भावों की स्वभाव सिद्धि' हेतु आपेक्षिक होने से भावों के स्वतन्त्र सद्भाव की सिद्धि में असमर्थ है ।

प्रसंग- अब सूत्रकार वादी के तर्क का निराकरण करते हैं -

व्याहतत्वादयुक्तम् । ४/१/४०

यदि ह्रस्वापेक्षाकृतं दीर्घं, किमिदानीमपेक्ष्य ह्रस्वमिति गृह्यते? अथ दीर्घापेक्षाकृतं ह्रस्वं, दीर्घमनापेक्षिकम्? एवमितरेतराश्रययोरेकाभावेऽन्यतराभावादुभयाभाव इति दीर्घापेक्षाव्यवस्थाऽनुपपन्ना। (वा.भाष्य) यदि ह्रस्व दीर्घ की अपेक्षा से है, तो दीर्घ किसकी अपेक्षा से है? यदि कहो कि ह्रस्व की अपेक्षा से, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि ह्रस्व अभी अनापेक्षिक है।

ऐसी स्थिति में दोनों अन्योऽन्याश्रय होने से एक के अभाव में दूसरे का अभाव होने के कारण दोनों का अभाव हो जाएगा। इस प्रकार अपेक्षा के आधार पर वस्तु की व्यवस्था असिद्ध हो जाती है। अतः वस्तु को स्वरूपसिद्ध मानना ही प्रामाणिक है। इस विवेचन से यह निश्चित हो जाता है, कि पदार्थ केवल अभाव नहीं है । **इति चतुर्भिः सूत्रैः सर्वशून्यवादनिराकरणम्** ।

अथ संख्यैकान्तवादनिराकरणम् -

प्रसंग- संसार में तत्त्वों की विभिन्न संख्याएं मानी जाती हैं। जैसे कोई सब पदार्थों में सद्भाव समान होने से 'सत्' रूप से एक ही पदार्थ को मानते हैं; कोई नित्य और अनित्य भेद से दो पदार्थों को मानते हैं; कोई ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के भेद से तीन प्रकार के पदार्थों को मानते हैं कोई प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति के भेद से पदार्थों के चार प्रकार मानते हैं। इसी प्रकार अन्य संख्याओं की कल्पना की जा सकती है छहः, सात, सोलह, पच्चीस आदि। सूत्रकार पदार्थों के इस -'संख्यैकान्तवाद' (=निश्चित

संख्या के कथन) का खण्डन करते हैं -

संख्यैकान्ताऽसिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् । ४/१/४१

यदि साधयसाधानयोर्नानात्वम् ? एकान्तो न सिद्धयति व्यतिरेकात् । अथ साध्यसाधानयोरभेदः ? एवमप्येकान्तो न सिध्यति साधानाभावात, न हि हेतुमन्तरेण कस्य चित्सिद्धिरिति। (वा.भाष्य) किसी पदार्थ का होना या न होना प्रमाणों पर आधारित है। यदि साध्य के साधन (= प्रमाण) हैं, तो साध्य (= पदार्थ) सिद्ध माना जाता है। यदि साधन नहीं हैं, तो उसे असिद्ध समझा जाता है। इस आधार पर पदार्थों की कोई निश्चित संख्या (एक, दो, तीन आदि) मानें, यदि साध्य (= नियत संख्या) और साधन (प्रमाण) भिन्न भिन्न हैं, तो उनका एकान्त (= पदार्थों की नियत संख्या) सिद्ध नहीं होता; क्योंकि साधन (= प्रमाण) की संख्या बढ़ जाएगी, और यदि इनमें अभेद है, तो साधन की असिद्धि से प्रमाण (= साधन) के बिना साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। दोनों ही हेतुओं से [संख्यैकान्तवाद] असिद्ध है। 'उभयतः पाशारज्जु न्याय' से यह मान्यता जकड़ ली जाती है ।

प्रसंग- अब 'संख्यैकान्तवाद' की असिद्धि का पूर्वपक्षी निराकरण करता है -

न, कारणावयवभावात् । ४/१/४२

न संख्यैकान्तानामसिद्धिः, कस्मात्? कारणस्यावयवभावात्। अवयवः कञ्चित् साधनभूत इत्यव्यतिरेकः। एवं द्वैतादीनामपीति। (वा.भाष्य) कारण (= साधन = प्रमाण) साध्य का अवयव (= अंश) होता है, उससे अतिरिक्त नहीं। एक अर्थ का कोई अंश साध्य और साधन हो सकता है। साध्य (= कोई भी स्वीकृत वाद) अवयवी और साधन अवयवरूप है। अवयव अवयवी में अभेद होने से साधन भी साध्य से अभिन्न है, जिससे वाद की स्वीकृत संख्या में कोई अन्तर नहीं आता। अतः 'संख्यैकान्तवाद' की असिद्धि असंगत है ।

प्रसंग- अब सूत्रकार पूर्व पक्षी की मान्यता का खण्डन करते हैं

निरवयवत्वादहेतुः । ४/१/४३

कारणस्यावयवभावादित्यहेतुः। (वा.भाष्य) अवयव रहित होने से तत्त्व के एकमात्र होने पर उसमें अवयव की कल्पना निराधार है। जब यह प्रतिज्ञा की जाती है, कि 'सब एक है', 'सब दो हैं', 'सब तीन हैं', 'सब चार हैं' इत्यादि, तब उससे बाहर कुछ शेष नहीं रहता। प्रतिज्ञात अर्थ साध्य है, साध्य का एकदेश (= अवयव) कभी साधन (= प्रमाण) नहीं हो सकता। अर्थात् हेतु तथा प्रतिज्ञा वाक्य भिन्न भिन्न होने पर ही साध्य की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। परन्तु 'संख्यैकान्तवाद' में उक्त नियम न होने से पदार्थों की कोई नियत संख्या मानना सर्वथा

अप्रामाणिक रहता है।

विशेष- प्रेत्यभाव की परीक्षा के अनन्तर कुछ प्रवादों का विवेचन, सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञ. ान तथा प्रेत्यभाव को अच्छी प्रकार से समझने के लिए किया गया है। **इति त्रिभिः सूत्रैः**

संख्यैकान्तवादनिराकरणम्।

अथ फलपरीक्षाप्रकरणम् –

प्रसंग– 'प्रेत्यभाव' की परीक्षा के अनन्तर अब प्रमेयसूत्र (१/१/९) के अनुसार क्रमप्राप्त 'फल' की परीक्षा आरम्भ करते हुए पहले उसमें संशय दिखाते हैं –

सद्यःकालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः । ४/१/४४

पचति दोग्धीति सद्यःQलमोदनपयसी, कर्षति वपतीति कालान्तरे Qलं सस्याधिगम इति । अस्ति चेयं क्रिया अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति एतस्याः Qले संशयः । (वा.भाष्य) पकाता है, दुहता है इत्यादि क्रियाओं का फल भात और दूध आदि तत्काल देखने में आता है। किन्तु किसान जोतता है, बोता है इत्यादि क्रियाओं का फल अन्नादि के रूप में महीनों के पश्चात् प्राप्त होता है। इस उपलब्धि की अव्यवस्था से जिन कर्मों के विषय में शास्त्रों में लिखा है, कि 'यज्ञादि करने से स्वर्ग मिलता है', 'अनृतभाषणादि से नरक मिलता है' इसमें सन्देह होता है, कि इन कर्मों का फल तत्काल ही होता है, अथवा कालान्तर में होता है, या होता ही नहीं? ।

प्रसंग– सूत्रकार उक्त संशय का निवारण करते हुए कहते हैं –

न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात् । ४/१/४५

स्वर्गः Qलं श्रूयते तच्च भिन्ने स्मिन्देहभेदादुत्पद्यते इति। (वा.भाष्य) प्रत्येक कर्म का फल शीघ्र नहीं मिलता। बहुत से कर्म ऐसे हैं, जिनका फल कालान्तर या जन्मान्तर में मिलता है। जैसे बीज बोना आदि क्रियाओं का फल कालान्तर में मिलता है, उसमें किसी को सन्देह नहीं होता, वैसे ही यागादि का फल कालान्तर या देहान्तर में सम्भव होने से उसके विषय में भी सन्देह नहीं करना चाहिए। जैसा कि शास्त्रों में कहा है 'तद्य इह कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्येरन्', अथ ह रमणीयचरणा रमणीयां योनिमितिश (= निन्दित कर्म करने वाले पुरुष सूकर कूकरादि निकृष्ट योनियों को, और वेदविहित यज्ञादि कर्म करने वाले ऋषि देवता, श्रेष्ठ मनुष्य आदि उत्तम योनियों को प्राप्त होते हैं)।

यद्यपि विशेष पुण्य–पाप करने वाले व्यक्तियों को इस लोक में भी यश, अपयश आदि फलों की तात्क. ालिक प्राप्ति देखी जाती है, परन्तु वह गौण है, प्रभावमात्र है, मुख्य फल नहीं है।

प्रसंग– कालान्तर में प्राप्त होने वाले फल के विषय में पूर्वपक्षी शंका करता है।

कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् । ४/१/४६

ध्वस्तायां प्रवृत्तौ प्रवृत्तेः Qलं न कारणमन्तरेणोत्पत्तुमर्हति, न खलु वै विनष्टात्कारणात्किञ्चिदुत्पद्यते इति। (वा.भाष्य) फल के लिए जो यज्ञादि कर्म किए जाते हैं, वे अनुष्ठान के पश्चात् नष्ट (= सम. ाप्त) हो जाते हैं और अव्यवहित पूर्वक्षण में विद्यमान कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है। परन्तु जब ये कर्म तथाकथित फलप्राप्ति से बहुत पहले स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं, तो कालान्तर या जन्मान्तर में

क्या फल उत्पन्न करेंगे? और हेतु के अभाव में फल का होना अप्रामाणिक है। अतः कालान्तर में फलप्राप्ति कहना सर्वथा असंगत है ।

प्रसंग- अब सूत्रकार पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं-

प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्षफलवत् तत्स्यात् । ४/१/४७

यथा फलार्थिना वृक्षमूले सेकादि परिकर्म क्रियते, तस्मिंश्च प्रध्वस्ते पृथिवीधातुरब्धातुना सङ्गृहीत आन्तरेण तेजसा पच्यमानो रसद्रव्यं निर्वर्तयति, स द्रव्यभूतो रसो वृक्षानुगतः पाकविशिष्टो व्यूहविशेषेण सन्निविशमानः पर्णादि फलं निर्वर्तयति, एवं परिषेकादि कर्म चार्थवत् । न च विनष्टात्फलनिष्पत्तिः। (वा.भाष्य)

जैसे फलार्थी वृक्ष की जड़ में सिञ्चन आदि क्रिया करता है, उस क्रिया के समाप्त हो जाने पर मिट्टी जल से मिलकर भीतर की ऊष्मा के सहयोग से रस को उत्पन्न करती है। वह रस वृक्षानुगत होकर रूपान्तर को प्राप्त हुआ पुष्प, फलादि को उत्पन्न करता है। ऐसे ही धर्माधर्म रूप अदृष्ट के संस्कार अन्तःकरण पर पड़ जाते हैं। फिर वे अन्य निमित्तों से अनुगृहीत (परिपुष्ट) होकर कालान्तर में शुभाशुभ फल को उत्पन्न करते हैं। इसलिए कर्मों की फलप्राप्ति के विषय में कोई सन्देह नहीं करना चाहिए।

विशेष- कर्मफल का विवरण 'पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः' (३/२/६२) सूत्र के प्रसंग में भी दिया गया है ।

प्रसंग- फल अर्थात् कार्य की उत्पत्ति के प्रसंग में अनेक पक्ष हैं। जैसे क्या यह उत्पन्न होने वाला कार्य (फल) अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् है? या सत् है? अथवा 'सत्-असत्' दोनों रूप है?

पूर्वपक्षी इन सभी पक्षों (=वादों =मान्यताओं) में फल (=कार्य) की असम्भावना दिखाता है-

नासन्न सन्न सदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात् । ४/१/४८

प्राङ् निष्पत्तेर्निष्पत्तिधर्मकं नासत् उपादाननियमात् । कस्य चिदुत्पत्तये किञ्चिदुपादेयं न सर्व सर्वस्येत्यसद्भावे नियमो नोपपद्यते इति। (वा.भाष्य)

यह उत्पन्न होने वाला फल रूप कार्य, उत्पत्ति होने से पहले असत् (=अविद्यमान) था'- यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि विशेष कार्यों के लिए विशेष कारणों (=समवायिकारण) का नियम है। यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य सर्वथा असत् (=अविद्यमान) हो, तो प्रत्येक कार्य किसी भी उपादान कारण से उत्पन्न होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता अर्थात् घट मिट्टी से ही होता है, तन्तु से नहीं, वस्त्र तन्तु से ही होता है, मिट्टी से नहीं। इससे उन कारणों में उत्पत्ति से पूर्व भी किसी रूप में कार्य की विद्यमानता जानी जाती है। यह पक्ष 'सत्कार्यवाद' कहाता है।

इसके विपरीत दूसरे पक्ष 'असत्कार्यवाद' की मान्यता है, कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य विद्यमान नहीं रहताः क्योंकि यदि कार्य उत्पत्ति से पहले विद्यमान हो, तो पुनः उसकी उत्पत्ति कहना व्यर्थ है। विद्यमान की

उत्पत्ति कैसी।

तथा तीसरा पक्ष 'सदसद्वाद' है। इसके अनुसार सत् (=विद्यमान) तथा असत् (=अविद्यमान)- इन दोनों का परस्पर विरुद्ध धर्म होने के कारण, व्याघात दोष की आपत्ति आने से 'उत्पत्ति से पूर्व कार्य सत् तथा उसत् दोनों रूपों में होता है'- यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि कोई पदार्थ यदि विद्यमान है, तो वह अविद्यमान नहीं कहा जा सकता और यदि अविद्यमान है, तो उसे विद्यमान नहीं कह सकते। वस्तुत फल रूप कार्य किसी भी पक्ष में नहीं हो सकता, अतः फल होता ही नहीं यह सिद्ध होता है ।

प्रसंग- सूत्रकार की अपनी मान्यता है, कि 'उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् रहता है'। उस पक्ष में हेतु देते हैं-

उत्पादव्ययदर्शनात् । ४/१/४९

कार्य की उत्पत्ति और विनाश देखे जाते हैं, और जिसके उत्पत्ति विनाश देखे जाते हैं, वह उत्पत्ति से पहले 'असत्' होता है। यदि 'सत्' होता तो उसकी उत्पत्ति या नाश सम्भव नहीं था। और प्रत्यक्ष से भी सिद्ध होता है, कि घड़ा पहले नहीं था, कुम्हार ने बनाया फिर टूट गया। 'असत्' में ही यह व्यवहार सम्भव है, सत् में नहीं। इसलिए उत्पत्ति से पूर्व प्रत्येक कार्य 'असत्' है ।

प्रसंग (शंका)-यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य को 'असत्' मानें तो कार्य-कारण भाव की व्यवस्था नहीं रहती, जबकि सत्कार्यवाद में स्पष्ट जानी जाती है। सूत्रकार इस शंका का समाधान करते हैं-

बुद्धिसिद्धं तु तदसत् । ४/१/५०

इदमस्योत्पत्तये समर्थ न सर्वमिति प्रागुत्पत्तेर्नियतकारणं कार्य बुद्ध्या सिद्धमुत्पत्तिनियमदर्शनात् । तस्मादुपादाननियमस्योपपत्तिः सति तु कार्ये प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिरेव नास्तीति। (वा.भाष्य)

अमुक आकार- प्रकार के कार्य को अभिव्यक्त व उत्पन्न करने में अमुक उपादान समर्थ है- यह विषय कर्ता की बुद्धि द्वारा सिद्ध (=निश्चित =निर्धारित) होता है। तन्तुओं से वस्त्र की उत्पत्ति को जानता हुआ कर्ता (=जुलाहा =तन्तुवाय) तन्तुओं (=धागों) से वस्त्र बनाने में प्रवृत्त होता है, बालू से नहीं। इससे सिद्ध है, कि उत्पत्ति से पूर्व उपादान कारण तो नियत होता है, परन्तु कार्य को भी यदि 'सत्' (= विद्यमान) मान लिया जाए, तो फिर विद्यमान की उत्पत्ति कैसी? इसलिए बुद्धि से सिद्ध होने वाला कार्य उत्पत्ति से पूर्व असत् है। तात्पर्य यह है, कि उत्पत्ति के अनन्तर कार्य जिस आकार प्रकार में अभिव्यक्त (प्रकट) हुआ है, उससे पूर्व काल में वह अनभिव्यक्त रहता है, यही उसका 'असत्' (=अविद्यमान) स्वरूप है। कर्ता बुद्धि में स्थित आकार-प्रकार के अनुसार सामग्री के उचित संयोग से उसको उभार लेता है। कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण सामग्री के उपादान नियम का भी यही आधार है। कारण में कार्य अनभिव्यक्त (=अनुत्पन्न) रहता है। यदि पहले ही अभिव्यक्त हो, तो फिर उसकी अभिव्यक्ति वा उत्पत्ति अनावश्यक है।

विशेष- यहाँ 'असत्कार्यवाद' को सिद्ध किया गया है। परन्तु वस्तुतः 'सत्कार्यवाद' और 'असत्कार्यवाद'

में कोई मौलिक भेद नहीं है, केवल कहने की पद्धति का भेद है। जैसा कि पहले भी अनेकत्र कहा जा चुका है ।

प्रसंग- प्रासंगिक चर्चा पूरी होने पर अब पूर्वपक्षी 'वृक्षफलवत्' (सूत्र ४७) दृष्टान्त के आधार पर कालान्तर में फलप्राप्ति के विषय में आक्षेप करता है -

आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः । ४/१/५१

मूलसेकादि परिकर्म फलं चोभयं वृक्षाश्रयम्, कर्म चेह शरीरे, फलं चामुत्रेत्याश्रयव्यतिरेकादहेतुरिति

(वा.भाष्य) विगत सूत्र (४७) के अनुसार दृष्टान्त में जल का सींचना और फल का आना- ये दोनों बातें एक ही वृक्ष के आश्रित हैं अर्थात् जिस वृक्ष में पानी सींचा जाता है, उसी वृक्ष पर कालान्तर में फल लगता है। परन्तु अग्निहोत्र आदि कर्म उसके फल में यह स्थिति नहीं है। कर्म इस चालू शरीर से किया जाता है, और फल इस शरीर के नष्ट हो जाने पर जन्मान्तर में अगला शरीर मिलने पर प्राप्त होता है। इस प्रकार कर्म और फल के आश्रय का भेद हो जाता है। इसलिए उक्त दृष्टान्त अग्निहोत्रादि कर्म के कालान्तर में होने वाले फल का साधक नहीं हो सकता ।

प्रसंग- अब सिद्धान्ती उक्त आक्षेप का समाधान करता है -

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः । ४/१/५२

प्रीतिरात्मप्रत्यक्षत्वादात्माश्रया, तदाश्रयमेव कर्म धर्मसंज्ञितं, धर्मस्यात्म-गुणत्वात्, तस्मादाश्रयव्यतिरेकानुपपत्तिरिति । (वा.भाष्य) प्रीति (सुख) आत्मा का गुण है, जिसका सब प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। और धर्माधर्मरूप कर्म का अधिष्ठाता भी आत्मा है। शरीर आदि उसके कार्यों में साधन मात्र हैं। इस प्रकार कर्म और उसका फल-ये दोनों आत्मा के आश्रित हैं और आत्मा नित्य होने से पूर्वाऽपर दोनों शरीरों में एक ही रहता है। अतः आश्रयभेद की कल्पना असंगत है। इसलिए पूर्वपक्षी द्वारा किया गया प्रतिषेध ठीक नहीं ।

प्रसंग- अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करता है -

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् । ४/१/५३

पुत्रादि फलं निर्दिश्यते न प्रीतिः ग्रामकामो यजेत, पुत्रकामो यजेतेति तत्र यदुक्तं प्रीतिः फलमित्येतदयुक्तमिति । लोक और शास्त्र में भी याग का फल पुत्र आदि बताया है, सुख को नहीं। और वे सब अपने आत्मा से भिन्न हैं। अपना आत्मा उस फल का आश्रय नहीं है। जैसा कि शास्त्रों में कहा है- 'पुत्रकामो यजेत' (तै.सं.२/२/१), 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत', 'ग्रामकामो यजेत' (तै.सं.२/३/९) 'कारीर्य्या वृष्टिकामो यजेत', (मै.सं. २/४/८) इत्यादि। अतः कर्म और फल का आश्रय भिन्न भिन्न होने से वृक्ष के फल का दृष्टान्त ठीक नहीं ।

प्रसंग- अब सूत्रकार उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं -

तत्सम्बन्धात् फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः । ४/१/५४

पुत्रादिसम्बन्धात् फलं प्रीतिलक्षणमुत्पद्यते इति पुत्रादिषु फलवदुपचारः । यथान्ने प्राणशब्दोऽन्नं वै प्राणा इति । (वा.भाष्य)

पुत्र, पशु आदि प्राणियों तथा अन्य साधन सामग्री से व्यक्ति को सुख की प्राप्ति होती है। इसलिए यहाँ फल केवल सुखादि है। पुत्रादि में फल का व्यवहार गौण है । जैसे कि प्राण के साधन अन्न में प्राण पद का गौण व्यवहार देखा जाता है- 'अन्नं वै प्राणिनां प्राणः' (शत.ब्रा. २/२/१/६; ३/८/४/८; ४/३/४/२५; ६/६/४/५) अर्थात् अन्न ही प्राणियों के प्राण हैं। वस्तुतः अन्न प्राण (=जीवन) नहीं, अपितु जीवन का साधन हैं। इसलिए सुख-दुःख रूप फल और उसके कारण रूप अदृष्ट (=धर्माध र्मरूप कर्म) का अधिकरण एक आत्मा ही है। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है । **इत्येकादशभिः सूत्रैः फलपरीक्षाप्रकरणम्** ।

अथ दुःखपरीक्षाप्रकरणम् -

प्रसंग- फल की परीक्षा के अनन्तर अब प्रमेय सूत्र (१/१/९) के अनुसार क्रमप्राप्त [दुःख] की परीक्षा करते हुए सूत्रकार दुःख का कारण बताते हैं -

विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः । ४/१/५५

जन्म जायते इति शरीरेन्द्रियबुद्धयः, शरीरादीनां च संस्थानविशिष्टानां प्रादुर्भाव उत्पत्तिः । विविधा च बाधना, हीना मध्यमा उत्कृष्टा चेति । (वा.भाष्य) यद्यपि आत्मा स्वरूप से अजन्मा, अजर, अमर, नित्य है, तथापि शरीर आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मा में जन्म-मरण का उपचार (व्यवहार) हो जाता है। शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर यह विविध प्रकार के दुःखों को भोगता है। ये दुःख (=बाध ना, पीड़ा, ताप) उत्कृष्ट, मध्यम, हीन हीनतर आदि भेदों से अनेक प्रकार के होते हैं। नारकीय आत्माओं को उत्कृष्ट (=भारी, गहरा) दुःख भोगना पड़ता है। पशु पक्षियों को मध्यम, मनुष्यों का हीन, देवों (=विद्वानों, ज्ञानियों), वीतराग व्यक्तियों को होने वाला दुःख हीनतर कहा जाता है। इस प्रकार देवों से लेकर नारकीय जीवों तक सभी की उत्पत्ति दुःख (=बाधना) से युक्त है। इस समस्त संसार को इस प्रकार दुःख से युक्त जानकर जो उससे निर्विण्ण (विरक्त=तृष्णारहित) हो जाता है, वह दुःखबहुल सुखाभास में विषसम्पृक्त भोजन के समान आसक्त नहीं होता। इस राग (=तृष्णा) के न होने से व्यक्ति सब दुःखों से छूट जाता है। अतः विवेकी व्यक्ति सांसरिक भोगों में आसक्त नहीं होता। वह सब भौतिक सुखों में दुःख ही देखता है। 'दुःखमेव सर्व विवेकिनः' (योग. २/१५) अर्थात् विवेकी व्यक्ति के लिए यह सब दुःख ही है। 'न कुत्रापि कोऽपि सुखीति' (सांख्य. ६/७) ।

प्रसंग- अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्षी आक्षेप करता है -

न, सुखस्यात्यन्तरालनिष्पत्तेः । ४/१/५६

न खल्वयं दुःखोद्देशः सुखस्य प्रत्याख्यानम् । कस्मात् ? सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः । निष्पद्यते खलु बाधनान्तरालेषु सुखं प्रत्यात्मवेदनीयं शरीरिणां (वा.भाष्य) पूर्वोक्त दुःख के विवरण से संसार में सुख के अस्तित्व का प्रतिषेध नहीं होताः क्योंकि दुःखों के बीच में सुख भी प्राप्त होता रहता है। इस तथ्य को प्रत्येक प्राणी अनुभव करता है। अतः अनुभव में आने वाले सुख का सर्वथा निषेध नहीं हो सकता। अर्थात् संसार में सुख भी है, और दुःख भी है।

प्रसंग- सूत्रकार उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं-

बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः । ४/१/५७

बाधना निवृत्तेर्दुःखसंज्ञाभावनमुपदिश्यते अनेन कारणेन दुःखं जन्म न तु सुखस्याभावादिति (वा. भाष्य) सुख के साधनों में प्रवृत्त हुआ सुखार्थी मनुष्य जब कोई कामना करता है, तो कभी उसकी कामना पूरी होती है, कभी नहीं होती, या पूरी होकर फिर विगड़ गई, या कम पूरी हुई, या जैसी चाहता था वैसी नहीं हुई। इस 'पर्वेपणदोष' से अनेक प्रकार का मानस ताप (= दुःख) बना रहता है, जो कि सुखार्थी उसके लिए यतमान पुरुप की कभी दुःखनिवृत्ति नहीं होने देता ।

इसके अतिरिक्त मनुष्य की जव एक कामना पूरी हो जाती है, तब दूसरी और उत्पन्न हो जाती है। यदि सम्पूर्ण पृथिवी का साम्राज्य भी किसी को मिल जाए, तो भी उसकी तृप्ति नहीं होती। अतः विवेकी के लिए संसार दुःख रूप ही है।

सूत्रकार को संसार में सुख का अभाव वताना अभिप्रेत नहीं, किन्तु व्यक्ति चलता है सुख प्राप्ति के लिए, परन्तु पल्ले पड़ता है निरा दुःखों का अम्वार। उस सुख तक पहुँचते-पहुँचते उसकी सव शारीरिक व मानसिक क्षमता क्षीण हो जाती है। परलोक यात्रा भी समीप दिखाई देने लगती है, तव व्यक्ति हाथ मलता रह जाता है। अतः व्यक्ति को मोक्षमार्ग में प्रेरित करना सूत्रकार का उद्देश्य है।

विशेष- सुखसाधनों और उन में विद्यमान दोषों का गम्भीर विवेचन कठोपनिषद् में इस प्रकार किया गया है-

यमाचार्य का प्रलोभन-

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।

भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।

महाभूमी नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥ येये कामा दुर्लभा मर्त्य लोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो। मरणं मानुप्राक्षीः॥

नचिकेता का उत्तर-

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्व जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥ न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा। जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु में वरणीयः स एव॥

यही आशय सांख्यदर्शन में प्रकट किया है - (कठोपनिषद् - १/१/२३-२७)

'तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निक्षिपन्ते विवेचकाः' (सां.६/८) ॥५७॥

प्रसंग- संसार को दुःखमय सिद्ध करने के लिए सूत्रकार अन्य हेतु देते है-

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च । ४/१/५८

दुःखसंज्ञाभावनोपदेशः क्रियते । अयं खलु सुखसंवेदने व्यवस्थितः सुखं परमपुरुषार्थ मन्यते न सुखादन्यन्नि श्रेयसमस्ति सुखे प्राप्ते चरितार्थः कृतकरणीयो भवति । मिथ्यासङ्कल्पात्सखे तत्साध नेषु च विषयेषु संरज्यते। (वा.भाष्य)

यह जीव सुख को अनुभव करता हुआ उस विषय-सुख को ही परमपुरुषार्थ मानने लगता है, और उसकी प्राप्ति से अपने आप को कृतार्थ समझता है अर्थात् वैषयिक-सुख प्राप्त करके अपने जीवन को पूर्ण सफल समझकर मोक्ष के लिए प्रयत्न करना अनावश्यक समझता है। मिथ्या ज्ञान से सुखाभास को सुख समझकर उसके साधन विषय आदि में अनुरक्त रहता है। जिससे जन्म, मरण, जरा (=बुढ़ापा), व्याधि (=बीमारी), इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, कामनाओं की असिद्धि आदि अनेक प्रकार का दुःख भोगता रहता है। परन्तु राग में बँधा हुआ इस विविध दुःखराशि को भी वह सुख मानता है, और उस अत्यल्प सुख में कुएँ में लटके व्यक्ति के मुख में पड़ी मधु की बूँद के समान, जो कि इस महादुःख से मिश्रित है, उन्मत्त हो जाता है। इससे सिद्ध है. कि अविवेकी व्यक्ति ही इस दुःखमय संसार को सुखमय जानता है। तत्त्वदर्शी व्यक्ति तो इस सुखाभास को दुःखमय ही जानकर इसमें लिप्त नहीं होता ।

शंका- यदि ऐसी बात है, तो ५५वें सूत्र में [दुःखं जन्म]- ऐसी कहना चाहिए, 'दुःखमेव जन्म' ऐसा क्यों कहा ?

समा०- वस्तुतः जन्मश न तो स्वरूप से सुखरूप है, न दुःखरूप। इसमें सुख और दुःख दोनों ही होते रहते हैं। परन्तु अविवेक से व्यक्ति वैषयिक क्षणिक सुख को परम पुरुषार्थ समझकर जीवन का उद्देश्य ही भूल जाता है। अतः जन्म को दुःखरूप बताने का प्रयोजन यही है, कि व्यक्ति सांसारिक विषयों की ओर से हटकर मोक्षसाधनों की प्राप्ति में अपना जीवन लगा सके। सूत्रकार का उद्देश्य संसार में सुख का सर्वथा अभाव बताना नहीं है। यदि संसार में लेशमात्र भी सुख न हो, तो कोई उसमें क्यों फंसेगा । **इति चतुर्भिः सूत्रैः दुःखपरीक्षाप्रकरणम्** ।

इकाई-2

न्यायदर्शन

अथ अपवर्गपरीक्षाप्रकरणम् -

प्रसंग- दु:ख की परीक्षा के अनन्तर प्रमेयसूत्र के अनुसार अब क्रमप्राप्त 'अपवर्ग' की परीक्षा आरम्भ करते हैं। पहले पूर्वपक्षी अपवर्ग का अभाव दिखाता है-

ऋणक्लेशप्रवृत्यनुबन्धादपवर्गाभावः। ४/१/५९

ऋणानुबन्धादपवर्गानुष्ठानकालो नास्तीत्यपवर्गाभावः। क्लेशानुबन्धान्नास्त्यपवर्गः। क्लेशानुबद्ध एवायं भ्रियते क्लेशानुबद्धश्च जायते नास्य क्लेशानुबन्धविच्छेदो गृह्यते । (वा.भाष्य)

ऋण क्लेश और प्रवृत्ति- ये तीन कारण हैं, जिनके निरन्तर चालू रहने से अपवर्ग (=मोक्ष) होने में रुकावट आती हैय क्योंकि इनके रहते हुए उपवर्ग के लिए कोई अवसर ही नहीं रहता, जिसमें अपवर्ग के उपाय जुटाए जा सकें।

१. ऋण- वैदिक साहित्य में कहा है- 'जायमानो है वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते- ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' (तै.सं. ६/३/१०) (=उत्पन्न हुआ व्यक्ति (= ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि) तीन ऋणों से ऋणवान् होता है. ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋण। वह क्रमशः ग्रहाचर्य-पूर्वक वेदाध्यन से ऋषिऋण को अग्निहोत्र आदि के अनुष्ठान से देवऋण को और सन्तानोत्पत्ति से पितृऋण को चुका सकता है।) =यह शास्त्र की मर्यादा है। इस विषय में अन्यत्र बताया है- 'जरामर्व वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासी चेति। जरया ह एष तस्मात् सत्राद् विमुच्यते मृत्युना ह वा'। (द्र.-शत. ब्रा. १२/४/१/१, तै.सं. १०/६४) (= अग्निहोत्र एवं दर्शपूर्णमास आदि अनुष्ठान व्यक्ति के बूढ़ा होकर अशक्त हो जाने अथवा मृत्यु होने तक लगे रहते हैं)। इसके अनुसार ऋणों के चुकाने में ही मनुष्य का सारा जीवन समाप्त हो जाता है, फिर अपवर्ग (मोक्ष) के लिए अनुष्ठान करने का समय ही कहाँ रहा? और बिना ऋण चुकाए मोक्ष साधन शास्त्र विरुद्ध है। जैसा कि मनुस्मृति में कहा है -

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।

अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवामानो व्रजत्यधः।। मनु -६/३५

अर्थात् तीनों ऋणों को चुकाकर मोक्ष में मन लगावे, बिना ऋण चुकाए मोक्षसाधन में प्रवृत्त होने वाला अधोगति को प्राप्त होता है।

विशेष- इस पूर्वोक्त 'लोक का मनु. २/२४४ से विरोध है, जिसमें ब्रह्मचारी का भी मोक्ष कहा है। इसी प्रकार 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् वनाद्या गृहाद् वा ब्रह्मचर्यदिव प्रव्रजेत्'- (जाबालोपनिषद् रवं ४)

इसलिए पूर्वोक्त श्लोक को प्रक्षिप्त ही समझना चाहिए।

२. क्लेश- 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश-(योग. २/३)- ये पाँच क्लेश हैं। इनका सम्बन्ध आत्मा के साथ निरन्तर बना रहता है। प्राणी जीवन पर्यन्त इन क्लेशों में बंधा रहता है और फिर मरणोपरान्त भी क्लेशानुबद्ध ही जन्म लेता है। जब किसी भी समय क्लेश के अनुबन्धन का विच्छेद ही नहीं होता, तब मोक्ष के लिए अनुष्ठान करने का समय कहाँ रहा?

३. प्रवृत्ति- प्रवृत्ति के अनुबन्धन (सिलसिले) से भी मोक्ष का अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि जन्म से लेकर मरण पर्यन्त प्रत्येक प्राणी मन, वाणी और शरीर ते विभिन्न कर्मों के करता हुआ धर्माधर्म का उपार्जन करता है (१/१/१७), फिर उनका फल भोगने के लिए विविध योनियों में घूमता रहता है। ऐसी स्थिति में भी मोक्षार्थ अनुष्ठान करने का समय कहाँ रहा?

इसलिए (१/१/२में) जो कहा है, कि तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होकर फिर क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म, दु:ख का विनाश होने से अपवर्ग की प्राप्ति होती है, वह सर्वधा आधारहीन है।

प्रसंग- अब सूत्रकार पूर्वपक्षी के ऋणविषयक आधार का अग्रिम तीन सूत्रों में समाधान करते हैं। उनमें से पहला सूत्र है-

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः । ४/१/६०

ऋणैरिति नायं प्रधानशब्दः । यत्र खल्वेकः प्रत्यादेयं ददाति द्वितीयश्च प्रतिदेयं गृह्णाति तत्रास्य दृष्टत्वात् प्रधानमृणशब्दः । (वा.भाष्य) 'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' (तै.सं. ६/३/१०)।- इस वाक्य में 'ऋण' शब्द प्रधान अर्थ परक नहीं; क्योंकि जहाँ दाता अपने धन को फिर लेने की भावना से देता है और गृहीता उसको फिर देने की भावना से ग्रहण करता है, वहाँ 'ऋण' शब्द को मुख्यार्थ में देखा गया है, अन्यत्र नहीं। इसलिए प्रधान वाच्य की योग्यता न होने से यहाँ गौण (=औपचारिक) शब्द से कथन किया गया है। जैसे-तेजस्वी बालक के लिए 'अग्नि' शब्द का प्रयोग किया जाता है 'अग्निर्माणवकः' इत्यादि, वैसे ही ब्रह्मर्यादि के लिए यहाँ 'ऋण' शब्द का प्रयोग किया गया है, अर्थात् ऋण के तुल्य। गौण शब्द के प्रयोग का कारण है निन्दा और स्तुति। जैसे- ऋणी व्यक्ति ऋण के न उतारने से निन्दनीय तथा उतार देने से प्रशंसनीय होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन यज्ञादि आवश्यक कर्तव्यों को न करने से व्यक्ति निन्दनीय और करने से प्रशंसनीय होता है।

इसी प्रकार उक्त वाक्य में 'जायमान' शब्द भी गौण है। इससे प्रसवकालीन बालक का ग्रहण नहीं होता, अपितु गृहस्थ के आरम्भ का समय लिया जाता है। क्योंकि माता के गर्भ से उत्पन्न कोई बालक तुरन्त कर्म करने में समर्थ नहीं होता, और न उसमें अर्थित्व (=पुत्र, धन आदि की कामना आदि) होता है। परन्तु जब उसका गृहस्थ में प्रवेश होता है, तभी उसको अधिकार और सामर्थ्य प्राप्त होता है। जिस प्रकार अन्धों को सुन्दर दृश्य दिखाना और बधिरों को गाना सुनाना निरर्थक है, वैसे ही जातमात्र बालक को ब्रह्मचर्य और यज्ञादि का उपदेश करना व्यर्थ है।

अत: उक्त वाक्य के अर्थवाद परक होने से मोक्ष का अभाव नहीं होता। इसलिए जिसकी पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा ये तीनों निवृत्त हो गई हैं, वे चाहे किसी भी आश्रम में हों, इन तीनों ऋणों के लिए बाध्य नहीं हैं। ऐसे लोगों के लिए शास्त्र यह भी आदेश देता है, कि जिस दिन उनको वैराग्य उत्पन्न हो, मोक्ष के लिए यत्न करें ।

प्रसंग (शंका)- 'जरामर्यवाद' (= बुढ़ापे या मृत्य तक कर्मानुष्ठान के कथन) के अनुसार तो मोक्षोपयोगी तत्त्वज्ञान का अवसर न मिल पाने से अपवर्ग का उपदेश निरर्थक प्रतीत होता। सूत्रकार इस शंका का समाधान करते हैं -

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः । ४/१/६१

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सार्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति श्रूयते तेने विजानीमः प्रजावित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्थितस्य निवृत्ते फलाथित्वे समारोपणं विधीयते इति। (वा.भाष्य) वैदिक साहित्य में कहा है 'प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सार्ववेदसं हुत्या आत्मान्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' (प्राजापत्य इष्टि (= याग) करके, उसमें अपना सर्वस्व दान करके उन अग्नियों की अपने आत्मा में भावना करके तीव्र वैराग्य से युक्त व्यक्ति संन्यास ग्रहण कर ले)। इससे यह सिद्ध होता है, कि सन्तान, धन और लोक की एषणाओं (=इच्छाओं) से रहित व्यक्ति को फल की इच्छा न रहने पर आत्मा में अग्नि का आरोप करने की विधि है। इसलिए संन्यास आश्रम में यागादि कर्म न करने से पाप नहीं होता, क्योंकि इनका फल स्वर्गादि है। संन्यासी को स्वर्गफल की कामना होती नहीं। और जिस फल की इच्छा ही नहीं, उसके लिए बीज बोना अनावश्यक है। अत: वीतराग मुमुक्ष के लिए ऋणों का बन्धन न होने से अपवर्ग (=मोक्ष) का निषेध असंगत है।

शत. ब्रा. १४/७/३/१-१५ में भी गृहस्थ से मोक्षार्थ संन्यास लेने का विधान है- वे याज्ञवल्क्य भिन्न प्रकार का जीवन व्यतीत करने की इच्छा से मैत्रेयी से बोले कि- संन्यास लेकर मैं इस स्थान को छोड़ना चाहता हूँ, अत: तुम दूसरी पत्नी कात्यायनी के साथ रहो, मैं धन का बंटवारा कर देता हूँ। मैत्रेयी ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, अपितु याज्ञवल्क्य से विस्तार पूर्वक आत्मज्ञान प्राप्त किया। इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य ने कहा- हे मैत्रेयि। तुम यह अच्छी तरह समझ चुकी हो कि वही पर (=अपवर्ग) अमृतरूप है। ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य परिव्राजक (संन्यासी हो गए। इससे भी यही सिद्ध होता है, कि वीतराग के लिए ऋशों का बन्धन नहीं, वह मोक्ष के उपायों का अनुष्ठान कर सकता है।

प्रसंग- उक्त 'जरामर्यवाद' वाक्य फलार्थी के लिए ही है, तथा चतुर्थ आश्रम भी है'- इसमें सूत्रकार एक और युक्ति देते हैं-

पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः । ४/१/६२

जरामर्ये कर्मण्यविशेषेण कल्प्यमाने सर्वस्य पात्रचयान्तानि कर्माणीति प्रसज्यते, तत्रैषणाव्युत्थानं न श्रूयेत । (वा.भाष्य) अग्निहोत्री की मृत्यु होने पर उसके अग्निहोत्र सम्बन्धी काष्ठ के सम्पूर्ण यज्ञपात्रों को अग्निहोत्री के शरीर के साथ दाह करने की विधि है। किन्तु पात्रचयन के साथ संन्यासी

की अन्त्येष्टि की विधि और सम्भावना नहीं है; क्योंकि वह आहवनीय आदि अग्नि-सम्बन्धी कर्म का परित्याग करके उन अग्नियों को अपने आत्मा में आरोपित कर लेता है, लौकिक कामनाएँ त्याग देता है। (द्र-शत. ब्रा.१२/५/२/७,८)। इस विधान से सिद्ध होता है, कि वीतराग के लिए ऋणभार नहीं है। वह संन्यासी होकर मोक्षसाधना कर सकता है।

शास्त्रों में संन्यास ग्रहण करके मोक्षार्थ प्रयत्न करने का अन्यत्र भी विधान है, 'एत' स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमातमाऽयं लोक इति। **ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति।- (बृहदा. ४/४/२२, शत. ब्रा. १४/७/३/२६)।**

(= यह जाना जाता है, कि पहले के मूर्धन्य ज्ञानी, नैष्ठिक, विरक्त, विद्वान् सन्तान की कामना नहीं करते थे कर्मानुष्ठानबहुल गृहस्थ आदि आश्रमों में जाने की इच्छा नहीं रखते थे। उनका विचार था, कि पुत्र पौत्र आदि सन्तान से हम क्या करेंगे? विविध प्रकार के धन-वैभव से हमें क्या करना? जब हमारे लिए परब्रह्म परमात्मा सब कुछ है। ऐसा विचार कर वे पुत्र, वित्त और यश आदि की कामनाओं से ऊपर उठकर भिक्षाचरण से जीवन व्यतीत कर देते थे)। गार्गी जैसी महिलाएँ भी एषणाओं से पृथक् ब्रह्मवादिनी होती थीं।

इस प्रकार इतिहास एवं धर्मशास्त्रों में चारों आश्रमों का विधान मिलता है, केवल गृहस्थ का ही नहीं। जिनकी कामनाएँ समाप्त हो चुकी हैं, वे सीधे मोक्षार्ग को अपना सकते हैं। अतः प्रारम्भिक सूत्र (१/१/२) के अनुसार अपवर्ग (=मोक्ष) सम्भव है। उसका अभाव कहना ठीक नहीं ।

प्रसंग- पूर्वपक्षी ने ५९वें सूत्र में अपवर्ग के अभाव का साधक दूसरा हेतु 'क्लेशानुबन्ध' (= अविद्यादिक्लेशों का सत्त बना रहना) दिया था। सूत्रकार उसका समाधान करते हैं-

सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः । ४/१/६३

यथा सुषुप्तस्य खलु स्वप्नादर्शने रागानुबन्धः सुखदुःखानुबन्धश्च विच्छिद्यते तथापवर्गेऽपीति । एतच्च ब्रह्मविदो मुक्तस्यात्मनो रूपमुदाहरन्तीति। (वा.भाष्य) **जैसे**- गाढ़ निद्रा में सोए हुए व्यक्ति के राग द्वेष एवं सुख-दुःख आदि का सिलसिला विच्छिन्न हो जाता है, इनकी प्रतीति नहीं होती, इसी प्रकार ज्ञानी व्यक्ति को रागादि के अभाव से मोक्ष में भी सुख-दुःख आदि का सम्बन्ध नहीं रहता। वह ग्रहा की आनन्दरूपता का अनुभव करता रहता है- 'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' (सां. ५/७९/(११६)। अतः क्लेशानुबन्ध भी मोक्ष का बाधक नहीं हो सकता ।

प्रसंग- गत ५९वें सूत्र में पूर्वपक्षी ने अपवर्ग के अभाव की सिद्धि में तीसरा हेतु 'प्रवृत्यनुबन्धात्' बताया था। सूत्रकार उसका भी निराकरण करते हैं -

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य । ४/१/६४

प्रक्षीणेषु रागद्वेषमोहेषु प्रवृत्तिर्न प्रतिसन्धानाय । (वा.भाष्य) आत्मज्ञान हो जाने से राग, द्वेष, मोह आदि

क्लेशों के नष्ट होने पर शारीरिक आदि तीनों प्रकार की पूर्वोक्त प्रवृत्ति पुनर्जन्म दिलाने में कारण नहीं बन सकती, क्योंकि संसार में पुनर्जन्म तृष्णा (वासना) से होता है। वीतराग व्यक्ति की वासना का नाश हो जाने से फिर जन्म भी नहीं होता। और पुनः जन्म न लेना रूप अप्रतिसन्धान ही अपवर्ग (=मोक्ष) होने के कारण पूर्वपक्षी का यह कथन, कि–'प्रवृत्तिसम्बन्ध से मोक्ष नहीं हो सकता' सर्वथा असंगत है।

विशेष- (१) आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर प्रारब्ध (वर्तमान शरीर के निमित्तभूत) कर्मों के साथ अन्य बहुत से कर्मों का फल भी भोग लिया जाता है।

(२) कुछ योगाग्नि में दग्धबीज हो जाते हैं।

(३) शेष बचे हुए (=सञ्चित) कुछ कर्म जो मुक्ति में बाधक नहीं हैं, वे मुक्ति से लौटने पर फल देते हैं।

(४) नए कर्म निष्काम होने से पुनर्जन्म का कारण नहीं बनते।

इस प्रकार तत्त्वज्ञानी की प्रवृत्ति मोक्ष में बाधक नहीं बनती ।

प्रसंग– अब क्लेशों के अभाव को मानने वाला पूर्वपक्षी आक्षेप करता है–

न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् । ४/१/६५

नोपपद्यते क्लेशानुबन्धविच्छेदः कस्मात्? क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् । अनादिरियं क्लेशसन्ततिः, न चानादिः शक्य उच्छेत्तुमिति । (वा.भाष्य) अनादि काल से आत्मा को क्लेश होते रहते हैं, अतः वे प्रवाह से अनादि हैं। इसलिए उन क्लेशों के स्वाभाविक होने से आत्मा के साथ क्लेशों के सम्बन्ध का अत्यन्त नाश नहीं हो सकताय क्योंकि अनादि पदार्थ का नाश नहीं होता। तब अपवर्ग की सम्भावना कहाँ रह जाती है?

प्रसंग- उक्त आक्षेप का एकदेशी (अधूरा पंडित अथवा नया शिष्य) शीघ्रता में समाधान करता है–

प्रागुत्पत्तेरभावनित्यत्ववत् स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम् । ४/१/६६

यथाऽनादिः प्रागुत्पतेरभाव उत्पन्नेन भावेन निवर्त्यते एवं स्वाभाविकी क्लेशसन्ततिरनिस्येत्ति । (वा. भाष्य) जिस प्रकार घटादि कार्य की उत्पत्ति से पहले उसका अभाव (=प्रागभाव) अनादि (=स्वाभ. ाविक) होते हुए भी उस घटादि कार्य की उत्पत्ति होने पर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार स्वाभाविक (अनादि) क्लेश सन्तति का भी आत्माज्ञान से विनाश हो जाने के कारण अनित्य होना सम्भव है। अतः क्लेश के न रहने से अपवर्ग होना सिद्ध है ।

प्रसंग- अब उत्साह में आकर दूसरा एकदेशी (=आचार्यदेशीय) पूर्वपक्षी के आक्षेप का समाधान करता है –

अणुश्यामताऽनित्यत्ववद् वा । ४/१/६७

यथाऽनादिरणुश्यामता अथ चाग्निसंयोगादनित्या तथा क्लेशसन्ततिरपीति । सतः खलु धर्मो नित्यत्वमनित्यत्वं च तत्त्वं भावेऽभावे भाक्तमिति । (वा.भाष्य) भावरूप (=सत्तात्मक) पृथिवी के परमाणुओं की श्यामता अनादि है, फिर भी अग्निसंयोग से श्यामता के नष्ट हो जाने के कारण वह अनित्य है। इसी प्रकार अनादि भावरूप क्लेशसन्तति भी तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान हो जाने पर नष्ट हो जाती है। इस प्रकार क्लेशों के अभाव में अपवर्ग सिद्ध होता है।

समीक्षा- वस्तुतः एकदेशी के द्वारा दिए गए दोनों समाधान ठीक नहीं हैं; क्योंकि-

(१) नित्यत्य- अनित्यत्व आदि धर्म भावरूप पदार्थ में ही सम्भव हो सकते हैं, अभाव में नहीं। यदि कहीं अभाव में उपलब्ध होते हैं, तो उन्हें औपचारिक ही समझना चाहिए। क्लेश भावरूप पदार्थ हैं, अतः अभाव का दृष्टान्त देना उचित नहीं।

(२) पृथिवी के परमाणु की श्यामता भी नित्य नहीं, क्योंकि पृथिवी का सभी प्रकार का रूप पाकज होने से अनित्य माना जाता है। अतः अणुश्यामता का दृष्टान्त भी ठीक नहीं है ।

प्रसंग- अब सूत्रकार ६५ वें सूत्र में पूर्वपक्षी द्वारा किए गए आक्षेप का वास्तविक समाधान प्रस्तुत करते हैं-

न सङ्कल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् । ४/१/६८

कर्मनिमित्तत्वादितरेतर निमित्तत्वाच्चेति समुच्चयः । (वा.भाष्य) यहाँ 'संकल्प' का तात्पर्य है मिथ्याज्ञान। रागादि क्लेशों का निमित्त कारण है- मिथ्याज्ञान, और उसका नाशक 'तत्त्वज्ञान' माना गया है। जैसा कि 'दु:खजप्रवृत्तिदोष' (१/१/२) की व्याख्या में वर्णन कर आए हैं। इसलिए 'निमित्तापये नैमित्तिकस्याप्यपाय:' (=निमित्तकारण के नष्ट होने पर नैमित्तिक (=कार्य) की भी निवृत्ति हो जाती है) । इस नियम के अनुसार 'तत्त्वज्ञान' के द्वारा 'मिथ्याज्ञान' की निवृत्ति होने पर उससे उत्पन्न होने वाले रागादि क्लेशों की निवृत्ति में कोई अनुपपत्ति (=असिद्धि =बाधा) नहीं होती।

इसके अतिरिक्त राग आदि परिस्थिति के अनुसार एक दूसरे को भी उत्पन्न करते हैं। जैसे मोह से किसी को सुखदायक समझकर उसमें अनुरक्त हो जाता है और उस प्रिय पदार्थ की प्राप्ति में बाधक से द्वेष करता है। वहाँ मोह राग और द्वेष का कारण है। जब व्यक्ति किसी से अनुरक्त होता है, तो उसके मोह में फँस जाता है, वहाँ राग मोह का कारण है। जब किसी विषय में उग्र द्वेष होता है, तो उसके विरोधी में अनुराग और मोह उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार राग, द्वेष, मोह यथावसर एक-दूसरे को उत्पन्न किया करते हैं। परन्तु इन दोषों का कारण भी 'मिथ्याज्ञान' है, जिसकी निवृत्ति 'तत्त्वज्ञान' से हो जाती है। अतः रागादि क्लेशों की निवृत्ति होकर ब्रह्मानन्दरूप मोक्ष (=अपवर्ग) होना सम्भव है। इसलिए अपवर्ग के अस्तित्व में किसी ऋण, क्लेश, प्रवृत्ति आदि बाधक की कल्पना करना निराधार है। **इति दशभिः सूत्रैरपवर्गपरीक्षा प्रकरणम्**

अथ तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रकरणम् -

प्रसंग- प्रथमाह्निक में प्रवृत्ति से लेकर अपवर्गपर्यन्त प्रमेयों की विस्तार से परीक्षा की गई। अब मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के कारणभूत 'तत्त्वज्ञान' के विवेचन के लिए द्वितीय आह्निक आरम्भ करते हैं।

सर्वप्रथम यह जिज्ञासा होती है, कि क्या 'तत्त्वज्ञान' समस्त विषयों का होना चाहिए? अथवा कुछ नियत विषयों का?

विषयों के अनन्त होने से सब का तत्त्वज्ञान तो सम्भव नहीं और कुछ नियत विषयों का तत्त्वज्ञान मानने पर अन्य विषयों में मिथ्याज्ञान बना रहेगा।

स्पष्ट है, कि जिन विषयों के मिथ्याज्ञान से आत्मा संसार के बन्धन में फंसा रहता है, उन विषयों का तात्त्विक रूप से ज्ञान होना आवश्यक है। वे विषय हैं- शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना बुद्धि आदि। आत्मा से भिन्न इन शरीर आदि पदार्थों में श्यही में हूँ- ऐसा आत्मा होने का अहंभाव उभरना 'मिथ्याज्ञान' (=अज्ञान) है। जैसे शरीर के मोटे-पतले, बली-दुर्बल होने को आत्मा का मोटा-पतला होना आदि मानना। इन्द्रियों के काणा, बहरा आदि को 'मैं काणा, बहरा हूँ'- इस प्रकार आत्मा का स्वरूप समझना। मानसिक विकार (कष्ट, उन्माद आदि) को आत्मा का विकार जानना। वेदना को अर्थात् पुत्र, पति, पशु, परिच्छद (=साधन-सामग्री) आदि के संयोग-वियोग से होने वाले सुख-दुःख को आत्मा का समझना तथा विविध अनुभूतियों के लिए एक साधन मात्र बुद्धि को आत्मा समझना यह सब मिथ्याज्ञान है।

जब आत्मा शरीर, इन्द्रिय आदि को 'यही मैं हूँ' ऐसा अनुभव करता है, उनके सदा बने रहने की इच्छा करता है तथा उनके उच्छेद को आत्मा का उच्छेद (=विनाश) मानता हुआ उनको बनाए रखने की तथा उनसे होने वाले सुख की तीव्र इच्छा रखता है, तो बार-बार शरीर धारण करता रहता है। अतः शरीर आदि को आत्मा समझना आदि मिथ्याज्ञान है, जो संसार का कारण है। तत्त्वज्ञान इसी मिथ्याज्ञान का उच्छेद करके अपवर्ग का साधन होता है।

अपवर्ग की इस स्थिति को लाने के लिए यह आवश्यक है, कि व्यक्ति दुःख, दुःख के घर शरीर आदि को तथा दुःखमिश्रित सुख को भी दुःखरूप समझे और उन्हें दूर करने का उपाय करता रहे। जैसे अतिमधुर किन्तु विषमिश्रित भोजन त्याज्य होता है, उसी प्रकार दुःखों के कीचड़ में सने हुए सुख को भी व्यक्ति त्याज्य समझे। इससे अत्यन्त आकर्षक वैषयिक सुख को पाने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर क्षीण हो जाएगी और अन्त में अपवर्ग हो जाएगा। अर्थात् जन्म मरण का चक्र छूट जाएगा (द्र.४/१/६४)।

तत्त्वज्ञान के विषय को चार भागों में बांटा जा सकता है -

१. हेय (= त्याज्य) संसार है।

२. हेयहेतु - प्रवृत्ति और दोष हैं।

३. प्राप्य (= उपादेय) अपवर्ग है।

४. प्राप्यहेतु - 'तत्त्वज्ञान' है ।

इसी को- हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय कहा जाता है। जिसकी विस्तृत चर्चा योगदर्शन में भी है।

जो व्यक्ति इनको तत्त्वतः समझ लेता है, उसे यथावसर 'अपवर्ग' हो सकता है।

इसी विषय को सूत्रकार स्पष्ट करते हैं -

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः । ४/„/१

शरीरादि दुःखान्तं प्रमेयं दोषनिमित्तं तद्विषयत्वान्मिथ्याज्ञानस्य । (वा.भाष्य) शरीर से लेकर दुःखपर्यन्त जो दस प्रमेय हैं, उनकी प्राप्ति के निमित्ति राग, द्वेष आदि दोष हैं। मानव शरीर में आकर व्यक्ति रागादि से प्रेरित होकर कर्म करता है। वे कर्म अन्य रागादि को उत्पन्न करते हैं, जो मृत्यु के पश्चात् देहान्तर की प्राप्ति के निमित्त होते हैं। फिर नए शरीर में सञ्चित व क्रियमाण कर्मों से अन्य देह आदि की प्राप्ति होती रहती है। और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इसका कारण है शरीर आदि के विषय में मिथ्या ज्ञान अर्थात शरीर आदि का आत्मा समझना व उनके सुख दुख की अपना=आत्मा का) सुख-दुःख समझना। जब तत्त्वज्ञान हो जाता है, तब जीवात्मा को इनमें अहंकार नहीं रहता अर्थात में शरीर हूँ' या 'इन्द्रिय आदि का समुदाय हूँ' यह भाव नहीं रहता। इसलिए शरीर आदि की आवश्यकता को अपनी आवश्यकता न समझकर सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति नहीं रखता। शरीर आदि में आत्मबुद्धि रखता हुआ ही व्यक्ति विषयों में आसक्त होता है। तत्त्वज्ञान से वह शरीरादि में आत्मबुद्धिरूप अहंकार मिट जाता है। मिथ्याज्ञान के न रहने पर कारणनाश से कार्यनाश की व्यवस्था के अनुसार क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःखों का उच्छेद (= विनाश) हो जाने से आत्मा को अपवर्ग की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

यह सब पहले (१/१/२ तथा ९-२२ में) स्पष्ट किया जा चुका है। उसी का यहाँ पुनः कथन है। नया विधान कुछ नहीं है। अतः तत्त्वज्ञान उन्हीं विषयों का अपेक्षित है, जिनका मिथ्याज्ञान संसार का निमित्त है ।

प्रसंग- अब सूत्रकार विशेषरूप से चिन्तन किए हुए रूपादि विषयों को रागादि दोषों को निमित्त बताते हैं-

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः । ४/„/२

कामविषया इन्द्रियार्था इति रूपादय उच्यन्ते ते मिथ्यासङ्कल्प्यमाना रागद्वेष्मोहान् प्रवर्त्तयन्ति तान्पूर्व प्रसञ्चक्षीत । (वा.भाष्य) रूप, रस इत्यादि चक्षु आदि इन्द्रियों के ग्राह्य अर्थ (= विषय) हैं। इनमें मिथ्याज्ञानरूप संकल्प से व्यक्ति की कामना अर्थात् इनको प्राप्त करने व भोगने की चाहना उत्पन्न हो जाती है। रूप आदि के प्रति यह कामना व्यक्ति में राग, द्वेष आदि का उत्पन्न कर देती है ।

रागादि दोषों के निमित्तभूत ये विषय बाह्य और अध्यात्म भेद से दो प्रकार के हैं। इनमें स्त्री, पुत्र आदि बाह्य तथा स्वशरीरेन्द्रियादि अध्यात्म कहाते हैं। मुमुक्षु को चाहिए कि वह पहले स्त्री, पुरुष, पुत्र आदि बाह्य विषयों के तात्विक स्वरूप को जानकर उपरत (=अनासक्त) होवे, फिर शरीर इन्द्रिय आदि

अध्यात्म (=आन्तरिक) विषयों के अहंकार (=यही में आत्मा हूँ ऐसे मिथ्याज्ञान) को दूर करे ।

इस प्रकार जब बाह्य और आन्तर विषयों में मिथ्याज्ञान समाप्त हो जाता है, तब विरक्त पुरुष जीवन्मुक्त होकर आत्मा के आनन्द का अनुभव करता है।

प्रसंग- रागादि दोषों के साधारण कारण संकल्पकृत रूप आदि विषयों को बताकर अब सूत्रकार दोषों का विशेष कारण बताते हैं-

तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः । ४/,,/३॥

तेषां दोषाणां निमित्तं त्ववयव्यभिमानः । उन रागादि दोषों का विशेष कारण तो विषयों में अवयवी होने का अभिमान (=मिथ्याभाव) है। जैसे पुरुष की स्त्री के विषय में 'यह सुन्दर स्त्री है' यह भावना तथा स्त्री की पुरुष के विषय में 'यह सुन्दर पुरुष है' ऐसी भावना राग का कारण होती है। भावना के दो भेद हैं १. निमित्त, २. अनुव्यञ्जन। जैसे १. आंख, नाक, कान, दांत, ओष्ठ, रसना, हाथ, पांव आदि का स्मरण राग आदि का निमित्त होता है, और २. 'इसके ऐसे सुन्दर दांत हैं', 'ऐसे सुन्दर ओष्ठ हैं' इत्यादि भावना कामवासना के 'अनुव्यञ्जक' (=उभारने या बढ़ाने वाले) हैं। इस भावना से वासना तथा त्याज्य दोषों की वृद्धि होती है।

इस भावना का परिहार (=नाश) अवयव-भावना से होता है। अर्थात् स्त्री या पुरुष विषयक आसक्ति को हटाने के लिए जिज्ञासु स्त्री या पुरुष के अवयवों के विषय में सोचे कि यह सुन्दर प्रतीत होने वाला शरीर तो केश, रोम, मांस, रक्त, अस्थि, स्नायु (=नस), शिरा, नाड़ी, कफ, पित्त, मल, मूत्र आदि का ढेर है। इससें कौन सी अच्छी चीज है, जिस पर आसक्त होकर में अपना जीवन नष्ट करूं। ऐसे विन्तन से व्यक्ति की देहादि-विषयक आसक्ति समाप्त हो जाती है। पाने व भोगने की कामनाएँ क्षीण हो जाती हैं। ऐसे विचार को 'अशुभ संज्ञा' कहते हैं, जो कि आसक्ति को मिटाने का विशेष उपाय है।

मुमुक्ष व्यक्ति को चाहिए कि वह बाह्य विषय से उपरत होकर ही सन्तुष्ट न हो जाए, अपितु आन्तरिक भावों को भी नियन्त्रित करे। किसी विचारक का कहना है, कि देखकर मत रीझना, इस ऊपर की सफाई पर। वर्क चाँदी का चढ़ा है, गोबर की मिठाई पर । **इति त्रिभिः सूत्रैस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिप्रकरणम्** ।

परमाणुस्वरूप निरूपण

प्रसंग- अब 'सर्वशून्यवादी' परमाणु के निरवयवत्व पर आक्षेप करता है -

आकाशव्यतिभेदात्तदनुपपत्तिः । ४/,,/१८

तस्याणोर्निरवयवस्य नित्यस्यानुपपत्तिः । कस्मात् ? आकाशव्यतिभेदात् । अन्तर्बहिश्चाणुराकाशेन

समाविष्टो व्यतिभिन्नो व्यतिभेदात्सावयवः, सावयवत्वानित्य इति । (वा.भाष्य)

विभु होने से आकाश परमाणु के अन्दर बाहर व्यापक है और वस्तु में किसी का समावेश होना उस वस्तु को सावयव सिद्धि करता है। अतः परमाणु सावयव, अनित्य द्रव्य है; न कि निरवयव, नित्यय सावयव का विनाश अवश्यम्भावी होता है। इसलिए प्रत्येक पदार्थ का अन्त अभाव में मानना ही पड़ेगा ।

प्रसंग (शंका)- यदि परमाणु में आकाश का समावेश न मानें तो!

आकाशाऽसर्वगतत्वं वा । ४/,,/१९

अथैतन्नेष्यते परमाणोरन्तर्नास्त्याकाशमित्यसर्वगतत्वं प्रसज्यते इति । यदि परमाणु में आकाश का व्यापक होना नहीं मानेंगे, तो फिर आकाश को विभु (= सर्वगत) नहीं कह सकते। सिद्धान्तपक्ष 'उभयत:पाशा रज्जु' से अर्थात् दोनों ओर से फांस में आ रहा है। इसका उपयुक्त समाधान होना चाहिए।

प्रसंग- अब सूत्रकार उक्त पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं -

अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः। ४/,,/२०

अन्तरिति पिहितं कारणान्तरैः कारणमुच्यते । (वा.भाष्य) अन्दर और बाहर यह व्यवहार कार्य द्रव्य में (जब वह मूल कारण नहीं है) हो सकता है। कारणरूप सूक्ष्म परमाणुओं में नहीं हो सकता, क्योंकि जिसका विभाग न हो सके, या जिससे कोई छोटा न हो, वह परमाणु है।

प्रसंग (शं.)- यदि आकाश का नित्य परमाणु में समावेश नहीं, तो फिर आकाश को सर्वगत (=विभु) कैसे मान सकते हैं? सूत्रकार समाधान करते हैं -

शब्दसंयोगविभवाच्च सर्वगतः । ४/,,/२१

यत्र क्वचिदुत्पन्नाः शब्दाः विभवन्त्याकाशे तदाश्रया भवन्ति, मनोभिः परमाणुभिस्तत्कार्यैश्च संयोगा विभवन्त्याकाशे, नासंयुक्तमाकाशेन किञ्चिन्मूर्त्तद्रव्यमुपलभ्यते तस्मान्नासर्वगतमिति । आघात आदि निमित्तों से शब्द सर्वत्र उत्पन्न हो सकता है और तरंगित होने पर प्रदेशान्तर में सुना जा सकता है। शब्द आकाश का गुण है, उसके आश्रित रहता है, इसलिए आकाश को सर्वगत माना जाता है।

इसी प्रकार सूक्ष्म, स्थूल प्रत्येक एकदेशी द्रव्य के साथ अवकाश प्रदान करने वाले आकाश का संयोग होने से वह सर्वगत (सर्वव्यापक) है। विभु का यही स्वरूप है। अतः पूर्वपक्षी का दिया गया आकाश के सर्वगत होने का दोष ठीक नहीं है ।

प्रसंग- अब सूत्रकार प्रसंगानुसार आकाश के धर्मों का निर्देश करते हैं -

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः । ४/,,/२२

संसर्पता प्रतिघातिना द्रव्येण न व्यूह्यते यथा काष्ठेनोदकम् । (वा.भाष्य) आकाश में 'अव्यूह' (= न स्वयं सिमटना, न दूसरे को समेटना), 'अविष्टम्भ' (=किसी गतिशील =सक्रिय को न रोकना) तथा

'विभुत्व' ये तीनों धर्म स्वाभाविक हैं। विभु होने पर भी आकाश में व्यूह तथा विष्टम्भ नहीं होते; क्योंकि ये दोनों धर्म स्पर्श वाले मूर्त्त द्रव्यों में ही पाए जाते हैं, अमूर्त द्रव्यों में नहीं। अतः आकाश के व्यापक होने से परमाणुओं के निरवयवत्व और नित्यत्व में कोई बाधा नहीं होती, क्योंकि किसी द्रव्य की अनित्यता उसके कारणों के विभाग से जानी जाती है, आकाश के व्यापक होने से नहीं ।

प्रसंग- अब 'शून्यवादी' आकृति के आधार पर पुनः शंका करता है-

मूर्त्तिमतां च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः । ४/,,/२३

परिच्छिन्नानां हि स्पर्शवतां संस्थानं त्रिकोणं चतुरस्रं समं परिमण्डलमित्युपपद्यते, यत्तत्संस्थानं सो ऽवयवसन्निवेशः, परिमण्डलाश्चाणवस्तस्मात्सावयवा इति । (वा.भाष्य) परिच्छिन्न और स्पर्शवान् द्रव्यों के घटादि द्रव्यों के समान त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल, चपटा आदि आकार देखे जाते हैं। ऐसे पदार्थ सावयव और अनित्य होते हैं। इसी प्रकार परमाणु भी गोलाकार होने से सावयव तथा सावयव होने से घटादि के समान उत्पत्ति विनाशशील समझना चाहिए। इस प्रकार परमाणु के अनित्य होने से संसार का उत्पत्ति कारण शून्य समझना चाहिए ।

प्रसंग- अब पूर्वपक्षी परमाणु को सावयव एवं अनित्य सिद्ध करने के लिए अन्य हेतु देता है -

संयोगोपपत्तेश्च । ४/,,/२४

मध्ये सन्नणुः पूर्वापराभ्याम् अणुभ्यां सयुक्तस्तयोर्व्यवधानं कुरुते । (वा.भाष्य) मध्य में स्थित परमाण ु पूर्व तथा पर वाले परमाणुओं से संयुक्त होता है, और जो मध्यस्थ परमाणु के पूर्वापर भाग हैं, वे ही उसके अवयव हैं। इस प्रकार मूर्तिमान पदार्थों की भांति सावयव होने से परमाणु अनित्य है ।

प्रसंग- अब सूत्रकार पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं -

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः । ४/,,/२५

यावन्मूर्त्तिमद्यावच्च संयुज्यते तत्सर्वं सावयवमित्यनवस्थाकारिणाविमौ हेतू सा चानवस्था नोपपद्यते । (वा.भाष्य) जितने मूर्तिमान् पदार्थ हैं, और जो संयुक्त होते हैं, वे सब सावयव एवं अनित्य हैं', ये हेतु अनवस्थाकारी हैं, क्योंकि जब सब पदार्थ सावयव हैं और उनकी कोई व्यवस्था नहीं है, तो इस स्थिति में पदार्थों का परिमाणभेद और गुरुत्व आदि का ग्रहण नहीं हो सकेगा अर्थात् पर्वत और सरसों में तुल्यपरिमाण ात्व की अनवस्था होगी, जो कि अयुक्त है और वादी को भी मान्य नहीं है। वस्तुतः स्पर्श वाला एक परमाणु पूर्वापर दोनों परमाणुओं के मध्य प्रतिघात करते से व्यवधायक होता हैं, इसलिए उससे भाग की कल्पना औपचारिक है। वस्तुतः परमाणुओं का कोई अवयव नहीं। अतः कार्यद्रव्य के विभागनन्तर अन्तिम स्तर पर परमाणु को निरवयव एवं नित्य मानना पूर्णतया प्रामाणिक एवं उचित है । **इत्यष्टभिः सूत्रैः परमाणोर्निरवयवत्त्वसमर्थनम्** ।

अथ तत्त्वज्ञानविवृद्धिप्रकरणम् -

प्रसंग- दोषों की निवृत्ति के लिए (४/२/१ में) तत्त्वज्ञान का निर्देश कर चुके हैं। अब सूत्रकार यह बताते हैं, कि 'तत्त्वज्ञान' कैसे उत्पन्न होता है-

समाधिविशेषभ्यासात् । ४/,,/३८

स तु प्रत्याहृतस्येन्द्रियेभ्यो मनसो धारकेण प्रयत्नेन धार्यमाणस्यात्मना संयोगस्तत्त्वबुभुत्साविशिष्टः । (वा.भाष्य) तत्त्वज्ञान की इच्छा से इन्द्रियों के विषयों से मन को हटाकर प्रयत्नपूर्वक उसे आत्मा के साथ जोड़ लेना ही समाधिश् है। तब मन की वृत्तियाँ इन्द्रियों के विषयों की ओर नहीं दौड़तीं। उस समाधि के अभ्यास से मन के मल, विक्षेप और आवरण दूर हो जाते हैं और आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान हो जाता है ।

प्रसंग- अब समाधिविशेषकी असम्भावना दिखाता हुआ पूर्वपक्षी आक्षेप करता है-

नार्थविशेषप्राबल्यात् । ४/,,/३९

अनिच्छतोऽपि वुद्ध्युत्पत्तेनैतद्युक्तम् । कस्मात् अर्थविशेषप्राबल्याद् अयुभुत्समानस्यापि बुद्ध्युत्पत्तिदृष्टा यथा स्तनयित्नुशब्दप्रभृतिषु । (वा.भाष्य) इन्द्रियों के विषय इतने प्रबल हैं, कि व्यक्ति न चाहता हुआ भी उनसे नहीं बन आदि। मेघ आदि की तीव्र गर्जना श्रोत्र इन्द्रिय को प्रभावित कर देती है। इसी प्रकार पाता। बड़े बड़े योगी भी इनसे अभिभूत हो जाते हैं। जैसे विश्वामित्रः, सौभाग अन्य विषयों की भी प्रबलता है। इस स्थिति में समाधि की स्थिति को प्राप्त करना भी सम्भव नहीं दीखता। इसीलिए गीता में अर्जुन ने कृष्ण से कहा- **चञ्चलं हि मनः कृष्ण। प्रमाथिबलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ -गीता- ६/३४)** मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ मनु. २/२१५॥

प्रसंग- उसी अर्थ में पूर्वपक्षी अन्य हेतु देता है -

क्षुदादिभिः प्रवर्तनाच्च । ४/,,/४०

क्षुत्पिपासाभ्यां शीतोष्णाभ्यां व्याधिभिञ्चानिच्छतोऽपि बुद्धयः प्रवर्त्तन्ते, तस्मादैकाड्यानुपपत्तिरिति। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, रोग आदि भी मन को चलायमान कर देते हैं। न चाहते हुए भी योगी को इनके अनुसार व्यवहार करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में यह कहना, कि 'समाधि-विशेष के निरन्तर अभ्यास से तत्त्वज्ञान हो जाएगा' ठीक प्रतीत नहीं होता ।

प्रसंग- अब सूत्रकार पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं-

पूर्वकृतफलामुबन्धात् तदुत्पत्तिः । ४/,,/४१

पूर्वकृतो जन्मान्तरोपचितस्तत्त्वज्ञानहेतुर्धर्मप्रविवेकः फलानुबन्धो योगा-भ्याससामध्यम्, निष्फले ह्यभ्यासे नाभ्यासमाद्रियेरन् । दृष्टं हि लौकिकेषु कर्मस्वभ्याससामर्थ्यम्। (वा.भाष्य) समाधि की सिद्धि एक जन्म के अभ्यास से ही नहीं हो जाती, अपितु अनेक जन्मों के शुभ संस्कारों और अभ्यास के कारण होती है। यदि अभ्यास इतना निष्फल होता, तो लोक में इसका इतना आदर न होता। लौकिक कार्यों के अभ्यास के समान पारमार्थिक कार्यों में भी इसका सामर्थ्य अति प्रबल होता है। अतः गीता में कृष्ण ने अर्जुन को उत्तर दिया है-

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। गी. ६/३५

और मौसम की सर्दी-गर्मी तो अभ्यासी के लिए नगण्य है। इस प्रकार यह सम्भव है, कि व्यक्ति समाधि लाभ के द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सके।।४१।।

प्रसंग- अब सूत्रकार समाधि में सम्भव विघ्न वाधाओं से बचने का उपाय बताते हैं -

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः । ४/,,/४२

योगाभ्यासजनितो धर्मो जन्मान्तरेऽप्यनुवर्तते । प्रचयकाष्ठागते तत्त्वज्ञान-हेतौ धर्म प्रकृष्टायां समाधि भावनायां तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते इति। (वा.भाष्य) विघ्न बाधाओं से बचने के लिए एकान्त स्थान में अभ्यास अत्यन्त सहायक होता है। जब पूर्वसंस्कार तथा तत्त्वज्ञान के लिए वर्तमान में प्रवल अभ्यास होता है, तब समाधि की सिद्धि अवश्य हो जाती है और उससे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके व्यक्ति कृतकृत्य हो जाता है। वेद में भी कहा है- **उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम् धिया विप्रोऽजायत ।।** - ऋग. ८/६/२८, यजु २६/१५ गीता में भी कहा है -योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।। गी.६/१०

और विश्वामित्र, सौभरि आदि के ऐतिहासिक दृष्टान्त उनके अभिमान एवं अपुण्य के परिणाम हो सकते हैं ।

प्रंसग- पूर्वपक्षी शंका करता है यदि आप हमारी इस बात को स्वीकार करते हैं, कि 'अनिच्छुक का भी मन अर्थविशेष की प्रबलता से उधर खिंच ही जाता है, तो-

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः । ४/,,/४३

मुक्तस्यापि बाह्यार्थसामर्थ्याद् बुद्धय उत्पद्येरन्निति । (वा.भाष्य) मुक्ति में भी कोई विषयों के आकर्षण से नहीं बच सकताय क्योंकि मुक्ति में केवल इच्छा ही नहीं होती, किन्तु संसार के विषय तो विना इच्छा के भी मुक्त पुरुष को अपनी ओर खींचेंगे ।

प्रसंग- उक्त आशंका का सूत्रकार समाधान करते हैं -

न, निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् । ४/,,/४४

यहाँ गतसूत्र की अनुवृत्ति है।

कर्मवशान्निष्पन्ने शरीरे चेष्टेन्द्रियार्थाश्रये निमित्तभावादवश्यम्भावी बुद्धीनामुत्पादः न च प्रबलोऽपि सन् बाह्योऽर्थ आत्मनो बुद्धयुत्पादे समर्थो भवति। तस्येन्द्रियेण संयोगाद् बुद्धयुत्पादे सामर्थ्यं दृष्टमिति । (वा.भाष्य) पूर्वकर्मानुसार चेष्टा, इन्द्रिय और गन्धादि अर्थों (=विषयों) के आधार, शरीर की उत्पत्ति हो जाने पर ही आत्मा को बाह्य विषयों का ज्ञान हो सकता है। बाह्य अर्थ कितना ही प्रबल क्यों न हो, देह इन्द्रिय आदि के अभाव में विषय ज्ञान की उत्पत्ति के लिए वह समर्थ नहीं होता।

प्रसंग- अब सूत्रकार मोक्षावस्था में शरीर का अभाव बताते हैं -

तदभावश्चापवर्गे । ४/,,/४५

तस्य बुद्धिनिमित्ताश्रयस्य शरीरेन्द्रियस्य धर्माधर्माभावादभावोऽपवर्गे । तत्र यदुक्तमपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्ग इति तद्युक्तम् । तस्मात्सर्वदुःखविमोक्षोऽपवर्गः । (वा.भाष्य) धर्माधर्मरूप शरीरकारणों के निवृत्त हो जाने से मोक्ष में शरीर का अभाव हो जाता है। अतः तब बाह्यविषयों का उपभोग नहीं हो सकता, जिससे सुख-दु:ख भी नहीं होते। उस समय तो केवल चेतन आत्मा समाधिजन्य स्वगत सामर्थ्य से ग्रहा (=परमात्मा) के आनन्द का अनुभव करता रहता है।।४५।।

प्रसंग- समाधि-विशेष के समान तत्त्वज्ञानपूर्वक अपवर्गप्राप्ति के अन्य साधनों को बताते हुए सूत्रकार कहते हैं-

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः । ४/,,/४६

तस्यापवर्गस्याधिगमाय यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारः । यमः समानमाश्रमिणां धर्मसाधनम्, नियमस्तु विशिष्टम् । (वा.भाष्य) अपवर्ग को प्राप्ति के लिए 'आत्मसंस्कार' (=अपवर्ग-प्राप्ति की योग्यता) परमावश्यक है। जब तक व्यक्ति में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, अहंकार आदि अवगुण विद्यमान हैं, तब तक वह असंस्कृत और? अपवर्ग-प्राप्ति के अयोग्य माना जाता है। उसी का यहाँ उपाय बताते हैं, कि यम-नियम आदि के अनुष्ठान से आत्म संस्कार करना चाहिए। सब आश्रमियों एवं वर्णों के लिए समान रूप से धर्म के साधन को श्यमश् कहते हैं। जैसे 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' (-योग. २/३०)। तथा पाँच नियम-'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' (योग. २/३२)।

ये सब आश्रमों और वर्णों के अपने अपने हैं। इन उपायों से अधर्मनाश तथा धर्मोपचय के रूप में आत्म-संस्कार समझना चाहिए ।

अध्यात्म- विधि भी योगशास्त्र से ग्रहण कर सकते हैं। वह विधि योगशास्त्र में-तप, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि उपायों से बताई गई है। इन्द्रियों के विषयों से निवृत्ति का अभ्यास राग-द्वेष के क्षय के लिए किया गया है। अन्य उपाय योग एवं आचार शास्त्र (यथा सांख्य. का चतुर्थाध्याय, उपनिषद् आदि) में बताए गए हैं। जैसे- एकाकिता, आहार में संयम, श्रवण- चतुष्टय आदि। इन उपायों से व्यक्ति अपवर्ग प्राप्ति की योग्यता प्राप्त कर लेता है।

इस सूत्र की रचना का पं. सुदर्शनाचार्य ने उपहास किया है ।।४६।।

प्रसंग- यदि योगशास्त्रोक्त विधियों के अनुष्ठान से ही अपवर्ग हो सकता है, तो इस न्यास शास्त्र के अध्ययन का क्या लाभ हैं ?

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः । ४/,,/४७

यहाँ गतसूत्र से 'तदर्थम्' की अनुवृत्ति है।

सूत्रस्थ 'ज्ञान' पद में करण कारक में 'ल्युट्' है। 'ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' अर्थात् जिससे जाना जाए, वह शास्त्र (= न्याय आदि)। **तदर्थमिति प्रकृतम् । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमात्मविद्याशास्त्रं तस्य ग्रहण-मध्ययनधारणे, अभ्यासः सततक्रियाध्ययनश्रवणचिन्तनानि, तद्विधैश्व सह संवाद इति प्रज्ञापरिपा. कार्थम् परिपाकस्तु संशयच्छेदन मविज्ञातार्थबोधोऽध्यव-सिताभ्यनुज्ञानमिति । समाय वादः संवादः।** परस्पर मिलकर अच्छी तरह से विचार करना 'संवाद' है, जिससे जिज्ञासु के संशय की निवृत्ति हो, अभी तक अविज्ञात तत्त्व का बोध हो जाए, जाने हुए की पुष्टि हो जाए, अर्थात् चर्चा करने वाले दोनों व्यक्तियों का ज्ञान समान हो जाए समाय वादः =संवादः। उनमें न्यूनाधिकता न रहे। इसके लिए न्याय शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है ।

प्रसंग- गतसूत्र में 'तद्विधैः सह संवादः' वाक्य में 'तद्विद्यैः' (=उसके ज्ञाताओं के साथ) पद को स्पष्ट करते हैं, कि किनके साथ संवाद करे?

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्ट श्रेयोर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात् । ४/,,/४८

जिज्ञासुओं को चाहिए, कि वे स्तुति, निन्दा, विजिगीषा (= जयपराजय की इच्छा) से रहित गुरु आदि के पास जाकर विनयपूर्वक संवाद करे, जिससे संशय तथा विपर्यय से रहित होकर तत्त्वज्ञान से ब्रह्मानन्दोपभोगरूप मोक्ष के अधिकारी बन सकें ।

प्रसंग (शं.) यदि संवाद में पक्ष तथा प्रतिपक्ष होने से ऐसा प्रतीत हो, कि यह गुरु, सब्रह्मचारी, विशिष्ट आदि के लिए प्रतिकूल ही होगा, तब क्या संवाद को चालू रखना उपयुक्त है? सूत्रकार समाधान करते हैं-

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे । ४/,,/४९

यहाँ गतसूत्र से 'तम्' 'अभ्युपेयात्' की अनुवृत्ति है।

तमभ्युपेयादिति वर्तते । परतः प्रज्ञामुपादित्समानस्तत्त्वबुभुत्साप्रकाशनेन स्वपक्षमनवस्थापयन् स्वदर्शनं परिशोधयेदिति । (वा.भाष्य) महर्षि गौतम उपदेश करते हैं, कि जिज्ञासु व्यक्ति दूसरों से ज्ञान प्राप्त करने के लिए तत्त्वज्ञान की इच्छा प्रकट करके, अपना पक्ष न रखता हुआ, गुरु आदि आदरणीय ज्ञानवृद्ध व्यक्ति के उपदेश से अपने ज्ञान का परिशोधन करे। गुरु आदि आदरणीय व्यक्तियों के पक्ष का सद्यः विरोधी पक्ष स्थापित करना शिष्टाचार के प्रतिकूल हो सकता है अथवा वे चर्चा से अप्रसन्न होकर उसे

बन्द कर सकते हैं। अतः पक्ष प्रतिपक्ष के बिना ही अपना प्रयोजन सिद्ध करे ।

॥ इति द्वादशभिः सूत्रैः तत्त्वज्ञानविवृद्धिप्रकरणम् ॥

अथ तत्त्वज्ञानपरिपालनप्रकरणम् -

प्रसंग (शं.)- यदि तत्त्वज्ञान के लिए वाद ही उपयुक्त है, तो जल्प और वितण्डा का उपयोग किस अवसर पर करना चाहिए?

सूत्रकार इस शंका का समाधान करते हैं -

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् । ४/,,/५०

अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानानामप्रहीणदोषाणां तदर्थं घटमानानामेतदिति । विद्या-निर्वेदादिभित्र परेणावज्ञायमानस्य । (वा.भाष्य) जब मिथ्याज्ञान में डूबे हुए व्यक्ति स्वयं को तत्त्वज्ञानी होने का अि.भमान रखते हुए तत्त्वज्ञान को धूमिल करने के लिए तत्पर हो जाते हैं, तब जल्प और वितण्डा कथा के द्वारा उनकी इस प्रवृत्ति को निष्फल बनाया जाता है। इससे उनका अज्ञान व मिथ्याज्ञान दूर हो जाता है तथा अन्यों में भ्रान्ति का प्रचार नहीं कर पाते । जैसे कि किसान के द्वारा बोए गए बीजों के अंकुरों की कंटीली झाड़ियों की बाढ़ के द्वारा पशुओं से रक्षा की जाती है ।

प्रसंग - सूत्रकार उक्त अर्थ को और स्पष्ट करते हैं -

ताभ्यां विगृह्य कथनम् ४/,,/५१

विगृह्येति विजिगीषया न तत्त्वबुभुत्सयेति । तदेतद्विद्यापालनार्थं न लाभपूजाख्यात्यर्थमिति । ऐसे अवसरों पर जल्प - वितण्डा का प्रयोग, विजय के लिए किया जाता है, अपने तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए नहीं।

॥ इति तत्त्वज्ञानपरिपालनप्रकरणम् ॥

इकाई-3

वैशेषिकदर्शन

धर्म का स्वरूप एवं लक्षण

वैशेषिक दर्शन का आरम्भ ही 'धर्म' की व्याख्या करने के संकल्प से होता है। महर्षि कणाद संकल्प करते हुये प्रथम सूत्र लिखते हैं - **अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः (1.1.1)**

अर्थात् अब हम शिष्यों के परम कल्याण के हेतु से धर्म की व्याख्या करेंगे। प्रस्तुत सूत्र में 'अथ' शब्द मंगलाचरण का सूचक एवं अनन्तर का बोधक (वाचक) है। 'अतः' शब्द हेतु अर्थ में हैं, 'धर्म' पद इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय को संकेत करता है, तथा ''व्याख्यास्यामः'' पद व्याख्या के संकल्प का द्योतक है। अतएव अर्थ यह स्पष्ट होता है कि ''शिष्यों के जिज्ञासा के अनन्तर उनके परम कल्याण के हेतु से हम 'धर्म' की व्याख्या (विवेचन) करेंगे'' ऐसा आचार्य प्रथमदृष्ट्या संकल्प करते है। यहाँ पर 'व्याख्यास्यामः' पद उत्तमपुरुष बहुवचनान्त है, जिसका तात्पर्य यह है कि वैशेषिककार कहना चाहते है कि इस शास्त्र में 'धर्म' का केवल एक तरफा उपदेश नहीं किया जायेगा अपितु हम सभी (आचार्य एवं शिष्य) परस्पर संवादात्मक शैली से विचार-विमर्श करते हुये 'धर्म' के वास्तविक स्वरूप का निश्चय करेंगे। इस कारण से यह शास्त्र धर्मशास्त्र न होकर दर्शन शास्त्र कहलाता है, कारण यह है कि धर्मशास्त्रों में केवल उपदेशमात्र होता है, वहाँ प्रश्नोत्तर शैली का अभाव होता है। धर्मशास्त्रों में आशंका का अवकाश नहीं होता है बल्कि श्रद्धा का विषय होता है जबकि इस दर्शन शास्त्र में आशंका, आक्षेप एवं तर्क का पूर्ण अवकाश होने से दर्शन शास्त्र के अन्तर्गत आता है, न कि 'धर्मशास्त्र' के अन्तर्गत। आगे धर्म का स्वरूप बताते हुये वैशेषिककार धर्म का लक्षण बता रहे है-

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (1.1.2)

अर्थात् जिससे अभ्युदय (लौकिक उत्कर्ष) एवं निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धिः (प्राप्ति) होती है वह 'धर्म' कहलाता है। प्रस्तुत सूत्र में धर्म का तटस्थलक्षण कहा है न कि स्वरूपलक्षण। मन्वादि धर्मशास्त्रों मे 'धृत्यादि' धर्म के स्वरूपलक्षण कहे जाते है। इस सूत्र द्वारा (धर्म) को निमित्त कारण के रूप में स्वीकार किया गया है; जो कि 'यतः' इस पञ्चमी विभक्ति से स्पष्ट होता है। 'अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः' इस समस्तपद में मध्यमपदलोपी समास है। अर्थात् अभ्युदय द्वारा निःश्रेयससिद्धि जिससे होती है वह 'धर्म' कहलाता है। इससे पता चलता है कि वैशेषिकशास्त्र क्रम-मुक्ति का समर्थक है। धर्म के पालन से लौकिक उत्कर्षतापूर्वक अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि धर्म के आचरण के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है, तथा धर्म के सम्यक् आचरण से मुमुक्षु का लौकिक कल्याण अर्थात धन-धान्यादि की समुपलब्धि हो ही जाती है। अतएव अभ्युदय द्वारा अन्ततः जो मोक्ष का हेतु हो उसे 'धर्म' कहा जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि उपरोक्त 'धृत्यादि' सद्‌गुणों को धर्म के रूप में स्मृतिकारों ने कह ही दिया है, तब इस प्रकार के धर्म की व्याख्या में नवीनता (अपूर्वता) क्या है? ऐसा आक्षेप होने पर वैशेषिककार कहते है-

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां

पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम् (1.1.4)

अर्थात् द्रव्यादि छः पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य के द्वारा योगज धर्मविशेष से जन्य 'तत्वज्ञान' से निःश्रेयस (मोक्ष) होता है, और इस प्रकार का तत्वज्ञान ही मोक्ष का साधन होने से वास्तविक रूप में 'धर्म' सिद्ध होता है।

पूर्व सूत्र में 'यतः' पञ्चम्यन्त पद से जिसको कहा गया था उसी को प्रस्तुत सूत्र में 'तत्वज्ञानात्' इस पञ्चम्यन्त पद से कहा गया है। जिसका तात्पर्य है कि वस्तुतः तत्वज्ञान ही मोक्ष का अन्यतम साधन होने से धर्म सिद्ध होता है। परन्तु यह तत्वज्ञान भी साक्षात् सम्भव नहीं है बल्कि द्रव्यादि षड्पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य रूपी चिन्तन एवं मनन से उत्पन्न होता है। अतएव मोक्ष की सिद्धि का क्रम इस प्रकार है-द्रव्यादि षड्पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्यपूर्वक चिन्तन एवं मनन, इससे नित्य आत्मतत्व के नित्यत्व एवं जगत् के क्षणभंगुरत्व का दृढ़ निश्चयपूर्वक निदिध्यासन में अग्रसर होना तथा उससे समाधि को प्राप्त होना तथा समाधि द्वारा तत्त्वज्ञान का उदय और अन्ततः तत्त्वज्ञान से मोक्ष में हेतु होने से 'ध र्म' सिद्ध होता है।

षड्पदार्थों का चिन्तन-मनन मोक्ष में निमित्तकारण तथा तत्त्वज्ञान साक्षात् कारण सिद्ध होता है। इसलिए दोनों ही 'धर्म' सिद्ध होते हैं।

तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम् (1.1.3)

इस सूत्र से धर्म के प्रवचन में वेद का प्रामाण्य हाने से 'श्रवण' का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार श्रवण मनन एवं निदिध्यासनपूर्वक तत्त्वज्ञान ये तीनों मोक्ष में हेतु होने से सूत्रकार के मत में 'धर्म' कहे जायेंगें। जैसा कि प्रसिद्ध शास्त्रवचन है-

श्रोतव्यो श्रुतिवाक्येभ्यः मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।

मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

अर्थात् श्रुति वाक्यों के द्वारा श्रवण करना चाहिए, युक्तियों के द्वारा मनन करना चाहिए तथा मनन के पश्चात् सतत निदिध्यासन करना चाहिए कहने का तात्पर्य है कि यौगिक रीतियों के द्वारा ध्यान करना चाहिए।

इस प्रकार श्रवण-मनन निदिध्यासन तीनों तत्त्वज्ञान के हेतु सिद्ध होने से धर्म कहे जा सकते है। वस्तुतः वैशेषिककार के दृष्टि से षड्पदार्थों के मनन को ही तत्त्वज्ञान का साधन होने से धर्म कहा गया

है। फिर भी अन्य शास्त्रों से एकवाक्यता करने में भी महर्षि द्वारा वर्णित 'धर्म' का लक्षण समर्थ है। इसी कारण से 'धर्म' पद से कतिपय आचार्य 'पदार्थधर्म' ऐसा अर्थ लेते है। वस्तुतः सूत्रकार के द्वारा अभ्युदय द्वारा निःश्रेयस के साधनभूत तत्त्व को 'धर्म' का व्यापक लक्षण करने से सभी व्याख्याकारों के कथनों का समावेश हो जाता है। अथवा मन्वादि स्मृतियों में धृत्यादिरूप सामान्य धर्मो का वर्णन किया गया है, जबकि इस शास्त्र में आत्मज्ञानरूपी परमधर्म का वर्णन किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। मोक्ष की दृष्टि से तत्वज्ञान का साक्षात् सम्बन्ध होने से प्रधान रूप से परमधर्म जबकि धृत्यादि का परम्परा से कारण होने से सामान्य धर्म समझाना चाहिए। यह महिर्षि की दूरदर्शिता एवं उदारता का परिचायक है।

षड्पदार्थो का सामान्य परिचय

वैशेषिकोक्त षड्पदार्थों का परिचय देते हुये वैशेषिककार कहते हैं-

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष समवायानां

पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् (1.1.4)

प्रस्तुत सूत्र में महर्षि कणाद षड्पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य के मननपूर्वक अन्ततः तत्त्वज्ञान द्वारा निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति की बात कही है। वे षड्पदार्थ हैं-(1) द्रव्य (2) गुण (3) कर्म (4) सामान्य (5) विशेष (6) समवाय।

इनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है-

1) **द्रव्य**- यह छः पदार्थो में सबसे महत्वपूर्ण पदार्थ है, जिसके आश्रय से अन्य सभी पदार्थ टिके होते हैं। यह नौ प्रकार का होता है-(१) पृथिवी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) काल (७) दिशा (८) आत्मा (९) मन। इन नौ द्रव्यों को भी हम दो भागों में बाट सकते है-नित्य द्रव्य एवं अनत्य द्रव्य। पृथिव्यादि चारों भूतों के परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा एवं मन ये सभी नित्य द्रव्य के अन्तर्गत आते हैं तथा कार्य पृथिव्यादि चार महाभूत अनित्य द्रव्य के अन्तर्गत आते है। समस्त कार्य द्रव्यों के प्रति कार्यमात्र का समवायिकारण द्रव्य होता है। द्रव्य के आश्रय से स्वयं कार्यद्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय ये सभी होते हैं। अतएव समस्त पदार्थों में 'द्रव्य' ही प्रधान है। या यूं कहे के समस्त जगत् द्रव्यात्मक ही है।

2) **गुण**- यह द्रव्यों के आश्रय से रहने वाला है। इसके चौबीस भेद है-रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरूत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म एवं शब्द। गुण भी नित्य एवं अनित्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं। प्रायः नित्यद्रव्यों में रहने वाला गुण नित्य एवं कार्यद्रव्यों में रहने वाला गुण अनित्य होता है। परन्तु अपवाद रूप में नित्य पृथिवी के परमाणु में रहने वाला रूपादि चारों गुण अनित्य एवं नित्य आकाश का अनित्य शब्द तथा नित्य आत्मा का अनित्य इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान, प्रयत्न होते हैं। गुण सदैव द्रव्याश्रित होने से असमवायिकारण ही सिद्ध होते हैं।

3) **कर्म**- गुण की भांति कर्म भी द्रव्याश्रित होते हैं। यह सदैव अनित्य ही होते है। इसके पांच भेद होते हैं-(1) उत्क्षेपण (2) अवक्षेपण (3) आकुञ्चन (4) प्रसारण (5) गमन। 'गमन' नामक कर्म के अतिरिक्त शेष कर्म 'नियतदिग्विशिष्ट' होते है जबकि गमन अनियतदिग्विशिष्ट होता है-यह विशेष है। द्रव्य-गुण में परस्पर 'सजातीयारम्भकत्व' रूप साधर्म्य है, जबकि कर्म से कर्म उत्पन्न नहीं होता है-यह बात द्रव्य एवं गुण से विलक्षण है।

4) **सामान्य**- द्रव्य-गुण एवं कर्म की भांति निरपेक्ष पदार्थ न होकर यह बुद्धिसापेक्ष होता है। जो द्रव्य-गुण एवं कर्मों में 'अनुवृत्तिप्रत्यय' का हेतु होता है। इसके दो भेद होते है-(क) परसामान्य (ख) अपरसामान्य। 'सत्ता' नामक सामान्य को परसामान्य तथा द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व नामक सामान्य को अपरसामान्य कहा जाता है। द्रव्य-गुण एवं कर्म के अनित्य होने पर भी उसमें रहने वाले द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व एवं सत्ता नामक सामान्य नित्य ही होते हैं। यह अपने आश्रय द्रव्य में सर्वगत होते है तथा सर्वगत होने से एकत्व की सिद्धि भी स्वतः हो जाती है।

5) **विशेष**- इस 'विशेष' नामक पदार्थ के कारण ही 'वैशेषिक' नामकरण हुआ है। यह नित्य द्रव्यों में होता है, जो कि प्रत्येक द्रव्यों को परस्पर एक दूसरे से पृथक् करने में हेतु होता है। यह केवल व्यावृत्ति प्रत्यय का हेतु होता है। अनन्त परमाणुओं, आत्माओं में व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग होता है तथा एक विशेष दूसरे विशेष से सर्वथा भिन्न होता है। अतएव अनन्त विशेष पदार्थ अनन्त प्रकार के सिद्ध होते हैं। यह केवल योगज सामर्थ्य से योगियों के द्वारा गम्य होता है। सामान्य मनुष्य के अनुभव में नहीं आता है। इसी 'विशेष' नामक पदार्थ के कारण परस्पर समान होते हुये भी परमाणुओं एवं आत्माओं में योगी लोग पृथकता का ज्ञान कर लेते हैं। कार्यद्रव्य के अन्तिम कण परमाणुओं मे होने के कारण इसे 'अन्त्यविशेष' भी कहते हैं।

6) **समवाय**- यह एक प्रकार का सम्बन्ध होता है जो परस्पर दो अयुतसिद्ध (अपृथक्भूत) पदार्थों के मध्य होता है। अर्थात् दो ऐसे पदार्थ जिसको अलग नहीं किया जा सकता है, ऐसे अटूट सम्बन्ध को समवायसम्बन्ध कहते है। यदि किसी भी प्रकार से उन्हें अलग करने का प्रयास किया जाये तो दो में से एक का अस्तिव ही नहीं रहता है। वस्तुतः इनका अलगाव असम्भव है। इसलिए यह एक प्रकार का नित्य सम्बन्ध होता है। यह पांच स्थलों में होता है-(क) कार्य-कारण का सम्बन्ध (ख) गुण-गुणी (द्रव्य) का सम्बन्ध (ग) क्रिया-क्रियावान् का सम्बन्ध (घ) व्यक्ति-जाति का सम्बन्ध एवं (ङ) अन्त्यविशेष एवं परमाणु का सम्बन्ध। इन पांच स्थलों में परस्पर अटूट सम्बन्ध होता है वह 'समवाय' सम्बन्ध कहलाता है।

द्रव्य-गुण एवं कर्म के भेद

वैशेषिककार द्रव्य के नौ, गुण के चौबीस तथा कर्म के पांच भेद कहे हैं, जो इस प्रकार है।

द्रव्य के नौ भेद - द्रव्य के नौ भेद बताते हुये महर्षि कहते हैं-

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि। (1.1.5.)

अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, एवं मन ये नौ द्रव्य हैं। सूत्र में 'इति' पद संख्या को निर्धारित करने वाला है। तात्पर्य यह है कि नौ ही द्रव्य है 'तम' (अंधकार) इत्यादि दसवां द्रव्य नहीं होता है, जैसा कि नव्य नैयायिको के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। 'तम' तेज का अभावमात्र है न कि भावात्मक द्रव्य जैसा कि वैशेषिककार ने कहा है-

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः। (5.2.15.)

अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म की सिद्धि के वैधर्म्य होने से वस्तुतः तेजोऽभाव ही अन्धकार है। अन्धकार कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है।

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च। (5.2.20.)

तेज के अन्य द्रव्य द्वारा रूक जाने से प्रकाश का अभावरूप अन्धकार होता है, अतः वह तेजोऽभाव ही है। इसलिए नौ ही द्रव्य होते हैं। सूत्र में 'इति' पद का यही तात्पर्य है।

गुणों के चौबीस भेद

द्रव्य के भेदो का वर्णन करने के पश्चात् सूत्रकार गुणों के भेद बताया है-

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ

परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। (1.1.6.)

अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न - ये सत्रह गुण सूत्रकार ने अपने कण्ठ से स्पष्ट कहा है। इसके अतिरिक्त शेष सात गुणों (गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अर्धम और शब्द) का समावेश सूत्रगत 'च' पद से गृहित होता है। जैसा कि भाष्यकार लिखते है-

चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेह संस्कारादृष्टशब्दाः

सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः। (प्रश.भा.)

इन चौबीस गुणों के अवान्तरभेद होने से असंख्य भेद हो जाते है। प्रमुख अवान्तरभेद सहित गुणों का उल्लेख निम्न प्रकार है-

1) **रूप**- शुक्ल, लाल, नीला, पीला, हरा, भूरा, काला, इत्यादि रूप के अनेक भेद हो जाते हैं।

2) **रस**- षड्रस के रूप में मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय रस के भेद प्रसिद्ध है। इनके भी अवान्तर भेद करने से असंख्य रस के भेद हो जाते है।

3) **गन्ध**- मुख्य मुख्य रूप से सुरभि एवं असुरभि (सुगन्ध) एवं दुर्गन्ध के भेद से गन्ध के दो भेद होते है। परन्तु सुगन्ध भी नानाप्रकार के तथा दुर्गन्ध के भी नाना भेद होने से असंख्य गन्ध के भेद हो जाते है।

4) **स्पर्श**- उष्ण, शीत, अनुष्णाशीत, मृदु (मुलायम), कठोर, तीक्ष्ण (नुकीला), खुरदरा, चिकना इत्यादि स्पर्श के भेद होते है।

5) **संख्या**- एकत्व, द्वित्व से लेकर अनन्त भेद संख्या के हो जाते है।

6) **परिमाण**- परिमाण के चार भेद होते हैं- (क) महत् (ख) अणु (ग) ह्रस्व (घ) दीर्घ।

7) **पृथक्त्व**- यह सभी द्रव्यों में रहने वाला सामान्य गुण होता है। एकपृथक्त्व, द्विपृथक्त्व इत्यादि नामों से जाना जाता है।

8) **संयोग**- यह तीन प्रकार का होता है- (क) अन्यतरकर्मज संयोग (ख) उभयकर्मज संयोग (ग) संयोगज संयोग।

9) **विभाग**- संयोग की भांति विभाग भी तीन प्रकार का होता है - (क) अन्यतरकर्मज विभाग (ख) उभयकर्मज विभाग (ग) विभागज विभाग।

10) **परत्व**- यह दो प्रकार का होता है- (क) कालिक परत्व (ख) दैशिक परत्व। कालिक परत्व से ज्येष्ठत्व (पुरातनता) का व्यवहार होता है तथा दोशिक परत्व से विप्रकृष्टता (दूरता) का व्यवहार होता है।

11) **अपरत्व**- परत्व की भांति अपरत्व भी दो प्रकार का होता है- (क) कालिक अपरत्व (ख) दैशिक अपरत्व। कालिक अपरत्व से काल की दृष्टि से कनिष्ठत्व (नवीनता) का व्यवहार होता है तथा दैशिक अपरत्व से देश की दृष्टि से निकटता का व्यवहार होता है।

12) **बुद्धि (ज्ञान)**- बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान ये सभी पर्यायवाचक शब्द है। इसके मुख्यतः दो भेद होते है - (क) विद्या (ख) अविद्या। प्रत्यक्ष, लैङ्गिक, स्मृति एवं आर्षज्ञान के भेद से विद्या के चार भेद हो जाते है। इसी प्रकार संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय एवं स्वप्न के भेद से अविद्या के भी चार भेद हो जाते हैं।

13) **सुख**- अनुकूल वेदना (अनुभूति) का नाम सुख होता है। यह प्रायः सभी जीवों में एक ही प्रकार का होता है। स्रक् (माला), चन्दन, वनिता (स्त्री) इत्यादि आलम्बन भेद से इसके अनेक साधन सिद्ध होते हैं।

14) **दुःख**- प्रतिकूल वेदना (अनुभूति) का नाम दुःख है। यही भी सुख की भांति प्रायः सभी जीवों में एक प्रकार का होता है। अहि (सर्प), विष, कष्टकादि रूप साधन भेद से इसके अनेक साधन होते हैं।

15) **इच्छा**- अप्राप्त विषयों की प्राप्ति की अभिलाषा को इच्छा कहते है। काम, अभिलाषा, राग, सं. कल्प, कारुण्य, वैराग्य, उपधा, भाव इत्यादि इच्छा के भेद हैं।

16) **द्वेष**- सन्ताप लक्षण वाला द्वेष होता है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा, अमर्ष इत्यादि द्वेष के भेद है।

17) **प्रयत्न**- प्रयत्न, संरम्भ, उत्साह ये सभी पर्यायवाचक शब्द है। यह दो प्रकार को होता है- (क) जीवन पूर्वक (ख) इच्छा द्वेषपूर्वक।

18) **गुरुत्व**- यह जल एवं पृथिवी के पतन रूपी कर्म का कारण होता है। यह अदृश्य होता हुआ भी पतन रूपी क्रिया से अनुमेय है।

19) **द्रवत्व**- यह जल का गुण होता है। स्यन्दन कर्म का कारण होता है। यह दो प्रकार का होता है (क) सांसिद्धिक द्रवत्व (ख) नैमित्तिक द्रवत्व।

20) **स्नेह**- यह भी जल का गुण होता है जो संग्रह (बिखरे हुये पार्थिव कणों को एकत्रित करना) एवं स्वच्छता का हेतु होता है।

21) **संस्कार** - यह तीन प्रकार का होता है - (क) वेग (ख) भावना (ग) स्थितिस्थापक।

22) **धर्म**- यह आत्मा का गुण होता है। यह दो प्रकार का होता है। (क) सामान्य धर्म (ख) विशेष धर्म। अहिंसा आदि सामान्य धर्म कहे जाते है तथा प्रत्येक वर्णाश्रमियों के लिए विहित अलग-अलग धर्म विशेष कहे जाते है। अहिंसा आदि भेद से सामान्य धर्म के दस भेद हो जाते हैं।

23) **अधर्म**- यह भी आत्मा का धर्म है। वेद-शास्त्र के निषिद्धाचरण से उत्पन्न होता है। हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य इत्यादि इसके भी दस भेद हो जाते है।

24) **शब्द**- यह श्रोत्रेन्द्रि से ग्राह्य आकाश का गुण होता है; क्षणिक एवं अनित्य होता है। इसके दो भेद होते है- (क) वर्णात्मक शब्द (ख) ध्वन्यात्मक शब्द। इस प्रकार अवान्तर भेद सहित गुणों के चौबीस भेदों का वर्णन महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में किया है।

कर्म के भेद

कर्म का भेद का उल्लेख करते हुये वैशेषिककार लिखते हैं-

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि। (1.1.7)

उत्क्षेपण, अवक्षेपण (अपक्षेपण), आकुञ्चन, प्रसारण एवं गमन - ये कर्म के पांच भेद होते हैं।

1) **उत्क्षेपण**- ऊर्ध्वदेश के साथ वस्तु का संयोग एवं अध:देश से वस्तु के विभाग रूपी क्रिया को उत्क्षेपण कहते है। इसमें वस्तु उपर की ओर गति करती है।

2) **अवक्षेपण (अपक्षेपण)**- किसी वस्तु का अध:देश के साथ संयोग एवं ऊर्ध्वदेश से विभाग की क्रिया को अवक्षेपण कहते है। इसमें वस्तु में पतन की क्रिया होती है।

3) **आकुञ्चन**- सीधे फैले हुये द्रव्य के अग्रिमभाग के अवयवों का उसके स्थित देशों से विभाग

एवं मूलप्रदेशों के साथ संयोग रूपी क्रिया को 'आकुञ्चन कहते है। इससे सीधा फैला हुआ द्रव्य सिकुड़ जाता है।

4) **प्रसारण**- आकुञ्चन के विपरीत मूल प्रदेशों से अवयवों का विभाग तथा उत्तरदेशों के साथ संयोग की क्रिया को प्रसारण कहते है। इसमें सिकुड़ी हुई वस्तु पुनः फैल (सीधी हो) जाती है।

5) **गमन**- किसी वस्तु में अनियतदिग्देश में संयोग एवं विभागपूर्वक होने वाली क्रिया को गमन कहते है। निष्क्रमण, प्रवेशन, स्यन्दन, घूर्णन, परिभ्रमण इत्यादि अनेक भेद होते है।

द्रव्य-गुण एवं कर्म के लक्षण

द्रव्य-गुण एवं कर्म के उद्देश (नामोल्लेख/कथनमात्र) के पश्चात् उनके लक्षण बताने के क्रम में सर्वप्रथम सूत्रकार द्रव्य का लक्षण बताते हैं।-

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्। (1.1.15)

क्रिया एवं गुण तथा समवायिकारण वाला होना यह द्रव्य का लक्षण है। अर्थात् जो क्रियावान्, गुणवान् एवं समवायिकारण वाला हो वह द्रव्य कहलाता है।

प्रस्तुत सूत्रवचन में तीनों पदों के समायोजन में विशेष प्रयोजन है। यदि सूत्रकार **'क्रियावदिति द्रव्यलक्षणम्'** इतना ही कहते तो अव्याप्तिदोष हो जाता, क्योंकि नौ द्रव्यों मे पृथिवी, जल, तेज, वायु, एवं मन केवल इन पांच द्रव्यों में यह लक्षण घटित होता है। शेष चार द्रव्यों आकाश, काल, दिशा एवं आत्मा निष्क्रिय होने से उनमे लक्षण की अव्याप्ति है। इस कारण से सूत्रकार ने लक्षणसूत्र में अग्रिम पद 'गुणवत्' भी पढ़ा है। शेष चार निष्क्रिय द्रव्य भी गुणवान् होने से द्रव्य की श्रेणी में आ जाते है। इसलिए अव्याप्ति दोष का वारण हो जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि **'क्रियागुणवदिति द्रव्यलक्षणम्'** इतना कह देने से ही नौ द्रव्यों में लक्षण व्याप्त हो जाता है, तब **'समवायिकारणम्'** इस अतिरिक्त पद की क्या आवश्यकता?

इसके समाधान में आचार्यों का कहना है कि अभी भी अव्याप्तिदोष का पूर्ण वारण नहीं हो पा रहा है। कारण यह है कि उत्पद्यमान आद्यक्षण में स्थित कार्यद्रव्य में अभी भी लक्षण व्याप्त नहीं हो पा रहा है। इस कारण से अव्याप्तिदोष अभी भी है। वैशेषिक के मत में उत्पत्ति के आद्यक्षण में कार्य निर्गुण एवं निष्क्रिय होता है। क्योंकि गुणों एवं कर्मो का आश्रय द्रव्य ही होता है। पहले आश्रय की सत्ता सिद्ध होने के बाद ही आश्रित की सत्ता सिद्ध होनी चाहिए। अतएव जिसक्षण में आश्रयद्रव्य की उत्पत्ति होती है, उस क्षण में आश्रित गुण एवं कर्म की उत्पत्ति को स्वीकार करना न्यायसंगत नहीं है। एतदर्थ गुण एवं कर्म की उत्पत्ति एक क्षण बाद की मानी जाती है। फलतः उत्पत्ति के आद्यक्षण में कार्यद्रव्य निर्गुण एवं निष्क्रिय होने से **'क्रियागुणवत् इति द्रव्यलक्षणम्'** यह लक्षण घटित नहीं हो रहा है। जबकि उत्पत्ति के आद्यक्षण में भी वह द्रव्य ही कहलाता है, ऐसे में उपरोक्त लक्षण अव्याप्त होने से अग्रिम **'समवायिकारणम्'** पद को लक्षणसूत्र में सूत्रकार ने पढ़ा।

उत्पत्ति के शुरुआती क्षण में कार्यद्रव्य भले ही गुण एवं कर्म से रहित रहता हो परन्तु समवायिकारण अर्थात अपने उपादानकारण से युक्त रहता ही है इस 'समवायिकारण' के आधार पर आद्यक्षण में उत्पद्यमान कार्यद्रव्यों में द्रव्यत्व का कथन सार्थक हो जाता है। परिणामतः कारणद्रव्य, कार्यद्रव्य एवं कारण-कार्यरहित आत्मा सदृश नित्य द्रव्यों सहित सभी नौ द्रव्यों में लक्षण की व्याप्ति घटित हो जाने से **''क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्''** यह द्रव्य का लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति एवं असम्भव इन त्रिविधदोषों से रहित सिद्ध होता है। जिसके कारण जगत् के सम्पूर्ण द्रव्यों का समावेश इसी लक्षण से हो जाता है।

गुण का लक्षण

द्रव्य के लक्षण के अव्यवहितपश्चात् गुण का लक्षण करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्। (1.1.16)

द्रव्य का आश्रय रहने वाला, गुणरहित, तथा संयोग-विभाग में अनपेक्ष अकारण होना यह गुण का लक्षण है। तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य के आश्रय रहते हुये गुणरहित हो तथा संयोग-विभाग में अनपेक्ष (निरपेक्ष) अकारण अर्थात् सापेक्ष कारण हो उसे गुण कहते हैं।

रूपादि चौबीसों गुण द्रव्याश्रित होते है, इसलिए सूत्रकार ने सूत्र में **'द्रव्याश्रय्यी'** पद पढ़ा है। केवल इतना कहने पर भी गुण का लक्षण पूर्ण नहीं होता, कारण यह है कि द्रव्याश्रयी तो स्वयं कार्यद्रव्य भी होता है। कार्य घटद्रव्य अपने कारण परमाणु रूपी द्रव्यों पर आश्रित रहता है। अतएव **'द्रव्याश्रय्यीति गुणलक्षणम्'** इतना ही लक्षण कर देने पर गुणों के अतिरिक्त कार्यद्रव्यों तथा साथ ही कर्मों में भी लक्षण अतिव्याप्त होने लगता। इसलिए कार्यद्रव्यों से अतिव्याप्तिदोष को हटाने के लिए सूत्रकार ने सूत्र में अग्रिम पद 'अगुणवान्' पढ़ा है। ऐसा कहने से कार्यद्रव्य से अतिव्याप्तिदोष का वारण हो जाता है। कारण यह है कि कार्यद्रव्य कारणद्रव्य के आश्रित तो रहता है परन्तु वह गुणवान् होता है अगुणवान् नहीं। इसलिए कार्यद्रव्य से अतिव्याप्तिदोष का वारण हो जाता है। इतना कहने पर भी कर्मों में लक्षण अतिव्याप्त हो रहा है। कर्म भी द्रव्याश्रित होते हुये अगुणवान् होते हैं, अर्थात कर्म में गुण नहीं होते हैं। अतएव **'द्रव्याश्रय्यगुणवान्'** यह लक्षण अभी भी कर्म में अतिव्याप्त हो रहा है। कर्म से अतिव्याप्ति हटाने के लिए सूत्रकार ने अग्रिम पद **'संयोगविभागेष्वकारणम्'** पढ़ा है। उत्क्षेपणादि कर्म संयोग-विभाग में कारण होते है न कि अकारण। 'अकारणम्' कह देने से कर्मो से अतिव्याप्तिदोष का वारण हो जाता है। परन्तु इतना करने के पश्चात् भी दोषों का पूर्णतः निवारण न हो सका। अतिव्याप्ति तो हट गयी परन्तु एक नया दोष अव्याप्तिदोष हो गया।

उपरोक्त लक्षण के अनुसार जो द्रव्य का आश्रय होता हुआ गुणरहित हो तथा संयोग-विभाग में अकारण हो उसे गुण कहते है। ऐसा लक्षण करने से स्वयं संयोग एवं विभाग नामक गुण ही गुण की सीमा से बाहर हो गए। कारण यह है कि संयोग एवं विभाग किसी दूसरे संयोग-विभाग में कारण होते है न कि अकारण। उपरोक्त लक्षण में गुण को अकारण कहा गया है जिससे संयोग-विभाग में लक्षण

व्याप्त न होने से अव्याप्तिदोष का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। संयोग एवं विभाग को भी महर्षि ने गुण के अन्तर्गत रखा है। इसलिए सम्पूर्ण गुणसमुदाय मे लक्षण घटित होना चाहिए। एक संयोग-विभाग का दूसरे संयोग-विभाग में कारण होने का दृष्टान्त इस प्रकार है- हस्त-पुस्तक संयोग से जन्य शरीर-पुस्तक संयोग है। यहां पर एक संयोग (हस्त-पुस्तक संयोग) दूसरे संयोग (शरीर-पुस्तक संयोग) में कारण सिद्ध होता है। इसी प्रकार हस्त-पुस्तक विभाग से शरीर-पुस्तक विभाग हो जाता है। यहां भी एक विभाग (हस्त-पुस्तक विभाग) दूसरे विभाग (शरीर-पुस्तक विभाग) में कारण सिद्ध होता है। अतएव संयोग-विभाग स्वयं संयोग-विभाग में कारण होता है। इसलिए **'संयोगविभागेषु अकारणम्'** यह लक्षण संयोग विभाग में घटित नहीं हो रहा है। उनमें भी लक्षण को घटाने के निमित्त से सूत्रकार ने सूत्र में 'अनपेक्ष' पद को पढ़ा है। ''संयोगविभागेषु अकारणम् अनपेक्ष'' का अर्थ होता है- संयोग-विभाग में सापेक्षकारण। क्योंकि 'अकारण' एवं 'अनपेक्ष' वे दोनों में 'नञ्' समास है। दोहरा नकारात्मक पद का प्रयोग अर्थ को सकारात्मक बना देता है। इसलिए 'अकारणम् अनपेक्ष' का तात्पर्य 'सापेक्षकारण' होता है। फलतः एक संयोग-विभाग दूसरे संयोग-विभाग में सापेक्षकारण होता ही है। इसलिए संयोग-विभाग में जो अव्यप्ति दोष हो रहा या उसका वारण हो जाने से गुण का त्रिविधदोषरहित परिपूर्ण लक्षण- **द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्** सिद्ध होता है।

कर्म का लक्षण

द्रव्य एवं गुण के लक्षण के अनन्तर सूत्रकार कर्म का लक्षण बताते हुये कहते हैं-

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्। (1.1.17)

एक द्रव्य में आश्रित रहना, गुणरहित अथवा गुण का अनाश्रय, संयोग और विभागों की उत्पत्ति में अन्य की अपेक्षा न रखते हुये कारण होना, यह कर्म का लक्षण है।

जब कोई कर्म होता है, तो उसका आश्रय द्रव्य केवल एक रहता है। एक कर्म उसी काल में अनेक द्रव्यों में नहीं हो सकता। जिस प्रकार संयोग-विभाग, द्वित्वादि संख्या, द्विपृथक्त्व आदि गुण अनेक द्रव्याश्रित रहते है, वैसे कर्म नहीं होता है। इसीलिए सूत्रकार ने सूत्र में **'एकद्रव्यं'** पढ़ा है। कर्म कभी भी गुण का आश्रय नहीं होता है। यहां आश्रयता समवायसम्बन्ध के आधार पर कही गयी है, इसी को सूत्रकार ने **'अगुणं'** पद से कहा है। आगे कर्म का लक्षण बताते हुए सूत्रकार **'संयोगविभागेषु अनपेक्षकारणम्'** कहा है। जिसका तात्पर्य है कि कर्म संयोग एवं विभाग की उत्पत्ति में निरपेक्ष कारण होता है। कर्म संयोग-विभाग को उत्पन्न करके निवृत्त हो जाता है। संयोग-विभाग कर्म से जन्य होते हैं परन्तु संयोग-विभाग के उत्पन्न होते ही कर्म नष्ट हो जाता है। अतएव कर्म संयोग-विभाग की उत्पत्ति में कारण तो होता है परन्तु संयोग-विभाग को उत्पन्न करके नष्ट हो जाने से अनपेक्षकारण (निरपेक्ष) कारण सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए किसी पत्थर के टुकड़े को लेते है। आकाश में फेका हुआ पत्थर जब नीचे की ओर पतित होकर भूमि के साथ संयोग करता तब कर्म का नाश हो जाता है। यहां भूमि एवं पत्थर के संयोग में पतन क्रिया ही कारण है परन्तु संयोग को उत्पन्न करके क्रिया निवृत्त हो

जाती है। इसी को 'वृश्चिकप्रसूतान्याय' कहा जाता है। जिस प्रकार बिच्छु अपने बच्चे को जन्म देकर स्वयं मर जाती है, इसी प्रकार कर्म भी होता है। इसी कारण सूत्रकार ने **'कार्यविरोधिकर्म'** (1.1.14) ऐसा कहा है। तात्पर्य यह है कि कर्म अपने कार्य (संयोग-विभाग) के द्वारा ही नष्ट कर दिया जाता है। क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है। फलतः संयोग-विभाग की उत्पत्ति में कर्म निरपेक्षकारण सिद्ध होता है। यही गुणों के लक्षण से कर्म के लक्षण में विशेषता है। गुण संयोग विभाग की उत्पत्ति में सापेक्ष कारण होते हैं, जबकि कर्म निरपेक्ष कारण।

जो पदार्थ एक समय में एक ही द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से आश्रित रहे, तथा जो स्वयं गुणों का आश्रय न हो एवं संयोग विभाग की उत्पत्ति में जो निरपेक्षकारण हो उसे कर्म कहते है। अन्ततः कर्म का यह लक्षण सिद्ध होता है। द्रव्य एवं गुण नित्य व अनित्य उभय प्रकार के होते है, जबकि कर्म सदैव अनित्य ही होता है, यह भी कर्म की विशेषता है।

द्रव्य-गुण-कर्म का परस्पर साधर्म्य

महर्षि कणाद ने तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति में षड्पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्यपूर्वक चिन्तन-मनन को भी कारण स्वीकार किया है। द्रव्यादि के लक्षणों से वैधर्म्य का कथन हो जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में साधर्म्य का वर्णन किया जा रहा है। द्रव्य-गुण एवं कर्म के परस्पर साधर्म्य का कथन करते हुये वैशेषिककार स्वयं अपने मुख से कहते हैं-

सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः । (1.1.8)

सत्ता वाला होना, अनित्य होना, द्रव्यसमवायिकारण वाला होना, उत्पन्न होना, कारण होना सामान्य-विशेष धर्म वाला होना- ये छः साधर्म्य है। क्रमशः एक-एक का उल्लेख निम्न प्रकार है-

1) **सत्तावत्व**- द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों का साधर्म्य है 'सत्तात्व' अर्थात् सत्ता वाला होना। सत्ता सामान्य अर्थात् सत्ता जाति इन तीनों पदार्थों में सामान्य रूप से रहती है। सूत्र में 'सत्' पद का साधारण अर्थ 'होना' अथवा 'विद्यमान रहना' मात्र नहीं है। ऐसा अस्तित्व तो सामान्य, विशेष, समवाय नामक पदार्थों का भी है। इसी कारण छः भाव पदार्थों में इनकी गणना की गई है। उनका अस्तित्व होने पर भी 'सत्ता' जाति उनमें नहीं रहती। द्रव्य, गुण, कर्म तीन ही पदार्थ है जिनमें 'सत्ता' जाति रहती है। अतएव 'सत्तावत्व' तीनों पदार्थों का साधर्म्य है।

2) **अनित्यत्व**- द्रव्य, गुण एवं कर्म का दूसरा साधर्म्य है- 'अनित्यत्व'। अर्थात् द्रव्य-गुण-कर्म तीनों अनित्य भी होते है। सदा न रहने वाला विनाशी धर्म को अनित्य कहते हैं। कार्यद्रव्य, कार्यगुण एवं कर्म तीनों अनित्य होते है। अतः 'अनित्यत्व' तीनों पदार्थों का साधर्म्य है।

3) **द्रव्यवत्व/द्रव्याश्रितत्व**- द्रव्य-गुण-कर्म का तीसरा साधर्म्य है- 'द्रव्याश्रितत्व'। द्रव्य, गुण, कर्म ये तीनों द्रव्य के आश्रय वाले भी होते हैं। 'द्रव्यवत्व' पद में 'मतुप्' प्रत्यय 'नित्ययोग' अर्थ में है। नित्ययोग अर्थात् नित्य सम्बन्ध को वैशेषिक दर्शन में समवाय सम्बन्ध माना जाता है। इसके अनुसार

अर्थ होता है- द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहना अथवा द्रव्य जिनका समवायिकारण हो। द्रव्य भी द्रव्य में समवायसम्बन्ध से आश्रित रहता है, यथा-कार्य घट-पटादि अपने कारणद्रव्य मिट्टी-तन्तु आदि में समवाय सम्बन्ध से आश्रित रहते हैं। रूपादि गुणों का आश्रय घट-पटादि द्रव्य होता ही है, तथा उत्क्षेपणादि कर्मों का आश्रय भी कन्दुकादि द्रव्य ही देखे जाते हैं। इसप्रकार 'द्रव्यवत्व' तीनों पदार्थों का साधर्म्य सिद्ध होता है।

4) **कार्यत्व**- द्रव्य, गुण एवं कर्म का चौथा साधर्म्य है- 'कार्यत्व'। जो उत्पन्न होता है, उसे कार्य कहते है। द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों उत्पन्न भी होते है। यथा-घट-पटादि कार्यद्रव्य उत्पन्न होते देखे जाते हैं। कार्य-द्रव्य के उत्पत्ति के साथ-साथ उनमें रूपादि गुणों की भी उत्पत्ति देखी जाती है तथा उत्क्षेपणादिकर्म हस्तादि में उत्पन्न होते हुये देखे ही जाते है। अतएव 'कार्यत्व' यह साधर्म्य तीनों पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म) में सिद्ध होता है।

5) **कारणत्व**- द्रव्य, गुण, कर्म का पांचवाँ साधर्म्य है- 'कारणत्व'। जिससे कोई कार्य उत्पन्न होता है, उसे 'कारण' कहते है। द्रव्य, गुण एवं कर्म से भी किसी न किसी कार्य कि उत्पत्ति होती है। यथा-परमाणुरूपी द्रव्य से घटादि कार्यद्रव्य की उत्पत्ति, कारणगत रूपादि गुणों से कार्यद्रव्यों में रूपादि गुणों की उत्पत्ति तथा कर्म से संयोग, विभाग एवं वेग की उत्पत्ति। अतएव 'कारणत्व' यह साधर्म्य तीनों पदार्थों में सिद्ध होता है।

6) **समान्य-विशेषवत्व**- द्रव्य, गुण, कर्म का अन्तिम साधर्म्य सूत्रकार ने 'सामान्य-विशेषवत्व' बताया है। सूत्र के प्रथम 'सत्' पद की व्याख्या में 'सत्ता सामान्य का उल्लेख किया गया, प्रस्तुत पद से सामान्य-विशेष उभयरूप 'अपर' सामान्य का उल्लेख किया गया है। वैशेषिककार के मत में परसामान्य होते है। सामान्य का 'जाति' भी कहा जाता है। अनेक पदार्थों में समानबुद्धि को उत्पन्न करने का जो हेतु होता है उसे समान्य अर्थात् जाति कहते है। केवल समान बुद्धि को पैदा करे वह परसामान्य कहलाता है, जिसे हम 'सत्ता' सामान्य के नाम से जानते है। जो समानबुद्धि अर्थात् अभेदबद्धि के साथ-साथ आंशिक रूप से भेदबुद्धि को भी उत्पन्न करे उसे अपरसामान्य कहते है। इसे परापरसामान्य भी कहा जाता है। अभेदबुद्धि (अनुवृत्तिबुद्धि) एवं भेदबुद्धि (व्यावृत्तिबुद्धि) दोनों को उत्पन्न करने के कारण इसे समान्य-विशेष उभय रूप कहा जाता है। अपरसामान्य के अन्तर्गत द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व आते हैं। जैसा कि सूत्रवचन प्राप्त होता है-

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च। (1.2.5)

नौ द्रव्यों में 'यह द्रव्य है, यह द्रव्य है'- इस प्रकार की अभेदबुद्धि 'द्रव्यत्व' नामक सामान्य से ही उत्पन्न होती है। साथ ही यह गुण एवं कर्म नहीं है- इस प्रकार की भेदबुद्धि भी पैदा होती है। इसलिए 'द्रव्यत्व' सामान्य-विशेष सिद्ध होता है। चौबीस गुणों में 'यह गुण है' 'यह गुण है'- इस प्रकार का ज्ञान 'गुणत्व' नामक अपरसामान्य से ही उत्पन्न होता है, तथा साथ ही यह 'द्रव्य एवं कर्म नहीं है', इस प्रकार की भेदबुद्धि भी आंशिक रूप से उत्पन्न होती है। इसलिए 'गुणत्व' सामान्य-विशेष

उभयरूप सिद्ध होता है। ठीक इसी प्रकार पांचो कर्मों में 'यह कर्म है' 'यह कर्म है',- इस प्रकार की अभेदबुद्धि 'कर्मत्व' नामक अपर सामान्य से उत्पन्न होती है तथा साथ ही 'यह द्रव्य एवं गुण नहीं है'- इस प्रकार की भेदबुद्धि भी उत्पन्न होती है। अतएव 'कर्मत्व' समान्य-विशेष उभय रूप सिद्ध होता है।

परिणामतः द्रव्य-गुण एवं कर्म इन तीनों द्रव्यों में द्रव्यत्व, गुणत्व व कर्मत्व रूपी 'सामान्य-विशेषवत्व' साधर्म्य सिद्ध होता है।

द्रव्य एवं गुण का परस्पर साधर्म्य- अब द्रव्य, गुण एवं कर्म तीनों के साधर्म्य बताया जा रहा है। इस विषय में सूत्रकार कहते हैं-

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम्। (1.1.9)

द्रव्य एवं गुण का अपने समान जातीय पर्दार्थ को उत्पन्न करना साधर्म्य है। कहने का तात्पर्य है कि द्रव्य अपने समान जातीय द्रव्य को उत्पन्न करता है तथा गुण अपने समान जातीय गुण को उत्पन्न करता है। जैसे पृथिवी के परमाणु पृथिवीत्वजातीय द्रव्य को उत्पन्न करेंगे अन्य जलत्वजातीय द्रव्य को नहीं। इसी प्रकार जल के परमाणु जलत्वजातीय कार्यद्रव्य को उत्पन्न करेंगे पृथिवीत्वजातीय कार्यद्रव्य को नहीं। ऐसी ही व्यवस्था गुणों में भी देखी जाती है। जब कोई कारणगत गुण कार्यद्रव्य में किसी गुण को उत्पन्न करता है, तो वह सजातीय गुण को उत्पन्न करता है। तन्तुओं का नील या श्वेतरूप पट में नील अथवा श्वेतरूप को ही उत्पन्न करता है। सजातीय आरम्भकत्व को स्पष्ट करते हुये वैशेषिककार ने कहा है-

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् । **(1.1.10)**

बहुत सारे द्रव्य मिलकर अन्य एक द्रव्य को उत्पन्न करते है तथा इसी प्रकार बहुत सारे कारणगुण मिलकर एक कार्यगुण को उत्पन्न करते हैं, यही सजातीयारम्भकत्व का तात्पर्य है। जैसे बहुत सारे तन्तु मिलकर एक पट को उत्पन्न करते है, तथा तन्तुगत बहुत सारे श्वेतगुण मिलकर कार्यपट में एक श्वेतगुण को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार द्रव्य एवं गुण में परस्पर 'सजातीयारम्भकत्व' रूप साधर्म्य है। कर्म को इसमें न कहे जाने से वह अपने समान जातीय पदार्थ की उत्पन्न नहीं करता है यह समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बहुत सारे द्रव्य मिलकर एक द्रव्य को, बहुत सारे गुण मिलकर एक गुण को उत्पन्न करते है वैसे बहुत सारे कर्म मिलकर एक कर्म को उत्पन्न नहीं करते हैं। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है- **कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते** (1.1.11) अर्थात् कर्म, कर्म से जन्य नहीं होता है। अतएव द्रव्य एवं गुण से कर्म का यह वैधर्म्य हुआ।

द्रव्य-द्रव्य का परस्पर साधर्म्य

द्रव्य एवं द्रव्य का परस्पर साधर्म्य बताते हुये सूत्रकार कहते हैं-

न द्रव्यं कार्यं कारण च वधति। (1.1.12)

कोई भी द्रव्य अपने कार्य और कारण को नष्ट नहीं करता है।

किसी कार्यद्रव्य के समवायिकारण उसके अवयव और असमवायिकारण उन अवयवों का संयोग होता है। मुख्य रूप से अवयवी द्रव्य का नाश उस द्रव्य के असमवायिकारण के नाश से होता है। यदि अवयवों का संयोग परस्पर न रहे तो उन अवयवों से बना अवयवी भी नहीं रहेगा। द्रव्य कभी किसी का असमवायिकारण नहीं होता, इसलिए वह अपने कार्यद्रव्य का नाश नहीं कर सकता। कार्यद्रव्य सदा अपने कारणद्रव्यों में समवेत रहता है, इसलिए यदि वह कारणद्रव्य का नाशक होता, तो अपना ही नाश करेगा; अपने आश्रय को नष्ट कर वह स्वयं कैसे रहेगा? फलतः द्रव्य न अपने कार्य का नाश करता है न ही कारण का। यही द्रव्य-द्रव्य का परस्पर साधर्म्य है।

गुण-गुण का साधर्म्य

गुण एवं गुण के संदर्भ में आचार्य लिखते हैं- **उभयथा गुणाः।** (1.1.13)

अर्थात् गुण दोनों प्रकार के होते हैं। जिस प्रकार से द्रव्य एवं द्रव्य के बीच साधर्म्य बताते हुये कहा गया कि 'वे अपने कार्य एवं कारण का नाश नहीं करते हैं' वैसे गुण एवं गुण के बीच अनिवार्य रूप से ऐसा नहीं होता है। कभी गुण अपने कारण का नाश कर देता है, तो कभी अपने कारण-गुण ाों का नाश नहीं भी करता है। यथा- संयोग आदि निमित्त से उत्पन्न होकर शब्द अपने से पूर्व वाले कारणशब्द का नाशक होता है। यह गुणों का परस्पर नाश्य-नाशक का उदाहरण है। कही-कही गुण अपने कारणगुण का नाश नहीं करते हैं। जैसे तन्तुओं के श्वेतरूप से उत्पन्न पट में जो कार्यश्वेत रूप है, वह अपने कारण तन्तुओं के श्वेतरूप को नष्ट नहीं करता। इस प्रकार गुण दोनों प्रकार से व्यवहार करते है। इनमें अनिवार्य रूप से नाश्य-नाशक का सम्बन्ध नहीं होता है।

कर्म-कर्म का परस्पर साधर्म्य

कर्मों में परस्पर अनिवार्य रूप से यह साधर्म्य होता है कि वे अपने कार्य से ही नाश्य होता है। जैसा कि सूत्रकार स्वयं कहते हैं- **कार्यविरोधि कर्म। (1.1.14)**

इस सूत्र में 'कार्यविरोधि' पद में बहुब्रीहि समास है। अर्थ यह है कि 'कार्य है विरोधि जिसका ऐसा यह कर्म होता है'। कर्म से वस्तु का अपने उत्तरदेश के साथ संयोग एवं पूर्वदेश से विभाग होता है। जब उत्तरदेश के साथ संयोग होता है तब कर्म का नाश माना जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर देशों के साथ वस्तु का संयोग होने से नाना कर्मों की सिद्धि होती है। किसी वस्तु में कोई कर्म होता है तो वह स्थिर नहीं होता है अपितु क्षणिक होता है। पूर्वदेश से वस्तु का विभाग एवं अव्यवहित उत्तरदेश के साथ संयोग तक एक कर्म माना जाता है, उसके पश्चात् पहले कर्म का नाश हो जाता है। इसके बाद दूसरा कर्म होता है। इस प्रकार कर्म का सातत्य होने से वस्तु में एक ही कर्म हो रहा है- ऐसा आभास होता है। इस प्रकार कर्म अपने कार्य के द्वारा नाश्य होता है- यह कर्म-कर्म का परस्पर साधर्म्य

है। गुणों में भी नाश्य-नाशक सम्बन्ध होता है परन्तु वहाँ अनिवार्यता नहीं है। कर्मों में अनिवार्य होता है कि कर्म अपने कार्य से नाश्य होता ही है। यह कर्मों का अन्य से वैधर्म्य भी सिद्ध होता है।

उपरोक्त द्रव्य-गुण एवं कर्म के परस्पर साधर्म्य से उनके बीच समानता का बोध होता है इससे उनके स्वरूप का विशेष बोध नहीं होता है। उनके स्वरूप का विशेष परिचायक तो उनके अपने-अपने लक्षण ही है। जो अन्यों से उन्हे पृथक कराते है।

द्रव्य-गुण एवं कर्म का परस्पर कार्य-कारण भाव

द्रव्य-गुण-कर्म के परस्पर कार्य-कारण की व्याख्या करते हुये वैशेषिकार कहते हैं-

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम्। (1.1.18)

द्रव्य, गुण एवं कर्म तीनों का द्रव्य समान रूप से कारण है। जैसे जिस प्रकार द्रव्य का कारण है वैसा ही गुण एवं कर्म का भी होता है। यहां कारणता समवायसम्बन्ध से समझनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण एवं कर्म तीनों का समवायिकारण केवल द्रव्य ही होता है। तात्पर्य यह है कि कार्यद्रव्य जिस प्रकार अपने कारण द्रव्य में समवेत रहता है, उसी प्रकार गुण एवं कर्म भी द्रव्य में समवेत रहते हैं। इसलिए द्रव्य तीनों का समवायिकारण सिद्ध होता है। आगे गुण के कारणत्व के विषयमें सूत्रकार कहते हैं **तथा गुणः।** (1.1.19) गुण भी वैसे ही हैं। अर्थात् जिस प्रकार द्रव्य उपरोक्त तीनों का समान रूप से कारण होता है वैसे कर्म भी समान रूप से तीनों का कारण होता है। विशेषता इतनी है कि द्रव्य तीनों का समवायिकारण होता है जबकि गुण तीनों का असमवायिकारण होता है।

समस्त कार्यद्रव्यों का असमवायिकारण अवयव संयोग होता है इस प्रकार द्रव्य का असमवायिकारण संयोग नामक गुण सिद्ध होता है। कार्यद्रव्यगत रूपादि गुणों के असमवायिकारण समानजातीय कारणगत रूपादि गुण होता है। जैसे पाद-कन्दुक संयोग (अभिधात नामक तीव्र संयोग) से कन्दुक में गमन रूपी कर्म की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार द्रव्य की भांति गुण भी तीनों (द्रव्य, गुण, कर्म) का समान रूप से कारण होता है।

आगे कर्म के कारणत्व के संदर्भ में महर्षि कहते हैं-

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम्। (1.1.20)

संयोग, विभाग एवं वेग तीनों का कर्म समान रूप से कारण होता है। प्रस्तुत सूत्र में 'कारणम्) पद की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से है।

जिस प्रकार द्रव्य तीनों का समवायिकारण तथा गुण असमवायिकारण होता है उसी प्रकार से कर्म नहीं होता है। अर्थात् कर्म केवल तीन गुणों की उत्पत्ति में ही असमवायिकारण होता है। न कि द्रव्यों एवं अन्य गुणों की उत्पत्ति में।

द्रव्य-द्रव्य का कारण-कार्यभाव सम्बन्ध

द्रव्य एवं द्रव्य के कारण-कार्य सम्बन्ध को बताते हुये वैशेषिक दर्शन कहता है कि-

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम्। (1.1.23)

अनेक द्रव्यों का सामान्य रूप से एक कार्यद्रव्य होता है। अर्थात् बहुत सारे कारणद्रव्य मिलकर एक कार्यद्रव्य की उत्पत्ति करते है। यथा बहुत सारे तन्तु मिलकर एक कार्यपट निमार्ण करते हैं।

गुण-गुण का परस्पर कारण-कार्यभाव सम्बन्ध

जिस प्रकार बहुत सारे कारणद्रव्य मिलकर एक कार्यद्रव्य की उत्पत्ति करते हैं, उसी प्रकार बहुत सारे कारणगुण मिलकर एक कार्यगुण की उत्पत्ति करते हैं। इस संदर्भ वैशेषिककार कहते हैं-

रूपाणां रूपम। (1.1.28)

अनेक रूपगुण मिलकर एक कार्यरूप को उत्पन्न करते हैं। तन्तुगत अनेक श्वेतरूप मिलकर पटगत एक कार्य श्वेतगुण को उत्पन्न करते हैं। प्रस्तुत सूत्र में 'रूप' पद अन्य कतिपय गुणों का भी उपलक्षण है। जैसे- अनेक कारणरस मिलकर एक कार्यरस की उत्पत्ति करते हैं। अनेक कारणगन्ध मिलकर एक कार्यगन्ध की उत्पत्ति करते हैं इत्यादि।

कर्म-कर्म का कारण-कार्यभाव सम्बन्ध

जिस प्रकार द्रव्य-द्रव्य में कारण-कार्य सम्बन्ध होता है, गुण-गुण में कारण कार्य सम्बन्ध होता है उस प्रकार कर्म-कर्म में कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं होता है। कर्म-कर्म के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध का निषेध करते हुये सूत्रकार कहते हैं - **गुण वैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म। (1.1.24)** गुणों से वैधर्म्य (विरीत स्वभाव वाला) होने से कर्मों का कार्य कर्म नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र में **'गुण'** पद द्रव्य का भी उपलक्षण है। अर्थात द्रव्य एवं गुण से विपरीत धर्म वाला होने से कर्म-कर्म में कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि बहुत सारे कर्म मिलकर एक कर्म को उत्पन्न नहीं कर सकते। कारण यह है कि कर्म अपने कार्य संयोग-विभागादि के द्वारा नाश्य होता है। जिस तथ्य को महर्षि ने **कार्यविरोधि कर्म। (1.1.14)** इस सूत्र में उद्भासित किया है। अतएव सीधा-सीधा कर्म से कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता। बीच में संयोग-विभाग रूपी कर्म के कार्य अनिवार्य रूप से देखे जाते हैं। जैसे एक पंक्ति में क्रम से खड़े ईंटों में से किसी एक ईंट में यदि कर्म होता है तो उससे दूसरे ईंट में भी कर्म होता है पुनः तीसरे, चौथे में भी होने लगता है। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि एक ईंट से दूसरे ईंट में कर्म होने से पूर्व ईंट-ईंट में पहले संयोग होता है। संयोग हुये बिना कर्म सम्भव नहीं है। इस प्रकार सीधा-सीधा कर्म से कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी कारण महर्षि ने पूर्व में ही कर्म-कर्म में परस्पर कारण-कार्य का निषेध करते हुये कहा है-

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते। (1.1.11)

अर्थात कर्म, कर्म से साध्य-जन्य (उत्पन्न) नहीं होता है। इस प्रकार वैशेषिक के अनुसार कर्म एवं कर्म के परस्पर कारण-कार्य का निषेध किया गया है।

गुण एवं द्रव्य में कारण-कार्य सम्बन्ध

द्रव्य, गुण के परस्पर सजातीय आरम्भकत्व तथा कर्म के सजातीय अनारम्भकत्व के वर्णन के पश्चात द्रव्य एवं गुण के परस्पर विजातीय आरभ्भकत्व का वर्णन किया जा रहा है। महर्षि कणाद का कहना है कि कतिपय गुण ऐसे हैं जो अनेक द्रव्यों द्वारा मिलकर उत्पन्न किये जाते हैं। जैसा कि उन्होंने कहा- **द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च। (1.1.25)**

द्वित्वादि से लेकर समस्त संख्याए, पृथक्त्व, संयोग और विभाग इनमें से प्रत्येक गुण अपने अस्ति.त्व के अवसर पर अनेक द्रव्यों में समवेत रहता है। तात्पर्य यह है कि उक्त गुणों का समवायिक-कारण अनेक द्रव्य होते हैं। यहाँ पर द्रव्य अपने विजातीय गुणों को उत्पन्न कर रहे हैं। इसके विपरीत बहुत सारे गुण मिलकर एक द्रव्य को उत्पन्न करते हैं, **यथा संयोगां द्रव्यम्। (1.1.27)** अर्थात् बहुत सारे संयोग मिलकर एक द्रव्य को उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक दो अवयवों के बीच एक संयोग होता है। ऐसे कई अवयवों के संयोग मिलकर एक कार्य घट-पटादि को उत्पन्न करते हैं। यहाँ पर बहुत सारे गुण मिलकर विजातीय द्रव्य को उत्पन्न करते हैं।

गुण एवं कर्म में परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध

जिस प्रकार दो यो दो से अधिक द्रव्य मिलकर पूर्वोक्त द्वित्वादि गुणों को उत्पन्न करने में कारण होते है, ठीक उसी प्रकार कतिपय गुण मिलकर एक कर्म को उत्पन्न करने में कारण बनते हैं। सूत्रकार कहते है-

गुरुत्व प्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपक्षम्। (1.1.29)

गुरुत्व, प्रयत्न एवं संयोग से सब गुण मिलकर एक उत्क्षेपण रूपी कर्म को उत्पन्न करने में कारण बनते हैं। किसी भी वस्तु को उपर फेंकने में सबसे प्रथम उस वस्तु में **'गुरुत्व'** का होना आवश्यक है, क्योंकि गुरुत्वहीन वस्तु का फेंका जाना सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त फेंकने वाले देवदत्तादि चेतन का प्रयत्न भी कारण होता है तथा साथ ही साथ प्रयत्नवान देवदत्तादि के हाथों का उस वस्तु के साथ संयोग भी आवश्यक है। बिना हाथ के संयोग के वह कैसे फेंक सकता है? अतएव एक ही उत्क्षेपण कर्म में यहाँ गुरुत्व, प्रयत्न और संयोग तीन गुण कारण हैं।

ठीक इसके विपरीत कर्म, गुण को उत्पन्न करने में कारण बनते हैं, जैसा कि वैशेषिककार कहते हैं-

संयोग विभागाश्च कर्मणाम्। (1.1.30)

प्रस्तुत सूत्र में 'च' पद से वेग का भी संग्रह किया जाता है। अर्थात् संयोग-विभाग एवं वेग ये कर्मों के कार्य होते हैं। तात्पर्य यह है कि इन तीनों की उत्पत्ति में कर्म कारण होते हैं। परन्तु द्रव्य एवं गुणों की भांति बहुत सारे द्रव्य एवं बहुत सारे गुण जिस प्रकार मिलकर कार्य के प्रति कारण होते हैं। वैसे कर्म नहीं होते हैं। कारण यह है कि कर्म क्षणिक होता है, ऐसे क्षणिक कर्मों का एकत्रित होना

सम्भव नहीं है। अतएव क्षणिक कर्मों के सातत्य ही उपरोक्त तीनों गुणों को उत्पन्न करने में कारण होता है। सूत्र में **'कर्मणाम्'** बहुवचनान्त पद से कर्मान्तर कर्मों को समझना चाहिए न कि कई कर्मों का साथ समाहार को समझने का भूल करना चाहिए।

(1) पृथिवी का लक्षण

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी। (2.1.1)

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाली पृथिवी होती है। अर्थात् समवाय सम्बन्धेन रूपादि का जो आधार है, वह पृथिवी है, यह पृथिवी का लक्षण है। केवल रूपादि चार गुण वाली पृथिवी है- इतना ही लक्षण करने पर यह पृथिवी का सामान्यलक्षण है। पृथिवी के इन्ही समस्त गुणों का विस्तारपूर्वक कथन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं -

रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वसंस्कारवती (पृथिवी)। (प्रश. भा.)

अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार इन चौदह गुणों वाली पृथिवी होती है। पृथिवी में अग्नि के संयोग से नैमित्तिक द्रवत्व होता है स्वाभाविक नहीं। इनमें से रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पृथिवी के विशेष गुण कहलाते हैं। रूपादि गुणों को विशेष कहना उनके भेद के आधार पर समझना चाहिए। यथा-

(क) रूप - रूप के कई भेद होते हैं जिसमें अभास्वर अस्वच्छ रूप पृथिवी का होता है। इसके अतिरिक्त छः प्रकार का रूप और होता है- शुक्ल (सफेद), नील, पीत (पीला), हरित (हरा), रक्त (लाल), कपिश (भूरा), चित्र (मिश्रितरंग चितकबरा)। इस प्रकार से कुल मिलाकर पृथिवी में सात रूप सिद्ध होते हैं।

(ख) रस - रूप के समान पृथिवी में रस भी सात प्रकार के होते है। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय ये षड्रस तो प्रसिद्ध ही है। सातवां चित्र रस है अथवा मिश्रित रस। यह रस लेह्य (चटनी) आदि पदार्थों में होता है। कई व्याख्याकार पृथिवी में केवल षड्रस को ही स्वीकार करते है। परन्तु सातवां चित्ररस भी अनुभवगम्य होने से कोई आपत्ति की बात नहीं है।

(ग) गन्ध - गन्ध यह पृथिवी का विशेषगुण माना जाता है; क्योंकि गन्ध एकमात्र पृथिवीनिष्ठ ही होता है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है -

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः। (2.2.3)

अर्थात् गन्ध केवलमात्र पृथिवी में ही व्यवस्थित रूप से रहता है। अन्य में नहीं। इसलिए 'गन्ध' पृथिवी का वैशेषिकगुण (विशेषगुण) सिद्ध होता है। गन्ध के दो भेद होते हैं- (क) सुरभि (सुगन्ध)

(ख) असुरभि (दुर्गन्ध)

(घ) स्पर्श - स्पर्श तीन प्रकार का अनुभव में आता है- उष्ण (गर्म), शीत (ठंडा) तथा अनुष्णाशीत (न उष्ण न शीत अर्थात् सामान्य)। अनुष्णाशीत भी दो प्रकार का होता है- (क) स्पर्शान्तर व्यञ्जक (ख) स्पर्शान्तर अव्यञ्जक। इसमें से पृथिवी में स्पर्शान्तर अव्यञ्जक स्पर्श होता है।

इस प्रकार अवान्तर भेदपूर्वक रूपादि चार गुण पृथिवी के विशेषगुण कहे जाते है। यदि रूपादि का अवान्तरभेद न करे, केवल रूप, रस, इत्यादि इतना कहे तो सामान्य हो जाते है जबकि 'गन्ध' विशेष गुण हो जाता है। अतएव सूत्र में रूपादि - चार गुणों को विशेष कहने का तात्पर्य अवान्तरभेदपूर्वक ही समझना चाहिए।

(2) जल का लक्षण

जलका लक्षण करते हुए महर्षि निम्न सूत्र प्रस्तुत करते हैं-

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः। (2.1.2)

रूप, रस, स्पर्श वाले जल द्रवत्व और स्नेह गुण वालें है। प्रस्तुत सूत्र में जल के पांच गुणों का वर्णन किया है-

रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व एवं स्निग्ध (स्नेह)।

जल के गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं-

रूपरसस्पर्शद्रवत्वस्नेहसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वसंस्कारवत्यः (आपः)। (प्रश.भा.)

अर्थात् रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, संस्कार इन चौदह गुणों वाले जल होते हैं।

सूत्रोक्त जल के पांच गुणों का अवान्तरभेद सहित वर्णन किया जा रहा है-

(क) रूप - जल में अभास्वर-स्वच्छ शुक्ल रूप होता है। अभास्वर का अर्थ है- अप्रकाशक, स्वच्छ का अर्थ है- पारदर्शी, शुक्ल का तात्पर्य श्वेत से नहीं है। श्वेतरूप दूध में होता है जबकि पानी का रूप दूध से भिन्न होता है। यह अनुभवगम्य ही है।

(ख) रस - जल में अव्यक्तमधुर रस होता है। अव्यक्त का तात्पर्य है अप्रकट। शक्कर इत्यादि में व्यक्तमधुर रस होता है, जबकि जल में मिठास तो होता है परन्तु शक्कर इत्यादि जैसा नहीं होता है। इसलिए जल का रस अव्यक्तमधुर माना जाता है।

(ग) स्पर्श - जल का स्पर्श शीत (ठंडा) होता है। यह जल का विशेषगुण होता है। जैसा की द्रव्यों

के वैशेषिकगुणों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने कहा है- **अप्सु शीतता। (2.2.5)** अर्थात् जलों में शीत स्पर्श व्यवस्थितरूप से रहता है। जैसे पूर्वोक्त पृथिवी में केवल गन्ध व्यवस्थितरूप से रहता है वैसी ही जल में शीतस्पर्श।

(घ) द्रवत्व - द्रव्यत्व दो प्रकार का होता है- (1) सांसिद्धिक (2) नैमित्तिक।

जल में सांसिद्धिकद्रवत्व होता है। सांसिद्धिक का तात्पर्य है- स्वाभाविक। जल स्वभाव से बहता है। अर्थात् स्वाभाविक द्रवत्व जल में होता है। जबकि पृथिवी में नैमित्तिकद्रवत्व होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पृथिवी स्वभाव से नही बहती है बल्कि अग्नि के संयोग से पिघलकर बहने लगती है। जैसे मोम, घृत, लौह, स्वर्ण इत्यादि पदार्थ में अग्नि के निमित्त से द्रवत्व होता है। इसलिए पार्थिव पदार्थों में नैमित्तक द्रवत्व होता है, जबकि जल में सांसिद्धिक द्रवत्व होता है।

(ङ) स्निग्ध (स्नेह) - स्निग्धता का तात्पर्य यहाँ पर चिकनेपन से नहीं है। कारण यह है कि चिकनाई रूप स्निग्धता पार्थिव पदार्थों का ही गुण होता है, जल का नहीं। जैसे घृत, तैल इत्यादि द्रव्यों में जो चिकनाई है वह पार्थिव का ही धर्म है। तैल में भले ही द्रवत्व स्वाभाविक होता है, परन्तु उसमें जो पार्थिवांश है उससे ही चिकनाई होती है न कि तैलनिहित जल से । चूंकि तेल में भी जल होता ही है परन्तु उसका गुण चिकनाई नहीं है वह तो पार्थिव का ही धर्म है। चिकना, खुरदरा, नुकिला, इत्यादि स्पर्श के अन्तर्गत आने वाले गुण पृथिवी के ही सिद्ध होते हैं।

प्रस्तुतः स्निग्धता नामक गुण जलों का होता है। यह चिकनाई नहीं है। अपितु स्नेह नामक गुण कहलाता है। जो बिखरे हुये अवयवों को जोड़ने का काम करता है। जैसे बिखरे हुये आटें के कणों को जल डालकर पिण्ड बनाया जाता है। बालू-सिमेन्ट के मिश्रण में जल डालने से चिपक जाते है। इस प्रकार जोड़ने रूपी गुण का नाम स्निग्ध अथवा स्नेह है, जो कि जलों का विशेष गुण है। शेष संख्यादि सामान्य गुण कहलाते है, वे सभी द्रव्यों में सामान्य रूप से रहते हैं। जलों में पतन का हेतुभूत गुण का नाम गुरुत्व है, तथा संस्कार का तात्पर्य 'वेगनामक' संस्कार से है।

(3) तेज का लक्षण

अब क्रमप्राप्त तीसरे तेज (अग्नि) नामक द्रव्य का लक्षण करते हुये सूत्रकार कहते हैं- **तेजो रूपस्पर्शवत्। (1.1.3)**

तेज रूप और स्पर्श वाला है। अर्थात् तेज में दो विशेष गुण होते है- रूप एवं स्पर्श। कुल गुणों की दृष्टि से तेज में ग्यारह गुण होते हैं। जिसका उल्लेख भाष्यकार ने निम्न प्रकार किया है-

रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारवत् (तेजः)। (प्रश.भा.)

अर्थात् रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और संस्कार इन ग्यारह गुणों वाला तेज होता है। इनमें से सूत्रोक्त दो गुणों का वर्णन इस प्रकार है-

(क) रूप - तेज (अग्नि) में भास्वर शुक्ल रूप होता है। भास्वर का अर्थ है प्रकाशक। जल में जो शुक्लत्व है उसे अभास्वरशुक्ल कहते है। जबकि तेज में भास्वर शुक्ल होता है।

(ख) स्पर्श - तेज का स्पर्श उष्ण (गर्म) होता है। यह तेज का वैशेषिक गुण भी है। जैसा कि वैशेषिककार ने कहा है-

तेजस्युष्णता। (2.2.4)

अर्थात् तेज में उष्ण स्पर्श व्यवस्थित रूप से रहता है। तेज में उष्णता स्वाभाविक है जबकि जलादि में उष्णता औपाधिक है- अग्नि संयोग से है। तेज में भी संख्या इत्यादि गुण सामान्य है। तेज में जो द्रवत्व है, वह सुवर्णादि तैजस द्रव्यों का समझना चाहिए। वैशेषिक में तेज के भेद में सुवर्णादि पदार्थों को भी रखा गया है। इन्हे पार्थिव न कहकर शास्त्रकार ने तैजसद्रव्य कहा है। क्योंकि इनके चमक होता है। चमक-रश्मि यह तेज का धर्म होने से इन्हे तैजसद्रव्य की श्रेणि में वैशेषिककार ने अलग से रखा है। इसी कारण तेज के गुणों के अन्तर्गत 'द्रवत्व' को रखा गया है। संस्कार का तात्पर्य वेग नामक संस्कार से है।

(4) वायु का लक्षण

क्रमप्राप्त चौथे द्रव्य वायु का लक्षण महर्षि कणाद ने इस प्रकार किया है-

स्पर्शवान् वायुः। (2.1.4)

स्पर्शगुण वाला वायु होता है। वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श होता है। अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी में भी होता है, परन्तु पृथिवी में अनुष्णाशीत स्पर्शान्तर का अभिव्यजक नहीं होता है, जबकि वायु का अनुष्णाशीतस्पर्श स्पर्शान्तर का अभिव्यञ्जक होता है। यह दोनों के गुणों में विशेषता है। स्पर्शान्तर का अभिव्यञ्जक का तात्पर्य है, कि किसी भिन्न द्रव्यों के स्पर्श को उद्भूत (प्रकट) करना। जैसे नहाने के पश्चात क्लेद तो होता ही है, परन्तु हवा के स्पर्श से अपेक्षाकृत ठंडक बढ़ जाती है। यहाँ पर वायु का स्पर्शगुण जल के शीतगुण को और अधिक प्रकट करने वाला सिद्ध होता है। इसी कारण इसे स्पर्शान्तर का अभिव्यञ्जक कहा है। अतएव **'अनुष्णाशीत स्पर्शान्तराभिव्यञ्जक स्पर्शगुण'** वायु का वैशेषिक गुण सिद्ध होता है। वायु के समग्र गुणों का वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं-

स्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्कारवान् (वायुः)। (प्रश.भा.)

अर्थात् स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, और संस्कार इन नौ गुणों वाला वायु हैं। इसमें से वायु का स्पर्श 'अनुष्णाशीत' होते हुये 'अपाकज' है। अर्थात् अग्नि के संयोग से इसका स्पर्श बदलता नहीं है, जैसा कि पृथिवी का स्पर्शादि गुण अग्नि के संयोग से बदल जाने के कारण 'पाकज' कहलाते हैं।

वायु में 'नानात्व' संख्या है। जैसा कि सूत्र वचन है-

वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्वलिङ्गम् । (2.1.14)

अर्थात् वायु के अनेक खण्डों की परस्पर टक्कर नानात्व का लिङ्ग है। दो या दो से अधिक वायु खण्डों का परस्पर टक्कर होना वायु के नानात्व को सिद्ध करता है। कई बार ऐसा देखा जाता हैं - भिन्न दिशा और भिन्न गति वाले वायुखण्ड जिस जगह पर आपस में टकराते है, वहाँ धूलकण तिनके व पत्ते इत्यादि उपर की ओर आकाश में उड़ जाते है। वायु की स्वाभाविक गति तिर्यक् होती है, पर आपस में टकराकर ऊर्ध्वगति हो जाती है। जैसे जल की दो धाराएँ भिन्न दिशाओं से आकर आपस में टकराती है, तो वे जल टक्कर खाकर ऊपर को उछल जाते हैं, उनके साथ बहने वाले तिनके आदि भी ऊपर उछल जाते हैं। अतः जिस प्रकार तिनके आदि के ऊपर उछलने में दो धाराओं का टक्कर प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी प्रकार तिनके आदि का वायु के द्वारा ऊपर उछलने में हम वायु के सम्मुर्छन अर्थात् टक्कर का अनुमान कर लेते हैं। टक्कर एक में सम्भव नहीं हो सकता अतएव इससे वायु का 'नानात्व' का अनुमान हो जाता है। वायु में संस्कारगुण का तात्पर्य वेग से है।

परमाणुरूप वायु का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व

पृथिवी आदि चारो द्रव्य के दो मुख्यतः भेद होते हैं- (क) कारणरूप (ख) कार्यरूप। कारणरूप पृथिव्यादि द्रव्य परमाणु के रूप में जाने जाते हैं तथा कार्यरूप द्रव्य घट-पटादि के रूप में अनुभव में आते है। वायु नामक द्रव्य भी कारण-कार्य उभय रूप में होता है। जो वायु हमें स्पर्श के द्वारा अनुभव में आती है वह कार्यवायु है। जबकि परमाणुरूप वायु अदृष्ट होने से अनुभव में नहीं आती। परन्तु बिना कारण द्रव्य के कार्यद्रव्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती है। इस कारण से वैशेषिककार ने वायुनामक कारणद्रव्य के विषय मे कहते हैं-

अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम्। (2.1.11)

अन्यद्रव्य समवायिकारणवाला न होने से परमाणुरूप कारणवायु का द्रव्यत्व सिद्ध होता है। पृथिव्यादि कार्यद्रव्य का विभाग करते-करते अन्त में एक अवयवरूप परमाणु शेष रह जाता है। अन्त्य अवयव होने से उस परमाणु का कोई आश्रयद्रव्य अथवा समवायिकारण नहीं होता है। पृथिव्यादि द्रव्य की अवस्था को 'परमाणु' कहते है। जैसे पृथिवी, जल, तेज के मूल उपादान कारण परमाणु हैं, ऐसे ही अनुभूयमान स्पर्शाधिकरण वायु के मूल उपादान (समवायिकारण) परमाणु द्रव्य हैं। कार्य-वायु के अवयव विच्छिन्न होते हुये जब अन्त्य अवयव रूप अवस्था में पहुँच जाते है तब वह वायु की परमाणु अवस्था होती है। वह मूल द्रव्य है, उसके आगे उसका कोई समवायिकारण द्रव्य नहीं होता। इस प्रकार पृथिव्यादि परमाणु के समान वायु के परमाणु स्वीकार किये जाने से वह कारणद्रव्य सिद्ध होता है।

अनुभूयमान स्पर्शाधिकरण वायु के मूल उपादानकारण परमाणु द्रव्य है। इसकी सिद्धि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु भी प्रस्तुत किया है। यथा-

क्रियावत्वाद् गुणवत्त्वाच्च। (2.1.12)

क्रियावाला एवं गुणवाला होने से परमाणुरूप वायु का द्रव्यत्व सिद्ध होता है। जैसा कि द्रव्य के लक्षण में ही वैशेषिककार ने 'जो क्रियावाला, गुणवाला एवं समवायिकारण वाला हो उसे द्रव्य कहते है' ऐसा कहा है।

वायवीय परमाणु क्रिया का अधिकरण है, एक परमाणु का अन्य परमाणु के साथ संयोग होने के लिए क्रिया का होना आवश्यक है। अन्यथा सृष्टि का आरम्भही सम्भव नहीं है। सृष्टि का आरम्भ हुआ है इसलिए परमाणुओं में क्रिया की सिद्धि अनुमान से हो जाती है।

किसी भी कार्यद्रव्य में गुणों की जो उपलब्धि होती है, वह सहसा ही नहीं हो जाती बल्कि कारणगुणपूर्वक होती है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है-

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः। (2.1.24)

अर्थात् कारणद्रव्यों के गुणपूर्वक ही कार्य में गुण देखा जाता है। यथा- कार्य श्वेतपट में जो श्वेतगुण आया है, वह कारणश्वेततन्तु से आया है। जैसा तन्तु होता है वैसे ही पट होता है। यदि तन्तु श्वेत है तो पट भी श्वेत होगा, यदि तन्तु रक्त (लाल) है तो पट भी लाल ही होगा। यहाँ श्वेतपट के प्रति श्वेततन्तु को कारण कहा गया है। यह तो समझानेमात्र के लिए है। वस्तुतः एकमात्र कारणद्रव्य तो परमाणु ही होता है। मिट्टी-तन्तु इत्यादि में गौणरूप से 'कारण' पद का प्रयोग होता है।

उपरोक्त सूत्रवचन एवं दृष्टान्त के आधार पर कार्य घट-पटादि में जो गुण की उत्पत्ति होती है वह कारण परमाणु से ही होती है। अतः कारण परमाणु में गुण की सिद्धि कारण-कार्य की नियत व्यवस्था से हो जाती है। जैसा कि महर्षि ने प्रथम अध्याय में कहा भी है-

कारणाभावात् कार्याभावः। (1.2.1)

अर्थात् कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि परमाणु में यदि श्वेतादि कारणरूपों का अभाव होता तो कार्यपट में कार्यश्वेतरूप का भी अभाव हो जाता। कार्यपट में श्वेतरूप का भाव है इसका मतलब कारण में समानजातीय रूप की सिद्धि अन्वय एवं व्यतिरेक से हो जाती है। उपरोक्त सूत्र में सूत्रकार ने व्यतिरेकविधि के द्वारा कारण की सिद्धि बतायी है। आगे चतुर्थ अध्याय मे अन्वयविधि के द्वारा कहा है। यथा-

कारणभावात् कार्यभावः। (4.1.3)

अर्थात् कारण के होने से ही कार्य होता है। इसप्रकार अन्वय एवं व्यतिरेक के द्वारा कारणपरमाणु में गुण की भी सिद्धि हो जाती है। एतावता क्रिया एवं गुण का समवायसम्बधेन आश्रय होने से कारणरूप वायुपरमाणु का द्रव्यत्व सिद्ध होता है। कारणवायुपरमाणु में द्रव्यत्व की सिद्धि के अनन्तर नित्यत्व की

सिद्धि करने की भावना से महर्षि कहते हैं-

अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम्। (2.1.13)

कोई अन्यद्रव्य समवायिकारण न होने से नित्यत्व की सिद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि परमाणु अंतिम अवयव होने से उसके अतिरिक्त और कोई अवयवद्रव्य उसमें संयुक्त नहीं होते हैं। इस कारण परमाणु निरवयव कहलाता है। किसी पदार्थ का नाश तभी होता है जब उसके कारण अवयवों का परस्पर विभाग कर दिया जाये और वह विभाग भी तब सम्भव है जब दो या दो से अधिक अवयव संयुक्त हो। परमाणु निरवयव होने से उसमें अन्य अवयव के सम्पर्क (संयोग) का अभाव होता है। जब संयोग ही नहीं तो विभाग का प्रश्न ही नहीं उठता। इस कारण से परमाणु में अन्य अवयव के संयोग एवं विभाग का अभाव होने से नाश का अभाव सिद्ध होता है। नाश के अभाव को ही 'नित्य' कहा जाता है। फलतः कारणवायुपरमाणु का नित्यत्व सिद्ध होता है।

(5) आकाश का लक्षण

आकाश नामक पञ्चम द्रव्य का लक्षण वैशेषिककार 'निषेधमुख' से किया है। पृथिवीआदि का लक्षण महर्षि ने विधिमुख से किया है। तात्पर्य है कि अमुक-अमुक गुण वाला यह द्रव्य है- इसप्र. कार की शैली को 'विधि' कहते है। इसके ठीक विपरीत अमुक-अमुक गुणवाला यह नहीं है- इस प्रकार की वचनशैली को 'निषेध' कहते है। आचार्य ने आकाश के विषय में इस प्रकार कहा है-

त आकाशे न विद्यन्ते। (2.1.5)

अर्थात् वे रूपादि गुण आकाश मे नहीं होते हैं पूर्वोक्त पृथिव्यादि चारभूतों के वैशेषिक चार गुण- रूप, रस, गन्ध, एवं स्पर्श आकाश में उपलब्ध नहीं होते है। इसका मतलब यह हुआ कि आकाश अरूपवान्, अरसवान्, अगन्धवान् एवं अस्पर्शवान् है। तात्पर्य यह है कि आकाश बिना रूपवाला, बिना रसवाला, बिना गन्धवाला एवं बिना स्पर्शवाला है।

ऐसे में प्रश्न यह उठता है कि क्या ऐसे अगुणवान् पदार्थ को द्रव्य कहा जा सकता है? उत्तर- यह है कि 'नहीं'। कारण यह है कि महर्षि ने द्रव्य को गुणवान् कहा है। तब पुनः प्रश्न उठता है कि ऐसे अगुणवान् पदार्थ का कथन महर्षि ने द्रव्य के अन्तर्गत क्यों किया? इसका समाधान भाष्यकार ने आकाश के गुणों का उल्लेख करके कर दिया है। आकाश में रूपादि चार गुण नहीं होते है- इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसमें उनके अतिरिक्त और कोई गुण ही नहीं होता। भाष्यकार ने आकाश के गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया है-

तत्राकाशस्य गुणाः शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः। (प्रश.भा.)

अर्थात् शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग ये छः गुण आकाश के होते हैं। इनमें से 'शब्द' आकाश का 'वैशेषिक' गुण है। आकाश के 'शब्द' नामक वैशेषिक गुण को भी आचार्य ने सीधा-सीधा विधिमुख से उपदेश न करके निषेधमुख से कहा है। 'नेति-नेति' का सहारा लेकर

वैशेषिकाचार्य ने इस प्रकार कहा है–

कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः। (2.1.25)

अर्थात् कार्य से भिन्न कारण अवयवों से (शब्द का) प्रादुर्भाव न होने से स्पर्शवाले पृथिवी, जल, तेज और वायु चार द्रव्यों का गुण शब्द नहीं है।

पूर्वोक्त कार्यरूपादि की उत्पत्ति जिस प्रकार कारणगुणपूर्वक होती है, उस प्रकार कार्यशब्द की उत्पत्ति पृथिव्यादि चारभूतों के कारण–अवयवपूर्वक नहीं होती है; क्योंकि पृथिव्यादि चारों भूतों के रूपादि गुणों की उपलब्धि सतत हुआ करती है, परन्तु शब्द की उपलब्धि सतत नहीं हो पाती। इससे पता चलता है कि शब्द पृथिव्यादि चार भूतों का गुण नहीं है।

इसके अतिरिक्त पृथिवी आदि के रूपादि गुण जब तक कार्यद्रव्य बना रहता है तब तक एकसमान उपलब्ध होते हैं। पटगत शुक्लरूप जबतक पट बना रहता है, एकसमान प्रतीत होता है, उसमें तारतम्य नहीं होता है। परन्तु वीणा आदि के द्वारा अभिव्यक्त शब्द तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम होकर वीणा के रहते ही अन्ततः नष्ट भी हो जाता है। जबकि वीणा आदि पदार्थों के रहते उनके स्वगत रूपादि गुण की उपरोक्त शब्द जैसी प्रतीति न होकर एकसमान होती है। इससे स्पष्ट होता है कि रूपादिगुण जिस प्रकार चारों भूतों के अपने स्वाभाविक गुण है, उस प्रकार शब्द नहीं है, अतएव 'शब्द' पृथिवी, जल, तेज, एवं वायु नामक चारभूतों के धर्म नहीं है।

आचार्य के इसप्रकार निषेध करने पर प्रश्न उठ सकता है, कि शब्द, पृथिव्यादि चारभूतों के गुण भले ही न हो परन्तु आत्मा आदि शेष भूतों का गुण भी तो हो सकता है? ऐसी आशंका किसी के मन में न उठे इसके लिए आचार्य ने स्वयं की इसका निषेध किया। यथा–

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः। (2.1.26)

अर्थात् अन्यत्र (आकाश में) समवायसम्बन्ध से प्रत्यक्ष होने से यह (शब्द) न तो आत्मा का गुण है, और न ही 'मन' का गुण है।

सूत्र में दो हेतुपद है– (क) परत्रसमवायात् (ख) प्रत्यक्षत्वात। आत्मा एवं मन को अलग–अलग पढ़ा है। आत्मा में शब्दगुण के निषेध के लिये दोनों हेतु प्रयुक्त हैं, जबकि मन में निषेध के लिए केवल दूसरा हेतु। यथा– **परत्रसमवायात् परत्रप्रत्यक्षत्वाच्च शब्दो नात्मगुणः। मनसि शब्दाभावस्य प्रत्यक्षत्वात् शब्दो न मनोगुणः।**

इसी कारण सूत्रकार ने **'नात्ममनसोर्गुणः'** ऐसा समासयुक्त पाठ नहीं किया है। दूसरे हेतु का मन के साथ समन्वय से दिक् और काल का यहां समुच्चय कर लेना चाहिए, क्योंकि यह हेतु समानरूप से दिक् एवं काल में भी शब्दगुण होने का 'प्रतिषेधक' है।

सूत्र का आशय यह है कि शब्दगुण आत्मा में समवेत न रहकर आत्मा से अन्य द्रव्य में समवेत

रहता है, इसलिए शब्द को आत्मा का गुण नहीं माना जा सकता। यदि शब्द को आत्मा का गुण माना जाये तो आत्मा अपने सुखादि गुणों के ग्रहणकाल में **'अहंसुखी, अहं जानामि, अहं इच्छामि'** इत्यादि अनुभव करता हैं, ऐसे ही **'अहं वाद्ये, अहं शब्दवान्'** इत्यादि अनुभव होना चाहिए। सुखी-दु:खी, ज्ञानवान् आदि अनुभव के समान मैं बज रहा हूँ, मैं शब्दवाला हूँ- ऐसा अनुभव होना चाहिए, परन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता है। इससे स्पष्ट होता है कि शब्द आत्मा का गुण नहीं है, अन्य किसी का है।

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि आत्मा के सुखादि गुणों की उपलब्धि बाह्यकरणों के द्वारा न होकर अन्त:करणों के द्वारा होता हैं, जबकि शब्दगुण की उपलब्धि बाह्यकरण श्रोत्र के द्वारा होता है। इस कारण से भी शब्द आत्मा का गुण नहीं हो सकता।

ठीक उसी प्रकार शब्द मन का भी गुण नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु मन के किसी गुण का प्रत्यक्ष नहीं होता। गुण का प्रत्यक्ष होने के लिए गुणाधिकरण द्रव्य का महत्परिमाण होना आवश्यक है जबकि मन अणुपरिमाण वाला होता है। मन के किसी भी गुण का प्रत्यक्ष नहीं होता बल्कि अनुमान से ज्ञान होता है, क्योंकि 'मन' स्वयं अप्रत्यक्ष है तो उसका गुण प्रत्यक्ष कैसे हो सकता? यादि शब्द मन का गुण होता तो उसका प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए, बल्कि शब्द का प्रत्यक्ष होता है। इसका तात्पर्य यह है कि शब्द मन का गुण नहीं है अपितु किसी और का गुण है।

शब्द के प्रतिपृथिव्यादि चारभूतों का निषेध पूर्वसूत्र में कर दिया गया। प्रस्तुत सूत्र में काल, दिशा, आत्मा एवं मन-इन शेष चार द्रव्यों का भी निषेध कर दिया। तो आखिर शब्द किसका गुण है? ऐसी आशंका होने पर आचार्य स्वयं कहते हैं-

परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य। (2.1.27)

अर्थात् परिशेषन्याय से आकाश का गुण शब्द सिद्ध होता है।

पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में से जिन आठ द्रव्यों का गुण शब्द नहीं हो सकता उनसे बचकर एकद्रव्य शेष रह जाता है। जिसका नाम आकाश है। दसवां द्रव्य है नहीं। अतएव शब्द गुण आकाश का लिङ्ग-लक्षण है। क्योंकि शब्द बाह्यइन्द्रिय से ग्राह्य होने से 'गुण' है, और गुण बिना द्रव्य के आश्रय से रह नहीं सकता। आठ द्रव्यों का निषेध हो जाने पर शेष बचा आकाश नामक द्रव्य के ही मत्थे चढ़ जाता है। इस प्रकार शब्दगुणवाला आकाश है- यह आकाश का लक्षण होता है। फलत: शब्द आकाश का गुण सिद्ध होता है।

आकाश में 'एकत्व' संख्या हैं जिसका उल्लेख करते हुये सूत्रकार ने इस प्रकार कहा है-

तत्वं भावेन। (2.1.29)

अर्थात् आकाश का एक होना भाव यानि सत्ता के द्वारा व्याख्यान समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व-सूत्र से **'व्याख्याते'** पद की वचनविपर्यय से अनुवृत्ति है। जिस प्रकार 'सद. इति' ज्ञान की प्रतीति सर्वत्र एक ाहेने से और भेद बोधक प्रमाण का अीाव होने से 'सत्ता' के एकत्व

की सिद्धि होती है। ठीक उसी प्रकार से सर्वत्र शब्द गुण की प्रतीति एक होने से एवं शब्दों मे भेदक प्रमाण के अभाव होने से शब्द के समवायिकारण आकाश के 'एकत्व' की सिद्धि का व्याख्यान समझ लेना चाहिए- ऐसा सूत्र का आशय है।

आकाश में परिमाण का तात्पर्य परममहत्परिमाण से है। इस प्रकार से 'शब्द' वैशेषिकगुण वाला आकाश हैं जिसमे कुल- (शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग) छः गुण होते हैं।

आकाश का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व

आकाश नामक पञ्चमद्रव्य के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि में वायु के हेतुओं का स्मरण कराते हुये आचार्य कहते हैं-

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। (2.1.28)

अर्थात् आकाश के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व को वायु के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व के व्याख्यान के समझ लेना चाहिए। आचार्य हेतुओं की पुनरुक्ति के भय से केवल स्मरणमात्र कराना श्रेष्ठ समझते है। इसलिए उन हेतुओं का पुनः कथन न करके 'वायुना व्याख्याते' अर्थात् वायुविषयक कथन से व्याख्यात हो गये- ऐसा कह दिया है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वायु के परमाणु का अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से नित्यत्व तथा क्रिया एवं गुणवान् होने से द्रव्यत्व सिद्ध होता है उसी प्रकार आकाश के भी अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से अर्थात् निरवयव होने से नित्यत्व तथा शब्द नामक गुणवाला होने से द्रव्यत्व सिद्ध होता है।

वायु के द्रव्यत्व की सिद्धि में सूत्रकार ने **क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च** अर्थात् क्रियावान एवं गुणवान् दोनों होने से ऐसा कहा है। परन्तु आकाश सर्वगत विभुपरिमाण होने से उसमें क्रिया का अभाव होने से निष्क्रिय होता है। इसलिए केवल 'गुणवान्' होने से ही द्रव्यत्व की सिद्धि हो जाती है।

एक बात विशेष ध्यातव्य है कि यदि लक्षणसूत्रों में पठित एक भी धर्म घटित हो जाता है तो उसे द्रव्य कहा जा सकता है। लक्षणसूत्र में पठित समस्त गुण एक द्रव्य में घटित हो ऐसा आवश्यक नहीं है। समस्त द्रव्यों के समावेश के लिए सूत्र में व्यापक लक्षण किया गया है न कि किसी एक द्रव्य के लिए।

आकाश की असिद्धि में नास्तिक मत का खण्डन

चार्वाक् जैसे नास्तिकशिरोमणि केवल चार ही भूतों (पृथिवी, जल, तेज, व वायु) का अस्तित्व स्वीकार करता है। आकाश के विषय में उसका कहना है कि चारों भूतों के अभाव को ही आस्तिक लोग आकाश कह देते है। वस्तुतः आकाश कोई भावात्मक पदार्थ नहीं है। भावात्मक भूतों के रूप में केवल चार ही भूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु) सिद्ध होते हैं, क्योंकि उन्हीं का प्रत्यक्ष होता है, आकाश का प्रत्यक्ष न होने से वह असिद्ध होता है।

इस विषय में वैशेषिकाचार्यों का कहना यह है कि किसी वस्तु के अस्तित्व का नियामक केवल प्रत्यक्ष ही नहीं होता है। अपितु दो प्रमाणों से वस्तु के अस्तित्व का निर्धारण होता है- प्रत्यक्ष एवं अनुमान। जिस पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं है उसका ज्ञान अनुमान से होता हे। जैसे - धूम से अग्नि का ज्ञान, अप्रत्यक्ष लौह पिण्डगत उष्णता से अग्नि का अनुमान इत्यादि। ऐसे स्थलों में कतिपय प्रत्यक्ष लिङ्ग के आधार पर अप्रत्यक्ष लिङ्गी का अनुमान होता है। ठीक इसी प्रकार अनुमान द्वारा आकाश नामक द्रव्य की भी सिद्धि हो जाती है, इस विषय में वैशेषिककार निम्न सूत्रों का उल्लेख करते हैं-

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्। (२.१.२०)

निकलना(अन्दर से बाहर जाना), प्रवेश करना (बाहर से अन्दर जाना) इस प्रकार की क्रिया आकाश के अस्तित्व का लिङ्ग-बोधक है।

तात्पर्य यह है कि बिना अवकाश (रिक्तस्थान) के कोई भी क्रिया आत्मलाभ नहीं कर सकती है। चारों ओर पार्थिवादि पदार्थों से भरे स्थलों में क्रिया की निष्पत्ति सम्भव नहीं है। किसी वस्तु में क्रिया तभी सम्भव है जब उसके चारो ओर रिक्तस्थान हो। उसके बिना क्रिया सम्भव नहीं हो सकती। अतएव क्रिया का आश्रयभूत द्रव्य का नाम आकाश है। वह कोई अभावात्मक पदार्थ नहीं है। अतः निष्क्रमण एवं प्रवेशन रूप लिङ्ग से अवकाशस्वरूप (रिक्त स्थान रूप) आकाश का अस्तित्व सिद्ध होता है

अब प्रश्न यह उठता है कि निष्क्रमण एवं प्रवेशनरूप क्रिया का आधारभूत आकाश है तो क्या वह क्रिया का समवायिकारण है? यदि ऐसा है तो आकाश को निष्क्रिय क्यों कहा जाता है? तब सूत्रकार दूसरा सूत्र देते हैं-

तदलिङ्गमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः। (2.1.21)

क्रिया के एकमात्र मूर्तद्रव्य समवायिकारण वाला होने से निष्क्रमण-प्रवेशनादि क्रिया आकाश का उस प्रकार का लिङ्ग नहीं हैं अर्थात् क्रिया का समवायसम्बधेन आश्रय आकाश नहीं है। इसलिए निष्क्रमण एवं प्रवेशन को जो आकाश का लिङ्ग कहा है वह समवायिकारण का लिङ्ग नहीं हैं।

तब पुनः प्रश्न उठता है कि निष्क्रमण एवं प्रवेशन का समवायिकारण आकाश नहीं है, तो असमवायिकारण मान लिया जाए? तब इसका भी निषेध करते हुए आचार्य कहते हैं-

कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च। (2.1.22)

असमवायिकारण के लक्षण के विरूद्ध धर्म वाला होने से निष्क्रमणादि क्रियाओं का आकाश असमवायिकारण भी नहीं हो सकता है।

सूत्र में अनुक्लृप्ति शब्द का अर्थ है- 'लक्षण'। **अनुक्लृप्तिर्लक्षणम् अनुकल्प्यते ज्ञाप्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या।** 'जिससे जनाया जाये' इस व्युत्पत्ति के आधार पर अनुक्लृप्ति का अर्थ 'लक्षण' होता है।

'कारणान्तर अर्थात् समवायिकारण से भिन्न 'असमवायिकारण की अनुक्लृप्ति' नाम लक्षण से

विपरीत धर्म वाला होने से - यह सूत्रार्थ है।

आकाश में असमवायिकारण की योग्यता नहीं है, क्योंकि द्रव्य कभी भी असमवायिकारण नहीं होता। असमवायिकारण सदैव गुण एवं कही-कही कर्म होता है। अतः असमवायिकारण की योग्यता से विरूद्ध धर्म वाला होने से आकाश निष्क्रमणादि कर्मो का असमवायिकारण नहीं हो सकता है।

ऐसे में प्रश्न यह उठ सकता है, कि जब क्रिया का समवायिकारण एवं असमवायिकारण दोनों ही आकाश नहीं है, तो यह सुनिश्चित होता है, कि आकाश का अस्तित्व ही नहीं है। तब वैशेषिककार क्रिया का निमित्त कारण के रूप में आकाश को बताते हुये कहते हैं-

संयोगादभावः कर्मणः। (2.1.23)

कर्म का संयोग से अभाव हो जाने के कारण क्रियामात्र का निमित्तकारण आकाश सिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि पूर्वदेश से वस्तु का विभाग एवं उत्तरदेश के साथ वस्तु का संयोग होना कर्म कहलाता है। जैसे ही उत्तरदेश के साथ वस्तु का संयोग होता है उसी क्षण क्रिया का नाश माना जाता है, क्योंकि 'कार्यविरोधि कर्म' इस पूर्वोक्त सूत्र के आधार पर कर्म अपने कार्य के द्वारा नाश्य है। अतः कर्म का कार्य यहाँ पर उत्तरदेश के साथ 'संयोग' है। इसलिए 'संयोग' से कर्म का नाश माना जाता है। इस तरह से उत्तरोत्तर अनेक संयोग-विभाग होने से अनेक कर्म स्वीकार किया जाता है। जैसे धनुष से छोड़ा हुआ बाण में अपने लक्ष्य तक पहुंचने तक भले ही हमें एक ही कर्म प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में अनेक उत्तरोत्तर देश के साथ संयोग द्वारा एक-एक कर्म का नाश मानने पर खण्ड-खण्ड रूप में अनेक कर्म सिद्ध होते हैं। नाना कर्मो का सातत्य ही कर्म के एकत्व होने में भ्रम पैदा करता है। इस तथ्य को पञ्चम अध्याय के- **इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च। (5.1.16-17)** इन सूत्रों में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

अस्तु! क्रिया के निवृन्ति में जो उत्तरदेश के साथ 'संयोग' को कारण कहा गया है, वह संयोग अवकाश नामक द्रव्य के बिना सम्भव नहीं है। जिस पदार्थ को 'उत्तरदेश' पद से कहा जाता है, वह आकाश के अतिरिक्त और कुछ सम्भव ही नहीं हैं अतः क्रिया के आधारभूत आकाश का निमित्त कारणत्व सिद्ध होता है। आकाश को क्रिया का आश्रय समवायसम्बन्धेन नहीं कहा गया है बल्कि 'संयोगसम्बन्धेन' कहा गया है। इस कारण से क्रिया का निमित्तकारण आकाश सिद्ध होता है। क्रिया का समवायिकारण तो इषु (बाण) इत्यादि द्रव्य है तथा असमवायिकारण गुरुत्व, प्रयत्न, वेग इत्यादि गुण हैं।

नास्तिकों के द्वारा जो यह कहा जाता है, कि चारोंभूतों के अभाव को ही आकाश कह दिया जाता है। इसलिए आकाश का कोई अस्तित्व नहीं है, वह अभावरूप है।

इस विषय में वैशेषिकाचार्यो का कहना है कि, अभाव के प्रतियोगी एवं अनुयोगी के विचार

से भी आकाश का अस्तित्व सिद्ध होता है। जैसे उदाहरण के लिए घटाभाव को लेते है। 'घटाभाव' के विरोधी को प्रतियोगी तथा घटाभाव के अधिकरण को अनुयोगी कहा जाता है। प्रस्तुत दृष्टान्त में घटाभाव का प्रतियोगी स्वयं 'घट' ही है। क्योंकि अभाव का विरोधी भाव ही हाता है, जो कि घटरूप ही है। तथा घटाभाव का अनुयोगी (अधिकरण) भूतल है। कारण यह है कि घट का अभाव जहाँ पर (जिस अधिकरण में) होता है, वह भूतल ही है। भूतलरूप अधिकरण के अभाव में 'घटाभाव' भी प्रतीत नहीं होगा, क्योंकि घटाभाव को हम किस जगह देखेंगे? अतः अनुयोगी रूप भूतल का अस्तित्व अनिवार्य सिद्ध होता है।

ठीक इसी प्रकार उपरोक्त रीति से 'चतुर्भूताभाव' के प्रतियोगी एवं अनुयोगी का जब विचार करते हैं, तो पाते है, कि 'चतुर्भूताभाव' का प्रतियोगी स्वयं चारों भूत हैं तथा अनुयोगी यहाँ पर आकाश सिद्ध होता है, क्योंकि चारों भूतों का अभाव जहाँ पर (जिस अधिकरण में) है, वह अधिकरण आकाश भावात्मक द्रव्य ही हो सकता है, अभावात्मक नहीं। अन्यथा 'अभाव' कहना ही व्यर्थ हो जायेगा। कारण यह है कि 'अभाव' का अनुयोगी एवं प्रतियोगी दोनों भावात्मक पदार्थ ही होते हैं अतएव जिसके मत में चारोंभूतों के अभाव को ही आकाश कहा जाता है। अनके मत के अनुसार भी चतुर्भूताभाव का अनुयोगीभूत (अधिकरणभूत) आकाश का अस्तित्व सिद्ध होता है, जो कि अभावरूप न होकर भावरूप है।

शब्द का अनित्यत्व

आकाश नामक द्रव्य की परीक्षा के क्रम में उसके शब्दगुण की परीक्षा का अवसर भी प्रसंगतः प्राप्त होता है। क्योंकि शब्द को परिशेषन्याय से आकाश का गुण सिद्ध किया जाता है। शब्द के संदर्भ में विप्रतिपत्ति हाने से उसके समाधान के लिए शब्द की परीक्षा अनिवार्य हो जाती है।

शब्द के विषय में कोई आचार्य तो नियत्व का प्रतिपादन करता है, यथा मीमांसा के आचार्य, व्याकरण के आचार्य। ठीक इसके विपरीत कई आचार्य अनित्यत्व का प्रतिपादन करते है, यथा- सांख्य के आचार्य, न्याय के आचार्य। ऐसे में संशय होता है, कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य? अतः इसकी परीक्षा अनिवार्य है। इसी क्रम में वैशेषिककार सर्वप्रथम शब्द का लक्षण बताते है, ताकि जिसके विषय में परीक्षा होने जा रही है, उसको स्वरूप का बोध पहले आवश्यक है। शब्द का लक्षण बताते हुये आचार्य कहते हैं-

श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः। (२.२.२१)

श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किया जाने वाला जो अर्थ है, वह शब्द कहलाता है।

श्रोत्रग्राह्यत्वं शब्दत्वम् - ऐसा शब्द का लक्षण है। 'शब्द' का इसप्रकार लक्षण करने से कतिपय आचार्यों के द्वारा जो स्फोटात्मक शब्द की कल्पना की गयी है, उसका खण्डन हो जाता है, क्योंकि स्फोटात्मक शब्द ध्वनि से अभिव्यंग्य नित्य आत्मरूप होता है, जबकि वैशेषिककार ऐसे पदार्थ को

शब्द संज्ञा की स्वीकृति प्रदान नहीं करते हैं। अतः जो पदार्थ श्रोत्र का विषय है वही शब्द है, स्फोटादि शब्द नहीं है।

शब्द को नित्य कहने वालों का कहना है कि शब्द उत्पत्ति एवं विनाशधर्म से रहित होता है। शब्द की न तो उत्पत्ति होती है, और न ही नाश, बल्कि शब्द की अभिव्यक्ति एवं अनभिव्यक्ति होती है। अर्थात् शब्द संयोग-विभाग से प्रकट हाता है। जैसे दीपक के प्रकाश का अंधेरे में विद्यमान घटादि पदार्थों के रूपों के साथ संयोग होने पर घटादि का रूप जिस प्रकार प्रकट होता है, उत्पन्न नहीं। ठीक उसी प्रकार पूर्वविद्यमान शब्द भी संयोग-विभागादि के द्वारा अभिव्यक्तिमात्र होती है, उत्पत्ति नहीं।

उपरोक्त मत का खण्डन करते हुये वैशेषिककार कहते हैं-

सतो लिङ्गाभावात्। (2.2.26)

पूर्वविद्यमान होता हुआ (शब्द के नित्यत्व में) लिङ्ग प्रमाण का अभाव होने से (शब्द का नित्यत्व बाधित हो जाता है।)

वैशेषिककार का प्रस्तुत सूत्र में अभिप्राय यह है कि उच्चारण से पूर्व एवं पश्चात् शब्द के विद्यमान रहने में कोई लिङ्ग-प्रमाण नहीं है, जिसके आधार पर यह दावें के साथ कहा जा सके कि शब्द उच्चारण से पूर्व एवं पश्चात रहता ही है। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि शब्द उच्चारण से पूर्व नहीं था तथा पश्चात् भी नहीं रहेगा। अर्थात् शब्द का नाश हो जायेगा। अतः दोनों तरफ तुल्यवचनविरोध होने से शब्द के नित्यत्व का ऐकान्तिक कथन नहीं हो सकता। इसके आगे महर्षि और कहते हैं-

नित्यवैधर्म्यात्। (2.2.27)

शब्द का नित्य के साथ वैधर्म्य होने से (उसके नित्यत्व का कथन ठीक नहीं है)

जो पदार्थ नित्य होता है वह एक समान भी होता है। जैसे सभी पार्थिव परमाणु एकसमान होते है, सभी आत्माएं चैतन्यरूप में एकसमान होती हैं। परन्तु शब्द में ऐसा नहीं होता है। एक ही 'शब्द' चैत्र के द्वारा भिन्न प्रकार से उच्चरित होता है, जबकि मैत्र के द्वारा भिन्न प्रकार से उच्चरित होता है। शब्द के इसी भेद के कारण चैत्र-मैत्रादि के व्यवहित होने पर भी शब्दभेद के आधार पर उनकी पहचान कर लेते है। यदि शब्द नित्य होता तो उनमें परस्पर भेद नहीं होना चाहिए परन्तु होता है। अतः नित्य पदार्थों से विपरीत धर्म वाला होने से शब्द के नित्यत्व का प्रतिषेध होता है।

शब्द के अनित्यत्व में हेतु प्रस्तुत करते हुये आचार्य पुनः कह रहे हैं-

अनित्यश्चायं कारणतः। (2.2.28)

यह शब्द कारण वाला होने से अनित्य है। नित्यपदार्थ कारणवाला नहीं होता है, जैसा कि चतुर्थ अध्याय में शास्त्रकार ने कहा है- **सदकारणवन्नित्यम्। (4.1.1)** जो सत् हो एवं अकारणवाला हो

अर्थात् जिसका कोई कारण न हो वह नित्य कहलाता है। शब्द, संयोग एवं विभागरूप कारणवाला है। भेरीदण्ड संयोग एवं कपड़े आदि के दो खण्डों का परस्पर विभागरूप कारण से शब्द की उत्पत्ति देखी जाती है। इस कारण से शब्द अनित्य सिद्ध होता है।

इस पर पूर्वपक्ष यह कह सकता है कि शब्द की उत्पत्ति में संयोग-विभाग कारण सिद्ध नहीं होता है, अपितु संयोग-विभाग शब्द की अभिव्यक्ति में कारण होता है। ऐसी आंशका होने पर सूत्रकार पुनः कहते हैं-

न चासिद्धं विकारात्। (2.1.29)

शब्द का कारणत्व असिद्ध नहीं है अर्थात् सिद्ध है, क्योंकि विकारवाला होने से ।

शब्द में विविध प्रकार के विकार अनुभव में आते हैं। यथा- तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर एवं मन्दतम आदि शब्दगत भेद प्रत्येक व्यक्ति को स्पष्ट प्रतीत होता है। शब्द में यह विविध विकार अथवा विलक्षणता उसके विभिन्न निमित्तकारणों पर आधारित है। उत्पत्ति के निमित्त जैसे होंगे। उन्ही के अनुकूल शब्द होगा। इसलिए शब्द की कारणवत्ता असिद्ध नहीं है, अर्थात् सिद्ध है। अतः कारणवाला होने से शब्द अनित्य सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष पुनः उसी बात पर दृढ़ है कि जिसको शब्द की उत्पत्ति में कारण माना जा रहा है, वह उसके अभिव्यक्ति में कारण है। जैसे घट के रूप की उपलब्धि में सूर्य अथवा दीपक का प्रकाश कारण तो है परन्तु रूप की उत्पत्ति में नहीं बल्कि अभिव्यक्ति में कारण है इसी प्रकार संयोग एवं विभाग को भी शब्द की अभिव्यक्ति में कारण क्यों न मान लिया जाये? उत्पत्ति में ही कारण मानने का इतना आग्रह क्यों? इस प्रकार की आशंका होने पर सूत्रकार स्वयं कहते है-

अभिव्यक्तौ दोषात्। (2.2.30)

संयोग-विभाग आदि को अभिव्यक्ति में कारण मानने से दोष होने से। तात्पर्य यह है कि शब्द अभिव्यक्तिकारणवाद में अनेक दोष है। यथा-

(क) जिस प्रकार अभिव्यक्ति स्थलों में अभिव्यंजक (प्रकाश) तथा अभिव्यंग्य (घटादिवस्तु) के साथ सम्पर्क रहता है तब तक अभिव्यंग्य की उपलब्धि होती है। परन्तु शब्द में ऐसा नहीं है, जब तक भेरी दण्ड का संयोग रहता है, तब तक शब्द की उपलब्धि नहीं होती है, बल्कि भेरी-दण्ड संयोग रहते हुये बीच में ही शब्द अनुपलब्ध हो जाता है। अतएव शब्द अभिव्यक्त नहीं होता है।

(ख) अभिव्यञ्जक (प्रकाश) एवं अभिव्यंग्य (वस्तु) के संयोग का अभाव हो जाने पर अभिव्यंग्य की अनुपलब्धि हो जाती हैं, परन्तु भेरी-दण्ड के संयोग का अभाव हो जाने पर भी दूरस्थ व्यक्ति को शब्द सुनाई देता है। इसलिए शब्द के विषय में अभिव्यक्ति का कथन दोषयुक्त है।

(ग) व्यंग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध में एक व्यञ्जक के समान रूप से उपस्थित रहने पर समस्त व्यङ्ग्य पदार्थ की उपलब्धि उसी एक व्यञ्जक से हो जाती है। परन्तु शब्द में ऐसा नहीं है, कि एक

ही भेरी-दण्ड संयोग से वहाँ रहे समस्त वाद्यों के शब्द प्रकट हो जाये। इसलिए शब्द के विषय में अभिव्यक्तिवाद दोषमुक्त नहीं है।

(घ) जहाँ व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव होता है वहाँ पर व्यङ्ग्य घटादि वस्तुओं का रूप एक दूसरे को अि. भभूत नहीं करता है। अर्थात् एक कक्ष में प्रकाशित सभी वस्तुओं का रूप अलग-अलग स्पष्ट रूप से दिखता है। वे वस्तुयें एक-दुसरे के रूप को दबाती नहीं, जबकि शब्दों में ऐसा नहीं होता है। तीव्र भेरी का शब्द मन्द तन्त्री के शब्द को दबा देता है। इससे स्पष्ट होता है कि शब्द अभिव्यक्तिवाद ठीक नहीं है। इस प्रकार अभिव्यक्तिवाद में अनेक दोष उपस्थापित किये जाते हैं। अतएव शब्द के संदर्भ में उत्पत्तिवाद ही दोषरहित सिद्धान्त है।

पूर्वोक्त शब्द के कारणता को स्पष्ट करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

संयोगाद् विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः। (2.2.31)

संयोग से, विभाग से और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है।

भेरी-दण्ड के संयोग से शब्द की उत्पत्ति प्रसिद्ध ही है। कतिपय स्थलों में विभाग से भी शब्द की उत्पत्ति होती है। यथा- जब बांसे, कपड़े आदि को फाड़ा जाता है, वहाँ पर विभाग द्वारा शब्द की उत्पत्ति होती है।

शब्द अपने उद्गमस्थल से दूरस्थ व्यक्ति के श्रोत्रेन्द्रिय को जब प्राप्त करता है तो उस मध्य में शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। इसे ही शब्दसन्तान कहा जाता है। पूर्ण शब्द अपने समानजातीय उत्तरशब्द को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार उत्तरशब्द अपने से उत्तरशब्द को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर शब्दसंतानक्रम से शब्द श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचता है। मध्य में भेरी-दण्ड आदि का संयोग सम्भव न होने से शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। इसलिए शब्द की उत्पत्ति में समानजातीय पूर्वशब्द भी कारण होता है। इस प्रकार शब्द की उत्पत्ति में तीन कारण है- (क) संयोग (ख) विभाग (ग) शब्द। फलतः कारण ावाला होने से शब्द अनित्य सिद्ध होता है।

शब्द के अनित्यत्व में अंतिम हेतु का कथन करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः। (2.2.32)

लय-नाश होने से भी शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है। **लयं गच्छति इति लिङ्गम्** इस व्युत्पत्ति से लिङ्ग का तात्पर्य 'नाश' से है।

पूर्वोक्त सूत्रों में कारणवाला होने से अनित्यत्व का प्रतिपादन किया गया। प्रस्तुत सूत्र में नाश होने से अनित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है। जिस-जिस वस्तु का नाश होता है वह अनित्य होती है। उच्चारण के पश्चात शब्द का भी नाश हो जाता है, इसलिए शब्द अनित्य है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष यह कहे कि लय अथवा नाश का तात्पर्य है कि शब्द अनभिव्यक्त हो गया है अर्थात् छिप गया है, इस कारण से सुनाई नहीं देता है। तब वैशेषिकाचार्यों का यह कहना है कि उस आवरण को बताना चाहिए जिससे शब्द छिपा हुआ है। इस प्रकार का कोई आवरण उपलब्ध न होने से शब्द का नाश होना ही सिद्ध होता है। यदि आवरण की विद्यमानता बिना किसी प्रमाण के स्वीकार करें तो ठीक ऐसे ही बिना किसी प्रमाण के शब्द की अनित्यता भी क्यों न मान लिया जाये? शब्द के अनित्यत्व में तो हेतु की अनिवार्यता है, परन्तु आवरण का अस्तित्व बिना किसी प्रमाण के सिद्ध कर देना यह सर्वथा अन्याय है। इस कारण से शब्द का नाश होना ही न्यायसंगत है तथा नाश होने से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है।

'काल' नामक द्रव्य का लक्षण

पञ्चमहाभूतों के लक्षण करने के पश्चात् छठा द्रव्य 'काल' का लक्षण करते हुये आचार्य इस प्रकार कहते हैं-

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमितिकाल लिङ्गानि। (2.2.6)

सूत्र के अन्त में इति शब्द ज्ञान के प्रकार का बोधक है। जो प्रत्येक पदों के साथ जुड़ता है। **यथा- अपरम् इति प्रत्ययः, युगपद् इति प्रत्ययः, चिरम् इति प्रत्यय', क्षिप्रम् इति प्रत्ययः काल लिङ्गानि इत्यर्थः।** सूत्र में **'अपरस्मिन् अपरम्'** पद से **परस्मिन् परम्** का भी ग्रहण हो जाता है। अर्थात् किसी व्यक्ति को अवधि मानकर बड़े व्यक्ति में परत्व (ज्येष्ठत्व) का ज्ञान, छोटे व्यक्ति में अपरत्व (कनिष्ठत्व) का ज्ञान, एक साथ का ज्ञान, विलम्ब का ज्ञान तथा शीघ्रता का ज्ञान काल का साधक लिङ्ग है।

प्रस्तुत सूत्र का अभिप्राय यह है कि अधिक सूर्य-क्रिया (सूर्य के प्रति पृथिवी की क्रिया) के अन्तर वाले बड़े व्यक्ति में छोटे व्यक्ति को अवधि मानकर कालिक परत्वगुण उत्पन्न होता है। यथा लक्ष्मण को अवधि मानकर राम में अधिक सूर्य-क्रिया का सम्बन्ध होने से 'परत्व' गुण की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार राम को अवधि मानकर लक्ष्मण में कम सूर्य-क्रिया का सम्बन्ध होने से 'अपरत्व' (कनिष्ठत्व) नामक गुण की उत्पत्ति होती है।

यहाँ पर उत्पन्न परत्वापरत्व नामक गुणों से काल लक्षित होता है। परत्व एवं अपरत्व का समवायिकारण राम-लक्ष्मणादि पिण्ड हुये परन्तु यह जिससे उत्पन्न होता है वह 'काल' है। अब विचारणीय यह है, कि वर्ष, मास, दिन, रात आदि व्यवहार सूर्यादि ग्रह सम्बन्धी गति के आधार पर गणना किया जाता हैं, परन्तु उन पिण्डों के साथ इस गति का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, जिनमें परत्व-अपरत्व गुणों की उत्पत्ति होती है। इसलिए किसी ऐसे द्रव्य को स्वीकार करना चाहिए जिसके आधार पर उस गति का कथन सम्भव हो। उस द्रव्य का सूर्य आदि गतिसम्बन्धी ग्रहों के साथ सम्बन्ध हो और उन पिण्डों के साथ भी जिनमें परत्व-अपरत्व गुण उत्पन्न होते

हैं। ऐसा 'काल' नामक द्रव्य स्वीकार किया जाता है, जिसका सूर्य आदि ग्रहों के साथ संयोग रहते हुए उन पिण्डों के साथ भी संयोग रहता है, जहां परत्वापरत्व उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार परत्व-अपरत्व की उत्पत्ति में सूर्यादि संयुक्त काल का पिण्ड के साथ संयोग असमवायिकरण होता है।

यह कार्य एक साथ हुआ, (युगपत् हुआ), ऐसा व्यवहार इस रूप में काल का लक्षण है कि अनेक क्रियाओं के सम्पन्न होने में समानता दिख रही है, वह समानता काल के आधार पर है। जितनी देर में यह कार्य हुआ, उतनी ही देर में दूसरा हो गया, दोनों के सम्पन्न होने में काल की समानता में 'युगपत' व्यवहार होता है और जहां पर असमानता हो वहां 'चिर' और 'क्षिप्र' व्यवहार होता है। जहां देर हो वहां 'चिर' तथा जहां देर न हो अर्थात् जल्दी हो, वहां 'क्षिप्र' का व्यवहार होता है। यह जल्दी एवं देर का व्यवहार काल पर आधारित है। इसप्रकार परत्व, अपरत्व, चिर, क्षिप्र इत्यादि को व्यवहार का हेतु भूत द्रव्य का नाम 'काल' है। परत्वादि का निमित्त कारण काल होता है न कि समवायिकारण।

अब काल जिन गुणों का समवायिकारण है, उन गुणों का कथन भाष्यकार के द्वारा किया जा रहा है-

तस्य गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः। (प्रश.भा.)

संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग ये पांच गुण काल के होते हैं।

पूर्वोक्त युगपदादि प्रत्ययों का सर्वत्र एक समान प्रतीत होने से काल में 'एकत्व' संख्या की सिद्धि होती है। प्रधानरूपेण काल में 'एकत्व' संख्या होती है जबकि व्यावहारिक दृष्टि से काल में नानात्व का गौणरूप से उपचार किया जाता है। कार्यमात्र का समानरूप से निमित्त कारण होने से काल में परममहत्वपरिमाण की सिद्धि होती है।

व्यवहार की दृष्टि से काल के भेद

व्यावहारिक दृष्टिकोण से काल के निम्न भेद होते हैं। यथा-

क्षणलवनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्तयामाहोरात्रार्धमासमासर्त्ववयनसंवत्सरयुगकल्पमन्वन्तरप्रलय-महाप्रलयव्यवहारहेतुः। (प्रश.भा.)

1 क्षण - सूक्ष्म परमाणु को पलटने में जितना समय लगता है, उसको 'क्षण' कहते हैं यह काल की सबसे सूक्ष्मतम इकाई है।

2 लव - दो झण के बराबर एक 'लव' होता है।

3 निमेष - आँख के पलकों को गिरने में जितना समय लगता है, उतने समय को निमेष कहते है।

4 काष्ठ - 18 निमेष के बराबर एक काष्ठा होती है। अर्थात् 18 बार पलक को गिरने में जितना

समय लगाता है, उतने समय को 'काष्ठा' कहते है।

5 कला - 30 काष्ठा के बराबर एक कला होती है।

6 मुहुर्त - दो घड़ी का एक मुहूर्त होता है। एक घड़ी में वर्तमान चौबीस मिनट होता है। इस प्रकार वर्तमान 48 मिनट का एक मुहूर्त होता है।

7 याम - याम को प्रहर भी कहते है। 3 घंटे का एक प्रहर या 'याम' होता है।

8 आहोरात्र - आठ प्रहर / याम के बराबर एक आहोरात्र होता है। अर्थात् 24 घंटे (दिन-रात) को मिलाकर एक आहोरात्र कहा जाता है।

9 अर्धमास - अर्धमास को पक्ष भी कहते है। यथा- कृष्णपक्ष, शुक्लपक्ष। 15 दिन का एक अर्धमास या पक्ष होता है।

10 मास (महीना) - 30 दिन का एक महीना होता है। यथा- चैत्र, वैशाख इत्यादि।

11 ऋतु - दो मास की एक ऋतु होती है। यथा- बसन्तऋतु, गीष्मऋतु इत्यादि।

12 अयन - तीन ऋतुओं अथवा छः मासों को मिलाकर एक अयन होता है। यथा- उत्तरायण, दक्षिण ाायन।

13 संवत्सर - दो अयन को मिलाकर एक संवत्सर होता है। इसे वर्ष भी कहा जाता है। अर्थात् 1 वर्ष = 1 संवत्सर।

14 युग - कृतादि (सत्युगादि) 'युग' कहलाते है। इसके चार भेद है- (1) सतयुग (2) त्रेता (3) द्वापर (4) कलयुग। इसमें से कलयुग का काल **चार लाख बत्तीस हजार वर्ष (432000)** का होता है। इसका दो गुणा द्वापर, तीन गुणा त्रेता एवं चार गुणा सतयुग (कृतयुग) होता है।

15 कल्प - चारो युगों को मिलाकर एक कल्प होता है। 4320000 वर्षो का एक चतुर्युगी अर्थात् कल्प होता है।

16 मन्वन्तर - स्वायंभुव आदि चौदह मन्वन्तर होते हैं। 71 चतुर्युगी के बराबर एक मन्वन्तर होता है।

17 प्रलय - 14 मन्वन्तर का एक खण्डप्रलय होता है। जिसे ब्रह्म का दिवस भी कहते है। इसमें पृथिवी लोक का नाश हो जाता है।

18 महाप्रलय - ब्रह्ममान के अनुसार ब्रह्मा के सौ वर्ष को महाप्रलय कहते है। अर्थात् 36000 ब्रह्म दिवस = महाप्रलय। इतने समय में छत्तीस हजार बार भूलोक की सृष्टि एवं प्रलय हो जाती है अथवा एकमहाप्रलय में ब्रह्मलोक पर्यन्त लोको का नाश हो जाता है।

काल का द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व

महर्षि कणाद काल के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व में पूर्वकथित हेतुओं का स्मरण कराते हुये इस प्रकार कहते हैं-

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। (2.2.7)

जिस प्रकार अन्यद्रव्य समवायिकारण वाला न होने से तथा क्रिया एवं गुण का आश्रय होने से वायु के परमाणु में द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि की गई है, उसी से काल के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व का भी व्याख्यान हो जाता है।

काल का भी अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से, संख्यादि पांच गुणों का समवायसम्बन्धेन आश्रय होने से और क्रियामात्र का निमित्तकारण होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व सिद्ध होता है। काल क्रिया का समवायिकारण नहीं होता है बल्कि निमित्तकारण होता है। जैसा कि सूत्रकार कहते है-

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति। (2.2.9)

(आत्मादि) नित्यपदार्थों में अभाव होने से तथा अनित्य (घटादि) पदार्थों में होने से, उत्पत्ति होने वाले सम्पूर्ण कार्यों के कारण में 'काल' यह संज्ञा कही जाती है।

नित्य आकाश, आत्मा, परमाणु इत्यादि द्रव्यों में यह ज्येष्ठ है, यह कनिष्ठ है। यह एक साथ उत्पन्न हुआ, यह देर से उत्पन्न हुआ, यह शीघ्र उत्पन्न हुआ इत्यादि प्रतीतियों को अभाव होने से तथा कार्य घटादि द्रव्यों में यह नया है, यह पुराना है, ये दोनों एक साथ उत्पन्न हुये, यह देर से उत्पन्न हुआ, यह शीघ्र उत्पन्न हुआ इत्यादि प्रतीतियों के देखें जाने से कार्यमात्र के कारण में 'काल' यह नाम प्रयुक्त किया गया है।

उपरोक्त व्यवहार प्रत्येक कार्य में आवश्यकरूप से देखा जाता है। कार्य की उत्पत्ति बिना क्रिया के सम्भव नहीं है। अत: जिस प्रकार कार्यमात्र का निमित्तकारण काल उसी प्रकार क्रियामात्र का भी निमित्तकारण काल को समझना चाहिए।

काल के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व के सिद्धि के पश्चात् सूत्रकार उसके एकत्व का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं-

तत्त्वं भावेन। (2.2.8)

काल का एकहोना सत्ता जाति से समझ लेना चाहिए। पूर्वसूत्र से वचनविपर्यास के साथ 'व्याख्याते' पद की इस सूत्र में अनुवृत्ति है। तब सूत्र होगा- **तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्।** अर्थात् सत्ता जाति के एकत्व से काल के एकत्व का भी व्याख्यान हो गया। जिस प्रकार द्रव्यादि समस्त पदार्थों में 'सत् है, सत् है' की प्रतीति एकसमान होने से तथा भेदबोधक प्रमाणों का अभाव होने से सत्ता जाति

के एकत्व की सिद्धि होती है, ठीक उसी प्रकार परत्व, अपरत्व, युगपद्, चिर, क्षिप्र इत्यादि प्रत्ययों का सर्वत्र एक समान प्रतीत होने से तथा भेदबोधक प्रमाणों का अभाव होने से काल का एकत्व सिद्ध होता है। साथ ही साथ **'कारणे कालाख्येति'** इस सूत्र वचन से काल का विभुत्व भी सिद्ध होता है।

दिशा नामक द्रव्य का लक्षण

काल के वर्णन के पश्चात वैशेषिककार क्रमप्राप्त 'दिशा' नामक सप्तम द्रव्य का वर्णन करते हुये उसके लक्षण सूत्र का प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं–

इत इदमिति यतस्तद् दिश्यं लिङ्गम्। (2.2.10)

यहाँ से यह (दूर है, समीप है) इस प्रकार का व्यवहार जिससे होता है वह दिशा का अनुमापक लिङ्ग है। **'दिश इदम् दिश्यं दिगनुमापकं लिङ्गम्'** दिशा नामक द्रव्य का अनुमापक लिङ्ग को दिश्य **'दिश्यं लिङ्गम्'** कहा गया। अर्थात् **दिगनुमापकं लिङ्गं दिश्यं लिङ्गम्** यहाँ पर **'दिश्यं'** पद **'लिङ्गं'** का विशेषण है। **'इतः इदम् इति प्रत्यय'** जिस द्रव्य के निमित्त से होता है, उस द्रव्य का नाम दिशा है। अतः प्रस्तुत सूत्र में **'इतः इदम् इति'** प्रत्यय दिशा का अनुमापक लिङ्ग है।

लोक में जिस को 'दूर' और नजदीक शब्द से कहा जाता है, उसी को यहाँ वैशेषिकशास्त्र में 'पर' और 'अपर' पद से कहा जाता है। जिस प्रकार कालकृत परत्व अपरत्व में बड़ा-छोटा अथवा ज्येष्ठ-कनिष्ठ का व्यवहार होता है, उसी प्रकार दिक्कृत परत्व-अपरत्व में दूर-नजदीक (समीप) का व्यवहार होता है।

किसी एक पदार्थ को अवधि मानकर इसकी अपेक्षा वह दूर है और यह समीप है इस प्रकार क्रमशः दोनों पदार्थों में परत्व एवं अपरत्व होता है। इस परत्व एवं अपरत्व का समवायिकारण स्वयं वे वस्तुएं होती हैं। असमवायिकारण पर विचार करे तो यह पाते है कि जो भी असमवायिकारण हो वह परत्व एवं अपरत्व के अधिकरण से सम्बन्ध रखता हुआ विद्यमान रहे, अन्यथा उसका कारण होना सम्भव नहीं होगा। अतः किसी ऐसे पदार्थ को स्वीकार करना पड़ेगा जिसका सम्बन्ध परत्व एवं अप. रत्व के अधिकरर्णों के साथ हो। इसप्रकार उस पदार्थ का उन परत्वापरत्वों के अधिकरणों के साथ जो 'संयोग' होगा वही असमवायिकारण होगा। वह पदार्थ 'दिक्' अथवा 'दिशा' नाम से कहा जाता है।

इससे यह दूर है, यह समीप है इत्यादि प्रत्यय में दिशानामक द्रव्य की उस वस्तु से अधिक संयुक्त संयोग एवं न्यून संयुक्त संयोग ही कारण है। जिसमें 'परत्व' है उसमें अधिक दिक् प्रदेश का सम्बन्ध है तथा जिसमें अपरत्व है उसमें न्यून दिक् प्रदेश का संयोग है। इसप्रकार 'इतः इदम इति' प्रत्यय का जो निमित्तकारण है वही दिशा नामक द्रव्य है। दिशा नामक द्रव्य के गुणों का उल्लेख करते हुये भाष्यकार कहते है– **तस्यास्तु गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागः कालवदेते सिद्धाः। (प्रश. भा.)** अर्थात् काल के समान दिशा के भी पाँच गुण– संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग सिद्ध है। दिशा में 'एकत्व' संख्या है, तथा परममहत् परिमाण है। यह भी काल की भाँति ही सिद्ध है। दिशा में नानात्व का कथन व्यावहारिक है, जिसका वर्णन आगे किया जा रहा है।

दिशा का द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व

दिशा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि में वैशेषिककार अपने प्रसिद्ध उन्हीं हेतुओं को पुनः आवृत्तिपूर्वक स्मरण कराते हैं–

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। (2.2.11)

जिस प्रकार पूर्व में वायु के परमाणु के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि करते हुये महर्षि ने कहा था कि वायु के परमाणु का अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से तथा क्रिया और गुणवाला होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व सिद्ध होता है। ठीक उसी प्रकार वायु के व्याख्यान के द्वारा दिशा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व का भी व्याख्यान समझ लेना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि 'दिशा' नामक द्रव्य का अन्य कोई समवायिकारण न होने से तथा गुणवाला होने से तथा क्रियामात्र के प्रति निमित्तकारण होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व सिद्ध होता है।

दिशा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व के वर्णन के पश्चात् अब उसके एकत्व का वर्णन किया जा रहा है। इस विषय में सूत्रवचन इस प्रकार है–

तत्वं भावेन। (2.2.12)

दिशा का एक होना सत्ता जाति के द्वारा व्याख्यात समझ लेना चाहिए। इस सूत्र में भी पूर्व सूत्र से वचन विपर्यास के साथ 'व्याख्याते' पद की अनुवृत्ति है। तब सूत्र होता है– **तत्वं भावेन व्याख्यातम्।** अर्थात् जिस प्रकार द्रव्य-गुण-कर्म में 'सत् है-सत् है' की प्रतीति सर्वत्र एकसमान होने से तथा भेदबोधक प्रमाण का अभाव होने से सत्ता का एकत्व सिद्ध होता है। ठीक उसी प्रकार सर्वत्र 'इतः इदम् इति' प्रत्यय का एक समान होने से अर्थात् परत्व-अपरत्व का एक समान ही बोध होता है। सर्वत्र परत्व एवं अपरत्व का एकसमान बोध होने से तथा इसमें भेदबोधक प्रमाणों का अभाव होने से दिशा का 'एकत्व' सिद्ध होता है।

दिशा का व्यावहारिक नानात्व

दिशा वस्तुतः एक की है फिर भी सूर्यादि ग्रहों की विभिन्न स्थितियों के आधार पर व्यवहार के लिए नाना दिशाओं की कल्पना की गई है। वैशेषिकाचार्य दिशाओं के काल्पनिक नानात्व में हेतु का प्रदर्शन करते हुये कहते हैं–

कार्यविशेषेण नानात्वम्। (2.2.13)

कार्य भेद से दिशाओं का नानात्व स्वीकृत है।

सूत्रोक्त इस कार्यभेद को समझाते हुये पुनः आचार्य कहते हैं–

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची। (2.2.14)

सूर्य के संयोग से (दिशाओं में नानात्व होता है जैसे) पहले सूर्य का संयोग जिधर हुआ था, भविष्य में जिस ओर प्रथम सूर्य का संयोग होगा तथा वर्तमान में जिस ओर सूर्य का प्रथम संयोग हो रहा है, उस दिशा का नाम 'प्राची' अर्थात् पूर्व दिशा है।

प्रस्तुत सूत्र में 'भूतात्' पद का भूत शब्द उदित होकर 'वर्तमान' इस अर्थ में है, ऐसा अर्थ न करने पर 'भूतपूर्वाद्' पद का अर्थ अतीत होने पर पुनरुक्ति दोष की आपत्ति होगी। सूत्र में तीनों कालों का निद्रेश देशभेद की समझाना चाहिए। यथा– पूर्वकाल में जहाँ प्रथम आदित्य का संयोग हुआ था, इसमें आगे समय में आदित्य का प्रथम संयोग होगा तथा वर्तमान में जिस जगह पर जिस दिशा में आदित्य का प्रथम संयोग है उस दिशा का नाम 'प्राची' है। यह सुना ही जाता है कि भारत के पूर्वोत्तर राज्यों में सबसे पहले ही सूर्योदय हो जाता है। मध्यभारत में उसकी अपेक्षा बाद में होता है तथा पश्चिम भारत में उससे भी बाद में होता है।

व्यक्ति चाहे जिस किसी भी देश में क्यों न हो रात्री व्यतीत होने के पश्चात जिस दिशा में सर्वप्रथम आदित्य का संयोग होता है उस दिशा का नाम 'प्राची' होगा। इसलिए 'प्राची' का लक्षण है– **'प्राक् यस्यां दिशि सविता अञ्चतीति प्राची'।** प्राची दिशा के अतिरिक्त अन्य दिशाओं में भी हेतु देते हुये आचार्य कहते हैं–

तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च। (2.2.15)

उसी प्रकार दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा एवं उत्तर दिशा के विषय में भी समझना चाहिए। पूर्वसूत्र में 'प्राची' पूर्वदिशा का व्याख्यान हो गया है, ठीक इसके विपरीत जिस ओर सूर्य ढ़लता है उस दिशा का ना प्रतीची है। जिसका लक्षण है–

'प्रत्यग अञ्चति यस्यां दिशि सा प्रतीची'

अर्थात् उदय की दिशा से ठीक विपरीत जिस दिशा में सूर्य जाता है वह दिशा 'प्रतीची' पश्चिम कहलाती है।

जब कोई व्यक्ति सुबह सुर्योदय के समय सूर्याभिमुख होकर सूर्यनमस्कार करता है उस समय उसका मुख 'प्राची' दिशा की ओर होता है। उसके ठीक विपरीत दिशा पीठ की ओर पश्चिम दिशा होती है। दाएं (दक्षिण) हाथ की ओर सम्बद्ध दिशा का नाम दक्षिण दिशा तथा इसी प्रकार वामहस्त से सम्बन्धित दिशा का नाम उत्तर दिशा है।

इन चार दिशाओं के वर्णन के अनन्तर महर्षि इनके अन्तर्गत आने वाली अन्य दिशओं का भी वर्णन करते हैं। यथा–

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि। (2.2.16)

इस (प्राची आदि चार दिशाओं के) वर्णने से उन दिशाओं के अन्तराल अर्थात् मध्य की अन्य अवान्तर दिशाओं का भी व्याख्यान समझ लेना चाहिए। यथा–

पूर्व एवं दक्षिण की मध्य की दिशा - आग्नेयी

दक्षिण एवं पश्चिम की मध्य की दिशा - नैर्ऋति

पश्चिम एवं उत्तर की मध्य की दिशा - वायवी

उत्तर एवं पूर्व की मध्य की दिशा - ऐशानी

अधः (नीचे) एवं ऊर्ध्व (उपर) नामक दिशा की भी कल्पना की गई है। वस्तुतः दिशा एक ही होती है। केवल कार्यभेद (व्यवहारभेद) से दस दिशाओं का औपचारिक भेद किया गया है।

इन दस दिशाओं का विभिन्न देवताओं से अधिष्ठित होने के कारण (जिन्हें दिक्पाल भी कहा जाता है) दसविध संज्ञा महर्षियों ने श्रुति एवं स्मृतियों के द्वारा किया है। यथा- (1) माहेन्द्री (इन्द्र से अधिष्ठित पूर्व की दिशा)। इस दिशा के दिक्पाल इन्द्र है, इन्द्र का एक दूसरा नाम महेन्द्र भी है, इसलिए 'माहेन्द्री' कहा है। (2) वैश्वानरी/आग्नेयी (अग्निदेव से अधिष्ठित पूर्व-दक्षिण की मध्य की दिशा) (3) याम्या (यम की पश्चिम दिशा) (4) नैर्ऋति (नैर्ऋत राक्षस की दखिण-पश्चिम मध्य की दिशा) (5) वारूणी (वरूण की उत्तर की दिशा) (6) वायव्या (वायुदेव की पश्चिम-उत्तर की मध्य की दिशा) (7) कौबेरी (कुबेर की दक्षिण दिशा) (8) ऐशानी (ईशान की पूर्व-उत्तर की मध्य की दिशा) (9) ब्राह्मी (ब्रह्मा की उपर की दिशा) (10) नागी (नागों की नीचे की दिशा)

इस प्रकार विभिन्न चेतन देवों से अधिष्ठित होने से इनकी दस प्रकार की संज्ञा महर्षियों ने की है। वस्तुतः दिशा एक ही होती है परन्तु कार्यभेद के द्वारा दस भवान्तर भेद गौण रूप से सिद्ध होते हैं।

आत्मतत्त्व की सिद्धि में हेतु

आत्मतत्व की सिद्धि से पूर्व हेतु एवं हेत्वाभासों का वर्णन कर दिया गया है ताकि सद्हेतुपूर्वक आत्मतत्व के निश्चय में कोई भ्रम-प्रमादादि का अवकाश न हो। आत्मा की परीक्षा के लिए सूत्रकार अपेक्षित भूमिका का आरम्भ करते हुये कहते हैं-

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः। (3.1.1)

इन्द्रियों के अर्थ प्रसिद्ध (व्यवस्थित) है। सूत्रकार का आशय यह है कि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियों के विषय व्यवस्थित है। यथा- चक्षु का विषय रूप, घ्राण का विषय गन्ध, रसना (जिह्वा) का विषय रस, त्वचा का विषय स्पर्श एवं श्रोत्र का विषय शब्द। इस इन्द्रिय एवं विषय के व्यवस्था का कभी अतिक्रमण नहीं देखा जाता है। कभी ऐसा नहीं होता है कि चक्षु की अनुपस्थिति में घ्राणादि के द्वारा रूप का ग्रहण हो जाएं। अथवा घ्राण की अनुपस्थिति में चक्षुरादि से गन्ध का ग्रहण हो जाये। प्रत्येक इन्द्रियाँ अपने नियत विषय का ही ग्रहण करती है। आँख केवल रूप का ही ग्रहण करेगा, रसादि का नहीं। इसी प्रकार से अन्य इन्द्रियों में भी समझ लेना चाहिए।

अब प्रस्तुत इन्द्रियार्थ प्रसिद्धि का आत्मा की सिद्धि में उपयोग दिखाते हुये आचार्य कहते हैं-

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः। (3.1.2)

इन्द्रियों के अर्थों की नियतव्यवस्था (प्रसिद्धि) इन्द्रिय एवं उसके अर्थों से भिन्न (आत्मा) अर्थ को सिद्ध करने में हेतु है।

आशय यह है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने केवल नियत विषयों को ही ग्रहण करती है। परन्तु अनुभव में यह आता है कि 'कल मैंने जिसको देखा था, उसी को मै आज छू रहा हूँ' इसप्रकार के अनुभव में द्रष्टा एवं स्प्रष्टा कोई एक प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों में 'मैं' समान रूप से अन्वित है। दर्शन क्रिया का करण (साधन) चक्षु है तथा स्पर्शन क्रिया का करण त्वचा है। दोनों करण भिन्न-भिन्न है- यह प्रत्यक्ष से ही स्पष्ट है। परन्तु उपरोक्त अनुभूति में 'मैं' नामक कोई तत्त्व पृथक् से भास रहा है। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने नियत विषयों का ग्रहण करने से 'नियतविषयग्राही' है। जबकि एक तत्व ऐसा अनुभव में आता है जो 'अनियतविषयग्राही' है। अर्थात् वह सभी विषयों को समान रूप से ग्रहण करता है। में देख रहा हूँ, छू रहा हूँ, चख रहा हूँ, सुन रहा हूँ, सूंघ रहा हूँ इत्यादि अनुभवों में सर्वत्र 'मैं-मैं' अनुगत होने से वह एक तत्व 'सर्वविषयग्राही' के रूप में प्रत्यात्मवेदनीय (अपने आप अनुभव में आने वाला) है।

इससे पता चलता है कि की इन्द्रियों से भिन्न आत्मा का अस्तित्व है। उपरोक्त सूत्र में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जन्य ज्ञान के आधार पर तथा स्मृति (प्रत्यभिक्षा) इन दो के आधार पर आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की गई है।

(क) इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान के आधार पर

प्रत्येक इन्द्रियों का स्व-स्व विषयों के सन्निकर्ष से जन्य जो रूपादि का 'ज्ञान' होता है वह इन्द्रियों एवं अर्थों से भिन्न का ही गुण सिद्ध होता है। क्योंकि 'ज्ञान' गुण है, वह किसी न किसी द्रव्य के आश्रय से अवश्य होगा। अब विचार का विषय यह है कि ज्ञान आखिर में किसका गुण है। वह किसी न किसी द्रव्य के आश्रय से अवश्य होगा। अब विचार का विषय यह है कि ज्ञान आखिर में किसका गुण है? इन्द्रियों का? अर्थों का? या फिर किसी अन्य का? प्रथम दो पर विचार करते है तो घट-पटादि के नाश हो जाने पर भी उसका ज्ञान देखा जात है। गुण, द्रव्य के बिना रह नहीं सकता। यदि ज्ञानगुण का आश्रय द्रव्य घट-पटादि होते तो घट के नष्ट हो जाने पर ज्ञान का भी नाश हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं है। इसका तात्पर्य है कि ज्ञान घट-पटादि अर्थो का गुण नहीं है।

तब यह क्यों न मान लिया जाये कि ज्ञान इन्द्रियों का गुण है। क्योंकि इन्द्रियों के होने पर रूपादि का ज्ञान होता है, तथा उनके न होने पर रूपादि का ज्ञान भी नहीं होता है। अतः जिसके होने पर जो होता है और जिसके नहीं होने पर जो नहीं होता है वही उसका आश्रय होता है। ऐसे में रूपादि ज्ञानों का आश्रय चक्षुरादि इन्द्रियां ही है।

उपरोक्त कथन का खण्डन करते हुये वैशेषिकाचार्यों का कहना है कि इन्द्रियों का गुण भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि दुर्भाग्य से चक्षुरादि इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी रूपादि का स्मरण होता है।

कालान्तर में अन्धा हुआ व्यक्ति को भी रूप का स्मृत्यात्मक ज्ञान होता है। स्वप्न में आँख के बन्द हो जाने पर रूप का ज्ञान सबको होता ही है। अतः ज्ञान गुण इन्द्रियों का नहीं है। अपितु इनसे भिन्न किसी अन्य द्रव्य का है। वह आत्मा नामक द्रव्य ही हो सकता है।

(ख) प्रत्यभिज्ञा के आधार पर

प्रत्यभिज्ञा अर्थात् पूर्वानुभव की अनुस्मृति से भी इन्द्रियार्थों से भिन्न आत्मा की सिद्धि होती है। अभिप्राय यह है कि आँखों से पीले आम को देखकर मधुर रस की स्मृति हो जाती है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में रूप का ग्राहक इन्द्रिय चक्षु तथा रस का ग्राहक इन्द्रिय रसना है। दोनों भिन्न-भिन्न है। परस्पर इनका समन्वय-सामञ्जस्य भी नहीं देखा जाता। यदि ऐसा होता तो कदाचित् जिह्वा के न रहने पर आँखों से मधुरादि रसो का ग्रहण हो जाता परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसका मतलब यह है कि ये दोनों इन्द्रियां भिन्न-भिन्न है। परस्पर में इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी आँख से देखकर रस का ज्ञान कैसे सम्भव है? आँख से रूप का ज्ञान तो सम्भव है, क्योंकि रूप आँख का नियत विषय है। परन्तु रस का ज्ञान कैसे? इसी प्रकार नाक से सुंघकर खट्टे-मीठे रसों का भी ज्ञान हो जाता है। नाक गन्ध का ज्ञान तो करा सकती है, क्योंकि वह उसका नियत विषय है, परन्तु रस का ज्ञान नासिका से कैसे सम्भव है? परस्पर में इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध भी दृष्टिगोचरित नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि अवश्य इन इन्द्रियों से भिन्न कोई तत्त्व है जो भिन्न इन्द्रियों के विषयों का अनुसन्धानपूर्वक स्मरण कराता है। इन्द्रियों से भिन्न उस आत्मतत्व को माने बिना उपरोक्त प्रकार के स्मरण का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं है। इसलिए इस प्रत्यभिज्ञा के बल पर भी इन्द्रियादि से भिन्न आत्मतत्त्व की सिद्धि होती है।

उपरोक्त दोनों प्रकारों में 'इन्द्रियार्थप्रसिद्धि' नामक हेतु ही आत्मा की सिद्धि में मूलाधार है। अतएव सूत्र की इस हेतु की निर्दोषता का कथन करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्। (3.1.18)

आत्मा-इन्द्रिय-अर्थ के सन्निकर्ष से जो (ज्ञान) उत्पन्न होता है, वह (हेत्वाभासों से) अन्य है। अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (इन्द्रियार्थ प्रसिद्धि) रूप हेतु आत्मा की सिद्धि में निर्दोष हेतु (सद्हेतु) हैं जो कि असन् एवं सन्दिग्ध नामक हेत्वाभासों से भिन्न है।

देहादि से भिन्न आत्मा की सिद्धि में विभिन्न साधक लिङ्गों का वर्णन

केवल इन्द्रियार्थप्रसिद्धि के आधार पर ही आत्मा के भिन्नत्व की सिद्धि नहीं है बल्कि इसके अतिरिक्त और भी विभिन्न आत्मा के साधक लिङ्ग है जिसके आधार पर आत्मा के भिन्नत्व की सिद्धि होती है। सूत्रकार ने उसका वर्णन इस प्रकार से किया है-

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि। (3.2.4)

प्राण तथा अपान वायु (श्वास-प्रश्वास) की क्रिया, नेत्रों को बन्दकरना-खोलना, बढ़ना-घटना

रूप जीवन, मन की गति, एक इन्द्रिय के विषय ग्रहण से दूसरे इन्द्रिय में विकार का होना, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, एवं प्रयत्न - ये बारह और भी आत्मा के साधक लिङ्ग है, जिससे आत्मा की देहादि से भिन्नत्व की सिद्धि होती है।

इनका क्रमशः व्याख्यान निम्न-प्रकार से किया जा रहा है-

प्राण-अपान- भौतिक वायु की स्वाभाविक गति तिर्यक्-तिरछा होती है। परन्तु शरीर में प्राण-अपान के द्वारा उसकी गति व्यवस्थित रूप से उर्ध्व एवं अधः देखी जाती है। वायु की इस प्रकार व्यवस्थितगति का नियंत्रक कोई चेतन आत्मा सिद्ध होता है। जैसे लुहार की धौंकनी में नियमित रूप से वायु का आना-जाना चेतन लुहार के प्रेरणा से होती हो। वैसे ही शरीर में जड़ भौतिकवायु से भिन्न कोई चिंतन तत्त्व सिद्ध होता है। वह आत्मा ही है।

निमेषोन्मेष (निमेष-उन्मेष)- आँख के पलकों के गिरने को 'निमेष' तथा खुलने को 'उन्मेष' कहते हैं। शरीर सहित इसके सारे अंङ्ग अचेतन (जड़) है। उस जड़ आँख की पलकों का नियमित बन्द होना एवं खुलना किसी चेतन प्रेरणा के सम्पर्क के बिना सम्भव नहीं है। जैसे अचेतन बच्चों के खिलौने (गुड़िया आदि) में उसके आँखों के पलको का नियमित बन्द होना एवं खुलना बच्चे रूपी चेतन की प्रेरणा से होता है यदि बच्चा उसे प्रेरित न करें तो उसके पलको की नियमित गति सम्भव नहीं है। इसी प्रकार शरीर में नियमित रूप से 'निमेषोन्मेष' की क्रिया से पता चलता है कि इसका प्रेरयिता कोई चेतन अवश्य होगा और वह आत्मा ही सिद्ध होता है।

जीवन- शरीर का क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होना, शरीर में क्षत-संरोहण एवं भग्न-संरोहण होना, साजात्य प्रजनन होना इत्यादि जीवन का लक्षण है। वस्तुतः शरीर जड़ है यह मृतक शरीर को देखकर स्पष्टरूप से कोई भी जान सकता है। जड़-शरीर का बढ़ना यह बिना किसी चेतन की प्रेरणा से सम्भव नहीं है। जैसे किसी मकान को बढ़ते हुये देखकर हम यह नहीं कह सकते कि यह स्वतः अपने आप बढ़ रहा है अपितु चेतन के सम्पर्क से ही बढ़ रहा है। ऐसे की शरीर की वृद्धि आदि को देखकर चेतन आत्मा का अनुमान हो जाता है।

इसी प्रकार शरीर के खाल का छिल जाने से या कहीं थोड़ा बहुत क्षत-विक्षत हो जाने पर वहाँ पर कुछ दिन में पुनः नये खाल का जाना तथा क्षत-संरोहण होने से चेतन आत्मा का अनुमान होता है। जैसे किसी मकान को टूटे-फूटे देखने के पश्चात कुछ दिन बाद पुनः उसे ठीक अवस्था में देखने से उस घर के स्वामी का अनुमान हो जाता है कि बिना उसके स्वामी का घर अपने-आप स्वतः ठीक नहीं हो सकता। इसी प्रकार इस देह रूपी मकान का निवासी भी कोई चेतन आत्मा है जो इसकी मरम्मत करते रहता है।

मनोगति (मन की गति)- मन की गति से कभी चेतन आत्मा का अनुमान होता है। चञ्चल मन को प्रणिधानपूर्वक इन्द्रिय विशेष में लगाने रूपी क्रिया बिना आत्मा के प्रेरणा के सम्भव नहीं है।

यह सबके अनुभव में आता है कि 'मेरा मन चञ्चल है', परन्तु उस चञ्चल मन को खींच-खांचकर

अपने अभीष्ट की सिद्धि देखी जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मन को भी खींचकर अन्यत्र लगाने वाला कोई तत्व अनुभव में आता है, जो मन को भी खींचकर ध्यानादि क्रियाओं को सम्पादित करता है। वह आत्मा ही है।

इन्द्रियान्तर विकार- चक्षु से आम के पीले रूप को देखकर मुंह में (जिह्वा में) पानी का आना इन्द्रियान्तर विकार है। अर्थात् एक इन्द्रिय के विषयग्रहण से दूसरे इन्द्रियों का सक्रिय होना इन्द्रियान्तर विकार कहलाता है। चक्षु का जिह्वा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों इन्द्रियां भिन्न-भिन्न है। ऐसे में दोनो इन्द्रियो के बीच ताल-मेल बिठाने वाला कोई चेतन तत्त्व अवश्य ही है जो इन सभी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान अपने पास रखता है। उसी पूर्वानुभूत ज्ञान के आधार पर स्मृति करता है तथा उसी से इन्द्रियान्तर विकार होता है। इस प्रकार इन्द्रियान्तर विकार से भी चेतनतत्व की सिद्धि होती है।

सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न- सुखादि गुण है, और गुण द्रव्याश्रित होते है। बिना द्रव्य के गुण नहीं हो सकते है। पृथिव्यादि आठों द्रव्यों में से सुखादिगुण किसी भी द्रव्य में नहीं देखे जाते है। पूर्व में 'ज्ञान' को आत्मा का गुण सिद्ध कर दिया गया है। जहाँ-जहाँ सुखादि होते हैं, वहाँ-वहाँ ज्ञान भी देखा जाता है। इसलिए ये सभी एकार्थसमवेत होते है। अर्थात् जो सुखादि का अधिकरण होगा वही ज्ञान का भी अधिकरण होगा। ज्ञान का अधिकरण आत्मा गत प्रसंगों से सिद्ध हो चुका है। अतएव सुखादि का अधि करण भी आत्मा ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार सुख-दुःखादि के आधार पर भी आत्मा की सिद्धि होती है। एतावता उपरोक्त बारह साधक क्रियाओं से आत्मा का अस्तित्व देहादि से भिन्न वैशेषिक दर्शन के अनुसार सिद्ध होता है।

आत्मा के द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं नानात्व की सिद्धि

वैशेषिककार आत्मा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि में अपने उन्हीं प्रसिद्ध हेतुओं का स्मरण कराते हुये कहते हैं-

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। (3.2.5)

उस आत्मा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व को वायु के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व के व्याख्यान से समझ लेना चाहिए।

जिस प्रकार से वायु के परमाणु का अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से तथा क्रिया एवं गुण का आश्रय होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व सिद्ध होता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा के कोई अन्य द्रव्य समवायिकारण वाला न होने से तथा ज्ञानादि गुणों का आश्रय होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि होती है।

आत्मा के नानात्व के प्रतिपादन में वैशेषिककार दो हेतु देते हैं। जिनमें से प्रथम इस प्रकार है-

व्यावस्थातो नाना। (3.2.20)

अर्थात् जन्मादि की व्यवस्था से आत्मा के नानात्व की सिद्धि होती है।

एक ही समय में किसी का जन्म हो रहा है, उसी समय किसी की मृत्यु हो रही है। एक ही समय में कोई सुखी है तो कोई दुःखी। कोई धर्माचरण में रत है तो कोई अधर्माचरण में। आत्मा अखण्ड रूप से एक ही होती तो एक के जन्म लेने से सबका जन्म होता, एक की मृत्यु हो जाने से सबकी मृत्यु होती, एक के सुखी होने पर सब सुखी तथा एक के दुःखी होने पर सब दुःखी हो जाते। इसी प्रकार एक के अधर्म में लिप्त होने से सभी अधर्म में लिप्त हो जाते। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे पता चलता है कि प्रत्येक शरीर में उपरोक्त व्यवस्थाओं का नियामक भिन्न-भिन्न आत्मा है। अन्यथा कर्मसांकर्य, ज्ञानसांकर्य इत्यादि दोषों की आपत्ति का प्रसङ्ग आयेगा। आत्मा नानात्व में दूसरे हेतु का प्रतिपादन करते हुये वैशेषिककार कहते है-

शास्त्रसामर्थ्याच्च। (3.2.21)

अर्थात् शास्त्र के सामर्थ्य से (प्रमाण से) भी आत्मा के नानात्व की सिद्धि होती है। प्रस्तुत सूत्र में शास्त्र का तात्पर्य 'वेद' से है। जैसा की वेदों में कहा है-

इमे जीवा वि मृतैः। (ऋ.10.18.3)

वयं जीवा जीवपुत्राः। (ऋ.10.36.9)

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। (यजु-11.5)

ये समानाः समनसो जीवाः। (यजु.19.46)

इत्यादि मन्त्रों मैं 'जीवाः' बहुवचनान्त पद जीवों के बहुत्व को सिद्ध करता है।

शरीर के पाञ्चभौतिकत्व एवं त्रिभौतिकत्व का निषेध

अब स्थूलशरीर के मूलकारण का विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रत्येक कार्यद्रव्य अपने नियत उपादानकारण के संयोग से उत्पन्न होता है। शरीर भी एक कार्यद्रव्य है, तो इसका मूल उपादान कारण क्या है? ऐसा प्रश्न उठने पर कतिपय लोगों का कहना है कि शरीर पाञ्चभौतिक है। जैसा कि न्यायसूत्र में भी इस प्रसङ्ग को उठाया गया है-

गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम्। (न्या. 3.1.30)

गन्ध, क्लेद (आर्द्रता), उष्णता, व्यूह (श्वास, रक्तादि की गति रूप व्यूह), रिक्त स्थान रूप अवकाश देने से शरीर में पाँचों भूतों का सहयोग होने से पाञ्चभौतिक सिद्ध होता है। लोक में भी यह

कहा जाता है कि 'अमुख व्यक्ति का शरीर पञ्चभूतों में विलीन हो गया' इत्यादि। इस प्रकार शरीर का पाञ्चभौतिकत्व सिद्ध होता है। प्रस्तुत पूर्वपक्ष का निषेध करते हुये वैशेषिककार कहते हैं-

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते। (4.2.2)

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष पदार्थ के संयोग का अप्रत्यक्ष होने से शरीर पञ्चात्मक नहीं है। प्रस्तुत सूत्र में 'शरीरम्' पद की पूर्ति कर लेनी चाहिए।

पांचों भूतों में से तीन भूत (पृथिवी, जल, तेज) प्रत्यक्ष हैं तथा शेष दो भूत (वायु व आकाश) अप्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष पदार्थ का संयोग भी अप्रत्यक्ष ही होता है। जैसे प्रत्यक्ष पेड़ एवं अप्रत्यक्ष वायु का संयोग दृष्टिगोचरित नहीं होता है। किसी भी कार्यद्रव्य की उत्पत्ति उनके अवयवों के संयोग से ही होती है। कोई भी व्यक्ति उस कार्यद्रव्य के अवयवों के संयोग को देख सकता है। यदि शरीर को पांचों भूतों के अवयवों के संयोग से उत्पन्न माने अर्थात् शरीर के मूल उपादानकारण यदि पञ्चभूतों को स्वीकार करें तो इनके अवयवों के परस्पर संयोग का प्रत्यक्ष न होने से उनसे उत्पन्न शरीर का भी प्रत्यक्ष नहीं होना है; क्योंकि पांचों में से तीन प्रत्यक्ष एवं दो अप्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष का संयोग भी अप्रत्यक्ष होने से शरीर भी अप्रत्यक्ष होने लगेगा। परन्तु शरीर प्रत्यक्ष दिखता है। इसलिए इसे पञ्चभूतों से उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता अर्थात् शरीर का मूलउपादान कारण पञ्चभूत को नहीं माना जा सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि पञ्चभूतों को कारण नहीं मान सकते तो तीन भूतों (पृथिवी, जल, तेज) को कारण मानना ही पड़ेगा; क्योंकि इन तीनों भूतों का प्रत्यक्ष होता है और ये प्रत्यक्ष होने से इनका संयोग भी प्रत्यक्ष होगा। इसलिए शरीर को त्रिभौतिक मानने पर उसके अप्रत्यक्ष होने का दोष भी प्राप्त नहीं होगा। इसलिए शरीर त्रिभौतिक सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष के इस प्रकार कहने पर आचार्य निषेध करते हुये कहते हैं-

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम्। (4.2.3)

अन्य गुणों का प्रादुर्भाव न होने से शरीर त्रिभौतिक भी सिद्ध नहीं होता।

यह बात पूर्व में ही कही जा चुकी है कि कार्यद्रव्य में गुणों की उत्पत्ति कारणगुणपूर्वक होती है। कारण का जो गुण होगा वही कार्य में देखा जाता है। यदि शरीर का कारण पृथिवी, जल एवं तेज इन तीनों को माना जाये तो सभी द्रव्यों का गुण कार्य में होना चाहिए; परन्तु पृथिवी को छोड़कर शेष द्रव्यों के गुणों का प्रादुर्भाव शरीर में नहीं देखा जाता है। शरीर में जो रूप, रस, गन्ध स्पर्श देखा जाता है, वह पृथिवी का ही देखा जाता है। यदि जल एवं तेज भी उपादान कारण होते तो जल का रूप अभास्वरशुक्ल तथा तेज का रूप भास्वर शुक्ल दोनों की प्रतीति शरीर में होनी चाहिए और साथ में पृथिवी के रूप भी प्रतीत होने ही चाहिए। ऐसे में तीनों द्रव्यों के गुणों की प्रतीति शरीर में होनी चाहिए; लेकिन पृथिवी को छोड़कर शेष दोनों के गुणों का प्रादुर्भाव न होने से शरीर त्रिभौतिक भी नहीं है।

अर्थात् एक भौतिक पार्थिव है। वैशेषिकोक्त इसी हेतु का आश्रय लेते हुए न्यायकार ने भी कहा है-

पर्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः । (न्या. 3.1.27)

अर्थात् शरीर में पृथिवी के विशेषगुण (गन्धादि) की उपलब्धि होने से पार्थिव है। सांख्यकार ने भी शरीर को केवल एकभूत से उत्पन्न होने से पार्थिव ही स्वीकार किया है। यथा-

सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात् तद्व्यपदेशः पूर्ववत् । (सां० 5.112)

सभी प्रकार के शरीरों का उपादान एकमात्र पृथिवीभूत ही है; क्योंकि शरीरोत्पत्ति में वही एकमात्र असाधारणकारण है। तब शरीर को पाञ्चभौतिक क्यों कहा जाता है? इसका समाधान करते हुये सांख्यकार कहते हैं कि पाञ्चभौतिकत्व का व्यवहार पूर्व के समान गौण समझना चाहिए। अर्थात् जैसे सांख्य की दृष्टिकोण से इन्द्रियाँ आहंकारिक होते हुये भी उनको भौतिक कह दिया जाता है, ऐसे ही अन्य चार भूत सहयोगी होने के कारण शरीर को गौणरूप से पाञ्चभौतिक कह दिया जाता है। समग्र तत्त्वों (मूल उपादान तत्त्व एवं सहयोगी तत्त्वों) की दृष्टिकोण से शरीर का 'पाञ्चभौतिक' कथन होता है तथा मूल उपादान की दृष्टिकोण से 'पार्थिव' कथन होता है।

शरीर के 'पार्थिव' कहने पर कोई यह न समझ ले कि इनमें अन्य भूतों का सहयोग भी वैशेषिककार स्वीकार नहीं करते। इसलिए आगे सूत्रकार ने स्वयं इसको स्पष्ट करते हुये कहा है-

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः । (4.2.4)

विजातीय अणुओं के संयोग का तो प्रतिषेध नहीं है। अर्थात् परस्पर पृथिवी आदि आकाश पर्यन्त भूतों का उपष्टम्भक (विधारक) रूप से संयोग का निषेध वैशेषिककार नहीं करते हैं। किन्तु विजातीय दो परमाणुओं के संयोग का द्रव्यरूप कार्य की उत्पत्ति में असमवायिकारण का निषेध करते हैं। ऐसा होने से जलादि परमाणुओं के संयोग के सहायकमात्र होने से शरीर में क्लेद, पाकादि रूप गुणों का शरीर में ग्रहण हो जाता है। अतएव शरीर का एकभौतिकत्व (पार्थिव) सिद्ध होता है। इसी कारण से लोक में सुना जाता है कि अमुक मृतक के पार्थिव शरीर को लाया गया इत्यादि।

शरीर के भेद

पृथिव्यादि चार द्रव्यों के कार्यो का निरूपण के प्रसङ्ग में शरीर के भेदों का वर्णन हो चुका है; फिर भी शरीर के भेदों का एकत्रित वर्णन की भावना से पुनः व्याख्यान किया जा रहा है। महर्षि कणाद शरीर के भेद का व्याख्यान करते हुये कहते हैं-

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च। (4.2.5)

पार्थिव, जलीय, तैजस एवं वायव्य इन चार प्रकार के शरीरों में पार्थिव शरीर दो प्रकार का होता है। (क) योनिज (ख) अयोनिज। वरूण, आदित्य एवं वायुलोक में जलीय, तैजस, वायवीय अयोनिज

शरीर शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है। माता-पिता के रज-वीर्य से निरपेक्ष धर्मादि निमित्तों से युक्त परमाणुओं से उत्पन्न शरीर 'अयोनिज' कहलाता है।

(क) योनिज शरीर-माता-पिता के रज-वीर्य की अपेक्षा से गर्भपूर्वक उत्पन्न शरीर योनिज कहलाता है।

यह भी दो प्रकार का होता है-

(I) जरायुज (II) अण्डज ।

(I) जरायुज- माँ के गर्भ से पतली पारदर्शी झिल्ली (जरायु) से लिपटा हुआ उत्पन्न होने वाले शरीर को जरायुज कहते हैं। मनुष्य, ग्राम्यपशु, अरण्यपशु आदिकों का शरीर जरायु (जेर) से उत्पन्न होने से जरायुज है; क्योंकि गर्भ का स्थान जरायु (मांस की पतली पोटली) होती है।

(II) अण्डज-अण्डे से उत्पन्न होने वाले शरीर को 'अण्डज' कहते हैं। पक्षी, सरीसृप (सरक कर चलने वाले) सर्प आदिकों का शरीर अण्डे से उत्पन्न होता है, चारों तरफ सरकने का स्वभाव होने से सर्प, कीट (कीड़े), मत्स्य (मछली) आदि सरीसृप ही कहलाते हैं।

'उद्भिज' (वृक्ष, वनस्पति आदि) नामक तीसरा शरीर का वर्णन भी शास्त्रों में प्राप्त होता है; परन्तु मनुष्यादि शरीरों की भांति उनमें सुखादि का अत्यन्त स्पष्ट न होने से प्रायः उनमें 'शरीर' शब्द का व्यवहार लोक में नहीं देखा जाता है। इस कारण से उद्भिज नामक तीसरा विभाग वैशेषिककार ने नहीं' किया।

(ख) अयोनिज शरीर-माता-पिता के रज-वीर्य से निरपेक्ष धर्मादि निमित्तों से केवल परमाणुओं से उत्पन्न शरीर को अयोनिज शरीर कहते हैं। देवताओं का ऋषियों का शरीर अयोनिज शास्त्रों में सुना ही जाता है- **ब्राह्मणों मानसा मन्वादयः** अर्थात् मनु आदि ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं।

अयोनिज शरीर पर किसी को विश्वास नहीं और पूछे कि बिना कारण के कार्य कैसे सम्भव है? अर्थात् शरीर मात्र में योनि कारण है- ऐसा नियम है। तब उसको कहना चाहिए कि शरीर मात्र में योनि ही कारण है ऐसा नियम नहीं है। ऊष्मा से उत्पन्न मशक (मच्छर), कृमि, डाँस इत्यादिकों का शरीर योनि के बिना भी देखे जाते हैं। इसलिए अयोनिज शरीर की उत्पत्ति निर्मूल नहीं है; अथवा यह कोई कोरी कल्पना नहीं है।

अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में हेतु

माता-पिता के शुक्र-शोणित निरपेक्ष अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में कारणों का उल्लेख करते हुये निम्न सूत्रों का प्रतिपादन करते हैं-

अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात्। (4.2.6)

अनियतदिग्देशपूर्वक अयोनिज शरीर की उत्पत्ति हो जाती है। **"अनियतदिग्देशाः परमाणवः"** परमाणु नियतदिग्देश वाले नहीं होते हैं। अतः सूत्र में **'अनियतदिग्देश'** पद 'परमाणु' अर्थ में आया है। सूत्रार्थ

हुआ- अनियतदिग्देशपरमाणुपूर्वक अयोनिज शरीर की उत्पत्ति होती है।

पृथिवी आदि के परमाणुओं का कोई नियतदिग्देश नहीं होता है, अर्थात् वे सर्वत्र आकाश में बिखरे रहते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वे दृष्टि में नहीं आते हैं। परमात्मा अथवा सिद्धयोगियों के संकल्प से उन परमाणुओं के संघात से शरीर का निर्माण हो जाता है। इसलिए अकारण शून्य से (छू-मन्त्र से) शरीर की उत्पत्ति की कल्पना शास्त्रों में नहीं है। वे भी सृष्टिनियमों (भौतिक विज्ञान आदि के नियमों) के अनुकूल ही होता है। परन्तु इस प्रकार के शरीर की उत्पत्ति में ऐश्वर्यवान् दिव्य पुरुष ही समर्थ होते हैं।

उपरोक्त प्रकार के परमाणुओं से उत्पन्न शरीर एक जैसा होना चाहिए, चाहे वह देवताओं का अयोनिज शरीर हो चाहे ऋषियों का हो अथवा तुच्छ कृमियों का ही क्यों न हो? क्योंकि सबकी उत्पत्ति तो परमाणुपूर्वक ही है। इस प्रकार की आशंका होने पर सूत्रकार कहते हैं-

धर्मविशेषाच्च। (4.2.7)

प्रस्तुत सूत्र में 'धर्म विशेष' पद 'अधर्म विशेष' का भी उपलक्षण है। अर्थात् धर्माधर्म विशेष से शरीर में अन्तर आता है। धर्मादि में तारतम्यता होने पर देव व ऋषियों के शरीर में भेद हो जाता है तथा अधर्मादि की तारतम्यता से कृमि आदि के शरीर में अन्तर हो जाता है। जिस प्रकार एक ही माता-पिता से समान आहार आदि के होने पर भी सन्तानों में भेद धर्मादि के निमित्त से हो जाता है। ऐसे ही अयोनिज शरीरों में भी समझना चाहिए। यहाँ शरीरभेदों का नियामक 'धर्माधर्म' रूप अदृष्ट ही है।

इस प्रकार के अयोनिज शरीर में एक और हेतु का प्रतिपादन कर रहे हैं-

समाख्याभावाच्च। (4.2.8)

'समाख्या' अर्थात् 'अन्वर्थासंज्ञा' की प्रसिद्धि शास्त्रों में होने से भी अयोनिज शरीर की सिद्धि हो जाती है। यथा-ब्रह्मा के मन से उत्पन्न होने से 'मनु' कहलाये, अहंकार से उत्पन्न होने से 'अंगिरा' नाम हुआ। इसी प्रकार उरूभाग से उत्पन्न होने से उत्पन्न होने से 'और्व' नामक ऋषि की उत्पत्ति हुई। नारायण के उरूभाग से ऊर्वशी इत्यादि अन्वर्था संज्ञा इतिहास-पुराणादि ग्रन्थों में प्रसिद्ध है।

इसी विषय में एक अन्य हेतु का उपन्यास करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

संज्ञाया आदित्वात्। (4.2.9)

संज्ञा के आदि होने से भी अयोनिजशरीर की सिद्धि होती है। अर्थात् सृष्टि के आदि में प्रथम उत्पन्न हुई संज्ञा 'ब्रह्मा' है, उससे अयोनिज शरीर देवता तथा ऋषियों की उत्पत्ति है। क्योंकि ब्रह्मा के माता-पिता का श्रवण न होने से वे 'आदिपुरुष' सिद्ध होते हैं। उनसे पहले कोई उनके माता-पिता नहीं थे जिन्होंने 'ब्रह्मा' ऐसा अपने पुत्र का नाम दिया हो। इसलिए 'ब्रह्मा' इत्यादि संज्ञायें 'आदि' वाली होने से अयोनिजशरीर की सिद्धि होती हैं।

इस तथ्य की दृढ़ता की भावना से अंतिम हेतु का उपदेश करते हुये आचार्य कहते हैं-

वेदलिङ्गाच्च। (4.2.11)

वेद प्रमाण होने से भी अयोनिज शरीरों की सिद्धि होती है।

प्रस्तुत विषय में वेद प्रमाण है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

(यजु. 31)

प्रस्तुत वेद मन्त्र में मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य एवं पैर से शूद्र की उत्पत्ति का वर्णन है। अतएव सर्ग के आरम्भ में चारों वर्णों की उत्पत्ति अयोनिज ही हुई है।

अतएव उपरोक्त प्रमाणों के बल पर सिद्ध होता है कि "अयोनिज शरीर होते हैं" इसी का उपस. ंहार करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

सन्त्ययोनिजाः। (4.2.10)

अर्थात् उपरोक्त प्रमाणों से 'अयोनिज शरीर' होते हैं यह सिद्ध होता है।

शुचि एवं अशुचि भोजन

शिष्य जिज्ञासा करता है, कि ऐसी कौनसी अन्य स्थितियाँ हैं, जब शुचि उपभोग से भी अभ्युदय नहीं होता। आचार्य सूत्रकार इसका समाधान करते हैं-

अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते, नियमा-

भावाद् विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद् यमस्य ॥ (6.2.8)

अयतस्य = [यमों का पालन न करने वाले व्यक्ति का]

शुचिभोजनात् = [पवित्र उपभोगों से भी]

अभ्युदय = [कल्याण]

न = [नहीं]

विद्यते = [होता है]

नियमाभावात् = [नियमों के अभाव में भी]

विद्यते = [अभ्युदय होता है]

वा = [अथवा]

अर्थान्तरत्वात् = [भिन्न प्रयोजन वाला होने से]

यमस्य = [यमों के]

यम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनका नित्य पालन करना चाहिये। शुचि उपभोग यमों का पालन करने वाले व्यक्ति के लिये अभ्युदय के जनक होते हैं, किन्तु जो व्यक्ति अहिंसादि यमों का, व्रतों का पालन नहीं करता, उसके लिये पवित्र उपभोग भी कल्याणकारी नहीं होते। अथवा जो व्यक्ति नियमों का पालन करता है, किन्तु यमों का नहीं करता, उसके लिये भी शुचि साधनों के उपभोग से कल्याण नहीं हो सकता, क्योंकि मनुस्मृति में बताया–

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।

यमान् पतत्य कुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ [मनु–४/२०]

अर्थात् यमों का सेवन नित्य करें, केवल नियमों का नहीं, क्योंकि यमों को न करता हुआ केवल नियमों का सेवन करता है, वह भी अपने मार्ग से पतित हो जाता है, अर्थात् संसार में घिरा रहता है।

अतः यमों का सेवन करते हुये नियमों का भी नित्य सेवन करना चाहिये।

सूत्रकार इस विषय को और दृढ़ करते हुये कहते हैं–

असति चाभावात् । (6.2.9)

पूर्व सूत्र से 'अयतस्य' और अभ्युदयो न विद्यते की अनुवृत्ति आ रही है, तब सूत्र होगा अयतस्य असति चाभावात् अभ्युदयो न विद्यते।

धर्म के दो साधन बताये है– 1. उपभोग के साधनों का पवित्र होना और 2. यमसंज्ञक अहिंसादि व्रतों का पालन करना। यदि इन दोनों में कोई एक नहीं रहता तो उससे जन्य अभ्युदय भी नहीं होता। दोनों के अनुष्ठान और उनसे जन्य अभ्युदय रूप फल भिन्न–भिन्न हैं। जो जिस प्रकार का अनुष्ठान होगा, वैसा ही फल भी प्राप्त होगा।

यमों के बिना शुद्ध भोजनादि सम्भव नहीं है, इसलिये भी पूर्व सूत्र के समान यमों के आचरण के बिना कल्याण सम्भव नहीं है।

शुचि व अशुचि द्रव्य

महर्षि शुचि [पवित्र] द्रव्य का लक्षण कहते हैं –

यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्श प्रोक्षितमभ्युक्षिंत च तच्छुचि ॥ (6.2.5)

यत् = [जो] द्रव्य

इष्टरूपरसगन्ध स्पर्शम् = [इष्ट] शास्त्र से विहित रूप, रसादि गुण होता है।

जो द्रव्य शास्त्र विहित मन को प्रिय लगने वाले रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाला है, मन्त्रोच्चारणपूर्वक जल से शुद्ध किया गया है, अथवा न्यायपूर्वक अपनी गाढ़ी कमाई से पसीने से खींचकर कमाया गया है, अथवा बिना मन्त्रोच्चारण के ही शुद्ध किया गया है, वह पवित्र समझना चाहिये।

मन्त्र भी है - पिङ्गाक्ष्या एकाहन्य श्वेतं छवागलमालभेत अशुचि द्रव्य का स्वरूपः-

अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ॥ (6.2.6)

जो पवित्र का प्रतिषेध अर्थात उल्टा हो! जो द्रव्य अभीष्ट रूप, रस आदि से रहित, दुर्गन्ध, मलिनता आदि से युक्त तथा अन्यायपूर्वक प्राप्त है, वह 'अशुचि' अर्थात् अपवित्र द्रव्य कहलाता है।

अर्थान्तरं च ॥ (6.2.7)

अर्थान्तरम् = [अन्य अर्थ]।

च = [भी] अशुचि माना जाता है

'अशुचि' का अर्थ केवल 'शुचि' का अभाव ही नही, अपितु इससे भिन्न भी है।

जिसका रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तो अविकृत है, परन्तु तिरस्कार, अपमान व अन्याय आदि भावदोषों से युक्त है, तो वह भी अशुचि ही कहलायेगा। ऐसा भोजनादि भी उपभोक्ता को अभ्युदय और सन्तोष प्रदान करने वाला नही होता और अलग-अलग आश्रम व्यवस्था के अनुसार भी शास्त्रों में अन्नादि उपभोग्य द्रव्यों की विशेषता बतायी है। अतः जो उपभोग्य जिस आश्रम में विहित है, उसका उपभोग न कर, उससे विपरीत अन्य द्रव्यों का सेवन भी अशुचि ही माना जाता है। जैसे - ब्रह्मचर्याश्रम में अधिक तिक्त, कषाय, मधुरादि का आहार एवं उपाहनआदि धारण का निषेध किया गया है किन्तु फिर भी कोई ब्रह्मचारी इनका उपभोग करता है, तो वह अपवित्र है। वैस ही वानप्रस्थी व संन्यासी कन्दमूल, फल व भिक्षादि से प्राप्त सात्विक आहार का तथा साधारण सौम्य आदि शास्त्र विहित वेष का परित्याग कर यदि गृहस्थ के समान उत्तेजक आहार व वेशभूषा का उपभोग करते हैं, वह उनके लिए अशुचि है।

द्रव्यगुण से शुचि वह उपभोग साधन अशुचि समझना चाहिये जो तिरस्कार व अपमानपूर्वक प्राप्त हुआ हो। वह तिरस्कार चाहे वाणी द्वारा हुआ हो अथवा अन्यप्रकार से ऐसा उपभोग उपभोक्ता के लिये श्रेयस्कर नहीं होता।

॥ ओ३म् ॥

सञ्ज्ञासन्धिशब्दरूपम्

MSSAMN-204

दिव्य प्रकाशन

॥ ओ३म् ॥

एम.ए. संस्कृतम् पाठ्यक्रमस्य द्वितीयसत्रम्

चतुर्थपत्रम् - सञ्ज्ञासन्धिशब्दरूपम्

MSSAMN-204 Credit-4

उद्देश्य-

- अध्येताओं को व्याकरण के मूलभूत सिद्धन्तों से अवगत करना।
- अध्येताओं को व्याकरण के माध्यम से संस्कृत भाषा लेखन, पठन-पाठन में कुशल बनना।
- अध्येताओं को व्याकरण के माध्यम से व्यावसायिक कुशलता प्रदान करना।

परिणाम-

- अध्येता संस्कृत भाषा के व्याकरण के सिद्धान्तों में निपुण हो जाता है।
- विद्यार्थी व्याकरण के द्वारा भाषा के पठन-पाठन लेखन एवं सम्भाषण में कुशलता प्राप्त कर लेता है।
- अध्येता व्याकरण की रचनाशैली से भी अवगत हो जाता है।

खण्ड-1- संज्ञाप्रकरणमचसंधिप्रकरणञ्च **क्रेडिट-1**

इकाई-1.1 संज्ञाप्रकरणम् - हलन्त्यम्, अदर्शनं लोपः, तस्य लोपः, आदिरन्त्येन सहेता,

ऊकालोऽज्झस्वदीर्घप्लुतः, उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहार:स्वरितः, मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः, तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्, अणुदित् सवर्णस्यचाऽप्रत्ययः, परः सन्निकर्षः संहिता, हलोऽनन्तराः संयोगः, सु. प्तिङन्तं पदम्।

इकाई-1.2 अच्-संधिप्रकरणम् - इको यणचि, तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य, स्थानेऽन्तरतमः, अनचि च, झलां

जश् झशि, एचोऽयवायावः, यथासंख्यमनुदेशः समानाम्, आद् गुणः, वृद्धिरादेचि, वृद्धिरेचि, एङि पररूपम्, अकः सवर्णे दीर्घः, एङः पदान्तादति, अचो रहाभ्यां द्वे।

खण्ड-2 हल्सन्धिः-विसर्गसन्धिः-अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणञ्च **क्रेडिट-1**

इकाई-2.1 हल्सन्धिः-स्तोः श्चुना श्चुः, ष्टुना ष्टुः, झलां जशोऽन्ते, यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा, तोर्लि, झरो झरि

सवर्णे, खरि च, झयो होऽन्यतरस्याम्, मोऽनुस्वारः नश्चापदान्तस्य झलि, अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः, खरवसानयोर्विसर्जनीयः ।

इकाई-2.2 विसर्गसन्धिः - विसर्जनीयस्य सः, वा शरि आदयः।

इकाई-2.3 अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् - राम, सर्व, हरि, सखि, गो।

खण्ड-3 अजन्तस्त्रीलिङ्गनपुसकलिङ्गप्रकरणं हलन्तपुल्लिङ्गप्रकरणञ्च **क्रेडिट-1**

इकाई-3.1 अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् - रमा, मति, गौरी, द्यो, नौ।

इकाई-3.2 अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम- ज्ञानम, मधु, धातृ ।

इकाई-3.3 हलन्तपुँल्लिङ्ग प्रकरणम्- लिग्, अनडुह्, किम्, इदम्, राजन्, पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन्, तद्, यद्, एतद्, युष्मद्, अस्मद्, महत्, भवत्, घृतस्पृश्, विद्वस, अदस्।

खण्ड-4 हलन्तस्त्रीलिङ्गनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् **क्रेडिट-1**

इकाई-4.1 हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् - उपानह् (जूता), किम् (कौन), इदम् (यह), त्यद् (वह), वाच् (वाणी), अप, दिश् (दिशा), दृश् (आँख), त्विष् (कान्ति), सजुष् (मित्र), आशिष् (आशीर्वाद), अदस।

इकाई-4.2 नपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

किम्, इदम्, अहन्, दण्डिन्, सुपथिन्, ऊर्ज् (तेज), तद्, गवञ्च, शकृत्, तुदत्

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
खण्ड-1 संज्ञाप्रकरणमचसंधिप्रकरणञ्च	**6-27**
इकाई-1.1 संज्ञाप्रकरणम्	6
इकाई-1.2 अच्-संधिप्रकरणम्	20
खण्ड-2 हल्सन्धिः-विसर्गसन्धिः-अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणञ्च	**28-57**
इकाई-2.1 हल्सन्धिः	28
इकाई-2.2 विसर्गसन्धिः	35
इकाई 3.3 हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्।	40
खण्ड-3 अजन्तस्त्रीलिङ्गनपुसकलिङ्गप्रकरणं हलन्तपुल्लिङ्गप्रकरणञ्च	**58-95**
इकाई-3.1 अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्।	58
इकाई 3.2 अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्	66
इकाई 3.3 हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्।	72
खण्ड- 4 हलन्तस्त्रीलिङ्गनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्	**96-110**
इकाई 4.1 हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्	96
इकाई 4.2 हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्	104-110

भूमिका

भारतीय समस्त प्रतन ऋषि, मुनि तथा आचार्य इस विषय में पूर्णतः सहमत हैं कि वेद अपौरुषेय तथा नित्य है। प्रतिकल्प के प्रारम्भ में परमात्मा, ऋषियों को आद्यन्त रहित नित्या वाग् = वेद ज्ञान देता है और वही वैदिक ज्ञान संपूर्ण लोक व्यवहार का कारण होता है।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

इसी दिव्या वाग् (देववाणी) का आचार्य इन्द्र द्वारा प्रकृतिप्रत्ययविभागरूपी संस्कार किया गया। अतः संस्कार द्वारा संस्कृत होने से देववाणी का अपर नाम संस्कृत हो गया।

इसी क्रम में आगे चलकर पाणिनि मुनि ने संस्कृत भाषा पर 'अष्टाध्यायी' नामक शब्दानुशासनशास्त्र का प्रवचन किया। कालक्रमानुसार अर्वाचीन काल में अष्टाध्यायी पर अनेक प्रक्रिया ग्रन्थों (सिद्धान्तकौमद्यादि) की रचना हुई।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं प्रक्रिया ग्रन्थों के मध्य से 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' के संज्ञा सन्धिशब्दरूपादि विषयों का व्याख्या सहित संकलन किया गया है। जिससे अध्येता सरलता से भाषा नियम एवं महत् शब्दौघ (=शब्दराशि) से अवगत हो जाये।

यतोहि लोक में ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है, जो शब्द के बिना हो सके। सम्पूर्ण ज्ञान शब्द से बिधा हुआ है।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते । वा० ब्रह्म० १२४

खण्ड–1

संज्ञाप्रकरणमचसंधिप्रकरणञ्च

उद्देश्य

- व्याकरण के मूलभूत सिद्धांतों और संज्ञा सूत्रों के स्वरूप को समझना।
- संस्कृत भाषा के शुद्ध लेखन और पठन पाठन में कुशलता प्राप्त करना।
- संज्ञाओं के माध्यम से व्याकरण की जटिल प्रक्रियाओं को सरल रूप में समझना।

परिणाम

- विद्यार्थी संज्ञा सूत्रों के प्रयोग से पदों की सिद्धि करने में निपुण हो सकेंगे।
- व्याकरण की वैज्ञानिक रचनाशैली और लाघव पद्धति का बोध होगा।
- संस्कृत वर्णमाला और उनके उच्चारण स्थानों का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त होगा।

इकाई–1.1 संज्ञाप्रकरणम्

माहेश्वरसूत्राणि

१. अइउण्। २. ऋलृक्। ३. एओङ्। ४. ऐऔच् । ५. हयवरट्। ६.लण्। ७. ञमङणनम्। ८. झभञ्। ९. घढधष् ।१०. जबगडदश्। ११. खफछठथचटतव्। १२. कपय् । १३. शषसर् ।१४.हल् ।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि । एषामन्त्या इतः। हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। लण्मध्ये त्वित् संज्ञकः ।

महेश्वर की कृपा से प्राप्त चौदह सूत्र अण् आदि प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए हैं। **एषामन्त्या इतः।** इनके अन्त्य वर्ण इत्संज्ञक हैं। जो अन्त में रहे उसे अन्त्य कहते हैं। **हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः।** हकार आदि में पठित अकार उच्चारण के लिए है। **लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः।** लण् इस छठे सूत्र में पठित अकार इत्संज्ञक है, उच्चारणार्थ नहीं।

विवरणः– अइउण् आदि चौदह सूत्र हैं, इसलिए इन्हें **चतुर्दशसूत्र** कहते हैं। इनसे प्रत्याहार बनाये जाते हैं, अतः इन्हें प्रत्याहारसूत्र भी कहते हैं। ये वेदतुल्य हैं, इसलिए **वर्णसमाम्नाय** भी कहते हैं। प्रत्येक सूत्र के अन्तिम अक्षरों को छोड़कर उच्चारण करने का भी अभ्यास कर लें । जैसे अ, इ, उ

। ऋ, लृ । ए, ओ । ऐ, औ । ह, य, व, र । ल । ञ, म, ङ, ण, न । झ, भ । घ, ढ़, द, ध। ज, ब, ग , ड, द । ख, फ, छ, ठ, थ, च, द, त । क, प। श, ष, स । ह ।

इस व्याकरण के रचयिता महर्षि पाणिनि हैं। कठोर साधना के बाद ईश्वरीय कृपा से उन्होंने व्याकरण के लिए सूत्र बनाये। पाणिनि के द्वारा रचित सूत्रों की संख्या लगभग ४००० हैं। सूत्रों की संख्या में मतभेद है, क्योंकि कहीं कहीं योगविभाग करके एक ही सूत्र को दो सूत्र भी माना गया है। अतः कई विद्वानों के मत में सूत्रों की संख्या केवल ३९६५ ही है तो कुछ लोग इससे ज्यादा मानते हैं। इन सूत्रों के साथ धातुपाठ में लगभग २००० धातुएँ हैं। पाणिनि जी ने सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन और उणादिकोश ये पाँच विषयों से पूर्ण व्याकरण बनाया था।

इन चौदह सूत्रों का प्रयोजन बता रहे हैं- **माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि।**

इन चौदह सूत्रों का प्रयोजन बता रहा है अणादि प्रत्याहारों की सिद्धि है। इनसे अण् आदि प्रत्याहार बनाये जाते हैं। प्रत्याहार बनाने की प्रक्रिया आगे बताएंगे।

हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। संस्कृत भाषा की वर्णमाला में जितने अक्षर हैं उनको दो भागों में बाँटा गया है- स्वर एवं व्यञ्जन। स्वर को अच् और व्यञ्जन को हल् कहते हैं। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ ये स्वर हैं तथा क, ख से लेकर ज्ञ तक के वर्ण व्यञ्जन हैं। ये व्यञ्जन अर्थात् हल् अक्षर क्, ख्, ग्, घ्, ङ् ऐसे न होकर क, ख, ग, घ, ङ ऐसे हैं। इनका ठीक तरह से उच्चारण हो, इसलिए इन वर्णो के बाद स्वर वर्ण लगाये जाते हैं।

इत्संज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम्

१. हलन्त्यम् १।३।३॥

उपदेशेऽन्त्यं हलित् स्यात् ।

उपदेश आद्योच्चारणम्। सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।

प. वि.- हल् प्रथमान्तम्, अन्त्यं प्रथमान्तम् ।

इस सूत्र में उपदेशेऽजनुनासिक इत् से उपदेश और इत् इन दो पदों की अनुवृत्ति आती है। अर्थ- उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् इत्संज्ञक होता है ।

इस सूत्र का कार्य है हल् अक्षरों की इत्संज्ञा करना। उपदेश अवस्था में विद्यमान हल् प्रत्याहार अर्थात् हल् वर्णों की इत्संज्ञा होती है। हम पहले भी बता चुके है कि इत् एक नाम है। इसके द्वारा उन हल् अक्षरों को इत् नाम से जाना जायेगा।

वाक्य के अर्थ को जानने के लिये वाक्य के प्रत्येक पदों का, प्रत्येक शब्दों का भी अर्थ जानना जरूरी है। इस सूत्र के अर्थ में उपदेशे, अन्त्यं, हल्, इत्, स्यात् ये पाँच पद हैं। अतः प्रत्येक का अर्थज्ञान जरूरी है।

उपदेश आद्योच्चारणम्। पाणिनि कात्यायन और पतञ्जलि के प्रथम उच्चारण को उपदेश कहते हैं अर्थात् पाणिनि, कात्यायन, एवं पतञ्जलि ने जिसका प्रथम उच्चारण या प्रथम पाठ किया उसे उपदेश नाम से जाना जाता है। यहाँ अइउण् आदि चौदह सूत्रों को आचार्य पाणिनि जी ने अपने व्याकरण के अंग के रूप में प्रथम बार उच्चारण किया। अतः ये चौदह सूत्र भी उपदेश कहलाये। उपदेश के सम्बन्ध में एक पद्य प्रचलित है।

धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्।

आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥

भू आदि धातु, अइउण् आदि सूत्र, उणादिसूत्र, वार्तिक, लिङ्गानुशासन, आगम, प्रत्यय और आदेश ये उपदेश माने जाते हैं।

अन्त में उच्चारित वर्ण अन्त्य कहलाते हैं। अतः अइउण् में ण् वर्ण अन्त्य है, ऋलृक् में क् वर्ण अन्त्य है इत्यादि ।

हलन्त्यम् सूत्र के द्वारा अनेक वर्णो की इत्संज्ञा की जाती है और इत्संज्ञा करके प्रत्याहारसिद्धि, उदात्तादि स्वर का विधान आदि अनेक कार्य करने के बाद उसका **'तस्य लोपः'** इस सूत्र से लोप किया जाता है।

पाणिनीय सूत्रों की विशेषता - **सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।** सूत्रों में अर्थ को पूरा करने के लिए जो पद कम हो, उसे आवश्यकतानुसार अन्य सूत्रों से ले लेना चाहिए। जैसे हलन्त्यम् इस सूत्र में उपदेशे और इत् ये दो पद पाणिनीयाष्टाध्यायी के क्रमानुसार इससे पहले के सूत्र **उपदेशेऽजनुनासिक** इत् से लाये गये हैं। इसी तरह सभी सूत्रों में समझना चाहिए। इस तरह सभी पद सभी सूत्रों में पढ़ने की जरूरत नहीं पड़ेगी किन्तु पूर्वसूत्र से आवश्यकता अनुसार ले लिया जाता है।

लोपसंज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम्

२. अदर्शनं लोपः १।१।६०॥

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् ।

प.वि.- अदर्शनं लोपः। न दर्शनम् अदर्शनम्, अदर्शनं प्रथमान्तं, लोपः प्रथमान्तं । **अर्थ** - (पहले) विद्यमान का (बाद में) अदर्शन होना = न सुना जाना लोपसंज्ञक (लोपसंज्ञा वाला) होता है। लोक में लोप का एक अर्थ नाश भी होता है किन्तु पाणिनीय व्याकरण-शास्त्र में लोप का अर्थ अदर्शन माना गया है। अदर्शन अर्थात् जो न दिखाई दे , जो न सुनाई पड़े।

वस्तुतः शब्द कभी दीखता नहीं है, अतः अदर्शन का अर्थ अश्रवण करना चाहिए। इसीलिए जो पहले सुनाई देता था और अब वह न सुनाई दे तो उसे लोप कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पहले से था किन्तु बाद में किसी सूत्र आदि के द्वारा लुप्त हो जाये तो वह न तो

कहीं दिखाई पड़ेगा और न ही वह सुनाई पड़ेगा। जो पहले से था उसी का ही लोप होता है, इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि पाणिनीय व्याकरण में किसी भी अक्षर या शब्द का विनाश नहीं होता। जहाँ-जहाँ भी लोप का विधान किया गया वहाँ-वहाँ अदर्शन मात्र समझना चाहिए। लोपविधायक विधिसूत्र आगे कहा जा रहा है ।

लोपविधायकं विधिसूत्रम्

३. तस्य लोपः १।३।९॥

तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोऽणाद्यर्थाः ।

प. वि.- तस्य लोपः। तस्य षष्ठ्यन्तं, लोपः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम् ।

अर्थ- उस इत्संज्ञक वर्ण का लोप होता है ।

तस्य इतः = उस इत्संज्ञक वर्ण का लोपः स्यात् लोप होवे। इस प्रकार से अइउण् में ण् की, ऋलृक् में क् आदि की हलन्त्यम् सूत्र के द्वारा इत्संज्ञा की गई थी, उनका इस सूत्र से लोप हो जाता है । इस प्रकार चौदह सूत्रों में अन्त्य वर्ण की इत्संज्ञा और उसके बाद लोप करके अइउ, ऋलृ, एओ, ऐऔ, हयवर, ल, ञमङणन, झभ, घढध, जबगडद, खफछठथचटत, कप, शषस, ह मात्र शेष बचते हैं। प्रत्याहारों में इन्हीं वर्णो का ग्रहण होगा, इत्संज्ञकवर्णो का नहीं।

प्रत्याहारसंज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम्

४. आदिरन्त्येन सहेता १।१।७१॥ अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। यथाऽणिति अइउवर्णानां संज्ञा। एवमच्हल्अलित्यादयः ।

प.वि.- आदिरन्त्येन सहेता। अन्ते भवः अन्त्यः आदिः प्रथमान्तम्, अन्त्येन तृतीयान्तं, सह अव्ययपदम्, इता तृतीयान्तम्।

इस सूत्र में किसी पद की अनुवृत्तिः नहीं है।

अर्थ- अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ उच्चारित आदि वर्ण मध्य के वर्णो का और अपना भी संज्ञा बोधक होता है।

आदिरन्त्येन सहेता यह सूत्र प्रत्याहार संज्ञा करता है। जैसे अण् प्रत्याहार, अक् प्रत्याहार, अच् प्रत्याहार, अल् प्रत्याहार, हल् प्रत्याहार आदि।

सूत्रार्थ विचार- अन्त्येन इता सहित आदिः अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ उच्चारित आदि वर्ण, जैसे अइउण् इस सूत्र में ण् की हलन्त्यम् इस सूत्र से इत्संज्ञा की गई थी। उसके साथ पढ़े गये वर्ण हैं अ, इ, उ, किन्तु इनमें आदि वर्ण है अ, वह आदि वर्ण, मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात् मध्य के इ, उ वर्णो का बोध कराता हुआ अर्थात् ग्रहण कराता हुआ स्वयं अपना अर्थात् अ का भी बोधक

होता है। इस तरह अण् कहने से अ, इ, उ इन तीन वर्णों का बोध हुआ। अब जहाँ भी अण् कहा जायेगा उससे अ, इ, उ इन तीन वर्णों का ग्रहण हुआ करेगा। यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि अइउण् में ण् भी है तो प्रत्याहार में उसका बोध या ग्रहण क्यों नहीं होता? आपको याद दिला दूँ कि ण् इस अन्त्य हल् वर्ण की **हलन्त्यम्** इस सूत्र से इत्संज्ञा और उसका **तस्य लोपः** इस सूत्र से लोप हो गया है, अर्थात् अदर्शन हो गया है। तात्पर्य यह है कि न सुनाई पड़े और उसका ग्रहण न हो सके, ऐसा हो गया है। इसीलिए अण् के ग्रहण में ण् का ग्रहण नहीं होता।

यथाऽणिति अइउवर्णानां संज्ञा। एवमच्हल्अलित्यादयः।जिस प्रकार से अण् से अ, इ, उ इन वर्णों का बोध हुआ, उसी प्रकार से अच्, हल्, अल् आदि प्रत्याहारों के द्वारा मध्यवर्ती वर्ण तथा आदि वर्ण का बोध होता है, ऐसा समझना चाहिए।

अच् प्रत्याहार की सिद्धिः-अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच् ऐसी स्थिति में सूत्र लगा **हलन्त्यम्।** उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् वर्ण की इत्संजा होती है। उपदेश अवस्था है- अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच् अन्त्य हल् वर्ण है- अइउण् का ण्, ऋलृक् का क्, एओङ् का ङ् और ऐऔच् का च् इन चारों हल् वर्णो की इत्संज्ञा इस सूत्र से हो गई अर्थात् उनका नाम इत् पड़ गया। इत्संज्ञा का फल प्रत्याहारसिद्धि है। अतः **तस्य लोपः** से पहले ही लोप हो जाय तो प्रत्याहार सिद्ध नहीं होंगे। इसलिए इसको बाधकर सूत्र लगा **आदिरन्त्येन सहेता।** इस सूत्र के बल से आदि वर्णो सहित बीच के अइउ, ऋलृ, एओ, ऐऔ इन नौ वर्णो का ही बोध या ग्रहण या श्रवण हो जाता है। इस प्रकार अच् प्रत्याहार की सिद्धि हो गई और अच् से या अच् प्रत्याहार से अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ इन नौ वर्णों का बोध हुआ। इसी प्रकार ४३ प्रत्याहारों की सिद्धि करना जानें। चौदह सूत्रों से प्रत्याहार तो सैकडों बन सकते हैं। किन्तु पाणिनीय व्याकरण में केवल ४३ प्रत्याहारों का व्यवहार हुआ है। इसलिये ४३ प्रत्याहारों की ही सिद्धि करनी है। कुछ वैयाकरणों का मत है कि प्रत्याहार केवल ४२ ही होते हैं।

प्रत्याहारसूत्रों के विषय में स्मरणीय कुछ बातें-

अच् प्रत्याहार में समस्त स्वर वर्ण आते हैं। ये चार सूत्रों से कहे गये हैं। हल् प्रत्याहार में समस्त व्यञ्जन वर्ण आते हैं। ये दस सूत्रों से कहे गये हैं। वर्गों के सभी पाँचवें वर्ण ञमङणनम् एक ही सूत्र और ञम् प्रत्याहार में आते हैं। वर्गों के चौथे वर्ण दो सूत्रों झभञ्, घढधष् में तथा झष् प्रत्याहार में आते हैं। वर्गों के तीसरे वर्ण जबगडदश् इस एक ही सूत्र में और जश् प्रत्याहार में आते हैं। वर्गों के दूसरे एवं पहले वर्ण खफछठथचटत०, कपय् इन दो सूत्रों में तथा खय् प्रत्याहार में आते हैं।

पाणिनीय व्याकरण में प्रयुक्त ४३ प्रत्याहारों में गृहीत वर्णों का क्रमः-

अण्	अ, इ, उ।
अक्	अ, इ, उ, ऋ. लृ ।
इक्	इ, उ, ऋ, लृ ।

उक्   उ, ऋ, लृ।

एङ्   ए. ओ।

इसी प्रकार एच्, ऐच्, अट्, अण्, यण्, अम्, यम्, ञम्, ङम् ,यञ्, झष्, भष्, अश्, हश्, वश्, जश्, झश्, वश् , छव्, यय्, मय्, झय्, खय् ,चय्, यर्, झर्, ,खर्, चर्, शर्, प्रत्याहारों को समझे।

ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-संज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम्

५. ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः। १।२।२७॥

उश्च ऊश्च उ३श्च वः, वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतसंज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा।

प. वि.- ऊकालः प्रथमान्तम्, अच् प्रथमान्तं, ह्रस्वदीर्घप्लुतः प्रथमान्तं ।

अर्थ- एक मात्रिक उकार, द्विमात्रिक ऊकार और त्रिमात्रिक उ३कार के उच्चारण काल के समान उच्चारण काल वाले अचों की क्रमशः ह्रस्वसंज्ञा, दीर्घसंज्ञा और प्लुतसंज्ञा होती है। **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः।** उश्च ऊश्च, ऊ३श्च वः (इतरेतरयोगद्वन्द्वः), वां काल ऊकालः, ऊकाल इव कालो यस्येति ऊकालः (बहुव्रीहिः) ह्रस्वश्च, दीर्घश्च, प्लुतश्च, तेषां समाहारद्वन्द्वः, ह्रस्वदीर्घप्लुतः। सौत्रं पुंस्त्वम्। समाहार द्वन्द्व होने के बाद नपुंसकलिङ्ग ही होना चाहिए, किन्तु सूत्र में पाणिनि ने कहीं-कहीं ऐसा नहीं किया है, **अतः समाहारेऽपि कवचित् पुंल्लिगो भवति। इति ज्ञाप्यते।**

उश्च ऊश्च उ३श्च वः। एकमात्रिक उ और द्विमात्रिक ऊ एवं तीनमात्रिक उ३ का **चार्थे द्व न्द्वः** से इतरेतरयोगद्वन्द्व समास करके प्रातिपदिकसंज्ञा, विभक्तिलोप, परस्पर में सवर्णदीर्घ करने पर ऊ रूप बनता है । उससे जस् प्रत्यय लाकर ऊ को यण् करके वः यह रूप सिद्ध होता है । वः का ही षष्ठ्यन्त बहुवचने वाम् है । ऊकालः यह पद अच् का विशेषण है । उसी को बताने के लिए मूल में **वां काल इव कालो** यस्य ऐसा कहा गया। पर वह भी ऊकालः इस समस्त (समास किये हुए) पद का विग्रह नहीं है, अपितु फलितार्थकथन मात्र है। अतः वां काल ऊकालः, ऊकाल

इव कालो यस्य ऐसा विग्रह करना चाहिए। यहाँ पर काल शब्द लक्षणावृत्ति से मात्रावाची है । अतः ऊकालः तीनों उकारों का जो उच्चारण काल वाली मात्राएं (ऊकाल इव कालो यस्य) ऐसी ही मात्राएँ हैं जिस अच् की, वह अच् क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा वाला होता है। प्रकृत सूत्र अच् अर्थात् स्वर वर्णों को मात्रा के आधार पर हस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञा करता है ।

एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक वर्णों का उच्चारण काल प्रश्न यह आता है कि एक मात्रा, दो मात्राएँ और तीन मात्राएँ, इनका उच्चारण के समय एवं अनुपात क्या होना चाहिए? हस्व के उच्चारण में एक सेकेण्ड का समय तो दीर्घ के उच्चारण में दो सेकेण्ड का समय और प्लुत के उच्चारण में तीन सेकेण्ड का समय लगाया जाय। उच्चारण के इस अनुपात का बहुत ध्यान रखना चाहिए। एकमात्रिक के उच्चारण में जितना समय लगता है, उसका द्विगुना समय द्विमात्रिक के उच्चारण में लगेगा और त्रिगुना

समय तीन मात्रा वाले अच् में लगेगा।

उदात्तसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

६. उच्चैरुदात्तः १।२।२९॥

उदात्तसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम्

उच्चैरुदात्तः। उच्चैः अव्ययपदम्, उदात्तः प्रथमान्तम् । इस सूत्र में **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** से अच् की अनुवृत्ति आती है।

कण्ठ, तालु आदि स्थानों के ऊपरी भाग से उच्चारित अच् की उदात्तसंज्ञा होती है।

७. नीचैरनुदात्तः १।२।३०॥

अनुदात्तसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम् ।

नीचौरनुदात्तः। नीचौः अव्ययपदम्, अनुदात्तः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** से अच् की अनुवृत्ति आती है ।

कण्ठ, तालु आदि स्थानों के निम्न भाग से उच्चारित अच् की अनुदात्तसंज्ञा होती है।

८. समाहारः स्वरितः १।२।३१॥

स्वरितसंज्ञाविधायकं संज्ञासूत्रम् ।

समाहारः स्वरितः। समाहारः प्रथमान्तं, स्वरितः प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम्। इस सूत्र में **ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** से अच् की अनुवृत्ति आती है।

जहाँ उदात्त और अनुदात्त दोनों एकत्र बराबर हों, ऐसे अच् की स्वरितसंज्ञा होती है।

उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों की सूक्ष्मता एवं उनका ज्ञान जिस अच् के उच्चारण में स्थानों के ऊर्ध्वभाग का प्रयोग हो उस अच् की उदात्तसंज्ञा, जिस अच् के उच्चारण में स्थानों के निम्न भाग का प्रयोग हो उस अच् की अनुदात्तसंज्ञा और जिस अच् के उच्चारण में उदात्त और अनुदात्त का समान उपयोग किया गया हो तो उस अच् को स्वरितसंज्ञा का विधान इन तीन सूत्रों से हुआ। यद्यपि लौकिक हिन्दी आदि भाषाओं में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की सूक्ष्मता पकड़ में नहीं आती किन्तु संस्कृत भाषा में इनका महत्त्व अधिक है और विशेष करके वैदिक शब्दों के उच्चारण में। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के विपरीत उच्चारण होने पर अर्थ में भिन्नता आ जाती है। इस लिए वैदिक शब्दों के उच्चारण में इन स्वरों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। स्वरों के द्वारा समास आदि का भी निर्णय होता है। जैसे

ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत को समझने के लिये मात्राएँ लगी हुई होती हैं, उसी प्रकार उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को समझने के लिये वैदिक ग्रन्थों में विशेष चिह्नों का प्रयोग किया गया है। अनुदात्त अक्षर के नीचे तिरछी लाईन, स्वरित के ऊपर खड़ी लाईन होती है और उदात्त के लिये कोई चिह्न नहीं होता है।

अनुनासिकसंज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम्

९. मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः १।१।८॥

मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्।

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः। उच्यते इति वचनः। मुखसहिता नासिका मुखनासिका (मध्यमपदलोपिसमासः), तया वचनः (उच्चारितो वर्णः) स मुखनासिकावचनः (तृतीयातत्पुरुषः)। मुखनासिकावचनः प्रथमान्तम्, अनुनासिकः प्रथमान्तम्, ।

मुख और नासिका से एक साथ उच्चारित होने वाले वर्ण अनुनासिकसंज्ञक होते हैं। जैसे एक इ यह वर्ण हस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से तीन तीन प्रकार हुआ है। पुनः ह्रस्व भी उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से तीन प्रकार का, इसी प्रकार से दीर्घ भी तीन प्रकार का और प्लुत भी तीन प्रकार का, इस तरह कुल मिलाकर नौ प्रकार का हुआ। वह नौ प्रकार का अच् पुनः अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से दो दो प्रकार का हो जाता है। नौ अनुनासिक और नौ अननुनासिक करके कुल अठारह प्रकार का हो जाता है। यही प्रक्रिया सभी अचों के सम्बन्ध में समझनी चाहिए।

वास्तव में वर्णों का उच्चारण तो मुख से ही होता है किन्तु ङ, ञ, ण, न, म आदि वर्ण और अनुनासिक (अँ, ईं, उँ आदि) तथा अनुस्वार (अं, इं, उं आदि) के उच्चारण में नासिका (नाक) को भी सहायता चाहिए। नाक की सहायता से मुख से उच्चारित होने वाले ऐसे वर्ण अनुनासिक कहलाते हैं। य, व्, ल् अनुनासिक तथा निरनुनासिक भी हैं।

१०. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९॥

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्। तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्। तुल्यश्च तुल्यश्च तुल्यौ, आस्यञ्च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ, तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ ययोः तत्तुल्यास्यप्रयत्नं (द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः)। तुल्यास्यप्रयत्नं प्रथमान्तं, सवर्ण प्रथमान्तं, द्विपदमिदं सूत्रम् ।

तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न ये दो जिस वर्ण का जिस वर्ण के साथ तुल्य हो, वे वर्ण आपस में सवर्णसंज्ञक होते हैं।

(वार्तिकम्) ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्। ऋ और लृ इन दो वर्णों में स्थान का भेद है, अतः सूत्र से सवर्णसंज्ञा की प्राप्ति नहीं थी जिसके लिए कात्यायन जी ने वार्तिक बनाकर सवर्णसंज्ञा कर दी है। इससे तवल्कारः आदि की सिद्धि होगी, जिसका विषय आगे स्पष्ट होगा।

सवर्णसंज्ञा के लिए स्थान और प्रयत्न का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है।

(अथ स्थानानि)

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः	इचुयशानां तालु।
ऋटुरषाणां मूर्धा।	लृतुलसानां दन्ताः।
उपूपध्मानीयानामोष्ठौ।	ञमङणनानां नासिका च।
एदैतोः कण्ठतालु।	ओदौतोः कण्ठोष्ठम्।
वकारस्य दन्तोष्ठम्।	जिह्वामूलीयस्य-जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य ।

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। अठारह प्रकार के सभी अकार, कवर्ग, हकार और विसर्ग का कण्ठ स्थान है। जिस वर्ण की मुख के जिस भाग से उत्पत्ति होती है, वह स्थान वर्णो का स्थान है। अकार, कवर्ग अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ और विसर्जनीय विसर्ग इनका उच्चारण सीधे कण्ठ से ही होता है, इसलिये इन वर्णों का कण्ठस्थान है। इसी प्रकार अन्य सूत्रों को समझ सकते हैं । **(अथ प्रयत्नाः)**

यत्नो द्विधा आभ्यन्तरो बाह्यश्च।

आद्यः पञ्चधा- स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्।

तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तः स्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम् । विवृतं स्वराणाम् । ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव ।

बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति।

खरो विवारा: श्वासा अघोषाश्च । हश: संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राण ाा:। वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणा: ।

११. अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्यय: (१/१/६९)

प्रतीयते विधीयत इति प्रत्यय:। अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात् । अत्रैवाण् परेण णकारेण। कु चु टु तु पु एते उदित:। तदेवम्- श्अश् इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ ऋकारस्त्रिंशत:। एवम् लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम। अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा । तेनाऽननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयो: संज्ञा।

अणिति- अविधीयमान अण् तथा उदित् अपनी तथा अपने सवर्ण की संज्ञा होते हैं।

जिसका विधान किया जाता है उसे प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय, आगम, आदेश आदि का विधान किया जाता है। अत: प्रत्यय, आगम व आदेश विधीयमान हैं। इसलिए ये केवल अपने स्वरूप का बोध करायेंगे तथा अपने सवर्ण का बोध नहीं करायेंगे। सूत्र में पठित 'अप्रत्यय:' पद केवल अण् का ही विशेषण है, उदित् का नहीं। तब 'उदित' के सम्बन्ध में विधान या अविधान से कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

क्योंकि 'अण' प्रत्याहार दो प्रकार से बनता है। यथा 'अइउण्' का 'ण्' लेकर तथा 'लण्' का 'ण' लेकर। प्रस्तुत सूत्र में पठित अण् प्रत्याहार पर णकार (अर्थात् लण् वाले) से लिया जाता है तथा शेष सर्वत्र पूर्व (अइउण् वाले) से लिया जाता है। इसके लिए कारिका दी गई है:

'परेणैवेण्ग्रहा: सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा: मता:। ऋतेऽणुदित्सवर्णस्यैतदेकं परेण तु॥' अर्थात् 'इण्' प्रत्याहार सर्वत्र पर णकार से तथा 'अण' प्रत्याहार पूर्व णकार से लेना चाहिए। केवल 'अणुदित्' सूत्र में 'अण्' पर णकार से लिया जाता है। कु, चु, टु, तु, पु इन का उत् (अर्थात् ह्रस्व उकार) इत् है। अत: इन्हें उदित् कहा जाता है। इस प्रकार सार यह है कि जिनका विधान न किया गया हो ऐसे अण् (अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह य व र ल) तथा उदित् (कु, चु, टु, तु, पु) अपना बोध कराते हैं तथा अपने सवर्ण का भी बोध कराते हैं। उदाहरण के लिए श्इको यणचिश् सूत्र से 'इक' के स्थान पर श्यण्श होता है। क्योंकि इक् (इ, उ, ऋ, लृ) अविधीयमान है। अत: इक् के चारों वर्ण अपने सवर्णों का भी बोध करायेंगे अर्थात् अपने दीर्घ प्लुतादि सभी भेदों का बोध करायेंगे। इस प्रकार यण् आदेश न केवल ह्रस्व इकार के स्थान पर ही होगा अपितु दीर्घ ईकार के स्थान पर भी हो जायेगा। फलत:

‘गौरी अत्र’- यहाँ पर भी यणादेश होकर ‘गौर्यत्र’ रूप बन जायेगा।

तदेवमिति - इस प्रकार अकार अपने अठारह रूपों की संज्ञा होगा अर्थात् अकार कहने पर उसके १८ रूपों की उपस्थिति स्वतः हो जायेगी। इकार तथा उकार भी अपने अठारह-अठारह रूपों की संज्ञा होते हैं। ऋकार अपने तीस रूपों का ज्ञान करायेगा क्योंकि ऋकार व लृकार को वार्त्तिक (ऋलृवर्णयो मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्) के द्वारा सवर्ण कहा गया है। अतः अठारह रूप ऋकार के तथा बारह रूप लृकार के मिलकर कुल तीस रूप होते हैं। इसी प्रकार लृकार के तीस रूप समझना चाहिए। एच् वर्ण अपने बारह भेदों का ही बोध कराते हैं। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य, व, तथा ल दो दो प्रकार के हैं। अतः य, व तथा ल अपने दो दो भेदों का बोध कराते हैं।

१२. परः सन्निकर्षः संहिता (१/४/१०९)

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात् ।

पर इति-वर्णों की अत्यन्त समीपता की संहिता संज्ञा हो।

अत्यन्त समीपता का अर्थ है- व्यवधान रहित होना। यथा- ‘इति अत्र’- यहाँ तकारोत्तरवर्ती इकार व ‘अत्र’ के अकार के मध्य कोई व्यवधान नहीं है। अतः यह संहिता संज्ञक हुआ।

संयोगसंज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम्

१३. हलोऽनन्तराः संयोगः (१/१/७)

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञा स्युः ।

हल इति- व्यवधान रहित हल् संयोग संज्ञक हो। श्हल्श् एक प्रत्याहार है जिसमें सभी व्यञ्जन आते हैं। अतः जिन दो या अधिक व्यञ्जनों के मध्य व्यवधान न हो तो उनकी संयोग संज्ञा होती है। व्यवधान सर्वदा विजातियों का होता है। अतः अच् वर्णों (अर्थात् स्वरों) का व्यवधान न रहने पर व्यञ्जनों की संयोग संज्ञा होती है। यथा-‘इन्द्र’ शब्द में नकार, दकार व रेफ के मध्य किसी स्वर का व्यवधान नहीं है। अतः ‘न्द्र्’ की संयोग संज्ञा हो गई।

पदसंज्ञाविधायकसंज्ञासूत्रम्

१४. सुप्तिङन्तं पदम् (१/४/१४)

सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात् ।

सुबिति - सुप् और तिङ् अन्त में है जिनके ऐसे शब्दों की पद संज्ञा हो।

'सुप्' एक प्रत्याहार है। **'स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्'** सूत्र के द्वारा विहित २१ प्रत्ययों को 'सुप्' कहा जाता है (द्र० सू० १२१)।

इसी प्रकार 'तिङ्' एक प्रत्याहार है। **'तिप्तस्झिस्सिप्'** सूत्र के द्वारा विहित १८ प्रत्ययों को 'तिङ्' कहा गया है। (द्र० सू० ३७५)। अतः सुप्-प्रत्ययान्त (रामः, देवैः इत्यादि) तथा तिङ् प्रत्ययान्त (पचति, सेवध्वम् इत्यादि) शब्द स्वरूप को 'पद' कहते है ।

व्याकरण के सूत्रों की ६ श्रेणियाँ है अर्थात् ६ प्रकार के सूत्र होते हैं।

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।

अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

१- संज्ञासूत्र, २- परिभाषासूत्र, ३- विधिसूत्र, ४- नियमसूत्र, ५- अतिदेशसूत्र और ६- अधिकारसूत्र।

१- संज्ञासूत्र जो सूत्र संज्ञाओं का विधान करते हैं, ऐसे सूत्र संज्ञासूत्र या संज्ञाविधायक सूत्र कहलाते हैं। जैसे **हलन्यम्, अदर्शनं लोपः, तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** आदि।

२- परिभाषासूत्र- जो अनियम होने पर नियम करते हैं, ऐसे सूत्र परिभाषासूत्र कहलाते हैं। जैसे - **स्थानेऽन्तरतमः, यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्, अनेकाल्शित् सर्वस्य** आदि।

३- विधिसूत्र- जो सूत्र यण, गुण, वृद्धि, दीर्घ, प्रत्यय, आदेश आदि का विधान करते हैं, ऐसे सूत्र विधिसूत्र कहलाते हैं। जैसे **इको यणचि, एचोऽयवायावः, आद्गुणः, वृद्धिरेचि, अकः सवर्णे दीर्घः** आदि।

४- नियमसूत्र- किसी सूत्र के द्वारा कार्य सिद्ध होते हुए उसी कार्य के लिए यदि किसी अन्य सूत्र को पढ़ा गया हो तो वह सूत्र नियमसूत्र कहलाता है। सिद्धे सत्यारभ्यमाणो विधिर्नियमाय भवति अर्थात्

सिद्ध होने पर भी पुनः विधान करने से एक विशेष नियम का संकेत उससे प्राप्त होता है। **जैसे - रात्सस्य, पतिः समास एव, एच इग्घ्रस्वादेशे।**

५- अतिदेशसूत्र- जो वैसा नहीं है, उसे वैसा मानना अतिदेश है। जैसे कि शिष्य जो गुरु नहीं है, अब उसे गुरु के तुल्य माना जाय। सूत्र भी बहुत स्थानों पर ऐसा कार्य करते हैं। ऐसे सूत्रों को अतिदेशसूत्र कहा गया है। जैसे **अन्तादिवच्च, स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ, तृज्वत्क्रोष्टुः** इत्यादि।

६- अधिकारसूत्र- कुछ सूत्र ऐसे होते हैं जो अपने क्षेत्र में कोई कार्य नहीं करते किन्तु अन्य सूत्रों के क्षेत्र में अपना अधिकार रखते हैं, उसके सहायक बनते हैं। ऐसे सूत्र अधिकारसूत्र हैं। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, धातोः** आदि)

स्मरणीय बिंदु

1. पाणिनि कात्यायन और पतञ्जलि के प्रथम उच्चारण को उपदेश कहा जाता है।
2. व्याकरण में लोप का अर्थ वर्ण का पूरी तरह विनाश नहीं बल्कि अदर्शन मात्र है।
3. संहिता संज्ञा वर्णों की अत्यंत निकटता को व्यक्त करती है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. संज्ञाप्रकरण के आधार पर इत्संज्ञा विधायक सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए?
2. माहेश्वर सूत्रों का महत्व बताते हुए प्रत्याहार निर्माण की प्रक्रिया को विस्तार से समझाइए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. अनुनासिक संज्ञा किसे कहते हैं और इसका सूत्र क्या है?
2. सवर्ण संज्ञा होने के लिए किन दो तत्वों की समानता आवश्यक है?
3. संयोग संज्ञा और पद संज्ञा के बीच मुख्य अंतर स्पष्ट कीजिए?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. उपदेश अवस्था में अंतिम व्यंजन की कौन सी संज्ञा होती है?

(क) पद संज्ञा (ख) इत् संज्ञा

(ग) संयोग संज्ञा (घ) संहिता संज्ञा

2. व्याकरण में अदर्शनम् को क्या कहा जाता है?

(क) लोप (ख) संधि

(ग) वृद्धि (घ) गुण

3. माहेश्वर सूत्रों की कुल संख्या कितनी मानी गई है?

(क) दस (ख) बारह

(ग) चौदह (घ) सोलह

4. स्वर वर्णों का बोध कराने वाला प्रत्याहार कौन सा है?

(क) हल् (ख) अच्

(ग) यण् (घ) जश्

5. वर्णों की अत्यंत समीपता को किस नाम से जाना जाता है?

(क) संयोग (ख) संहिता

(ग) सवर्ण (घ) उपदेश

इकाई-1.2

अच्-संधिप्रकरणम्

उद्देश्य

1. इको यणचि और आद्गुणः जैसे प्रमुख सन्धि सूत्रों के व्याकरणिक स्वरूप और उनके नियमों को समझना।

2. अच् सन्धि के विभिन्न भेदों और पदों की सिद्धि की प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करना।

3. संस्कृत साहित्य के अध्ययन में सन्धि जनित परिवर्तनों को पहचान कर स्पष्ट अर्थ बोध करने में सक्षम होना।

परिणाम

1. विद्यार्थी सन्धि नियमों का प्रयोग करके शुद्ध संस्कृत पदों का निर्माण कर

सकेंगे।

2. विभिन्न पदों का उचित सन्धि विच्छेद करने और सन्धि युक्त पद बनाने की क्षमता विकसित होगी।

3. संस्कृत वाक्यों के पठन पाठन और सम्भाषण में व्याकरणिक शुद्धता आएगी।

१. इको यणचि (६/१/७४)

इकः स्थाने 'यण्' स्यादचि संहितायां विषये। 'सुधी उपास्यः' इति स्थिते ।

इक इति-इक् (इ, उ, ऋ, लृ) के स्थान में श्यणश (य्, व्, र्, ल्) आदेश हो, अच् (स्वर) परे रहते संहिता के विषय में ।

संहिता के सम्बन्ध में कहा गया है-

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।

नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥

अर्थ यह है कि संहिता एक पद में, धातु और उपसर्ग के योग में और समास में नित्य है, पर वाक्य में वक्ता की इच्छा पर निर्भर होती है।

सूत्र में विभक्ति योजना- 'इक:' यहाँ षष्ठी है। 'यण' प्रथमान्त पद है। 'अचि' परसप्तमी है। प्रकृत सूत्र में 'संहितायाम्' (पा० ६.१.७०) का अधिकार आता है। षष्ठी स्थानेयोगा परिभाषा के अनुसार स्थाने ऐसा अर्थ किया गया है। **असति बाधके प्रथमाया विधेयविभक्तित्वम्** अर्थात् यदि कोई बाधक न हो तो विधेय प्रथमान्त होता है। अत: इस नियम के अनुसार प्रथमान्त 'यण' विधेय हो गया।

'सुधी उपास्य:' ऐसा होने पर सन्देह होता है कि तीन इक् (उ, ई, उ) में से कौन से वर्ण के स्थान पर 'यण्' आदेश हो अर्थात् सकारोत्तरवर्ती उकार के स्थान पर आदेश हो या धकारोत्तरवर्ती ईकार के स्थान पर हो अथवा 'उपास्य:' के आदि में स्थित उकार के स्थान पर हो। इसके समाधान के लिए परिभाषा सूत्र दिया है।

२. तस्मिन्निति निर्दिष्ट पूर्वस्य (१/१/६५)

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्।

तस्मिन्निति - सप्तम्यन्त के उच्चारण के द्वारा विहित कार्य वर्णान्तर से व्यवधानरहित पूर्व वर्ण के स्थान पर होता है अर्थात् जिन दो वर्णों में कार्य हो उन के बीच में व्यवधान स्वरूप अन्य वर्ण न हो तथा वह कार्य पूर्व वर्ण को हो।

प्रकृत सूत्र में 'अचि' सप्तम्यन्त पद है तथा 'अच' के परे रहते हुए कार्य का विधान है। अत: प्रकृत सूत्र के द्वारा ऐसे वर्ण के स्थान पर कार्य होगा जो 'अच' से पूर्व स्थित है तथा अन्य वर्ण के व्यवधान से रहित है। प्रस्तुत उदाहरण में 'यण' आदेश न तो 'सु धी' के स्थान पर हो सकता है तथा न ही 'उ पास्य:' के स्थान पर हो सकता है। दोनों अवस्थाओं में क्रमश: 'ध्' तथा 'प्' वर्ण का व्यवध ान है। अत: 'यण्' आदेश सुधी उपास्य: के स्थान पर ही होगा। कारण कि धकारोत्तरवर्ती ईकार तथा उकार के बीच किसी अन्य वर्ण का व्यवधान नहीं है।

३. स्थानेऽन्तरतमः (१/१/४९)

प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात् । 'सुध्य् उपास्यः' इति जाते-

स्थान इति- प्रसङ्ग उपस्थित होने पर जो सबसे अधिक सदृश होता है वह आदेश स्थानी के स्थान पर हो अर्थात् एक स्थानी के स्थान पर कई आदेशों की प्राप्ति होने पर उनमें जो स्थानी के सबसे अधिक सदृश हो, वह आदेश होता है।

शङ्का है कि स्थानी (इक्) भी चार वर्ण (इ, उ, ऋ, लृ) हैं तथा आदेश (यण्) भी चार वर्ण (य्, व्, र्, ल्) हैं। अत: आदेश किसे किया जाए ?

सादृश्य चार प्रकार का होता है– १. स्थानकृत, २. अर्थकृत, ३. गुणकृत, ४. प्रमाणकृत। जहाँ अनेक प्रकार का सादृश्य हो, वहाँ स्थानकृत ही बलवान् होता है। द्रष्टव्यम्– **यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः ।**

सुधी उपास्यः उदाहरण में ईकार स्थानी है जिसके स्थान पर 'यण' (य्, व्, र्, ल्) आदेश का विधान हैं। क्योंकि (य्, व्, र्, ल्) इन चार वर्णों में से 'य' ही ईकार (स्थानी) का अधिक सदृश है। 'य' तथा 'ई' दोनों का उच्चारण स्थान तालु है। अतः ईकार के स्थान पर 'य' हो जाएगा अब 'सुध् य् उपास्यः' हो गया।

४. अनचि च (८/४/४६)

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि। (इति धकारस्य द्वित्वम)

अनचीति– 'अच' से परे 'यर्' को विकल्प से द्वित्व होता है, 'यर्' के आगे 'अच' न होने की अवस्था में। इस प्रकार धकार को द्वित्व हो जायेगा। एक पक्ष में कार्य का होना तथा दूसरे पक्ष में न होना विकल्प कहलाता है। एक वर्ण या पद को दो करने को द्वित्व कहते हैं। सुध्य् उपास्यः उदाहरण में **अच्** (सकारोत्तरवर्ती उकार) से परे 'यर्' (धकार) है तथा आगे **अच्** नहीं है (यकार है, जो व्यञ्जन है।) अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा विहित द्वित्व कार्य (धकार को) हो जायेगा। अब 'सुध्ध् य् उपास्यः' हो गया।

५. झलां जश् झशि (८/४/५२)

स्पष्टम्। इति पूर्वधकारस्य दकारः।

झलामिति– झलों के स्थान पर जश् होता है, झश् परे रहने पर। प्रकृत सूत्र की वृत्ति में वरदराज लिखते हैं– स्पष्टम् अर्थात् अर्थ स्पष्ट है। विधिसूत्र में स्थानी, आदेश तथा निमित्त की आवश्यकता होती है। प्रकृत सूत्र में स्थानी (झलाम्), विधेय अर्थात् आदेश (जश्) तथा निमित्त (झशि) तीनों हैं। अतः अर्थ स्पष्ट है। इस सूत्र के अनुसार पूर्व धकार के स्थान पर दकार हो गया। सुध् ध् य् उपास्य यहाँ प्रथम धकार (झल्) के स्थान पर दकार (जश्) हो गया है, द्वितीय धकार (झश्) के परे रहते।

६. एचोऽयवायावः (६/१/७५)

एचः क्रमाद् अय्, अव्, आय्, आव् एते स्युरचि । एच इति– एच् (ए, ओ, ऐ, औ) के स्थान पर क्रमशः अय्, अव्, आय् तथा आव् आदेश हों, अच् के परे रहने पर।

७. यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१/३/१०)

समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात्। हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः।

यथेति - सम सम्बन्धी विधि यथासंख्य होती है अर्थात् स्थानी और आदेश दोनों की संख्या समान होने पर आदेश क्रमशः ही होता है।

प्रकृत सूत्र में चार स्थानी (एच्- ए, ओ, ऐ, औ) हैं तथा चार ही आदेश (अय्, अ०, आय, आ०) हैं। अतः चारों उद्देश्यों के स्थान पर चारों प्रतिनिर्देश्य यथासंख्य अर्थात् क्रमपूर्वक होंगे। इस प्रकार ए को अय्, ओ को अव्, ऐ को आय् तथा औ को आव् आदेश होगा। 'हरे ए' इस अवस्था में पूर्ववर्ती 'ए' के स्थान पर 'अय' आदेश हो गया है अच् (परवर्ती एकार) के परे रहने पर। इस प्रकार हरये रूप सिद्ध हो गया।

'विष्णो ए' इस अवस्था में ओकार के परे अच् (ए) रहने पर ओकार को यथासंख्य आदेश (अव्) होकर विष्णवे रूप सिद्ध हुआ। नै अकः तथा पौ अकः रूपों में क्रमशः आय् तथा आव् आदेश होकर नायकः तथा पावकः रूप सिद्ध होते हैं।

अन्य उदाहरण - पो अनः-पवनः, ने अनम्-नयनम्। चे अनम्-चयनम्। गै अकः-गायकः। भो अनम्-भवनम्। लो अनः लवणः। पो इत्रम् पवित्रम्। भौ उकः भावुकः।

८. आद् गुणः (६/१/८४)

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुणादेशः स्यात्। उपेन्द्रः । गङ्गोदकम् ।

आदिति- अवर्ण से अच् परे होने पर पूर्व और पर दोनों के स्थान पर गुण एकादेश हो संहिता के विषय में।

'उप इन्द्रः' इस दशा में अकार तथा इकार दोनों के स्थान पर गुण एकादेश प्राप्त होता है। क्योंकि गुणसंज्ञा ह्रस्व अकार, एकार तथा ओकार इन तीन वर्णों की होती है। इसलिए शङ्का होती है कि इन तीनों में से कौन सा आदेश हो। क्योंकि अकार कण्ठस्थानीय है तथा इकार तालुस्थानीय। अतः दोनों के स्थान पर स्थानकृत सादृश्य से कण्ठतालु स्थानीय गुणसंज्ञक श्एश आदेश होकर उपेन्द्रः रूप सिद्ध हुआ।

गंगा उदकम् इस दशा में आकार (दीर्घ अकार) से आगे अच् (उकार) होने पर दोनों के स्थान पर गुण आदेश होना चाहिए। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि आदेश रूप में कौन सा वर्ण हो। आकार कण्ठ स्थानीय है तथा उकार ओष्ठ स्थानीय है। अतः दोनों के स्थान पर **स्थानेऽन्तरतमः** परिभाषा के बल पर कण्ठोष्ठस्थानीय 'ओ' एकादेश होकर गङ्गोदकम् रूप सिद्ध हो गया।

अन्य उदाहरण- नर ईशः नरेशः। मुका ईशः मुकेशः। नर इन्द्रः नरेन्द्रः। महा-इन्द्रः महेन्द्रः। सूर्य उदयः सूर्योदयः। महा उदयः- महोदयः ।

९. वृद्धिरादैच् (१/१/१)

आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात्।

वृद्धिरिति - आकार और ऐच् (ऐ. औ) की वृद्धि संज्ञा होती है। सूत्र में पठित आत् पद के द्व ारा तपर परिभाषा के बल पर केवल दीर्घ आकार का तथा तपर होने के कारण ऐच् पद के द्वारा केवल दीर्घ ऐ व औ का ग्रहण होता है। छात्रों के लिए ध्यातव्य है कि ऋकार व लृकार के स्थान पर जब आकार वृद्धि एकादेश होगा तो **उरण रपरः** के बल से रपर तथा लपर होकर क्रमशः आर् तथा आल् के रूप में ही होगा।

१०. वृद्धिरेचि (६/१/८५)

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । गुणाऽपवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम्। कृष्णौत्कण ठ्यम्।

वृद्धिरिति - अवर्ण से एच् (ए, ओ, ऐ, औ) परे हो तो पूर्व एवं पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो। ग्रहणक शास्त्र के बल पर अकार से दीर्घ आकार का भी ग्रहण होता है। अतः अकार वा आकार से परे एच् रहने पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है। यह सूत्र गुण सन्धि का अपवाद है। जिस विधि (अर्थात् गुण आदि कार्य) को कहीं अवकाश नहीं मिलता है, वह अपवाद कहलाती है। **(द्र०- निरवकाशो विधिरपवादो भवति)**। सार यह है कि जिस सूत्र को कहीं अवसर प्राप्त नहीं होता है वह अपवाद बन जाता है और अपने में बाधा पहुँचाने वाले (अर्थात् उत्सर्ग) सूत्र के काम को रोक देता है। यथा जहाँ-जहाँ **वृद्धिरेचि** सूत्र की प्राप्ति होती है वहाँ-वहाँ **आद्गुणः** की भी प्राप्ति होती है क्योंकि 'अच्' परे रहते गुण होता है और 'अच' के अन्तर्गत एच् भी आते हैं। यदि सर्वत्र गुण ही होगा तो वृद्धि कहीं भी न हो सकेगी। अतः **वृद्धिरेचि** सूत्र एच् परे रहने पर गुण को रोक देता है।

कृष्ण एकत्वम् यहाँ अकार से परे एकार है। इन दोनों के स्थान पर वृद्धि (आ, ऐ, औ) एकादेश प्राप्त होता है। अकार कण्ठस्थानीय है तथा एकार कण्ठतालुस्थानीय है। अब अत्यधिक सदृश होने के कारण दोनों के स्थान पर ऐकार एकादेश हो गया। कृष्णैकत्वम्। श्गङ्गा ओघः यहाँ आकार तथा ओकार के स्थान पर औ एकादेश होकर गङ्गौघः रूप सिद्ध हो गया। **देव ऐश्वर्यम्** यहाँ पर अकार तथा ऐकार के स्थान पर ऐकार वृद्धि एकादेश होकर **देवैश्वर्यम्** रूप निष्पन्न होता है।

कृष्ण औत्कण्ठ्यम् में अकार तथा औकार दोनों के स्थान पर 'औ' वृद्धि एकादेश होकर **कृष्णौत्कण्ठ्यम्** रूप सिद्ध होता है। **आद्गुणः** उत्सर्ग (अर्थात् सामान्यशास्त्र) सूत्र है तथा **वृद्धिरेचि** अपवादशास्त्र है। उत्सर्ग से अपवाद बलवान् होता है। अतः यहाँ **आद् गुणः** की प्राप्ति होने पर वृद्धिरेचि के द्वारा विहित वृद्धिकार्य ही होता है।

अन्य उदाहरण- महता ऐश्वर्येण महतैश्वर्येण। नाम औषधम् नामौषधम्। पञ्च एते-पञ्चौते। महा एनः महैनः । मा एवम्-मैवम् ।

११. एङि पररूपम् (६/१/९१)

आदुपसर्गाद् एजादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात्। प्रेजते उपोषति ।

एङीति - अवर्णान्त उपसर्ग से परे एजादि धातु हो तो पूर्व तथा पर दोनों के स्थान पर पररूप आदेश हो। पररूप का अर्थ है दोनों वर्णों के स्थान पर उत्तरवर्ती वर्ण का हो जाना।

'प्र एजते' यहाँ पर **वृद्धिरेचि** सूत्र के द्वारा वृद्धि आदेश की प्राप्ति होती है, परन्तु इसे बाध कर प्रकृत सूत्र के द्वारा पररूप आदेश होगा क्योंकि अवर्णान्त उपसर्ग (प्र) से एजादि धातु (एजते) परे है। इस प्रकार प्रेजते रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार **उप ओषति** में प्रकृत सूत्र के द्वारा पररूप होकर श्उपोषतिश रूप सिद्ध होता है।

अन्य उदाहरण- प्र एषणीयम्-प्रेषणीयम् । प्र ओषति-प्रोषति। अव एजते-अवेजते।

१२. अकः सवर्णे दीर्घः (६/१/९७)

अकः सवर्णे अचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात्। दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः । होतॄकारः।

अक इति- अक् से सवर्ण अच् परे होने पर पूर्व पर दोनों के स्थान पर दीर्घ एकादेश हो। **दैत्य अरिः** में अकार को आकार आदेश होकर दैत्यारिः रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार श्री ईशः, विष्णु उदयः होतृऋकारः उदाहरणों में दीर्घ आदेश होकर क्रमशः श्रीशः, विष्णूदयः, होतॄकारः रूप सिद्ध होते हैं।

अन्य उदाहरण- विद्या आलयः विद्यालयः। कवि इन्द्रः-कवीन्द्रः। मुनि ईशः मुनीशः। भानु उदयः भानूदयः। वधू उत्सवः वधूत्सवः । होतृऋद्धिः- होतॄद्धिः ।

१३. एङः पदान्तादति (६/१/१०५)

पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेऽव। विष्णोऽव।

एङ इति- पदान्त एङ् से अत् (ह्रस्व अकार) परे रहते पूर्व तथा पर दोनों को पूर्वरूप एकादेश हो।

सुप्तिङन्तं पदम् के अनुसार सुबन्त व तिङन्त को पद कहते हैं। सुबन्त होने के कारण श्हरेश तथा विष्णो पद हैं। हरे अव तथा **विष्णो अव** उदाहरणों में पदान्त एङ् (क्रमशः ए तथा ओ) है। इससे परे ह्रस्व अकार है। अतः दोनों के स्थान पर पूर्वरूप (पूर्व वर्ण जैसा स्वरूप) हो जाएगा। इस प्रकार हरेऽव तथा विष्णोऽव रूप सिद्ध होंगे। पूर्वरूप को (ऽ) इस चिह्न के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

अन्य उदाहरण- विष्णो अत्र विष्णोऽत्र। रामो अस्ति-रामोऽस्ति । वने अस्ति-वनेऽस्ति। को अपि-कोऽपि।

६०. अचो रहाभ्यां द्वे (८/४/४५)

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। गौय्यौं। (वा०) न समासे। वाप्यश्वः।

अच इति- अच् से पर रेफ तथा हकार हों तथा उन से पर यर् हो तो उस यर् को विकल्प से द्वित्व होता है।

गौरी औ यहाँ इको यणचि से यणादेश होने पर गौ य् औ इस दशा में अच् (औ) से परे रेफ है तथा उससे पर यर् (यकार) है, अतः प्रस्तुत सूत्र से विकल्प से द्वित्व होगा। द्वित्व पक्ष में गौर् य् य् औ (गौर्य्यौ) तथा द्वित्व अभाव पक्ष में **गौर्यौ** रूप सिद्ध होगा। अन्य उदाहरण - धर्म्मः, धर्मः । शर्म्मा, शर्मा । कार्य्यम्, कार्यम्। कर्म्म, कर्म।

न इति- असवर्ण अच् परे रहते समास में पदान्त इक् को ह्रस्व नहीं होता है।

वापी अश्वः यहाँ समास है। पदान्त ईकार है। असवर्ण अच् (अकार) परे है। अतः प्रकृत वार्तिक के द्वारा ह्रस्व आदेश नहीं होगा। तब सामान्य यणादेश होकर वाप्यश्वः रूप सिद्ध हुआ।

स्मरणीय बिंदु

1. सन्धि एक पद में धातु और उपसर्ग के बीच तथा समास में अनिवार्य होती है।

2. इको यणचि सूत्र के अनुसार अच् परे होने पर इक् के स्थान पर यण् आदेश होता है।

3. संहिता की स्थिति में ही सन्धि कार्य प्रवर्तित होते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अच् सन्धि की परिभाषा देते हुए यण् सन्धि के विधायक सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए?

2. गुण सन्धि और वृद्धि सन्धि के मध्य अंतर को प्रमुख सूत्रों और उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट कीजिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. संहिता कहाँ कहाँ नित्य होती है और कहाँ वैकल्पिक होती है?

2. स्थानन्तरतमः सूत्र का सन्धि प्रक्रिया में क्या महत्व है?

3. उपेन्द्रः और गङ्गौघः पदों का सन्धि विच्छेद करते हुए सूत्रों के नाम लिखिए?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. इको यणचि सूत्र में इक् के स्थान पर क्या आदेश होता है?

(क) अच् (ख) यण् (ग) हल् (घ) विसर्ग

2. सुध्युपास्यः का सही सन्धि विच्छेद क्या है?

(क) सुधि + उपास्यः (ख) सुध्यु + पास्यः (ग) सुध + उपास्यः (घ) सुधी + पास्यः

3. सन्धि कहाँ नित्य नहीं मानी गई है?

(क) एक पद में (ख) धातु और उपसर्ग में (ग) वाक्य में (घ) समास में

4. अच् प्रत्याहार का सामान्य अर्थ क्या लिया जाता है?

(क) सभी व्यंजन (ख) सभी स्वर (ग) केवल विसर्ग (घ) संयुक्त अक्षर

5. वृद्धिरेचि सूत्र द्वारा कौन सी सन्धि की जाती है?

(क) गुण सन्धि (ख) यण् सन्धि (ग) वृद्धि सन्धि (घ) दीर्घ सन्धि

खण्ड-2

हल्सन्धिः-विसर्गसन्धिः-अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणञ्च

इकाई-2.1 हल्सन्धिः

उद्देश्य

1. स्तोः श्चुना श्चुः और ष्टुना ष्टुः जैसे प्रमुख हल सन्धि सूत्रों के स्वरूप और नियमों को समझना।

2. व्यंजन सन्धि के विभिन्न भेदों और वर्ण परिवर्तनों की प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करना।

3. संस्कृत साहित्य के पदों में विद्यमान हल सन्धि को पहचान कर विच्छेद करने में निपुणता प्राप्त करना।

परिणाम

1. विद्यार्थी हल सन्धि के नियमों का प्रयोग करके शुद्ध संस्कृत पदों का निर्माण कर सकेंगे।

2. व्यंजन सन्धि से युक्त जटिल पदों को विच्छेद करने और समझने की क्षमता विकसित होगी।

3. संस्कृत व्याकरण की सन्धि प्रक्रिया में तार्किक स्पष्टता और लेखन में शुद्धता आएगी।

१. स्तोः श्चुना श्चुः (८/४/३९)

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः। रामश्शेते। रामश्चिनोति। सच्चित्।

स्तोरिति - सकार तथा तवर्ग का शकार और चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) के साथ योग होने पर सकार तथा तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) के स्थान पर शकार तथा चवर्ग हों।

यहाँ पूर्व में छह वर्ण (स्, त्, थ्, द्, ध्, न्) कहे हैं तथा पर में भी छह वर्ण (श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) कहे गये हैं। इसी प्रकार आदेश भी छह (श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) ही हैं। अतः समान होने के कारण यथासंख्यमनु० परिभाषा के द्वारा ये आदेश क्रमशः होते हैं अर्थात् स् के स्थान पर श्, त् के स्थान पर च्, थ् के स्थान पर छ्, द् के स्थान पर ज्, ध् के स्थान पर झ् तथा न् के स्थान पर ञ् होता है।

२. ष्टुना ष्टुः (८/४/४०)

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात्। रामष्षष्ठः। रामष्टीकते। पेष्टा। तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे।

ष्टुनेति - सकार और तवर्ग तथा षकार और टवर्ग के योग में सकार तथा तवर्ग के स्थान पर षकार और टवर्ग होता है।

यहाँ पर भी योग होने पर यथासंख्य कार्य नहीं होता है। केवल आदेश के सम्बन्ध में यथासंख्य अपेक्षित है। यहाँ श्तोः षिश् सूत्र प्रमाण है।

रामस् षष्ठः- सकार और षकार के योग में षकार आदेश होकर रामष्षष्ठः रूप सिद्ध हुआ। रामस् टीकते यहाँ पूर्ववत् समझें। रामष्टीकते। पेष् ता- यहाँ षकार तथा तकार का योग है। स्थानी तकार के स्थान पर यथासंख्य आदेश टकार ही होता है। पेष्टा।

तद् टीका- ष्टुत्व (पा० ८.४.४०) की दृष्टि में चर्च (पा० ८.४.५४) असिद्ध है। प्रथम ष्टुना ष्टुः से ष्टुत्व। तड् टीका चर्त्व होकर डकार के स्थान पर टकार हुआ तट्टीका। चक्रिन् ढौकसे- यहाँ नकार (तवर्ग) और ढकार (टवर्ग) का योग है। स्थानी नकार के स्थान पर टवर्गीय यथासंख्य आदेश (ण्) होकर चक्रिण्ढौकसे रूप सिद्ध हुआ।

३. झलां जशोऽन्ते (८/२/३९)

पदान्ते झलां जशः स्युः। वागीशः ।

झलामिति - पदान्त में झल् के स्थान पर जश् हो। वाक् ईशः यहाँ अन्तर्वर्त्तिनी विभक्तियों का लुक् हो जाने से प्रत्यय लक्षण से वाच् शब्द पद है। चोः कुः से कुत्व हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा ककार (झल्) के स्थान में स्थानेऽन्तरतमः से स्थान साम्य के कारण गकार (जश्) होकर वागीशः रूप सिद्ध हुआ। अन्य उदाहरण - दिक् गजः दिग्गजः। जगत् ईश जगदीशः। चित् आनन्दः -चिदानन्दः । मधुलिट् अस्ति- मधुलिडस्ति। षट् एते षडेते। क्षुत् भिः क्षुद्भिः ।

४. यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८/४/४४)

यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्। एतन्मुरारिः, एतद्मुरारिः। (वा०) प्रत्यये भाषायां नित्यम्। तन्मात्रम्। चिन्मयम्।

यर इति - पदान्त में यर् के स्थान पर विकल्प से अनुनासिक हो, अनुनासिक परे रहते।

प्रत्यय इति- अनुनासिक से प्रारम्भ होने वाले प्रत्यय के परे रहते पदान्त यर् के स्थान पर नित्य अनुनासिक हो। एतद् मुरारिः यहाँ एतद् एक पद है। दकार पदान्त में है। इससे परे मकार (अनुना. सिक) है। अतः दकार के स्थान पर प्रस्तुत सूत्र से विकल्प से अनुनासिक होगा। एतन्मुरारिः तथा पक्ष में एतद्मुरारिः रूप सिद्ध होगा। अन्य उदाहरण- जगत् नाथः जगद्नाथः, जगन्नाथः। षट् मासाः षड्मासाः, षण्मासाः। क्षुत् मे- क्षुद्मे, क्षुन्मे। अप् मूलम् अब्मूलम्, अम्मूलम्। सत् मार्गः -सद्मार्गः, सन्मार्गः ।

तद् मात्रम् यहाँ यरोऽनु० सूत्र के द्वारा दकार को विकल्प से अनुनासिक प्राप्त होता है जिसे बाध कर प्रकृत वार्तिक के द्वारा नित्य अनुनासिकत्व होता है- तन्मात्रम्। इसी प्रकार चित् मयम्-चिन्मयम् सिद्ध होता है। वाक् मयम्- वाङ्मयम्। वाक् मात्रम् - वाङ्मात्रम्। मृट् मयम्- मृण्मयम्।

५. तोर्लि (८/४/५९)

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः। तल्लयः। विद्वाँल्लिखति । नस्यानुनासिको लँः ।

तोरिति - लकार परे रहते तवर्ग के स्थान पर परसवर्ण हो। तद् लयः- दकार से लकार परे है। अतः दकार के स्थान पर परसवर्ण हुआ-तल्लयः । विद्वान् लिखति- यहाँ नकार के स्थान पर परसवर्ण लकार होगा। विद्वाँल् लिखति। क्योंकि स्थानी अनुनासिक है । अतः परसवर्ण आदेश भी अनुनासिक (लँ) होकर विद्वाँल्लिखति रूप बना ।

अन्य उदाहरण- तद् लयः तल्लयः। तद् लीनः तल्लीनः। तद् लीला-तल्लीला। श्रीमान् लिखति श्रीमाँल्लिखति। जगत् लीयते- जगल्लीयते।

६. झरो झरि सवर्णे (८/४/६४)

हलः परस्य झरो वा लोपः सवर्णे झरि।

झर इति- हल् से पर झर् का विकल्प से लोप हो सवर्ण झर् परे रहते। यहाँ निमित्त और स्थानियों का यथासंख्य नहीं होता है। उद् थ् थानम् में हल् (दकार) से पर झर् (थकार) है। इससे परे सवर्ण झर् (द्वितीय थकार) है। अतः पूर्व थकार का विकल्प से लोप होकर दो रूप बने- उत्थानम्, उद् थ् थानम्।

७ . खरि च (८/४/५४)

खरि झलां चरः स्युः इत्युदो दस्य तः उत्थानम्, उत्तम्भनम् ।

खरीति - खर् के परे रहते झल् के स्थान पर चर् हो। इस प्रकार दोनों रूपों में खर् (थकार) परे रहते झल् (दकार) के स्थान पर अत्यन्त सादृश्य के आधार पर चर् (त्) होकर उत्थानम् व उत्थ्थानम् रूप बने। इसी प्रकार उद् स्तम्भनम् इस स्थिति में सकार को थकार, वैकल्पिक लोप तथा चर् होकर दो रूप बनेंगे- उत्तम्भनम्, उत्थ्तम्भनम्।

अन्य उदाहरण- उद् स्थापयति उत्थापयति, उत्त्थापयति।

८. झयो होऽन्यतरस्याम् (८/४/६१)

झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः। नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य (हस्य) तादृशो वर्गचतुर्थः वाग्घरिः, वाग्हरिः।

झय इति- झय् से पर हकार को विकल्प से पूर्वसवर्ण हो।

हकार का नाद, घोष, संवार तथा महाप्राण यत्न हैं। वर्गों के चतुर्थ वर्णों का नाद, घोष, संवार तथा महाप्राण यत्न हैं। अतः आन्तरतम्य (अत्यन्त सादृश्य) के कारण हकार के स्थान पर वर्गों के चतुर्थ वर्ण आदेश ही होंगे।

वाक् हरिः - यहाँ जश्त्व तथा पूर्वसवर्ण (घ) होकर वाग्घरिः रूप बनता है।

ध्यान रहे कि जश्त्व विधायक सूत्र झला० (पा० ८.२.३९) की दृष्टि में पूर्वसवर्ण सूत्र झयो हो० (पा० ८.४.६२) असिद्ध है। अतः प्रथम जश्त्व (वाग् हरिः) होकर तत्पश्चात् पूर्वसवर्ण होता है। वाग् हरिः इस स्थिति में झय् (गकार) से परे हकार है। अतः हकार के स्थान पर अत्यन्त सादृश्य के बल पर घकार वाग्घरिः हुआ पक्ष में वाग्हरिः हुआ।

अन्य उदाहरण-अच् हीनम् अज्झीनम्, अज्हीनम्। वाक् हन्ति वाग्घन्ति, वाग्हन्ति। रत्नमुट् हरति- रत्नमुड्ढरति, रत्नमुड्हरति। जगत् हरति- जगद्धरति, जगद्हरति । ककुप् हस्ती- ककुब्भस्ती, ककुब्हस्ती।

९. मोऽनुस्वारः (८/३/२३)

मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि। हरिं वन्दे। हल् परे होने पर मकारान्त पद के स्थान पर अनुस्वार हो। हरिम् वन्दे- यहाँ सम्पूर्ण पद के स्थान पर आदेश प्राप्त होने पर अलोऽन्त्यस्य के अनुसार अन्त्य मकार को अनुस्वार होकर हरिं वन्दे रूप सिद्ध हुआ। अन्य उदाहरण - ग्रामम् गच्छति ग्रामं गच्छति। गुरुम् नमामि गुरुं नमामि। शिवम् भजामि - शिवं भजामि।

१०. नश्चापदान्तस्य झलि (८/३/२४)

नस्य मस्य चाऽपदान्तस्य झल्यनुस्वारः । यशांसि, आक्रंस्यते। झलि किम्- मन्यसे ।

अपदान्त नकार तथा मकार से झल् के परे रहते उनके स्थान पर अनुस्वार हो।

यशान् सिश्- यहाँ यशान् अपद है। अतः नकार पदान्त में नहीं है। अब नकार के स्थान पर झल् (स्) परे रहते अनुस्वार होकर यशांसि रूप सिद्ध हुआ। आक्रम् स्यते- यहाँ पूर्ववत् अपद होने से म् के स्थान पर अनुस्वार होकर आक्रंस्यते रूप बना। मन् यसे यहाँ मन् पद नहीं है। अतः 'न्' अपदान्त है, परन्तु इससे परे यकार है, जो झल् नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा अनुस्वार नहीं होगा। सूत्र में झलि ऐसा कहने का फल यही है, ताकि मन्यसे में अनुस्वार न हो।

अन्य उदाहरण - स्रोतान् सि- स्रोतांसि । मनान् सि- मनांसि। संगम् स्यते-संगंस्यते।

११. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८/४/५७) स्पष्टम्। शान्तः ।

अनुस्वारस्येति- यय् परे रहते अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण हो। अनुस्वार स्थानी है तथा

परसवर्ण आदेश है। अतः नासिका स्थान साम्य होने के कारण आदेश के रूप में वर्गों के पञ्चम वर्ण होंगे। शाम् तः यहाँ नश्चापदा० के द्वारा अनुस्वार तथा अनुस्वार को प्रकृत सूत्र के द्वारा तकार का परसवर्ण (नकार) हो गया। शाम् तः- शांतः - शान्तः ।

अन्य उदाहरण - शम् का शङ्का गुम् फितः- गुम्फितः । उम्-छितः उञ्छितः।। अम् कितः अङ्कितः। कुम् ठितः- कुण्ठितः । नम् दितः नन्दितः। गम् गा- गङ्गा।

१२. खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८/३/१५)

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः । (वा०) संपुङ्कानां सो वक्तव्यः। सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता। खरिति-ख ्परे रहते और अवसान में पदान्त रेफ को विसर्ग हो। उपर्युक्त दोनों स्थलों में रेफ से ख ्(सकार) परे है, अतः रेफ को विसर्ग हो गया।

समिति-सम्, पुम् और कान् शब्दों के विसर्ग के स्थान पर सकार हो।

सरु स्कर्त्ता- यहाँ 'रु' से पूर्ववर्ती अकार को क्रमशः अनुनासिक और अनुस्वार करने पर सँरुस्कर्त्ता, तथा संर् स्कर्त्ता। सँस् स्कर्त्ता, संस् स्कर्त्ता। इन दोनों स्थितियों में विसर्जनीयस्य सः से प्राप्त विसर्ग को बाध कर वा शरि से विकल्प से विसर्ग हुआ। तब प्रस्तुत वार्तिक से नित्य सकारादेश होगा। सँस् स्कर्त्ता तथा संस् स्कर्त्ता-इन दोनों स्थलों पर वार्तिक के द्वारा विसर्ग के स्थान पर सकार होकर सँस्स्कर्त्ता तथा संस्स्कर्त्ता रूप सिद्ध होंगे। इसी प्रकार सम् स्कृतम् से सँस्स्कृतम् तथा संस्स्कृतम् रूप बनेंगे।

१३. विसर्जनीयस्य सः (८/३/३४)

खरि। चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व। अप्रशान् किम्-प्रशान्तनोति । पदान्तस्येति किम्-हन्ति ।

विसर्जनीयस्येति-खर् परे रहते विसर्ग को सकार आदेश हो।

चक्रिन् त्रायस्व- में पदान्त नकार के परे छव् (तकार) है तथा उसके पश्चात् अम् (रेफ) भी है। अतः यहाँ नकार को 'रु' होकर चक्रि रु त्रायस्व बन गया। अब अनुनासिक तथा पक्ष में अनुस्वार होकर चक्रि रु त्रायस्व चक्रिं रु त्रायस्व बनेंगे। अब रु के स्थान पर विसर्ग तथा विसर्ग के स्थान पर सकार होकर चक्रिँस्त्रायस्व' तथा चक्रिंस्त्रायस्व बनेंगे।

पूर्व सूत्र में विहित कार्य प्रशान् के विषय में निषेध न किया होता तो प्रशान् तनोति में प्रशांस्तनोति होता, जो अभीष्ट नहीं है। अतः सूत्र में अप्रशान् का पाठ किया गया। सूत्रकार्य पदान्त में ही हो अन्यथा उक्त कार्य हन् तिश् यहाँ होकर हंस्ति होगा। अतः पूर्व सूत्र में पदान्त ऐसा कहा गया, क्योंकि हन् पद नहीं है।

स्मरणीय बिंदु

1. हल सन्धि को व्यंजन सन्धि भी कहा जाता है जहाँ व्यंजन का व्यंजन या स्वर के साथ मेल होता है।

2. श्चुत्व सन्धि में सकार या तवर्ग का शकार या चवर्ग के साथ योग होने पर परिवर्तन होता है।

3. झलां जशोऽन्ते सूत्र के अनुसार पद के अंत में स्थित झल् वर्णो के स्थान पर जश् आदेश होता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. हल सन्धि किसे कहते हैं? श्चुत्व और ष्टुत्व सन्धि के सूत्रों की सोदाहरण विस्तार से व्याख्या कीजिए?

2. जशत्व सन्धि के नियमों को स्पष्ट करते हुए वागीशः और अजब्जः जैसे उदाहरणों की सिद्धि प्रक्रिया समझाइए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सकार के बाद यदि षकार आए तो किस सूत्र से परिवर्तन होता है और क्या परिवर्तन होता है?

2. खरि च सूत्र का अर्थ उदाहरण सहित संक्षेप में लिखिए?

3. सन्निधिः और तट्टीका पदों का सन्धि विच्छेद करते हुए संबंधित सूत्रों के नाम लिखिए?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. स्तोः श्चुना श्चुः सूत्र द्वारा कौन सी सन्धि की जाती है?

(क) जशत्व सन्धि (ख) श्चुत्व सन्धि

(ग) ष्टुत्व सन्धि (घ) चर्त्व सन्धि

2. तट्टीका का सही सन्धि विच्छेद क्या है?

(क) तत् + टीका (ख) तत + टीका

(ग) तट + टीका (घ) तद + टीका

3. झलां जशोऽन्ते सूत्र में जश् आदेश किस स्थान पर होता है?

(क) पद के आदि में　　　(ख) पद के मध्य में

(ग) पद के अन्त में　　　(घ) कहीं भी

4. सत् + चित् की सन्धि होने पर कौन सा पद बनेगा?

(क) सचिचत्　　　(ख) सचित्

(ग) सश्चित्　　　(घ) सच्चित्

5. ष्टुना ष्टुः सूत्र में तवर्ग के स्थान पर क्या आदेश होता है?

(क) चवर्ग　　　(ख) टवर्ग

(ग) पवर्ग　　　(घ) कवर्ग

इकाई-2.2 विसर्गसन्धिः

अथ विसर्गसन्धिः

उद्देश्य

1. विसर्ग सन्धि के प्रमुख सूत्रों जैसे ससजुषो रुः और अतो रोरप्लुतादप्लुते के स्वरूप को समझना।

2. विसर्ग के स्थान पर होने वाले विभिन्न परिवर्तनों जैसे सत्व उत्व और रुत्व की प्रक्रिया का ज्ञान प्राप्त करना।

3. संस्कृत पदों में विसर्ग सन्धि की पहचान करने और उनके विच्छेद में दक्षता प्राप्त करना।

परिणाम

1. विद्यार्थी विसर्ग सन्धि के नियमों का प्रयोग करके शुद्ध संस्कृत वाक्यों का निर्माण कर सकेंगे।

2. विसर्ग में होने वाले ध्वनि परिवर्तनों के पीछे के व्याकरणिक तर्कों को समझने की क्षमता विकसित होगी।

3. सन्धि विच्छेद और सन्धि योजन की प्रक्रिया में सटीकता और गति आएगी।

१. विसर्जनीयस्य सः (८/३/३३) खरि। विष्णुस्त्राता ।

विसर्जनीयस्येति- खर् परे रहते विसर्जनीय के स्थान पर सकार आदेश हो। विष्णुः त्राता यहाँ विसर्ग से परे खर् (त्) है। अतः सकार होकर **विष्णुस्त्राता** हो गया।

अन्य उदाहरण- रामः तिष्ठति रामस्तिष्ठति। देवः तत्र देवस्तत्र। छात्रः चलति छात्रस् चलति - छात्रश्चलति (श्चुत्व होकर)।

२. वा शरि (८/३/३६)

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा। हरिः शेते, हरिश्शेते। वेति-शर् परे रहते विसर्ग के स्थान पर विकल्प से विसर्ग हो। हरिः शेते यहाँ विसर्ग से परे शकार शर् है। अतः विकल्प से विसर्ग होगा। हरिःशेते। विसर्ग अभाव पक्ष में खर् परे रहते **विसर्जनीयस्य सः** इससे सकार तथा **स्तोः श्चुना श्चुः** के द्वारा चुत्व होकर **हरिस्शेते-हरिश्शेते** रूप बन गया।

अन्य उदाहरण- बालः शेते बालः शेते, बालश्शेते।

३. (विसर्जनीयस्य सः) विसर्ग के बाद खर् (वर्ग के १, २, श, ष, स) हो तो विसर्ग को स् हो जाता है। (श् या चवर्ग के बाद मे हो तो श्चुत्व सन्धि भी।) जैसे,

हरिः + त्रायते = हरिस्त्रायते । बालः + चलति = बालश्चलति ।

रामः + तिष्ठति = रामस्तिष्ठति । राम + शेते = रामश्शेते ।

कः + चित् = कश्चित् । जनाः + तिष्ठन्ति = जनास्तिष्ठन्ति ।

निः + चलः = निश्चलः । रामः + च = रामश्च ।

४. (ससजुषो रुः) पद के अन्तिम स् को रु (:) होता है। सजुष् शब्द के ष् को भी रु होता है। सूचना - इस रु का साधारणतया विसर्ग (:) ही बचता है। इसी रु को सन्धिनियम १५, १६ और १७ से उ या य् होता है। जहाँ उ या य् नही होगा, वहाँ पर या तो विसर्ग बचेगा या र् बचेगा।

५. (अतो रोरप्लुतादप्लुते) हत्व अ के बाद रु (: या र्) को उ हो जाता है, बाद मे ह्रस्व अ हो तो । (सूचना- इस उ को पूर्ववर्ती अ के साथ सन्धि नियम ३ से गुणसन्धि करके ओ हो जाता है और बाद के अ को सन्धि-नियम ५ से पूर्वरूप सन्धि होती है। अतएव अ + अ = ओऽ होता है।) जैसे,

रामः + अस्ति = रामोऽस्ति । रामः + अवदत् = रामोऽवदत् ।

कः + अपि = कोऽपि । नृपः + अगच्छत् = नृपोऽगच्छत् ।

सः + अपि = सोऽपि । देवः + अधुना = देवोऽधुना ।

सः + अपठत् = सोऽपठत् । कः + अयम् = कोऽयम् ।

सूचना- स्मरण रखें कि रामः, कः आदि में सब स्थानों पर स् का ही सन्धि-नियम १४ के अनुसार विसर्ग (:) दीखता है। यह विसर्ग मूलरूप मे सु (स्) है, उसी को रु (र् या :) होता है। जहाँ पर उ या य् नहीं होगा, जहाँ पर र् शेष रहता है। अतः सन्धि-नियम १४ से अ आ के अतिरिक्त अन्य स्वरों के बाद विसर्ग का 'र्' शेष रहता है, बाद में कोई स्वर या व्यजन (३, ४, ५) हो तो । जैसे,

हरिः + अवदत् = हरिरवदत् । लक्ष्मीः + इयम् = लक्ष्मीरियम् ।

गुरुः + अस्ति = गुरुरस्ति । वधूः + एषा = वधूरेषा ।

शिशुः+ आगच्छत् = शिशुरागच्छत् । गुरोः + भाषणम् = गुरोर्भाषणम्

पितुः + इच्छा = पितुरिच्छा । हरेः + द्रव्यम् = हरेर्द्रव्यम् ।

६. (हशि च)

ह्रस्व अ के बाद रु (र् याः) को उ हो जाता है, बाद में हश् (वर्ग के ३, ४, ५, ६, ह, य, व, र, ल) हो तो। (**सूचना**- सन्धि-नियम १५ बाद में अ हो तब लगता है, यह बाद में हश् हो तो। उ करने के बाद सन्धि-नियम ३ से गुण होकर ओ होगा। अतः अः + हश् = ओ + हश् होगा, अर्थात् अः को ओ) जैसे-

रामः + वन्द्यः = रामो वन्द्यः । देवः + गच्छति = देवो गच्छति ।

कृष्णः + वदति = कृष्णो वदति ।बालः + हसति = बालो हसति ।

बालः + लिखति = बालो लिखति । नृपः + रक्षति = नृपो रक्षति ।

रामः + जयति = रामो जयति । शिष्यः + यजति = शिष्यो यजति ।

७. (भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि)

भोः, भगो., अधोः शब्द और अ या आ के बाद रु (र् या) को य् होता है, बाद मे अस् (स्वर, ह, य, व, र, ल, वर्ग के ३, ४, ५) हो तो । (सूचना - १. हलि सर्वेषाम्, २ लोपः शाकल्यस्य । य् के बाद यदि कोई व्यजन होगा तो य् का लोप अवश्य होगा। य् के बाद यदि कोई स्वर होगा तो य् का लोप ऐच्छिक है। यदि लोप करेंगे तो कोई दीर्घ, गुण, वृद्धि आदि सन्धि-कार्य नही होगा । अर्थात् अः या आः + अश् = अ या आ + अश् ।) जैसे,

देवाः + गच्छन्ति = देवा गच्छन्ति । रामः + इच्छति = राम इच्छति ।

नराः + हसन्ति = नरा इसन्ति । शिष्याः + एते = शिष्या एते ।

देवाः + इह = देवा इह, देवायिह । छात्राः + लिखन्ति = छात्रा लिखन्ति ।

कन्याः + इच्छन्ति = कन्या इच्छन्ति । पुत्रः आगच्छति = पुत्र आगच्छति ।

८. (एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि)

सः और एषः के विसर्ग का लोप होता है, बाद मे कोई हल् (व्यंजन) हो तो। (सकः, एषकः, असः, अनेषः के विसर्ग का लोप नहीं होगा ।) (**सूचना**- सः, एषः के बाद अ होगा तो सन्धि-नियम १५ से 'ओऽ' होगा। अन्य स्वर बाद में होगें तो सन्धिनियम १७ से विसर्ग का लोप होगा ।)

(१) सः + पठति = स पठति । (२) सः + अयम् = सोऽयम् ।

सः + लिखति = स लिखति । सः + आगतः = सः आगतः ।

एषः + वदति = एष वदति । सः + इच्छति = स इच्छति ।

एषः + गच्छति = एष गच्छति । एषः + अपि = एषोऽपि ।

स्मरणीय बिंदु

1. विसर्ग सन्धि में मुख्य रूप से विसर्ग के स्थान पर स र उ अथवा लोप का विधान किया जाता है।

2. खरवसानयोर्विसर्जनीयः सूत्र के अनुसार ख ्परे होने पर अथवा अवसान में रेफ के स्थान पर विसर्ग होता है।

3. विसर्ग सन्धि की प्रक्रिया में ससजुषो रुः सूत्र अत्यंत महत्वपूर्ण है जो पद के अंत में स्थित सकार को रुत्व करता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. विसर्ग सन्धि किसे कहते हैं? विसर्ग के स्थान पर सकार और उकार आदेश करने वाले प्रमुख सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए?

2. विसर्ग लोप की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उससे संबंधित सूत्रों और नियमों को विस्तार से समझाइए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विसर्जनीयस्य सः सूत्र किस स्थिति में विसर्ग को सकार करता है? उदाहरण सहित लिखिए।

2. भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि सूत्र का अर्थ संक्षेप में स्पष्ट कीजिए?

3. शिवोऽर्च्यः और मनोरथः पदों की सन्धि विच्छेद करते हुए सूत्रों के नाम लिखिए?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. विसर्जनीयस्य सः सूत्र द्वारा विसर्ग के स्थान पर क्या आदेश होता है?

(क) उकार (ख) रेफ

(ग) सकार (घ) लोप

2. नमस्ते का सही सन्धि विच्छेद क्या है?

(क) नमस + ते (ख) नमः + ते

(ग) नमा + ते (घ) नमः + इते

3. विसर्ग के बाद खर प्रत्याहार के वर्ण होने पर विसर्ग को क्या होता है?

(क) सकार (ख) उकार

(ग) यकार (घ) लोप

4. अतो रोरप्लुतादप्लुते सूत्र किस प्रकार की सन्धि का विधान करता है?

(क) सत्व सन्धि (ख) उत्व सन्धि

(ग) रुत्व सन्धि (घ) लोप सन्धि

5. विसर्ग सन्धि में रेफ (र) के स्थान पर विसर्ग किस सूत्र से होता है?

(क) ससजुषो रुः (ख) विसर्जनीयस्य सः

(ग) खरवसानयोर्विसर्जनीयः (घ) आद्गुणः

इकाई-2.3

अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्

उद्देश्य

1. अव्यय संज्ञा करने वाले सूत्रों और उनके भाषायी महत्व को समझना।
2. स्त्री प्रत्ययों जैसे टाप् और डीप् के प्रयोग और उनके नियमों का ज्ञान प्राप्त करना।
3. संस्कृत पदों में अव्यय और स्त्री प्रत्ययों की पहचान कर पद निर्माण में निपुणता प्राप्त करना।

परिणाम

1. विद्यार्थी पुल्लिंग शब्दों से शुद्ध स्त्रीलिंग पदों का निर्माण करने में सक्षम होंगे।
2. वाक्यों में अव्यय पदों का सही प्रयोग करने की क्षमता विकसित होगी।
3. संस्कृत व्याकरण की पद सिद्धि प्रक्रिया में प्रत्ययों के प्रभाव का स्पष्ट बोध होगा।

१. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१/२/४५)

धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वा अर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्। अर्थवदिति जो धातु न हो, प्रत्यय न हो तथा प्रत्ययान्त न हो ऐसे अर्थवान् (सार्थक) शब्द प्रातिपदिक संज्ञक हो। अध ातुः अर्थात् जो धातु न हो। इस प्रकार अपठन् की प्रातिपदिक संज्ञा न हुई, अन्यथा प्रातिपादिक संज्ञा होकर नकार का लोप प्राप्त हो जायेगा। अप्रत्ययः अर्थात् प्रत्यय को छोड़कर हो अन्यथा रामेषु पद में सुप् की प्रातिपदिक संज्ञा हो जायेगी। प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् अर्थात् प्रत्यय ग्रहण के सम्बन्ध में तदन्त का ग्रहण किया जाता है। अतः श्प्रत्ययान्त की उक्त संज्ञा न होश ऐसा कहा गया। ऐसा न कहने से नदीभिः (प्रत्ययान्त) सम्पूर्ण शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हो जायेगी और सुपो धातुप्रतिपदिकयोः के द्वारा सुप् विभक्ति का लोप हो जायेगा। अर्थवद् अर्थात् सार्थक हो ऐसा कहा गया है। यदि अर्थहीन शब्द की उक्त संज्ञा हो जायेगी तो अनर्थ हो जायेगा। तब धन शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा के साथ-साथ इसके अवयव स्वरूप ध, अ. न्, अ इन निरर्थक वर्णों की भी प्रातिपदिक संज्ञा हो जायेगी। उन वर्णों की उक्त संज्ञा न हो इसलिए अर्थवद् ऐसा कहा गया।

२. कृत्तद्धितसमासाश्च (१/२/४६) कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च तथा स्युः।

कृदिति कृत् प्रत्ययान्त, तद्धित प्रत्ययान्त तथा समास भी प्रातिपदिक संज्ञक हों।

पूर्व सूत्र में प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा वर्जित की गयी है। अतः प्रकृत सूत्र में कृत् प्रत्ययान्त तथा तद्धित प्रत्ययान्त का ग्रहण किया गया है।

कृदन्त–कर्ता, गायक, कारक आदि कृदन्त होने के कारण इनकी प्रातिपदिक संज्ञा हो गई । तद्धितान्त शब्द का अर्थ है– तद्धित प्रत्यय से युक्त। यहाँ ध्यान रहे कि कुछ प्रत्यय (अकच्) टि से पूर्व में भी होते हैं। औपगवः तथा नाडायनः तद्धितान्त शब्द है। समास। यथा राजपुरुषः।

३ . प्रत्ययः (३/१/१)

प्रत्यय इति– सु आदि की प्रत्यय संज्ञा हो। पूर्व सूत्र तथा प्रकृत सूत्र अधिकार सूत्र हैं।

४. परश्च् (३/१/२)

इत्यधिकृत्य। ङ्न्ताद् आबन्तात् प्रातिपदिकात् च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः। परश्च इति– यह अधि कार सूत्र है। ङ्यन्त, आबन्ता तथा प्रातिपदिक से परे 'सु' आदि प्रत्यय हों।

अधिकार सूत्र की परिभाषा इस प्रकार है–

स्वदेशे **वाक्यार्थबोधशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थबोधकत्वमधिकारत्वम्** अर्थात् अपने स्थान पर जिन सूत्रों का अपना अपना अर्थ बोध नहीं होता परन्तु दूसरे स्थान (सूत्रों) में जाकर उनके साथ मिलकर अपना अर्थबोध कराते हैं, उन्हें अधिकार सूत्र कहते हैं।

५. ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४/१/१)

ङीति– ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक से (प्रत्यय) होते हैं। ङ्यन्त के द्वारा ङीप्, ङीष्, ङीन् तथा आबन्त के द्वारा टाप्, डाप्, चाप् लिङ्ग विधायक प्रत्ययों का ग्रहण होता है। ये न कृत् है तथा न ही तद्धित हैं। अतः इनकी (कृत्तद्धित० से) प्रातिपदिकसंज्ञा नहीं हो सकती। इनसे 'सु' की प्राप्ति प्रकृत सूत्र द्वारा कही है। **प्रत्ययग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्** इस परिभाषा के बल पर सभी स्त्रीप्रत्ययों का ग्रहण होता है।

६.स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्(४/१/२)

सु औ जस् इति प्रथमा। अम् औट् शस् इति द्वितीया। **टा भ्याम् भिस्** इति तृतीया। ङे भ्याम् भ्यस् इति चतुर्थी। ङसि भ्याम् भ्यस् इति पञ्चमी। ङस् ओस् आम् इति षष्ठी। ङि ओस् सुप् इति सप्तमी। स्वौजसिति–सु आदि २१ प्रत्यय हैं। इन्हें सुप् प्रत्याहार के नाम से जाना जाता है। विभक्तियाँ सात होती हैं तथा प्रत्येक के तीन–तीन वचन होते हैं। प्रत्येक विभक्ति के तीनों वचनों में प्रत्यय होंगे। तथा अनुबन्धसंज्ञक वर्णो का लोप हो जाता है।

७. सुपः (१/४/१०२)

सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन द्विवचन बहुवचन-संज्ञानि स्युः।

सुप इति- सुप् प्रत्याहार के तीन-२ के सात विभाग होंगे। जिन्हें विभक्ति कहा जाता है। सातों विभक्तियों के वचनों की क्रमशः एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन संज्ञा होती है।

८. द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१/४/२२) द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः ।

द्व्येकयोरिति- एक और दो की विवक्षा में क्रमशः एकवचन तथा द्विवचन होता है।

अपदं न प्रयुञ्जीत अर्थात् भाषा में निर्विभक्तिक (सु आदि विभक्ति रहित) शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसलिए प्रत्येक शब्द के साथ कोई न कोई विभक्ति अवश्य लगेगी। शब्द को प्रयोग के लिए साधु बनाने के उद्देश्य से सामान्यतः प्रथमा एकवचन (सु) का निर्देश कर दिया जाता है। कहा भी है **एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते**। अतः 'सु' का प्रयोग एकत्व संख्या के उद्देश्य के बिना केवल शब्द की साधुता प्रदर्शन के उद्देश्य से भी होता है।

९. बहुषु बहुवचनम् (१/४/२१) बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात् ।

बहुष्विति - बहुत की विवक्षा में बहुवचन हो।

१०. विरामोऽवसानम् (१/४/१०९) वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात् ।

रुत्वविसर्गौ- रामः। विराम इति - वर्णों के अभाव की अवसान संज्ञा हो।

ह्रस्व अकारान्त शब्द - राम शब्द की अर्थवद् अधातु० सूत्र के द्वारा प्रातिपदिक संज्ञा होकर ङ्याप्प्राति०- प्रत्ययः तथा परश्च इन तीनों सूत्रों के अधिकार बल से स्वौजस्० से सु आदि प्रत्ययो की प्राप्ति हुई। अब प्रथमा एकवचन की विवक्षा में द्व्येकयो० के द्वारा सु प्रत्यय हुआ। **राम सु**। **उपदेशेऽजनु०** के द्वारा 'सु' के उकार की इत्संज्ञा तथा तस्य लोपः से उकार का लोप हुआ। राम स्। ससजुषो रुः के द्वारा 'रु' तथा उकार की पूर्ववत् इत् संज्ञा व लोप हो गया। राम र् । 'विरामोऽवसानम्' के द्वारा रेफ की अवसान संज्ञा तथा खरवसानयोः ० के द्वारा विसर्ग हुआ। रामः। इस सुबन्त प्रकरण में रामः शब्द की सिद्धि में 'सु' की उत्पत्ति पर्यन्त जो प्रक्रिया दिखलाई गई है, उसकी पुनरावृत्ति सर्वत्र होगी। प्रक्रिया के चरण इस प्रकार होंगे-

१. अर्थवदधा०-कृत्तद्धि० से प्रातिपदिक संज्ञा। २. प्रत्ययः अधिकार ३. परश्च-अधिकार ४. ङ्याप्प्राति०-अधिकार ५. स्वौजसम्०- सु आदि की उत्पत्ति। ६. सुपः-त्रिक विभाग। छात्रों को प्रत्येक सुबन्त शब्द की सिद्धि में इस प्रक्रिया को दोहराना चाहिए।

राम शब्द की प्रथमा विभक्ति में प्रकृत सूत्र के द्वारा एक ही 'राम' शब्द अवशेष रह गया तथा द्विवचन का बोध कराने के लिए 'द्व्येकयो०' से **औ** प्रत्यय की प्राप्ति हुई। 'राम औ' यहाँ 'वृद्धिरेचि' के द्वारा वृद्धि प्राप्त हुई।

११. प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६/१/९८)

अकः प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्याद् इति प्राप्ते- प्रथमयोरिति-अक् से प्रथमा तथा द्वितीया का अच् परे रहते पूर्व सवर्ण दीर्घ आदेश होता है।

सूत्र में पठित प्रथमयोः पद में द्विवचन होने से प्रथमा तथा द्वितीया का ग्रहण होता है। राम औ' यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्व सवर्ण दीर्घ आदेश आकार प्राप्त है। इसके अनुसार अकार तथा औकार मिलकर दोनों के स्थान दीर्घ एकादेश (आकार) होना चाहिए।

१२. नाऽऽदिचि (६/१/१००) आदिचि न पूर्वसवर्णदीर्घः। वृद्धिरेचि-रामौ।

नेति- अवर्ण से इच् परे रहते पूर्व सवर्णदीर्घ एकादेश न हो। **राम औ** यहाँ प्राप्त दीर्घ आदेश का बाध प्रकृत सूत्र के द्वारा हो जाता है। अब **वृद्धिरेचि** के द्वारा वृद्धि होकर **रामौ** बन गया।

१३. चुटू (१/३/७) प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः।

चुट्विति-प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग और टवर्ग इत्संज्ञक हों। इस प्रकार जस् के जकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। राम अस् । अस् के सकार की **हलन्त्यम्** के द्वारा इत्संज्ञा प्राप्त है।

१४. विभक्तिश्च (१/४/१०३) सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः।

विभक्तिरिति - सुप् और तिङ् विभक्ति संज्ञक हों।

सुप् एक प्रत्याहार है जिसमें सु से लेकर सुप् तक २१ प्रत्ययों का परिगणन किया गया है। तिङ् १८ प्रत्यय हैं जो लकार के स्थान पर होते हैं।

१५. न विभक्तौ तुस्माः (१/३/४) विभक्तिस्थास् तवर्गसमा नेतः। इति सस्य नेत्त्वम् । रामाः।

नेति- विभक्ति में स्थित तवर्ग, सकार तथा मकार की इत्संज्ञा नहीं होती। बहुत की विवक्षा में राम शब्द से प्रथमा में जस् की उत्पत्ति हुई ।

जस् के सकार की हलन्त्यम् से प्राप्त इत्संज्ञा का प्रस्तुत सूत्र से निषेध हो गया। राम अस् । **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश हो गया। रामास् । ससजुषो रुः के द्वारा 'रु' तथा विरामोऽ० से अवसान संज्ञा, खरवसान० से विसर्ग होकर रूप बन गया। रामाः ।

१६. एकवचनं सम्बुद्धिः (२.३.४९) सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात् ।

एकवचनमिति–सम्बोधन में प्रथमा के एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा हो।

१७. यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १ (१/४/१३)

यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते, तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्नङ्गं स्यात् । यस्मादिति जो प्रत्यय जिस (शब्द) से किया जाता है, वह है आदि में जिस समुदाय के, वह शब्द उस प्रत्यय के परे रहते अङ्ग संज्ञक हो। जैसे– भू अ मि में भू धातु से मि किया गया है। वह भू अ इस समुदाय के आदि में है। भू अ की मि प्रत्यय परे रहते अङ्ग संज्ञा हुई।

१८. एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६/१/६७)

एङन्तात् ह्रस्वान्ताच्चाङ्गात् हल् लुप्यते, सम्बुद्धेश्चेत्। हे राम, हे रामौ, हे रामाः।

एङिति – एङन्त और ह्रस्वान्त अंग से परे हल् का लोप हो, सम्बुद्धि की अवस्था में।

हे राम सु। व्यपदेशिवद् भाव से राम शब्द की अङ्ग संज्ञा हो गई। राम हस्वान्त है। इससे परे स् (हल्) है। जो सम्बुद्धि का है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा सकार का लोप होकर हे राम रूप सिद्ध हुआ। द्विवचन तथा बहुवचन में क्रमशः हे रामौ तथा हे रामाः पूर्ववत् हो जायेंगे।

१९. अमि पूर्वः (६/१/१०३) अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । रामम् । रामौ।

अमीति–अक् से अम् (द्वितीया विभक्ति के एकवचन) का अच् परे रहते पूर्वरूप एकादेश हो।

राम अम् – द्वितीया विभक्ति का एकवचन का अम् प्रत्यय है। अकः सवर्णे दीर्घः से प्राप्त दीर्घ को बाधकर अतो गुणे से पररूप की प्राप्ति हुई। प्रथमयोः पूर्व० के द्वारा पूर्व सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति हुई। अब प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ का बाध हो गया तथा पूर्वरूप एकादेश हो गया। रामम् । द्वितीया विभक्ति द्विवचन में राम औट् ऐसी स्थिति हुई। अब प्रथमा विभक्ति द्विवचन में सिद्ध रामौ रूप की तरह समग्र प्रक्रिया होकर रामौ बन गया।

२०. यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १ (१/४/१३) यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते, तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्नङ्गं स्यात् ।

यस्मादिति जो प्रत्यय जिस (शब्द) से किया जाता है, वह है आदि में जिस समुदाय के, वह शब्द उस प्रत्यय के परे रहते अङ्ग संज्ञक हो।

जैसे– भू अ मि में भू धातु से मि किया गया है। वह भू अ इस समुदाय के आदि में है। भू अ की मि प्रत्यय परे रहते अङ्ग संज्ञा हुई।

२१. एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६/१/६७)

एङन्तात् ह्रस्वान्ताच्चाङ्गात् हल् लुप्यते, सम्बुद्धेश्चेत् । हे राम, हे रामौ, हे रामाः। एङिति – एङन्त और ह्रस्वान्त अंग से परे हल् का लोप हो, सम्बुद्धि की अवस्था में।

हे राम सु। व्यपदेशिवद् भाव से राम शब्द की अङ्ग संज्ञा हो गई। राम ह्स्वान्त है। इससे परे स् (हल्) है। जो सम्बुद्धि का है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा सकार का लोप होकर हे राम रूप सिद्ध हुआ। द्विवचन तथा बहुवचन में क्रमशः हे रामौ तथा हे रामाः पूर्ववत् हो जायेंगे।

२२. अमि पूर्वः (६/१/१०३) अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । रामम् । रामौ। अमीति-अक् से अम् (द्वितीया विभक्ति के एकवचन) का अच् परे रहते पूर्वरूप एकादेश हो।

राम अम् - द्वितीया विभक्ति का एकवचन का अम् प्रत्यय है। अकः सवर्णे दीर्घः से प्राप्त दीर्घ को बाधकर अतो गुणे से पररूप की प्राप्ति हुई। प्रथमयोः पूर्व० के द्वारा पूर्व सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति हुई। अब प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ का बाध हो गया तथा पूर्वरूप एकादेश हो गया। रामम्। द्वितीया विभक्ति द्विवचन में राम औट् ऐसी स्थिति हुई। अब प्रथमा विभक्ति द्विवचन में सिद्ध रामौ रूप की तरह समग्र प्रक्रिया होकर रामौ बन गया।

२३. लशक्वतद्धिते (१/३/८) तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः।

लशक्विति-तद्धितभिन्न प्रत्यय के आदि स्वरूप ल्, श्, कवर्ग की इत् संज्ञा हो।

२४. तस्माच्छसो नः पुंसि (६/१/९९) पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात् पुंसि।

तस्मादिति-पूर्वसवर्ण दीर्घ से परे स्थित शस् के सकार के स्थान में नकार होता है, पुँल्लिङ्ग के विषय में। राम शस् (द्वितीया बहुवचन) यहाँ शस् का शकार प्रत्यय के आदि में विद्यमान है तथा तद्धित का विषय भी नहीं है, अतः शकार की लशक्वतद्धिते के द्वारा इत्संज्ञा होकर तस्य लोपः के द्वारा लोप हो गया। राम अस् । अब रामाः की प्रक्रिया की तरह पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर रामास् रूप बन गया। प्रकृत सूत्र के द्वारा सकार को नकार होकर रामान् रूप सिद्ध हो गया।

२५. अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८/४/२) अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् एतैर्व्यस्तैः समस्तैर्यथासंभवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः समानपदे। इति प्राप्ते। अटिति- अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् तथा नुम् इनका पृथक् पृथक्, सबका एक साथ या यथा सम्भव मिलकर (दो या तीन या चार) व्यवधान होने पर भी रेफ तथा षकार से परवर्ती नकार को णकार हो समान पद के विषय में। सम. ानपद से अभिप्राय अखण्ड पद से है अर्थात् जिसके अन्य खण्ड न हों। रामान् यह अखण्ड पद भी है तथा रेफ से परवर्ती नकार के मध्य में अट् (आकार), पवर्ग (मकार) का व्यवधान भी है, अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा नकार को णकार होना चाहिए।

२६. पदान्तस्य (८/४/३६) नस्य णो न । रामान् ।

पदान्तस्येति- पदान्त में स्थित नकार को णकार न हो। रामान् एक पद है क्योंकि इसके अन्त में सुप् विभक्ति है। सुप्तिङन्तं पदम् के अनुसार इसकी पद संज्ञा हो गई। यहाँ नकार को जो णत्व प्राप्त था, उसका पदान्तस्य सूत्र के द्वारा निषेध हो गया। अब रामान् रूप सिद्ध हो गया।

२७. टाङसिङसामिनात्स्याः (७/१/१२)

अदन्तात् टादीनामिनादयः स्युः। णत्वम् । रामेण । अदन्त अङ्ग से परवर्ती टा,ङसि तथा ङस् के स्थान पर इन, आत् तथा स्य आदेश हों। स्थानी तीन हैं तथा आदेश भी तीन हैं, अतः यथासंख्य आदेश होंगे। यथा टा इन; ङसि आत्; डस् स्य। अब तृतीया विभक्ति एकवचन टा प्रत्यय की उत्पत्ति होकर राम टा ऐसी स्थिति हो गई। प्रकृत सूत्र से तथा अनेकाल् शित् सर्वस्य से सम्पूर्ण स्थ. ानी (टा) को इन आदेश हुआ। 'आद्गुणः' के द्वारा गुण एकादेश होकर राम इन- रामेन रूप बना। अट्कुप्वाङ्0 के द्वारा रेफ से परवर्ती व्यवहित नकार को णत्व होकर रामेण रूप सिद्ध हुआ।

२८. सुपि च (७/३/१०२) यञादौ सुपि अतोऽङ्गस्य दीर्घः। रामाभ्याम् ।

सुपीति- यञ् है आदि में जिसके, ऐसे सुप् प्रत्यय के परे रहते अदन्त अङ्ग को दीर्घ आदेश हो।

राम भ्याम् ऐसा होने पर। भ्याम् प्रत्यय यञ् (भकार) से प्रारम्भ होता है तथा राम अदन्त अङ्ग है। अतः राम अङ्क को दीर्घ होकर रामाभ्याम् बन गया।

२९. अतो भिस ऐस् (६/१/९)

अदन्तात् अङ्गात् परस्य भिस ऐस् स्यात् । अनेकाल् शित् सर्वस्य। रामैः।

अत इति-अदन्त अङ्ग से परवर्ती भिस् को ऐस् आदेश हो।

क्योंकि ऐस् आदेश में अनेक अल् है, अतः अनेकाल्शित् सर्वस्य के द्वारा यह आदेश भिस् इस समग्र शब्द के स्थान पर होगा। राम भिस् ऐसा होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा भिस् के स्थान पर ऐस् आदेश हो गया। राम ऐस् । अब वृद्धिरेचि के द्वारा वृद्धि आदेश होकर रामैस् तथा सकार को रुत्व व विसर्ग आदेश होकर रामैः बन गया।

३०. ङेर्यः (७/१/१३)। अतोऽङ्गात् परस्य ङेर्यादेशः।

ङेरिति-अदन्त अङ्ग से परवर्ती ङे (चतुर्थी एकवचन) के स्थान पर य आदेश हो। राम ङे ऐसा होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा ङे के स्थान पर य आदेश हो गया।

३१. बहुवचने झल्येत् (७/३/१०३)

झलादौ बहुवचने सुपि अतोऽङ्गस्यैकारः। रामेभ्यः। सुपि किम् - पचध्वम् ।

बहुवचन इति- झलादि बहुवचन सुप् परे रहते अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो। अलोऽन्त्यस्य परिभाषा के द्वारा अन्त्य अल् के स्थान पर आदेश हो गया।

राम भ्यस् यहाँ राम की अङ्ग संज्ञा हो गई। राम से परे भ्यस् है जो झलादि और सुप् भी है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा राम के मकारोत्तरवर्ती अकार को एकार आदेश तथा सकार को रुत्व व विसर्ग होकर रामेभ्यः बन गया।

प्रकृत सूत्र का कार्य झलादि सुप् के परे रहते होगा, अन्य प्रकार के झलादि प्रत्यय के परे रहते

नहीं होगा। यदि सुपि ऐसा न कहा जाता तो पचध्वम् यहाँ पचेध्वम् रूप बन जाता। क्योंकि ध्वम् प्रत्यय झलादि तो है परन्तु सुप् नहीं है। अतः यहाँ एकारादेश नहीं होगा। राम ङसि (पञ्चमी एकवचन) यहाँ टाङसिङसाम्० सूत्र के द्वारा ङसि के स्थान पर आत् आदेश हो गया। तब अकः सवर्णे दीर्घः के द्वारा सवर्ण दीर्घ होकर राम ङसि (आत्) - रामात् बन गया। अब **झलां जशोऽन्ते** के द्वारा तकार के स्थान पर दकार हुआ। रामाद्।

३२. वाऽवसाने (८/४/५५)

अवसाने झलां चरो वा स्युः। रामात् रामाद्, रामाभ्याम्, रामेभ्यः। रामस्य ।

वेति- अवसान में झर् के स्थान पर विकल्प से चर् हो।

रामाद् के दकार को विकल्प से चर् हुआ। रामात् । पक्ष में रामाद्। पञ्चमी के द्विवचन तथा बहुवचन में चतुर्थी विभक्ति के रामाभ्याम् तथा रामेभ्यः की तरह प्रक्रिया होगी। राम ङस् - यहाँ टाङसिङसाम्० सूत्र के द्वारा ङस् के स्थान पर स्य आदेश हो गया। स्य की विभक्ति सञ्ज्ञा है। यह झलादि भी है परन्तु बहुवचन का नहीं है। अतः बहुवचने झल्येत् प्रवृत्त न हुआ। रामस्य ।

३३. ओसि च (७/३/१०४) अतोऽङ्गस्यैकारः। रामयोः ।

ओसीति- अदन्त अङ्ग के स्थान में एकार आदेश हो ओस् परे रहते।

राम ओस् (षष्ठी द्विवचन) में ओस् परे रहते राम की अङ्ग सञ्ज्ञा। प्रकृत सूत्र तथा अलोऽन्त्यस्य के द्वारा राम शब्द के अकार को एकार आदेश होकर रामे ओस् बन गया। एचोऽयवायावः के द्वारा अयादेश होकर रामयोः रूप सिद्ध हुआ। **३४. ह्रस्वनद्यापो नुट् (७/१/५४)** ह्रस्वान्तान् नद्यन्ताद् आबन्ताच्चाङ्गात् परस्यामो नुडागमः।

ह्रस्वेति- ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आबन्त अङ्ग से परवर्ती आम् प्रत्यय को नुट् आगम हो।

नुट् का टकार व उकार इत्संज्ञक है। टित् होने से आद्यन्तौ० सूत्र के द्वारा आदि अवयव होगा। राम आम् (षष्ठी बहुवचन)। प्रकृत सूत्र के द्वारा नुट् आगम होकर राम न् आम् हुआ।

३५. नामि (६/४/३) अजन्ताङ्गस्य दीर्घः (नामि)। रामाणाम् । रामे। रामयोः।

एत्वे कृते- नामीति- नाम् परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ हो। अलोऽन्त्यस्य के बल पर राम शब्द के अन्त्य वर्ण को ही होगा। राम नाम् यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा दीर्घ होकर तथा अट्कुप्वाङ्नुम् ० के द्वारा नकार को णकार होकर रामाणाम् हो गया। राम ङि सप्तमी एक वचन में ङि के ङकार का लशक्वतद्धिते के द्वारा इत् सञ्ज्ञा होकर राम इ हो गया। आद्गुणः से गुण होकर रामे रूप सिद्ध हुआ। रामयोः की रूप सिद्धि षष्ठी विभक्ति के द्विवचन की भाँति होगी। राम सुप् सप्तमी बहुव० में हलन्त्यम् के द्वारा पकार की इत्संज्ञा तथा बहुवचने झल्येत् के द्वारा राम के अन्त्य अकार को एकारादेश होकर रामे सु हो गया।

३६. आदेशप्रत्यययोः (८/३/५९)

इण्कुभ्यां परस्यापदान्तस्य आदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव ष। रामेषु। एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः।

आदेशेति– इण् और कवर्ग से परवर्ती सकार को मूर्धन्य आदेश हो यदि सकार अपदान्त, आदेश स्वरूप या प्रत्यय का अवयव हो। रामे सु यहाँ सकार इण् से परे है, अपदान्त भी है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा उसे मूर्धन्य आदेश होगा। सकार ईषद्विवृत है, अतः इसके स्थान पर ईषद् विवृत षकार ही होगा। रामेषु।

राम शब्द के आठों विभक्तियों के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	रामः	रामौ	रामाः
द्वि०	रामम्	रामौ	रामान्
तृ०	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
च०	रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
पं०	रामात्–द्	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
ष०	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
स०	रामे	रामयोः	रामेषु
सं०	हे राम	हे रामौ	हे रामाः

ह्रस्व अकारान्त शब्द - सर्व

३७. सर्वादीनि सर्वनामानि (१/१/२६)

सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसञ्ज्ञानि स्युः। सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम।

(ग. सू) पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम् ।

(ग.सू) स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्।

(ग.सू) अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः।

त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्।

सर्वादीनीति– सर्व आदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है। सर्वादि एक गण है। ये शब्द जब

सभी के अर्थ में प्रयुक्त हों तभी इनकी सर्वनाम संज्ञा होती है, अन्यत्र नहीं। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति का नाम सर्व है तो उस व्यक्ति के बोधक सर्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी। कहा गया है- **संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः** अर्थात् संज्ञा या गौण होने की अवस्था में सर्वादिशब्दों की उक्त संज्ञा न हो। यह अन्वर्थक अर्थात् अर्थानुसार संज्ञा है। इसीलिए आचार्य ने सर्वनाम ऐसी बड़ी संज्ञा कहीं है, अन्यथा टि , घु की तरह इसे भी छोटा नाम दे देते।

अब सर्व शब्द के रूप सिद्ध किए जाते हैं। प्रथमा के एकवचन तथा द्विवचन में राम शब्द की तरह सर्वः , सर्वौ होंगे।

३८. जसः शी (७/१/१७)

अदन्तात् सर्वनाम्नो जसः शी स्यात् । अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः। सर्वे।

जश इति- अदन्त सर्वनाम से परवर्ती जस् के स्थान पर शी आदेश हो। अदन्त के द्वारा सर्व आदि अदन्त शब्दों का ग्रहण होता है तथा उन सर्वनाम शब्दों का भी ग्रहण होता जो प्रक्रिया दशा में अदन्त बन जाते हैं। यथा- इदम् शब्द मकारान्त है, परन्तु बाद में **त्यदादी०** सूत्र के द्वारा अक. ारान्त हो जाता है। अतः यहाँ इस का भी ग्रहण किया जाए। सर्व जस् यहाँ शी के अनेकाल् होने से **अनेकाल्शित्सर्वस्य** के बल पर शी आदेश समग्र जस् के स्थान पर होगा। सर्व शी। स्थानिवद् आदेशो० के द्वारा शी आदेश में जस् का प्रत्ययत्व धर्म (सुप्त्व इत्यादि) प्राप्त हो गए। अब लशक्वतद्धिते के द्वारा शी के शकार की इत्संज्ञा हो गई। तस्य लोपः के द्वारा इत्सज्ञंक श् का लोप हो गया। सर्व ई। आद्गुणः के द्वारा गुण होकर। सर्वे।

आगे के रूप राम शब्द की तरह सर्वम्, सर्वान्, सर्वेण, सर्वाभ्याम्, सर्वैः ।

३९. सर्वनाम्नः स्मै (७/१/१४) अतः सर्वनाम्नो ङेः स्मै। सर्वस्मै।

सर्वनाम्न इति- अदन्त सर्वनाम से परवर्ती ङे के स्थान पर स्मै हो।

सर्व ङे - यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा ङे के स्थान में स्मै होकर सर्वस्मै रूप बना। यह सूत्र ङेर्यः का अपवाद है।

४०. ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (७/१/१५) अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः। सर्वस्मात् ।

ङसीति- अदन्त सर्वनाम से परवर्ती ङसि और ङि के स्थान पर क्रमशः स्मात् तथा स्मिन् आदेश हों। स्मात् के त् की तथा स्मिन् के न् की हलन्त्यम् से इत्सञ्ज्ञा प्राप्त है। न विभक्तौ तुस्माः से निषेध हो गया। दो स्थानी (ङसि, ङि) हैं तथा दो ही आदेश (स्मात्, स्मिन्) हैं। यथा संख्यमनुदेशः समानाम् से ङसि के स्थान पर स्मात् और ङि के स्थान पर स्मिन् होता है। सर्वाभ्याम्। सर्वेभ्यः। सर्व ङसि यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा स्मात् आदेश होकर सर्वस्मात् रूप सिद्ध हुआ। आगे सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः, सर्वस्य, सर्वयोः रूप राम की तरह होते हैं।

४१. आमि सर्वनाम्नः सुट् (७/१/५२)

अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुडागमः स्यात् । एत्वषत्वे-सर्वेषाम्। सर्वस्मिन् । शेषं रामवत् । एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः। उभशब्दो (नित्यं) द्विवचनान्तः। उभौ, उभाभ्याम्, उभयोः तस्येह पाठोऽकजर्थः। उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति। डतरडतमौ प्रत्ययौ। प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् इति तदन्ता ग्राह्याः। नेम इत्यर्धे । समः सर्वपर्यायः, तुल्यपर्यायस्तु न, यथासंख्यमनुदेशः समानाम् इति निर्देशात् ।

आमीति - अवर्णान्त से पर और सर्वनाम से विहित आम् । को सुट् आगम हो।

सुट् का टकार इत्संज्ञक है तथा उकार उच्चारणार्थ है। यह टित् होने से आदि अवयव बनेगा। सर्व आम् । प्रकृत सूत्र के द्वारा सुट् आगम होकर सर्व स् आम् । यह साम् सुप् माना जायेगा। कहा है **यदागमास्तदुणीभूतास्तग्रहणेन** गृह्यन्ते अर्थात् आगम स्थानी का अवयव बन जाता है और स्थानी के ग्रहण से उसका भी ग्रहण हो जाता है। अब साम् के सुप् होने से बहुवचने झल्येत् के द्वारा वकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर एकार हो जायेगा **सर्वेसाम्** । आदेशप्रत्यययोः के द्वारा एकार से परवर्ती सकार को षकार (मूर्धन्य आदेश) होकर सर्वेषाम् रूप सिद्ध हुआ। सर्व ङि यहाँ ङसिङ्यो० के द्वारा ङि के स्थान पर स्मिन् आदेश होकर सर्वस्मिन् रूप सिद्ध हुआ। शेष रूप राम की तरह होंगे। इसी प्रकार विश्व आदि अकारान्त सर्वनाम शब्दों के भी रूप होंगे। ह्रस्व इक. ारान्त शब्द -हरि (विष्णु) प्रथमा के एकवचन में हरि स् इस दशा में सकार को रु और रेफ को विसर्ग होकर हरिः रूप बना। द्विवचन में हरि औ इस स्थिति में इको यणचि से यण् प्राप्त हुआ। यण् को बाधकर प्रथमयोः० सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होकर हरी रूप सिद्ध हुआ।

४२. जसि च (७/३/१०९) ह्रस्वान्तस्याऽङ्गस्य गुणः। हरयः।

जसीति- ह्रस्वन्त अङ्ग को गुण हो जस् परे रहते।

गुणविधान अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य वर्ण को होता है। बहुवचन में हरि अस् यहाँ ह्रस्वान्त अंग हरि है उससे परे जस् भी है। अतः उसके अन्त्य इकार के स्थान में एकार गुण हो गया। हरे अस् यहाँ एचोऽयवायावः के द्वारा अयादेश होकर हरयस् तथा ससजुषो रुः के द्वारा रु आदेश तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** के द्वारा विसर्ग होकर हरयः रूप सिद्ध हुआ।

४३. ह्रस्वस्य गुणः (७/३/१०८) सम्बुद्धौ। हे हरे। हरिम्, हरी, हरीन्। ह्रस्वस्येति- ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो सम्बुद्धि परे रहते। सम्बोधन के एकवचन को सम्बुद्धि कहते हैं।

सम्बोधन के एकवचन में हे हरि स् इस दशा में हरि के अन्त्य इकार को सम्बुद्धि परे होने से गुण एकार हुआ। तब अंग के हल् सकार का **एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः** से लोप होकर हे हरे रूप सिद्ध हुआ। सम्बोधन के द्विव० और बहुव० में प्रथमा के समान हे हरी, हे हरयः रूप बनते हैं। द्वितीया के एकवचन में हरि अम् इस दशा में अमि पूर्वः से पूर्व रूप आदेश होकर रूप सिद्ध होता है। हरिम् । प्रथमा के द्विवचन के समान सिद्ध होता है। हरी। द्वितीया बहुवचन में हरि अस् इस दशा

में प्रथमयोः ० सूत्र से पूर्व इकार का सवर्ण दीर्घ (अर्थात् ईकार) एकादेश होकर हरी स् बन गया। अब तस्माच्छसो न पुंसि के द्वारा सकार को नकार होकर हरीन् सिद्ध हुआ।

४४. शेषो घ्यसखि (१/४/७)

अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञम्।

शेष इति नदी संज्ञक को छोड़कर ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्द की घि संज्ञा हो, सखि शब्द की न हो। नदी संज्ञा दो अवस्थाओं में नहीं होती है:

१. पुल्लिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द नदीसंज्ञक नहीं होते हैं। यथा- कवि, साधु आदि।

२. स्त्रीलिङ्ग में ङित् विभक्तियों के परे होने पर ङिति ह्रस्वश्च के द्वारा जिस पक्ष में नदी संज्ञा नहीं होती है। क्योंकि घि संज्ञा उन्हीं शब्दों की होगी, जिनकी नदी संज्ञा नहीं है। अतः शेषः शब्द का पाठ व्यर्थ है। वस्तुतः शेषः शब्द का पाठ स्पष्टार्थ के लिए हैं। हरि शब्द की घि संज्ञा होने पर-

४५. आङो नास्त्रियाम्० (७/३/११९)

घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम्। आङ् इति टा संज्ञा (प्राचाम्)। हरिणा, हरिभ्याम्, हरिभिः।

न हो। आङ इति- घि संज्ञक शब्द से परवर्ती आङ् को ना आदेश हो स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर।

प्राचीन आचार्यों की परम्परा के अनुसार आङ् टा की संज्ञा है। अतः उसी परम्परा के अनुसार आचार्य ने टा ऐसा न कहकर आङ् ऐसा कहा है। हरि टा इस दशा में शेषो घ्यसखि के द्व ारा घिसंज्ञक होने के कारण हरि शब्द से पर टा के स्थान में ना आदेश हुआ। तब हरिना इस स्थिति में अट्कुप्वाङ् सूत्र से नकार को णकार आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ। हरिणा। द्विवचन में हरिभ्याम् , बहुवचन में- हरिभिः रूप सिद्ध होते हैं। घेरिति- घिसंज्ञक अङ्ग को ङित् (ङे, ङसि, ङस् और ङि) सुप् प्रत्यय परे रहते गुण हो।

४६. घेर्ङिति (७/३/१११) घिसंज्ञस्य ङिति सुपि गुणः। हरये।

चतुर्थी के एकवचन में हरि ए इस दशा में घिसंज्ञक अङ्ग के अन्त्य वर्ण को ङित् । सुप् परे होने से घेर्ङिति से गुण (एकार) आदेश हुआ। तब हरे ए इस स्थिति में एकार को एचोऽयवा० से अय् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ। हरये। द्विवचन में हरिभ्याम्, और बहुवचन में हरिभ्यः रूप बनते हैं ।

४७. ङसिङसोश्च (६/१/१०६)

एङो ङसिङसोरति पूर्वरूपमेकादेशः। हरेः। हर्योः। हरीणाम्। ङसीति-एङ् से ङसि और ङस् का अकार परे रहते पूर्वरूप एकादेश हो। ए तथा ओ को एङ् कहते हैं। पञ्चमी के एकवचन में हरि अस् इस दशा में पहले **घेर्ङिति** सूत्र से इकार को गुण हुआ। तब हरे अस् ऐसी स्थिति होने पर ङसि० के द्वारा ङसि के अकार के परे होने से पूर्वरूप एकादेश हुआ। एकार दोनों के स्थान में हुआ। सकार को रुत्व विसर्ग करने पर हरेः रूप सिद्ध हुआ। द्विवचन में- हरिभ्याम् , बहुवचन में हरिभ्यः चतुर्थी के समान। षष्ठी के एकवचन में हरेः पञ्चमी के समान ही रूप बनता है। षष्ठी के द्विवचन में हरि ओस् इस स्थिति में इकार के स्थान में **इको यणचि** सूत्र से यण और सकार को रुत्व तथा विसर्ग हुए। हर्योः। षष्ठी बहुवचन में हरि आम् इस अवस्था में ह्रस्वान्त अङ्ग होने से आम् को ह्रस्वनद्यापो नुट् आगम और नामि से दीर्घ हुआ। अट्कुप्वा0 सूत्र से न को ण हो गया। हरीणाम् ।

४८. औदच्च घेः (७/३/११८)

इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत् , घेरत् । हरौ, हर्योः, हरिषु। एवं कव्यादयः।

अच्चेति- ह्रस्व इकार और उकार से पर ङि को औत् और घिसंज्ञक अङ्ग को अकार आदेश हो। यह अकार आदेश अलोऽन्त्य० परिभाषा से अङ्ग के अन्त्य वर्ण को होगा।

हरि ङि हरि की घिसंज्ञा हो गई। घेर्ङिति के द्वारा हरि को गुण प्राप्त हुआ। उसे प्रकृत सूत्र ने बाध दिया। ङि को औत् तथा हरि को अकार अन्तादेश हो गया। अब **वृद्धिरेचि** के द्वारा वृद्धि एकादेश हो गया। हरि ङि-हर औ हरौ। हर्योः - सप्तमी विभक्ति के द्विवचन का रूप है। षष्ठी विभक्ति द्विवचन के समान प्रक्रिया है। हरि सुप् (सु) - **आदेशप्रत्यययोः** के द्वारा मूर्द्धन्य आदेश होकर हरिषु बन गया।

इसी प्रकार कवि (पुँल्लिङ्ग इकारान्त) आदि शब्दों के रूप होगे।

ह्रस्व इकारान्त शब्द - सखि

४९. अनङ् सौ (७/१/९३) सख्युरङ्गस्यानङ् आदेशोऽसम्बुद्धौ सौ ।

अनङिति-सम्बुद्धि भिन्न सु के परे रहते सखि अङ्ग को अनङ् आदेश हो।

अनङ् के ङकार तथा अकार की क्रमशः हलन्त्यम् तथा उपदेशेऽजनु० के द्वारा इत्संज्ञा होती है। यह ङित् है। अतः ङिच्च सूत्र के द्वारा अन्त्य अल् को होगा।

सखि सु - प्रकृत सूत्र के द्वारा सखि अङ्ग को अनङ् (अन्) आदेश हुआ। सख् अन् स् ।

५०. अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा (१/१/६४) अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः।

अल इति–अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा हो। सखन् स् यहाँ अन्त्य अल् नकार है, उस से पूर्व वर्ण अकार है, उसकी उपधा संज्ञा हुई।

५१. सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ (६/४/८) नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने ।

सर्वनामस्थाने इति–सम्बुद्धि भिन्न सर्वनाम स्थान परे होने पर नकारान्त अङ्ग की उपधा के स्थान पर दीर्घादेश हो। नकारान्त अङ्ग है सखन् । सर्वनामस्थान पर है स् । वह सम्बुद्धिभिन्न भी है। अतः उपधा अकार को दीर्घ हुआ। तब सखान् स् यह स्थिति बनी। सखान् स् यहाँ स् यह प्रत्यय है और एक अल् रूप है, अतः इसकी अपृक्त संज्ञा हुई।

५२. अपृक्त एकाल् प्रत्ययः (१/२/४१) एकाल् प्रत्ययो यः, सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात् । अपृक्त इति–एक अल् रूप जो प्रत्यय, उसकी अपृक्त संज्ञा हो।

५३. हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (६/१/६८)

हलन्तात् परम्, दीर्घौ यौ ङ्यौ तदन्ताच्च परम्, सु ति सि इत्येतद् अपृक्तं हल् लुप्यते। हलिति–हल्, दीर्घ (ङी, आप्) से परवर्ती सु, ति, सि के अपृक्त हल् का लोप हो।

तात्पर्य है कि हलन्त से तथा डी और आप् तदन्त से पर सु, ति तथा सि के अपृक्त हल् का लोप होता है। सु सुप् है, प्रथमा विभक्ति का एकवचन है। ति और सि तिङ् हैं। क्रम से प्रथम और मध्यम पुरुष के एकवचन हैं। सु के उकार की उपदेशेऽजनु० के द्वारा इत्संज्ञा होती है। ति और सि के इकार की इतश्च के द्वारा इत्संज्ञा होती है। ङी से ङीप् ङीष् और ङीन् का ग्रहण होता है। आप् से टाप्, डाप् तथा चाप् का ग्रहण होता है। सखान् स् यहाँ अपृक्त एकाल्० से स् की अपृक्तसंज्ञा होकर प्रकृत सूत्र के द्वारा स् का लोप हो गया। 1

५४. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८/२/७) प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः। सखा।

तात्पर्य यह है कि नकार प्रातिपादिक का अवयव हो और साथ ही पद के अन्त में भी हो।

नलोप इति– प्रातिपदिक सञ्ज्ञक जो पद, उस के अन्त्य नकार का लोप हो।

सखान् यहाँ सुबन्त होने से यह पद है, उसके अन्त में नकार है और वह प्रातिपदिक का अवयव भी है। लोप होकर सखा रूप सिद्ध हुआ।

५५. सख्युरसम्बुद्धौ (७/१/९२)

सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत् स्यात्।

सख्युरिति – सखि रूप अङ्ग से पर सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान प्रत्यय णिद्वत् (णित् के समान) हो अर्थात् णित् परे रहते जो कार्य होते हैं, उसके परे रहते भी वे कार्य हों।

सखि औ यहाँ अङ्ग से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान औ है। यह णिद्वत् हुआ।

५६. अचो ञ्णिति (७/२/११५)

अजन्ताङ्गस्य वृद्धिः ञिति णिति च परे। सखायौ, सखायः। हे सखे। सखायम्, सखायौ, सखीन्। सख्या। सख्ये।

अच इति–अजन्त अङ्ग को वृद्धि हो, ञित् तथा णित् प्रत्यय परे रहते।

सखि औ इस दशा में पूर्व सूत्र से औ णिद्वत् हुआ। अतः अजन्त अङ्ग सखि के अन्त्य अच् इकार को प्रकृत सूत्र से वृद्धि आदेश हुआ। तब सखै औ इस स्थिति में एचोऽयवायावः सूत्र से ऐकार को आय् आदेश होकर सखायौ रूप बनता है।

सखि जस् (अस्) – यहाँ सख्युरस० के द्वारा णित्वत् होकर अचो ञ्णिति के द्वारा वृद्धि एचोऽयवायावः के द्वारा आय् आदेश होकर सखायः सिद्ध हो गया।

सखि सु (सम्बोधन) – यहाँ पर **ह्रस्वस्य गुणः** से गुण होकर एङ् ह्रस्वात्० के द्वारा सकार का लोप होकर। सखि स्–सखे स् ।। सखे। हे सखायौ तथा हे सखायः प्रथमा के समान होंगे। सखि अम् यहाँ सभी कार्य सखायौ की तरह होकर सखायम् बनेगा। सखि शस्(अस्) – यहाँ पूर्वसवर्ण दीर्घ करके तस्माच्छसो नः० के द्वारा सकार के स्थान पर नकार हो गया। सखि अस् । सखी स् । सखीन्। सखि टा (आ) इको यणचि के द्वारा यणादेश होकर सख्या बन गया। सखि भ्याम् – सखिभ्याम् तथा सखि भिस् में रुत्व इत्यादि होकर सखिभिः बन गया।

सखि ङे (ए) यहाँ इको यणचि के द्वारा यण् होकर सख्ये बन गया। चतुर्थी द्विवचन में तृतीया की तरह रूपसिद्धि होती है। बहुव० में सखि भ्यस् रुत्व तथा विसर्ग होकर सखिभ्यः रूप सिद्ध हुआ।

५७. ख्यत्यात् परस्य (६/१/१०८)

खि ति शब्दाभ्यां खी ती शब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उः। सख्युः। खीति– जिन्हें यणादेश किया गया है, उन ह्रस्वान्त खि तथा ति शब्द तथा दीर्घान्त खी व ती शब्द से परवर्ती ङसि और ङस् के अकार को उकार आदेश हो।

पञ्चमी के एकवचन में सखि अस् इस स्थिति में इकार को यण् आदेश होकर सख्य् अस् ऐसी अवस्था में प्रकृत सूत्र से ख्य् रूप खि शब्द से पर ङसि के अकार को उकार आदेश हो गया। तब सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर रूप बना। सख्युः ।

द्विवचन में–सखिभ्याम्, बहुवचन में सखिभ्यः, चतुर्थी के समान। षष्ठी में सख्युः पञ्चमी के समान। सख्योः में यण् आदेश, सखीनाम् में नुट् और दीर्घ होते हैं। **ह्रस्वनद्यापो नुट्** । नामि।

५८. औत् (७/३/११८)

इदुतोः परस्य ङेरौत् । सख्यौ। शेषं हरिवत् ।

औदिति- ह्रस्व इकार और उकार से पर ङि को औत् आदेश हो। अनेकान् होने से यहसम्पूर्ण ङि के स्थान में होता है। औत् का तकार इत्संज्ञक है।

सख्यौ-सप्तमी के एकवचन में सखि ङि इस दशा में ङि को औकार आदेश होने पर यण् आदेश हुआ। द्विवचन- सख्योः, इकोयणचि। बहुवचन- सखिषु। शेषं इति- सखि शब्द के शेष रूप हरि शब्द के समान बनेंगे।

ओकारान्त गो (बैल) शब्द

५९. गोतो णित् (७/१/९०)

ओकाराद् विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत्। गौः, गावौ, गावः।

गो इति- ओकारान्त शब्द से विहित सर्वनामस्थान प्रत्यय णिद्वत् हो।

गो शब्द के प्रथमा के एकवचन में गो स् इस दशा में प्रकृत सूत्र से सर्वनामस्थान प्रत्यय सु णिद्वत् हुआ, णिद्वत् होने पर अचो ञ्णिति सूत्र से अङ्ग गो के अन्त्य ओकार को वृद्धि (औकार) होने से गौः रूप बना।

गो औ में गोतो णित् के द्वारा औ प्रत्यय णिद्वत् हो गया। अब अचो ञ्णिति के द्वारा वृद्धि (औकार) होकर एचोऽयवायावः के द्वारा आव् आदेश हो गया।

गो औ - गौ औ - गावौ। गो जस् यहाँ पूर्ववत् प्रक्रिया होकर गावः रूप बन गया।

६०. औतोऽम्शसोः (६/१/९०)

ओकारादम्शसोरचि आकार एकादेशः। गाम्, गावौ, गाः। गवा। गवे। गोः। इत्यादि।

औत इति ओकारान्त शब्द से अम् और शस् का अच् परे रहते आकार एकादेश हो।

गो अम् में गोतो णित् के द्वारा णिद्वद्भाव प्राप्त है। प्रकृत सूत्र के द्वारा अम् का अच् परे रहते आकार एकादेश हो गया। ग् आ म् गाम्। गो औट्- गावौ (पूर्ववत्) गोतो णित्। गो शस् झ प्रकृत सूत्र के द्वारा आकार एकादेश होकर गास् बन गया। तब विसर्ग आदि होकर गाः बन गया। **तस्माच्छसो नः पुंसि** सूत्र से सकार को नकार नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ अकार औतोऽम्शसोः सूत्र से हुआ है और तस्माच्छसो० सूत्र वहीं लगता है जहाँ पूर्वसवर्ण दीर्घ हुआ हो। गवा-तृतीया के एकवचन में गो आ यहाँ एचोऽयवायावः सूत्र से ओकार को अव् आदेश हुआ। गवे- चतुर्थी के एकवचन में गो ए यहाँ भी केवल अव् आदेश होकर रूप सिद्ध हो गया। गोः पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में गो अस् यहाँ पर **ङसिङसोश्च** सूत्र से अकार का पूर्वरूप होकर गोः रूप सिद्ध हुआ।

प्र०	गौः	गावौ	गावः
द्वि०	गाम्	गावौ,	गाः
तृ०	गवा,	गोभ्याम्	गोभिः
च०	गवे	गोभ्याम्	गोभ्यः
पं०	गोः	गोभ्याम्	गोभ्यः
ष०	गोः	गवोः	गवाम्
स०	गवि	गवोः	गोषु
सं०	हे गौः	हे गावौ	हे गावः

स्मरणीय बिंदु

1. सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सूत्र के अनुसार जो तीनों लिङ्गों और सभी विभक्तियों में समान रहे वह अव्यय है।

2. अजाद्यतष्टाप् सूत्र के अनुसार अजादि गण की धातुओं और अकारान्त शब्दों से स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय होता है।

3. ऋन्नेभ्यो ङीप् सूत्र के अनुसार ऋकारान्त और नकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय का विधान है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अव्यय किसे कहते हैं? अव्यय संज्ञा करने वाले प्रमुख सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए?

2. स्त्री प्रत्यय का क्या प्रयोजन है? टाप् और ङीप् प्रत्ययों के विधायक सूत्रों को उदाहरण सहित विस्तार से समझाइए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. स्वरादिनिपातमव्ययम् सूत्र का अर्थ संक्षेप में स्पष्ट कीजिए?

2. कुमार और किशोर शब्दों से ङीप् प्रत्यय लगाने पर क्या रूप बनेंगे? सूत्र सहित लिखिए।

3. अजा और मूषिका शब्दों में कौन सा स्त्री प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है और क्यों?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. जो शब्द तीनों लिङ्गों और सभी विभक्तियों में रूप नहीं बदलते उन्हें क्या कहते हैं?

(क) सर्वनाम (ख) अव्यय (ग) विशेषण (घ) क्रिया

2. अजाद्यतष्टाप् सूत्र द्वारा कौन सा प्रत्यय किया जाता है?

(क) टाप् (ख) डाप् (ग) चाप् (घ) ङीप्

3. नर्तकी शब्द में किस स्त्री प्रत्यय का प्रयोग हुआ है?

(क) टाप् (ख) ङीष् (ग) ङीप् (घ) ङीन्

4. अकारान्त पुल्लिंग शब्दों को स्त्रीलिंग बनाने के लिए मुख्य रूप से कौन सा प्रत्यय प्रयुक्त होता है?

(क) ङीष् (ख) टाप् (ग) यत् (घ) क्यप

5. उच्चैः और नीचैः किस प्रकार के पद माने जाते हैं?

(क) संज्ञा पद (ख) क्रिया पद (ग) अव्यय पद (घ) सर्वनाम पद

खण्ड-3

अजन्तस्त्रीलिङ्गनपुसकलिङ्गप्रकरणं हलन्तपुल्लिङ्गप्रकरणञ्च

इकाई-3.1 अजन्तस्त्रीलिङ्‌गप्रकरणम्।

उद्देश्य

1 अजन्त पुल्लिंग शब्दों की सिद्धि के लिए प्रयुक्त होने वाले प्रमुख सूत्रों जैसे अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् के स्वरूप को समझना।

2. राम हरि और गुरु जैसे शब्दों के रूपों के निर्माण की प्रक्रिया और विभक्ति नियमों का ज्ञान प्राप्त करना।

3. संस्कृत साहित्य के वाक्यों में शब्दरूपों के सही प्रयोग और उनके अर्थ बोध में दक्षता प्राप्त करना।

परिणाम

1. विद्यार्थी विभिन्न अजन्त पुल्लिंग शब्दों के रूपों को शुद्धता के साथ लिखने और बोलने में सक्षम होंगे।

2. प्रातिपदिक संज्ञा और सुप् प्रत्ययों के योजन की प्रक्रिया का स्पष्ट बोध होगा।

3. संस्कृत पाठों के अनुवाद और व्याख्या के समय शब्दरूपों की सही पहचान करने की योग्यता आएगी।

रमा- रमा शब्द टाप् प्रत्ययान्त है। अतः 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' सूत्र के द्वारा रमा शब्द से सु आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई।

'रमा सु स'-यहाँ 'हल्ङ्याब्भ्यो०' सूत्र के द्वारा सकार का लोप हो गया। तब 'रमा' रूप बना। यद्यपि विभक्ति का लोप हो गया है, तथापि 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' के बल पर 'रमा' शब्द की पद संज्ञा हो जाती है।

१. औङ आपः (७/१/१८)

आबन्तादङ्‌गात् परस्यौङः शी स्यात् ।। 'औङ्' इति औकारविभक्तेः संज्ञा। रमे, रमाः।

औङ इति-आबन्त अङ्‌ग से पर औङ् हुआ **'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः'** से प्राप्त पूर्व सवर्ण का दीर्घाज्जसि च से निषेध। वृद्धिरेचि से प्राप्त वृद्धि एकादेश को बाधकर प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रत्यय को 'शी' आदेश

हुआ । औङ् यह औ और औट् की संज्ञा है। रमा शब्द से प्रथमा के द्विवचन में आबन्त अङ्ग रमा से पर औङ् को 'शी' आदेश हुआ। शकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप हो गया। रमा शी- रमा ई। 'स्थानिवदादेशोऽनल्0' के अनुसार 'शी' में सुप्त्व धर्म उत्पन्न हुआ। अब 'आद् गुणः' के द्वारा गुण होकर 'रमे रूप' सिद्ध हुआ।

'रमा जस् अस्' यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' के द्वारा दीर्घ होकर 'रमाः' रूप बना। यहाँ 'प्रथमयोः पूर्वसवर्ण०' के द्वारा प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' के द्वारा निषेध हो गया। **२. सम्बुद्धौ च (७/३/१०६)**

आप एकारः स्यात् सम्बुद्धौ। एङ् ह्रस्वादिति सम्बुद्धिलोपः । हे रमे, हे रमे, हे रमाः। रमाम्, रमे, रमाः।

सम्बुद्धौ चेति- आबन्त अङ्ग को एकार आदेश हो सम्बुद्धि परे रहते। 'हे रमा स' इस दशा में प्रकृत सूत्र से आबन्त अङ्ग से सम्बुद्धि परे होने के कारण अन्त्य आकार को एकार हो गया। तब हे रमे स' इस स्थिति में 'एङ् ह्रस्वा संबुद्धेः' सूत्र से सम्बुद्धि के सकार का लोप होने से 'हे रमेश रूप सिद्ध हुआ। हे रमे, हे रमाः ये प्रथमा के समान ही सिद्ध होंगे। द्वितीया के एकवचन में **'अमि पूर्वः'** से अम् के अकार का पूर्वरूप होने से रूप बना- रमाम्। द्विवचन और बहुवचन में 'रमे' और 'रमाः' रूप प्रथमा के समान ही हैं। 'रमा शस्' इस दशा में **'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः'** (६/१/९८) सूत्र से पूर्व आकार और अकार दोनों के स्थान में सवर्ण दीर्घ आकार एकादेश हुआ। तब सकार के स्थान में 'रु' और उसके रेफ के स्थान में विसर्ग होने पर रूप सिद्ध हुआ रमाः। यद्यपि यहाँ **'अकः सवर्णे दीर्घः'** (६/१/९७) होने पर भी रूप सिद्ध हो सकता है, परन्तु पूर्वसवर्ण दीर्घ विधायक सूत्र पर है, अतः शास्त्रमर्यादा के अनुसार ऐसा करना उचित है। **२१८. आङि चाऽऽपः (७/३/१०५)** आङि ओसि चाप एकारः। रमया, रमाभ्याम्, रमाभिः।

आङीति-आङ् या ओस् परे रहते आबन्त अङ्ग को एकार आदेश हो। 'टा' को आङ् कहते हैं-ऐसी प्राचीन आचार्यों की संज्ञा है। **'रमा टा'** में अकः सवर्णे- से प्राप्त सवर्ण दीर्घ को बाध कर प्रकृत सूत्र के द्वारा एकार आदेश हुआ। रमे आ। अब **'एचोऽयवायावः'** के द्वारा अय् आदेश होकर 'रमय् आ' हुआ। रमया। रमा भ्याम् - रमाभ्याम्। रमा भिस्-रमाभिः। रुत्व तथा विसर्ग हुआ है।

३. याड् आपः (७/३/११३)

आपो ङितो याट्। वृद्धिः। रमायै, रमाभ्याम्, रमाभ्यः, रमायाः। रमयोः। रमाणाम्। रमायाम्। रमासु। एवं दुर्गाऽम्बिकादयः ।

याड् इति-आबन्त अङ्ग से परे ङित् को 'याट्' आगम हो। 'याट्' में 'टकार' इत्संज्ञक है। टित् होने से ङित् प्रत्यय के आदि में होता है।

चतुर्थी के एकवचन में 'रमा ए' इस अवस्था में आबन्त अङ्ग से परे ङित् प्रत्यय को'याट्'

आगम हुआ। तब 'रमाया ए' इस दशा में 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि हुई। इस प्रकार रूप बना 'रमायै'। द्विवचन में 'रमाभ्याम्' तथा बहुवचन में 'रमाभ्यः' हो जायेगा।

'रमा ङसि अस्' में प्रकृत सूत्र के द्वारा याट् आगम होगा। अब अकः सवर्णे० से सवर्ण दीर्घ होकर रमा याट् अस्–रमायास्। विसर्ग इत्यादि होकर रमायाः। शेष पूर्ववत्। 'रमा ङस्' में पूर्ववत् प्रक्रिया होकर 'रमायाः' रूप होगा। 'रमा ओस्' में 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि आदेश प्राप्त हुआ। **'आङि चापः'** के द्वारा आकार को एकार हुआ। 'एचोऽयवायावः' के द्वारा अयादेश तथा रुत्वादि कार्य होकर रमा ओस्–रमे ओस्–रमय् ओस् रमयोः। 'रमा आम्' में 'ह्रस्वनद्यापो०' के द्वारा 'नुट्' आगम हुआ। 'अट्कुप्वाङ्नुम् ०' के द्वारा रेफोत्तरवर्ती नकार को णकार हो गया। रमा नुट् आम्–रमा नाम्–रमाणाम्। 'रमा ङि' यहाँ 'ङे राम्नद्याम्नीभ्यः' के द्वारा 'ङि' को आम् आदेश हुआ । उसे स्थानिवद्भाव होकर 'याडापः' से याट् आगम होकर सवर्णदीर्घ हुआ। रमा आम्–रमा याट् आम्–रमायाम्। रमा सुप्- रमासु । एवमिति- इसी प्रकार आकारान्त स्त्रीलिङ्ग दुर्गा तथा अम्बिका आदि शब्दों के रूप बनेंगे।

प्र०	रमा	रमे	रमाः
द्वि०	रमाम्	रमे	रमाः
तृ०	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः
च०	रमायै	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
पं०	रमायाः	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
ष०	रमायाः	रमयोः	रमाणाम्
स०	रमायाम्	रमयोः	रमासु
सं०	हे रमे	हे रमे	हे रमाः

ह्रस्व इकारान्त शब्द - मति (बुद्धि)

मति शब्द के द्वितीया के बहुवचन में पूर्वसवर्णदीर्घ होकर 'मतीस्' ऐसी स्थिति हुई। तब सकार को रुत्व, विसर्ग होकर रूप सिद्ध हुआ। मतीः।

'मति टा आ' में 'इको यणचि' के द्वारा यणादेश होकर 'मत्या' हो गया।

४. ङिति ह्रस्वश्च (१/४/६)

इयङुवस्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तः ङिति । मत्यै, मतये। मत्याः। मतेः।

ङितीति- स्त्री शब्द को छोड़कर अन्य जिनके स्थान पर इयङ् उवङ् आदेश होते हों, उन नित्य स्त्रीलिङ्ग इकार, ईकार और उकार, ऊकार की ङित् (ङे, ङसि, ङस्, ङि) प्रत्यय परे रहते

विकल्प से नदी संज्ञा हो।

'मति ङे' में मति शब्द की प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से नदी संज्ञा हुई। नदी संज्ञा पक्ष में श **'आण् नद्याः'** के द्वारा आट् आगम और **'आटश्च'** के द्वारा वृद्धि तथा इकार को 'यण' होकर-मति ए-मति आट् ए मति ऐ-मत्यै रूप बना। अभाव पक्ष में घि संज्ञा होगी और 'घेर्डिति' के द्वारा गुण होकर 'अय' आदेश होकर मति ए-मते ए-मतय् ए-मतये बन गया।

मत्याः- पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में नदी संज्ञा, आट् आगम, वृद्धि, यण्, रुत्व और विसर्ग कार्य होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ। नदीसंज्ञा के अभावपक्ष में घिसंज्ञा, गुण और **'ङसिङसोश्च'** से अकार का पूर्वरूप तथा सकार को रुत्व विसर्ग होकर रूप बना। मतेः। मति आम् ह्रस्वनद्यापो० नामि। मतीनाम् ।

५. ''इदुद्भ्याम् (७/३/११७)

इदुद्भ्यां नदीसंज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम्। मत्याम्, मतौ। शेषं हरिवत्। एवं बुद्ध्यादयः।

इदुदिति-नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार और उकार से पर 'ङि' को 'आम' तथा औत् से 'औ' आदेश की युगपत् प्राप्ति।

'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' से परकार्य 'औ' आदेश प्राप्त हुआ। 'मति ङि' में **'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः'** (७.३. ११६) से 'ङि' को 'आम्' तब प्रकृत सूत्र के द्वारा पुनः 'आम्' आदेश हुआ। 'यण' होकर 'मत्याम्' बन गया। नदी संज्ञा के अभाव में 'घि' संज्ञा होने से **'अच्च घेः'** सूत्र से 'ङि' को 'औ' और इकार को अकार आदेश हुआ। तब 'मत औ' इस दशा में वृद्धि होकर रूप बना। मतौ।

शेषमिति शेष रूप हरि शब्द के समान ही बनेंगे।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	मतिः	मती	मतयः
द्वि०	मतिम्	मती	मतीः
तृ०	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः
च०	मत्यै, मतये	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
पं०	मत्याः, मतेः	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
ष०	मत्याः, मतेः	मत्योः	मतीनाम्
स०	मत्याम्, मतौ	मत्योः	मतिषु
सं०	हे मते	हे मती	हे मतयः

एवमिति- इस प्रकार बुद्धि आदि इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप बनेंगे।

दीर्घ ईकारान्त शब्द गौरी (पार्वती)

'गौरी सु' इस अवस्था में 'हल्ङ्याब्भ्यो०' के द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो गया। गौरी।

'गौरी औ'- यहाँ पूर्व सवर्ण दीर्घ प्राप्त हुआ। 'दीर्घाज्जसि च' के द्वारा निषेध हो गया। तब 'यण' होकर 'गौर्यौ' रूप बना। **'इको यणचि'।**

'गौरी जस्'- पूर्ववत् कार्य होकर 'गौर्यः' रूप बना।

'हे गौरी सु'- नित्य स्त्रीलिङ्ग होने के कारण नदीसंज्ञक हो गया। तब 'अम्बार्थ०' के द्वारा ह्रस्व तथा 'एङ् ह्रस्वात्०' के द्वारा सकार लोप होकर 'हे गौरि' रूप बना। गौरी अम्। **'अमि पूर्वः'।** गौरी शस् प्रथमयोः पूर्वसवर्णः। गौरी आम्- ह्रस्वनद्यापो०। अट्कुप्वाङ्नु०।

'गौरी ङे' - इस अवस्था में 'आण्नद्याः' के द्वारा आट् तथा 'आटश्च' के द्वारा वृद्धि होकर 'गौरी आ 'ए-गौरी ऐ' बन गया। तब 'यण्' होकर 'गौर्यै' रूप बना। 'गौरी ङि' -**'ङे राम्नद्याम्नीभ्यः'।** गौरी आम् आण नद्याः। गौरी आट् आम् आटश्च। गौरी आम् इको यणचि। गौर्याम्।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	गौरी	गौर्यौ	गौर्यः
द्वि०	गौरीम्	गौर्यौ	गौरीः
तृ०	गौर्या	गौरीभ्याम्	गौरीभिः
च०	गौर्यै	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
पं०	गौर्याः	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
ष०	गौर्याः	गौर्योः	गौरीणाम्
स०	गौर्याम्	गौर्योः	गौरीषु
सं०	हे गौरि	हे गौर्यौ	हे गौर्यः

इसी प्रकार नदी इत्यादि।

ओकारान्त शब्द- द्यो

द्यौः- यह रूप प्रथमा के एकवचन का है। 'द्यो स्' इस दशा में सु को 'ओतो णिदिति वाच्यम्' इस वार्तिक से णिद्वद्भाव हो जाता है। तब 'अचो ञ्णिति' से ओकार को औकार वृद्धि हो गई। द्यो औ- णिद्वत्, वृद्धि, आव्। द्यो अम्- **'औतोऽम् शसोः'**। आकार आदेश। शस् में पूर्ववत्। द्यो ङसि 'ङसिङसोश्च' से पूर्वरूप।

गोवदिति- इसके रूप 'गो' शब्द के समान बनेंगे।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	द्यौः	द्यावौ	द्यावः
द्वि०	द्याम्	द्यावौ	द्याः
तृ०	द्यावा	द्योभ्याम्	द्योभिः
च०	द्यवे	द्योभ्याम्	द्योभ्यः
पं०	द्योः	द्योभ्याम्	द्योभ्यः
ष०	द्योः	द्यवोः	द्यवाम्
स०	द्यवि	द्यवोः	द्योषु
सं०	हे द्यौः	हे द्यावौ	हे द्यावः

औकारान्त शब्द - नौ

नौः- यह रूप नौ (नाव) शब्द के प्रथमा के एकवचन का है। सकार रुत्व विसर्ग होकर बनता है। ग्लौवदिति-नौ शब्द के रूप ग्लौ के समान बनते हैं। **'एचोयवायावः'** सूत्र आवादेश होगा ।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	नौः	नावौ	नावः
द्वि०	नावम्	नावौ	नावः
तृ०	नावा	नौभ्याम्	नौभिः
च०	नावे	नौभ्याम्	नौभ्यः
पं०	नावः	नौभ्याम्	नौभ्यः
ष०	नावः	नावोः	नावाम्
सं०	नावि	नावोः	नौषु
सं०	हे नौः	हे नावौ	हे नावः

स्मरणीय बिंदु

1. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् सूत्र के अनुसार धातु और प्रत्यय को छोड़कर अन्य अर्थवान शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

2. सुऔजस... सूत्र के माध्यम से इक्कीस सुप् प्रत्ययों का विधान किया जाता है जो सात विभक्तियों में प्रयुक्त होते हैं।

3. बहुषु बहुवचनम् और द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने सूत्रों के आधार पर वचन का निर्धारण किया जाता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्रातिपदिक संज्ञा किसे कहते हैं? इसके विधायक सूत्रों की सोदाहरण विस्तार से व्याख्या कीजिए?

2. राम शब्द की प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के रूपों की सिद्धि प्रक्रिया को संबंधित सूत्रों सहित समझाइए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सुप् प्रत्यय कितने होते हैं और वे किन विभक्तियों में प्रयुक्त होते हैं? लिखिए।

2. हरि शब्द के तृतीया विभक्ति के सभी वचनों के रूप लिखिए।

3. सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का विधान किस सूत्र से होता है? संक्षेप में बताइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. प्रातिपदिक संज्ञा करने वाला सूत्र कौन सा है?

(क) हलन्त्यम् (ख) अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्

(ग) तस्य लोपः (घ) अदर्शनं लोपः

2. सुप् प्रत्ययों की कुल संख्या कितनी मानी गई है?

(क) चौदह (ख) अट्ठारह

(ग) इक्कीस (घ) चौबीस

3. राम शब्द का षष्ठी विभक्ति बहुवचन का रूप क्या होगा?

(क) रामेपु (ख) रामाणाम्

(ग) रामस्य (घ) रामे

4. किस सूत्र से विभक्ति के वचनों का निर्धारण होता है?

(क) द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (ख) इको यणचि

(ग) आद्गुणः (घ) वृद्धिरेचि

5. भ्याम् प्रत्यय किन विभक्तियों में समान रूप से प्रयुक्त होता है?

(क) प्रथमा द्वितीया तृतीया (ख) तृतीया चतुर्थी पंचमी

(ग) चतुर्थी पंचमी षष्ठी (घ) षष्ठी सप्तमी सम्बोधन

इकाई 3.2

अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

उद्देश्य

1. अजन्त स्त्रीलिंग और नपुंसकलिङ्ग शब्दों की सिद्धि प्रक्रिया और उनके विशिष्ट सूत्रों को समझना।

2. रमा मति नदी और ज्ञान जैसे शब्दों के रूपों के निर्माण और विभक्ति प्रयोग का ज्ञान प्राप्त करना।

3. स्त्रीलिंग और नपुंसकलिङ्ग प्रातिपदिकों के साथ प्रयुक्त होने वाले प्रत्ययों और उनके परिवर्तनों को समझना।

परिणाम

1. विद्यार्थी अजन्त स्त्रीलिंग और नपुंसकलिङ्ग शब्दों के रूपों को शुद्ध रूप में सिद्ध करने और प्रयोग करने में सक्षम होंगे।

2. विभक्तियों के योजन के समय होने वाले वर्ण परिवर्तनों के पीछे के व्याकरणिक कारणों का बोध होगा।

3. संस्कृत वाक्यों में सही लिङ्ग और वचन के अनुसार शब्दरूपों का चयन करने की योग्यता आएगी।

ज्ञानम्

१. 'अतोऽम् (७/१/२४)

अतोऽङ्गात् क्लीबात् स्वमोरम्। अमि पूर्वः। ज्ञानम्। 'एङ्ह्रस्वाद्' इति हल्लोपः। हे ज्ञान।

अत इति - अदन्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से पर 'सु' और 'अम्' को 'अम्' आदेश हो। ज्ञान शब्द के प्रथमा के एक वचन में स्वमोर्नपुंसकात् से प्राप्त सुलुक् का बाधा 'सु' को 'अम्' आदेश हुआ। तब 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप होने पर रूप सिद्ध हो गया। ज्ञानम्। सम्बुद्धि में अम् आदेश और पूर्वरूप होने पर 'हे ज्ञानम्' बन गया। तब **'एङ्ह्स्वात् सम्बु०'** से हल् का लोप हुआ। हे ज्ञान।

२. नपुंसकाच्च (७/१/१९) क्लीबात्परस्यौङः शी स्यात्। भसंज्ञायाम्।

नपुंसकाच्चेति नपुंसक अङ्ग से पर औङ् को 'शी' आदेश हो। 'ज्ञान औ' इस दशा में नपुंसक अङ्ग से पर औङ् को 'शी' आदेश हुआ। 'शो' स्थानिव द्भाव से प्रत्यय हुआ। तब आदि शकार का **'लशक्वतद्धिते'** से इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। ज्ञान ई। अब ज्ञान शब्द की 'यचि भम्' से भसंज्ञा 'सुडनपुंसकस्य के अनुसार हो गई।

३. यस्येति च (६/४/१४८) ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः। इत्यल्लोपे प्राप्ते- (वा०) औडः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः। ज्ञाने।

यस्येति- ईकार और तद्धित प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक अङ्ग के इकार और अकार का लोप हो। इतीति- 'ज्ञान ई' यहाँ ज्ञान शब्द की भसंज्ञा हो गई। ईकार परे रहते इसके अकार का लोप प्राप्त होता है।

औङ इति- औङ् स्थानीय (अर्थात् जो औङ् के स्थान पर आदेश हो) 'शी' परे रहते 'यस्येति च' के द्वारा होने वाले लोप का प्रतिषेध हो। अब प्रकृत वात्तिक के द्वारा पूर्व प्राप्त लोप का निषेध हो गया। तब 'आद्गुणः' के द्वारा गुण होकर 'ज्ञाने' रूप सिद्ध हुआ।

४. जश्शसोः शिः (७/१/२०) क्लीबादनयोः शिः स्यात् ।

जशिति नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से परवर्ती जस् और शस् को 'शि' आदेश हो। 'शि' का शकार 'लशक्वतद्धिते' के द्वारा इत्संज्ञक है। 'ज्ञान जस्' यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा जस् को 'शि' आदेश हो गया। ज्ञान शि-ज्ञान इ।

५. शि सर्वनामस्थानम् (१/१/४१) शि इत्येतत् उक्तसंज्ञं स्यात्।

शीति- (पूर्व सूत्र से प्राप्त) शि की सर्वनामस्थान संज्ञा हो।

६. नपुंसकस्य झलचः (७/१/७२)

झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे।

नपुंसकेति- झलन्त और अजन्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग को सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय परे रहते नुम् आगम हो। 'नुम्' के मकार की 'हलन्त्यम्' के द्वारा तथा उकार की **'उपदेशेऽजनुनासि०'** के द्वारा इत्संज्ञा होती है। शेष 'न्' बचता है।

७. 'मिदचोऽन्त्यात् परः (१/१/४६)

अचां मध्ये योऽन्त्यः, तस्मात् परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्। उपधादीर्घः-ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। एवं धन-वन-फलादयः।

मिदिति- अचों में जो अन्त्य अच्, उससे परवर्ती और जिस समुदाय को विधान किया गया हो, उसी का अन्त्यावयव मित् होता है।

ज्ञान शि-ज्ञान इ। अब शि आदेश की **'शि सर्वनामस्थानम्'** के द्वारा सर्वनामस्थान संज्ञा हो गई। ऐसा होने पर 'नपुंसकस्य झलचः' के द्वारा 'नुम्' (न्) आगम हो गया। प्रश्न उठता है कि यह आगम कहाँ हो? 'मिदचोऽन्त्यात् परः' के बल पर यह आगम 'ज्ञान' का अन्त्यावयव बनेगा। ज्ञान शब्द का अन्त्य अच् अकार है, वह 'ज्ञान' इस समुदाय के अन्त में है। अतः इस समुदाय का अन्त्य अवयव

बन जायेगा। ज्ञान नुम् ई–ज्ञानन् इ। तब **'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'** के द्वारा उपधा का दीर्घ कर देने पर 'ज्ञानानि' रूप सिद्ध हो गया।

इसी प्रकार 'ज्ञान शस्' में पूर्ववत् प्रक्रिया होकर 'ज्ञानानि' रूप बन जायेगा। पुनरिति–द्वितीया में प्रथमा के समान रूप होंगे। शेषमिति–शेष तृतीया आदि के रूप पुँल्लिङ्ग अकारान्त शब्द के समान बनेंगे।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
द्वि०	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
तृ०	ज्ञानेन	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानैः
च०	ज्ञानाय	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः
पं०	ज्ञानात्	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः
ष०	ज्ञानस्य	ज्ञानयोः	ज्ञानानाम्
स०	ज्ञाने	ज्ञानयोः	ज्ञानेषु
सं०	हे ज्ञान	हे ज्ञाने	हे ज्ञानानि

एवमिति – इसी प्रकार अकारान्त नपुंसकलिङ्ग धन, वन तथा फल आदि शब्दों के रूप होंगे। कुछ अन्य नपुंसकलिङ्ग शब्द–नेत्र, मुख, मूल्य, जल, पुष्प, पत्र, सत्य, आज्य (घी) आदि।

उकारान्त शब्द – मधु

मधु– मधु सु यहाँ **स्वमोर्नपुंसकात्** के सु का लोप होकर मधु रूप बन गया। मधु औ में शी आदेश हो गया। तब नुम् आगम हुआ। मधु शी–मधु नुम् ई–मधुनी। मधु शस् –शि आदेश, नुम् आगम तथा उपधादीर्घ होकर मधु शि–मधु नुम् इ–मधू न्इ–मधूनि

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	मधु	मधुनी	मधूनि
द्वि०	मधु	मधुनी	मधूनि
तृ०	मधुना	मधुभ्याम्	मधुभिः
च०	मधुने	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
पं०	मधुनः	मधुभ्याम्	मधुभ्यः

ष०	मधुनः	मधुनोः	मधूनाम्
स०	मधुनि	मधुनोः	मधुषु
सं०	हे मधो, हे मधु	हे मधुनी	हे मधूनि

ऋकारान्त शब्द - धातृ (धारण करने वाला)

धातृ सु - यहाँ सु का लोप होकर धातृ रूप बना। इसी प्रकार द्वितीया एकव० में धातृ अम् में अम् का लोप होकर धातृ बना। धातृ औ यहाँ शी आदेश होकर नुम् आगम हुआ। धातृ शी–धातृ नुम् ई। तब णत्व इत्यादि कार्य होकर धातृणी। धातृ जस् - मधूनि की तरह प्रक्रिया होगी। एक णत्व कार्य विशेष होगा। धातृणि। हे धातृ सु - सु का लोप होगा, गुण अर् होगा, रेफ को **खरवसानयोः** के द्वारा विसर्ग होगा। धातृ–धातर्–धातः। पक्ष में धातृ ही होगा। **न लुमताङ्गस्य** शास्त्र अनित्य है। धातृ शब्द भाषितपुंस्क है। अतः तृतीयादि अजादि विभक्तियों में विकल्प से पुंवद्भाव होगा। धातृ टा –पुंवद्भाव होकर यण आदेश हो जायेगा। धात्रा। पक्ष में नुम् आगम तथा णत्व इत्यादि कार्य होंगे। धातृणा। धातृ आम् - पुवंद्भाव पक्ष में नुट् आगम होकर तथा **नामि** से दीर्घ हो कर धातॄणाम् रूप सिद्ध हुआ। अभाव पक्ष में नुमचिर तृज्वद् के द्वारा नुम् की अपेक्षा नुट् के प्रबल होने के कारण पूर्वविप्रतिषेध बल से नुट् आगम होकर पूर्ववत् ध ातृणाम् रूप बन गया।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	धातृ	धातृणी	धातॄणि
द्वि०	धातृ	धातृणी	धातॄणि
तृ०	धात्रा, धातृणा	धातृभ्याम्	धातृभिः
च०	धात्रे, धातृणे	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
पं०	धातुः, धातृणः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
ष०	धातुः, धातृणः	धात्रोः, धातृणोः	धातॄणाम्
सं०	धातरि, धातृणि	धात्रोः, धातृणोः	धातृषु
सं०	हे धातः, धातृ	हे धातृणी	हे धातॄणि

इसी प्रकार ज्ञातृ (जानने वाला) इत्यादि के रूप होंगे। अन्य ऋकारान्त शब्द-कर्तृ (करने वाला), हर्तृ (हरनेवाला), जेतृ (जीतने वाला) तथा दातृ (दाता)।

स्मरणीय बिंदु

1. स्त्रीलिंग शब्दों में आप् और ङीप् जैसे प्रत्यय लगकर प्रातिपदिकों का निर्माण होता है।

2. नपुंसकलिङ्ग शब्दों में स्वमोर्नपुंसकात् जैसे सूत्रों के माध्यम से प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के रूपों में विशिष्ट कार्य होते हैं।

3. मति और धेनु जैसे शब्दों के कुछ विभक्तियों में दो-दो रूप बनते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अजन्त स्त्रीलिंग शब्दों के रूप निर्माण की प्रक्रिया को रमा शब्द के उदाहरण से संबंधित सूत्रों सहित विस्तार से समझाइए?

2. नपुंसकलिङ्ग शब्दरूपों की क्या विशेषताएँ हैं? ज्ञान शब्द की रूप सिद्धि प्रक्रिया को प्रमुख सूत्रों सहित लिखिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मति शब्द के चतुर्थी विभक्ति एकवचन में कौन से दो रूप बनते हैं? लिखिए।

2. नदी शब्द के सम्बोधन एकवचन का रूप क्या होता है और इसमें कौन सा सूत्र प्रयुक्त होता है?

3. नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के रूपों में क्या समानता होती है? संक्षेप में लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. रमा शब्द का षष्ठी विभक्ति बहुवचन का रूप क्या होगा?

(क) रमायाम् (ख) रमाणाम् (ग) रमेषु (घ) रमाणम्

2. ज्ञानम् शब्द किस लिङ्ग का उदाहरण माना जाता है?

(क) पुल्लिंग (ख) स्त्रीलिंग (ग) नपुंसकलिङ्ग (घ) उभयलिङ्ग

3. नदी शब्द का प्रथमा विभक्ति बहुवचन का रूप क्या है?

(क) नद्यः (ख) नदीः (ग) नद्याः (घ) नद्यम्

4. मति शब्द के रूप किस शब्द के समान चलते हैं?

(क) राम (ख) हरि (ग) ज्ञान (घ) लता

5. नपुंसकलिङ्ग में सु और अम् प्रत्ययों के स्थान पर क्या आदेश होता है?

(क) आ (ख) ई (ग) अम् (घ) लोप

इकाई 3.3

हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्।

उद्देश्य

1. हलन्त पुल्लिंग शब्दों की सिद्धि के लिए प्रयुक्त होने वाले सूत्रों और उनकी व्याकरणिक प्रक्रिया को समझना।

2. राजन मरुत और विद्वस जैसे प्रमुख हलन्त शब्दों के रूपों के निर्माण का ज्ञान प्राप्त करना।

3. संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त होने वाले हलन्त पदों की पहचान कर उनके सही अर्थ बोध में दक्षता प्राप्त करना।

परिणाम

1. विद्यार्थी विभिन्न हलन्त पुल्लिंग शब्दों के रूपों को शुद्ध रूप में लिखने और सिद्ध करने में सक्षम होंगे।

2. हलन्त प्रातिपदिकों के साथ सुप् प्रत्ययों के जुड़ने पर होने वाले वर्ण परिवर्तनों का स्पष्ट बोध होगा।

3. जटिल हलन्त पदों के विभक्ति और वचन को पहचान कर अनुवाद करने की योग्यता आएगी।

हकारान्त शब्द लिह् (चाटने वाला)

१. हो ढः (८/२/३१)

हस्य ढः स्याज् झलि पदान्ते च। लिट्, लिड्। लिहौ। लिहः लिड्भ्याम् । लिट्त्सु-लिट्सु। ह इति-पदान्त में और झल् परे रहते हकार को ढकार हो। लिह् सु-हल्ङ्याब्भ्यो० के द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो गया। पदान्त होने से हकार को ढकार आदेश। तब **झलां जशोऽन्ते** के द्वारा डकार हुआ। **वाऽवसाने** के द्वारा पदान्त डकार को विकल्प से च हो गया। लिह् सु-लिह् स्-लिह् -लिट्-लिड्, लिट्। लिह् औ लिहौ। लिह् जस्-लिह् अस्-लिहः। लिह् शस्, लिह् ङसि तथा लिह् ङस्-तीनों स्थलों में पूर्ववत् कार्य होकर लिहः रूप होगा। लिह् भ्याम् **हो ढः** के द्वारा झल् परे रहते ढकार हो गया। **झलां जशोऽन्ते** के द्वारा डकार हो गया। लिद्भ्याम् लिड्भ्याम्। **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने**। लिह् सुप्-यहाँ **हो ढः** के द्वारा ढकार हुआ। लिल्ढ् सु। **झलां जशोऽन्ते** के द्वारा ढकार को डकार हुआ। लिड्सु। डः सि धुट् के द्वारा धुट् आगम। खरि च से धकार को तकार और तकार परे रहते **खरि च** से डकार को टकार। लिड्सु-लिड् धुट् सु-लिङ् ध् सु- लिड् त् सु-लिट्त्सु। धुट् अभाव पक्ष में लिड्सु तथा खरि च से टकार होकर लिट्सु बन गया।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	लिट्,लिड्	लिहौ	लिहः
द्वि०	लिहम्	लिहौ	लिहः
तृ०	लिहा	लिड्भ्याम्	लिड्भिः
च०	लिहे	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः
पं०	लिहः	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः
ष०	लिहः	लिहोः	लिहाम्
स०	लिहि	लिहोः	लिट्सु, लिट्त्सु
सं०	हे लिट्, लिड्	हे लिहौ	हे लिहः

अनडुह् (बैल) शब्द

२. चतुरनडुहोराम् उदात्तः (७/१/९८) अनयोराम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे।

चतुर् इति- सर्वनाम-स्थानिक प्रत्यय परे रहते चतुर् और अनडुह् शब्द को आम् आगम हो। आम् का मकार इत्संज्ञक है। **मिदचोऽन्त्यात्परः** परिभाषा के बल पर अन्त्य अच् का अवयव होगा। अनडुह् सु झ स् - यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा आम् आगम हुआ। अनडु आम् ह्सु ।

३. सावनडुहः (७/१/८२) अस्य नुम् स्यात् सौ परे। अनड्वान्।

सावित‍ि- सु परे रहते अनडुह् शब्द को नुम् आगम हो। नुम् के मकार की इत्संज्ञा है और उकार मुख सुखार्थ है। अनडु आम् ह् स् को प्रकृत सूत्र के द्वारा नुम् आगम हुआ। मित् होने के कारण अन्त्य अच् का अवयव बन गया। अनडु आम् नुम् ह्स्। **इको यणचि** के द्वारा यण् हुआ। अनड्वान्ह् ङस् । हल्ङ्याब्भ्‍ के द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो गया। अनड्वान् ह् स् । अनड्वान् ह। **संयोगान्तस्य लोपः** के द्वारा हकार का लोप हो गया। अनड्वान् ।

४. अम् सम्बुद्धौ (७/१/९९)

हे अनड्वन्। अनड्वाहौ। अनड्वाहः। (अनडुहः)। अनडुहा। अमिति- सम्बुद्धि परे रहते चतुर् और अनडुह को अम् आगम हो। अम् का मकार इत्संज्ञक है। हे अनडुह् सु - यहाँ **अम्सम्बुद्धौ** सूत्र के द्वारा अम् आगम तथा **सावनडुहः** से नुम् भी हो गया। अनडु अम् न् ह् स्। अब **इको यणचि** के द्वारा यण, **हल्ङ्याब्भ्यो०** के द्वारा सकार का लोप तथा **संयोगान्तस्य लोपः** के द्वारा हकार का लोप हुआ। हे अनड्वन् ह् स्-हे अनड्वन् ह्-हे अनड्वन्।

अनडुह् औ - यहाँ **चतुरनडुहो०** के द्वारा आम् आगम हुआ। यण् आदेश होकर अनडु

आम् ह् औ–अनड्वाह् औ–अनड्वाहौ। अनडुह् शस् – यहाँ आम् आगम नहीं होगा। रुत्व आदि होकर अनडुहः बन गया। इसी प्रकार जस् प्रत्यय परे रहते अनड्वाहः रूप सिद्ध हुआ।

५. वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः (८/२/७२)

सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात् पदान्ते। अनडुद्भ्याम् इत्यादि। सान्तेति किम्– विद्वान्। पदान्तेति किम्– स्रस्तम्, ध्वस्तम्। वस्विति– सकारान्त वसु प्रत्ययान्त, स्रंसु, ध्वंसु, और अनडुह शब्दों को दकार आदेश हो, पदान्त में। अनडुह् भ्याम् – यहाँ **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** के द्वारा अनडुह् की पद संज्ञा हुई। अब पदान्त में हकार को दकार हो गया। अनडुद्भ्याम् । अनडुह् सुप् – यहाँ पूर्ववत् पदसंज्ञा होकर हकार के स्थान पर दकार हो गया। तब खरि च सूत्र के द्वारा चर्‌ (तकार) हो कर अनडुद् सु–अनडुत्सु रूप सिद्ध हुआ।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः
द्वि०	अनड्वाहम्	अनड्वाहौ	अनडुहः
तृ०	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः
च०	अनडुहे	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
पं०	अनडुहः	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्यः
ष०	अनडुहः	अनडुहोः	अनडुहाम्
स०	अनडुहि	अनडुहोः	अनडुत्सु
सं०	हे अनड्वन्	हे अनड्वाहौ	हे अनड्वाहः

किम् (कौन) शब्द

६. किमः कः (७/२/१०३)

किमः कः स्याद् विभक्तौ। कः, कौ, के इत्यादि। शेषं सर्ववत्। किम इति किम् शब्द को क आदेश हो विभक्ति परे रहते। विभक्ति आने के बाद सब से पहले किम् शब्द को क आदेश होगा। और स्थानिवद्भाव से तत्स्थानिक क भी सर्वनाम संज्ञक हो गया। अजन्त बन जाने से इसके रूप सर्व शब्द के समान बनेंगे।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	कः	कौ	के
द्वि०	कम्	कौ	कान्

तृ०	केन	काभ्याम्	कैः
च०	कस्मै	काभ्याम्	केभ्यः
पं०	कस्मात्-द्	काभ्याम्	केभ्यः
ष०	कस्य	कयोः	केषाम्
स०	कस्मिन्	कयोः	केषु

इदम् (यह)

७. इदमो मः (७/२/१०८)

इदमो मस्य मः स्यात्। (सौ)। त्यदाद्यत्वापवादः । इदम इति- सु परे रहते इदम् शब्द के मकार को मकार ही हो। इदम् सु - यहाँ **त्यदादीनामः** के द्वारा अकार आदेश प्राप्त है जिसका प्रकृत सूत्र के द्वारा बाध हो जाता है।

८. इदोऽय् पुंसि (७/२/१११)

इदम इदोऽय् स्यात् सौ पुंसि। अयम्। त्यदाद्यत्वे-इद इति-पुँल्लिङ्ग के विषय में सु परे रहते इदम् शब्द के इद् अवयव को अय् आदेश हो। इदम् सु - यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा अय् आदेश करने पर अय् अम् स् हो गया। तब **हल्ङ्याब्भ्यो०** के द्वारा सकार का लोप हो गया। अयम् बन गया। त्यदाद्यत्व इति- इदम् औ इस स्थिति में **त्यदादीनामः** सूत्र से मकार को अकार हो गया। तब इद अ औ ऐसी स्थिति हुई।

९. अतो गुणे (६/१/९४)

अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः। अत इति- पदान्तभिन्न ह्रस्व अकार से गुण परे रहते पररूप एकादेश हो। इद अ औ यहाँ पर अकार रूप एकादेश हुआ। तब इद औ यह बना।

१०. दश्च (७/२/१०९)

इदमो दस्य मः स्याद् विभक्तौ। इमौ, इमे। त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः । दश्चेति- इदम् शब्द के दकार को मकार हो विभक्ति परे रहते। तब **प्रथमयोः पूर्व०** के द्वारा पूर्व सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति हुई। तब **नादिचि** के द्वारा पूर्व सवर्णदीर्घ का निषेध हुआ। तब सामान्य वृद्धि होकर इमौ रूप बना। इद औ-यहा दकार को मकार हुआ। इम औ। **वृद्धिरेचि** के द्वारा वृद्धि प्राप्त हुई। इदम् अस् इस स्थिति में मकार को अकार **त्यदादीनामः** हुआ। पररूप एकादेश (अतो गुणे) हो गया। तब दकार को मकार **(दश्च)** हो गया। इम यह अदन्त सर्वनाम हो गया जस् परे रहते उसे जसः शी के द्वारा शी आदेश हो गया। शकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। अब **आद्गुणः** के द्वारा गुण हो गया। इम शी-इम ई इमे। त्यदादेरिति- त्यदादियों का

सम्बोधन नहीं होता है। यह उत्सर्ग अर्थात् साधारण नियम है।

११ . अनाऽऽप्यकः (७/२/११२) अककारस्येदम इदोऽन् स्याद् आपि विभक्तौ। आबिति प्रत्याहारः। अनेन । अनापीति-आप् (टा से लेकर सुप् तक) विभक्ति परे रहते ककार रहित इदम् के इद भाग को अन् आदेश हो। आबिति-आप् प्रत्याहार है। टा (आ) से लेकर सुप् पर्यन्त सभी प्रत्ययों का आप् प्रत्याहार के द्वारा बोध होता है। इदम् अम्-इमम्-पूर्ववत् समझें। इदम् औट् प्रथमा की तरह। इमौ। इदम् शस् - यहाँ **तस्माच्छसो नः पुंसि** के द्वारा सकार को नकार हो जाता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् समझें। **त्यदादीनामः** । इद अ अस् **अतो गुणे** से पररूप। इद अ स् दश्च से मत्व। इम अस् **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** । इमास् । इमान्। इदम् टा आ -यहाँ **त्यदादीनामः** से मकार को अकार आदेश हुआ। तब **अतो गुणे** के द्वारा पररूप आदेश हुआ। इदम् आ-इद अ आ इद आ। **दश्च** के द्वारा टा परे रहते मकार प्राप्त हुआ। परन्तु **अनाप्यकः** सूत्र के द्वारा टा परे रहते इद् भाग को अन् आदेश हुआ। तब **टाङसिङसामि०** के द्वारा टा को इन आदेश हो गया। **आद् गुणः** के द्वारा गुणादेश हो गया। इद् अ आ इद् आ-अन् अ आ-अन आ इन-अनेन। इदम् भ्याम् - यहाँ **त्यदादीनामः** के द्वारा अकार हुआ। **दश्च** के द्वारा मकार प्राप्त था, परन्तु **अनाप्यकः** के द्वारा इद् के स्थान पर अन् आदेश प्राप्त हुआ। इद् अ भ्याम् इद् भ्याम् ।

१२. हलि लोपः (७/२/११३)

अककारस्येदम इदो लोप आपि हलादौ। (प.) नाऽनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे । हल. ीति- हलादि आप् विभक्ति परे रहते ककाररहित इदम् शब्द के इद् भाग का लोप हो। अब **अलोऽन्त्यस्य** के बल पर उक्त लोप इद् समुदाय के अन्त्य वर्ण (द्) का होता है। नेति- अभ्यास के विकार को छोड़कर अन्यत्र अनर्थक में अन्त्यविधि की प्रवृत्ति न हो। सम. ुदाय सार्थक होता है और उसका एक भाग निरर्थक होता है। कहा गया है- समुदायो ह्यर्थवान्, तस्यैकदेशोऽनर्थकः । इदम् एक समुदाय है तथा इद् एक भाग है जो निरर्थक है। अतः इस के विषय में **अलोऽन्त्यस्य** की प्रवृत्ति नहीं होगी और प्रकृत सूत्र के द्वारा समग्र इद् भाग का लोप हो जायेगा। इद भ्याम्-अ भ्याम् ।

१३. आद्यन्तवद् एकस्मिन् (१/१/२१)

एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव स्यात्। **सुपि च** इति दीर्घः- आभ्याम् । आदी. ति- आदि और अन्त को विधीयमान कार्य एक में भी हो। इसे व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं। यह एक लोकन्याय है। यथा- देवदत्त का एक पुत्र है, उसे ही ज्येष्ठ तथा उसे ही कनिष्ठ कहा जायेगा। यद्यपि ज्येष्ठत्व तथा कनिष्ठत्व सापेक्ष है, तथापि अमुख्य में भी मुख्य व्यवहार किया जाता है। अ भ्याम् इस स्थिति में **सुपि च** से प्राप्त दीर्घत्व अन्त्य को होगा। तब व्यपदेशिवन्न्याय से अकार को ही अन्त्य मानकर दीर्घ हो गया। आभ्याम् ।

१४. नेदमदसोरकोः (७/१/११)

अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न। एभिः। अस्मै। एभ्यः। अस्मात्। अस्य। अनयोः। एषाम्। अस्मिन्। एषु। नेदमदसोरिति– ककाररहित इदम् और अदस् से परे भिस् को ऐस् आदेश न हो। इदम् भिस् – यहाँ **त्यदादीनामः** के द्वारा अकार आदेश तथा **अतो गुणे** के द्वारा पररूप आदेश हो गया। हलादि (भिस्) विभक्ति परे रहते **हलि लोपः** के द्वारा इद् भाग का लोप हो गया। इद भिस्– अ भिस्। यहाँ व्यपदेशिवद्भाव से अकार को अदन्त अंग मानकर **अतो भिस ऐस्** की प्रवृत्ति होती है जिसका प्रकृत सूत्र के द्वारा बाध हो गया है। तब **बहुवचने झल्येत्** के द्वारा एकार आदेश हो गया। सकार को विसर्गादि होकर– अ भिस्–ए भिस्–एभि रु–एभिः । इदम् ङे – यहाँ **त्यदादीनामः** के द्वारा अकार आदेश आदि पूर्ववत् कार्य होकर–इदअ ङे–इद ङे। बन गया। **सर्वनाम्नः स्मै** के द्वारा स्मै आदेश हुआ। इदस्मै। अब स्थानिवद् भाव के बल पर स्मै आदेश में विभक्ति धर्म की उत्पत्ति होकर हलि लोपः के द्वारा इद् का लोप होकर अस्मै। एभ्यः इदम् भ्यस् इस दशा में त्यदाद्यत्व और पररूप होने पर इद् भाग का लोप हुआ। तब व्यपदेशिवद्भाव से अदन्त अङ्ग के अकार को **बहुवचने झल्येत्** के द्वारा एकार हो गया। तब एभ्यः बना। इदम् ङसि इस अवस्था में त्यदाद्यत्व, पररूप हो गया। तब स्मात् आदेश हुआ। इद स्मात्। इद् भाग का लोप होकर अस्मात् रूप बना। इदम् डस् – यहाँ डस् को स्य आदेश हो गया। शेष कार्य पूर्ववत् होंगे। अस्य। षष्ठी तथा सप्तमी द्विवचन में त्यदाद्यत्व तथा पररूप हो गया। इद ओस्। तब **अनाप्य०** के द्वारा अन् आदेश हो गया। ओसि च के द्वारा एकार होकर अनयोः रूप बना। इदम् आम् – यहाँ अदन्त अङ्ग बनने के पश्चात् सुट् आगम **आमि सर्वनाम्नः सुट्** हुआ। इद् भाग का लोप **हलि लोपः** हो गया। अ सुट् आम्। तब एकार आदेश **बहुवचने झल्येत्** हो गया। ए साम्। मूर्धन्य आदेश होकर एषाम् बना। सप्तमी एक वचन में स्मिन् आदेश तथ अदन्त अङ्ग बन कर अस्मिन् रूप बनेगा।

१५. द्वितीयाटौस्स्वेनः (२/४/३४) इदमेतदोरेनादेशः स्यादन्वादेशे। किञ्चित् कार्यं विधातुमु. पात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानम् अन्वादेशः। यथा–अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापयेति। अनयोः पवित्रं कुलम्, एनयोः प्रभूतं स्वम्–इति। एनम्, एनौ, एनान्। एनेन। एतयोः। एनयोः राजा। द्वितीयेति– द्वितीया (सब वचन), टा तथा ओस् परे रहते अन्वादेश के विषय में इदम् तथा एतद् को एन आदेश हो। ओस् के द्वारा षष्ठी द्विव० तथा सप्तमी द्विव० दोनों का ग्रहण होता है। जिसका पहले किसी कार्य के लिए ग्रहण किया गया हो तथा उसका अन्य कार्य के लिए पुनः ग्रहण करना अन्वादेश कहलाता है। यथा– अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं म्, छन्दोऽध्यापय। यहाँ किसी ने अपने शिष्य वा पुत्र के लिए व्याकरण अध्ययन रूप कार्य का विधान किया। पुनः उसी के लिए वेद अध्ययन रूप कार्य का विधान किया गया। अतः उत्तरवर्ती वाक्य में अन्वादेश सिद्ध हुआ। तब अन्वादिष्ट इदम् शब्द को द्वितीया (अम्) में एन आदेश हो गया। एनम् रूप सिद्ध हुआ। अनयोः पवित्रं कुलम्, एनयोः प्रभूतं स्वम् यहाँ प्रथम वाक्य में कुल की पवित्रता के विधानार्थ ग्रहण किये हुये का द्वितीय वाक्य में अन्य विधान के लिए प्रयोग हुआ है। अतः अन्वादेश सिद्ध हुआ। इदम् अम् –ऐसी स्थिति

होने पर अन्वादेश में इदम् को एन आदेश प्रकृत सूत्र के द्वारा हो गया। तब **अमि पूर्वः** के द्वारा पूर्वरूप आदेश होकर एनम् रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार इदम् औ तथा इदम् शस् को अन्वादेश में एन आदेश होकर एनौ तथा एनान् रूप सिद्ध होते हैं । तृतीया में टा तथा षष्ठी में ओस् परे रहते एनेन तथा एनयोः रूप सिद्ध हुए।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	अयम्	इमौ	इमे
द्वि०	इमम्	इमौ	इमान्
तृ०	अनेन	आभ्याम्	एभिः
च०	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः
पं०	अस्मात्-द्	आभ्याम्	एभ्यः
ष०	अस्य	अनयोः	एषाम्
स०	अस्मिन्	अनयोः	एषु

नकारान्त शब्द राजन् (राजा) राजन् सु झ स् यहाँ **सर्वनामस्थाने०** के द्वारा उपधा को दीर्घ आदेश तथा **हल्ङ्याब्भ्यः** के द्वारा सकार लोप हो गया। राजान् स्-राजान्-राजान्। **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** के द्वारा नकार का लोप हो गया। राजा।

१६. न ङिसम्बुद्ध्योः ७ (८/२/८) नस्य लोपो न ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन् । (वा०) ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः। ब्रह्मनिष्ठः। राजानौ, राजानः राज्ञः। नेति- ङि और सम्बुद्धि परे रहते नकार का लोप न हो। हे राजन् सु-अपृक्त सकार का लोप हो जाने पर पदान्त में स्थित नकार का नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य के द्वारा लोप प्राप्त हुआ। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा लोप का निषेध हो गया। तब हे राजन् बन गया। ङाविति- उत्तरपद है परे जिसके, उस ङि के परे रहते नकारलोप का निषेध नहीं होता अर्थात् नकारलोप हो ही जाता है। ब्रह्मनिष्ठः- ब्रह्मणि निष्ठा यस्य स ब्रह्मनिष्ठः। यहाँ समास होने पर **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** विभक्ति का लोप हो गया। प्रत्ययलक्षण से उसके लाने पर यहाँ प्राप्त नकारलोप का पूर्व सूत्र से निषेध प्राप्त था, उसका इस वार्तिक से निषेध हो गया। तब नकार लोप हो गया। यहाँ उत्तरपद निष्ठा परे है, यह समास का अन्त्य अवयव है। राजन् औ यहाँ उपधा को **सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ** सूत्र से दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ। राजानौ। राजन् शस् - यहाँ **अल्लोपोऽनः** के द्वारा भसंज्ञक के अकार का लोप हुआ। स्तोः श्चुना श्चुः के द्वारा नकार को ञकार आदेश। राजन् अस्-राज् न् अस् राज् ञ् अस। विसर्गादि कार्य होकर राज्ञः बन गया।

१७. नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति (८/२/२) सुब्विधौ स्वरविधौ संज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धः, नान्यत्रराजाश्व इत्यादौ । इत्यसिद्धत्वाद्-आत्वम्, एत्वम्, ऐस्त्वं च न।

राजभ्याम्, राजभिः। राजभ्यः । राज्ञि, राजनि। राजसु । यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः । नलोप इति- सुब्विधि, स्वरविधि, संज्ञाविधि और कृत् प्रत्यय परे रहते तुग्विधि के विषय में ही नकार का लोप असिद्ध होता है अन्यत्र नहीं। सुप् सम्बन्धी विधि दो प्रकार की होती है-१. सुप् निमित्तक तथा २. सुप्स्थानिक । यद्यपि **पूर्वत्रासिद्धम्** के द्वारा ही नकार-लोप असिद्ध है तथा पुनः नकार लोप की असिद्धि का कथन नियमार्थ है। सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय कल्पते अर्थात् स्वतः सिद्ध कार्य के लिए पुनः विधान करना नियमार्थ होता है। इसके अनुसार यदि नकार का लोप असिद्ध हो तो सुप् आदि में ही हो, अन्यत्र नहीं। अतः राज्ञः अश्वः राजन् अश्वः इस अवस्था में नकार लोप असिद्ध नहीं है, क्योंकि लोपविधायक सूत्र सुबादि विधियों में नहीं है। अब असिद्ध न होने से **अकः सवर्णे दीर्घः** के द्वारा दीर्घ होकर राजाश्वः ऐसा रूप सिद्ध होगा। इत्यसिद्धत्वादिति- इस सूत्र से नकारलोप के असिद्ध होने से आत्व, एत्व और ऐस् आदेश नहीं होते। राजन् भ्याम् यहाँ स्वादिष्वसर्वनाम० के द्वारा राजन् शब्द की पद संज्ञा हो गई। न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य के द्वारा नलोप हो गया। अब सुपि च के द्वारा दीर्घ आकार की प्राप्ति होती है। परन्तु न लोप के असिद्ध होने से दीर्घत्व नहीं होगा। राजभ्याम् । राजन् भिस् यहाँ नकार लोप हो गया। अब अतो भिस ऐस् के द्वारा सुप् स्थानिक ऐस् आदेश प्राप्त हुआ। परन्तु नकार के लोप के असिद्ध होने के कारण यह आदेश न होकर राजभिः बन गया। राजन् ङि यहाँ विभाषा ङि श्योः के द्वारा विकल्प से अकार का लोप होता है। लोप पक्ष में राजन् इ-राज् न् इ-राज्ञ् इ-राज्ञि। अभावपक्ष में राजनि रूप होगा। राजन् सुप् में नकार लोप होने पर बहुवचने झल्येत् के द्वारा एकार आदेश की निवृत्ति होकर राजसु रूप बन गया।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	राजा	राजानौ	राजानः
द्वि०	राजानम्	राजानौ	राज्ञः
तृ०	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः
च०	राज्ञे	राजभ्याम्	राजभ्यः
पं०	राज्ञः	राजभ्याम्	राजभ्यः
ष०	राज्ञः	राज्ञोः	राज्ञाम्
स०	राज्ञि, राजनि	राज्ञोः	राजसु
सं०	हे राजन्	हे राजानौ	हे राजानः

पथिन् (मार्ग, रास्ता) शब्द

१८. पथिमथ्यृभुक्षामात्। (७/१/८५) एषामाकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे। पथि इति- पथिन् (मार्ग), मथिन् (मथनी,) ऋभुक्षिन् (इन्द्र) इन शब्दों को आकार अन्तादेश हो सु परे रहते। पथिन्

स्   इस दशा में नकार को आकार हो गया।   पथि आ स्   ऐसी स्थिति बन गई।

१९. इतोऽत् सर्वनामस्थाने (७/१/८६) पथ्यादेरिकारस्याऽकारः स्यात् सर्वनामस्थाने परे। इत इति- पथिन् आदि के इकार को अकार हो, सर्वनामस्थान परे रहते।   पथि आ स्   इस स्थिति में पथिन्   के इकार को अकार होकर   पथ आ स्   यह अवस्था हुई। थ इति- पथिन् और मथिन् शब्दों के थकार को   न्थ्   आदेश हो सर्वनामस्थान परे रहते।

२०. थो न्थः (७/१/८७) पथिमथोस्थस्य न्थाऽऽदेशः सर्वनामस्थाने। पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः। पथ आ स्   ऐसी स्थिति बन जाने पर इस सूत्र से   थ्   को   न्थ्   आदेश हुआ। पन्थ आ स्   इस दशा में सवर्णदीर्घ और सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर   पन्थाः   रूप सिद्ध हुआ।   पथिन् औ   पूर्वोक्त रीति से प्रक्रिया होकर   पन्थानौ   रूप सिद्ध हुआ।   पथिन् जस् यहाँ पर पूर्ववत् प्रक्रिया होगी। रुत्व तथा विसर्ग कार्य अधिक होगा। पन्थानः । द्वितीया के एकवचन में पन्थानम्, द्विवचन में पन्थानौ। २९६. भस्य टेर्लोपः १ (७/१/८८) भस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः। पथः। पथा। पथिभ्याम्। एवम्- मथिन्, ऋभुक्षिन् । भस्येति- भसंज्ञक पथिन् आदि अङ्ग के टि का लोप हो। पथिन् शस्   इस स्थिति में भसंज्ञक अङ्ग होने   पथिन्   की टि   इन्   का लोप हो गया। तब पथ् अस्   ऐसी स्थिति बन जाने पर रुत्व आदि कार्य होकर   पथः   रूप सिद्ध हुआ। तृ० एकव० में पथा।   पथिन् भ्याम्   इस स्थिति में नकार का लोप   न लोपः० सूत्र से होने पर रूप सिद्ध होता है। पथिभ्याम् ।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**वहु०**
प्र०	पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः
द्वि०	पन्थानम्	पन्थानौ	पथः
तृ०	पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः
च०	पथे	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
पं०	पथः	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
ष०	पथः	पथोः	पथाम्
स०	पथि	पथोः	पथिषु
सं०	हे पन्थाः	हे पन्थानौ	हे पन्थानः

इसी प्रकार मथिन् तथा ऋभुक्षिन् के रूप होंगे।

मथिन्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	मन्थाः	मन्थानौ	मन्थानः
द्वि०	मन्थानम्	मन्थानौ	मथः
तृ०	मथा	मथिभ्याम्	मथिभिः
च०	मथे	मथिभ्याम्	मथिभ्यः
पं०	मथः	मथिभ्याम्	मथिभ्यः
ष०	मथः	मथोः	मथाम्
स०	मथि	मथोः	मथिषु
सं०	हे मन्थाः	हे मन्थानौ	हे मन्थानः

ऋभुक्षिन्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	ऋभुक्षाः	ऋभुक्षाणौ	ऋभुक्षाणः
द्वि०	ऋभुक्षाणम्	ऋभुक्षाणौ	ऋभुक्षः
तृ०	ऋभुक्षा	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभिः
च०	ऋभुक्षे	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभ्यः
पं०	ऋभुक्षः	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभ्यः
ष०	ऋभुक्षः	ऋभुक्षोः	ऋभुक्षाम्
स०	ऋभुक्षि	ऋभुक्षोः	ऋभुक्षिषु
सं०	हे ऋभुक्षाः	हे ऋभुक्षाणौ	हे ऋभुक्षाण

दकारान्त शब्द

त्यद् (वह), तद् (वह), यद् (जो), एतद् (यह) शब्द।

२१. तदोः सः सावनन्त्ययोः (७/२/१०६) त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात् सौ। स्यः, त्यौ, त्ये। सः, तौ, ते। यः, यौ, ये। एषः एतौ, एते, (एतम्। अन्वादेशे-एनम्, एनौ, एनान्, एनेन एनयोः।) तदोरिति-त्यद् आदियों के अनन्त्य तकार और दकार को सकार हो, सु परे रहते। अनन्त्य

का अर्थ है जो अन्त में नहीं है। त्यद् स् इस दशा में सबसे पहले **त्यदादीनामः** सूत्र से दकार को अकार हुआ। अतो गुणे सूत्र से पूर्व अकार को पररूप एकादेश होकर त्य स् यह स्थिति बनी, प्रकृत सूत्र से आदि तकार को सकार हुआ और प्रत्यय रेफ को रु और रेफ को विसर्ग। स्यः । त्यद्, तद्, यद् और एतद् इन चारों शब्दों में विभक्ति आने पर त्यदादीनामः से दकार को अकार आदेश होता है। पूर्व पर दोनों अकारों के स्थान में अतो गुणे से पररूप एकादेश होकर क्रमशः त्य, त, य, और एत–इस रूप में अकारान्त बन जाते हैं। छात्रों को इतना कार्य सभी विभक्तियों में कर लेना चाहिए। इसके पश्चात् विभक्ति कार्य करने चाहिए।

तद्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	सः	तौ	ते
द्वि०	तम्	तौ	तान्
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः
च०	तस्मै	ताभ्याम्	तेभ्यः
पं०	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्यः
ष०	तस्य	तयोः	तेषाम्
स०	तस्मिन्	तयोः	तेषु

यद्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	यः	यौ	ये
द्वि०	यम्	यौ	यान्
तृ०	येन	याभ्याम्	यैः
च०	यस्मै	याभ्याम्	येभ्यः
पं०	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्यः
ष०	यस्य	ययोः	येषाम्
स०	यस्मिन्	ययोः	येषु

एतद्

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	एषः	एतौ	एते
द्वि०	एतम्	एतौ	एतान्
तृ०	एतेन	एताभ्याम्	एतैः
च०	एतस्मै	एताभ्याम्	एतेभ्यः
पं०	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः
ष०	एतस्य	एतयोः	एतेषाम्
स०	एतस्मिन्	एतयोः	एतेषु

अन्वादेश इति' एतद् शब्द को अन्वादेश में **'द्वितीया०'** सूत्र से एन आदेश होकर द्वि० में- एनम्, एनौ, एनान्, टा में एनेन, ओस् में एनयोः- ये रूप इदम् शब्द के समान ही बनते हैं।

युष्मद् (तू), अस्मद् (मैं) शब्द -

इन दोनों शब्दों की रूप सिद्धि एकसमान है। अतः दोनों के रूप साथ साथ सिद्ध किये जाते हैं। **२२. ङेप्रथमयोरम् (७/१/२८)** युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चाऽमादेशः । ङ इति- युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे डे और प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है।

२३. त्वाऽहौ सौ (७/२/९४) अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाऽहौ आदेशौ स्तः (सौ परे।)

त्वाऽहा इति- युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त (युष्म् और अस्म्) भाग को क्रम से त्व और अह आदेश हों, सु परे रहते।

२४. शेषे लोपः (७/२/९०) एतयोष्टिलोपः। त्वम। अहम्। शेष इति- शेष (अर्थात् आत्व और यत्व की निमित्त विभक्ति से भिन्न) विभक्ति परे रहते इनकी टि का लोप हो। युष्मद् सु - यहाँ डे प्रथमयोरम् सूत्र के द्वारा अम् आदेश हो गया। युष्मद् अम्। तब त्वाऽऽहौ सौ के द्वारा सु विभक्ति में युष्मद् के युष्म् भाग को त्व आदेश हो गया। त्व अद् अम्। अकः सवर्णे दीर्घः से प्राप्त दीर्घादेश को बाधकर **अतो गुणे** के द्वारा पररूप हो गया। त्वद् अम्। **शेषे लोपः** के द्वारा टि का लोप होकर त्वद् अम्-त्व् अम्-त्वम् सिद्ध हो गया। इसी प्रकार अस्मद् सु में समस्त प्रक्रिया पूर्ववत् होगी। अस्मद् अम्-अह्अद् अम्- अहद् अम्-अह अम्- अहम् । आत्व की निमित्त विभक्तियाँ-औ, द्वितीया और आदेश रहित हलादि। यत्व की निमित्त ये हैं-आदेश रहित अजादि विभक्तियाँ।

२५. युवाऽऽवौ द्विवचने (७/२/९२) द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ । युवेति. विभक्ति परे रहते द्वित्व संख्या के वाचक युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त (युष्म्, अस्म्) भाग को क्रम से युव और आव आदेश हों। इससे सभी द्विवचनों में युव और आव आदेश हो जायेंगे। औ, औट् तीनों भ्याम् और दोनों ओस् में यह सूत्र कार्य करता है। **२६. प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् (७/२/८८)** औङ्येतयोरात्वं लोके । युवाम्। आवाम्। प्रथमाया इति औङ् परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्दों को आकार अन्तादेश हो लोक में। प्रथमायाश्च० सूत्र आत्व विधायक है। युष्मद् औ यहाँ डेप्रथमयोरम् के द्वारा औ को अम् आदेश हो गया। युष्मद् अम्। अब युवाऽऽवौ द्विवचने के द्वारा युव आदेश हो गया। युव अद् अम्। अतो गुणे से पर रूप हो गया। युवद् अम्। प्रथमायाश्च- के द्वारा आकार अन्त्यादेश हो गया। युव आ अम्। **अकः सवर्णे दीर्घः** के द्वारा युवा अम्- युवाम् बन गया। अस्मद् औ पूर्ववत् प्रक्रिया होगी। अस्मद् अम्-आव अद् अम्-आवद् अम्-आवआ अम्- आवा अम्- आवाम्।

२७. यूयवयौ जसि (७/२/९३) अनयोर्मपर्यन्तस्य (यूयवयौ स्तो जसि।) यूयम्। वयम्। यूयेति- जस् परे रहते इनके (अर्थात् युष्मद् व अस्मद् के) मपर्यन्त भाग को यूय और वय आदेश हों। युष्मद् जस् **ङे प्रथमयोरम्** के द्वारा अम् आदेश। तब यूयवयौ० के द्वारा यूय आदेश हो गया। युष्मद् अम्-यूय अद् अम्-पररूप होकर यूयद् अम्। शेषे लोपः से टि का लोप होकर यूय् अम् यूयम् बन गया। अस्मद् जस् - पूर्ववत् प्रक्रिया जानें। अस्मद् अम्-वय अद् अम् वयद् अम् वय् अम् वयम्।

२८. त्वमावेकवचने (७/२/९७) एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ। त्वमा. विति- विभक्ति परे रहते युष्मद् तथा अस्मद् के मपर्यन्त भाग को त्व और म आदेश हों एकवचन में। युष्मद् अम् सर्वप्रथम अमादेश हुआ। तब **त्वमावेकवचने०** के द्वारा त्व आदेश हुआ। त्व अद् अम्। पररूप होकर त्वद् अम्।

२९. द्वितीयाया च (७/२/८७) अनयोरात् स्यात्। त्वाम्। माम्। द्वितीयायामिति-द्वितीया वि. भक्ति परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्द को आकार अन्तादेश हो। यह सूत्र भी आत्व विधायक है। त्वद् अम्- यहाँ **द्वितीयायां च** के द्वारा आकार अन्तादेश हो गया। त्व आ अम्। **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ होकर त्वाम् बन गया। अस्मद् अम् - यहाँ पूर्ववत् प्रक्रिया होगी। म अद् अम्-मद्- अम् आ अम्-माम्। द्वितीया के द्विवचन में प्रथमा के समान युवाम्, आवाम् रूप बनेंगे।

३०. शसो न (७/१/२९) आभ्यां शसो न स्यात्। अमोऽपवादः। आदेः परस्य । संयोगान्तलोपः । युष्मान्। अस्मान्। शस इति-युष्मद् और अस्मद् शब्द से परे शस् को नकार आदेश हो। अम इति- यह नकार आदेश ङेप्रथमयोः सूत्र से प्राप्त अम् आदेश का अपवाद है। पर को विहित होने से यह नकारादेश **आदेः परस्य** सूत्र के बल पर इस के आदि को होगा। युष्मद् शस् अस् यहाँ शसो नः के द्वारा शस् के अकार को नकार हो गया। युष्मद् न् स्। द्वितीयायां च के द्वारा आकारादेश हो गया। युष्म आन्स्। **अकः सवर्णे दीर्घः** के द्वारा दीर्घ हो गया। युष्मान् स्।

संयोगान्तस्य लोपः के द्वारा सकार का लोप हो गया। युष्मान्। इसी प्रकार अस्मद् शस्–अस्मद् न् स्–अस्म आन्स् अस्मान् स्–अस्मान्।

३१. योऽचि (७/२/८९) अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः। त्वया। मया। योऽचीति–अनादेश अजादि विभक्ति परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्दों को यकार आदेश हो। यह यत्व विधायक सूत्र है। अनादेश का अर्थ है जिसको कुछ आदेश न हुआ हो तथा अजादि का अर्थ है जिस के आदि में कोई स्वर हो। ध्यान रहे कि जहाँ कोई आदेश होकर विभक्ति अजादि होगी तो वहाँ यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। यथा– युष्मत् तथा अस्मद् आदि रूपों में भ्यस् के स्थान पर अत् आदेश (पञ्चम्या अत्) होकर अजादि विभक्ति प्राप्त होती है। परन्तु आदेश होने के कारण यहाँ पर इस सूत्र की प्रवृत्ति (यकारादेश) नहीं होगी। युष्मद् टा – यहाँ त्वमा० के द्वारा त्व आदेश हो गया। त्व अद् आ। पररूप होकर–त्वआ, हो गया। अब प्रकृत सूत्र के द्वारा यकार आदेश हो गया। त्वय् आ–त्वया। अस्मद् टा – अस्मद् आ–मअद् आ–मआ–मय् आ–मया।

३२. युष्मदस्मदोरनादेशे (७/२/८६) अनयोरात् स्याद् अनादेशे हलादौ विभक्तौ। युवाभ्याम्। आवाभ्याम् । युष्माभिः। अस्माभिः। युष्मदिति– अनादेश हलादि विभक्ति परे रहते युष्मद् और अस्मद् अङ्ग को आकार आदेश हो। युष्मद्भ्याम्– युवावौ० के द्वारा युवअद्भ्याम् । पररूप होकर युवद्भ्याम् । प्रकृत सूत्र के द्वारा आकार आदेश तथा सवर्ण दीर्घ हो गया। युव आ भ्याम् युवाभ्याम् । अस्मद्भ्याम् आव अद्भ्याम् आवद्भ्याम् आव आ भ्याम् आवाभ्याम् । युष्मद् भिस् – दकार को आकार हो गया। युष्म आ भिस्–युष्माभिस्–युष्माभिः। अस्मद् भिस्–अस्म आ भिस् अस्माभिस्–अस्माभिः ।

३३. तुभ्यमह्यौ ङयि (७/२/९५) अनयोर्मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो ङयि। टिलोपः। तुभ्यम्। मह्यम्। तुभ्येति–ङे परे रहते (युष्मद् तथा अस्मद् के) मपर्यन्त भाग को तुभ्य और **मह्य** आदेश हों। युष्मद् ङे – ङे प्रथमयोरम् के द्वारा ङे को अम् आदेश। तुभ्यमह्यौ० के द्वारा तुभ्य आदेश हो गया। युष्मद् अम्। तुभ्य अद् अम्। अतो गुणे से पररूप हो गया। तुभ्यद् अम्। शेषे लोपः के द्वारा टि का लोप हो गया। तुभ्य् अम्–तुभ्यम्। अस्मद् ङे– अस्मद् अम्–मह्यअअम् मह्यद् अम्–मह्य अम्– मह्यम्।

३४. भ्यसोऽभ्यम् (७/१/३०) आभ्यां परस्य (भ्यसो अभ्यम् आदेशः।) युष्मभ्यम्। अस्मभ्यम्। भ्यस इति–युष्मद् और अस्मद् से परे भ्यस् को अभ्यम् आदेश हो। युष्मद् भ्यस् – भ्यसोऽभ्यम् के द्वारा अभ्यम् आदेश हो गया। शेषे लोपः से टि का लोप हो गया। युष्मद् अभ्यम्–युष्म् अभ्यम्– युष्मभ्यम्। एकवचनस्येति (युष्मद् और अस्मद्) इन दोनों से परवर्ती ङस् को अत् आदेश हो। इसी प्रकार अस्मभ्यम् ।

३५. एकवचनस्य च (७/१/३२) आभ्यां ङसेरत्। त्वत्। मत्। युष्मद् ङसि – त्वमावे. कवचन० के द्वारा त्व अद् ङसि हो गया। पररूप होकर एकवचनस्य च के द्वारा अत् आदेश हो गया। त्वद् ङसि। त्वद् अत्। शेषे लोपः से टि का लोप हो गया। त्व् अत्–त्वत्। मत्।

अस्मद् ङसि -पूर्ववत् प्रक्रिया समझें। म अद् ङसि-मद् ङसि-मद् अत्-म् अत्-

३६. पञ्चम्या अत् (७/१/३१) आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् स्यात। युष्मत्। अस्मत्। पञ्चम्या इति-युष्मद् और अस्मद् से परे पञ्चमी के भ्यस् को अत् आदेश हो। पञ्चमी के बहुवचन में युष्मद् भ्यस् इस दशा में भ्यस् को अत् आदेश हुआ। तब **शेषे लोपः** के द्वारा टि (अद्) का लोप होकर युष्मत् रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार अस्मत् बनेगा यहाँ भ्यस् को अत् आदेश हो गया। तब अनादेश विभक्ति न मिलने के कारण आत्व नहीं हुआ। आत्व निमित्तक विभक्ति न होने से **शेषे लोपः** से टि का लोप हुआ। तब रूप बना। इसी प्रकार अस्मद् भ्यस् प्रकृत सूत्र के द्वारा अत् आदेश हो गया। पूर्ववत् प्रक्रिया होकर अस्मत् रूप सिद्ध हो गया। अस्मद् अत्-अस्म् अत्-अस्मत्।

३७. तवममौ ङसि (७/२/९६) अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि। तवममाविति-ङस् परे रहते युष्मद् और अस्मद् के मपर्यन्त भाग को तव और मम आदेश हों। युष्मद् ङस् - यहाँ तवममौ के द्वारा तव आदेश हो गया। पररूप होकर तव अद् ङस्-तवद् ङस् हो गया।

३८. युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् (७/१/२७) (युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसोऽशादेशः स्यात्)। तव। मम। युवयोः। आवयोः। युष्मदिति-युष्मद् और अस्मद् शब्दों से ङस् को अश् आदेश हो। अश् का शकार इत् है। अश् शित् होने से **अनेकाल् शित्-** के द्वारा सम्पूर्ण के स्थान पर होगा। युष्मद् ङस् में तवममौ० से तव आदेश, पररूप हो गया। तवद् ङस् प्रकृत सूत्र के द्वारा अश् आदेश। तवद् अश्-तवद् अ। अब शेषे लोपः के द्वारा टि का लोप हो गया। तव् अ-तव। इसी प्रकार अस्मद् ङस्-मम। युष्मद् ओस् - युवावौ० के द्वारा युव आदेश, पररूप आदि होकर। युव अद् ओस्। अनादेश अजादि विभक्ति परे रहते योऽचि के द्वारा दकार को यकार आदेश हो गया। युवद् ओस्-युवय् ओस्-युवयोः। इसी प्रकार अस्मद् ओस् में समग्र प्रक्रिया पूर्ववत् होकर आवयोः बनेगा।

३९. साम आकम् (७/१/३३) आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात्। युष्माकम्। अस्माकम्। त्वयि। मयि। युवयोः। आवयोः। युष्मासु। अस्मासु। साम इति- युष्मद् और अस्मद् से परे साम् को आकम् आदेश हो। आम् को सुट् आगम होने से साम् बनता है अतः साम् का तात्पर्य है-आम्। सुट् सहित आम् को आकम् आदेश का इसमें विधान है। क्योंकि युष्मद् और अस्मद् शब्द हलन्त हैं। अतः इनसे परे आम् को सुट् की प्राप्ति नहीं। अतः सूत्र में साम् यह सकार सहित पढना व्यर्थ है। इसका समाधान यह है कि यदि आम् को ही आकम् कर दिया जाय तो शेषे लोपः से अन्त्यलोप पक्ष में दकार का लोप होगा तथा ये शब्द अकारान्त बन जायेंगे और सुट् की प्राप्ति होगी। उस (भावी) सुट् की निवृत्ति के लिए सुट् विशिष्ट आम् को आकम् का विधान किया है। अतः आकम् होने के अनन्तर सुट् नहीं होता। शेषे लोपः सूत्र के अर्थ के विषय में दो पक्ष हैं। एक पक्ष के अनुसार अन्त्य का लोप

होता है। इसे ही अन्त्यलोप पक्ष कहते हैं। उनके अनुसार **आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ एतयोरन्त्यस्य लोपः** है। दूसरा पक्ष टिलोप पक्ष कहलाता है। इसके अनुसार मपर्यन्त भाग से अवशिष्ट भाग अर्थात् टि (अद्) का लोप होता है। शेषे इति षष्ठ्यर्थे सप्तमी तथा च मपर्यन्ताच्छेषस्य लोपः। अन्त्यलोप पक्ष में ही अकारान्त बन जाने से सुट् की प्राप्ति होती है। उसी भावी सुट् के निवारण के लिए साम् कहा गया है। टिलोप पक्ष में ये हलन्त ही रहते हैं। अतः वहाँ सुट् सहित निर्देश की आवश्यकता नहीं। युष्मद् आम् - यहाँ आम् को आकम् आदेश हुआ **शेषे लोपः** के द्वारा अन्त्य लोप हुआ। तब युष्म आकम् इस स्थिति में सवर्ण दीर्घ होकर युष्माकम् बना। टिलोप पक्ष में युष्म् आकम्- युष्माकम् रूप बनेगा। इसी प्रकार अस्माकम् बन गया। युष्मद् ङि - यहाँ त्वमावेकवच० के द्वारा त्व आदेश हुआ। त्व अद् इ। अतो गुणे के द्वारा पररूप हुआ। योऽचि के द्वारा यकार आदेश होकर त्वयि रूप बना। अस्मद् ङि यहाँ मयि रूप बना। सुप् में युष्मदस्मदो के द्वारा दकार को आकार आदेश होगा। तब सवर्ण दीर्घ होकर युष्मासु तथा अस्मासु रूप बनेंगे।

४०. युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ (८/१/२०) पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोः युष्मदस्मदोः वाम् नौ इत्यादेशौ स्तः। युष्मदिति- किसी पद से पर षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्तियों से युक्त युष्मद् और अस्मद् शब्दों को क्रमशः वाम् तथा नौ आदेश होते हैं, परन्तु ये पाद के प्रारम्भ में न हों।

४१. बहुवचनस्य वस्नसौ (८/१/२१) उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः। बहुव०- पद से पर, जो पाद के आदि में नहीं है, ऐसे षष्ठी आदि बहुवचनान्त युष्मद् और अस्मद् शब्दों को क्रमशः वस् तथा नस् हों। सभी विभक्तियों के द्विवचन में पूर्वसूत्र के द्वारा वाम् तथा नौ होते हैं तथा बहुवचन में प्रकृतसूत्र के द्वारा वस् और नस् होते हैं।

४२. तेमयावेकवचनस्य (८/१/२२) उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः। तेमया इति- पद से पर, जो पाद के आदि में नहीं है, ऐसे षष्ठ्यादि के एकवचनान्त युष्मद् तथा अस्मद् को क्रमशः ते तथा मे आदेश हों।

४३. त्वामौ द्वितीयायाः (८/१/२३) द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा इत्यादेशौ स्तः। श्रीशस्त्वाऽवतु माऽपीह दत्तात्ते ते मेऽपि शर्म सः। स्वामी ते मेऽपि स हरिः पातु वामपि नौ विभुः ।। सुखं वां नौ ददात्वीशः, पतिर्वामपि नौ हरिः। सोऽव्याद् वो नः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः स नः।। (वा०) समानवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः। एकतिङ् वाक्यम्। तेनेह न- ओदनं पच, तव भविष्यति। इह तु स्यादेव-शालीनां ते ओदनं दास्यामि। (वा०) एते वांनावादयोऽनन्वादेशे वा वक्तव्याः। अन्वादेशे तु नित्यं स्युः। (अनन्वादेशे) धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्ति वा। (अन्वादेशे) तस्मै ते नमः इत्येव। सुपात्, सुपाद्। सुपादौ। त्वामा इति (पूर्वोक्त दशा में) द्वितीया के एकवचन में युष्मद् व अस्मद् को क्रमशः त्वा तथा मा आदेश हों। श्लोकों का हिन्दी अर्थ- श्रीश इति इस संसार में लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु तुम्हें पाले (रक्षा करे) तथा मुझे भी। वह तेरे लिये तथा मेरे लिये कल्याण

को देवे। वह भगवान् विष्णु तुम्हारा और मेरा भी स्वामी है। व्यापक भगवान् तुम दो की तथा हम दो की भी रक्षा करे ।।१।। सर्वशक्तिमान् परमात्मा तुम दो के लिए तथा हम दो के लिए सुख देवे। भगवान् तुम दो का तथा हम दो का भी स्वामी है। वह भगवान् तुम सब की तथा हम सब की रक्षा करे और तुम सब के लिए तथा हम सबके लिए कल्याण देवे। इस संसार में वह भगवान् तुम सबका तथा हम सब का सेवनीय है। एकेति- युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर होने वाले आदेश (वाम्, नौ आदि) एक वाक्य में ही होते हैं। जिसमें एक तिङन्त पद रहता है, उसे वाक्य कहते हैं अर्थात् एक मुख्य क्रिया वाले शब्द समूह को वाक्य कहते हैं। यथा ओदनं पच, तव भविष्यति यहाँ दो वाक्य होने के कारण प्रस्तुत वार्तिक से तव के स्थान पर ते नहीं हुआ। एक वाक्य का उदाहरण है- शालीनां ते ओदनं दास्यामि। अतः यहाँ तुभ्यं के स्थान पर ते आदेश हो जाता है। एत इति- अन्वादेश न होने पर पूर्वोक्त (वाम् इत्यादि) आदेश विकल्प से होते हैं। अन्वादेश के विषय में नित्य हों। यथा धाता ते भक्तोऽस्ति में अन्वादेश नहीं है, अतः इसके स्थान पर धाता तव भक्तोऽस्ति इस प्रकार वैकल्पिक रूप हो सकता है। अन्वादेश होने पर ये आदेश नित्य होगा। यथा तस्मै ते नमः में अन्वादेश होने के कारण तुभ्यम् के स्थान पर नित्य ते आदेश होगा।

युष्मद्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	त्वम्	युवाम्	यूयम्
द्वि०	त्वाम्	युवाम्	युष्मान्
	त्वा	वाम्	वः
तृ०	त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः
च०	तुभ्यम्	युवाभ्याम्	युष्मभ्यम्
	ते	वाम्	वः
पं०	त्वत्	युवाभ्याम्	युष्मत्
ष०	तव	युवयोः	युष्माकम्
	ते	वाम्	वः
स०	त्वयि	युवयोः	युष्मासु

अस्मद्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	अहम्	आवाम्	वयम्

द्वि०	माम्	आवाम्	अस्मान्
	मा	नौ	नः
तृ०	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
च०	मह्यम्	आवाभ्याम्	अस्मभ्यम्
	मे	नौ	नः
पं०	मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्
ष०	मम	आवयोः	अस्माकम्
	मे	नौ	नः
स०	मयि	आवयोः	अस्मासु

तकारान्त महत् (बड़ा)

४४. सान्तमहतः संयोगस्य (६/४/१०) सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारः, तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । महान्, महान्तौ, महान्तः हे महन्, महद्भ्याम्। सान्त इति- सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते सकारान्त संयोग और महत् शब्द का जो नकार उसकी उपधा को दीर्घ हो महत् स् इस दशा में उगित् होने से उगिदचां सर्वनाम० से नुम् आगम हुआ। मित् होने से अन्त्य अच् से परे हुआ। तब महन् त् स् इस स्थिति में उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप और संयोगान्तलोप हुए। महान् त् स्। महान् त्। महान्। **संयोगान्तस्य लोपः** असिद्ध है। अतः **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** के द्वारा नलोप नहीं होता है। महत् औ–नुम् तथा उपधादीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ। महान्तौ। महत् जस्–पूर्ववत् प्रक्रिया समझें। महान्तः । हे महत् सु- यहाँ पूर्ववत् प्रक्रिया होगी। हे महन्। उपधा दीर्घ नहीं होगी। महत् भ्याम् जश्त्व करके रूप सिद्ध हो जायेगा–महद्भ्याम् ।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	महान्	महान्तौ	महान्तः
द्वि०	महान्तम्	महान्तौ	महतः
तृ०	महता	महद्भ्याम्	महद्भिः
च०	महते	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
पं०	महतः	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
ष०	महतः	महतोः	महताम्

स०	महति	महतोः	महत्सु
सं०	हे महन्	हे महान्तौ	हे महान्तः

भवत् (आप) शब्द।

भातेरिति भा धातु से डवतु प्रत्यय हुआ। ड की चुटू से और उकार की उपदेशे० से इत्संज्ञा होकर **तस्य लोपः** से लोप हुआ। डित्वेति भा अवत् इस स्थिति में। क्योंकि सु कप् प्रत्यय के बीच डवतु नहीं आता। अतः डवतु परे रहते भसंज्ञा नहीं होती तथापि डित् करने के सामर्थ्य से टि (आकार) का लोप हुआ, अन्यथा डित् करना व्यर्थ हो जाता। इस प्रकार भवत् शब्द बन गया। प्रथमा के एकवचन में उगिद. चां० से नुम् आगम अत्वन्त होने से उपधा को दीर्घ हल्ङ्याब्भ्यः० से अपृक्त सकार का लोप और संयोगान्तस्य- सूत्र के द्वारा तकार का लोप हो गया। भवान् रूप सिद्ध हुआ। अन्य सर्वनामस्थानों में भी इसी प्रकार नुम् होता है। शेष स्थलों पर कोई विशेष कार्य नहीं होता।

विभक्ति	**एक०**	**द्विव०**	**बहुव०**
प्र०	भवान्	भवन्तौ	भवन्तः
द्वि०	भवन्तम्	भवन्तौ	भवतः
तृ०	भवता	भवद्भ्याम्	भवद्भिः
च०	भवते	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः
पं०	भवतः	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः
ष०	भवतः	भवतोः	भवताम्
स०	भवति	भवतोः	भवत्सु

घृतस्पृश् (घी का स्पर्श करने वाला)

४५. स्पृशोऽनुदके क्विन् (३/२/५८) अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन्। घृतस्पृक्, घृतस्पृग्, घृतस्पृशौ, दधृक्, दधृग्। दधृषौ। दधृषः। दधृग्भ्याम्। रत्नमुट्, रत्नमुड्। रत्नमुषौ। रत्नमुद्भ्याम्। षट्, षड्। षड्भिः। षड्भ्यः २। षण्णाम्। षट्सु, षट्त्सु । घृतस्पृशः। (इति शकारान्ताः ।) रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् **ससजुषो रुः** इति रुत्वम् । स्पृश इति- उदक शब्द को छोडकर सुबन्त उपपद रहते स्पृश् से क्विन् प्रत्यय हो। घृतं स्पृशति इस विग्रह में घृत सुबन्त उपपद रहते स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय हुआ। उसका सर्वापहारी लोप हुआ। तब घृतस्पृश् शब्द बना। कृदन्त होने से **कृत्तद्धितसमासाश्च** के द्वारा इसकी प्रातिपदिकसंज्ञा हुई। प्रातिपदिकसंज्ञक होने से सु आदि की उत्पत्ति हुई। प्रत्ययः। परश्च। स्वौजसमौट्०। घृतस्पृश् शब्द क्विन् प्रत्ययान्त है। अतः इसके रूप

तादृश् के समान होते हैं, सर्वप्रथम षकार आदेश, जश्त्व तथा क्विन्प्रत्यय० से कुत्व आदि कार्य होते है। सुप् में **आदेशप्रत्यययोः** के द्वारा मूर्धन्य आदेश होता है।

विभक्ति	**एक०**	**द्विव०**	**बहुव०**
प्र०	घृतस्पृक्-ग्	घृतस्पृशौ	घृतस्पृशः
द्वि०	घृतस्पृशम्	घृतस्पृशौ	घृतस्पृशः
तृ०	घृतस्पृशा	घृतस्पृग्भ्याम्	घृतस्पृग्भ्यः
च०	घृतस्पृशे	घृतस्पृग्भ्याम्	घृतस्पृग्भ्यः
पं०	घृतस्पृशः	घृतस्पृग्भ्याम्	घृतस्पृग्भ्यः
ष०	घृतस्पृशः	घृतस्पृशोः	घृतस्पृशाम्
स०	घृतस्पृशि	घृतस्पृशोः	घृतस्पृक्षु
सं०	हे घृतस्पृक्-ग्	हे घृतस्पृशौ	हे घृतस्पृशः

सकारान्त शब्द विद्वस् (विद्वान्) विद्वस् सु- नुम् आगम वसु प्रत्ययान्त शब्द है। वसु प्रत्यय उगित् है। अतः उगिदचाम्० के द्वारा सर्वनाम-स्थान विभक्ति परे रहते नुम् आगम होगा। विद्वस् होकर विद्वन् स् सु बना। अपृक्त सकार का लोप हो गया। तब संयोगान्त सकार का लोप हो गया। विद्वन् स्-विद्वन्। क्योंकि **संयोगान्तस्य लोपः (८/२/२३)** असिद्ध है। अतः सर्वनामस्थाने० के द्वारा दीर्घ की प्राप्ति नहीं हुई। तब सान्तमहतः - के द्वारा दीर्घ हुआ। विद्वान। सम्बुद्धि में दीर्घत्व का निषेध होता है। विद्वन्।

४६. वसोः सम्प्रसारणम् (६/४/१३१) वस्वन्तस्य भस्य संप्रसारणं स्यात्। विदुषः। वसुस्रंसु- इति दः- विद्वद्भ्याम् । वसोरिति- वसु प्रत्यय जिसके अन्त में है, ऐसे भसंज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण हो। विद्वस् शस् प्रकृत सूत्र के द्वारा सम्प्रसारण हुआ, पररूप हुआ। विदुस् अस्। **आदेशप्रत्यययोः** के द्वारा मूर्धन्य आदेश हुआ। विदुषः । विद्वस् भ्याम् वसुस्रंसु0 के द्वारा सकार को दकार हो गया। विद्वद्भ्याम्।

विभक्ति	**एक०**	**द्विव०**	**बहुव०**
प्र०	विद्वान्	विद्वांसौ	विद्वांसः
द्वि०	विद्वांसम्	विद्वांसौ	विदुषः
तृ०	विदुषा	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भिः
च०	विदुषे	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः

पं०	विदुषः	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
ष०	विदुषः	विदुषोः	विदुषाम्
स०	विदुषि	विदुषोः	विद्वत्सु
सं०	हे विद्वन्	हे विद्वांसौ	हे विद्वांसः

अदस् (वह)

४७. अदस औ सुलोपश्च (७/२/१०७)

अदस औत् स्यात् सौ परे, सुलोपश्च। तदोः सः0 इति सः असौ। त्यदाद्यत्वम्, पररूपत्वम्, वृद्धिः। अदस इति- सु परे रहते अदस् को औकार आदेश हो तथा सु का लोप भी हो। अदस् सु - यहाँ त्यदादीनामः के द्वारा अकार आदेश प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा इसका बाध होकर सुलोप और औ अन्तादेश होगा। अद औ सु- अदऔ । वृद्धिरेचि के द्वारा वृद्धि आदेश हो गया। अदौ। अदसोऽसे० से ऊ प्राप्त हुआ, परन्तु तदोः सः (पा० ७.२.१०६) की दृष्टि में असिद्ध होने से प्रवृत्त न हुआ। तब तदोः सः साव० के द्वारा अनन्त्य दकार को सकार हुआ। असौ। अदस् औ में त्यदादीनामः के द्वारा अकार आदेश हुआ। अतो गुणे के द्वारा पररूप हुआ। अद अ औ-अद औ। वृद्धिरेचि के द्वारा वृद्धि आदेश प्राप्त था। प्रथमयोः पूर्व० के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ की प्राप्ति हुई। तब **नादिचि** के द्वारा इसका निषेध हुआ। पुनः वृद्धि आदेश होकर अदौ बन गया। ३५६. अदसोऽसेर्दादु दो मः (८/२/८०) अदसोऽसान्तस्य दात् परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च। आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उः, दीर्घस्य ऊः। अमू। जसः शी, गुणः। अदस इति- जिसके अन्त में सकार न हो, ऐसे अदस् के दकार से परवर्ती वर्ण को उकार तथा ऊकार हो व दकार को मकार हो। आन्तर०- परिणाम रूप सादृश्य से ह्रस्व को ह्रस्व तथा दीर्घ वर्ण को दीर्घ वर्ण होता है। अदौ ऐसा हो जाने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा दीर्घ ऊकार हुआ। दकार को मकार हुआ। तब अमू बन गया। जसः शीति- जस् में त्यदाद्यत्व और पररूप होने पर अकारान्त बन जाने से जस् को **जसः शी** से शी आदेश हुआ। अदस् जस्। अद अ जस्। अद शी। गुण इति- शकार के लोप होने पर गुण एकादेश हुआ। तब अदे यह स्थिति हुई। अदे।

३५७. एत ईद् बहुवचने (८/२/८१) अदसो दात् परस्यैत ईद्, दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी। **पूर्वत्रासिद्धम्** इति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे। अमुम्, अमू, अमून्। मुत्वे कृते घिसंज्ञायां ना भावः । एत इति- बहुत्व की विवक्षा में अदस् शब्द के दकार से परवर्ती एकार को ईत् आदेश हो तथा दकार को मकार आदेश हो। अदस् जस् - यहाँ सकार को **त्यदादीनामः** से अकार तथा **अतो गुणे** से पररूप हुआ। तब **जसः शी** के जस् को शी आदेश हुआ। शकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। तब **आद् गुणः** के द्वारा गुण आदेश हुआ। अदस् जस्- अद अ जस् अद जस्- अद शी-अद ई-अदे। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा एकार को ईकार तथा दकार को मकार होकर अमी रूप सिद्ध हुआ। पूर्वत्रा० - उत्व तथा मत्व कार्य विधायक सूत्र त्रिपादी में स्थित

हैं, वे असिद्ध हैं। अतः पहले विभक्ति कार्य होगे। पीछे उत्व आदि कार्य होंगे। अदस् अम् यहाँ सकार को अकार हो गया। पररूप हो गया। अद अ अम्-अद अम्। अमि पूर्वः के द्वारा पूर्व सवर्ण हो गया। अदम्। अब पूर्व सूत्र के द्वारा उत्व तथा मत्व कार्य होकर अमुम् रूप सिद्ध हुआ। शस् में पररूप आदि होकर अद अस् यह रूप बना। प्रथमयोः पूर्व के द्वारा नकार हुआ। अदान्। तब उत्व तथा मत्व होकर अमून् बना। मुत्वे कृते- तृतीया एकवचन में अद टा ऐसा बन जाने पर मुत्व हुआ। अमु टा। **शेषो घ्यसखि** के द्वारा घिसंज्ञा हुई तब टा को ना आदेश हुआ। अमुना। आङो नाऽस्त्रि०।

४८. न मु ने (८/२/३) ना भावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्धः। अमुना। अमूभ्याम् । अमीभिः । अमुष्मै। अमीभ्यः। अमुष्मात। अमुष्य। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमीषु। न मु इति- ना भाव करना हो अथवा कर लिया हो तो मु भाव असिद्ध नहीं होता। अमु टा इस दशा में **अदसोऽसेर्दादु दो मः (पा० ८.२.८०)** से प्राप्त मकार व उकार आडो नाऽस्त्रियाम् (पा० ७.३.११९) के प्रति असिद्ध है। अतः ना आदेश की प्राप्ति न होगी। इसका समाधान है कि नाभाव करने में मुभाव असिद्ध नहीं होता है। जब नाभाव करने में मुभाव असिद्ध न हुआ तो ह्रस्व उकारान्त मिल जाने से घिसंज्ञा होकर ना आदेश हो गया। ना आदेश किये जाने पर भी मुभाव असिद्ध नहीं है। अतः **सुपि च** के द्वारा दीर्घ भी नहीं हुआ। अतः अमुना रूप बना। भ्याम् में त्यदाद्यत्व और पररूप होने पर सुपि च से दीर्घ हो गया। अदस् भ्याम्। अद अभ्याम्। अदभ्याम्। अदाभ्याम्। अदसोऽसे० से मुत्व होकर अमूभ्याम् बना। अदस् भिस् में त्यदाद्यत्व, पररूप होकर अद भिस् इस स्थिति में मुत्व, रुत्व व विसर्ग होकर अमीभिः बनेगा। अदस् ङे में इस प्रकार कार्य होंगे। अद अ ङे । अद ङे । सर्वनाम्नः स्मै । अदस्मै । मुत्व होकर अमुष्मै बना। अदस् भ्यस्। अद अभ्यस्। अद भ्यस्। अमीभ्यः। अदस् ङसि। अद अ डसि। अद ङसि। अदस्मात्। अमुस्मात्। अमुष्मात्। अदस् डस् में त्यदाद्यत्व और पररूप करने पर अद डस् इस दशा में टाडसि० सूत्र से डस् को स्य आदेश हुआ। तब मुत्व होने पर अमुस्य इस दशा में स्य (स्थानिवद्भाव से) के सकार को मूर्धन्य षकार हुआ। अमुष्य। षष्ठी व सप्तमी के द्वि वचन में पूर्ववत् कार्य होकर अद ओस् ऐसी स्थिति बनी। एकार आदेश (ओसि च) तथा अयादेश होकर अदयोः बना। तब मुत्व होकर अमुयोः बना। अदस् आम् में त्यदाद्यत्व व पररूप होकर अद आम् इस अवस्था में आमि सर्वनाम्नः सुट् के द्वारा सुट् हुआ। बहुवचने झल्येत् के द्वारा एकारादेश हुआ। अदे स् आम्। तब एत ईद् के द्वारा ईकार हुआ। मकार आदेश होकर अमीषाम्। सप्तमी एकवचन में अद ङि ऐसा बन जाने पर ङसि ङ्योः० के द्वारा स्मिन् आदेश हुआ। मुत्व तथा मूर्धन्य आदेश होकर अमुष्मिन् बनेगा। सप्तमी बहुवचन में एकार आदेश आदि कार्य होकर अदेसु बना। एत ईद् के द्वारा ईकार आदेश हुआ। तब मकार आदेश तथा मूर्द्धन्य आदेश होकर अमीषु बना।

स्मरणीय बिंदु

1. हलन्त शब्दों में प्रातिपदिक के अन्त में व्यंजन वर्ण होता है जिसके कारण पद सिद्धि की प्रक्रिया अजन्त शब्दों से भिन्न होती है।

2. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य जैसे सूत्रों के माध्यम से विशिष्ट वर्णों का लोप और परिवर्तन किया जाता है।

3. राजन जैसे शब्दों में नान्त संज्ञा होने के कारण कुछ विशेष स्वर परिवर्तन और उपधा दीर्घ कार्य होते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. हलन्त पुल्लिंग शब्दों की सामान्य विशेषताएँ बताते हुए राजन शब्द के प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के रूपों की सोदाहरण सिद्धि कीजिए?

2. मरुत और विद्वस शब्दों के रूप निर्माण में प्रयुक्त होने वाले मुख्य सूत्रों और उनकी प्रक्रिया को विस्तार से समझाइए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. हलन्त शब्दों में पद के अन्त में स्थित सकार का लोप किस सूत्र से होता है?

2. विद्वान शब्द के सम्बोधन एकवचन और प्रथमा एकवचन के रूपों में क्या अंतर है? लिखिए।

3. राजभ्याम् और राजभिः पदों में नकार का लोप किस सूत्र द्वारा किया जाता है? संक्षेप में बताइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. राजन शब्द का प्रथमा विभक्ति एकवचन का रूप क्या होगा?

(क) राजानः (ख) राजा (ग) राजानम् (घ) राज्ञा

2. नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य सूत्र का मुख्य कार्य क्या है?

(क) इत् संज्ञा करना (ख) नकार का लोप करना (ग) उकार का लोप करना (घ) विसर्ग करना

3. मरुत शब्द का तृतीया विभक्ति बहुवचन का रूप क्या है?

(क) मरुद्भि: (ख) मरुताम् (ग) मरुत्सु (घ) मरुते

4. हलन्त पुल्लिंग शब्दों में सुप् प्रत्यय लगने पर पद के अन्त में क्या कार्य होता है?

(क) केवल लोप (ख) केवल आगम (ग) संयोगान्त लोप और वर्ण परिवर्तन (घ) कोई परिवर्तन नहीं

5. विद्वस शब्द का सम्बोधन एकवचन का सही रूप क्या है?

(क) हे विद्वान (ख) हे विद्वन (ग) हे विद्वांस: (घ) हे विदुष:

॥ हलन्त पुँल्लिङ्ग प्रकरण समाप्त ॥

खण्ड-4 हलन्तस्त्रीलिङ्गनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

इकाई 4.1

हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

उद्देश्य

1. हलन्त स्त्रीलिंग और नपुंसकलिङ्ग शब्दों की सिद्धि प्रक्रिया और उनके विशिष्ट सूत्रों को समझना।

2. वाच् गिर और पयस जैसे प्रमुख हलन्त शब्दों के रूपों के निर्माण और विभक्ति प्रयोग का ज्ञान प्राप्त करना।

3. हलन्त प्रातिपदिकों के अन्त में होने वाले वर्ण परिवर्तनों और उनके व्याकरणिक नियमों को समझना।

परिणाम

1. विद्यार्थी हलन्त स्त्रीलिंग और नपुंसकलिङ्ग शब्दों के रूपों को शुद्ध रूप में सिद्ध करने और प्रयोग करने में सक्षम होंगे।

2. विभक्तियों के योजन के समय व्यंजन वर्णों में होने वाले सन्धि कार्यों और परिवर्तनों का स्पष्ट बोध होगा।

3. संस्कृत वाक्यों में हलन्त पदों की सही पहचान करने और उनके वचन के अनुसार प्रयोग करने की योग्यता आएगी।

हकारान्त उपानह् (जूता)

१. नहो धः (८/२/३४)

नहो हस्य धः स्याद् झलि पदान्ते च ।

नह इति-पदान्त में या झल् परे रहते नह धातु के हकार को धकार हो।

२. नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ । (६/३/११४)

क्विबन्तेषु पूर्वपदस्य दीर्घः। उपानत्, उपानद्। उपानहौ। उपानत्सु। क्विन्नन्तत्वात् कुत्वेन घः- उष्णिक्, उष्णिहौ। उष्णिग्भ्याम् । द्यौः, दिवौ, दिवः। द्युभ्याम् । गीः गिरौ, गिरः। एवं- पूः। चतस्रः। चतसृणाम् । का, के, काः- सर्वावत्। नहीति- क्विप् प्रत्ययान्त नह, वृत, वृष् व्यधि , रुच् सह और

तन् धातु से परे रहते पूर्वपद को दीर्घ हो। उप नह् धातु से क्विप् करने पर ही उपानह् शब्द बनता है। उपानह् से परे सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस् तथा सुप् प्रत्ययों के परे रहते धकार आदेश होगा। उपानह् सु –अपृक्त सकार का लोप हो गया। **नहो धः** के द्वारा धकार आदेश, जश्त्व तथा वाऽवसाने के द्वारा विकल्प से चर्च हो गया। उपानह् स् उपानह् उपानध्– उपानद्– उपानद् तथा उपानत्। सुप् में धकार आदेश, खरि च से तकार होकर उपानत्सु रूप बनेगा।

मकारान्त शब्द किम् (कौन)

किमः कः सूत्र के द्वारा क आदेश हो जाता है। तब स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय होता है। यह 'का' शब्द सर्वनाम है। अतः सर्वा शब्द की तरह इसके रूप होंगे।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०
प्र०	का	के	काः
द्वि०	काम्	के	काः
तृ०	कया	काभ्याम्	काभिः
च०	कस्यै	काभ्याम्	काभ्यः
पं०	कस्याः	काभ्याम्	काभ्यः
ष०	कस्याः	कयोः	कासाम्
स०	कस्याम्	कयोः	कासु

इदम् (यह)

३. यः सौ (७/२/११०) इदमो दस्य यः इयम् । त्यदाद्यत्वम्, पररूपत्वम्, टाप्, दश्च इति मः– इमे, इमाः। इमाम् । अनया। हलि लोपः आभ्याम् आभिः। अस्यै। अस्याः। अनयोः। आसाम् । अस्याम्। आसु। त्यदाद्यत्वम्, टाप्, स्या, त्ये, त्याः। एवं तद्, एतद्। वाक्, वाग्। वाचौ। वाग्भ्याम् । वाक्षु। अप् शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। अप्तृन्– इति दीर्घः– आपः। अपः। य इति– स्त्रीलिङ्ग के विषय में सु परे रहते इदम् शब्द के दकार को यकार हो। इदम् सु –त्यदादीनामः के द्वारा अकार आदेश प्राप्त था, परन्तु इदमो मः के द्वारा इसका बाध हो जाता है। प्रकृत सूत्र के द्वारा दकार को यकार हो गया तथा अपृक्त सकार का लोप हो गया। इदम् स् – इयम् स्–इयम् । त्यदाद्यत्वमिति–अजादि विभक्तियों के रूपों की साधन प्रक्रिया में क्रमशः त्यदाद्यत्व, पररूप तथा टाप् इत्यादि होंगे। यथा–

इदम् औ यहाँ त्यदादित्व तथा पररूप होकर इद औ बना। तब दकार को मकार हुआ। स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् हुआ। इमा औ। **औङः शी** के द्वारा शी आदेश हुआ। गुण होकर इमे बना। आद्गुणः।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०
प्र०	इयम्	इमे	इमाः
द्वि०	इमाम्	इमे	इमाः
तृ०	अनया	आभ्याम्	आभिः
च०	अस्यै	आभ्याम्	आभ्यः
पं०	अस्याः	आभ्याम्	आभ्यः
ष०	अस्याः	अनयोः	आसाम्
स०	अस्याम्	अनयोः	आसु

दकारान्त शब्द त्यद् (वह)

त्यदाद्यत्वमिति-त्यद् शब्द के दकार को भी त्यदाद्यत्व और पररूप करने पर स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् प्रत्यय होता है। तब त्या शब्द बन जाता है। इसके रूप सर्वनाम सर्वा शब्द के समान ही सिद्ध होते हैं।

सु में **तदोः सः सावनन्त्ययोः** से तकार को सकार आदेश हो जाता है। सु का लोप हुआ। स्या। एवम्-इसी प्रकार तद् और एतद् के रूप भी सिद्ध होते हैं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से त्यदाद्यत्व, पररूप और आ (टाप्) करने पर ता और एता शब्द बन जाते हैं। तत्पश्चात् विभक्तिकार्य करना चाहिए।

चकारान्त शब्द वाच् (वाणी)

वाच् सु यहाँ सु का हल्ङ्यादि लोप, पदान्त चकार को **चोः कुः** से कवर्ग जश्त्व से जकार **झलां जशोऽन्ते**, और गकार को **वाऽवसाने** से वैकल्पिक चर् होने पर दो रूप सिद्ध होते हैं। वाच् सु-वाच्-वाज्-वाग्-वाग, वाक् । वाचौ औ का रूप है। वाग्भ्याम् भ्याम् में चकार को जश्त्व (जकार) और उसको कुत्व चोः कुः होकर रूप सिद्ध हुआ। हलादि विभक्तियों में इसी प्रकार जश्त्व और कुत्व कार्य होंगे। सुप् में जश्त्व और कुत्व होने पर गकार को खरि च से चर्व होकर सकार को आदेशप्रत्यययोः सूत्र से मूर्धन्य षकार हुआ। तब वाक्षु रूप बना।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०
प्र०	वाक् वाग्	वाचौ	वाचः
द्वि०	वाचम्	वाचौ	वाचः
तृ०	वाचा	वाग्भ्याम्	वाग्भिः

च०	वाचे	वाग्भ्याम्	वाग्भ्यः
पं०	वाचः	वाग्भ्याम्	वाग्भ्यः
ष०	वाचः	वाचोः	वाचाम्
स०	वाचि	वाचोः	वाक्षु
सं०	हे वाक्-ग्	हे वाचौ	हे वाचः

पकारान्त शब्द अप् (जल)

अप् शब्द नित्य बहुवचन में प्रयुक्त होता है।

अप् जस् - यहाँ अप्तृन्तृच्० के द्वारा उपधा को दीर्घ हो गया। विसर्गादि कार्य हो कर अप् अस्-आप् अस्-आपः बन गया। अप् शस् - यहाँ पूर्ववत् प्रक्रिया होगी, केवल उपधा दीर्घ नहीं होगा। अपः ।

४. अपो भि (७/४/४८)

अपस्तकारो भादौ प्रत्यये। अद्भिः। अद्भ्यः। अपाम् । अप्सु । दिक्, दिग् । दिशः। दिग्भ्याम्। त्यदादिषु इति दृशेः क्विन्विधानाद् अन्यत्रापि कुत्वम्-दृक्, दृग्। दृशौ। दृग्भ्याम् । त्विट्, त्विड्। त्विड्भ्याम्। **ससजुषो रुः** इति रुत्वम्-सजूः। सजुषौ । सजूर्भ्याम् । (सजूःषु, सजूष्षु।) आशीः। आशिषौ। आशीर्भ्याम् । असौ। उत्वमत्वे-अमू, अमूः। अमुया। अमूभ्याम्, अमूभिः। अमुष्यै। अमूभ्यः। अमुष्याः। अमुयो ः। अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु।

अप् शब्द

अप इति- भकारादि प्रत्यय परे रहते 'अप्' शब्द को तकार (अन्तादेश) हो। अप् भिस् प्रकृत सूत्र के द्वारा तकार आदेश हो गया। अत् भिस् । अब जश्त्व **झलां जशोऽन्ते** होकर अद्भिः रूप बन गया।

विभक्ति	बहुव०
प्र०	आपः
द्वि०	अपः
तृ०	अद्भिः
च०	अद्भ्यः
पं०	अद्भ्यः

ष०	अपाम्
स०	अप्सु

शकारान्त शब्द दिश् (दिशा)

यह शब्द क्विन् प्रत्ययान्त है। अतः तादृश् (पुँल्लिङ्ग) की तरह प्रक्रिया होगी। अजादि विभक्तियों में कोई कार्य नहीं होगा।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०
प्र०	दिक्-ग्	दिशौ	दिशः
द्वि०	दिशम्	दिशौ	दिशः
तृ०	दिशा	दिग्भ्याम्	दिग्भिः
च०	दिशे	दिग्भ्याम्	दिग्भ्यः
पं०	दिशः	दिग्भ्याम्	दिग्भ्यः
ष०	दिशः	दिशोः	दिशाम्
स०	दिशि	दिशोः	दिक्षु
सं०	हे दिक्-ग्	हे दिशौ	हे दिशः

दृश् (आँख)

त्यदिति- त्यद् आदि उपपद रहते दृश् धातु से क्विन् का विधान किया गया है। अतः अन्यत्र (त्यद् आदि उपपद न रहने पर) भी कुत्व हो जाता है।

षकारान्त शब्द त्विष् (कान्ति)

त्विष् सु - यहाँ अपृक्त हल् का लोप हो गया। त्विष् । **झलां जशोऽन्ते** के द्वारा डकार हुआ। **वाऽवसाने** के द्वारा विकल्प से चर् हुआ। त्विड्, त्विट्।

सजुष् (मित्र) शब्द

ससजुषोरिति सु में अपृक्त हल् का लोप होगा। षकार को 'रु' आदेश हो गया। सजुष् सु-सजुष् स्-सजुष्-सजु रु । र्वो रुपधायाः० के द्वारा उपधादीर्घ हुआ सजू 'र्' रेफ को विसर्ग हो गया। सजूः। सजुष् भ्याम् - यहाँ पूर्ववत् कार्य होकर सजूर्भ्याम् बना।

सजुष् सुप् इस अवस्था में रु आदेश, उपधादीर्घ तथा विसर्ग होकर सजूःसु स्थिति बनी। तब विसर्ग को सकार **विसर्जनीयस्य सः** प्राप्त हुआ। **वा शरि** के द्वारा विकल्प से विसर्ग हुआ।

विसर्गपक्ष में सजू: षु रूप बना। पक्ष में पूर्व सकार को ष्टुत्व होकर सजूष्षु रूप बना। सजुष् सु सजु रु सु। सजु र् सु। स जू र् सु । सजू: षु। सजूष्षु।

आशिष् (आशीर्वाद)

क्योंकि आशिष् सु -षकार असिद्ध है। अत: अपृक्त सकार का लोप होकर, ससजुषो: रु: के द्वारा विसर्गादि कार्य हो गया। उपधा को दीर्घ होकर आशिष् सु - आशिष् - आशिरु आशीर् - आशी: बन गया। आशिष् भ्याम् - यहाँ पूर्ववत् रु आदेश तथा उपधा दीर्घ होकर आशीर्भ्याम् बन गया।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०
प्र०	आशी:	आशिषौ	आशिष:
द्वि०	आशिषम्	आशिषौ	आशिष:
तृ०	आशिषा	आशीर्भ्याम्	आशीर्भि:
च०	आशिषे	आशीर्भ्याम्	आशीर्भ्य:
पं०	आशिष:	आशीर्भ्याम्	आशीर्भ्य:
ष०	आशिष:	आशिषो:	आशिषाम्
स०	आशिषि	आशिषो:	आशी:षु, आशीष्षु
सं०	हे आशी:	हे आशिषौ	हे आशिष:

सकारान्त शब्द अदस्

स्त्रीलिङ्ग में अदस् सु इस स्थिति में **अदस औ सुलोपश्च** । सु का लोप हो गया। अदस् औ। अद औ। तदो: स: साव० के द्वारा दकार को सकार और वृद्धि होकर असौ बना।

विशेष- स्त्रीलिङ्ग में सु को छोडकर शेष विभक्तियों में त्यदाद्यत्व तथा पररूप होकर टाप् होता है अदस्-अद अ-अद्-अद टाप्-अदा। तब अदा इस शब्द को मुत्व करके रूप बनते हैं।

अदस् औ - यहाँ पूर्ववत् कार्य होकर अदाऔ बन गया। वृद्धि हो गई। अदौ। मुत्व भाव होकर (अदसोऽसे:०) अमू बना।

जस् में अदा अस् बन गया। तब पूर्व सवर्णदीर्घ होकर अदा: बन गया। इसे मुत्व भाव होकर अमू: बन गया।

अदस् टा -यहाँ पूर्ववत् कार्य होकर अदा आ ऐसा बन गया। तब **आङि चाप:** के द्वारा एकार आदेश अथा एचोऽय० के द्वारा अय् आदेश होकर अदया बन गया। इसे मुत्व करने पर अमुया बन गया। भिस् में अदाभि: होकर मुत्व भाव हो गया। अमूभि: ।

ङे में अदा ङे इस स्थिति में स्याट् आगम **सर्वनाम्नः स्याड्०** तथा ह्रस्व हो गया। अद स्याट् ए। तब वृद्धि (वृद्धिरेचि), मुत्व भाव तथा मूर्द्धन्य आदेश होकर अमुष्यै रूप बना।

अदा भ्यस् – यहाँ मुत्व होकर अमूभ्यः बना। ङसि तथा ङस् में स्याट्, ह्रस्व, सवर्ण दीर्घ तथा मुत्व होकर अमुष्याः रूप बना। अदस् ओस् – अद अ टाप् ओस् – अदाओस् अदे ओस् आङि चापः अदयोः–अमुयोः ।

आम् में सुट् आगम (आमि सर्वनाम्नः सुट्), मुत्व तथा मूर्धन्य होकर अमूषाम् बन गया। सुप् में अदा सु – इस स्थिति में मुत्व तथा मूर्धन्य आदेश होकर अमूषु बना।

स्मरणीय बिंदु

1. हलन्त स्त्रीलिंग शब्दों में वाच् जैसे शब्दों के अन्त्य चकार को कुत्व (ककार) कार्य विशेष परिस्थितियों में होता है।

2. नपुंसकलिङ्ग हलन्त शब्दों जैसे पयस में जश् और शस् प्रत्यय परे होने पर नुम् आगम और उपधा दीर्घ जैसे कार्य होते हैं।

3. हलन्त शब्दों की पद सिद्धि में संयोगान्त लोप और पद के अन्त में होने वाले वर्ण परिवर्तन अत्यंत महत्वपूर्ण होते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. हलन्त स्त्रीलिंग शब्दों की रूप सिद्धि प्रक्रिया को वाच् शब्द के उदाहरण से संबंधित सूत्रों सहित विस्तार से समझाइए?

2. पयस और धनुस जैसे हलन्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों के रूप निर्माण में प्रयुक्त होने वाले मुख्य सूत्रों और उनकी प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. गिर शब्द के प्रथमा विभक्ति एकवचन का रूप क्या होता है और इसमें कौन सा विशेष नियम लगता है?

2. वाक् और वाचः पदों के बीच का व्याकरणिक अंतर सूत्रों के माध्यम से स्पष्ट कीजिए?

3. पयांसि रूप की सिद्धि में नुम् आगम किस सूत्र से होता है और उसका क्या प्रयोजन है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. वाच् शब्द का प्रथमा विभक्ति एकवचन का रूप क्या होगा?

(क) वाचः (ख) वाक् (ग) वाचम् (घ) वाचि

2. पयस शब्द किस लिङ्ग का उदाहरण माना जाता है?

(क) पुल्लिंग (ख) स्त्रीलिंग (ग) नपुंसकलिङ्ग (घ) उभयलिङ्ग

3. पयसाम् पद में कौन सी विभक्ति और वचन प्रयुक्त है?

(क) पंचमी एकवचन (ख) षष्ठी बहुवचन (ग) सप्तमी बहुवचन (घ) चतुर्थी द्विवचन

4. गिर शब्द का अर्थ क्या होता है और यह किस लिङ्ग में आता है?

(क) पर्वत स्त्रीलिंग (ख) वाणी स्त्रीलिंग (ग) जल नपुंसकलिङ्ग (घ) राजा पुल्लिंग

5. हलन्त शब्दों में प्रथमा विभक्ति एकवचन के सु प्रत्यय का लोप प्रायः किस कारण होता है?

(क) संयोगान्त होने से (ख) हल् से परे होने के कारण (ग) स्वर होने के कारण (घ) विसर्ग होने के कारण

॥ हलन्त स्त्रीलिङ्ग प्रकरण समाप्त॥

इकाई 4.2

हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

उद्देश्य

1. सर्वनाम शब्दों की परिभाषा और व्याकरण में उनके विशिष्ट महत्व को समझना।

2. सर्व तद् यद् और अस्मद् युष्मद् जैसे प्रमुख सर्वनाम शब्दों के रूप निर्माण की प्रक्रिया को जानना।

3. सर्वनाम संज्ञा करने वाले सूत्रों और उनके कारण होने वाले विशेष विभक्ति परिवर्तनों को समझना।

परिणाम

1. विद्यार्थी सभी लिङ्गों में सर्वनाम शब्दों के रूपों को शुद्धता के साथ प्रयोग करने में सक्षम होंगे।

2. संज्ञा शब्दों और सर्वनाम शब्दों के रूप निर्माण में होने वाले व्याकरणिक अंतर का स्पष्ट बोध होगा।

3. संस्कृत वाक्यों में सर्वनामों के सही लिङ्ग वचन और विभक्ति के चयन की योग्यता आएगी।

मकारान्त शब्द किम् (कौन)

किम् सु - यहाँ स्वमोर्नपुंसकात् के द्वारा सु का लोप हो गया। किम् ।

औ में किमः कः से क आदेश होने पर अदन्त शब्द बन गया। तब को शी आदेश और गुण एकादेश होकर रूप सिद्ध होगा। के। **आद्गुणः** ।

कानि जस् और शस् में क आदेश होने पर पूर्ववत् कार्य होगा। शेष रूप पुंल्लिङ्ग के समान बनेंगे।

इदम्

इदम् सु - विभक्ति का लुक् हो गया। तब **त्यदादीनामः** के द्वारा अकार आदेश नहीं हुआ। न लुमताङ्गस्य के द्वारा इस का निषेध हो जाता है। इदम् रूप सिद्ध हुआ।

इदम् औ - अकार आदेश, पररूप होकर औ के स्थान पर शी आदेश हुआ। गुण आदेश होकर इदअ औ–इदअ शी–इदई–इदे। अब मकार आदेश होकर इमे रूप सिद्ध हुआ।

(वा०) अन्वादेश इति– अन्वादेश में नुपंसकलिङ्ग में इदम् और एतद् शब्द को एनद् आदेश हो।

यह वार्तिककार का वचन है। इसके आगे भाष्य में कहा है **एनदिति नपुंसकैकवचने** अर्थात् एनद् यह आदेश नपुंसक के एकवचन सु अम् में हो। एकवचन (सु, अम्) में ही यह आदेश होता है। अन्यत्र एन आदेश ही होता है।

सु अम् के लोप होने पर इदम् को एनद् आदेश हुआ। तब वैकल्पिक चर्त्व होने से दो रूप बने। एनद्, एनत् ।

एने- शेष स्थलों में एन आदेश ही होगा। द्विव० में औ को शी आदेश होकर एने रूप बनता है। इदम् टा में एन आदेश टा को इन आदेश तथा गुण होकर एनेन रूप बनेगा। इदम् ओस् में एनादेश, **ओसि च** से एकारादेश, अयादेश, रुत्व तथा विसर्ग होकर एनयोः बनेगा।

नकारान्त शब्द अहन् (दिन)

अहन् सु -यहाँ सु का स्वमोर्नपुंसकात् से लोप हो गया। **रोऽसुपि** के द्वारा नकार को रेफ आदेश हुआ। तब खरवसानयोः० के द्वारा विसर्ग हो गया। अहन् स्-अहन्-अहर्-अहः ।

अह्नी, अहनी- औ को शी आदेश हुआ। तब **विभाषा ङिश्योः** सूत्र से अन् के अकार का लोप विकल्प से होगा।

जस् व शस् (अस्) को जश्शसोः शि से शि आदेश, शि सर्व० सर्वनामस्थानसंज्ञा, नान्त उपधा अकार को दीर्घ होकर अहानि रूप सिद्ध हुआ।

अहन् टा - यहाँ **अल्लोपोऽनः** के द्वारा अकार का लोप हो गया। अहन् आ-अह् आ-अह्ना।

१. अहन् (८/२/६८)

अहन् इत्यस्य रुः पदान्ते। अहोभ्याम् । दण्डि।

(वा०) सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः ।

हे दण्डिन्, हे दण्डि। दण्डिनी, दण्डीनि, दण्डिना। दण्डिभ्याम् । सुपथि । टेर्लोपः- सुपथी। सुप. न्थानि। ऊर्क्, ऊर्ग् ऊर्जी, ऊन्र्जि। नरजानां संयोगः। तत्, ते, तानि। यत्, ये, यानि। एतत्, एते, एतानि । गवाक्, गोची, गग्वाञ्चि। पुनस्तद्वत्। गोचा। गवाग्भ्याम् । शकृत्, शकृती, शकृन्ति। ददत्, ददती।

अहन्निति-पदान्त में अहन् शब्द को रु आदेश हो।

अहन् भ्याम् - हलादि विभक्ति परे रहते **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** के द्वारा अहन् शब्द की पद संज्ञा हो गई। प्रकृत सूत्र के द्वारा नकार को रु आदेश हो गया। अह रुभ्याम् । **हशि च** के द्वारा उकार आदेश हुआ। अह उ भ्याम् । **आद्गुणः** के द्वारा अहोभ्याम् हो गया।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०

प्र०	अहः	अह्नी, अहनी	अहानि
द्वि०	अहः	अह्नी, अहनी	अहानि
तृ०	अह्ना	अहोभ्याम्	अहोभिः
च०	अह्ने	अहोभ्याम्	अहोभ्यः
पं०	अह्नः	अहोभ्याम्	अहोभ्यः
ष०	अह्नः	अह्नोः	अह्नाम्
स०	अह्नि	अह्नोः	अहःसु
सं०	हे अहः	हे अह्नी, अहनी हे	अहानि

दण्डिन् (दण्डधारी)

दण्डिन् सु यहाँ सु का लोप हो जाने पर न लोपः० के द्वारा नकार का लोप हो गया। दण्डिन्- दण्डि।

(वा०) सम्बुद्धौ इति- सम्बुद्धि में नपुंसकलिङ्ग शब्दों के नकार का लोप विकल्प से होता है। दण्डीनि जस् को शि आदेश, सर्वनामस्थानसंज्ञा, उपधादीर्घ होकर रूप सिद्ध हो गया। हे दण्डिन्, हे दण्डि-इस वार्तिक से नकारलोप के विकल्प से होने से दो रूप बने।

दण्डिनी औ को शी आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

द्वितीया के रूप भी ऐसे ही बनते हैं। तृतीया आदि विभक्तियों में पुँल्लिङ्ग के समान रूप सिद्ध होते है।

सुपथिन् (अच्छे मार्ग वाला)

सुपथिन् सु यहाँ सु का लोप हो गया। तब नकार का लोप हो गया। सुपथि। सुपथिन् औ - यहाँ औ को शी आदेश हो गया। सुपथिन् शी ई। सुडनपुं० के द्वारा सर्वनामस्थान संज्ञा नहीं हुई। **यचि भम्** के द्वारा भसंज्ञा हुई। **भस्य टेर्लोपः** के द्वारा टि का लोप हो गया। सुपथिन् ई- सुपथ् ई-सुपथी।

सुपथिन् जस् में जस् को शि आदेश और शि की सर्वनामस्थानसंज्ञा होकर **इतोऽत् सर्वनामस्थ. ाने** सूत्र से इकार को अकार आदेश, **अतो गुणे** से पररूप हुआ तब थो न्थः से न्थ आदेश।

उपधादीर्घ **सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ** होकर रूप सिद्ध हुआ। सुपथिन् जस् शि। सुपथन् इ। सुपन्थन् इ। सुपन्थानि।

इसी प्रकार द्वितीया के रूप बनेंगे। शेष रूप पुंल्लिङ्ग पथिन् शब्द के समान बनते हैं। सम्बुद्धि में नकारलोप के विकल्प से- हे सुपथि, हे सुपथिन् ये दो रूप बनते हैं।

जकारान्त शब्द ऊर्ज्(तेज)

ऊर्ज् सु इस दशा में सु का लोप होने पर पदान्त चवर्ग को **चोः कुः** सूत्र से कवर्ग (गकार) आदेश हुआ। विकल्प से चर् ककार होकर ऊर्क् और ऊर्ग् दो रूप सिद्ध हुए।

ऊर्जी- औ को शी आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

ऊर्ज्जस् - **जश्शसोः शिः** के द्वारा शि आदेश हो गया। **शि सर्वनामस्थानम्** के द्वारा सव. नाम स्थान संज्ञा होने पर उगिदचाम्० अथवा **नपुंसकस्य झलचः** से नुम् प्राप्त। **नाऽभ्यस्ताच्छतुः** से निषेध। नपुंसकस्य० के द्वारा नुम् आगम हो गया। यह अन्त्य अच् के आगे हो गया। ऊ न्र् ज् इस क्रम से संयोग है। अतः नकार और जकार के बीच में रेफ होने से श्रुत्व नहीं हुआ। ऊर्ज् जस् । ऊर्ज् शि (इ) । ऊ नुम् र्ज् इ। ऊर्न्जि ।

दकारान्त शब्द तद् (वह)

तद्, यद् और एतद् शब्द के सु और अम् के लोप और विकल्प से चर्त्व होने पर तत् यत् और एतत् - ये रूप सिद्ध होते हैं। ते, ये, एते-औ परे रहते त्यदाद्यत्व, पररूप, शी आदेश और गुण होने पर रूप सिद्ध होते हैं। तानि, यानि, एतानि-जस् और शस् को शि आदेश, सर्वनामस्थान संज्ञा, त्यदाद्यत्व, पररूप, नुम् और उपधादीर्घ होकर उक्त रूप बनेंगे। शेष रूप पुँल्लिङ्ग के समान ही बनते हैं।

चकारान्त शब्द गवञ्च् (गो अञ्च्)

गो अञ्च् सु यहाँ **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** के द्वारा नकार का लोप हो गया। तब सु का लोप हो गया। अवङ् स्फोटाय० के द्वारा गो शब्द को विकल्प से अवङ् आदेश हुआ। **अकः सवर्णे दीर्घः** से दीर्घ हुआ। गो अन् च् स्-गो अच् स् - गो अच् - गवङ् अच् - गवाच् । जश्त्व होकर **क्विन् प्रत्ययस्य कुः** के द्वारा कुत्व हुआ। तब **वाऽवसाने** के द्वारा विकल्प से चर् हुआ। गवाग् । जहाँ अवङ् आदेश नहीं होगा, वहाँ गो अच् में सर्वत्र विभाषा गोः से विकल्प से प्रकृति भाव होगा। प्रकृति भाव पक्ष में गो अच् तथा अभाव में **एङः पदान्तादति** के द्वारा पूर्वरूप होकर

गोच् बनेगा। इन्हें आगे कुत्व कार्य होकर गोअक् तथा गोक् रूप बनेंगे। ये सभी रूप गति अर्थ वाली अञ्चु धातु के है। इस प्रकार प्रथमा एकव० में चार रूप बनेंगे – गवाम्, गवाक्, गोअक्, गोक्। पूजा अर्थ वाली अञ्चु के नकार का लोप निषेध **नाञ्चेः पूजायाम्** के द्वारा होता है।

गो अन्च् औ यहाँ औ को शी आदेश, नकार लोप हो गया। गो अच् शी। शी की सव. नामस्थान संज्ञा न होने से इसके परे रहते भंसज्ञा होगी। तब **अचः** के द्वारा अकार का लोप और गोची रूप बना। गो अच् जस् इस दशा में जस् को शि आदेश, सर्वनामस्थान संज्ञा, अवङ् आदेश तथा सवर्ण दीर्घ हुआ। गवङ् अन् च् इ। अनुस्वार तथा परसवर्ण हो गवाञ्चि रूप बना।

पुनरिति – द्वितीया में इसी प्रकार रूप बनेंगे।

टा में भसंज्ञा हुई। अकार का लोप अचः होकर गोचा रूप बना। गो अच् भ्याम् यहाँ स्वादिष्वसर्वनाम० के द्वारा पद संज्ञा हुई। तब अवङ् आदेश, सवर्णदीर्घ, चकार को जश् हुआ। तब कवर्ग आदेश होकर गवाग्भ्याम् बना।

अजादि विभक्तियों में अकार का लोप होकर रूप बनेंगे और हलादि में अवङ् आदेश, सवर्णदीर्घ, जश्त्व, कुत्व होकर। सुप् में कुत्व होने पर चर् ककार और सकार को मूर्धन्य षकार होकर गवाक्षु रूप बना।

तकारान्त शब्द शकृत् (विष्ठा)

शकृत् सु में सु का लोप हो गया। झलां जश्० के द्वारा दकार हो गया। तब **वाऽवसाने** के द्वारा विकल्प से चर् हो गया। शकृद्–शकृद्, शकृत् । शकृती–औ को शी आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

शकृन्ति–जस् को शि आदेश, सर्वनामस्थानसंज्ञा, नुम्, अनुस्वार और परसवर्ण होकर रूप की सिद्धि हुई। शकृत् शि। शकृ न् त् इ। शकृति। शकृन्ति।

ददत् – (देता हुआ) शब्द के सु और अम् में ददत् , औ और औट् में ददती रूप पूर्ववत् सिद्ध होते हैं।

२. वा नपुंसकस्य (७/१/७९)

अभ्यस्तात् परो यः शता, तदन्तस्य क्लीवस्य वा नुम् सर्वनामस्थाने। ददन्ति, ददति। तुदत् । वेति– अभ्यस्त संज्ञक से परे शतृ प्रत्ययान्त नपुंसक अङ्ग का अवयव विकल्प से नुम् हो यदि उससे परे सर्वनाम स्थान प्रत्यय हो।

ददत् जस् यहाँ जस् को शि आदेश तथा प्रकृत सूत्र के द्वारा नुम् आगम हुआ। अतः ददति तथा ददन्ति दो रूप बने।

तुदत् (पीडा पहुँचाता हुआ)

तुदत् सु सु का लोप होकर तुदत् रूप सिद्ध हुआ।

३. आच्छीनद्योर्नुम् (७/१/८०)

अवर्णान्ताद् अङ्गात् परो यः शतुरवयवः, तदन्तस्य अङ्गस्य नुम् वा शीनद्योः। तुदन्ती, तुदती। तुदन्ति ।

आदिति- शी प्रत्यय और नदी संज्ञक परे होने पर अवर्णान्त अङ्ग से परे शतृ प्रत्यय का अवयव, तदन्त अङ्ग को विकल्प से नुम् होता है।

तुदत् औ में तुदत् में अवर्णान्त अङ्ग तुद् है। उससे परे शतृ का अवयव तकार है। तदन्त तुदत् अङ्ग को शी परे रहते विकल्प से नुम् हो गया।

तुद नुम् त् शी-तुदन्ती, तुदती।

तुदत् जस् - यहाँ **जश्शसोः शिः** के द्वारा शि आदेश हो जाएगा **नपुंसकस्य झलचः** के द्वारा नुम् आदेश होगा। तुद नुम् त् शि- तुदन्ति।

शेष रूप पुँल्लिङ्ग के समान होंगे।

स्मरणीय बिंदु

1. सर्वादीनि सर्वनामानि सूत्र के अनुसार सर्व आदि तैंतीस शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है।

2. सर्वनाम शब्दों में सम्बोधन विभक्ति नहीं होती है।

3. अस्मद् और युष्मद् शब्द तीनों लिङ्गों में समान रहते हैं अर्थात इनके रूप लिङ्ग के अनुसार नहीं बदलते।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सर्वनाम किसे कहते हैं? सर्व शब्द की पुल्लिंग और स्त्रीलिंग में रूप सिद्धि की प्रक्रिया को प्रमुख सूत्रों सहित समझाइए?

2. अस्मद् और युष्मद् शब्दों के रूपों की विशेषता बताते हुए उनके प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के रूपों को विस्तार से लिखिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सर्वनाम शब्दों में जस प्रत्यय के स्थान पर होने वाले शी आदेश को किस सूत्र से समझा जा सकता है?

2. तद् शब्द के स्त्रीलिंग और पुल्लिंग के प्रथमा एकवचन के रूपों में क्या अंतर है? लिखिए।

3. सर्वनाम संज्ञा होने पर चतुर्थी एकवचन में कौन से विशिष्ट आदेश होते हैं? संक्षेप में बताइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. सर्वनाम संज्ञा करने वाला प्रमुख सूत्र कौन सा है?

(क) हलन्त्यम् (ख) सर्वादीनि सर्वनामानि (ग) अदर्शनं लोपः (घ) तस्य लोपः

2. अस्मद् शब्द का प्रथमा विभक्ति एकवचन का रूप क्या होगा?

(क) त्वम् (ख) अहम् (ग) वयम् (घ) माम्

3. सर्वनाम शब्दों में किस विभक्ति का पूर्णतः अभाव होता है?

(क) प्रथमा (ख) सप्तमी (ग) सम्बोधन (घ) चतुर्थी

4. तद् शब्द का पुल्लिंग प्रथमा विभक्ति बहुवचन का रूप क्या है?

(क) सा (ख) ते (ग) तौ (घ) तम्

5. युष्मद् शब्द का षष्ठी विभक्ति बहुवचन का रूप क्या होगा?

(क) तव (ख) युष्माकम् (ग) युष्मभ्यम् (घ) त्वयि

।। ओ३म् ।।

सब्रह्ममुनिभाष्यं वेदान्तदर्शनम्

MSSAID-205

दिव्य प्रकाशन

॥ ओ३म् ॥

एम.ए. संस्कृतम् पाठ्यक्रमस्य द्वितीयसत्रम्

पंचमपत्रम्-सब्रह्ममुनिभाष्यं वेदान्तदर्शनम् (चतुर्थोऽध्यायः)

पेपर कोड : MSSAID-205 Credit-2

उद्देश्य :-

- वेदान्तदर्शन के फलाध्याय के अनुसार विभिन्न साधनों के द्वारा परमात्मा का ध्यान करना व सूक्ष्म शरीर की अवधारणा को स्पष्ट करना।
- ब्रह्म की उपासना करने वाले योगी को ब्रह्मलोक गमन के विषय में शास्त्रोक्त समाधान देना।

परिणाम :-

- वेदान्तदर्शनानुसार योग के विभिन्न साधनों के संकल्पपूर्वक नियमित अभ्यास से एकाग्रता बढ़ेगी तथा आन्तरिक जगत में प्रवेश होगा।
- ब्रह्मोपासक योगी की मुक्ति व निजचैतन्य स्वरूप में अवस्थिति होती है तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है ।

इकाई-1 : 1-ध्यान, आवृत्ति एवं ब्रह्मदृष्टि का विवेचन ।

2-ब्रह्मज्ञान से पाप-पुण्य का क्षय ।

3-स्थूल शरीर का नाश होने पर भी सूक्ष्म शरीर का नाश न होना तथा मोक्षपर्यन्त साथ रहना ।

इकाई-2 : 1-ब्रह्मविद् (ज्ञानी उपासक) आत्मा की गति निरूपण ।

इकाई-3 : 1-ब्रह्मोपासक विद्वानों का शरीर से उत्क्रमण होने के पश्चात् अर्चि आदि से युक्त देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक गमन ।

2-उपनिषद् में 'ब्रह्म गमयति' इस वाक्य में 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ क्या है ?

इकाई-4 : 1-मुक्त की निजचैतन्य रूप में अवस्था ।

2-मुक्त जीव की शरीर स्थितिः एक विवेचन ।

3- परमात्मा और मुक्त जीव का ऐश्वर्य-सीमाएँ और भिन्नता ।

विषय-सूची

क्रम संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
इकाई-1	ध्यान, आवृत्ति एवं ब्रह्मदृष्टि का विवेचन ।	7-9
	ब्रह्मज्ञान से पाप-पुण्य का क्षय।	10-11
	स्थूल शरीर का नाश होने पर भी सूक्ष्म शरीर का नाश न होना तथा मोक्षपर्यन्त साथ रहना	12-16
इकाई-2	1-ब्रह्मविद् (ज्ञानी उपासक) आत्मा की गति निरूपण।	17-19
इकाई-3	ब्रह्मोपासक विद्वानों का शरीर से उत्क्रमण होने के पश्चात् अर्चि आदि से युक्त देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक गमन ।	20-23
	उपनिषद् में 'ब्रह्म गमयति' इस वाक्य में 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ क्या है ?	24-25
इकाई-4	मुक्त की निजचैतन्य रूप में अवस्था।	26-27
	मुक्त जीव की शरीर स्थितिः एक विवेचन ।	28-31
	परमात्मा और मुक्त जीव का ऐश्वर्य-सीमाएँ और भिन्नता	32

प्रस्तावना

भारतीय चिन्तन धारा में जिन दर्शनों की परिगणना विद्यमान है, उनमें शीर्ष स्थानीय दर्शन कौन सा है? ऐसी जिज्ञासा होने पर एक ही नाम उभरता है, वह है–वेदान्त। यह भारतीय दर्शन के मंदिर का जगमगाता स्वर्णकलश है दर्शनाकाश का देदीप्यमान सूर्य है। वेदान्त की विषय वस्तु, इसके उद्देश्य, साहित्य और आचार्य परम्परा आदि पर गहन चिन्तन करें, इससे पूर्व आइये, वेदान्त शब्द का अर्थ समझें।
वेदान्त का अर्थ– वेदान्त का अर्थ है वेद का अन्त या सिद्धान्त। तात्पर्य यह है– 'वह शास्त्र जिसके लिए उपनिषद् ही प्रमाण है। वेदान्त में जितनी बातों का उल्लेख है, उन सब का मूल उपनिषद् है। इसलिए वेदान्त शास्त्र के वे ही सिद्धान्त माननीय हैं, जिनके साधक उपनिषद् के वाक्य हैं। इन्हीं उपनिषदों को आधार बनाकर बादरायण मुनि ने ब्रह्मसूत्रें की रचना की।' इन सूत्रों का मूल उपनिषदों में है।

वेदान्त का साहित्य

ब्रह्मसूत्र– उपरिवर्णित विवेचन से स्पष्ट है कि वेदान्त का मूल ग्रन्थ उपनिषद् ही है। अतः यदा–कदा वेदान्त शब्द उपनिषद् का वाचक बनता दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदीय मूल वाक्यों के आधार पर ही बादरायण द्वारा अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादन हेतु ब्रह्मसूत्र सृजित किया गया। महर्षि पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी में उल्लेखित 'भिक्षुसूत्र' ही वस्तुतः ब्रह्मसूत्र है। संन्यासी, भिक्षु कहलाते हैं एवं उन्हीं के अध्ययन योग्य उपनिषदों पर आधारित पाराशर्य (पराशर पुत्र व्यास) द्वारा विरचित ब्रह्म सूत्र है, जो कि बहुत प्राचीन है। यही वेदान्त दर्शन उत्तर मीमांसा के नाम से प्रख्यात है। महर्षि जैमिनि का मीमांसा दर्शन पूर्व मीमांसा कहलाता है, जो कि द्वादश अध्यायों में आबद्ध है। कहा जाता है कि जैमिनि द्वारा इन द्वादश अध्यायों के पश्चात् चार अध्यायों में संकर्षण काण्ड (देवता काण्ड) का सृजन किया गया था। जो अब अनुपलब्ध है, इस प्रकार पूर्व मीमांसा षोडश अध्यायों में सम्पन्न हुआ है। उसी सिलसिले में चार अध्यायों में उत्तर मीमांसा या ब्रह्म–सूत्र का सृजन हुआ। इन दोनों ग्रन्थों में अनेक आचार्यों का नामोल्लेख हुआ है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि इन बीस अध्यायों के रचनाकार कोई एक व्यक्ति थे, चाहे वे महर्षि जैमिनि हों अथवा बादरायण अथवा बादरि। पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्ड एवं उत्तर मीमांसा में ज्ञानकाण्ड विवेचित है। उन दिनों विद्यमान समस्त आचार्य पूर्व एवं उत्तर मीमांसा के समान रूपेण विद्वान् थे। इसी कारण जिनके नामों का उल्लेख जैमिनीय सूत्र में है, उन्हों का ब्रह्मसूत्र में भी है। वेदान्त सम्बन्धी साहित्य प्रचुर मात्र में विद्यमान है।

वेदान्त दर्शन का स्वरूप और प्रतिपाद्य-विषय

'वेदों' के सर्वमान्य, सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त ही 'वेदान्त' का प्रतिपाद्य हैं। उपनिषदों में ही ये सिद्धान्त मुख्यत: प्रतिपादित हुए हैं, इसलिए वे ही 'वेदान्त' के पर्याय माने जाते हैं। परमात्मा का परम गुहा ज्ञान वेदान्त के रूप में सर्वप्रथम उपनिषदों में ही प्रकट हुआ है। 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः (मुण्डक 3.2. 6)। 'वेदान्ते परमं गुह्यम् पुराकल्पे प्रचोदितम्' (श्वेताश्वतर 6.22)। 'यो वेदादौ स्वर: प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठित:' (महानारायण 10.8) इत्यादि श्रुतिवचन उसी तथ्य का डिंडिम घोष करते हैं। इन श्रुति वचनों का सारांश इतना ही है कि संसार में जो कुछ भी दृश्यमान है और जहाँ तक हमारी बुद्धि अनुमान कर सकती है, उन सबका मूल स्रोत एकमात्र 'परब्रह्म' ही है।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र प्रमुखतया ब्रह्म के स्वरूप को विवेचित करता है एवं इसी के सम्बन्ध से उसमें जीव एवं प्रकृति के सम्बन्ध में भी विचार प्रकट किया गया है। यह दर्शन चार अध्यायों एवं सोलह पादों में विभक्त है। इनका प्रतिपाद्य क्रमश: निम्नवत् है-

1- प्रथम अध्याय में वेदान्त से सम्बन्धित समस्त वाक्यों का मुख्य आशय प्रकट करके उन समस्त विचारों को समन्वित किया गया है, जो बाहर से देखने पर परस्पर भिन्न एवं अनेक स्थलों पर तो विरोधी भी प्रतीत होते हैं। प्रथम पाद में वे वाक्य दिये गये हैं, जिनमें ब्रह्म का स्पष्टतया कथन है, द्वितीय में वे वाक्य हैं, जिनमें ब्रह्म का स्पष्ट कथन नहीं है एवं अभिप्राय उसकी उपासना से है। तृतीय में वे वाक्य समाविष्ट हैं, जिनमें ज्ञान रूप में ब्रह्म का वर्णन है। चतुर्थ पाद में विविध प्रकार के विचारों एवं संदिग्ध भावों से पूर्ण वाक्यों पर विचार किया गया है।

2- द्वितीय अध्याय का विषय 'अविरोध' है। इसके अन्तर्गत श्रुतियों की जो परस्पर विरोध सम्मतियाँ हैं- उनका मूल आशय प्रकट करके उनके द्वारा सिद्धान्त की सिद्धि की गयी है। इसके साथ ही वैदिक मतों (सांख्य, वैशेषिक पाशुपत आदि) एवं अवैदिक सिद्धान्तों (जैन, बौद्ध आदि) के दोषों एवं उनकी अयथार्थता को दर्शाया गया है। आगे चलकर लिघ्ग शरीर प्राण एवं इन्द्रियों के स्वरूप दिग्दर्शन के साथ पंचभूत एवं जीव से सम्बद्ध शंकाओं का निराकरण भी किया गया है।

3- तृतीय अध्याय की विषय वस्तु साधन है। इसके अन्तर्गत प्रथमत: स्वर्गादि प्राप्ति के साधनों के दोष दिखाकर ज्ञान एवं विद्या के वास्तविक स्रोत परमात्मा की उपासना प्रतिपादित की गयी है, जिसके द्वारा जीव ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति में कर्मकाण्ड सिद्धान्त के अनुसार मात्र अग्निहोत्र आदि पर्याप्त नहीं, वरन् ज्ञान एवं भक्ति द्वारा ही आत्मा और परमात्मा का सान्निध्य सम्भव है।

4- चतुर्थ अध्याय साधना का परिणाम होने से फलाध्याय है। इसके अन्तर्गत वायु, विद्युत् एवं

वरुण लोक से उच्च लोक ब्रह्मलोक तक पहुँचने का वर्णन है, साथ ही जीव की मुक्ति, जीवन्मुक्त की मृत्यु एवं परलोक में उसकी गति आदि भी वर्णित है। अन्त में यह भी वर्णित है कि ब्रह्म को प्राप्ति होने से आत्मा की स्थिति किस प्रकार को होती है, जिससे वह पुनः संसार में आगमन नहीं करती। मुक्ति और निर्वाण की अवस्था यहीं है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन में ईश्वर, प्रकृति, जीव, मरणोत्तर दशाएँ, पुनर्जन्म, ज्ञान, कर्म, उपासना, बन्धन एवं मोक्ष इन दस विषयों का प्रमुखरूपेण विवेचन किया गया है।

इकाई-1

ध्यान, आवृत्ति एवं ब्रह्मदृष्टि का विवेचन

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् (वेदान्त. ४.१.१) (असकृत्-उपदेशात्) ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'' (बृह ४.५.६) 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृह ४. ४.२१) इत्थं ब्रह्मणोऽनेकत्र तथानेकप्रकारेण पुनः पुनरुपदेशात् (आवृत्तिः) तस्य ब्रह्मणो मनसि पुनः पुनर्धारणा कार्या-ब्रह्मज्ञानाय ब्रह्मसाक्षात्काराय वा तत्साधनस्य मनन-निदिध्यासनरूपध्यानस्य पुनः पुनर्वर्तनं विधेयम् ॥१॥

उपनिषदों में हमें कई स्थानों पर यह देखने को मिलता है कि ब्रह्म का उपदेश अलग-अलग शब्दों, विधियों और दृष्टिकोणों से अनेक बार किया गया है। जैसे बृहदारण्यक उपनिषद (४।५।६) में कहा गया है- **''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः''**, जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि आत्मा को देखना, सुनना, मनन करना और ध्यानपूर्वक चिंतन करना आवश्यक है। यही नहीं, अन्य स्थलों पर भी आत्मा और ब्रह्म के विषय में बारंबार निर्देश मिलता है, जैसे- **''तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत''** (बृह० ४।४।२१), **''सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः''** (छान्दो० ८।७।१), इन सभी वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि आत्मज्ञान के लिए केवल एक बार का उपदेश पर्याप्त नहीं है। **लिङ्गाच्च (४.१.२) श्रुतौ खलु लिङ्ग विद्यते यद् ध्याने किलावृत्तिर्विधेया - ''आदित्य उद्गीथः'' (छान्दो १.५.१) इत्युक्त्वा पुनस्तद्विषये ''रश्मीं-स्त्वं पर्यावर्तयात्'' (छान्दो १.४.२) अनेनादित्याज्ञानायावृत्तिर्विहिता तदनेन ज्ञानसामान्येन ब्रह्मज्ञानस्याप्यावृत्त्या भवितव्यम्।** के अनुसार केवल उपदेश नहीं, बल्कि लिङ्गों के माध्यम से भी यह सिद्ध होता है कि ध्यान और मनन में आवृत्ति अपेक्षित है। उदाहरण के लिए- **''आदित्य उद्गीथः''** (छान्दो० १।५।१) कहकर **''रश्मींस्डवं पर्यावर्तयात्''** (छान्दो० १।५।२) में आदित्य के माध्यम से पुनरावृत्ति की विधि दी गई है। यह एक प्रतीकात्मक रूप से जड पदार्थ के ज्ञान में भी आवृत्ति की आवश्यकता को दर्शाता है, तो चेतन ब्रह्म के ज्ञान में तो यह और भी आवश्यक हो जाता है। उदाहरण रूपमे छान्दोग्य उपनिषद (६।१०।२-३) में श्वेतकेतु को ''तत्त्वमसि'' उपदेश अनेक बार दिया गया- **''स एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो''**,

तथापि श्वेतकेतु बार-बार पूछते हैं- **''भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु''**, यह स्पष्ट करता है कि आत्मस्वरूप को समझने के लिए पुनः पुनः उपदेश और उसकी मनन-चिंतन रूपी आवृत्ति आवश्यक है। इसी प्रकार, कठोपनिषद (१।३।१५) में वर्णन आता है- **''निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते''**, यह 'निचाय्य' शब्द ध्यान, धारणा और बार-बार विचार करने का संकेत देता है।

ब्रह्म के विविध गुणों के साथ ध्यान करना भी एक प्रकार की आवृत्ति है। जैसे-

- **''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै० उ० २।१),**
- **''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' (बृह० ३।९।२८),**
- **''आनन्दरूपममृतं यद् विभाति'' (मुण्ड० २।२।७)।**

इन वाक्यों के माध्यम से यह बोध होता है कि ब्रह्म के अनेक आयामों को समझने के लिए उसका बार-बार चिंतन आवश्यक है। इस प्रकार, **''आवृत्तिरसकृदुपदेशात्''** सूत्र वेदवाक्यों की पुनरावृत्ति की आवश्यकता साथ-साथ दर्शाता है कि आत्मज्ञान, मनन, निदिध्यासन और ब्रह्मसाक्षात्कार जैसे सूक्ष्म विषयों में एकाग्रता, गहराई और स्थायित्व के लिए बारंबार अभ्यास और पुनरावृत्ति अत्यंत आवश्यक है। **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च (४.१.३) (आत्मा-इति-तु-उपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च) तत्र ध्यानावृत्तौ सर्वस्यात्मभूतः परमात्माऽवलम्बनीयः । इत्येवं हि तं ध्यानिन उपगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति तथा च श्रुतयो ग्राहयन्ति बोधयन्ति ज्ञापयन्ति। आत्मानं तं विश्वस्यात्मभूतं परमात्मानं स्वात्मना प्राप्नुयात् । तथा- ''संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद''** (माण्डू२.२.६) उपनिषदों के ये वाक्य स्पष्ट करते हैं कि जो ध्यानशील साधक है, वह जिस आत्मा का चिन्तन करता है, वही परमात्मा है। शास्त्र उसी को जानने की बात करते हैं और उसका अभ्यास कराने हेतु मार्गदर्शन देते हैं। ध्यान का उद्देश्य आत्मा को जानना है, और आत्मा ही परमात्मा है- यह वेदान्त का मूल सन्देश है। इसलिए ध्यान में उसी सार्वभौ. मिक आत्मा को आलम्बनीय (आधार रूप में ग्रहण करने योग्य) माना गया है, जो सभी में व्याप्त है और जिससे साक्षात्कार करने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। किन्तु प्रतीक=मूर्ति आदि जड़ में परमात्मा बुद्धि नहीं करना चाहिये। यदि ऐसा है तो **''आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः''** (छान्दो 3/19/1)-आदित्य ब्रह्म है, इत्यादि में कैसे ब्रह्मदृष्टि विधान की। इस पर कहते हैं-

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्॥ [४.१.५] (ब्रह्मदृष्टिः-उत्कर्षात्) क्वचिज्जडे वस्तुनि ब्रह्मदृष्टिर्विहिता सा खलूत्कर्षात् तज्जातीयेषु पदार्थेषु तस्योत्कृष्टत्वाद् बृहत्त्वात् । जड़ में ब्रह्मदृष्टि विधान की है वह उत्कर्ष से उत्कर्ष के कारण उस जाति के पदार्थों में उसके उत्कृष्ट होने से वह बड़े अर्थ में ब्रह्म शब्द है।

वेदान्त दर्शन में आत्मसाक्षात्कार का अंतिम उपाय निदिध्यासन कहा गया है। अर्थात् - ध्यानपूर्वक ब्रह्म का निरंतर चिंतन। यह साधना तभी सफल होती है जब वह सही विधि, उपयुक्त स्थान, आसन, एकाग्रता और नित्य अभ्यास के साथ की जाए। निदिध्यासन=ब्रह्मोपासन की जो आवृत्ति कही उसे कैसे काम में लावे, यह कहते हैं- **"आसीनः सम्भवात्" (४.१.७)। (आसीनः) आसीनः समासीनः खलु शान्त्याऽऽसनं विधाय कुर्यात्। कुतः (सम्भवात्) तथा कृत्वैव ब्रह्मोपासनायाः सम्भवोऽस्ति यतोऽन्यत्र दोषापत्तेः। अर्थात,** ब्रह्मध्यान हेतु बैठकर ध्यान करना आवश्यक है। ध्यान की स्थिति में शरीर स्थिर रहना चाहिए। इसलिए समासीन होकर, शांतिपूर्वक, एक उचित आसन में बैठना ही उपयुक्त माना गया है। शारीरिक स्थिरता के बिना मन स्थिर नहीं होता। सम्भवात् शब्द यह इंगित करता है कि स्थिर होकर बैठने पर ही ध्यान संभव है, अन्यथा चित्त चंचल होता है और दोष उत्पन्न होते हैं।

ब्रह्मोपासना ध्यान के माध्यम से ही संभव है। ध्यान के बिना ब्रह्मसाक्षात्कार का मार्ग नहीं खुलता। ध्यान के लिए भी उचित आसन आवश्यक है, क्योंकि ध्यान तभी हो सकता है जब शरीर अचल हो। इसलिए वेदान्त कहता है कि ध्यान के लिए आसन अनिवार्य है। **ध्यानाच्च-(४.१.८) ध्यानात्-च ध्यानादपि ब्रह्मोपासनं भवति न ध्यानमन्तरेण, ध्यानं चासनमपेक्षते, यो हि कश्चिद् ध्यायति स्थिरीभूत्वैव ध्यायति तस्मादप्यासनमनिवार्यमनुष्ठेयम्। "अचलत्वं चापेक्ष्य" अचलत्वमपेक्ष्य ध्यानं क्रियते(४.१. ९)**- ध्यान के लिए शारीरिक अचलता आवश्यक है। उपनिषदों में कहा गया है ''**ध्यायतीव पृथिवी**'' **(छान्दोग्य उपनिषद् ७.६.१)** - पृथ्वी अचल है क्योंकि वह ध्यान करती है । यह उपमा यह संकेत करती है कि ध्यानशील व्यक्ति को भी स्थिर, अचल और निर्विकल्प स्थिति में रहना चाहिए। इस विषय में स्मृति प्रमाण उपलब्ध हैं **"यम नियम आसन..."** (योगसूत्र) **"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः"** (गीता ६.११)

इन ग्रंथों में ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान, शुद्धता, तथा स्थिरता की आवश्यकता पर बल दिया गया है। ''ध्यान के लिए आसन अनिवार्य बताया गया है, लेकिन 'आसन किस स्थान पर करना चाहिए?' - इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। ''यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्'' यत्र यस्मिन् स्थाने ह्येकाग्रता सम्पद्येत तत्र तस्मिन् स्थाने खल्वासनं विधाय ब्रह्मोपासनं कुर्यात् । कुतः ? अविशेषात् । न हि कश्चिद् विशेषोऽस्ति स्थानविषये मनसः किलैकाग्रता विशेषहेतुरासनविधाने । - जहाँ मन की एकाग्रता संभव हो, वहीं ब्रह्मध्यान करें। वेदान्त स्थान विशेष में बंधन नहीं देता। स्थान को लेकर कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि मन की स्थिरता ही प्राथमिक है। श्रुति कहती है:

"मनोऽनुकूलं न तु चक्षुःपीडनम्" (श्वेताश्वतर उपनिषद् २.१०)
"न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात्" (सांख्य ६.३१)

अतः ध्यान का स्थान वह होना चाहिए जहाँ मन प्रसन्न, शांत और एकाग्र रह सके। ''आपने कहा है कि मोक्ष के लिए ब्रह्मोपासना अपेक्षित है। क्या ब्रह्मोपासना के लिए कोई समय-सीमा (काल-सीमा) होती है?- "आप्रायणात्", अर्थात मृत्यु पर्यन्त (जीवन भर) ब्रह्मोपासना करते रहना चाहिए। वेदान्त में यह स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मध्यान केवल प्रारंभिक साधना नहीं है, अपितु संपूर्ण जीवन का अभ्यास है। श्रुति प्रमाण देते हैं:

"स यो ह वै... प्रायणान्तमोघधारम् अभिध्यायीत्" (प्रश्नोपनिषद् १.१६)
"स एवम् वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" (छान्दोग्य ८.१३.१)

इन वाक्यों से स्पष्ट होता है कि आत्मा और ब्रह्म का ध्यान जीवन भर करना आवश्यक है, और मृत्यु के अंतिम क्षण में भी उसका स्मरण आवश्यक है। यह भी उल्लेख है कि मृत्यु के समय साधक को तीन विषयों का चिंतन करना चाहिए- ब्रह्म,आत्मा,मृत्यु के पश्चात गति जैसे- "सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येत" (छान्दोग्य ३.१४.१) । यह संकेत करता है कि अंतिम समय में भी जिस साधक का ध्यान ब्रह्म पर होता है, वह ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। अतः ध्यान का अभ्यास जीवन भर चलता रहना चाहिए।

ब्रह्मज्ञान से पाप-पुण्य का क्षय

वेदान्त दर्शन के अनुसार जब कोई साधक ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मोपासना द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करता है, तो उसके पूर्व संचित पाप-पुण्य कैसे नष्ट होते हैं- इस पर विस्तार से चर्चा की गई है। **तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् (४.१.१३) (तदधिगमे) उपासनाभ्यासेन सति ब्रह्माधिगमे (उत्तरपूर्वाघयोः-अश्लेषविनाशौ) उत्तरपूर्वयोः पापयोः क्रमेणाश्लेषविनाशौ भवतः, उत्तरस्य पापस्याश्लेषोऽसम्पर्कः संसर्गाभावः पूर्वस्य पापस्य विनाशः। (तद्व्यपदेशात्) तथा कृत्वा तस्य वर्णनात्- ''यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते'' (छान्दो-४.१४.३) ''तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते'' (छान्दो-५. २४.३)** जब ब्रह्म का अधिगम (साक्षात्कार) होता है, तो पूर्व (बीते हुए) और उत्तर (भविष्य के) दोनों प्रकार के पापों का क्रमशः विनाश और असंलग्नता (अश्लेष) हो जाता है।

- पूर्व पाप- जो पहले किए गए हैं, वे ज्ञान रूपी अग्नि से भस्म हो जाते हैं।
- उत्तर पाप- जो ज्ञान के बाद होते, वे ब्रह्मोपासक को स्पर्श ही नहीं करते क्योंकि वह अब पापकर्म में प्रवृत्त नहीं होता।

श्रुति प्रमाण उपलब्ध हैं **''यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते''** (छान्दो ४.१४.३)- जैसे कमल के पत्ते पर पानी नहीं टिकता, वैसे ही ज्ञानी पर पाप नहीं टिकता। **''तद्यथेषीकातूलमग्नौ...''** (छान्दो-५.२५.३)- जैसे रूई अग्नि में जल जाती है, वैसे ही ज्ञान से पाप जल जाते हैं। जैसे पाप ज्ञान के प्रभाव से नष्ट होते हैं, वैसे ही पुण्य भी ब्रह्मज्ञान के बाद देहपात (मृत्यु) के समय नष्ट हो जाते हैं। पुण्य का फल भी ज्ञानी को बाँधता नहीं है, क्योंकि वह आत्मज्ञानी ''कर्तृत्व'' और ''भोक्तृत्व'' से रहित हो जाता है। इस विषय मे वैदिक प्रमाण उपलब्ध हैं **''क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे''** (मुण्ड.उ-२.२.९)- जब परब्रह्म का साक्षात्कार होता है, तब उसके सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं। **''उभे उ हैवैष एते तरति**(बृह ४.४.२२)...'' ज्ञानी पुण्य और पाप, दोनों को पार कर जाता है। आपने कहा है कि ब्रह्मज्ञान से पाप-पुण्य नष्ट हो जाते हैं- क्या सभी पाप-पुण्य नष्ट हो जाते हैं? **अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः (सूत्र ४.१.१५) (अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे) ये खलु पूर्वे पुण्यपापे अनारब्धकार्य अनारब्धफले स्तस्ते एव तु विनश्यतो ब्रह्माधिगमे (तदवधेः) सोऽधि-गमोऽवधिस्तयोर्नाशस्य तस्मात् ।** यह सूत्र स्पष्ट करता है कि केवल अनारब्धकार्य (जिनका फल प्रारंभ नहीं हुआ) पुण्य-पाप ही ब्रह्मज्ञान से नष्ट होते हैं। आरब्ध (प्रारब्ध) कर्म, जिनका फल प्रारंभ हो चुका है- जैसे वर्तमान जीवन- वे शरीर पात तक चलते हैं। अनारब्ध कर्म - जो भविष्य में फल देने वाले थे, वे नष्ट हो जाते हैं। इस विषय मे श्रुति समर्थन हैं **''तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये''** (छान्दो ६.१४.२)- वह ब्रह्मज्ञानी तब तक जीवित रहता है जब तक शरीर

का कर्म समाप्त न हो जाए। ब्रह्मज्ञान के बाद अग्निहोत्र आदि कर्मों को छोड़ देना चाहिए क्या? - इस प्रश्न का उत्तर। **अग्निहोत्रादि तु तत्कार्याय एव तद्दर्शनात् (सूत्र ४.१.१६) आश्रमान्तरसहक. ारि कर्माग्निहोत्रदि तु तत्कार्याय ब्रह्मज्ञानकरणायैवास्ति न तस्य नाशकथन-प्रसघ्गः (तद्दर्शनात्) तत्कार्यत्वदर्शनाच्छ्रुतौ-तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'' (बृह ४.४.२२) ॥१६॥** यहाँ स्पष्ट किया गया है कि अग्निहोत्र जैसे कर्मों का उद्देश्य ब्रह्मज्ञान की सहायता करना है, न कि स्वयं मोक्ष देना। ये कर्म ब्रह्मसाक्षात्कार की तैयारी हैं और ज्ञान हो जाने पर इनका स्वतंत्र फल अप्रासंगिक हो जाता है। श्रुति **''तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा...''** ब्राह्मणजन इस ब्रह्म को जानने के लिए वेद, यज्ञ, दान और तप का सहारा लेते हैं। कुछ दर्शनों के अनुसार न केवल नित्य (दैनिक) कर्म, बल्कि काम्य (इच्छित फल हेतु किए गए) कर्म भी ब्रह्मज्ञान के बाद नष्ट हो जाते हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि श्रुतियों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि ब्रह्मज्ञानी पुण्य और पाप दोनों से मुक्त हो जाता है। श्रुति प्रमाण उपलब्ध हैं

''यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं...'' - (मु.उ-३.१.३)

''उभे उ हैवैष एते तरति...'' - (बृ.४.४.२२)

यह श्रुति बारंबार दर्शाती है कि ज्ञानी दोनों प्रकार के कर्मों को पार कर जाता है। ब्रह्मज्ञान की भावना से किए गए कर्म ही परम प्रभावी होते हैं।

ब्रह्मज्ञान के बाद यदि अग्निहोत्र आदि कर्म किए जाएँ तो क्या फिर से पाप-पुण्य का संचय (आशय) शुरू हो जाता है? यदेव विद्ययेति हि ॥१८॥(यत्-एव विद्यया-इति हि) **''यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति''** (छान्दो१.१.१०)।

ज्ञान प्राप्ति के बाद तुरंत ही मोक्ष क्यों नहीं होता?- इस आपत्ति का उत्तर। भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते। (४.१.१९) (इतरे तु भोगेन क्षपयित्वा सम्पद्यते) इतरे आरब्धफले पुण्यपापे तु भोगेन ते उभे विनाश्य समाप्य ''क्षपि मारणतोषणनिशामनेषु'' (चुरादि) ध्यानी ब्रह्म प्राप्नोति । इति प्रारब्धकर्मणोः पुण्यपापयोर्विनाशप्रकारः । तथा चोक्तम्-''तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये थ सम्पत्स्य इति''। जो प्रारब्ध पाप-पुण्य होते हैं, वे भोग द्वारा ही क्षीण होते हैं, ज्ञान से नहीं। ज्ञानी व्यक्ति शरीर में रहते हुए प्रारब्ध का फल भोगता है, किंतु वह कर्म के कर्ता या भोक्ता की भावना से रहित होता है। ''तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'' इसका तात्पर्य है कि जब तक प्रारब्ध कर्म समाप्त नहीं होता, तब तक शरीर बना रहता है- उसके बाद ही मोक्ष प्राप्त होता है।

स्थूल शरीर का नाश होने पर भी सूक्ष्म शरीर का नाश न होना तथा मोक्षपर्यन्त साथ रहना

मरणसमय मे इन्द्रियों का लय किस् प्रकार होता हैं इस प्रश्न का समधान देता है सूत्रकार

वाङ् मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥१॥ (वाक्-मनसि) वागिन्द्रियं मनसि सम्पद्यते साङ्गच्छते साङ्गत्यमाप्नोति। सम्पद्यते तु प्रक्रियतेऽनन्तरात्पूर्वसूत्रत् । कदा कथमिति च म्रियमाणस्येति यावत् । कुतः (दर्शनात् शब्दात्-च) दर्शनात्खलु लोके दर्शनात् । अवलोक्यते हि लोके यो हि म्रियमाणो भवति तस्य वाग्वृत्तिर्मनसि समाप्यते वक्तुमिच्छन्नपि न वक्तुं पारयति । तथा च शब्दाच्छास्त्रवचनादपि गम्यते-''अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाघ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे'' (छान्दो ६.८.६) । मरणकाल में सबसे पहले वाणी (वाक्) की शक्ति लुप्त हो जाती है और वह मन में लय को प्राप्त होती है।

प्रत्यक्ष अनुभव (दर्शनात्) जब कोई व्यक्ति मरने के समीप होता है, तो हम देखते हैं कि वह बोलने में असमर्थ हो जाता है। वह बोलना चाहता है, लेकिन वाणी काम नहीं करती- इसका कारण यह है कि वाणी की शक्ति मन में विलीन हो चुकी होती है।

श्रुति प्रमाण (शब्दाच्च): छान्दोग्य उपनिषद् (6.8.6) में कहा गया है **''अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतः वाक् मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे...''** -अर्थात् मृत्यु के समय वाणी पहले मन में लीन होती है, फिर मन प्राण में। केवल वाक्- इन्द्रिय नहीं केवल वाणी ही नहीं, सभी इन्द्रियाँ क्रमशः अपने कार्य को रोक देती हैं और अंत में मन में लीन हो जाती हैं। हम संसार में देखते हैं कि जब किसी की मृत्यु निकट होती है, तो पहले वाणी रुकती है, फिर दृष्टि, स्पर्श, श्रवण आदि इन्द्रियाँ क्रमशः निष्क्रिय हो जाती हैं। सभी इन्द्रियाँ एक-एक करके मन में एकत्रित हो जाती हैं। इस विषय मे वैदिक प्रमाण है ''तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवम् इन्द्रियैः मनसि सम्पद्यमानैः...'' (प्रश्नोपनिषद् 3.10)- सभी इन्द्रियाँ मन में समाहित हो जाती हैं और फिर आत्मा अगले गमन की ओर बढ़ती है। इस वेदान्त मे- **अत एव सर्वाण्यनु (४.२.२) (अतः एव सर्वाणि-अनु) अतो वाच एव वागिन्द्रियादेवानुमन्तव्यमनुगन्तव्यं यत्सर्वाणीन्द्रियाणि मनसि सम्पद्यन्ते संविशन्ति, दृश्यते हि लोके वागिन्द्रियस्य वृत्त्युपरमादन्येषामपि क्रमशो व्यापारनिरोधो जायते । तथा चान्यत्रेपनिषदि स्पष्ट्यतेऽपि ''तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ---''** (प्रश्नो ३.९) ।।२।।। यह कहा गया है कि सभी इन्द्रियाँ मन में लय को प्राप्त होती हैं। अब प्रश्न उठता है- मन कहाँ लय को प्राप्त होता है? इस प्रश्न का उत्तर। तन्मनः प्राण उत्तरात् (४.२.३)(तत्-मनः प्राणे) यस्मिन् मनसि सर्वाणि वागादीनीन्द्रियाणि सम्पद्यन्ते संविशन्ति तत्ऽलु मनः प्राणे सम्पद्यते । कथम् (उत्तरात्) लोके खलूत्तरक्रमदर्शनादथ च शास्त्रस्योत्तरवचनात् । जब सभी इन्द्रियाँ मन में लय को प्राप्त हो जाती हैं, तब मन स्वयं प्राण में समाहित हो जाता है।

मृत्यु के समय चेतना शेष नहीं रहती, व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है- यह इस बात का संकेत है कि मन भी प्राण में विलीन हो गया है। **''मनः प्राणे समद्यते...''** (छान्दोग्य उ ६.८.६)- स्पष्ट बताता है कि मृत्यु के समय मन प्राण में समा जाता है। मन प्राण में लीन होता है- परंतु प्राण किसमें लय को प्राप्त होता है? इस आपत्ति (आक्षेप) का उत्तर। सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः (४.२.४)(सः-अध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः) स प्राणः प्राणनशक्तिमान् मुख्यप्राणोऽध्यक्षे तैजसात्मके तेजः स्वरूपे **''प्राणस्तेजसि''** (छान्दो६.८.६) सम्पद्यते संविशति । कथं प्रतीयते (तदुपगमादिभ्यः) तस्योपलब्ध्यादिभ्यो हेतुभ्यः । प्राण (जीवनशक्ति) अंत में तेज (ऊष्मा) में विलीन हो जाती है। तेज यहाँ आत्मा का विशेष गुण है, जो देह को जीवित रखने वाली ऊष्मा के रूप में प्रकट होता है।

''प्राणस्तेजसि सम्पद्यते'' (छान्दोग्य 6.8.6)

''एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्र...'' (बृहदारण्यक 4.4.2)

मरणकाल में आत्मा और समस्त प्राणशक्ति एकत्र होकर शरीर को त्यागने की दिशा में बढ़ती है। यह तेजस रूप आत्मगुण शरीर के ताप को बनाए रखता है, और जैसे ही यह ऊष्मा लुप्त होती है, मृत्यु घटित होती है।

क्रमबद्ध लय की प्रक्रिया तालिका-

क्रम	**तत्व**	**किसमें विलीन होता है**
१	वाक् (वाणी)	मन में
२	अन्य इन्द्रियाँ	मन में
३	मन	प्राण में
४	प्राण	तेज (ऊष्मा) में
५	तेज	आत्मा में (अंतिम लय और गमन)

अब एक प्रश्न (पूर्वपक्ष) उठता है श्रुति में ''पृथिवी, आप, तेज, वायु, आकाश''- इन पंचमह. ाभूतों का उल्लेख है। यदि तेज को भौतिक अग्नि या तत्त्वमात्र तेज समझा जाए, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि चेतन प्राण उस जड़ भौतिक तत्त्व में लय हो जाता है? **नैकस्मिन् दर्शयतो हि। (४.२. ६) (न-एकस्मिन्) यद्येवं तेजः शब्दो भूतवाची भवताऽत्र गृह्यते तर्हि न खल्वेकस्मिन् तेजस्येव प्राणः सम्पद्यते किन्त्वात्मनोऽनेकस्मिन्नवस्थानात् सोऽप्यनेकस्मिन्नवतिष्ठते (दर्शयतः-हि) तथा हि श्रुतिस्मृती दर्शयतः-''पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः''**। श्रुति मे 'तेज' का अर्थ है- आत्मा का गुण, ऊष्मा (उष्णता)। आत्मा का जो गुण शरीर को जीवंत और ऊर्जावान बनाए रखता है- वही तेज या ऊष्मा है। जब प्राण उस ऊष्मा में लीन होता है, तब वास्तव में वह आत्मा

की ओर गमन करता है। इसलिए 'तेजसि' शब्द को भौतिक अग्नि के रूप में नहीं, बल्कि आत्मिक ऊर्जा (ऊष्मा) के रूप में समझा जाना चाहिए। श्रुति और स्मृति प्रमाणः **''पृथिवीमयः, आपोमयः, तेजोमयः...''** (बृहदारण्यक उपनिषद् ५.७.१) यहाँ जीवात्मा के विभिन्न तत्वों में स्थित होने की बात कही गई है, जिससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा एकसाथ अनेक स्थलों में कार्य कर सकती है। **''ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवति...''** (मनुस्मृति १.२७)- सूक्ष्म भूतों और तत्वों से ही यह समस्त शरीर और जगत निर्मित होता है। बाद में सूत्रकार (वेदव्यास) स्पष्ट करेंगे -**''अस्यैव चोपपत्तेः - एष ऊष्मा''**,(४.२.११) अर्थात्- यही ऊष्मा (तेज) आत्मा का गुण है, जिसमे प्राण का लय होती है। वह गमन मोक्ष पर्यन्त सर्वसामान्य हैं। और जब तक सूक्ष्म शरीर है तब तक संसारावस्था रहती है। इसे वेदाव्यास जी निरूपण करते हैँ- **तदापीतेः संसारव्यपदेशात् (४.२.८) (तत्-आ-पीतेः) तेजः खलू त्क्रान्तिसंक्रान्त्योरधिष्ठानमात्मनो लिङ्ग सूक्ष्मं शरीरं वा यावत्सम्पत्तिर्ब्रह्मसम्पत्तिर्भवेत् तावत्प्रवर्तते । कुतः (संसारव्यपदेशात्) अनेनात्मलिङ्गेन सूक्ष्मशरीरेण संसारो व्यपदिश्यते, यावत्सूक्ष्मशरीरं तावत्संसारः । तद्धि संसारकारणमन्यथा मोक्षः सम्पद्यते ''एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'' (छान्दो २.२.६,७)**- मृत्यु के समय, स्थूल शरीर (भौतिक देह) का नाश हो जाता है, लेकिन आत्मा एक विशेष माध्यम से उत्क्रान्ति (देहत्याग) और संक्रान्ति (नवगमन) करती है। यह माध्यम है- तेजः, जिसे यहाँ लिङ्ग, ऊष्मा, या सूक्ष्म शरीर कहा गया है। जब तक आत्मा इस सूक्ष्म शरीर (तेज) के साथ जुड़ी रहती है, तब तक वह संसार के चक्र में रहती है। इस कारण, ब्रह्मज्ञान के बावजूद भी, जब तक यह लिङ्ग बना रहता है, देहधारण और कर्मफल भोग की संभावनाएँ बनी रहती हैं। सूत्र में ''संसारव्यपदेशात्'' कहा गया है, अर्थात्- श्रुति (उपनिषद्) में ऐसा स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा, सूक्ष्म शरीर के साथ संसार का भाग बनती है। ''एष सम्प्रसादः अस्मात् शरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिः उपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते...'' इसका तात्पर्य यह है कि यह ''सम्प्रसाद'' (अवस्थाशील आत्मा) शरीर छोड़कर परम ज्योति (ब्रह्म) में लीन होती है और अपने स्वस्वरूप को प्राप्त करती है। परंतु यह सम्प्राप्ति (ब्रह्मसम्पत्ति) तभी पूर्ण होती है जब आत्मा सूक्ष्म शरीर से पूर्ण रूप से विलीन हो जाती है। सूत्रकार इस ऊष्मा को आत्मा के सूक्ष्म शरीर के रूप में वर्णित कर रहे हैं। **सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः (४.२.१०) (सूक्ष्मं प्रमाणतः-च) अथ च तदिदं तेजोरूपमात्मलिङ्ग सूक्ष्मशरीरं प्रमाणतः सूक्ष्ममस्ति (तथा उपलब्धेः) जीवात्मना साकं स्थूलशरीराद् यद्वा स्थूलशरीरसम्बन्धिनाडङ्घादिभ्यो निष्क्रमणोपलब्धेः निष्क्रमणप्रसङ्गात् ''विष्वङ्ङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति'' (कठो २.३.१६) ।** आत्मा के साथ जो तेज या लिङ्ग (ऊष्मा रूप) जुड़ा हुआ है, वह वास्तव में सूक्ष्म शरीर है। इसका अस्तित्व प्रमाणों द्वारा सिद्ध होता है। यह अनुभव और व्यवहार में भी स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है, विशेषतः मरणकाल में आत्मा के शरीर से बाहर निकलने की अवस्था में। मरण के समय या निकट मृत्यु अवस्था में हम देखते हैं कि शरीर स्थिर हो जाता है, लेकिन कुछ चेतनता (ऊष्मा, प्राण) बनी रहती है। मृत्यु के तुरंत बाद शरीर ठंडा होता है- यह इंगित करता है कि ऊष्मा निकल गई। ध्यान या समाधि की गहन

अवस्थाओं में भी साधक अनुभव करता है कि आत्मा देह से पृथक है। इन अनुभवों से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा कोई जड़ पदार्थ नहीं, और न ही उसका अस्तित्व केवल स्थूल शरीर तक सीमित है, बल्कि वह सूक्ष्म शरीर के द्वारा चेतन रूप से गतिशील होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् (4.4.2):

''एष आत्मा निष्क्रामति-चक्षुषो वा, मूर्ध्नः वा, अन्येभ्यः शरीरदेशेभ्यः...''- आत्मा शरीर के विभिन्न भागों से निकलती है, जैसे- आँख, मस्तक या अन्य अंग। इसका संकेत है कि आत्मा के निष्क्रमण का कोई माध्यम अवश्य होता है, जो लक्षण रूप में 'सूक्ष्म शरीर' है। इस कारण से अर्थात् उस आत्मलिङ्ग=सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म होने से, स्थूल शरीर के उपमर्द-नाश से सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं होता है। आत्मा मृत्यु के समय प्राणों के साथ शरीर से निकलती है या नहीं?। एक श्रुति वाक्य कहता है **''न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति''** (बृहदारण्यक उपनिषद् 4.4.6) इसका अर्थ यह है कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष के प्राण शरीर से नहीं निकलते। तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जाए कि आत्मा भी शरीर से नहीं निकलती? वेदान्त सूत्र कहता है-नहीं। **प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् (४.२.१२) (प्रतिषेधात्-इति-चेत्) प्राणानामुत्क्रान्तिः प्रदर्शिता प्राणानामधिष्ठानं तेजोरूपमात्मलिङ्गा सूक्ष्मशरीरम्, ''प्राणस्तेजसि'' इति विधानात् तस्य सूक्ष्मशरीरस्य वर्तमानत्वमापीतेरुक्तं किन्तु ''स वा अयमात्मा---- अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति'' (बृह४.४.५-६) अनेन प्राणानामुत्क्रान्तिः प्रतिषिध्यते पुनर्मृते शरीरे तेषामधिष्ठानं तेजोरूपमात्मलिङ्गा सूक्ष्मशरीरमापीतेरिति कथनमयुक्तमिति चेदुच्यते तर्हि (न) न वक्तव्यम् कुतः (शारीरात्) तत्र प्राणानामुत्क्रमणप्रतिषेधः शारीराच्छरीरिण आत्मन उक्तं न तु शरीरात्।** यहाँ 'प्रतिषेध' (निषेध) आत्मा से संबंधित है,। आशय है कि प्राण आत्मा से अलग नहीं होते, वे साथ-साथ चलते हैं, परंतु वे शरीर से निकलते अवश्य हैं। इसलिए आत्मा सूक्ष्म शरीर और प्राणों के साथ शरीर से बाहर निकलती है। इस निष्क्रमण में सूक्ष्म शरीर, तेज और प्राण सहायक होते हैं। प्राणों का निष्क्रमण स्पष्ट रूप से श्रुतियों में वर्णित है। बृहदारण्यक उपनिषद् 3.2.11: **"यत्रायं पुरुषः म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्ति..."**- जब यह शरीर मरता है तो प्राण इस से निकल जाते हैं या नही। यहां 'अस्मात्' शब्द स्पष्ट करता है कि वे शरीर से निकलते हैं। कौषीतकि उपनिषद् 3.3: **"स यदा अस्मात् शरीरात् उत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैः उत्क्रामति"** आत्मा जब शरीर से निकलती है, तो वह प्राणों एवं सूक्ष्म शरीर के साथ निकलती है।

बृहदारण्यक उपनिषद् 4.4.2: **"स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयम् एव अन्ववक्रामति."** मृत्यु के समय आत्मा तेजोमात्रा (ऊष्मा सहित सूक्ष्म शरीर) को साथ लेकर हृदय के माध्यम से बाहर निकलती है। यह सभी श्रुतियाँ दर्शाती हैं कि प्राण और आत्मा शरीर से निकलते हैं, न कि वहीं रह जाते हैं। वेद के अतिरिक्त स्मृति ग्रंथों (गीता, मनुस्मृति आदि) से भी यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा प्राणों और सूक्ष्म शरीर के साथ शरीर को त्यागती है। श्रीमद्भगवद्गीता 15.8: **"मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति। यच्चाप्युत्क्रामति देहं, गृहीत्वैतानि संयाति"** आत्मा जब शरीर छोड़ती है, तो वह मन, इन्द्रियाँ आदि को साथ लेकर जाती है। जैसे वायु गंध को फूल से ले जाती है,

वैसे ही आत्मा सूक्ष्म तत्त्वों को साथ लेकर निकलती है। मनुस्मृति 12.14: **"दाड़णुमात्रिको भूत्वा..."** आत्मा बीज के समान सूक्ष्म रूप धारण कर स्थूल व सूक्ष्म शरीर को एकत्र करके उसमें प्रवेश करती है और पुनः देह धारण करती है। अब तेजोरूप सूक्ष्मशरीर में आविष्ट जीव परमात्मा मे समाविष्ट होते हैं- इसको **तानि परे तथा ह्याह (४.२.१६) (तानि परे) भूतसूक्ष्माणि-इन्द्रियप्रकृतिभूतानि तेजोरूपे सूक्ष्मशरीरसमाविष्टानि परे देवे परमात्मनि समियन्ति संविशन्ति (तथा हि-आह) तथा हि श्रुतिर्वदति ''तेजः परस्यां देवतायाम्'' (छान्दो ६.८.६)** सूत्रकार निरूपण कर रहे ।

आपने कहा कि जीव परमात्मा में एकत्व (ऐक्य) को प्राप्त होता है, लेकिन अब प्रश्न उठता है- उस संयोग (मिलन) का स्वरूप क्या है? वेदांत सूत्रकार (व्यास) इस प्रश्न का उत्तर देते है?- **अविभागो वचनात् ४.२.१६(अविभागः-वचनात्) स एष सम्पत्त्यात्मकः सङ्गमो यः खलु पूर्वा. क्तः सोऽविभागो विभागाभावो वचनाच्छ्रुतिवचनात् सिद्धः ''यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां रसं गमयन्ति । ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीति । एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः'' (छान्दो ६.९.१)** यह संयोग अविभागात्मक होता है, अर्थात् उसमें कोई भेद या अलगत्व नहीं रह जाता। जीव और परमात्मा में ऐसा पूर्ण एकत्व हो जाता है कि कौन जीव था और कौन ब्रह्म, यह पहचानना संभव नहीं रहता। छान्दोग्य उपनिषद् (६.९.१) में एक अत्यंत सुंदर दृष्टांत दिया गया है:

जैसे मधुमक्खियाँ अनेक फूलों और वृक्षों से रस लेकर एक एकरस मधु बनाती हैं, और उस मधु में यह पहचान नहीं रहती कि कौन-सा रस किस वृक्ष से आया है- वैसे ही जब समस्त जीव ब्रह्म में लीन होते हैं, तो वे अपनी पृथक सत्ता और पहचान को खो देते हैं। वे अब यह नहीं जान पाते कि "मैं अमुक जीव हूँ", क्योंकि उस परम ब्रह्म में पूर्ण समरसता और एकता होती है।

इकाई-2

ब्रह्मविद् (ज्ञानी उपासक) आत्मा की गति निरूपण

मरण के समय ब्रह्मविद् (ज्ञानी उपासक) आत्मा की गति, उसके शरीर से निकलने की प्रक्रिया और मूर्धा नाड़ी के माध्यम से ब्रह्म प्राप्ति का निरूपण कर रहे- **तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ४.२.१७ (तदोकः- अग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारः) तस्यौकस्तदोकः, तच्चाग्रज्वलनं तदोकोऽग्रज्वलनं तस्य ब्रह्मणि सम्पद्यमानस्य शरीरान्निष्क्रामतः सतेजोरूपसूक्ष्मशरीरस्य जीवात्मन ओकः स्थानं हृदयम्। उक्तं च-''स एतास्तेजोमात्रः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति'' (बृह-४.४.१) तेन हृदयरूपेणाग्रज्वलनप्रदेशेन प्रकाशितद्वारो बहिर्निष्क्रमणाय यस्य सः। यथोक्तम् ''तस्य हैतस्य हृदयं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति'' (बृह ४.४.२) हार्दानुगृहीतः विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च अथ चं हृदयगतेनोपासितेन ब्रह्मणाऽनुगृहीतः सन् ब्रह्मविद्यायाः शेषभूतस्याङ्गभूतस्य गत्यनुस्मृतियोगान्निष्क्रमणसघङ्कल्पसम्बन्ध ात् (शताधिकया) एकोत्तरशततमया मूर्धगतया नाड्या विद्वान् - उपासकः शरीरान्निष्क्रामति। निर्दिष्टं यथा- ''शतं चौका च हृदयस्य नाडङ्कस्तासां मूर्धा-नमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वघ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति --'' (छान्दो,८.६.३ कठो २.५.१६)** ब्रह्मविद् जब मृत्यु को प्राप्त होता है, तब उसका तेजयुक्त सूक्ष्म शरीर (जिसमें प्राण, मन, इन्द्रियाँ आदि लीन हैं) हृदय से होकर शरीर को त्याग करता है। हृदय ही उसका स्थान (ओक:) है, और वहीं से निकलने वाला तेज (प्रकाश) ही निष्क्रमण का द्वार बनता है। इस विषय मे श्रुति प्रमाण हैं **''स एतास्तेजोमात्रः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति'' (बृह. उ. 4.4.1) ''तस्य हैतस्य हृदयं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति'' (बृह. उ. 4.4.2)** इस प्रकार ब्रह्मविद्या के सामर्थ्य, उसके अभ्यास की स्मृति और हृदयस्थ उपास्य ब्रह्म की अनुकम्पा से ब्रह्मविद् आत्मा सही मार्ग से शरीर से बाहर निकलती है। हृदय से 101 नाड़ियाँ निकलती हैं। उनमें से केवल एक नाड़ी- जो मस्तक (मूर्धा) की ओर जाती है -वही आत्मा को ऊर्ध्वगति प्रदान करती है। उसी से जाने वाला ब्रह्मविद् अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त करता है। **''शतं चौक च हृदयस्य नाड्यः तासां मूर्धानम् अभिनिःसृतैका, तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वम् एति... ''**(छान्दोग्य 8.6.3; कठोपनिषद् 2.5.16) बाकी 100 नाड़ियाँ अविद्या की योनियों (पुनर्जन्म के मार्गों) में ले जाती हैं। ब्रह्मविद् केवल उस एक विशेष नाड़ी से जाता है जो ब्रह्मगति की ओर है।

विषय	**विवरण**
ओकः (स्थान)	आत्मा का प्रस्थान बिंदु-हृदय
अग्रज्वलनम्	मृत्यु के समय आत्मा के निकलते हुए तेज का चमकना

प्रकाशित द्वार	वही तेज आत्मा के निष्क्रमण का मार्ग बनता है
ब्रह्मविद्या का प्रभाव	आत्मा को ऊर्ध्वगति देने में सक्षम
गत्यनुस्मृति योग	पूर्व अभ्यास की स्मृति आत्मा को उचित दिशा देती है
हार्दानुग्रह	उपास्य ब्रह्म (हृदयस्थ) की कृपा आत्मा को ऊर्ध्वमार्ग में स्थापित करती है
शताधिक नाड़ी	101 नाड़ियों में से 1 –मूर्धा की ओर जाने वाली–मोक्षदायक
अन्य नाड़ियाँ	अविद्वानों के लिए अन्य गतियाँ (पुनर्जन्म)

जीव रश्मि के माध्यम से बाहर निकलकर ब्रह्म की ओर यात्रा करता है। यदि कोई व्यक्ति रात के समय मृत्यु को प्राप्त होता है, तो उस स्थिति में क्या होता है?–। **निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च (४.२.१९) (निशि न-इति चेत्) मूर्धन्यया नाडङ्घा विदुषो निष्क्रमणं यद्रश्म्यनुसारि प्रदर्शितं तत्ऽलु दिने भवितुमर्हति निशि निष्क्रममाणस्य न भवेदिति चेदुच्यते तर्हि (न) न वक्तव्यम् (सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात्) सूर्यरश्मिसम्बन्धस्य देहेन सह निरन्तरवर्तमानत्वात् (दर्शयति च) दर्शयति च श्रुतिर्देहे सर्वदा रश्मिसम्बन्धस्य वर्तमानत्वम् ''एवमेवैता आदित्यरश्मयः अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ताः, आभ्यो ना डीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः'' (छान्दो ८.६.२)** इसका समाधान सूत्र देता है:सूर्य की रश्मियाँ केवल बाह्य दृष्टि से दिन में दिखती हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध सूक्ष्म रूप में शरीर की नाड़ियों से हमेशा बना रहता है। इसलिए चाहे मृत्यु दिन में हो या रात में, ब्रह्मविद् आत्मा रश्मियुक्त मार्ग से ही ब्रह्म की ओर जाती है। सूर्य की रश्मियाँ शरीर की नाड़ियों में प्रवेश करती हैं और वहीं से पुनः सूर्य की ओर लौटती हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि संपर्क निरंतर है, यह केवल दिन-रात्रि की भौतिक उपस्थिति पर निर्भर नहीं।

ब्रह्मविद् की आत्मा दक्षिणायन काल या रात्रि में मरने पर भी सूर्यरश्मियों के माध्यम से ब्रह्मलोक को प्राप्त करती है। रश्मि सम्बन्ध सर्वदा बना रहता है जैसा पिछले सूत्र (४.२.१९) में कहा गया: ''सूर्यरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात्'' जब तक शरीर है, रश्मियों का सम्बन्ध निरंतर बना रहता है। इसलिए रात्रि या दक्षिणायन में भी मृत्यु होने पर आत्मा रश्मियों द्वारा ब्रह्म की ओर जाती है। श्रुति प्रमाण मिलता हैं **''स एनान् ब्रह्म गमयति, एष देवपथो ब्रह्मपथः, एतेन प्रतिपद्य माने इमं मानवम् आवर्तं न आवर्तन्ते''**(छान्दोग्य उपनिषद् ५.१०.१) पूर्वप्रमाणों के कार और दक्षिणायन (सूर्य का दक्षिण गमन काल होने पर भी **''ब्रह्मविद् इस रश्मियुक्त देवपथ से ब्रह्म की ओर जाता है और फिर संसार में लौटता नहीं।''** यह व्यवस्था योगियों के लिए कही गई है यह स्मृति ग्रन्थों में वर्णित है

(जैसे गीता) और ये नियम स्मार्त (स्मृति-आधारित) हैं, गीता के अनुसार-

''अग्निज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्...''

''धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्...' (गीता 8.24-25)

यहाँ तो दिन, रात्रि, उत्तरायण, दक्षिणायन के अनुसार ब्रह्मगति या पुनर्जन्म की बात कही गई है। तो क्या ब्रह्मविद को रात्रि में मृत्यु होने पर ब्रह्मप्राप्ति नहीं होगी? ''यह स्मृति का नियम है, श्रुति का नहीं'' यह गीता का उपदेश है, जो स्मृति ग्रन्थों में आता है। वेदान्त में मुख्य प्रमाण श्रुति (उपनिषद्) को माना गया है। इसलिए गीता में दिए गए दिन-रात्रि आदि के नियम केवल योगसाधकों ।

इकाई-3

ब्रह्मोपासक विद्वानों का शरीर से उत्क्रमण होने के पश्चात् अर्चि आदि से युक्त देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक गमन।

जब ब्रह्मविद् (ब्रह्मोपासक) व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त होता है, तो उसकी आत्मा शरीर से मूध र्ा नाड़ी (सिर के ऊपर स्थित नाड़ी) से बाहर निकलकर प्रकाश के मार्ग से ब्रह्मलोक की ओर जाती है। यह मार्ग अर्चिरादि मार्ग (प्रकाश से आरंभ होने वाला मार्ग) कहलाता है, जिसे देवयान मार्ग भी कहा जाता है। अब इस का विषय निरूपण कर रहे -**अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ४.३.१ (अर्चिरादिना) ब्रह्मोपासकानां विदुषां शरीरादुत्क्रान्तिर्मूर्धन्यया नाड्या प्रदर्शिता, अपि च तदानीं ते रश्म्यनुसारिणो भूत्वा ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्युक्तम् । ते कया रीत्या गच्छन्तीत्युच्यते । अर्चिरादिना-देवयानपथे वर्तमानैरर्चिरादिभिरवलम्बनैः, तद्यथा- ''तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदघ्येति मासाँस्तान् ॥ मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्थाः'' (छान्दो ५.१०.१.२) स एषोऽर्चिरादिना निर्दिष्टः पथक्रमः (तत्प्रथितेः) तस्य प्रसिद्धेरनेकत्र ग्रन्थभागेषु प्रतिपादनात् पथनाच्च राजमार्गवत् प्रायो ब्रह्मविरनुकरणीयत्वात् । तत्रैकं तु स्थलमिदमुदाहृतमेवाथ चान्यं स्थलद्वयमपि प्रदर्श्यते ''---- अर्चिषमेव सम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदघ्येति मासाँस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः'' (छान्दो ४.१५.६) ''ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषो[हरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षण्मासानुदघ्यादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान् वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति'' (बृह६.२.१५) ।**

छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में बताया गया है कि इस मार्ग का क्रम इस प्रकार है:

अर्चिस् (प्रकाश) -

अहः (दिन) -

शुक्ल पक्ष -

उत्तरायण -

षड्मास (गर्मी के 6 महीने) -

संवत्सर (वर्ष) -

आदित्य (सूर्य) -

चन्द्रमा -

विद्युत् (बिजली) -

दैवी पुरुष -

ब्रह्मलोक (मोक्ष की स्थिति)

यह मार्ग श्रद्धा और सत्य से युक्त उपासना करने वाले ब्रह्मविद् को प्राप्त होता है। इस पथ को श्रुति में "प्रथित" = प्रसिद्ध कहा गया है। जैसे राजमार्ग सबसे प्रमुख और सीधा मार्ग होता है, वैसे ही यह आत्मा की परमगति का सुनिश्चित मार्ग है। यह मार्ग पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति दिलाता है।

अच्छा, ठीक है वह यह अर्चि आदिवाला देवयान मार्ग विद्वानों का ब्रह्मलोकगमन के लिये प्रथित होने से वास्तविक है। किन्तु बृहदारण्यकोपनिषद् में जो अर्चि आदि वाला मार्ग उपदिष्ट किया जाता है शरीर से उत्क्रमण करते हुए का, उस में भेद भी प्रतिपादित किया है-**''ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽचिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहः------''** (बृह 6/2/15)=वे जो इस प्रकार जानते है वन में श्रद्धा = सत्य को सेवन करते हैं, वे अर्चिः-किरण में सङ्गति करते हैं। यह अर्चि आदि वाला मार्ग उपदिष्ट किया है यह वो प्रथित है=प्रसिद्ध है, छान्दोग्योपनिषद् में भी उसके वर्णन है, किन्तु बृहदारण्यकोपनिषद् में पुनः **''यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति तहमै तद् विजिहीते याथा रथचक्रस्यऽतेन ऊर्ध्वमाक्रमते''** (5/10/1) अर्थात जब आत्मा इस लोक से प्रयाण करता है तो वायु को प्राप्त करता है। वायु को प्राप्त होने की सङ्गाति कैसे हो, इस पर कहते हैं- वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम्।(४.३.२) (वायुम्-अब्दात्) वायुं प्राप्नुवन्ति तेऽब्दात्संवत्सरादूर्ध्वम्, इत्येषा वायुगमनसङ्गतिः । यदुक्तम् **''मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम्''** (छान्दो.५.१०.२) तदत्र संवत्सरादित्ययोर्मध्ये 'वायुम्' पदमुपसंहर्तव्यम् । 'संवत्सराद् वायं् वायोरादित्यम्' इति। कुतः (अविशेषविशेषाभ्याम्) उभयत्रविशेषविशेषाभ्यां वचनाभ्याम्, उभयत्र प्रकरणयोर्विशेषाविशेषवचने विद्येते । बृहदारण्यक में कथित वायु को , छान्दोग्य में कथित अब्द (संवत्सर) के पश्चात् जानना चाहिए अर्थात् संवत्सर से वायु को, वायु से आदित्य को प्राप्त करता है । क्योंकि (अविशेषविशेषाभ्याम्) दोनों में अविशेष और विशेष वचनों के द्वारा। दोनों प्रकरणों में अविशेष और विशेष वचन हैं। छान्दोग्य और बृहदारण्यक में अविशेष(समान) अर्चिः आदि क्रम है- तथा दोनों ओर विशेष अर्थात् भेद भी है **''तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभि-सम्भवन्ति------'' (छान्दो 5/10/2) ''ते य एवमेतद् विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासतेऽचिरभिसम्भवन्ति-----'' (बृह 6/2/६/15)**=यह समान वर्णन है, कि बृहदारण्यक में संवत्सर शब्द नहीं हैं, देवलोक अधिक है तथा छान्दोग्य में देवलोक नहीं है संवत्सर शब्द अधिक है। अर्चि आदि वाला क्रम तो समान है, अतः अर्चि आदि वाले क्रम की प्रसिद्धी होती है। विशेष भी दोनों में वैसा ही है, इसलिये दोनों की

एकवाक्यता बनती है। तब बृहदारण्यकोपनिषद् के दूसरे स्थान में पढ़े हुए 'वायु' पद की संवत्सर के पश्चात् उपसंहार से एकवाक्यता है। वायुलोक का उपसंहार तो कह दिया परन्तु **'स एतं देवयानं पन्थानमापद्यगिलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रज. ापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्**------' (कौषी 1/3) यहां कहे वरुण लोक आदि लोकों का सिन्निवेश कहां करना चाहिए ? इस पर कहते हैं- **तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ४.३.३(तडितः-अधि, वरुणः) विद्युतः पश्चाद् वरुणो वरुणादिसमुदायो निवेश्यः, कुतः (सम्बन्धात्) परस्परसम्पर्कात्। वरुणस्याकाशे व्याप्तस्य जलस्य विद्युता सह सम्बन्धात् ''आपो यच्च वृत्वाऽतिष्ठस्तद्वरणोऽभवत्तं वा एनं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण'' (गो १.७) इत्यनेनाकाशे व्याप्तो वर्षणाभिमुखो जलराशिर्वरुणः । तस्य विद्युता सह सम्बन्धो यथा चोक्तम्-''विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति'' (छान्दो ७.११.१) एवं विद्युतोऽनन्तरं वरुणलोकस्तत्सम्बद्धोऽग्रिमो वर्गश्चोपसंहर्तव्यः ।** ब्रह्मज्ञान प्राप्त उपासक की आत्मा मरण के बाद अर्चिरादि मार्ग (प्रकाशमय देवयान पथ) से होकर ब्रह्मलोक की ओर यात्रा करती है। इस मार्ग में एक चरण आता है जिसे "विद्युत्" अर्थात् बिजली कहा गया है। अब प्रश्न उठता है- विद्युत् के बाद आत्मा किस लोक में जाती है? बिजली के बाद वरुण लोक आता है, क्योंकि बिजली (विद्युत्) और जल/आकाश का आपसी सम्बन्ध है। वेदों के अनुसार प्रमाण छान्दोग्य उपनिषद् (७.११.१) में कहा गया है: ''विद्योतते, स्तनयति, वर्षिष्यति'' बिजली चमकती है, बादल गड़गड़ाते हैं, वर्षा होने वाली है। अर्थात् बिजली और जल (या वर्षा) के देवता वरुण का प्राकृतिक सम्बन्ध है। गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है: ''आपः यच्च वृत्वा अतिष्ठन् तद् वरुणः...'' जब जल आकाश में व्याप्त होता है, तो उसे परोक्ष रूप से वरुण कहा जाता है।

क्या अर्चिस्, दिन, शुक्ल पक्ष आदि स्थूल लोक या पड़ाव हैं? नहीं। आत्मा की चेतन गति के सूक्ष्म अवस्था हैं। वे ''आतिवाहिक'' हैं- अर्थात् आत्मा को आगे बढ़ाने वाली सूक्ष्म देवशक्तियाँ। **"चन्द्रमसो विद्युतं, तत्पुरुषो मानवः स एनान् ब्रह्म गमयति"** (छा.उ. ५.१०.१-२)- यहाँ बताया गया कि विद्युत् के बाद एक दिव्य पुरुष आत्मा को ब्रह्मलोक ले जाता है। आत्मा जब शरीर से निकलती है, तो सूर्यरश्मियों की तरह तेजोमय गति से यात्रा करती है। यह गति क्षणभर में होती है -**"स यावत्क्षिप्येन्मनः"**(छान्दो ८.६.५)- जितनी देर में मन एक विचार करे, उतनी देर में आत्मा ब्रह्मलोक पहुँच जाती है। इसलिए ये सभी चरण अर्चिस्, अह, उत्तरायण, आदि मानसिक और सूक्ष्म शक्तियों के प्रतीक हैं। उपनिषद् और शास्त्रों से पुष्टि मिलति है **"पुरुषो मानसः"** (बृह.उ. 6.2.15) -यह मानसिक पुरुष यानी सूक्ष्मदेह ही आत्मा को ब्रह्मलोक तक ले जाता है। सांख्यशास्त्र में भी कहा गया है **"न स्थूलम् इति नियमात् आतिवाहिकस्य अपि विद्यमानत्वात्" आतिवाहिक सूक्ष्मदेह होता है, स्थूल नहीं। क्यो आतिवाहकों के साहायता लेते हैँ- ''उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः''(उभयव्यामो हात्) देहादुत्क्रममाणानां यानि साधनभूतानि कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि च तेषामुभयेषां व्यामोहः सम्पूच्छेनं भवति तदानीं त आत्मानः सम्पिण्डितेन्द्रियग्रामाः सन्तः किमपि कर्तुमक्षमा भवन्ति तस्मात् (तत्सिद्धेः) तेषामातिवाहिकानां सिद्धिवाच्नीया, अतो युक्तमुक्तम् ।** ब्रह्मविद् की आत्मा

जब देह त्याग करती है, उस समय उसके ज्ञान और कर्म इन्द्रियाँ (इन्द्रियग्राम) भ्रमित (व्यामोहित) हो जाती हैं। इस स्थिति में आत्मा स्वयं मार्ग को नहीं जानती। इसलिए उसकी सहायता के लिए आ. तिवाहिक शक्तियाँ (प्रकाश पथ पर अग्रसर करने वाली सूक्ष्म देव शक्तियाँ) की आवश्यकता होती है। ''**वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः**'' देहत्याग के बाद आत्मा विद्युत् (बिजली) के रूप में तेजयुक्त होकर चलती है। श्रुति कहती है- ''**चन्द्रमसो विद्युतं, तत्पुरुषो मानवः, स एनान् ब्रह्म गमयति**'' (छान्दोग्य उपनिषद् ५.१०.१) विद्युत् के माध्यम से एक दैवीपुरुष आत्मा को ब्रह्मलोक तक ले जाता है। यह गति तेजोमय और अतिसूक्ष्म होती है।

उपनिषद् में 'ब्रह्म गमयति' इस वाक्य में 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ क्या है ?

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः (कार्यं बादरिः) यच्चोक्तमुभयव्यामोहादनन्तरं वैद्युतेन तेजोधर्मेण प्रेर्यमाणास्त आत्मानो ब्रह्म गच्छन्ति ''चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति'' (छान्दो ५.१०.२) अत्र ब्रह्म गन्तव्यमुक्तं तन्न परं ब्रह्म परमात्मा, किन्तु ब्रह्मलोकाख्यं कार्यमस्तीति बादरिराचार्यो मन्यते। कुतः (अस्य गत्युपपत्तेः) अस्य यथोक्तस्य ब्रह्मणो ब्रह्मलो. कस्य गमनोपदेश उपपत्तुमर्हति न सर्वगतस्य परब्रह्मणः ॥

यहाँ आचार्य बादरि का मत है कि "ब्रह्म गमयति" (छा.उ. ५.१०.२) जैसे वाक्य में 'ब्रह्म' शब्द से तात्पर्य परब्रह्म (निर्गुण) नहीं, अपि तु कार्य ब्रह्म यानी ब्रह्मलोक है। क्यों? क्योंकि गति (यात्रा) केवल किसी सीमित स्थान की ओर हो सकती है, जैसे ब्रह्मलोक। परब्रह्म तो सर्वव्यापक है– वहाँ 'जाना' या 'गमन' जैसा कोई अर्थ नहीं लगाया जा सकता। **विशेषितत्वाच्च । (विशेषितत्वात्-च) अथ च तथैव बृहदारण्यकोपनिषदि विशेषितमस्ति ब्रह्मलोकशब्देन ''पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलो. कान् गमयति'' बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है: ''पुरुषो मानसः एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति'' (बृ.उ. ६.२.१५)** यहाँ 'ब्रह्मलोक' शब्द स्पष्ट रूप से आया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि छान्दोग्य उपनिषद् में भी जब 'ब्रह्म गमयति' कहा गया, तो उसका अर्थ ब्रह्मलोक ही है। यदि छान्दोग्य में 'ब्रह्मलोक' नहीं लिखा गया, केवल 'ब्रह्म' लिखा गया, तो उसका कारण क्या है? यह सामीप्य कालिक (क्रमानुसार) है, न कि दैशिकि। अर्थात ब्रह्मलोक ही वह अंतिम स्थान है, जिसके बाद आत्मा परब्रह्म को प्राप्त करती है– इसलिए वहाँ 'ब्रह्म' शब्द प्रयुक्त है। जब ब्रह्मविद् आत्मा ब्रह्मलोक में रहकर फल भोग समाप्त कर लेती है, तब वह ब्रह्मलोक से आगे बढ़ती है उस समय दैवीपुरुष, जो सूक्ष्मशरीरधारी (मानस पुरुष) है, आत्मा को परब्रह्म तक ले जाता है यहाँ 'ब्रह्म' का अर्थ परब्रह्म है, जो ब्रह्मलोक से आगे प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी यह सिद्धान्त स्पष्ट है **''आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'' (गीता ८.१६)** ब्रह्मलोक तक भी पुनर्जन्म संभव है लेकिन **''परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्''**– अंततः परब्रह्म में ही मोक्ष होता है।

बादरि आचार्य के अनुसार, ''ब्रह्म गमयति'' वाक्य में ''ब्रह्म'' शब्द का अर्थ ब्रह्मलोक है। उनका तर्क है कि यह गमन (प्राप्ति) एक विशेष स्थान की ओर है, । इस मत के अनुसार, आत्मा विद्युत मार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त होती है, जहाँ वह ब्रह्मदर्शन का अनुभव करती है। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी ''ब्रह्मलोक'' शब्द का प्रयोग इसी संदर्भ में हुआ है।

जैमिनि आचार्य का तर्क है कि उपनिषदों में ''ब्रह्म'' शब्द का प्रयोग परब्रह्म के लिए ही होता है, और ''गमयति'' क्रिया से आत्मा की परब्रह्म की ओर गति का संकेत मिलता है। इस मत के

अनुसार, आत्मा विद्युत मार्ग से परब्रह्म को प्राप्त होती है।

बादरायण आचार्य ने इन दोनों मतों का समन्वय करते हुए कहा कि ‘‘ब्रह्म’’ शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों में हो सकता है, और आत्मा की गति ब्रह्मलोक के माध्यम से परब्रह्म की ओर होती है। इस प्रकार, ब्रह्मलोक एक मध्यवर्ती अवस्था है, जहाँ आत्मा ब्रह्मदर्शन का अनुभव करती है, और अंततः परब्रह्म को प्राप्त होती है।

इकाई-4

मुक्त की निजचैतन्य रूप में अवस्था

मुक्त जीव स्वरूप कैसे होता हैं- **सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् (४.४.१) (सम्पद्य स्वेन-आविर्भावः) ब्रह्मोपासको विद्वान् खलु शरीरादुत्क्रम्य ब्रह्मणि सम्पद्यते संविशति तत्र सम्प. त्ति संवेशं लब्ध्वा स तस्य स्वेन रूपेणाविर्भावः प्रकटीभावो भवति । कुतोऽवगम्यते (शब्दात्) तद्विषयक-श्रुतिवचनात् ''एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'' (ब्र. मु .भा)** । उपनिषदों में यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि जब कोई ज्ञानी व्यक्ति शरीर का त्याग करता है, तो वह ब्रह्म में समाहित हो जाता है। इस प्रक्रिया को ''सम्पत्ति'' कहा जाता है, जिसका अर्थ है ब्रह्म में प्रवेश करना। इसके पश्चात्, वह आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकट होती है। **''स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते''** अर्थात् आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होती है। उदाहरण के लिए, छांदोग्य उपनिषद (8.12.3) में कहा गया है**: ''एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।''** अर्थात् यह आत्मा शरीर से निकलकर परम ज्योति में प्रवेश करती है और अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकट होती है। यह प्रक्रिया आत्मा की मुक्ति और ब्रह्म में एकत्व की स्थिति को दर्शाती है। कब कौन प्राप्त होता हैं- कदा कः, अत्रेच्यते-मुक्तः प्रतिज्ञानात् (४.४.२) (मुक्तः) **मुक्तः सन् । यदा मुक्तो भवति तदा। कथम् (प्रतिज्ञानात्) प्रतिज्ञातः खलु मुक्तस्तत्र ''अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः''।** उपनिषदों में यह भी बताया गया है कि आत्मा की मुक्ति उसके शरीर से अलग होने पर होती है। जब आत्मा शरीर के बंधनों से मुक्त हो जाती है, तो वह प्रिय और अप्रिय से परे हो जाती है। छांदोग्य उपनिषद (8.12.1) के अनुसार जब आत्मा शरीर रहित होती है, तब वह न तो प्रिय को अनुभव करती है और न ही अप्रिय को। यह स्थिति आत्मा की पूर्ण मुक्ति को दर्शाती है, जहाँ वह संसारिक बंधनों से मुक्त होकर ब्रह्म में विलीन हो जाती है। उपनिषदों में ''सम्प्रसाद'' शब्द का प्रयोग आत्मा के लिए किया गया है, विशेष रूप से सुषुप्ति (गहरी नींद) की अवस्था में। छांदोग्य उपनिषद (6.8.1) में कहा गया है**: ''तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाच।''** अर्थात् जब व्यक्ति गहरी नींद में होता है, तब वह सम्प्रसन्न (पूर्ण रूप से शांत) होता है और स्वप्न नहीं देखता। यह अवस्था आत्मा की वास्तविक स्थिति को दर्शाती है, जहाँ वह संसारिक अनुभवों से परे होती है।

जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त करके मोक्ष मे किस अवस्था मे रहता है इसका वर्णन करते हैं-**अविभागेन दृष्टत्वात (४.४.४)। (अविभागेन) तत्र परमात्मनि मुक्तात्माऽविभागेन ताद्धर्म्यैण, दुग्धे जलमिवावतिष्ठते (दृष्टत्वात्) श्रुतौ दृश्यते तस्मात् ''यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति''(ब्र. मु .भा)** । छांदोग्य उपनिषद के अनुसार जब ज्ञानी पुरुष शरीर का परित्याग

करता है, तो वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है। यह विलयन ''स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'' के रूप में वर्णित है, अर्थात् आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट होती है। यह स्थिति आत्मा की पूर्ण मुक्ति को दर्शाती है, जहाँ वह ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाती है। ब्रह्मसूत्र में बादरायण ऋषि ने जैमिनि और औडुलोमि आचार्यों के मतों का समन्वय किया है। जैमिनि के अनुसार, **(ब्राह्मण जैमिनिः) (४.४.५) ब्राह्मण धर्मेणावतिष्ठते मुक्त इति जैमिनिराचार्या मन्यते । कुतः (उपन्यासादिभ्यः) उपन्यस्यते उपक्षिप्यते दृष्टान्तेनोपपाद्यते यो विचारः स उपन्यासः, आदिना फलव्यवहारौ च गृह्येते (ब्र. मु .भा) ।** मुक्त आत्मा ब्रह्म में ब्राह्मी धर्मों के साथ स्थित होती है, जैसे कि दया, आनंद आदि। औडुलोमि के अनुसार, **(चितितन्मात्रेण) (४.४.६) स एष मुक्तात्मा मुक्तौ चितितन्मात्रेणावतिष्ठते ''चितिरेव पुरुषः''(योग.व्यासः) आत्मा हि चितिश्चेतनत्वात्, आत्मत्वमात्रेण चौतन्यमात्रेणावतिष्ठते न हि तत्रचेतनत्वसंस्पर्शी विद्यते । कुतः (तदात्मकत्वात्) तस्य चेतनस्वरूपत्वात्, (ब्र. मु .भा)।** मुक्त आत्मा केवल चौतन्य स्वरूप में स्थित होती है, अर्थात् वह केवल चेतना मात्र होती है। बादरायण ने इन दोनों मतों का समन्वय करते हुए कहा है कि मुक्त आत्मा ब्रह्म में स्थित होकर ब्राह्मी धर्मों को प्राप्त करती है और साथ ही अपने चौतन्य स्वरूप में भी स्थित रहती है। उपनिषदों में विभिन्न स्थलों पर आत्मा की मुक्ति और ब्रह्म के साथ उसकी एकता का वर्णन मिलता है। जैसे कि छांदोग्य उपनिषद में कहा गया है, **''यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति''**, अर्थात् जैसा व्यक्ति इस लोक में संकल्प करता है, वैसा ही वह परलोक में होता है। यह दर्शाता है कि ब्रह्म का उपासक ब्रह्मधर्मी बनता है और मुक्ति प्राप्त करता है। मुक्त आत्मा को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती है। छांदोग्य उपनिषद में कहा गया है, **''सत्यकामः सत्यसंकल्पः''**, अर्थात् वह सत्यकाम और सत्यसंकल्प होता है। उसे सभी लोकों में स्वतंत्र रूप से विचरण करने की क्षमता प्राप्त होती है। यह स्थिति आत्मा की पूर्ण स्वतंत्रता और ब्रह्म के साथ उसकी एकता को दर्शाती है।

मुक्त जीव की शरीर स्थितिः एक विवेचन

सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः(४.४.८) (सङ्कल्पात् एव तु) जैमिनिमते खल्वात्मा मुक्तावस्थायां ब्राह्मण रूपेणावतिष्ठते तत्र ब्राह्मे रूपे तस्य यत्कामचारित्वमैश्वर्यं भवति ''तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'' (छान्दो) तत्खलु सङ्कल्पादेव तु भवति न हि प्रयत्नमपेक्षते न च सङ्कल्पमन्तरेण तत्र मुक्तौ भवति साङ्कल्पिकं शरीरं तथा हि दयानन्दर्षिणाऽपि प्रतिपादितम्। (तच्छ्रुतेः) तस्य श्रुतिवचनात् सिद्धयतीदम्, अस्ति श्रुतिः- ''यं यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते'' (छान्दो) ''श्रृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनो---- भवति'' (ब्र. मु .भा)

जैमिनि मुनि का मानना है कि मुक्त अवस्था में जीवात्मा ब्रह्म रूप में स्थित होती है, और उसे सिर्फ संकल्प से ही इच्छित शरीर, रूप या स्थान की प्राप्ति हो जाती है। वह किसी बाहरी प्रयास या स्थूल शरीर पर निर्भर नहीं होती। उपनिषद् में कहा गया है- **''यं यं कामं कामयते स संकल्पादेव समुत्तिष्ठति''**- अर्थात मुक्त पुरुष जो-जो इच्छा करता है, वह उसे केवल संकल्प से ही प्राप्त हो जाती है। इस कारण से वह किसी और पर निर्भर नहीं रहता, स्वयं ही अपने इच्छाओं का अधिपति होता है। उसे कोई बाधा नहीं, वह पूर्णतः स्वतंत्र है। यह स्थिति स्वराज्य की होती है- **''स स्वराट् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति''**- वह स्वराज्य प्राप्त करता है, सभी लोकों में उसकी इच्छा से गमन संभव होता है।

अभावं बादरिराह ह्येवम्। (४.४.१०) (अभावं बादरिः) यदुक्तं सङ्काल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ''यं यमन्तर्माभकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य सघ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति'' (छान्दो) न हि प्रयत्नमपेक्षते इति भवतु युक्तं तत्रऽलु प्रयत्नसाथ नस्य तन्वः शरीरस्या भावं बादरिः पाराशरो मन्यते ''तन्वभावे'' इति सूत्रवर्णनादत्र तनुप्रसङ्गो विज्ञेयः (एवं हि-आह) एवं हि श्रुतिर्वदति-''मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते'' (छान्दो) तत्र मनसा रमते न शरीरेणेति स्पष्टम् (ब्र. मु. भा)

बादरि ऋषि इस मत का खंडन करते हैं। वे कहते हैं कि शरीर के बिना यह संकल्प संभव नहीं। श्रुति में उल्लेख है कि मुक्त पुरुष मन से आनंद लेता है, न कि शरीर से - **''मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते'' (छान्दो ८.१२.५)**- यहाँ रमण क्रिया मन से हो रही है। जैमिनि पुनः कहते हैं- सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व है। जैमिनि का उत्तर है कि मुक्त जीव के पास सूक्ष्म शरीर होता है, जो संकल्प द्वारा कार्य करता है। **''स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा भवति'' (छान्दो ७.१३.१-२)** - यह विविध शरीरों की प्राप्ति का संकेत है, जिससे स्पष्ट है कि सूक्ष्म रूप में शरीर का अस्तित्व है। बादरायण मुनि दोनों पक्षों को स्वीकारते हैं। वे कहते हैं कि मुक्त अवस्था में स्थूल शरीर नहीं रहता लेकिन सूक्ष्म शरीर रहता है। ठीक वैसे ही जैसे द्वादशाह यज्ञ में दोनों प्रकार के विध ान संभव होते हैं - सतत और असतत। जैसे स्वप्न में हम बिना स्थूल शरीर के विभिन्न अनुभव

करते हैं, वैसे ही मुक्त जीव सूक्ष्म शरीर से संकल्पमात्र से कार्य करता है। यदि सूक्ष्म शरीर है तो यह कार्य जाग्रत अवस्था के समान स्पष्ट होता है। जैमिनि आदि मनीषियों का मत है कि जैसे एक प्रदीप (दीपक) अपने प्रकाश से सामने के पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही मुक्त आत्मा अपनी संकल्पशक्ति और ब्रह्मरूप ऐश्वर्य से मन, वाणी, कर्म आदि इंद्रियों और माध्यमों को प्रकाशित करती है। इसीलिए सूत्र कहता है - **''प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति''(४.४.१५) (प्रदीपवत्-आवेशः) यथा प्रकाशकः प्रदीपः प्रकाश्येषु वस्तुषु स्वप्रकाशेनाविश्य तानि प्रकाशमयानि रूपवन्ति करोति तद्वदेष आत्मा मुक्तावस्थायां प्राप्तैश्वर्यः सन् साङ्काल्पिकानि मनोवागादीन्यङ्गानि प्रकाशयति प्रकटयति (तथा हि दर्शयति) तथा हि श्रुतिर्दर्शयति ''तस्य आत्मतो मन अत्मतो वाग्---- आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्व-मिति---- सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति हि सर्वशः'' (ब्र. मु. भा)** अर्थात् दीपक के समान आत्मा अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित करती है, और यह तथ्य उपनिषदों द्वारा प्रमाणित भी होता है। मुक्त आत्मा का मन, वाणी और कर्म स्वयमुत्पन्न होते हैं- वे किसी बाहरी सत्ता पर आश्रित नहीं होते। यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि यदि आत्मा इतना प्रकाशमान, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है तो फिर उपनिषद् में यह क्यों कहा गया है कि: **''अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्''** (बृहदारण्यक ४।३।२१) **''यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तत्केन कं पश्येत्''**(बृहदारण्यक २।४।१४) इन वाक्यों में आत्मा को जैसे अज्ञानी, चेतनशून्य बताया गया है न वह बाहर को जानता है, न भीतर को। इस शंका का समाधान सूत्र देता है **''स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि''४.४.१६ (स्वाप्ययसम्पत्त्योः-अन्यतरापेक्षम्) तदित्थमज्ञ. ानवत्त्वमात्मनो यदुक्तं तत्खलु स्वाप्ययस्य सुषुप्तेः सम्पत्तेश्चान्यतरां काञ्चिदेकामपेक्ष्यैवास्ति(आविष्कृतं हि)एतत्तत्रविष्कृतं स्पष्टं प्रकटितं विद्यते हि। तद्यथा-''अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना---- न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्----'' (बृह) अत्र प्रक्रियते स्वाप्ययः सुषुप्तिः- ''यत्र सुप्तो न कश्चन कामं कामयते न स्वप्नं पश्यति'' (बृह 4/3/18) यत्र च ''केन कं विजानीयात्----'' (बृह) इत्युक्तं तत्र सम्प. त्तिः प्रकृता विद्यते-''विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति'' (बृह) ऐश्वर्ययोगस्तु मुक्तावुक्तः तस्मान्न दोषः ॥**

अर्थात् आत्मा की ''अज्ञानी'' स्थिति जो बताई गई है, वह सुषुप्ति (गहन निद्रा) अवस्था को सूचित करती है। इन श्रुतियों में मोक्ष की नहीं,अपि तु निद्रा की चर्चा है- जहाँ इन्द्रियाँ और मन कार्य नहीं करते। उदाहरण के लिए, उपनिषद् कहता है **''यत्र सुप्तः न किञ्चन कामं कामयते, न किञ्चन स्वप्नं पश्यति''** (बृह० ४।३।१८) यह स्पष्टतः निद्रा की अवस्था है। वहीं दूसरी ओर, मोक्ष में आत्मा ''विज्ञानघन'' (शुद्ध चेतना का पुंज) होती है- **''विज्ञानघन एव''** (बृह० ४।५।१३) वह समस्त ज्ञान और ऐश्वर्य से युक्त होती है, और किसी प्रकार की अज्ञानता उसमें नहीं होती।

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च (४.४.१७) । (जगद्व्यापारवर्जम्) मुक्तानामैश्वर्यं खलु जगद्व्यापारवर्जं भवति जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यत्साङ्काल्पिकाङ्गाधारणं लोकेषु कामचारश्च यथोक्तं पूर्वं सर्वं भवति न तु जागद्रचनाधारणसंहारास्तैः कर्तुं शक्यन्ते। कुतः

(प्रकरणात्-असन्निहितत्वात्-च) जगद्रचनप्रकरणं स हीश्वरः प्रकृतः ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म'' (तै.उ) अथ चासन्निहितत्वाज्जगद्रचनादिप्रकरणे मुक्तानां यद्वा मुक्तानां प्रकरणे जगद्रचनादिकस्य सान्निध्यं नास्ति। तथा मुक्तानामपि परस्परं विचारसान्निध्याभावाद् यतस्ते न तत्र नगरनिवासवत्सङ्गसो निवसन्ति किन्त्वनन्ते परमेश्वरे ते मोक्षानन्दं भुजतेऽव्याहतगतयः स्वस्वसघङ्कल्पे स्वतन्त्रश्च सन्ति। (ब्र मु भा)

मुक्त आत्मा, जो बंधन से मुक्त होकर ब्रह्मस्वरूप हो चुकी होती है, उसे भी ब्रह्म के समान अनेक प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। जैसे-विभिन्न लोकों में स्वतंत्र रूप से विचरण करने की शक्ति, इच्छानुसार रूप धारण करने की क्षमता, अणिमा, महिमा आदि योगिक शक्तियाँ। परंतु ये सब ऐश्वर्य जगत के सर्जन या संहार के कार्य में नहीं लगते। वे न तो सृष्टिकर्ता होते हैं, न संहारक, न ही पालक। यह कार्य केवल ईश्वर, अर्थात् परम ब्रह्म का होता है। कारण क्या है? प्रकरण का संकेत (संदर्भ का अर्थ) ब्रह्मसूत्र के इस भाग में मुख्य चर्चा ईश्वर की है, क्योंकि वह जगत का मूल कारण है- वहाँ मुक्त जीवों का प्रसंग नहीं है,। अतः उन्हें इस कार्य से पृथक् माना गया है। असन्निहितत्व मुक्त आत्माएँ ब्रह्म में लीन हो जाती हैं, वहाँ उनके बीच किसी प्रकार की व्यवहारिक निकटता या पारस्परिक संपर्क नहीं रहता। वे नगरवासियों की तरह साथ नहीं रहते, बल्कि ब्रह्मानन्द में लीन हो स्वतंत्र रहते हैं। प्रत्यक्षोपदेशादिति **चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः(४.४.१८) ॥18॥ (प्रत्यक्षोपदेशात्-इति चेत्) जगद्व्यापारवर्जमिति मुक्तानामैश्वर्यं तर्हि ''स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'' (छन्दो) ''आप्नोति स्वाराज्यम्'' (तै उ) ''सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति'' (तै उ) इति मुक्तानां पूर्णैश्वर्यापदेशः प्रत्यक्षं विद्यते पुनः कथं जगद्व्यापारवर्जनं प्रतिपाद्यते । इति चेदुच्येत तर्हि (न आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः) न वक्तव्यं यतस्तत्र न पूर्णैश्वर्यविधानं किन्तु तत्रधिका. रिकमण्डलस्थविषये सैषा खलूक्तिरस्ति कुछ उपनिषदों में ऐसा कहा गया है ''स स्वराट् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'' (छा.उ. 7.25.2) ''आप्नोति स्वाराज्यम्'' (तै.उ. 2.1.1) ''सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति''** (तै.उ. 2.1.1) (ब्र मु भा) इन सब वाक्यों से लगता है कि मुक्त आत्मा को पूर्ण ईश्वरीय अधिकार (सर्वशक्ति) प्राप्त होता है। तो फिर कैसे कहा जा सकता है कि मुक्त आत्मा को 'जगत् सृजन, पालन, संहार' का अधिकार नहीं है? इन श्रुतियों में जो 'स्वाराज्य' या 'सर्वलोकेषु कामचार' कहा गया है, वह आधिकारिक मण्डलस्थ-अर्थात् सीमित क्षेत्र में प्राप्त हुआ ऐश्वर्य है। यह ऐसा है जैसे कोई राजा अपने सीमित राज्य में स्वतंत्र होता है। परंतु ब्रह्म का जो ऐश्वर्य है, वह सभी लोकों की सृष्टि, स्थिति, लय आदि का कारण होता है-यह कार्य केवल नित्य ब्रह्म ही कर सकता है। 'आधिकारिक' का अर्थः पात्रता रखने वाला 'मण्डल' का अर्थः क्षेत् 'आधिकारिकमण डलस्थ'=वह जीव जो अपनी पात्रता के अनुसार एक विशेष क्षेत्र (लोक या अनुभूति) में स्थित है। "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"=वह मुक्त आत्मा अपनी अनुभूति के क्षेत्र (जिसे उसने अनुभव किया है) में स्वतंत्रता से विचरता है। यह अनुभूत क्षेत्र ही उसका अधिकार क्षेत्र है-उससे बाहर नहीं।

पूर्व सूत्रों में कहा गया कि मुक्त जीव जगद्रचना आदि कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि वह नित्य ब्रह्म के अधिकार क्षेत्र में है। फिर यह प्रश्न उठता है कि मुक्त जीव का ऐश्वर्य किस प्रकार का है? तो उत्तर में यह सूत्र बताता है कि विकारों (जगत् की विविधता) के भीतर ही उसका ऐश्वर्य क्रियाशील होता है–वह अपने चित्त, मन, वाणी, इन्द्रियों आदि से संबंधित वस्तुओं में स्वतंत्र होता है। उपनिषद् प्रमाणों द्वारा पुष्टि: **"स स्वराट् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"** (छा.उ. ७.२५.२) - मुक्त आत्मा सभी लोकों में स्वेच्छा से विचरण करता है। यह सब विकारयुक्त लोक हैं, अत: उसका ऐश्वर्य इन्हीं तक सीमित है। **"आप्नोति स्वाराज्यम्"** (तै.उ. २.१.१) वह स्वतंत्र राज्य प्राप्त करता है, पर यह स्वतंत्रता भी विकारों के अंतर्गत ही होती है। **"स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा भवति..."** (छा.उ. ७.२६.२)- वह अनेक रूपों में प्रकट होता है: एक, तीन, पाँच- यह रूपगत विकार ही हैं, जिनमें वह अपनी इच्छा से प्रवेश करता है। **"शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनो भवति"** (बृह.उ. ४.४.१२) –वह सुनने पर श्रोत्ररूप, मनन करने पर मनरूप होता है। यह सब विकारों के भीतर स्थित अनुभूतियाँ हैं।

परमात्मा और मुक्त जीव का ऐश्वर्य - सीमाएँ और भिन्नता

यहाँ यह प्रश्न आता है कि क्या परमात्मा का ऐश्वर्य भी विकारों तक सीमित (विकारावर्ति) होता है? उत्तर है: नहीं। परमात्मा का ऐश्वर्य सर्वव्यापक है, वह न केवल विकारों (जगत् के तत्वों) में कार्य करता है, अपितु उन सबसे परे भी है। **''यच्च किं च जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।''** - नारायण (परमात्मा) सब में भीतर-बाहर स्थित हैं। **''न तत्र सूर्यो भाति...''** (कठ.उ. 2.2.15, मुण्ड.उ. 2.2.10) - वहाँ सूर्य, चंद्र आदि भी प्रकाश नहीं देते। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा का ऐश्वर्य विकारों के अधीन नहीं बल्कि वह स्वतन्त्र, शुद्ध, निर्विकारी है। **''भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च''४.४.२१** अर्थात् मुक्त जीव और परमात्मा में साम्य केवल आनंद भोग तक सीमित है। श्रुति में कहा गया:**"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।" "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।"** इसका अभिप्राय यह है कि मुक्त जीव को परमात्मा के साथ आनंद का अनुभव अवश्य होता है, परन्तु वह परमात्मा के समान सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति विनाश का कर्ता नही बनता कर्ता नहीं बनता। उसकी स्वतंत्रता केवल आत्मिक-भोग और अनुभव तक है, । **''अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात्''** अर्थात् मुक्त जीव को फिर जन्म नहीं लेना पड़ता, क्योंकि ऐसा श्रुति का वचन है। श्रुति कहती है **''न च पुनरावर्तते।बृह ६.२.१५'' ''इमं मानवमावर्तं नावर्तंते।'' (छन्दो ४.१५.४)''तेषां न पुनरावृत्तिः(छन्दो८.१५.१)''।** ''मुक्त व्यक्ति कर्मबंधन से सर्वथा मुक्त होता है। वह फिर शरीर धारण नहीं करता, और जगद्व्यवहार में लौटकर नहीं आता।

।। ओ३म् ।।

शोध प्रविधि

MSSARE-206

दिव्य प्रकाशन

MSSARE – 206

शोध प्रविधि

Credits – 04, Marks –100 (30+70

पाठ्यक्रम के उद्देश्यः-

विद्यार्थियों को शोध की विषयवस्तु, प्रक्रिया एवं पद्धति के बारे में अवगत कराना।

शोध के महत्व एवं लाभ के संबंध में जानकारी उपलब्ध कराना।

दार्शनिक, सामाजिक एवं नैतिक क्षेत्र में शोध के लिए प्रेरित करना।

परिणामः-

- शोध की प्रक्रिया, शोध की पद्धति एवं विषयवस्तु के बारे में आनुभविक ज्ञान प्राप्त होगा।
- शोध के विभिन्न प्रकार के लाभ एवं महत्व के बारे में जानकारी प्राप्त कर उसे व्यवहारिक रूप में अपनाने में सहायता प्राप्त होगी।
- विद्यार्थियों को महत्वपूर्ण विषयों पर शोध करने का अवसर प्राप्त होगा जिससे वे उपयोगी एवं प्रांसगिक विषयों पर लघु शोध लिख सकेंगे।

खण्ड-1 शोध का अर्थ, परिभाषा एवं परिचय 1 क्रेडिट
इकाई-१ अनुसंधान का स्वरूप, शोध का तात्पर्य एवं परिभाषा, शोध के प्रकार- शुद्ध शोध, व्यवहारपरक शोध
इकाई-२ शोध के उद्देश्य, व्यवहारपरक शोध या मनोवैज्ञानिक शोध का क्षेत्र
इकाई-३ वैज्ञानिक ज्ञान और वैज्ञानिक विधि, वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरुप या विशेषताऐं
इकाई-४ साधारण ज्ञान तथा वैज्ञानिक ज्ञान में अंतर, ज्ञान-अर्जन की विधियाँ, तथ्य, परिकल्पना, सिद्धांत और नियम
खण्ड-2 शोध विधि और इसकी विशेषतायें 1 क्रेडिट
इकाई-५ वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरुप
इकाई-६ वैज्ञानिक विधि के आवश्यक तत्व
इकाई-७ एक अच्छी समस्या की विशेषताएँ या कसौटियाँ
इकाई-८ शोध समस्या के प्रकार
खण्ड-3 शोध - प्रक्रिया, शोध प्रक्रिया में निहित अवस्थाऐं या चरण 1 क्रेडिट
इकाई-९ शोध समस्या, परिचय, साहित्य समीक्षा, परिकल्पना
इकाई-१० अध्ययन-विधि, पायलट अध्ययन, परीक्षण संचालन और प्रदत्त संग्रह
इकाई-११ परिणाम एवं विवेचन
इकाई-१२ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची, शोध की रिपोर्ट तैयार करना
खण्ड ४ शोध-अभिकल्प, प्रदत्त-संग्रह प्रविधिः साक्षात्कार, शोध में नैतिक समस्याएँ एवं सिद्धान्त 1 क्रेडिट
इकाई-१३ शोध-अभिकल्प के सिद्धान्त, शोध-अभिकल्प के सिद्धान्त
इकाई-१४ शोध-अभिकल्प के प्रकार
इकाई-१५ प्रदत्त-संग्रह प्रविधिः साक्षात्कार
इकाई-१६ शोध में नैतिक समस्याएँ एवं सिद्धान्त

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ सं.
खण्ड-1 शोध का अर्थ, परिभाषा एवं परिचय	**7-27**
इकाई-1 अनुसंधान का स्वरूप, शोध का तात्पर्य एवं परिभाषा, शोध के प्रकार- शुद्ध शोध, व्यवहारपरक शोध	7
इकाई-2 शोध के उद्देश्य, व्यवहारपरक शोध या मनोवैज्ञानिक शोध का क्षेत्र	16
इकाई-3 वैज्ञानिक ज्ञान और वैज्ञानिक विधि, वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरुप या विशेषताऐं	33
इकाई-4 साधारण ज्ञान तथा वैज्ञानिक ज्ञान में अंतर, ज्ञान-अर्जन की विधियाँ, तथ्य, परिकल्पना, सिद्धांत और नियम	24
खण्ड-2 शोध विधि और इसकी विशेषतायें	**28-41**
इकाई-5 वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरुप	28
इकाई-6 वैज्ञानिक विधि के आवश्यक तत्व	33
इकाई-7 एक अच्छी समस्या की विशेषताएँ या कसौटियाँ	36
इकाई-8 शोध समस्या के प्रकार	40
खण्ड-3 शोध- प्रक्रिया, शोध प्रक्रिया में निहित अवस्थायें या चरण	**42-52**
इकाई-9 शोध समस्या, परिचय, साहित्य समीक्षा, परिकल्पना	42
इकाई-10 अध्ययन-विधि, पायलट अध्ययन, परीक्षण संचालन और प्रदत्त संग्रह	48
इकाई-11 परिणाम एवं विवेचन	51
इकाई-12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची, शोध की रिपोर्ट तैयार करना	52
खण्ड 4 शोध-अभिकल्प, प्रदत्त-संग्रह प्रविधिः साक्षात्कार, शोध में नैतिक समस्याएँ एवं सिद्धान्त	**53-70**
इकाई-13 शोध-अभिकल्प के सिद्धान्त, शोध-अभिकल्प के सिद्धान्त	53
इकाई-14 शोध-अभिकल्प के प्रकार	55
इकाई-15 प्रदत्त-संग्रह प्रविधिः साक्षात्कार	58
इकाई-16 शोध में नैतिक समस्याएँ एवं सिद्धान्त	64

प्रस्तावना

शोध एक ऐसा क्षेत्र है जो दिन प्रतिदिन नवीन दृष्टि एवं नवीन अविष्कारों के द्वारा जीवन में परिवर्तन लाता है। अत: इसे विकास का मूल आधार कहा जाता है। यह ऐतिहासिक परिणामों द्वारा भविष्य के मार्ग को प्रशस्त करता है तथा विभिन्न चुनौतियों एवं समस्याओं को गहराई से जांच पड़ताल कर सम्पूर्ण समाधान प्रस्तुत करता है। यह एक बौद्धिक, तर्कपूर्ण एवं परीक्षण पर आधारित पद्धति है जो सैद्धान्तिक मानदण्डों को निर्धारित करती हुई व्यावहारिकता में परिवर्तन ला पाती है। प्रत्येक क्षेत्र में जो परिवर्तन नजर आ रहा है, वह केवल और केवल शोध का ही नतीजा है। यह अध्ययन परिवर्तन, परिमार्जन एवं नजर द्वारा उपलब्ध सामग्री एवं परिस्थितियों में सुधारात्मक सुझाव ढूंढने का प्रयास एवं संकल्पना प्रस्तुत करता है। शोध मानव बुद्धि का विलक्षण गुण है जो जिज्ञासा से उत्पन्न होता है, सत्य की खोज में प्रवृत्त होते हुए समाधान कर पक्ष दृढ़तापूर्वक रखता है तथा जीवन की जटिलताओं को सुगम एवं सरल बनाने में सहयोग देता है। इस पुस्तक से विद्यार्थियों को शोध संबंधित विषयों पर विचार करने तथा अनुसंधानपरक चिन्तन करने में अपेक्षित सहयोग प्राप्त होगा।

खण्ड-1

शोध का अर्थ, परिभाषा एवं परिचय

इकाई-1

अनुसंधान का स्वरूप, शोध का तात्पर्य एवं परिभाषा, शोध के प्रकार- शुद्ध शोध, व्यवहारपरक शोध

उद्देश्य-

1. शोध की अवधारणा को समझना।
2. शुद्ध एवं व्यवहारिक शोध में अंतर जानना।
3. शोध की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन करना।

शोध अथवा अनुसंधान - अंग्रेजी भाषा के 'रिसर्च' (research) शब्द का हिन्दी रुपान्तरण (translation) शोध, अनुसंधान, गवेषण, अन्वेषण, खोज आदि शब्दों में किया जाता है। लेकिन, शोध शब्द का व्यवहार अधिक सही माना जाता है।

'रिसर्च' (research) शब्द वास्तव में फ्रांसीसी भाषा के 'रिचेर्चे' (recherche) शब्द से बना है, जिसका अर्थ है देखना (to look) , खोज करना (to investigate) आदि। इस दृष्टिकोण से शोध का अर्थ हुआ नये ज्ञान की खोज करना। इस अर्थ में शोध शब्द का व्यवहार सबसे पहले ऐतिहासिक अनुसंधान (historical investigation) के प्रसंग में किया गया। अतीत (past) की ऐतिहासिक घटनाओं की खोज करने की जिज्ञासा (curiosity) ने शोध-कार्य (research work) को जन्म दिया और इसी आधार पर आगे चलकर वैज्ञानिक शोध (scientific research) का जन्म हुआ। ऐतिहासिक शोध केवल अतीत (past) तक सीमित रहा, किन्तु वैज्ञानिक शोध समय (काल) की सीमाओं से मुक्त हो चला।

ड्रेवर (Drever, 1955) के अनुसार किसी नये ज्ञान की खोज अथवा किसी पुराने ज्ञान के पुष्टिकरण (confirmation) के लिये किये गये व्यवस्थित प्रयास को शोध कहते है। उनके शब्दो में शोध का तात्पर्य किसी क्षेत्र में ज्ञान या पुष्टिकरण के लिए किये गये व्यवस्थित अनुसंधान से है।

पी०वी० यंग (Pauline V. Young (Born-1896)- Arthur)) ने भी शोध शब्द को नये ज्ञान की खोज अथवा पुराने ज्ञान की पुष्टिकरण के अर्थ में परिभाषित किया है। उनके अनुसार 'शोध एक ऐसी व्यवस्थित विधि है, जिसके द्वारा नये तथ्यों की खोज तथा पुराने तथ्यों की पुष्टि की जाती है, और उनके अनुक्रमों, परस्पर संबंधों, कारणात्मक व्याख्याओं एवं प्राकृतिक नियमों, जो उन्हें संचालित करते हैं, का अध्ययन किया जाता है।''

थियोडॉर्सन एवं थियोडॉर्सन (Theodorson and Theodorson, 1969) के अनुसार ''किसी समस्या के व्यवस्थित अध्ययन करने या किसी समस्या से सम्बन्धित ज्ञान को बढाने के निष्पक्ष प्रयास को शोध कहा जा सकता है।''

करलिंगर (Fred N. Kerlinger- Born, 4, July 1990, New York (US) के द्वारा शोध की दी गयी परिभाषा अधिक समग्र, स्पष्ट तथा संतोषजनक है। उनके अनुसार ''वैज्ञानकि शोध, प्राकृतिक घटनाओं के बीच अनुमानित सम्बन्धों की खोज हेतु निर्मित परिकल्पनाओं का व्यवस्थित, नियंत्रित आनुभविक तथा आलोचनात्मक अनुसन्धान है।''

विषय अनुसंधान का स्वरूप

1. **अन्वेषण प्रक्रिया** (An investigation process) - वैज्ञानिक शोध की एक मुख्य विशेषता यह है कि यह अनुसन्धान की एक पद्वति है। यह विशेषता मनोवैज्ञानिक शोध में भी उपलब्ध है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा अन्वेषण या अनुसन्धान किया जाता है। इस अन्वेषण या अनुसन्धान के दो उद्‌देश्य हैं। एक तो यह कि इसके द्वारा नये ज्ञान की खोज की जाती है और दूसरा उद्‌देश्य यह कि इसके द्वारा पुराने ज्ञान की सार्थकता (significance) की जाँच की जाती है। जब शोध का उद्‌देश्य नये ज्ञान की खोज करना होता है तो इसे अन्वेषणात्मक शोध (exploratory research) कहते हैं और जब शोध का उद्‌देश्य पुराने ज्ञान की जाँच करना होता है तो इसे सत्यापन शोध (Verification research) या पुष्टिकारक शोध (confirmatory research) कहते हैं।

2. **सुव्यवस्थित अध्ययन** (Systematic study)- शोध एक व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन है। यह एक ऐसी कार्यप्रणाली (procedure) है, जिसके द्वारा क्रमबद्ध तरीकों से अनुसन्धान किया जाता है, अर्थात व्यवस्थित ढ़ंग से नये ज्ञान की खोज तथा पुराने ज्ञान की जाँच का प्रयास किया जाता है। व्यवस्थिता या क्रमबद्ध अध्ययन का अर्थ यह है कि शोधकर्त्ता (researcher) पहले प्राकृतिक घटनाओं के बीच सम्बन्धों के बारे में परिकल्पना (hypothesis) या परिकल्पनाओं (hypotheses) का निर्माण करता है तथा आवश्यक उपकरणों तथा यंत्रों की सहायता से उनकी जाँच करके सिद्वांत एवं नियम की स्थापना करता है। इसी प्रकार किसी भी वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिकों शोध में क्रमबद्ध होने की विशेषता पाई जाती है। इस विचार की पुष्टि अनेक मनोवैज्ञानिक ने की है। (James Drever, 1955; P.V. Young, Theodorson and Theodorson, 1969; kerlinger, Reber and Arthur S. Reber,)-1940

3. **आनुभविक अध्ययन** (Empirical study)- शोध एक आनुभविक अध्ययन है। यह एक ऐसा अध्ययन है जो अनुभव पर आधारित होता है। यह अध्ययन शोधकर्ता (researcher) व्यवस्थित ढंग से निरीक्षणों (observations) या प्रयोगों (experiments) के आधार पर करता है।

करलिंगर (kerlinger) ने स्पष्ट शब्दों में शोध की इस विशेषता पर बल दिया है।

4. **नियंत्रित अध्ययन** (Controlled study)- करलिंगर (Kerlinger) ने कहा है कि शोध में नियंत्रण की विशेषता पाई जाती है। यहाँ जो अध्ययन किया जाता है, वह नियंत्रित होता है। इसका अर्थ यह है कि जिस चर (variable) के प्रभाव को देखने के लिए शोध किया जाता है, उसको छोडकर शेष सभी चरों के प्रभावों (effects) को आश्रित चर (dependent variable) पर पडने से रोक दिया जाता है।

5. **आलोचनात्मक या तक्रपूर्ण अध्ययन** (Critical study)- वैज्ञानिक शोध में आलोचनात्मक दृष्टिकोण से कोई अध्ययन किया जाता है। यह विशेषता अन्वेषणात्मक अनुसंधान (exploratory research) तथा पुष्टिकारक अनुसंधान (confirmatory research) दोनों में पाई जाती है, किन्तु पुष्टिकारक अनुसंधान या शोध में इस विशेषता की प्रधानता होती है। एक शोध कर्ता (researcher) दूसरे शोधकर्ता द्वारा प्राप्त परिणाम या ज्ञान के आधार पर उस परिणाम या ज्ञान का समर्थन करता है या खंडन करता है और नया ज्ञान प्रस्तुत करता है। किसी भी विज्ञान के जीवित रहने के लिए उसके क्षेत्र के अन्तर्गत आलोचनात्मक अध्ययनों का होते रहना आवश्यक है।

6. **विशिष्ट उपकरण** (Specific tools)- अनुसंधान या शोध-प्रक्रिया को संचालित करने के लिए कुछ विशेष उपकरणों का प्रयोग करना आवश्यक होता है। मनोवैज्ञानिक शोध के लिए भी कई प्रकार के उपकरणों का व्यवहार किया जाता है। उपकारणों के अन्तर्गत कई प्रकार की प्रविधियों (techniques) तथा परीक्षणों (tests)की गणना की जाती है। शोध करते समय शोधकर्ता (researcher) अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रदत्त संग्रह (data collection) के लिए निरीक्षण (observation) साक्षात्कार (interview) प्रश्नावली (questionnaire) आदि प्रविधियों का उपयोग करता है।

7. **वैज्ञानिक अभिकल्प** (Scientific design)- वैज्ञानिक शोध में अनुकूल अभिकल्पों का व्यवहार किया जाता है। शोध के उद्देश्य के अनुकूल एक योजना (plan) या स्कीम (scheme) बनाता है कि अनुसंधान कैसे किया जायेगा, प्रदत्त संग्रह (data collection) के लिए किन-किन उपकरणों (tools) तथा परीक्षणों (tests) का उपयोग किया जायेग, प्रदत्त का निरुपण (treatment) कैसे किया **जाएगा, इत्यादि। रेबर एवं रेबर** (Reber and Reber 1940) ने अभिकल्प (design) की व्याख्या अधिक व्यापक अर्थ में किया है।

8. **वस्तुनिष्ठता** (Objectivity)- वैज्ञानिक शोध में वस्तुनिष्ठता की विशेषता पायी जाती है। वस्तुनिष्ठ अध्ययन का अर्थ वह अध्ययन है, जिसमें शोधकर्ता (researcher) किसी समस्या, या विषय-वस्तु का अध्ययन पक्षपात् (bias), पूर्वधारणा (prejudice), रूड़िबद्ध धारणा (stereotypes) आदि व्यक्तिगत कारकों (subjective factors) से प्रभावित हुए बिना ही करता है।

9. **परिमाणन** (Quantification)- वैज्ञानिक अनुसंधान या शोध में परिमाणन की विशेषता भी पायी हैं। यह विशेषता यथासंभव मनोवैज्ञानिक शोधों में भी पाई जाती है। इसका अर्थ है कि जहाँ तक संभव होता है।

10. **प्रतिकृति** (Replication)- साधारण अर्थ में पुनरावृत्ति (Repetition) को ही प्रतिकृति (Replication) कहते हैं। शोधकर्ता (researcher) अपने शोध या अध्ययन के आधार पर जो परिणाम या ज्ञान प्राप्त करता है, उसकी सत्यता की जाँच के लिए वह अपने शोध या अध्ययन को बार-बार दोहराता है। यदि वह हर बार एक ही तरह का परिणाम प्राप्त करता है तो समझा जाता है कि उसका शोध विश्वसनीय (reliable) है। भिन्न-भिन्न समयों में अध्ययन को दोहराने पर भिन्न-भिन्न परिणाम मिलते हैं तो समझा जाता है कि अध्ययन अविश्वसनीय (unreliable) है।

11. **सत्यापन** (Verification)- सत्यापन किसी भी अनुसंधान या शोध के लिए एक आवश्यक गुण है। मनोवैज्ञानिक अनुसंधान में यह गुण भी पाया जाता है। यह किसी चीज/पदार्थ की सत्यता, सटीकता या प्रामाणिकता की पुष्टि करने की प्रक्रिया को संदर्भित करता है। जेम्स ड्रेवर (James Drever,1955) ने भी इसी अर्थ में सत्यापन शब्द की व्याख्या की है।

12. **व्यावहारिकता** (Practicability)- वैज्ञानिक शोध या मनोवैज्ञानिक अनुसंधान में व्यावहारिकता का गुण होना अपेक्षित है। व्यावहारिकता का अर्थ है कि वह शोध या अनुसंधान सैद्वांतिक (theoretical) तथा/अथवा व्यावहारिक (Practical) रुप से उपयोगी तथा लाभप्रद हो। इस दृष्टिकोण से शोध या अनुसंधान के दो प्रकार है, जिन्हें शुद्व शोध (Pure research) तथा व्यावहारिक शोध (applied research) कहते है।

13. **मितव्ययिता** (Parsimony)- वैज्ञानिक शोध मितव्ययी (economical) होता है। मितव्ययी होने का अर्थ यह है कि किसी प्राकृतिक घटना की व्याख्या यथासंभव सरल तरीका से की जाए। जिस शोध में अपेक्षाकृत कम समय लगता है तथा कम श्रम (effort) करना पडता है, उसे मितव्ययी शोध (parsimonious research) कहा जाता है।

शोध के प्रकार

(Types of Research)

1- शुद्व शोध (pure research)- शुद्व शोध को मौलिक शोध (basic research) तात्विक शोध (fundamental research) अथवा सैद्वांतिक शोध (theoretical research) भी कहते है। शोध का मौलिक उद्देश्य किसी प्राकृतिक घटना (natural phenomenon) के सम्बन्ध में कोई सिद्वांत (theory) या नियम (law) स्थापित करना होता है, चाहे वह व्यक्ति या समाज के लिए व्यावहारिक रुप से लाभप्रद हो या नहीं हो।

अण्डरउड (Underwood, 1957) ने कहा है ''शुद्ध शोधकर्ता विश्व (प्रकृति) की घटनाओं को केवल समझने का प्रयास करता है।

डा. **एस.एम.** मोहसिन (Dr. S.M. Mohsin) के अनुसार '' शुद्ध शोध का सम्बन्ध मुख्य रुप से प्रकृति के कार्य कलापों के ज्ञान से है। ''

रेबर तथा रेबर (Reber & Reber) ने कहा है कि शुद्ध शोध वह अनुसंधान है, जिसका मुख्य उद्देश्य प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या करना, समझना तथा अर्जन करना है।

(i) शुद्ध शोध का मुख्य आधार जिज्ञासा (curiosity) है। शोधकर्ता अपनी जिज्ञासा की संतुष्टि के लिए इस प्रकार का शोध करता है।

(ii) शुद्ध अनुसंधान की एक विशेषता यह है कि यहाँ शोधकर्ता इस बात में रुचि नहीं रखता है कि इस शोध से व्यक्ति या समाज को कोई तात्कालिक लाभ (immediate advantage) होगा या नहीं।

(iii) शुद्ध शोध (pure research) से प्रकृति (nature) की घटनाओं को समझने में सुविधा होती है। उन घटनाओं के सम्बन्ध में कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है। इसी ज्ञान के आलोक में उनकी व्याख्या करना संभव होता है।

(iv) शुद्ध अनुसंधान (pure investigation) या शुद्ध शोध (pure research) में शोध का व्यावहारिक पक्ष (practical aspect) गौण तथा उपेक्षित होता है। शुद्ध शोधकर्ता समाज या राष्ट्र को लाभान्वित करने के विचार से अनुसंधान नहीं करता है, यह दूसरी बात है कि अनुसंधान से प्राप्त ज्ञान या सूचना से भविष्य में समाज या राष्ट्र, को कोई लाभ पहुँच जाए।

(v) शुद्ध शोधकर्ता यह जानने का प्रयास करता है कि प्रकृति में कोई घटना (event) क्यों घटती है। वह अपनी इस जानकारी या ज्ञान के आलोक में प्राकृतिक घटनाओं के क्रम में परिवर्तन लाकर समाज को लाभ पहुँचाने का कोई भी उद्देश्य रखता है।

2. **व्यवहारपरक शोध** (Applied research)- व्यवहारपरक शोध समाज को कोई विशेष लाभ पहुँचाने के विचार से किया जाता है। यहाँ शोधकर्ता या अनुसंधानकर्ता (investigator) का उद्देश्य किसी व्यावहारिक समस्या (practical problem) का समाधान करना होता है।

मोहसिन (Mohsin) के अनुसार ''व्यवहारपरक शोध वह है जिसमें विश्व (प्रकृति) में परिवर्तन लाने के निश्चित उद्देश्य के साथ प्राकृतिक घटनाओं को समझने का प्रयास किया जाता है। व्यावहारिक वैज्ञानिक की शोध-क्रियायें व्यावहारिक समस्याओं की और निर्देशित होती है।''

टाउनसेंड (Townsend) के अनुसार ''व्यावहारिक शोध में विज्ञान की ऐसी प्रविधियों का अध्ययन किया जाता है, जिनका व्यवहार विशिष्ट दृष्टान्तों में सूचना प्राप्त करने तथा विशिष्ट समस्या के समाधान हेतु किया जाता है।

(i) व्यावहारिक शोध का मुख्य आधार तात्कालिक व्यावहारिक समस्या है। शोधकर्ता किसी तात्कालिक व्यावहारिक समस्या के समाधान का प्रयास करता है। जैसे-बालकों की शिक्षा को सफल कैसे बनाया जाए, शिक्षण का कौन-सा नियम अधिक उपयोगी है।

(ii) व्यावहारिक शोध में शोध का सैद्धांतिक पक्ष (theoretical aspect) गौण होता है। यहाँ ज्ञान-अर्जन (acquisition of knowledge) को ध्यान में रखकर शोध नहीं किया जाता है, बल्कि किसी तात्कालिक समस्या के समाधान को ध्यान में रखकर शोध किया जाता है। **मोरिस** (Morris, 1979) ने कहा है कि यहाँ अनुसंधान का केन्द्र ज्ञान-अर्जन नहीं होता है, बल्कि कोई तात्कालिक व्यावहारिक समस्या होती है।

(iii) व्यावहारिक शोध में प्राकृतिक घटनाओं (natural events) की गतिविधि में परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है ताकि किसी समस्या का समाधान निकाला जा सके। शोधकर्ता या अनुसंधानकर्ता अपने ज्ञान के आलोक में प्राकृतिक घटना या घटनाओं में परिवर्तन लाकर तात्कालिक व्यावहारिक समस्या का समाधान करता है।

(iv) व्यावहारिक शोध की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ शोधकर्ता बहुधा किसी संगठन (organization) का सदस्य होता है। वह प्राय: अपने संगठन की सहायता से किसी विशेष क्षेत्र में समस्या का समाधान करता है।

(v) व्यावहारिक शोध का सम्बन्ध बहुधा व्यावहारिक विज्ञानों (applied sciences) से होता है। उद्योग, शिक्षा, व्यवसाय (occupation), मनोचिकित्सा (psychiatry), आदि क्षेत्रें में इसका उपयोग अधिक देखा जाता है।

शुद्ध शोध, व्यवहारपरक शोध में समानताएं एवं अन्तर

शुद्ध शोध (pure research) तथा व्यावहारिक शोध (applied research)में कई तरह की समानताएं है। (i) इन दोनों के बीच गुणात्मक (qualitative) समानता है। इन दोनों का उद्देश्य ज्ञान-अर्जन है, यद्यपि शुद्ध शोध में ज्ञान के अमूर्त पक्ष पर बल दिया जाता है और व्यावहारिक शोध में इसके मूर्त पक्ष पर। (ii) दोनों प्रकार के शोधों का दृष्टिकोण वास्तव में आविष्कारशील (inventive) है। (iii) इन दोनों में आवश्यक उपकरणों (tools) का व्यवहार किया जाता है। (iv) इन दोनों में शोधकर्ता अपेक्षित परीक्षणों (tests) एवं मापनियों (scales) का व्यवहार करते है। (v) इन दोनों प्रकार के शोधों का स्वरुप आनुभविक (empirical) होता है।

शुद्ध शोध तथा व्यवहारपरक शोध में अन्तर

शुद्ध शोध (pure research) तथा व्यवहारपरक (applied research) में उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी निम्नलिखित अन्तर या भिन्नताऐं है:

1. शुद्ध शोध (pure research) में शोधकर्ता का उद्देश्य (purpose) केवल अपनी जिज्ञासा (curiosity) की संतुष्टि करना होता है। उसके सामने अपने शोध द्वारा समाज को लाभान्वित करने का उद्देश्य नहीं होता है। न्यूटन (Newton) को यह जिज्ञासा हुई कि पेड से फल नीचे पृथ्वी पर ही क्यों गिरता है। अपनी इसी जिज्ञासा की संतुष्टि हेतु उसने अपना शोधकार्य आ. रंभ किया और यह ज्ञान प्राप्त किया कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है। दूसरी ओर व्यावहारिक या व्यवहारपरक शोध (applied research) में शोधकर्ता का उद्देश्य समाज को कोई लाभ पहुँचाना होता है। न्यूटन द्वारा प्रस्तुत गुरुत्वाकर्षण के नियम (law of gravitation) से सम्बद्ध अनुसन्धान करने के पश्चात में व्यावहारिक शोधकर्ताओं ने समाज को कई तरह से लाभान्वित किया।

2. शुद्ध अनुसन्धान में शोधकर्ता स्वंय व्यवस्थित रुप से अध्ययन करके परिकल्पना (hypothesis) को जाँच करता है, सिद्धांत (theory) स्थापित करता है, तथा किसी नियम (law) को निर्माण करता है। जैसे- एडवर्ड थार्नडाइक (Edward Thorndike Born- 31-08-1874 American Psychologist) ने अपने शोध के आधार पर प्रयत्न एवं मूल सिद्धान्त (trail and error theory) का प्रतिपादन किया और शिक्षण के तीन नियमों अर्थात् तत्परता-नियम

(law of readiness), अभ्यास-नियम (law exercise) तथा प्रभाव-नियम (law of effect) का निर्माण किया। दूसरी और व्यावहारिक अनुसंधान में शोधकर्ता मूलतः सिद्धांत या नियम नहीं बनाता है, बल्कि शुद्ध शोधों से प्राप्त सिद्धांतों या नियमों की सहायता से व्यावहारिक समस्याओं (practical problems) का समाधान करता है। तथा बालकों को शिक्षा के प्रति कैसे प्रेरित किया जाए, किन परिस्थितियों में पुरस्कार (reward) तथा किन परिस्थितियों में दंड (punishment) दिया जाए, इत्यादि! शामिल है।

3. शुद्ध शोध में शोधकर्ता स्वतः समस्या ढूंढता है तथा अनुसंधान करता है इसके लिए वह किसी संस्था या संगठन पर निर्भर नहीं रहता है। दूसरी ओर व्यावहारिक शोध में प्रायः ऐसा नहीं होता है यहां शोधकर्ता अक्सर/ज्यादातर किसी संगठन या संस्था का सदस्य होता है और उसकी सहायता से वह किसी निश्चित क्षेत्र में निश्चित समस्या का समाधान करता है।

4. शुद्ध शोध में विश्व या प्रकृति (nature) की घटनाओं को समझने का प्रयास किया जाता है। शोधकर्ता यह जानना चाहता है कि कोई प्राकृतिक घटना इस ढंग से क्यों घटती है। वह उस घटना में परिवर्तन लाने तथा उससे लाभ उठाने का प्रयास नहीं करता है। इसके विपरीत व्यावहारिक शोध में प्राकृतिक घटना में अपेक्षित परिवर्तन लाने तथा उससे अधिक लाभ उठाने का प्रयास किया जाता है।

5. शुद्ध शोध तथा व्यावहारिक शोध के बीच एक मौलिक अंतर दोनों के दृष्टिकोण में है। शुद्ध शोध में केवल सैद्धांतिक ज्ञान की खोज पर बल दिया जाता है। यहाँ ज्ञान मात्र ज्ञान के लिए (Knowledge for knowledge sake) हासिल किया जाता है। दूसरी और व्यावहारिक शोध में व्यावहारिक ज्ञान पर बल दिया जाता है। यहाँ व्यावहारिक लाभ के लिए ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अतः शुद्ध शोध अर्थात् मौलिक शोध (basic research) में ज्ञान साध्य (end) है, जबकि व्यावहारिक शोध में ज्ञान साधन (means) है और उस ज्ञान के माध्यम से किसी व्यावहारिक समस्या का समाधान साध्य (end) है।

6. शुद्ध अनुसंधान में संरचनाओं (constructs) का निर्माण किया जाता है। दूसरी ओर व्यावहारिक शोध में उन संरचनाओं का उपयोग सामाजिक, शैक्षणिक, औद्योगिक आदि समस्याओं के समाधान में किया जाता है।

7. शुद्ध अनुसंधान कच्चा माल (raw materials) जमा करता है। वह प्राकृतिक घटनाओं के संबंध में तथ्यों (facts) का एकत्रीकरण (collection) करता है। दूसरी ओर व्यावहारिक अनुसंधानकर्ता उस कच्चे माल से उपयोगी वस्तुओं का निर्माण करता है। वह एकत्रित तथ्यों के आलोक में व्यावहारिक समस्याओं का समाधान करता है।

8. शुद्ध शोध में शोध का सैद्धांतिक (theoretical aspect) पक्ष प्रधान होता है और व्यावहारिक पक्ष गौण होता है। इसके विपरीत व्यावहारिक शोध में शोध का व्यावहारिक पक्ष प्रधान होता है ओर सैद्धांतिक पक्ष गौण होता है।

9. शुद्ध अनुसंधान के लिए अमूर्त योग्यता (abstract ability) अधिक सहायक होती है जबकि व्यावहारिक शोध में मूर्त योग्यता (concrete ability) अधिक सहायक होती है।

10. कठिनाई स्तर (difficulty level) के आधार पर भी इन दोनों प्रकार के शोधों में अंतर किया जा सकता है। व्यावहारिक शोध (applied research) की तुलना में शुद्ध शोध (pure research) अधिक कठिन होता है। एक अर्थ में शुद्ध शोधकर्ता नये मार्ग का निर्माण करता है और व्यावहारिक शोधकर्ता उस निर्मित मार्ग पर चलकर उसकी उपयोगिता सिद्ध करता है।

शुद्ध तथा व्यावहारिक शोध के अलावा और भी कई प्रकार के शोध हैं। इनमें ऐतिहासिक शोध (historical research) क्रियात्मक शोध (action research), सर्वेक्षण शोध (survey research), प्रतिगामी शोध (expost facto research), सहसम्बन्ध शोध (correlational research), परस्पर सांस्कृतिक शोध (cross cultural research), प्रयोगात्मक शोध (experimental research) आदि मुख्य है।

स्मरणीय बिन्दु-

- शोध एक व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक प्रक्रिया है।
- शोध का उद्देश्य नए ज्ञान की खोज करना है।
- शुद्ध शोध ज्ञान-वृद्धि हेतु तथा व्यवहारिक शोध समस्या समाधान हेतु किया जाता है।
- Kerlinger ने शोध को नियंत्रित एवं अनुभवजन्य अध्ययन कहा।
- शोध में वस्तुनिष्ठता एवं सत्यापन आवश्यक हैं।

शब्दावली-

शब्द		अर्थ
Research	–	शोध
Hypothesis	–	परिकल्पना
Empirical	–	अनुभवजन्य
Verification	–	सत्यापन
Pure Research	–	शुद्ध शोध
Applied Research	–	व्यवहारिक शोध

5 **अंक के प्रश्न-**

1. शोध की परिभाषा दीजिए।
2. शुद्ध शोध क्या है?
3. व्यवहारिक शोध का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. शोध की दो विशेषताएँ लिखिए।
5. अनुसंधान प्रक्रिया क्या है?

15 **अंक के प्रश्न-**

1. शोध की अवधारणा एवं परिभाषाओं का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. शुद्ध एवं व्यवहारिक शोध में अंतर स्पष्ट कीजिए।

3. शोध की विशेषताओं का विस्तार से वर्णन कीजिए।

4. वैज्ञानिक शोध की प्रकृति पर निबंध लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. शोध का मुख्य उद्देश्य क्या है?

(a) मनोरंजन

(b) ज्ञान की खोज

(c) व्यापार

(d) राजनीति

2. Applied Research का संबंध किससे है?

(a) सैद्धांतिक ज्ञान

(b) व्यावहारिक समस्या समाधान

(c) साहित्य

(d) कला

3. Kerlinger के अनुसार शोध है-

(a) कल्पना

(b) नियंत्रित अध्ययन

(c) मनोरंजन

(d) चर्चा

4. शोध की कौन–सी विशेषता निष्पक्षता दर्शाती है?

(a) वस्तुनिष्ठता

(b) कल्पना

(c) भावना

(d) अनुमान

5. Pure Research को अन्य किस नाम से जाना जाता है?

(a) Applied Research

(b) **Fundamental Research**

(c) Survey

(d) Experimental

इकाई-2

शोध के उद्देश्य, व्यवहारपरक शोध या मनोवैज्ञानिक शोध का क्षेत्र

उद्देश्य-

1. शोध के उद्देश्यों को समझना।

2. मनोवैज्ञानिक शोध के क्षेत्रें की पहचान करना।

3. सामाजिक एवं व्यवहारिक शोध के महत्व को समझना।

इस संदर्भ में निम्नलिखित उद्देश्य अधिक महत्वपूर्ण है-

1. ज्ञान को विकसित करना (To increase knowledge)- शोध का एक मौलिक उद्देश्य ज्ञान को विकसित करना है।

2. नूतन ज्ञान की खोज करना (To explore new knowledge)- शोध या अनुसंधान का मुख्य उद्देश्य नये ज्ञान की खोज करना है। विशेष रुप से शुद्ध-शोध (pure research) के अन्तर्गत अनुसंधानकर्ता (researcher) किसी नये ज्ञान की छानबीन करता है। इस प्रकार के शोध या अनुसंधान को अन्वेषक शोध (exploratory research) भी कहते है।

3 **विद्यमान ज्ञान की पुष्टि करना** (To confirm existing knowledge)- शोध या अनुसंधान का एक उद्देश्य मौजूदा ज्ञान का सत्यापन (verification) करना है।

4 **व्यावहारिक समस्याओं का समाधान करना** (To solve practical problems)- शोध या अनुसंधान का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य या उद्देश्य व्यावहारिक समस्याओं का समाधान करना है। इस प्रकार के शोध को व्यावहारिक शोध (applied research) कहते हे। व्यावहारिक अनुसंधानकर्ता इसी उद्देश्य से शुद्ध शोधों से प्राप्त सिद्धांतों (theories)तथा नियमों (laws) का उपयोग करता है।

5 **घटनाओं तथा तथ्यों को एकत्र करना** (To collect events and facts)- पी0वी0 यंग (P.V.Young) ने कहा है कि शोध का एक उद्देश्य प्राकृतिक घटनाओं तथा तथ्यों का सुव्यवस्थित संग्रह (systematic collection)है। यह उद्देश्य स्पष्ट रुप से ऐतिहासिक शोध (historical research) में देखा जा सकता है।

6 **अवलोकित तथ्यों का वर्गीकरण करना** (To classify observed facts)- शोध का उद्देश्य न केवल तथ्यों का संग्रह करना है, बल्कि उनका वर्गीकरण करना भी है। शोधकर्ता

अवलोकित तथ्यों को आवश्यकता के अनुसार कई भागों में विभाजित कर देता है और प्रत्येक का नाम रख देता है ताकि स्वंय याद रखने में सुविधा हो और दूसरों को बतलाने में भी आसानी हो।

7 **अवलोकन का उपयोग करना** (To use observation)- एडवार्ड्स के अनुसार शोध का उद्देश्य अपनी रुचि के प्रश्नों के उत्तर के आधार के रुप में अवलोकन का उपयोग करना है। प्राकृतिक घटना को समझने के लिए अवलोकन का उपयोग करना आवश्यक बन जाता है।

8 समाजिक व्यवहार को निर्यंत्रित करना (To control social behaviour)- **पी०वी० यंग** (P.V.Young) के अनुसार शोध का प्राथमिक उद्देश्य सामाजिक जीवन को समझना है ताकि सामाजिक व्यवहार पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सके। यह उद्देश्य सामाजिक शोध (social research) में अधिक प्रधान होता है।

9 **मानवता का कल्याण करना** (To make welfare of humanity)- शोध या अनुसंधान का चरम् उद्देश्य मानवता का कल्याण करना है। शोध का लक्ष्य ज्ञान प्राप्त करना है और ज्ञान वास्तव में मूलतः सामाजिक पदार्थ (social commodity) है, जिसका उपयोग मानव कल्याण के लिए किया जाता है।

10 **भविष्यवाणी करना** (To make prediction)- शोध या अनुसंधान का एक प्रधान उद्देश्य भविष्यवाणी करना है। कारण, प्रकृति का यह नियम है कि समान परिस्थितियों में समान घटनायें अवश्य घटेंगी और प्रकृति का नियम समय तथा स्थान से परे (beyond) होता है। इससे मानव जीवन को अधिक से अधिक सुखद बनाने में सहायता मिलती है।

व्यवहारपरक शोध या मनोवैज्ञानिक शोध का क्षेत्र

व्यवहारपकर शोध के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक शोध, सामाजिक शोध, शैक्षणिक शोध (educational research), आदि की गणना की जाती है। व्यवहारपकर शोध को एक अर्थ में सामाजिक शोध (social research) भी कहा जाता है।

मनोवैज्ञानिक शोध के क्षेत्र का प्रश्न है, इसका क्षेत्र भौतिक विज्ञान के क्षेत्र की तुलना में अधिक व्यापक तथा विस्तृत है।

1. मनोवैज्ञानिक शोध का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र मानसिक योगयताऐं या क्षमतायें है। बुद्धि (intelligence), अभिवृत्ति (attitude), अभिक्षमता (aptitude) आदि क्षेत्रों में अनेक शोधकार्य किये गये हैं और आज भी तेजी के साथ हो रहें है।
2. चिन्तन (thinking), कल्पना (imagination), प्रत्यक्षीकरण (perception), शिक्षण (learning), स्मरण (remembering) आदि क्षेत्रों में अनेक शोध किये गये हैं। आज

भी अनेक मनोवैज्ञानिक इस प्रकार की संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं (cognitive processes) से सबंधित अनुसंधान में लगे हुए हैं।

3. भाव (feelings), संवेग (emotion) आदि भावात्मक प्रक्रियाओं (affective processes) से संबंधित क्षेत्रों में भी अनेक मनोवैज्ञानिक अनुसंधान होते रहे हैं और आज भी यह सिलसिला जारी है।

4. प्रेरणा (motivation) के क्षेत्र में भी मनोवैज्ञानिक शोध होते रहे है। व्यक्ति के व्यवहार पर प्रेरणा का प्रभाव किस रुप में पडता है, इससे संबंधित अनेक शोध पहले भी हो चुके है। पुरस्कार (reward), दंड (punishment), चिन्ता (anxiety), तनाव (tension) आदि प्रेरणा तथा प्रोत्साहन (incentive) के विभिन्न रुप हैं, जिनसे संबंधित अनेक अनुसंधान किये जा चुके हैं और वर्तमान समय में भी निरन्तर हो रहे है।

5. व्यक्तित्व से संबंधित समस्याओं के सबंध में भी मनोवैज्ञानिक शोध किये गये है। शोध का यह एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। व्यक्तित्व-समायेजन (adjustment) से संबंधित अनुसंधान आज भी जारी है। इसी प्रकार असंगठित व्यक्तित्व (disorganized personality) भी मनोवैज्ञानिक शोध के लिए एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है।

6. वर्तमान समय में विभिन्न संस्कृतियों के परस्पर प्रभावों को निर्धारित करने के लिए मनोवैज्ञानिक शोध व्यापक रुप में होने लगे हैं। व्यक्तित्व-शीलगुणों (personality traits), संज्ञानात्मक प्रतिरुप (cognitive patterns), अभियोजन प्रतिरुप (adjustment patterns) आदि पर सांस्कृतिक विविधता (cultural variation) के प्रभाव को निर्धारित करने हेतु शोध कार्य किये जा रहे हैं। भारत में आदिवासी संस्कृति (tribal culture) तथा गैर-आदिवासी संस्कृति (non-tribal culture) से संबंधित शोधकार्य किये जा रहे है। इस क्षेत्र में क्रॉस वर्गीय शोध (cross sectional research) भी उल्लेखनीय है।

7. सामाजिक आर्थिक वचन (socio-economic deprivation) से संबंधित क्षेत्रों में भी मनोवैज्ञानिक अनुसंधान बडे पैमाने पर होने लगा है। भारत में लाभांवित बच्चों (advantaged children) तथा अलाभान्वित बच्चों (disadvantaged children) अथवा सम्पन्न बच्चों (privileged children) तथा असंपन्न बच्चों (non-privileged children) के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों के संबंध में तुलनात्मक अध्ययन किये जाते हैं।

8. उद्योग के क्षेत्र में नाना प्रकार के शोध-कार्य किये जाते हैं। कर्मचारी चयन (personnel selection), कार्य संतुष्टि (job satisfaction), मनोबल (morale), विज्ञापन (advertisment), प्रबंध (management) आदि क्षेत्र में अनेक शोधकार्य किये गये है।

9. शिक्षा के क्षेत्र में भी विभिन्न प्रकार के शोध कार्य होते रहे हैं। शिक्षा को सफल बनाने के उद्‌देश्य से संबंधित समस्याओं पर शोध का सिलसिला आज भी जारी है। बच्चे अपनी शिक्षा में

क्यों पिछड जाते हैं, क्यों असफल हो जाते हैं, शैक्षिक उपलब्धि (academic achievement) पर किन-किन कारकों का प्रभाव पड़ता है, बच्चे पढ़ाई बीच में ही क्यों छोड देते हैं, शिक्षा में बच्चों की रुचि को कैसे बढ़ाया जा सकता है, आदि।

इसी प्रकार बाल-मनोविज्ञान, पशु-मनोविज्ञान, मानसिक विकारों-मनोविज्ञान, अपराध-विज्ञान (criminology) तथा मानव अभियन्ता (human engineering) के क्षोत्रों में शोध कार्य व्यापक रुप में जारी है।

शोध का महत्त्व, आवश्यकता या उपयोगिता

शोध का महत्व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। मानव जीवन में शोध के महत्व, आवश्यकता या उपयोगिता को निम्नलिखित स्तम्भों में विभाजित कर सकते है-

1. **जिज्ञासा-मूलप्रवृत्ति की संतुष्टि** (Satisfaction of the instinct of curiosity)- जिज्ञासा मानव को एक जन्मजात प्रवृत्ति है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य प्राकृतिक घटनाओं को समझने या जानने का इच्छुक होता है। वह जानना चाहता है कि पेड से फल पृथ्वी पर ही क्यों गिरते हैं, भूकम्प क्यों होता है, चन्द्रमा पर प्राणी है या नहीं, मंगल ग्रह पर मिट्टी है या नहीं, आदि। अनुसंधानों से न केवल अनुसंधानकर्ता की जिज्ञासा-मूलप्रवृत्ति संतुष्ट होती है, बल्कि दूसरे लोगों की जिज्ञासा भी संतुष्ट होती है। एक जिज्ञासा की संतुष्टि हो जाने के बाद व्यक्ति दूसरी जिज्ञासा की संतुष्टि में लग जाता है।

2. **ज्ञान का विकास** (Growth of Knowledge)- अन्वेषक शोध (exploratory research) से नये ज्ञान की खोज संभव होती हे। इस प्रकार के शोध या अनुसंधान से ज्ञान-भंडार विकसित हो जाता है। जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्र में शोधकर्ता अपने अनुसंधान के आधार पर नये-नये ज्ञान प्राप्त करके समाज को लाभान्वित करते हैं। एक समय वह था जब हम समझा करते थे कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य गतिमान। लेकिन, बाद के शोध के आधार पर हमें ज्ञात हुआ कि पृथ्वी गतिमान है और सूर्य स्थिर। स्पष्ट है कि अन्वेषक शोध से नया ज्ञान प्राप्त होता है और पुष्टिकारक शोध से पुराने ज्ञान की सत्यता की जांच संभव होती है।

3. **व्यावहारिक समस्याओं का समाधान** (Solution of practical problems)- शुद्ध शोध कर्ता (pure researcher) के द्वारा प्राप्त सिद्धान्तों तथा नियमों के आधार पर व्यावहारिक शोधकर्ता (applied researcher)जीवन के विविध व्यावहारिक समस्याओं का निदान या समाधान करता है। उद्योग के क्षेत्र में कर्मचारी चयन (personnel selection), व्यवसाय संतुष्टि (job satisfaction), औद्योगिक मनोबल (industrial morale), औद्योगिक तनाव (industrial tension) आदि से संबंधित अनेक समस्याओं का समाधान अनुकूल शोधों के आधार पर किया जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में भी अनेक व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में

अनुसंधानों से मदद मिलती है। सामाजिक जीवन में पूर्वधारणा (prejudice), स्थिराकृति (stereotype), जातीयता (casteism), साम्प्रदायिकता (communalism), आक्रमण एवं हिंसा (aggression and violence) आदि से संबंधित व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में भी शोधों से सहायता मिलती है। अपराध-विज्ञान (criminology) के क्षेत्र के शोधकार्य से नाना प्रकार की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में सहायता मिलती है।

4. **अतीत की घटनाओं तथा तथ्यों का संग्रह** (Collection of past events and facts)- अनुसंधान में कार्यरत शोधकर्ता अतीत की संगत घटनाओं तथा तथ्यों को भिन्न-भिन्न स्रोतों (sources) के आधार पर एक साथ जमा करते हैं तथा स्रोतों की विश्वसनीयता (reliability) तथा वैधता (validity) की जांच करते है। विश्वसनीय तथा वैध स्रोतों पर आधारित घटनाओं तथा तथ्यों को रख लिया जाता है तथा शेष को छांट कर निकाल दिया जाता है। इस प्रकार की घटनाओं या तथ्यों से वर्तमान की समस्याओं को समझने या हल करने में मदद मिलती है। अनुकूल घटनाओं के पूर्वाभास का स्वागत किया जाता है और प्रतिकूल घटनाओं (adverse events) पूर्वाभास से बचने का प्रयास किया जाता है।

5. **भविष्यवाणी** (Predicition)- शोध के आधार पर भविष्यवाणी करना संभव होता है। प्रकृति का यह नियम है कि यदि कोई घटना एक बार घट गयी है तो समान परिस्थिति होने पर वह दूसरी बार भी घटेगी। इसी भविष्यवाणी के आधार पर भविष्य में होनेवाले प्राकृतिक संकटों (natural calamities) से हम अपना बचाव कर पाते है।

6. **मनवता का कल्याण** (Welfare of humanity)- शुद्ध अनुसंधान (pure research) अप्रत्यक्ष रुप से (indirectly) और व्यावहारिक शोध प्रत्यक्ष रुप से (directly) मानव कल्याण में सहायक होता है। न्यूटन (Newton) ने मात्र अपनी जिज्ञासा की संतुष्टि के लिए शोध किया और गुरुत्वाकर्षण का नियम (law of gravitation) निकाला और बाद में मानव समस्याओं के समाधान तथा मानव कल्याण में कितना योगदान दिया। मनोविज्ञान, शिक्षा तथा समाजशास्त्र के क्षेत्रों में किये गये व्यावहारिक अनुसंधानों से ऐसे-ऐसे परिणाम (results) प्राप्त हुए हैं, जिन से आज भी मानव जीवन लाभान्वित हो रहा है।

7. **सामाजिक प्रगति** (social progress)- सामाजिक प्रगति का अर्थ है भौतिक एवं मानव स्वभाव तथा मानव सम्बन्धों पर बौद्धिक नियंत्रण। किसी समाज में यदि भौतिक विकास अधिक हो, बौद्धिक स्तर ऊँचा हो तथा आध्यात्मिक मूल्यों (spiritual values) में वृद्धि हो तो कहा जायेगा कि वह समाज समाजिक प्रगति के मार्ग पर अग्रसर है।

8. **प्रबन्ध एवं प्रशासन** (Management and administration)- शोधों से प्राप्त परिणामों के आलोक से प्रबंध तथा प्रशासन से सर्बंधित जटिलताओं (complexities) को सुलझाने में सुविधा होती है।

9. **शैक्षणिक कार्यक्रम** (Educational programme)- विभिन्न श्रेणियों (grades) के विद्यार्थियों की शिक्षा को सफल बनाने में शिक्षण (learning), अध्यापन (teaching) तथा प्रेरणा एवं प्रोत्साहन (motivation and incentive) के क्षेत्रों में किये गये शोधों से काफी सहायता मिली है। इसी तरह विशिष्ट बालकों अर्थात् मन्द बुद्धि के बालकों, प्रतिभाशाली बालकों समस्यात्मक बालकों, पिछडे बालकों, अपराधी बालकों तथा विकलांग बालकों की शिक्षा तथा उनके अभियोजन को सफल बनाने में सम्बन्धित शोधों ने बहुत बड़ी भूमिका निभाई है।

10. **विक्रयकला एवं विज्ञापन** (Salesmanship and advertisement)- मनोवैज्ञानिकों ने अनुसंधान करके कुछ ऐसे सिद्धांतों (principles) का उल्लेख किया है, जिनका उपयोग करके विक्रयकला तथा विज्ञापन को सफल बनाने में काफी सफलता मिली है।

11. **राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समझ का विकास** (Development of national and international understanding)- शिक्षा का एक प्रधान उद्देश्य राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझ या भावना को विकसित करना है। समझ या भावना को कैसे विकसित किया जाये, किन उपायों (measures) का उपयोग किया जाये, इन सब की जानकारी संबंधित शोधों से ही संभव होती है। **मोरिकसन** (Morrickson, 1969) ने शोध के इस महत्वपूर्ण पक्ष पर विशेष रुप से बल दिया है

स्मरणीय बिन्दु-

शोध ज्ञान–वृद्धि का माध्यम है।

शोध सामाजिक समस्याओं के समाधान में सहायक है।

मनोवैज्ञानिक शोध में बुद्धि, अभिवृत्ति एवं प्रेरणा का अध्ययन किया जाता है।

शिक्षा एवं उद्योग में शोध का महत्वपूर्ण योगदान है।

शोध मानव कल्याण हेतु आवश्यक है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
Intelligence	–	बुद्धि
Attitude	–	अभिवृत्ति
Motivation	–	प्रेरणा
Learning	–	अधिगम
Emotion	–	संवेग

5 **अंक के प्रश्न-**

1. शोध के उद्देश्य लिखिए।
2. मनोवैज्ञानिक शोध क्या है?
3. सामाजिक शोध का महत्व बताइए।
4. प्रेरणा पर शोध का महत्व लिखिए।
5. व्यवहारिक शोध का क्षेत्र बताइए।

15 **अंक के प्रश्न-**

1. शोध के प्रमुख उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
2. मनोवैज्ञानिक शोध के क्षेत्रें की विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. सामाजिक एवं शैक्षिक शोध के महत्व पर निबंध लिखिए।
4. मानव कल्याण में शोध की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. शोध का प्रमुख उद्देश्य है-

(a) ज्ञान वृद्धि

(b) खेल

(c) व्यापार

(d) राजनीति

2. Motivation का अर्थ है-

(a) बुद्धि

(b) प्रेरणा

(c) भावना

(d) स्मृति

3. Psychological Research का संबंध है-

(a) व्यवहार

(b) खेती

(c) व्यापार

(d) संगीत

4. शोध का अंतिम उद्देश्य है-

(a) धन कमाना

(b) मानव कल्याण

(c) राजनीति

(d) मनोरंजन

5. Learning किस क्षेत्र से संबंधित है?

(a) मनोविज्ञान

(b) कृषि

(c) इंजीनियरिंग

(d) चिकित्सा

इकाई-3

वैज्ञानिक ज्ञान और वैज्ञानिक विधि, वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरुप या विशेषतायें

उद्देश्य-

1. वैज्ञानिक ज्ञान की प्रकृति समझना।
2. वैज्ञानिक विधि के तत्वों को जानना।
3. वैज्ञानिक अध्ययन की प्रक्रिया समझना।

वैज्ञानिक ज्ञान का अर्थ (Meaning of Scientific knowledge)- शोध का उद्देश्य प्राकृतिक घटनाओं एवं तथ्यों (facts) के संबंध में ज्ञान (knowledge) प्राप्त करना है।

वैज्ञानिक ज्ञान का अर्थ वह ज्ञान है जो किसी प्राकृतिक घटना के संबंध में पक्षपातरहित स्रोत (unbiased source) के आधार पर प्राप्त होता है। **मोहसिन** (Mohsin, 1984) के अनुसार तथ्यों (facts) के पक्षपातरहित, विश्वसनीय तथा वैध निरीक्षण से जो सूचना प्राप्त होती है, वही वैज्ञानिक ज्ञान है। **रेबर** तथा **रेबर** (Reber and Reber, 2001) ने भी वैज्ञानिक ज्ञान को इसी अर्थ में परिभाषित किया है।

रेबर तथा **रेबर** ने इसके कई प्रकारों का उल्लेख किया है- (क) परिचय द्वारा ज्ञान (knowledge of acquaintance), (ख) घोषणात्मक ज्ञान (declarative knowledge), (ग) तथ्यपरक ज्ञान (factual knowledge), (घ) कार्यात्मक ज्ञान (functional knowledge), (ड) प्रक्रियात्मक ज्ञान (procedural knowledge) तथा (च) परिणाम के ज्ञान (knowledge of results) । परिचय-ज्ञान का अर्थ वह सूचना (information)है, जिसे व्यक्ति प्रत्यक्ष रुप (directly) से इंद्रिय प्रदत्त (sense data) के आधार पर प्राप्त करता है। घोषणात्मक ज्ञान का अर्थ वह सूचना या ज्ञान है, जिसके संबंध में व्यक्ति कोई घोषणा कर सकता है। जैसे-यह घोषणा करना कि गुलाब एक प्रकार का फूल होता है। तथ्यपरक ज्ञान का अर्थ वह ज्ञान है, जिसका संबंध किसी तथ्य (fact) से होता है। जैसे-यह ज्ञान की मनुष्य मरणशील (mortal) है। कार्यात्मक ज्ञान वह ज्ञान है जिसका संबंध किसी सैद्धांतिक सूचना से होता है। प्रक्रियात्मक ज्ञान (procedural knowledge) का अर्थ वह ज्ञान है जो परिचालक (operational) तथा व्यावहारिक (practical) होता है। परिणाम के ज्ञान (knowledge of results) का अर्थ अपने द्वारा किये कार्य या निष्पादन (performance) के अच्छे-बुरे परिणाम की जानकारी है।

वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरुप एवं विशेषतायें

1- **वस्तुनिष्ठता** (objectivity)- वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित एक मुख्य विशेषता वस्तुनिष्ठता है। वैज्ञानिक ज्ञान सदा वस्तुनिष्ठता (objectivity) होता है। वस्तुनिष्ठ ज्ञान का अर्थ वह ज्ञान है जो पक्षपात (bias), पूर्वाग्रह (prejudice) तथा आत्मनिष्ठ व्याख्या (subjective interpretation) से मुक्त होता है।

2- **प्रमाणीकरण** (Verification)- प्रमाणीय (Verifiable) ज्ञान का अर्थ वह ज्ञान है जिसका सत्यापन संभव हो। उल्लेखनीय है कि वही ज्ञान प्रमाणनीय या सत्यापनीय होता है, जो वस्तुनिष्ठ (objective) होता है। आत्मनिष्ठ ज्ञान (subjective knowledge) में प्रमाणीकरण का यह गुण नहीं पाया जाता है।

3- **सुनिश्चितता** (Explicitness)- वैज्ञानिक ज्ञान वस्तुतः सुनिश्चित (definite) तथा स्पष्ट होता है, वह उसी हद तक यथार्थ भी होता है।

4- **यथार्थता** (Exactness)- जो ज्ञान जिस हद तक सुनिश्चित तथा स्पष्ट होता है, वह उसी हद तक यथार्थ भी होता है।

5- **परिशुद्धाता** (Precision)- वैज्ञानिक ज्ञान के लिए परिशुद्धाता का गुण भी आवश्यक है। इस प्रकार के ज्ञान में लचीलापन (flexibility) बहुत कम होता है या नहीं होता है। जो ज्ञान आत्मनिष्ठ या अवैज्ञानिक होता है, उसमें परिशुद्धता कम और लचीलापन अधिक पाया जाता है।

6- **पूर्णता** (Completion)- वैज्ञानिक ज्ञान पूर्ण (complete) होता है। जब भी किसी प्राकृतिक घटना का ज्ञान प्राप्त होता है तो वह पूर्ण होता है।

7- **विश्वसनीयता एवं वैधता** (Reliability and Validity)- विश्वसनीयता का अर्थ यह है कि उस ज्ञान में स्थिरता (stability) तथा (consistency) संगति पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। इसी तरह वैधता का अर्थ यह है कि वह ज्ञान वास्तविक तथा यथार्थ होता है।

8- **सार्वभौमिकता** (Universality)- वैज्ञानिक ज्ञान सार्विक, सार्वजनीन या सर्वभौमिक (universal) होता है। वह समय तथा स्थान से परे (beyond) होता है। ऐसा ज्ञान सभी स्थानों तथा समयों के लिए सत्य होता है।

9- **विश्वसनीय स्रोत** (Reliable sources)- वैज्ञानिक ज्ञान जिन स्रोतों के द्वारा प्राप्त होता है, वे विश्वसनीय होते हैं। वैज्ञानिक ज्ञान को प्राप्त करने के अनेक स्रोत हैं, जिनमें निरीक्षण (observation) तथा प्रयोग (experiemntation) महत्वपूर्ण हैं।

10- **भविष्यवाणी** (Prediction)- वैज्ञानिक ज्ञान का एक गुण यह है कि इसके आधार पर भविष्यवाणी करना संभव होता है।

स्मरणीय बिन्दु-

वैज्ञानिक ज्ञान प्रमाण एवं तर्क पर आधारित होता है।

वैज्ञानिक विधि में निरीक्षण महत्वपूर्ण है।

तथ्य वर्गीकरण वैज्ञानिक विधि का आवश्यक तत्व है।

वैज्ञानिक ज्ञान वस्तुनिष्ठ एवं सत्यापन योग्य होता है।

Karl Pearson ने वैज्ञानिक विधि के तत्व बताए।

शब्दावली–

शब्द		**अर्थ**
Scientific Method	–	वैज्ञानिक विधि
Observation	–	निरीक्षण
Classification	–	वर्गीकरण
Fact	–	तथ्य
Validity	–	वैधता

5 अंक के प्रश्न-

1. वैज्ञानिक ज्ञान क्या है?
2. निरीक्षण का महत्व बताइए।
3. वैज्ञानिक विधि के तत्व लिखिए।
4. तथ्य वर्गीकरण क्या है?
5. वैज्ञानिक अध्ययन की विशेषता लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वैज्ञानिक ज्ञान की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

2. वैज्ञानिक विधि के आवश्यक तत्वों की विवेचना कीजिए।

3. वैज्ञानिक एवं सामान्य ज्ञान में अंतर स्पष्ट कीजिए।

4. वैज्ञानिक पद्धति की उपयोगिता पर निबंध लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. वैज्ञानिक विधि का पहला चरण है-

(a) वर्गीकरण

(b) निरीक्षण

(c) निष्कर्ष

(d) सिद्धांत

2. वैज्ञानिक ज्ञान आधारित होता है-

(a) अंधविश्वास

(b) प्रमाण

(c) कल्पना

(d) भावना

3. Validity का अर्थ है-

(a) विश्वसनीयता

(b) वैधता

(c) ज्ञान

(d) वर्गीकरण

4. Karl Pearson का संबंध है-

(a) दर्शन

(b) वैज्ञानिक विधि

(c) साहित्य

(d) राजनीति

5. वैज्ञानिक अध्ययन की विशेषता है-

(a) पक्षपात

(b) वस्तुनिष्ठता

(c) भ्रम

(d) कल्पना

इकाई-4

साधारण ज्ञान तथा वैज्ञानिक ज्ञान में अन्तर, ज्ञान-अर्जन की विधियाँ, तथ्य, परिकल्पना, सिद्धांत और नियम

उद्देश्य-

1. सामान्य एवं वैज्ञानिक ज्ञान का अंतर समझना।
2. परिकल्पना एवं सिद्धांत की अवधारणा जानना।
3. तथ्य एवं नियम की भूमिका समझना।

1- **वैज्ञानिक** ज्ञान वस्तुनिष्ठ (objective) होता है जबकि साधारण ज्ञान या सामान्य बोध आत्मनिष्ठ (subjective) होता है।

2- **वैज्ञानिक** ज्ञान सार्वजनिक (universal) होता है जबकि साधारण ज्ञान असार्वजनिक (non-universal) या व्यक्तिगत (personal) होता है।

3- **वैज्ञानिक** ज्ञान प्रमाणनीय (verifiable) होता है जबकि सामान्य बोध (common sense) या साधारण ज्ञान (general knowledge) प्रमाणनीय नहीं होता है।

4- **वैज्ञानिक** ज्ञान में यथार्थता (exactness) का गुण पाया जाता है जबकि साधारण ज्ञान में इस गुण का अभाव रहता है।

5- **वैज्ञानिक** ज्ञान अधिक स्पष्ट (explicit) तथा निश्चित (definite) होता है। लेकिन, साधारण ज्ञान या सामान्य ज्ञान में यह गुण नहीं होता है।

6- **वैज्ञानिक** ज्ञान में परिशुद्धता (precision) अधिक पायी जाती है और लचीलापन (flex-ibility) बहुत कम। इसके विपरीत साधारण ज्ञान या सामान्य बोध में लचीलापन अधिक पाया जाता है और परिशुद्धता बहुत कम।

7- **वैज्ञानिक** ज्ञान में उच्च विश्वसनीयता (high reliability) पायी जाती है। यह ज्ञान अधिक स्थिर (stable) तथा संगत (consistent) होता है। इसके विपरीत साधारण ज्ञान में निम्न विश्वसनीयता (low reliability) पायी जाती है।

8- **वैज्ञानिक** ज्ञान में उच्च वैधता (high validity) पाई जाती है। विशेष रुप से भविष्यवाणी वैध ता (predictive validity) काफी संतोषप्रद होती है। इसके विपरीत साधारण ज्ञान अथवा सामान्य बोध (common sense) में निम्न वैधता (low validity) पायी जाती है।

9- **वैज्ञानिक** ज्ञान का स्रोत काफी विश्वसनीय होता है। नियंत्रित अवलोकन (observation) तथा प्रयोग (experimentation) के आधार पर यह ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसके विपरीत साध

ारण ज्ञान या सामान्य बोध का स्रोत विश्वसनीय नहीं होता है।

10- **वैज्ञानिक** ज्ञान के आधार पर भविष्यवाणी (prediction) करना संभव होता है। वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित भविष्यवाणी में किसी तरह का खतरा (danger) नहीं होता है। इसके विपरीत साधारण ज्ञान अथवा सामान्य बोध के आधार पर भविष्यवाणी करना संभव नहीं होता है और यदि भविष्यवाणी की जाती है तो उसमें खतरे की संभावना अधिक रहती है।

11- **वैज्ञानिक** ज्ञान में सैद्धांतिक ज्ञान की प्रधानता होती है, जबकि साधारण ज्ञान या सामान्य बोध में व्यावहारिक ज्ञान की प्रधानता होती है।

वैज्ञानिक ज्ञान वास्तव में सामान्य ज्ञान के आधार पर विकसित होता है। वैज्ञानिक चिंतन की शुरुआत सामान्य बोध से होती है। प्राकृतिक घटनाओं के सबंध में साधारण व्यक्तियों का जो ज्ञान या बोध होता है, वैज्ञानिक (scientists) उसकी जांच करते हैं तथा उसकी सत्यता या वैज्ञ. ानिकता को प्रमाणित करते हैं। साधारण लोग प्राकृतिक घटनाओं के संबंध में असंगठित ज्ञान या सूचनायें (informations) देते हैं और वैज्ञानिक उन्हें संगठित (organized) करते हैं। अतः विज्ञान सामान्य बोध का ही सुव्यवस्थित तथा निर्यंत्रित विस्तार (extension) है।

ज्ञान-अर्जन की विधियाँ - निगमन विधि, आगमन विधि

(Methods of acquiring knowledge)

ज्ञान-अर्जन की मुख्य दो विधियाँ हैं, जिन्हें निगमन-विधि (deductive method) तथा आगमन-विधि (inductive method) कहते हैं।

(क) **निगमन विधि** (Deductive method)- इस विधि में सामान्य से विशिष्ट की ओर (from general to particular) तक्र करके कोई ज्ञान प्राप्त किया जाता है। पहले कोई सामान्य कथन प्रस्तुत किया जाता है और उसी के आधार पर किसी विशिष्ट कथन तक पहुंचने का प्रयास किया जाता है। जैसे-मनुष्य मरणशील होता है (man is mortal), अथवा सभी मनुष्य मरणशील होते हैं (all men are mortal) । यह एक सामान्य कथन है। इसके आधार पर निष्कर्ष (conclusion) निकाला जाता है कि मोहन मनुष्य है (Mohan is man) और इसलिए वह मरणशील है (Mohan is mortal) । सामान्य कथन या प्रथम वाक्य को प्रधान वाक्य (major premise), द्वितीय वाक्य को लघु वाक्य (minor premise) तथा तृतीय वाक्य को निष्कर्ष (conclusion) कहते हैं। यहां प्रधान वाक्य को सत्य मानकर प्रकृति की एकरुपता या समरुपता के नियम (law of uniformity) के आधार पर निष्कर्ष प्राप्त किया जाता है। प्रकृति का यह नियम है कि जो घटना एक परिस्थिति में घटती है, वह उस तरह को समान पा.

रस्थिति में पुनः घटित होगी। इस विधि के द्वारा सही ज्ञान का अर्जन संदिग्ध ही रहता है। कारण है कि- (i) इसमें एक दोष यह है कि प्रधान वाक्य के गलत होने पर निष्कर्ष गलत हो जायेगा। यहां निष्कर्ष तभी सही होगा जब आधार वाक्य सही हो। (ii) दूसरा दोष यह है कि इसके द्वारा कोई नया ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। (iii) तीसरा दोष यह है कि यहां ज्ञान-अर्जन के सभी चरण (steps) शामिल नहीं होते है।

(ख) **आगमन विधि** (Inductive method)- इस विधि में निगमन-विधि के विपरीत क्रिया पायी जाती है। यहां विशिष्ट से सामान्य की ओर (from particular tc general) तक्र करके कोई ज्ञान अर्जित किया जाता है। जैसे-मोहन मरता है, सोहन मरता है, राम मरता है, श्याम मरता है आदि। इन विशिष्ट घटनाओं के आधार पर निष्कर्ष प्राप्त किया जाता है कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। यहाँ किसी विशिष्ट ज्ञान तक पहुंचने में पांच चरण (steps) या अवस्थायें (stages) निहित हैं। (i) पहले चरण में समस्या (problem) का निर्माण किया जाता है। जैसे-एक समस्या यह हो सकती है कि क्या मनुष्य मरणशील है? (ii) दूसरे चरण में समस्या से संबंधित परिकल्पना (hypothesis) का निर्माण किया जाता है। जैसे-परिकल्पना बनायी जा सकती है कि 'मनुष्य मरणशील है'। (iii) तीसरे चरण में वास्तविक अध्ययन करके प्रदत्त संग्रह (data collection) तथा विश्लेषण (analysis) किया जाता है। (iv) चौथे चरण में प्रदत्त के विश्लेषण के आधार पर कोई निष्कर्ष (conclusion) प्राप्त किया जाता है। जैसे-निष्कर्ष प्राप्त हो सकता है कि 'मनुष्य मरणशील है'। यहां ज्ञान-अर्जन के सभी चरण (steps) शामिल नहीं होते है। (v) पाँचवे और अन्तिम चरण में उस निष्कर्ष या ज्ञान का सामान्यीकरण (generalization) किया जाता है। जैसे-सामान्यीकरण किया जा सकता है कि 'सभी मनुष्य मरणशील है'।

स्पष्ट है कि आगमन विधि ज्ञान-अर्जन की वैज्ञानिक तथा विश्वसनीय (reliable) विधि है।

(i) इस विधि के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अधिक विश्वसनीय होता है।

(ii) इसके द्वारा पुराने ज्ञान के पुष्टिकरण (confirmation) में सहायता मिलती है।

(iii) इस विधि से नये ज्ञान का अर्जन संभव होता है। फिर भी, यह विधि निगमन-विधि की विरोधी नहीं है, बल्कि पूरक है।

(क) **तथ्य** (Fact)- तथ्य का अर्थ वह अवलोकन (observation) है, जिसका सत्यापन (Verification) हो सके। जो जन्म लेता है, वह मरता है, इसका निरीक्षण अथवा अवलोकन हम सभी करते हैं। इसका सत्यापन कोई भी शोधकर्ता किसी भी समय किसी भी स्थान पर कर सकता है। अतः हम इस अवलोकन को तथ्य कहेंगे। गुडे तथा हैट (Goode and Hatt, 1952) ने इसी अर्थ में तथ्य को परिभाषित किया है। उनके अनुसार **''तथ्य एक अनुभववादी सत्यापनीय अवलोकन हैं।''**

(ख) **परिकल्पना** (Hypothesis)- परिकल्पना का अर्थ अनुमानित कथन (conjectural state-

ment) है। अध्ययन या प्रयोग शुरु करने के पहले अध्ययनकर्ता या प्रयोगकर्ता प्रयोगात्मक चर (experiemental variable), के परिणाम के संबंध में एक अनुमान लगाता है, जिसको परिकल्पना कहते हैं। लेकिन सभी अनुमान को शोध परिकल्पना (research hypothesis) नहीं कह सकते। केवल ऐसे अनुमान को परिकल्पना कहते हैं, जो प्रमाणनीय या सत्यापनीय (verifiable) होता है। करलिंगर (Kerlinger, 2002) के अनुसार ''परिकल्पना दो या अधिक चरों के बीच संबंध का अनुमानात्मक कथन है।''

(ग) **सिद्धांत** (Theory)- (Arthur S. Rober & Rolf Rober) **रेबर** के अनुसार सिद्धांत शब्द का व्यवहार तीन अर्थो मे किया जाता है। (1) उनके अनुसरर ''सिद्धांत अभिव्यक्तियों का एक संयुक्त संग्रह है, जो सभी निरीक्षित तथ्य और आनुभविक प्रदत्त की व्याख्या से सम्बद्ध ठीक-ठीक उच्चरित अनुसंधान क्षेत्र का पूर्ण तथा संगत लक्षण वर्णन प्रस्तुत करता है।''

(2) इसी तरह **रेबर** तथा **रेबर** ने सिद्धांत शब्द की परिभाषा देते हुए कहा ''सिद्धांत एक सामान्य नियम या सम्बद्ध सामान्य नियमों का एक संग्रह है, जिसका प्रतिपादन ज्ञान तथ्यों तथा आनुभविक परिणामों के एक संसक्त की व्याख्या हेतु किया जाता है।''

(3) **रेबर** तथा **रेबर** ने सिद्धांत शब्द को प्रचलित भाषा शौली में भी परिभाषित किया है। उन्होंने कहा ''सिद्धांत ऐसे विचारों या नियमों के विवेकी संसक्त के लिए एक सूचक शब्द (catch word) है, जिन्हें निसकासनीय या संदिग्ध समझा जाता है।''

(घ) **नियम या कानून** (Law)- वैधिक भाषा में नियम का तात्पर्य सरकार द्वारा आरोपित आचरण सम्बद्ध नियम से है। विज्ञान की भाषा में प्रकृति में पायी गयी एक समानता (uniformity) के विवरण को नियम, कानून या विधि कहते हैं। चैपलिन (Chaplin, 1975), ने इसी अर्थ में इसकी परिभाषा दी है। उनके अनुसार ''वैज्ञानिक नियम व्यापक सामान्यीकरण हैं जो चरों के बीच कारण-कार्य संबंधों तथा उनकी पूर्ववर्ती अवस्थाओं का वर्णन करते हैं।''

प्रयोगकर्ता, अध्ययनकर्ता या शोधकर्ता (researcher) सबसे पहले किसी घटना या तथ्य के संबंध में कोई परिकल्पना बनाता है। फिर वास्तविक प्रयोग, अध्ययन या शोध करके उस परिकल. पना की जाँच करता है। जब परिकल्पना सही प्रमाणित हो जाती है तो उसे सिद्धांत के रुप में स्वीकार कर लिया जाता है। अन्त में भिन्न-भिनन शोधकर्ता, प्रयोगकर्ता या अध्ययनकर्ता स्वतंत्र रुप से उस सिद्धांत का सत्यापन (verification), करते है। और जब वह सत्यापित हो जाता है तो इसे एक नियम के रुप में स्वीकार कर लिया जाता है।

अतं में इस सिद्धान्त के पुनरावृत्ति (replication) तथा प्रमाणीकरण (verification) तथा पुष्टिकरण (confirmation) के बाद एक नियम का निर्माण किया जाता है। इस सिद्धांत के आधार पर तत्परता-नियम (law of readiness), अभ्यास-नियम (law of exercise) तथा प्रभाव-नियम (law of effect) की स्थापना की गई ।

स्मरणीय बिन्दु-

सामान्य ज्ञान अनुभव आधारित होता है।

वैज्ञानिक ज्ञान प्रमाण आधारित होता है।

परिकल्पना शोध का आधार है।

सिद्धांत अनेक तथ्यों पर आधारित होता है।

नियम सार्वभौमिक सत्य को व्यक्त करते हैं।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
Hypothesis	-	परिकल्पना
Theory	-	सिद्धांत
Law	-	नियम
Fact	-	तथ्य
Knowledge	.	ज्ञान

5 **अंक के प्रश्न-**

1. सामान्य ज्ञान क्या है?
2. वैज्ञानिक ज्ञान की परिभाषा दीजिए।
3. परिकल्पना क्या है?
4. सिद्धांत एवं नियम में अंतर लिखिए।
5. तथ्य का महत्व बताइए।

15 **अंक के प्रश्न-**

1. सामान्य एवं वैज्ञानिक ज्ञान में अंतर स्पष्ट कीजिए।
2. परिकल्पना एवं सिद्धांत की विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. शोध में तथ्य एवं नियम की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. ज्ञान–अर्जन की विधियों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. शोध का आधार क्या है?

(a) कल्पना

(b) परिकल्पना

(c) मनोरंजन

(d) अनुमान

2. वैज्ञानिक ज्ञान होता है-

(a) प्रमाण आधारित

(b) अंधविश्वास आधारित

(c) भावना आधारित

(d) मिथक आधारित

3. Theory का अर्थ है-

(a) नियम

(b) सिद्धांत

(c) तथ्य

(d) अनुमान

4. सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है-

(a) प्रयोगशाला से

(b) दैनिक अनुभव से

(c) केवल पुस्तक से

(d) सिद्धांत से

5. सार्वभौमिक सत्य को क्या कहते हैं?

(a) नियम

(b) तथ्य

(c) सिद्धांत

(a) अनुमान

खण्ड-2

शोध विधि और इसकी विशेषतायें

इकाई-5

वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरुप

उद्देश्य-

1. वैज्ञानिक ज्ञान की अवधारणा को समझना।
2. वैज्ञानिक ज्ञान की विशेषताओं का अध्ययन करना।
3. सामान्य ज्ञान एवं वैज्ञानिक ज्ञान में भेद समझना।

वैज्ञानिक-विधि का अर्थ (Meaning of Scientific Method)- चैपलिन (Chaplin) ने वैज्ञानिक विधि को परिभाषित करते हुए कहा है कि **''वैज्ञानिक विधि का तात्पर्य वे प्रविधियाँ हैं, जिनका उपयोग ज्ञान की खोज में वैज्ञानिकों द्वारा किया जाता है।''** इसके लिए वैज्ञानिक कभी स्वाभाविक निरीक्षण (naturalistic observation) का व्यवहार करता है और कभी प्रयोग (experimentation) का। इस दृष्टिकोण से वैज्ञानिक विधि का व्यवहार निम्नलिखित दो परिस्थितियों में किया जाता है-

1- **स्वाभाविक निरीक्षण** (Naturalistic observation)- ज्ञान की खोज के लिए जब स्वाभाविक परिस्थिति में बाह्य रुप से निरीक्षण किया जाता है तो इसे स्वाभाविक निरीक्षण करते हैं। इसकी चर्चा करते हुए चैपलिन (1975) ने कहा **''स्वाभाविक निरीक्षण का अर्थ तथ्यों का वस्तुनिष्ठ निरीक्षण, अभिलेखन तथा व्याख्या उसी रुप में करना है जिस रुप में वे प्रकृति में पाये जाते हैं।''** वैज्ञानिक विधि का यह पक्ष सामाजिक विज्ञानों (social sciences) अथवा व्यवहारपकर विज्ञानों (behavioural sciences) जैसे, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान (sociology), मानव-विज्ञान (anthropology), आदि में प्रधान होता है। भौतिक विज्ञानों (physical sciences) में यह पक्ष अपेक्षाकृत गौण होता है। स्वाभाविक निरीक्षण में अध्ययन-परिस्थिति के अनियंत्रित (uncontrolled) होने के कारण प्राप्त परिणाम विश्वसनीय (reliable) नहीं हो पाते हैं और उनके आधार पर भविष्यवाणी करना (prediction) कठिन बन जाता है।

2- **प्रयोग** (Experimentation)- वैज्ञानिक विधि का एक महत्वपूर्ण पक्ष प्रयोग है। वैज्ञानिक पहले किसी स्वतंत्र चर (independent variable) का परिचालन (manipulation) करता है और उसके प्रभाव अर्थात् आश्रित चर (dependen variable) को विशेष रुप से परिचालित करता है। चैपलिन (1975) के शब्दों में **''प्रयोग में वैज्ञानिक वातावरण को विशेष रुप से परिचालित करता है ताकि उन पूर्ववर्ती परिस्थितियों को अच्छी तरह से समझा जा**

सके, जिनके कारण कोई घटना घटती है।'' वैज्ञानिक विधि का यह पक्ष भौतिक विज्ञानों में अधिक प्रधान होता है।

वैज्ञानिक विधि का स्वरुप या विशेषतायें

वैज्ञानिक विधि के स्वरुप से संबंधित निम्नलिखित विशेषतायें अधिक महत्वपूर्ण हैं-

(क)- वस्तुनिष्ठता (Objectivity)- वस्तुनिष्ठता का अर्थ यह है कि निरीक्षक (observer), प्रयोगकर्ता (experimenter) या शोधकर्ता (researcher) किसी घटना (event), प्रपंच (phenomenon) या तथ्य (fact) का अध्ययन उसी रुप में करता है, जिस रुप में वह घटित होता है, वह अपने व्यक्तिगत कारकों यथा आवश्यकता (need), पूर्वाग्रह (prejudice), स्थिराकृति (stereotype) आदि से प्रभावित नहीं होता है। इसकी चर्चा करते हुए बन जाता है। **फेयरचाइल्ड** (Fairchild 1667-1729) ने कहा है ''वस्तुनिष्ठता का अर्थ अध्ययन-परिस्थिति से अपने आपको बचाने की योग्यता तथा समय विशेष में किसी पक्षपात या पूर्वाग्रह तथा संवेग के आधार पर नहीं बल्कि प्रमाण तथा विवके के आधार पर तथ्यों का अवलोकन है।''

वस्तुनिष्ठता के दृष्टिकोण से ज्ञान को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- (क) आत्मनिष्ठ ज्ञान (subjective knowledge) तथा (ख) वस्तुनिष्ठ ज्ञान (objective knowledge)। आत्मनिष्ठ ज्ञान को अवैज्ञानिक ज्ञान (unscientific knowledge) भी कहते हैं। इस प्रकार के ज्ञान का आधार निरीक्षक (observer) या अध्ययनकर्ता स्वंय होता है। यह ज्ञान निरीक्षित घटना (observed event) या तथ्य (fact) के अनुकूल नहीं, बल्कि निरीक्षक या अध्ययनकर्ता के अनुकूल होता है। वह अपनी आवश्यकता, पूर्वअनुभूति, पूर्वधारणा (prejudice), अथवा तन्मयता (preoccupation) से प्रभावित होकर इस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करता है। इसीलिए, एक ही घटना या तथ्य के संबंध में विभिन्न निरीक्षकों द्वारा प्राप्त ज्ञानों में सहमति (agreement) नहीं, बल्कि असहमति (disagreement) अधिक होती है। दर्शन (philosophy), नीतिशास्त्र (ethics) आदि में इसी प्रकार के आत्मनिष्ठ ज्ञान की प्रधानता होती है। लेकिन व्यवहारपरक विज्ञानों (behavioural sciences) तथा प्राकृतिक विज्ञानों (natural sciences) में इस प्रकार के ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है।

(ख) दूसरी ओर वस्तुनिष्ठ ज्ञान को वैज्ञानिक ज्ञान (scientific knowledge) कहत **अध्ययन-विधि, पायलट अध्ययन, परीक्षण संचालन और प्रदत्त संग्रह** हैं। इस प्रकार का ज्ञान निरीक्षक या अध्ययनकर्ता के अनुकूल नहीं, बल्कि घटना या तथ्य के अनुकूल होता है। यह ज्ञान वास्तव में अध्ययनकर्ता या निरीक्षक के व्यक्तिगत कारकों यथा पक्षपात (bias), पूर्वाग्रह (prejudice), पूर्वकल्पना (preconception), आदि से मुक्त होता है। इस प्रकार के ज्ञान की प्रधानता प्राकृतिक विज्ञानों तथा व्यवहारपरक विज्ञानों में पायी जाती है। विशुद्ध रुप में यह ज्ञान भौतिक विज्ञान (Physics), रसायन विज्ञान (chemistry), आदि प्राकृतिक विज्ञानों में उपलब्ध होता

है। मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, आदि व्यवहारपरक विज्ञानों में विशुद्ध वस्तुनिष्ठ ज्ञान कठिन होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वैज्ञानिक विधि शुद्ध रुप में केवल प्राकृतिक विज्ञानों में ही संभव है। व्यवहारपरक विज्ञानों अथवा सामाजिक विज्ञानों (social sciences) में मनोविज्ञान की प्रयोग-विधि समाज-विज्ञान या मानव विज्ञान की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। तन्मयता (preoccupation) से प्रभावित होकर इस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करता है। इसीलिए, एक ही घटना या तथ्य के संबंध में विभिन्न निरीक्षकों द्वारा प्राप्त ज्ञानों में सहमति (agreement) नहीं, बल्कि असहमति (disagreement) अधिक होती है। दर्शन (philosophy), नीतिशास्त्र (ethics) आदि में इसी प्रकार के आत्मनिष्ठ ज्ञान की प्रधानता होती है। लेकिन व्यवहारपरक विज्ञानों (behavioural sciences) तथा प्राकृतिक विज्ञानों (natural sciences) में इस प्रकार के ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। फिर भी, प्राकृतिक विज्ञानों की तुलना में मनोविज्ञान की प्रयोग-विधि में वस्तुनिष्ठता कम पायी जाती है।

1- **नियंत्रण** (Control)- नियंत्रित वातावरण का अर्थ वह अध्ययन परिस्थिति है, जिसम. ें निरीक्षित तथ्य (observed facts) का एकमात्र कारण परिचालित चर (manipulated variable) होता है। **चैपलिन** (Chaplin) के अनुसार ''**नियंत्रण का अर्थ प्रयोगात्मक अवस्थाओं को इस ढंग से व्यवस्थित करना है जिससे यह निश्चित हो सके कि अनुसंधान के अन्तर्गत प्रयोगात्मक अथवा स्वतंत्र चर ही प्राप्त परिणामों के लिए उत्तरदायी है।**'' प्राकृतिक विज्ञानों (natural science) में व्यवहारपरक विज्ञानों (behavioural science) की अपेक्षा अधिक कठोर नियंत्रण पाया जाता है।

2- **पुनरावृत्ति** (Replication)- वैज्ञानिक विधि की एक विशेषता पुनरावृत्ति है। इसका अर्थ यह है कि शोधकर्ता, अध्ययनकर्ता या प्रयोगकर्ता अपने अध्ययन को बार-बार दोहराता है तथा प्राप्त परिणाम की सत्यता को प्रमाणित करता है। यदि सदा एक ही तरह का परिणाम प्राप्त होता है तो समझा जाता है कि अध्ययन विश्वसनीय है और उसे स्वीकार कर लिया जाता है। यदि परिणाम भिन्न-भिनन समयों में भिन्न-भिन्न हो जाते हैं तो समझा जाता है कि अध्ययन अविश्वसनीय है और उसे पुनः दुहराया जाता है।

3- **सत्यापनशीलता** (Verifiability)- वैज्ञानिक विधि में सत्यापनशीलता का गुण पाया जाता है। यह विधि सत्यापनीय (verifiable) होती है। इसका अर्थ यह है कि किसी वैज्ञानिक विधि को न केवल वह वैज्ञानिक स्वयं दोहरा कर अपने द्वारा प्राप्त परिणाम की सत्यता की जाँच करते हैं, बल्कि दूसरे वैज्ञानिक भी उसे बार-बार दुहराकर उस परिणाम की सत्यता की जाँच करता है। जैसे-एक शोधकर्ता ने अपने प्रयोग के आधार पर यह परिणाम प्राप्त किया कि परिणाम के ज्ञान (knowledge of results) से व्यक्ति का निष्पादन (performance) अधिक अच्छा बन जाता है। इस निष्कर्ष या परिणाम की जाँच कोई भी दूसरा शोधकर्ता स्वंय प्रयोग करके कर सकता है। ऐसा करना इसलिए संभव होता है कि प्रयोगात्मक अवस्था नियंत्रित होती है।

4- **उच्च विश्वसनीयता** (High reliability)- वैज्ञानिक विधि में उच्च विश्वसनीयता का गुण पाया जाता है। विश्वसनीय विधि का अर्थ वह विधि है, जिसके आधार पर विभिन्न परिस्थितियों या समयों में प्राप्त परिणामों (results) में स्थिरता (stability) या संगति (consistency) अधिक पायी जाती है। कोई विधि उसी सीमा तक वैज्ञानिक होती है, जिस सीमा तक उसके परिणाम में स्थिरता होती है।

5- **भविष्यवाणी- कुशलता** (Predictive efficiency)- वैज्ञानिक विधि में उच्च भविष्यवाणी कुशलता पायी जाती है। ऐसी विधि से जो परिणाम प्राप्त होता है, उसके आधार पर सफल भविष्यवाणी करना संभव होता है। कोइ विधि उसी हद तक वैज्ञानिक होने का दावा कर सकती है, जिस हद तक वह भविष्यवाणी करने में कुशल (efficient) होती है। **चैपलिन** (Chaplin, 1975) के अनुसार **''भविष्यवाणी का तात्पर्य किसी घटना के भावी परिणाम से सम्बद्ध कथन से है।''**

6- **परिशुद्धता** (Precision)- वैज्ञानिक विधि में परिशुद्धता का गुण पाया जाता है। परिशुद्धता का अर्थ अध्ययन का मापन की यथार्थता (accuracy) तथा स्थिरता (consistency) है। कोई विधि उसी सीमा तक परिशुद्ध (precise) होती है, जिस सीमा तक उसके आधार पर किया गया अध्ययन यथार्थ (accurate) होता है। भौतिक विज्ञानों (physical sciences) की विधि में यह गुण अधिक पाया जाता है और व्यवहारपरक विज्ञानों (behavioural sciences) अथवा सामाजिक विज्ञानों (social sciences) की विधि में यह गुण अपेक्षाकृत कम पाया जाता है।

7- **सार्वभौमिकता** (Universality)- वैज्ञानिक विधि के आधार पर जो परिणाम या निष्कर्ष (result or conclusion) प्राप्त होता है, वह सभी व्यक्तियों पर सर्वत्र लागू होता है। जैसे-न्यूटन ने जो गुरुत्व का नियम (law of gravity) वैज्ञानिक विधि के आधार पर निकाला वह सभी स्थानों के लोगों के लिए कल भी सही था, आज भी है और कल भी रहेगा। इसी प्रकार एविगंहॉस (Ebbinghaus, 1885) ने प्रयोग-विधि के आधार पर साहचर्य (association) के जिन नियमों (laws) का उल्लेख किया, उनमें बहुत अंशों में विश्वजनीनता का गुण पाया जाता है। **चैपलिन** (Chaplin, 1975) के अनुसार **''विश्वजनीनता का अर्थ वैधता का मापदण्ड या परीक्षण है, जिसका परिणाम प्रत्येक को प्रत्येक जगह स्वीकृत होता है।''**

8- **सिद्धांत तथा नियम** (Theory and law)- वैज्ञानिक विधि में जो अध्ययन होता है, वह विधिवत या सुव्यवस्थित (systematic) होता है। इसका अर्थ यह है कि वैज्ञानिक सबसे पहले कोई परिकल्पना (hypothesis) बनाता है और अपने अध्ययन के आधार पर उसकी सत्यता की जाँच करता है। जब परिकल्पना सही प्रमाणित हो जाती है तो उसे सिद्धांत का रुप दे दिया जाता है और जब उसके विपक्ष में कोई प्रमाण नहीं मिलता है या उसे कोई दूसरा वैज्ञानिक खंडित नहीं कर पाता है तो उसे नियम (law) का रुप दे दिया जाता है।

भौतिक विज्ञान (physics), रसायन-विज्ञान (chemistry), आदि भौतिक विज्ञानों (physical sciences) की अध्ययन-विधि में ये सभी विशेषतायें पर्याप्त मात्रा में पायी जाती हैं। जीव-विज्ञान (zoology), वनस्पति-विज्ञान (botany), आदि जैविक विज्ञानों (biological sciences) की विधि में ये विशेषतायें अपेक्षाकृत कम मात्र में पायी जाती है। लेकिन, मनोविज्ञान, समाज विज्ञान (sociology), आदि सामाजिक विज्ञानों (social sciences) या व्यवहारपरक विज्ञानों (behavioural sciences) की विधि में ये विशेषतायें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पाती है।

किसी विज्ञान का वैज्ञानिक स्वरुप उसकी विषय-वस्तु (subject matter) पर निर्भर नहीं करता है, बल्कि उसकी वैज्ञानिक विधि पर निर्भर करता है।

मनोवैज्ञानिक शोध के लिए जिन विधियों का व्यवहार किया जाता है, उनमें पूर्ण वैज्ञानिकता नहीं पायी जाती है। इसके कई कारण हैं। (1) मनोविज्ञान की प्रयोग-विधि में नियंत्रण (control) उस सीमा तक संभव नहीं है, जिस सीमा तक भौतिक विज्ञान या रसायन-विज्ञान की विधि में संभव है। कारण, मनोविज्ञान का अध्ययन-विषय प्राणी (living being) है, जिसे पूरी तरह नियंत्रित करना संभव नहीं है। (2) मनोविज्ञान की प्रयोग विधि में वस्तुनिष्ठता (objectivity) भी पूरी तरह संभव नहीं है। कारण, प्राणी और विशेष रुप से मनुष्य का अध्ययन करते समय शोधकर्ता पक्षपात (biases) से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता है। (3) मनोविज्ञान की प्रयोग-विधि में पुनरावृत्ति (replication) तथा सत्यापन (verification) का गुण भी उस मात्रा में संभव नहीं है, जिस मात्रा में भौतिक विज्ञान या प्राकृतिक विज्ञानों में संभव है। (4) विश्वसनीयता (reliability) के मापदण्ड (criterion) के आधार पर भी मनोवैज्ञानिक विधि पूरी तरह वैज्ञानिक नहीं है। कई कारणों से मनोविज्ञान की प्रयोग-विधि भौतिक विज्ञानों (physical sciences) की प्रयोग-विधि की अपेक्षा कम विश्वसनीय (less reliable) है। (5) मनोवैज्ञानिक प्रयोग-विधि में भौतिक वैज्ञानिक विधि पूरी तरह वैज्ञानिक नहीं है। इसी आधार पर मनोविज्ञान को भौतिक विज्ञान या रसायन-विज्ञान की तरह पूर्ण विज्ञान नहीं माना जाता हैं। अतएव, यह कहना युक्ति. संगत है कि मनोविज्ञान उसी हद तक विज्ञान होने का दावा कर सकता है, जिस हद तक इसकी विधियाँ वैज्ञानिक है।

स्मरणीय बिन्दु-

वैज्ञानिक ज्ञान प्रमाण, तर्क एवं निरीक्षण पर आधारित होता है।

वैज्ञानिक ज्ञान वस्तुनिष्ठ एवं सत्यापन योग्य होता है।

वैज्ञानिक ज्ञान व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध होता है।

वैज्ञानिक ज्ञान सार्वभौमिक एवं परीक्षणीय होता है।

वैज्ञानिक अध्ययन में निष्पक्षता आवश्यक है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
Scientific Knowledge	–	वैज्ञानिक ज्ञान
Observation	–	निरीक्षण
Objectivity	–	वस्तुनिष्ठता
Verification	–	सत्यापन
Validity	–	वैधता
Reliability	–	विश्वसनीयता

5 **अंक के प्रश्न-**

1. वैज्ञानिक ज्ञान क्या है?
2. वैज्ञानिक ज्ञान की दो विशेषताएँ लिखिए।
3. वस्तुनिष्ठता का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. सत्यापन क्यों आवश्यक है?
5. वैज्ञानिक ज्ञान एवं सामान्य ज्ञान में अंतर लिखिए।

15 **अंक के प्रश्न**–

1. वैज्ञानिक ज्ञान के स्वरूप का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. वैज्ञानिक ज्ञान की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
3. वैज्ञानिक एवं सामान्य ज्ञान में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. वैज्ञानिक अध्ययन में वस्तुनिष्ठता एवं सत्यापन का महत्व बताइए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. वैज्ञानिक ज्ञान आधारित होता है–

(a) अंधविश्वास

(b) प्रमाण

(c) कल्पना

(d) भावना

2. वैज्ञानिक ज्ञान की प्रमुख विशेषता है-

(a) पक्षपात

(b) वस्तुनिष्ठता

(c) भ्रम

(d) अनुमान

3. वैज्ञानिक ज्ञान का आधार है-

(a) निरीक्षण

(b) अफवाह

(c) मिथक

(d) कल्पना

4. Reliability का अर्थ है-

(a) विश्वसनीयता

(b) वैधता

(c) सत्य

(d) सिद्धांत

5. वैज्ञानिक ज्ञान की प्रकृति होती है-

(a) अव्यवस्थित

(b) व्यवस्थित

(c) काल्पनिक

(d) भावनात्मक

इकाई-6

वैज्ञानिक विधि के आवश्यक तत्व

(Essential elements of scientific method)

उद्देश्य-

1. वैज्ञानिक विधि के तत्वों को समझना।
2. निरीक्षण एवं वर्गीकरण का महत्व जानना।
3. वैज्ञानिक अनुसंधान की प्रक्रिया को समझना।

कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) ने वैज्ञानिक विधि के निम्नलिखित तत्वों का उल्लेख किया है।-

1- **सुविचारित निरीक्षण** (Careful observation)- वैज्ञानिक विधि का एक आवश्यक तत्व सुविचारित निरीक्षण है। वैज्ञानिक विधि का आरंभ निरीक्षण से ही होता है। लेकिन, निरीक्षण का सुविचारित तथा सुव्यवस्थित होना आवश्यक है। करलिंगर (Kerlinger, 2002) ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वैज्ञानिक विधि पक्षपातरहित (unbiased), विश्वसनीय (reliable) तथा वैध (valid) निरीक्षण पर आधारित होती है।

2- **तथ्यों का वर्गीकरण** (Classification of facts)- वैज्ञानिक विधि का एक मुख्य तत्व तथ्यों का वर्गीकरण है। वैज्ञानिक विधि में निरीक्षण के आधार पर तथ्य (facts) तथा सूचनायें (information) एकत्र किए जाते हैं। इसके बाद उन तथ्यों या सूचनाओं को आवश्यकता के अनुसार कई वर्गों या श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक वर्ग या श्रेणी पर एक लेबल (label) लगा दिया जाता है, जिससे उन्हें संचित रखने, तथा समय पर आवश्यकता के अनुसार खोज निकालने में सुविधा होती है।

3- **सम्बन्ध एवं क्रम** (Relationship and sequences)- वैज्ञानिक विधि में निहित तीसरा तत्व यह है कि घटनाओं (events) तथा तथ्यों (facts) के पारस्परिक संबंधों तथा क्रमों को निर्धारित किया जाता है। एक ओर यह देखने का प्रयास किया जाता है कि विभिन्न तथ्यों या घटनाओं में कैसा सम्बन्ध है, और दूसरी ओर यह कि वे किस क्रम से संबंधित है।

4- **वैज्ञानिक नियमों की खोज** (Discovery of scientific laws)- वैज्ञानिक विधि में संग्रहित तथ्यों के आधार पर रचनात्मक कल्पनाओं द्वारा वैज्ञानिक नियमों की खोज की जाती है।

5- **आत्म आलोचना** (Self criticism)- इस अवस्था में वैज्ञानिक नियमों की आलोचना की जाती है तथा उसकी विश्वसनीयता (reliability) तथा वैधता (validity) को निर्धारित किया जाता है।

6- **सार्वजनिक स्वीकृति** (Universal acceptance)- वैज्ञानिक विधि का अन्तिम तत्व सार्वज. निक स्वीकृति है। इस प्रकार, नियमों का निर्माण किया जाता है, जिन्हें सभी स्थानों तथा समयों के लिए स्वीकृति मिल जाती है।

शोध समस्या, शोध समस्या निर्धारण के स्रोत- शोध समस्या का अर्थ वह प्रश्न है, जिसका कोई तात्कालिक उत्तर (immediate answer) उपलब्ध न हों। **टाउनसेन्ड** (Townsend, 1953) ने इसी अर्थ में समस्या की परिभाषा दी है। उनके अनुसार ''सामान्यतः समस्या वह प्रश्न है, जिसका कोई उपलब्ध उत्तर नहीं होता हैं।''

मैकू गूगन (Mc Guigan, 1988) ने भी टाउनसेन्ड के विचार का समर्थन किया है और कहा है कि ''समस्या का तात्पर्य हमारे ज्ञान की रिक्ति से है।''

करलिगंर (Kerlinger)- के अनुसार दो या अधिक चरों के बीच क्या संबंध है? इसी प्रश्न को समस्या कहते हैं। उनके अपने शब्दों **में ''समस्या वह प्रश्नवाचक वाक्य या कथन है जो यह पूछता है कि दो या दो से अधिक चरों के बीच किस तरह का संबंध है।''**

इसी प्रकार रेबर तथा रेबर (Reber and Reber) ने परिभाषा देते हुये कहा है कि ''समस्या मूलतः वह परिस्थिति है, जिसमें कुछ घटक ज्ञात होते हैं और अतिरिक्त घटकों का निर्धारण आवश्यक होता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं में कोई मौलिक भेद नहीं है। इन सभी परिभाषाओं के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि समस्या एक ऐसा प्रश्न है, जिसका कोई तात्कालिक उत्तर उपलब्ध नहीं होता है।

समस्या का महत्व या सार्थकता (Importance or significance of problem)- शोध (research) के लिए समस्या या प्रश्न का होना आवश्यक है। शोधकार्य का आरंभ तभी होता है जब शोधकर्ता के सामने कोई समस्या होती है। इसीलिये, समस्या के चयन को शोध-प्रक्रिया (research process) का पहला चरण माना जाता है। शोध की सफलता समस्या की अनुकूलता एवं उपयोगिता पर निर्भर करती है। अनुकूलता का अर्थ यह है कि समस्या ऐसी हो जिसका समाधान सहज रुप से किया जा सके। उपयोगिता का अर्थ यह है कि समस्या ऐसी हो, जिसके समाधान से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा सम्पूर्ण मानव जीवन लाभांवित हो सके। **मैक गूगन** (Mc Guigna, 1998) ने कहा है कि अनुकूल तथा उपयोगी समस्या के चयन हो जाने पर शोधकार्य बहुत आसान बन जाता है।

शोध - समस्या को कैसे खोजें

मैकू गूगन (Mc Guigan, 1988) ने इस कार्य को आसान बना दिया है। उनके अनुसार निम्नलिखित तीन परिस्थितियों (situations) में समस्या को ढूँढना चाहिए-

1. **ज्ञान में रिक्ति (Gap in knowledge)-** जब परिस्थिति ऐसी होती है कि किसी प्रश्न के

संबंध में पर्याप्त सूचना उपलब्ध नहीं होती है तो समस्या उठ खडी होती है। यह हमारे ज्ञान में रिक्ति (gap in our knowledge) है। अत: शोधकर्ता के लिए यह एक अनुकूल तथा उपयोगी समस्या है। इसी तरह जीवन के जिस क्षेत्र में ज्ञान में रिक्ति नजर आए वहाँ शोध-समस्या दृष्टिगोचर होगी। **मैकगूगन** (Mc Guigan, 1998) ने कहा है कि शोध के लिए समस्या ढूँढने का सबसे उत्तम उपाय वह है, जहाँ सूचना का सीधा अभाव हो।

2. **विरोधी परिणाम (Contradictory results)-** शोध के लिए समस्या ढूँढ की दूसरी परिस्थिति वह है, जहाँ किसी विषय, घटना या प्रपंच (phenomenon) के संबंध में विरोधी परिणाम उपलब्ध हों। अनुसंधानकर्ताओं (investigators) के बीच असहमति होती है तो ऐसी परिस्थिति में भी आगे शोध के लिए एक समस्या उठ खडी होती है। यहाँ विरोधी परिणामों के बीच असहमति का समाधान करके किसी निश्चित परिणाम को प्राप्त करने हेतु शोध करना आवश्यक बन जाता है। इसी प्रकार जहाँ कहीं भी विरोधी परिणाम मिलते हैं, वहाँ आगे शोध के लिए एक समस्या स्वत: निकल आती है। अत: एक जागरुक शोधकर्ता विरोधी परिणामों वाली परिस्थितियों का अवलोकन करके अपने लिए कोई अनुकूल समस्या का चयन कर सकता है।

   मैकगूगन (1998) ने भी कहा है कि जब विभिन्न अनुसंधानों के परिणामों में असहमति होती है तो समस्या स्वत: दृष्टिगोचर होती है।

3. **तथ्य की व्याख्या (Explaining a fact)-** जब कोई तथ्य व्याख्यारहित (unexplained) रह जाता है तो वहाँ एक समस्या उत्पन्न हो जाती है। उस व्याख्यारहित तथ्य की व्याख्या करना आवश्यक बन जाता है। **मैकगूगन** (Mc Guigan, 1988) ने भी कहा है कि जब कोई तथ्य व्याख्यारहित सूचना के अंश के रुप में रह जाता है तो वहाँ समस्या दृष्टिगोचर होती है।

स्मरणीय बिन्दु-

वैज्ञानिक विधि का प्रारंभ निरीक्षण से होता है।

तथ्य संग्रह एवं वर्गीकरण वैज्ञानिक अध्ययन के आवश्यक भाग हैं।

वैज्ञानिक विधि निष्पक्ष एवं तार्किक होती है।

परिकल्पना वैज्ञानिक शोध का आधार है।

वैज्ञानिक विधि परीक्षण एवं सत्यापन पर आधारित होती है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
Scientific Method	–	वैज्ञानिक विधि

Classification	–	वर्गीकरण
Hypothesis	–	परिकल्पना
Observation	–	निरीक्षण
Experiment	–	प्रयोग

5 अंक के प्रश्न-

1. वैज्ञानिक विधि क्या है?
2. निरीक्षण का महत्व बताइए।
3. वर्गीकरण क्या है?
4. परिकल्पना का अर्थ लिखिए।
5. वैज्ञानिक विधि की दो विशेषताएँ बताइए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वैज्ञानिक विधि के आवश्यक तत्वों का वर्णन कीजिए।
2. वैज्ञानिक विधि में निरीक्षण एवं वर्गीकरण की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
3. वैज्ञानिक अनुसंधान की प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. वैज्ञानिक पद्धति की उपयोगिता पर निबंध लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. वैज्ञानिक विधि का पहला चरण है–

(a) निष्कर्ष

(b) निरीक्षण

(c) सिद्धांत

(d) वर्गीकरण

2. Hypothesis का अर्थ है–

(a) प्रयोग

(b) परिकल्पना

(c) तथ्य

(d) निष्कर्ष

3. वैज्ञानिक विधि की विशेषता है-

(a) निष्पक्षता

(b) अंधविश्वास

(c) कल्पना

(d) भावना

4. तथ्य संग्रह के बाद कौन-सा चरण आता है?

(a) वर्गीकरण

(a) कल्पना

(a) बहस

(a) निष्कर्ष

5. वैज्ञानिक विधि आधारित होती है-

(a) तर्क एवं परीक्षण

(b) मिथक

(c) कल्पना

(d) परंपरा

इकाई-7

एक अच्छी समस्या की विशेषताएँ या कसौटियाँ

उद्‌देश्य-

1. शोध समस्या की अवधारणा को समझना।
2. एक अच्छी शोध समस्या की विशेषताओं को जानना।
3. शोध समस्या चयन की प्रक्रिया समझना।

समस्यायें दो तरह की होती है-वैज्ञानिक समस्याऐं (scientific problems) तथा अवैज्ञानिक समस्यायें (unscientific problems) । वैज्ञानिक समस्या को अच्छी समस्या (good problem) कहते हैं। शोध-समस्यायें (research problems) सदैव वैज्ञानिक होती है।

1. **प्रश्नवाचक कथन (Interrogative statement)-** एक अच्छी समस्या की पहचान यह है कि उसे प्रश्नवाचक वाक्य के रुप में होना चाहिये। इसी कारण समस्या को प्रश्न (question) भी कहा जाता है। अत: समस्या को निर्धारित करते मसय शोधकर्ता को चाहिए कि वह इस बात को ध्यान में रखे कि समस्या वास्तव में प्रश्न के रुप में हो। **टाउनसेन्ड** (Twonsend, 1953) ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि शोध-समस्या सदा प्रश्न के रुप में होती है।

2. **चरों के बीच संबंध का विवरण (Stating relation between variables)-** अच्छी समस्या वह है जो दो या दो से अधिक चरों के बीच संबंध का विवरण प्रस्तुत करती हो। प्रत्येक प्रश्नवाचक कथन वास्तव में चरों के बीच संबंध का उल्लेख करता है। समस्या का उद्‌देश्य यह देखना होता है कि दो या दो से अधिक चरों के बीच कैसा संबंध है। अत: समस्या का निर्धारण करते समय इस बात पर सोच-विचार (consideration) करना आवश्यक है कि समस्या ऐसी हो कि उससे दो या दो से अधिक चरों के बीच संबंध का बोध हों।

3. **स्पष्टता एवं असंदिग्धता (Clarity amd unambiguity)-** अच्छी समस्या या वैज्ञानिक समस्या के लिए यह भी आवश्यक है कि वह स्पष्ट तथा असंदिग्ध प्रश्न (unambiguous question) के रुप में हो। ऐसा प्रश्न हो जिसका अर्थ स्पष्ट हो और द्विअर्थी न हो। **टाउन्सेन्ड** (Townsend, 1953) ने कहा है कि शोध-समस्या वह प्रश्नवाचक कथन है, जो दो या दो से अधिक चरों के बीच संबंध को स्पष्ट रुप से व्यक्त करने में समर्थ होता है।

4. **समाधान योग्य (Solvabel)- मैकगूगन** (Mc Guigan) के अनुसार एक वैज्ञानिक समस्या अथवा एक अच्छी समस्या वह है जो समाधान योग्य होती है।

5. **आनुभविक परीक्षा (Empirical testability)-** एक अच्छी समस्या या वैज्ञानिक समस्या केवल समाधान योग्य नहीं होती है बल्कि परीक्षणीय (testable) भी होती है। मैकगूगन (

Mc Gujigan, 1998) ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वैज्ञानिक समस्या, पीरक्षणीय होती है। परीक्षणीय समस्या वह प्रश्न है, जिसका उत्तर 'हाँ' (yes) या 'नहीं' (no) के रुप में दिया जा सके। स्पष्टत: यह समस्या न केवल समाधान योग्य है, बल्कि परीक्षणीय भी है। अत: इसे एक वैज्ञानिक समस्या या एक अच्छी समस्या कहेंगे।

6. **अनुकूल अध्ययन विधि की सुलभता (Availability of suitable methodology)-** अच्छी समस्या की एक विशेषता यह भी है कि उसके समाधान तथा परीक्षण के लिए कोई अनुकूल विधि उपलब्ध हो। आनुभविक परीक्षण (empirical testing) के लिए अनुकूल अध्ययन विधि का उपलब्ध होना आवश्यक है।

7. **सीमांकित स्वरुप (Definite nature)-** एक अच्छी समस्या वह प्रश्न है, जिसका स्वरुप सीमांकित (definite) होता है। इसी तरह प्रत्येक अच्छी शोध-समस्या सीमांकित स्वरुप की होती है। उसका स्वरुप अतिव्यापी नहीं होता है।

8. **परिमाणात्मक स्वरुप (Quantitative nature)-** एक वैज्ञानिक समस्या या एक अच्छी समस्या मात्रात्मक या परिमाणात्मक स्वरुप की होती है। इसका अर्थ यह है कि समस्या से संबंधित प्राप्तांकों (data) का मात्रात्मक मापन (quantitative measurement) संभव होता है।

9. **परिकल्पना के रुप में परिवर्तनीय (Convertable into hypothesis)-** वैज्ञानिक समस्या की एक विशेषता यह है कि वह परिकल्पना या परिकल्पनाओं के रुप में परिवर्तनीय हो। समस्या को पहले परिकल्पना या परिकल्पनाओं में बदल दिया जाता है और फिर आनुभविक अध्ययनों (empirical studies) के आधार पर उनका परीक्षण किया जाता है।

   इसी तरह प्रत्येक वैज्ञानिक समस्या ऐसी होती है कि उसे एक या एक से अधिक परिकल्पनाओं में बदलना संभव होता है।

10. **प्रायोगिक आशय (Practical implications)-** एक अच्छी शोध-समस्या या एक वैज्ञानिक शोध-समस्या में प्रायोगिक आशय का उपलब्ध होना भी अपेक्षित है। जिस शोध-समस्या में व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के लिए प्रयोगिक, आशय जिस सीमा तक प्रधान होते है, उसी सीमा तक उसे वैज्ञानिक समस्या माना जाता है। **गर्सटीन** (Gurstein) ने इस विशेषता पर अधिक बल दिया है।

शोध समस्या के निर्धारण के स्रोत

शोधकर्ता के लिए एक अच्छी समस्या को ढूँढ निकालना और भी अधिक कठिन है।

1- **शोधकर्ता का गहन अध्ययन एवं प्रवीणता (Deep study and specification of the researcher)-** शोध के लिए समुचित समस्या के स्थापन (location) का एक महत्वपूर्ण आधार शोधकर्ता का व्यक्तिगत अध्ययन तथा प्रवीणता है। जिस क्षेत्र (area) में उसका अध्ययन गहन होता है और जिसमें वह अपने आप को प्रवीण समझता है, उस क्षेत्र में समस्या को ढूँढ़ने में उसे सुविधा होती है।

2- **शोधकर्ता की अभिरुचि एवं सामर्थ्य (Interest and competency of the researcher)-** समुचित समस्या को निर्धारित करने में व्यक्तिग अभिरुचि तथा सामर्थ्य से भी सहायता मिलती है। शोधकर्ता किसी विद्याविशेष के ऐसे क्षेत्र में समस्या को ढूँढता है, जिसमें उसकी अभिरुचि अधिक होती है। इसी तरह वह समस्या को ढूँढते समय अपनी सामर्थ्य या बुद्धि को भी ध्यान में रखता है। वह ऐसी समस्या ढूँढ निकालता है जो न केवल उसकी रुचि के अनुकूल होती है, बल्कि जो उसकी सामर्थ्य यानी बौद्धिक योगयता के भी अनुकूल होती है।

3- **पहले के शोध कार्य (Previous research work)-** शोध- समस्या को निर्धारित करने का एक महत्वपूर्ण स्रोत (source) वास्तव में पहले किये गये शोध-कार्य हैं। अपनी अभिरुचि के अनुकूल व्यक्ति किसी क्षेत्र का चयन करता है। वह निर्णय लेता है कि उसे उसी क्षेत्र में शोध करना है। फिर वह उस क्षेत्र में पहले किये गये अनुसंधानों का अध्ययन करता है और इसके आधार पर किसी समुचित समस्या की स्थापना करता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से समस्या ढूँढने का यह स्रोत अधिक उपयोगी है।

4- **शोध-सार (Research abstracts)-** शोधकर्ता जिस क्षेत्र में शोध करना चाहता है, उस क्षेत्र से सम्बद्ध शोध-सारों का अध्ययन करता है। इस अध्ययन से उसे कोई नयी समस्या सूझ जाती है। कभी-कभी शोध-सार में ही कोई समस्या इंगित रहती है, जिससे नये शोधकर्ता को बनी-बनायी समस्या (ready made problem) हाथ लग जाती है।

5- **शोध-पत्रिकाएँ (Research journals)-** शोध-पत्रिकाओं के आधार पर भी शोध-समस्या को निर्धारित करने में सहायता मिलती है। नये शोधकर्ता ऐसी पत्रिकाओं का अध्ययन करता है, जिनमें भिन्न-भिन्न अनुसंधानकर्ताओं के शोधों के सारांश तथा निष्कर्ष (summary and conclusions) प्रकाशित होते हैं। इनके अध्ययन से भी नये शोधकर्ता को समुचित समस्या को खोज निकालने में सुविधा होती है।

6- **विश्वज्ञान-कोष (Encyclopedia)-** शोधकर्ता जिस विषय में शोध करना चाहता हो उस

विषय के विश्वज्ञान-कोष की सहायता से वह किसी अनुकूल समस्या को निर्धारित कर सकता है। जैसे-यदि कोई शोधकर्ता शिक्षा के क्षेत्र में शोध करना चाहता हो तो वह शिक्षा के विश्वज्ञान कोष (encyclopedia of education) की सहायता से समुचित समस्या की स्थापना कर सकता है।

7- **संगत पुस्तकें (Relevant book)-** शोध-समस्या को ढूँढने का एक सरल स्रोत संगत पुस्तक है। शोधकर्ता जिस विषय तथा जिस क्षेत्र में शोध करना चाहता है उससे संगत पुस्तकों का अध्ययन करता है और आवश्यक सूचनायें (informations) प्राप्त करता है। उन सूचनाओं के आलोक में वह समुचित समस्या को स्थापित कर लेता है। जैसे- यदि कोई शोधकर्ता सर्जनात्मकता (creativity) के क्षेत्र शोध करना चाहता हो तो वह सर्जनात्मकता पर लिखी गयी पुस्तकों का अध्ययन करता है और प्राप्त सूचनाओं के आलोक में उसे कोई नयी समस्या सूझ जाती है।

8- **विशेषज्ञ-सुझाव (Expert's suggestions)-** नई दिशा में समुचित समस्याओं को ढूँढ निकालने में संबंधित क्षेत्र के विशेषज्ञों से बड़ी सहायता मिलती है। उनके सुझाव (suggestions) तथा सलाह (advice) के आलोक में नये शोधकर्ता को समुचित समस्या को खोज निकालने में काफी सुविधा होती है।

9- **उपेक्षित क्षेत्र (Neglected area)-** शोध-समस्या के चयन का एक सरल स्रोत वह है जो अब तक शोधकर्ताओं की दृष्टि से ओझल रहा है। जिन क्षेत्रों में पहले से अधिक शोध हो चुके होते हैं, उन क्षेत्रों में नयी समस्या को ढूँढ निकालना कठिन होता है। लेकिन, जिस क्षेत्र में अब तक कोई शोधकार्य नहीं हुआ हो अथवा कम हुआ हो, उस क्षेत्र में समस्या को ढूँढ़ना बहुत आसान होता है। अत: शोधकर्ता को चाहिए कि वह अपनी रुचि तथा सामर्थ्य के अनुकूल ऐसे क्षेत्र में समस्या को खोजने का प्रयास करें, जो शोध के दृष्टिकोण से अब तक उपेक्षित रहा हो।

10- **नियोजित निर्देश-कार्यक्रम (Planned instructional programme)-** शोध-समस्या को निर्धारित करने का एक उपयोगी स्रोत नियोजित-कार्यक्रम है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत अनुसंधान गोष्ठियों, वाद-विवादों तथा सेमीनारों की गणना की जाती है।

11- **वर्तमान की आवश्यकताएँ (Needs of the present)-** ऐसे शोधकर्ता समय की नब्ज (pulse of the time) को पहचानते हैं। वे वर्तमान की आवश्यकताओं तथा माँगों को समझते हैं और उनके अनुकूल समस्याओं को खोज निकालते हैं।

12- **पेशेवर लोग (Professional persons)-** वर्तमान समय में शोध-समस्या के स्थापन के लिए वह स्रोत सबसे अधिक प्रचलित तथा सुलभ है। ऐसे लोग शोध के क्षेत्र में अनुभवी होते हैं और उनकी मुट्ठी में अनेक समस्याएँ बन्द रहती हैं। ये शोध-व्यापारी (research trader) होते हैं। उनके यहाँ शोध का विक्रय होता है। अत: नये शोधकर्ता अपनी रुचि तथा आवश्यकता के अनुकूल शोध-समस्या मुद्रा के बल पर हासिल कर लेते हैं। लेकिन, यह स्रोत वांछनीय नहीं है।

स्मरणीय बिन्दु-

शोध समस्या शोध का प्रथम चरण है।

अच्छी समस्या स्पष्ट एवं शोधयोग्य होती है।

समस्या का अनुभवजन्य आधार होना चाहिए।

शोध समस्या नवीन एवं उपयोगी होनी चाहिए।

शोधकर्ता की रुचि एवं संसाधनों के अनुरूप समस्या होनी चाहिए।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
Research Problem	–	शोध समस्या
Empirical Basis	–	अनुभवजन्य आधार
Feasibility	–	व्यवहार्यता
Variables	–	चर
Researchable	–	शोधयोग्य

5 **अंक के प्रश्न-**

1. शोध समस्या क्या है?
2. एक अच्छी शोध समस्या की दो विशेषताएँ लिखिए।
3. शोध समस्या चयन का अर्थ बताइए।
4. अनुभवजन्य आधार क्या है?
5. शोध समस्या का महत्व लिखिए।

15 **अंक के प्रश्न-**

1. एक अच्छी शोध समस्या की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

2. शोध समस्या चयन की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।

3. शोध समस्या के महत्व पर निबंध लिखिए।

4. शोध समस्या चयन में आने वाली कठिनाइयों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. शोध का प्रथम चरण है-

(a) निष्कर्ष

(b) शोध समस्या

(c) वर्गीकरण

(d) रिपोर्ट लेखन

2. शोध समस्या होनी चाहिए-

(a) अस्पष्ट

(b) शोधयोग्य

(c) असंभव

(d) काल्पनिक

3. Empirical Basis का अर्थ है-

(a) अनुभवजन्य आधार

(b) कल्पना

(c) अनुमान

(d) भावना

4. शोध समस्या चयन में महत्वपूर्ण है-

(a) रुचि

(b) अंधविश्वास

(c) मिथक

(d) भ्रम

5. अच्छी समस्या की विशेषता है-

(a) अस्पष्टता

(b) स्पष्टता

(c) भ्रम

(d) पक्षपात

इकाई-8

शोध समस्या के प्रकार

उद्देश्य-

1. शोध समस्याओं के प्रकारों को समझना।
2. विभिन्न शोध क्षेत्रें की समस्याओं का अध्ययन करना।
3. शोध समस्या वर्गीकरण की प्रक्रिया समझना।

मनोवैज्ञानिकों तथा अनुसंधानकर्ताओं ने समस्या के निम्नलिखित प्रकारों का उल्लेख किया है-

1- **ऐतिहासिक समस्या (Historical problem)-** इस प्रकार की समस्याओं का तात्पर्य ऐसी समस्याओं से है, जिनका संबंध अतीत की घटनाओं से होता है। ऐसी समस्याओं पर आधारित शोध को एतिहासिक शोध (historical research) कहते हैं। ऐसे शोधों का उद्देश्य ऐतिहासिक घटनाओं की समुचित रुप में व्याख्या करना तथा प्राप्त सूचनाओं के आलोक में वर्तमान की व्यावहारिक समस्याओं का निदान करना है।

2- **सैद्धान्तिक समस्या (Theoretical problem)-** इस प्रकार की समस्या का अर्थ वह समस्या है, जिसका संबंध मौलिक विज्ञान (basic science) या शुद्ध मनोविज्ञान (pure psychology) से होता है। भौतिकी (physics), रसायन विज्ञान (chemistry) आदि मौलिक विज्ञानों में इस तरह की समस्या का महत्व अधिक पाया जाता है। इसी प्रकार सामान्य मनोविज्ञान, बाल-मनोविज्ञान, पशु मनोविज्ञान आदि शुद्ध मनोविज्ञानों में सैद्धान्तिक समस्या का महत्व अधिक होता है। ऐसी समस्याओं में तथ्यों की खोज, सिद्धान्तों तथा नियमों के निर्माण पर अधिक बल दिया जाता है।

3- **व्यावहारिक समस्या (Practical problem)-** इस प्रकार की समस्या का तात्पर्य उन समस्याओं से है, जिनका संबंध व्यावहारिक विज्ञान (applied sciences) या व्यावहारिक मनोविज्ञान (applied psychology) से होता है। शिक्षा-मनोविज्ञान, औद्योगिक मनोविज्ञान, नैदानिक मनोविज्ञान आदि व्यावहारिक विज्ञानों में ऐसी समस्याओं का महत्व देखा जाता है। व्यावहारिक समस्याओं में सामाजिक संघर्षों, अन्त: समूह संघर्षो, कर्मचारी हडताल, पढ़ायी छोड देना (drop-outs) आदि का अध्ययन किया जाता है और संगत सूचनाएँ प्राप्त की जाती है ताकि इनका समाधान करके व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र को लाभान्वित किया जा सके।

4- **सर्वेक्षण- समस्या (Survey problem)-** इस प्रकार की समस्या का तात्पर्य वे समस्याएँ हैं, जिनका उपयोग समाज-विज्ञान (sociology), मानव विज्ञान (anthropology), अर्थशास्त्र (economics), राजनीति विज्ञान (political science) आदि सामाजिक विज्ञानों (social

science) में अधिक किया जाता है। ऐसी समस्याओं का मुख्य उद्देश्य समुदाय कल्याण (community welfare) के लिए विभिन्न समान्य घटनाओं का विश्लेषण तथा विवेचन इस प्रकार करना है कि संगत सूचनाओं को प्राप्त करने में सुविधा हो। समाज-मनोविज्ञान (social psychology) में इस प्रकार की समस्या का महत्व देखा जाता है।

5- **प्रायोगिक समस्या (Experimental problem)-** प्रायोगिक समस्या का अर्थ वह समस्या है जिसमें दो या दो से अधिक चरों के बीच संबंध का उल्लेख किया जाता है। ऐसी समस्या का उद्देश्य किसी स्वतंत्र चर (independent variable) तथा आश्रित चर (dependent variable) के बीच संबंध को निर्धारित करना होता है। ऐसी समस्या का समाधान प्रयोगशाला (laboratory) के कठोर नियंत्रित वातावरण में किया जात है। समान्य मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान आदि में प्रायोगिक समस्याओं का अधिक महत्व होता है।

6- **सामाजिक समस्या (Social problem)-** इस प्रकार की समस्याओं का अर्थ वे समस्याएँ है, जिनमें सामाजिक मूल्यों (social values) की खोज, सामाजिक नीति एवं योजना के निर्माण तथा सामाजिक कल्याण (social welfare) से संबंधित कथन होते हैं। स्पष्टतः ऐसी समस्याओं का निर्माण करना ओर सामाजिक कल्याण करना है।

7- **दार्शनिक समस्या (Philosophical problem)-**इस प्रकार की समस्या में दार्शनिक विषयों के संबंध में उल्लेख किया जाता है। ऐसी समस्याएँ सैद्धान्तिक होती है। दर्शनशास्त्र (philosophy) नीति शास्त्र (ethics) आदि क्षेत्र में ऐसी समस्याओं की प्रधानता पायी जाती है।

8- **सहसम्बधात्मक समस्या (Correlational problem)-** इस प्रकार की समस्या का अर्थ वह समस्या है, जिसमें दो चरों के बीच सहसंबंध का उल्लेख किया जात है। जैसे-बुद्धि चर तथा सर्जनात्मकता (creativity) के बीच कैसा संबंध है? स्पष्टतः इस समस्या का उद्देश्य बुद्धि चर तथा सर्जनात्मकता चर के बीच सहसम्बध को निर्धारित करना है।

स्मरणीय बिन्दु-

शोध समस्याएँ सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक दोनों प्रकार की हो सकती हैं।

सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं शैक्षिक क्षेत्रों में शोध समस्याएँ भिन्न होती हैं।

शोध समस्या का चयन उद्देश्य पर आधारित होता है।

शोध समस्या नवीन एवं उपयोगी होनी चाहिए।

सही समस्या शोध की सफलता का आधार है।

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**

Theoretical Problem	–	सैद्धांतिक समस्या
Practical Problem	–	व्यवहारिक समस्या
Social Research	–	सामाजिक शोध
Psychological Research	–	मनोवैज्ञानिक शोध
Educational Research	–	शैक्षिक शोध

5 अंक के प्रश्न-

1. शोध समस्या के प्रकार लिखिए।
2. सैद्धांतिक समस्या क्या है?
3. व्यवहारिक समस्या का अर्थ बताइए।
4. सामाजिक शोध समस्या क्या है?
5. शैक्षिक शोध का महत्व लिखिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. शोध समस्याओं के प्रकारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक समस्याओं में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक शोध समस्याओं का विवेचन कीजिए।
4. शोध समस्या वर्गीकरण की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. व्यवहारिक समस्या संबंधित होती है–

(a) व्यावहारिक समाधान

(b) कल्पना

(c) मिथक

(d) भावना

2. Theoretical Problem का अर्थ है–

(a) सामाजिक समस्या

(b) सैद्धांतिक समस्या

(c) आर्थिक समस्या

(d) राजनीतिक समस्या

3. शोध समस्या चयन आधारित होता है-

(a) उद्देश्य

(b) भ्रम

(c) मिथक

(d) अंधविश्वास

4. Educational Research संबंधित है-

(a) शिक्षा

(b) राजनीति

(c) व्यापार

(d) खेल

5. सही शोध समस्या से शोध होता है-

(a) असफल

(b) सफल

(c) भ्रमित

(d) अधूरा

खण्ड-3

शोध- प्रक्रिया, शोध प्रक्रिया में निहित अवस्थायें या चरण

इकाई-9

शोध समस्या, परिचय, साहित्य समीक्षा, परिकल्पना

उद्देश्य-

1. शोध समस्या की अवधारणा को समझना।
2. साहित्य समीक्षा एवं परिकल्पना का महत्व जानना।
3. शोध प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरणों का अध्ययन करना।

शोध का लक्ष्य नये ज्ञान की खोज करना तथा पुराने ज्ञान की जाँच करना है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए शोधकर्ता को अनेक चरणों (steps) या अवस्थाओं (stages) से गुजरना पड़ता है। जहाँ तक मनोवैज्ञानिक शोध का प्रश्न है, इसमें निम्नलिखित चरण या अवस्थायें (phases or stages) निहित (involved) रहती है। किसी अनुसंधान में निहित अवस्थाओं या चरणों (steps) के शोध-प्रक्रिया कहते हैं। भौतिक विज्ञानों (physical sciences) तथा व्यवहारपरक विज्ञानों (behavioural sciences) अर्थात् सामाजिक विज्ञानों (social sciences) में शोध-प्रक्रिया का स्वरुप समान नहीं होता है। व्यवहारपरक विज्ञान अथवा मनोविज्ञान में होनेवाले अनुसंधान या शोध में कुछ निश्चित अवस्थायें (stages)या चरण (steps) होते हैं यथा विषय का चयन, संबंधित साहित्य का सर्वेक्षण, अध्ययन-विधि, प्रतिदर्श (sample), परिकल्पनायें (hypotheses), प्रदत्त संग्रह (data collection), विवेचन एवं निष्कर्ष (discussion and conclusion) तथा सारांश (summary) होता है।

1- **शोध समस्या (Research problem)-** किसी भी शोध की पहली अवस्था (stage) या चरण (step) समस्या है। समस्या के बिना शोधकार्य आरंभ हो ही नहीं सकता है। यह बात मनोवैज्ञानिक शोध अथवा सामाजिक शोध पर भी लागू होती है।

(क) शोध-समस्या ऐसे प्रश्न के रुप में होती है, जिसका कोई तात्कालिक उत्तर उपलब्ध नहीं होता है।

(ख) शोध-समस्या की एक विशेषता यह भी है कि उसका समाधान आनुभाविक आधार (empirical basis) , पर सम्भव हो। इसका समाधान आनुभविक अध्ययनों के आधार पर सम्भव है। पुस्तक, पत्रिकाऐं, शोध-सार (research abstracts), विश्वज्ञान-कोश (encyclopedia) आदि की सहायता से शोध-समस्या को ढूँढ़ निकाला जाता है।

शोध-समस्या का चयन दो चरणों में किया जाता है। पहले चरण में शोधकर्ता यह तय करता है कि किस क्षेत्र में उसे शोध करना है। इसे शोध का सामान्य उद्देश्य माना जाता है। यदि उसे यह ज्ञात होता है कि इस पर बहुत कम अध्ययन हुए हैं अथवा भारतीय परिवेश में अध्ययन अब तक नहीं हुए हैं तो वह निर्णय करता है कि रुढ़िवाद से संबंधित अध्ययन ही करना है। दूसरे चरण में वह रुढ़िवाद के किसी विशेष पक्ष को चुनता है और एक विशिष्ट अध्ययन-विषय या समस्या का चयन करताहै। इसे शोध का विशिष्ट उद्देश्य कहा जाता है।

जब शोध-समस्या का चयन कर लिया जाता है तो शोध की पहली अवस्था समाप्त हो जाती है और शोधकर्ता दूसरी अवस्था की ओर कदम बढ़ाता है।

2- **परिचय (Introduction)-** शोध या अनुसंधान (investigation) की यह दूसरी अवस्था या दूसरा चरण (step) है। इस अवस्था में शोधकर्ता अपनी शोध-समस्या का परिचय देता है। वह समस्या के विभिन्न घटकों (components) की व्याख्या करता है। यदि इस दिशा में पहले से कुछ अध्ययन उपलब्ध हों तो उनका भी उल्लेख किया जायेगा। इसी प्रकार प्रत्येक शोध में समस्या के भिन्न-भिनन चरों (variables) या घटकों के समबन्ध में परिचय देना तथा संगत कारकों या निर्धारकों का उल्लेख करना आवश्यक होता है। इससे शोध समस्या का स्वरुप स्पष्ट हो जाता है तथा अध्ययन की एक निश्चित दिशा दृष्टिगोचर होने लगती है। इसके बाद शोध-कार्य अपने तीसरे चरण में पहुँच जाता है।

3- **साहित्य समीक्षा (Literature review)-** शोधकर्ता ऐसे अध्ययनों का पुनरावलोकन करता है, जो शोध-समस्या से प्रत्यक्ष रुप से (directly) अथवा अप्रत्यक्ष रुप से (indirectly) सम्बद्ध होते हैं। समस्या से संगत अध्ययनों (relevant studies) की समीक्षा से कई तरह के लाभ होते हैं- (क) प्रस्तुत शोध-समस्या के सम्बन्ध में शोधकर्ता को इस बात की जानकारी मिलती है कि यह शोध कहाँ तक सार्थक है। (ख) अध्ययन की दिशा निर्धारित करने में सुविधा होती है। (ग) परिकल्पनाओं (hypotheses) के निर्माण करने में मदद मिलती है। (घ) अध्ययन करने के बाद जो परिणाम (results) प्राप्त होते हैं, उनकी विवेचना करने तथा परिकल्पनाओं की स्वीकृति (acceptance) या अस्वीकृति (rejection) के तक्रआधार (rationale) की व्याख्या करने में सुविधा होती है।

4- **परिकल्पनायें (Hypotheses)-** परिकल्पना का अर्थ वह अनुमानित कथन (conjectural statment) है, जिसका निर्माण शोधकर्ता वास्तविक शोध के पहले ही करता है। इस अनुमानित कथन में शोध के परिणामों के सम्बन्ध में भविष्वाणी (prediction) की जाती है।

परिकल्पनाओं का निर्माण करते समय शोधकर्ता (researcher) या अनुसंधानकर्ता (investigator) को कई बातों पर ध्यान देना होता है। (क) परिकल्पना का शोध-समस्या से संगत होना आवश्यक है। (ख) परिकल्पना ऐसी हो जो कथन (statement) के रुप में हो। (ग)

परिकल्पना का कथन ऐसा हो जिसमें समस्या के दो या अधिक चरों के बीच सम्बन्ध के बारे में पूर्वकथन किया गया हो। (घ) परिकल्पना ऐसी हो जिसको आनुभविक अध्ययनों (empirical studies) के आधार पर सही या गलत प्रमाणित किया जा सके।

परिकल्पनाओं का निर्माण कई स्रोतों (sources) के आधार पर कियाजाता है। व्यक्तिगत अनुभव (personal experience), पुस्तक (books), पत्रिकायें (magazines), शोध-सार (research abstracts) आदि स्त्रोत महत्वपूर्ण हैं।

परिकल्पना और सिद्धान्त

परिकल्पना वह अनुमानात्मक कथन (conjectural statement) है जो दो या दो से अधिक चरों के बीच सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। दूसरी ओर सिद्धान्त वह सामान्य नियम है, जिसका प्रतिपादन सम्बन्धित घटनाओं के समूह की व्याख्या के लिए किया जाता है।

रेबर तथा **रेबर** (Reber and Reber) ने सिद्धान्त शब्द का व्यवहार तीन अर्थों में किया है। (क) एक अर्थ में सिद्धान्त का तात्पर्य सभी तथ्यों तथा आनुभविक प्राप्तांकों की व्याख्याओं की औपचारिक अभिव्यक्तियों के संगत सेट (coherent set) से है। (ख) दूसरे अर्थ में सिद्धान्त का तात्पर्य सामान्य नियम अथव अन्तरसम्बन्धित सामान्य नियमों के संग्रह से है जो ज्ञात तथ्यों तथा आनुभविक परिणामों की व्याख्या के रुप में प्रस्तुत किया जाता है। (ग) तीसरे अर्थ में सिद्धान्त का तात्पर्य विचारों या नियमों के तक्रपूर्ण सेट (reasonable set) से है जो रदद् करने योग्य (dismis-sible) या संदिग्ध (suspect) हो सकता है।

1- परिकल्पना सिद्धान्त की पहली अवस्था है। पहले परिकल्पना बनायी जाती है और परीक्षण के आधार पर ज बवह सत्य प्रमाणित हो जाती है तो उसे सिद्धान्त कहते है।

2- परिकल्पना का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित होता है और सिद्धान्त का क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत होता है। परिस्थिति के अनुकूल कई परिकल्पनाओं के मिलने से किसी एक सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है।

3- परिकल्पना किसी समस्या (problem) का अस्थाई या अंतरिम उत्तर (tentative answer) होता हे जबकि सिद्धान्त उस समस्या का अपेक्षाकृत स्थाई समाधान होता है।

4- परिकल्पना के सत्य प्रमाणित हो जाने पर सिद्धान्त का निर्माण होता है और सिद्धान्त के प्रमाणीकरण (verification) के बाद नियम (law) की स्थापना होती है।

5- परिकल्पना में वैज्ञानिकता संदिग्ध होती है, क्योंकि वह मात्र अनुमान पर आधारित होती है। दूसरी ओर सिद्धान्त में वैज्ञानिकता होती है, क्योंकि वह आनुभविक अध्ययन पर आधारित होता है।

परिकल्पना की सार्थकता, महत्त्व, आवश्यकता या कार्य

करिंलगर (Kerlinger) ने परिकल्पना के महत्त्व की चर्चा करते हुये कहा है कि परिकल. पना के उपयोग से शोधकार्य सार्थक बन जाता है। जबतक शोध समस्या के रुप में होता है तब तक उसकी सार्थकता स्पष्ट नहीं होती है और जब समस्या को परिकल्पना के रुप में परिणत कर दिया जाता है तो उसकी सार्थकता स्पष्ट हो जाती है। अत: परिकल्पना का एक कार्य अनुसंधान या शोध के अर्थ या सार्थकता को स्पष्ट करना है। परिकल्पना शोध को सार्थक बनाती है

1- **परिकल्पना शोध की दिशा निर्देशित करती है (Hypothesis provides a direction for the research)-** **करिंलगर** (Kerlinger) के अनुसार परिकल्पना से शोधकर्ता के शोध की एक निश्चित दिशा सूझ पड़ती है। परिकल्पना से शोधकर्ता को इस बात की जानकारी मिल जाती है कि उसे क्या करना है और क्या नहीं करना है, किस दिशा में प्रयास करना है और किस दिशा में प्रयास नहीं करना है। अत: परिकल्पना का एक कार्य शोध के लिए निश्चित दिशा को निर्देशित करना है।

2- **परिकल्पना शोध के क्षेत्र को सीमित करती है (Hypothesis delimits the area of the research)-** परिकलपना से शोध का क्षेत्र सीमित हो जाता है, जिससे शोधकार्य में सुविधा होती है।

3- **परिकल्पना अध्ययन को विशिष्ट बना देती है (Hypothesis makes the study specific)-** परिकल्पना से अध्ययन विशिष्ट बन जाता है। जबतक परिकल्पना का निर्माण नहीं होता है तब तक शोध का स्वरुप सामान्य (general) रहता है। लेकिन, जब परिकल्पना का निर्माण हो जाता हे तब उसका स्वरुप विशिष्ट बन जाता है।

4- **परिकल्पना आरम्भ-बिन्दु प्रदान करती है (Hypothesis provides a starting point)-** परिकल्पना से शोधकर्ता को आरम्भ-बिन्दु (starting point) का संकेत मिलता है। उसे इस बात की जानकारी मिल जाती है कि अध्ययन कहाँ से शुरु किया जाए। अत: परिकल्पना का एक कार्य अनुसंधानकर्ता को अनुसंधान के लिए आरम्भ बिन्दु प्रदान करना है।

5- **परिकल्पना शोध को एकाग्र तथा केन्द्रित बना देती है (Hypohesis makes the research focused)-** परिकल्पना से शोध केन्द्रित बन जाता है। इसका फैलाव घट जाता है और यह सिमटकर केन्द्रित बन जाता है।

6- **परिकल्पना सत्य की स्थापना में सहायक होती है (Hypothesis is helpful in establishing truth)-** परिकल्पना की सहायता से सत्य को स्थापित करने में मदद मिलती है।

7- **परिकल्पना समस्या के वैज्ञानिक समाधान में सहायक होती है (Hypothesis is helpful in the scientific solution of a problem)-** परिकल्पना के अभाव में किसी समस्या का समाधान वैज्ञानिक ढंग से संभव नहीं है। परिकल्पना का एक कार्य समस्या के वैज्ञानिक ढंग से समाधान में सहायता प्रदान करता है।

8- **परिकल्पना पद्धति-विकास में सहायक होती है (Hypothesis is helpful in the development of methodology)-** परिकल्पना का कार्य कभी-कभी नई अध्ययन-विधि या परीक्षण के विकास मे सहायता प्रदान करना है।

9- **परिकल्पना सिद्धान्त-रचना में सहायक होती है (Hypothesis is helpful in theory construction)-** शोधकर्ता पहले परिकल्पना या परिकल्पनाओं का निर्माण करता है और फिर आनुभविक अध्ययनों (empirical studies) के आधार पर उसकी जाँच करता है। बार-बार परिकल्पनाओं की जाँच के बाद जो परिणाम (results) प्राप्त होते हैं, उनके आलोक में एक सिद्धान्त की स्थापना की जाती है।

10- **परिकल्पना विश्वसनीय ज्ञान को प्राप्त करने में सहायक होती है (Hypothesis is helpful in the achievement of dependable knowledge)-** परिकल्पना से विश्वसनीय ज्ञान को हासिल करने में सहायता मिलती है। परिकल्पना विश्वसनीय ज्ञान को ढूँढ निकालने का एक शक्तिशाली हथियार है।

11- **परिकल्पना पूर्वकथन में सहायक होती है (Hypothesis is helpful in prediction)-** परिकल्पना से किसी एक घटना के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने में सुविधा होती है। यह शोधकर्ता को इस योग्य बना देती है कि वह सम्भावित घटना के सम्बन्ध में पूर्वकथन या भविष्यवाणी कर सके। भविष्यवाणी करना परिकल्पना की एक विशिष्ट शक्ति (special power) है।

शोधकार्य को समुचित रुप से पूरा करने में परिकल्पना का महत्वपूर्ण योगदान है। परिकल्पना के अभाव में भी शोधकार्य संभव है; किन्तु इसकी सफलता संदिग्ध (doubtful) है। अतः पि. रकल्पना वह पतवार है जिसकी सहायता से शोधरुपी नाव को किनारा लग जाने की सम्भावना बढ़ जाती है। आधुनिक विज्ञान में परिकल्पना के बिना सफल शोधकार्य की कल्पना नहीं की जा सकती। **बेजोर** (Bejor) ने भी कहा है कि वैज्ञानिक शोध के समुचित संचालन के लिए परिकल्पना आवश्यक है।

परिकल्पना के निर्माण के समय सोच-विचार या सावधानियाँ

1- **निश्चयात्मक कथन (Assertive statement)-** परिकल्पना बनाते समय शोधकर्ता को चाहिए कि वह इस बात का ध्यान रखे कि परिकल्पना प्रश्न के रुप में न हो बल्कि कथन (statement) के रुप में हो। इसे निश्चयात्मक कथन के रुप में होना चाहिए।

2- **स्वीकारात्मक कथन (Affirmative statement)-** शोधकर्ता को इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि परिकल्पना का कथन न केवल निश्चयात्मक हो बल्कि स्वीकारात्मक भी हो।

3- **स्पष्टता तथा असंदिग्धता (Clarity and unambiguity)-** शोधकर्ता को चाहिए कि वह कथन की स्पष्टता तथा असंदिग्धता को ध्यान में रखे। वह परिकलपना ऐसे कथन में प्रस्तुत करे जो स्पष्ट हो।

4- **मध्यम लम्बाई (Moderate length)-** परिकल्पना बनाते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कथन न तो बहुत लम्बा हो और न बहुत छोटा हो बल्कि मध्यम हो। बहुत लम्बा या बहुत छोटा वाक्य के अर्थ को ठीक-ठीक समझना कठिन बन जाता है।

5- **तथ्य कथन (Fact Statement)-** शोधकर्ता या अनुसंधानकर्ता को चाहिए कि वह परिकल्पना की रचना केवल तथ्य के रुप में करे, मूल्य कथन (value statement) के रुप में नहीं। उसे मूल्य कथन से बचना चाहिए

6- **तटस्थ शब्द (Neutral words)-** परिकल्पना में यथासम्भव तटस्थ शब्दों का उपयोग करना चाहिए और संवेगात्मक शब्दों (emotional words) तथा भावुक शब्दों (sentimental words) से बचना चाहिए।

7- **व्यावहारिकता एवं उपयोगिता (Practicability and utility)-** परिकल्पना का निर्माण करते समय अनुसंधानकर्ता (investigator) को चाहिए कि ऐसी परिकल्पना का निर्माण करे जो व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के लिए उपयोगी तथा लाभप्रद हो।

8- **स्वीकृत या अस्वीकृत होने योग्य (Able to be accepted or rejected)-** शोधकर्ता को परिकल्पना बनाते समय इतनी सावधानी बरतनी चाहिए कि उसका स्वरुप ऐसा हो कि उसे सत्य या असत्य प्रमाणित किया जा सके।

9- **उपकरण तथा परीक्षण की उपलब्धि (Availability of tools and tests)-** परिकल्पना की रचना करते समय इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि परिकल्पना ऐसी हो कि उसको सही या गलत प्रमाणित करने के लिए अनुकूल उपकरण तथा परीक्षण उपलब्ध हो।

10- **संगत चरों की संक्रियात्मक परिभाषाएँ (Operational definitions of relevant variables)-** परिकल्पना की रचना करते समय शोधकर्ता को यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि परिकल्पष्ठना में संगत चरों की संक्रियातात्मक परिभाषा उपलब्ध हो।

11- **नैतिक मूल्यों की रक्षा (Protection of ethical values)-** परिकल्पना बनाते समय विभिन्न सम्प्रदायों, वर्गों तथा जातियों नैतिक मूल्यों की रक्षा करना आवश्यक होता है। इसी तरह आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुकूल उपयुक्त परिकल्पना या परिकल्पनाओं का निर्माण करना चाहिए।

स्मरणीय बिन्दु-

शोध समस्या शोध का प्रथम चरण है।

साहित्य समीक्षा पूर्व शोधों का अध्ययन है।

परिकल्पना शोध को दिशा प्रदान करती है।

शोध समस्या स्पष्ट एवं शोधयोग्य होनी चाहिए।

शोध का परिचय विषय की पृष्ठभूमि स्पष्ट करता है।

शब्दावली-

शब्द		अर्थ
Research Problem	–	शोध समस्या
Literature Review	–	साहित्य समीक्षा
Hypothesis	–	परिकल्पना
Introduction	–	परिचय
Variables	–	चर

5 **अंक के प्रश्न-**

1. शोध समस्या क्या है?
2. साहित्य समीक्षा का अर्थ बताइए।
3. परिकल्पना क्या है?
4. शोध परिचय का महत्व लिखिए।
5. शोध समस्या चयन क्यों आवश्यक है?

15 **अंक के प्रश्न-**

1. शोध समस्या की अवधारणा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. साहित्य समीक्षा की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।
3. परिकल्पना का अर्थ, प्रकार एवं महत्व लिखिए।
4. शोध प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरणों की विस्तृत विवेचना कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. शोध प्रक्रिया का प्रथम चरण है–

(a) रिपोर्ट लेखन

(b) शोध समस्या

(c) निष्कर्ष

(d) वर्गीकरण

2. Literature Review का अर्थ है–

(a) प्रयोग

(a) साहित्य समीक्षा

(a) रिपोर्ट

(a) निष्कर्ष

3. Hypothesis का अर्थ है–

(a) निष्कर्ष

(b) परिकल्पना

(c) तथ्य

(d) वर्गीकरण

4. शोध परिचय का उद्देश्य है–

(a) मनोरंजन

(b) पृष्ठभूमि स्पष्ट करना

(c) विज्ञापन

(d) आलोचना

5. शोध समस्या होनी चाहिए–

(a) अस्पष्ट

(b) शोधयोग्य

(c) असंभव

(d) काल्पनिक

इकाई-10

अध्ययन-विधि, पायलट अध्ययन, परीक्षण संचालन और प्रदत्त संग्रह

उद्देश्य-

1. अध्ययन विधियों को समझना।
2. पायलट अध्ययन का महत्व जानना।
3. डेटा संग्रह एवं परीक्षण संचालन की प्रक्रिया समझना।

5- **अध्ययन-विधि** (Methodology)- इस चरण या अवस्था में निम्नलिखित तीन बातों का उल्लेख किया जाता है:-

(क) **प्रतिदर्श** (Sample)- इस अवस्था में शोधकर्ता अपने अध्ययन के प्रतिदर्श के सम्बन्ध में निर्णय करता है। यहाँ इस बात का निर्णय किया जाता है कि प्रस्तुत अध्ययन में किस प्रकार का प्रतिदर्श होगा, प्रतिदर्श का आकार (size) क्या होगा, किस आयु-समूह (age group) के प्रयोज्य (subjects) होगें, इत्यादि। आवश्यकता के अनुसार यादृच्छिक प्रतिदर्श (random sample), स्तरित प्रतिदर्श (stratified sample) आदि का चयन किया जा सकता है।

(ख) **अध्ययन-अभिकल्प (**Design of the study)- सामान्यत: अभिकल्प दो तरह के होते हैं जिन्हें प्रयोगात्मक अभिकल्प (experimental design) तथा अप्रयोगात्मक अभिकल्प (non-experimental design) कहते हैं। शोधकर्ता आवश्यकता के अनुसार किसी एक अभिकल्प का चयन करता है। जैसे-उपर्युक्त शोध-समस्या के संदर्भ में शोधकर्ता अप्रयोगात्मक शोध-अभिकल्प का व्यवहार करने का निर्णय ले सकता है। इस प्रकार के अभिकल्प में वातावरण को नियंत्रित करने की आवश्यकता नहीं होती है। शोधकर्ता क्षेत्र-अध्ययन (field study) अथवा सर्वेक्षण विधि (survey method) के द्वारा अपने अध्ययन-कार्य को पूरा कर लेता है। आवश्यकता के अनुसार यादृच्छिक प्रतिदर्श (random sample), स्तरित प्रतिदर्श (stratified sample) आदि का चयन किया जा सकता है।

प्रतिदर्श या प्रतिचयन (sampling) के मुख्य दो प्रकार हैं, जिन्हें सम्भाव्यता प्रतिचयन (probability sampling) तथा असंभाव्यता प्रतिचयन (non-probability sampling) कहते हैं। संभाव्यता प्रतिचयन के अन्तर्गत यादृच्छिक प्रतिदर्श (random sample), स्तरित प्रतिदर्श (stratified sample), आदि की गणना की जाती है। असंभव्यता प्रतिचयन के अर्न्तगत उद्देश्यनुसार प्रतिदर्श (purposive sample), आकस्मिक प्रतिदर्श (incidental sample), कोटा प्रतिदर्श (quota sample), आदि की गणना की जाती है। शोधकर्ता अपनी आवश्यकता तथा सुविधा के अनुसार किसी एक प्रतिदर्श या प्रतिचयन का चयन कर लेता है।

(ग) **उपकरण तथा परीक्षण (Tools and Tests)-** इस अवस्था में उन उपकरणों (tools) तथा

परीक्षणों (tests) के सम्बन्ध में निर्णय लिया जाता है, जिनका उपयोग शोधकार्य में करना होता है। प्रत्येक शोध में आंकडों (data) के संग्रह (collection) के लिए कुछ विशेष उपकरणों तथा परीक्षणों का व्यवहार किया जाता है। शोध–समस्या तथा शोध–परिकल्पनाओं के अनुकूल उपकरणों तथा परीक्षणों का चयन किया जाता है। जैसे–उपर्युक्त समस्या तथा उससे सम्बन्धित परिकल्पनाओं की जाँच के लिए तीन परीक्षणों अर्थात रुढ़िवाद परीक्षण (conservatism test), बुद्धि–परीक्षण (intelligence test) तथा सामाजिक आर्थिक स्थिति परीक्षण (socioeconomic status scale) का व्यवहार किया जाता है।

(ग) **सांख्यिकीय विधि (Statistical devices)-** इस अवस्था में आँकडों (data) के विश्लेषण तथा निरुपण (analysis and treatment) के लिए व्यवहार किये जाने वाली सांख्यिकीय विधियों के सम्बन्ध में कोई निर्णय लिया जाता है। इनमें से केवल ऐसी विधियों या परीक्षणों का चयन किया जाता है, जो आँकडों के अनुकूल होते हैं।

अनुसंधान की इस पाँचवीं अवस्था में आवश्यकता के अनुसार ग्राफीय विधियों (graphic method) का भी व्यवहार किया जाता है। इनमें बारंबारता बहुभुज (frequency polygon), आयत–चित्र (histogram), दण्ड आरेख (bar diagram), संचयी बारंबारता वक्र (cumulative frequency curve), आदि मुख्य हैं।

6- **पायलट अध्ययन (Pilot study)-** वृहत रुप से अध्ययन करने के पहले शोधकर्ता छोटे पैमाने पर एक अध्ययन करता है जिसको प्रारंभिक अध्ययन (preliminary study) अथावा पायलट अध्ययन कहा जाता है। मुख्य–उद्देश्य यह देखना है कि जो अध्ययन शोधकर्ता करने जा रहा है, वह वस्तुतः व्यवहार्य (feasible) है या नहीं। यदि वह व्यवहार्य होता है तो उसे वृहतरुप से किया जाता है और यदि व्यवहार्य- नहीं होता है तो उसे छोड दिया होता है। यह बात स्मरण रखना चाहिए कि पायलट अध्ययन वास्तव में शोध–प्रक्रिया का आवश्यक अंग नहीं है।

7- **परीक्षण संचालन और प्रदत्त संग्रह (Test administration and data collection)-** इस अवस्था में वास्तविक शोध (actual research) शुरु किया जाता है। निर्धारित समय तथा स्थान के अनुसार शोधकर्ता (researcher) प्रयोज्यों (subjects) के पास जाता है और उन पर अपेक्षित परीक्षणों का संचालन करता है। आवश्यकता के अनुसार कभी–कभी परीक्षणों का व्यवहार प्रयोज्यों पर एक ही बार कर दिया जाता है और कभी परीक्षणों को कई भागों में विभाजित करके विभिन्न अवस्थाओं (different phases) में उनका संचालन किया जाता है। परीक्षणों के संचालन के समय कई तरह की सावधानियां (precautions) को बरतना पडता है। (क) इस बात का भरसक प्रयास किया जाता है कि प्रयोज्य दिये गये निर्देश (instructions) को अच्छी तरह समझ ले। शोधकर्ता इस बात का पूरा प्रयास करता है कि प्रत्येक प्रयोज्य यह समझ ले कि उसे क्या करना है और कैसे करना है। (ख) जब सामूहिक रुप से परीक्षण का व्यवहार किया जाता है तो इस बात का भरपूर प्रयास किया जाता है कि प्रयोज्य एक दूसरे से

पूछताछ न करें अथवा एक दूसरे के उत्तरों की नकल न करें। (ग) शोधकर्ता सदा सतक्र रहता है ताकि परीक्षणें का संचालन समुचित रुप से हो सके।

परीक्षणें के सफल संचालन (administration) के बाद प्रयोज्यों द्वारा दी गयी प्रतिक्रियाओं (responses) का विश्लेषण करके आँकडें या प्रदत्त (data) का संग्रह (collection) किया जाता है। फिर अनुकूल सांख्यिकीय विधियों (statistical devices) द्वारा आँकडों का विश्लेषण तथा निरुपण (treatment) किया जाता है।

स्मरणीय बिन्दु-

पायलट अध्ययन मुख्य शोध से पहले किया जाता है।

डेटा संग्रह शोध का महत्वपूर्ण भाग है।

प्रश्नावली एवं साक्षात्कार प्रमुख विधियाँ हैं।

परीक्षण संचालन व्यवस्थित ढंग से किया जाता है।

विश्वसनीय डेटा शोध की गुणवत्ता बढ़ाता है।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
Pilot Study	–	पायलट अध्ययन
Data Collection	–	डेटा संग्रह
Questionnaire	–	प्रश्नावली
Interview	–	साक्षात्कार
Test Administration	–	परीक्षण संचालन

5 अंक के प्रश्न-

1. पायलट अध्ययन क्या है?
2. डेटा संग्रह का अर्थ बताइए।
3. प्रश्नावली क्या है?
4. साक्षात्कार की परिभाषा दीजिए।
5. परीक्षण संचालन क्यों आवश्यक है?

15 **अंक के प्रश्न-**

1. अध्ययन विधियों का विस्तृत वर्णन कीजिए।

2. पायलट अध्ययन का महत्व स्पष्ट कीजिए।

3. डेटा संग्रह की विभिन्न विधियों की विवेचना कीजिए।

4. प्रश्नावली एवं साक्षात्कार में अंतर स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. Pilot Study किया जाता है-

(a) शोध के बाद

(b) मुख्य शोध से पहले

(c) निष्कर्ष के समय

(d) रिपोर्ट लेखन में

2. Data Collection का अर्थ है-

(a) मनोरंजन

(b) डेटा संग्रह

(c) आलोचना

(d) वर्गीकरण

3. शोध में जानकारी प्राप्त करने का प्रमुख साधन है-

(a) प्रश्नावली

(a) खेल

(a) चित्रकला

(a) कविता

4. Interview का अर्थ है-

(a) निरीक्षण

(b) साक्षात्कार

(c) वर्गीकरण

(d) परीक्षण

5. विश्वसनीय शोध के लिए आवश्यक है-

(a) गलत डेटा

(b) सही डेटा

(c) अनुमान

(d) भ्रम

इकाई- 11

परिणाम एवं विवेचन

उद्देश्य-

1. शोध परिणामों को समझना।
2. डेटा विश्लेषण एवं विवेचन की प्रक्रिया जानना।
3. निष्कर्ष निर्माण की विधि समझना।

परिणाम एवं विवेचन (Results and discussion)- शोध की इस अवस्था में परिणामों (results) की विवेचना की जाती है। प्रत्येक स्वतंत्र चर से संबंधित परिणाम को एक तालिका (table) में प्रस्तुत करके उसकी विवेचना की जाती है। स्वतंत्र चरों के मुख्य प्रभाव (main effect) के साथ-साथ उनके संयुक्त प्रभाव (joint effect) को भी निर्धारित किया जाता है तथा इसके औचित्य (justification) को संगत अध्ययनों (relevant studies) के आलोक में प्रस्तुत किया जात है। इसी प्रकार दूसरे सभी स्वतंत्र चरों के परिणामें के आलोक में संबंधित परिकल्पनाओं की विवेचना करनी होगी।

वैज्ञानिक सामान्यीकरण (Scientific generalization)- शोध या अनुसंधान को इस अवस्था में प्राप्त आँकडों के विश्लेषण (analysis) तथा निरुपण (treatment) से पाये गये परिणामों (results) का सामान्यीकरण (generalization) किया जाता है। **चैपलिन** (Chaplin, 1975) ने कहा है कि सामान्यीकरण का अर्थ वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी नणर्य को व्यक्तियों वस्तुओं या घटनाओं के संपूर्ण वर्ग पर लागू किया जाता है।

सामान्यीकरण के आधार पर सिद्धातों (theories) तथा नियमों (laws) का निर्माण किया जाता हे। इसके लिए सांख्यिकीय विधियों (statistical method) ताक्रिक विधियों (logical method) तथा आगमन एवं निगमन विधियों (inductive and deductive method) का व्यवहार करना होता है।

स्मरणीय बिन्दु-

परिणाम शोध के निष्कर्ष को दर्शाते हैं।

विवेचन में परिणामों की व्याख्या की जाती है।

डेटा विश्लेषण सांख्यिकीय विधियों से किया जाता है।

निष्कर्ष शोध उद्देश्य से संबंधित होते हैं।

शोध परिणाम भविष्य के शोध में सहायक होते हैं।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
Result	–	परिणाम
Interpretation	–	विवेचन
Data Analysis	–	डेटा विश्लेषण
Conclusion	–	निष्कर्ष
Statistics	–	सांख्यिकी

5 **अंक के प्रश्न-**

1. परिणाम क्या है?
2. विवेचन का अर्थ बताइए।
3. डेटा विश्लेषण क्यों आवश्यक है?
4. निष्कर्ष क्या है?
5. सांख्यिकी का महत्व लिखिए।

15 **अंक के प्रश्न-**

1. शोध परिणाम एवं विवेचन की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
2. डेटा विश्लेषण की विधियों की विवेचना कीजिए।
3. शोध निष्कर्षों का महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. सांख्यिकी की भूमिका पर निबंध लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. डेटा विश्लेषण संबंधित है–

(a) सांख्यिकी

(b) कविता

(c) चित्रकला

(d) संगीत

2. शोध का अंतिम निष्कर्ष आधारित होता है-

(a) अनुमान

(b) परिणाम

(c) मिथक

(d) कल्पना

3. विवेचन का अर्थ है-

(a) व्याख्या

(b) खेल

(c) आलोचना

(d) भ्रम

4. Statistics का अर्थ है-

(a) निष्कर्ष

(b) सांख्यिकी

(c) निरीक्षण

(d) समस्या

5. शोध परिणाम उपयोगी होते हैं-

(a) भविष्य के शोध में

(b) केवल मनोरंजन में

(c) व्यापार में

(d) राजनीति में

इकाई- 12

शोध की रिपोर्ट तैयार करना

उद्देश्य-

1. संदर्भ ग्रंथ सूची का महत्व समझना।
2. शोध रिपोर्ट लेखन की प्रक्रिया जानना।
3. शोध रिपोर्ट की संरचना को समझना।

8- **शोध की रिपोर्ट तैयार करना (Preparing the research report)-** इस अवस्था में शोधकर्ता अपने शोध कार्य के विभिन्न चरणों या अवस्थाओं तथा प्राप्त परिणामों के संबंध में एक प्रतिवेदन या रिपोर्ट (report) तैयार करता है। इसका मुख्य उद्देश्य सभी जागरुक एवं उत्सुक लोगों को अनुसंधान या शोध के परिणामों से अवगत करना है। **गुडे एवं हैट** (Goode and Hatt, 1952) ने कहा है कि शोध के परिणाम केवल शोधकर्ता तक ही सीमित न रहें, बल्कि दूसरे उत्सुक लोगों तक भी पहुंच सकें, इसके लिए शोध-रिर्पोट तैयार करना आवश्यक है।

रिपोर्ट तैयार करते समय शोधकर्ता को कई बातों पर ध्यान देना होता है। (क) रिपोर्ट की लंबाई को माध्यम (moderate) रखने का प्रयास किया जाता है। (ख) संप्रत्ययों (cancepts) का व्यवहार सही रुप में करने का प्रयास किया जाता है। (ग) विचार तथा भाषा की स्पष्टता (clarity of thought and language) पर पूरा ध्यान दिया जाता है। (घ) सूचनाओं (information) के स्रोतों (sources) का स्पष्ट रुप से उल्लेख किया जाता है। (ड) अधिक तकनीकी शब्दों (technical words) के उपयोग से बचने का प्रयास किया जाता है।

स्मरणीय बिन्दु-

शोध रिपोर्ट शोध का अंतिम चरण है।

संदर्भ सूची शोध की विश्वसनीयता बढ़ाती है।

रिपोर्ट व्यवस्थित एवं स्पष्ट होनी चाहिए।

शोध रिपोर्ट में निष्कर्ष एवं सुझाव शामिल होते हैं।

उचित उद्धरण शैली आवश्यक होती है।

शब्दावली-

शब्द		अर्थ
Bibliography	–	ग्रंथ सूची

Research Report	–	शोध रिपोर्ट
Citation	–	उद्धरण
Reference	–	संदर्भ
Documentation	–	प्रलेखन

5 **अंक के प्रश्न-**

1. ग्रंथ सूची क्या है?
2. शोध रिपोर्ट का महत्व लिखिए।
3. उद्धरण का अर्थ बताइए।
4. संदर्भ सूची क्यों आवश्यक है?
5. शोध रिपोर्ट की विशेषताएँ लिखिए।

15 **अंक के प्रश्न-**

1. शोध रिपोर्ट लेखन की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
2. संदर्भ ग्रंथ सूची का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. शोध रिपोर्ट की संरचना की विवेचना कीजिए।
4. शोध रिपोर्ट लेखन में सावधानियों का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. शोध रिपोर्ट शोध का–

(a) प्रथम चरण

(b) अंतिम चरण

(c) मध्य चरण

(d) प्रारंभिक चरण

2. Bibliography का अर्थ है–

(a) निष्कर्ष

(b) ग्रंथ सूची

(c) समस्या

(d) सिद्धांत

3. शोध रिपोर्ट की विशेषता है-

(a) अस्पष्टता

(b) स्पष्टता

(c) भ्रम

(d) पक्षपात

4. Citation का अर्थ है-

(a) वर्गीकरण

(b) उद्धरण

(c) निरीक्षण

(d) परिणाम

5. संदर्भ सूची बढ़ाती है-

(a) भ्रम

(b) विश्वसनीयता

(c) कल्पना

(d) विवाद

खण्ड 4

शोध-अभिकल्प, प्रदत्त-संग्रह प्रविधिः साक्षात्कार, शोध में नैतिक समस्याएँ एवं सिद्धान्त

इकाई-13

शोध-अभिकल्प के सिद्धान्त, शोध-अभिकल्प के सिद्धान्त

उद्देश्य-

1. शोध अभिकल्प की अवधारणा को समझना।
2. शोध अभिकल्प के सिद्धांतों का अध्ययन करना।
3. शोध योजना एवं संरचना की प्रक्रिया समझना।

शोध- अभिकल्प का अर्थ वह योजना (plan) या कार्यप्रणाली (procedure) है जिसके अनुकूल शोध किया जाता है। वास्तविक शोध करने के पहले ही शोधकर्ता एक योजना बनाता है कि शोध कैसे किया जायेगा, शोध-परिस्थितियों को कैसे नियोजित किया जायेगा, किस प्रकार के प्रतिदर्श (sample) का उपयोग किया जायेगा, प्रतिदर्श में कितने प्रयोज्य (subjects) होगें, स्वतंत्र चरों (independent variables) को कैसे नियंत्रित किया जायेगा तथा प्राप्त आँकडों का निरुपण (treatment) कैसे किया जायेगा ताकि सही परिणाम प्राप्त हो सके। शोधकर्ता की इसी योजना को शोध-अभिकल्प कहते है।

करलिगंर (Kerlinger)- के अनुसार **''शोध-अभिकल्प शोध की वह योजना संरचना तथा प्रणाली है, जिसका उद्देश्य होता है शोध-प्रश्नों के उत्तरों को प्राप्त करना तथा विचलन को नियंत्रित करना।''**

इसी प्रकार **मोहसिन** (Mohsin, 1984) के अनुसार **''शोध-अभिकल्प एक योजना है जिससे शोधकर्ता अवलोकित तथ्यों तथा घटनाओं से वैध निष्कर्ष प्राप्त करते है। इसके अन्तर्गत अवस्थाओं तथा अवलोकनों की व्याख्या इस ढंग से की जाती है कि शोध-प्रश्न के विकल्पी उत्तरों की सम्भावना समाप्त हो जाती है।''**

(d) शोध-अभिकल्प का तात्पर्य उस योजना (plan), से है, जिसके अन्तर्गत शोधकर्ता यह निर्णय लेता है कि वह अपने शोधकर्ता को कैसे पूरा करेगा। पुरिकल्पना या परिकल्पनाओं का निर्माण कैसे किया जाये, आँकडें (data) कैसे प्राप्त किया जायें तथा उनका सांख्यिकीय विश्लेषण कैसे किया जाये, इन सारी बातों के सम्बन्ध में योजना के अन्तर्गत उल्लेख किया जाता है।

(ख) शोध-अभिकल्प का दूसरा पक्ष सरंचना (structure) है। **करलिगंर (Kerlinger)** के

अनुसार (plan) की अपेक्षा संरचना में विशिष्ट (specific) होने की विशेषता पायी जाती है। इसके दो पक्ष होते हैं, जिन्हें शोध व्यवस्था (research scheme) तथा चरों का स्वरुप (nature of varaibales) कहते है।

(ग) शोध-अभिकल्प के अन्तर्गत योजना (plan) तथा संरचना (structure) के साथ-साथ शोध-प्रणाली (research strategy) का भी उल्लेख किया जाता है। इसका स्वरुप भी योजना की अपेक्षा अधिक विशिष्ट होता है। इसके अन्तर्गत उन विधियों, प्रविधियों, उपकरणों तथा परीक्षणों का उल्लेख किया जाता है, जिनका उपयोग परिकल्पना-परीक्षण (hypothesis testing), प्रदत्त संग्रह (data collection) तथा प्रदत्त विश्लेषण (data analysis) के लिए करना अपेक्षित होता है।

शोध-अभिकल्प के सिद्धान्त
(Principles of Research Design)

1- **योजना (Plan)-** शोध-अभिकल्प को किसी निश्चित योजना पर आधारित होना चाहिए। **करलिंगर** (Kerlinger) के अनुसार शोध-अभिकल्प में परिकल्पनाओं की रचना, आँकडों के संग्रह तथा उनके विश्लेषण से समबिन्धत सारी बातों का उल्लेख होना चाहिए

2- **संरचना (Structure)-** शोध-अभिकल्प को एक निश्चित संरचना पर आधारित होना चाहिए। अभिकल्प का यह एक विशिष्ट स्वरुप है, जिसके दो पक्ष हैं- (क) शोध स्कीम (research scheme) तथा (ख) चरों के प्रचलन का निर्देश (paradigm of the operation of variables) यहाँ शोध या प्रयोग का सम्पूर्ण रेखाचित्र तैयार किया जाता है तथा विभिन्न चरों के प्रचलन से सम्बन्धित अनुकूल निर्देशों का उल्लेख किया जाता है।

3- **शोध नीति (Research strategy)-** शोध-अभिकल्प शोध-नीति पर भी आधारित होता है। इसके अन्तर्गत उन विधियों, प्रविधियों, उपकरणों तथा परीक्षणों का उल्लेख किया जाता है जो परिकल्पनाओं को प्रमाणित करने, आँकडों का संग्रह करने तथा उनके विश्लेषण तथा निरुपण (analysis and treatment) करने में सहायक होते हैं। **ब्रूटा** (Broota) ने कहा है कि अभिकल्प का मुख्य कार्य विचलन (variance) को नियंत्रित करना है।

स्मरणीय बिन्दु-

शोध अभिकल्प शोध की रूपरेखा है।

शोध अभिकल्प में योजना, संरचना एवं रणनीति शामिल होती है।

शोध अभिकल्प शोध को व्यवस्थित दिशा प्रदान करता है।

शोध अभिकल्प डेटा संग्रह एवं विश्लेषण में सहायक होता है।

Kerlinger ने शोध अभिकल्प को शोध योजना का आधार माना।

शब्दावली-

शब्द	अर्थ
Research Design	शोध अभिकल्प
Plan	योजना
Structure	संरचना
Strategy	रणनीति
Data Analysis	डेटा विश्लेषण

5 अंक के प्रश्न-

1. शोध अभिकल्प क्या है?
2. शोध अभिकल्प का महत्व लिखिए।
3. शोध योजना का अर्थ बताइए।
4. शोध संरचना क्या है?
5. शोध रणनीति क्यों आवश्यक है?

15 अंक के प्रश्न-

1. शोध अभिकल्प की अवधारणा एवं सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
2. शोध अभिकल्प के तत्वों की विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. शोध योजना एवं संरचना का महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. शोध अभिकल्प की उपयोगिता पर निबंध लिखिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. Research Design का अर्थ है-

(a) शोध समस्या

(b) शोध अभिकल्प

(c) निष्कर्ष

(d) वर्गीकरण

2. शोध अभिकल्प का उद्देश्य है-

(a) शोध को दिशा देना

(b) मनोरंजन

(c) आलोचना

(d) भ्रम

3. शोध अभिकल्प में शामिल होता है-

(a) योजना

(b) खेल

(c) कविता

(d) संगीत

4. Kerlinger का संबंध है-

(a) साहित्य

(b) शोध अभिकल्प

(c) राजनीति

(d) इतिहास

5. शोध अभिकल्प सहायक है-

(a) डेटा विश्लेषण में

(b) भ्रम में

(c) विवाद में

(d) कल्पना में

इकाई-14

शोध-अभिकल्प के प्रकार

उद्देश्य-

1. शोध अभिकल्प के विभिन्न प्रकारों को समझना।
2. प्रयोगात्मक एवं अप्रयोगात्मक अभिकल्प का अध्ययन करना।
3. शोध उद्देश्यों के अनुसार अभिकल्प चयन समझना।

(क) एकाकी-समूह अभिकल्प अथवा अन्तर-समूह अभिकल्प - एकाकी-समूह अभिकल्प वह अभिकल्प है, जिसमें प्रयोज्यों (subjects) के एक ही समूह (single group) पर अध्ययन किया जाता है। इसी कारण इस अभिकल्प को एकाकी-समूह अभिकल्प (single group design) कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि उस समूह में कई प्रयोज्य होते हैं। उन प्रयोज्यों द्वारा प्राप्त परिणामों (results) का तुलनात्मक मूल्यांकन करके कोई निश्चित निष्कर्ष प्राप्त किया जाता है। इसलिए, इस अभिकल्प को अन्तर-समूह अभिकल्प (within-group design) अथवा अन्तर-प्रयोज्य अभिकल्प (Within subjects design) कहा जाता है।

सर्वेक्षण की विधियाँ या उपकरण (Methods or Tools of Survey)

सर्वेक्षण अथवा सामाजिक सर्वेक्षण के लिए कई तरह के उपकरणों का व्यवहार किया जाता है, जिनमें निम्नलिखित विशेष रुप से महत्वपूर्ण हैं-

1- **प्रश्नावली (Questionnaire)-** सर्वेक्षण का एक उपयोगी उपकरण प्रश्नावली विधि है। प्रश्नावली सभी प्रयोज्यों को एक ही साथ दे दी जाती है और उनसे अनुरोध किया जाता है कि वे प्रश्नावली को भर कर वापस कर दें। दिये गये उत्तरों के आधार पर आवश्यक सूचनायें प्राप्त की जाती हैं। प्रश्नावली के कई प्रकार हैं जिनमें खुली प्रश्नावली (open questionnaire), बंद प्रश्नावली (closed questionnaire), मिश्रित प्रश्नावली (mixed questionnaire), डाक प्रश्नावली (mailed questionnaire), आदि मुख्य हैं। खुली प्रश्नावली उसे कहतें हैं, जिसमें प्रश्नों के उत्तर पूर्वनिर्धारित नहीं होते हैं। उत्तरदाता (respondents) को यह छूट होती है कि वह अपनी इच्छा से किसी प्रश्न का कुछ भी उत्तर दे सकता है। बन्द प्रश्नावली उसे कहते हैं, जिसमें प्रश्नों के उत्तर पूर्वनिर्धारित होतें हैं। उत्तरदाता या सूचनादाता को दिये गये उत्तरों में से ही चुनकर उत्तर देना होता है। स्पष्टत: जहाँ बंद प्रश्नावली में परिशुद्धता (precision) अधिक होती है और लचीलापन (flexibility) कम होता है, वहाँ खुली प्रश्नावली में लचीलापन अधिक होता है और परिशुद्धता कम होती है। जब किसी प्रश्नावली में इन दोनों प्रकार के प्रश्नों का व्यवहार किया जाता है तो उसे मिश्रित प्रश्नावली (mixed questionnaire) कहते हैं।

यह प्रश्नावली वास्तव में बन्द प्रश्नावली तथा खुली प्रश्नावली से अधिक उपयुक्त तथा उपयोगी है। जब डाक के द्वारा प्रश्नावली का व्यवहार किया जाता है तो इसे डाक प्रश्नावली कहते हैं। यह प्रश्नावली बंद, खुली या मिश्रित हो सकती है। इसका प्रसार (range) अधिक होता है। दूर-दूर तक सूचनादाताओं के पास डाक द्वारा प्रश्नावली भेज कर भरवाया जा सकता है और आवश्यक सूचनायें प्राप्त की जा सकती है।

2- **सक्षात्कार एवं अनुसूची (Interview and schedules)-** सर्वेक्षण की यह विधि काफी प्रचलित तथा बहुचर्चित है। इस विधि के द्वारा व्यक्तिगत रुप से तथा सामूहिक रुप से आवश्यकता के अनुसार सूचनायें प्राप्त की जाती हैं। इन्हें क्रमशः वैयक्तिक साक्षात्कार (individual interview) तथा सामूहिक साक्षात्कार (group interview) कहतें हैं। साक्षात्कार के समय जब अनुसूची (schedule) का व्यवहार किया जाता है तो इसे संरचित साक्षात्कार (structured interview) कहते हैं। जब अनुसूची का व्यवहार नहीं किया जाता है तो इसे असंरचित साक्षात्कार (Unstructured interview) कहते हैं। संरचित साक्षात्कार में अपेक्षाकृत परिशुद्धता (precision) अधिक पायी जाती है जबकि असंरचित साक्षात्कार में अपेक्षाकृत लचीलापन (flexibility) अधिक पाया जाता है। सामूहिक साक्षात्कार में समय, श्रम तथा धन की बचत होती है, किन्तु व्यक्तिगत रुप से सूचनादाताओं पर ध्यान देना संभव नहीं होता है। इसलिए प्राप्त सूचनायें अधिक विश्वसनीय नहीं हो पाती हैं। अतः सर्वेक्षक (surveyor) को चाहिए कि आवश्यकता के अनुसार वैयक्तिक साक्षात्कार, सरंचित साक्षात्कार तथा असंरचित साक्षात्कार का व्यवहार करें।

3- **घटक विश्लेषण (Content analysis)-** सर्वेक्षण के उपकरण के रुप में घटक विश्लेषण का व्यवहार भी किया जाता है। इस विधि या उपकरण में साहित्य जैसे, लेख, उपन्यास, नाटक आदि के घटकों (contents) का विश्लेषण (analysis) किया जाता है और आवश्यक सूचनायें हासिकल की जाती हैं। इसे आलेख विश्लेषण (document analysis) भी कहा जाता है।

4- **पैनल सर्वेक्षण (Panel survey)-** सर्वेक्षण का यह भी एक उपकरण या तकनीक है। इसमें सूचनादाताओं (respondents) के एक प्रतिदर्श (sample) का चयन कर लिया जाता है। इस प्रतिदर्श का सर्वेक्षण कई बार किया जाता है। सूचनायें अधिक विश्वसनीय (reliable) होती है। इस विधि या तकनीक के द्वारा व्यवहारों, मनोवृतियों तथा आवश्यकताओं में होनेवाले परिवर्तनों का अध्ययन अधिक उपयुक्त तथा अनुकूल होता है।

5- **टेलिफोन सर्वेक्षण (Telephone survey)-** सर्वेक्षण के लिए कभी-कभी टेलिफोन का व्यवहार एक उपकरण या प्रविधि के रुप में किया जाता है। इस प्रविधि में सूचनादाताओं (respondents) से टेलिफोन पर संपक्र स्थापित किया जाता है और सर्वेक्षण की समस्या के अनुकूल व्यक्तिगत तथा समाज वैज्ञानिक तथ्यों (sociological facts) के संबंध में सूचना देने के लिए उनसे अनुरोध किया जाता है। लेकिन इस सर्वेक्षण-तकनीक की उपयोगिता बहुत

सीमित है। (क) कुछ लोग टेलिफोन पर उत्तर देना पंसद नहीं करते हैं। (ख) सबके उत्तर प्रायः सतही (superficial) होते हैं, जिनसे सही सूचना प्राप्त नहीं हो पाती हैं। (ग) सूचनाओं की विश्वसनीयता (reliability) की जांच करना संभव नहीं होता है। (घ) सर्वेक्षक (surveyor) तथा सूचनादाता (respondent) के बीच रागात्मक संबंध स्थापित नहीं हो पाता है। इसलिए वास्तविक सूचना प्राप्त करना कठिन बन जाता है।

6- **अवलोकन सर्वेक्षण (Observation Survey)-** जब अनियंत्रित वातावरण में अध्ययन किया जाता है तो इसे अनियंत्रित अवलोकन (uncontrolled observation) कहते हैं। जब वातावरण को नियंत्रित करने के बाद अध्ययन किया जाता है तो इसे नियंत्रित अवलोकन (controlled observation) कहते हैं। इसी प्रकार अवलोकन को सहभागी निरीक्षण (participant observation) तथा असहभागी निरीक्षण (non-participant observation) दो प्रकारों में विभाजित किया जाता है। सहभागी निरीक्षण के आधार पर प्राप्त सूचनाये अपेक्षाकृत अधिक सही या वास्तविक होती हैं। लेकिन, असहभागी निरीक्षण की अपेक्षा सहभागी निरीक्षण का क्षेत्र सीमित होता है। असहभागी निरीक्षण का व्यवहार वहां भी किया जा सकता है जहां सहभागी निरीक्षण का व्यवहार संभव नहीं होता है। अतः सर्वेक्षक को चाहिए कि आवश्यकता के अनुसार सहभागी निरक्षण तथा असहभागी निरीक्षण का व्यवहार करें।

करलिंगर (Kerlinger, 2002) ने प्रविधियों के उपयोग के आधार पर सर्वेक्षण को उक्त प्रकारों में विभाजित किया है। उन्होंने प्रत्येक विधि या प्रविधि को सर्वेक्षण का एक प्रकार माना है। इस दृष्टिकोण से साक्षात्कार सर्वेक्षण, प्रश्नावली सर्वेक्षण, टेलिफोन सर्वेक्षण, पैनेल सर्वेक्षण आदि सर्वेक्षण के प्रकार हुए।

शिक्षा के क्षेत्र में सर्वेक्षण-शोध का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा से संबंधित तथ्यों (facts) की खोज के लिए सर्वेक्षण-शोध एक महत्वपूर्ण उपकरण है। प्रशासक (administrators) तथा शिक्षक विद्यालय-प्रणाली या संप्रदाय (community) के संबंध में प्रत्येक बालक, प्रत्येक शिक्षक या प्रत्येक नागरिक से संपक्र स्थापित किये बिना भी आवश्यक सूचनायें हासिल कर सकते हैं। संक्षेप में सर्वेक्षण-शोध में विकसित प्रतिचयन विधियों (sampling methods) का उपयोग शैक्षिक समस्याओं के समाधान में बहुत लाभप्रद होता है।

शिक्षा-व्यवस्था के संबंध में विभिन्न समुदायों के लोगों की मनोवृतियों को निर्धारित करने में सुविधा होती है।

शिक्षा के क्षेत्र में सरकार की नयी नीतियों के प्रति लोगों की मनोवृत्ति को निर्धारित करने में सुविधा होती है।

करलिंगर (Kerlinger, 2002) के अनुसार व्यक्तिगत तथा सामाजिक तथ्यों (facts), विश्वासों (beliefs), तथा मनोवृत्तियों (attitudes) के संबंध में सूचनायें प्राप्त करने के लिए

सर्वेक्षण संभवतः श्रेष्ठतम है। शिक्षा के संबंध में लोगों के विचारों को निर्धारित करने में सर्वेक्षण से काफी सुविधा होती है।

स्मरणीय बिन्दु-

शोध अभिकल्प कई प्रकार के होते हैं।

प्रयोगात्मक अभिकल्प में नियंत्रण आवश्यक होता है।

वर्णनात्मक अभिकल्प तथ्यात्मक अध्ययन पर आधारित होता है।

सर्वेक्षण अभिकल्प सामाजिक शोध में उपयोगी है।

सही अभिकल्प शोध की सफलता सुनिश्चित करता है।

शब्दावली-

शब्द	**अर्थ**
Experimental Design	प्रयोगात्मक अभिकल्प
Descriptive Design	वर्णनात्मक अभिकल्प
Survey Design	सर्वेक्षण अभिकल्प
Variables	चर
Control	नियंत्रण

5 **अंक के प्रश्न-**

1. प्रयोगात्मक अभिकल्प क्या है?
2. वर्णनात्मक अभिकल्प का अर्थ बताइए।
3. सर्वेक्षण अभिकल्प क्या है?
4. शोध अभिकल्प चयन क्यों आवश्यक है?
5. नियंत्रण का महत्व लिखिए।

15 **अंक के प्रश्न-**

1. शोध अभिकल्प के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. प्रयोगात्मक एवं वर्णनात्मक अभिकल्प में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. सर्वेक्षण अभिकल्प की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

4. शोध अभिकल्प चयन की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. Experimental Design संबंधित है-

(a) नियंत्रण

(b) कविता

(c) संगीत

(d) कल्पना

2. Survey Design उपयोगी है-

(a) सामाजिक शोध में

(b) खेल में

(c) चित्रकला में

(d) राजनीति में

3. Descriptive Design का अर्थ है-

(a) वर्णनात्मक अभिकल्प

(b) प्रयोगात्मक अभिकल्प

(c) वैज्ञानिक विधि

(d) निष्कर्ष

4. शोध अभिकल्प का सही चयन बनाता है-

(a) शोध सफल

(b) शोध असफल

(c) भ्रमित

(d) अधूरा

5. Variables का अर्थ है-

(a) निष्कर्ष

(a) चर

(a) तथ्य

(a) सिद्धांत

इकाई-15

प्रदत्त-संग्रह प्रविधिः साक्षात्कार

(DATA COLLECTION TECHNIQUE : INTERVIEW)

उद्देश्य-

1. साक्षात्कार की अवधारणा को समझना।
2. साक्षात्कार के प्रकारों का अध्ययन करना।
3. डेटा संग्रह में साक्षात्कार की भूमिका समझना।

सक्षात्कार एक शोध-प्रविधि (research technique) या अनुसंधान उपकरण (research tool) शोधकर्ता (researcher) सूचनादाताओ (respondents) से कुछ आवश्यक प्रश्न पूछता है और उनके द्वारा दिये गये उत्तरों के आधार पर संगत सूचनायें या आँकडे प्राप्त करता है। प्रश्न पूछने वाले को साक्षात्कारकर्ता अर्थात् साक्षात्कार लेने वाला (interviewee) कहते हैं। अतः **''साक्षात्कार वह प्रविधि है जिसके द्वारा आमने-सामने की परिस्थिति में साक्षात्कार लेने वाला साक्षात्कार देने वाले से तात्विक सूचनायें प्राप्त करने का प्रयास करता है।''**

वाइटलेस (Vitelis) के अनुसार, **''साक्षात्कार वह सम्मेलन है जो साक्षात्कार लेने वाले और साक्षात्कार देने वाले की बीच घटित होता है।''**

लेकिन **करलिंगर (Kerlinger)** के द्वारा दी गयी परिभाषा अधिक समग्र तथा संतोषजनक है। उनके अनुसार, ''साक्षात्कार आमने-सामने की वह अन्तर्वैयक्तिक भूमिका परिस्थिति है, जिसमें एक व्यक्ति, साक्षात्कार लेने वाला, साक्षात्कार देने वाले व्यक्ति उत्तरदाता से शोध-समस्या से संगत उत्तर प्राप्त करने के उद्देश्य से नियोजित प्रश्न पूछता है।''

1. साक्षात्कार शोध की एक प्रविधि है। यह एक ऐसा उपकरण (tool) है, जिसका व्यवहार शोध कर्ता प्रदत्त संग्रह के लिए करता है।
2. साक्षात्कार का उद्देश्य तथ्यपूर्ण सूचना प्राप्त करना है। शोधकर्ता साक्षात्कार का व्यवहार करके अपने समस्या के अनुकूल संगत सूचनाएँ प्राप्त करता है।
3. साक्षात्कार एक ऐसा वार्तालाप (conversation) है जो साक्षात्कार लेने वाले तथा साक्षात्कार देने वाले के बीच होता है। साक्षात्कार लेने वाला साक्षात्कार देने वाले से आवश्यक प्रश्न पूछता है और साक्षात्कार देने वाला उत्तर देता है। दिये गये उत्तरों के आधार पर आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त की जाती है।
4. साक्षात्कार ऐसा वार्तालाप (conversation) हैं जो आमने-सामने होता है। कारण साक्षात्कार

के समय साक्षात्कार देने वाले तथा साक्षात्कार लेने वाले आमने-सामने होते है।

5. साक्षात्कार की एक विशेषता यह है कि साक्षात्कार के समय साक्षात्कार लेने तथा साक्षात्कार देने वाले व्यक्ति की भूमिकाएँ (roles) तथा प्रत्याशाएँ (expectations) निश्चित होती हैं, जिनके अनुकूल वे व्यवहार करते हैं।

साक्षात्कार के प्रकार (Type of Interview)

इस साक्षात्कार को औपचारिक साक्षात्कार (formal interview) बन्द साक्षात्कार (closed interview) तथा मानक साक्षात्कार (standard interview) भी कहते हैं।

(i) **संरचित साक्षात्कार**

(Structured Interview)

संरचित साक्षात्कार का अर्थ वह साक्षात्कार है जिसमें अनुसूची (schedule) का व्यवहार किया जाता है। साक्षात्कारकर्ता साक्षात्कार के समय सूची के प्रश्नों की संख्या अथवा प्रश्नों की सरंचना (structure) **क्रम** (sequence) तथा भाषा में किसी तरह का परिवर्तन नहीं कर सकता है। **रेबर एवं रेबर** (Reber and Reber, 2001) ने इसकी चर्चा करते हुए कहा है कि **''वह कोई भी साक्षात्कार जिसमें विषय, प्रश्न तथा उनके व्यवहार के क्रम पूर्वनिर्धारित होते हैं, संरचित साक्षात्कार कहलाता है।''** यहाँ शोधकर्ता या साक्षात्कारकर्ता अध्ययन के समय अपनी इच्छा से प्रश्नों की संख्या, संरचन, भाषा, क्रम आदि में किसी तरह का परितर्वन नहीं कर सकता है। इसीलिए, संरचित साक्षात्कार को बन्द साक्षात्कार (closed interview) कहा जाता है।

संरचित साक्षात्कार की एक विशेषता औपचारिकता (formality) है। यह औपचारिक प्रश्नों (formal questions) पर आधारित होता है। यहाँ विधिवत रुप से प्रश्नों का निर्माण किय जाता है। इसी कारण इस साक्षात्कार को औपचारिक साक्षात्कार (formal interview) भी कहा जाता है। शोधकर्ता या साक्षात्कारकर्ता अनुकूल सांख्यिकीय विधि के द्वारा प्रश्नों को मानकीकृत (standardized) कर लेते हैं। इसलिए इस साक्षात्कार को मानक साक्षात्कार (standard interview) भी कहा जाता है।

संरचित साक्षात्कार की विशेषताऐं

1- **परिशुद्धता** (Precision)- संरचित साक्षात्कार में परिशुद्धता का गुण पाया जाता है। साक्षात्कार लेने वाले प्रश्नों की संख्या, भाषा, क्रम तथा अंकन-विधि (scoring method) में अपनी ओर से कोई परिवर्तन नहीं कर सकता है।

2- **सरल संचालन (** Easy administration)- प्रश्नों के संचालन के दृष्टिकोण से यह साक्षात्कार बहुत सरल होता है। साक्षात्कार के समय पूछे जाने वाले प्रश्न, उनकी संख्या, उनका क्रम,

अंकन–विधि, आदि पहले से ही निर्धारित होती हैं। एक अप्रशिक्षित तथा अनुभवहीन शाुधकर्ता भी संरचित साक्षात्कार का उपयोग करने में सफल होता है।

3- **उच्च विश्वसनीयता** (High reliability)- विभिन्न समयों से इस साक्षात्कार के आधार पर प्राप्त परिणामों में संगति (consistency) तथा स्थिरता (stability) पायी जाती है। उच्च विश्वसनीयता का आधार उच्च परिशुद्धता है।

4- **उच्च वैधता** (High validity)- इसा साक्षात्कार में घटक वैधता (content validity) के साथ–साथ भविष्यवाणी वैधता (predictive validity) भी संतोषजनक पायी जाती है।

दोष या सीमाएँ (Demerits or Limitations)- संरचित साक्षात्कार में कई गुणों के रहते हुए

भी निम्नलिखित दोष है– विधि की विश्वसनीयता प्रयोगशाला–प्रयोग विधि की तुलना में काफी सीमित है।

1- **लचीले पन का अभाव** (Lack of flexibility)- संरक्षित साक्षात्कार का एक दोष यह है कि इसमें लचीले पन का अभाव होता है। शोधकर्ता साक्षात्कार के समय चाहकर भी प्रश्नों की संख्या उनके क्रम या वाक्यरचना (wording) में किसी तरह का परिवर्तन नहीं ला पाता है।

2- **प्रश्नों की रचना की कठिनाई (** Difficulty of framing questions)- संरचित साक्षात्कार में प्रश्नों की रचना करना एक कठिन कार्य है। इसके लिए प्रशिक्षित (trained) तथा अनुभवी शोधकर्ता की आवश्यकता होती है।

3- **अधिक समय तथा श्रम का खर्च** (Time and labour consuming)- संरचित साक्षात्कार में समय अधिक लगता है और अधिक श्रम करना होता है।

4- **जटिल समस्याओं के लिए अनुपयुक्त** (Inappropriate for complex problems)- संरचित साक्षात्कार का एक दोष यह है कि जटिल समस्याओं के समाधान के लिए यह उपयुक्त नहीं है।

(ii) असंरचित साक्षात्कार

(Unstructure interview)

असंरचित साक्षात्कार को खुला साक्षात्कार (open interview) अमानक साक्षात्कार

(unstandard interview) अथवा अनौपचारिक साक्षात्कार (informal interview) कहा जाता है। असंरचित साक्षात्कार का अर्थ वह साक्षात्कार है जिसमें अनुसूची (schedule) का व्यवहार नहीं किया जाता है। यहाँ साक्षात्कार के लिए पहले साक्षात्कार लेने वाला आवश्यकता के अनुसार साक्षात्कार देने वाले से कुछ प्रश्न पूछता है ओर प्राप्त उत्तरों के आधार पर सूचनाएँ प्राप्त करता है। इस तरह के साक्षात्कार की चर्चा करते हुए **रेबर तथा रेबर** (Reber and Reber,

2001) ने कहा है कि **"असंरचित साक्षात्कार वह साक्षात्कार है जिसमें विषय अनिश्चित होते हैं और प्रश्नों का स्वरुप साक्षात्कार में भाग लेने वाले के बीच पारस्परिक क्रिया पर आधारित होता है।"**

असंरचित साक्षात्कार की एक विशेषता यह है कि यहाँ साक्षात्कार लेने वालों को छूट रहती है कि वह आवश्यकता के अनुसार प्रश्नों की संख्या, प्रश्नों के क्रम, भाषा आदि में परिवर्तन ला सकता है। इसलिए इस साक्षात्कार को खुला साक्षात्कार (open interview) कहते हैं।

इसके प्रश्न मानक (standard) नहीं होते है। यहाँ प्रश्नों को मानकीकृत (standardized) नहीं किया जाता है, बल्कि साक्षात्कार लेने वाला अपनी इच्छा से प्रश्न पूछकर आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त करता है। इसलिए इस साक्षात्कार को अमानक साक्षात्कार (unstandard interview) कहा जाता है।

यहाँ प्रश्नों की रचना विधिवत् रुप से नहीं की जाती है। साक्षात्कार लेने वाला साक्षात्कार के समय ही अपनी इच्छा से परिस्थिति के अनुकूल प्रश्न पूछकर सूचनाएँ प्राप्त करता है। इसलिए इसे अनौपचारिक साक्षात्कार (informal interview) कहते हैं।

गुण (Merits)- असंरचित साक्षात्कार में कुछ ऐसे गुण पाये जाते हैं, जिनके कारण यह साक्षात्कार कुछ विशेष परिस्थितियों में संरचित साक्षात्कार से बेहतर प्रमाणित होता है।

1. **लचीलापन (flexibility)**- असंरचित साक्षात्कार में लचीलेपन का गुण पाया जाता है। साक्षात्कार लेने वाला अपनी आवश्यकता या परिस्थिति की माँगों के अनुकूल साक्षात्कार की कार्यप्रणाली (procedure) में परिवर्तन लाकर आवश्यक सूचना प्राप्त कर सकता है।
2. **प्रश्नों की रचना की सरलता (simplicity of framing questions)**- असंरचित साक्षात्कार में प्रश्नों की रचना करना सरल होता है। यहाँ मानक प्रश्नों की आवश्यकता नहीं होती है।
3. **समय तथा श्रम की बचत (time and labour saving)**- असंरचित साक्षात्कार में प्रश्नों को मानक बनाने की आवश्यकता नहीं होती है। इसी तरह प्रश्नों को विधिवत रुप से बनाने की आवश्यकता नहीं होती है।
4. **धन की बचत (money saving)**- इस प्रकार के साक्षात्कार में समय तथा श्रम के साथ-साथ मुद्रा या धन की भी बचत होती है।
5. **जटिल समस्याओं के लिए उपयुक्त (appropriate for complex problems)**- असंरचित साक्षात्कार का सबसे बडा गुण यह है कि इसका व्यवहार जटिल समस्याओं के समाधान के लिए अधिक उपयुक्त होता हे। सामाजिक तथा शैक्षिक समस्याएँ कुछ ऐसी जटिल होती हैं जिनके समाधान में जितना असंरचित साक्षात्कार सहायक होता है, उतना संरचित साक्षात्कार नहीं हो पाता है।

उद्‌देश्य पर आधारित वर्गीकरण

(Classification base on purpose)

नैदानिक साक्षात्कार (Diagnostic interview)- इस प्रकार के साक्षात्कार का उद्‌देश्य रोग के कारणों की जानकारी प्राप्त करना है। नैदानिक मनोविज्ञान (clinical psychology) तथा मनोविश्लेषण (psychoanalysis) में इस प्रकार के साक्षात्कार का व्यवहार किया जाता है।

उपचार-साक्षात्कार (treatment interview)- जब किसी मानसिक रोग का निरोपण (diagnosis) हो जाता हे तो फिर उसके उपचार के लिए रोगी का साक्षात्कार किया जाता है। इसका उद्‌देश्य यह पता लगाना होता है कि रोगी के रोग का उपचार कैसे किया जा सकता है।

शोध-साक्षात्कार (Research interview)- इस प्रकार के साक्षात्कार का उद्‌देश्य शोध आँकडे (research data) प्राप्त करना है। यहाँ किसी समस्या से संबंधित सूचनाएँ प्राप्त करना प्रधान होता हैं।

भूमिका पर आधारित वर्गीकरण

(Classification based on role)

1- **निदेशात्मक साक्षात्कार** (Directive interview)- इस प्रकार के साक्षात्कार को नियंत्रित साक्षात्कार (controlled interview) भी कहते है। यहाँ साक्षात्कारकर्ता उत्तरदाताओं (respondents) पर पूरा नियंत्रण रखता है। वह पूर्वनिर्धारित प्रश्नों का व्यवहार करता है। उत्तरदाताओं को उसके आदेशों के अनुसार व्यवहार करना पडता है। अतः इसमें परिशुद्धता (precision) का गुण पाया जाता है। लेकिन लचीलापन (flexibility) का अभाव रहता है।

अनिदेशात्मक साक्षात्कार (Nondirective interview)- इस प्रकार के साक्षात्कार को स्वतंत्र साक्षात्कार (free interview) अथवा अनियंत्रित साक्षात्कार (uncontrolled interview) भी कहते है। इसमें साक्षात्कारकर्ता उत्तरदाताओं पर कोई नियंत्रण नहीं रखता है और न कोई निश्चित निर्देशन रखता है। पहले से प्रश्न तैयार नहीं रहते हैं। साक्षात्कारकर्ता उत्तरदाताओं को अपने विचारों, संवेगों तथा भावों को व्यक्त करने के लिए उत्साहित करता है। अतः इस प्रकार के साक्षात्कार में लचीलापन अधिक पाया जाता है।

2- **केन्द्रित साक्षात्कार** (Focused interview)- यह साक्षात्कार वास्तव में संरचित (structured) तथा असंरचित (unstructured) साक्षात्कार का मिला-जुला रुप है। इसमें पहले से निर्धारित प्रश्नों का व्यवहार किया जाता है। लेकिन साक्षात्कारकर्ता को छूट होती है कि वह आवश्यकता अनुसार प्रश्नों में परिवर्तन कर सकता है। यह साक्षात्कार रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा आदि के सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रभावों के अध्ययन के लिए बहुत उपयोगी है।

3- **पुनरावृत्त साक्षात्कार** (Repeated interview)**-** इस प्रकार के साक्षात्कार में सामाजिक परिस्थिति के विकास तथा उससे उत्पन्न प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। व्यक्ति के व्यवहार पर मनोवृत्ति (attitude) पूर्वधारणा (prejudice) आदि सामाजिक कारकों के प्रभावों के अध्ययन के लिए यह विधि बहुत उपयोगी है।

स्मरणीय बिन्दु-

साक्षात्कार डेटा संग्रह की महत्वपूर्ण विधि है।

संरचित एवं असंरचित साक्षात्कार दो प्रमुख प्रकार हैं।

साक्षात्कार में विश्वसनीय सूचना प्राप्त होती है।

समूह एवं व्यक्तिगत साक्षात्कार दोनों उपयोगी हैं।

संरचित साक्षात्कार में प्रश्न पूर्व निर्धारित होते हैं।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
Interview	–	साक्षात्कार
Structured Interview	–	संरचित साक्षात्कार
Unstructured Interview	–	असंरचित साक्षात्कार
Respondent	–	उत्तरदाता
Questionnaire	–	प्रश्नावली

5 **अंक के प्रश्न-**

1. साक्षात्कार क्या है?
2. संरचित साक्षात्कार का अर्थ बताइए।
3. असंरचित साक्षात्कार क्या है?
4. व्यक्तिगत साक्षात्कार का महत्व लिखिए।
5. प्रश्नावली एवं साक्षात्कार में अंतर लिखिए।

15 **अंक के प्रश्न**–

1. साक्षात्कार की अवधारणा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

2. संरचित एवं असंरचित साक्षात्कार में अंतर स्पष्ट कीजिए।

3. डेटा संग्रह में साक्षात्कार की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

4. साक्षात्कार विधि के गुण एवं दोषों की विवेचना कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. Interview का अर्थ है-

(a) निरीक्षण

(b) साक्षात्कार

(c) वर्गीकरण

(d) निष्कर्ष

2. Structured Interview में प्रश्न होते हैं-

(a) पूर्व निर्धारित

(b) अचानक

(c) अस्पष्ट

(d) काल्पनिक

3. Unstructured Interview में होता है-

(a) लचीलापन

(b) कठोरता

(c) भ्रम

(d) नियंत्रण

4. Respondent का अर्थ है-

(a) शोधकर्ता

(b) उत्तरदाता

(c) परीक्षक

(d) पर्यवेक्षक

5. साक्षात्कार उपयोगी है-

(a) डेटा संग्रह में

(b) मनोरंजन में

(c) खेल में

(d) चित्रकला में

इकाई-16

शोध में नैतिक समस्याएँ एवं सिद्धान्त

(ETHICAL ISSUE AND PRINCIPLES IN RESEARCH)

उद्देश्य-

1. शोध नैतिकता की अवधारणा को समझना।
2. शोध में नैतिक समस्याओं का अध्ययन करना।
3. प्रतिभागियों के अधिकार एवं सुरक्षा का महत्व समझना।

नीतिशास्त्र (ethics) दर्शन की एक शाखा (branch) है, जिसका सम्बन्ध उस विषय से है, जिसे मानव व्यवहार के लिए स्वीकार्य समझा जाता है और निर्धारित किया जाता है कि लक्ष्यों एवं उदेद्श्यों की खोज में मानव आचरण में अच्छा क्या है या बुरा क्या है, सही क्या है या गलत क्या है।

(क) मानव सहभागियों के साथ नैतिक समस्यायें (Ethical issues with human participants) – टस्केगी सिफलिस अध्ययन अमेरिका के इतिहास में चिकित्सा मामलों में नैतिकता के सबसे कुख्यात मामलों में से एक है। पहले अध्ययन को टस्केजी अध्ययन (Tuskegee study) के नाम से जाना जाता है, जो 1932 में किया गया था। इस अध्ययन का एक उद्देश्य अनुपचारित काले पुरुषों (untreated black males) पर सिफीलिस (syphilis) के प्रभावों का अध्ययन करना था तथा सहभागिता के लिए प्रोत्साहित करना था। रोगियों को विश्वास दिया गया था कि उनका उपचार किया जा रहा है, जबकि वस्तुत: उनका उपचार नहीं किया गया था। सिफीलिस के लक्षणों को समय-समय पर (periodically) दर्ज (record) किया जाता था और प्रत्येक मृत्यु के बाद शव-परीक्षण (autopsy) किया जाता था। चालीस वर्षो के बाद जनता को इस शोध की जानकारी मिली जो अभी भी जारी थी। वह शोध वास्तव में अनैतिक था क्योंकि पी. डितों का उपचार पेनसीलिन (penicillin) द्वारा किया जा सकता था जो नहीं किया गया तथा उत्तरजीवियों (survivors) को अंधकार में रखा गया था।

इस तरह का दूसरा अध्ययन 1960 से 1970 के बीच मिलग्राम (StanleyMilgram) नामक एक समाजिक मनोवैज्ञानिक के द्वारा किया गया, जिसमें एक अधिगम प्रयोग में भागीदारी (participation) हेतु विज्ञापन दिया गया था। जिन लोगों ने इस प्रयोग में भाग लेने की सहमति दी उनको बतलाया गया कि उनमें कुछ शिक्षक (teachers) होंगे जो दूसरों को शब्दों की सूचियों (lists of words) की शिक्षा सीखने वाले कोई भूल करें तो प्रत्येक भूल के लिए उन्हें बढते हुए क्रम में गम्भीर रुप से आघात पहुँचायें। इस अध्ययन का उद्देश्य वास्तव में अधिगम का अध्ययन नहीं था, बल्कि अधिकार (authority) के प्रति आज्ञापलन (obedience) था।

इसके अतिरिक्त सभी स्यंसेवक (volunteers) वस्तुतः शिक्षक थे। दूसरे शब्दों में प्रत्येक सहभागी (participant) को कहा गया था कि वे सभी शिक्षक हैं और वास्तव में कोई सीखने वाला (learner) नहीं है। परिणामतः प्रत्येक व्यक्ति सही समझ रहा था कि वह सीखने वालों (learners) को ही आघात दे रहा है, जो वास्तव में था ही नहीं। इसके अतिरिक्त विद्युत आघात नाम की कोई चीज थी ही नहीं। शिक्षकों को केवल धोखा दिया जा रहा था कि सीखने वाले (learner) पीडा की शिकायत दर्ज कराते हैं। कुछ सहभागी बढ़ते हुए आघात पर आपत्ति जताते थे, जैसा कि उन्हें निर्देशित किया गया था। ऐसे आपत्ति करने वाले शिक्षकों से कहा जाता था कि प्रयोग की आवश्यकता है कि आगे उसी तरह बढ़ते रहें। जो अनेच्छा (reluctance) दिखलाते थे उन्हें आगे बढने का आदेश दिया जाता था। ऐसी परिस्थिति में इतनी अधिक मात्रा में आघात का उपयोग वे करने लगते थे कि सीखनी वाले (learners) प्रयोग से अलग हो जाने की इच्छा जाहिर करते थे। इस अमानवीय प्रयोग पर जनता के बीच आक्रोश देखा गया और शोध में अनैतिक कदमों (unethical steps) को रोकने पर बल दिया गया।

इन दोनों शोधों से उत्पन्न आक्रोश के परिणामस्वरुप मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक शोधों में अनै. तिकता को रोकथाम के लिए मेडिकल, व्यवहारपरक तथा सामाजिक विज्ञान शोधों के संघीय विनियमन (Federal Regulations) की स्थापना की गयी। अमेरिकन शरीरशस्त्रीय समाज (American physiological society) आदि व्यावसायिक संगठनों की स्थापना भी की गयी। इसी तरह 1973 में मनोवैज्ञानिक शोधों के लिए अमेरिकन मनोवैज्ञानिक संघ (American psychological association, APA) ने नैतिक निर्देशन (ethical guide lines) प्रकाशित किया। अन्त में 1981 में निश्चित नैतिक सिद्धान्त (ethical principles) प्रकाशित किये गये, जिनके आलोक में मानव शोध (human research) संचालित करने पर बल दिया गया।

नैतिक सिद्धान्त

(Ethical Principles)

1- **नैतिक स्वीकृति** (Ethical acceptability)- शोधकर्ता व्यक्तिगत रुप से नैतिक स्वीकृति के लिए उत्तरदायी होता है। प्रस्तावित शोध में किसी भी विचलन (deviation) की स्थिति में शोध कर्ता का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह नैतिक परामर्श ले तथा सहभागियों (participants) के अधिकारों की सुरक्षा के लिए आवश्यक कदम उठाये।

2- **नैतिक शोध अभ्यास हेतु उत्तरदायित्व** (Responsibility for ethical research practice)- नैतिक शोध-अभ्यास के लिए शोधकर्ता उत्तरदायी होता है। शोध में भाग लेने वाले व्यक्ति को अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होने के साथ-साथ अनुसंधानकर्ता भी उत्तरदायी होता है।

3- **शोध-सहभागियों के कल्याण एवं सम्मान** (Welfare and dignity of the research participants)- शोध या अनुसंधान का एक मुख्य सिद्धान्त (major principle) यह है कि शोधकर्ता या अनुसंधानकर्ता का यह दायित्व है कि वह सहभागियों (participants) को शोध के सभी ऐसे पक्षों (aspects) से अवगत करा दें जो सहभागिता के प्रति उनके निर्णय को प्रभावित करते हैं, क्योंकि शोध-सहभागिता के कल्याण तथा सम्मान की सुरक्षा की जिम्मेदारी शोधकर्ता पर होती है।

4- **उदारता एवं इमानदारी** (Openness and honesty)- शोध सहभागियों (research participants) के प्रति शोधकर्ता में खुलापन, उदारता तथा इमानदारी का होना भी आवश्यक है। यदि किसी शोध के लिए उपयुक्त अध्ययन-विधि (methodology) में गोपनीयता या आवश्यक हो तो अनुसंधानकर्ता (investigator) को चाहिए कि वह सुनिश्चित करे कि इस कार्य के कारण को प्रत्येक सहभागी समझता हो।

5- **सहभागी के अधिकारों के लिए आदर** (Respect for the participants rights)- इस नैतिक सिद्धान्त (ethical principle) के अनुसार शोध में भाग लेने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों के अधिकारों का सम्मान या आदर करना भी शोधकर्ता का कर्तव्य है। यदि किसी उचित कारण से कोई व्यक्ति शोध में हिस्सा लेना नहीं चाहता हो अथवा हिस्सा लेने के कुछ समय बाद उसे छोडना चाहता हो तो उसके इस अधिकार का सम्मान करना शोधकर्ता के लिए नैतिक बाध्यता (ethical obligation) है।

6- **स्पष्ट एवं निष्पक्ष अनुबन्ध** (Clear and fair contract)- इस नैतिक सिद्धान्त के अनुसार शोध या अनुसंधान का आरंभ स्पष्ट एवं निष्पक्ष अनुबन्ध के साथ किया जाना चाहिए। अनुसंधानकर्ता (investigator) का यह कर्तव्य है कि वह शोध में भाग लेने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों के साथ किये गये सभी वायदों (promises) तथा वचनवद्धताओं (commitments) का आदर करे।

7- **हानि तथा खतरों से सहभागी की सुरक्षा** (Protection of the participant from harm and danger)- इस नैतिक सिद्धान्त के तहत अनुसंधानकर्ता (investigator) के लिए यह आवश्यक है कि वह शोध या अनुसंधान में भाग लेने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों की रक्षा शारीरिक तथा मानसिक असुविधा, हानि तथा खतरों से करे। अनुसंधानकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह भाग लेने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों को संभावित जोखिम (risks) की सूचना दे और आगे कदम उठाने से पहले उनसे सहमति ले और कष्ट (distress) को कम करने का हर संभव प्रयास करे। ऐसी कार्यविधियों (procedures) का इस्तेमाल न करे जिनसे गंभीर एवं स्थायी क्षति होने का खतरा हो।

8- **अध्ययन की स्पष्टता** (Clarity of the study)- शोध के इस नैतिक सिद्धान्त (ethical

priniciple) के अनुसार प्रदत्त संग्रह (data collection) के बाद अनुसंधानकर्ता को चाहिए कि वह शोध में भाग लेने वाले व्यक्तियों को अध्ययन की स्पष्ट जानकारी दे तथा यदि किसी तरह की गलतफहमी (misconception) उत्पन्न हो गयी हो उसको दूर करें।

9- **अवांछित-परिणाम की खोज एवं शुद्धि** (Detection and correction of undesirable consequence)- जब कभी किसी शोध कार्यविधि (research procedure) से अवांछित परिणाम उत्पन्न होते हैं तो अनुसंधानकर्ता का यह नैतिक कर्तव्य (ethical obligation) होता है कि वह ऐसे अवांछित परिणाम की खोज करे तथा उसे शुद्ध करने का प्रयास करे।

10- **समाजिक संहिता तथा नैतिक अपेक्षाओं का सम्मान करना** (Regard of social code and ethical expectations)- इस नैतिक सिद्धान्त के तहत इस बात पर बल दिया गया है कि अनुसंधानकर्ता (investigator) को उस समुदाय (community) की सामाजिक संहिता तथा नैतिक प्रत्याशा का सम्मान करना चाहिए जिस समुदाय में वह शोध कर रहा हो। प्रत्येक समाज, समुदाय संस्कृति के नैतिक तथा बौधिक मानदण्ड (moral and legal standared) अलग-अलग हो सकते हैं। अतः अनुसंधान के दौरान सहभागियों (participants) के सामाजिक, सामुदायिक या सांस्कृतिक नैतिक मानदण्डों का सम्मान करना अनुसंधानकर्ता का नैतिक दायित्व है।

11- **गोपनीयता की सुरक्षा** (Protection of confidentialtiy)- इस नैतिक सिद्धान्त के अनुसार अनुसंधानकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह शोध सहभागियों (research participants) के सम्बन्ध में प्राप्त सूचना या सूचनाओं को गुप्त रखे तथा उसे सुरक्षित रखने का हर संभव प्रयास करे।

(ख) पशु शोध के लिए नैतिक सिद्धान्त (Ethical principles for animal research)- अमेरिकन मनोवैज्ञानिक संघ (American psychological Association APA, 1981) के अनुसार पशु शोध के संदर्भ में मनोवैज्ञानिकों के नैतिक सिद्धान्त (ethical priniciples of psychologists) निम्नलिखित है:

1- पहला सिद्धान्त यह है कि किसी अनुसंधान में पशुओं के उपयोग की योजना बनाते समय अनुसंधानकर्ता को विभिन्न नैतिक सिद्धान्तों (ethical principles) का समग्र रुप से अध्ययन करना चाहिए। विशेष रुप से ऐसे नैतिक सिद्धान्त जो प्रत्यक्ष रुप से पशुओं के उपयोग से सम्बद्ध रखते हों। पशुओं के उपयोग तथा उनकी सुरक्षा से सम्बन्धित सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिए तथा उनके अनुकूल व्यवहार करना चाहिए।

2- अनुसंधानकर्ता को चाहिए कि वह शोध में भाग लेने वाले पशुओं के कल्याण के लिए आवश्यक प्रबन्ध करे तथा उनके साथ मानवीय व्यवहार (human treatment) करे।

3- अनुसंधानकर्ता को पशुओं की सुरक्षा (care) तथा उपयोग (use) से संबंधित संधीय (federal), राष्ट्रीय (state), प्रांतीय (provincial) तथा स्थानीय (local) नियमों (laws) तथा

अधिनियमों (regulations) की पूरी जानकारी हो ताकि वह पशुओं का उपयोग तथा उनकी सुरक्षा समुचित रुप से कर सके।

4- जहाँ कहीं पशुओं के भरण–पोषण तथा उपयोग की व्यवस्था हो, वहाँ शोध में लगे कर्मचारियों (personnels) को अमेरिकन मनोवैज्ञानिक संघ (APA- American Psychological Association) अथवा अन्य वैज्ञानिक संगठनों (scientific organizations) के निर्देशन (guidelines) उपलब्ध होना आवश्यक है।

5- पर्यवेक्षक या नीरीक्षण (supervisor) को चाहिए कि वह पशुओं के अधिग्रहण (acquisition) उपयोग तथा विन्यास (disposition) का विवरण (record) रखे। एक अनुभवी (veterinarian) की उपलब्धि (availability) परामर्श (consultation) तथा पशु चिकित्सक की सुविधाओं की जांच साल में दो बार करने हेतु आवश्यक है।

6- अन्त में जब पशुओं के उपयोग की आवश्यकता समाप्त हो जाती है तो उनका निपटाना भी नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर ही किया जाना चाहिए। प्रयास करना चाहिए कि उन पशुओं का वितरण अपने सहकर्मियों (colleaques) के बीच किया जाना चाहिए ताकि वे उनका सही उपयोग कर सकें। अन्त में आवश्यकता अनुसार पशुओं का सुखमृत्यु (euthanasia) की व्यवस्था करना अनुसंधानकर्ता या पर्यवेक्षक का नैतिक दायित्व (ethical obligation) हैं।

नैतिक सिद्धान्तों का मूल्यांकन

(Evaluation of ethical principles)

1- शोध परियोजना (research project) में भाग लेने वाले मनुष्य तथा पशु क्रांतिक सहयोगी (critical collaboratives) होते हैं। अतः इन सभी के साथ आदर तथा सम्मान का व्यवहार किया जाना चाहिए तथा उनके कल्याण एवं सुरक्षा की उचित व्यवस्था भी। मनोवैज्ञानिक शोध के संचालन के दौरान नैतिक उल्लंघन (ethical violations) शायद ही किये जाते हैं।

2- नैतिक सिद्धान्तों (ethical principles) की स्थापना का प्रतिकूल प्रभाव (adverse effect) शोध पर पडता है। 1973 में नैतिक सिद्धान्तों की स्थापना के कारण न्यूनतम जोखिम वालों शोध को संचालित करना भी कठिन बन गया ।

3- नैतिक अधिनियमों (ethical regulations) के कारण वैज्ञानिक शोध के लिए सर्जनात्मकता (creativity) तथा स्वतन्त्रता (freedom) बाधित होती है, परिणामतः शोधकर्ता सुरक्षा के मद्देनजर केवल ऐसे शोधों में किसी न किसी जोखिम (risk) का होना अपेक्षित होता है। इसलिए शोधकर्ता ऐसे सर्जनात्मक एवं स्वतन्त्र शोधों से बचने का प्रयास करते हैं, जो विज्ञान तथा टे. कनोलॉजी के विकास में बाधक सिद्ध होता है।

4- नैतिक अधिनियमों को स्वीकार करने तथा संचालन करने से समय, शक्ति (energy) तथा मुद्रा (money) का अनावश्यक खर्च अधिक होता है। शोधकर्ता तथा संचालक (regulator) की शक्ति के अनावश्यक खर्च को बचा कर शोध को उन्नत बनाया जा सकता है।

5- पशु शोध (animal research) के सबंध में नैतिक सिद्धान्तों (ethical principles) की सार्थकता इस आधार पर हास्यप्रद प्रतीत होती है कि ऐसे छापमार (raiders) अवैज्ञानिकों (nonscientists) के हाथों पशुओं के साथ होने वाले उत्पीडन (torture) को वैज्ञानिक शोध के पशुओं पर आरोपित करने की भूल करते हैं। जैसे, देवी-देवता के नाम पर पशुओं का वध करना, शैतानी परम्पराओं में पशुओं पर उत्पीडन करना तथा अन्य उद्देश्यों के मद्देनजर पशुओं की हत्या करना, आदि अमानवीय व्यवहारों को क्षमा नहीं किया जा सकता था परन्तु वैज्ञानिक शोध में पशुओं के साथ इस तरह के अमानवीय व्यवहार कदापि नहीं किये जाते हैं।

6- शोध के ऐसे क्षेत्र हैं विषाक्तता-परीक्षण (toxicity testing), चिरकालिक पीडा शोध (chronic pain research), दीर्घकालिक प्रतिबंध प्रविधियों (long term restraint devices) का उपयोग तथा चेतन लकवाग्रस्त पशुओं (conscious paralysed animals) का इस्तेमाल। ऐसी समस्याओं से संबधित शोधों को संचालित करना नैतिक सिद्धान्तों एवं अधिनियमों की उपेक्षा के बिना संभव नहीं है। जैसे-दर्द (pain) क्यों होता है तथा इसका उपचार या निवारण (prevention) कैसे किया जा सकता है, इसके लिए कठोर नैतिक अधिनियमों पर अमल करना संभव नहीं है।

अतः नैतिक अधिनियमों को कठोरता के साथ लागू करने पर कई महत्वपूर्ण क्षेत्रों में ज्ञान (knowldege) को विकसित करना संभव नहीं होगा।

7- नैतिक मानदण्ड (ethical standards) तथा नैतिक मूल्य (ethical values) सभी संस्कृतियों, राष्ट्रों या परिस्थितियों के लिए समान नहीं होते हैं। एक संस्कृति में जिसे नैतिक मूल्य माना जाता है, दूसरी संस्कृति में उसे नैतिक उल्लंघन (Ethical Violation) समझा जा सकता है।

स्मरणीय बिन्दु-

शोध में नैतिकता अत्यंत आवश्यक है।

प्रतिभागियों की सहमति आवश्यक होती है।

शोध में गोपनीयता बनाए रखना आवश्यक है।

प्रतिभागियों को हानि से बचाना शोधकर्ता का दायित्व है।

पशुओं पर शोध में भी नैतिक नियम लागू होते हैं।

शब्दावली-

शब्द		**अर्थ**
Ethics	–	नैतिकता
Confidentiality	–	गोपनीयता
Consent	–	सहमति
Participants	–	प्रतिभागी
Harm	–	हानि

5 **अंक के प्रश्न-**

1. शोध नैतिकता क्या है?
2. गोपनीयता का महत्व लिखिए।
3. प्रतिभागियों की सहमति क्यों आवश्यक है?
4. शोध में नैतिक समस्याएँ क्या हैं?
5. पशु–अनुसंधान में नैतिकता का महत्व बताइए।

15 **अंक के प्रश्न-**

1. शोध में नैतिक सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
2. प्रतिभागियों के अधिकारों की विवेचना कीजिए।
3. शोध में गोपनीयता एवं सुरक्षा का महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. पशु–अनुसंधान में नैतिक समस्याओं का वर्णन कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. Ethics का अर्थ है–

(a) राजनीति

(a) नैतिकता

(a) खेल

(a) अर्थशास्त्र

2. शोध में प्रतिभागियों की अनुमति कहलाती है-

(a) निरीक्षण

(b) सहमति

(c) वर्गीकरण

(d) निष्कर्ष

3. शोधकर्ता का दायित्व है-

(a) प्रतिभागियों की सुरक्षा

(a) भ्रम फैलाना

(a) गोपनीयता तोड़ना

(a) पक्षपात करना

4. Confidentiality का अर्थ है-

(a) सहमति

(b) गोपनीयता

(c) निष्कर्ष

(d) निरीक्षण

5. पशु-अनुसंधान में आवश्यक है-

(a) नैतिक नियम

(b) पक्षपात

(c) हिंसा

(d) भ्रम